[illegible]

प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—२४
Prācyabhāratīgranthamālā—24

योगवासिष्ठ

हिन्दी अनुवाद सहित

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

- DONATED BY -
Lt. PADMASHREE
Prof. V. VENKATACHALAM
VARANASI

Prācyabhāratīgranthamālā—24

YOGAVĀSIṢṬHA

OF

MAHĀKĀVI VALMĪKI

with Hindi Translation KUSUMALATĀ

BY

Dr. MAHAPRABHULAL GOSWAMI

Volume I

Vairāgya, Mumukṣu and Utpatti Prakaraṇa (Adhyāya 1-67)

Tara Book Agency

Varanasi

प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—२४

महाकविश्रीमद्वाल्मीकिप्रणीतः

योगवासिष्ठः

डा० श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिविरचितकुसुमलताख्य-
हिन्दीभाषानुवादेन सहितः

प्रथमो भागः

वैराग्यप्रकरणम्, मुमुक्षुप्रकरणम्
उत्पत्तिप्रकरणम् १-६७ अध्यायान्तम्

तारा बुक एजेंसी

वाराणसी

ISBN 81-85403-16-3

प्रकाशक :
तारा बुक एजेंसी
कमच्छा
वाराणसी २२१०१०

Published by
Tara Book Agency
Kamacha
Varanasi 221010

प्रथम संस्करणम्, १९८८
मूल्य : १६०.००

First Edition, 1988
Price : 160.00

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

Printed at
Tara Printing Works
Varanasi

भूमिका

विस्तृत और दुर्बोध ग्रन्थ की भूमिका परम्परा का निर्वाह मात्र नहीं है, शास्त्र में प्रवेश के लिए यह अनिवार्य अङ्ग है। भूमिका शब्द का अर्थ शुद्ध भूमि अर्थात् बीज के निक्षित करने पर अंकुरित होने का स्थान। भूमि शब्द का प्रयोग क्षेत्र में होता है। प्रशस्त उन्नत भूमि पर आरोहण करने के लिए अल्प भूमिस्वरूप सोपान या पादपीठ की आवश्यकता होती है। प्रमेय प्रचुर गम्भीर ग्रन्थ के आसमाप्ति अध्ययन में प्रवृत्ति और कथित विषयों की अवगति की शक्ति के उत्पादन के लिए भूमिका ही सोपान का कार्य और आकांक्षा को उद्बुद्ध रखती है।

बहुत विशाल क्षेत्र में शस्य की सम्पत्ति की इच्छा होने पर किसी साफ सुथरी अल्प भूमि में बीजवपन कर अंकुरित होने के बाद उन्हें अभीष्ट विस्तृत भूमि में आरोपण करने पर विपुल परिमाण में शस्य की उपलब्धि होती है, दुरूह तत्त्व-बहुल किसी ग्रन्थ के अध्ययन से पूर्व उसकी भूमिका को पढ़कर समाप्तिपर्यन्त उस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति और उसमें कहे गये विषयों को अवगत करने की क्षमता की प्राप्ति होती हैं, इस दृष्टि से भूमिका ग्रन्थ या क्षेत्र की अल्प भूमि शास्त्रसार एवं सुथरी भूमि अर्थ का बोधक होता है।

अन्य दृष्टि से भूमिका शब्द का अर्थ भूमि या क्षेत्र होता है। 'भूमिरेव भूमिका'। अंकुरित बीज की फलोत्पादक पादप की परिणति के योग्य स्थान। शस्य आदि के उत्पादन के लिए क्षेत्र को तैयार करना पड़ता है, जंगल का परिष्कार करना पड़ता है, भूमिकर्षण और सेचन आदि क्रियायें करनी पड़ती हैं। इसी प्रकार विचारप्रधान शास्त्र की विशालता के कारण सहसा उसके सार की अवगति में कठिनता के कारण समझना सम्भव न होने से अध्ययन से विराम को रोकने के लिए आकांक्षा को उद्बुद्ध करने के लिए भूमिका की आवश्यकता होती है। भूमिका में ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थ-निर्माण-काल, ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त परिचय एवं ग्रन्थाध्ययन के फल का प्रतिपादन आवश्यक होता है। इससे प्रवृत्ति के साधन बलवान्, अनिष्ट की अजनक और इष्ट साधनता ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसके फलस्वरूप ग्रन्थ के अध्ययन में ऊहापोह कुशल व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, इसी दृष्टि से विषय, प्रयोजन, अधिकारी और फल का सन्निवेश आवश्यक होता है—यही अनुबन्ध चतुष्टय या भूमिका है।

द्वि इण् (इ) धातु से कर्तृवाच्य में क्त (त) प्रत्यय होने से सिद्ध द्वीत शब्द का अर्थ दो को प्राप्त करनेवाला और द्वीत शब्द से भाव के अर्थ में अण् प्रत्यय करने से द्वैत शब्द सिद्ध होता है, न द्वैत अद्वैत, इस व्युत्पत्ति से अद्वैत शब्द का अर्थ दो पदार्थों के वास्तविक अस्तित्व का अभाव या द्वितीयत्व का अभाव होता है। अथवा जो दो को प्राप्त नहीं करता है—वह अद्वैत है। यह शास्त्र भी वैराग्य की भूमि पर अद्वैत तत्त्व की पारमार्थिक सत्ता का अभाव है। *

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

यह अद्वयवाद वेदकाल से अक्षुण्ण चिन्ताधारा के रूप में प्रवाहित है। ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त में अध्यात्म-विद्या की पराकाष्ठा है। इस सूक्त का द्रष्टा अक्षणाद है। अद्वैततत्त्व के एक मन्त्र की व्याख्या प्रस्तुत कर रहा हूँ—

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्विवत् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्॥ (अ० वा० सू० म० ४)

सभी का कारणस्वरूप परमेश्वर, मन और वाणी का अविषय है। सृष्टि से पूर्व अव्याकृत अवस्था में दुर्विज्ञेय प्रथम भावविकार को कौन देख सकता है। "अस्थन्वान्" = अस्थियुक्त शरीर यह शब्दकार्य = जन्यमात्र का उपलक्षण है।

* द्रष्टव्य अद्वैतसिद्धि भू०, पृ० १।

"अनस्था" शब्द अशरीर का वाचक है, सांख्ययोग की प्रकृति और वेदान्तानुसार ईश्वरात्मभूता माया कही जाती। "विर्भति" पद से सभी उत्पन्न भाव कार्यों की प्रकृति या माया प्रलय दशा में सभी वस्तुओं को गर्भ के समान अन्तर्धारण करती है। जगत् की अव्याकृत अवस्था में अशरीर परमेश्वर ही समस्त अनभिव्यक्त विश्व की उत्पत्ति के समय धारण करता है। मायाशवलित परमेश्वर ही जगत् का निर्माण करता है। जगत् की उत्पत्ति के समय शरीर आदि से युक्त किसी जीव की स्थिति सम्भावित न होने से—"को ददर्श" यह कहा गया है। अर्थात् इस अवस्था को कौन देख सकता है। "भूम्याः" = पार्थिव शरीर, असुः = प्राण, प्राण से उपलक्षित सूक्ष्म शरीर, "असृक्" = रक्त से उपलक्षित, सात धातुओं अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरयुक्त चेतन कहीं नहीं है। सृष्टि के आरम्भ में किसी जीव के न होने से सृष्टि के कारण-विशेष का किसी को ज्ञान नहीं है। इस मन्त्र के जगत् के कारण को अविज्ञेय कहा गया है।[1]

अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन करनेवाली अनेक श्रुतियों का विश्लेषण योगवासिष्ठ में विस्तार के साथ किया गया है।

इस ग्रन्थ में अद्वैत श्रुतियों का ही दृष्टान्त आदि के द्वारा पल्लवन किया है—जैसे 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुति का तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'तस्यभासा सर्वमिदं विभाति' इनका व्याख्यान है—

सत्यं ब्रह्म जगच्चैकं स्थितमेकमनेकवत्।
सर्वं वा सर्ववद् भाति शुद्धं चाशुद्धवत्ततम्॥ (योग० वा० ६/२/३५/६)

इस श्रुति का अर्थ चैतन्यज्ञानमात्र नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह श्रुति अनुवादिका होगी, अनुवादिका होने पर इसका प्रामाण्य नहीं रहेगा। अतः इसका अर्थ द्वैतमात्र-विशिष्ट-ब्रह्मप्रतिपत्तिपूर्वक-द्वैताभाव-उपलक्षित-ब्रह्मविषयक ज्ञान होता है। यह ज्ञान इस श्रुति के बिना सिद्ध नहीं है, अतः यह श्रुति अनुवादिका नहीं है; अपितु यह प्रपञ्च जाल की निवर्तिका होने से मोक्ष की साधिका है। उपलक्षित बुद्धि विशिष्ट बुद्धिपूर्वक होती है, प्रथम विशिष्ट द्वैतभाव ब्रह्म का ज्ञान होता है, इसके बाद द्वैताभाव उपलक्षित ब्रह्मरूपधर्मी का बोध होता है।

इसी प्रकार अनेक श्रुतियाँ हैं, जिनके आधार पर योगवासिष्ठ में विवरण उपलब्ध होता है। किन्तु इस खण्ड में काल निरूपण एवं योगवासिष्ठ नाम का विश्लेषण विशेष रूप से दिया जा रहा है।

अद्वैतात्मरूप मोक्ष की कामना वाला व्यक्ति इसका अधिकारी है, निर्वाण एवं जीवन्मुक्ति की प्राप्ति इस ग्रन्थ का प्रयोजन है और जीवन्मुक्ति का प्रयोजन समष्टि का कल्याण-साधन है। अद्वैतात्मतत्त्व इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है और इस विषय का यह ग्रन्थ प्रतिपादक है, अतः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है।

इस ग्रन्थ पर शङ्कराचार्य का प्रभाव है, अतः साधन चतुष्टय में प्रथम नित्यानित्यवस्तुविवेक एवं लौकिक-पारलौकिक-सुखभोग-विराग को एक रूप देकर वैराग्यप्रकरण को प्रथम दिया है, क्योंकि नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक का फल वैराग्य ही है, वैराग्य तीर्थयात्रा के द्वारा सम्पन्न है। साथ ही शङ्कर परवर्ती भट्टभास्कर, जिसने अद्वैत की भूमि पर ज्ञानकर्म समुच्चयवाद का समर्थन किया है, जिसका खण्डन आचार्य शङ्कर के व्याख्याताओं के द्वारा होता है, उसका समर्थन इस ग्रन्थ में है। यह मत प्राचीनतम है, उसके समर्थन में भी योगवासिष्ठ के रचयिता की दृष्टि निबद्ध है, अतः उपक्रम में ही कर्म की आवश्यकता पर बलाधान किया है तथा राम की तीर्थयात्रा एवं दान-पुण्यादि का भी निर्देश किया है। इनकी अनित्यता का अनुसन्धान होने से ही वैराग्यमूलक शम, दम, तितिक्षा आदि की सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व, पुनः एक अद्वितीय ब्रह्म की सत्ता और उसी से सकल चराचर की उत्पत्ति का अनुसन्धान किया है। योगवासिष्ठकार ने यह

---

१. (क) विस्तार से अवगति के लिए द्रष्टव्य 'वेदेरमन्त्रभागे अध्यात्मविद्या'।

(ख) यदिदं भासते तत्सत्परमेवात्मनि स्थितम्। परं परे परापूर्णं सममेव विजायते॥ (योग० वा० ६/१/९७/१८)
यदिदं किञ्चिदाभोगि जगज्जालं प्रदृश्यते। तत्सर्वममलं ब्रह्म भवत्येतद्व्यवस्थितम्॥ (योग० वा० ६/१/११/१६)
ब्रह्मणः कः स्वभावोऽसादिति वक्तुं न युज्यते। (६/१०/१९)
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः॥ (योग० वा० ३/५/५)

अनुभव किया कि वैराग्य का फल ही तो शमदमादि साधन है, अतः इनका पृथक् प्रकरण के रूप में निर्देश अनावश्यक है। इसका विस्तृत विवरण उत्पत्ति प्रकरण की भूमिका में देखें।

शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान = गुरु के समीप गमन और श्रद्धा है। वैराग्य होने से शमादि सम्पन्न व्यक्ति को मोक्ष की इच्छा होती है। सकल भोगों के उपकरणों से सम्पन्न व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी है। अभाव में इन साधनों का समन्वय सम्भव नहीं है, लौकिक और पारलौकिक सुखभोग-विराग वस्तु के सन्निधान में ही सम्भव है, अभाव में नहीं। नित्यानित्य-वस्तु के विवेक के साथ वस्तु की उपस्थिति शम-दम-तितिक्षा आदि के द्वारा साधन है, अतः वैराग्य की मुमुक्षुत्व के प्रति साधनता ही अद्वैतदर्शन है, अतः दर्शन का सामान्य परिचय आवश्यक है।

'दृश्यतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दर्शन शब्द 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृहदारण्यक २/३/५) इस उपनिषद् वाक्य से कथित आत्मसाक्षात्कार के साधन को ही दर्शन अथवा भावार्थक मानने पर साक्षात्कारात्मक ज्ञान दर्शन है। श्रवण, युक्ति के द्वारा कथनस्वरूप मनन और निदिध्यासन आत्मदर्शन के साधन हैं, अतः इनका उपदेश करने वाला शास्त्र दर्शन है। यह वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् में मैत्रेयी ब्राह्मण के अपनी प्रियतमा को उपदेश करनेवाला याज्ञवल्क्य का वाक्य है, यही भारतीय दर्शन की भूमि है। 'द्रष्टव्यः' यह पद भारतीय जीवन-प्रवाह की आशा और आकांक्षा के शत-शत धाराओं में प्रवाहित है। दर्शन का प्रेरणास्रोत और दर्शन इस नामकरण का यही मूलाधार है। 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्'– यही इसका उपसंहार वाक्य है। आत्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन, परमानन्द और स्वप्रकाशस्वरूप आलोक की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। प्रियतमा पत्नी को यह उपदेश प्रदान कर ही तो याज्ञवल्क्य ने परिव्रज्या ग्रहण की थी। इसी के विवरण प्रस्तुत करने में भारतीय दर्शन असंख्य धाराओं में प्रवाहित है और हो रहा है।

मैत्रेयी से महर्षि ने कहा–"अन्य आश्रम में मैं जाना चाहता हूँ, अतः तुम्हारी और कात्यायनी की भोग-सामग्रियों का बँटवारा कर देता हूँ।" मैत्रेयी ने पूछा—"भगवन्! सम्पूर्ण पृथ्वी की प्राप्ति होने पर परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"भोग-सामग्रियों से परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है।" मैत्रेयी ने भोग-सामग्री का परित्याग कर परमानन्द साधन आत्मतत्त्व का उपदेश ग्रहण किया—जैसे श्री राम ने वसिष्ठ से सम्पूर्ण भोग-सामग्रियों का परित्याग कर मोक्ष-साधन आद्वय आत्मतत्त्व का उपदेश ग्रहण किया था। योगवासिष्ठ के अनुसार, राम एवं मैत्रेयी वैराग्यादि से सम्पन्न अधिकारी हैं।

"एतावदरे खल्वमृतत्वम्"—यह चरम उपदेश कतिपय शब्दों में मुखरित नहीं हो सकता है, अनादिकाल से ही भारत-वसुन्धरा इस दार्शनिक उद्घोष से गुञ्जायमान है, होती रहेगी। श्रीकृष्ण ने भी कहा—"बहूनां जन्मनामन्ते"। उपाचार्य उदयन ने आत्मतत्त्वविवेक के उपसंहार में मोक्षजनक आत्म-साक्षात्कार को पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यों के आधार पर ही निर्दिष्ट किया है। आत्मतत्त्व-साक्षात्कार ही मोक्षनिर्वाण है। निदिध्यासन में प्रवृत्त व्यक्ति को श्रीराम की ही तरह समस्त जगत्प्रपञ्च आत्मा से अतिरिक्त रूप में प्रतीयमान होता है। निदिध्यासन और इसी अवस्था की कर्ममीमांसा का अवलम्बन कर कर्ममीमांसा शास्त्र की प्रवृत्ति होती है एवं कर्म की उपयोगिता भी सिद्ध होती है। अर्थदृष्टि की प्रबलता से 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इसी को प्रेयोदृष्टि कहकर बन्धन का कारण कहा है।

कठोपनिषद् की इस श्रुति से यह सिद्ध है कि अनात्मवस्तु के ग्रहण में पटु इन्द्रियाँ विषय का ही दर्शन करती है, आत्मा का दर्शन नहीं करती हैं। इस दृष्टि को दूर करने के लिए 'कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमृच्छमाना अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः' (वा०मा० ४/१/५९) इस श्रुति के द्वारा आत्मोपासना की प्रकर्षता अर्थाकार में ही आत्मदर्शन कराती है और सर्वात्मभाव की प्राप्ति कराती है। इसी दृष्टि का आश्रयण कर ब्रह्म-परिणामवाद त्रिदण्डिमत का अभ्युत्थान कराती है। विज्ञानवादी योगाचार इसी भूमि पर अवलम्बित है। 'आत्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति का समन्वय इसी प्रकार होता है। ज्ञानधारा प्रवाहित होती हुई अर्थाकार आत्मस्वरूप का निषेध कर 'अबन्धमरसमश्चक्षुरश्रोत्रम्' यह श्रुति मुखरित होती है। आत्मा की विषयाकारता का निषेध होने से विषय के अभाव का ज्ञान होता है। यही प्रपञ्चरहित आत्मस्वरूप के भासमान की अवस्था है, यही उपनिषत्प्रमाण वेदोक्त की प्रथम

अवस्था है। इस प्रथम अवस्था का विवरण देते हुए आचार्य उदयन ने कहा है—विषयरहित चिन्मात्र वस्तु सम्भावित नहीं है, शून्यवादी माध्यमिक इस अवस्था का अवलम्बन कर अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। 'असदेवेदमाग्र आसीत्' इस श्रुति से नैरात्म्यवादस्वरूप स्वमत का समर्थन भी करते हैं। इससे उद्धार के लिए 'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः' विषय से आत्मा को भेद करते हुए सांख्य सिद्धांत सम्मुख आता है। इसका समर्थन 'प्रकृतेः परस्तात्' इस श्रुति से होता है। इस विवेक श्रुति का प्रत्याख्यान 'नान्यत् सत्' इस श्रुति से होता है—आत्मा से अन्य कोई पदार्थ सत् नहीं है–यह अवस्था केवल आत्मतत्त्व के प्रकाश का समर्थन करती है, पूर्वोक्त सभी मतों का खण्डन कर समन्वयात्मक अद्वैत मत का योगवासिष्ठ के सिद्धान्त के अनुसार उपक्रम और उपसंहार होता है। इसके लिए 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इस श्रुति का समर्थन प्राप्त है। आत्ममात्र का आलोक या दीप्ति से विषय का दर्शन नहीं रहता है—यह आत्मा का प्रत्याख्यान नहीं है। "स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतमद्वितयं परमं पदम्" (सं० शा० २/८९) इस समय जीव के सभी संस्कार अभिभूत रहते हैं, अतः आत्मविषयक सविकल्पक ज्ञान का उदय न होकर आत्मविषयक निर्विकल्पक ज्ञान का उदय होता है। आत्ममात्र विषयक निर्विकल्पक ज्ञान ही मोक्ष नगर में प्रवेश का द्वार है, न्याय और वेदान्त का यहीं चरम उपसंहार है। 'निष्काम आप्तकाम आत्मकाम स ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते (वात्स्यायन भा० ४/१/३९) शुद्धस्वप्रकाशचित्स्वरूपे ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तानामुपसंहारः, प्रतिपाद्यान्तरविरहात्।" रघुनाथ (४/१/३९)[1]।

आज के परिवेश में ज्ञान और कर्म में एक प्राचीर का नव निर्माण किया गया है, क्योंकि, कर्म ज्ञान की भूमि से शून्य अज्ञान की भूमि पर समर्पित होकर लोक और विश्व को झलमल आलोक में रथरूपी शरीर दश इन्द्रियों की प्रेरणा से तीर्थयात्रादि बाह्य भूमि पर ही रखता है, अन्तः प्रकाश के सर्वथा दूर रखता है। किन्तु, ज्ञानदीप्ति की अरुण आभा नव जागरण का सन्देश देकर 'उठो, जागो' ज्ञानात्मक दीप्ति की प्रभा भास्वरता नवजीवन के नव-नवोन्मेष के लिए प्रतीक्षा कर रही है, लोकयात्रा व्यर्थ हो जायगी, मानव प्रातिभ बुद्धि के परिप्रेक्ष्य में अज्ञानान्धकार से अनुस्यूत एक मिथ्या सत्य की मोहात्मक आभा से परिव्याप्त व्यक्ति या व्यष्टिभाव से आक्रान्त कर समष्टिगत सकल विश्व के कल्याण से दूर भगा रहा है, किन्तु, योगवासिष्ठ के द्वारा एक ऐसा सत्य अखण्ड रूप में प्रकाशित हो रहा है, जो अखिल ब्रह्माण्ड के चराचर को एक नीडत्व सार्वभौम सत्य पर प्रतिष्ठित समझाकर सभी को सभी के कल्याण के लिए सचेष्ट कर रही है। इस प्रसंग में कठोपनिषद् के रूपक का समन्वय स्पष्ट है—

'विद्यारूपी उपाधि के द्वारा मोक्ष मार्ग पर और अविद्यारूपी उपाधि के द्वारा संसार यात्रा के लिए रथरूपी साधन की कल्पना की गई है।'

कर्मफल भोगनेवाले संसारी आत्मा को रथी समझें अर्थात् रथ का स्वामी समझें। शरीर रथ है। शरीररूपी रथ में बँधे हुए अश्वरूपी इन्द्रियों से खींचा जाता है। बुद्धि सारथी है। सारथी ही रथ को ले जानेवाला प्रधान होता है। संसारी जीव के सभी कार्य बुद्धि के अधीन होते हैं। संकल्प-विकल्पात्मक मन लगाम है, क्योंकि घोड़े लगाम से नियन्त्रित होते हैं, इन्द्रियाँ भी मन से नियन्त्रित होकर चलती हैं। रथ की कल्पना करने में इन्द्रियों को घोड़ा कहा गया है, क्योंकि, शरीररूपी रथ को खींचने में साम्य है, घोड़े की कल्पना करने पर रूपादि विषय उन इन्द्रियों के मार्ग हैं, इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता है। शुद्ध आत्मा में भोक्तृत्व नहीं है, भोक्तृत्व अज्ञानरूपी उपाधि से युक्त है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ (कठो० १/३)
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ (कठो० १/८)

---

१. द्रष्टव्य भारतीय दर्शन शास्त्रेर समन्वय—पृ० ४०।

योगवासिष्ठ में 'दशरथ' आत्मभूत शरीरी = रामस्वरूप आत्मा का प्रेरक है। वह सांसारिक विषयों के प्रति संलिप्त करने में सचेष्ट है। इस दशरथ की प्रेरणा से आत्माराम जो शरीररूपी उपाधि से संयुक्त है, वह भववासना की ओर बढ़ाया जा रहा था, किन्तु, योग और वासिष्ठ अर्थात् दीप्त्यात्मक स्वप्रकाश ज्ञान के द्वारा राग-द्वेष विमुक्त निर्वाण की ओर अग्रसर है, अविद्यारूपी उपाधि वासिष्ठी ज्ञानस्वरूप विद्या से छिन्न-भिन्न हो जाती है।

भेद में अभेद दर्शन के साथ विश्व को एक नीड के रूप में प्रत्यक्षकर मित्रभाव या आत्मत्व भाव से सबका दर्शन करना और आत्मीयता के कारण विश्व के प्रति कल्याण की भावना ही आत्मदर्शन है। वेद से आज के महर्षि कबीर, अरविन्द, रवीन्द्र, निवेदिता, आनन्दमयी आदि सभी ने आत्म की व्यापक परिधि में विश्व के प्रति अपने को समर्पित किया और महाकरुणा से आप्लावित प्रत्येक मानव के दुःख निवारण के अपने को विसर्जित किया।

योगवासिष्ठ का राम और गीता का अर्जुन ने भी अपने अज्ञान को दूर करने के लिए व्यास से योगीश्वर श्रीकृष्ण की वाणी और दीप्ति सम्पन्न ब्रह्म से प्राप्त वसिष्ठ की वाणी को संसार के अज्ञान अन्धकार से आच्छन्न व्यक्तियों को उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत के रूप में अपनी अमरवाणी को प्रतिष्ठित किया।

इन दोनों ग्रन्थों के नाम में 'योग' शब्द है। दोनों का वक्ता भी योगीश्वर है। दोनों का प्रतिपाद्य विषय मोक्ष ही है। मोक्ष और उसके साधनों का विवेचन ही इन दोनों शास्त्रों में किये गये हैं। योगवासिष्ठ में 'योग' शब्द साध्य = आत्मसाक्षात्कारभूत सहज समाधि स्थित रूप साध्य और उसके साधनभूत अर्थात् मोक्ष के उपाय इन दोनों अर्थों में किया गया है।

भवबन्धन से पार उतरने के दो मार्ग हैं ज्ञान और कर्म, किन्तु योगवासिष्ठ के अनुसार ज्ञानमार्ग ही संसार से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन है और इसके लिए योग की अनिवार्य स्थिति है। इसीलिए योगवासिष्ठ में कहा गया है–

संसरोत्तरणे युक्तिर्योग इत्यभिधीयते।
तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ॥ (६/१/१३/३)

भवसागर से पार उतरने की युक्ति = उपाय ही योग है, आत्मज्ञान और प्राणनिरोध के भेद से यह योग दो प्रकार का है। योगशास्त्र की परम्परा के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध में ही योग शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु पतञ्जलि के "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (योग० १/३) चित्तवृत्ति का निरोध होने पर चित्त का संक्रमण न होने से कर्तृत्व ज्ञातृत्व आदि अभिमान की निवृत्ति हो जाती है और द्रष्टा की ज्ञानस्वरूप = अपने स्वरूप में निर्विषय चित् मात्र रूप में अवस्थान होता है। जैसे—जपा फूल को हटाने पर स्फटिक की स्वच्छ रूप में स्थिति होती है, वैसे ही द्रष्टा की चैतन्य रूप में अवस्थान होता है। द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति रूप योग का फल कथन आत्मज्ञान की प्राप्ति का निर्देश है।[1]

किसी के लिए ज्ञानमार्ग कठिन है और किसी साधक के लिए योगमार्ग कठिन है, किन्तु वसिष्ठ के कथनानुसार ज्ञाननिश्चय का अभ्यास अधिक सरल है।

हे राघव ! चित्त को शमन करने के दो साधन हैं–एक योग दूसरा ज्ञान। योग चित्तवृत्तियों का निरोध है और ज्ञान जो वस्तु जिस रूप में है उस रूप में उसको जानना है। दोनों में एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है अर्थात् चित्त और स्पन्दन, इनमें एक गुण है और दूसरा गुणी। एक के नष्ट होने से दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।[2]

इस विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञाता के स्वरूप ज्ञानरूप अर्थ की ही विवक्षा है, अतः योगदर्शन का पूर्ण प्रभाव लक्षित है।

---

१. आत्मज्ञानं प्रकारोऽस्या एकः प्रकटितो भुवि। द्वितीयः प्राणसंरोधः शृणु योऽयं मयोच्यते ॥ (६/१/१३/४)
प्रकारो द्वावपि प्रोक्तौ योगशब्देन यद्यपि। तथापि रूढिमायातः प्राणयुक्तावसौ भृशम् ॥ (६/१/१२/६)
२. ६/१/१३/८, ५/७८/८, ५/७८,/७।

इस विषय को विस्तार से कहते हुए योगवासिष्ठ में कहा गया है कि "जीव की चैतन्य में इस प्रकार की स्थिति का नाम तुर्या है। यह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि स्थितियों के बीज से रहित है, आनन्द चित्ति का अनुभव है, परमज्ञान और आनन्द योग का अनुभव है, यह अनुभव अमृत समुद्र में सब लहरों के शान्त हो जाने पर जो स्थिति समुद्र की होती है—वही सभी वृत्तियों के निरोध होने पर चैतन्य स्वरूप ब्रह्म की होती है।

जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि।
अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका ॥ (६/१/१२८/५०)
मनस्यस्तं गते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते।
प्रशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ॥ (६/१/१२८/५२)

योग का विशिष्ट महत्त्व देते हुए कहा गया है कि योग की तीन रूप में सिद्धि अपेक्षित है—स्वरूप तत्त्व का दृढ़ अभ्यास, चित्तवृत्तियों अर्थात् मन की वृत्तियों का निरोध, तीसरा मन का निग्रह। इनमें किसी एक का अभ्यास होने पर तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं, किन्तु मन को शान्त करना श्रेयस्कर माना है।

गीता में भी मन को ही बन्धन और मोक्ष का कारण माना गया है और उसका निग्रह अतिशय कठिन माना गया है। योग में आद्यन्त मन की वृत्तियों के निरोध का ही उपाय बताया है।[1]

मन के निग्रह करने का साधन निर्देश करते हुए कहा गया है कि एक वस्तु तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से मन सहज ही शान्ति लाभ करता है, मन के स्वभाव में लीन होने पर प्राण भी शान्त हो जाता है।[2]

एक तत्त्वाभ्यास का विवरण प्रस्तुत करते हुए वसिष्ठ ने कहा है कि ब्रह्मभावना, पदार्थों के अभाव की भावना और केवल भावना से एक तत्त्वाभ्यास होता है।

असीम आत्मतत्त्व का मनन कर मन को तन्मय करना चाहिए, क्योंकि तल्लीन होने पर मन स्थिर हो जाता है। भोग्य पदार्थों के क्षीण होने पर जैसे अस्थिरता आती है, वैसे ही आत्मतत्त्व में मन को स्थिर करने पर प्राण और मन लीन हो जाते हैं। आत्मा की भावना से शीघ्र वैसा ही हो जाता है, जैसे—बरसात के पानी से विशाल नदियाँ बन जाती हैं वैसे ही भावना से मन आत्ममय होने से असीम होना "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति", "यो यच्छ्रद्धः स एव सः", आदि श्रुतियों के अनुसार तद्रूप हो जाता है।[3]

तुलनीय "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति"। (यो० दर्शन ४/३४)

चितिशक्ति स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है, अर्थात् कृतकृत्यता होने से भोग और अपवर्ग सम्पन्न होता है, बुद्धि आदि गुण प्रधान में लीन होते हैं। गुणों के व्युत्थान, समाधि, निरोध, संस्कार, मन में लीन, मन अस्मिता में, अस्मिता लिङ्ग में, लिङ्ग अलिङ्ग में लीन होना ही चैतन्य के साथ पुनः असंयोग है। बुद्धि की सत्त्वरूप उपाधिशून्यता ही स्वरूप प्रतिष्ठा स्वरूप कैवल्य है। सभी दर्शनों की इसी स्थिति में ही अविद्या के सम्बन्ध से कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रहता है और अविद्या के अस्त होने पर ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की ही स्थिति रहती है। इसीलिए स्वरूप में प्रतिष्ठा = स्थिति है जिसे किसी शक्ति का लक्षण कहा गया है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है "तरति शोकमात्मवित्", आत्मस्वरूप को जानने

---

१. एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा। मनोनिग्रहश्चेति योगशब्दार्थसंग्रहः ॥ (६/१/६९/२७)
त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनः प्रशमनं वरम्। साध्यं विद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिवम् ॥ (६/१/६९/९)

२. एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः। तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ॥ ६/१/६९/४८

३. ६/१/६९/४९, ६/१/६९/५२,
यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम्। तथैव पूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ॥ ४/११/५९
भविता शक्तिरात्मानमात्मा नयति क्षणात्। अनन्तमखिलं प्रावृड् मिहिका महती यथा ॥ ४/११/६०

वाला दुःख से रहित हो जाता है, "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" अन्त में विश्वमाया की निवृत्ति होती है। इस स्थिति में जो मैं हूँ वह परम है, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है "योऽहं वै तत्परमम् ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवन्ति"।

अज्ञान के क्षीण हो जाने पर अर्थात् आवरण और विक्षेप शक्ति के नाश हो जाने पर दृश्य पदार्थ का अभाव हो जाता है; केवल स्वप्रकाश ब्रह्म का भान होता है। जैसे मेघ अनेक योजन स्थित व्यापक सूर्यमण्डल को देखने वाले के नेत्रों को आवृत करने से सूर्य को भी साधारण मेघ आवृत कर देता है, वैसे ही अज्ञान के द्वारा चितिशक्ति का आवरण न होने पर देखनेवाले के अज्ञान का आवरण करता है और विक्षेपशक्ति के द्वारा विश्व को अनेक रूपों में मन प्रकाशित करता है। ज्ञान होने पर अनावृतस्वप्रकाश का भान होने से दृश्य जगत् का अत्यन्त अभाव हो जाता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का भान न होने से निर्विकल्प समाधि में स्वप्रकाश अद्वय तत्त्व का भान होने से वासना का नाश होता है, क्रमशः राग-द्वेष विनष्ट होते हैं और संसार की भावना ही अज्ञान के नाश से निर्मूल हो जाती है।[१]

योग का पूर्ण प्रभाव योगवासिष्ठ की इन पंक्तियों से लक्षित हैं—अज्ञान के नाश से दृश्य का अत्यन्त अभाव होने पर दृश्य के बिना द्रष्टत्व स्वयं विनष्ट हो जाता है चिद्रूपता मात्र रह जाती है, यही केवली भाव है। वायु के बिना क्रिया स्वयं विनष्ट हो जाती है, देखनेवाले के न रहने से वासनात्मक रागद्वेष सभी शान्त हो जाते हैं, जगत्, तुम, मैं, दृश्य के शान्त होने पर द्रष्टा के आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है—केवली भाव है।

यद् द्रष्टुरस्याद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद्बलात्।
तद्विद्धि केवलीभावं तत एवासतः सतः॥ ३/४/५३
तत्तामुपगते भावे रागद्वेषादि - वासना।
शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा॥ ३/४/५४
त्रिजगत्त्वमहं चेति दृश्ये सत्तामुपागते।
द्रष्टुः स्यात्केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः॥ ३/४/५५
अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसम्भवे।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टार्थवीक्षणे॥ ३/४/५८

इसी प्रकार प्राणों की गति का निरोध आदि योग साधन का विवरण भी उपलब्ध है—

जैसे पंखे की गति के रुकने से वायु की गति रुक जाती है, उसी प्रकार प्राणों की गति रुकने पर मन शान्त हो जाता है, प्राण का निरोध मन की शान्ति का साधन है, मन की शान्ति विश्व की लय-प्राप्ति का साधन है।

तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः।
प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः॥ ६/१/६९/४
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते॥ ५/७८/१६

प्राण और मन का सम्बन्ध अनिवार्य है।

योग के द्वारा कुण्डलिनी का जागरण योगदर्शन एवं योगवासिष्ठ में भी विस्तार से वर्णित है। यथा—

सुमेरु के समान स्थिरता और गुरुता की सिद्धि कुण्डलिनी में पूरक प्राणायाम से होती है। इस प्राणायाम से कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार से उठकर सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है और सर्पिणी के समान ऊपर जाती है, यह अन्य नाड़ियों की शक्ति को भी अपने साथ ले जाती है। अभ्यास के द्वारा सूक्ष्मता होने से आकाशगमन सम्भव होता है। रेचक के अभ्यास से ब्रह्मरन्ध्र अनावृत्त हो जाता है और अन्य शरीर में प्रवेश की शक्ति भी आती है। इस विषय का विस्तृत विश्लेषण योगवासिष्ठ में ६/१/८१/४५-५६, ६/१/८२/२-१३ एवं ६/१/८२/२९-३० तक किया गया है।

---

१. ४/२१/२३, ३/७/२७, ३/७/२८, ३/७/३०, ३/२१/७६, ७८, ४३/२२/२७-२८, ३१।

इस प्रसङ्ग में योगदर्शन के विवरण से दोनों में कितना साम्य है एवं योगदर्शन का प्रभाव तथा योगवासिष्ठ में योग शब्द का प्रथम प्रयोग क्यों किया गया है—इसकी स्पुट प्रतीति होगी। कुण्डलिनी-जागरण ही स्वप्रकाश दीप्ति की अभिव्यक्ति है और इसकी आभा सम्पूर्ण विश्वस्वप्रकाशतादात्म्य होने से जड़ अज्ञान की निवृत्ति होने से विश्व के कल्याण की भावना का उदय होता है—यही जीवन्मुक्तावस्था है।

जीवन्मुक्तावस्था

योगवासिष्ठ में राम कर्म से भागने को उद्यत नहीं है वरन् व्यष्टिभाव से समष्टि की ओर अग्रसर होना चाहता है। सङ्कीर्ण, देह, स्त्री, धन, बन्धु, गृह, प्रान्त, देश आदि से आसक्त आत्मभाव को ज्ञान की भूमि पर सार्वभौम आत्मभाव की प्रतिष्ठा कर शङ्कर, बुद्ध, राम, कृष्ण की तरह प्राणिमात्र के कष्ट निवारण के लिये अग्रसर होना, यह अवस्था अद्वयभाव के बिना सम्भव न होने से अद्वैत की भूमि पर विश्व के साथ तादात्म्यापन्न होकर सकलजनहिताय और सकलजनसुखाय वह जीवनयापन करता है। योगवासिष्ठ का राम और श्रीमद्भगवद्गीता का अर्जुन ज्ञान की प्राप्ति के बाद कर्मशून्य जीवन व्यतीत नहीं करता है, अपितु इसी के बाद इनके जीवन का अर्थ होता है। अतः वसिष्ठ रूप दीप्ति के आलोक से आभासित राम ही विश्व के कल्याण का साधक होता है। राम और अर्जुन दोनों ही जीवन्मुक्त होकर कर्मक्षेत्र में पदार्पण करते हैं।

अज्ञान की एक बार निवृत्ति होने के बाद और उसका ब्रह्म से साक्षात्कार के द्वारा पुनः बन्धन नहीं होता है। मृगमरीचिका में जल नहीं है—यह ज्ञान होने के बाद वह प्यासे व्यक्ति को आकृष्ट करने में समर्थ नहीं होती है। अविद्या का ज्ञान होने पर वह स्वप्नभोग के समान वास्तविक नहीं रह जाता है।[1]

मेरे लिये सर्वत्र स्वर्ग ही है। जो संसार में आता है वह आये, जो जाता है वह जाये। न मेरी सुखों की अभिलाषा है, न दुःख के प्रति द्वेष है। सुख और दुःख आये या जाये। मैं इसको सोचने वाला कौन हूँ? इस शरीर में अनेक वासनाएँ उदय हों या विलीन हों—मुझे उनसे क्या सम्बन्ध है? जब यह देह मेरा है और मैं उसका हूँ अर्थात् 'ममेदं शरीरम्', 'तस्याहम्' यह भ्रम दूर हो गया, तब शरीर के प्रति आसक्ति ही नहीं रह जाती है—शरीर रहे या समाप्त हो। मैंने सबसे उत्तम शान्त सर्वथा दुर्लभ पद की प्राप्ति कर ली है तथा मन, वाणी और कर्म से उस चरम परम अवस्था को प्राप्त कर लिया, जहाँ से पुनः नहीं है। सुखदायक है या नहीं है, ये विचार नष्ट हो गये हैं, शान्त आनन्दपूर्वक स्थित हूँ।[2]

प्रस्तुत प्रसंग में विद्यारण्य की दृष्टि से जीवन्मुक्त की व्याख्या देकर योगवासिष्ठ के आधार पर जीवन्मुक्त की व्याख्या के साथ महाभारत, जीवनमुक्तिविवेक, पञ्चदशी आदि ग्रन्थों से तुलनात्मक अध्ययन द्वितीय भाग की भूमिका में देखें।

---

१. अविद्या संपरिज्ञाता न चैनं परिकर्षति। मृगतृष्णा परिज्ञाता तर्षुलं नावकर्षति॥ (५/७/२०)
अविद्या संपरिज्ञाता यदैव हि तदैव हि। सा परिक्षीय भूयः स्वप्नेनेव हि भोगभूः॥ (५/६४/१३)

२. अस्ति सर्वत्र मे स्वर्गो नियतो न तु कुत्रचित्। (६/१०७/२६)
यदायातु तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत्। सुखेषु मम नापेक्षा नोपेक्षादुःखवृत्तिषु॥ (५/३५/३९)
सुखदुःखान्युपायान्तु यान्तु वाप्यहमेषु कः। वासना विविधा देहे त्वस्तं चोदयमेव वा॥ (५/३५/४०)
देहास्याहं देहीति क्षीणे चित्तविभ्रमे। त्यजामि न त्यजामीति किं कलनोदिता॥ (५/४०/१२)
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्लब्धालभ्यपरास्पदः। अनिवृत्तिपदं प्राप्तो मनसा कर्मणा गिरा॥ (५/७४/३५)
इदं सुखं इदं नेति मिथुने क्षयमागते। सममेव पदे शान्ते तिष्ठामीह यथा सुखम्॥ (६/१०९/७४)
सर्वत्रैव हि तुष्ट्यामि सर्वत्रैव रमे प्रभो। अवाञ्छनत्वान्मनसः सर्वत्रानन्दवानहं॥ (६/१/१०७/२७)

इस प्रकार की अवस्था होने पर वह प्राकृत कर्मों के बन्धन से सर्वथा विमुक्त रहता है, किन्तु सभी क्रियाएँ असंगभाव से लोककल्याण के लिए करता है। वह जीवित रहते हुए जीवन्मुक्त होता हुआ प्रारब्ध कर्मों का भोग अनासक्त होकर करता है। योगवासिष्ठ में जीवन्मुक्त का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

जिस ज्ञानी अन्तर्मुखी व्यक्ति को सुख सुख के लिए और दुःख दुःख के लिए अर्थात् द्वेष के लिए नहीं रहता है—वह मुक्त है। भयंकर अनवरत बड़े सुख और दुःख के प्रति नाममात्र भी विकार नहीं होता है—वह समदृष्टि व्यक्ति मुक्त है। जिस ज्ञानी व्यक्ति की सभी क्रियाएँ इच्छा सङ्कल्प से रहित होती हैं, व्यवहार के अनुसार प्राप्त सभी क्रियाओं का सम्पादन करता है—वह शान्त जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त व्यक्ति को न किसी व्यक्ति विशेष से राग होता है और न द्वेष ही होता है, वह विषयों की कामना से विषयों के प्रति आसक्त नहीं रहता है। आसक्त के समान होता हुआ भी अनासक्त रहता है। यह किसी के उद्वेग का कारण नहीं होता है और न किसी से उद्विग्न ही होता है; क्योंकि लोभ, मोह, राग और द्वेष से वह सर्वथा शून्य रहता है। वह सभी लोगों के लिए प्रिय लगनेवाला आचरण करता है और प्रिय पथ्य और मधुर वाणी का ही प्रयोग करता है। असन्दिग्ध होने से तथा राग-द्वेषशून्य होने से वह तत्काल अपने कर्तव्य का निर्णय कर लेता है। सदाचारसम्पन्न वह सभी के बन्धु रहता है। व्यावहारिक दृष्टि से कार्यतत्पर रहते हुए भी अन्तर्हृदय से सभी प्रकार से शान्त रहता है। प्राप्त वस्तु की उपेक्षा नहीं करता है और अप्राप्त वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है। सर्वथा शान्त एवं क्रोधशून्य रहता है। जीवन्मुक्त कामना और सङ्कल्परहित जीवनप्रवाह के लिए अनिवार्य रूप से प्राप्त कर्तव्य को हृदय में शून्यता के साथ निर्वाह करते हैं। जीवन्मुक्त व्यक्ति पिंजरे से मुक्त शेर के समान ब्रह्मरूपी एक सूत्र को धारण कर वर्ण, धर्म, आश्रम, आचार, शास्त्रों के नियमरूपी जगत् के व्यवहार से मुक्त हो महाकरुणा से आर्द्र हृदय हो जीवन-यापन करता है। नित्य तृप्त, सभी कर्मफलों का त्यागी, किसी के भी आश्रय में न रहनेवाला पुण्य-पाप से निर्लिप्त रहता है। भवग्रन्थिशून्य, क्रोधरहित, मोहपाशविमुक्त हो स्वच्छन्द ब्रह्ममय प्रसन्नमुख विचरण करता है। वह भौतिक कामना, जीवनकामना और मृत्युभय से विमुक्त बन्धनशून्य अनासक्त रहता है। वह न तो आपत्तियों से घबड़ाता है और न सुख से प्रसन्न ही होता है। सुख-दुःख सभी अवस्थाओं में समभाव से जीवनयापन करता है। न द्वेष करता है, न किसी वस्तु की आकांक्षा ही करता है। न चिन्ता करता है, न रागवश किसी अनुचित आचरण के लिए ही तत्पर होता है। जीवन्मुक्त व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करता है जिससे सब सुखी रहें। वह दुखियों को देखकर दुःखी होता है, बालकों के प्रति बालक-सा, धीरों के साथ धीर-सा, वृद्धों के प्रति वृद्ध-सा व्यवहार करता है। भले-बुरे कामों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह ग्रहण और त्याग से परे है। उसे कुछ प्राप्तव्य नहीं है। देश, काल, क्रिया और क्रम के अनुसार कार्य करता हुआ भी उनसे उत्पन्न सुख-दुःख से परे रहता है। वह न उद्धत, न प्रमत्त, न खिन्न, न उद्विग्न होता है—वह सदा सभी तरह सन्तुष्ट रहता है। श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय के स्थिरबुद्धि के समान ही जीवन्मुक्त व्यक्ति का वर्णन मिलता है। उसकी सांसारिक कल्पनाएँ शान्त हो जाने से हेय उपादेय एवं घृणा के भाव उसमें उत्पन्न ही नहीं होते हैं। विश्व के सभी प्राणी उसके बन्धु हैं। उसको मनोहर स्त्रियाँ एवं कोई भी पदार्थ अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाते हैं। अवसर प्राप्त व्यवस्था के अनुसार व्यवहार करता हुआ पद्मपत्र एवं आकाश के समान शुद्ध, विषयों के मध्य भी सन्तुष्ट और परिपूर्ण रहता है। जीवन्मुक्त व्यक्तियों के विशिष्ट ज्ञान के लिए इन प्रकरणों को देखें।[1]

जीवन्मुक्त के लिए कुछ भी प्राप्य न होने से त्याज्य और प्राप्य का प्रश्न ही नहीं है, अतः उसका कर्तृत्व ही नहीं रहता है। यदि आत्मा से अतिरिक्त सत्य हो तो उसके प्राप्त करने की इच्छा हो, किन्तु आत्मा से अतिरिक्त सत्य ही नहीं है, अतः आत्मा किसकी इच्छा करे और किसकी प्राप्ति के लिए दौड़े; क्योंकि कर्ता, कर्म, कारण सभी

---

१. ३/९/५, ६, ८, ९, १२। ३/११८/१८, २०। ३/१२२/१४। ४/४६/८, २६, २९। ५/६/१, १०। ५/१६/१८–२१। ५/१८/३–६। ५/७४/६१, ६३,। ५/७७/११–१४, १८, २५, २६। ५/९३/२४, ३९, ५२, ५३, ५५। ६/२ १६९/१, ८, ९। ६/२ /१०२/१–५ इत्यादि।

आत्मा ही है और आत्मा कुछ करता भी नहीं है। अतः स्वभावतः जीवन्मुक्त कर्म करते हुए भी इच्छारहित और भय-शून्य है, क्योंकि द्वितीय न होने से किससे भय होगा [१]।

व्यवहार में रहते हुए भी जीवन्मुक्त समाधिस्थ रहता है। कीचड़ में पड़कर भी जैसे सुवर्ण म्लान नहीं होता है, वैसे ही संसार में रहकर भी जीवन्मुक्त भव से संलिप्त नहीं होता है। [२] जीवन्मुक्त बिना आकांक्षा और घृणा के सब कुछ भोग कर लेता है, वह इसे लीलामात्र समझता है। [३]

जीवन्मुक्त तीनों लोकों को तृण के समान समझता है। उसको आपत्तियाँ उसी प्रकार छोड़ देती है, जैसे साँप को केचुल छोड़ देती है। सदा उसमें अविकार सत्त्व का प्रकाश रहता है, लोकपाल ही उसके रक्षक रहते हैं, उसको कुछ भी नहीं चाहिए, अतः अमृत तत्व की प्राप्ति होती है और अखण्ड पूर्ण ब्रह्ममय रहता है। [४]

प्रारब्ध कर्म का भोग कर जीवन्मुक्त विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। शरीर का काल के द्वारा विनाश हो जाने पर अस्थिर वायु जैसे स्थिर वायु में प्रविष्ट होती है, वैसे जीवन्मुक्त विदेहमुक्त में प्रविष्ट होता है, इस विदेहमुक्तावस्थान कलात्मक कालशक्ति एवं कर्म का सम्बन्ध न होने से इसका न उदय होता है और न अस्त ही होता है, न यह सत् है और न असत्, न दूर न पास, वह सूर्य होकर लोक में उष्णता का सम्पादन कर सकता है, विष्णु आदि होकर सृष्टि, स्थिति और विनाश करता है, सभी काल में दृश्यमान जगत् वही है। इसी अवस्था का नाम मुक्ति है, यही ब्रह्म है, सर्वथा परिपूर्ण रूप निर्वाण यही है। [५]

भारत, भारती और भारतीयता एक ही मूल के तीन आयाम हैं। भारत के इतिहास की अहणिम उषःकाल की आभा वैदिक युग से परिव्याप्त होती है। इससे पूर्व की गाथा स्फुट अभिव्यक्त नहीं है। पुरातन विशिष्ट संस्कृति हो सकती है, किन्तु, वेद में मधुर मिश्रण के साथ इसने स्वयं को जीर्ण-शीर्ण कर दिया। वैदिक संस्कृति इतनी उदात्त और उदार है कि अपने लचीलेपन में सभी को आत्मसात् कर लेती है और उसकी बर्बरता क्रूरता को दूर कर सत्य शिव और सुन्दर बना देती है। यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष की समग्र आत्मचेतना सर्वप्रथम इसी युग की है। यह आत्म-चैतन्य आधिभौतिक, आधिदैविक को तिरस्कृत कर अध्यात्म भावना में प्रतिष्ठित होती है। इतिहास की पुरातत्त्वीय उपादान भी मूल्यवान् है, किन्तु आधिभौतिक आनुमानिक सन्दिग्ध दिग्दर्शन होने पर भारतीयता का यथार्थ आत्मपरिचय वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध है। वैदिक भावना और साहित्य ही समग्र भारतीय सारस्वत वाग्विलास के अनुशीलन के लिये अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य है। सुदूर पूर्ववर्ती सहस्र-सहस्र वर्षों की अध्यात्म चिन्ता की अक्षुण्ण धारा प्रवाह को परिव्याप्त करने से वेद का आयतन अति विशाल है। कालक्रम में मनुष्य की भाषा, व्यवहार, आचार और भाव परिवर्तन अनिवार्य है, किन्तु अन्तर्निहित सत्य प्रकृति का विशेष परिवर्तन नहीं मिलता है, सत्य के जिस मार्ग का विश्व के सम्पर्क में मनन की भूमि पर सत्य के द्रष्टा ऋषियों ने चिन्ताधारा के रहस्य को बोधगम्य कराकर कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण कराने का सतत प्रयास किया है—उसकी अवगति और विश्व के कल्याण के लिए अनुरूप आचरण को समझने की चेष्टा आज भी शेष है।

---

१. ६/२ /१९९/२–६। ४/३७/१०, ११।
२. ५/५६/१२–१५, २२, २३, २७, ३३, ५१–५६।
३. ६/१ /११५/२१–३२।
४. ४/३२/३६–३९।
५. जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ १/९/१४
इसके लिए द्रष्टव्य ३/९/१४–२५ तक।

योगवासिष्ठ का रचना काल

संस्कृत साहित्य के लेखक मनीषिगण अपने विषय में सर्वथा मौन ही हैं। भारती भाषा के लेखक इतने से ही सन्तुष्ट रहते हैं कि उनकी रचना ही उनको भारतीय सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। अखण्ड भारत का प्रेम काल आदि की परिधि से कहीं दूर वंश परम्परा के प्रति उदासीन एकमात्र शास्त्रीय-चिन्तन का श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन की भूमि पर प्रतिष्ठित करने एवं विषय वस्तु का चरम परम रूप लोक कल्याण की दृष्टि से प्रस्तुत कर पूर्णामोद और सन्तोष का अनुभव करते हैं। राग, द्वेष से शून्य लोकैषणा, वित्तैषणा से शून्य हो वे अपनी रचना को लोक के सम्मुख आलोकित करते हैं। अखण्ड सत्य के प्रति अतिशय विश्वास और श्रद्धा के कारण दक्षिण के लेखक की व्याख्या पूर्व के विद्वानों के द्वारा की जाती है। आचार्य शङ्कर के व्याख्याता मिथिला निवासी वाचस्पति मिश्र हैं। किन्तु आज का अन्वेषण खण्ड सत्य के परिवेश में होने से काल, स्थान और वंश आदि के ज्ञान के लिए ही सन्नद्ध रहता है और विषय वस्तु की उपेक्षा ही दृष्टिगोचर होती है। नामरूप को अज्ञान विजृम्भित मानकर अपने सम्बन्ध में लिखना आवश्यक ही नहीं समझते थे। नाम की ख्याति अभीष्ट नहीं थी, जितनी लोक के कल्याण के लिए सिद्धान्त का प्रतिपादन। आज के उच्चकोटि के विद्वान् रत्नाकर की चञ्चलऊर्मिमाला को महत्त्व देने वाले आत्मत्याग को भारत के ऐतिहासिक ज्ञान से दुःखद मानते हैं, क्योंकि, ज्ञान और तदनुरूप चरित्र से भारत की आभा को स्वीकार कर विश्व अवनत हुआ था, यहाँ के व्यक्ति को लेकर नहीं। उनका सिद्धान्त ही उनके ज्ञानालोक की भास्वरता का परिचायक है और वही यहाँ की निधि है।

योगवासिष्ठ भी इसका अपवाद नहीं है। इसका रचनाकाल तो सन्दिग्ध है ही लेखक भी दोलायमान है। वस्तुतः ज्ञानालोक की कसौटी पर इसको देखा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि इसकी विषय वस्तु शाश्वत सनातन है और नव परिधान काल और व्यक्ति विशेष की देन है।

उपलब्ध ग्रन्थ एवं कतिपय मातृकाओं में "श्री मद्वाल्मीकिमहर्षिप्रणीतः योगवासिष्ठः" यह पुष्पिका प्रत्येक सर्ग के अन्त में लिखी हुई मिलती है। इण्डिया ऑफिस के ग्रन्थागार की पुष्पिका में भी "इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु प्रथमः सर्गः"[१] लिखा हुआ मिलता है।

१—कतिपय आचार्य आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती की शक १७६६ शती में रचित "वासिष्ठ रामायण—तात्पर्य प्रकाश"[२] नाम की टीका देखकर योगवासिष्ठ की रचना १७ वीं शती के आसपास की मानते हैं। इसी समय आनन्द-बोधेन्द्रसरस्वती, गङ्गाधरेन्द्रमाधवसरस्वती एवं सदानन्द यति ने भी योगवासिष्ठ पर टीका का निर्माण किया है। निर्माणकाल की उपरितन सीमा यही मानी है, किन्तु इसके समर्थन में किसी प्रकार का समुचित तर्क प्रस्तुत नहीं है और विवरण के द्वारा इसे इस सीमा से एक हजार वर्ष पूर्व मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

२—डॉ० जे० एन० कर्कुहर का मत है कि 'योगवासिष्ठ' की रचना १३ वीं १४ वीं शती के मध्य में हुई है।[३]

३—डॉ० शिवप्रसाद भट्टाचार्या ने योगवासिष्ठ की रचना के प्रसङ्ग में "द्वितीय आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स" मद्रास में अपने पांडित्यपूर्ण लेख में अनेक युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध किया था "इन सब विचारों से यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ १०–१२ शताब्दियों में लिखा गया होगा"[४]। डॉ० भट्टाचार्य ने अपने मत के समर्थन में यह कहा गया है कि "विज्ञान भिक्षु से पूर्व किसी भी दार्शनिक लेखक या भाष्यकार ने इस ग्रन्थ को प्रमाण

---

१. एगलिङ्ग सूची, भाग ४, पृ० ११२।

२. ऋतुरसतुरगमही (१७६६) शकविकारिशुभवत्सरस्य शिशिरर्तोः (तात्पर्य प्रकाश का अन्तिम)।

३. "योगवासिष्ठमहारामायण उन संस्कृत महाकाव्यों में से है, जो १३ वीं या १४ वीं शताब्दियों में लिखे गये थे"—(Religious Literature of India, p. 228)।

४, The Proceeding of the Madras Oriental Conference, p. 554.

ग्रन्थ नहीं माना है। विज्ञान भिक्षु का काल १६ वीं शती माना गया है। जबकि १४ वीं शती के विद्यारण्य स्वामी ने अपने पञ्चदशी और जीवन्मुक्ति विवेक में २५३ श्लोकों को अपने मत की पुष्टि के लिए उद्धृत किया है। यह भिन्न बात है कि विद्वान् लेखक ने इसे विद्यारण्य की ही रचना मानकर इसका महत्त्व नहीं दिया हो क्योंकि तीनों का लेखक एक होने पर इसके उद्धरण का प्रश्न ही नहीं है। यह मत भी नगण्य है, क्योंकि ९–१० वीं शती के मध्य में इसकी रचना हो चुकी थी।

५—जर्मन विद्वान् डॉ० विन्टनिट्ज़ ने 'Geschichte der indischen Litterature' (भारतीय साहित्य का इतिहास) ग्रन्थ में लिखा है कि "योगवासिष्ठ के एक सार ग्रन्थ की रचना गौड अभिनन्द ने ९ वीं शताब्दी के मध्य में की थी, अतः योगवासिष्ठ की रचना इससे पूर्व हो चुकी थी। आचार्य शङ्कर ने इसकी चर्चा नहीं की है, इसलिए योगवासिष्ठ शङ्कराचार्य के किसी समकालीन लेखक ने की होगी"।[1]

६—आचार्य डॉ० भीखन लाल आत्रेय ने योगवासिष्ठ की रचना आचार्य शङ्कर एवं भर्तृहरि से पूर्व छठी शती की मानी है। उनकी युक्तियाँ उनके ही शब्दों से उद्धृत हैं—

१. एक विशेष कारण, जिसकी वजह से हमको योगवासिष्ठ श्री शङ्कराचार्य के पश्चात् का ग्रन्थ नहीं जान पड़ता, यह है कि योगवासिष्ठ यद्यपि अद्वैतसिद्धान्त और औपनिषद अद्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादक है—जिसका प्रतिपादन शङ्कराचार्य ने अपने ग्रन्थों में किया है—तथापि उसमें उन पारिभाषिक शब्दों का अभाव है, जिनका श्रीशङ्कराचार्य ने प्रायः और विशेषतया प्रयोग किया है और जिनका प्रयोग शङ्कराचार्य के पीछे के सभी अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक लेखकों ने किया है और जिनका प्रयोग योगवासिष्ठकार भी करता यदि उसको वे शब्द ज्ञात होते, और यदि वह शङ्कराचार्य के पीछे का लेखक होता तो कोई कारण ही नहीं कि श्रीशङ्कराचार्य के शब्दों का उसको क्यों ज्ञान न होता जबकि अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही वह अपने इस महान् ग्रंथ में कर रहा था। उदाहरणार्थ—शङ्कराचार्य के प्रयोग किये हुए ऐसे शब्दों और संज्ञाओं में से कुछ हम यहाँ देते हैं—'अध्यास', 'साधन-चतुष्टय (विवेक, विराग, षट् सम्पत्; शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) तथा मुमुक्षुत्व', 'सगुण' सथा 'निर्गुण ब्रह्म', 'अपर ब्रह्म', 'सविशेष' और 'निर्विशेष ब्रह्म', 'उपाधि', 'क्रममुक्ति', 'प्रारब्ध' तथा 'संचित कर्म', 'वाध', 'पञ्चकोश', ईश्वर की उपाधि रूप से 'माया' और 'अविद्या', अविद्या का 'अनादित्व', 'कर्म का अनादित्व', ब्रह्म से जगत् का शङ्कराचार्य के अनुसार विकास, जो कि सांख्य के अनुसार से भिन्न है, महावाक्यों का एक विशेष प्रकार से अर्थ लगाना इत्यादि।

२. दूसरा कारण यह है कि योगवासिष्ठ का अद्वैतवाद इतने सुसंज्ञित शब्दों में और इतनी निश्चितार्थ तथा दार्शनिक भाषा में नहीं हैं, जितना कि शङ्कराचार्य का तथा उनके सब अनुयायियों का है। योगवासिष्ठ में प्रायः सभी दार्शनिक संज्ञाएँ कई-कई अर्थों की द्योतक हैं।

३. तीसरा कारण यह है कि शङ्कराचार्य जी और उनके अनुयायियों ने जितने दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, उन सबको श्रुति प्रमाण द्वारा सिद्ध करने का यत्न किया है। श्रुति उन सबके लिए अद्वैत सिद्धान्तों का परम प्रमाण है। किन्तु योगवासिष्ठ में कहीं पर भी श्रुति की इतनी मान्यता नहीं मानी गई। सब प्रमाणों के ऊपर अनुभव ही को प्रधानता दी गई है। किसी स्थान पर भी श्रुति की उक्ति के आधार पर किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। लेकिन शङ्कर के पश्चात् किसी भी अद्वैतवाद के समर्थक ने ऐसा नहीं किया। योगवासिष्ठ के अनुसार तो प्रत्यक्षानुभव ही एक परम प्रमाण है। यथा—

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥ १ ॥ (२/१९/६)
वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव।
ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छ्रासनेष्वपि ॥ २ ॥ (६/१ /१९७/१५)

---

१. गोशिखटे डेर इण्डिशेन लिट्राटुर (भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग ३ पृ० ४४४)।

सभी प्रमाणों की चरम सीमा प्रत्यक्ष है, जैसे जलों की सीमा समुद्र है ।

हे राघव ! तीनों वर्गों का उपदेश शास्त्रों में है, किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति वाणी से परे होने के कारण शास्त्रों में उपदिष्ट नहीं है।

४. चौथा कारण यह है कि शङ्कराचार्य से लेकर उनके सभी अनुयायियों तक ने अपने ग्रंथों में दूसरे मतों का यथाशक्ति खण्डन करके अपने मत का प्रतिपादन और अपने मत को सबसे उत्तम सिद्ध करने का यत्न किया है और जहाँ-जहाँ युक्तियाँ सफल नहीं हो सकीं, वहाँ-वहाँ पर श्रुति को परम प्रमाण मानकर उसका पूरा सहारा लिया है। योगवासिष्ठ में ऐसा नहीं पाया जाता । उसके लेखक ने प्रायः सभी अपने समय में वर्तमान मतों को आदरणीय दृष्टि से देखा और उनका अपने मत में समावेश किया है । शङ्कर का अद्वैत वेदान्त तो केवल उपनिषद् के ही सिद्धान्तों का समन्वय है, लेकिन योगवासिष्ठ अपने समय के सभी दर्शनों का समन्वय है । किसी मत के ऊपर भी योगवासिष्ठकार ने आक्षेप नहीं किया ।

५. पाँचवाँ कारण इस विषय में यह है कि यद्यपि योगवासिष्ठ में शङ्कराचार्य के विशेष सिद्धान्त और उनकी विशेष संज्ञाएँ नहीं पायी जातीं, तथापि शङ्कराचार्य के छोटे-छोटे पद्य ग्रन्थों में योगवसिष्ठ के बहुत से सिद्धान्त बहुत-सी विशेष संज्ञाएँ ही नहीं, बहुत से श्लोक भी मिलते हैं । भाष्यों में, जो कि गद्य में लिखे गये हैं, शङ्कराचार्यजी को भाष्य-कृत ग्रंथों के ही विचारों तक परिमित रहना आवश्यक था, किन्तु अपनी स्वतन्त्र पद्य रचनाओं में वे अपने विचारों तथा शब्दों में स्वतन्त्र थे । इसलिए इन ग्रन्थों में कुछ विशेषता थी । यदि शङ्कराचार्य के 'विवेकचूडामणि', 'अपरोक्षानुभूति', 'शतश्लोकी' आदि ग्रन्थों का योगवासिष्ठ के साथ-साथ अध्ययन किया जाय तो अवश्य ही यह निश्चित हो जायेगा कि शङ्कराचार्य को अवश्य ही योगवासिष्ठ के सिद्धान्त मालूम थे और उसके बहुत से श्लोक उनके स्मृति-चित्र पर अंकित थे । इस विषय में यह कह देना भी उचित है कि यह सम्भव हो सकता है कि ये ग्रन्थ शङ्कराचार्य के शायद न हों । लेकिन विद्वान् लोग प्रायः इन ग्रन्थों को उन्हीं के मानते चले आ रहे हैं । (देखिये, अभ्यङ्कर सम्पादित 'सर्वदर्शनसंग्रह' के अन्त में दी हुई सूची तथा राधाकृष्णन की इण्डियन फिलोसफी (अ० २, पृ० ४५०) जहाँ पर कि विवेकचूडामणि शङ्कराचार्य का ग्रन्थ मान लिया गया है । दूसरी बात यह भी कह देनी उचित है कि शङ्कराचार्यजी को योगवासिष्ठ के सिद्धान्त और श्लोक स्वयं योगवासिष्ठ से न प्राप्त होकर अपने आचार्यों या सम्प्रदाय द्वारा मौखिक पथ द्वारा प्राप्त हुए हों और योगवासिष्ठ के पढ़ने का स्वयं उनको सौभाग्य और समय न प्राप्त हुआ हो, क्योंकि उस जमाने में पुस्तकें—विशेषकर बड़े ग्रन्थ—सुलभतया नहीं मिलते थे । [1]

योगवासिष्ठ के काल निर्णय के सम्बन्ध में
(आत्रेय की व्याख्या के सम्बन्ध में)

इस प्रसङ्ग में मेरा नम्र निवेदन है कि किसी ग्रंथ के काल का निरूपण करने के लिए आवेश का सर्वथा परित्याग कर अन्तः और बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही निरपेक्ष भाव से उसका निरूपण करना चाहिए ।

१—इस प्रथम युक्ति के आधार पर योगवासिष्ठ को शंकराचार्य का पूर्ववर्ती ग्रन्थ मानना आवेश एवं विशिष्ट आग्रह ही कहना होगा । जिन शब्दों को आचार्य शङ्कर का माना गया है, वे शङ्कर से पूर्व अनेक आचार्यों के द्वारा प्रयुक्त हैं । शास्त्र की मर्यादा भिन्न होती है । सूत्र की व्याख्या में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं खण्डन कर अपने सिद्धान्त की स्थापना करनी पड़ती है । भाष्य के लक्षण के अनुसार भी सूत्र की व्याख्या अपेक्षित होने से सूत्रकार को मर्यादित रूप में ही व्याख्यान करना पड़ता है ।

सूत्र के अर्थ का जहाँ सूत्र के पदों के अनुसार वर्णन रहता है एवं अपने द्वारा सूत्र की व्याख्या में प्रयुक्त पदों की भी जहाँ व्याख्या रहती है—उसे भाष्य कहा जाता है ।

---

१. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त—डा० भीखनलाल आत्रेय, पृ० १२-१४ ।

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैःसूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

ब्रह्म का अनादित्कर्म का अनादित्व, ब्रह्म से जगत् का विकास आदि तो समान ही है।

उपक्रम और उपसंहार वाक्य से वक्ता एवं लेखक के तात्पर्य का ज्ञान होता है। प्रथम उपक्रम वाक्य से ही उसका सिद्धांत स्पष्ट रहता है। प्रथम पद्य में "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र के द्वारा निरूपित ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को उपनिषद् के अनुरूप प्रदर्शित किया है। इसके द्वारा औपनिषद् सिद्धान्त के प्रतिपादन में ही लेखक का तात्पर्य है—यह सुस्पष्ट है। ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादानकारणता के बाद सभी सिद्धान्तों में प्रकृति : महान् आदि क्रम में सृष्टि होती है, अतः शङ्कर से विरोध नहीं है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म" यही श्रुति आचार्य शङ्कर के अनुसार द्वितीय सूत्र की भूमिका है और यही योगवासिष्ठ की भी भूमिका है, अतः दोनों में भेद का दर्शन प्रतिभा का प्रताप हैं। योगवासिष्ठ का प्रथम पद्य—

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥ (यो०वा०, १/१/१)

द्वितीय श्लोक में भी श्रुति को उपनिषद् का ही आधार माना है—"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" एवं "एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता कर्ता बोद्धा विज्ञानात्मा पुरुषः" आदि श्रुति को आधारशिला मानकर प्रस्तुत है। तृतीय श्लोक भी उपनिषद् की ही व्याख्या है—" न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन, इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ," एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यादेष आकाश आनन्दो न स्यात्", "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" इत्यादि श्रुतियाँ ही इस तृतीय पद्य की भूमिका है। अतः योगवासिष्ठ को औपनिषद सिद्धान्त के अनुकूल न मानना साहसमात्र है। अद्वैत का विकास न होने से शङ्कर के बाद का ही मानना उचित है, क्योंकि तटस्थ लक्षण द्वितीय श्लोक में और स्वरूप लक्षण तृतीय श्लोक में दिया गया है। अतः शङ्कर की व्याख्या की छाया सुस्पष्ट है।

२. द्वितीय कारण तो नगण्य है, क्योंकि भाष्य और महाकाव्य में अन्तर स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य है। लेखक ने स्वयं ग्रन्थ के स्वरूप निरूपण करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है।

युक्तियुक्तार्थवाक्यानि कल्पितानि पृथक् पृथक्।
दृष्टान्तसारसूक्तानि चास्यां प्रकरणानि षट्॥ २/१७/१०

वेदान्तदर्शन में तीन प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व का निर्धारण किया जाता है—(१) श्रुति अर्थात् वेद। श्रुति को ब्रह्मसूत्र में प्रत्यक्ष और स्मृति को अनुमान कहा गया है। "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (ब्र०सू० १/३/२८)। इसकी व्याख्या में आचार्य शङ्कर ने कहा है, "प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्" (शा०भा० ३२२ पृ०)। श्रुति अपरोक्ष प्रमाणस्थानीय है। जब तक श्रुति का अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान में साधन नहीं होता है, तब तक वह अज्ञान की निवृत्ति का साधन नहीं होता है।

आत्मा के दर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष साक्षात्कार के तीन उपाय हैं—"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद [सर्वं विदितम्" (बृ०उ० २/४/५)। श्रवण, मनन और निदिध्यास तीन परमार्थतत्त्व के साक्षात्कार के साधन अर्थात् उपाय हैं। वेद से श्रुत अर्थ का मनन करना चाहिए। मनन शब्द का अर्थ युक्ति या अनुमान के द्वारा अनुसन्धान या परीक्षा होता है। परीक्षा के द्वारा सत्य अर्थ स्थिर रहता है और अन्य अर्थ अज्ञानमूलक होने से तिरस्कृत हो जाता है—इसीलिए कहा गया है—"सत्यमेव जयते नानृतम्" (मुण्डक उ० ३/१/६)। मनन जब दृढ़ भूमि पर प्रतिष्ठित होता है, तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान में पर्यवसान लाभ

करता है—इसी का साधन निदिध्यासन है। बौद्धादि दर्शनों में भी यह स्वीकार किया गया है। श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी—इन तीन प्रज्ञाओं से वस्तुतत्त्व निरूपित किये जाते हैं और भावनामय ज्ञान साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष में पर्यवसित होता है। प्रत्यक्ष के बिना संशयकी निवृत्ति सम्भव नहीं है। इसीलिए वेद में कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (मु०उ० २/२/९)

इससे प्रत्यक्षमात्र प्रमाण मानना ही सिद्ध करता है। योगवासिष्ठ पर आचार्य शङ्कर का प्रभाव है, अतः यह परवर्ती ग्रन्थ है। अपने इस ग्रन्थ के विषय में स्वयं ही परिचय दिया है, अतः किसी अन्य के ग्रन्थ की छाया की सम्भावना करना उचित है या नहीं—यह मनीषिगण विचार करें। (द्रष्टव्य मुमुक्षुप्रकरण, सर्ग १७–१९)। साथ ही शङ्कर के ग्रंथों के शब्दों का प्रायः प्रसङ्गानुसार विश्लेषण भी काव्य की दृष्टि से सुलभ है—यह कोई व्याख्या ग्रन्थ नहीं है, अविकल शब्द प्रयोग से ग्रन्थ का महत्व ही समाप्त हो जायेगा।

३. तीसरा कारण तो सर्वथा उनके कथन के विरुद्ध अर्थ का ही परिपोषक है। क्योंकि उपक्रम वाक्य से ही यह सिद्ध है कि यह ग्रन्थ श्रुतिमूलक है और पद-पद पर श्रुति का निर्देश प्राप्त है। प्रत्यक्ष को तो प्रबलतम आचार्य शङ्कर ने भी स्वीकार किया है, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुति के अनुसार द्रष्टव्यः का विधान है और 'द्रष्टव्यः का अर्थ साक्षात्कर्तव्यः होता है। सर्वदर्शनसंग्रह के उपोद्घात में भी विवेचन करते हुए लिखा है—मोक्ष का साधन आत्म-साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष है। इस साक्षात्कार का साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन है। इतना ही नहीं, शब्द के द्वारा परोक्ष ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, किन्तु पद्मपादाचार्य की परम्परा शब्द के द्वारा अपरोक्षात्मक अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है; क्योंकि शब्दज्ञान का विषय ब्रह्म स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश ब्रह्म शब्दज्ञान का विषय होता है, अतः ब्रह्म का साक्षात्कारात्मक ज्ञान से अज्ञान और उसके संस्कार की निवृत्ति होती है। अविद्या का अस्तमय मोक्ष है और अविद्या या अज्ञान बन्धन है। विद्या वर्णित ब्रह्मसाक्षात्कार है। शब्द के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान के प्रसङ्ग में एक उदाहरण अद्वैतवेदान्तियों ने प्रस्तुत किया है—

किसी समय दस व्यक्ति गङ्गास्नान के लिए जाते हैं। स्नानादि के बाद वे घर लौट रहे हैं। उनलोगों ने सोचा कि लौटने से पूर्व गणना कर लेनी चाहिए, कोई छूट न जाय। सभी बारी-बारी से गिनते हैं। एक-दो के क्रम में अपने को छोड़कर गणना होती है और नौ ही आदमी हो पाते हैं। वे समझते हैं कि एक व्यक्ति गङ्गा में डूब गया, फलतः दुःखी होकर रोने लगते हैं। एक अन्य व्यक्ति ने रोने का कारण पूछा। उन लोगों ने कहा—"हमलोग दस आदमी गङ्गा-स्नान करने आये थे, किन्तु नौ ही रह गये हैं। एक व्यक्ति डूब गया है।" उसने दस व्यक्तियों को देखकर गणना करने के लिए कहा। उसने अपने को छोड़कर गणना करते हुए नौ संख्या तक पहुँचा तब उस व्यक्ति ने दसवें व्यक्ति तुम हो अर्थात् 'दशमस्त्वमसि' यह वाक्य कहा। इस वाक्य के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः अद्वैत वेदान्त में प्रत्यक्ष अन्ततः प्रमाण है। श्रवण एवं मननात्मक अनुमान, अर्थापत्ति आदि युक्ति के द्वारा ब्रह्म के असन्दिग्ध साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही मोक्ष है। "आत्मविज्ञानं चात्मसाक्षात्कारः श्रुतिर्हि माता पुत्रमिव मुमुक्षजनान्सन्मार्गे प्रवर्तयितुं मोक्षसाधनीभूत-मात्मसाक्षात्कारं साधयति", "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ०उ० २/४/९)। उपायम-न्तरेण साक्षात्कारो न सिध्यतीत्यतस्तदुपायभूतं श्रवणं बोधयितुं द्रष्टव्य इत्यनन्तरं श्रोतव्य इत्याह। 'दशमस्त्वमसि' इत्यादादिव शब्दादेवात्रात्मसाक्षात्कारः। असंभावनाया विपरीतभावमायाश्च निरासाय मननमावश्यकमिति श्रोतव्य इत्यनन्तरं मन्तव्य इत्याह श्रुतिः। अनवरतभावना सिद्धयर्थं निदिध्यासञ्चावश्यकमिति निदिध्यासितव्यः इति चाह।" विद्या चात्मसाक्षात्कारः" (स०द०सं०उ०, पृ० १५६–५७)। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त में प्रत्यक्ष का ही माहात्म्य होने से योगवासिष्ठ में कहा है—

सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु॥

सर्वाक्षसारमध्यक्षं वेदनं विदुरुत्तमाः।
नूनं तत्प्रतिपत्सिद्धं तत्प्रत्यक्षमुदाहृतम् ॥
अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाविधम्।
प्रत्यक्षमिति नामेह कृतं जीवः स एव नः ॥[1] [यो० वा० २/१९/१६—१८]

इन श्लोकों के अर्थ पर दृष्टि देने से यह सुस्पष्ट है कि अन्य प्रमाणों का खण्डन अभीष्ट नहीं है। समुद्र के समान सभी प्रमाणों के प्रामाण्य का विश्रान्ति स्थान अर्थात् मूलभूत एक प्रत्यक्ष ही मुख्य तत्त्व है। जैसे सभी प्रमाणों का नेत्र इन्द्रिय सारभूत है, वैसे ही सभी के अपरोक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान ही सारभूत है। प्रकाशात्मक अनुभूति = ज्ञान है, अतः "मैं घट जानता हूँ" इस त्रिपुरीव्यापी साक्षी चिन्मात्र प्रत्यक्ष है। अतः प्रत्यक्ष की प्रधानता सिद्ध करने से ही अन्य प्रमाणों की सत्ता सिद्ध होती है।

योगवासिष्ठ में मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना गया है—यह नहीं कहा जा सकता है। इसलिए अद्वैत-वेदान्त की आचार्य शङ्कर के शिष्य पद्मपाद आदि के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का महत्त्व अर्थात् शब्दापरोक्षवाद की सिद्धि के बाद ही इसकी उत्पत्ति मानना उचित है।

४. चतुर्थ कारण के प्रसङ्ग में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आचार्य कुमारिल भट्ट, प्रभाकर एवं अन्य पूर्ववर्ती दार्शनिक आचार्यों के द्वारा अपने-अपने मत की स्थापना हो चुकी थी। सांख्य योग, न्याय, शब्दाद्वैत, बौद्ध, जैन आदि के मतों की विविध तर्कों से सिद्धान्त की स्थापना के बाद आचार्य शङ्कर का आगमन होता है, इतना ही नहीं व्याससूत्र पर भी उपवर्ष, भट्टभास्कर आदि ने व्याख्या प्रस्तुत कर दी थी, अतः, आचार्य शङ्कर के लिए उनका खण्डन सूत्रों की भूमिका में प्रस्तुत करना अनिवार्य था। वह शास्त्र है और यह सर्ग निबद्ध महाकाव्य है। इस शास्त्र के उपक्रम वाक्य से ही अगस्ति के कथन से ही सिद्ध है? चित्त की शुद्धि के लिए अथवा विविदिषा की उत्पत्ति के लिए कर्म की आवश्यकता है। क्योंकि सुतीक्ष्ण ने प्रश्न ही किया है कि मोक्ष का कारण कर्म है या ज्ञान? इनमें एक निर्णयात्मक पक्ष उपस्थापित करें—

मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा मोक्षकारणम्।
उभयं वा विनिश्चित्य एकं कथय कारणम् ॥ [यो०वा० १/६/६]

इसके उत्तर में अगस्ति ने कहा है कि—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥ [१/७/७]

इसके अतिरिक्त लेखक ने स्वयं अनेक दृष्टान्तों, विभिन्न युक्तियों एवं सन्तोष, साधुसङ्गति, विचार और शम इसकी आवश्यकता बताते हुए संसार से छुटकारा पाने के लिए इसे अनिवार्य माना है। अनन्तर सन्तोष = परमन्याय, सत्सङ्ग = परम गति, विचार = परम ज्ञान, शम = परम सुख—यह व्याख्या करके संसार के भेदन के लिए इन चारों को अनिवार्य माना है। अतः इस प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्य शङ्कर के शास्त्रीय व्याख्यान एवं सांकेतिक पदों के ग्रहण की आवश्यकता ही कहाँ है? अन्यथा प्रतिज्ञा के विरुद्ध व्याख्यान होने से उन्मत्त प्रलाप होने से ऊहापोह कुशल व्यक्तियों के लिए यह अग्राह्य हो जायेगा। यह सत्य है कि आचार्य शङ्कर के चार साधनों के समान इन्होंने मौलिक चार साधनों को प्रस्तुत किया है। कोई भी विशिष्ट लेखक अकारण किसी का अनुवाद कर अपनी मौलिक चिन्तनधारा का चीत्कार सहने को तैयार नहीं होता है।

सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा।
एत एव भवाम्भोधौ वुपायास्तरणे नृणाम् ॥ २/१६/१८

१. अर्थ पुस्तक में देखें।

सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गतिः।
विचारः परमं ज्ञानं शमः परमं सुखम् ॥ २/१६/१९
चत्वार एते विमला उपाया भवभेदने।
यैरभ्यस्त उत्तीर्णा मोहवारिभवार्णवात् ॥ २/१६/२०

इस प्रकार शङ्कर के शब्दों एवं व्याख्यानों को सर्गबद्ध महाकाव्य में ग्रहण करने की आवश्यकता न होने पर भी शङ्कर से पूर्व की रचना कहना साहस मात्र है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त एवं शैवागम, शास्त्र दर्शन के विकास के बाद की ही यह रचना है। समन्वयात्मक दृष्टि का उदय आचार्य उदयन के समय से हुआ है। काव्य के दार्शनिक तथ्यों का सरस विश्लेषण भी प्रबोध चन्द्रोदय के बाद ही आरम्भ होता है और चरमभूमि काश्मीर के जयन्त भट्ट के "आगमडम्बर" नाटक की रचना से होती है। डॉ० आत्रेय के शब्दों में ही "लेखक ने प्रायः सभी अपने समय के वर्तमान मतों को आदरणीय दृष्टि से देखा और अपने मत में समावेश किया है।" यही सिद्ध कर रहा है योगवासिष्ठ की रचना दशम शती के पूर्व की नहीं हो सकती है, क्योंकि इससे पूर्व इसमें आए हुए विषयों का पूर्ण विकास नहीं हुआ था।

५. पाँचवें तर्क के विषय में इतना ही कहना है कि आचार्य शङ्कर की रचना "विवेक चूड़ामणि", 'अपरोक्षानुभूति' और 'शतश्लोकी' हैं। इसमें विवाद ही कहाँ है ? विवाद तो यह है कि यह आदि शङ्कराचार्य की रचना है या उनके मठ पर आसीन अन्य शङ्कराचार्यों की है। अतः डॉ० राधाकृष्णन ने 'इण्डियन फिलोसोफी' भाग २ पृष्ठ ४५० एवं सर्वदर्शन संग्रह में इन्हें आचार्य शङ्कर की रचना मान ली तो इससे समाधान नहीं हो सकता है। साथ ही योगवासिष्ठकार ने आचार्य शङ्कर की रचनाओं को उद्धृत नहीं किया है तो विवेक चूड़ामणि आदि ग्रन्थों के उद्धरण का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः योगवासिष्ठ को अद्वैत वेदान्त के पुष्पित पल्लवित होने के बाद की रचना मानना ही युक्तिसङ्गत है।

पूर्वोक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह मानना उचित होगा कि दशवीं शती से पूर्व की इसकी रचना नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि छठी शती की रचना मानने पर विवेक चूडामणि, शतश्लोकी, आत्मकोष, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, अपरोक्षानुभूति, माण्डुक्यकारिका, उत्तररामचरित, वाक्यपदीय, वैराग्यशतक, इन सभी ग्रन्थों में योगवासिष्ठ की छाया मानना, इनके लेखकों का उपहास करना होगा, अतः, योगवासिष्ठ की रचना दशवीं शती में ही मानना उचित है और योगवासिष्ठ के रचयिता ने इन विशिष्ट ग्रन्थों की छाया प्रसङ्गानुसार उद्धृत किया है। इस काल में अद्वैत सिद्धान्त प्रतिष्ठित हो चुका था और शैव, शाक्त सम्प्रदाय भी निरूपित किया जा चुका था।

माण्डुक्योपनिषद् के व्याख्यान स्वरूप माण्डुक्यकारिका से प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त समर्थक कारिकाएँ योगवासिष्ठकार ने उद्धृत किया है। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि स्वयं ग्रन्थों की भाँति परिशीलन के द्वारा जानकर अन्य आचार्यों से वर्जित विषयों को सुनकर भ्रान्ति की शान्ति के सुखप्रद भ्रमयसन्ध ताप का शमन स्वर्ग तङ्गिरणी = गङ्गा के समान है—

स्वयं ज्ञाता श्रुता वापि भ्रान्तिशान्त्यैक सौख्यदा।
आप्रेक्ष्य वर्जिता सद्यो यथा स्वर्गतरङ्गिणी ॥ (यो०वा० २/१७/८)

उत्पत्तिप्रकरण ने इस ग्रन्थ को आत्मज्ञानप्रधान, शास्त्रों में इसको परमशास्त्र एवं महारामायण के रूप में निर्देश किया है। यह कथन इसका समर्थक है कि इस ग्रन्थ की रचना के पूर्व आत्मज्ञानप्रधान अनेक शास्त्रों की रचना हो चुकी थी, जिनके आधार पर इस योगवासिष्ठ की रचना की गई, इसीलिए इसको 'महारामायण' एवं परमशास्त्र और कोष कहा है—

आत्मज्ञानप्रधानानामिदमेव महामते।
शास्त्राणां परमं शास्त्रं महारामायणं शुभम् ॥ (यो०वा० ३/८/८)

इसी अध्याय में इस ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए इसे कोश की संज्ञा दी गयी है। इस ग्रन्थ में जो कहा गया है, वही सर्वत्र शास्त्रों में उपलब्ध है। जो यहाँ नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। अतः यह विज्ञान (आत्मविज्ञानशास्त्र) का कोशस्वरूप है। इस कथन से भी यह सिद्ध है कि इसमें अनेक शास्त्रों से विषय संग्रहीत हैं। कोष का अर्थ ही संग्रह है।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।
इमं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः॥ (३/८/१२)

काव्य और शास्त्र में साम्यप्रतिपादन न होने से उसे पूर्ववर्ती मानना उचित नहीं है। यह काव्य है और गौडपाद, भर्तृहरि, आचार्य शङ्कर आदि ने शास्त्र लिखे हैं, अतः उनकी पदावलियों का निर्देश न होने से योगवासिष्ठ को उनका पूर्ववर्ती मानना उचित नहीं है, अतः दर्शन के पूर्ण विकास के बाद की यह काव्यात्मक रचना है।

इस ग्रन्थ के अवलोकन एवं परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि कुमारिल के श्रुतिप्रामाण्य की स्थापना एवं कर्मकाण्ड की प्रतिष्ठा के बाद अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा के अनन्तर ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद के समीचीन समन्वय की भावना का विकास होता है और इसी समय कर्म की भूमिका को प्रदर्शित करते अद्वैतवाद के सभी शास्त्रोंक विशिष्ट समीक्षा कर इस विस्तृत काव्य ग्रन्थ की रचना में अलङ्कार आदि के द्वारा कान्त-सम्मित उपदेश के द्वारा मनोग्राही रचना की गई।

मुमुक्षुप्रकरण में कहा है कि मूर्खता को दूर करने वाले अन्य शास्त्र नहीं है, जैसा यह सामान्य पारिनिष्ठित बुद्धिवालों के लिए यह शास्त्र है। इससे यह सिद्ध है कि उस समय तक अनेक शास्त्र उपलब्ध थे।[1]

प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करानेवाला मोक्षसाधन पुण्यप्रद इस काव्य को सुनकर बालक भी ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लेता है, आपके विषय में तो कहना ही क्या है।[2] अतः लेखक के कथनानुसार ही शास्त्रों की रचना हो चुकी थी। अतः दशम शती से पूर्व इसकी रचना नहीं मानी जा सकती है।

पूर्वोक्त ऐतिहासिक काल निर्णय के परिप्रेक्ष्य में प्रथम योगवासिष्ठ और माण्डूक्यकारिका के पूर्वापर दृष्टि से डॉ० आत्रेय ने विचार किया है, अतः, उनके अनुसार ही विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

योगवासिष्ठ के मुमुक्षुप्रकरण के दशवें सर्ग में ब्रह्मा के द्वारा शाप की निवृत्ति के द्वारा वसिष्ठ को कर्म और ज्ञान के उपदेश के लिए प्रेरित किया है। इसके आधार पर आचार्य आत्रेय ने अन्य शास्त्र का प्रभाव नहीं है, अपितु साक्षात् ब्रह्मा के द्वारा उपलब्ध ज्ञान ही यहाँ कहा गया है। आत्रेय जी भूल रहे हैं कि यह काव्य है। इसमें चारुता के लिए तथा ग्रन्थ अनुवाद के रूप में स्वीकार कर इसकी अप्रामाणिकता हटाने के लिए तो यह कोई भी लेखक कह सकता है। यदि छठी शती की ही रचना मान लिया जाय वसिष्ठ और विश्वामित्र की स्थिति और ब्रह्मा से ज्ञान प्राप्ति आश्चर्य है।

बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद की चर्चा कर दोनों का वेदना के आधार पर एकत्व स्वीकार किया गया है। अतः यही सिद्ध होता है कि दोनों का भेद रूप में विकास हो चुका था, अतः उसकी चर्चा अनिवार्य हो गई, छठी शती में इसका विकास सम्भव नहीं है।

यह एक विशेष विचारणीय है कि इत्सिङ्ग आदि ने भारत यात्रा के प्रसङ्ग में उस समय के ग्रन्थों की रचना की चर्चा नहीं की है, किन्तु योगवासिष्ठ जैसे मौलिक और बौद्ध सिद्धान्त के खण्डन करने वाले विस्तृत ग्रंथ के विषय में मौन हैं, अतः छठी शती की रचना है—यह नहीं माना जा सकता है।

---

१. किञ्चित्संस्कृतबुद्धीनां श्रुतं शास्त्रमिदं यथा। मौर्ख्यापहं तथा शास्त्रमन्यदस्ति न किञ्चिन॥
(यो० वा० २/१३/१४)

२. मोक्षोपायानिमान् पुण्यान् प्रत्यक्षानुभवार्थदान्। बालोऽप्याकर्ण्य तज्ज्ञत्वं याति का त्वादृशे कथा॥
(यो० वा० ६/२/२१५/६)

यह सत्य है कि योगवासिष्ठ महाकाव्य का लेखक अतिशय उदात्त और उदार विचार का है, वह विषय के समर्थन में दत्तावधान है और समन्वय की भूमि पर अन्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करता है। द्रष्टव्य—३/९६/५१-५३

उसका उदात्त विचार शून्यवादी, विज्ञानवादी, सांख्य, योग, शैव, कालवादी, आत्मवादी के मत में आत्मा, नैरात्म्यवादियों का नैरात्म्य सभी तत्त्व नाम के भेद से एक ही है। द्रष्टव्य—५/८७/१७, १८, १९।

अद्वैतवेदान्त तो संहिताकाल से ही चल रहा है। गौडपादाचार्य से पूर्व मानने में क्या आपत्ति है।

उत्तर रामचरित का दो पद्य उद्धृत कर वेदान्त के दो विशेष सिद्धान्तों की चर्चा आश्चर्यजनक है। क्योंकि अद्वैतवाद उपनिषद् काल में तो पूर्णरूप से पुष्पित पल्लवित नहीं था एवं ब्रह्मनन्दी आदि ने शंकर से पूर्व ही इसकी पूर्व व्याख्या भं कर दी थी, जिसका खण्डन "ॐ पूर्णमदः" आदि की व्याख्या में बृहदारण्यकोपनिषद् में आचार्य शंकर ने की है।

जहाँ तक भवभूति का प्रश्न है, उनका यह पद्य—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान् अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्॥ [उ. रा. ३/४७]

इस श्लोक को अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए भवभूति ने दिया है—यह अनेक लोगों ने माना है। किन्तु, नाटक में अप्रासङ्गिक दर्शन का विश्लेषण भवभूति जैसे प्रतिभा के धनी के लिए नहीं माना जा सकता है। यह पद्य तो सम्पूर्ण नाटक में एकमात्र करुण रस का सञ्चार है, अन्य रस तो प्रसङ्गतः आए हैं, अतः उनका महत्त्व नहीं है। "कृत्स्नं रामायणं प्रोक्तं सीतायाश्चरितं महत्" सम्पूर्ण सीता का ही चरित्र है, और क्रौञ्चयुगल के वियोग जनित करुणा से उत्थित होने के कारण सर्वत्र करुण रस परिपूर्ण है, इसीलिए, ध्वन्यालोककार ने रामायण में करुण रस की स्थापना की है।[1]

योगवासिष्ठ में इसकी छाया ६/२/११/४०, ४१, ३/१००/२८, ११/१८—१९, ३/११४/९, ६३/४९/१२ योगवासिष्ठ को आठवीं शती के बाद का ही सिद्ध करता है। इसी प्रकार वैराग्यशतक, वाक्यपदीय आदि के प्रसङ्ग में भी समझना चाहिए, अतः योगवासिष्ठ की रचना दशवीं शती से पूर्व की नहीं हो सकती। शब्द ब्रह्म की चर्चा का प्रसङ्ग ही इस काव्य में नहीं है, अतः, उसके न होने से यह पूर्ववर्ती नहीं हो सकता है। मैक्समूलर के सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलोसोफी पृ० २० और कीथका क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर पृ० ११८ की दुहाई नगण्य है, क्योंकि उन लोगों की दृष्टि ही यहाँ के विशिष्ट ग्रन्थों को परवर्ती सिद्ध करना है—जैसा कि मैक्समूलर के प्रकाशित पत्र से सिद्ध है।

योगवासिष्ठ की रचना किसी भी काल में हुई हो, भारतीय दृष्टि में काल, स्थान और लेखक के वंश का समीक्षात्मक विश्लेषण का महत्त्व नहीं है। भारतीय ने लिखा गया है, अतः लेखक भारतीय है, तत्त्व सत्य एवं महर्षियों के साक्षात्कार पर प्रतिष्ठित है, इससे ही ग्रंथ का महत्त्व सिद्ध हो जाता है। क्योंकि प्राचीन आचार्यों को अखण्ड भारत के प्रति असीम श्रद्धा थी तथा नामरूप और परिच्छिन्न काल के प्रति उनकी अनास्था थी, अतः अज्ञान विजृम्भित इन विषयों का महत्त्व नहीं था। अस्तु काल का इन्हीं शब्दों में उपसंहार किया जाता है।

स्पन्द शास्त्र की चर्चा और प्रत्यभिज्ञादर्शन का विश्लेषण दशवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है, अतः इसकी चर्चा ही इसको दशवीं शती के बाद का सिद्ध करता है।

१. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक चतुर्थ ३।

योगवासिष्ठ भाषानुवाद

अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी

योगवासिष्ठ के विविध संस्करण और भाषान्तर एवं आचार्यों की दृष्टि में इसका महत्त्व—

१. योगवासिष्ठ—आनन्द बोधेन्द्रकृत टीका सहित, गणपत कृष्णजी प्रेस, बम्बई—सं० १९३६।

२. योगवासिष्ठ—श्रीवासिष्ठ महारामायण तात्पर्यप्रकाश टीका (आनन्द बोधेन्द्रकृत), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

३. योगवासिष्ठ 'प्रथम भाग', आनन्द बोधेन्द्रकृत—टीका सहित, अच्युत ग्रंथमाला, वाराणसी।

४. लघुयोगवासिष्ठ, गौड अभिनन्दकृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई। वैराग्य, मुमुक्षु और उत्पत्ति प्रकरण पर आत्म-सुखकृत वासिष्ठचन्द्रिका स्थिति, उपशम और निर्वाण पर मिम्मड़ीदेवकृत संसारतारिणी व्याख्या।

५. योगवासिष्ठ आचार्य श्री ठाकुर प्रसाद कृत हिन्दी भाषा अनुवाद सहित, इस अनुवाद की प्रेरणा लाला बैजनाथ जी की थी। दो भागों में।

६. योगवासिष्ठ भाषा –नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित। यह अनुवाद पटियाला महाराज की दो विधवा बहनों को साधु रामप्रसाद निरंजनी ने पंजाबी भाषा में सुनाया था, उसको नोटकर हिन्दी में रूपान्तर कर प्रकाशित किया। वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित।

७. योगवासिष्ठ भाषा (वैराग्य और मुमुक्षु), वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई।

८. योगवासिष्ठ, वंगानुवाद म०म० पञ्चानन तर्कवागीश एवं डॉ० अनिर्वाण आदि के द्वारा, कलकत्ता।

९. योगवासिष्ठ—संक्षिप्त वंगानुवाद, कलकत्ता।

१०. योगवासिष्ठसार, लघुयोगवासिष्ठका, मुंशी सूर्यनारायणमेहरकृत उर्दू रूपान्तर, दिल्ली।

११. अंग्रेजी ट्रान्सलेशन ऑफ योगवासिष्ठ महारामायण अनुवादक—बिहारी लाल मित्र, चार भाग, कलकत्ता से प्रकाशित।

१२. ए ट्रान्सलेशन ऑफ लघु योगवासिष्ठ श्री के० नारायण स्वामी अय्यर कृत लघुयोगवासिष्ठ का अंग्रेजी अनुवाद, मद्रास से प्रकाशित।

उपलब्ध मातृकाएँ—

१. इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन। ज्युलियर्स ऐग्लिङ्ग रचित "दी कैटलॉग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दी लाइब्रेरी ऑफ इण्डिया ऑफिस", लन्दन पार्ट ४ पृ० ७७२।

२. योगवासिष्ठ—आनन्दबोधेन्द्रसरस्वती कृत वासिष्ठ तात्पर्यप्रकाश व्याख्या सहित। न. २४०७–२४४१४

(अ) वैराग्य प्रकरण (न. ३०२ अ) ३३ सर्ग, प्रायः ११३० श्लोक।
(आ) मुमुक्षु प्रकरण—२० सर्ग, प्रायः १००० श्लोक।
(इ) उत्पत्ति प्रकरण—१२२ सर्ग, प्रायः ६००० श्लोक।
(ई) स्थिति प्रकरण—६२ सर्ग, प्रायः २४०० श्लोक।
(उ) उपशम प्रकरण—९३ सर्ग, प्रायः ४२७० श्लोक।
(ऊ) निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध ९३ सर्ग, प्रायः ४२७० श्लोक।
(ए) निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध २१६ सर्ग, प्रायः ८८०० श्लोक।

कुल २६७७० श्लोक।

मैंने अपने ग्रन्थ का मूलाधार निर्णयसागर प्रेस की पुस्तक माना है—इसमें श्लोक संख्या निम्नलिखित है—

(क) वैराग्य प्रकरण – ३३ सर्ग, ११७६ श्लोक ।
(ख) मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण – २० सर्ग, ८०७ श्लोक ।
(ग) उत्पत्ति प्रकरण – १२२ सर्ग, ५२९५ श्लोक ।
(घ) स्थिति प्रकरण – ६२ सर्ग, २४१५ श्लोक ।
(च) उपशमन प्रकरण – ९३ सर्ग, ४१६७ श्लोक ।
(छ) निर्वाण प्रकरण – पूर्वार्द्ध १२८ सर्ग, ५२११ श्लोक ।
(ज) निर्वाण प्रकरण – उत्तरार्द्ध २१६ सर्ग, ८७१६ श्लोक ।

कुल २७७१७ श्लोक ।

अन्य प्रतियाँ भी हैं, किन्तु खण्डित हैं । नं० २४१५, २९४१, २४१६–२४२०, २४२१ और २४२२ ।

३. ऑक्सफोर्ड वोडलियन पुस्तकालय – आउफेरेरव्टका कृत 'केटलोजी कोडिकम मैन्युस्क्रीपटोरम बिब्लियोथीकी वोडलियने" निर्वाण प्रकरण के उत्तरार्द्ध से रहित उपलब्ध है । 'दिवि भूमौ' से आरम्भ होता है ।

४. महाराजा बीकानेर के पुस्तकालय में राजेन्द्रलाल मित्रकृत सूचीपत्र नं० १५१६ उत्तरार्द्ध नहीं है। आरम्भ 'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न' से आरम्भ ।

५. अलवर नरेश पुस्तकालय, पिटर्सनकृत सूचीपत्र सं० ५४८, ५४९ । इस प्रति से योगवासिष्ठ का नाम योगवासिष्ठ, आर्षरामायण, ज्ञानवासिष्ठ, महारामायण, वासिष्ठरामायण और वासिष्ठ है । इन प्रतियों में १८२० सम्पूर्ण है ।

६. सरस्वती भवन पुस्तकालय, नं० १८०८–१८१०, १८२० और ५०३७ यहाँ ६ प्रतियों में १८२० पूर्ण है ।

७. गवर्नमेण्ट ऑरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट पुस्तकालय रङ्गाचार्य रचित पुस्तक सूची ४ भाग १ नं. १९१०–१९१४। १०, ११ और १३ व्याख्या के साथ है १९१२ मूलमात्र है ।

८. एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, कुञ्ज विहारी कृत, सूची नं. १९०४, आनन्द बोधेन्द्र सरस्वती कृत टीका सहित एवं अद्वयारण्यकृत वासिष्ठ पद टीका सहित ।

संक्षिप्त योगवासिष्ठ सार या लघुयोगवासिष्ठ या मोक्षोपायसार की अनेक मातृकाएँ मिलती हैं ।

९. दाराशिकोह के द्वारा कराया गया लघुयोगवासिष्ठ का फारसी अनुवाद—मालती सदन पुस्तकालय, वाराणसी में उपलब्ध है । १२० पृ. हैं । १८५५ के श्रावण मास की नवमी तिथि को लाला कुँवर सिंह ने की थी ।[1]

मनीषियों की दृष्टि में योगवासिष्ठ

डॉ० भीखन लाल आत्रेय—

"जो महत्त्व भगवद्भक्तों के लिए 'श्रीमद्भागवत' और 'श्रीरामचरितमानस' और कर्मयोगियों के लिए 'श्रीमद्भगवद्गीता' का है, वही महत्त्व ज्ञानियों के लिए 'श्री योगवासिष्ठ' का है । सहस्रों स्त्री-पुरुष—राजा से लेकर रङ्क तक—इस विचित्र ग्रन्थ के अध्ययन से अपने जीवन में आनन्द और शान्ति प्राप्त करते हैं । प्रायः सभी ही प्रकार के पाठकों के आमोद के लिए इस ग्रंथ में सामग्री प्रस्तुत है । जहाँ अबोध बालक भी इसकी कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होते हैं, वहाँ बड़े-बड़े विद्वानों की समझ से बाहर की उलझनों और गहनतम दार्शनिक सिद्धान्तों का इसमें प्रतिपादन है । हमारी

---

१. द्रष्टव्य डॉ० भीखन लाल आत्रेय कृत योगवासिष्ठ और उनके सिद्धान्त—पृ. ४०–४४ ।

समझ में तो यह ग्रन्थ महान् और विशाल हिमाचल के सदृश है। पृथ्वी तल पर स्थित होने से प्रायः सभी लोगों की पहुँच हिमालय तक है, लेकिन विरले ही साहसी और पुरुषार्थी खोजक उसके उत्तुङ्ग शृङ्गों को स्पर्श करते हैं। यही हाल योगवासिष्ठ का है। यह ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन सभी का आनन्द वर्तमान है। भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम कृतियों में से यह ग्रन्थ एक है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने और ब्रह्मभाव में स्थित रहकर संसार में व्यवहार करने के निमित्त इस ग्रन्थ का पाठ मनन और निदिध्यासन सर्वोत्तम साधन है। पृ० १

स्वामी श्रीरामतीर्थ जी—

"भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता में योगवासिष्ठ के सम्बन्ध में कहा है—भारत की सर्वोत्तम पुस्तकों में से एक—और मेरे मतानुसार तो संसार की सभी पुस्तकों से अद्भुत पुस्तक—योगवासिष्ठ है। यह असम्भव है कि कोई इस ग्रन्थ का अध्ययन कर ले और उसको ब्रह्मभावना न हो और वह सबके साथ एकता का अनुभव न करे।" इन दी वुड्स ऑफ गॉड्स रिअलाइजेशन, भाग ७, १९३२, पृ. ६५।

श्री भगवान्‌दास—

संस्कृत के ग्रन्थ योगवासिष्ठ का--- जिसमें कि ३२ सहस्र श्लोक हैं—भारतीय वेदान्तियों में, इसके दार्शनिक सिद्धान्त, आत्मानुभव प्राप्ति के साधनों तथा इसके साहित्यिक सौन्दर्य और काव्यमय होने के कारण बहुत ही आदर है। वेदान्तियों में तो यह उक्ति प्रचलित है कि यह ग्रन्थ सिद्धावस्था में अध्ययन करने योग्य है और दूसरे ग्रन्थ भगवद्‌गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र साधनावस्था में अध्ययन किये जाने योग्य हैं। (मिस्टिक एक्सपीरियेन्स की भूमिका)

लाला बैजनाथ जी—

वेदान्त में कोई ग्रन्थ ऐसा विस्तृत और अद्वैत सिद्धान्तों को इतने आख्यानों, दृष्टान्तों और युक्तियों से ऐसा दृढ़ प्रतिपादन करने वाला आज तक नहीं लिखा गया। इस विषय में सभी सहमत हैं कि इस एक ग्रन्थ के विचार से ही कैसा ही विषयासक्त और संसार में मग्न पुरुष हो वह भी वैराग्य-सम्पन्न होकर क्रमशः आत्मपथ में विश्रान्ति पाता है। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आई है कि इस ग्रन्थ का सम्यक् विचार करनेवाले यथेच्छाविचारी होने के स्थान में अपने कर्म का लोकोपकारार्थ, उसी दृष्टि से कि जिस दृष्टि से श्रीरामचन्द्र जी करते थे, करते हुए उसकी नाई स्व-स्वरूप में सदा जागते हैं। (योगवासिष्ठ महारामायण भाषानुवाद समेत, भाग २ भूमिका पृ. ५)

यह वेदान्त के सब ग्रन्थों में शिरोमणि है और कोई मुमुक्षु उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। (यो. म. भाग १ भूमिका पृ. ७)

सूर्यनारायण 'महर'—

"जो योगवासिष्ठ पढ़ता है वह जरूर ही ज्ञानी हो जाता है।" (लघुवासिष्ठसार (उर्दू) की भूमिका)

योगवासिष्ठ का लेखक—वह चाहे जो कोई भी हो—स्वयं अपने ग्रंथ के महत्त्व को अच्छी तरह जानता था, स्वयं वह कहता है और ठीक ही कहता है—

शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम्।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम्॥ २/१८/३३

यह शास्त्र सुबोध है। अलङ्कारों से विभूषित है। सुन्दर और रसपूर्ण काव्य है और इसके सिद्धान्त दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।

अस्मिन् श्रुते मतेज्ञाते तपोध्यानजपादिकम्।
मोक्षप्राप्तौ नरस्येह न किञ्चिदुपयुज्यते॥ २/१८/३५

मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस ग्रंथ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लेने पर तप, ध्यान और जप आदि किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती है।

सर्वदु:खक्षयकरं परमाश्वासनं धियः ।
सर्वदु:खक्षयकरं महानन्दैककारणम् ।। २/१०/९

यह ग्रन्थ सब दु:ख का क्षय करनेवाला, बुद्धि को अत्यन्त आश्वासन देनेवाला और महान् आनन्द की प्राप्ति का साधन है ।

इदं शृणुयान्नित्यं तस्योदारचमत्कृतेः ।
बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ।।

जो इसका नित्य श्रवण करता है उस प्रकाशमयी बुद्धिवाले को बोध से भी परे का बोध हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

Dr. Ganganatha Jha —

"The Yogavasistha Ramayana is one of those works in Sanskrit which deserve most to be read, and yet is the least read by students of Sanskrit literature. It is a work wherein philosophy has been brought down as near as possible to practical life. The yoga-vasitha embodies within itself the quest of a bewildered soul—that of Rama, the ideal man, faced by practical problems of life—as met by Vasistha, his guide philosopher and friend, the book under review is an attempt—and a fairly successful attempt—at bringing within easy reach of the modern student, just those teaching that allayed the strining heart of Sri Ramchandra.

The work is a comprehensive one. It has to be confused that the out look of the work is mainly, if not entirly vedanta, but that it as much to say that it represents the essence of Indian philosophy, Like all roads leading in Rome, all principle 'Darshanas' lead but to one Goal, the Universal Absolute, which is attainable only by the path of Universal Brotherhood.

मैक्समूलर, विन्टरनित्ज आदि ने भी इसकी विशेष प्रशंसा की है । डॉ० दास गुप्ता ने भी दर्शन के इतिहास में इसकी महत्ता की है । विस्तार की भय से विरत हो रहा है ।

योगवासिष्ठ रामायण में तीन शब्द हैं, योग, वासिष्ठ और तीसरा रामायण । इस शब्द में राम शब्द को ही ग्रहण किया जाता है, क्योंकि उन्हीं का अयन = गृह रामायण है । यह संज्ञा अन्वर्थक है । इतनी बड़ी संज्ञा का उद्देश्य दीप्तिरूप लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधन का निरूपण ही योगवासिष्ठ है ।

इस ग्रन्थ में योग द्रष्टा का सत्य स्वरूप प्राप्ति या कुण्डलिनी का साक्षात्कारात्मक आलोक सम्पात के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्माण्ड के मायाजाल की अवगति है या विवेक = विद्या या ज्ञान के द्वारा स्वप्रकाशरूपता की प्राप्ति है ।

वसिष्ठ भी दीप्ति का अपर पर्याय है, अतः वासिष्ठ भी वसिष्ठ सम्बन्धी शुद्ध चैतन्यधन प्रकाशरूपता सम्पत्ति है; जिसे अन्य शब्द में निर्वाण या मोक्ष कह सकते हैं ।

राम चैतन्यधन ही हैं, जो दाशरथी होकर इन्द्रिय वश में होकर किस प्रकार चेतन भी रथी होकर ममता के अश्वों से परिभ्रान्त रहता है । संसार की माया किस प्रकार आबद्ध कर लेती है । अतः, चेतन होने से ही वह आबद्ध नहीं होगा—यह बात नहीं है, किन्तु, इससे छुटकारा पाने का एकमात्र साधन नित्यानित्य वस्तु-विवेकजन्य-ऐहिक-पारलौकिक-सुख, सुख-साधन के प्रति अनित्यत्व के विवेक से वैराग्य और तज्जन्य मुमुक्षु की सम्प्राप्ति होती है । इस प्रसङ्ग में योग की व्याख्या के द्वारा पूर्वोक्त अर्थ का विश्लेषण किया जा रहा है ।

योग

समाध्यर्थक युज् धातु से करण में घञ् प्रत्यय कर योग शब्द निष्पन्न होता है—युज्यते अनेन इति योगः। कुछ आचार्यों ने अधिकरण में घञ् प्रत्यय कर 'युज्यते अस्मिन्' इस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग किया है। इसीलिए योग और समाधि को अपर पर्याय माना गया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार, जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है—"संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्म-परमात्मनो"। महाभारत के अनुसार, परमात्मा और आत्मा का ऐक्यस्वरूप योग साध्य है, इसको समाधि कहा जा सकता है जो योग का साध्य है। क्योंकि जैसे—जल और लवण के संयोग से ऐक्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और मन के ऐक्य को समाधि कहा जाता है।

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते॥

योग और समाधि व्युत्पत्ति के भेद से साधन और साध्य उभयरूप में व्यवहृत होते हैं। योगभाष्य में व्यास ने 'धृत ही आयु है' इत्यादि व्यवहार के समान उपकार्य और उपकारक रूप में अङ्ग और अङ्गी में अभेद की विवक्षा होने से योग और समाधि को अपर पर्याय माना है।

यह सत्य है कि अनादि अविद्या के कारण मानव-मन स्वभावतः बहिर्मुख रहता है। इसको अन्तर्मुख करने के लिए सक्रिय चेष्टा ही प्रथम योग है। यह योग एकाग्रता के द्वारा बहिरङ्ग प्रवृत्तियों से निरुद्ध होता है और अन्त में स्वसत्ता में अवबुद्ध होता है। अवबुद्ध प्रकाश से समग्र विश्व उद्भासित होता है और इससे लोक के प्रति करुणा और कल्याण-कामना उद्बुद्ध होती है, अहंशून्यता अस्मिता में परिणत होती है। अस्मिता-भूमि में ज्योति = स्वरूप प्रज्ञा का प्रोल्लास होता है। विभूतियों की दीप्ति में भूतों की जय से कायसम्पत् समृद्ध होता है। मधुमती भूमिका के साथ भूमा साक्षात्कार तथा भोग वितृष्णारूप विवेक ख्याति होती है।

सभी भारतीय साधनाओं का मूल-लक्ष्य भेद में अभेद दर्शन ही है। एक तत्त्व में अवस्थान ज्ञान-विचार का प्रधान कार्य है। वेद से लेकर सभी दर्शनों में अध्यात्म और अधिभूत (subject and object) रूप द्वैतदर्शन के एक तत्त्व में Natural laws नैतिक और प्राकृतिक रूप में होती है। किन्तु इनकी उपसंहृति आत्मा के साक्षात्कार से होती है। अद्वयपुरुषोत्तम की यही भूमिका है। प्रकृत भूमि भावमयी भूमि में प्रकाश का लाभ करती है। भावभूमि ज्ञानभूमिक्रम में पुरुषरूप या चेतनस्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।

बाह्य जगत् में धर्म का आधान बुद्धि के द्वारा होता है। Intellect अर्थात् बुद्धि ही इस दिशा से कर्तव्य का ज्ञान कराती है। कर्तव्य में निहित गुप्त प्रेम निर्झरिणी की दिशा (Hidden spring of love) उद्भूत होती है। Moral conciousness अर्थात् कर्तव्य विवेक का विकास प्रेम में परिणत होता है। यह प्रेम ही प्रज्ञा का स्वरूप अवलम्बन करता है। इस विचार और प्रज्ञा Intelect & intuition का मूल अद्वय पुरुषरूप स्वरूप प्रतिष्ठा है।

ज्ञान की प्रथम किरण दृष्टिपथ में आने पर मनबोध होता है कि यह बाहर की है और इसी से वस्तु परिचालित है। किन्तु दैहिक क्रिया की अवगति के साथ यह विश्वास होता है—यह शक्ति अन्तर्निहित ही है। Immonent dynamics की धारणा अर्थात् conception उद्भूत होता है। स्वाभाविक गति का अनुसन्धान होते ही सर्वानुस्यूत चेतनशक्ति का सन्धान होता है। इसी क्रम में Intelligent direction upon an end का बोध होता है। विश्व का ज्ञानचालित के रूप में अनुभूति होती है और अन्त में ज्ञान भी चेष्टाशून्य स्वतः उद्भासित सहज प्रकाश रूप में अवगत स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

प्रत्येक भूमि में रसास्वादावस्था रहती है। एक भूमि अन्य भूमि में जाने की सोपान परम्परा है। आनन्दाकार में परिणत जीव को सीमा से दूर सर्वभाव में उपस्थापित करता है=सङ्कीर्णता की भूमि से छुड़ाकर अर्थात् particularity के region से अलग कर universality भूमा के राज्य में प्रतिष्ठित करता है। कर्म, भक्ति या ज्ञान इस सत्व समाधि में आकर विघ्न-द्वन्द्वशून्य हो समता और स्वच्छन्दता सुख की भूमि रहता है। समाधि, भक्ति, ज्ञान और कर्म सभी में एक रूप ही रहती है। समाधि (Mere trance state) शुद्ध मूर्च्छा भाव नहीं है। यह absorption into highest concentracted thought गम्भीर अनुभूति है। इसे परमविचार, परमप्रेम, परमज्ञान का समष्टिभूत फल कह सकते हैं। यह वही भूमि है जहाँ धारण through understanding and firm fixity of attention ध्यान deep meditation एवं समाधि observed attention इसका पुञ्जीभूत होता है। यह धृतिगृहीत ज्ञान को प्रतिगृहीत ध्यान के रूप में परिपूर्णता का लाभ करता है। इस समाधि के फलस्वरूप ही प्रज्ञा (intuition) का उदय होता है यह भावना विशेष (developed reason) है, मन की सभी सत्यशक्ति इससे नियोजित होती है। यही कारण है कि यह मानव को शुद्ध विचार (Pure thought) के राज्य में, सत्य ज्ञान (Pure ideation) के राज्य में शुद्ध भावना की भूमि में अवस्थित रखता है। योग की इस समाधि में कर्म, ज्ञान और भक्ति भी अवसान लाभ कर योग संज्ञा प्राप्त करते हैं। पातञ्जल की दृष्टि में आकार शून्य स्वरूप मात्र निर्भास अवस्था है। इस स्थिति में ज्ञान को जीवन की स्मृति या संस्कार (Contribute) आरोपित होकर अन्यथा अनुरञ्जित नहीं कर पाते हैं। सर्वथा स्वरूप अवस्थिति शब्दान्तर से ब्रह्मार्पण या ब्रह्मचर्य है। इस अवस्था में जीवन न तो इन्द्रियार्थों में न शरीर-सुखावह कर्मों में प्रवृत्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाऽतिष्ठते तव निष्काम निःस्पृह विजितेन्द्रिय, अध्यात्मञ्चेता के रूप में समत्व की भूमि में अवस्थित लोककल्याण की भावना में प्रवृत्ति करता है। इसे कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्णा में प्रवेश कराकर ब्रह्मरन्ध्र-भेदन भी कह सकते हैं। कुण्डलिनी तेजःरूप है। यह अद्वैतभाव की प्राप्ति है। अतः अद्वय प्राप्ति समत्व की भूमि पर अवस्थिति ही योग है।

योग और कुण्डलिनी

योग के बिना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव नहीं है। गौतमीय तन्त्र में योग शब्द का संसार से उत्तीर्ण होने का साधन कहा गया है। इस जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्य रूप योग है।

संसारोत्तरणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदः॥ [गौ० त०]

पातञ्जल योग दर्शन में चित्तवृत्ति निरोध स्वरूप योग के साथ तन्त्रोक्त योग का विरोध नहीं है, चित्तवृत्ति निरोध स्वरूप योग के द्वारा किसी अभीष्ट योग-विषय में चित्त को स्थिर करना होता है।

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन के समय ग्रन्थि-भेद की चर्चा हुई है। ग्रन्थि-भेद से तात्पर्य यह है कि ब्रह्मग्रन्थि और सद्ग्रन्थि त्रय अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा, अतः कुण्डलिनी का जागरण एक सामान्य चर्चा नहीं वरन् इसके अधिकारी होने के लिये ग्रन्थि-भेद आवश्यक है। ब्रह्म ग्रन्थि भेद से साधक कामादि प्रवृत्ति अर्थात् सृष्टि या वासनादि का सर्वथा परित्याग कर जितेन्द्रिय होता है। इससे पुत्रैषणा दूर होती है विष्णु ग्रन्थि के भेद से वैष्णवी माया धन ऐश्वर्य आदि का प्रलोभन साधक को विचलित नहीं करते हैं। इसके द्वारा वित्तैषणा समाप्त होती है सद्ग्रन्थि भेद के बाद साधक प्रतिष्ठा एवं मोह पर विजय करता है। फलतः लोकैषणा दूर होती है, प्रतीकारात्मक रीति से चिन्मय भूमि की उत्तीर्णता अमृतत्व की प्राप्ति है। क्योंकि ग्रन्थि भेद का सहज अर्थ ही बन्धन मुक्ति है। बन्धन तीन प्रकार का है—१. देहज, २. प्राणज, ३. आत्मज।

जगद् ब्रह्माण्ड एक विराट् स्थूल देह है। समुद्र के ऊपर तरङ्ग के समान विराट देह पर व्यष्टि देह उत्थित होकर कुछ क्रीड़ा के बाद विराट् में विलीन होता है। मनुष्य बुद्धि दोष या प्रज्ञा-अपराध के संस्कार में एक-एक तरङ्ग को अपना समझता है और आबद्ध होता है, अतः बन्धन कल्पना-प्रसूत एवं विश्व-तादात्म्य परिच्छेद से होता है। इस कल्पित बन्धन का परित्याग कर देहात्म को समुद्र स्थानीय या विश्वात्मा के देह के रूप में अनुभव करना ब्रह्मग्रंथि भेद है।

प्राण-मन विज्ञानमय कोष में सर्वव्यापी प्राणादि की सत्ता को विस्मृत होकर एक निर्दिष्ट व्यष्टि प्राणमन में अहन्ता का स्थापन करता है और उसके सुख-दुःख के मध्य में इस तरह आबद्ध हो जाता है कि व्यष्टि देह के दुःख के लिए समष्टि का विसर्जन कर देता है। एक ही जीवनीशक्ति या प्राण का खेल चल रहा है। सभी दुःख-सुख समष्टि से सम्बद्ध हैं—इस तत्व की उपलब्धि करने पर व्यष्टि देह का सीमाबद्ध दुःख-सुख समष्टिगत सुख-दुःख के साथ मिलना ही प्राणग्रन्थि या विष्णु ग्रन्थि भेद का उद्देश्य है। विष्णु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित कर विश्वात्म सत्ता के रूप में संस्थित है।

आत्मा का धर्म आनन्द है, उसको एक सीमाबद्ध शरीर के साथ आबद्ध करना और व्यष्टि देह के आनन्द के लिए समष्टि देह के आनन्द को नष्ट करने में म्लानता का अनुभव नहीं होता है। इस व्यष्टिगत शरीर का बन्धन समष्टिगत आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि दूर करता है, सभी प्राणियों के हित साधन में एवं आनन्दवर्द्धन में रत होना ही रुद्रग्रन्थि के भेद का लक्ष्य है।[१]

ब्रह्मग्रन्थि-भेद के साथ साधक समष्टि रूप में स्थिति लाभ कर सत्यप्रतिष्ठ हो जाता है। इस अवस्था में समस्त जीवों को एक सत्स्वरूप के अङ्गरूप में अनुभव करता है—सभी की एकरूपता के साथ सब में विभिन्न रूप में आत्मप्रकाश का अनुभव करता है। इष्टमूर्ति भी इस अवस्था में विश्वरूप को धारण करती है। सर्वत्र एक ही तेज का दर्शन करता है, साधक अपनी आत्मा को सर्वभूतात्म रूप में उपलब्ध करता है। ब्रह्मग्रन्थि-भेद होने पर प्रारब्ध कर्मबीज दग्ध हो जाता है और स्थूल देह का संस्कार हो जाता है। विष्णुग्रन्थिभेद से प्राण प्रतिष्ठा की उपलब्धि होती है। खण्डप्राण में महाप्राण का अनुभव करता है। सभी के कर्मों को अपना कर्म मानता है, सभी के सुख-दुःख में आत्म सुख-दुःख का अनुभव करता है। सभी के प्रति प्रेमभाव उत्पन्न होता है। सभी के सुख के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करता है।

विष्णुग्रन्थि के भेद से साधक के संचित कर्म का बीज दग्ध हो जाता है और सूक्ष्म देह का संस्कार होता है। रुद्रग्रन्थि के भेदन से साधक एक अखण्ड अद्वयभावरूप द्रष्टा की स्वरूप स्थिति का लाभ करता है। इससे सभी के आनन्द का लाभ करता है। इस ग्रन्थि के भेद से सम्पद्यमान कर्म का बीज दग्ध होता है और कारण देह में संस्कार होता है। दुर्गा-सप्तशती का ग्रन्थित्रय भेद का यही आशय लाहिड़ी महाशय एवं सन्याल महाशय ने योगर्द्धि के द्वारा उद्‌बुद्ध किया है। यह कुण्डलिनी जागरण का योग साधना में तत्पर ही अधिकारी है, अन्य नहीं जैसे राम। कविराज महाशय ने व्यक्त किया है कि इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मचर्य, पवित्र जीवन, पवित्र चिन्ता—इसका स्थायी रूप में आयत्त करने पर ही कुण्डलिनी के जागरण मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। मस्तिष्क के शुद्ध केन्द्र के साथ देह के निम्नस्तर स्थित जनन केन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इन्द्रिय लोलुप व्यक्ति के लिए (paraclete) कुण्डलिनी के जगाने की साधना के पथ में आगे आने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। अतः योग और मोक्ष का सर्वत्र समत्व भावना के साथ व्यष्टि स्वरूप विसर्जन के साथ समष्टि का तादात्म्य एवं समष्टि का हित साधन है।

प्रागैतिहासिक युग के मोहेञ्जोदड़ो के भग्नावशेष में भी योगी की मूर्ति उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त योग की भंगिमा में दण्डायमान देवमूर्तियाँ भी उपलब्ध हैं।[२] इस भंगी को किसी ने जैनियों की कायोत्सर्ग भंगी माना है तो

---

१. पूजात्त्व—पृष्ठ ५७–५८।

२. PLXC Vili Pls CXVI 29 & CXVIII, 11

किसी ने योगमुद्रा या वायुपुराणवर्णित पाशुपतयोगमुद्रा माना है। ऋग्वेद के सूक्त[1] में योगी का वर्णन उपलब्ध है। रुद्र के साथ केशी विषपात्र से विषपान कर रहा है और यह वायुरूप प्राप्त करता है और कुत्सित लोगों को ध्वस्त करना चाहता है। वायुरस्मा उपामन्यत् पिनष्टि स्मानु कुर्णनमाकेशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणादिवत्सह (१०/१३६) अर्थात् योगी के योगबल से वायुरूपता को प्राप्त कर आकाशपथ से गमन करता है। गमनकाल में विश्व के सभी पदार्थों को अपने तेज से देखता चलता है। इस अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा व्यक्ति का आहार वायु है। यह वायु का मित्र है। यह वायुरूप को ही प्राप्त करता है। अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत् (१०/१३६/४)। वातस्याश्वो वायोः सखायो देवेषितो मुनिः (१०/१३७/५)।

इस साधना से सम्पन्न अनेक मुनि थे। वे अतीन्द्रिय पदार्थद्रष्टागण कपिल वर्ण मलिन वस्त्र को धारण करते थे, तपस्या की महिमा से देदीप्यमान देवता के स्वरूप में प्रवेश करते थे और वायुगतिसम्पन्न थे।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसने मला।
वातस्यानुध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ (१०/१३६/२)

मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की एक प्रसृति ejection का ही उर्ध्वगमन मानते हैं। प्रपञ्चसार के अनुसार मूलाधार में स्फुरित विद्युत् आभा के समान सूक्ष्माभा प्रभा ही मस्तकपर्यन्त ऊर्ध्वगमन करती है, यह सभी तेजरूप का मूलाधार है। प्रभा का अर्थ कुण्डलिनी मस्तक होता है। फलतः सर्पाकार कुण्डलिनी का मस्तक ऊपर जाता है और अधोभाग नीचे रहता है।

मूलाधारात् स्फुरित-तडिदाभा प्रभा सूक्ष्मसर्पोद्गच्छन्त्या मस्तकमनुतरा तेजसां मूलभूताः।
(प्र० सा० १०/७)

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी असीम और पूर्णरूप है, अतः स्थितिशील रूप में और असीम गतिशील रूप में चक्रों का भेदन करती हुई वलयाकारता नहीं रहती है। जीव का स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार के देहों का लय हो जाता है और विदेह मुक्ति को प्राप्त करता है। किन्तु इस व्यष्टि मुक्ति में संसार का लय नहीं होता है, क्योंकि समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि के समष्टि का आधार महाकुण्डली व्यष्टि की विदेह मुक्ति होने पर भी सार्द्धत्रिवलय के आकार में अवस्थान करती है। अतः संसार की स्थिति रहती है। कुण्डलिनी के जागरण और उर्ध्वगमन में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सुचिवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया॥ (ध्या० दि० उप०, पृ० ६६)

शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार साधना करने पर कुण्डलिनी के प्रबुद्ध होने पर प्रबुद्ध कुण्डलिनी सषुम्णा नाड़ी में ऊर्ध्वगमन करती है। चित्रिणी नाड़ी के मुख पर ब्रह्मद्वार है। परमशिवशक्ति के सामरस्य से निःसृत अमृतधारा में अभिषिक्त देश में प्रवेश करती है, जहाँ से निकलने का यही द्वार है, इस द्वार से कुण्डलिनी परम शिव के सन्निधान में गमनागमन करती है। योग प्रक्रिया में उपलब्ध इसी को कन्द सुषुम्णा का ग्रन्थिस्थान या सुषुम्णा का मुख कहते हैं।

ब्रह्मद्वारं तदास्थे प्रविलसति सुधाधार - गम्य - प्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लपन्ति॥ (षट् च० निरूपण, श्लोक ३)

कुण्डलिनी के ऊर्ध्वगमन करने पर यह विचारणीय है कि मूलाधार को वह शून्य करती हुई जाती है क्या? कुण्डलिनी जब मूलाधार के ऊपर जाती है, देह के अस्तित्व एवं प्राण क्रिया तथा जीवनाधार स्वरूप यह शवदेह नहीं

1. ऋग्वेद, १०/१३६

होता है, क्योंकि सहस्रार शिवशक्ति के मिलन के लिए प्रवाहित अमृत ही रक्षक रहता है। कतिपय आचार्या ऊर्ध्वगमन के समय भी मूलाधार की शून्यता नहीं मानते हैं।

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्णास्त्रित्रयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा ॥ [षचनि० श्लो० ३]

यह नाड़ी सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी इन तीन रूप के भेद से त्रिशूलरूपा है। चित्रिणी चन्द्ररूपा शुक्लवर्णा, वज्रो सूर्यरूपा अनार किञ्जल्क-कान्ति और सुषुम्णा अग्निरूप रक्तवर्ण है।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के अनुसार मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय अन्नमय कोश में अभियान होता है, तब ईडा और पिङ्गला की क्रिया चलती है, किन्तु जब सुषुम्णा उद्बुद्ध होती है तब इस जागरण की मात्रा के अनुसार ईडा और पिङ्गला की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। प्राणवायु के संचार के अनुसार ईडा और पिङ्गला के संचार में ह्रास आता है और क्रिया में अवरोध भी होता है। अभिमान=अहन्तत्व की प्राणमय कोश में क्रीडा आरम्भ हो जाती है। प्राणमय कोष में प्रवेश के अनुरूप अन्नमय कोष समाप्त हो जाता है। इस कोष की क्रिया के अवसान के साथ अथवा इस क्रिया की अवस्था में ही गुरु कृपा या साधना के बल पर वज्रिणी या वज्रा नाड़ी का द्वार अनावृत्त हो जाता है। शक्ति इसी नाड़ी से क्रियाशील होती है। अहन्ता प्राणमय कोष का त्याग कर मनोमय कोष का आश्रयण करता है। बज्रिणी नाड़ी से चित्रिणी नाड़ी में प्रवेश होता है। अहन्ता मनोमय कोश से ज्ञानमय कोश में प्रवेश करता है। चरमावस्था में चित्रिणी नाड़ी का भी त्याग हो जाता है। इस अवस्था में यथार्थ ब्राह्मनाड़ी का आक्रमण होता है और शक्ति लीला आरम्भ हो जाती है। अहन्ता विज्ञानमय को छोड़कर आनन्दमय कोश का आश्रयण करता है। इस कोश में किसी प्रकार का मालिन्य नहीं है। यही जीव का शक्ति के अंग में अवस्थान है। आनन्दमय कोश की सम्यक् अनुभूति वर्तमान रहती है। यही महाचैतन्य का परम साक्षी अवस्था में अवस्थान है।[1]

योगदृष्टि के आधार पर मानव-शरीर का केन्द्र मूलाधार है, इसीलिए मूलाधार में इसका स्थान माना गया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चतुर्दश भुवन एवं उससे सम्बद्ध सभी पदार्थ इस पिण्ड में अवस्थित हैं। मूलाधार पाद के अधोभाग में सप्तभुवन=सप्त पाताल और ऊपर शिर तक भू आदि सात भुवन हैं।

इस मूलाधार के ऊपर चक्र का स्थान है। मेरुदण्ड में सुषुम्णा नाड़ी है। इसी में या चित्रिणी नाड़ी में पद्म का स्थान है। सुषुम्णा नाड़ी में श्वास नाड़ी है और इसके अभ्यन्तर चित्रिणी नाड़ी का स्थान है। चक्रबन्धन से मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत एवं विशुद्ध इन प्रधान ६ चक्रों को समझा जाता है। इनके अतिरिक्त ललना, सोम, चन्द्र आदि का भी निर्देश मिलता है। ये चक्र प्राणशक्ति के अतिसूक्ष्म केन्द्र हैं। सजीव मानव के शरीर में प्राणवायु के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। ये चक्र चक्राधिष्ठात्री सूक्ष्मशक्ति के स्थूल स्पन्दन से होते हैं, उक्त स्थान को व्याप्त कर चन्द्र अवस्थित रहता है एवं उसी स्थान को वह नियन्त्रित करता है। इन चक्रों का स्वरूपग्रहण महाशक्ति ही करती है। शक्ति की गति वृत्ताकार और चक्राकार धारण करती है, यह चक्राकार अवस्था ही योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है। पद्मचक्र के चार दल हैं। योगनाड़ी की संख्या के अनुसार पद्म का दल निर्णीत होता है। मूलाधार घेरकर एवं मूलाधार के मध्य में चार नाड़ियों के जाने से चतुर्दल पद्म आकार की प्राप्ति होती है। ये योगनाड़ियाँ स्नायु नहीं वरन् प्राणवायु का प्रवाह-पथ हैं। गत्यर्थक नड् धातु से निष्पन्न नाड़ी शब्द प्राणवायु के यातायात की बोधक है। प्रधान दस नाड़ियाँ हैं—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, वारुणी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुषा और शङ्खिनी। किसी के मत में चौदह प्रधान नाड़ियाँ हैं—ईडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, सरस्वती, बारुणी, पुषा, हस्ति, जिह्वा, यशस्विनी, विश्वादरी, कुहु, शङ्खिणी,

---

१. पू० व०, पृ० ६९–७०।

पयस्विनी, अलम्बुषा एवं गन्धारी ।[1] इनमें भी प्रधान ईडा, पिङ्गला और सुषुम्णा हैं। मेरुदण्ड के बाह्यदेश में वाम भाग स्थित चन्द्रनाड़ी, दक्षिण में सूर्यनाड़ी और मेरुदण्ड के मध्य में तीन गुणों वाली चन्द्रसूर्य और दीप्तिस्वरूपा सुषुम्णा है।

यह कुण्डलिनी शक्ति ही विश्व की प्राणशक्ति एवं जीव की जीवनशक्ति है। यह जीवनशक्ति प्राण के रूप में है। कुण्डलिनी के सुप्त रहने पर भी उसका श्वास-प्रवास अव्याहत गति से चलता रहता है। इसके निःश्वास प्रश्वास के द्वारा यह जगत में जीव को धारण करती है, निश्वास क्रिया जीवन प्रवाह का मूल है और कुण्डलिनी जीव का जीवन है। प्रणायाम जो यह योग का आधार है, वह कुण्डलिनी के सम्मुख में ही उपयुक्त होता है। प्राण के 'हंस' कहने का अर्थ दो अक्षरों का अनवरत प्रवाह के कारण ही प्राण की 'हंस' यह संज्ञा है। इसी हंस का आश्रय कर कुण्डलिनी अपने को व्यक्त करती है

उच्छ्वासे चैव निःश्वासे हंस इत्यक्षरद्वयम्।
तस्मात् प्राज्ञस्तु हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः॥ (ष० नि० श्लोक ११)

प्राणाकार में अभिव्यक्त पराशक्ति कुण्डलिनी को प्राण कुण्डलिनी कहा जाता है, इस शक्ति को कुण्डलिनी शब्द से कहने का कारण यह है कि साँप के समान कुण्डली मारकर यह रहती है, अतः यह नाड़ी कुण्डलिनी है। योगियों ने अपनी योग दृष्टि के आधार पर सर्पाकार में इसको प्रत्यक्ष किया है—इसलिए इसको सर्पी भी कहा है। सर्प को प्राणशक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः प्राणशक्ति के प्रतीक भूत सर्प के आधार पर भी इसे सर्पी कहा जाता है। जोड़ा साप की अलङ्करण मूर्ति (Motif) मेसोपोटामिया के लेगोल के राजा (King Godea of Lagash) के अज्ञीयपान पात्र में चिह्नित पायी जाती है। इस राजा का अनुमानिक समय ३६०० ई० पू० माना गया है। प्रायः यह ऐतिह्य भी समसामयिक ही है। साँप प्राणशक्ति का प्रतीक है, यह साधारण जनता में भी प्रसिद्ध है।

इस सर्वसत्त्वमयी महाकुण्डली के द्वारा अनेक विलक्षण क्रियात्मक प्रपञ्च मूर्ति विश्व की सृष्टि होती है। इसका प्रसारण ही चिद् अचिद् जगत् का उन्मेष है, इसलिए यह मूलाधार है। गुरु कृपा ही इसकी उपलब्धि का साधन है। कुण्डलिनी पद्म के मृणाल सूत्र के आकार की है, आदित्य के या अंगार के समान जाज्वल्यमान है, सूर्य कोटि की प्रभा के समान उसकी प्रभा है, मूलाधार में चतुर्दल श्वेत कमल है, गुप्तदेश से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे सुषुम्णा नाड़ी के मुख संलग्न अधोमुख पद्म है। इस पद्म की कर्णिका के अभ्यन्तर में वज्रा नाड़ी के मुख त्रैपुर नामक बिजली के समान उज्ज्वल, कोमल, त्रिकोण है। उस त्रिकोण में परिव्याप्त कोटि सूर्य के समान देदीप्यमान रक्तबन्धु पुष्प के समान रक्ताभ जीवधारक कन्दर्प नामक वायु है। श्री कृष्ण के सिद्धान्तानुसार यह त्रिकोण कामाख्य योगी है और कन्दर्प अपान वायु है। शक्तानन्द तरङ्गिणी के अनुसार त्रिकोण के मध्य में कामबीज के ऊपर अधोमुख छिद्रयुक्त स्वयन्दुलिङ्ग है। मृणाल सूत्र के समान सूक्ष्म जगन्मोहिनी कुलकुण्डली अपने मुख के द्वारा ब्रह्मद्वार = स्वयम्भु है। गोरक्षसंहिता में कहा गया है कि जिस द्वार से निरामय ब्रह्म स्थान में प्रगति की जाती है, वही ब्रह्मद्वार है। ब्रह्मद्वार की ओर मुख कर उसको सदा आवृत कर यह रहती है—यही स्वयन्त्र लिङ्ग-रन्ध्र ब्रह्मद्वार है।

ब्रह्मद्वार-मुखं नित्यं प्रश्नोनावृत्य तिष्ठती।
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम्॥

यह कुण्डलिनी केवल शिव को ही आवृत करती है—ऐसी बात नहीं है। वरन् सभी नाड़ियों को संवेष्टन कर स्थिर रहती है। गुह्य और मेढ्र के मध्य में अधोमुख त्रिकोण योनि है, वहाँ सभी नाड़ियों का मूलाधार कन्द है, उस कन्द में सदा कुण्डलिनी वर्तमान रहती है। वह सुषुम्णा नाड़ी विवर में पुच्छ को मुख में निविष्ट कर अवस्थित् है।

गुदा से दो अंगुल ऊपर मेरु से दो अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तृत पक्षी के अण्ड के समान स्थित् कन्दमूल है इसी से बहत्तर हजार नाड़िया उत्पन्न होती हैं।

---

१. ध्यानबिन्दूपनिषद्, ५१–५३—योगी याज्ञवल्क्य।

तन्त्र और योग

तन्त्र में कुण्डलिनी का जागरण अपेक्षित है। इसके बिना पूजा, अर्चा, साधना सभी व्यर्थ हैं। जितने समय तक कुण्डलिनी निद्रित रहती है, तब तक सिद्धिलाभ की सम्भावना नहीं है; योगाभ्यास करने पर भी ज्ञान नहीं होता है। देवी कुण्डलिनी के जागरण से ही अष्टविध ऐश्वर्ययुक्त हो महायोगी शिव के समान संसार में विचरण करता है। [1]

यह कुण्डलिनी के जागरण के लिए योगसाधना एकान्त रूप से अपेक्षित है। योग के बिना कुण्डलिनी का चङ्क्रमण सम्भव नहीं है। रुद्रयामल में योग के अधीन ही कुण्डलिनी का जागरण कहा गया है।

विना योगं न सिध्येत कुण्डली-चङ्क्रमः प्रभो (ग०त० ६/३६)

वेदाधीनं महायोगं योगाधीना हि कुण्डली (कु०चा०उ०न०प० २१)

इतना सत्य है कि विश्वास, प्रेम, भक्ति, कर्म, ज्ञान इनसे सम्मिलित योग के द्वारा ही कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है। कुण्डलिनी नाद ब्रह्म है, अतः संगीत के द्वारा भी कुण्डलिनी का जागरण सम्भव है, क्योंकि स्वरनाद ब्रह्म है। वेद में कर्म-ज्ञान-भक्ति सम्वलित योग की अपेक्षा कही गयी है। वस्तुतः योग के बिना कुण्डलिनी का जागरण सम्भव नहीं है, क्योंकि कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग के अतिरिक्त कोई साधना ही नहीं है। अतः साधना का अर्थ ही योग है। किन्तु कुण्डलिनी जागरण की दृष्टि से कुण्डलिनी योग, हठयोग एवं लययोग ही गृहीत है। कुण्डलिनी शब्द ब्रह्म सर्वमन्त्रमयी, सर्वदेवमयी, सर्वसत्वमयी है। योग की चितिशक्तियाँ पुरुष कुण्डलिनी से अभिन्न है, क्योंकि यह ब्रह्मस्वरूपा, सनातनी विश्वातीता ज्ञानस्वरूप है। योग के अनुसार चेतन निष्क्रिय है, किन्तु चितिशक्ति को सक्रिय एवं निष्क्रिय उभय माना है। योगवासिष्ठ के राम की इसी ओर प्रवृत्ति है।

व्योमवती में एक कारिका उद्धृत करते हुए लिखा गया है कि विषय सम्बद्ध इन्द्रिय की विषयाकार में परिणति होती है, क्रमशः बुद्धि उस विषयाकार में परिणत इन्द्रिय के रूप को प्राप्त करती है। इस स्थिति में सत्वगुण का प्राधान्य रहता है, सत्वगुण की प्रबलता से बुद्धि स्वच्छ रहती है और इस अवस्था में बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। निर्मल जल में ही चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है कलुषित में नहीं। इसी प्रकार सत्वप्रधान बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तमः प्रधान में नहीं पड़ता है[3]। पुरुष में स्वाभाविक भोग मानने पर पूर्व स्वरूप की निवृत्ति और अन्य स्वरूप प्रतिरूप परिणामित्व का प्रसङ्ग नहीं है। अतः राम में पुनः भवप्रवृत्ति सम्भव नहीं है।

बुद्धि दूसरे के लिए है। क्लेश, कर्म, वासना, विषय, इन्द्रिय आदि के साथ मिलकर पुरुष का उद्देश्य सिद्ध ी है, क्योंकि संहत्यकारी अर्थात् अन्य से मिलकर जो कार्य करता है, वह दूसरे के प्रयोजन का साधक होता है। ाकारी न होने से असङ्ग पुरुष स्वार्थ में प्रवृत्त होता है। शान्त, घोर और मूढ़ के रूप में सभी वस्तुओं के आकार में परिणत होती है एवं ज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिगुणात्मक बुद्धि अचेतन और ज्ञेय है, पुरुष ज्ञाता और चेतन है।

---

१. जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः। तदा प्रसादामायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः॥
शिववद् विहरेल्लोकेऽष्टैश्वर्य-समन्वितः। (गन्धर्वतन्त्र ६/३७-३८)

२. पा० योग भाष्य २/२०

३. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रथिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति। तस्याश्च प्राप्तः चैतन्योपग्रहरुपाया बुद्धिवृत्तेरनुमात्रतया बुद्धिवृत्यवसिष्टो हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते—पञ्चशिरव० योग भा० २/२८/२, योग भा० २/१८।

४. प्रशस्तपाद भाष्य पृष्ठ ५२१।

पुरुष स्वतन्त्र है, बुद्धि पुरुष के अधीन है, पुरुष द्रष्टा, बुद्धि दृश्य है। अचेतन बुद्धि पुरुष के सम्बन्ध से चेतन के समान प्रतीयमान होती है। व्यास एवं पतञ्जलि तथा वाचस्पति मिश्र ये तीनों ही पुरुष की बुद्धि में प्रतिबिम्ब के पक्षपाती हैं। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं।

पञ्चशिखाचार्य भी बुद्धि में ही प्रतिबिम्ब की कल्पना करते हैं। पुरुष चेतन, अपरिणामी, प्रतिसम्भरण, शून्य है। बुद्धि विषयाकार में परिणत होती है। पुरुष विषयाकार में परिणत नहीं होता है। विषयाकार परिणत बुद्धिवृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और भ्रमवश बुद्धि के धर्मों को पुरुष अपना धर्म समझता है। योग भाष्यकार ने इस मत को उद्धृत किया है। राम भी आत्मचैतन्यस्वरूप की स्थिति में हैं।

व्यासदेव ने भी कहा है–जय या पराजय सैनिकों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु राजा में उसका आरोप होता है और राजा की जय या पराजय कही जाती है, क्योंकि वही उस फल का भोक्ता है। इसी प्रकार पुरुष का सुख आदि का साक्षात्कार रूप, भोग एवं दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप अपवर्ग बुद्धिकृत होने से बुद्धि में ही वर्तमान रहता है, पुरुष में वे आरोपित हैं। पुरुष उस फल का भोक्ता नहीं है। पुरुष बुद्धिवृत्ति को साक्षात् ग्रहण नहीं करता है, अपितु प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण करता है। पुरुष का यह भोग वास्तविक नहीं है, आपाततः प्रतीयमान है।

योग का फल एवं साधन

सभी वृत्तियों का निरोध होने पर पुरुष की उपाधि रहित अपने चैतन्य में अवस्थिति होती है। यह सत्य है कि चितिशक्ति की व्युत्थान अवस्था में अपने कूटस्थ स्वरूप को नहीं छोड़ती है, किन्तु असम्प्रज्ञात रूप होने से प्रकाशित नहीं होती है। पुरुष चेता स्वरूप असङ्ग है। यह प्रकाश स्वरूप एवं ज्ञानमय है, प्रकाश और ज्ञान उस निर्गुण का धर्म नहीं है। सभी धर्मों से रहित होने पर बुद्धि वृत्ति में प्रतिफलित होने के कारण भ्रमवश बुद्धि के धर्मों का पुरुष पर आक्षेप होता है। वस्तुतः पुरुष, बुद्धि से भिन्न है, क्योंकि बुद्धि परिणामी है और बुद्धि का विषय ज्ञात और अज्ञात हो सकता है। जिस वस्तु के आधार में बुद्धि का परिणाम है, वह ज्ञात होता है और अन्य अज्ञात रहता है। पुरुष का परिणाम न होने पर भी प्रतिबिम्बपात के कारण बुद्धि की वृत्तियों को जान पाते हैं।

तमोगुण के आधिक्य होने से निद्रा आदि वृत्तियों से मूढ़ चित्त, राक्षस पिशाच एवं मादक द्रव्यों के सेवन से उन्मत्त विवेक शून्य व्यक्तियों का रहता है। क्षिप्त से विशिष्ट अस्थिरताबहुल अर्थात् कभी स्थिरता कभी अस्थिरता यह अवस्था स्वाभाविक या व्याधि, आलस्य, भय आदि से उत्पन्न होती है। ऐसा चित्त ब्रह्मज्ञान इच्छा रखने वाले एवं विवेकी पुरुषों का चित्त होता है। एकाग्रता = एकतानता है। सभी वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार मात्र शेष चित्त निरुद्ध होता है। क्षिप्त और मूढ़ अवस्था में योग की सम्भावना नहीं है। विक्षिप्त हृदय में कभी समाधि हो भी सकती है, परमार्थ विषयक चित्त की स्थिरता योग पक्ष में नहीं हो सकती है, अतः समाधि विशेष के कारण गौण रहती है। यह क्लेशादि की निवृत्ति में सक्षम नहीं है। कुछ क्षणों के लिए जो तप्त बीज हैं उनमें अंकुर के उत्पादन की क्षमता रहती है। एकाग्र चित्त में सम्यक् प्रतिष्ठित परमार्थभूत अर्थ का प्रकाशन अर्थात् साक्षात्कार होता है। वह पंचविधि क्लेषों की उत्पत्ति कराकर कर्मरूप बन्धन शिथिल करता हुआ अदृष्ट पापपुण्य के उत्पादन में अक्षम होता है एवं निरोध की ओर अभिमुख रखता है—वह सम्प्रज्ञात योग है। चित्त की सत्ववृत्ति के द्वारा सम्वेदन योग्य विषयों का सम्यक साक्षात्कार जिस अवस्था विशेष में होता है—वह सम्प्रज्ञात ही अर्थात् अच्छी तरह संयम विपरीत अनिश्चित रहित होने से प्रकृष्ट रूप से भाव्यस्वरूप का ज्ञान, जिस भावना विशेष से, जिस अवस्था में होता है, वह सम्प्रज्ञात है। भावना से तात्पर्य अन्य विषयों को छोड़कर पुनः-पुनः चित्तवृत्ति सन्निवेश है।

सम्प्रज्ञात चार प्रकार का है—

(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत, (३) आनन्दानुगत, (४) अस्मितानुगत।

१. पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय मूर्ति में चित्त की उस साक्षात्कार विषयक प्रज्ञा वितर्क है, स्थूल विषयक होने से यह स्थूल है।

२. चित्त के आलम्बन सूक्ष्म शरीर में स्थूल कारणीभूत सूक्ष्म तन्मात्र लिङ्ग अलिङ्ग विषयक साक्षात्कार विचार है।

३. इन्द्रिय में स्थूल आलम्बन में चित्त का साक्षात्कार आदात्मक है, प्रकाशशील होने से एवं सत्व प्राधान्य रहने से अहङ्कार से इन्द्रियों की सत्व प्रधान उत्तपत्ति है, अतः वे सुखात्मक हैं।

४. ग्रहीतृ—विषयक सम्प्रज्ञात स्वरूप एकात्मक ज्ञान अस्मिता है।

जिससे चित्त को एकाग्र किया जाता है, इस रूप में करण साधन समाधि शब्द को मानकर योगाङ्ग अर्थ को समाधि शब्द कहता है "समाधीयते = एकाग्रीक्रियते चित्तमनेन इति समाधिः"। जिस अवस्था विशेष में प्राण आदि वृत्तियों का अवरोध होता है, उसको समाधि कहा जाता है। इस अधिकरण साधन योग में सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों का ग्रहण हो जाता है।

योग दर्शन में अपरिणामी कूटस्थ नित्य चिति शक्ति है, पुरुष शब्द से निर्दिष्ट यह ज्ञान का धर्म नहीं है। बुद्धि = चित्त की परिणात्मक ज्ञान रूप राजस तामस वृत्तियों का निरोध ही योग है। विक्षिप्त चित्त के द्वारा ऐसा नहीं किया जा सकता है, अतः राजस तामस वृत्ति को छोड़कर केवल सात्विक वृत्ति का अभ्यास करना चाहिए। सात्विक वृत्ति के दृढ़ होने पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए। इस अवस्था में योग्यता की सम्प्राप्ति होती है। इसकी दृढ़ता की अवस्था होने पर निरोध का अभ्यास सम्भव होता है, और निरोध स्थिर होने पर असम्प्रज्ञात योग तक होता है। दूसरे रूप में यह अष्टाङ्ग योग है। यह समाधि मधुमति, मधुप्रतीका, विशोका और संस्कारशेषा के भेद से चित्त की सार भूमियों वाली है। चित्त प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थिति-शील के कारण त्रिगुणात्मक है। प्रख्या तत्वज्ञान है। तत्वज्ञान से उपलक्षित प्रसन्नता, लघुत्प्रकाशकत्व आदि सात्विक गुण होते हैं। प्रवृत्तिशील होने से शोक, दुःख आदि राजस गुण होते हैं। प्रवृत्ति विरोधिनी स्थिति-शील तमोगुण होने से गुरुता, आवरण दैन्य, निद्रादि तामस होते हैं। चित्त त्रिगुणात्मक है, गुणों की विचित्रता के कारण विचित्र परिणाम सम्पन्न होता हुआ पाँच अवस्था वाला होता है (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच अवस्थाएँ हैं)। रजोगुण के कारण विषयों में क्षिप्यमाण = अस्थिर क्षिप्त अवस्था है। क्षिप्त चित्त दैन्य, दानव, मद-भ्रान्त विषयी पुरुषों का रहता है। प्रकृत राम वैराग्यसम्पन्न चिद्रूप में अवस्थित हैं।

वसिष्ठ

वसिष्ठ का प्रतीकात्मक स्वरूप प्रदर्शित करने से पूर्व उसका पौराणिक स्वरूप का आलोक सम्पात आवश्यक है—परात्म परमात्मा राघवेन्द्र के गुरु, भगवान् परशुराम के पिता जमदग्नि और भगवान् दत्तात्रेय के मौसा, परम सिद्ध भगवान् कपिल और परमहंस नवयोगीश्वर तथा जड़भरत के पिता भगवान् ऋषभदेव के दादा राजर्षि अग्नीध्र के बहनोई, भगवान् मनु के पुत्र आद्यनरेन्द्र प्रियव्रत की बहन देवी देवहूति के जामाता एवं भगवान् ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं, जिनको ब्रह्मा ने संसार में कर्म और ज्ञान की शिक्षा और दीक्षा उचित अधिकारी के अनुसार प्रदान करने के लिए संसार में अवतीर्ण कराया है। उन्हीं वसिष्ठ का निर्वाण साधन उपदेश योगवासिष्ठ है।

देव या देवी यह यौगिक पारिभाषिक शब्द है। वैदिक साहित्य के विश्लेषण की ओर दृष्टिपात करने पर निर्वचन ही अर्थ की प्रतीति में एकमात्र अवलम्बन है। 'दिव्' धातु से देव की निष्पत्ति है। 'सर्वं नाम धातुजमाह' इस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में आचार्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु यहाँ प्रातिपादिक दिव् का व्यवहार है, धातु का नहीं। दीप्ति या आलोक अर्थ को कहने वाली 'दिव्' का निर्देश किया गया है। निरुक्त में देव का निर्वचन करते हुए लिखा गया है—'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा घोतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सः देवता॥' प्रातिपादिक दिव् द्युलोक या

आलोकमय आकाश का बोधक है आसमन्तात् काशते इति । आकाश शब्द भी चारों ओर परिव्याप्त दीप्ति अर्थ को लेकर प्रयुक्त है, और इसी आकाश के लिए प्रयुक्त 'दिवा' शब्द इसका प्रवृत्ति निमित्त है । इस वैदिक विश्लेषण के आधार पर दिव्, दिवा, देव ये शब्द एक ही भावना का आयाम या प्रकाश है । इसी भावना को आलोक या चिन्मयभूमि कहा जा सकता है । इस देवता या देवी का स्वरूप प्रकाश ज्योतिः हैं । बाह्य आलोक ही अभ्यन्तर प्रकाश के रूप में बोध या जागना, चिति या विवेक, दूसरे शब्दों में वेद है । इस बोध का फल प्रज्ञान, संज्ञान और संवित् है । अतः देवता साधक का आत्मज्ञान है । उषा की अरुण आभा से पृथिवी के जन-जन में चैतन्य और बोध के संचार के साथ नवजागरण का सन्देश मिलता है । वेद में बुध का प्रयोग होने पर भी बोध शब्द प्रयुक्त नहीं है । बुध्न्य शब्द का बहुधा प्रयोग मिलता है । 'उपरि बुध्न्य एषाम्' (ऋ० १/२४/७), 'ऋतस्य बुध्न्य' (३/६१/७) । संस्कृत में इसी भावना के प्रवाह में बुध का अर्थ सचेतन होता है । वेदि में अग्निशिखा साँप की फण के समान जागती है, इसीलिए अग्नि के लिए 'अहिर्बुध्न्य' प्रयोग किया है । हठयोग के वर्णन के प्रसंग में मूलाधार में स्थित सर्परूपिणी कुण्डलिनी का वर्णन मिलता है । इस प्रकार यह स्थिर होता है कि अहिर्बुध्न्य शब्द का चरम सत्य चेतना का बोधक है । It is suggested that Aryan 'Budh' meant the place of growth of ultimate lose. यह संज्ञा परम अयन है और इसका फल पूर्ण प्रज्ञा या संवित् है (ऋ० ८/५८/१) । देवता की अपर ज्योतिर्मय अर्थ का बोधक वसु है, इससे निष्पन्न उषस्, उष्म, वासर, बिवस्वत्, वसुमति वसिष्ठ है । अवेस्ता में Vanhus है, जो वहाँ दीप्ति का बोधक है । इसी आलोक अर्थ को लेकर क्लीवलिङ्ग वसु शब्द का धन के अर्थ में प्रयोग किया गया है । विवस्वान् यह परम देवता की संज्ञा है, जिसका प्रतीक सूर्य है ।

अवेस्ता में वसिष्ठ=ज्योतिष्मत्तम के लिए Vahista=स्वर्ग (चिन्मयमूर्ति) और वसिष्ठ परमपुरुष की संज्ञा मानी गयी है । वसिष्ठ का सम्बन्ध सूर्यकुल से है । राम सूर्यवंशी हैं और सूर्यवंश के यह गुरु हैं । यही कारण है कि एक महान् आत्मा देवता है, और वह सूर्य है । इसीलिए ऋषि ने कहा है, जो क्रियाएँ हैं, स्थिर हैं । सभी का आत्मा सूर्य है—इसी ज्योतिःस्वरूप अखण्ड आदित्य की विभूतियाँ अन्य देवतागण हैं । वसिष्ठ ने आर्य का लक्षण करते हुए कहा है—ज्योतिः इनका अग्रगामी है ।

'तिस्रः प्रजा आर्या ज्योतिरग्राः' (ऋ० ७/३३/७) ।

योगवासिष्ठ के अनुसार कमलयोनि ब्रह्मा ने विश्व की सृष्टि की । ब्रह्माण्ड के प्राणिवर्ग अपने कार्यों के अनुसार सुख-दुःख से सन्तप्त थे । भगवान ब्रह्मा दयार्द्र हो महाकरुणा से परिव्याप्त थे । मनुष्यों को परमानन्द की प्राप्ति के उद्देश्य से तप, दान, धर्म, सत्य, क्षमा और तीर्थों के साधनों की रचना की, किन्तु ये साधन परम-चरमसुख के साधन नहीं थे । उनके विचार विवेक मूर्तस्वरूप धारण अक्षमाला और कमण्डलु धारण किये हुए सर्वज्ञ मनुष्य की आकृति अतिशय सौम्यरूप में सामने उपस्थित होकर प्रणाम किया, यही उनका मानस परम आलोकमय वसिष्ठ था । पितामह प्रसन्न थे । अज्ञजनों के प्रति करुणा के लिए सर्वज्ञता की जगह पर अज्ञता आवश्यक है—तब वह उनके प्रति अतिशय करुणा से दयार्द्र होकर समवेदना के साथ उनके दुःखों की निवृत्ति के लिए सचेष्ट होगा, अतः शाप देकर मानसपुत्र की सर्वज्ञता की जगह पर अज्ञता हो गयी । अज्ञ पुत्र ने पिता से तत्त्वज्ञान और आत्मबोध की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की । भगवन् ! संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्वरूप बताएँ एवं दुःखपूर्ण जगत्जाल से छुटकारे का साधन बताएँ । पितामह ने विस्तार-पूर्वक ज्ञान प्रदान किया और जम्बुद्वीप में भारतवर्ष में जाने की आज्ञा दी । वहाँ के निवासियों को तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर वैराग्यसम्पन्न बनाओ, जिससे लोक में आलोक प्रदान कर सकल कल्याण की भावना अपने जीवन्मुक्तावस्था के चरित्र से प्रदान कर सके । किन्तु तत्त्वज्ञान के अधिकारी को ही निर्वाण मार्ग का उपदेश देना । अतिरिक्त जनों कर्मकाण्ड मार्ग के उपदेश से चित्त की विशुद्धि सम्पादन की सिद्धि करना । श्रीराम ! वैराग्यसम्पन्न तुम निर्वाण मार्ग के अधिकारी हो, अतः ज्ञानमार्ग का उपदेश देकर जीवन्मुक्त का मार्ग तुम्हारे लिए प्रशस्त किया । परमानन्द की प्राप्ति कर तुम

रागद्वेष के मूर्तस्वरूप का निवारण कर जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरण करोगे, अपने पिता से प्राप्त ज्ञान का ही मैं तुझे उपदेश दे रहा हूँ। इस प्रकार योग = कुण्डलिनी दीप्ति, वसिष्ठ सम्बन्धी दीप्ति और शुद्ध स्वप्रकाश चैतन्यघन स्वरूप दीप्त्यात्मक राम—इन तीनों का समन्वित प्रकाश ही योगवासिष्ठ है। इसी की प्राप्ति का यह साधन है, अतः 'योग-वासिष्ठ' नाम से इसे कहा जाता है।

राम

यह साक्षात् हरि परब्रह्म ही है। शाप के व्याज से हरि ने राजा का वेश धारण किया है, वह आरोपित अज्ञान से सम्पन्न दशरथ आदि उपाधि से सम्पन्न अल्पज्ञानी हो गये हैं। क्योंकि सच्चिदानन्दस्वरूप चैतन्यस्वरूप राम[1] ही निष्काम सनत्कुमार के शाप से लोक के उद्धार के लिए आए हैं। अतः राम स्वप्रकाश चैतन्य हैं। ये तीनों ही दीप्ति स्वरूप हैं इन्हीं का यह निवासभूत वाल्मीकि की रामायण है। अतः यह नाम अपने विशिष्ट साध्य रूप अर्थ का प्रकाशन कर रहा है। इसलिए स्वप्रकाश द्रष्टा के स्वरूप की प्राप्ति का साधन ही रामायण है।

---

१. (क) शापव्याजादेव राजवेशधरो हरिः ॥ १/१/५५

(ख) सच्चिदानन्दस्वरूपे हि रामे चैतन्यविग्रहे ॥ १/१/५६

योगवासिष्ठरामायणकथासार

वैराग्यप्रकरण

सुतीक्ष्ण नाम का एक ब्राह्मण था। उसके मन में संशय हुआ कि मोक्ष का साधन कर्म है या ज्ञान। उसने महर्षि अगस्ति (अगस्त्य) के आश्रम में जाकर महामुनि से सादर जिज्ञासा की—भगवन् ! मोक्ष का साधन कर्म है या ज्ञान ? या कर्म और ज्ञान का समुच्चय ? अगस्ति ने कहा—ब्रह्मन् ! जैसे पक्षिगण दोनों पंखों से आकाश में उड़ सकते हैं, वैसे ही ज्ञान और निष्काम कर्म दोनों ही परम पद की प्राप्ति में साधन हैं। इस प्रसंग में एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ—

अग्निवेश्य का पुत्र कारुण्य नाम का एक ब्राह्मण था। गुरुगृह से वेद आदि अध्ययन कर से लौटने के बाद सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों का भी परित्याग कर मौन रहने लगा। पिता ने शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान से रहित कारुण्य को देखकर उसके कल्याण के लिए कहा—भारतीय ज्ञानपरम्परा में ज्ञान यदि क्रियाशून्य रहे तो वह भार मात्र है, ज्ञान का फल निष्काम होकर कर्मों का आचरण करना है। वत्स ! तुम सत्कर्मों का अनुष्ठान क्यों नहीं करते हो ? प्रवृत्ति रूप धर्म का विधान श्रुति और स्मृति के द्वारा विहित है, किन्तु अन्य श्रुतियों के अनुसार—"न धन से, न कर्म से, न सन्तान के उत्पादन से ही मोक्ष होता है वरन् त्याग से ही मोक्षस्स्वरूप सुख का अनुभव होता है—न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैव० १ तथा महानारायणोपनिषद् १०/५)।"

वत्स ! मैं एक कथा सुनाता हूँ, उसके तात्पर्य को समझकर जैसा उचित समझना वैसा करना—

सुरुचि नाम की अप्सराओं में श्रेष्ठ एक स्त्री थी। किसी समय वह मयूरों के समूह से घिरी हुई हिमालय के शिखर पर बैठी थी, उसने आकाशमार्ग से इन्द्र के दूत को जाते हुए देखा। देवदूत से पूछा—देवदूत ! कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं ? देवदूत ने कहा—भद्रे ! धर्मात्मा अरिष्टनेमि अपने पुत्र को राज्य देकर आसक्तिरहित अर्थात् वीतराग हो गन्धमादन पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। देवराज इन्द्र ने सभी प्रकार के सुख के साधनों से सुसज्जित दिव्य विमान को गन्धमादन पर्वत से राजा अरिष्टनेमि को इस विमान से स्वर्गसुख भोगने के लिए अमरावती में लाने को कहा। देवराज की आज्ञा के अनुसार मैं वहाँ गया। शुभे ! मेरी बात सुनकर उन्होंने पूछा कि स्वर्ग के क्या गुण हैं और क्या दोष हैं ? राजन् ! अपने पुण्य के अनुसार वहाँ दिव्य सुख का उपभोग करते हैं, किन्तु वहाँ उत्तम पुण्य से उत्तम सुख, मध्यम पुण्य से मध्यम सुख और निम्न पुण्य से निम्न श्रेणी का सुख भोगते हैं। अतः वहाँ भी असहिष्णुता, स्पर्धा का भाव होना स्वाभाविक है। उत्तम सुखवालों के उत्कर्ष असह्य होते हैं एवं बराबर वालों के प्रति स्पर्धा रहती है। पुण्य की समाप्ति के बाद उन्हें पुनः मर्त्यलोक में आकर पार्थिव शरीर धारण करना पड़ता है। देवदूत ! जहाँ उत्कर्ष और अपकर्ष हैं तथा स्थिरता नहीं है, वहाँ मुझे नहीं जाना है, आप विमान ले जायँ। मैंने देवराज से निवेदन किया, देवराज ने मुझे पुनः वहाँ भेजा है और उस विरक्त राजर्षि को वाल्मीकि के आश्रम में ले जाने को कहा है और वाल्मीकि से यह निवेदन करने को कहा है कि—"महामुने ! इस विनयशील, वीतराग, स्वर्ग की कामना न करनेवाले राजर्षि को तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर कृतार्थ करें।"

मैंने राजर्षि अरिष्टनेमि को वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचा दिया है। राजर्षि ने महर्षि से मोक्ष के साधन को विनीत होकर पूछा—भगवन् ! भवबन्धन से मेरा किस प्रकार छुटकारा होगा ?

श्रीवाल्मीकि ने कहा—मैंने तुम्हारी प्रवृत्ति जान ली है, तुमको अधिकारी समझकर महर्षि वसिष्ठ और श्रीराम के संवाद के रूप में वर्णित रामायण सुनाता हूँ, सुनो। राजेन्द्र ने श्रीराम के विषय में जिज्ञासा की—राम कौन हैं ?

बद्ध है या मुक्त ? महर्षि ने कहा--स्वयं भगवान विष्णु शापवश श्रीराम के रूप में अवतीर्ण हो लोक के उपकार के लिए साधारण मनुष्यों की भाँति अल्पज्ञ हो जिज्ञासा कर रहे हैं। इस सच्चिदानन्द के शाप का क्या कारण है और किसने शाप दिया था ?

निष्काम सनत्कुमार ब्रह्मलोक में घूम रहे थे। भगवान विष्णु ब्रह्मलोक में आये, सभी ने उनका सत्कार एवं पूजन किया, किन्तु सनत्कुमार ने भाग ग्रहण नहीं किया--शान्त बैठे थे। श्रीहरि ने कहा--सनत्कुमार! आप निष्काम समझकर अहंकारी हो गये हैं, आप शाप पाने योग्य हैं, अतः शरजन्मा कुमार के नाम से प्रसिद्ध आप दूसरा शरीर धारण करें। यह सुनकर सनत्कुमार ने भी भगवान को शाप दिया कि आप अपनी सर्वज्ञता से रहित होकर अज्ञानी जीव के समान हो जाएँगे। इसी प्रकार भृगु ने भी अपनी पत्नी को भगवान् के चक्र से मारी गई देखकर शाप दिया कि आपको अपनी पत्नी के वियोग का कष्ट सहन करना पड़ेगा। इन शापों के अनुसार भगवान् राम के रूप में अवतीर्ण हो लोक का कल्याण किया है। इस रामायण के श्रवण का अधिकारी और श्रवण का फल निर्देश करते हुए कहा है कि अभी संसाररूपी बन्धन से बद्ध होते हुए भी मैं मुक्त हो सकता हूँ--इस प्रकार का निश्चय रखनेवाला एवं जो अत्यन्त अज्ञानी या तत्त्व-ज्ञानी नहीं है--वही इस शास्त्र का अधिकारी है और इसके श्रवण और मनन से मुक्ति की प्राप्ति होती है। त्याग की भूमि पर बाल, अयोध्या आदि काण्डों से युक्त रामायण के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से शुद्ध चित्तवाले अर्थात् शास्त्रोक्त कर्तव्यों के अनुरूप आचरण से विविदिषा अर्थात् मोक्ष की कामना = मुमुक्षु होने पर वैराग्य आदि छः प्रकरणों से युक्त इस योगवासिष्ठ के परिशीलन से भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। राम और रावण का चरित्र पूर्व रामायण में वर्णित है। वहाँ रावण, कुबेर, कुम्भकर्ण और विभीषण ये चार भाई हैं और राम भी चार भाई हैं। दोनों को एक बहन भी है। किन्तु रावण की तपस्या रागद्वेषमूलक है, अतः वह अपने भाई कुबेर की सम्पत्ति लंका को हरण कर सदा दुराचाररत है और बहन सूर्पणखा भी वैसी है। इधर राम भी चार भाई हैं और वह अपने भाई के लिए पिता और सौतेली माता की आज्ञा के अनुसार सब कुछ त्याग कर वन की यात्रा करते हैं। गृहस्थ को प्रत्यक्षदेव माता-पिता एवं भाई आदि बान्धवों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसकी शिक्षा-दीक्षा अपने आचरण से देते हैं। इतना ही नहीं, राजा होने पर प्रजा के रञ्जन के कठोर नियम का पालन करते हुए अपनी पत्नी के परित्याग में भी संकुचित नहीं होते हैं। राम के अनुरूप आचरण से मन की शुद्धि होने पर उत्तर इस रामायण के श्रवण से मुक्ति की प्राप्ति करते हैं।

इस सातकाण्डों की रामायण को विद्याविनय सम्पन्न भरद्वाज को पढ़ाया। भरद्वाज ने ब्रह्माजी के सम्मुख इसका वर्णन किया। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। जिससे मानवगण सभी दुःखों से छुटकारा पा सके—ऐसा उपाय बतायें। ब्रह्मा ने कहा, तुम अपने गुरु वाल्मीकि की रामायण सुनो। अनन्तर भरद्वाज के साथ ब्रह्माजी वाल्मीकि के आश्रम पर आए और वाल्मीकि से कहा, कितना भी विघ्न क्यों न हो—तुम इस प्रारम्भ की गई संसार रूपी समुद्र से पार करने वाली इस रामायण की रचना करो यही कहने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। इसके अनुसार आचरण कर भवबन्धन से मुक्त होंगे। भरत, राम, कौशल्या, सुमित्रा, सीता, दशरथ आदि समदर्शियों ने जिस प्रकार जीवनयापन किया था, श्रौत-स्मार्त वर्णाश्रम धर्म का पालन किया था वैसा ही व्यवहार करने से संसार सागर से मुक्त हो सुधा पान करते हुए नित्य तृप्ति की प्राप्ति होगी।

भरद्वाज ने विनीत भाव से निवेदन किया—भगवन्! श्रीराम की कथा से प्रारम्भ कर जीवन्मुक्त की अवस्था तक वर्णन करने की कृपा करें।

महर्षि ने कहा—भरद्वाज! रूप रहित आकाश में जिस प्रकार नील और पीत रङ्ग के आकाश का भ्रम होता है, उसी प्रकार निर्गुण निराकार अनन्त आनन्द चैतन्य रूप ब्रह्म में अज्ञान के कारण दृश्य जगत् प्रपंच का भ्रम होता है, उत्कृष्ट अद्वय आत्मज्ञान से इस भ्रम को ऐसा निवारण कर दिया जाय कि इसका स्मरण भी न हो। श्रद्धा भक्ति के साथ "योगवासिष्ठ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने पर निश्चय ही अद्वय आत्मतत्त्व ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। यह

जगत् प्रत्यक्ष रूप से दीखने पर भी यह वस्तुतः नहीं है। रस्सी में सर्प प्रत्यक्ष के समान दृश्य प्रपञ्च का अस्तित्व नहीं है। सम्पूर्ण वासनाओं का परित्याग होने पर परमनिर्वाण=शान्ति का अनुभव होता है। जैसे शीत के नष्ट होने पर हिमकण गल जाते हैं वैसे ही ज्ञान से वासना का नाश होने पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वरूप वासनायुक्त चित्त का भी अभाव हो जाता है। शुद्ध और मलिन वासना के भेद से वासना दो प्रकार की है। जन्म का कारण मलिन वासना है—इसी से जीव जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ता है, शुद्ध वासना मोक्ष का साधन जन्म-मरण की नाशिका है। अज्ञान उसी का घनीभूत आकार है और अहंकार = कर्ता-भोक्ता से सुशोभित है। भुने गये बीज से जैसे अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार शुद्ध वासना शरीर मात्र को धारण करती है, पुनर्जन्मरूपी अंकुर को उत्पन्न नहीं करती है। परमात्म तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी ही जीवन्मुक्त हैं। भरद्वाज ! राम की जीवनचर्या से सम्बन्ध रखने वाली मङ्गल सभी कथा के सुनने से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होगी। निर्भीक राम अध्ययन के बाद गुरुकुल से घर आए। विविध लीलाओं को करते हुए राजभवर में कुछ दिन व्यतीत किये। कुछ दिन व्यतीत होने पर श्रीराम की तीर्थ स्थान और आश्रमों के दर्शन की अभिलाषा हुई। उन्होंने पिताश्री से प्रार्थना की और उनकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण, शत्रुघ्न और वसिष्ठजी के द्वारा भेजे गये शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों के मनोरम दृश्यों को देखते हुए समस्त तीर्थों और आश्रमों में भ्रमण करने लगे। रघुनन्दन सभी से सम्मानित होते हुए भूमण्डल का अवलोकन कर अपने घर लौट आए।

रघुनन्दन ने अयोध्या में आकर महल में प्रवेश कर पिताश्री को प्रणाम किया, सभी गुरुजनों के सम्मुख नतमस्तक हुए, अथोचित आचार-व्यवहार कर आनन्द पूर्वक रहते हुए विभिन्न स्थानों का वर्णन करते हुए सुख पूर्वक रहने लगे। राघव नित्यकृत्य सम्पन्न कर राजसभा में एक प्रहर तक बैठकर वसिष्ठ आदि महर्षियों से ज्ञान चर्चा सुनते थे। राघव की प्रत्येक चेष्टाएँ अतिशय मनोहर थी। अब श्री रघुनाथ जी की अवस्था सोलह वर्ष की थी, शत्रुघ्न और लक्ष्मण सदा राम का अनुसरण करते थे, भरत जी नाना के घर पर थे। महाराज दशरथ मन्त्रियों से परामर्श प्रसंग में कहते थे कि वत्स राम तीर्थ यात्रा से आने के बाद प्रतिदिन दुर्बल होते जा रहे हैं। दशरथ स्नेह के साथ पूछते भी थे, वत्स राम ! तुम्हारे मन में कौन सी चिन्ता है ? कमल नयन राम सादर निवेदन करते, पिताजी ! मुझे कोई कष्ट नहीं है। राजा ने वसिष्ठ जी से जिज्ञासा की, वसिष्ठ जी ने कहा—महाराज ! कुछ कारण है, किन्तु, इसके लिए चिन्ता और दुःखी होने की आवश्यकता नहीं है।

इसी समय महर्षि विश्वामित्र अयोध्या नरेश दशरथ से मिलने आए। धर्मपरायण विश्वामित्र यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे। अनेक राक्षसों ने आक्रमण कर यज्ञ को विध्वंस कर दिया। महर्षि निर्विघ्न यज्ञ के सम्पादन के निशाचरों के विनाश के लिए उद्यत हो दशरथ से मिलने आए थे। राजा ने यथोचित सत्कार कर निवेदन किया। कुशिक कुलनन्दन महर्षि विश्वामित्र ! आपके लिए मुझे कुछ भी अदेय नहीं है, मैं आपकी सभी आज्ञाएँ पूर्ण करूँगा। यह सुनकर विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए।

महर्षि विश्वामित्र ने कहा, महाराज ! जब-जब मैं यज्ञों के द्वारा देवाराधन में तत्पर होता हूँ तब निशाचर गण आकर यज्ञ को विध्वंस कर देते हैं, यज्ञभूमि रक्त और मांस से आच्छन्न हो जाती। शाप के द्वारा उनका विनास किया जा सकता है, किन्तु आपके प्रसाद से निर्विघ्न पुण्य फल भागी हो सकता हूँ,—इसी इच्छा से आपके पास आया हूँ, श्रीराम, सिंह के समान पराक्रमी है, इनमें पूर्ण सामर्थ्य है—इन्हें मुझे सौंप दे, द्वारा सुरक्षित अपने दिव्य तेज से राक्षसों का विध्वंस कर संसार का उपकार करने क्लेश की मूर्ति राक्षसों का विनाशकर अनन्त कल्याण के भागी होंगे। कमल नयन राम कोई साधारण पुरुष नहीं वरन् साक्षात् परमात्मा है, इन्हें मैं जानता हूँ, महातेजस्वी वसिष्ठजी जानते हैं एवं दीर्घदर्शी महर्षिगण भी भली-भाँति जानते हैं।

अहं वेद्मि महात्मानं रामं राजीवलोचनम्।
वसिष्ठश्च महातेजा ये चान्ये दीर्घदर्शिनः॥ (यो० वा० ७/२१)

वसिष्ठ आदि महर्षि अवश्य ही अनुमति दे देंगे। यथा समय किया गया थोड़ा सा भी कार्य महान् उपकारी होता है और समय बीत जाने पर किया गया महान् उपकार भी व्यर्थ होता है—

कार्यमण्वपि काले तु कृतमेत्युपकारताम्।
महानत्युपकारोऽपि रिक्ततामेत्यकालतः॥ (यो० वा० ७/२६)

विश्वामित्र की वाणी सुनकर महाराज दशरथ कुछ क्षण के लिए निश्चेष्ट हो गये। मुनिश्रेष्ठ! राम अभी सोलह वर्ष का भी नहीं है, यह राक्षसों से युद्ध करने में समर्थ नहीं है। अपनी अक्षौहिणी के साथ मैं ही आपके यज्ञ की रक्षा के लिए चलने को तत्पर हूँ। अभी तो राम फूल बिछे हुए आंगन की भूमि में ही विचरण करते हैं। सुना जाता है कि महापराक्रमी रावण जो कुबेर का भाई विश्रवामुनि का पुत्र है, यदि वही दुर्बुद्धि आपके यज्ञ में विघ्न उत्पन्न कर रहा है तो उस दुरात्मा के साथ युद्ध करने में मैं भी असमर्थ हूँ।

महाराज दशरथ की इस बात को सुनकर विश्वामित्र क्रुद्ध हो गये। राजन्! "मैं आपकी माँग पूरी करूँगा।" यह प्रतिज्ञा कर उसे तोड़ रहे हैं, रघुवंशियों के लिए यह उचित नहीं है, मैं जैसे आया था, वैसे ही लौट जाता हूँ, आप सुखी हो। विश्वामित्र को कुपित देखकर वसिष्ठजी ने कहा, आपको इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए, 'करूँगा' यह कहकर यदि उसका पालन नहीं करते हैं तो मिथ्याभाषण आपके अभीष्ट का हरण कर लेगा। ये मुनिश्रेष्ठ अतिशय प्रभावशाली हैं, श्रीराम को इनके साथ भेजने में व्याकुल न हों ये जिस मनुष्य के पास खड़े हों मृत्यु आने पर भी वह अमर रहेगा। वसिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर श्रीराम और लक्ष्मण को बुलाने के लिए द्वारपाल को पुकारा— "प्रतिहार! तुम सत्य पराक्रमी महाबाहु राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र जी के पुण्य यज्ञ की रक्षा के लिए शीघ्र बुलाकर ले आओ।"

द्वारपाल श्रीराम के भवन में गया और दो ही घड़ी में लौटकर कहा, "महाराज! जैसे भ्रमर रात में कमल के बन्द होने पर उदास बैठा रहता है, उसी प्रकार श्रीराम भी अपने भवन में उदास बैठे रहते हैं।" महाराज ने सेवकों से समाचार पूछा, राम कैसे हैं? उनकी यह अवस्था कैसे हो गई है? श्रीराम का शरीर अत्यन्त कृश हो गया है। वे सभी भोग-विलास की सामग्रियों से विमुख हैं, सन्यासी के समान आचरण करते हैं, न सुख से प्रसन्न और दुःख से विषाद होते है। वे मित्रों को कहते हैं—"ये भोग ऊपर से मनोरम दिखायी देते हैं, वास्तव में नश्वर है, अतः तुमलोग इनमें अपना मन न लगाओ, अनायास परम पद की प्राप्ति से दूर हटने से ही हमलोगों ने अपनी आयु व्यर्थ व्यतीत कर दी।" "धन आपत्तियों का एकमात्र स्थान है, तू इसकी इच्छा क्यों करता है। यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है, इस प्रकार की कल्पनाओं में केवल मन का अज्ञान ही प्रकट होता है।" "हाय! मैं मारा गया, मैं अनाथ हो गया—इस प्रकार सबलोग चीखते-चिल्लाते हैं, तब भी किसी को वैराग्य नहीं होता है—यह कितने आश्चर्य की बात है।" श्रीराम ऐसी ही बातें प्रायः करते रहते हैं।

विश्वामित्र जी ने कहा—श्रीराम को यहाँ बुलाये। आपत्ति और आसक्ति से मोह नहीं हुआ है, वे विवेक और वैराग्य से सम्पन्न हो गये हैं। मोह नहीं, बोध प्राप्त हुआ है; यह अभ्युदयकारी है। विचारमूलक मोह का युक्ति के द्वारा निराकरण करने पर वे हमलोगों के समान ही परमपद पर प्रतिष्ठित हो जायेंगे। तीनों काल में जिसका बोध सम्भव नहीं, ऐसे ब्रह्मात्मक सत्यज्ञान की प्राप्ति से संतापशून्य परमानन्द को प्राप्त कर निर्मल कान्ति से सम्पन्न हो जायेंगे। महाराजा के बुलाने पर श्रीराम, लक्ष्मण और शत्रुघ्न सभा में आते हैं। दोनों महर्षियों का आशीर्वाद ग्रहण कर पृथ्वी पर परिजनों के द्वारा बिछाये गये वस्त्र पर बैठ गये। महाराज दशरथ ने कहा—तुम विविध कल्याण के भाजन हो, आपत्तियाँ दुर्बल और तुच्छ होकर दूर ही रहती हैं; क्योंकि विवेक होने से मोह के विस्तार का अवसर ही नहीं रहता है। वसिष्ठजी ने कहा—दुःख की परम्परा के उत्पादक विषयरूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। अनन्तर विश्वामित्रजी ने कहा— तुम अपनी कामना शीघ्र बताओ, तुम्हारा सभी मनोरथ पूर्ण होगा। श्रीराम ने कहा—सदाचारतत्पर तीर्थयात्रा के उद्देश्य

से सम्पूर्ण पृथ्वी का भ्रमण किया है, इसके बाद मेरे मन में वैराग्य हो गया है। संसार के प्रति आस्था नहीं रह गयी है, भोग नीरस लगते हैं। इस विस्तृत संसार में क्या सुख है? मरुमरीचिका में जल न होने पर भी अज्ञान से जल समझकर उससे मोहित मृग के समान दौड़ते रहते हैं। संसार में सुख न होने पर भी सुख मानते हैं और उससे आकृष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। मूढ़जीव व्यर्थ ही मोह में पड़े रहते हैं। मुझे राज्य से क्या लेना है, भोग से क्या प्रयोजन है? मैं कौन हूँ? यह दृश्यप्रपञ्च क्या है और किसलिए सामने आया है? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहेगा, उससे किसी की क्या होनी होनेवाली है? संसार की सम्पदा सदा कामना ही करती है, देहादि क्षणभंगुर हैं, विषयरूपी चतुर चोर दिशाओं में विवेकरूपी रत्न का हरण करने के लिए जी-जान से लगे हैं—तत्वज्ञानी ही उससे बच सकते हैं। इसी प्रकार, श्रीराम ने धन-सम्पत्ति एवं आयु की निस्सारता तथा उसकी दुःखरूपता का विस्तार के साथ वर्णन किया। अविवेकी के लिए शास्त्रों का अध्ययन भारस्वरूप है। अनन्तर अहंकार और चित्त के दोषों का विस्तृत वर्णन के द्वारा उन्हें दुःख का साधन बताते हुए अहंकार का त्यागकर शान्तचित्त से रहने का वर्णन किया। हे मुने! मैं अहंकार त्यागकर शान्तचित्त उद्वेगशून्य होकर रहता हूँ, क्योंकि भोग का आधार क्षणभंगुर है। शरीररूपी विशाल वन में घनीभूत अहंकाररूपी मोटा सिंह है, वहीं ने श्री जगत् का विस्तार करता है। मुनिवर! जैसे वायु के प्रवाह में पड़कर मोरपंख का आगे का भाग वेग से हिलता रहता है, उसी प्रकार यह चञ्चल चित्त भी अत्यन्त व्यग्र होकर व्यर्थ ही इधर-उधर दौड़ता रहता है। भगवन्! जैसे मृग गड्ढे में गिरने की चिन्ता न कर हरी-हरी दूब चरने की कोई चिन्ता न करके हरी-हरी दूब चरने की इच्छा से प्रेरित हो बहुत दूर तक दौड़ लगाता है, उसी प्रकार यह मन नरक के गर्त में गिरने की परवाह न कर भोग-विलास के लाभ की आशा से बड़ी दूर तक का चक्कर लगाता है अर्थात् अनेक प्रकार के मनसूबे बाँधता रहता है। चपल मन कभी भी कहीं स्थिर नहीं रहता है। मन शान्ति, सन्तोष और समता के दुःख को हरण कर लेता है। समुद्र का पान, सुमेरु पर्वत को जड़ से उखाड़कर फेंकना, अग्नि को खा लेना—यह दुस्साध्य है, किन्तु चंचल चित्त को वश में कर लेना इनसे भी महान और कठिन कार्य है। सभी पदार्थों का कारण चित्त ही है। उसके क्षीण होते ही जगत् क्षीण हो जाता है। अतः चित्तरूपी रोग की ही भलीभाँति यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए। मन से ही सैकड़ों दुःख-सुख पैदा होते हैं। अध्यात्मविषयक विवेक से जब यह मन दुर्बल पड़ता है, तब सांसारिक दुःख-सुख पूर्णरूप से गल जाते हैं। इस पर विजयी होने पर शम, दम, तितिक्षा, दया, समता, शान्ति, सन्तोष, सरलता आदि सभी सद्गुणों को अपने अधीन होने की आशा करते हैं। उस चित्त को जीतने के लिए मैं सतत सचेष्ट रहता हूँ। भगवन्! इसलिए तीव्र वैराग्यरूपी सम्पत्ति से सम्पन्न होने के कारण जड़ और विलासवाली लक्ष्मी का अभिनन्दन नहीं करता हूँ।

चेतन जीवरूपी आकाश में हृदय के अज्ञानान्धकार से आच्छन्न दुस्तर तृष्णारूपी रात्रि का सहारा पाकर अनेक प्रकार के दोषरूपी उल्लुओं का समूह सक्रिय हो जाता है। जैसे समुद्र के भीतर भँवर एवं हलचल उत्पन्न करने के लिए ही तरंगें उठा करती हैं, उसी तरह हृदय को चंचल करनेवाली तृष्णा अन्तःकरण में भ्रम एवं आकुलता पैदा करने के लिए वहाँ तक पहुँच जाती हैं, जहाँ तक संसार की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए कष्टप्रद बढ़ावा देती है। इसी प्रकार के अनेक दृष्टान्तों तृष्णा के तारुण्य का वर्णन श्रीराम ने किया है। वस्तुतः तृष्णा एक काली नागिन है, वह हजारों कुटिलताओं से पूर्ण है, विषयभोग ही उसका कोमल स्पर्श है, वह विषमतारूपी विष को उगलती रहती है और स्पर्श होते ही डस लेती है अर्थात् उसके सम्पर्क में आया हुआ प्राणी विष की ज्वालामाला से बेहोश हो जाता है।

मुनिवर! विषयों का चिन्तन त्यागकर मनुष्य दुःखों को दूर कर सकते हैं। विषय के चिन्तन का त्याग ही तृष्णारूपिणी विषूचिका के निवारण का मन्त्र है। महर्षे! मेरुपर्वत के समान परम उन्नत, विद्वान, शूरवीर, सुस्थिर और श्रेष्ठ मनुष्य भी तृष्णा के कारण एक क्षण में याचक बनकर तिनके के समान हल्का हो जाता है।

मुनिवर! गीली आँतों = मलमूत्र आदि की थैलियों और नाड़ियों से भरा हुआ, नाना विकारों से युक्त, अन्त में विनाशशील यह शरीर भी केवल दुःख भोगने के लिए ही है। थोड़े से खान-पान से आनन्दित और थोड़े से शीत-उष्ण

आदि से खिन्न हो जाता है। इस शरीर के समान गुणहीन, शोचनीय और अधम कुछ भी नहीं है। यह शरीर वृक्ष के समान है, दोनों भुजाएँ इसकी दो शाखाएँ हैं, परिपुष्ट कंधा तना है, दो नेत्र इसके बिल या खोडर हैं, मस्तक का स्थान इसका विशाल फल है, दन्तपंक्तियाँ श्रेणीबद्ध पक्षियों के बैठने के लिए स्तम्भ के समान सुन्दर आधार हैं, दोनों कान शब्द-रूपी कठफोड़वा पक्षियों के प्रवेश करने के लिए खोखले हैं। हाथ और पैरों की अंगुलियाँ इसके सुन्दर पल्लव हैं। गल्म नामक पेट का रोग ही इस पर फैली हुई झाड़ियाँ हैं। यह कर्म करने के लिए पञ्चसूत्रों के समूह से संगठित है, जीव तथा ईश्वररूपी पक्षियों ने इस पर घोसले बना रखे हैं, दाँतरूपी केसरों से सुशोभित, उत्पत्ति-विनाशशील तथा मन्दहासमय विकास से युक्त हर्षरूपी फूलों के द्वारा यह शरीर वृक्ष सदा अलंकृत होता रहता है, सुन्दर कान्ति ही इसकी छाया है। यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी पथिकों का विश्राम स्थान है। इसे किसका आत्मीय कहा जाय और किसका पराया? इसके ऊपर आस्था और अनास्था ही क्या हो सकती है। नाना भवसागर तथा नदियों को पार करने के लिए बारम्बार अपनायी गई देहलता एवं नौका में कौन आत्मीयता का भाव कर सकता है? जहाँ रोमरूपी असंख्य वृक्ष उगे हुए हैं, जो इन्द्रिय-रूपी गड्ढों से परिपूर्ण है, उस विनश्वर देहरूपी वन में कौन विश्वस्त होकर रह सकता है। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों के द्वारा शरीर के प्रति अनास्था सिद्ध की गई है। वस्तुतः यह शरीर कुछ ही गिर पड़ता है। समुद्र में उत्पन्न जल के बुल-बुलों के समान शरीर का शीघ्र ही विनाश हो जाता है। भगवन्! यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञान का विकार है, स्वप्न रूपी भ्रान्तियों का भण्डार है, अतः इसमें मेरा क्षण भर के लिए भी विश्वास नहीं है। बिजली शरद् ऋतु के बादल और गन्धर्वनगर के चिरस्थायी होने का निर्णय रखने वाला व्यक्ति ही शरीर की नित्यता पर विश्वास कर सकता है। सदा विनाशशील पदार्थों की अपेक्षा भी अतिशय क्षणभंगुर प्रबल दोषयुक्त शरीर को तृण के समान उपेक्षित समझकर मैं सुखी हूँ।

शरीर की बाल्यावस्था भी, असमर्थता, आपत्तियों, तृष्णा, मूकता, बुद्धि के द्वारा कुछ भी समझने की शक्ति का न रहना, खिलौने आदि की आवश्यकता, दीनता, चञ्चलता आदि दोषों का आगार है, इस अवस्था में पशु-पक्षियों के समान चेष्टाएँ रहती हैं। बालक भाँति-भाँति की लीलाओं, दुर्विलासों, दुष्चेष्टाओं तथा दूषित अभिप्रायों में हठात् प्रवृत होकर बहुत बड़े मोह में पड़ जाता है, इस अवस्था में किसी के कहने से निष्फल कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। अनेक प्रकार की दुश्चेष्टाएँ करते हैं। जैसे उल्लू दिन में अन्धकार से पूर्ण दूषित गड्ढों में छिपे रहते हैं, उसी प्रकार सभी दोष, दुराचार, दुर्लङ्घ्य चिन्ताएँ बाल्यावस्था में ही जीव के हृदय में बैठे रहते हैं। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्तों से बाल्यावस्था की निन्दाकर बाल्यावस्था किसी के लिए भी सन्तोषदायक नहीं है।

बाल्यावस्था के बाद अनर्थों का त्यागकर, भोग भोगने के उत्साह, भ्रान्ति अर्थात् कामरूप पिशाच से दूषित चित्त होकर नरक में गिरने के लिए यौवनारूढ़ होता है। इस अवस्था में अनन्त विलासपूर्ण चंचल चित्त की राग-द्वेषादि वृत्तियों का अनुभव कर सदा दुःख का ही अनुभव करता है। कामरूपी पिशाच पुरुष का तिरस्कार करता है। यौवन जब अपनी चरम सीमा पर आरूढ़ हो जाता है, तब सन्तापयुक्त कामनाएँ केवल विनाश के लिए नृत्य करने लगती हैं। ये राग-द्वेषरूपी पिशाच तभी तक नृत्य करते हैं, जब तक यह यौवनरूपिणी रात्रि नष्ट नहीं हो जाती है। जो महामुग्ध पुरुष मोहवश क्षणभंगुर यौवन से हर्ष का अनुभव करता है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु के समान है। जो अज्ञान के कारण मदोन्मत्त यौवनावस्था की कामना करता है, उस दुर्बुद्धि को शीघ्र ही पश्चात्ताप का भागी बनना पड़ता है।

इस पृथ्वी पर वे ही पूजनीय हैं, जो यौवनरूपी संकट से सुखपूर्वक पार हो जाते हैं, मगरों से परिपूर्ण महा-सागर को सुखपूर्वक पार किया जा सकता है, किन्तु विषय चिन्तन आदि तरङ्गों से उमड़े हुए दुर्गुण-दुराचार रूप अनेक दोषों से परिपूर्ण इस निन्दनीय यौवन के पार जाना कठिन है। भगवन्! विनय से अलंकृत, श्रेष्ठ पुरुषों को आश्रय देने वाला, करुणा से प्रकाशित तथा शम, दम, क्षमा, दया, शान्ति, सन्तोष, सरलता आदि विविध गुणों से युक्त यौवन इस संसार में वैसे ही दुर्लभ है, जैसे आकाश में वन।

भगवन् स्त्री शरीर भी अरमणीय है, इसकी रमणीयता की प्रतीति का एकमात्र कारण मोह है, इधर केश है, इधर रक्त और मांस है—यही तो युवती का शरीर है। जैसे विष की लता सुन्दर फूलों से मनोहर लगती, नये-नये पल्लवों से सुशोभित होती, भ्रमरों की क्रीडास्थली बनती, पुष्पगुच्छ धारण करती, फूलों के केसर से पीले रंग की प्रतीत होती है और अपने सेवन करनेवाले को मार डालती या पागल बना देती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी फूलों का श्रृंगार धारण कर मनोहर लगती, कर-पल्लवों से सुशोभित होती, भ्रमरों के समान चञ्चल नेत्रों के कटाक्ष-विलास का प्रदर्शन करती, पुष्पों के समान स्तनों को वक्षस्थल पर धारण करती, फूलों के केसर की भाँति सुनहरी और कान्ति से प्रकाशित होती, मनुष्यों के विनाश के लिए तत्पर रहती और कामभाव से अपना सेवन करनेवालों को उन्माद और मृत्यु के आधीन कर देती है। मुनिवर! कामरूपी विरातने ने मूढ़चित्त मानवरूपी पक्षियों को फसाने के लिए स्त्रीरूपी जाल को फैला रक्खा है। मांस और हड्डी ही तो स्त्री का शरीर है, वह शरीर भी कुछ ही दिनों में जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। पाँच भूतों के सम्मिश्रण से बना हुआ अङ्गों का संगठन ही स्त्री शरीर है। अतः, विवेक बुद्धि से सम्पन्न कोई भी व्यक्ति आसक्ति से प्रेरित क्यों उसको महत्त्व देगा। जैसे हथिनी के लिए चञ्चल हाथी उसके फसाने के लिए बनाये हुए गड्ढे में गिरकर परम शोचनीय दशा को प्राप्त करता है, यही दशा मोह और कामवश फँसे हुए तरुण की होती है।

वृद्धावस्था भी दुःखस्वरूप ही है। मुनिवर! जैसे हिमरूपी वज्र कमल को, आँधी ओसकण को और नदी तटवर्ती वृक्ष को नष्ट कर देती हैं, वैसे ही वृद्धावस्था शरीर को शीघ्र ही नाश कर देती है। जर्जर अङ्ग शिथिल झुर्रियों से भरे हुए शरीरवाले वृद्ध को कामिनियाँ ऊँट के समान समझती हैं। वन्धु-वान्धव, बालकगण वृद्ध की हँसी उडाते हैं। मुने! जैसे कपूर के समान सफेद हुए केले के पेड़ को हाथी क्षण भर में उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार मृत्युरूपी गजराज क्षण भर में इसे नष्ट कर देते हैं। भगवन्! वृद्धावस्था होने पर भी जो जीता है, उस दुष्ट जीवन के लिए दुराग्रह रखने से क्या लाभ? भूतल पर किसी से पराजित न होनेवाली यह जरावस्था मनुष्यों की इच्छाओं का तिरस्कार कर देती है, इसकी कोई भी इच्छा सफल नहीं होती है।

जैसे बड़वाग्नि उमड़े हुए सागर को सोखती है, उसी प्रकार यह सर्वभक्षी काल भी उत्पन्न जगत् को अपना ग्रास बना लेता है। भयंकर कालरूपी महेश्वर इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को निगल जाने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। युग, वर्ष और कल्प के रूप में काल ही प्रकट है। संसार में जो रमणीय, शुभ कर्म करनेवाले तथा उच्चता या गौरव में सुमेरु पर्वत के भी गुरु थे, उन सबको काल ने उसी तरह निगल लिया है। इस जगत् में काल का ही विलास है। काल की पत्नी अत्यन्त चण्डी कालरात्रि है, यह बड़ी चतुराई से चलती है। इसे काल ने संसाररूपी वन में विहार करने के लिए नियुक्त किया है। कालरात्रि बाघिन के समान प्राणियों का विनाश करनेवाली है। काल का धनुष ही संहार है। इसका निरन्तर टंकार चलता रहता है, उससे दुःखरूपी बाणों की झड़ी लगी रहती है। यह कालरूपी राजकुमार संसार में दौड़ते हुए प्राणियों के पीछे दौड़ता रहता है, उनको बाणों से विदीर्ण करता रहता है, इससे बढ़कर शक्तिशाली नहीं है। जैसे बालक गीली मिट्टी को लेकर अनेक प्रकार के खिलौने बनाते हैं, उसी प्रकार काल भी पुनः-पुनः चौदह भुवन, विभिन्न वन, लोक-लोकान्तर, जीव-समुदाय तथा उनके नाना प्रकार के आचार-विचारों की सृष्टि करता है। इनकी सृष्टिकाल कभी भी थकता नहीं है।

मुनिवर! दूषित बुद्धि ने अन्तःकरण को व्याकुल कर दिया है। अज्ञान के कारण सभी संतप्त हो रहे हैं, संसार-रूपी रोग प्रतिदिन बढ़ रहा है, वैराग्य दुर्लभ है। आत्मदर्शन की शक्ति रजोगुण से नष्ट हो गई है, सत्त्वगुण की वृद्धि न होने से तमोगुण बढ़ रहा है। जीवन अस्थिर है। जैसे पशु किसी हरी-भरी लता के फल को लेने के लोभ में पर्वत से गिर पड़ता है वैसे ही लोकैषणा अर्थात् श्रेष्ठ पदों के लेने की इच्छा है, राग—लोभ आदि दोषों से दूषित अपने चित्त के द्वारा ही मारा जाकर पतन के गर्त में गिर जाता है।

आज जिस शरीर को रेशमी वस्त्र, फूलों के हार तथा अनुलेपनों से सजाया जाता है, वही एक गड्ढे में गाड़ दिया जाता है या जला दिया जाता है। विषय का भोग दुःखरूप और अनित्य है। विषयों में दोष-दर्शन से मेरा चित्त उस ओर नहीं लगता है।

भगवन् ! ऐसा कौन-सा उपाय है, कौन-सा चिन्तन है, जिसका अवलम्बन करने से यह जीवनरूपी वन भविष्य में अमङ्गलकारी न हो, इस पृथ्वी पर ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे आप लोग रमणीय नहीं बना दें। यह मनरूपी चन्द्रमा काम से कलङ्कित है, इसे किस साधन से निर्मल किया जाय, जिससे आनन्दमय दिव्य चाँदनी का उदय हो सके। इस प्रकार विस्तार से विषय भोग से विरक्त रामचन्द्र वसिष्ठ आदि के सम्मुख शान्त हो गये।

रामचन्द्र के इन वचनों को सुन सभी आश्चर्यचकित हो गये और आकाश से फूलों की वर्षा होने लगी। राम सभा में सभी सिद्धगण महर्षियों की वाणी सुनने के लिए उपस्थित होने लगे। तीनों लोकों में आप जैसा उदार चित्त पुरुष अब तक नहीं देखा गया है और न होगा—यह वाल्मीकि जी ने कहा।

मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण

भरद्वाज ! इस प्रकार सभा में आये हुए सिद्ध पुरुषों ने श्रीराम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। विश्वामित्र ने अपने सामने बैठे हुए श्रीराम से प्रेमपूर्वक कहा—"ज्ञानियों में श्रेष्ठ रघुनन्दन ! तुम्हारे लिए और कुछ जानना शेष नहीं। तुम अपनी ही सूक्ष्म बुद्धि से सब कुछ जान चुके हो। तुम्हारी बुद्धि भगवान व्यास के पुत्र शुकदेवजी की-सी है। उसे जानने योग्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो चुका है। तुम्हारे पिता के बगल में तेजस्वी भगवान् व्यास बैठे हुए हैं, इनके शुकदेव नाम से प्रसिद्ध एक महाज्ञानी पुत्र था। वे एक दिन मन-ही-मन इस लोकयात्रा (जागतिक व्यवहार) पर विचार कर रहे थे। उस समय उनके हृदय में भी तुम्हारी ही तरह विवेक का उदय हुआ। विवेक प्राप्त करके भी उनके हृदय में 'यही परमार्थ वस्तु—सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं' ऐसा पूर्ण विश्वास नहीं हुआ। उनका मन अत्यन्त क्षणभंगुर भोगों से विरत हो गया।

एक दिन शुकदेवजी ने मेरुगिरि पर एकान्त स्थान में बैठे हुए अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास से भक्तिभाव के साथ पूछा—"मुने ! यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है ? कैसे इसकी शान्ति या नाश होता है ? यह कितना बड़ा है ? किसका है ? और कब तक रहेगा ?" पुत्र के इस प्रकार प्रश्न करने पर आत्मज्ञानी मुनिवर व्यास ने उन्हें जो कुछ बताने योग्य बात थी, वह सब यथावत् एवं विशुद्ध रूप से बता दी। उनका उपदेश सुनने के अनन्तर शुकदेवजी ने सोचा, यह तो मैं पहले ही जान गया था। अतः पिताजी के उस उपदेश-वाक्य का अधिक आदर नहीं किया। भगवान् व्यास भी अपने पुत्र के इस अभिप्राय को समझकर उससे बोले—"बेटा ! जनक नाम से प्रसिद्ध एक राजा हैं, वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा को यथार्थरूप से जानते हैं।"

शुकदेवजी सुमेरु पर्वत से उतरकर पृथ्वी पर आये और महाराज जनक के द्वारा पालित विदेहपुरी में गये। वहाँ छड़ीदार द्वारपालों ने महात्मा जनक को यह सूचना दी—"राजन् ! राजद्वार पर व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी खड़े हैं।" उन्होंने शुकदेवजी की परीक्षा लेने के लिए द्वारपालों से अवहेलनापूर्वक कहा—"शुकदेवजी आये हैं तो वहीं ठहरें।" ऐसा कहकर राजा सात दिनों तक चुपचाप बैठे रहे—उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। अनन्तर राजा जनक ने शुकदेवजी को राजमहल के आँगन में बुलवाया। वहाँ आने पर भी शुकदेवजी पूरे सात दिनों तक उसी प्रकार उपरत होकर बैठे रहे। इसके बाद जनक ने शुकदेवजी को अन्तःपुर में आने की आज्ञा दी, किन्तु वहाँ भी राजा ने सात दिनों तक उन्हें दर्शन नहीं दिया। वे चन्द्रमा के समान मुखवाले शुकदेवजी का अन्तःपुर में यौवन के मद से उन्मत्त कमनीय कान्तिवाली सुन्दरियों द्वारा भाँति-भाँति के भोजनों तथा भोग-सामग्रियों से लालन-पालन कराते रहे। परन्तु जैसे मन्द गति से बहने वाली वायु दृढ़मूल अविचल वृक्ष को नहीं उखाड़ सकती, उसी प्रकार वे भोग तथा अनादर एवं उपेक्षाजनित

दुःख भी व्यासपुत्र के मन को अपनी ओर खींच न सके। शुकदेव वहाँ पूर्ण चन्द्रमा के समान निर्विकार भोग और अनादर में भी समान, स्वस्थ, मौन तथा प्रसन्नचित्त बने रहे।

इस प्रकार परीक्षा द्वारा शुकदेवजी के स्वभाव को जानकर राजा जनक ने उन्हें सादर अपने पास बुलवाया और प्रसन्नचित्त देखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक उनका स्वागत करके राजा ने उनसे कहा—"ब्रह्मन्! जगत् में परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए जो-जो आवश्यक कर्तव्य हैं, वे सब आपने पूर्ण कर लिए हैं। सारे मनोरथों को प्राप्त कर लिया है। इस तरह आप कृतकृत्य तथा आप्तकाम हो चुके हैं। अब आपको किस वस्तु की इच्छा है?"

श्रीशुकदेवजी ने कहा—महाराज! यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है और इसकी शान्ति या विनाश कैसे होता है?

राजा जनक ने शुकदेवजी को उस समय वही बात बतायी, जो पहले उनके महात्मा पिता व्यासजी के द्वारा बतायी गयी थी।

शुकदेवजी ने कहा—महाराज! मैंने पहले विवेक से स्वयं ही यह बात जान ली थी। फिर जब पिताजी से इसके विषय में पूछा, तब उन्होंने भी मुझे यही बात बतायी और आज आपने भी यही बात कही है। "यह विनाशशील संसार अपने संकल्प से उत्पन्न हुआ है और संकल्प का आत्यन्तिक विनाश होने से नष्ट हो जाता है अतः सर्वथा निस्सार है। यही शास्त्रों का निश्चय है।" महाबाहो! क्या यही अविचल सत्य है?

राजा जनक ने कहा—मुने! इस ब्रह्माण्ड में एक अखण्ड चिन्मय परम पुरुष परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आपने स्वयं विवेक के द्वारा इस तत्त्व को जाना है और फिर गुरुस्वरूप पिता के मुख से इसको सुना है। इससे बढ़कर दूसरा कोई निश्चय नहीं है। मुनिकुमार! आप बालक होते हुए भी विषयभोगों के त्याग में शूरवीर होने के कारण आपकी बुद्धि रोगरूपी भोगों से पूर्णतः विरक्त हो गयी है। प्राप्त करने योग्य वस्तु को पूर्णरूप से आपने प्राप्त कर लिया है। आपका चित्त पूर्णकाम हो गया है।

श्रीराम! जनक के द्वारा इस प्रकार उपदेश पाकर उनके शोक, भय और श्रम—सभी नष्ट हो गये। वे संशय-रहित हो गये। वे मेरुगिरि के प्रशस्त शिखर पर समाधि लगाने के लिए चले गये और दस हजार वर्षों तक निर्विकल्प समाधि में स्थित तेल समाप्त होने पर जैसे दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वे प्रारब्ध क्षीण हो जाने पर परमात्मा में लीन हो गये।

श्रीविश्वामित्र कहते हैं—मुनीश्वरो! श्रीरामचन्द्रजी ने ज्ञातव्य वस्तु को पूर्णतः जान लिया है। इन शुद्ध बुद्धिवाले श्रीराम को भोग अच्छे नहीं लगते। वे इन्हें रोग के समान प्रतीत होते हैं। भोगों के चिन्तन से अज्ञानजनित बन्धन दृढ़ होता है और भोग-वासना के शान्त हो जाने पर संसार-बन्धन क्षीण हो जाता है।

भोगभावनाया यान्ति बन्धो दार्ढ्यमवस्तुजः।
तयोपशान्तया याति बन्धो जगति तानवम्॥

विषयों में होनेवाली सुदृढ़ वासना को ही बन्धन बताते हैं। जिसकी दृष्टि राग आदि दोषों से रहित है, वही तत्वज्ञ है। रघुकुलतिलक श्रीराम को ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान हो गया है, इन्हें ये भोगों के रमणीय स्थान आनन्दित नहीं कर रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि को केवल अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परमात्मा के तत्त्व में विश्राम की अपेक्षा है। श्रीरामचन्द्रजी के चित्त के विश्राम के लिए श्रीवसिष्ठजी ही यहाँ युक्ति का प्रतिपादन करें, क्योंकि ये कुलगुरु हैं। ये सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी तथा तीनों कालों में मोह आदि से रहित निर्मल दृष्टिवाले हैं।

वसिष्ठजी! हम दोनों के वैर की शान्ति तथा परम बुद्धिमान् मुनियों के कल्याण के लिए देवदारु के वृक्षों से आवृत्त निषद पर्वत के शिखर पर साक्षात् पद्मयोनि भगवान् ब्रह्मा ने महत्वपूर्ण ज्ञान का उपदेश दिया था। ब्रह्मन्! उस

युक्तियुक्त ज्ञान से यह सांसारिक वासना नष्ट हो जाती है। आप उसी युक्तियुक्त ज्ञेय वस्तु का श्रीराम को उपदेश दीजिए। अतः जैसे निर्मल दर्पण में बिना यत्न के ही मुँह का प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी को अनायास ही ज्ञेय वस्तु का बोध एवं विश्राम प्राप्त हो जायगा।

गाधिनन्दन विश्वामित्र के ऐसा कहने पर व्यास और नारद आदि उन सभी मुनियों ने साधु-साधु कहकर उनके कथन की प्रशंसा की। राजा दशरथ के बगल में बैठे हुए ब्रह्माजी के पुत्र महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनि ने कहा— सृष्टि के प्रारम्भ के समय भगवान् ब्रह्मा ने संसाररूपी भ्रम के निवारण के लिए जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसी को मैं यहाँ वर्णन करता हूँ। यह जगत् भ्रम द्वारा निर्मित हुआ है। मृत्युकाल में पुरुष स्वयं अपने हृदय में इसका अनुभव करता है।

इस प्रकार जगत् मिथ्या होने पर भी चिरकाल तक अत्यन्त परिचय में आने के कारण दृढ़ता को प्राप्त कर जीव के हृदयाकाश में प्रकाशित होता है। यही 'इहलोक' कहलाता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक की चेष्टाओं तथा मरण आदि का अनुभव करनेवाला जीव हृदयाकाश में ही इहलोक की कल्पना करता है। मरने के अनन्तर वह वही परलोक की कल्पना करता है। वासना के भीतर अन्य अनेक शरीर और उनके भीतर भी दूसरे-दूसरे शरीर—ये इस संसार में केले के वृक्ष के छिलके के समान एक के पीछे एक प्रतीत होते हैं, वस्तुतः इस संसार में कोई सार नहीं है। न तो पृथ्वी आदि पञ्च-महाभूतों के समुदाय हैं और न जगत् की सृष्टि का कोई क्रम ही है। ये सब-के-सब मिथ्या हैं।

श्रीराम! परमार्थ सत्य परमात्मा रूपी विशाल महासागर में बारंबार वे पुरानी और नयी सृष्टिरूप असंख्य तरंगें उठती और विलीन होती रहती हैं। इस समय बहत्तर त्रेतायुग चल रहा है। यह पहले भी अनेक बार हो चुका है और आगे भी होता रहेगा। जो अविद्यारूपी आवरण से रहित है, जिसका अन्तःकरण एकाग्र हो चुका है, जिसके सभी संकल्प-विकल्प शान्त हो चुके हैं तथा जो स्वरूपभूत सारतत्त्व सच्चिदानन्दघन तन्मय हो गया है, वह विद्वान् पुरुष परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है।

श्रीराम! समुद्र की जलराशि शान्त हो या उत्ताल तरङ्गों से युक्त, दोनों दशाओं में उसकी जलरूपता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। उसी तरह देह के रहते हुए सदेह मुक्ति हो या विदेहमुक्ति, उसका विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने सत्य मानकर भोगों का आस्वादन ही नहीं किया, उस पुरुष में भोगों की अनुभूति कहाँ से होगी? जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त दोनों ही प्रकार के महात्मा बोधस्वरूप हैं। सदेह और विदेहमुक्त में थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। पवन सस्पन्द (वेगवान्) हो या निष्पन्द शान्त अथवा वेगहीन दोनों ही दशाओं में वह वायु ही है।

श्रुति-स्मृति आदि शास्त्र से नियन्त्रित पुरुषार्थ के सम्पादन में तत्पर जो पुरुष का पौरुष (उद्योग) है, वही मनोवाञ्छित फल की सिद्धि का कारण होता है। शास्त्र के विपरीत किया हुआ प्रयत्न अनर्थ की ही प्राप्ति करनेवाला होता है। कोई पुरुष जब शास्त्रीय प्रयत्न को शिथिल कर देता है, तब स्वयं दरिद्रता, रोग और बन्धन आदि अपनी दुर्दशा के कारण वह ऐसी अवस्था में पहुँच जाता है, जहाँ उसके लिये पानी की एक बूँद भी बहुत समझी जाती है (दुर्लभ हो जाती है); परंतु किसी को शास्त्रानुसार आचरण के प्रभाव से ऐसी उत्तम अवस्था प्राप्त होती है, जहाँ समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपों से व्याप्त विशाल भूमण्डल का साम्राज्य भी अधिक नहीं समझा जाता, वह अनायास सुलभ हो जाता है।

रघुनन्दन! भिन्न-भिन्न रंगों की अभिव्यक्ति में प्रकाश ही मुख्य कारण है। शास्त्र के अनुसार जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है, अपना पूर्वकृत कर्म ही फल देने के लिये उन्मुख होने पर दैव कहलाता है। उससे अतिरिक्त दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है। पुरुषार्थ दो प्रकार का है—एक शास्त्रानुमोदित (पुण्य कर्म) और दूसरा शास्त्रविरुद्ध (पाप-कर्म)। इन दोनों में जो शास्त्रविरुद्ध पुरुषार्थ है, वह अनर्थ का कारण होता है और शास्त्रानुमोदित पौरुष परमार्थ वस्तु की प्राप्ति में कारण है। इसलिये पुरुष को शास्त्रीय प्रयत्न से तथा साधु पुरुषों के संग से ऐसा उद्योग करना चाहिये कि इस जन्म का पौरुष पूर्वजन्म के पौरुष प्रारब्ध को शीघ्र जीत ले। यह पूर्व जन्म का पुरुषार्थ प्रारब्ध मुझे प्रेरित कर विशेष परिस्थिति में डाल देता है, इस प्रकार की बुद्धि को बलपूर्वक कुचल दें, क्योंकि वह प्रत्यक्ष कर्म अधिक प्रबल

नहीं है। जबतक पहले जन्मों का किया हुआ अशुभ कर्म समूल नष्ट न हो जाय, तबतक तत्परता से उत्साहपूर्वक साधन करते रहना चाहिये।

बाल्यावस्था से लेकर भलीभाँति अभ्यास में लाये हुए सत्-शास्त्रानुशीलन और सत्पुरुषों के संग आदि सद्गुणों द्वारा पुरुषार्थ करने से परम स्वार्थरूप परमात्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष देखी हुई, अनुभव में आई हुई, सुनी हुई और साधनों द्वारा प्राप्त की हुई परमार्थ वस्तु को जो लोग दैव के अधीन मानते हैं, उनकी बुद्धि कुत्सित है और वे साधन से नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। निरन्तर कल्पित खेल-कूद के कारण अत्यन्त चञ्चलतापूर्ण बाल्यावस्था के व्यतीत हो जाने पर जब दुखी और गुरुजनों की सेवा में समर्थ बाहुदण्ड से अलंकृत यौवन-अवस्था का आरम्भ हो जाय, तभी से मनुष्य को पद-पदार्थ के ज्ञान से विशुद्ध -बुद्धि होकर सत्पुरुषों के संग से अपने गुणों और दोषों का विचार करना चाहिये। तात्पर्य यह कि विचारपूर्वक दोषों को त्याग करके गुणों को ग्रहण करना चाहिये।

श्रीराम! पूर्वजन्म के पौरुष से भिन्न दैव कोई वस्तु नहीं है, पूर्वजन्मों का पुरुषार्थ ही दैव है। इसलिये "मैं दैव के अधीन हूँ, कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं हूँ" ऐसी बुद्धि या विचारधारा को सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्र के अभ्यास द्वारा मन से दूर करके जीवात्मा का इस संसार-सागर से बलपूर्वक उद्धार करे, आलस्यवश सत्कर्म अथवा साधन कभी नहीं छोड़े। जो तुच्छ विषय-सुखों के क्षणिक लोभ में फँसकर उस पूर्वकृत पौरुष या दैव को वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ द्वारा जीतने का प्रयत्न नहीं करते और सदा दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे दीन और मूढ़ हैं, क्योंकि पुरुषार्थ के बिना आत्मकल्याण सिद्ध नहीं होता। पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के कर्म दो भेड़ों की तरह आपस में लड़ते हैं। उनमें जो भी बलवान् होता है, वही दूसरे को क्षण भर में पछाड़ देता है, इस जन्म में किया गया प्रबल पुरुषार्थ अपने बल से पूर्वजन्म के पौरुष या दैव को नष्ट कर देता है और पूर्वजन्म का प्रबल पौरुष इस जन्म के पुरुषार्थ को अपने बल से दबा देता है। वर्तमान जन्म का पुरुषार्थ ही प्रत्यक्षतः बलवान है, इसलिये अधिकारी मनुष्य को पुरुषार्थ का सहारा लेकर सत्-शास्त्रों के अभ्यास और सत्सङ्ग द्वारा बुद्धि को निर्मल बनाकर संसार-सागर से अपना उद्धार कर लेना चाहिये।

शुभाशय श्रीराम! अपनी कोरी कल्पना के बल से उत्पन्न, मिथ्याभूत तथा सम्पूर्ण कारण और कार्य से रहित दैव की अपेक्षा न रखकर आत्मकल्याण के लिये अपने उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय लो। शास्त्रों द्वारा तथा महापुरुषों के सदाचार से विस्तार को प्राप्त विविध देश-धर्मों द्वारा समर्थित जो परमात्मा की प्राप्तिरूप अतिशय प्रसिद्ध फल है, उसके लिये हृदय में अत्यन्त उत्कट अभिलाषा होने पर उसकी प्राप्ति के लिये चित्त में स्पन्दन या चेष्टा होती है। अनन्तर इन्द्रियों और अधिकारी पुरुष का जन्म पुरुषार्थ के सिद्ध होने पर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं—ऐसा जानकर सदा आत्मकल्याण के प्रयत्न में ही संलग्न रहना चाहिये। साधन विषयक उस तत्परता को सत् शास्त्रों के अभ्यास एवं सन्त-महात्माओं तथा ज्ञानी पुरुषों के सेवन द्वारा आत्मज्ञानरूप फल की प्राप्ति से सफल बनाना चाहिये। आत्मकल्याण के विषय में यदि परम पुरुषार्थक आश्रय लिया जाय तो यह अवश्य दैव को जीत लेता है, ऐसी धारणा कर दैव और पौरुष के बलाबल का विचार करने के कारण जो परम सुन्दर प्रतीत होते हैं तथा जिनमें शम, दम आदि साधन भी विद्यमान हैं एवं श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा से जिनका अन्तःकरण सदा भावित रहता है, ऐसे अधिकारी पुरुषों को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये अवश्य उद्यम करना चाहिये।

जो लोग उद्योग का त्याग कर केवल दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे आलसी मनुष्य स्वयं ही अपने शत्रु हैं। वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थों का नाश कर डालते हैं।

ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः॥ (मुमुक्षु० ७/३)

बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियों के द्वारा की जानेवाली चेष्टाएँ पौरुष के रूप हैं। इन्हीं से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। साक्षी चेतन में पहले जैसी विषय की अनुभूति होती है, मन वैसी ही चेष्टा करता है। मन के व्यापार के

अनुसार शरीर चलता है—शारीरिक क्रिया होती है और उसके अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है। पुरुषार्थ से ही बृहस्पति देवताओं के गुरु बने हुए हैं और पुरुषार्थ से शुक्राचार्य ने दैत्यराजों के गुरु का पद प्राप्त किया। शास्त्रों के अभ्यास, गुरु के उपदेश और प्रयत्न—इन तीनों से ही सर्वत्र पुरुषार्थ की सिद्धि देखी जाती है। कल्याण कामी पुरुष अशुभ कर्मों में लगे हुए मन को वहाँ से हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मों में ही लगाये। पौरुष से ही अभीष्ट वस्तु की सिद्धि होती है। पौरुष से ही बुद्धिमानों की कल्याण मार्ग में प्रगति होती है। दैव तो दुःख-सागर में डुबे हुए कोमल एवं दुर्बल चित्तवाले लोगों के लिये आश्वासनमात्र है।

लोक में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा पुरुष का प्रयत्न सदा सफल होता देखा जाता है। पुरुष अपने पौरुष से ही देशान्तर में आता-जाता है। उत्तम बुद्धिवाले मनुष्य पौरुष से ही उन भीषण संकटों से अनायास पार हो जाते हैं, शुभ पुरुषार्थ से शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पुरुषार्थ से अशुभ। अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। अपने परम अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करानेवाले एकमात्र कार्य के प्रयत्न में जो तत्पर हो जाता है, उसी को विद्वान् पुरुष पौरुष कहते हैं। जैसे शरत्काल में सरोवर और कमल एक दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार सद्बुद्धि से सत्-शास्त्रों का अभ्यास और सतसङ्गरूपी गुण विकसित होता है तथा शत्-शास्त्रों के स्वाध्याय और सत्सङ्गरूपी गुण से सद्बुद्धि की वृद्धि होती है। चिरकाल के अभ्यास से ये दोनों एक दूसरे के वर्धक और पोषक होते हैं। बाल्यावस्था से ही पूर्णतः अभ्यास में लाये गये शास्त्र और सत्सङ्ग आदि गुणों से पौरुष द्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है।

श्रीराम! बताओ तो सही, इस लोक में जो शूरवीर, पराक्रमी, बुद्धिमान् और पण्डित हैं, वे किस दैव की प्रतीक्षा करते हैं? इन महामुनि विश्वामित्र ने दैव को दूर से ही त्यागकर पौरुष से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, और किसी साधन से नहीं। हमने तथा दूसरे-दूसरे पुरुषों ने, जो इस समय मुनि-पदवी को प्राप्त हैं, चिरकाल तक किये गये पौरुष से ही आकाश में विचरण करने की शक्ति प्राप्त की है। हिरण्यकशिपु आदि दानवेन्द्रों ने पुरुषोचित प्रयत्न से ही देवसमुदाय को दूर भगाकर त्रिलोकी का साम्राज्य प्राप्त किया था। फिर इन्द्र आदि देवेश्वरों ने पुरुषोचित प्रयत्न से ही शत्रुसेना को छिन्न-भिन्न एवं जर्जर करके दानवों से बलपूर्वक इस विशाल जगत् का राज्य छीन लिया था।

श्रीराम ने पूछा—भगवन्! आप सब धर्मों के ज्ञाता हैं। ब्रह्मन्! लोक में जो बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है, वह दैव क्या है? किसे दैव कहते हैं, यह बताइये।

रघुनन्दन! अवश्यम्भावी फल से सुशोभित होनेवाले पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुए फल का जो शुभ और अशुभ भोग है, उसी को 'दैव' कहा जाता है। अथवा पौरुष द्वारा इष्ट और अनिष्ट कर्म का जो प्रिय और अप्रियरूप फल प्राप्त होता है, उसी को 'दैव' नाम दिया गया है। एकमात्र पुरुषार्थ से सिद्ध होनेवाला जो अवश्यम्भावी फल है, वही इस जनसमुदाय में 'दैव' शब्द से प्रतिपादित होता है। सिद्ध पुरुषार्थ के शुभ और अशुभ फल का उदय होने पर जो यह कहा जाता है कि 'यह इसी रूप में मिलनेवाला था—यही होनहार थी', इसी को 'दैव' कहते हैं। कर्मफल की प्राप्ति होने पर जो यह कहा जाता है कि 'ऐसी ही मेरी बुद्धि हुई थी, ऐसा ही मेरा निश्चय था', इसी का नाम 'दैव' है। इष्ट और अनिष्ट फल के प्राप्त होने पर जो आश्वासनमात्र के लिए यह कहा जाता है कि 'मेरा पूर्वजन्म का कर्म ही ऐसा था' इस तरह की भावना को व्यक्त करनेवाला वचन ही 'दैव' कहलाता है।

श्रीराम! मनुष्यों के मन में पहले जो अनेक प्रकार की वासनाएँ थीं, वे ही इस समय कायिक, वाचिक, कर्म-रूप में परिणत हुई हैं। जीव में जिस प्रकार की वासना होती है, वह शीघ्र वैसा ही कर्म करता है। मन में वासना और हो और वह कर्म किसी और ही प्रकार का करे, यह सम्भव नहीं। जो गाँव में जाने की इच्छा रखता है, वह गाँव में और जो नगर में जाना चाहता है, वह नगर में पहुँचता है। पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा होने से जो कर्म प्रबल प्रयत्न के द्वारा किया जाता है, वही इस जन्म में 'दैव' शब्द से कहा जाता है। पूर्वजन्म के उस कर्म का पर्यायवाची शब्द 'दैव' है। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है। वासना मन से भिन्न नहीं है और मन ही पुरुष है, अर्थात् पुरुष का

संकल्प होने से वह पुरुषरूप ही है। श्रीराम ! मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निश्चय—ये सब कठिनता से समझ में आनेवाले मनोरूपता को प्राप्त हुए पुरुष की संज्ञाएँ हैं।

रघुनन्दन ! इस प्रकार पौरुष से मनुष्य इस जगत् में सभी कुछ प्राप्त कर सकता है, दैव से नहीं। श्रुति में जो चैतन्यमात्रस्वरूप प्राज्ञ पुरुष बताया गया है, वही तुम हो, जड़ शरीर नहीं हो। तुम स्वयंप्रकाशरूप चेतन हो। अन्य चेतन से प्रकाशित होने की योग्यता तुममें कहाँ है ? यदि तुम्हें दूसरा कोई चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा मान लिया जाय तो फिर उसे दूसरा कौन प्रकाशित करता है, यह प्रश्न खड़ा हो जायगा। यदि उसका भी कोई अन्य चेतन प्रकाशक हो तो फिर इसको कौन प्रकाशित करेगा ? इस प्रकार अनवस्था-दोष प्राप्त होता है, जो वस्तु का साधक नहीं है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह शुभ और अशुभ मार्गों से बहती हुई वासनारूपिणी नदी को पुरुषोचित प्रयत्न के द्वारा अशुभ मार्ग से हटाकर शुभमार्ग में ही लगाये।

मनुष्य का चित्त शिशु के समान चंचल होता है, उसे अशुभ मार्ग (पाप) से हटा दिया जाय तो शुभ मार्ग (पुण्य) में जाता है और यदि शुभ मार्ग से हटाया जाय तो अशुभ मार्ग में चला जाता है। इसलिए उसे बलपूर्वक पाप-मार्ग से हटाकर पुण्य के मार्ग में लगाना चाहिए। श्रीराम ! तुम परम कल्याण की प्राप्ति के लिए उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय ले पाँचों इन्द्रियों को जीतकर यहाँ शुभ वासना से युक्त हो जाओ और उस शुभ वासना का भी परित्याग कर परब्रह्म परमात्मा में भलीभाँति स्थित हो जाओ।

श्रीराम ! जो सर्वत्र नित्य समतारूप से स्थित सच्चिदानन्दमय ब्रह्मतत्त्व है, उससे सम्बन्ध रखनेवाली सत्ता को नियति कहते हैं। वही नियन्ता की नियन्त्रण-शक्ति है तथा नियन्त्रण में रहनेवाले पदार्थों में नियन्त्रित होने की जो योग्यता है, वह भी सत्ता ही है।

सृष्टि के आदि में परमेष्ठी ब्रह्मा ने इस मोक्षकथा का वर्णन किया था। यह सम्पूर्ण दुःखों का विनाश करनेवाली है और बुद्धि को परमशान्ति प्रदान करती है। सारे विवेकशील पुरुषों के साथ इस मोक्षकथा को सुनकर तुम उस दुःख-रहित सच्चिदानन्दमय परमपद को प्राप्त कर लोगे, जहाँ पहुँच जाने पर पुनः विनाश का भय नहीं रहता।

श्री राम ! परमब्रह्म परमात्मा, सर्वव्यापक, सबका आश्रय-स्थान, नित्य चेतन, अविनाशी, समस्त प्राणियों में प्रकाशस्वरूप से वर्तमान और अनन्त विलासों का एकमात्र अधिष्ठान है। प्रकृति की साम्यावस्था तथा विषमावस्था में भी वह निर्विकार रूप से स्थित रहता है। उसी परमात्मा से विष्णु का प्राकट्य हुआ, ठीक उसी तरह जैसे प्रवहणशील जल से परिपूर्ण सागर से तरङ्ग उत्पन्न होती है। उन विष्णु के हृदयकमल से ब्रह्मा प्रकट हुए, जो वेद तथा वेदार्थ के तत्त्वज्ञ हैं। उन्होंने देवताओं और मुनियों के समुदायों से संयुक्त होकर अनेकविध विकल्पों की सृष्टि करनेवाले मन की भाँति विभिन्न प्रकार की सृष्टि-रचना की। जम्बूद्वीप के इस भाग में, जो भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध है, ब्रह्माजी द्वारा रचित सारा प्राणि समुदाय आधि-व्याधि से संयुक्त, लाभ हानि से पीड़ित और जन्म मरणशील था। प्राणियों की इस सृष्टि में सारे जनसमुदाय को नाना प्रकार के व्यसनजन्य कष्टों से पीड़ित देख सर्वलोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा का हृदय उसी प्रकार दयार्द्र हो गया, जैसे पुत्र को दुःखी देखकर पिता को दया आ जाती है। फिर तो वे उनके कल्याण के लिये क्षणभर एकाग्रचित्त हो, यों विचार करने लगे कि इन हताश तथा अल्पायु जीवों के दुःख का अन्त किस प्रकार होगा। ऐसा विचार कर सामर्थ्यशाली एवं भगवान् ब्रह्मा ने उनके कष्टापहरण के लिये तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ-सेवन आदि साधनों का निर्माण किया। इन्हें उत्पन्न करके सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने पुनः स्वयं विचार किया कि इन साधनों से लोगों के सांसारिक दुःख का समूल विनाश नहीं हो सकता; बल्कि परम निर्वाणरूप मोक्ष ही परम सुख है, जिसकी प्राप्ति हो जाने पर जीव जन्ममृत्यु के चक्र से छूट जाता है। उस मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। इसलिये जीव के लिये संसार-सागर से पार होने का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान और तीर्थसेवन आदि भव-तरण के लिये सीधे उपाय नहीं कहे

गये हैं। अतः मैं इस हताश जनसमुदाय के दुःख की निवृत्ति के लिये संसार से उद्धार पाने का एक नूतन उपाय शीघ्र ही प्रकट करूँगा।

कमल पर विराजमान भगवान् ब्रह्मा ने अपने मानसिक संकल्प द्वारा मुझको उत्पन्न किया। श्रीराम ! जैसे एक तरङ्ग से शीघ्र ही दूसरी तरङ्ग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार मैं भी अनिर्वचनीय माया से उत्पन्न हुआ और फिर तुरंत ही अपने उन पितृदेव के समीप जा पहुँचा, जिनके हाथ में कमण्डलु और रुद्राक्ष की माला शोभा पा रही थी। मैंने नम्रतापूर्वक उनको प्रणाम किया। उस समय मैं भी कमण्डलु और रुद्राक्ष की माला से संयुक्त था। तब 'बेटा ! यहाँ आओ' मुझसे यों कहकर उन्होंने अपने कमल के ऊपरी पत्ते पर श्वेत बादल पर बैठे हुए चन्द्रमा की भाँति मुझे अपने हाथ से पकड़कर बैठा लिया। मृगचर्मधारी मेरे पितृदेव ब्रह्मा जी ने मुझसे कहा—'बेटा ! जैसे चन्द्रमा में कलङ्क प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार बानर के समान चञ्चल अज्ञान दो घड़ी के लिये तुम्हारे चित्त में प्रवेश करे।'

पिताद्वारा अभिशप्त मैं उनके संकल्प को भूल गया। फिर तो मेरी बुद्धि तत्त्वज्ञान से रहित हो गयी और मैं दुःख-शोक से संतप्त ही दीन हो गया। उस समय मैं 'हाय ! बड़े कष्ट की बात हुई। यह संसार नामक दोष मुझे कहाँ से प्राप्त हो गया ?' यों हृदय में विचार कर चुपचाप बैठा रहता था। मेरी यह दशा देखकर मेरे पिताजी ने मुझसे कहा—'बेटा ! तुम क्यों दुःखी हो रहे हो ? अपने इस दुःख के नाश का उपाय मुझसे पूछो।' मैंने उनसे पूछा—'नाथ ! यह महान् दुःखमय संसार मुझ प्राणी को कहाँ से प्राप्त हो गया ? और इसका विनाश किस प्रकार होता है ?' प्रश्न करने पर उन्होंने मुझे ऐसे प्रचुर ज्ञान का उपदेश दिया, जिस परम पावन ज्ञान को प्राप्तकर मैं पिताजी के अभिप्राय के अनुरूप अधिक ज्ञानसम्पन्न हो गया। ब्रह्माजी ने मुझसे कहा—"पुत्र ! मैंने प्रथमतः तुम्हें शाप द्वारा ज्ञानहीन करके पुनः समस्त अधिकारी जनों की ज्ञानसिद्धि के लिए इस सारभूत ज्ञान का पिपासु बनाया है। अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है और तुम्हें परमोत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है, जिससे तुम मेरे ही सदृश अद्वितीय आत्मस्वरूप हो गये हो। साधो ! अब तुम प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिए भूलोक में जम्बूद्वीप के मध्यभाग में स्थित भारतवर्ष में जाओ। परोपकारनिष्ठ पुत्र ! तुम बड़े बुद्धिमान हो; अतः वहाँ जो लोग कर्मकाण्ड-परायण हों, उन्हें कर्मकाण्ड के क्रम से शिक्षा देना और जो लोग विवेकशील, विरक्तचित्त तथा महाबुद्धिमान हों, उन्हें परमानन्ददायक ज्ञान का उपदेश करना।

राम ! इस प्रकार मैं अपने पिता ब्रह्माजी द्वारा नियुक्त होकर इस लोक में निवास कर रहा हूँ और जबतक यह सृष्टि परम्परा रहेगी, तबतक यहाँ रहूँगा। जिस प्रकार भगवान् ब्रह्मा ने मुझे यहाँ आने का आदेश दिया, उसी प्रकार उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा नारद आदि अन्यान्य बहुत से महर्षियों को भी यह कहकर प्रेरित किया कि तुमलोग भारतवर्ष में जाकर पवित्र कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के उपदेश द्वारा वहाँ के निवासियों का, जो अन्तःकरण के अज्ञानरूपी रोग के वशीभूत होकर महान् कष्ट भोग रहे हैं, उद्धार करो।

प्राचीन काल में सत्ययुग के समाप्त होने पर जब भूतल पर कालक्रम से पवित्र कर्मकाण्ड का ह्रास हो गया, तब उन महर्षियों ने कर्मकाण्ड की स्थापना तथा मर्यादा की रक्षा के लिये पृथक्-पृथक् देशों का विभाजन किया और उन देशों पर भूपालों की स्थापना की। उन्होंने भूतल पर धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिये उपयुक्त बहुत-से स्मृति-ग्रन्थों तथा यज्ञ विधायक शास्त्रों का निर्माण किया। इस कालचक्र के चलते रहने पर जब उस क्रम का विनाश हो गया तथा लोग प्रतिदिन भोजनमात्र परायण और खाद्य पदार्थों के उपार्जन में तत्पर हो गये, तब हमलोगों ने उनकी दीनता का विनाश करने तथा लोक में आत्मतत्वज्ञान के प्रचार के लिये बड़े-बड़े ज्ञानोत्पादक शास्त्रों का उपदेश किया। यह अध्यात्म विद्या प्रथमतः राजसमाज में उपदिष्ट हुई। इसका प्रसार लोक में हुआ। इसी कारण इसे 'राजविद्या' कहा गया है। रघुनन्दन ! राजविद्या एवं राजगुह्य नाम से जिसकी प्रसिद्धि है, उस उत्तम अध्यात्म ज्ञान को पाकर राजा लोग दुःखरहित हो परमानन्द को प्राप्त किया। श्रीराम ! कालक्रमानुसार निर्मल कीर्तिवाले बहुसंख्यक राजाओं के स्वर्गवासी हो जाने पर इस भूतल पर इन महाराज दशरथ के यहाँ प्रकट हुए हो। शत्रुओं का मर्दन करने वाले राम ! तुम्हारा मन अत्यन्त निर्मल है, इसीलिये किसी निमित्त के बिना स्वाभाविक ही तुम्हारे मन में यह परम पावन तथा उत्तम वैराग्य जाग उठा है।

मनुष्य को चाहिए कि वह विवेकहीन, अज्ञानी और दुर्जनों से प्रेम करनेवाले मनुष्य का दूर से ही परित्याग कर साधु-महात्माओं की सेवा करे; क्योंकि सदा सज्जनों के सम्पर्क में रहने से विवेक की उत्पत्ति होती है। यह विवेक एक वृक्ष के समान है और भोग तथा मोक्ष उसके फल कहे गये हैं। उस मोक्ष के द्वार पर निवास करनेवाले चार द्वारपाल बतलाये जाते हैं, जिनके नाम हैं—शम, विचार, सन्तोष और साधुसंगम। मनुष्य को इन चारों का ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए; क्योंकि इनका भलीभाँति सेवन होने पर ये मोक्षरूपी राजमहल के द्वार को खोल देते हैं। यदि चारों का सेवन न हो सके तो तीन का या दो का सेवन अवश्य करना चाहिए। दो का भी सेवन न हो सके तो सभी उपायों द्वारा प्राणों की बाजी लगाकर भी एक का आश्रय तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि जब एक वश में आ जाता है, तब शेष तीनों भी अधीन हो जाते हैं।

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः। शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसंगमः॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा। द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा॥

श्रीराम! तुम्हारा हृदय अज्ञान से रहित अतएव विशुद्ध शान्ति आदि गुणों से विकसित एवं उत्तम विचार की शीतल चाँदनी से प्रकाशित है। उस हृदय से युक्त होकर तुम उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हो, जैसे निर्मल चन्द्रमा से आकाश की शोभा होती है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तुम्हारा मन उत्तम गुणों से परिपूर्ण है। तुम हमारे योग्य शिष्य हो और प्रश्न करने का ढंग भी तुम्हें भलीभाँति ज्ञात है। संसाररूपी विष के आवेश से उत्पन्न हुई विषूचिका बड़ी दुस्सह होती है। विषनिवारक गारुडमन्त्र से ही उसका समूल नाश होता है। जीव और ब्रह्म का एकात्मबोध ही वह गारुडमन्त्र है। वही परमार्थ ज्ञान का भी मूलमन्त्र है। सत्पुरुषों के साथ शास्त्रानुशीलन करने से निस्सन्देह उस योग की प्राप्ति होती है।

श्रीराम! जिन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान हो गया है, ऐसे उत्तम बुद्धिसम्पन्न महापुरुष इस दृष्टि का अवलम्बन कर इस संसार में विचरते हैं। उन्हें न शोक होता है, न कामना होती है और न वे शुभाशुभ की याचना ही करते हैं। वे इस संसार में सब कुछ करते हुए भी अकर्ता के समान रहते हैं। वे हेय और उपादेय के पक्षपात से रहित होकर अपनी आत्मा में स्थित रहते हैं, पवित्रता से रहते हैं और सत्-शास्त्रों में प्रतिपादित स्वच्छ कर्म करते हुए सन्मार्ग पर चलते हैं। अन्य लोगों की दृष्टि से वे आते हैं, जाते हैं, कर्म करते हैं और बोलते हैं; परन्तु वास्तव में वे न आते हैं न जाते हैं, न कर्म करते हैं और न बोलते ही हैं। क्योंकि परमानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त हुआ पुरुष न तो इन्द्रजालरूप मायिक कार्य करता है और न सांसारिक वासनाओं के पीछे ही दौड़ता है। वह बालकों की-सी भ्रममूलक चपलता का परित्याग करके पूर्वकथित परमात्मा के स्वरूप में ही सदा विराजमान रहता है।

जो दुरात्मा पुरुष राज्य आदि जागतिक सुखों के उपलब्ध होने पर उनके उत्तम भोगों के आस्वादनमात्र से ही तृप्त बने रहते हैं, उन्हें तो तुम अन्धे मेढक समझो।

सम्भोगाशनमात्रेण राज्यादिषु सुखेषु च। सन्तुष्टा दुष्टमनसो विद्धि तानन्धदर्दुरान्॥

राघव! मोक्षद्वार पर स्थित रहनेवाले इन द्वारपालों को क्रमशः सुनो, जिनमें से एक के प्रति भी प्रीति हो जाने से मोक्षद्वार में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। शम मङ्गलमय, शान्तिदायक तथा भ्रम का निराकरण करनेवाला है। शम से परम कल्याण की प्राप्ति होती है और शम ही परम पद है। शम की प्राप्ति से पूर्णतया तृप्त हुए जिस पुरुष का चित्त शम विभूषित होने के कारण शीतल और निर्मल हो गया है, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है। जैसे चन्द्रोदय होने से क्षीर सागर की शुभ्रता बढ़ जाती है, उसी प्रकार जिनका चित्त शमरूपी चन्द्रमा से भलीभाँति शोभित हो गया है, उनकी परम शुद्धता की अभिवृद्धि होती है। जिनके कलङ्करहित मुखचन्द्र में शमश्री शोभित होती है,

वे अपने गुणरूप सौन्दर्य से दूसरे की इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं तथा वे ही कुलीनशिरोमणि एवं वन्दनीय हैं। त्रिलोकी की राज्यलक्ष्मी भी वैसा आनन्द नहीं प्रदान कर सकती, जैसी आनन्ददायिनी साम्राज्य-सम्पत्ति के सदृश शम-विभूतियाँ होती हैं। लोक में जितने दुःख, जितनी दुस्सह तृष्णाएँ और जितनी दुःखदायिनी मानसिक व्यथाएँ हैं, वे सब शान्त चित्त वाले पुरुषों के निकट जाकर वैसे ही विलीन हो जाती हैं, जैसे सूर्य की किरणों के सम्पर्क से अन्धकार का विनाश हो जाता है। शम परायण पुरुष के दर्शन से समस्त प्राणियों का मन जैसा आह्लादपूर्ण एवं प्रसन्न होता है, वैसा चन्द्रमा के दर्शन से नहीं होता। इस जगत् में जैसे अपनी माता पर सभी का विश्वास रहता है, उसी प्रकार शमयुक्त पुरुष पर दुरात्मा अथवा धर्मात्मा—सभी प्राणी विश्वास करते हैं। इसलिये रघुकुलभूषण राम ! तुम भी अपने मन को, जो समस्त शारीरिक क्लेशों तथा मानसिक व्यथाओं से कम्पित और तृष्णारूपी रस्सी से आबद्ध हैं, शमरूपी अमृत के अभिषेक से प्रकृतिस्थ करो; क्योंकि जो शमनिष्ठ है, उस पुरुष से पिशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, व्याघ्र अथवा सर्प—कोई भी द्वेष नहीं करते।

जो पुरुष प्रिय और अप्रिय को सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो हर्षित होता है और न खिन्न होता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। जो प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों को अपने वश में करके समस्त प्राणियों के साथ समतापूर्ण व्यवहार करता है तथा न तो भविष्य की आकांक्षा करता है और न प्राप्त का परित्याग करता है, वह 'शान्त' कहलाता है। जिसका मन मरण, उत्सव और युद्ध के अवसर पर भी व्याकुल न होकर चन्द्रमण्डल के समान निर्मल आभा से युक्त रहता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। हर्ष और कोप का अवसर उपस्थित होने पर भी जो पुरुष वहाँ अनुपस्थित के समान न तो हर्ष को प्राप्त होता है और न क्रोध ही करता है, बल्कि उसका मन गाढ़ निद्रा में सोये हुए पुरुष के मन के समान निर्विकार रहता है, वह 'शान्त' पद से व्यवहृत होता है। जिसकी अमृत-प्रवाह के सदृश सुखदायिनी तथा प्रेमपूर्ण दृष्टि सभी प्राणियों पर समान रूप से पड़ती है, उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। जिसका अन्तःकरण शीतल हो गया है एवं जिसकी बुद्धि मोहाच्छन्न नहीं है तथा जो लौकिक विषयों के साथ व्यवहार करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता, उसे लोग 'शान्त' कहते हैं। सम्यक् प्रकार से व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की बुद्धि आकाश के सदृश निर्विकार रहती है, राग-द्वेष रूप कलङ्क से लिप्त नहीं होती, उसे 'शान्त' कहा जाता है।

तपस्वियों, विद्वानों, याजकों, नरेशों, बलवानों और गुणियों के समुदाय में शमयुक्त पुरुष की ही विशेष शोभा होती है। जिन गुणशाली महापुरुषों का मन शम में आसक्त हो गया है, उनके चित्त से निवृत्ति का उदय होता है, ठीक उसी तरह जैसे चन्द्रमा से चाँदनी प्रकट होती है। जो गुणसमूहों की परमावधि है तथा जो पुरुषार्थ का मुख्य भूषण है, वह श्रीसम्पन्न शम संकटों तथा सम्पूर्ण स्थानों में भी अपने प्रभाव से सुशोभित होता रहता है। रघुनन्दन ! जिसका अन्य पुरुष अपहरण नहीं कर सकते, जो पूज्य जनों द्वारा सावधानी के साथ सुरक्षित एवं अमृत स्वरूप है, उस शमरूप उत्कृष्ट साधन का आश्रय लेकर बहुत-से महानुभाव जिस क्रम से परम पद को प्राप्त हो चुके हैं, तुम भी परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये उसी क्रम का अनुसरण करो।

राम ! संतोष ही परम श्रेय है और सन्तोष परम सुख भी कहा जाता है। सन्तोषयुक्त पुरुष परम विश्राम को प्राप्त होता है। जो सन्तोषरूपी ऐश्वर्य के सुख से सम्पन्न हैं तथा जिनका चित्त निरन्तर विश्रामपूर्ण रहता है, ऐसे शान्त पुरुषों को विशाल साम्राज्य भी पुराने घास के टुकड़े के समान प्रतीत होता है।

इस संसार में श्रेष्ठ संत-समागम मनुष्यों का संसार-सागर से उबारने में सर्वत्र विशेष रूप से उपकार करता है। जो महात्मा पुरुष सत्संगतिरूपी वृक्ष से उत्पन्न हुए विवेक नामक निर्मल पुष्प की रक्षा करते हैं, वे मोक्ष-फल-रूपी सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं।

संतोष, सत्संगति, विचार और शम—ये ही चारों मनुष्यों के लिये भवसागर से तरने के साधन हैं। इनमें सन्तोष परम लाभ है। सत्संगति परम गति है। विचार उत्तम ज्ञान है और शम परमोत्कृष्ट सुख है। ये चारों संसार का

समूल विनाश करने के लिये विशुद्ध उपाय हैं। जिन्होंने इनका भलीभाँति सेवन किया, वे मोह जल से परिपूर्ण भवसागर से पार हो गये। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राम ! इन चारों साधनों में से विशुद्ध प्रकाश वाले एक ही साधन का अभ्यास हो जाने पर शेष तीनों भी अवश्य अभ्यस्त हो जाते हैं; क्योंकि इनमें से एक-एक भी क्रमशः इन चारों की जन्म भूमि है। अतः सबकी सिद्धि के लिये यत्नपूर्वक एक का तो पूर्ण रूप से आश्रय लेना ही चाहिये। जैसे प्रशान्त सागर में जलयान स्वच्छन्द गति से चलते हैं, उसी प्रकार शम द्वारा निर्मल हुए हृदय में सत्समागम, सन्तोष और विचार उत्तम धारणापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। जो प्राणी विचार, संतोष, शम और सत्समागम से सम्पन्न है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं—ठीक उसी तरह, जैसे कल्पवृक्ष का आश्रय लेनेवाले पुरुष को लौकिक सम्पत्तियाँ सुलभ होती हैं। पूर्ण चन्द्रमा में परिलक्षित हुए सौन्दर्य आदि गुणों की तरह विचार, शम, सत्समागम और सन्तोषयुक्त मानव में प्रसाद आदि गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जैसे श्रेष्ठ मन्त्रिगणों से युक्त राजा के पास विजयलक्ष्मी उपस्थित होती है, उसी तरह जिस पुरुष की बुद्धि सत्सङ्ग, संतोष, शम और विचार से युक्त होने के कारण उत्तम हो गयी है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्ति सुलभ हो जाती है। इसलिये रघुनन्दन ! मनुष्य को चाहिये कि वह पुरुषार्थ से मन को वश में करके इनमें से एक गुण का नित्य यत्नपूर्वक उपार्जन करे; क्योंकि जब तक मनुष्य परम पुरुषार्थ के आश्रय से अपने चित्तरूप गजराज को जीतकर हृदय में एक गुण भी धारण नहीं कर लेता, तबतक उत्तम गति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके चित्त में उत्तम फलदायक एक ही गुण सुदृढ़ हो गया है, उसके सारे दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि एक ही गुण की विशेष वृद्धि होने पर दोषों पर विजय प्रदान करनेवाले अनेक गुणों की वृद्धि होती है और एक दोष के अधिक बढ़ जाने पर बहुत-से गुण विनाशक दोष बढ़ जाते हैं।

रघुनन्दन ! जिसका हृदय विवेक से युक्त है, वही इस जगत् में महान् है और वही ज्ञानोपदेश सुनने का योग्य अधिकारी होता है।

यह संहिता मोक्ष-साधन की प्रतिपादिका, सारभूत अर्थों से परिपूर्ण और मोक्षदायिनी है। इसमें बत्तीस हजार * श्लोक बतलाये जाते हैं। जैसे गाढ़ निद्रा के वशीभूत हुए पुरुष के सामने दीपक जला दिये जाने पर यद्यपि उसे प्रकाश की कामना नहीं रहती तो भी प्रकाश होता है, उसी प्रकार इस संहिता के परिशीलन से इच्छा न रहने पर भी निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। इस संहिता का स्वयं सम्यक् प्रकार से परिशीलन करके जानी गयी हो अथवा अन्य द्वारा वर्णन किये जाते समय सुनी गयी हो, तो भी पाप-ताप की शान्ति द्वारा सुख की हेतुभूत देवनदी गङ्गा के समान यह अज्ञान के उपशम द्वारा तुरन्त सुख प्रदान करती है। जैसे रस्सी का पूर्ण ज्ञान हो जाने से उसमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्ति विनष्ट हो जाती है, उसी तरह इस संहिता के सम्यक् परिशीलन से संसार-दुःख शान्त हो जाता है। इस संहिता में पृथक-पृथक रचे गये छः प्रकरण हैं, जो युक्तियुक्त अर्थवाले वाक्यों से युक्त और सार-दृष्टान्तों से भरी हुई सूक्तियों से समन्वित हैं। उनमें पहला प्रकरण 'वैराग्य' नाम से कहा गया है, जिसके अध्ययन से उसी प्रकार विराग की वृद्धि होती है, जैसे मरुस्थल में भी जल के सिंचन से वृक्ष बढ़ता है। जैसे मणि के भलीभाँति मार्जित किये जाने के कारण उत्पन्न हुए प्रकाश से उसमें निर्मलता प्रकट हो जाती है, उसी तरह डेढ़ हजार श्लोकों से युक्त इस वैराग्य-प्रकरण का विचार

---

* इस ग्रन्थ के छहों प्रकरणों में क्रमशः वैराग्य प्रकरण में ११४५, मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण में ८०७, उत्पत्ति प्रकरण में ५४०४, स्थिति प्रकरण में २४०४, उपशम प्रकरण में ४२७७ और निर्वाण प्रकरण में १४२७५ श्लोक-संख्या है—इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में श्लोकों की संख्या २८३१२ मिलती है। किन्तु यहाँ इस सर्ग में, वैराग्य प्रकरण में १५००, मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण में १०००, उत्पत्ति प्रकरण में ७०००, स्थिति प्रकरण में ३०००, उपशम प्रकरण में ५००० और निर्वाण प्रकरण में १४५००—इस प्रकार कुल ३२०० श्लोक बताये गये हैं। ग्रन्थ में आये हुए बड़े श्लोकों के और गद्य भाग के अक्षरों की संख्या को ३२ अक्षर के एक अनुष्टप् श्लोक के हिसाब से गिनने पर यह संख्या प्रायः ठीक हो सकती है।

करने से विषयों के दोषों का परिज्ञान होने के कारण उत्पन्न हुए विवेक के प्रकाश से हृदय में शुद्धता का उदय हो जाता है। तदनन्तर 'मुमुक्षुव्यवहार' नामक प्रकरण की रचना की गयी है। इस प्रकरण में केवल एक हजार श्लोक हैं। युक्तियों से भरा होने के कारण यह अत्यन्त सुन्दर है और इसमें मुमुक्षु पुरुषों के स्वभाव का वर्णन किया गया है। इसके बाद तीसरा 'उत्पत्तिप्रकरण' आता है, जो दृष्टान्त और आख्यायिकाओं से परिपूर्ण तथा विज्ञान का प्रतिपादक है। उसमें सात हजार श्लोक हैं। इस प्रकरण में 'अहं' और 'त्वं' जिसका स्वरूप है एवं जो वास्तव में उत्पन्न न होकर भी प्रकट हुई-सी प्रतीत होती है, द्रष्टा और दृश्य के भेद से समन्वित उस सांसारिक सम्पत्ति का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण के सुनने पर श्रोता इस सम्पूर्ण जगत को अपने हृदय में ऐसा समझता है कि यह 'त्वं' और 'अहं' के विस्तार से युक्त, लोक, पर्वत और आकाश से समन्वित, संकल्पमय नगर के तुल्य क्षणध्वंसी, स्वप्न में प्राप्त हुए पदार्थों के समान सत्तारहित, मनोराज्य की तरह विस्तारवाला, अर्थशून्य होने के कारण गन्धर्वनगर के सदृश, दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के समान मृग-तृष्णा में जलभ्रान्ति की तरह, नौका के चलने से पर्वतादि के संचलन-भ्रम की भाँति चञ्चल और यथार्थ लाभ से रहित है तथा जैसे सुवर्ण में कङ्कण, जल में तरङ्ग और आकाश में नीलिमा असत् है, वस्तुतः ये क्रमशः अपने-अपने अधिष्ठान के ही अङ्ग हैं, उसी तरह यह जगत् असत् होकर भी सत्-रूप से उत्पन्न हुआ है। परमार्थ-दृष्टि से तो यह उस विज्ञानरूपी शरत्काल के आकाश के समान है, जिसका अज्ञानरूपी कुहरा पूर्णरूप से शान्त हो गया है।

चौथे 'स्थितिप्रकरण' की अवतारणा की गयी है। इस प्रकरण में तीन हजार श्लोक हैं और यह व्याख्यान और आख्यायिकाओं से भरा हुआ है। ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्यभाव को स्वीकार करके इस प्रकार जगत्-रूप एवं अहंरूप से स्थिति को प्राप्त हुआ है—ऐसा इस प्रकरण में कहा गया है। इसी तरह यह जगद्भ्रम जो दसों दिशाओं के मण्डल की विशालता से देदीप्यमान है और चिरकाल से वृद्धि को प्राप्त होता आया है, यह विषय भी उस प्रकरण में समझाया गया है।

पाँचवाँ 'उपशान्ति' प्रकरण कहा गया है। इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। यह परम पावन तथा विविध युक्तियों से युक्त होने के कारण अत्यन्त सुन्दर है। इस प्रकरण में 'यह जगत् है, यह मैं हूँ, यह तुम हो और यह वह है—यों उत्पन्न हुई भ्रान्ति किस प्रकार पूर्णरूप से शान्त होती है' यह विषय बहुत-से श्लोकों द्वारा बतलाया गया है। उपशम-प्रकरण का श्रवण करने से यह संसार प्रायः शान्त हो जाता है; क्योंकि जिसका भ्रान्त स्वरूप सम्यक् प्रकार से शान्त हो गया है—ऐसी संसृति का शतांशमात्र अवशिष्ट रह जाता है।

'निर्वाण' नामक छठे प्रकरण का वर्णन किया गया है। उसमें शेष साढ़े चौदह हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् पुरुषार्थ का देनेवाला है। उसे जान लेने पर सारी कल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं और परमात्मा की प्राप्तिरूप परम कल्याण हस्तगत हो जाता है। अधिक क्या, उक्त प्रकरण के ज्ञाता पुरुष के सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम मिट जाते हैं। वह निर्विषय चैतन्य प्रकाशरूप, विज्ञानस्वरूप, आधि-व्याधियों से रहित और आकाश मण्डल के समान निर्विकार हो जाता है। उसकी सभी जगद्-यात्राएँ शान्त हो जाती हैं और वह कृतकृत्य होने के कारण स्वस्थ हो जाता है। वह प्रकृति एवं प्रकृति के कार्यभूत सम्पूर्ण विषयों में कर्ता के अभिमान और ग्रहण-त्याग की दृष्टि से रहित हो जाता है, इसलिये वह देहधारी होते हुए विदेह-सा एवं संसारी होने पर भी असंसारी-सा प्रतीत होता है। उसका अहंकाररूप पिशाच नष्ट हो जाता है और वह देहयुक्त होते हुए भी शरीर-रहित-सा रहता है। चैतन्यघन परमात्मा अपने अन्दर कल्पित आकाश में प्रत्येक परमाणु में सहस्रों लोकों की रचना करके उन्हें धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है।

श्रीराम! जैसे उपजाऊ खेत में उचित समय पर बोये गये उत्तम बीज से अवश्य ही श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, उसी तरह इस संहिता को हृदयंगम कर लेने से परमार्थ-विषयक ज्ञान सुलभ हो जाता है। जैसे प्रातःकाल होने पर

प्रकाश का होना अवश्यम्भावी है, वैसे ही इस संहिता को चित्त में धारण कर लेने मात्र से निश्चय ही उत्तम विवेक की उपलब्धि होगी। विद्वानों के मुख से इसका श्रवण करके अथवा स्वयं ही इसे समझ कर धीरे-धीरे विचार करने से जब बुद्धि सुदृढ़रूप से संस्कृत हो जाती है, तब पहले हृदय में सभास्थान को विभूषित करनेवाली ऊँची लता के समान संस्कारयुक्त विशुद्ध वाणी का उदय होता है।

यह सुन्दर शास्त्र उत्तम ज्ञान से युक्त, अलंकारों से विभूषित, काव्यस्वरूप और सरस है। इसमें दृष्टान्तों द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है। जिसे थोड़ा भी पद-पदार्थ का ज्ञान है, वह स्वयं ही उसे समझ लेता है; किन्तु जो स्वयं इसे जानने में असमर्थ है, उसे पण्डित के मुख से सुनना चाहिये। जैसे संकल्प द्वारा निर्मित नगर में पुरुष को हर्ष-विषाद बाधा नहीं पहुँचाते, उसी तरह संसार-भ्रम का परिज्ञान हो जाने पर यह भी कष्टदायक नहीं होता। जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है—ऐसा जान लेने पर वह सर्पजनित भय का दाता नहीं होता, उसी तरह इस दृश्य संसाररूपी सर्प का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर यह भी सुख अथवा दुःख नहीं देता। जैसे चित्रलिखित सर्प का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर उसका सर्पत्व ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसार का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जाने पर यह स्थित रहते हुए भी शान्त हो जाता है अर्थात् इसका प्रभाव नहीं पड़ता।

रघुनन्दन! यह शास्त्र ज्ञान का विस्तार करनेवाला और बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जानेवाले सारभूत पदार्थों की परमावधि है। अब मैं इसका वर्णन करता हूँ, सुनो। पहले जिस विधि से यह शास्त्र श्रवण किया जाता है तथा जिस परिभाषा से इसका यथार्थरूप से विचार करने का विधान है, वह अवतरणिका श्रवण करो। जिस देखे हुए पदार्थ के सादृश्य से अनुभव में न आये हुए पदार्थ का ज्ञान कराया जाता है, बोधोपकाररूप फल प्रदान करनेवाले उस सादृश्य को विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं। जैसे रात्रि में दीपक के बिना घर में रक्खे हुए बर्तन आदि सामग्रियों का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह दृष्टान्त के बिना अपूर्व अर्थ का बोध होना असम्भव है। उपमान और उपमेय के जिस कार्य-कारण भाव का प्रतिपादन किया गया है, वह परब्रह्म को छोड़कर शेष सभी पदार्थों के साथ लागू होता है। मैं यहाँ ब्रह्मोपदेश के प्रसङ्ग में तुमसे जो दृष्टान्त कह रहा हूँ, उसमें एक देश के साधर्म्य से प्रकृतार्थ का परिग्रहण किया जाता है। यहाँ ब्रह्मतत्त्व का बोध कराने के लिये जो-जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह स्वप्न में प्रतीत होनेवाले पदार्थों की तरह मिथ्याभूत जगत् के अन्तर्गत ही है—ऐसा समझना चाहिये। उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के उत्तरकाल में जैसे यह जगत् अभावग्रस्त था, उसी तरह वर्तमान काल में भी विचार करने पर अवस्तुभूत ही है; अतः मिथ्यात्व के कारण जाग्रत और स्वप्न—इन दोनों की समानता है। यह प्रसिद्ध बात बालकों तक की समझ में आ सकती है। मोक्ष साधनों के निर्माता ग्रन्थकर्ता महर्षि वाल्मीकि ने दूसरे भी जिन ग्रन्थों की रचना की है, उनमें भी ज्ञातव्य वस्तु का ज्ञान कराने के लिये केवल यही व्यवस्था रक्खी है कि दृष्टान्तों के जिस अंश में समता सम्भव हो, उसी अंश के साथ समता रक्खी जाय। चूँकि यह जगत् स्वप्न, संकल्प और ध्यान से कल्पित नगर के समान मिथ्या है, इसी कारण यहाँ वे ही दृष्टान्त दिये गये हैं, दूसरे नहीं। ज्ञानप्राप्ति के लिये कारणरहित ब्रह्म में जो कारणता की उपमा दी जाती है, वहाँ उपमाप्रयुक्त पदार्थों के साथ सर्वांश में साधर्म्य सम्भव नहीं हो सकता। अतः विवादरहित बुद्धिमान् पुरुष को ज्ञानप्राप्ति के लिये उपमान से उपमेय का एक अंश में ही साधर्म्य स्वीकार करना चाहिये। पदार्थों के अवलोकन में दीपक के प्रकाशमात्र के अतिरिक्त उसके पात्र, तेल और बत्ती आदि किसी का भी उपयोग नहीं होता। केवल एक देश के सादृश्य से उपमान उपमेय का ज्ञान करा देता है। जैसे 'मणिदीप इव' इस दृष्टान्त में उपमान दीपक केवल प्रकाश से उपमेय मणि का बोधक होता है। दृष्टान्त के अंशमात्र से ज्ञेय तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ का निश्चय उपादेयरूप से ग्रहण करना चाहिये। कुतार्किकता का आश्रय लेकर अनुभव विरुद्ध अपवित्र विकल्पों द्वारा प्रबुद्धता का नाश नहीं करना चाहिये।

सृष्टि के पूर्व जो कारणरहित था, वही सृष्टि के आरम्भ से सृष्टिलीलावश स्वयं ही अपने में स्फुरित होकर प्रत्यक्ष कारण हुआ। जीव का अज्ञानजनित कारण यद्यपि असत् है, तथापि वह सत्-सा प्रतीत होता है। वही इस प्रकृति

में जगद्रूप से व्यक्त हुआ है। विचार तो स्वयं ही स्वकर्मानुसार प्राप्त हुए अपने शरीर का नाश करके शीघ्र ही महान् परम पद को प्रकट कर देता है। विचारवान् पुरुष जब परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, तब उसका विचार भी उसी में विलीन हो जाता है, उस समय वर्णनातीत केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

इस प्रकार प्रपञ्च का अभाव हो जाने के कारण अपने बुद्धि, इन्द्रिय और कर्मों द्वारा मन के इच्छारहित अतएव शान्त हो जाने पर उसका न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न न करने से ही। फिर तो जैसे संचालक के द्वारा बिना चलाया हुआ यन्त्र काम नहीं देता, उसी तरह इच्छारहित मन के शान्त हो जाने पर कर्मेन्द्रियाँ कर्म आदि में प्रवृत्त ही नहीं होतीं। बाह्य इन्द्रियों द्वारा विषय-ग्रहण एवं मन द्वारा विषयानुसंधानरूप पदार्थों से समाकुल यह जगत् विचार के अन्तर्गत विद्यमान है—ठीक उसी तरह, जैसे स्पन्दन वायु के भीतर ही होता है। शुद्ध सर्वात्मविषयक विचार जिस प्रकार कर्मानुसार भोग के लिये प्रकट होता है, तदनुरूप ही वह दिशा, काल तथा बाह्य एवं आन्तर पदार्थों के रूप में विस्तृत रूप से शोभित होता है। वह विचार शरीर आदि में दृश्यताभास को देखकर 'यही मेरा स्वरूप है' यों मोहवश धारणा करके स्थित है। उसको अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकार का प्रतीत होता है, वह वैसा ही हो जाता है। वह सर्वात्मा जहाँ जिस प्रकार आविर्भूत होता है, वहाँ वैसे ही तत्काल स्थिर हो जाता है और उसे अपना ही स्वरूप मानकर सुशोभित होता है। सर्वात्मकता के कारण द्रष्टा में दृश्यत्व का आरोप होता है। वह दृश्यत्व द्रष्टा की उपस्थिति में ही सम्भव है, अन्यथा दृश्यता भी वास्तविक नहीं है। अतः प्रत्यक्ष ही कारणरहित अद्वितीय ब्रह्मरूप सिद्ध हुआ स्थित है। वही सभी प्रमाणों का निर्माता है; क्योंकि अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण उसी के अंश हैं। अपने कर्ममात्र को दैव-प्रारब्ध मानकर उसकी उपासना करनेवाला इन्द्रियजयी पुरुष इस दैव-शब्दार्थ अर्थात् प्रारब्ध को दूर हटाकर अपने पुरुषार्थ द्वारा उस परम पद को अपने भीतर ही प्राप्त करता है।

रघुनन्दन ! पहले संत-समागम रूपी युक्ति के द्वारा बलपूर्वक अपनी बुद्धि को बढ़ाना उचित है। तत्पश्चात् महापुरुषों के लक्षणों के अनुकरण से अपने में महापुरुषता लानी चाहिये। इस जगत् में जो-जो पुरुष जिस-जिस गुण से विशेष रूप से सम्पन्न हैं, वह उसी गुण के द्वारा विशिष्ट समझा जाता है; अतः शीघ्र ही उस पुरुष से वह गुण प्राप्त करके अपनी बुद्धि की वृद्धि करनी चाहिये। जैसे कमल से सरोवर और सरोवर से कमल परस्पर उन्नति-लाभ करते हैं, उसी तरह ज्ञान से शम आदि गुण और शम आदि गुणों से ज्ञान—ये परस्पर वृद्धिगत होते रहते हैं। सत्पुरुषों के सदाचरण से ज्ञान की और ज्ञान से सत्पुरुषों के आचरण की वृद्धि होती है। यों ज्ञान और सत्पुरुषों के आचरण परस्पर एक-दूसरे के सहयोग से बढ़ते रहते हैं। तात ! जब तक इस संसार में ज्ञान और सदाचार का समानरूप से अभ्यास नहीं किया जाता, तब तक पुरुष को इन दोनों में से एक की भी सिद्धि नहीं होती। जिस प्रकार मैंने सदाचार के क्रम का वर्णन किया है, उसी तरह अब आगे ज्ञानक्रम का भलीभाँति उपदेश करूँगा। यह सत्शास्त्र कीर्तिकारक, आयुवर्धक और परम पुरुषार्थरूप फल प्रदान करनेवाला है; अतः बुद्धिमान् पुरुष को इस शास्त्र के ज्ञान से सम्पन्न आप्त पुरुष से इसका श्रवण करना चाहिये।

उत्पत्ति-प्रकरण

श्रीराम ! जिसमें मुमुक्षुओं के व्यवहारों का ही प्रधान रूप से वर्णन है, उस मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण के बाद अब मैं इस उत्पत्ति प्रकरण का वर्णन करता हूँ। जब तक दृश्य जगत् की सत्ता है, तभी तक यह जन्म-मृत्युरूप संसार का बन्धन है। दृश्य का अभाव हो जाने से बन्धन कदापि नहीं रह सकता। यह दृश्य-जगत् किस प्रकार उत्पन्न होता है, वह बता रहा हूँ।

सोने का बना हुआ कड़ा सोना ही है। उस सोने से 'कटक' कड़ा जैसे पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'जगत्' परब्रह्म पर ही आधारित है, अतः उससे पृथक् नहीं है। ब्रह्म में ही जगत् की कल्पना हुई है, जगत् में

नहीं; अतः वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे मरु-मरीचिका में प्रतीत होनेवाली नदी अपने भीतर न होने पर भी चञ्चल तरङ्गों का विस्तार करती है और वे तरंगें सच्ची-सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मन ही इस जगत्-रूपी इन्द्रजाल की सम्पत्ति का विस्तार करता है और वह सम्पत्ति असत् होने पर भी सत्य-सी प्रतीत होती है।

श्रीराम ! दृश्य प्रपञ्च का अस्तित्व ही द्रष्टा का बन्धन कहा गया है। दृश्य के बल से ही द्रष्टा बन्धन में पड़ा है। दृश्य का निवारण हो जाने पर वह उस बन्धन से मुक्त हो जाता है। 'त्वम्' (तू), 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) इत्यादि रूपों में कल्पित जो मिथ्या जगत् है, उसी को दृश्य कहते हैं। जब तक वह दृश्य बना रहता है, तब तक मोक्ष नहीं होता। यदि यह दृश्य जगत् वास्तव में है, तब तो किसी के लिये उसका निवारण नहीं हो सकता; क्योंकि जो असत् वस्तु है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो सत् वस्तु है, उसका कभी अभाव नहीं होता। चित्-स्वरूप आत्मा का जिसे बोध नहीं है, वह द्रष्टा जहाँ कहीं भी रहता है, वहीं उसकी दृष्टि के समक्ष इस दृश्य जगत् का वैभव प्रकट हो जाता है। जैसे हृदय स्थित स्वप्न एवं संकल्प तुम्हारे द्वारा अनुभव से ही देखे जाते हैं, उसी प्रकार यह दृश्य जगत् तुम्हारे हृदय में ही स्थित है और अपने अनुभव से ही दृष्टिगोचर होता है।

श्रीराम ! मनवन्तर आरम्भ होने पर जब सम्पूर्ण प्राणियों को अपना ग्रास बनानेवाली मृत्यु प्रजा का संहार करती हुई सबल हो उठी, तब उसने स्वयं ही ब्रह्माजी पर आक्रमण करने का उद्योग आरम्भ किया। उस समय धर्मराज यम ने उसे शीघ्र ही इस प्रकार शिक्षा दी—'मृत्यो ! ब्रह्मा चिन्मय व्योम स्वरूप हैं। उनकी आकृति पृथ्वी आदि पाँचों भूतों से रहित है। वे मनोमय और संकल्प रूप हैं। भला, उन पर कैसे आक्रमण किया जा सकता है ? जो चेतन आकाश के समान चमत्कारपूर्ण और चिन्मय आकाश के समान अनुभवरूप हैं, वे ब्रह्मा चिन्मय आकाश ही हैं।

श्रीराम ! जिसका पूर्वजन्मों में उपार्जित कर्मों से युक्त पूर्व-शरीर रहा है, उसी को इस जन्म में संसार-स्थिति की कारणभूत स्मृति का होना सम्भव है। जब ब्रह्मा का कोई प्राक्तन कर्म है ही नहीं, तब उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति का उदय कहाँ से और कैसे होगा ? सुतरां उनसे उत्पन्न हुए जगत् के भी कोई सहकारी कारण नहीं है। अतः यहाँ कारण से कार्य में कोई विचित्रता या विलक्षणता नहीं है। इसलिये जैसे कारण शुद्ध है, वैसे कार्य भी शुद्ध ब्रह्म ही है—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

जब तक द्रष्टा और दृश्य का विवेक न किया जाय, तब तक अज्ञान का उच्छेद न होने से मन में दृश्यवर्ग की प्रतीति होती ही है। यदि दृश्यरूप दुःख सत् हो तो उसकी कभी शान्ति नहीं हो सकती और दृश्य की शान्ति न होने पर ज्ञाता में कैवल्य (मोक्ष) की सिद्धि नहीं हो सकती। दृश्य का अभाव हो जाने पर ज्ञाता में ज्ञातृभाव स्थित हो, तो भी वह शान्त या निवृत्त हो जाता है। वही (ज्ञाता का कैवल्य ही) उसका मोक्ष कहा गया है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा—भगवन् ! मन का स्वरूप कैसा है, यह मुझे स्पष्टरूप से बताइये; क्योंकि मन ही इस सम्पूर्ण जगत्-रूपिणी लता का विस्तार करता है।

श्रीराम ! जैसे शून्य तथा जड़ आकारवाले आकाश का नाममात्र के अतिरिक्त दूसरा कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार शून्य एवं जड़रूप इस संकल्पात्मक मन का नाम के सिवा कोई भी वास्तविक रूप नहीं दिखायी देता। यह जगत् क्षणिक संकल्परूपी मन से उत्पन्न हुआ है। मृगतृष्णा में प्रतीति होनेवाले जल तथा चन्द्रमा में भ्रम से दीखने वाले द्वितीय चन्द्रमा के समान ही इस मनःकल्पित जगत् का स्वरूप है। रघुनन्दन ! संकल्प को ही मन समझो।

द्रष्टा से दृश्य की पृथक् सत्ता न होने के कारण दृश्य का अभाव हो जाने पर जो द्रष्टा में बलात् द्रष्टापन का अभाव प्राप्त होता है, उसी को तुम असत् मिथ्या दृश्य के बाधित होने से सन्मात्र चिन्मयरूप में अवशिष्ट हुए आत्मा का कैवल्य समझो।

श्रीराम ने पूछा—ब्रह्मन् ! यदि दृश्य सत् है तब तो यह शान्त या निवृत नहीं हो सकता; क्योंकि सत् का कभी अभाव नहीं हो सकता है।

श्री वसिष्ठजी ने कहा—रघुनन्दन ! जिस वस्तु की सत्ता है, उसका कभी नाश नहीं होता। यह जो कुछ आकाश आदि भूत और अहंकार के रूप में लक्षित होता है, वह सब व्यवहार-दशा में जगत् है, किन्तु परमार्थ दशा में ब्रह्म है। ब्रह्म के सिवा 'जगत्' शब्द का दूसरा कोई वास्तविक अर्थ है ही नहीं। हमारे सामने यह जो कुछ दृश्य-प्रपञ्च दृष्टिगोचर होता है, वह सब अजर, अमर एवं अव्यय परब्रह्म ही है। सर्वत्र पूर्ण का प्रसार हो रहा है। शान्त परब्रह्म में शान्त जगत् स्थित है।

यह जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं हुआ था, इसलिये इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं है। जैसे स्वप्न आदि में मन से ही नगर की प्रतीति होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी मन से ही उत्पन्न होकर प्रतीति का विषय हो रहा है। स्वयं मन ही सृष्टि के आदि में उत्पन्न न होने के कारण असत् स्वरूप है, उस असत्-रूप मन से कल्पित होने के कारण भी यह जगत् असत् ही है।

श्रीराम ! महाप्रलय होने पर जब जगत् अति सूक्ष्म रूप से स्थित होने के कारण अपने कार्य में असमर्थ हो जाता है, उस समय वह सम्पूर्ण भावी दृश्यवर्ग की सृष्टि से पहले विक्षेपरहित शान्तावस्था में ही शेष रहता है। उस प्रलयकाल में केवल कभी अस्त न होनेवाले सूर्यदेव—स्वयंज्योति, अजन्मा, रोग-शोक से रहित, सदा सर्वशक्तिमान्, सर्व-स्वरूप, परमात्मा महेश्वर ही विराजमान होते हैं।

रघुनन्दन ! परब्रह्म परमात्मा देवताओं के भी देवता हैं। उनके ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, क्लेश-युक्त सकाम कर्मों के अनुष्ठान से नहीं। संसार-बन्धन की निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान ही साधन है, ज्ञान के अतिरिक्त सकाम कर्म आदि का इसमें कोई भी उपयोग नहीं है; क्योंकि मृगतृष्णा में होनेवाले जल के भ्रम का निवारण करने के लिए ज्ञान का ही उपयोग देखा गया है—ज्ञान से ही उस भ्रम की निवृत्ति होती है, किसी कर्म से नहीं। सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रों के स्वाध्याय में तत्पर होना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में हेतु है। वह स्वाभाविक साधन ही मोहजाल का नाशक होता है। यह परमात्मा सत्स्वरूप ही है, ऐसे ज्ञानमात्र से ही जीव के दुःख का निवारण होता है तथा वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त होता है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा—गुरुदेव ! सबके आत्मस्वरूप इन परमात्मा के ज्ञानमात्र से कष्टप्रद जन्म-मरण आदि फिर कभी बाधा नहीं देते। अतः बताइये, ये महान् देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा किस उपाय से शीघ्र प्राप्त होते हैं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीराम ! विवेक के द्वारा उस परमात्मदेव का यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये पुरुषोचित प्रयत्न के द्वारा भवरोग के निवारण के लिये मुख्य औषधों का संग्रह करना चाहिये।

रघुनन्दन ! जिन परमात्मदेव की चर्चा की गयी है, ये कहीं दूर नहीं रहते, सदा शरीर में ही स्थित हैं और चिन्मय रूप से विख्यात हैं। ये ही चिन्मय चन्द्रशेखर शिव हैं। ये ही चिन्मय गरुड़वाहन विष्णु हैं। ये ही चिन्मय सूर्य हैं तथा ये ही चिन्मय ब्रह्मा हैं। कार्य-कारणस्वरूप इन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर इस साधन-परायण के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

श्रीराम ने पूछा—ब्रह्मन् ! जिनका ज्ञान या साक्षात्कार होने पर मन सम्पूर्ण मोह-महासागर के पार हो जायगा, उन परब्रह्म परमात्मा का यथार्थ स्वरूप कैसा है ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—रघुनन्दन ! जिस ज्ञानरूपी महासागर में नाश आदि विकार के बिना ही ज्यों-के-त्यों स्थित हुए इस संसार का अत्यन्त अभाव ही सिद्ध होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है। जो परम चिन्मय होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी अज्ञानी जनों की दृष्टि में विशाल पाषाण की भाँति स्थूलरूप से स्थित प्रतीत होता है तथा चिन्मय होता हुआ भी मूढ़ मनुष्यों के अन्तःकरण में जड़ के तुल्य ही जान पड़ता है, वह परमात्मा का स्वरूप है।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा—मुने ! परमात्मा सत् है, यह कैसे जाना जाता है ? तथा इतने बड़े इस जगत् नामक दृश्य को असत् कैसे समझा जाता है ? आप कहते हैं इसकी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है; यह बात कैसे समझ में आये ?

रघुनन्दन ! जैसे रूपहीन आकाश में भ्रमवश नील, पीत आदि वर्णों की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्म में यह जगत्-सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रम के अत्यन्ताभाव के ज्ञान में यदि पूरी दृढ़ता हो जाय, तभी ब्रह्म का स्वरूप ज्ञात होता है, दूसरे किसी कर्म से नहीं।

श्रीरामचन्द्रजी ने पूछा—भगवन् ! यह किस युक्ति से जाना जाता है कि यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है ?

रघुनन्दन ! यह मिथ्याज्ञानरूपिणी विषूचिका चिरकाल से दृढ़मूल हो गयी है। इसी का नाम जगत् है और इसी को अविचार कहते हैं। यह ज्ञान के बिना निवृत नहीं होती।

श्रीराम ने पूछा—शास्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ गुरुदेव आत्मज्ञान की प्राप्ति कराने के लिए कौन-सा शास्त्र मुख्य है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को फिर कभी शोक नहीं होता ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—महामते ! जिन शास्त्रों में मुख्यतः आत्मज्ञान का ही प्रतिपादन हुआ है, उनमें यह महारामायण नामक शास्त्र ही सबसे श्रेष्ठ और शुभ है। इस उत्तम इतिहास का श्रवण करने से बोध प्राप्त हो जाता है। इसे समस्त इतिहासों का सार कहा गया है। इस वाङ्मय (शास्त्र) का श्रवण कर लेने पर कभी क्षीण न होने वाली जीवन्मुक्ति स्वयं ही प्रकट हो जाती है। इसलिये यही सबकी अपेक्षा अत्यन्त पावन है। जैसे स्वप्न आदि के रहते हुए ही यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान हो जानेपर उस स्वप्न के सच्चे होने की भावना नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार इस शास्त्र का विचार करने से जब यह समझ में आ जाता है कि सारा जगत् स्वप्न के समान मिथ्या है, विद्वान् पुरुष इस महारामायण को सम्पूर्ण विज्ञान-शास्त्र रूपी धन का कोष–खजाना मानते हैं। जो पुरुष प्रतिदिन इस महारामायण श्रवण करता है, उसमें उत्कृष्ट चमत्कार आ जाता है। उसकी बुद्धि अन्य ग्रन्थों के स्वाध्याय से उत्पन्न हुए बोध की अपेक्षा उत्तम बोध को प्राप्त कर लेती है, इसमें संशय नहीं।

रघुनन्दन ! जिनके चित्त परमात्मचिन्तन में लगे हुए हैं, जिनके प्राण उन्हीं में रम रहे हैं, जो परस्पर परमात्मा का बोध कराते हुए सदा परमात्मा की ही चर्चा करते हैं, उसी से संतुष्ट होते हैं और उसी में निरन्तर रत रहते हैं, एकमात्र ज्ञान में ही जिनकी निष्ठा है तथा जो सदा परमात्म ज्ञान का ही विचार करते हैं, उन पुरुषों को ही वह जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, जो देह-त्याग के अनन्तर विशुद्ध मुक्ति ही है।

शास्त्रानुकूल व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की दृष्टि में ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह जगत् विलीन हो जाता है और आकाश के समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो व्यवहार में लगा हुआ ही एकमात्र बोध-निष्ठा को प्राप्त हो, जाग्रत्-अवस्था में भी सुषुप्त पुरुष की भाँति राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकादि से शून्य हो जाता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जिसके मुख की कान्ति सुख में उदित नहीं होती तथा दुःख में अस्त नहीं हो जाती और प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे जो सन्तोषपूर्वक जीवन निर्वाह करता रहता है, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो निर्विकार आत्मा में सुषुप्त की भाँति स्थित रहता हुआ भी अविद्या रूपिणी निद्रा का निवारण हो जाने से सदा जागता रहता है, जिसकी जाग्रत् अवस्था नहीं है अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि का बोध हो जाने से जो इन्द्रियों द्वारा पदार्थों का उपभोग नहीं करता और जिसका ज्ञान सर्वथा वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसमें अहंकार का भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्व के और न करते समय अकर्तृत्व के अभिमान से लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञान स्वरूप परमात्मा के किंचित् उन्मेष और निमेष से ही तीनों लोकों की प्रलय और उत्पत्ति देखता है तथा जिसका सबके प्रति अपने समान ही भाव है अर्थात् जो सबके प्रति आत्मभाव रखता है, वह

जीवन्मुक्त कहलाता है। जिससे लोगों को उद्वेग नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष और भय से रहित है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी संसार के प्रति सत्यता-बुद्धि नष्ट हो गयी है, जो दूसरों की दृष्टि में अवयवों से युक्त होने पर भी वास्तव में अवयवरहित है तथा जो चित्तयुक्त होकर भी वस्तुतः चित्त से शून्य है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रीराम ! विदेहमुक्ति ही मुक्ति कहलाती है। इसी को ब्रह्म कहा गया है और इसीको निर्वाण कहते हैं। इसकी प्राप्ति कैसे होती है, यह बता रहा हूँ; सुनो। मैं, तुम, यह, वह इत्यादि रूप से जो यह दृश्य-प्रपंच दिखायी देता है, यह यद्यपि सत्-रूप से प्रतीत होता है, तथापि वन्ध्या-पुत्र के समान इसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं—ऐसा निश्चय हो जाने पर यह मुक्ति प्राप्त होती है। जो अद्वितीय, शान्त, चिन्मय और आकाश के समान निर्मल है, वह ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि सबमें सत्तामात्र का ही तो बोध होता है। रघुनन्दन ! मैंने सोने के कड़े में बहुत विचार करने पर भी विशुद्ध सुवर्ण के सिवा कहीं कोई कड़ा नाम की वस्तु नहीं देखी। जलकी तरंग में मैं जल के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं देखता; क्योंकि जहाँ वैसी तरङ्ग नहीं दिखाई देती, वहाँ भी जल ही है। वायु के अतिरिक्त कभी कहीं भी स्पन्दन=गतिशीलता नाम की कोई वस्तु नहीं है। स्पन्दन सदा वायुरूप ही है। अतः इन दृष्टान्तों के अनुसार यह जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

श्री रामचन्द्रजी ने कहा—मुने ! जिस युक्ति से इस दृश्य-जगत् के अत्यन्ताभाव का बोध होकर मुक्ति का उदय हो, उस उत्तम युक्ति का मुझे उपदेश कीजिये।

श्री वसिष्ठजी ने कहा—रघुनन्दन ! जिस प्रकाश से सदसत्-स्वरूप प्रपंच दिखायी देता है, वह चैतन्यमय प्रकाश भी वही है। विविध सृष्टियों से विचित्र रूप धारण करने वाला भी वही है। आदि-अन्त से शून्य स्वरूप को पा कर सर्वत्र प्रकाशित होने वाल नित्य चेतन ब्रह्म भी वही है।

जो सामान्यतः तो सर्वत्र प्रकाशित होते हैं, परन्तु अन्तःकरण में विशेष रूप से निरन्तर प्रकाशित होते हुए विद्यमान रहते हैं, जो चिन्मय दीप हैं तथा जिनके ही प्रकाश से तीनों लोक प्रकाशित होते हैं, जिनके बिना ये सूर्य आदि सारे प्रकाश अन्धकार के तुल्य हैं, जिनके रहने पर ही त्रिभुवनरूपी मृग-तृष्णा की प्रवृत्ति होती है।

जो सदा ही जगा हुआ है, सर्वदा ही सोया हुआ है तथा जो सर्वत्र और सदा ही न तो सोया है और न जगा ही हुआ है, जिसका स्पन्दरहित=निश्चल रूप कल्याण स्वरूप और शान्त है, जिसका स्पन्दनशील स्वरूप ही तीनों लोकों की स्थिति है, स्पन्द और अस्पन्द का विलास ही जिसका स्वरूप है; जो अद्वितीय एवं परिपूर्ण स्वरूप है।

रघुनन्दन ! तुम जिस रूप में स्थित होकर क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और चेतन को जानते हो, वह प्रमाता चेतन भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी परमात्मदेव ही है। साधो ! द्रष्टा, दर्शन और दृश्य के मध्य में साक्षीरूप से जिसका दर्शन होता है, उसे तुम एकाग्रचित्त होकर अपनी आत्मा ही समझो। श्रीराम ! वह परब्रह्म परमात्मा अजन्मा, अजर, अनादि, सनातन, नित्य, कल्याणमय, निर्मल, अमोघ, सबका परम वन्दनीय, अनित्य, समस्त कलनाओं से शून्य, कारणों का भी कारण, अनुभवरूप, अवेद्य, ज्ञानस्वरूप, विश्वरूप तथा अन्तर्यामी है।

श्री वसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन यह जगत् न तो कभी परब्रह्म से उत्पन्न होता है और न उसमें लीन ही होता है। इस प्रकार केवल यह सद्ब्रह्म ही सदा अपने आप में प्रतिष्ठित है। पूर्ण से पूर्ण का ही प्रसार होता है; जो पूर्ण में स्थित है, वह पूर्ण ही है। अतः विश्व कभी भी उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है, वह तत्स्वरूप ब्रह्म रूप ही है। उसका आदि-अन्त नहीं है। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है, दूसरे किसी प्रकाश से प्रकाशित होने योग्य नहीं है।

श्रीराम ने पूछा—भगवन् ! अनन्त चेतन स्वरूप उस परमात्मतत्व का कैसा स्वरूप है ?

रघुनन्दन ! महाप्रलय होने पर सम्पूर्ण कारणों का भी कारण परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है। ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता—सामने प्रतीत होनेवाली यह त्रिपुटी जहाँ उदित होती है, जिसमें स्थित रहती है और जिसमें लीन हो जाती है, वही उस परमात्मा का दुर्लभ रूप है।

श्री रामजी ने पूछा—ब्रह्मन् ! जो 'इदम्' रूप स प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है और जिसका आप ब्रह्म में अभाव कहते हैं, वह यह दृश्य-जगत् महाप्रलय होने पर कहाँ स्थित होता है ?

श्री वसिष्ठ जी ने कहा—रघुनन्दन ! जैसे वन्ध्या के पुत्र और आकाश में वन कभी नहीं होते, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण दृश्य-जगत् तीनों कालों में कभी अस्तित्व में नहीं आता। जगत् न कभी उत्पन्न हुआ है और न उसका कभी नाश ही होता है। जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति कैसी और उसके विनाश की चर्चा कैसी ?

श्री रामजी ने पूछा—वन्ध्या-पुत्र और आकाश-वृक्ष की कल्पना तो की ही जाती है। वह कल्पना जैसे उत्पत्ति और विनाश से युक्त हैं, उसी प्रकार यह जगत् भी जन्म और नाश से युक्त क्यों नहीं होगा ?

श्री वसिष्ठजी ने कहा—जैसे सोने के कड़े में सुस्पष्ट दिखायी देने वाला यह कटकत्व वास्तव में है नहीं, सुवर्ण ही उसके रूप में भासित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा में जगत् नाम की कोई वस्तु नहीं है जिसे हम जगत् कहते हैं, वही ब्रह्म है।

श्रीरामजी ने पूछा—ब्रह्मन् ! यदि यह दृश्यरूपी विष उत्पन्न होकर भी स्वप्नगत जगत् के समान मिथ्या ही है, तो इसकी इतनी सुदृढ़ प्रतीति कैसे हो रही है ?

श्रीराम ! यह जगत् सर्वात्मक ब्रह्ममय ही है, ब्रह्म से भिन्न कदापि नहीं। जगत्‌रूप में जो इसकी प्रतीति होती है, वह सर्वथा असत् है। रघुनन्दन ! यह प्रसिद्ध परमात्मा एक ही है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जैसे सुषुप्ति ही स्वप्नवत् प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही सृष्टि के रूप में प्रतीति का विषय हो रहा है। एक पुरुष की वासनामात्र का कार्य होने से स्वप्न की घनी = सुदृढ़ प्रतीति नहीं होती; परन्तु यह प्रपञ्च समष्टि की वासना का कार्य होने के कारण इसकी सुदृढ़ एवं क्रमबद्ध प्रतीति होती है। सर्वात्मक ब्रह्म ही इस प्रपञ्च का अधिष्ठान है।

पञ्चभूतों की जो तन्मात्राएँ हैं, वे ही जगत् का बीज हैं। पञ्चतन्मात्राओं का बीज आदिमाया शक्ति है, जिसका परमात्मा से व्यवधानरहित = साक्षात् सम्बन्ध है तथा वही जगत् की स्थिति में हेतु है। इस प्रकार वह चिन्मय, अजन्मा एवं सबका आदिभूत परमात्मा ही माया द्वारा जगत् का बीज होता है। माया के हट जाने पर वही अपने विशुद्ध रूप से सदा अनुभव में आता है। इसलिए यह जगद्-वैभव चिन्मय परमात्मरूप ही है।

मनोमय शरीरवाला जीव अपने मनोमय देहाकाश में ही स्थूलता की भावना करके स्थूल देहधारी हो गया है। वह अपनी कल्पना के भीतर ही स्थित हुए ब्रह्माण्ड का दर्शन करता है। मनोमय शरीरधारी जीव मन को ही आत्मा समझता है। उस आत्मभूत चित्त से अपने संकल्प के अनुसार अपने ही लिये गर्भरूपी गृह, देश, काल, कर्म तथा द्रव्य आदि की कल्पनाओं की भावना करता हुआ नाम आदि का निर्माता बनकर वह आतिवाहिक देहधारी जीव अपने द्वारा कल्पित विभिन्न नामों से उन-उन पदार्थों को और अपने को भी असत्य जगत्‌रूपी भ्रम में बाँधता है। जैसे मिथ्याभूत स्वप्न में झूठे ही अपना उड़ान प्रतीत होता है, उसी प्रकार असत्य जगत्‌रूपी भ्रम में ही यह जीवात्मा मिथ्या विकास को प्राप्त होता जान पड़ता है। वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ।

यह दृश्य-जगत्, जो आत्मा में सर्वथा कल्पित भ्रमरूप है, शान्त, आधाररहित, आधेय-शून्य, अद्वैत तथा एकत्व के व्यवहार से भी शून्य ब्रह्मरूप ही है। यद्यपि इस जगत्‌रूपी भ्रम की प्रतीति होती है, तथापि उसके रूप में कोई वस्तु

उत्पन्न नहीं हुई है। चारों ओर से शून्य जो निर्मल चेतनाकाश (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है, वही सदा सर्वत्र अपने स्वरूप से स्थित है। उसमें न सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न आधेय है, न दृश्य है न उसमें द्रष्टापन है; न ब्रह्माण्ड है न ब्रह्मा है और न कहीं कोई वितण्डावाद ही है। न जगत् है न पृथ्वी है। यह सम्पूर्ण दृश्य शान्तस्वरूप निर्मल ब्रह्म ही है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा ही अपने में अपने से विकास को प्राप्त होता है।

जैसे तरल होने के कारण जल ही अपने में आवर्त रूप से प्रतीत होता है, उसी प्रकार चित्‌रूप होने के कारण आत्मा ही अपने में जगत्-सा प्रतीत होता है। जगत् इससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। असत् होता हुआ ही यह प्रतीति का विषय होता और यहाँ सत्-सा अनुभव में आता है। अन्त में = महाप्रलय के समय यह असत् होता हुआ ही नष्ट होता है। जैसे स्वप्न में जो अपना मरण दिखायी देता है, वह जाग्रतकाल में असत् ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार अज्ञान अवस्था में प्रतीत होनेवाला यह दृश्य-प्रपञ्चज्ञान होने पर असत् ही सिद्ध होता है अथवा प्रलयकाल में जो इसका संहार होता है, वह स्वप्नावस्था में प्रतीत होनेवाले अपने ही मरण के समान मिथ्या है। अथवा ब्रह्म का अपना ही स्वरूप होने के कारण यह दृश्य-प्रपञ्च सन्मात्र, अनामय, अखण्डित, परिपूर्ण, अनादि, अनन्त तथा चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है।

रघुनन्दन ! इस प्रकार अहंता आदि दृश्यसमूहभूत जगत् वास्तव में कोई वस्तु नहीं है। कभी उत्पन्न न होने के कारण इसका अस्तित्व है ही नहीं और जिसका अस्तित्व है, वह तो परब्रह्म परमात्मा ही है।

केवल एकमात्र शुद्ध चिद्‌घन निर्मल एवं सर्वव्यापक ब्रह्म ही सदा सर्वत्र विराजमान है। वह सर्वशक्तिमान् होने से जिन-जिन कौशलपूर्ण कल्पनाओं की भावना करता है, उन्हें स्वयं ही प्राप्त करता है—स्वयं तद्‌रूप हो जाता है। जैसे हाथ में दीपक लेकर ढूँढा जाय या देखा जाय तो अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसका कहीं पता नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश छा जाने पर अज्ञानरूपी अन्धकार का तत्त्व ज्ञात नहीं होता—उसका पता ही नहीं चलता। इसी प्रकार अखण्ड, व्यवधानशून्य, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा, जो कभी बाधित न होनेवाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अंश से रूपवान् प्रतीत होता है, ब्रह्म ही है—उससे भिन्न नहीं है।

चैतन्यप्रधान अहंकार कर्ता है और स्पन्दप्रधान = हिलना-चलना आदि चेष्टामय प्राणकर्म = क्रिया है। इन दोनों में कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्ता का अपनी क्रियाभेद नहीं देखा जाता। चित् का स्पन्दनमात्र ही क्रिया = प्राण है, उससे संयुक्त पुरुष ही 'जीव' कहा गया है। इस प्रकार जीव और जगत् में भी भेद नहीं है। कार्य-कारण आदि भावरूप जगत् चेतन आत्मा से भिन्न नहीं है। वह चैतन्य प्रकाश की एक झलक मात्र है। अत: जहाँ सब भेदों का लय हो गया है, वह परमात्मा ही जगत् है, यह सिद्ध हुआ।

जगत् चेतनरूपी एकमात्र आकाश की शून्यता है। ब्रह्मरूप से यह सत् है और जगत्‌रूप से असत्। जगत् चेतनरूपी आलोक का महान् रूप है। ब्रह्मदृष्टि से वह सत् है और उससे भिन्न रूप में उसकी सत्ता का सर्वथा अभाव है। ये तीनों लोक सत् आत्मा का स्वरूपभूत होने से सत् है, अन्यथा इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

चिन्मय परमात्मा में अवयव और अवयवी—इन दोनों शब्दों के अर्थ खरगोश के सींग की भाँति असत् हैं। सम्पूर्ण पदार्थ-समूहों के अधिष्ठानभूत चेतन आकाशमय परमात्मा में इस भूताकाशजनित वायु आदि जगत्‌रूपी मल की प्रतीति होती है, परन्तु जब असङ्ग भूताकाश से ही उसके कार्यभूत वायु आदि का सम्बन्ध नहीं है, तब चेतन महाकाश-स्वरूप परमात्मा में इस प्रपञ्च की सत्ता, असत्ता तथा तू, मैं आदि भावों के सम्बन्ध कैसे हो सकते हैं ?

पूर्वकाल में इस भूतल पर पद्म नाम से प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो अपने कुलरूपी सरोवर में प्रफुल्ल कमल के समान शोभा पाते थे। वे राज्यलक्ष्मी से सम्पन्न और अनेक पुत्रों से युक्त होते हुए भी विवेकशील थे। राजा पद्म की पत्नी का नाम था लीला। वह बड़ी सुन्दरी तथा सब प्रकार के सौभाग्य से सम्पन्न थी।

लीला अपने पति की अनन्यप्रिया—एकमात्र वल्लभा थी, उसका अपने पति में अनन्य अनुराग था। ऐसी भार्या के पति महाराज पद्म ने भूतल की अप्सरा-सी मनोहर अपनी उस प्रेयसी के साथ स्वाभाविक प्रेम-रस का आस्वादन करते हुए विहार किया। इस प्रकार सुख में पली हुई राजा की प्रणयिनी और प्रियतमा, सुन्दर भौंहों और शुभ संकल्प से सुशोभित होनेवाली लीला ने एक दिन मन-ही-मन विचार किया कि 'ये मेरे प्राणों से भी अधिक प्रिय पतिदेव पृथ्वीनाथ महाराज, जो जवानी के उल्लास से परिपूर्ण और परम कान्तिमान् हैं, किस उपाय से अजर-अमर हो सकते हैं! मैं तप, जप एवं यम-नियम आदि चेष्टाओं से ऐसा प्रयत्न करूँ, जिससे ये राजा अजर-अमर हो जायँ। पहले मैं ज्ञान, तपस्या और विद्या में बढ़े-चढ़े ब्राह्मणों से पूछती हूँ कि कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे मनुष्यों की मृत्यु न हो। उसने ब्राह्मणों को बुलवाया और उनकी पूजा करके नतमस्तक हो बारंबार पूछा—'विप्रगण! मुझे और मेरे पति को अमरत्व कैसे प्राप्त हो सकता है!'

ब्राह्मण बोले—देवि! तप, जप और यम-नियमों का पालन करने से सिद्धों की समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; परन्तु उनसे अमरत्व कदापि नहीं मिल सकता।

ब्राह्मणों के मुख से यह बात सुनकर अपने प्रियतम के भावी वियोग से भयभीत हो लीला ने अपनी बुद्धि से ही फिर तत्काल इस प्रकार सोचना आरम्भ किया—"यदि दैववश पति के सामने मेरी मृत्यु हो गयी, तब तो मैं सम्पूर्ण दुःखों से छूटकर परमात्मा में सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी; किन्तु यदि सहस्र वर्ष के बाद पहले मेरे पति ही चल बसे तो मैं ऐसा यत्न करूँगी, जिससे उनका जीव घर से बाहर न जा सकेगा। फिर तो मैं अपने अन्तःपुर के मण्डप में, जहाँ मेरे पतिदेव का जीव विचर रहा होगा, पति के दृष्टिपथ में रहकर सदा सुखपूर्वक निवास करूँगी। अपने संकल्प की सिद्धि के लिये मैं आज से ही जप, उपवास और नियमों द्वारा ज्ञानमयी सरस्वती देवी की तबतक आराधना करती रहूँगी, जब तक कि वे पूर्णरूप से संतुष्ट न हो जायँ।"

ऐसा निश्चय कर उस श्रेष्ठ नारी ने अपने स्वामी को बताये बिना ही नियमपरायण हो शास्त्रीय विधि के अनुसार उग्र तपस्या आरम्भ कर दी। तीन-तीन रात बीत जाने पर वह भोजन करती और देवता, ब्राह्मण, गुरु, ज्ञानी एवं विद्वानों की पूजा में तत्पर रहती थी। वह अपने शरीर को सदा स्नान, दान, तप और ध्यान में लगाये रखती थी। सम्पूर्ण शास्त्रीय कर्मों का फल अवश्य मिलता है, ऐसी आस्तिकतापूर्ण बुद्धि से युक्त हो वह सदाचार का पालन करती और पति के क्लेशों का निवारण करने में दत्तचित्त रहती थी। अपनी वर्तमान स्थिति का उसने पति को पता नहीं लगने दिया। इस तरह नियम-पालन से सुशोभित होनेवाली उस भोली-भाली लीला ने लगातार तीन सौ रातों तक कष्टप्रद चेष्टाओं के द्वारा तपस्या का निर्वाह किया। सौ त्रिरात्र व्रतों की पूर्ति हो जाने पर उसके द्वारा पूजित और सम्मानित हो गौरवर्णा भगवती वागीश्वरी सरस्वती सन्तुष्ट हो उसके सामने प्रकट हुईं और बोलीं—बेटी! तुमने जो निरन्तर तपस्या की है, वह तुम्हारी पति-भक्ति के कारण अधिक उत्कर्षशालिनी हो गयी है। उससे मैं तुम पर बहुत सन्तुष्ट हुई हूँ। अतः तुम मुझसे कोई मन वाञ्छित वर ग्रहण करो।

रानी बोली—देवि! आपकी जय हो। अम्ब! मातः! जगदम्बिके! इस दीन सेविका का आप संकट से उद्धार करें। शुभे! मैं आपसे जो दो वर माँगती हूँ, उन्हें मुझे देने की कृपा कीजिये। उनमें पहला वर तो यह है कि जब मेरे पतिदेव का शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इस अन्तःपुर के मण्डप से बाहर न जाय। और महादेवि! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि जब-जब मैं आपसे वर पाने के उद्देश्य से दर्शन देने की प्रार्थना करूँ, तब-तब मुझे अवश्य दर्शन दें।

लीला की यह बात सुनकर जगदम्बा सरस्वती ने कहा—'बेटी! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो।'

कुछ समय पश्चात् किसी शत्रु ने आक्रमण किया और लीला के पति युद्ध में घायल होकर धराशायी हो गए। वे अन्तःपुर में लाये गये और वहीं मर गये। पति के वियोग में अत्यन्त विह्वल हुई लीला के ऊपर दयामयी सरस्वती ने आकाशवाणी के रूप में कृपा की।

श्री सरस्वतीजी ने कहा–बेटी ! अपने पति के शव को तुम फूलों के ढेर में छिपाकर रखो । ऐसा करने से तुम फिर अपने इस पति को प्राप्त कर लेगी । न तो ये फूल मुरझायेंगे और न तुम्हारे पति का यह शव ही सड़-गलकर नष्ट होने पायेगा । फिर थोड़े ही दिनों में यह शव पुनः जीवित होकर तुम्हारे पति का उत्तरदायित्व सँभालेगा । इसका जीव तो आकाश के समान निर्मल है, तुम्हारे इस अन्तःपुर के मण्डप से शीघ्र बाहर नहीं निकल सकेगा । लीला ने वैसा ही किया ।

लीला ने अन्तःपुर के उस मण्डप में विशुद्ध ध्यान से युक्त अन्तःकरण के द्वारा ज्ञानमयी भगवती सरस्वती देवी का बड़े दुःख से आवाहन किया । देवी उसके पास आ गयीं और बोलीं—"बेटी ! तुमने क्यों मेरा स्मरण किया है ? तुम क्यों अपने मन में शोक को स्थान देती हो ?"

लीला ने कहा—देवि ! मेरे पति कहाँ हैं ? क्या करते हैं और कैसे हैं ? मुझे उनके पास ले चलिये । मैं उनके बिना अकेली नहीं जी सकती ।

श्री सरस्वतीजी बोलीं—सुमुखि ! एक शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप आकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा यह सुप्रसिद्ध भूताकाश है । चित्ताकाश और भूताकाश—इन दोनों से जो सर्वथा शून्य है, उसी को तुम चिन्मय आकाश समझो । तुमने जो अपने पति के रहने आदि का स्थान पूछा है, वह चेतन आकाशमय कोश ही है । सुन्दरि ! तत्त्व यद्यपि इस जगत् के अत्यन्ताभाव बोध होने पर ही सुलभ होता है, दूसरे किसी उपाय से नहीं, तथापि तुम मेरे वरदान के प्रभाव से उसे शीघ्र प्राप्त कर लोगी । यह कहकर देवी सरस्वती अपने दिव्य धाम को चली गयीं और लीला लीलापूर्वक ही निर्विकल्प समाधि में स्थित हो गयी ।

रानी ने निर्विकल्प समाधि के द्वारा चेतनाकाश में स्थित होकर उसी राजप्रासाद के आकाश में राजा पद्म को सिंहासन पर विराजमान देखा । वे अपनी वासना और कर्मों के अनुसार देह-गेह एवं वैभव से सम्पन्न थे ।

पहले की सारी जनता और समस्त पुरवासियों को भी वहाँ देखकर सुन्दरी लीला चिन्ता के वशीभूत हो गयी । वह सोचने लगी—"क्या उस नगर में रहनेवाले सब-के-सब मर गये ।" फिर सरस्वती देवी की कृपा से बोध प्राप्त हुआ । उसकी समाधि टूट गयी और क्षणभर में पहले के अन्तःपुर में अवस्थित हो गयी । उसने वहाँ आधी रात के समय सब लोगों को पूर्ववत् सोते देखा । फिर उसने नींद में पड़ी हुई सखियों को उठाया और कहा - "मुझे बड़ा दुःख हो रहा है, अतः तुमलोग सभाभवन में मुझे स्थान दो । यदि मैं पतिदेव के सिंहासन के पास बैठूँ और समस्त सभासदों को वहाँ पूर्ववत् उपस्थित देखूँ, तभी जीवित रह सकती हूँ, अन्यथा नहीं ।"

रानी के कहने पर सारा-का-सारा राजपरिवार जाग उठा और क्रमशः सबलोग अपने-अपने सर्वस्वभूत कार्य-कलाप में जुट गये । राजा के सिंहासन के पास ही रानी लीला एक नूतन सुवर्णमय विचित्र आसन पर विराजमान हुई । उसने पहले की ही भाँति यथास्थान बैठे हुए पूर्वपरिचित समस्त नरेशों, गुरुजनों, श्रेष्ठ पुरुषों, मित्रों, सदस्यों, सुहृदों, सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवों को देखा । राजा के राष्ट्र में निवास करनेवाले सभी लोगों को वहाँ पूर्ववत् ही देखकर रानी को बड़ी प्रसन्नता हुई ।

रघुनन्दन ! रानी लीला सभाभवन से उठ गयी और अन्तःपुर में प्रवेश कर निवास के पूर्वोक्त मण्डप में फूलों से ढके हुए पति के पास जा पहुँची तथा मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—'अहो ! यह तो बड़ी विचित्र माया है । ये हमारे पुरवासी मनुष्य इस बाह्य प्रदेश में और उस अन्तरदेश में भी विद्यमान हैं । ताल, तमाल और हिंताल आदि वृक्षों से घिरे हुए ये पर्वत जैसे वहाँ है, उसी तरह यहाँ भी हैं । यह बड़ी ही आश्चर्यजनक माया फैली हुई है । जैसे

दर्पण में पर्वत उसके भीतर और बाहर भी स्थित प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतन-आकाशरूपी दर्पण में भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है। उनमें से कौन सृष्टि भ्रान्तिमयी है और कौन वास्तविक, इस संदेह को मैं वागीश्वरी देवी की पूजा करके उन्हीं से पूछती हूँ, जिससे उनके उपदेश से संशय का निवारण हो जाय। ऐसा निश्चय कर रानी ने उस समय देवी का पूजन किया और देखा—देवी सरस्वती कुमारीरूप धारण करके सामने आ गयी हैं। तब लीला परमार्थ महाशक्तिस्वरूपा देवी को सिंहासन पर विराजमान करके स्वयं उनके सामने पृथ्वी पर खड़ी हो गयी और इस प्रकार पूछने लगी।

परमेश्वरि ! मैं आपके सामने विनम्र होकर जो कुछ पूछ रही हूँ, उसे बताइये। यह त्रिलोकी का प्रतिबिम्ब-वैभव बाहर भी स्थित है और भीतर भी। इनमें कौन कृत्रिम (झूठा) है और कौन अकृत्रिम (सच्चा)। देवि अम्बिके ! जैसे मैं यहाँ खड़ी हूँ और आप यहाँ बैठी हैं, देवेश्वरी ! इसी को मैं सच्ची सृष्टि समझती हूँ। परन्तु जहाँ इस समय मेरे पतिदेव विराजमान हैं, उस सृष्टि को मैं कृत्रिम समझती हूँ; क्योंकि वह सूना है। उससे देश, काल और व्यवहार की पूर्ति (सिद्धि) नहीं होती।

बेटी ! अकृत्रिम सृष्टि से कदापि कृत्रिम सृष्टि नहीं उत्पन्न होती। कहीं भी कारण से विलक्षण सर्वथा भिन्न कार्य का उदय नहीं होता।

माताजी ! मुझे तो कारण से कार्य सर्वथा विलक्षण दिखायी देता है। मिट्टी का लोंदा जल-धारण करने में असमर्थ है; किन्तु उसी से उत्पन्न हुआ घड़ा का जल आधार बन जाता है।

सुमुखि ! बताओ तो सही—इस सृष्टि के अन्तर्गत जो पृथ्वी आदि तत्त्व हैं, उनमें से कौन-सा तत्त्व तुम्हारे पति की सृष्टि का कारण है ?

देवि ! मेरे पति की वह स्मृति ही उस रूप में वृद्धि को प्राप्त हुई है, अतः मैं स्मृति को ही उस सृष्टि का कारण समझती हूँ। उसी से यह सृष्टि हुई है, ऐसा मेरा निश्चय है।

अबले ! स्मृति तो आकाश की भाँति शून्यरूप है। जैसे स्मृति शून्य है, उसी प्रकार उससे उत्पन्न तुम्हारे पति की सृष्टि भी शून्य ही है। वह उस रूप में अनुभव में आने पर भी शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

देवि ! जैसे आपने मेरे पति की सृष्टि को स्मृतिमात्र—शून्यरूप बताया है, उसी तरह मैं इस सृष्टि को भी स्मृतिमात्र एवं शून्यरूप ही समझती हूँ। समाधि में देखी गयी वह सृष्टि ही मेरी ऐसी मान्यता का उदाहरण है।

बेटी ! ठीक ऐसी ही बात है। वह सृष्टि असत् होने पर भी (उसका आश्रयभूत चेतन आत्मा ही) तुम्हारे पति के उन-उन भावों से उस रूप में प्रकाशित होता है। इसी तरह यहाँ यह सृष्टि भी मिथ्या ही है (तथापि उसका आश्रयभूत चेतन आत्मा) जीव के विभिन्न भावों के अनुसार इस रूप में भासित होता है।

देवि ! जैसे इस सृष्टि से मेरे पति की भ्रमरूप अमूर्त सृष्टि हुई, वह प्रकार मुझे बताइये; जिससे मेरा यह जगत् रूपी भ्रम दूर हो जाय।

जिस प्रकार पूर्व सृष्टि की स्मृति से उत्पन्न हुई यह भ्रमरूपिणी सृष्टि स्वप्न-भ्रम के तुल्य प्रतीत होती है, उस प्रकार मैं तुमसे इस विषय का प्रतिपादन करती हूँ, सुनो। चिन्मय आकाश में कहीं (अज्ञान से आवृत भाग में और उसके भी) किसी एक देश में विधाता के अन्तःकरण के एक अंश में संसाररूपी मण्डप है, उस मण्डप के किसी एक

आकाशरूपी कमरे के भीतर एक कोने में पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले के नीचे एक छोटा-सा गड्ढा है, जो पर्वतसम्बन्धी छोटा-सा गाँव है। नदी, पर्वत और वनों से घिरे हुए उस ग्राम के भीतर एक धर्मपरायण नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण अपने स्त्री-पुत्रों के साथ रहते थे। उन्हें वहाँ गाय का दूध सुलभ था। वे राजा के भय से सर्वथा मुक्त थे तथा वहाँ आनेवाले सभी प्राणियों का वे आतिथ्य-सत्कार करते थे।

बेटी! वे ब्राह्मण धन-सम्पत्ति, वेश-भूषा, अवस्था, कर्म, विद्या, विभव और चेष्टाओं की दृष्टि से साक्षात् वसिष्ठ मुनि के समान थे। उनका नाम भी वसिष्ठ ही था। उन्हें चाँद जैसी भार्या प्राप्त थी, जिसका नाम अरुन्धती था। एक दिन उन ब्रह्मर्षि ने, जो उस पर्वत के शिखर पर हरी-हरी घासों से ढकी हुई समतल भूमि पर बैठे हुए थे, नीचे एक राजा को देखा, जो अपने सारे परिवार के साथ शिकार खेलने की इच्छा से जा रहे थे। वे अपनी उस विशाल सेना के महान् घोष से मानो मेरु पर्वत को भी विदीर्ण कर देना चाहते थे। उस सेना के महान् कोलाहल से दिग्भ्रम-सा हो जाने के कारण सभी दिशाओं के प्राणियों के समुदाय भाग रहे थे—जल के भँवर के समान एक-एक स्थान पर चक्कर काट रहे थे। उन भूपालों को देखकर ब्राह्मण ने मन-ही-मन यह विचार किया—'अहो! राजा का पद बड़ा ही रमणीय है। उस पद पर प्रतिष्ठित मनुष्य सम्पूर्ण सौभाग्यों से उद्भासित हो उठता है। कब ऐसा समय आयेगा जब कि मैं भी पैदल, रथ, हाथी और घोड़ों से संकुल चतुरंगिणी सेना, पताका, छत्र और चँवर से सम्पन्न हो दस दिशारूपी कुञ्जों को परिपूर्ण करने वाला राजा होऊँगा।' उसी दिन से ब्राह्मण के मन में इस तरह का संकल्प होने लगा। वे जबतक जीवित रहे, प्रतिदिन आलस्य छोड़कर स्वधर्म-पालन में लगे रहे। तत्पश्चात् उनके शरीर को जर्जर बना देने के लिए जर्जरित अंगवाली जरावस्था बड़े आदर के साथ उन ब्राह्मण देवता के पास आयी। जब वे मृत्यु के निकट पहुँच गये, तब उनकी पत्नीको बड़ी चिन्ता हुई। उस कल्याणमयी ब्राह्मणपत्नी ने तुम्हारी ही भाँति मेरी आराधना की। अमरत्व को अत्यन्त दुर्लभ मानकर उसने मुझसे यह वर माँगा—'देवि! मरने पर मेरे पतिका जीव अपने मण्डप से बाहर न जाय।' अतः मैंने उसके उसी वर को स्वीकार कर लिया। कालवश ब्राह्मण का शरीर छूट गया। फिर उसी घर के आकाश में वह ब्राह्मण का जीवात्मा स्थित रहा। पूर्वजन्म के सुदृढ़ और महान् संकल्प से वह ब्राह्मणी का पति स्वयं सर्वशक्तिशाली राजा बन गया। उसने अपने प्रभाव से भूमण्डल पर विजय प्राप्त कर ली। उसका प्रताप स्वर्गलोक तक फैल गया और उसने कृपा करके पाताललोक का भी पालन किया। इस प्रकार वह त्रिलोक विजयी नरेश हो गया। उधर उस ब्राह्मण के मृत्युमुख में पहुँच जाने पर उसकी पत्नी ब्राह्मणी शोक से अत्यन्त कृश हो गयी। उड़द की सूखी छीमी के समान उसके हृदय के दो टुकड़े हो गये। पति के साथ ही मरकर अपने शरीर को दूर छोड़ वह आतिवाहिक देह मानस शरीर के द्वारा पति के पास जा पहुँची। उस पर्वत-ग्राम में मरे हुए इस ब्राह्मण के घर हैं, भूमि-वृक्ष आदि स्थावर सम्पतियाँ हैं तथा मृत्यु के बाद से उसका जीव उस पर्वतीय ग्राम के गृह-मण्डप में विद्यमान है।

देवी सरस्वती ने कहा—कल्याणि! वही ब्राह्मण अब राजा होकर तुम्हारा पति हुआ है और जो अरुन्धती नामवाली ब्राह्मणी थी, वह तुम हो। तुम्हीं दोनों सुन्दर दम्पत्ति यहाँ पर राज्य करते हो। तुम्हारे पूर्वजन्म का यही सारा सृष्टिक्रम है, जिसे मैंने कह सुनाया। ब्रह्मरूप आकाश में जीवभाव की भ्रान्ति होने से ही यह सब कुछ प्रतीत होता है। इसलिए कौन सृष्टि भ्रमरूप है और कौन भ्रम से रहित है? सारी सृष्टि ही अनर्गल अनर्थ-बोध के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

रघुनन्दन! देवी सरस्वती का यह वचन सुनकर लीला के सुन्दर नेत्र आश्चर्य से खुल उठे। वह इस प्रकार बोली—देवि! आपकी बात तो सत्य ही होगी। मैं उसे मिथ्या कहने का साहस नहीं कर सकती; परन्तु ऐसी विरुद्ध बात कैसे सम्भव हो सकती है? कहाँ ब्राह्मण जीव अपने घर में है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेश में हमलोग स्थित हैं। फिर वे ब्राह्मण-दम्पत्ति हमलोग कैसे हो सकते हैं?

सुन्दरि ! मैं यह झूठ नहीं कह रही हूँ । तुम ध्यान देकर यथावत् रूप से इस विषय को सुनो । दूसरों के द्वारा तोड़ी जाने वाली धर्म की जिस मर्यादा को मैं स्वयं ही स्थापित करती हूँ, उसी का यदि मैं भेदन करूँ तो दूसरा कौन पालन करेगा ? उस पर्वतीय गाँव के ब्राह्मण का वह जीवात्मा अपने उसी घर के आकाश में चिदाकाश रूप होकर ही इस कल्पित महान् राष्ट्र को देख रहा है ।

बेटी ! उस पर्वतीय गृह के आकाशरूपी कोश में स्थित तुम्हारा जो यह घर है तथा जो मैं हूँ और तुम हो— यह सब कुछ तुम केवल चिन्मय आकाशरूप ब्रह्म ही समझो ।

लीले ! मरणकाल की मिथ्याभूत मूर्च्छा का अनुभव करके जब जीव पूर्वजन्म के सभी भावों को भुला देता है और दूसरे नूतन भाव को देखने या अनुभव करने लगता है, तभी वह पलक मारते-मारते मनमें यह स्मरण करने लगता है कि मैं आधेय हूँ और इस आधार में स्थित हूँ । उसे जान पड़ता है कि 'मैं इस पिता का पुत्र हूँ । इतने वर्षों की मेरी अवस्था हो गयी । ये मेरे मनोरम भाई-बन्धु हैं । यह मेरा रमणीय घर है । जब मेरा जन्म हुआ, तब मैं बालक था और अब बढ़ कर ऐसा हो गया हूँ ।'

स्वप्न में द्रष्टा और दृश्यरूप से जो विभिन्न पदार्थ कल्पित होते हैं, उन सबमें अदृश्यरूप से जो चेतन स्थित होता है, वही उन स्वप्नगत पदार्थों का बोध होने पर एक-रस चेतनरूप से पुनः दृष्टिगोचर–अनुभव का विषय होता है । चूँकि जलमें लहरों के समान चेतन में ही यह जगत् भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है ।

श्री सरस्वती जी ने कहा—जैसे आँख खोलने पर प्राणी को सारे रूप अच्छी तरह दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार मृत्युरूपी मूर्च्छा के दूर होने पर जीव को शीघ्र ही सम्पूर्ण लोकों का पूर्णतः भान होने लगता है । विश्व का अत्यन्त विस्तृत हो जाना ही मोक्ष कहलाता है । उस अवस्था में किसी के लिये भी कोई प्रिय और अप्रिय नहीं रह जाते । अहंत और जगत् की आधारभूत अविद्या का अत्यन्त अभाव हुए बिना मोक्ष स्वाभाविक रूप से विद्यमान होता हुआ भी उदित नहीं होता ।

इस तरह विचार करने से यह सिद्ध हुआ कि कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ । जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूप से प्रतीत होता है, वह भी चिन्मय परमात्मा ही है । केवल चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है ।

देवि ! वह ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणी के साथ पूर्वसृष्टि के जिस गाँव और घर में रहता था, उस सृष्टि के उसी पर्वतीय ग्राम में आप मुझे ले चलिये । मैं उसे देखना चाहती हूँ ।

लीले ! चेत्यरहित चिन्मय परमात्मरूप जो परम पावन दृष्टि है, उसका अवलम्बन कर तुम इस आकार का– इस देह के अभिमान का त्यागकर निर्मल हो जाओ । तात्पर्य यह कि पूर्वसृष्टि की उस वस्तु को देखने के लिए इस शरीर को भूल जाना आवश्यक है । इस प्रकार जब तुम देहाभिमानरूप मल से रहित हो जाओगी, तब हम दोनों साथ-साथ रहकर बिना किसी रुकावट के उस सृष्टि को देखेंगे । बेटी ! ये तीनों लोक मायामय होने के कारण अमूर्त हैं । मिथ्या आग्रह और अज्ञान के कारण ये तुम्हें मूर्तिमान् प्रतीत होते हैं, जैसे सुवर्ण को लोग अँगूठी के रूप में देखते हैं ।

देवि ! आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणी के जगत् में हम दोनों साथ-साथ चलेंगी; परंतु माताजी ! मैं यह पूछती हूँ कि हम दोनों का साथ-साथ चलना कैसे हो सकता है । मैं तो इस शरीर को यहीं स्थापित करके शुद्ध सत्त्व का अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा उस उत्तम आकाशमय लोक में चली जाऊँगी । परंतु आप अपने इसी शरीर से वहाँ कैसे जायँगी ?

बेटी ! जैसा तुम्हारा संकल्पमय आकाश, वृक्ष आदि सांकल्पिक सत्ता से सत् होता हुआ भी वास्तव में शून्य-रूप ही है, उसी तरह शुद्ध सत्त्वगुण का कार्यभूत जो मेरा शरीर है, यह चेतन परमात्मा का ही प्रकाश है।

लीला ने पूछा—देवि ! कृपया यह बताइये कि इतने दीर्घकाल से किसने हमलोगों को द्वैत और अद्वैत के द्विविध विकल्पों द्वारा भ्रम में डाल रखा है।

चंचले ! तुम चिरकाल से अविचार द्वारा व्याकुल होकर भटक रही हो। अविचार स्वभाव से उत्पन्न होता है और विचार से उसका नाश हो जाता है। विचार द्वारा अविचार का पलक मारते-मारते नाश हो जाता है। यह अविचार रूप अविद्या विचार या विवेक से बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है—ब्रह्म के सत्-स्वरूप का प्राप्ति हो जाती है। इसलिए अविद्या का अस्तित्व नहीं है।

लीले ! यद्यपि स्वप्नावस्था में स्वप्न के शरीर का अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है—ऐसा ज्ञान होने से जैसे स्वप्न-शरीर वास्तविक नहीं रहता, मिथ्या ठहरता है, उसी तरह यद्यपि इस स्थूल शरीर का पहले अनुभव होवा है तथापि इसे स्वप्नवत् मान लेने पर वासनाओं का क्षय होने से यह भी 'असत्' बाधित ही हो जाता है।

लीले ! जब पूर्ण अभ्यास करने से तुम्हारा यह अहंभाव शान्त हो जायेगा, तब तुम्हारी स्वभाविक चैतन्य-रूपता, जो इस दृश्य-प्रपंच की चरम अवधिभूत है, उदित एवं विकसित हो जायगी। जब आतिवाहिकता शरीर की सूक्ष्मता का ज्ञान सदा के लिये स्थायी हो जायगा, तब तुम संकल्पदोष से रहित पावन लोकों का साक्षात्कार कर सकोगी।

देवि ! आपने मुझे यहाँ उस निर्मल ज्ञान का उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्र से ही दृश्यरूपी हैजे की बीमारी शान्त हो जाती है। कृपया मुझे यह बताइये कि वह अभ्यास क्या है, कैसा है, अथवा कैसे वह पुष्ट होता है और उसके पुष्ट हो जाने पर क्या होता है।

बेटी ! जिस पुरुष के द्वारा जिस-जिस साधन से जब-जब जो भी कार्य किया जाता है, वह अभ्यास के बिना कभी सिद्ध नहीं होता। सच्चिदानन्दघन परमात्मा का चिन्तन करना, जिज्ञासुओं के प्रति उसका वर्णन करना, आपस में एक-दूसरे को ब्रह्म के तत्त्व का बोध कराते रहना तथा उस एकमात्र ब्रह्म के ही परायण हो जाना—इसे ही विद्वान् लोग ब्रह्मविषयक अभ्यास समझते हैं।

रघुनन्दन ! वे दोनों श्रेष्ठ देवियाँ सरस्वती और लीला उस आधी रात के समय जब समस्त परिजन सो गये थे, बातचीत कर अन्तःपुर के मण्डप में जो मुरझाये नहीं थे, ऐसी फूलों की मालारूपी वस्त्र से ढके हुए राजा के शव के पास ही एक आसन पर बैठ गयीं। वे समाधि में स्थित हो ऐसी निश्चल हो गयीं मानो रत्न के बने हुए खंभे में खुदी हुई दो मूर्तियाँ हों अथवा दीवाल में अंकित किये गये दो सुन्दर चित्र हों। निर्विकल्प समाधि लग जाने से वे बाह्यज्ञान से शून्य हो गयीं। पहले उन दोनों को 'मैं जगत्' इस भ्रमरूप दृश्य की अनुत्पत्ति का बोध हुआ, अर्थात् उन्होंने भी अनुभव किया कि जगत् की कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं। जब ऐसा अनुभव हुआ, तब उन्हें इस दृश्य-प्रपंच के अत्यन्ता-भाव का निश्चयात्मक ज्ञान हो गया। फिर तो उन दोनों की दृष्टि से यह दृश्यरूपी पिशाच पूर्णतया ओझल हो गया।

ज्ञान की देवी सारस्वतो अपने उसी ज्ञानमय शरीर से विचरण करने लगीं परन्तु मानव रानी लीला ने मानव देह के अभिमान का त्याग कर ध्यान और ज्ञान के अनुरूप दिव्य शरीर का आश्रय ले उसीके द्वारा तीव्र गति से आकाश में विचरना आरम्भ किया।

तदनन्तर वे दोनों देवियाँ यथाशक्ति यत्र-तत्र विश्राम करती हुई धीमी चाल से आगे बढ़ने लगीं। उन्होंने ा, आकाश-मण्डल बड़े-बड़े भुवनों और वहाँ के निवासियों के निर्माण कार्य से अत्यन्त भर गया है—अवकाश-ा है। कहीं रुद्रपुर, कहीं ब्रह्मपुर और कहीं मायानिर्मित पुर वहाँ दृष्टिगोचर होते थे। कहीं सिद्धों के समुदाय

विचर रहे थे। कहीं वह आकाश ज्ञानी पुरुष के हृदय की भाँति दृश्यभ्रम से अत्यन्त शून्य, उज्ज्वल, आवरणरहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त, स्वच्छ एवं विस्तृत था।

रघुनन्दन! आकाश से किसी पर्वतीय ग्राम को जाती हुई उन दोनों स्त्रियों ने उसी भूतल को देखा, जो ज्ञान की देवी सरस्वती के मन में था—जिसे वह लीला को दिखाना चाहती थीं। सागर, बड़े-बड़े पर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतल से परिवेष्ठित जगत् के मध्य भाग का अवलोकन करके मानव-कन्या रानी लीला ने तुरन्त ही अपने मन्दिर के आधरभूत पर्वतीय ग्राम का वह स्थान देखा।

इस प्रकार वे दोनों सुन्दरियाँ, जहाँ राजा पद्म रहते थे, उस ब्रह्माण्डमण्डल से निकलकर दूसरे ब्रह्माण्ड में जा पहुँचीं, जहाँ वसिष्ठ नामक ब्राह्मण का घर था। वे दोनों ही स्त्रियाँ सिद्ध थीं। उन्होंने दूसरे लोगों से अदृश्य रहकर ही ब्राह्मण के निवासभूत मण्डप को, जो उनका अपना ही घर था, देखा। वह घर गृहस्वामी के वियोग से हतप्रभ हो गया था। उसके मुख अर्थात् द्वार की कान्ति करुणा से व्याप्त थी और उसका विनाश निकट था।

रघुनन्दन! सुन्दरी लीला चिरकाल तक सुन्दर ज्ञान का अभ्यास करने के कारण देवता की भाँति सत्यसंकल्प और सत्यकाम हो गयी थी—वह जो चाहती, वही हो जाता था। उसने सोचा, ये मेरे बन्धुजन मुझको और इन देवी सरस्वती को साधारण स्त्री के रूप में देखें। उसके ऐसा संकल्प करते ही उस घर के लोगों ने वहाँ दो दिव्याङ्गनाओं को देखा, जो उस घर को अपनी प्रभा से उद्भासित कर रही थीं। वे दोनों लक्ष्मी और पार्वती की जोड़ी-सी जान पड़ती थीं। ज्येष्ठशर्मा ने घर के अन्य लोगों के साथ यह कहकर कि 'आप दोनों वनदेवियों को नमस्कार है' उन दोनों के लिए पुष्पाञ्जलि छोड़ी।

ज्येष्ठशर्मा बोले—वनदेवियों! आप दोनों की जय। निश्चय ही आप हमारे दुःखों का नाश करने के लिए आयी हैं।

ज्येष्ठशर्मा आदि के ऐसा कहने के पश्चात् वे दोनों देवियाँ बड़े आदर से बोलीं—"तुम सबलोग अपना वह दुःख बताओ, जिससे यह सारा जनसमुदाय दुःखी दिखायी देता है।" तब उन ज्येष्ठशर्मा आदि ने उन दोनों देवियों से क्रमशः ब्राह्मणदम्पती के मरणरूप अपना सारा दुःख निवेदन किया।

ज्येष्ठशर्मा आदि बोले—देवियो! यहाँ दो ब्राह्मण पति-पत्नी रहते थे, जिनका आपस में बड़ा स्नेह था। वे यहाँ पधारे हुए सभी लोगों का आतिथ्य-सत्कार करते थे। हमारी इस कुल-परम्परा के प्रवर्तक भी वे ही थे। द्विजातियों की मर्यादा के तो वे स्तम्भ ही थे। वे ही दोनों हमारे माता-पिता थे। इस समय पुत्रों, बन्धु-बान्धवों और पशुओं सहित इस घर को त्यागकर वे दोनों स्वर्गलोक को चले गये हैं, इससे हमें तीनों लोक सूने दिखायी देते हैं। इसलिए देवियो! आप दोनों पहले हमारे इस शोक का निवारण करें, क्योंकि महात्माओं के दर्शन कभी निष्फल नहीं होते।

पुत्र ज्येष्ठशर्मा जब कह चुका, तब माता लीला ने अपने हाथ से उसके मस्तक का स्पर्श किया। उसके उस स्पर्श से ज्येष्ठशर्मा के दुःख-दुर्भाग्यरूपी संकट का तत्काल निवारण हो गया। घर के सभी लोग उन दोनों देवियों के दर्शन से अमृत पीनेवाले देवताओं के समान दुःख से मुक्त हो दिव्य शोभा से सम्पन्न हो गये।

श्रीरामजी ने पूछा—भगवन्! माता लीला ने अपने पुत्र ज्येष्ठशर्मा को उसकी माता के रूप में ही उसे क्यों नहीं दर्शन दिया? आप पहले मेरे इस मोह = सन्देह का ही निराकरण कीजिए।

रघुनन्दन! मनुष्य जैसी भावना करता है, उसके अनुसार ही इन पदार्थों का अभ्यासजनित स्वरूप दिखायी देता है, किसी भी पदार्थ का वास्तव में कोई एक रूप नहीं है। दृश्य-प्रपञ्च तो सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह अजन्मा ब्रह्म ही है। ऐसे यथार्थ ज्ञानवाले लोगों को राग-द्वेष से युक्त दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है।

रघुनन्दन ! उस पर्वत के तटप्रान्त में बसे हुए ग्राम के भीतर उस ब्राह्मण के गृहरूपी आकाश में ही खड़ी हुई वे दोनों स्त्रियाँ सहसा अदृश्य हो गयीं । उस घर के लोगों ने समझा कि दोनों वनदेवियों ने हम पर बड़ी भारी कृपा की है, अतः उनका सारा दुःख मिट गया और वे अपने-अपने काम-धन्धों में लग गये ।

श्रीसरस्वतीजी बोलीं—बेटी ! तुमने ज्ञातव्य वस्तु को पूर्णरूप से जान लिया है, द्रष्टव्य पदार्थों को देख लिया है। इस प्रकार की यह ब्रह्मसत्ता है । बताओ, अब और क्या पूछती हो ?

लीला ने पूछा—देवि ! मेरे मृतपति का जीव जहाँ पर राज्य करता है, वहाँ पर मुझे उनलोगों ने क्यों नहीं देखा ? और यहाँ मेरे पुत्र ने कैसे देख लिया ?

सुन्दरि ! मैं लीला हूँ—ऐसा जो तुम्हारा दृढ़ संस्कार था, वह पहले नष्ट नहीं हुआ था; क्योंकि उस संस्कार को मिटाने के लिए तुमने वैसा अभ्यास नहीं किया। जब तक वह संस्कार बना था, तब तक तुम्हारी सत्य-संकल्पता प्रकट नहीं हुई थी । अब वह संस्कार मिट जाने से तुम सत्य-संकल्प हो गयी हो । इसलिए जब तुमने यह अभिलाषा की कि मेरा पुत्र मुझे देखे, तब तुम्हारा वह मनोरथ तत्काल सफल हुआ । इस समय यदि तुम अपने पति के समीप जाओ तो उसके साथ भी तुम्हारा सारा व्यवहार पहले की ही भाँति होने लगेगा ।

लीला बोली—देवि ! इसी मण्डप के आकाश में मेरे पतिदेव ब्राह्मण उत्पन्न हुए और इसी में मृत्यु को प्राप्त होकर राजा हो गये । अन्य भूमण्डलरूप उनका वह संसार भी यहीं है। इनमें जो उनकी राजधानी का नगर है, उसमें मैं उनकी राजमहिषी के रूप में स्थित हूँ। यहीं उस अन्तःपुर में मेरे पति राजा पद्म की मृत्यु हुई और इसी अन्तःपुर के आकाश में वह नगर है, जिसमें वे पुनः राजा हुए हैं। ब्रह्माजी से उत्पन्न होने के पश्चात् आज तक विभिन्न योनियों में जो मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, उनमें से आठ सौ जन्मों को तो मैं इस समय पुनः देख-सी रही हूँ, उनकी सारी बातों का स्पष्टरूप से स्मरण कर रही हूँ। देवि ! पहले किसी दूसरे संसार-मंडल में मैं लोकान्तररूपी कमल की भ्रमरी—विद्याधरराज की धर्मपत्नी हुई थी । उन दिनों मेरा हृदय दुर्वासनाओं से दूषित था । इसलिए उसके बाद मैं मनुष्ययोनि में उत्पन्न हुई, तदनन्तर दूसरे संसार-मंडल में मैं नागराज की भार्या हुई । इसके बाद कदम्ब, कुन्द, जम्बीर और करञ्जों के वन में निवास करनेवाली तथा वृक्षों के पत्तों को ही वस्त्र के रूप में धारण करनेवाली काली-कलूटी भीलनी हुई ।

पुरुषत्वरूपी फल देनेवाले कर्मों के परिणामस्वरूप मैं सौ वर्षों तक सौराष्ट्र देश में श्रीसम्पन्न राजा होकर रही । फिर राजा-शरीर से बने हुए दुष्कर्म-दोष के कारण ताड़ वृक्ष के नीचे किसी नदी के कछार में नौ वर्षों तक नेवली की योनि में रही। उस समय मेरे सारे अंग कुष्ठरोग से नष्टप्राय हो गये थे। देवि ! उसके बाद मैं सौराष्ट्र देश में आठ वर्षों तक गौ का शरीर धारण करके रही । उस योनि में दुर्जन, दुष्ट, अज्ञ और बालक ग्वालों की मारने-पीटने आदि क्रीडाओं का साधन बनी रही । फिर क्रमशः पक्षिणी, भ्रमरी, मनोहर नेत्रवाली हरिणी, मछली, पुलिन्द जाति की स्त्री, सारसी और राजहंसी हुई । इस प्रकार नाना प्रकार के शत-शत दुःखों से संकुल अनेकानेक योनियों में मैंने भ्रमण किया है। तराजू के पलड़े की भाँति कभी ऊँचे उठने और कभी नीचे गिरने से मेरे सारे अंग व्याकुल होते रहे हैं। मैं संसाररूपी विशाल सरिता की चंचल तरंग बनकर उठती और विलीन होती रही हूँ। जैसे वातप्रमी जाति की हरिणी की गति को रोकना कठिन है, उसी प्रकार मैं दुर्निवार्य आवागमन की परम्परा में पड़कर क्रमशः विभिन्न योनियों में भटकती आयी हूँ।

देवि ! इस देश को देखकर मैं आपकी कृपा से अपने पूर्वजन्म की उन सभी विविध चेष्टाओं का स्मरण करती हूँ, जो यहाँ घटित हुई हैं । मैं यहीं बूढ़ी ब्राह्मणी के रूप में रहती थी। मेरे सारे अंग उभरी हुई नस-नाड़ियों से व्याप्त दिखायी देते थे। मैं बहुत दुबली-पतली थी । मेरा शरीर गौर और बाल सफेद थे । मेरी हथेली सूखे कुशों के अग्रभाग से छिन्न-भिन्न होती रहने के कारण रूखी हो गयी थी । मैं अपने पतिदेव के कुल की वृद्धि करनेवाली भार्या थी ।

रघुनन्दन ! यह कहकर उस पर्वतीय ग्राम के भीतर भ्रमण करती हुई लीला ने अपने साथ विचरती हुई सरस्वती देवी को मन्द मुस्कान के साथ वहाँ की एक-एक वस्तु को दिखाया । "देवि ! इस घर के आकाश में ही वह मेरे

पति का जीव राजा के रूप में रह रहा है। यहीं अंगुष्ठमात्र गृहाकाश के भीतर ही स्थित परमार्थ वस्तु परब्रह्म को मैंने भ्रम से करोड़ों योजन विस्तृत पति का राज्य समझा था। जगदीश्वरि ! हम दोनों चेतन आकाशरूप परमात्मा ही हैं। मेरे पति का राज्य, जो सहस्रों पर्वतों से भरा हुआ है, आकाश में ही स्थित है। यहाँ बहुत बड़ी माया फैली हुई है। इसलिये देवि ! अपने पति के नगर में जाने की पुनः मेरी इच्छा हो रही है। अतः चलिये, हम दोनों वहाँ चलें। जिन्होंने कहीं जाने का निश्चय कर लिया हो, उनके लिये वह स्थान क्या दूर है !"

लीला ने देवी को प्रणाम किया और शीघ्र ही गृह-मण्डप में प्रवेश कर सरस्वती देवी के साथ वह आकाश में उड़ चली। वे प्रवह आदि सात वायुओं के लोक में जा पहुँचीं। फिर वहाँ से सौरमार्ग तथा चन्द्रमार्ग को लाँघती हुई वे ध्रुवमार्ग से भी ऊपर पहुँच गयीं। इसके बाद साध्यों के मार्ग से ऊपर उठकर सिद्धों की भूमिका को भी लाँघ गयीं और स्वर्गमण्डल को भी लाँघकर अत्यन्त दूर जाने पर लीला को कुछ बोध हुआ। फिर उसने पीछे फिरकर पार किये हुए आकाश-स्थल का अवलोकन किया। वहाँ से नीचे देखने पर चन्द्रमा, सूर्य और तारा आदि कुछ भी नहीं दिखायी देते थे। केवल अन्धकार-ही-अन्धकार था।

देवि ! बताओ, सूर्य आदि का तेज नीचे कहाँ चला गया ?

बेटी ! तुम इतनी दूर आकाश-मार्ग में आ गयी हो कि यहाँ से सूर्य आदि तेज भी नहीं दिखायी देते।

देवि ! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। क्या हम दोनों आकाश-मार्ग में इतनी दूर आ गयीं, जहाँ से नीचे सूर्यदेव भी परमाणु के कण की भाँति तनिक भी दिखायी नहीं देते ? माताजी ! इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? देवि ! यह सब मुझे बताइये।

बेटी ! इसके बाद आगे तुम्हें ब्रह्माण्ड-सम्पुट के ऊपरी कपाल में जाना है।

रघुनन्दन ! जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वत की चट्टानों से बनी हुई घनीभूत मण्डपवाली दीवाल पर पहुँच जायँ, उसी प्रकार आपस में उपर्युक्त बातें करती हुई वे दोनों देवियाँ ब्रह्माण्ड-सम्पुट के ऊपर वाले कपाल तक पहुँच गयीं। साथ ही जैसे कोई आकाश से निकले, उसी तरह वे वहाँ से अनायास ही बाहर निकल गयीं। जो वस्तु सत्यता के दृढ़ निश्चय से युक्त होती है, वहीं वज्र के समान ठोस और भारी होती है और जो इससे भिन्न कल्पित दीवार आदि वस्तु है, वह मिथ्यात्व-बुद्धि से बाधित हो जाती है। लीला का विज्ञान आवरणशून्य था। इसलिये वह ब्रह्माण्ड-सम्पुट के ऊपरवाले कपाल को मिथ्यात्व-बुद्धि से बाधित करके उससे बाहर निकल गयी। ब्रह्माण्ड के पार जाने पर उसे अत्यन्त प्रकाशमान जल आदि का आवरण दिखायी दिया, जो सब ओर व्याप्त था। उस आवरण-समुदाय में जो जल का आवरण है, उसमें ब्रह्माण्ड की अपेक्षा दसगुना जल विद्यमान है। उसके बाद उससे भी दसगुना अग्निमय आवरण है। फिर उससे भी दसगुनी वायु और उससे भी दसगुने आकाश के आवरण हैं। तदनन्तर विशुद्ध चिन्मय आकाश है। उस परम व्योम (चेतनाकाश) रूप परब्रह्म परमात्मा में आदि, मध्य और अन्त की कोई कल्पनाएँ नहीं उदित होतीं (वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण एवं अपरिछिन्न है)। वह अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्त, आदि तथा अन्त से रहित, भ्रमशून्य, अनादि, अनन्त, मध्यरहित तथा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है। उस निर्मल चेतनाकाश स्वरूप परमात्मा में यदि एक कल्प तक बड़े भारी वेग से ऊपर से नीचे को पत्थर की शिला गिरती रहे और नीचे से पक्षिराज गरुड़ भी अपना सारा बल लगाकर ऊपर को उड़े तथा उसके बीच में सबको मापने में समर्थ वायु समान वेग से दोनों ओर बहे तो वह भी उन दोनों का संयोग नहीं पा सकती।

रघुनन्दन ! लीला ने उस अपरिमित चेतन आकाशस्वरूप परमात्मा में इस जगत् की ही भाँति फैले हुए अनन्त ब्रह्माण्डों को देखा।

अपने पूर्वजन्म के संसार से निकलकर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की विचित्रता को देखती हुई उन दोनों स्त्रियों ने किसी ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके वहाँ के अन्तःपुर को देखा और फिर वहाँ से वे शीघ्र ही बाहर निकल आयीं। जम्बूद्वीप के भीतर भारतवर्ष में लीला के पति का राज्य था। वहाँ वे दोनों जा पहुँची।

भगवन् ! 'शूर' शब्द से किस तरह के योद्धा का प्रतिपादन किया जाता है ? कौन स्वर्ग का अलंकार है अथवा कौन डिम्भाहव बच्चों का युद्ध कहलाता है।

रघुनन्दन ! जो शास्त्रोक्त समाचार से युक्त स्वामी के लिये रणभूमि में युद्ध करता है, वह चाहे मरे या विजयी हो, दोनों अवस्थाओं में शूर कहा गया है। वही स्वर्गलोक का भागी होता है। विपरीत, अत्याचारी स्वामी के लिये युद्ध करके जो रणभूमि में किसी प्राणी के द्वारा अङ्गों के कट जाने से मृत्यु को प्राप्त होता है, वह डिम्भाहव में मारा गया कहलाता है। ऐसा मनुष्य नरकगामी होता है। जिसका आचरण शास्त्र के अनुकल नहीं है, उसके लिये जो मनुष्य युद्ध करता है, वह यदि संग्राम में मारा जाय तो उसे सदा बने रहने वाले नरक की प्राप्ति होती है। यथासम्भव शास्त्र की आज्ञा और लोकाचार का पालन करनेवाला जो व्यक्ति रणभूमि में (धर्म) युद्ध करता है तथा वैसे ही सदाचारी स्वामी का भक्त होता है, वह शूर कहलाता है। शुद्ध-बुद्धिवाले रघुनन्दन ! जो गौ, ब्राह्मण तथा मित्र की रक्षा के लिये प्राण देता है अथवा शरणागत की रक्षा के लिये यत्न करते हुए मारा जाता है वह शूरवीर स्वर्गलोक का अलंकार है। * राजा के लिये अपना देश सदा ही रक्षणीय होता है। जो राजा एकमात्र उसी की रक्षा में लगा रहता है, उसके लिये जो युद्ध में मारे जाते हैं, वे ही वीर हैं और उन्हीं को वीरलोक की प्राप्ति होती है। जो प्रजा के प्रति उपद्रव करने में ही लगा रहता है, वह राजा हो या न हो, वैसे स्वामी के लिये जो युद्ध में प्राण देते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं। जो शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करनेवाले हैं, वे राजा हों या न हों, उनके लिये जो युद्ध में अपने अङ्गों को कटाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे निस्संदेह नरक में गिरते हैं। जो सदाचारी पुरुषों के लिये तलवार की धार को सहते हैं, वे शूरवीर कहे जाते हैं। शेष सभी लोग डिम्भाहव में मारे गये कहलाते हैं।

रघुनन्दन ! आकाश में स्थित हुई सरस्वती-देवी सहित लीला ने भूतल पर पतिदेव के द्वारा सुरक्षित, सैन्यवल से सम्पन्न राष्ट्रमण्डल में आमने-सामने दो सेनाएँ देखीं, जो एक दूसरे के प्रति क्षोभ से भरी हुई थीं।

लीला और सरस्वती दोनों देवियाँ उस युद्ध को देखने के लिये वहीं रुके हुए एक सुन्दर, सुस्थिर एवं मनः-कल्पित विमान पर आरूढ़ हुई। इतने में ही दोनों सेनाओं में आमने-सामने संघर्ष आरम्भ होने पर शत्रुपक्ष की सेना से प्रलयकालिक समुद्र से उठी हुई एक तरङ्ग की भाँति कोई निर्भय योद्धा निकला और आगे बढ़ा। वह प्रहार करना ही चाहता था कि लीला के पति ने, जो पूर्वजन्म में पद्म था और वर्तमान जन्म में विदूरथ के नाम से विख्यात था, उसके आक्रमण को सहने में असमर्थ होकर पर्वत के शिखर पर गिरायी हुई शिला की भाँति उस विपक्षी योद्धा की छाती पर मुग्दर का प्रहार किया।

रघुनन्दन ! वह समर-सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्त के समान प्रतीत होने लगा।

श्रीराम ! कितना कहा जाय, वासुकि (शेषनाग) भी अपनी दो हजार जिह्वाओं से यदि आकुलतापूर्वक शीघ्रता से बताना चाहें, तो वे भी इस श्रेष्ठ संग्राम का पूर्णतया वर्णन करने में समर्थ नहीं हो सकते।

उभयपक्ष के सेनापतियों ने मन्त्रियों के साथ विचार करके एक-दूसरे के पास दूत भेजे और यह संदेश कहलाया कि अब युद्ध बन्द किया जाय। उस युद्धस्थल में विशेष परिश्रम के कारण सभी के यन्त्र, शस्त्रास्त्र और पराक्रम मन्द पड़ गये थे। अतः उस समय सब लोगों ने युद्ध बन्द करने की बात हृदय से स्वीकार की।

वे दोनों ललनाएँ उस युद्धस्थल के आकाश को छोड़कर उस राजमहल में खिड़कियों के छेदों से उसी प्रकार घुस गयीं, जैसे वायु की दो रेखायें इसी छोटे रन्ध्रमार्ग से अधखिले कमल के भीतर प्रविष्ट हुई हों।

---

* गोरर्थे ब्राह्मणस्यार्थे मित्रस्यार्थे च सन्मते।
शरणागतयत्नेन स मृतः स्वर्गभूषणम् ॥ (उत्पत्ति० ३१/२८)

प्रभो ! यह इतना बड़ा स्थूल शरीर तन्तु के समान सूक्ष्म छेद की राह से किस प्रकार उस घर में प्रविष्ट हुआ ?

रघुनन्दन ! जिस पुरुष ने पहले दीर्घकाल से यह अनुभव किया हो कि 'मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ, शुद्ध चिन्मय आत्मा हूँ, वह सभी स्थानों में जा सकता हूँ' वह पीछे चलकर स्थूल देह की अवरोध आदि क्रियाओं से कैसे युक्त हो सकता है ?

लीला और सरस्वती दोनों निष्पाप देवियाँ परमात्मा के तुल्य विशुद्ध एवं चिदाकाशमय शरीर से युक्त थीं; इसलिए वे सर्वत्र जा सकती थीं। उनके लिये कहीं भी प्रवेश करने में कोई बाधा नहीं थी। वह चिदाकाश में जहाँ-जहाँ अपने को प्रकट करने की इच्छा करती थीं, वहाँ-वहाँ सदा ही अपनी रुचि और अभिलाषा के अनुसार प्रकट हो जाती थीं। इसलिये राजा विदूरथ के घर में उन दोनों का जाना सम्भव हुआ। चिन्मय आकाश सर्वत्र विद्यमान है, उसमें जिसे अतिवाहिक कहते हैं, वह चिदाकाशमय सूक्ष्म शरीर सर्वत्र विचरण कर सकता है; क्योंकि वह यथार्थ ज्ञान-स्वरूप, धारणात्मक एवं मननरूप है। तुम्हीं बताओ, उस सूक्ष्म देह को कौन, कैसे और किसलिये रोक सकता है।

श्री राम ! उन दोनों देवियों के प्रवेश करने पर राज पद्म के भवन का भीतरी भाग उज्ज्वल छटा से सुशोभित हो गया, मानो वहाँ दो चन्द्रमा उदय हो गये हों। राजा ने उन देवियों के चरणों पर पुष्पांजलि समर्पित की। तदनन्तर देवी सरस्वती ने लीला से राजा का जन्म-वृत्तान्त वर्णन करने के लिए पार्श्व में पड़े हुए मन्त्री को अपने संकल्प से जगाया। जागने पर मन्त्री ने उन दोनों दिव्य नारियों को देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणों में पुष्पांजलि समर्पित करके विनयपूर्वक वह उनके आगे खड़ा हो गया। तब देवी ने राजा से पूछा—'राजन् ! तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो ? और यहाँ कब पैदा हुए हो ? ऐसा प्रश्न सुनकर मन्त्री ने उत्तर देना आरम्भ किया।

'देवियों ! यह आप लोगों का ही कृपा-प्रसाद है, मैं आपके समक्ष भी बोलने में समर्थ हो चुका हूँ; अतः आप मेरे स्वामी का जन्म-वृत्तान्त सुनिये। प्राचीन काल में एक कुन्दरथ नाम के राजा हो गये हैं, जो इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए थे। उन्हीं नरेश के भद्ररथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन भद्ररथ के विश्वरथ, विश्वरथ के बृहद्रथ, बृहद्रथ के सिन्धुरथ, सिन्धुरथ के शैलरथ, शैलरथ के कामरथ, कामरथ के महारथ, महारथ के विष्णुरथ और विष्णुरथ के पुत्र मनोरथ हुए। ये हमारे राजा उन्हीं महाराज मनोरथ के पुत्र हैं। ये विदूरथ नाम से विख्यात हैं। जब इनकी अवस्था दस ही वर्ष की थी, तभी इनके पिता इन्हें राजभार सौंप कर वनवासी हो गये थे। ये तभी से इस भूमण्डल का धर्मपूर्वक पालन कर रहे हैं।

जब मन्त्री चुप हो गया तथा भूपाल भूतल पर पद्मासन लगाकर हाथ जोड़े सिर नीचा किये बैठे रहे, उसी समय सरस्वती देवी ने 'राजन् ! तुम विवेक द्वारा स्वयं ही अपने पूर्वजन्म का स्मरण करो' यों कहकर उनके मस्तक पर अपना हाथ फेरा। देवी सरस्वती के कर-स्पर्श से राजा पद्म विदूरथ का हृदयान्धकार एवं माया—सबके सब नष्ट हो गये। उनका हृदय अत्यन्त विकसित हो गया। उन्हें अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त का स्मरण हो आया।

देवियों ! मुझे जो अपने अनेक कार्यों का, परदादा का तथा अपनी बचपन एवं युवावस्था का और मित्र तथा बन्धु-बान्धवों का स्मरण हो रहा है, इसका क्या कारण है ?

राजन् ! मृत्युरूपी महामोहमयी मूर्च्छा के अनन्तर उसी मुहूर्त में गिरिग्राम निवासी उस ब्राह्मण के घर के भीतर आकाश में ही स्थित गृह के मध्यभाग में जो मण्डल है, उसी के अन्दर तुम्हारा यह जन्मादि दृश्य-प्रपञ्च आभासित हो रहा है। वहीं निर्मल आकाश की भाँति स्वच्छ तुम्हारे चित्त में यह विस्तृत व्यवहार-भ्रम स्फुरित हुआ है। यह मेरा जन्म हुआ। इक्ष्वाकु वंश ही मेरा कुल है। वास्तव में तो न तुम कभी पैदा हुए हो और न कभी तुम्हारी मृत्यु ही हुई है। तुम तो शुद्ध विज्ञानस्वरूप हो और अपने शान्त आत्मा में स्थित हो। यह सारा प्रपञ्च तुम्हें दृश्य-सा प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः तुम कुछ नहीं देख रहे हो, बल्कि निर्मल महामणि तथा भासमान सूर्य आदि के समान तुम अपने आत्मा में

अपने आप नित्य सर्वात्मभाव से प्रदीप्त हो रहे हो। वस्तुतः न यह भूतल सत् है, न प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला यह विदूरथ-देह ही सत् है और न ये पर्वत, ग्राम, तुम्हारे शत्रु-मित्र तथा हमलोग ही सत् हैं।

राजन्! जिन्हें ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान हो चुका तथा जो एकमात्र शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे पुरुषों के मन में यह कोई भी सांसारिक पदार्थ सत् नहीं है। भला, जिसका आत्मा शुद्ध ज्ञान से सम्पन्न है, उसे जगत् की भ्रान्ति कहाँ से हो सकती है।

राघव! जिसकी बुद्धि में ज्ञान का उदय नहीं हुआ है तथा जिसकी परमात्मा में दृढ़ स्थिति नहीं है, अतएव जो मोहग्रस्त है, उसके लिये यह जगत् असत् होते हुए भी सत्-सा प्रतीत होता है।

मुने! यदि केवल मायास्वरूप स्वप्न में कल्पित स्वप्नपुरुष सत्य न भी हों तो क्या दोष होगा?

राघव! स्वप्न में देखे गये नगर निवासी वस्तुतः सत्य नहीं हैं। सृष्टि के आदि में स्वयम्भू ब्रह्मा स्वयं ही स्वप्न-तुल्य अनुभव से सम्पन्न दिखायी देते हैं, अतः उनके संकल्प से उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्न-सदृश ही है। इस प्रकार यह विश्व भी स्वप्न है।

देवी सरस्वती ने विदूरथ को ज्ञानामृत के सिञ्चन से विवेकरूपी सुन्दर अंकुर से संयुक्त कर उनसे कहा—'राजन्! यह तत्त्वज्ञान मैंने लीला की प्रसन्नता के लिये तुमसे वर्णन किया है। लीला ने भी जगन्मिथ्यात्व की दृष्टान्तभूत तुम्हारी दृष्टियाँ देख ली हैं; अतः तुम्हारा कल्याण हो, अब हम दोनों जाना चाहती हैं।'

रघुनन्दन! मधुर अक्षरों से युक्त वाणी द्वारा सरस्वती के यों कहने पर बुद्धिमान् राजा विदूरथ ने इस प्रकार कहा।

विदूरथ बोले—देवि! मुझ साधारण मनुष्य का भी यदि किसी याचक को दर्शन हो जाय तो वह निष्फल नहीं जाता; फिर आप तो महान् फल प्रदान करनेवाली हैं, आपका दर्शन व्यर्थ कैसे हो सकता है। देवि! जैसे स्वप्न देखता हुआ मनुष्य उस स्वप्न को छोड़कर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उसी तरह मैं अपनी इस देह का परित्याग करके यहाँ से दूसरे लोक को जाऊँगा। माता! मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मुझ शरणागत को करुणापूर्ण दृष्टि से देखिये और शीघ्र ही मेरी प्रार्थित वस्तु प्रदान कीजिये। माँ! मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं जिस लोक में जाऊँ, वहीं लोक मेरे इस मन्त्री और इस कुमारी कन्या को भी प्राप्त हो।

पूर्वजन्म के चक्रवर्ती सम्राट्! तुम्हें विदित होना चाहिए कि हमलोगों ने कभी-भी याचकों की कामना का निराकरण कर दिया हो—ऐसा नहीं देखा गया। अतः आओ और लीला की भक्ति और भाग्य के अनुरूप पदार्थों की समृद्धि से सुन्दर इस राज्य का निर्भय होकर उपभोग करो।

राजन्! इस समय इस भीषण संग्राम में तुम्हारी मृत्यु निश्चित है और तुम्हें तुम्हारा प्राचीन राज्य प्राप्त होगा। यह सब प्रत्यक्ष तुम्हारी आँखों के सामने ही होगा। कुमारी कन्या को, मन्त्री को और तुमको शवरूप शरीर प्राप्त करके उस प्राचीन नगर में आना होगा। अब हम दोनों जैसे आयी थीं, वैसे ही लौट जा रही हैं; परन्तु कुमारी कन्या को, मन्त्री को और तुम्हें मृत्यु को प्राप्त होकर वायुरूप से अर्थात् सूक्ष्मदेह से उस प्रदेश में आना चाहिए।

रघुकुलभूषण राम! वह पुरुष सभीत होकर राजा से यों कह ही रहा था, तब तक बाहर कठोर शब्दों से युक्त महान् कोलाहल होने लगा। तब सरस्वती और लीला—दोनों देवियों एवं मन्त्री और राजा विदूरथ ने उस घोर रात्रि के समय राजमहल के झरोखों से झाँककर उस विशाल नगर की ओर दृष्टिपात किया, जो तुमुल नाद से गूँज रहा था। भीषण कोलाहल से वह नगर भयानक लग रहा था। तदनन्तर राजा विदूरथ ने अपने योद्धाओं का तथा उन लोगों का, जिनका देखते-देखते स्त्री-पुत्र आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था, इसलिए वे इधर-उधर दौड़ लगा रहे थे, करुण-क्रन्दन सुना। अहो! यह तो सदाचार से हीन महान् अनुचित कार्य हो रहा है, जो शस्त्रधारी शत्रुसैनिक राजरानियों को भी पकड़ रहे हैं।

इसी बीच में जैसे लक्ष्मी कमलकोश में प्रविष्ट होती हैं, उसी तरह राजमहिषी ने, जो यौवन के मद से उन्मत्त हो रही थी, राजा आदि द्वारा अधिष्ठित उस गृह में प्रवेश किया। उस समय वह हार के छिन्न-भिन्न हो जाने से व्याकुल एवं भय से घबरायी हुई थी। उसके पुष्पहार और वस्त्र जोर-जोर से हिल रहे थे तथा सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे-पीछे चल रही थीं। वहाँ पहुँचकर जैसे कोई अप्सरा संग्राम में संलग्न हुए देवराज इन्द्र से निवेदन करे, उसी तरह उसकी एक सखी राजा विदूरथ से निवेदन करने लगी—देव! महारानी हमलोगों के साथ अन्तःपुर से भागकर आपकी शरण में आयी हैं। अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित उन बलवान् शत्रुओं ने आपकी अन्यान्य रानियों का अपहरण कर लिया है। अचानक आ धमके हुए उन उद्दण्ड शत्रुओं ने आँधी द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये बड़े-बड़े वृक्षों की भाँति अन्तःपुर के सभी संरक्षकों को चकनाचूर कर दिया है।" यह सुनकर राजा ने दोनों देवियों की ओर देखकर कहा—"देवियो! मैं युद्ध के लिए जाता हूँ, अतः आप मुझे क्षमा करें। अब मेरी भार्या आपलोगों के चरणकमलों की भ्रमरी बनेगी अर्थात् आपके चरणों की सेवा करेगी।" यों कहकर राजा विदूरथ, जिसके नेत्र क्रोधवश लाल हो गये थे, राजभवन से बाहर निकला।

देवि! किस कारण से मैं यह हो गयी? पहले मैं जो थी, वही मैं इस रूप में कैसे स्थित हूँ? इसका क्या रहस्य है? यह मुझे बतलाने की कृपा कीजिये।

लीले! भीतर जैसा ज्ञान उद्भूत होता है, वैसा ही बाहर क्षणमात्र में अनुभव होने लगता है। जैसे मन चित्तार्थता—स्वप्न आदि। फिर जाग्रत् में कौन-सी विशेष सत्यता सिद्ध हुई? अनघे! इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत्-जगत् न सत् है और न असत् ही। उस ब्रह्म से पृथक् होने पर यह दृश्य जगत् कभी भी सत्य नहीं है और ब्रह्मस्वरूप होने के कारण असत्य भी नहीं है। तत्पश्चात् उसी तरह का अनुभव होने के कारण यह स्पष्टरूप से जीवभाव को प्राप्त होता है। यह जगत् सत्य हो या असत्य, पर यह चिदाकाश में विभासित हो रहा है।

जैसे राजारूप चिदाकाश में सन्मयी प्रतिभा उदित होती है, अन्तर्यामी ईश्वर की जो प्रतिभा भीतर वर्तमान है, वही स्वयं बाहर भी कार्य करती है; इसलिए चिन्मय दर्पण में प्रतिबिम्बित होने के कारण यह तुम्हारे ही समान स्थित है।

रघुनन्दन! देवी की बात सुनकर उस नगर में रहनेवाली लीला हाथ जोड़कर देवी के आगे खड़ी हो गयी और भक्तिविनम्र होकर बोली।

द्वितीय लीला ने कहा—देवेशि! मैंने नित्य ही भगवती सरस्वती देवी की अर्चा-पूजा की है और वे देवी रात्रि के समय स्वप्न में मुझे दर्शन दिया करती हैं। अम्बिके! उन देवी का जैसा आकार-प्रकार है, वैसी ही आप भी हैं। सुमुखि! आप दीनों पर करुणा करनेवाली हैं, अतः मुझे वर प्रदान कीजिये।

श्रीराम! लीला के ऐसा कहने पर भगवती सरस्वती उस समय उसके भक्तिपूर्वक किये गये ध्यान-पूजन का स्मरण करके प्रसन्न हो गयीं और उस नगरनिवासिनी लीला से यों बोलीं।

श्री देवीजी ने कहा—वत्से! जीवनपर्यन्त की गयी तुम्हारी अनन्य भक्ति से, जो कभी भी शिथिल नहीं हुई, मैं परम संतुष्ट हूँ; अतः तुम मुझसे अपना मनोऽभिलषित वरदान ग्रहण करो।

तब वह नगरनिवासिनी लीला बोली—देवि! मेरे पतिदेव रणभूमि में शरीर का परित्याग करके जहाँ स्थित होंगे, मैं भी इसी शरीर से वहाँ उनकी पत्नी होऊँ।

श्री देवीजी ने कहा—पुत्रि! तुमने चिरकाल तक अनन्य-भक्तिभाव से पुष्प-धूप आदि प्रचुर पूजन-सामग्री द्वारा मेरी निर्विघ्न पूजा की है, 'एवमस्तु'—तुम्हारी कामना पूर्ण हो।

श्री वसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर जब उस वर-प्राप्ति से तद्देशवासिनी लीला हर्षोत्फुल्ल हो रही थी, उसी समय पूर्व लीला ने, जिसका हृदय संदेह के दोले में झूल रहा था, देवी से कहा।

पूर्व लीला बोली—ऐश्वर्यशालिनी देवि ! जो आपके सदृश सत्य कामना एवं सत्य संकल्प वाले हैं, अतएव जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उसका सारा मनोरथ जब शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है, तब यह बतलाइये कि आपने मुझे किसलिये इसी शरीर से गिरिग्रामक नाम वाले उस लोकान्तर में नहीं पहुँचाया ?

श्री देवीजी ने कहा—सुन्दरि ! मैं किसी का कुछ नहीं करती, बल्कि जीव स्वयं ही अपनी समस्त अभिलाषाओं का शीघ्र ही सम्पादन कर लेता है; क्योंकि प्रत्येक जीव में जीव शक्तिस्वरूपा चेतनशक्ति वर्तमान है। इसलिए जिस-जिस जीव की जो शक्ति जिस-जिस रूप में प्रकट होती है, वह उसी-उसी रूप में उस-उस जीव को सदा तदनुरूप फल प्रदान करती हुई-सी प्रतीत होती है।

मुने ! जब वे तीनों देवियाँ उस राजमहल के भीतर परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, उस समय विदूरथ ने क्रोधावेश में महल से निकल कर क्या किया ?

वत्स राम ! जिस समय राजा विदूरथ अपने भवन से बाहर निकला, उस समय वह नक्षत्रसमूह से घिरे हुये चन्द्रमा की भाँति विशाल सैन्यदल से परिवेष्ठित था। उसका सारा शरीर कवच आदि से सुरक्षित था। उस समय जिस सरस्वती देवी ने दिव्यदृष्टि प्रदान की थी, वे दोनों ही नामवाली देवियाँ और वह राजकुमारी उस महायुद्ध को देख रही थीं। उसे देखकर उनका हृदय विदीर्ण-सा हो रहा था। राजा विदूरथ की युद्ध-यात्रा के पश्चात् सैनिकों के बाणों एवं आयुधों से निकलता हुआ कटकट शब्द पूर्णरूप से शान्त हो गया।

जिस समय समर-भूमि में दोनों सेनाओं की भारी मुठभेड़ हो रही थी, उसी समय दोनों लीलाओं ने माँ सरस्वती से पुनः प्रश्न किया।

दोनों लीलाओं ने पूछा—देवि ! यह बतलाइये कि आपके संतुष्ट होने पर भी मेरे पतिदेव इस युद्ध में, जिसमें गजराज भागे जा रहे हैं, अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हैं ?

पुत्रि ! राजा विदूरथ के शत्रु इस राजा सिन्धु ने विजय-प्राप्ति की कामना से चिरकाल तक मेरी आराधना की थी, परन्तु भूपाल विदूरथ की आराधना विजयार्थ नहीं थी; इसलिये यह राजा सिन्धु ही विजयी होगा और विदूरथ पराजित हो जायगा।

राघव ! देवी सरस्वती यह कह ही रही थीं, तब तक भगवान् सूर्य उदयाचल पर आ पहुँचे, मानो वे जूझती हुई दोनों सेनाओं का आश्चर्यमय युद्ध देखना चाहते थे।

राजा विदूरथ का हस्तलाघव सराहनीय था; क्योंकि लोग देखते थे कि उसकी प्रत्यञ्चा से एक ही बाण छूटता है, परन्तु वह आकाश में पहुँचते-पहुँचते हजार हो जाते हैं और विपक्षियों पर एक लाख होकर गिरते हैं। राजा सिन्धु की भी शक्ति और फुर्ती विदूरथ के ही समान थी। उन दोनों की ऐसी धनुर्युद्ध-कुशलता वरदायक भगवान् विष्णु के वरप्रसाद से उपलब्ध हुई थी। वे दोनों भूपाल परस्पर बदला लेनेकी भावना से एक-दूसरे को लक्ष्य बनाकर बाणों की वर्षा करते थे और एक-दूसरे के प्रहार को व्यर्थ कर देते थे।

रघुनन्दन ! राजा विदूरथ के मृत-तुल्य हो जाने पर जब 'रणभूमि में प्रतिद्वन्दी राजा के हाथ से राजा विदूरथ मार डाले गये, राजा मारे गये' ऐसी खबर फैल गयी, तब सारा राष्ट्र भयभीत हो गया।

'भूमण्डल के एकछत्र सम्राट राजा सिन्धु की जय हो !' यों घोषणा करते हुए लोग प्रत्येक नगर में भेरियाँ बजाने लगे। पुत्र के राज्याभिषेक के पश्चात् राजा सिन्धु ने जो विजयी होने के कारण उन्नत मस्तक था, युगान्त के समय जगत् की सृष्टि करने के लिए प्रकट हुए दूसरे मनु की भाँति प्रजा की नयी व्यवस्था के हेतु राजधानी में प्रवेश किया। राजा सिन्धु के नगर में दसों दिशाओं से हाथी-घोड़ों के रूप में भेंट आने लगी। मन्त्रियों ने तत्काल ही प्रत्येक दिशाओं के सामन्त राजाओं के पास राजकीय नियम, चिह्न और आदेश भेज दिये। फिर तो जैसे मन्थन काल में आवर्तों के कारण

क्षुब्ध हुआ क्षीरसागर मन्दराचल के निकाल लिये जाने पर तुरन्त ही प्रकृतिस्थ हो गया था, उसी तरह अराजकता के कारण विक्षुब्ध हुआ सारा राष्ट्र दसों दिशाओं सहित शीघ्र ही शान्त हो गया।

श्रीराम ! इसी बीच में मूर्छित होकर सामने पड़े हुए अपने स्वामी को, जिनका श्वासमात्र ही अवशेष रह गया था, देखकर लीला ने सरस्वती से कहा—'अम्बिके ! ये मेरे पतिदेव अब यहाँ अपनी देह का उत्सर्ग करने के लिये उद्यत हैं।'

लीले ! इस प्रकार महान् उद्योग से परिपूर्ण, राष्ट्र-विप्लवकारी और परम विचित्र व्यवसायों से युक्त इस संग्राम के आरम्भ होने, चलने और समाप्त होने पर यह राष्ट्र अथवा भूतल न तो कहीं कुछ भी उत्पन्न हुआ है और न नष्ट ही हुआ है; क्योंकि यह जगत् तो स्वप्नात्मक है। अनघे ! पूर्वोक्त गिरिग्राम-निवासी ब्राह्मण के घर के भीतर स्थित राजा पद्म के शव के निकटवर्ती आकाश में वर्तमान अन्तःपुर के भीतर तुम्हारे पति का यह भूतलरूप राष्ट्र प्रतीक हो रहा है। पुनः विन्ध्याद्रि के ग्राम में वसिष्ठ नामक ब्राह्मण के घर के अन्दर यह राष्ट्रसहित ब्रह्माण्ड स्थित है। उसी ब्राह्मण के घर में शवयुक्त गेह-जगत् वर्तमान है। उस शवयुक्त गेह-जगत् के मध्य में इस गेह-जगत् का अस्तित्व है। यह त्रिजगत्, जो महान् व्यवसायों से युक्त है, भ्रमरूप ही है। यदि भ्रम का द्रष्टा ही न रहे तो भ्रम में भ्रमता कैसे होगी। अतः भ्रम की सत्ता है ही नहीं। जो कुछ है, वह अविनाशी परमपद रूप परमात्मा ही है। उस परमात्मा को तुम ऐसे समझो कि वह उत्पत्ति-विनाशरहित, स्वयम्प्रकाश, शान्त, आदिस्वरूप और निर्विकार होते हुए भी जगत्‌रूप से प्रतीत हो रहा है। स्वप्नावस्था में देह के अन्दर देखे गये महापुर की भाँति मेरु आदि पर्वत-समुदाय द्वारा उपलक्षित यह सारा दृश्यवर्ग शून्यात्मस्वरूप ज्ञानमात्र ही है, इसमें स्थूलरूपता कुछ भी नहीं है। शुभे ! यह राजा पद्म जिस लोक में शवरूप से वर्तमान है, तुम्हारी यह सपत्नी लीला वहाँ पहले ही पहुँच गयी है। यह लीला तुम्हारे समक्ष ज्यों ही मूर्छित हुई त्यों ही तुम्हारे पति राजा पद्म के शव के निकट जा पहुँची है।

देवि ! यह पहले ही वहाँ पहुँचकर देहधारिणी कैसे हो गयी ? इसके मेरे सपत्नी-भाव को प्राप्त होने में क्या कारण है ? तथा राजा पद्म के उस उत्तम राजमहल के जो निवासी हैं, वे इसे किस रूप में देखते हैं और इसे क्या कहते हैं ?

श्री देवीजी ने कहा—लीले ! तुमने मुझसे जैसा प्रश्न किया है, तदनुसार मैं सारी घटना तुमसे संक्षेप में वर्णन करती हूँ; सुनो। यह दूसरी लीला के रूप में वर्तमान तुम्हारा ही वृत्तान्त है, जो तुम्हारी शङ्काओं का निर्णायक है। इससे मरण-परलोकगमन आदि भी, जिनका प्रत्यक्षीकरण होना कठिन है, तुम्हारे दृष्टिगोचर होनेवाला जगन्मय भ्रम है, उस अत्यन्त विस्तृत भ्रम को तुम्हारा पति यह राजा पद्म उसी शवयुक्त गृह में देखता है। इसी तरह लीला, तुम, यह संसारस्थिति, यह राजा पद्म और मैं—ये सब के सब परमात्मा के सर्वव्यापक होने के कारण उसी परमात्मा में सत्यरूप से स्थित हैं।

राघव ! यह लीला, जिसे सरस्वती द्वारा वर उपलब्ध हो चुका था, इसी वासनामय शरीर से अपने पति राजा पद्म से मिलने के लिए आकाशमार्ग से ऊपर के लोकों में जाने को उद्यत हुई; उस समय पतिमिलन के सुख का विचार करके यह प्रबल प्रेमभाव से संयुक्त हो आनन्दपूर्वक उड़ चली। वहाँ पहुँचकर इसे इसकी प्यारी कुमारी कन्या, जिसे सरस्वती देवी ने ही वहाँ भेजा था, प्राप्त हुई, मानो वह लीला के संकल्परूपी महान् दर्पण से निकलकर आगे खड़ी हो गयी हो।

कुमारी ने कहा—सरस्वती देवी की सहेली ! तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम्हारी कन्या हूँ। सुन्दरि ! तुम्हारी ही प्रतीक्षा करती हुई मैं यहाँ आकाशमार्ग में खड़ी हूँ। तब लीला ने कहा—कमलनयनी देवि ! तुम मुझे स्वामी के समीप ले चलो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तब वह कुमारी 'मातः ! आओ, हम दोनों वहीं चल रही हैं'—यों कहकर लीला के आगे होकर आकाश में मार्गप्रदर्शन करने लगी। तत्पश्चात् वह लीला उसके पीछे-पीछे प्रस्थित हुई। आगे

बढ़ने पर वह मेघमार्ग को लाँघकर वायुमार्ग में प्रविष्ट हुई। फिर वहाँ से चलकर सूर्यमार्ग से निकलती हुई नक्षत्रमार्ग में गयी। उसे भी पार करके ब्रह्माण्ड-कपाल में जा पहुँची। वहाँ जाने पर, अपना चित्तमात्र ही जिसका शरीर है, वह लीला अपने हृदय में यों अनुभव करने लगी कि निश्चय ही यह सारा दृश्य अपनी कल्पना के स्वभाव से उत्पन्न हुआ भ्रम ही है। तदनन्तर ब्रह्माण्ड के उस पार पहुँचकर वह जलादि आवरणों को लाँघती हुई आगे बढ़ने पर महान् चेतनाकाश के मध्य में प्रविष्ट हुई। वह चेतनाकाश इतना विस्तृत है कि यदि अत्यन्त वेगशाली गरुड़ भी उसके चारों ओर चक्कर लगायें तो सैकड़ों करोड़ कल्पों में भी उसके ओर-छोर का पता नहीं लगा सकते। जैसे महान् वन में फलों की गणना नहीं हो सकती, उसी तरह उस चेतनाकाश में लाखों क्या, असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो परस्पर एक-दूसरे से अलक्षित हैं। उन्हीं में से एक ब्रह्माण्ड को, जो सामने उपस्थित एवं विस्तृत आवरण से आवेष्टित था, वेधकर वह लीला उसके भीतर प्रविष्ट हुई। तदनन्तर भूमण्डल में राजा पद्म के राज्यान्तर्गत उसके नगर में पहुँचकर उस मण्डप में प्रवेश कर वह राजा के शव के निकट स्थित हुई। इतने में ही वह कुमारी सुन्दरी लीला की आँखों से ओझल हो गयी। लीला शवरूपी अपने पति के मुख को देखकर अपनी प्रतिभा के प्रभाव से इस सत्य को समझ गयी कि 'ये मेरे पतिदेव संग्राम में राजा सिन्धु के हाथों मारे गये और अब इन वीरलोकों को प्राप्त होकर सुखपूर्वक सो रहे हैं। मैं भी इस प्रकार श्रीदेवी की कृपा से सशरीर यहाँ आ पहुँची हूँ, अतः मेरे समान धन्य दूसरी कोई स्त्री नहीं है।' यों भलीभाँति विचार कर लीला अपने हाथ में एक सुन्दर चँवर लेकर डुलाने लगी।

श्रीदेवीजी ने कहा—लीले! वह राजा, वह वासनामयी लीला और उसके ये सभी भृत्य परस्पर पति-पत्नी एवं स्वामी-सेवक के भाव के अनुकूल ही एक-दूसरे को देखते हैं। इस आश्चर्यमय वृत्तान्त को पूर्णरूप से केवल तुम, मैं और यह लीला—ये तीन ही जान सकेंगे।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा—चन्द्रवदनी देवि! मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप है? और मरने के बाद फिर क्या होता है? इस प्रकार मरण का वृत्तान्त मुझसे संक्षेप में कहिये।

श्रीदेवीजी कहा—लीले! शरीरान्त के समय मुमूर्षु पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—मूर्ख, धारणाभ्यासी और युक्तिमान्। इनमें धारणाभ्यासी दृढ़तापूर्वक धारणा का अभ्यास करके शरीर को छोड़कर सुखपूर्वक प्रयाण करता है। उसी प्रकार युक्तिमान् भी सुखपूर्वक ही गमन करता है; परन्तु जिसने न तो धारणा का अभ्यास किया है और न युक्ति ही प्राप्त की है, वह मूर्ख पुरुष अपने मृत्यु समय में विवश होकर दुःख को प्राप्त होता है। वह विषयी पुरुष वासना के आवेश से विवशता का अनुभव करता हुआ जड़ से कटे हुए कमल की तरह अत्यन्त दीनता को प्राप्त हो जाता है। जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यास द्वारा संस्कृत नहीं है एवं जो दुष्टों की संगति का सेवन करता है, वह मरने पर अग्नि में गिरे हुए जीव की भाँति अन्तर्दाह का अनुभव करता है। जब उस अज्ञानी पुरुष के कण्ठ से घुरघुराहट की आवाज निकलने लगती है, आँखों की पुतलियाँ उलट जाती हैं, शरीर का रंग विकृत हो जाता है, उस समय उसकी बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। उसकी आँखों के सामने घना अन्धकार छा जाता है, जिससे उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा—देवि! यद्यपि यह शरीर आठ अंगों (सिर, दो हाथ, दो चरण, गुह्यस्थान, नाभि और हृदय) से सम्पन्न है तो भी इसे व्यथा, विमोह, मूर्च्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतनता—ये सब कष्ट प्राप्त होते हैं। इसका क्या कारण है?

श्रीदेवीजी ने कहा—भद्रे! स्पन्दनशक्ति-सम्पन्न ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ही सुख-दुःखादि-प्रारब्धभोगरूप कर्म का इस रूप में विधान कर दिया है कि मदंशभूत जीव को उसकी आयु के इस-इस समय में उसके कर्मानुसार इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकार का सुख-दुःख प्राप्त होगा।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा—देवेशि! प्राणी जिस प्रकार मरता है और फिर वह जैसे पैदा होता है, उस प्रसंग को ज्ञान की वृद्धि के लिये आप पुनः मुझसे विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

श्रीदेवीजी ने कहा—लीले ! नाड़ियों की गति रुक जाने पर जब प्राणी प्राणवायुओं की विपरीत स्थिति को प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शान्त-सी हो जाती है। इसी को मरण कहते हैं। वास्तव में चेतन सर्वथा शुद्ध और नित्य है। उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है। जब वह जीव इस शरीरादि दृश्य का परित्याग करके देहान्तर का दर्शन करने के लिये उत्सुक होता है, उस समय उसकी स्वप्न एवं मनोराज्य की भाँति नाना आकृतियाँ हो जाती हैं। फिर उसी प्रदेश के अन्दर वह पूर्वजन्म की तरह स्मरणशक्ति से युक्त हो जाता है और तभी मरणकाल की मूर्च्छा के पश्चात् वह अन्य शरीर को देखने लगता है।

लीले ! मरने के बाद जीव को जो प्रेत कहा जाता है, वे प्रेत छः प्रकार के होते हैं। उनके इस भेद को सुनो- साधारण पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले और उत्तम धर्मात्मा। इनमें से किसी के दो भेद और किसी के तीन भेद भी होते हैं। कोई पाषाणतुल्य हृदयवाला एवं अत्यन्त मूढ़ महापात की अपने अन्तःकरण में एक वर्ष तक स्मृति-मूर्छा का अनुभव करता है। तत्पश्चात् समयानुसार चेतना को प्राप्त होकर वासनारूपी स्त्री के उदर से उत्पन्न हुए अक्षय नारकीय दुःखों का चिरकाल तक अनुभव करके एक महान् दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता हुआ सैकड़ों योनियों का भोग करता है। तब कभी स्वप्न-सम्भ्रमरूपी संसार में शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् उसके कर्मफल भोगों की निवृत्ति होती है। अथवा मरण-मूर्छा के अन्त में उसी क्षण वे हृदयस्थित वृक्षादि स्थावर योनियों का ही, जो सैकड़ों जड़ दुःखों से व्याप्त हैं, अनुभव करते हैं और फिर चिरकाल तक नरक में अपनी-अपनी वासनाओं के अनुरूप दुःखों का भोग करके भूतल पर नाना योनियों में जन्म-धारण करते हैं। (यह महापातकी की गति का वर्णन है।) अब जो मध्यम पापी है, उसकी गति का वर्णन करते हैं। वह मृत्युकालिक मूर्छा के अनन्तर कुछ काल तक पाषाण-तुल्य जड़ता का अनुभव करता है। तत्पश्चात् जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ काल के बाद अथवा उसी समय तिर्यगादि क्रम से नाना योनियों का भोग करके संसार को प्राप्त होता है। जो कोई साधारण पापी होता है, वह मरते ही अपनी वासनाओं के अनुसार प्राप्त हुए अविकल मानव-देह का अनुभव करता है। उसी क्षण पूर्व संस्कार के अनुसार उसकी स्मृति का उदय होता है और स्वप्न एवं मनोराज्य की भाँति उसके अनुभव में वैसी ही वस्तुएँ आने लगती हैं। जो सर्वश्रेष्ठ महान् पुण्यात्मा हैं, वे मृत्युजनित मूर्छा के पश्चात् पूर्ववासना की स्मृति से स्वर्गलोक तथा विद्याधर लोक के सुख का भलीभाँति उपभोग करते हैं। फिर पुण्यफल भोग के अनन्तर अपने कर्मान्तर अर्थात् पाप कर्म के अनुसार प्राप्त हुए फल को अन्यत्र भोगकर मनुष्य लोक में धनी सत्पुरुषों के घर में जन्म-धारण करते हैं। जो मध्यम धर्मात्मा होते हैं, वे मरणमूर्छा के बाद आकाश वायु से आन्दोलित होकर उत्तम वृक्षों और पल्लवों से सुशोभित उपवन में जाते हैं और वहाँ अपने पुण्य कर्मों का फल भोग लेने के बाद मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ट होते हैं। फिर रेतःसिञ्चन के समय जन्मक्रमानुकूल स्त्रियों के गर्भ में स्थित होते हैं। (यमपुरी में पहुँचने पर जीव कहता है—) अब मुझे यमराज का आदेश प्राप्त हो गया है, अतः मैं अपने कर्मों का फल भोगने के लिये शीघ्र ही यहाँ से उत्तम स्वर्गलोक अथवा नरक में जाता हूँ।

जिस प्रकार विश्व के समग्र पदार्थों के स्वभाव का विकास होता है और जैसे वे असत्य होते हुए भी सत्य-से प्रतीत होते हैं, यह सब वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया। अब उधर देखो, ज्ञात होता है, यह राजा विदूरथ मृत्यु को प्राप्त होकर तुम्हारे पति राजा पद्म के, जो पुष्पमालाओं से आच्छादित शव के रूप में स्थित हैं, हृदयान्तर्गत पद्मकोश में प्रवेश करने की इच्छा से जाना चाहता है।

प्रबुद्ध लीला ने पूछा—देवेश्वरि ! बताइये, यह राजा विदूरथ किस मार्ग से उस शव-मण्डप में जाने का इच्छुक है ? जिससे हम दोनों भी उसे देखती हुई ही उस उत्तम मण्डप में शीघ्र ही जायँ।

श्री देवीजी ने कहा—लीले ! 'मैं दूरवर्ती दूसरे लोक को जाता हूँ' इस भावना से यह चिन्मय जीवात्मा मनुष्य वासना के अन्दर स्थित मार्ग का अवलम्बन करके जाता है। यों तुम्हें जिस मार्ग से जाना अभीष्ट हो, उसी मार्ग से हम दोनों जाती हैं; क्योंकि एक-दूसरे की इच्छा का विघातन प्रेम-बन्धन का हेतु नहीं होता।

राघव ! इस प्रकार श्रेष्ठ राजा की कन्या लीला के विशुद्ध मन में जब परमार्थ दृष्टिरूप पूर्वोक्त कथा के श्रवण से सारे संताप मिट गये तथा ज्ञानरूपी सूर्य का प्रसार हो गया, तब राजा विदूरथ चित्त के विलीन हो जाने के कारण जड़ अर्थात् मृत्युकालिक मूर्छा के वशीभूत हो गया।

रघुनन्दन ! इसी बीच राजा विदूरथ की आँखों की पुतलियाँ उलट गयीं। होंठ सूखकर श्वेत हो गये। उसके शरीर की सभी इन्द्रियों के मूर्च्छित हो जाने पर केवल सूक्ष्म प्राण ही शेष रह गया। मुख की छवि पुराने पीले पत्ते की कान्ति के समान क्षीण एवं पीली हो गयी। जैसे आकाशचारी पक्षी गिरने के संनिकट पहुँचे हुए अपने निवासभूत वृक्ष को छोड़ देता है, उसी प्रकार प्राण ने स्वाधिष्ठित थोड़े से शरीरांश से चलकर राजा के शरीर का परित्याग कर दिया।

देवियों ने, जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, आकाशमार्ग से जाते हुए उस जीव को देखा। फिर वे दोनों नारियाँ उसी जीवात्मा का अनुसरण करने लगीं—ठीक उसी तरह, जैसे दो भ्रमरियाँ वायु में मिली हुई गन्धकला का अनुगमन करती हैं। तदनन्तर दो घड़ी के पश्चात् जब मरण-मूर्छा शान्त हुई, तब जीवात्मा आकाश मे सुगन्धयुक्त वायु के स्पर्श से प्रबुद्ध हो गया। उस समय उसने यमदूतों को, उनके द्वारा ले जाये हुए अपने वासनामय शरीर को तथा बन्धुओं द्वारा किये गये पिण्डदान आदि से उत्पन्न हुए अपने स्थूल शरीर को भी देखा। फिर उसी मार्ग से बहुत दूर तक आगे जाने पर वह यमराज की नगरी में जा पहुँचा, जो प्राणिसमुदाय से घिरी हुई थी और जहाँ उनके कर्मफलों पर विचार किया जा रहा था। वहाँ पहुँचने पर यमराज ने इसके कर्मों पर विचार करके यह आदेश दिया कि 'यह सदा निर्मल पुण्यकर्मों का ही अनुष्ठान करता रहा है। इसने कभी-भी पापकर्म नहीं किया है। साथ ही सरस्वती देवी के वरदान से इसके पुण्यों की विशेष रूप से वृद्धि हुई है। इस उपर्युक्त बात को समझकर तुमलोग इसे छोड़ दो और यह अपने पूर्वजन्म के शरीर में, जो शवरूप में पुष्पों से आच्छादित मण्डपाकाश में वर्तमान है, वहाँ जाकर प्रवेश करे।' यों आदेश पाने पर यमदूतों ने उसे आकाश मार्ग में लाकर छोड़ दिया। तदनन्तर वह जीवात्मा, लीला और सरस्वती—ये तीनों एक साथ आकाश मार्ग से उड़ते हुए आगे बढ़े। उस समय यद्यपि सरस्वती और लीला मूर्तिमती थीं, तथापि वह जीवात्मा उन्हें देख नहीं रहा था, जबकि वे उसे देख रही थीं। इस प्रकार वे दोनों उस जीवात्मा का अनुसरण करती हुई आकाश-मण्डल को लाँघकर लोकान्तरों को पार करती हुई दूसरे ब्रह्माण्ड में जा पहुँची। पुनः शीघ्र ही वहाँ से निकलकर दूसरे ब्रह्माण्ड में गयीं। फिर उस भूमण्डल से वे दोनों संकल्परूपिणी देवियाँ उस जीवात्मा के साथ राजा पद्म के नगर में आयीं और वहाँ तुरन्त ही स्वच्छन्दतापूर्वक लीला के अन्तःपुर के मण्डप में प्रविष्ट हुई।

ब्रह्मन् ! जिसका शरीर मर चुका था, उस जीवात्मा को मार्ग का परिज्ञान कैसे हुआ ? और वह उस शव के निकटवर्ती मण्डप में कैसे पहुँचा ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—राघव ! उस जीव की अपनी वासना के अन्तर्गत शव की भावना विद्यमान थी, जिससे उसके हृदय में वह मार्ग आदि सब कुछ स्फुरित हो गया; फिर उसे उस गृह की प्राप्ति कैसे न हो।

भगवन् ! जिसके लिये पिण्डदान दिया ही नहीं जाता, उसमें पिण्डदानादि वासना का कारण तो है नहीं; फिर उस वासना से रहित स्वरूप वाला जीव किस प्रकार शरीर को प्राप्त होता है ?

रघुनन्दन ! बन्धुओं द्वारा पिण्ड दिया गया हो अथवा न दिया गया हो; परन्तु यदि 'मैंने पिण्डदान किया है' ऐसी वासना हृदय में भलीभाँति उत्पन्न हो जाय तो वह पुरुष पिण्डफल का भागी हो जाता है; क्योंकि अनुभूतियाँ बतलाती हैं कि जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह प्राणी होता है।

उन दोनों ने उस शव-मण्डप में विदूरथ की शवशैय्या के पार्श्वभाग में स्थित लीला को देखा, जो पहले मृत्यु प्राप्त हो चुकी थी और पहले ही वहाँ आ गयी थी। उसके वेष, आचरण, शरीर और वासनाएँ—सभी पहले के ही थे। उसकी आकृति पूर्वजन्म की सी थी। उन दोनों (सरस्वती और प्रबुद्ध लीला) ने तो उस लीला को देखा, वह उन दोनों को न देख सकी। इसका कारण यह था कि वे दोनों सत्यसंकल्पस्वरूपा थीं और वह उनकी भाँति संकल्प से आविर्भूत नहीं हुई थी।

वत्स राम ! यह सारा जगत् आत्मा ही है । ऐसी दशा में देहादि की कल्पना कहाँ से हो सकती है । तुम जो कुछ देख रहे हो, वह आनन्दरूप सद्ब्रह्म ही है और वही चेतन है ।

प्रभावशाली गुरुदेव ! पद्म के राजमहल में पूर्व लीला और नूतन लीला का समागम होने के पश्चात् जो उस भवन के निवासी थे, वे लीला की सत्य-संकल्पता के कारण यदि उसे देखते हैं तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ?

श्रीवसिष्ठजी ने कहा राघव ! उस समय वे लोग ऐसा जानते हैं कि यहाँ ये दुखिया महारानी खड़ी हैं और उनकी यह कोई दूसरी सखी भी कहीं से आ गयी है । जैसे जाग जाने पर ज्ञान हो जाने से स्वप्न दृष्ट शरीर न जाने कहाँ विलीन-सा हो जाता है, इसलिये वह असत्य ही है, वही दशा यहाँ इस पञ्चभौतिक स्थूल शरीर की भी है ।

इसी बीच सरस्वती देवी ने मन की चेष्टा के समान विदूरथ के जीवात्मा को अपने सत्य-संकल्प से पुनः शीघ्र ही अवरुद्ध कर दिया ।

तब श्रीसरस्वती देवी लीला से बोलीं—वत्से ! तुम अपने सत्य संकल्पवश अत्यन्त निर्मल सूक्ष्म शरीर से युक्त दिखायी देती हो, इसलिये तुम्हारे ऊपर लोगों को आश्चर्य हो रहा है । बाले ! अपने शरीर के प्रति तुम्हारी जैसी वासना थी, तदनुरूप ही तुम्हें शरीर मिला है । इसी कारण पूर्वजन्म के रूप के समान ही तुम्हारा रूप प्रकट हुआ है; क्योंकि सब लोग अपनी वासना के अनुसार ही सब पदार्थों को देखते हैं । सिद्ध सुन्दरि ! तुम सूक्ष्म शरीर से सम्पन्न हो, अतः तुम्हारा वह पूर्वजन्म का शरीर तुम्हें भूल गया है, इसी कारण उस पर तुम्हारी वासना नहीं रह गयी है ।

रघुनन्दन ! देवी सरस्वती ने ज्यों ही ऐसा विचार किया कि 'यह लीला तब तक हम दोनों को देखे', त्यों ही वे दोनों दीप्तिमती देवियाँ (सरस्वती और प्रबुद्ध लीला) वहाँ प्रकट हो गयीं । उनके प्रत्यक्ष होते ही विदूरथ-पत्नी लीला की आँखें चौंधिया गयीं । उसने देखा कि वह घर उन देवियों के तेजःपुञ्ज से देदीप्यमान हो गया है । इस प्रकार उस प्रदीप्त गृह और अपने समक्ष लीला और सरस्वती—उन दोनों देवियों को उपस्थित देखकर वह बड़ी उतावली के साथ उठ खड़ी हुई और फिर उनके चरणों में पड़कर कहने लगी—'देवियो ! आप जीवन-प्रदान करनेवाली हैं, आपकी जय हो । आपलोगों की सेविका मैं यहाँ पहले ही आ पहुँची हूँ । अब मेरे कल्याणोत्कर्ष के लिये आप दोनों का शुभागमन हुआ है ।' उसके यों कहने पर यौवन के मद से मतवाली वे तीनों मानिनियाँ वहाँ आसनों पर विराजमान हुईं ।

तब सरस्वती देवी बोलीं—वत्से ! तुम इस देश में कैसे आयीं ? तथा मार्ग में अथवा कहाँ पर तुमने कौन-सी आश्चर्यजनक घटना देखी ? तुम आदि से लेकर यह सारा वृत्तान्त वर्णन करो ।

विदूरथ-पत्नी लीला ने कहा—देवि ! उस समय विदूरथ के गृहप्रदेश में जब मैं मूर्छित हो गयी, तब परमेश्वरि ! उस मरण-मूर्च्छा के पश्चात् मैं क्या देखती हूँ कि मैं होश में आकर उठ बैठी हूँ और फिर शीघ्र ही आकाश-मण्डल में उड़ चली हूँ । तत्पश्चात् उस भूताकाश में मैं वायुरूपी रथपर सवार हो गयी हूँ । वही रथ मुझे इस घर तक ले आया है । देवि ! तब मैंने इस भवन को देखा, जो शवरूप राजा पद्म से सुशोभित था । उसके भीतर दीपक का प्रकाश फैल रहा था । यह अत्यन्त स्वच्छ और बहुमूल्य शैय्या से युक्त था । जब मैं अपने इन पतिदेव का अवलोकन करने चली, तब क्या देखती हूँ कि जिनका सारा अङ्ग पुष्पों से आच्छादित है, वे राजा विदूरथ यहाँ उसी प्रकार सो रहे हैं, मानो पुष्प-वन में वसन्त शयन कर रहा हो । देवेश्वरि ! तब मैंने यह सोचा कि 'ये संग्रामरूपी कार्य के अधिक परिश्रम से थक गये हैं, इसलिए गाढ़ी निद्रा में सो रहे हैं ।' अतः मैंने इनको यह निद्रा भङ्ग नहीं की इसके बाद ही आप दोनों देवियाँ इस स्थान पर पधारी हैं । मुझ पर अनुग्रह करने वाली देवि ! इस प्रकार मुझे जैसा अनुभव हुआ था, वह सब आपसे कह सुनाया ।

तब श्री सरस्वती देवी बोलीं—लीले ! तुम दोनों के नेत्र बड़े सुन्दर हैं और चलने का ढंग हंस की चाल के समान मनोहर है । अच्छा, अब हम इस राजा को शवशैय्या से उठाती हैं । यों कह कर सरस्वती देवी ने कमलिनी द्वारा बिखेरी गयी सुगन्ध की भाँति राजा के जीवात्मा को छोड़ दिया । तब वायु रूपधारी वह जीव राजा की नासिका के

निकट गया और उसके नासारन्ध्र में प्रविष्ट हो गया—ठीक उसी तरह, जैसे वायु बाँस के छिद्र में प्रवेश करती है। उस समय वह अनन्त वासनाओं से युक्त था। फिर तो जैसे अनावृष्टि के कारण मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होने से पुनः विकसित हो जाता है, उसी तरह जीव के अन्दर प्रवेश करने पर राजा पद्म का विवर्ण हुआ मुख पुनः पूर्ववत् कान्तिमान् हो गया। तदनन्तर उसके सारे अंग क्रमशः चेष्टाशील होकर सुशोभित होने लगे, जैसे पर्वत की लतायें बसन्त को पार कर प्रफुल्लित हो जाती हैं। तब उसने अपने उन नेत्रों को, जिनकी पुतलियाँ निर्मल और चञ्चल थीं, खोल दिया। तत्पश्चात् वह बढ़ते हुए विन्ध्य पर्वत के समान अपने शरीर को शैय्या से ऊपर उठाते हुए उठ बैठा और मेघ के समान गम्भीर वाणी में बोला—'यह कौन है ?' तब तक दोनों लीलायें उसके आगे उपस्थित होकर बोलीं—'महाराज ! आज्ञा दीजिये।' जब उसने दो लीलाओं को, जिनके आचार, आकार, रूप, मर्यादा, वचन, उद्योग, आनन्द और अभ्युदय सभी एक-से थे। नम्रतापूर्वक अपने सामने खड़ी देखा, तब उनकी ओर ध्यानपूर्वक देखते हुये पूछा—'तुम कौन हो ? और यह कौन है तथा यह कहाँ से आयी है ?' यह सुनकर पूर्व लीला ने उससे कहा—'देव ! मैं जो कुछ कहती हूँ उसे सुनिये। मैं आप की पूर्वजन्म की सहधर्मिणी रानी हूँ। मेरा नाम लीला है। अर्थसंयुक्त वाणी की तरह मैं सदा आपके सम्बन्ध से सुशोभित हूँ। यह दूसरी लीला भी आपकी रानी है। इसे मैं क्रीड़ावश आपके उपभोग के लिये ले आयी हूँ। आप इसकी रक्षा करें। स्वामिन् ! सिरहाने की ओर स्वर्णसिंहासन पर बैठी हुई ये कल्याणकारिणी सरस्वती देवी हैं। ये तीनों लोकों की जननी हैं। भूपाल ! हमलोगों के पुण्यबाहुल्य से ये साक्षात् यहाँ पधारी हैं। ये ही हम दोनों को परलोक से यहाँ लायी हैं।'

'देवी सरस्वती आप सब को कल्याण प्रदान करने वाली हैं, आपको नमस्कार है। वरदायिनी ! मुझे मेधा, दीर्घायु और धन प्रदान कीजिये।' राजा के सिर पर सरस्वती देवी ने हाथ फेरते हुए कहा—'पुत्र ! तुम अपने अभीष्ट पदार्थों तथा राजमहल से पूर्णतया सम्पन्न हो जाओ एवं तुम्हारी सारी आपत्तियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनष्ट हो जायें और तुम्हें प्रचुर मात्रा में अनन्त सुख की प्राप्ति हो। तुम्हारे राज्य में प्रजा सदा आनन्दित रहे तथा सम्पत्तियाँ स्थिर हो कर सदा विकसित होती रहें।'

रघुकुलभूषण राम ! सरस्वती देवी यह कहकर उस राजमहल में ही अन्तर्धान हो गयीं। प्रातःकाल होने पर कमलों के विकसित होने के साथ ही सभी लोग निद्रा त्याग कर जाग पड़े। तदनन्तर क्रमशः राजा ने लीला का और लीला ने मृत्यु को प्राप्त होकर पुनरुज्जीवित हुये अपने प्रियतम राजा का महान् आनन्द के साथ बारंबार आलिङ्गन किया।

वत्स राम ! मैंने इस पवित्र लीलोपाख्यान का दृश्यरूप दोष की निवृत्ति के लिये तुमसे वर्णन किया। वस्तुतस्तु दृश्यसत्ता शान्त ही है। जब वह है ही नहीं, तब उसके लिये 'शमन' का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं है।

निष्पाप राम ! जिस-जिस पुरुष को जिस समय जिस रूप से जिस-जिस पदार्थ की प्रतीत होती है, वह-वह पुरुष उसी समय उसी प्रकार उस-उस पदार्थ का पूर्णरूप से अनुभव करता है। जैसे विष को सदा अमृत ही समझते रहने से वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह शत्रु के प्रति सदा मित्रभाव रखने से वह मित्र बन जाता है।

जो जीवात्मा अभ्यास-वैराग्य आदि तीव्र साधनों से युक्त हैं, अतएव विषय भोगों से विचलित न होता हुआ मोक्षपर्यन्त एकाकारवृत्ति से रहता है, वही परम स्थिरता—मोक्ष को प्राप्त होता है। केवल विशुद्ध ज्ञानरूप ब्रह्म की स्वरूपभूता विभा द्वैत और ऐक्यविषयक संकल्प-विकल्प करने के कारण 'अहम्, त्वम्' इत्यादि जगत् के रूप से प्रतीत होती है—ठीक उसी तरह, जैसे आकाश-मण्डल में उसकी अपनी शून्यता परिलक्षित होती है।

रघुनन्दन ! ज्ञानवान् पुरुष सब प्रकार की सारी भ्रान्तियों को सच्चिदानन्दघन परमात्मा के अन्दर ही सदा स्थित जानता है, इसलिये वास्तव में सब सर्वस्वरूप अजन्मा परमात्मा ही है। इस तरह परब्रह्म परमात्मा की सर्वरूपता ही उसकी समता है। शब्दों और अर्थों का सारा ज्ञान ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं।

जैसे वायु अपने में ही स्पन्द की कल्पना करती है, उसी प्रकार परमार्थ-चिन्मय ब्रह्म अपनी ज्ञानवृत्ति से अपने ही गूढ़ स्वरूप को प्रपञ्च के रूप में अभिव्यक्त कर देता है। वास्तव में वह उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही होता है। शब्द-तन्मात्रा, जो पहले अपने कारण में लीन थी, सर्वशक्तिमयी माया के चमत्कार से युक्त रूप को धारण कर चित्त से अन्तःकरण में उठनेवाले संकल्प की भाँति जब चिन्मय आकाश के समान स्फुरित होती है, तब उसी को आकाश का आविर्भाव कहते हैं।

रघुनन्दन! ये वर्तमान, भविष्य और भूतकाल की सृष्टि-परम्पराएँ अपनी सत्ता को उसी प्रकार धारण करती हैं, जैसे जल की तरलता अपने भीतर स्पष्ट रूप से आवर्तों की परम्परा धारण करती है।

ज्ञानवानों में श्रेष्ठ गुरुदेव! भली-भाँति विवेक-विचार करने पर जब एकमात्र अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा के साथ अपनी एकता का पूर्ण निश्चय हो जाने से उत्कृष्ट एवं संशयरहित आत्मविज्ञान प्रकाशित हो जाता है, तब तत्त्वज्ञानियों के भी शरीर यहाँ किसलिये टिके रहते हैं? यदि कहें, वे दैव के ही अधीन होकर रहते हैं तो ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि उन तत्त्वज्ञानियों पर दैव का प्रभाव कैसे रह सकता है।

श्रुति कहती है—'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाँ् स भवति' अर्थात् तत्त्वज्ञानी के पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। (बृहदारण्यक० १।४।१०)

रघुनन्दन! ब्रह्मा आदि तत्त्वज्ञानियों ने अज्ञानियों के बोध के लिये यह बताया है कि जो ब्रह्म है, वही नियति है और वही वह सर्ग है। स्फटिक-शिला के भीतर प्रतिबिम्बित चित्रसमूह की भाँति परमात्मा में स्थित हुए ब्रह्मा ने नियति (जीवों के अदृष्ट) रूपी भावी सृष्टि को उसी तरह देखा है, जैसे सोया हुआ पुरुष अपने में स्वप्न-जगत् की कल्पना के आधारभूत आकाश को देखता है। मनुष्य को अपने पौरुष से ही दैव और पुरुषार्थ दोनों को बनाना चाहिये। प्रारब्ध के अनुसार अवश्य होनेवाला भोग होकर ही रहेगा—ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष कभी पौरुष का त्याग न करे; क्योंकि प्रारब्ध पौरुषरूप से ही नियामक होता है अर्थात् पूर्वजन्मों में किया गया पुरुषार्थ ही वर्तमान जन्म में प्रारब्ध होकर यह नियम करता है कि अमुक को ऐसा ही होना चाहिये।

जो प्रारब्ध के भरोसे मूक बनकर पौरुषशून्य एवं अकर्मण्य हो जाता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जो अकर्मण्य होकर बैठेगा, उसकी प्राण-वायु की चेष्टा कहाँ चली जायगी। यदि निर्विकल्प समाधि में चित्त को शान्ति प्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करके पुरुष साधु होकर मुक्ति पा ही गया तो वह भी उसके पुरुषार्थ का ही फल है। बिना पुरुषार्थ के किस फल की प्राप्ति बतायी जा सकती है? एकमात्र शास्त्रीय पुरुषार्थ में तत्पर होना कल्याणकारी श्रेष्ठ साधन है और कर्तृत्व का अत्यन्त अभावरूप मोक्ष सर्वश्रेष्ठ कल्याणमय फल है।

इन साधन और फलों की अपेक्षा ज्ञानियों का पक्ष सबल है; क्योंकि उन ज्ञानी महात्माओं का प्रारब्ध-भोग दुःखरहित है। जो दुःखरहित प्रारब्ध-भोग है, वह यदि ब्रह्मसत्ता के प्रकाश में स्थिर हो जाय तो निश्चय समझना चाहिए कि वह परम शुद्ध ब्रह्म, जिसे परमगति कहते हैं, प्राप्त हो ही गया।

रघुनन्दन! यह जो ब्रह्मतत्त्व है, वह सर्वथा, सर्वदा, सब ओर से सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वमय ही है। वह जब, जहाँ, जिसकी, जिस प्रकार से भावना करता है, तब वहाँ उसी को प्रत्यक्ष देखता है। सत् हो या असत्, सच्चिदानन्दघन परमात्मा जिस सदसद्-वस्तु का संकल्प अथवा अभिनिवेश करता है, उसी-उसी को देखता है। वास्तव में सब वस्तुओं के रूप में वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भासित हो रहा है।

श्रीराम! यह जो सर्वव्यापी, स्वयंप्रकाश, आदि-अन्तरहित, सबका महान् ईश्वर, स्वानुभवानन्दस्वरूप, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा है, इसी से पहले जीव उत्पन्न हुआ है। वही उपाधि की प्रधानता से चित्त कहलाता है और चित्त से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। रघुनन्दन! जिसमें प्रतीत होनेवाला दृश्य-प्रपञ्च उसमें है, वह शुद्धस्वरूप ब्रह्म यहाँ सर्वत्र व्यापक है।

श्रीराम! परम कारणरूप परमात्मा से ही पहले मन उत्पन्न हुआ है। मन ही उसका स्वरूप है। भोगों से भरा

हुआ जो यह विस्तृत जगत् है, वह मन में ही है। वह मन भी उस परम कारणरूप परमात्मा में ही स्थित है। वस्तुतः कर्म ही देह है; क्योंकि देह से ही कर्म होते हैं। देह ही चित्त है, चित्त ही अहंकारविशिष्ट जीव है। वह जीव ही चेतन परमात्मा है तथा वह परमात्मा सर्वस्वरूप एवं कल्याणमय है।

श्रीराम ! जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक जल जाते हैं, उसी तरह एक ही परम वस्तु चेतन आत्मा अपने संकल्प से मानो नानात्व को प्राप्त हुआ है। मनुष्य चित्तमात्र ही है। चित्त के हट जाने पर यह जगत् शान्त हो जाता है। जिस पुरुष के पैर जूते से ढके होते हैं, उसके लिये मानो सारी पृथ्वी पर ही चमड़ा बिछा हुआ है; इसी प्रकार जिसका चित्त शान्त है, उसके लिये सारा जगत् ही शान्त हो गया। जैसे केले के वृक्ष में पत्तों को छोड़कर और कुछ भी सार नहीं रहता, उसी प्रकार जगत् में भ्रम के सिवा और कुछ भी सारतत्त्व नहीं है। जीव जन्म लेता है; फिर क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह शुभाशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग और नरक में पहुँचता है। यह सब भ्रमवश चित्त का नृत्य अर्थात् संकल्पमात्र है।

परमपद में आरूढ़ और सच्चिदानन्दघन परब्रह्म में एकीभाव को प्राप्त हुये पुरुष का 'देह के भान से शून्य' और 'निर्विषय' आदि समानार्थक शब्दों द्वारा वर्णन होता है। जीवात्मा चित्त के संकल्प द्वारा ही स्थूलता को प्राप्त होता है और मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, देखता हूँ तथा (जन्म-मृत्युरूप) संसार को प्राप्त होता हूँ' इत्यादि रूप से मिथ्या-भ्रम का दर्शन करता है।

श्रीराम ! जिस वस्तु की अभिलाषा हो, उसी का निश्चित रूप से त्याग करके यदि रहा जा सके, तब तो मोक्ष प्राप्त ही है। इतना करने में कौन-सी कठिनाई है। परमात्मा की प्राप्तिरूप महान् उद्देश्य से सम्पन्न पुरुष जब इस संसार में अपने प्राणों का भी मोह तिनके के समान त्याग देते हैं, तब जिस सांसारिक वस्तु की इच्छा की गयी है, केवल उसीका त्याग करने में कंजूसी कैसे की जा सकती है।

रघुनन्दन ! ब्रह्म सदा सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न तथा सब कुछ करने में समर्थ है। वह जहाँ जिस शक्ति से स्फुरित होता है, वहाँ अपने में उसी शक्ति को प्राप्त हुई देखता है। सबका आत्मा ब्रह्म अनादि काल से जिस व्यष्टिचेतन को स्वयं जानता है, वही यहाँ जीव नाम से कहा गया है और वह जीव ही संकल्प करने वाला है।

श्रीराम ! जैसे जल तरङ्गरूप से स्फुरित होता है, उसी तरह केवल मन की भ्रान्ति के उल्लास (उत्कर्ष) से विस्तार को प्राप्त हुआ यह सभी दृश्य-प्रपञ्च जगत् रूप से भासित होता है संयोग से जीव कहलाता है। वह जीव ही संकल्प करने से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा माया के रूप में परिणत हो जाता है। जैसे स्वप्न में जो नगर आदि का ज्ञान होता है, वह मन का भ्रम ही है, उसी तरह यह संसार भी चित्त का भ्रम ही है। व्यष्टि-चेतन को जो संसार का ज्ञान है, वही जागरण कहा गया है। सूक्ष्म शरीर में उनका अहंभाव है, उसीको स्वप्न माना गया है। मन का जो प्रकृति में विलीन हो जाना है, वही सुषुप्ति है तथा केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में जो एकीभाव से तन्मय हो जाना है, उसी को तुरीयावस्था कहते हैं। अत्यन्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा में जो अविचल स्थिति है, वह परिणाम में विकाररहित तुरीयातीत पद है। उस पद में स्थित पुरुष कभी शोक नहीं करता (वहाँ शोक का सर्वथा अभाव है)। उस परमात्मा में ही यह सब जगत् उत्पन्न होता है (उसी में स्थित रहता है) और उसी में लीन हो जाता है। वास्तव में न तो यह ब्रह्म जगत्‌रूप है और न उस ब्रह्म में जगत् ही है। जैसे नेत्रदोष के कारण आकाश में भ्रम से मोती के दाने से दीखते हैं, वैसे ही ब्रह्म में भ्रम से इस जगत् का दर्शन होता है। जैसे स्फटिक के भीतर प्रतिबिम्बित वन आदि उसके यथार्थ ज्ञान के बिना सत्य से दीखते हैं, उसी तरह यथार्थ ज्ञान न होने के कारण अद्वितीय ब्रह्मरूप होता हुआ भी यह जगत् शुद्ध ब्रह्म के भीतर नाना-सा प्रतीत होता है। ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंगपर्यन्त बुद्धिवृत्ति का भ्रमरूप जगत् असत् ही है; क्योंकि परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होने पर इसका बोध हो जाता है। यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है, मिथ्या ही बढ़ता है, मिथ्या ही रुचिकर प्रतीत होता है और मिथ्या ही लय को प्राप्त होता है; शुद्ध सर्वव्यापी ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है।

आभार

ग्रन्थ की भूमिका आदि में जिनकी कृतियों का उपयोग किया गया है, उनके लेखकों का सादर आभार वहन करता हूँ। विशेषतः डॉ० बी० एल्० आत्रेय का विशेष रूप से ऋणी हूँ, जिनका प्रातिम प्रबोध का सुव्यक्त संग्रह किया गया है। अच्युत ग्रन्थमाला के अनुवाद से भी सहायता मिली है।

निकटतम भविष्य में ही इसके अन्य भाग भी सहृदय पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। मेरी अस्वस्थता के कारण इस ग्रन्थ को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने में विलम्ब हुआ।

इस प्रथम खण्ड की भूमिका में काल, नामकरण, विविध संस्करणों का परिचय देकर ही भूमिका का उपसंहार किया जा रहा है। द्वितीय खण्ड में योगवासिष्ठ के पूर्ववर्ती आचार्यों एवं उनकी कृतियों का प्रभाव, उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तृतीय भाग आदि में इस ग्रन्थ की दार्शनिक समीक्षा, पात्रों का विशिष्ट परिचय एवं उनका तुलनात्मक अध्ययन आदि प्रस्तुत किया जायगा।

तारा प्रेस के अध्यक्ष भ्रातृकल्प श्री रमाशङ्कर पण्ड्या जी को धन्यवाद देना ही पड़ेगा, क्योंकि, ये सदा मेरे लिए प्रेरणास्रोत का काम करते रहे हैं। अस्वस्थता के कारण, स्वाभाविक आवेश के कारण आत्मीय जनों के लिए बहु दुःख का साधन रहा हूँ। इस प्रसङ्ग में हनुमान् की सुन्दरकाण्ड की उक्ति ही लिखना पर्याप्त है—

धन्याः खलु महात्मानः ये बुद्ध्या कोपमुत्थितम्।
निरुन्धन्ति महात्मानः दीप्तमग्निमिवाम्भसा॥ (वा. रा. प्र. ५५ / ३)

इसके अनुवाद के लिए प्रवृत्ति शुभोदय श्री रविप्रकाश पण्ड्या का एकमात्र आग्रह ही है, इसके अधीन होकर मुझे इस दुरूह और विस्तृत कार्य का भार वहन करना पड़ा। इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं अर्थानुसंधानपूर्वक अशुद्ध्यादि परिमार्जन का कार्य पुराणेतिहासाचार्य पं० कृपासिन्धु शर्मा, प्राचार्य, ब्रह्मर्षि बलदेव संस्कृत विद्यालय, लक्ष्मीकुण्ड ने कुशलतापूर्वक किया है। अस्तु, मैं इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ एवं साधुवाद देता हूँ। मेरे अनुज डॉ० श्री शशिकान्त दीक्षित की पत्नी श्रीमती इन्दुमती दीक्षित ने भी पुनः-पुनः प्रेरणा दी कि इसका अनुवाद कर हमलोगों के लिए बोधगम्य करायें। अतः इनको हृदय से आशीर्वचन प्रदान करता हूँ।

मेरी पत्नी श्रीमती कुसुमलता गोस्वामी एवं पुत्री श्रीमती साधना शर्मा ने गृहकार्यों से निश्चिन्त कर इस ग्रन्थ के सम्पादन के लिए जो सहयोग प्रदान किया है, वह इस युग की ललनाओं के द्वारा सम्भव नहीं है।

सहृदय विद्वज्जन मेरे दोषों पर दृष्टि न देकर रागद्वेष के वैराग्य के साथ गुणग्रहण दृष्टि से ही अध्ययन करें। मेरे जैसे अज्ञजनों से दोष तो पद-पद पर सम्भावित ही है।

विदुषां वशंवदः
महाप्रभु लाल गोस्वामी

वैशाख पूर्णिमा
२०४५

योगवासिष्ठ विषय-सूची

मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण

उत्पत्ति प्रकरण

श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिप्रणीत-
कुसुमलताख्यभाषानुवादालङ्कृतः
आदिकविश्रीमद्वाल्मीकिमहर्षिविरचितः
योगवासिष्ठः

१

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च ।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ १ ॥

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः ।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात्तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः ॥ २ ॥

१

आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक के भेद से मङ्गलाचरण तीन प्रकार का है। योगवासिष्ठ के उपक्रम में नमस्कारात्मक मङ्गल के व्याज से इस ग्रन्थ के विषय का निर्देश करते हुए प्रयोजन का भी निर्देश किया है। अद्वय ब्रह्म इस शास्त्र का प्रतिपाद्य है। स्वरूप लक्षण एवं तटस्थ लक्षण का प्रदर्शन किया है, सत् चित् और आनन्द यह अद्वय ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है, जिससे अखिल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति एवं जिनमें लय होता है—वही अद्वय ब्रह्म परमार्थ तत्त्व है—यह तटस्थ लक्षण है। उस सच्चिदानन्दात्मक तत्त्व पर अध्यारोप अपवाद के द्वारा अविद्या के कार्यों की प्रतीति हो रही है। प्रपञ्चातीत अद्वय की सत्ता से सभी आविद्यक कार्यराशि सद्रूप में प्रतीत हो रहे हैं। मुनिवर ने स्वर्ग और मोक्ष की पृथक् तत्त्व के रूप में निर्देशन कर चिन्मय भूमि के रूप में स्वर्ग को माना है। तत्त्वज्ञानपूर्वक कर्म करने से जीवन्मुक्तावस्था के निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से लोक यात्रा में भी समाज के कल्याण के साथ कर्म और ज्ञान का समन्वय तथा चिन्तन भूमि स्वरूप स्वर्ग और सच्चिदानन्दात्मक अद्वय ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इसी का उपक्रम कर ज्ञान के साथ कर्म का समन्वय प्रदर्शित किया गया है।

जिस (कारण) से सभी भूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच भूत और उनके कार्य घट, पट आदि) प्रकाशमान रहते हैं, अर्थात् अस्तित्व लाभ करते हैं, भासमान रहते हैं, जिसकी आभा अर्थात् प्रकाश से स्थिति प्राप्त करते हैं, प्रलय काल में जिसमें (स्वयं प्रकाश अद्वितीय तत्त्व में) लय प्राप्त करते हैं, उस सत्य स्वरूप अर्थात् पारमार्थिक सत्य आत्मा को नमस्कार है।

(यद्यपि अद्वितीय आत्मतत्त्व को नमस्कार करना उचित नहीं है, क्योंकि, नमस्कर्ता और नमस्कार्य दोनों में भेद रहने पर ही यह सम्भव है। तथापि नमस्कर्ता का नमस्कार्य को अपने से अभिन्न रूप में अवगत करना अर्थात् अद्वितीयत्व की भावना ही प्रकृत में नमस्कार पदार्थ है। यह प्रथम पद्य "यतो वा इमानि भूतानि जातानि, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इस श्रुति पर आधारित "जन्माद्यस्य यतः" (ब्र० सू० १।१।२) इस सूत्र का उद्बोधक है ॥ १ ॥

पूर्व मङ्गलाचरण से अद्वितीय आत्म स्वरूप अभिन्न निमित्त उपादान कारण को नमस्कार कर पुनः उस परमार्थ तत्त्व की सत्ता से प्रातिभासिक सत्य का बोधन कराते हुए स्वयं प्रकाश स्वरूप को नमस्कार के व्याज से वृत्ति स्वरूप ज्ञान से उसका भेद प्रदर्शित कर रहे हैं।

ज्ञान कर्ता, ज्ञान और ज्ञान का विषय, दर्शन कर्ता दर्शन और दृश्य पदार्थ, कर्ता, साधना और क्रिया जिसकी अवभासित हो रहे हैं, अर्थात् अस्तित्व लाभ करते हैं उस परमार्थ ज्ञान स्वरूप आत्मा को नमस्कार है।

उस परमार्थ के भान से सम्पूर्ण विश्व भासमान होता है। लोक में ज्ञाता, कर्ता एवं द्रष्टा के रूप में आत्मा का भान होता है। प्रकृत में चैतन्य स्वरूप आत्मा ही अन्तःकरण रूप उपाधि से अवच्छिन्न हो कर कर्ता है, वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ज्ञान है, विषय से अवच्छिन्न चैतन्य ज्ञेय है। इसी प्रकार द्रष्टा आदि की स्थिति है। वस्तुतः

स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याऽम्बरेऽवनौ ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः ॥ ३ ॥
सुतीक्ष्णो ब्राह्मणः कश्चित् संशयाक्रृष्टमानसः ।
अगस्तेराश्रमं गत्वा मुनिं पप्रच्छ सादरम् ॥ ४ ॥

सुतीक्ष्ण उवाच

भगवन् ! धर्मतत्त्वज्ञ ! सर्वशास्त्रविनिश्चित ! ।
संशयोऽस्ति महानेकस्त्वमेतं कृपया वद ॥ ५ ॥
मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा मोक्षसाधनम् ।
उभयं वा विनिश्चित्य एकं कथय कारणम् ॥ ६ ॥

चैतन्य ही भिन्न-भिन्न उपाधि भेद से भिन्न होकर भिन्न-भिन्न स्वरूप में भासमान हो रहा है, उस परमार्थ ज्ञान में वास्तविक भेद नहीं है उपाधि के कारण ही भेद है। इन्द्रिय मूलक उपाधि से चैतन्य द्रष्टा आदि और प्राण रूप उपाधि से कर्तृत्व आदि का भान होता है ॥ २ ॥

सत्य स्वरूप एवं चित्स्वरूप अर्थात् अस्ति, नास्ति के वर्णन के बाद आनन्द स्वरूप का वर्णन करते हुए नमस्कार कर रहे हैं।

जिस सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म से आनन्द कण अन्तरिक्ष और पृथ्वी पर सभी प्राणियों के जीवनाधान के रूप में अनुभूत हो रहे हैं अर्थात् सभी व्यक्तियों को आनन्द की उपलब्धि हो रही है, उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म को नमस्कार है।

नाम और स्वरूप अविद्यात्मक है और वस्तु मात्र में सत्=अस्तित्व, चित्=प्रकाशता, ज्ञातृत्व और प्रियया आनन्द ब्रह्मात्मक है, उसी से इनका स्फुरण हो रहा है।

इन तीन नमस्कारात्मक मङ्गलाचरणों से वस्तु का भी निर्देश किया गया है। सत् चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही परमार्थ सत् है ॥ ३ ॥

सन्देह से परिपूर्ण हृदय वाला सुतीक्ष्ण प्रज्ञा=बुद्धि नाम का कोई ब्राह्मण था, उसने (अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए) अगस्ति दीप्ति के आश्रम पर जाकर मुनि से सादर पूछा अर्थात् जिज्ञासा की ॥ ४ ॥

सुतीक्ष्ण ने कहा :—

धर्म के तत्त्व के जानने वाले, सकल शास्त्रों के निश्चयात्मक अर्थ के ज्ञाता ! हे भगवन् ! मुझे एक महान् संशय है, आप कृपा कर (उसका समाधान) कहें अर्थात् उस सन्देह का निवारण करें ॥ ५ ॥

मोक्ष का साधन कर्म है, या ज्ञान है या कर्म और ज्ञान ये दोनों अर्थात् कर्म ज्ञान समुच्चय है, इनमें विशेष रूप से निश्चयकर किसी एक को कारण बताये। अर्थात् आप शास्त्रज्ञ हैं, शास्त्रीय दृष्टि से विशेष रूप से निर्णय कर इन तीनों में मोक्ष के प्रति कौन कारण है—यह बतायें ॥ ६ ॥

अगस्तिरुवाच

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम् ॥ ७ ॥
केवलात् कर्मणो ज्ञानान्न हि मोक्षोऽभिजायते ।
किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयं विदुः ॥ ८ ॥
अस्मिन्नर्थे पुरावृत्तमितिहासं वदामि ते ।
कारुण्याख्यः पुरा कश्चिद् ब्राह्मणोऽधीतवेदकः ॥ ९ ॥
अग्निवेश्यस्य पुत्रोऽभूद् वेदवेदाङ्गपारगः ।
गुरोरधीतविद्यः सन्नाजगाम गृहं प्रति ॥ १० ॥
तस्थावकर्मकृत् तूर्णीं संशयानो गृहे तदा ।
अग्निवेश्यो विलोक्याऽथ पुत्रं कर्मविवर्जितम् ॥ ११ ॥

अगस्ति (मुनि) ने कहा :—

जैसे दोनों पक्षों से पक्षिगण आकाश में गमन करते हैं, अर्थात् दो परों के विना पक्षियों की आकाश में गति नहीं होती है दोनों ही गति के कारण हैं, वैसे ही ज्ञान और कर्म इन दोनों के समुच्चय से परम पद अर्थात् मोक्ष या चिन्मय भूमि की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

केवल कर्म से या केवल ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है, किन्तु कर्म और ज्ञान इन दोनों के समुदाय से मोक्ष की प्राप्ति होती है, अत: इन दोनों को मोक्ष का कारण समझे अर्थात् कर्म और ज्ञान का समुच्चय मोक्ष का कारण है ॥८॥

इस प्रसङ्ग में एक प्राचीन इतिहास तुमको कहता हूँ, पूर्व काल में वेद का ज्ञाता कारुण्य नाम का एक ब्राह्मण था ॥ ९ ॥

यह कारुण्य अग्निवेश्य का पुत्र था, उसने गुरु से विद्याओं का अध्ययन कर वेद और वेदाङ्गों में (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) पारङ्गत अर्थात् इन का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त कर गुरु गृह=गुरुकुल से घर पर आया ॥ १० ॥

संशयाविष्ट हृदय कारुण्य घर पर आकर कर्म के अनुष्ठानों का परित्याग कर कर्मों के अनुष्ठानों को छोड़कर रहने लगा, गुरु अग्निवेश्य ने पुत्र को कर्मानुष्ठान रहित देख कर निन्दा के पात्र पुत्र के प्रति उसके हित के लिए यह वचन कहा ॥ ११½ ॥

प्राह एतद्वचो निन्द्यं गुरुः पुत्रं हिताय च ।

अग्निवेश्य उवाच

किमेतत् पुत्र कुरुषे पालनं न स्वकर्मणः ॥ १२ ॥
अकर्मनिरतः सिद्धिं कथं प्राप्स्यसि तद्वद ।
कर्मणोऽस्मान्निवृत्तेः किं कारणं तन्निवेद्यताम् ॥ १३ ॥

कारुण्य उवाच

यावज्जीवमग्निहोत्रं नित्यं संध्यामुपासयेत् ।
प्रवृत्तिरूपो धर्मोऽयं श्रुत्या स्मृत्या च चोदितः ॥ १४ ॥
न धनेन भवेन्मोक्षः कर्मणा प्रजया न वा ।
त्यागमात्रेण किन्त्वेके यतयोऽश्नन्ति चाऽमृतम् ॥ १५ ॥
इति श्रुत्योर्द्वयोर्मध्ये किं कर्त्तव्यं मया गुरो ! ।
इति सन्दिग्धतां गत्वा तूष्णींभूतोऽस्मि कर्मणि ॥ १६ ॥

अगस्तिरुवाच

इत्युक्त्वा ! तात् विप्रोऽसौ कारुण्यो मौनमागतः ।
तथाविधं सुतं दृष्ट्वा पुनः प्राह गुरुः सुतम् ॥ १७ ॥

अग्निवेश्य ने कहा :—

हे पुत्र ! अपने कर्मों का अनुष्ठान नहीं कर रहे हो यह उचित नहीं है, अकर्म तत्पर होकर कैसे सिद्धि प्राप्त करोगे—यह बताओ। इन कर्मों के अनुष्ठानों के परित्याग का क्या कारण है—यह विशेष रूप से सूचित करें ॥ १२, १३ ॥

कारुण्य ने कहा :—

जब तक श्रुति=वेद और स्मृतियों के अनुरूप जीवन है तब तक सन्ध्या और अग्निहोत्र का नित्य अनुष्ठान करना यह प्रवृत्ति रूप धर्म बताया है ॥ १४ ॥

न धन से, न कर्म से, न सन्तान के उत्पादन से मोक्ष होता है, वरन् यतिगण अर्थात् योगी केवल त्याग से ही अमृतत्व अर्थात् परमानन्द=मोक्ष की प्राप्ति करतेहैं। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" (न कर्म से, न सन्तति से, न धन से केवल त्याग से मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा इन तीन वासनाओं के त्याग से ही कल्याण होता है।) इस श्रुति के अनुसार कारुण्य ने यह कहा है एवं "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" आदि श्रुतियों के द्वारा सन्ध्या एवं अग्निहोत्र का अनुष्ठान नित्य कर्म के रूप में स्वीकार किया है ॥ १५ ॥

हे गुरो ! इन दो प्रकार की श्रुतियों में मुझे क्या करना चाहिए (यह सोचकर) सन्दिग्ध चित्त होकर कर्म

अग्निवेश्य उवाच

शृणु पुत्र ! कथामेकां तदर्थं हृदयेऽखिलम् ।
मत्तोऽवधार्य पुत्र ! त्वं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १८ ॥
सुरुचिर्नाम काचित् स्त्री अप्सरोगण उत्तमा ।
उपविष्टा हिमवतः शिखरे शिखिसंवृते ॥ १९ ॥
रमन्ते कामसन्तप्ताः किन्नर्यो यत्र किन्नरैः ।
स्वर्धुन्योघेन संसृष्टे महाघौघविनाशिना ॥ २० ॥
दूतमिन्द्रस्य गच्छन्तमन्तरिक्षे ददर्श सा ।
यमुवाच महाभागा सुरुचिश्चाऽप्सरोवरा ॥ २१ ॥

सुरुचिरुवाच

देवदूत ! महाभाग ! कुत आगम्यते त्वया ।
अधुना कुत्र गन्ताऽसि तत्सर्वं कृपया वद ॥ २२ ॥

देवदूत उवाच

साधु पृष्टं त्वया सुभ्रु ! यथावत् कथयामि ते ।

से विरत हो गया हूँ ॥ १६ ॥

अगस्ति ने कहा :—

हे तात ! वह विप्र कारुण्य यह कह कर मौन हो गया, ऐसी स्थिति में पुत्र को देखकर पुनः गुरु ने पुत्र से कहा ॥ १७ ॥

अग्निवेश्य ने कहा :—

हे पुत्र ! हम से एक कथा सुनो, उसके सभी अर्थों को हृदय से भली भाँति समझकर जैसी इच्छा हो वैसा करना ॥ १८ ॥

जहाँ काम से सन्तप्त किन्नरियाँ किन्नरों के साथ रमण कर रही थीं, विशाल पाप-राशियों को विनाश करने वाली गङ्गा की धाराओं से परिव्याप्त मयूरों से सुशोभित हिमालय के शिखर पर अप्सराओं में श्रेष्ठ सुरुचि नाम की कोई स्त्री बैठी थी ॥ १९-२० ॥

उस श्रेष्ठ तेजस्विनी अप्सरा ने अन्तरिक्ष मार्ग से जाते हुए इन्द्र के दूत को देखकर उससे कहा ॥ २१ ॥

सुरुचि ने कहा :—

हे महात्मन् ! देवदूत ! आप कहाँ से आ रहे हैं और कहाँ जा रहे हैं, कृपाकर ये सभी बतायें ॥ २२ ॥

देवदूत ने कहा :—

हे सुन्दर भौओंवाली ! तुमने अच्छा पूछा, (मैं)

अरिष्टनेमी राजर्षिर्दत्वा राज्यं सुताय वै ॥ २३ ॥
वीतरागः स धर्मात्मा निर्ययौ तपसे वनम् ।
तपश्चरत्यसौ राजा पर्वते गन्धमादने ॥ २४ ॥
कार्यं कृत्वा मया तत्र तत आगम्यतेऽधुना ।
गन्ताऽस्मि पार्श्वे शक्रस्य तं वृत्तान्तं निवेदितुम् ॥ २५ ॥

अप्सरा उवाच

वृत्तान्तः कोऽभवत्तत्र कथयस्व मम प्रभो ! ।
प्रष्टुकामा विनीताऽस्मि नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

देवदूत उवाच

शृणु भद्रे ! यथावृत्तं विस्तरेण वदामि ते ।
तस्मिन् राज्ञि वने तत्र तपश्चरति दुस्तरम् ॥ २७ ॥
इत्यहं देवराजेन सुभ्रूराज्ञापितस्तदा ।
दूत ! त्वं तत्र गच्छाऽऽशु गृहीत्वेदं विमानकम् ॥ २८ ॥
अप्सरोगणसंयुक्तं नानावादित्रशोभितम् ।
गन्धर्वसिद्धयक्षैश्च किन्नराद्यैश्च शोभितम् ॥ २९ ॥

तुझे जैसा हुआ है अर्थात् यथार्थ (विस्तार से सभी घटनाओं को) तुझको कह रहा हूँ। अरिष्टनेमि नाम के राजर्षि ने अपने पुत्रको राज्य देकर वह रागशून्य धर्मात्मा तपस्या के लिए वन चला गया, वह राजा गन्धमादन पर्वत पर तपस्या कर रहा है, वहाँ का कार्य सम्पादन कर मैं इस समय उस स्थान से आ रहा हूँ और वहाँ उस समाचार को निवेदन करने के लिए इन्द्र के पास जा रहा हूँ ॥ २३-२५ ॥

अप्सरा ने कहा :—

प्रभो ! वहाँ कौन सी घटना हुई विनयपूर्वक मैं आप से पूछ रही हूँ, अतः, उद्वेग करना उचित नहीं है, अर्थात् अल्प काल में कुछ कह कर यात्रा करें क्योंकि संसार का परित्याग कर वीतराग अरिष्टनेमि का वृत्तान्त है, जो संसारान्त स्वरूप वृत्तान्त है ॥ २६ ॥

देवदूत ने कहा :—

हे कल्याणि ! वहाँ पर जो घटनायें हुई हैं उन्हें विस्तारपूर्वक तुमसे कहता हूँ वह राजा उस वन में कठिन तपस्या कर रहा है। हे सुन्दर भौओंवाली ! उस प्रसङ्ग में देवराज इन्द्र से मुझे आज्ञा मिली है कि हे दूत ! तुम अप्सराओं के समूह को लेकर अनेक वाद्यों से शोभायमान, गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष और किन्नर आदि से अलङ्कृत ताल, वेणु, मृदङ्ग आदि सैन्यराशि के साथ विमान को

तालवेणुमृदङ्गादि पर्वते गन्धमादने ।
नानावृक्षसमाकीर्णे गत्वा तस्मिन् गिरौ शुभे ॥ ३० ॥
अरिष्टनेमिं राजानं दूताऽऽरोप्य विमानके ।
आनय स्वर्गभोगाय नगरीममरावतीम् ॥ ३१ ॥

देवदूत उवाच

इत्याज्ञां प्राप्य शक्रस्य गृहीत्वा तद्विमानकम् ।
सर्वोपस्करसंयुक्तं तस्मिन्नद्रावहं ययौ ॥ ३२ ॥
आगत्य पर्वते तस्मिन् राज्ञो गत्वाऽऽश्रमं मया ।
निवेदिता महेन्द्रस्य सर्वाज्ञाऽरिष्टनेमये ॥ ३३ ॥

राजोवाच

इति मद्वचनं श्रुत्वा संशयानोऽवदच्छुभे ! ।
प्रष्टुमिच्छामि दूत ! त्वां तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥
गुणा दोषाश्च के तत्र स्वर्गे वद ममाऽग्रतः ।
ज्ञात्वा स्थितिं तु तत्रत्यां करिष्येऽहं यथारुचिः ॥ ३५ ॥

देवदूत उवाच

स्वर्गे पुण्यस्य सामग्र्या भुज्यते परमं सुखम् ।
उत्तमेन तु पुण्येन प्राप्नोति स्वर्गमुत्तमम् ॥ ३६ ॥
मध्यमेन तथा मध्यः स्वर्गो भवति नाऽन्यथा ।

लेकर शीघ्र शोभायमान अनेक वृक्षों से परिव्याप्त गन्धमादन नामके पर्वत पर जा कर हे दूत ! अरिष्टनेमि नाम के राजा को विमान पर बैठाकर स्वर्ग भूमि के भोग के लिए अमरावती नगरी में ले आओ ॥ २७-३१ ॥

दूत ने कहा :—

हे भद्रे ! इन्द्र की यह आज्ञा प्राप्त कर सभी साधनों से अलंकृत उस विमान को लेकर उस पर्वत पर मैं गया। उस पर्वत पर आकर उस राजा के (अरिष्टनेमी) के आश्रम पर जाकर मैं महेन्द्र की सभी आज्ञायें अरिष्टनेमि को निवेदित किया मेरे इस कथन को सुनकर उनको संशय होने लगा ॥ ३२, ३३ ॥

राजा ने कहा :—

हे दूत ! मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ, उसे तुम कहो। स्वर्ग में क्या दोष और क्या गुण है, यह मुझे स्पष्ट कहो, तब वहाँ स्थिति का परिज्ञान कर इच्छा के अनुरूप कार्य करुँगा ॥ ३४, ३५ ॥

देवदूत ने कहा :—

स्वर्ग में पुण्य की सामग्री से परम सुख को प्राप्त करता है। उत्कृष्ट पुण्य से उत्तम स्वर्ग को प्राप्त करता है, मध्यम पुण्य से मध्य स्वर्ग को प्राप्त करता है और निम्न पुण्य से वैसा ही स्वर्ग मिलता है, इसमें अन्यथा नहीं

कनिष्ठेन तु पुण्येन स्वर्गो भवति तादृशः ॥ ३७ ॥
परोत्कर्षासहिष्णुत्वं स्पर्धा चैव समैश्च तैः ।
कनिष्ठेषु च सन्तोषो यावत् पुण्यक्षयो भवेत् ॥ ३८ ॥
क्षीणे पुण्ये विशन्त्येतं मर्त्यलोकं च मानवाः ।
इत्यादिगुणदोषाश्च स्वर्गे राजन्नवस्थिताः ॥ ३९ ॥
इति श्रुत्वा वचो भद्रे ! स राजा प्रत्यभाषत ।

राजोवाच

नेच्छामि देवदूताऽहं स्वर्गमीदृग्विधं फलम् ॥ ४० ॥
अतः परं महोग्रं च तपः कृत्वा कलेवरम् ।
त्यक्ष्याम्यहमशुद्धं हि जीर्णां त्वचमिवोरगः ॥ ४१ ॥
देवदूत ! विमानेदं गृहीत्वा त्वं यथाऽऽगतः ।
तथा गच्छ महेन्द्रस्य सन्निधौ त्वं नमोऽस्तु ते ॥ ४२ ॥

देवदूत उवाच

इत्युक्तोऽहं गतो भद्रे ! शक्रस्याऽग्रे निवेदितुम् ।
यथावृत्तं निवेद्याऽथ महदाश्चर्यतां गतः ॥ ४३ ॥
पुनः प्राह महेन्द्रो मां श्लक्ष्णं मधुरया गिरा ।

इन्द्र उवाच

दूत ! गच्छ पुनस्तत्र तं राजानं नयाऽऽश्रमम् ॥ ४४ ॥
वाल्मीकेर्ज्ञाततत्त्वस्य स्वबोधार्थं विरागिणम् ।
सन्देशं मम वाल्मीकेर्महर्षेस्त्वं निवेदय ॥ ४५ ॥
महर्षे ! त्वं विनीताय राज्ञेऽस्मै वीतरागिणे ।
न स्वर्गमिच्छते तत्त्वं प्रबोधय महामुने ! ॥ ४६ ॥
तेन संसारदुःखार्तो मोक्षमेष्यति च क्रमात् ।
इत्युक्त्वा देवराजेन प्रेषितोऽहं तदन्तिके ॥ ४७ ॥
मयाऽऽगत्य पुनस्तत्र राजा वल्मीकजन्मने ।
निवेदितो महेन्द्रस्य राज्ञा मोक्षस्य साधनम् ॥ ४८ ॥
ततो वल्मीकजन्माऽसौ राजानं समपृच्छत ।
अनामयमतिप्रीत्या कुशलप्रश्नवार्त्तया ॥ ४९ ॥

होता है । अर्थात् उत्तम पुण्य से उत्तम सुख-भोग, मध्यम-पुण्य से मध्यम-सुख-भोग, कनिष्ठ पुण्य से कनिष्ठ-सुख-भोग मिलता है ॥ ३६-३७ ॥

दूसरे के उत्कर्ष की असहिष्णुता, (यह कनिष्ठ पुण्य संभार के द्वारा प्राप्त कनिष्ठ स्वर्गस्थि की स्थित है ।) समान के साथ परस्पर स्पर्धा अर्थात् मध्य सुख वालों में परस्पर ईर्ष्या द्वेष एवं स्पर्धा का भाव रहता है, उत्तम सुख वालों को कनिष्ठों को देखकर जब तक पुण्य का नाश नहीं होता है तब तक सन्तोष होता है । अर्थात् उत्तम स्वर्ग वाले को कनिष्ठों के अल्प सुख के देखने से सन्तोष होता है, जबतक इनका पुण्य का भोग के द्वारा नाश नहीं होता है तब तक स्वर्ग में स्थिति होती है, पुण्य के नाश होने पर पुनः मानव मर्त्यलोक में आ जाता है। हे राजन् ! ये ही गुण और दोष स्वर्ग में भी रहते हैं। राजा ने इन बातों को सुनकर पुनः कहा ॥ ३८–३९$\frac{1}{2}$

राजा ने कहा :—

हे देवदूत ! इस प्रकार के फल को देने वाले स्वर्ग की कामना मैं नहीं करता हूँ ॥ ४० ॥

अनन्तर अतिशय उग्र तपस्या कर इस अशुद्ध शरीर को जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुल अर्थात् त्वचा का परित्याग करता है, उसी प्रकार छोड़ दूँगा ॥ ४१ ॥

हे देवदूत ! जिस तरह इस विमान को लेकर तुम यहाँ आये हो, उसी तरह इसको लेकर महेन्द्र के पास तुम चले जाओ, तुम्हारा अभिवादन है ॥ ४२ ॥

देवदूत ने कहा :—

हे कल्याणि ! इस प्रकार कहने पर मैं इन्द्र को निवेदन करने के लिए गया, इसके बाद यहाँ के वृत्तान्त को निवेदित कर कर अतिशय आश्चर्य हुआ । पुनः महेन्द्र ने प्रिय मधुर वचन से मुझे कहा ॥ ४३$\frac{1}{2}$ ॥

इन्द्र ने कहा :—

हे दूत ! तुम पुनः वहाँ जाओ और तत्त्ववेत्ता वाल्मीकि के आश्रम पर उस वैराग्य सम्पन्न राजा को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए ले जाओ, महर्षि वाल्मीकि को मेरा सन्देश निवेदन करना ॥ ४४-४५ ॥

हे महर्षे ! हे महामुने ! स्वर्ग की कामना से शून्य इस वीतराग विनीत राजा को आप तत्त्व के ज्ञान का उपदेश करें ॥ ४६ ॥

तत्त्वज्ञान होने से संसार दुःख से दुःखी क्रम से मोक्ष की प्राप्ति करोगे, यह कह कर देवराज इन्द्र ने मुझे उनके पास भेजा है ॥ ४७ ॥

अनन्तर मैं वहाँ आकर वाल्मीकि को (वल्मीक से उत्पन्न) सन्देश के निर्देश की सूचना के साथ राजा को निवेदित किया, राजा ने मोक्ष के साधन की जिज्ञासा की ॥ ४८ ॥

अनन्तर वाल्मीकि ने अतिशय प्रेम के साथ कुशल प्रज्ञापूर्वक आरोग्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा की ॥ ४९ ॥

राजोवाच

भगवन् ! धर्मतत्त्वज्ञ ! ज्ञातज्ञेय - विदांवर ! ।
कृतार्थोऽहं भवद्दृष्ट्या तदेव कुशलं मम ॥ ५० ॥
भगवन् ! प्रष्टुमिच्छामि तदविघ्नेन मे वद ।
संसारबन्धदुःखार्तेः कथं मुञ्चामि तद्वद ॥ ५१ ॥

वाल्मीकिरुवाच

शृणु राजन् ! प्रवक्ष्यामि रामायणमखण्डितम् ।
श्रुत्वाऽऽवधार्य यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥ ५२ ॥
वसिष्ठरामसंवादं मोक्षोपायकथां शुभाम् ।
ज्ञातस्वभावो राजेन्द्र ! वदामि श्रूयतां बुध ! ॥ ५३ ॥

राजोवाच

को रामः कीदृशः कस्य बद्धो वा मुक्त एव वा ।
एतन्मे निश्चितं ब्रूहि ज्ञानं तत्त्वविदां वर ! ॥ ५४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

शापव्याजवशादेव राजवेशधरो हरिः ।
आहृताज्ञानसम्पन्नः किञ्चिज्ज्ञोऽसौ भवत्प्रभुः ॥ ५५ ॥

राजोवाच

चिदानन्दस्वरूपे हि रामे चैतन्यविग्रहे ।
शापस्य कारणं ब्रूहि कः शप्ता चेति मे वद ॥ ५६ ॥

वाल्मीकिरुवाच

सनत्कुमारो निष्काम अवसद् ब्रह्मसद्मनि ।
वैकुण्ठादागतो विष्णुस्त्रैलोक्याधिपतिः प्रभुः ॥ ५७ ॥
ब्रह्मणा पूजितस्तत्र सत्यलोकनिवासिभिः ।
विना कुमारं तं दृष्ट्वा ह्युवाच प्रभुरीश्वरः ॥ ५८ ॥
सनत्कुमार ! स्तब्धोऽसि निष्कामो गर्वचेष्टया ।
अतस्त्वं भव कामार्तः शरजन्मेति नामतः ॥ ५९ ॥
तेनाऽपि शापितो विष्णुः सर्वज्ञत्वं तवाऽस्ति यत् ।
किञ्चित्कालं हि तत्त्यक्त्वा त्वमज्ञानी भविष्यसि ॥ ६० ॥
भृगुर्भार्यां हतां दृष्ट्वा ह्युवाच क्रोधमूर्च्छितः ।
विष्णो ! तवाऽपि भार्याया वियोगो हि भविष्यति ॥ ६१ ॥

राजा ने कहा :—

हे भगवन् ! हे धर्म-तत्त्ववेत्ता ! हे जानने योग्य विषयों के ज्ञाता ? हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! आपके दर्शन से मैं कृतार्थ हुआ, यही मेरा कुशल है ॥ ५० ॥

हे भगवन् ! मैं पूछना चाहता हूँ, आप निर्विघ्न रूप से वह मुझे बतायें, संसार-बन्धन रूपी दुःख से मेरा कैसे छुटकारा होगा—यह बतायें ॥

वाल्मीकि ने कहा :—

हे राजन् ! अखण्ड रामायण अर्थात् अद्वय तत्त्व प्रतिपादक रामायण मैं कहता हूँ, सुनो, सुनकर यत्नपूर्वक चित्त में अवधारण कर जीवन्मुक्त हो जाओगे ॥ ५२ ॥

वह रामायण वसिष्ठ और राम का संवाद, कुशल मोक्ष साधन की कथा है, हे राजेन्द्र ! आप ज्ञान में समर्थ हैं, अतः हे विद्वन् ! कहता हूँ, सुने ॥ ५३ ॥

राजा ने कहा :—

हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ ! राम कौन है ? कैसा स्वभाव है ? किस वंश के हैं ? बद्ध हैं ? या मुक्त हैं ? यह मुझे यथार्थ रूप से कहें ॥ ५४ ॥

वाल्मीकि ने कहा :—

शाप के व्याज के कारण ही हरि ने राजा के वेशको धारण किया, वह प्रभु आरोपित अज्ञान से सम्पन्न अल्पज्ञानी हो गये ॥ ५५ ॥

राजा ने कहा :—

सच्चिदानन्द स्वरूप चैतन्यस्वरूप राम के शाप की प्राप्ति का कारण बताएँ एवं किसने शाप दिया यह बताएँ ॥ ५६ ॥

वाल्मीकि ने कहा :—

कामना-शून्य सनत्कुमार ब्रह्मलोक में बैठे थे, इसी समय तीनों लोकों के अधिपति करने, न करने एवं अन्यथा करने में समर्थ प्रभु वैकुण्ठ से वहाँ आए ॥ ५७ ॥

वहाँ सत्य लोक में निवास करने वालों के साथ ब्रह्म से पूजित सनत्कुमार से सत्कार न किये जाने पर उन को देख कर सभी ऐश्वर्य सम्पन्न स्वामियों ने कहा ॥ ५८ ॥

हे सनत्कुमार ! अभिमान के कारण निष्काम होकर चुप चुप बैठे हो, इसलिए, तुम शरजन्मा (कार्तिकेय) के नाम से प्रसिद्ध काम से पीड़ित होगे ॥ ५९ ॥

सनत्कुमार ने भी विष्णु को शाप दिया कि तुम्हारी जो सर्वज्ञता है, उस को कुछ समय तक परित्याग कर तुम अज्ञानी होगे ॥ ६० ॥

क्रोधाविष्ट भृगु ने भी अपनी पत्नी का विष्णु के द्वारा विनाश देखकर यह कहा कि हे विष्णो ! तुम्हें भी भार्या का वियोग होगा ॥ ६१ ॥

वृन्दया शापितो विष्णुश्छलनं यत्त्वया कृतम् ।
अतस्त्वं स्त्रीवियोगं तु वचनान्मम यास्यसि ॥ ६२ ॥
भार्या हि देवदत्तस्य पयोष्णीतीरसंस्थिता ।
नृसिंहवेषधृग् विष्णुं दृष्ट्वा पञ्चत्वमागता ॥ ६३ ॥
तेन शप्तो हि नृहरिर्दुःखार्त्तः स्त्रीवियोगतः ।
तवाऽपि भार्यया सार्धं वियोगो हि भविष्यति ॥ ६४ ॥
भृगुणैवं कुमारेण शापितो देवशर्मणा ।
वृन्दया शापिता विष्णुस्तेन मानुष्यतां गतः ॥ ६५ ॥
एतत्ते कथितं सर्वं शापव्याजस्य कारणम् ।
इदानीं वच्मि तत्सर्वं सावधानमतिः शृणु ॥ ६६ ॥

वैराग्यप्रकरणे सूत्रपातनको नाम प्रथमः सर्गः ॥

वृन्दा ने भी विष्णु को शाप दिया था कि यतः तुमने छल किया है, अतः मेरे शाप से तुमको स्त्री का वियोग होगा ॥ ६२ ॥

नृसिंह वेषधारी विष्णु को देखकर पयोष्णी नदी के तट पर स्थित देवदत्त की भार्या मर गई थी, स्त्री वियोग-जन्य दुःख से पीड़ित देवदत्त ने भी नृसिंह को शाप दिया था कि तुम्हें भी भार्या का वियोग होगा ॥ ६४ ॥

भृगु, कुमार, देवशर्मा एवं वृन्दा के द्वारा शाप देने के कारण विष्णु ने मनुष्ययोनि को प्राप्त किया अर्थात् मनुष्य योनि में जन्म-ग्रहण किया ॥ ६५ ॥

इस प्रकार मैं शाप के व्याज के सभी कारणों को कहा, इस समय उन सभी विषयों को (अखण्ड रामायण के द्वारा कह रहा हूँ), सावधान चित्त से सुनो, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपायों को सूचित कर रहा हूँ—उसे सुनें ॥ ६६ ॥

वैराग्य प्रकरण में सूत्र-पातनक नाम की कुसुमलता का प्रथम सर्ग ।

२

दिवी भूमौ तथाऽऽकाशे बहिरन्तश्च मे विभु ।
यो विभात्यवभासात्मा तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ १ ॥

वाल्मीकिरुवाच

अहं बद्धो विमुक्तः स्यामिति यस्याऽस्ति निश्चयः ।

२

स्वर्ग, पृथ्वी तथा आकाश में मेरे बाहर और अभ्यन्तर जो व्यापक स्वरूप दीप्ति स्वरूप प्रकाशमान है उस सर्वात्मा को नमस्कार है अर्थात् व्यापक स्वयं प्रकाश सर्वत्र विराजमान ब्रह्म को नमस्कार है ॥१॥

वाल्मीकि मुनि ने कहा :—

(इस पद्य के द्वारा अधिकारी का निरूपण किया जा रहा है। क्योंकि, विषय, सन्देह, अधिकारी और प्रयोजनका निरूपण शास्त्रारम्भ में कहना चाहिए। अतः, इस शास्त्र के विषय एक सन्देह के निरूपण के बाद अधिकारी का निरूपण कर रहे हैं)

मैं (भवचक्र में गमनागमन के द्वारा पाप और पुण्य के फल दुःख और सुख के उपभोग से) बद्ध हूँ अर्थात् अविद्या एवं उसके कार्य से आबद्ध हूँ, मैं कैसे इस बन्धन से मुक्त हो जाऊँ, इस प्रकार का निश्चय जिसे है, एवं न अत्यन्त अज्ञ और न अतिशय तत्त्वज्ञानी है, उसी का इस शास्त्र में अधिकार है। अर्थात् इस शास्त्र में वही अधिकारी है।

[जो सर्वथा अज्ञ है, उसे किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता है, क्योंकि वह ऊहोपाह शून्य है और जो तत्त्व का भली-भाँति वेत्ता है उसे निर्णयात्मक ज्ञान है, अतः, उसे भी सन्देह नहीं होता है। प्रथम व्यक्ति को सन्देह है न इस में जानने से कोई प्रयोजन सिद्ध होता है दूसरे व्यक्ति भी असन्दिग्ध है, अतः उसे भी जिज्ञासा नहीं होगी। जिज्ञासु ही अधिकारी होता है, क्योंकि, अजिज्ञासित अर्थ का प्रतिपादन अनुचित है। क्योंकि, कोई भी ऊहापोह कुशल व्यक्ति ऐसा नहीं करता है और न उसका ग्रहण ही करता है, वरन् उसकी उपेक्षा करता है।

यह शास्त्र मोक्ष साधन शास्त्र है, यद्यपि वेदान्तादि भी मोक्ष-साधन शास्त्र प्रसिद्ध हैं, तथापि सरसता सम्पादनपूर्वक कथोपकथन के आधार पर सहज में तत्त्व जिज्ञासु को अभीष्ट विषय का ज्ञान इससे सम्भव है, अतः, इसका निर्माण सर्वथा अपेक्षित है एवं इसकी अन्य दर्शन शास्त्रों से गतार्थता भी सम्भव नहीं है। यही

नाऽत्यन्तमज्ञो नो तज्ज्ञः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान् ।२।
कथोपायान्विचार्याऽऽदौ मोक्षोपायानिमानथ ।
यो विचारयति प्राज्ञो न स भूयोऽभिजायते ॥ ३ ॥
अस्मिन् रामायणे रामकथोपायान् महाबलान् ।
एतांस्तु प्रथमं कृत्वा पुराऽहमरिमर्दन ! ॥ ४ ॥
शिष्यायाऽस्मि विनीताय भारद्वाजाय धीमते ।
एकाग्रो दत्तवांस्तस्मै मणिमब्धिरिवार्थिने ॥ ५ ॥
तत एते कथोपाया भरद्वाजेन धीमता ।
कस्मिंश्चिन्मेरुगहने ब्रह्मणोऽग्र उदाहृताः ॥ ६ ॥
अथाऽस्य तुष्टो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।
वरं पुत्र गृहाणेति तमुवाच महाशयः ॥ ७ ॥

भरद्वाज उवाच

भगवन् भूतभव्येश वरोऽयं मेऽद्य रोचते ।

कारण है कि अग्रिम पद्य के द्वारा रामकथोपाय को मूलाधार माना गया है ॥२॥

प्राज्ञ जन प्रथम कथा साधनों का भली-भाँति विचार कर (रामायण के द्वारा रामचरित्र का सम्यग् अनुशीलन कर अर्थात् रामचरित्र से कर्तव्य की दीक्षा प्राप्त कर वैराग्य संपत् की उपलब्धि एवं राग-द्वेष मूलक सांसारिक जीवन के प्रति उपेक्षा तथा कर्तव्य मार्ग पर चलकर कर्तव्यानुष्ठान से शरीर को पवित्र कर) अनन्तर मोक्ष साधन इस ग्रन्थ का विचार करते हैं तो वे पुनः संसार चक्र में नहीं आते हैं, अर्थात् उनकी भव-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है ॥३॥

हे शत्रुमर्दन ! पूर्व में मैंने इस रामायण में अतिशय बलाधायी रामकथा साधनभूत रामायण का निर्माण कर (इसका निर्माण किया है)। इसके द्वारा प्रथम रामायण में वर्णित रामकथा का ज्ञान अपेक्षित है, ईर्ष्या द्वेषादि साहित्य स्थिति सुलभ हो सके एवं नित्य, अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहिक और पारलौकिक सुखभोग के प्रति विराग, शम, दम, तितिक्षा उपरति आदि सम्पत्ति ही प्रायः अनन्तर मोक्ष की इच्छा अपरिहार्य रूप से होती है, मोक्षेच्छा की नहीं जाती है। इस प्रकार रामायण पूर्व मीमांसा स्थानीय जीवन यज्ञ है और यह उत्तर मीमांसा के समान उत्तर काण्ड है ॥४॥

बुद्धिमान्, विनीत, शिष्य भरद्वाज को अर्थी को जैसे समुद्र ने मणि दी थी वैसे ही एकाग्रचित्त होकर बुद्धिमान्, विनयसम्पन्न जिज्ञासु भरद्वाज को मैंने दी थी ॥५॥

अनन्तर मोक्षसाधनभूत कथा को धीमान् भारद्वाज ने सुमेरु स्थिति किसी गहन वन में ब्रह्मा के सम्मुख प्रस्तुत की थी ॥६॥

येनेयं जनता दुःखान्मुच्यते तदुदाहर ॥ ८ ॥

श्रीब्रह्मोवाच

गुरुं वाल्मीकिमत्राऽऽशु प्रार्थयस्व प्रयत्नतः ।
तेनेदं यत्समारब्धं रामायणमनिन्दितम् ॥ ९ ॥
तस्मिञ्छ्रुते नरो मोहात्समग्रात्सन्तरिष्यति ।
सेतुनेवाऽम्बुधेः पारमपारगुणशालिना ॥ १० ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्त्वा स भरद्वाजं परमेष्ठी मदाश्रमम् ।
अभ्यागच्छत् समं तेन भरद्वाजेन भूतकृत् ॥ ११ ॥
तूर्णं संपूजितो देवः सोऽर्घ्यपाद्यादिना मया ।
अवोचन्मां महासत्त्वः सर्वभूतहिते रतः ॥ १२ ॥

भरद्वाज से प्रसन्न लोक पितामह भगवान् ब्रह्माने महान् आशय सम्पन्न भरद्वाज से कहा हे पुत्र ! वर माँगो ॥७॥

भरद्वाज ने कहा :—

हे भगवन् ! भूत भविष्य के प्रभु जिससे जनता दुःख से छुटकारा पा सके यही वर मुझे रुचिकर है, इसी उपाय को बताएँ ॥८॥

श्रीब्रह्मा ने कहा :—

इस विषय में विशेष सावधानी से गुरु वाल्मीकि से प्रार्थन करो उन्होंने जिस अनिन्दित रामायण का आरम्भ किया है, उस रामायण के सुनने पर जैसे असीम गुणशाली सेतु से समुद्र को पार करता है : वैसे ही मानव सभी मोहों से छुटकारा पायेगा, अर्थात् भवसागर को पार करेगा ॥९॥

इस पद्य में "अपारगुणशालिना" यह सेतु में विशेषण है, इसके द्वारा सेतु दर्शन से ब्रह्महत्या से मुक्ति भी संकेतित है। "सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहति" ॥१०॥

श्रीवाल्मीकि मुनि ने कहा :—

यह कह कर प्राणियों के स्रष्टा पितामह ब्रह्मा भरद्वाज के साथ मेरे आश्रम पर आए ॥११॥

मैने अविलम्ब देवता की आर्घ्य-पाद्य आदि से भली-भाँति उनकी पूजा की। सभी प्राणियों के हित में रत महान् आशय सम्पन्न ने मुझ से कहा ॥१२॥

रामस्वभावकथनादस्माद् वरमुने ! त्वया ।
नोद्वेगात् स परित्याज्य आसमाप्तेरनिन्दितात् ॥ १३ ॥
ग्रन्थेनाऽनेन लोकोऽयमस्मात् संसारसङ्कटात् ।
समुत्तरिष्यति क्षिप्रं पोतेनेवाऽऽशु सागरात् ॥ १४ ॥
वक्तुं तदेवमेवाऽर्थमहमागतवानयम् ।
कुरु लोकहितार्थं त्वं शास्त्रमित्युक्तवानजः ॥ १५ ॥
मम पुण्याश्रमात्तस्मात् क्षणादन्तर्द्धिमागतः ।
मुहूर्त्ताभ्युत्थितः प्रोच्चैस्तरङ्ग इव वारिणः ॥ १६ ॥
तस्मिन् प्रयाते भगवत्यहं विस्मयमागतः ।
पुनस्तत्र भरद्वाजमपृच्छं स्वस्थया धिया ॥ १७ ॥
किमेतद् ब्रह्मणा प्रोक्तं भरद्वाज ! वदाऽऽशु मे ।
इत्युक्तेन पुनः प्रोक्तं भरद्वाजेन तेन मे ॥ १८ ॥

भरद्वाज उवाच

एतदुक्तं भगवता यथा रामायणं कुरु ।
सर्वलोकहितार्थाय संसारार्णवतारकम् ॥ १९ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! अनिन्दित इस रामचरित्र कथन का आरम्भ कर अर्थात् प्रारब्ध रामायण को उद्वेग के कारण समाप्ति से पूर्व ही नहीं छोड़ देना । क्योंकि जैसे नौका से शीघ्र ही समुद्र को पार कर लेता है, वैसे ही इस ग्रन्थ के द्वारा मानव संसार-दुःख से शीघ्र भली-भाँति उद्धार प्राप्त करेंगे । अर्थात् भव-सागर के सन्ताप से पार होने के लिए यह नौका है ॥१३-१४॥

यही कहने के लिए तुम्हारे सम्मुख मैं आया हूँ, लोक के कल्याण के लिए आप शास्त्रका निर्माण करें, यह अजन्मा ब्रह्मा ने कहा ॥१५॥

क्षण भर के लिए जल से उठी हुई उन्नत तरङ्ग के समान मेरे पुण्य आश्रम से क्षण भर में ही विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ब्रह्मा जी क्षण भर में इस कथन के बाद अन्तर्हित हो गये ॥१६॥

उस भगवान् ब्रह्मा के अन्तर्द्धान के बाद मैं आश्चर्यचरित रह गया, अनन्तर स्वस्थ चित्त हो कर भरद्वाज से पूछा ॥१७॥

हे भरद्वाज ! ब्रह्मा ने यह कौन सी बातें कही हैं यह मुझे शीघ्र बताओ, यह जिज्ञासा करने पर ब्रह्मा के साथ आये हुए भरद्वाज ने पुनः बताया ॥१८॥

भरद्वाज ने कहा :—

संसारसागर को पार करने वाली सभी प्राणियों का हित साधन के लिए रामायण का निर्माण करें, यही भगवान् पितामह ने कहा है ॥१९॥

मह्यं च भगवन् ! ब्रूहि कथं संसारसङ्कटे ।
रामो व्यवहृतो ह्यस्मिन् भरतश्च महामनाः ॥ २० ॥
शत्रुघ्नो लक्ष्मणश्चापि सीता चापि यशस्विनी ।
रामानुयायिनस्ते वा मन्त्रिपुत्रा महाधियः ॥ २१ ॥
निर्दुःखितां यथैते नु प्राप्तास्तद् ब्रूहि मे स्फुटम् ।
तथैवाऽहं भविष्यामि ततो जनतया सह ॥ २२ ॥
भरद्वाजेन राजेन्द्र ! वदेत्युक्तोऽस्मि सादरम् ।
तदा कर्त्तुं विभोराज्ञामहं वक्तुं प्रवृत्तवान् ॥ २३ ॥
शृणु वत्स ! भरद्वाज ! यथापृष्टं वदामि ते ।
श्रुतेन येन संमोहमलं दूरे करिष्यसि ॥ २४ ॥
तथा व्यवहर प्राज्ञ ! यथा व्यवहृतः सुखी ।
सर्वासंसक्तया बुद्धया रामो राजीवलोचनः ॥ २५ ॥
लक्ष्मणो भरतश्चैव शत्रुघ्नश्च महामनाः ।
कौसल्या च सुमित्रा च सीता दशरथस्तथा ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! यह भी मुझे बताने की कृपा करें कि इस संसार संकट में, राम ने, महामनस्वी भरत ने, लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने, यशस्विनी सीता ने एवं राम के अनुयायी अतिशय बुद्धिमान् मन्त्रिपुत्रों ने कैसा व्यवहार किया था ॥२०-२१॥

इन लोगों ने जिस व्यवहार से इस संसारसागर के दुःख का अतिक्रमण किया वह मुझे साफ-साफ बतायें, सभी जनताओं के साथ मैं भी वैसा ही व्यवहार करूँगा ॥२२॥

हे राजेन्द्र ! भरद्वाज ने अतिशय आदर के साथ मुझ से जिज्ञासा की और विधाता ने इस कार्य की सम्पादन की आज्ञा दी थी, अतः मैं रामयण कहने में प्रवृत्त हुआ ॥२३॥

हे भरद्वाज ! जैसी तुमने जिज्ञासा की है उसके अनुरूप ही मैं कह रहा हूँ, हे पुत्र ! तुम सुनो, जिसके सुनने से सम्मोह के अर्थात् आत्मतत्त्व के अज्ञान के कारण प्राप्त मालिन्य दूर हो जायगा ॥२४॥

हे महाविद्वन् ! जैसा व्यवहार कर अस्त्रधारी होते हुए भी सभी के प्रति भली-भाँति अनासक्त महामनस्वी बुद्धि से कमलनेत्र राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, सीता और दशरथ अविरोध भाव से व्यवहार कर सुखी हुए वैसा ही व्यवहार करो, ज्ञान में पारङ्गत वसिष्ठ और कामदेव एवम् अन्य आठ मन्त्रियों धृष्टि, जयन्त, भास, सत्य, विजय, विभीषण, सुषेण तथा

कृतास्त्रश्चाऽविरोधश्च बोधपारमुपागताः ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणोऽष्टौ तथेतरे ॥ २७ ॥
धृष्टिर्जयन्तो भासश्च सत्यो विजय एव च ।
विभीषणः सुषेणश्च हनुमानिन्द्रजित्तथा ॥ २८ ॥
एतेऽष्टौ मन्त्रिणः प्रोक्ताः समनीरागचेतसः ।
जीवन्मुक्ता महात्मानो यथाप्राप्तानुवर्तिनः ॥ २९ ॥
एतैर्यथा हुतं दत्तं गृहीतमुषितं स्मृतम् ।
तथा चेद्वर्त्तसे पुत्र ! मुक्त एवाऽसि संकटात् ॥ ३० ॥
अपारसंसारसमुद्रपाती
लब्ध्वा परां युक्तिमुदारसत्त्वः ।
न शोकमायाति न दैन्यमेति
गतज्वरस्तिष्ठति नित्यतृप्तः ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे सूत्रपातनिको नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इन्द्रजित् हनुमान् ये आठ मन्त्री समदर्शी, राग द्वेष शून्य चित्त, जीवन्मुक्त महात्माओं ने प्रारब्ध कर्मों का अनुवर्तन करते हुए जिस तरह स्मृति के अनुसार होम, अनुष्ठान और दान ग्रहण किया एवं जीवनयापन के लिए भोजन किया, वैसा ही व्यवहार करो, यदि तुम वैसा व्यवहार करोगे तो तुम संसार रूपी संकट से मुक्त ही हो ॥२५-३०॥

उदार हृदय व्यक्ति अपार संसारसागर में निमग्न होकर भी इस उत्कृष्ट योग को प्राप्त कर न शोक को प्राप्त करता है, न दीनता का अनुभव करता है, वरन् सभी विषमताओं अर्थात् दुःखों से रहित नित्य तृप्त हो कर जीवनयापन करता है ॥३१॥

ऋषि प्रणीत वासिष्ठमहारामायण के वैराग्य-प्रकरण में सूत्रपातनिका नाम का कुसुमलता का द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ।

३

भरद्वाज उवाच

जीवन्मुक्तस्थितिं ब्रह्मन् ! कृत्वा राघवमादितः ।
क्रमात् कथय मे नित्यं भविष्यामि सुखी यथा ॥ १ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अपुनःस्मरणं मन्ये साधो ! विस्मरणं वरम् ॥ २ ॥
दृश्यात्यन्ताभावबोधं विना तन्नाऽनुभूयते ।

३

भरद्वाज ने कहा :—

हे ब्रह्मन् ! राघव-चरित्र का आरम्भ कर अर्थात् रामकथा का अवलम्बन कर जीवन्मुक्तावस्था को आप क्रमशः कहें, जिसके श्रवण से मैं नित्य सुख को प्राप्त करूँ ॥१॥

श्रीवाल्मीकि मुनि ने कहा :—

हे साधो ! आकाश में (असम्भावित) नील पीत भ्रम के समान इस अविद्या का कार्यभूत भ्रमात्मक जगत् और जगत् के पदार्थों को विस्मृत होना ही अच्छा है, जिससे पुनः स्मरण ही न हो ॥२॥

जब तक दृश्य पदार्थों का अन्यन्त अभाव निश्चित रूप से अनुभूत नहीं होता है तब तक जीवन्मुक्त नहीं हो सकता है, इसलिए, किसी प्रकार किसी भी साधन से आत्मबोध का अन्वेषण करें।

आशय यह है कि रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, अविद्या का कार्य ही सर्प है, अर्थात् अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति होती है, उस भ्रम का अधिष्ठान जो रस्सी है उससे अतिरिक्त सर्प नहीं है। किन्तु आवरण और विक्षेप शक्ति वाली अविद्या के कारण रस्सी का स्वरूप आवृत हो जाता है और अविद्या की विक्षेप शक्ति से सर्प का प्रत्यक्ष होता है। दूसरे शब्दों में आश्रय रस्सी का अप्रत्यक्ष और असत्व का आपादन होता है। शब्दों

कदाचित्केनचिन्नाम स्वबोधोऽन्विष्यतामतः ॥ ३ ॥
स चेह संभवत्येव तदर्थमिदमाततम् ।
शास्त्रमाकर्णयसि चेत्तत्त्वमाप्स्यसि नाऽन्यथा ॥ ४ ॥
जगद्भ्रमोऽयं दृश्योऽपि नास्त्येवेत्यनुभूयते ।
वर्णो व्योम्नि इवाऽखेदाद्विचारेणाऽमुनाऽनघ ॥ ५ ॥
दृश्यं नाऽस्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥ ६ ॥
अन्यथा शास्त्रगर्तेषु लुठतां भवतामिह ।
भवत्यकृत्रिमाज्ञानां कल्पैरपि न निर्वृतिः ॥ ७ ॥

के द्वारा अर्थात् श्रवण और मनन के द्वारा असत्त्व की निवृत्ति होती है, किन्तु आभानापादक अविद्या की निवृत्ति रस्सी के साक्षात्कार से होता है। प्रकृत में ब्रह्म के स्वरूप का आवरण विक्षेपात्मिका शक्ति से नाम रूपात्मक जगत् का भान होता है। अतः, रामायण के अध्ययन से असत्त्वापादक अविद्या और उसके कार्य की निवृत्ति के बाद अविद्या के अधिष्ठानभूत ब्रह्म का साक्षात्कार होने से सभी जागतिक वस्तुओं का अत्यन्त अभाव हो जाता है, क्योंकि, अविद्या और उसका कार्य अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से नष्ट हो जाता है ॥३॥

वह ज्ञान इस योगवासिष्ठ रूप शास्त्र के अध्ययन से सम्भव है, इसीलिए, इस ग्रन्थ का प्रणयन किया, यदि इस शास्त्र को सुनोगे तो तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करोगे, अन्य उपाय से इसका ज्ञान नहीं किया जा सकता है ॥४॥

हे विशुद्धात्मात्मन् ! आकाश में दृश्यमान नील रूप के समान यह जगत् दृश्य होते हुए भी भ्रम स्वरूप है, परिश्रमपूर्वक अर्थात् सावधानी से इस ग्रन्थ के मनन से यह वास्तविक नहीं है—यह अनुभव होता है ॥५॥

यदि दृश्य पदार्थ नहीं है—इस ज्ञान से मन के द्वारा दृश्य का मार्जन अर्थात् संशोधन सम्पन्न होता है (मन की ब्रह्मात्मकवृत्ति के द्वारा ("मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इस श्रुति के अनुसार मन से भी ब्रह्म का साक्षात्कार कहा गया है) तो परनिर्वाणसम्पन्न होता है ॥६॥

यदि इस शास्त्र के परम तत्व का ज्ञानसम्पन्न न हो तो इस जगत् में शास्त्र समूहों का विचार करते रहने पर भी कल्पों के व्यतीत होने पर भी अनादि अज्ञान की समाप्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् सहज अज्ञान का निर्वाण नहीं हो सकता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस ग्रन्थ में पुनः-पुनः निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है, अतः वासनारूपी बन्धन की शान्ति की ओर ही सङ्केत है। आगे के ग्रन्थों में भी वासनाक्षय पर विशेष बलाधान किया गया है ॥७॥

अशेषेण परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
मोक्ष इत्युच्यते ब्रह्मन् ! स एव विमलक्रमः ॥ ८ ॥
क्षीणायां वासनायां तु चेतो गलति सत्वरम् ।
क्षीणायां शीतसंतत्यां ब्रह्मन् ! हिमकणो यथा ॥ ९ ॥
अयं वासनया देहो ध्रियते भूतपञ्जरः ।
तनुनाऽन्तर्निविष्टेन मुक्तौघस्तन्तुना यथा ॥ १० ॥
वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्मनो हेतुः शुद्धा जन्मविनाशिनी ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन् ! अशेष रूप से वासनाओं का जो परित्याग है वही उत्तम मोक्ष है ऐसा कहा जाता है, यही मल-रहित विशुद्ध स्वरूप है।

प्रकृत में 'अशेषेण' इस पद के द्वारा वासना का अत्यन्त नाश विवक्षित है, वह अविद्या और उसके कार्य के नाश से ही सम्भव है, अविद्यादि मलों का नाश ही विमल क्रम है। उपासना और कर्मों के अनुष्ठान से वासना का उच्छेद होने पर भी पुनः उसका बीजस्वरूप अविद्या के कारण उत्पत्ति सम्भावित है, अतः "अशेषेण" और "विमलक्रमः" के प्रयोगों से इस अर्थ को व्यक्त करते अद्वय वासनात्मक ब्रह्म के साक्षात्कार पर बलाधान किया है ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मन् ! शीत सन्तति की कमी होने पर हिमकण जिस प्रकार द्रवित हो जाता है अर्थात् काठिन्य समाप्त जल के रूप में उपलब्ध होता है, वैसे ही वासना के क्षीण होने पर चित्त शीघ्र ही द्रवित हो जाता है। अर्थात् पुञ्जीभूत वासना पिघल कर समाप्त हो जाती है, वासना के नाश से ही चित्त का नाश विवक्षित है ॥९॥

अन्दर में प्रविष्ट सूक्ष्म धागे से मुक्ता का समुदाय स्थिर रहता है वैसे ही यह भूतात्मक शरीर अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीर वासना से आधृत रहता है। अर्थात् वासना के न रहने पर चित्तवृत्ति का विषय नहीं रहता है। प्रकृत में वासना के नाश से संसार के आवागमन-साधन वासना का विनाश अर्थात् विषयमूलक वासना का नाश विवक्षित है ॥ १० ॥

शुद्ध और मलिन के भेद से वासना दो प्रकार की है, मलिन वासना जन्म का साधन है और शुद्ध जन्म को विनाश करने वाली होती है ॥ ११ ॥

अज्ञानसुघनाकारा घनाहङ्कारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥ १२ ॥
पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थिता संभृष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञातज्ञेया शुद्धेति चोच्यते ॥ १३ ॥
अपुनर्जन्मकरणी जीवन्मुक्तेषु देहिषु ।
वासना विद्यते शुद्धा देहे चक्र इव भ्रमः ॥ १४ ॥
ये शुद्धवासना भूयो न जन्माऽनर्थभाजनम् ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥ १५ ॥
जीवन्मुक्तिपदं प्राप्तो यथा रामो महामतिः ।
तत्तेऽहं श्रृणु वक्ष्यामि जरामरणशान्तये ॥ १६ ॥
भरद्वाज ! महाबुद्धे ! रामक्रममिमं शुभम् ।
श्रृणु वक्ष्यामि तेनैव सर्वं ज्ञास्यसि सर्वदा ॥ १७ ॥

अज्ञान अर्थात् अविद्या और उसके विपुल कार्यों से विपुल कलेवर वाली सघन अहङ्कार से समन्वित अर्थात् (कर्तृत्व भोतृक्तृत्व विषय रागद्वेषादि विभूषित) एवं पुनः संसार में जन्म कराने वाली वासना को विद्वानों ने मलिन वासना कहा है।

आशय यह है कि विषय की इयत्ता नहीं है, इनमें राग-द्वेषादिमूलक आसक्ति से यह वासना विपुल कलेवर वाली है एवं कर्तृत्व भोक्तृत्व रूपी अहङ्कार से समन्वित होने, निविड है इस तरह की वासना होने भवचक्र में पुनः - पुनः आना अपरिहार्य है, अतः यह वासना मलिन है ॥ १२ ॥

भुने गये बीज के समान पुनः जन्मरूपी अङ्कुर की शक्ति का परित्याग कर प्रारब्ध फल भोग के लिए, शरीर यात्रा निर्वाह के लिए, ज्ञान योग्य विषयों के ज्ञान से युक्त वासना शुद्धा कही जाती है।

आशय यह है ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी परमार्थ सत्य नहीं यह ब्रह्माण्ड अविद्या का कार्य है, सत्ता, ज्ञान और आनन्द के रूप में अभिन्न निमित्तोपादान के रूप में आश्रय ब्रह्म है। अविद्या से आवृत होने से संसार की सत्य रूप में प्रतीति हो रही है—इस ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति अविद्या के सभी कार्यों का ज्ञाता है, अतः उसकी प्रवृत्ति अनासक्तिमूलक होगी, इसलिए उसके कर्म बन्धन-कारी नहीं होंगे क्योंकि, वासना विषय की सत्यता से आबद्ध नहीं है ॥ १३ ॥

जीवन्मुक्तावस्था सम्पन्न शरीरधारियों की वासना पुनः संसार में जन्म कराने की हेतु नहीं होती है, चक्र में भ्रमण के समान वह देह में रहती है, अतः यह शुद्ध वासना है। भुने हुए बीज, बीज होने पर भी अङ्कुर के

विद्यागृहाद्विनिष्क्रम्य रामो राजीवलोचनः ।
दिवासान्यनयद् गेहे लीलाभिरकुतोभयः ॥ १८ ॥
अथ गच्छति काले तु पालयत्यवनिं नृपे ।
प्रजासु वीतशोकासु स्थितासु विगतज्वरम् ॥ १९ ॥
तीर्थपुण्याश्रमश्रेणीर्द्रष्टुमुत्कण्ठितं मनः ।
रामस्याऽभूद् भृशं तत्र कदाचिद्गुणशालिनः ॥ २० ॥
राघवश्चिन्तयित्वैवमुपेत्य चरणौ पितुः ।
हंसः पद्माविव नवौ जग्राह नखकेसरौ ॥ २१ ॥

श्रीराम उवाच

तीर्थानि देवसद्मानि वनान्यायतनानि च ।
द्रष्टुमुत्कण्ठितं तात ! ममेदं नाथ ! मानसम् ॥ २२ ॥

उत्पादन में समर्थ नहीं रहते है, इसी की पुष्टि इससे की गई है ॥ १४ ॥

जो अतिशय बुद्धिमान् ज्ञातव्य विषय के ज्ञान से समन्वित कहे जाते है, उनकी शुद्ध वासना पुनः संसार में जन्मग्रहण रूपी अनर्थ की सम्पादिका नहीं होती है। ज्ञातव्य विषय का ज्ञान रहने से उसके कर्म बन्धनकारी नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

महामति राम ने जिस प्रकार जीवन्मुक्ति पद को प्राप्त किया था उसे वृद्धावस्था और मृत्यु के (जरा-मरण के भय के) शमन के लिए तुमको मैं बता रहा हूँ, सुनो ॥ १६ ॥

हे महामति ! हे भारद्वाज ! रामचन्द्र का यह मङ्गलप्रद चरित्र कहता हूँ, तुम सुनो, इस श्रवण से ही सब कुछ देने वाले सभी विषय का जान लोगे ॥ १७ ॥

कमललोचन राम गुरु-गृह से आकर सर्वथा भय शून्य लीलापूर्वक घर में दिन व्यतीत किये ॥ १८ ॥

महाराज दशरथ पृथिवी का पालन कर रहे थे, सभी प्रजावर्ग शोकरहित आधिव्याधिशून्य जीवन व्यतीत कर रहे थे, अनन्तर कुछ दिन बीतने पर गुणशाली राघवेन्द्र का तीर्थ, पुण्याश्रम समूह का दर्शन करने के लिए चित्त अतिशय उत्कण्ठित हुआ ॥१९-२०॥

राघवेन्द्र ने इस प्रकार विचार कर जैसे हंस नवीन कमलों का आश्रयण करता है वैसे नख-किञ्जल्क से सुशोभित पिता के चरण कमलों का ग्रहण किया ॥२१॥

श्री राम ने कहा :—

हे पितृदेव ! तीर्थ, देव-मन्दिर, वन, आश्रमों को देखने के लिए, हे नाथ ! मेरा मन उत्कण्ठित है ॥२२॥

तदेतामर्थितां पूर्वां सफलां कर्तुमर्हसि ।
न सोऽस्ति भुवने नाथ ! त्वया योऽर्थी न मानितः ॥२३॥
इति संप्रार्थितो राजा वसिष्ठेन समं तदा ।
विचार्याऽमुञ्चदेवैनं रामं प्रथमर्मार्थिनम् ॥ २४ ॥
शुभे नक्षत्रदिवसे भ्रातृभ्यां सह राघवः ।
मङ्गलालङ्कृतवपुः कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः ॥ २५ ॥
वसिष्ठप्रहितैर्विप्रैः शास्त्रज्ञैश्च समन्वितः ।
स्निग्धैः कतिपयैरेव राजपुत्रवरैः सह ॥ २६ ॥
अम्बाभिर्विहिताशीर्भिरालिङ्ग्याऽऽलिङ्ग्य भूषितः ।
निरगात् स्वगृहात् तस्मात्तीर्थयात्रार्थमुद्यतः ॥ २७ ॥
निर्गतः स्वपुरात् पौरैस्तूर्यघोषेण वादितः ।
पीयमानः पुरस्त्रीणां नेत्रैर्भृङ्गौघभङ्गुरैः ॥ २८ ॥
ग्रामीणललनालोलहस्तपद्मापनोदितैः ।
लाजवर्षैर्विकीर्णात्मा हिमैरिव हिमाचलः ॥ २९ ॥
आवर्जयन् विप्रगणान् परिशृण्वन् प्रजाशिषः ।
आलोकयन् दिगन्तांश्च परिचक्राम जाङ्गलान् ॥ ३० ॥
अथाऽऽरभ्य स्वकात्तस्मात् क्रमात् कोशलमण्डलात् ।

हे नाथ ! मेरी इस प्रथम प्रार्थना को आप सफल कर सकते हैं, संसार में ऐसा कोई भी याचक नहीं है, जिसकी अभिलाषा आपने पूर्ण न की हो ॥२३॥

इस प्रकार राम के द्वारा प्रार्थित राजा ने वसिष्ठ मुनि के साथ विचार कर इस प्रथम प्रार्थना करने वाले राम को जाने की आज्ञा दे दी ॥२४॥

शुभ नक्षत्र और शुभ दिन में ब्राह्मणों के द्वारा स्वस्तिवाचनपूर्वक माङ्गलिक पदार्थों से शरीर को अलङ्कृतकर भाइयों के साथ वसिष्ठ मुनि के द्वारा भेजे गये विप्रों और शास्त्रवेत्ताओं द्वारा समन्वित कतिपय अपने स्नेही राजपुत्रों के साथ आशीर्वाद प्रदान करती हुई माताओं के द्वारा पुनः आलिङ्गित कर अलङ्कृत तीर्थयात्रा के लिए अपने घर से राघव ने प्रस्थान किया ॥२५-२७॥

राम की अपने पुर से यात्रा के प्रसङ्ग में निकलने के समय पुरवासियों ने तुरी-घोष का वादन किया एवं नगर की रमणियों ने भ्रमर पंक्तियों के समान चञ्चल नेत्रों से पान करती हुई हिमालय के बर्फ के समान ग्रामीण ललनाओं के चञ्चल कर-कमलों के द्वारा लावों की दृष्टि उनके शरीर को परिव्याप्त किया ॥२८-२९॥

स्नानदानतपोध्यानपूर्वकं स ददर्श ह ॥ ३१ ॥
नदीतीराणि पुण्यानि वनान्यायतनानि च ।
जङ्गलानि जनान्तेषु तटान्यब्धिमहीभृताम् ॥ ३२ ॥
मन्दाकिनीमिन्दुनिभां कालिन्दीं चोत्पलामलाम् ।
सरस्वतीं शतद्रूं च चन्द्रभागामिरावतीम् ॥ ३३ ॥
वेणीं च कृष्णवेणीं च निर्विन्ध्यां सरयूं तथा ।
चर्मण्वतीं वितस्तां च विपाशां बाहुदामपि ॥ ३४ ॥
प्रयागं नैमिषं चैव धर्मारण्यं गयां तथा ।
वाराणसीं श्रीगिरिं च केदारं पुष्करं तथा ॥ ३५ ॥
मानसं च क्रमसरस्तथैवोत्तरमानसम् ।
वडवावदनं चैव तीर्थवृन्दं स सादरम् ॥ ३६ ॥
अग्नितीर्थं महातीर्थमिन्द्रद्युम्नसरस्तथा ।
सरांसि सरितश्चैव तथा नदह्रदावलीम् ॥ ३७ ॥
स्वामिनं कार्तिकेयं च शालग्रामं हरिं तथा ।
स्थानानि च चतुःषष्टिं हरेरथ हरस्य च ॥ ३८ ॥
नानाश्चर्यविचित्राणि चतुरब्धितटानि च ।
विन्ध्यमन्दरकुञ्जांश्च कुलशैलस्थलानि च ॥ ३९ ॥

विप्रों को दान देते हुए प्रजाओं के आशीर्वचनों को सुनते हुए दिगन्त का अवलोकन करते हुए सघन वन में भ्रमण किया ॥३०॥

अनन्तर अपने उस कोशल मण्डल से प्रारम्भ कर स्नान, दान, तप और ध्यान का सम्पादन करते हुए रामचन्द्र ने पवित्र नदी तट, वन, आश्रम, वन देशों की सीमाओं पर अवस्थित समुद्र और पर्वतों के तटों इन्दु के समान मन्दाकिनी, नील कमल के समान अम्लान यमुना, सरस्वती और सतलज, चिनाव, इरावती, वेणी, कृष्णा से मिली वेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती, वितस्ता, व्यास, बाहुदा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, वाराणसी, श्रीपर्वत, केदार, पुष्कर तथा मानसरोवर, उत्तर मानस, ह्यग्रीवतीर्थ, अग्नितीर्थ, (ज्वालामुखी) महातीर्थ, इन्द्रद्युम्नसर एवं कुण्ड, नदियाँ, नदों, तालाबों का आदरपूर्वक दर्शन किया ॥३१-३७॥

स्वामी कार्तिकेय तथा शालग्राम हरि, हरि और हर चौंसठ स्थान, आश्चर्यमय अनेक विचित्रताओं से पूर्ण चारों समुद्रों के तट, विन्ध्य पर्वत और मन्दराचल के कुञ्ज, कुल-पर्वत के स्थलों' बड़े-बड़े राजर्षियों, महर्षियों, देवों और ब्राह्मणों, पवित्र मङ्गलमय आश्रमों को इसी प्रकार दिशाओं के सीमा प्रान्तों के सभी पृथिवी तटों

राजर्षीणां च महतां ब्रह्मर्षीणां तथैव च ।
देवानां ब्राह्मणानां च पावनानाश्रमाञ्छुभान् ॥ ४० ॥
भूयो भूयः स बभ्राम भ्रातृभ्यां सह मानदः ।
चतुर्ष्वपि दिगन्तेषु सर्वानेव महीतटान् ॥ ४१ ॥

अमरकिन्नरमानवमानितः
समवलोक्य महीमखिलामिमाम् ।
उपययौ स्वगृहं रघुनन्दनो
विहृतदिक् शिवलोकमिवेश्वरः ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठरामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे तीर्थयात्राकरणं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

का पुनः पुनः सम्मान देने वाले राघव ने भाइयों के साथ भ्रमण किया ॥३८-४१॥

जैसे सभी दिशाओं में विहार कर महेश कैलास आते हैं वैसे ही देव, किन्नर और मनुष्यों के द्वारा सम्मानित श्रीरघुनन्दन इस अशेष पृथिवी का अवलोकन कर अपने घर लौट आए ॥४२॥

इस ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीयोगवासिष्ठ रामायण के वैराग्य प्रकरण में तीर्थ-यात्राकरण नामक कुसुमलता का तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

४

श्रीवाल्मीकिरुवाच

रामः पुष्पाञ्जलिव्रातैर्विकीर्णः पुरवासिभिः ।
प्रविवेश गृहं श्रीमाञ्जयन्तो विष्टपं यथा ॥ १ ॥
प्रणनामाऽथ पितरं वसिष्ठं भ्रातृबान्धवान् ।
ब्राह्मणान् कुलवृद्धांश्च राघवः प्रथमागतः ॥ २ ॥
सुहृद्भिर्भ्रातृभिश्चैव पित्रा द्विजगणेन च ।
मुहुरालिङ्गिताचारो राघवो न ममौ मुदा ॥ ३ ॥
तस्मिन् गृहे दाशरथेः प्रियप्रकथनैर्मिथः ।
जुघूर्णुर्मधुरैराशा मृदुवंशस्वनैरिव ॥ ४ ॥
बभूवाऽथ दिनान्यष्टौ रामागमन उत्सवः ।
सुखं मत्तजनोन्मुक्तकलकोलाहलाकुलः ॥ ५ ॥
उवास स सुखं गेहे ततः प्रभृति राघवः ।
वर्णयन्विविधाकारान् देशाचारानितस्ततः ॥ ६ ॥

४

महर्षि वाल्मीकि ने कहा :—

नगरवासियों के द्वारा समर्पित पुष्पाञ्जलियों से परिव्याप्त राम ने, जैसे श्रीमान् जयन्त अमरावती में प्रवेश करता है वैसे ही अपने घर में प्रवेश किया ॥१॥

अनन्तर प्रथम आगत राघव ने पितृदेव, वसिष्ठ, भाई-बन्धुओं, ब्राह्मणों, कुल के वृद्ध-जनों को प्रणाम किया ॥२॥

मित्रों, भाइयों, पितृ देव और द्विजगणों के द्वारा पुनः पुनः आलिङ्गन किये गये और उन लोगों के साथ यथोचित व्यवहार कर राघव के आनन्द की सीमा नहीं थी, अर्थात् सभी को अभिवादन, प्रियभाषण, आदि व्यवहारों से जो आनन्द हुआ वह शरीर में समा नहीं रहा था, अर्थात् अतिशय हर्षोत्फुल्ल थे ॥३॥

उस घर में राम के मधुर वंशी की ध्वनि के समान परस्पर मधुर भाषणों से, आनन्दतिरेक से वे सब इधर-उधर भटकने लगे अर्थात् अतिशय आनन्द से दिशाओं का ज्ञान ही नहीं रह गया ॥४॥

अनन्तर राम के आगमन पर प्रसन्न लोगों के द्वारा स्वच्छन्द मधुर कोलाहल से परिव्याप्त आनन्दोत्सव आठ दिनों तक चलता रहा ॥५॥

आगमन दिन से विभिन्न प्रकार के देश के व्यवहारों को इधर-उधर वर्णन करते वह सुखपूर्वक घर पर निवास करने लगे ॥६॥

प्रातरुत्थाय रामोऽसौ कृत्वा सन्ध्यां यथाविधि ।
सभासंस्थं ददर्शेन्द्रसमं स्वं पितरं तथा ॥ ७ ॥
सुविचित्राभिः कथाभिः स वसिष्ठादिभिः सह ।
स्थित्वा दिनचतुर्भागं ज्ञानगर्भाभिरादृतः ॥ ८ ॥
जगाम पित्राऽनुज्ञातो महत्या सेनया वृतः ।
वराहमहिषाकीर्णं वनमाखेटकेच्छया ॥ ९ ॥
तत आगत्य सदने कृत्वा स्नानादिकं क्रमम् ।
समित्रबान्धवो भुक्त्वा निनाय ससुहृन्निशाम् ॥ १० ॥
एवंप्रायदिनाचारो भ्रातृभ्यां सह राघवः ।
आगत्य तीर्थयात्रायाः समुवास पितुर्गृहे ॥ ११ ॥
नृपतिसंव्यवहारमनोज्ञया
सुजनचेतसि चन्द्रिकयाऽनया ।
परिनिनाय दिनानि स चेष्टया
स्तुतसुधारसपेशलयाऽनघ ॥ १२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठरामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे दिवसव्यवहारनिरूपणं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

श्री राघवेन्द्र जी प्रातःकाल उठकर यथाविधि सन्ध्या सम्पन्न कर इन्द्र के समान सभा में विराजमान अपने पितृदेव का दर्शन करते थे ॥७॥

दिवस का चतुर्थ भाग अर्थात् तीन घण्टे महर्षि वसिष्ठ आदि के साथ ज्ञानमयी अतिशय विचित्र कथाओं के सत्सङ्ग में सादर बैठकर पिता की आज्ञा के अनुसार वराहों और महिषों से परिव्याप्त वन में शिकार की अभिलाषा से जाते थे ॥८-९॥

वन से लौट कर घर पर आकर स्नान आदि अवसर प्राप्त क्रियाओं से निवृत्त होकर मित्रों और बन्धुओं के साथ भोजन सम्पन्न कर मित्रों के साथ रात व्यतीत करते थे ॥१०॥

इस प्रकार दैनिक व्यवहार करते हुए लक्ष्मण और शत्रुघ्न भाइयों के साथ तीर्थयात्रा से लौटकर राघव ने पिता के घर में भली भाँति निवास किया ॥११॥

हे पुण्यात्मन्! राजाओं के अनुरूप व्यवहार से मनोरम, सज्जनों के हृदय में श्लाघनीय अमृत रस से स्निग्ध चन्द्रिका के समान पूर्वोक्त व्यवहार सम्पन्न करते हुए राघव ने दिवस व्यतीत किये ॥१२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठरामायण के वैराग्य प्रकरण में दिवस व्यवहार निरूपण नामक कुसुमलता का चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

५

श्रीवाल्मीकिरुवाच

अथोनषोडशे वर्षे वर्तमाने रघूद्वहे ।
रामानुयायिनि तथा शत्रुघ्ने लक्ष्मणेऽपि च ॥ १ ॥
भरते संस्थिते नित्यं मातामहगृहे सुखम् ।
पालयत्यवनिं राज्ञि यथावदखिलामिमाम् ॥ २ ॥
जन्यत्रार्थं च पुत्राणां प्रत्यहं सह मन्त्रिभिः ।
कृतमन्त्रे महाप्राज्ञे तज्ज्ञे दशरथे नृपे ॥ ३ ॥

५

महर्षि वाल्मीकि ने कहा—

राघव एवं रामानुयामी लक्ष्मण और शत्रुघ्न के भी सोलह वर्ष में कतिपय २ मास शेष रहने पर तथा नाना के घर पर सदा सुख पूर्वक भरत के निवास काल में इस अशेष पृथिवी का अच्छी तरह पालन करते हुए वे मन्त्रणा में कुशल अतिशय ज्ञान सम्पन्न महाराज दशरथ मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन पुत्रों के विवाह की चर्चा करते थे ॥ १-३ ॥

कृतायां तीर्थयात्रायां रामो निजगृहे स्थितः ।
जगामाऽनुदिनं कार्श्यं शरदीवाऽमलं सरः ॥ ४ ॥
कुमारस्य विशालाक्षं पाण्डुतां मुखमाददे ॥
पाकफुल्लदलं शुल्कं सालिमालमिवाऽम्बुजम् ॥ ५ ॥
कपोलतलसँल्लीनपाणिः पद्मासनस्थितः ।
चिन्तापरवशस्तूष्णीमव्यापारो बभूव ह ॥ ६ ॥
कृशाङ्गश्चिन्तया युक्तः खेदी परमदुर्मनाः ।
नोवाच कस्यचित्किञ्चिल्लिपिकर्मार्पितोपमः ॥ ७ ॥
खेदात् परिजनेनाऽसौ प्रार्थ्यमानः पुनः पुनः ।
चकाराऽऽह्निकमाचारं परिम्लानमुखाम्बुजः ॥ ८ ॥
एवंगुणविशिष्टं तं रामं गुणगणाकरम् ।
आलोक्य भ्रातरावस्य तामेवाऽऽययतुर्दशाम् ॥ ९ ॥
तथा तेषु तनूजेषु खेदवत्सु कृशेषु च ।
सपत्नीको महीपालश्चिन्ताविवशतां ययौ ॥ १० ॥
का ते पुत्र ! घना चिन्तेत्येवं रामं पुनः पुनः ।
अपृच्छत्स्निग्धया वाचा नैवाऽकथयदस्य सः ॥ ११ ॥
न किञ्चित्तात ! मे दुःखमित्युक्त्वा पितुरङ्कगः ।
रामो राजीवपत्राक्षस्तूष्णीमेव स्म तिष्ठति ॥ १२ ॥
ततो दशरथो राजा रामः किं खेदवानिति ।
अपृच्छत् सर्वकार्यज्ञं वसिष्ठं वदतां वरम् ॥ १३ ॥
इत्युक्तश्चिन्तयित्वा स वसिष्ठमुनिना नृपः ।
अस्त्यत्र कारणं श्रीमन्मा राजन् ! दुःखमस्तु ते ॥ १४ ॥
कोपं विषादकलनां विततं च हर्षं
नाऽल्पेन कारणवशेन वहन्ति सन्तः ।
सर्गेण संहृतिजवेन विना जगत्यां
भूतानि भूप न महान्ति विकारवन्ति ॥१५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे कार्श्यनिवेदनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

तीर्थ यात्रा सम्पन्न कर अपने घर पर निवास करते हुए शरद् ऋतु के निर्मल तालाब के समान राघव प्रतिदिन दुर्बल अर्था कृश होने लगा ॥ ४ ॥

पूर्ण विकसित श्वेत कमल भ्रमर पंक्तियों से परिव्याप्त के समान विशाल नेत्रों वाले कुमार (राम) के मुख पीत कान्त वाले हो गये । अर्थात् पूर्ण विकसित श्वेत कमल विशाल नेत्र उस पर केशर के समान पीताभ मुख वाली कृष्ण भ्रमर पंक्ति मध्य में पीत वर्ण कमल के किञ्जल्क रामके नीलाभ पीतकान्ति समन्वित विशाल नयन वाले मुख के लिए उचित उपमा है ॥५॥

कपोल को हाथ पर रक्ख कर चिन्ताग्रस्त, पद्मासन से बैठे हुए राम चुपचाप चेष्टा शून्य रहने लगे ॥६॥

कृशगात्र चिन्ता से ग्रस्त, दुःखी, उदास, चित्रलिखित के समान राम किसी से कुछ भी नहीं कहते थे ॥७॥

परिजनों के द्वारा पुनः पुनः प्रार्थना करने पर वे मन से सर्वथा म्लान मुखकमल राम दैनन्दिन आचार सम्पन्न करते थे ॥८॥

गुण राशि के समुद्र राम को इस प्रकार चिन्ता से ग्रस्त देखकर उनके दोनों भाइयों की भी वहीं दशा हो गई ॥९॥

दुःखी और कृश उन सभी पुत्रों को देखकर महारानी और महाराज चिन्ताग्रस्त हो गये ॥१०॥

हे वत्स ! "तुझे कौन सी बड़ी चिन्ता है", इस प्रकार स्नेह पूर्ण वाणी से पुनः पुनः राम से महाराज ने पूछा किन्तु पिताको राम ने कुछ भी नहीं कहा ॥११॥

हे तात ! मुझे कुछ भी दुःख नहीं है, यह कहकर पिता की गोद में स्थित होकर कमल पत्र के समान नेत्र वाले राम मौन ही रहते थे ॥१२॥

अनन्तर महाराज दशरथ ने "राम क्यों दुःखी हैं" वक्ताओं में श्रेष्ठ सभी कार्यों के वेत्ता महर्षि वसिष्ठ से पूछा ॥१३॥

वसिष्ठ मुनि ने विचार कर राजा दशरथ से इस प्रकार कहा हे श्रीमन् ! हे राजन् ! इसमें कुछ कारण है, आप दुःख न करें ॥१४।

जैसे ब्रह्माण्ड में पृथिवी आदि भूत तत्त्व सृष्टि और संहार के वेग के बिना बहुत बड़े विकार को (वृद्धि और नाश) नहीं प्राप्त करते हैं, वैसे ही सज्जन छोटे कारणों से कोप, विषाद=दुःख की रेखा और अतिशय हर्ष को नहीं प्राप्त करते हैं ॥१५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठरामायण के वैराग्य प्रकरण में कृशता सूचन नामक कुसुमलता का पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ते मुनिनाथेन सन्देहवति पार्थिवे ।
खेदवत्यास्थिते मौनं किञ्चित्कालप्रतीक्षणे ॥ १ ॥
परिखिन्नासु सर्वासु राज्ञीषु नृपसद्मसु ।
स्थितासु सावधानासु समचेष्टासु सर्वतः ॥ २ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु विश्वामित्र इति श्रुतः ।
महर्षिरभ्यगाद् द्रष्टुं तमयोध्यानराधिपम् ॥ ३ ॥
तस्य यज्ञोऽथ रक्षोभिस्तथा विलुलुपे किल ।
मायावीर्यबलोन्मत्तैर्धर्मकार्यस्य धीमतः ॥ ४ ॥
रक्षार्थं तस्य यज्ञस्य द्रष्टुमैच्छत् स पार्थिवम् ।
नहि शक्नोत्यविघ्नेन समाप्तुं स मुनिः क्रतुम् ॥ ५ ॥
ततस्तेषां विनाशार्थमुद्यतस्तपसां निधिः ।
विश्वामित्रो महातेजा अयोध्यामभ्यगात् पुरीम् ॥ ६ ॥
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ।
शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ॥ ७ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा द्वास्था राजगृहं ययुः ।
संभ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ॥ ८ ॥
ते गत्वा राजसदनं विश्वामित्रमृषिं ततः ।
प्राप्तमावेदयामासुः प्रतिहाराः पतेस्तदा ॥ ९ ॥
अथाऽऽस्थानगतं भूपं राजमण्डलमालिनम् ।
समुपेत्य त्वरायुक्तो याष्टीकोऽसौ व्यजिज्ञपत् ॥ १० ॥
देव ! द्वारि महातेजा बालभास्करभासुरः ।
ज्वालारुणजटाजूटः पुमाञ्छ्रीमानवस्थितः ॥ ११ ॥
सभासुरपताकान्तं साश्वेभपुरुषायुधम् ।
कृतवांस्तं प्रदेशं यस्तेजोभिः कोर्णकाञ्चनम् ॥ १२ ॥
वीक्ष्यमाणे तु याष्टीके निवेदयति राजनि ।
विश्वामित्रो मुनिः प्राप्त इत्यनुद्धतया गिरा ॥ १३ ॥
इति याष्टीकवचनमाकर्ण्य नृपसत्तमः ।
स समन्त्री ससामन्तः प्रोत्तस्थौ हेमविष्टरात् ॥ १४ ॥
पदातिरेव सहसा राज्ञां वृन्देन मालितः ।

६

बाल्मीकि मुनि ने कहा :—

मुनिनाथ वसिष्ठ जी के इस प्रकार कहने पर सन्देह युक्त महाराज ने चिन्ताग्रस्त कुछ समय की प्रतीक्षा करते हुए मौन-धारण किया तथा राजगृह की सभी रानियाँ सर्वथा दु:खी राम की चेष्टाओं में सभी प्रकार से विशेष ध्यान मग्न बैठी थीं ॥१-२॥

इसी समय विश्वामित्र के नाम से प्रसिद्ध महर्षि उस अयोध्या नगरी के नृपति के दर्शन के लिए पधारे ॥३॥

धर्मकार्य करने में तत्पर बुद्धिमान् विश्वामित्र के यज्ञ को माया, शक्ति और बल से उन्मत्त राक्षस-गण ध्वस्त कर दिया था ॥४॥

जब मुनि निर्विघ्न यज्ञ के सम्पादन में समर्थ न हो सके तब यज्ञ की रक्षा के लिए महाराज के दर्शन की इच्छा की ॥५॥

अनन्तर तपोनिधि महातेस्वी विश्वामित्र उनके विनाश के लिए उद्यत हो अयोध्या पुरी में आए ॥६॥

राजा के दर्शन का अभिलाषी उस मुनि ने द्वारपाल से कहा कि महाराज को शीघ्र सूचना दो कि गाधी के पुत्र कौशिक आए हैं ॥७॥

वाल्मीकि के उस वचन को सुनकर उस वाक्य से प्रेरित सभी द्वारपाल सम्भ्रान्तचित्त अर्थात् विलम्ब होने पर शाप न दे दें, अतः घबड़ाकर राजमहल में गये ॥८॥

अनन्तर राजमहल में जाकर विश्वामित्र ऋषि आए हैं—यह द्वारपालों ने अपने अध्यक्ष को या सभास्थित याष्टीक को सूचना दी ॥९॥

इसके बाद राजमण्डल माला से समन्वित सभा-स्थित महाराज को उस याष्टीक ने विश्वामित्र के आगमन की शीघ्रता से जाकर सूचना दी। देव ! महा तेजस्वी, उदयकालीन सूर्य के समान देदीप्यमान, अग्नि-शिखा के समान अरुण जटामालाधारी, श्रीमान्, पुरुष-स्वरूप दरबाजे पर आए हैं, जिसने अपनी दीप्ति से अश्व, हाथी, पुरुष, अस्त्र पताका पर्यन्त उस प्रदेश को भास्वरता प्रदान कर सुवर्ण की कान्ति के समान परि-व्याप्त कर दिया है। ऐसे तेजस्वी मुनि विश्वामित्र आए हैं। यह सुनकर के राजा सम्मुख विनम्र निवेदन करते हुए यष्टिधारी के देखते हुए मन्त्रिगण एवं सामन्तों के साथ वह नृपश्रेष्ठ सुवर्णासन से खड़े हो गये ॥१०-१४॥

सहसा राजसमूहों से घिरे हुए महर्षि वसिष्ठ और वामदेव के साथ सामन्तों से संस्तुत पैदल ही जहाँ महा-

वसिष्ठवामदेवाभ्यां सह सामान्तसंस्तुतः ॥ १५ ॥
जगाम यत्र तत्राऽसौ विश्वामित्रो महामुनिः ।
ददर्श मुनिशार्दूलं द्वारभूमाववस्थितम् ॥ १६ ॥
केनाऽपि कारणेनोर्वीतलमर्कमुपागतम् ।
ब्राह्मेण तेजसाऽऽक्रान्तं क्षात्रेण च महौजसा ॥ १७ ॥
जराजरठया नित्यं तपःप्रसररूक्षया ।
जटावल्ल्याऽऽवृतस्कन्धं ससंध्याभ्रमिवाऽचलम् ॥ १८ ॥
उपशान्तं च कान्तं च दीप्तमप्रतिघाति च ।
निभृतं चोर्जिताकारं दधानं भास्वरं वपुः ॥ १९ ॥
पेशलेनाऽतिभीमेन प्रसन्नेनाऽऽकुलेन च ।
गम्भीरेणाऽतिपूर्णेन तेजसा रञ्जितप्रभम् ॥ २० ॥
अनन्तजीवितदशासखीनेकामामनिन्दिताम् ।
धारयन्तं करे श्लक्ष्णां कुण्डीमम्लानमानसम् ॥ २१ ॥
करुणाक्रान्तचेतस्त्वात् प्रसन्नैर्मधुराक्षरैः ।

मुनि विश्वामित्र उपस्थित थे उस द्वार-भूमि पर उपस्थित मुनिश्रेष्ठ का दर्शन किया ॥१५-१६॥

ब्राह्मण तेज अर्थात् ब्रह्मर्षि होने से ब्राह्मण दीप्ति से तथा क्षात्रकान्ति अर्थात् क्षत्रिय - कुल में जन्म होने राजर्षि की आभा से परिव्याप्त मानो सूर्यदेव ही किसी कारण से पृथिवीतल पर आ गये हों ॥१७॥

वृद्धावस्था के कारण श्वेत एवं नित्य तपस्या में लीन रहने के कारण रुक्ष जटाराशि से विश्वामित्र के कन्धे ढ़क गये थे, अतःसन्ध्या कालीन अरुण आभा से रञ्जित शुभ्र मेघ से आच्छन्न पर्वत के समान दिखाई दे रहे थे ॥१८॥

सौम्य, देखने में प्रिय, कान्तिमान्, तेजोमय, अधिक काल तक दृष्टि जिस पर नहीं ठहर सकती है, अर्थात् चाक-चिक्यपूर्ण अथवा जिन पर किसी प्रकार भी आघात नहीं किया जा सकता है, विनयशील, प्रगल्भ अर्थात् सबल हृष्ट-पुष्ट अवयव वाले, प्रभामय या भास्कर पाठ मान में सूर्य शरीर धारण किये हुए ॥१९॥

दृष्टि और मन को प्रसन्न करने वाले, अतिशय भय सम्पादक, प्रसादगुणसम्पन्न, अतिशय दीप्ति से परि-व्याप्त, गम्भीर, अतिशय कान्ति से प्रभाभास्वर (शरीर धारी) ॥२०॥

चिरकाल से परिगृहीत, चिकना सुन्दर एक कमण्डलु हाथ में धारण किये हुए प्रसन्न चित्त, करुणा से द्रवित हृदय होने से प्रसाद गुण युक्त वाणी और अवलोकन

वीक्षणैरमृतेनेव संसिञ्चतमिमाः प्रजाः ॥ २२ ॥
युक्तयज्ञोपवीताङ्गं धवलप्रोन्नतभ्रुवम् ।
अनन्तं विस्मयं चाऽन्तःप्रयच्छन्तमिवेक्षितुः ॥ २३ ॥
मुनिमालोक्य भूपालो दूरादेवाऽऽनताकृतिः ।
प्रणनाम गलन्मौलिमणिमालितभूतलम् ॥ २४ ॥
मुनिरप्यवनीनाथं भास्वानिव शतक्रतुम् ।
तत्राऽभिवादयाञ्चक्रे मधुरोदारया गिरा ॥ २५ ॥
ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजातयः ।
स्वागतादिक्रमेणैनं पूजयामासुरादृताः ॥ २६ ॥

दशरथ उवाच

अशङ्कितोपनीतेन भास्वता दर्शनेन ते ।
साधो ! स्वनुगृहीताः स्मो रविणेवाम्बुजाकराः ॥ २७ ॥
यदनादि यदक्षुण्णं यदपायविवर्जितम् ।
तदानन्दसुखं प्राप्तं मया त्वद्दर्शनान्मुने ! ॥ २८ ॥

से सभी प्रजाओं पर मानों सुधारस सिञ्चित कर दिया ॥२१-२२॥

यज्ञोपवीत से शरीर समन्वित या, श्वेत और भौएँ थी । दर्शन करने वालों के हृदय में अनन्त विस्मय अर्थात् अतिशय अद्भुत भाव प्रदान करने वाले, देखने मात्र से विस्मयाविष्ट हृदय हो जाता था, ऐसे मुनि का दर्शन कर पृथ्वीपति दशरथ ने दूर से ही बिनत अर्थात् नत शरीर हो झुकने के कारण मुकुटमणियाँ मानों पृथिवी पर फैल गई हों इस रूप में प्रणाम किया ॥२३-२४॥

सूर्यदेव जैसे इन्द्र का प्रत्यभिवादन करे वैसे ही मधुर और उदार वाणी पृथिवीपति दशरथ को आशी-र्वाद देते हुए प्रत्यभिवादन किया अर्थात् नमस्कार का उत्तर दिया ॥२५॥

अनन्तर आदरणीय वसिष्ठ प्रभृति सभी द्विजातियों ने स्वागतादि क्रम से मुनि की पूजा की ॥२६॥

दशरथ ने कहा :—

हे भगवन् ! जैसे भास्कर कमलराशि को अनुगृहीत करते हैं वैसे ही आपके अतर्कित—आकस्मिक आपके तेजोमय दर्शन से हम सब अनुगृहीत हुए ॥२७॥

हे मुने ! अपके दर्शन से अनादि—कारण रहित, न्यून और अधिक भाव से शून्य अर्थात् सदा एकरस नाशरहित सदा वर्तमान अर्थात् सहज आनन्द सुख मैंने प्राप्त किया ॥२८॥

अद्य वर्तामहे नूनं धन्यानां धुरि धर्मतः ।
भवदागमनस्येमे यद्वयं लक्ष्यमागताः ॥ २९ ॥
एवं प्रकथयन्तोऽत्र राजानोऽथ महर्षयः ।
आसनेषु सभास्थानमासाद्य समुपाविशन् ॥ ३० ॥
स दृष्ट्वा मालितं लक्ष्म्या भीतस्तमृषिसत्तमम् ।
प्रहृष्टवदनो राजा स्वयमर्घ्यं न्यवेदयत् ॥ ३१ ॥
स राज्ञः प्रतिगृह्याऽर्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
प्रदक्षिणं प्रकुर्वन्तं राजानं पर्यपूजयत् ॥ ३२ ॥
स राज्ञा पूजितस्तेन प्रहृष्टवदनस्तदा ।
कुशलं चाऽव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ॥ ३३ ॥
वसिष्ठेन समागम्य प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
यथार्हं चार्ऽचयित्वैनं पप्रच्छाऽनामयं ततः ॥ ३४ ॥
क्षणं यथार्हमन्योन्यं पूजयित्वा समेत्य च ।
ते सर्वे हृष्टमनसो महाराजनिवेशने ॥ ३५ ॥
यथोचितासनगता मिथः संवृद्धतेजसः ।
परस्परेण पप्रच्छुः सर्वेऽनामयमादरात् ॥ ३६ ।

मेरे उद्देश्य से इस आपके आगमन से आज धर्म के कारण निश्चय धन्य पुरुषों में अग्रिम स्थान प्राप्त कर लिया है ॥२९॥

इस प्रकार राजा और महर्षि बात करते हुए सभा-स्थान में आकर आसन पर बैठ गये ॥३०॥

वह प्रसन्न मुख राजा भय से तपोलक्ष्मी समन्वित ऋषिश्रेष्ठ को स्वयं लाकर अर्घ्य निवेदित किया ॥३१॥

शास्त्र में वर्णित विधि के अनुसार राजा के अर्घ्य को स्वीकार कर प्रदक्षिणा करते हुए राजा की अतिशय प्रशंसा की ॥३२॥

उस राजा से पूजित प्रसन्न मुख महर्षि कुशल एवं राजकोष की परिपूर्णता की नृपति से जिज्ञासा की ॥३३॥

अनन्तर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ने वसष्ठि जी के समीप आकर प्रसन्न होकर यथोचित उनकी पूजा सम्पन्न कर कुशल समाचार पूछा। अर्थात् शिष्य, मृग आदि आश्रमवासियों की कुशलता पूछी ॥३४॥

कुछ क्षण तक यथोचित पूजा सम्दान कर प्रसन्न चित्त महाराज के प्रासाद में आकर परस्पर एक दूसरे की दीप्ति की अभिवृद्धि करते हुए यथोचित आसन पर बैठ गये और सादर सभी ने परस्पर कुशल की जिज्ञासा की ॥३५-३६॥

आसन पर बैठने के बाद महामति महर्षि विश्वामित्र जी से पाद्य, अर्घ्य और गौओं को निवेदित किया ॥३७॥

उपविष्टाय तस्मै स विश्वामित्राय धीमते ।
पाद्यमर्घ्यं च गां चैव भूयो भूयो न्यवेदयत् ॥ ३७ ॥
अर्चयित्वा तु विधिवद्विश्वामित्रमभाषत ।
प्राञ्जलिः प्रयतो वाक्यमिदं प्रीतमना नृपः ॥ ३८ ॥
यथाऽमृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमवर्षके ।
यथान्धस्येक्षणप्राप्तिर्भवदागमनं तथा ॥ ३९ ॥
अथेष्टदारसम्पर्कात् पुत्रजन्माऽप्रजावतः ।
स्वप्नदृष्टार्थलाभश्च भवदाऽऽगमनं तथा ॥ ४० ॥
यथेप्सितेन संयोग इष्टस्याऽऽगमनं यथा ।
प्रणष्टस्य यथा लाभो भवदागमनं तथा ॥ ४१ ॥
यथा हर्षो नभोगत्या मृतस्य पुनरागमात् ।
तथा त्वदागमाद् ब्रह्मन् ! स्वागतं ते महामुने ! ॥ ४२ ॥
ब्रह्मलोकनिवासो हि कस्य न प्रीतिमावहेत् ।
मुने ! तवाऽऽगमस्तद्वत् सत्यमेव ब्रवीमि ते ॥ ४३ ॥
कश्च ते परमः कामः किं च ते करवाण्यहम् ।
पात्रभूतोऽसि मे विप्र ! प्राप्तः परमधार्मिकः ॥ ४४ ॥

विधिवत् पूजा करने के बाद प्रसन्नचित्त राजा ने हाथ जोड़कर यह वाक्य विश्वामित्र जी से कहा ॥३८॥

जैसे मनुष्य को अमृत प्राप्ति, जैसे अनावृष्टि में वर्षा, जैसे अन्धे को दृष्टि प्राप्ति हो वैसा ही आपका यहाँ आगमन है ॥३९॥

जैसे सन्तति - रहित व्यक्ति को अपनी धर्मपत्नी के सम्पर्क से पुत्र की प्राप्ति, स्वप्न में दृष्ट अभीष्ट अर्थो का लाभ वैसा ही आपका आगमन है ॥४०॥

जैसे मनोवाञ्छित वस्तु के लाभ जैसे इष्ट की प्राप्ति जैसे प्रनष्ट का पुनः लाभ वैसा ही आपका दर्शन है ॥४१॥

जैसे आकाश मार्ग से मृत व्यक्ति के पुनः आगमन से हर्ष होता है वैसे ही हे ब्रह्मन् ! आपके आगमन से प्रसन्नता हुई है, हे महामुने ! आपका स्वागत है। नभो-गति और मृत का आगमन यह पृथक् हर्ष के कारण प्रतीत नहीं हो रहे ॥४२॥

ब्रह्मलोक में अर्थात् परमानन्द चिन्मय भूमि में निवास से किसको प्रीतिकर नहीं होता है, हे मुने ! आपका आगमन भी वैसा ही है—यह मैं आप से सत्य कह रहा हूँ ॥४३॥

हे विप्र ! आपको क्या अतिशय अभीष्ट है ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? परम धार्मिक सत्पात्र स्वरूप आप मेरे यहाँ पधारे हे ॥४४॥

पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ।
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि भगवन्मया ॥ ४५ ॥
गङ्गाजलाभिषेकेण यथा प्रीतिर्भवेन्मम ।
तथा त्वद्दर्शनात् प्रीतिरन्तः शीतयतीव माम् ॥ ४६ ॥
विगतेच्छाभयक्रोधो वीतरागो निरामयः ।
इदमत्यद्भुतं ब्रह्मन् ! यद्भवान् मामुपागतः ॥ ४७ ॥
शुभक्षेत्रगतं चाऽहमात्मानमपकल्मषम् ।
चन्द्रबिम्ब इवोन्मग्नं वेदवेद्यविदांवर ! ॥ ४८ ॥
साक्षादिव ब्रह्मणो मे तवाऽभ्यागमनं मतम् ।
पूतोऽस्म्यनुगृहीतश्च तवाऽभ्यागमनान्मुने ! ॥ ४९ ॥
त्वदागमनपुण्येन साधो यदनुरञ्जितम् ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं तत्सुजीवितम् ॥ ५० ॥

त्वामिहाऽभ्यागतं दृष्ट्वा प्रतिपूज्य प्रणम्य च ।
आत्मन्येव न माम्यन्तर्दृष्ट्वेन्दुं जलधिर्यथा ॥ ५१ ॥
यत्कार्यं येन वाऽर्थेन प्राप्तोऽसि मुनिपुङ्गव ! ।
कृतमित्येव तद्विद्धि मान्योऽसीति सदा मम ॥ ५२ ॥
स्वकार्ये न विमर्शं त्वंक तुंमर्हसि कौशिक ! ।
भगवन्नाऽस्त्यदेयं मे त्वयि यत्प्रतिपद्यते ॥ ५३ ॥
कार्यस्य न विचारं त्वं कर्तुमर्हसि धर्मतः ।
कर्ता चाऽहमशेषं ते दैवतं परमं भवान् ॥ ५४ ॥
इदमतिमधुरं निशम्य वाक्यं
श्रुतिसुखमात्मविदा विनीतमुक्तम् ।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टं
मुनिवृषभः परमं जगाम हर्षम् ॥५५॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे विश्वामित्राभ्यागमनं नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

पहले तप से दीप्तिमय प्रभा सम्पन्न राजर्षि शब्द से कहे जाते थे, हे भगवन् ! बाद में ब्रह्मर्षित्व को प्राप्त किया, आप मेरे पूज्य हैं ॥४५॥

जैसे गङ्गाजल के स्नान से मुझे प्रसन्नता होती है, वैसे ही आपके दर्शन से मेरा अन्तःकरण शीतल हो गया है ॥४६॥

हे ब्रह्मन् ! इच्छा, भय, क्रोध से परे अर्थात् इनसे रहित, राग शून्य अर्थात् अनासक्त एवं आधिव्याधि से रहित हैं, आप जो मेरे घर पर आए हैं—यह आश्चर्य की बात है ॥४७॥

हे ज्ञातव्य वस्तुओं के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ ! हे तत्त्वज्ञ श्रेष्ठ ! आपके आगमन से पुण्य-क्षेत्र में स्थित निष्पाप अपने को मानता हूँ और सुधामय चन्द्रबिम्व में निमग्न अनुभव कर रहा हूँ ॥४८॥

हे मुने ! आपका आगमन मेरे लिये साक्षात् ब्रह्म के आगमन के समान है, आपके आगमन से मैं पवित्र और अनुगृहीत हुआ ॥४९॥

हे साधो ! आपके आगम रूपी पुण्य से अनुरञ्जित मेरा जन्म आज सफल है और जीवन सार्थक है ॥५०॥

जैसे चन्द्र को देखकर जलधि का आनन्द अपने में नहीं समाता है, आनन्द की ज्वार-भाटा आ जाती है, वैसे ही आपका आगमन प्राप्त कर पूजा और प्रणाम सम्पन्न कर मैं आज अपने में नहीं समा पा रहा हूँ । अर्थात् आनन्दातिरेक की प्राप्ति हो रही है ॥५१॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! जिस कार्य और जिस प्रयोजन से आप पधारे हैं, उन्हें आप किया हुआ ही समझे, क्योंकि आप सदा मेरे मान्य हैं ॥५२॥

हे कौशिक !=हे विश्वामित्र ! आपको अपने कार्य के विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हे भगवन् ! मुझे आपके लिए कुछ भी अदेय नहीं है, अर्थात् आप जो कहेंगे, वही समर्पित करुंगा ॥५३॥

धर्मानुसार भी आपको अपने कार्य के विषय में विचार करना उचित नहीं है, अर्थात् मेरा कथन पूर्ण होगा या नहीं—यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, मैं सर्वस्व आपको समर्पित कर सकता हूँ, आप तो परम तेजस्वी हैं अर्थात् देव स्वरूप हैं ॥५४॥

आत्मतत्त्ववेत्ता दशरथ के द्वारा कही गई विनीत भाव से कर्ण प्रिय इस अतिशय मधुर वाणी को प्रख्यात गुण और कीर्ति से समन्वित गुणों के द्वारा असाधारण मुनिश्रेष्ठ अतिशय प्रसन्न हुए ॥५५॥

इस प्रकार वासिष्ठ महारामायण में वाल्मीकीय वैराग्य प्रकरण में विश्वामित्र का अभ्यागमन नामक कुसुमलता का छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥६॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम् ।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।। १ ।।
सदृशं राजशार्दूल ! तवैवैतन्महीतले ।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठवशवर्तिनः ।। २ ।।
यत्तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यविनिर्णयम् ।
कुरु त्वं राजशार्दूल धर्मं समनुपालय ।। ३ ।।
अहं धर्मं समातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ ! ।
तस्य विघ्नकरा घोरा राक्षसा मम संस्थिताः ।। ४ ।।
यदा यदा तु यज्ञेन यजेऽहं विबुधव्रजान् ।
तदा तदा तु मे यज्ञं विनिघ्नन्ति निशाचराः ।। ५ ।।
बहुशो विहिते तस्मिन् मया राक्षसनायकाः ।
अकिरंस्ते महीं यागे मांसेन रुधिरेण च ।। ६ ।।
अवधूते तथाभूते तस्मिन् यागकदम्बके ।
कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद्देशादुपागतः ।। ७ ।।
न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव! ।
तथाभूतं हि तत्कर्म न शापस्तस्य विद्यते ।। ८ ।।
ईदृशी यज्ञदीक्षा सा मम तस्मिन् महाक्रतौ ।
त्वत्प्रसादादविघ्नेन प्रापयेयं महाफलम् ।। ९ ।।
त्रातुमर्हसि मामार्त्तं शरणार्थिनमागतम् ।
अर्थिनां यन्निराशत्वं सत्तमेऽभिभवो हि सः ।। १० ।।
तवाऽस्ति तनयः श्रीमान् दृप्तशार्दूलविक्रमः ।
महेन्द्रसदृशो वीर्ये रामो रक्षोविदारणः ।। ११ ।।
तं पुत्रं राजशार्दूल ! रामं सत्यपराक्रमम् ।
काकपक्षधरं शूरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ।। १२ ।।
शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा ।
राक्षसा येऽपकर्तारस्तेषां मूर्द्धविनिग्रहे ।। १३ ।।
श्रेयश्चाऽस्य करिष्यामि बहुरूपमनन्तकम् ।
त्रयाणामपि लोकानां येन पूज्यो भविष्यति ।। १४ ।।

७

महर्षि वाल्मीकि ने कहा :—

राजश्रेष्ठ के इस अद्भुत विस्तृत वाक्य को सुनकर पुलकित रोम वाले महा तेजस्वी विश्वामित्र ने कहा ।।१।।

हे राजसिंह ! पृथ्वी पर महा वंश में उत्पन्न महर्षि वसिष्ठ के वशवर्ती आपके ही अनुरूप (ये वाक्य) हैं ।।२।।

राजसिंह ! जो अभी मेरे मन में वाक्य अवस्थित है उसके कर्तव्य का विशेष रूप से निश्चय करें और आप धर्म की भली भाँति रक्षा करें ।।३।।

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सिद्धि की प्राप्ति के लिए मैं यज्ञ का अनुष्ठान करता हूँ, उसमें विघ्न करने वाले अनेक राक्षसगण उपस्थित हो जाते हैं ।।४।।

जब-जब मैं यज्ञ के द्वारा देव समूहों की आराधना करता हूँ, तब-तब मेरे यज्ञ को राक्षसवर्ग नाश कर देते हैं ।।५।।

बहुधा मेरे द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान करने पर राक्षस नेता यज्ञ-भूमि को मांस और रुधिर से परिव्याप्त कर देते हैं ।।६।।

इस प्रकार मेरे द्वारा उन यज्ञों के अपवित्र होने पर श्रम करने निरुत्सहित होकर मैं अपने स्थान से यहाँ आया हूँ ।।७।।

हे पृथ्वीपते ! क्रोधपूर्वक शाप से विनाश करने की मेरी इच्छा नहीं होती है, क्योंकि, क्रोध शून्य होकर यज्ञ का अनुष्ठान होना चाहिए, इस अवसर पर शाप देना उचित नहीं है ।।८।।

उस महायज्ञ में मेरी इस प्रकार की याज्ञिक दीक्षा है, आपकी प्रसन्नता से निर्विघ्न यज्ञ सम्पन्न कर अतिशय फल प्राप्त करूँगा ।।९।।

हे सज्जनों में श्रेष्ठ ! मुझ जैसे पीड़ित अर्थात् कष्ट में पड़े हुए, आए हुए शरणार्थी का त्राण कर सकते हैं, अर्थी को निराश करना ही उसका तिरस्कार करना है ।।१०।।

उद्दीप्त सिंह के समान विक्रम शाली, कान्ति सम्पन्न शक्ति में महेन्द्र के समान, राक्षसों का नाशक आपका पुत्र राम है ।।११।।

हे राजसिंह ! अमोघ पराक्रमी अर्थात् अव्यर्थ विक्रम वाले बाणतर्कशधारी योद्धा बड़े पुत्र राम को देने का आप अनुग्रह करें ।।१२।।

दिव्य मेरे तेज के द्वारा रक्षित मेरा उपकार करने वाले राक्षसों के शिर काटने में यह समर्थ है ।।१३।।

मैं अनेक प्रकार के अवधि रहित अर्थात् जिसका कभी भी नाश होगा ऐसा कल्याण इनका करूँगा, जिससे यह तीनों लोकों में पूज्य होंगे ।।१४।।

न च ते राममासाद्य स्थातुं शक्ता निशाचराः ।
क्रुद्धं केसरिणं दृष्ट्वा वनेरिण इवैणकाः ॥ १५ ॥
तेषां न चाऽन्यः काकुत्स्थाद्योद्धुमुत्सहते पुमान् ।
ऋते केसरिणः क्रुद्धान्मत्तानां करिणामिव ॥ १६ ॥
वीर्योत्सिक्ता हि ते पापाः कालकूटोपमा रणे ।
खरदूषणयोर्भृत्याः कृतान्ताः कुपिता इव ॥ १७ ॥
रामस्य राजशार्दूल ! सहिष्यन्ते न सायकान् ।
अनारतगता धारा जलदस्येव पांसवः ॥ १८ ॥
न च पुत्रकृतं स्नेहं कमर्तुर्हसि पार्थिव ! ।
न तदस्ति जगत्यस्मिन् यत्र देयं महात्मनाम् ॥ १९ ॥
हन्त नूनं विजानामि हन्तस्तान् विद्धि राक्षसान् ।
नह्यस्मदादयः प्राज्ञाः संदिग्धे संप्रवृत्तयः ॥ २० ॥
अहं वेद्मि महात्मानं रामं राजीवलोचनम् ।
वसिष्ठश्च महातेजा ये चाऽन्ये दीर्घदर्शिनः ॥ २१ ॥
यदि धर्मो महत्त्वं च यशस्ते मनसि स्थितम् ।
तन्मह्यं समभिप्रेतमात्मजं दातुमर्हसि ॥ २२ ॥
दशरात्रश्च मे यज्ञो यस्मिन् रामेण राक्षसाः ।
हन्तव्या विघ्नकर्तारो मम यज्ञस्य वैरिणः ॥ २३ ॥
अत्राप्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददतां तव मन्त्रिणः ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे तेन रामं विसर्जय ॥ २४ ॥
नात्येति कालः कालज्ञ ! यथाऽयं मम राघव ! ।
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथा ॥ २५ ॥
कार्यमण्वपि काले तु कृतमेत्युपकारताम् ।
महानप्युपकारोऽपि रिक्ततामेत्यकालतः ॥ २६ ॥
इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ।
विरराम महातेजा विश्वामित्रो मुनीश्वरः ॥ २७ ॥
श्रुत्वा वचो मुनिवरस्य महानुभाव-
स्तूष्णीमतिष्ठदुपपन्नपदं स वक्तुम् ।
नो युक्तियुक्तकथनेन विनैति तोषं
धीमानपूरितमनोभिमतश्च लोकः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्य-प्रकरणे विश्वामित्रवाक्यं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

जैसे मृग क्रुद्ध सिंह को देखकर वन में उत्पन्न कोमल घास के समान खड़े नहीं हो सकते हैं, वैसे ही आप के राम के सम्मुख निशाचर गण नहीं ठहर सकते हैं ॥१५॥

जैसे मदमत्त हाथियों से क्रुद्ध सिंह को छोड़कर युद्ध के लिए समर्थ नहीं होता है, वैसे ही राम से अतिरिक्त कोई भी पुरुष उनके साथ युद्ध करने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥१६॥

वे पापी शक्ति से अभिमानी रण में कालकूट अर्थात् विष के समान है, खर और दूषण के मृत्यु से क्रुद्ध होने पर यम के समान हो जाते हैं, अर्थात् स्वयं बलवान् हैं और खर और दूषण जैसे स्वामी का भी बल है ॥१७॥

हे राजसिंह ! मेघ की अनवरत धारा को जैसे धूलियाँ नहीं सहन कर पाती हैं वैसे ही राम की वाणधारा को वे सहन नहीं करेंगे ॥१८॥

हे राजन् ! पुत्र का स्नेह करना उचित नहीं है, इस संसार में ऐसा कुछ भी नहीं जो महात्माओं के लिए अदेय है ॥१९॥

निश्चित रूप से मैं उन राक्षसों को मरा हुआ जान रहा हूँ, हम लोगों के समान प्रकृष्ट ज्ञानवान् पुरुषों की सन्दिग्ध विषय में सम्यक् प्रवृत्ति नहीं होती है ॥२०॥

कमल लोचन महात्मा राम को मैं जानता हूँ एवं महातेजस्वी वसिष्ठ तथा योगर्द्धि से व्यवहित और दूर की वस्तुओं के द्रष्टा अर्थात् सब कुछ जाने वाले योगी ही जानते हैं ॥२१॥

यदि धर्म, महत्व एवं यश की आकांक्षा मनमें अवस्थित है तो मुझे अपने प्रियतम पुत्र को दे सकते हैं ॥२२॥

दश रात तक मेरा यज्ञ चलेगा जिस यज्ञ में मेरे यज्ञ के वैरी विघ्नकर्ता राक्षसों को मारना होगा ॥ ३॥

हे काकुत्स्थ ! वसिष्ठ प्रमुख तुम्हारे सभी मन्त्रि-गण यदि अनुमति दें तो राम को मेरे साथ भेज दें ॥२४॥

हे समयज्ञ राघव ! जिस प्रकार मेरा यह समय व्यतीत न हो वैसा करें, आपका कल्याण होगा, हृदय में शोक को स्थान न दें ॥२५॥

समय पर किया गया छोटा कार्य भी उपकारक होता है और असमय में किया गया बहुत बड़ा उपकार भी निष्फल होता है ॥२६॥

धर्मात्मा, मुनिश्रेष्ठ, महातेजस्वी विश्वामित्र पूर्वोक्त धर्म और प्रयोजन समन्वित वाक्य को कह कर चुप हो गये ॥२७॥

महाज्ञानी दशरथ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र की वाणी सुनकर तर्क सम्मत वचन कहने के लिए चुप हो गये, क्योंकि, जिसका मनोवाञ्छित कार्य पूर्ण नहीं होता है, वह बुद्धिमान् युक्ति सङ्गत उत्तर के विना सन्तुष्ट नहीं होता है ॥२८॥

इस प्रकार आर्ष श्रीवासिष्ठ महारामायण में वाल्मीकीय वैराग्य-प्रकरण में
विश्वामित्र-वाक्य नामक कुसुमलता का सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ॥७॥

वाल्मीकिरुवाच

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम् ।
मुहूर्तमासीन्निश्चेष्टः सदैन्यं चेदमब्रवीत् ।। १ ।।
ऊनषोडशवर्षोऽयं रामो राजीवलोचनः ।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः ।। २ ।।
इयमक्षौहिणी पूर्णा यस्याः पतिरहं प्रभो ! ।
तया परिवृतो युद्धं दास्यामि पिशिताशिनाम् ।। ३ ।।
इमे हि शूरा विक्रान्ता भृत्या मन्त्रविशारदाः ।
अहं चैषां धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्द्धनि ।। ४ ।।
एभिः सहैव वीराणां महेन्द्रमहतामपि ।
ददामि युद्धं मत्तानां करिणामिव केसरी ।। ५ ।।
बालो रामस्त्वनीकेषु न जानाति बलाबलम् ।
अन्तःपुरादृते दृष्टा नाऽनेनाऽन्या रणावनिः ।। ६ ।।
न शस्त्रैः परमैर्युक्तो न च युद्धविशारदः ।
नवाऽस्त्रैः शूरकोटीनां तज्ज्ञः समरभूमिषु ।। ७ ।।
केवलं पुष्पखण्डेषु नागरीपवनेषु च ।
उद्यानवनकुञ्जेषु सदैव परिशीलनम् ।। ८ ।।
विहर्तुमेष जानाति सह राजकुमारकैः ।
कीर्णपुष्पोपहारासु स्वकास्वजिरभूमिषु ।। ९ ।।
अद्य त्वतितरां ब्रह्मन् ! मम भाग्यविपर्ययात् ।
हिमेनेव हि पद्माभः संपन्नो हरिणः कृशः ।। १० ।।
नाऽत्तुमन्नानि शक्नोति न विहर्तुं गृहावनिम् ।
अन्तःखेदपरीतात्मा तूष्णीं तिष्ठति केवलम् ।। ११ ।।
सदारः सहभृत्योऽहं तत्कृते मुनिनायक! ।
शरदीव पयोवाहो नूनं निःसारतां गतः ।। १२ ।।
ईदृशोऽसौ सुतो बाल आधिनाऽथ वशीकृतः ।
कथं ददामि तं तुभ्यं योद्धुं सह निशाचरैः ।। १३ ।।
अपि बालाङ्गनासङ्गादपि साधो सुधारसात् ।
राज्यादपि सुखायैव पुत्रस्नेहो महामते ! ।। १४ ।।

८

महर्षि वाल्मीकि ने कहा :—

विश्वामित्र के उस कथन को सुनकर राजसिंह क्षण भर के लिए निश्चेष्ट हो गये अनन्तर दीनता के साथ यह कहा ।।१।।

कमल लोचन राम अभी पूरे सोलह वर्ष के भी नहीं हुए राक्षसों के साथ युद्ध करने की योग्यता इसमें नहीं देखता हूँ ।।२।।

हे स्वामिन् ! यह मेरी पूर्ण अक्षौहिणी सेना है, मैं जिस अक्षौहिणी का अध्यक्ष हूँ, उसको साथ में लेकर राक्षसों से युद्ध करूँगा ।।३।।

ये सैनिक भयङ्कर वीर योद्धा, मन्त्रणा में पटु समर-भूमि में धनुष और बाण लेकर इनका रक्षक रहता हूँ ।।४।।

जैसे सिंह मदमस्त हाथियों के साथ युद्ध करता है वैसे ही इन लोगों को साथ लेकर महेन्द्र के समान महान् वीरों के साथ भी युद्ध करता हूँ ।।५।।

राम तो अभी बालक है युद्ध में बलाबल का ज्ञान भी नहीं है, अन्तःपुर छोड़कर आज तक इसने दूसरी रणभूमि भी नहीं देखी है ।।६।।

न तो यह श्रेष्ठ शस्त्रों से समन्वित है और न यह युद्ध में ही पारङ्गत है, समर भूमि करोड़ों शूरों के साथ अस्त्र ग्राम से कैसे युद्ध करना चाहिए—यह भी नहीं जानता है ।।७।।

यह केवल पुष्प समूहों से अलङ्कृत नगर के उपवनों में उद्यान, वन कुञ्जों में सदा परिभ्रमण और राजकुमारों के साथ विविध पुष्पों से समन्वित अपने प्रासाद के आङ्गन में विहार करना जानता है ।।८-९।।

आज कल तो मेरे भाग्य अतिशय विपरीत होने से हिमपात के समान कमल कान्ति श्रीराम दुबले पीले पड़ गये हैं। हिमपात से जैसे कमलश्री म्लान हो जाती है वैसे ही राम भी कृश और पीत हो गये हैं ।।१०।।

न वह अन्न खा सकता है और न गृह - भूमि में ही घूम सकता है, अन्तःकरण दुःख से वह केवल मौन बैठा रहता है ।।११।।

हे मुनिश्रेष्ठ ! राम की यह दशा देखकर भृत्य-पत्नियाँ और मैं सभी शरत्कालीन मेघ के समान निःसार हो गये हैं ।।१२।।

इस प्रकार मेरा बालक आधि-व्याधि से आक्रान्त हो गया है, (आप ही बताये कि) उसे कैसे मैं निशा-चरों से युद्ध करने के लिए आपको समर्पित करें ।।१३।।

हे साधो ! हे महामते ! बाल अङ्गना के सम्भोग सुधा= अमृत रस एवं राजभोग के सुख से भी पुत्र-स्नेह सुख बढ़कर है ।।१४।।

ये दुरन्ता महारम्भास्त्रिषु लोकेषु खेददाः ।
पुत्रस्नेहेन सन्तोऽपि कुर्वते तानसंशयम् ।। १५ ।।
असवोऽथ धनं दारास्त्यज्यन्ते मानवैः सुखम् ।
न पुत्रो मुनिशार्दूल ! स्वभावो ह्येष जन्तुषु ।। १६ ।।
राक्षसाः क्रूरकर्माणः कूटयुद्धविशारदाः ।
रामस्तान् योधयत्वित्थं युक्तिरेवाऽतिदुःसहा ।। १७ ।।
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
जीवितुं जीविताकाङ्क्षी न रामं नेतुमर्हसि ।। १८ ।।
नववर्षसहस्राणि मम जातस्य कौशिक ! ।
दुःखेनोत्पादितास्त्वेते चत्वारः पुत्रका मया ।। १९ ।।
प्रधानभूतस्तेष्वेव रामः कमललोचनः ।
तं विनेह त्रयोऽप्यन्ये धारयन्ति न जीवितम् ।। २० ।।
स एव रामो भवता नीयते राक्षसान् प्रति ।
यदि तत्पुत्रहीनं त्वं मृतमेवाऽऽशु विद्धि माम् ।। २१ ।।
चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिरत्रैव मे परा ।
ज्येष्ठं धर्ममयं तस्मान्न रामं नेतुमर्हसि ।। २२ ।।

तीनों लोकों में दुष्कर दुःखप्रद कष्टसाध्य तपस्या आदि का अनुष्ठान पुत्र के स्नेह से अनुष्ठित किये जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥१५॥

प्राण=जीवन धन और स्त्री-सुख को मानव-गण छोड़ सकते हैं, किन्तु, किन्तु हे मुनिसिंह ! पुत्र को नहीं छोड़ सकते—प्राणियों का यह स्वभाव है ॥१६॥

राक्षस क्रूर कर्म करने वाले होते हैं और कूट युद्ध में दक्ष हैं, राम उनसे युद्ध करेंगे—इस प्रकार की युक्ति ही उनके लिए अतिशय कठिन है ॥१७॥

मैं जीवन का अभिलाषी हूँ, अर्थात् जीवित रहना चाहता हूँ, किन्तु राम से वियुक्त क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता हूँ, अतः, राम को आप न ले जाँय ॥१८॥

हे गाधिनन्दन ! नौ हजार वर्ष व्यतीत होने के बाद अतिशय कष्ट से मैंने ये चार पुत्रों को उत्पन्न किये हैं ॥१९॥

इन चार पुत्रों में कमलनय राम सर्वप्रधान अर्थात् ज्येष्ठ हैं, इनके विना अन्य तीन भाई भी जीवन धारण नहीं कर सकते हैं ॥२०॥

इस राम को यदि राक्षसों के लिए आप ले जाते हैं तो पुत्रहीन मुझे शीघ्र मरा हुआ ही समझे ॥२१॥

चारों पुत्रों में ज्येष्ठ और धर्मात्मा राम पर ही मेरा अधिक स्नेह है अतः, राम को आप न ले जाँय ॥२२॥

निशाचरबलं हन्तुं मुने यदि तवेप्सितम् ।
चतुरङ्गसमायुक्तं मया सह बलं नय ।। २३ ।।
किंवीर्या राक्षसास्ते तु कस्य पुत्राः कथं च ते ।
कियत्प्रमाणाः के चैव इति वर्णय मे स्फुटम् ।। २४ ।।
कथं तेन प्रकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम् ।
मामकैर्बालकैर्ब्रह्मन् ! मया वा कूटयोधिनाम् ।। २५ ।।
सर्वं मे शंस भगवन् ! यथा तेषां महारणे ।
स्थातव्यं दुष्टभाग्यानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः ।। २६ ।।
श्रूयते हि महावीर्यो रावणो नाम राक्षसः ।
साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ।। २७ ।।
स चेत्तव मखे विघ्नं करोति किलदुर्मतिः ।
तत्संग्रामे न शक्ताः स्मो वयं तस्य दुरात्मनः ।। २८ ।।
काले काले पृथग्ब्रह्मन् भूरिवीर्यविभूतयः ।
भूतेष्वभ्युदयं यान्ति प्रलीयन्ते च कालतः ।। २९ ।।
अद्याऽस्मिंस्तु वयं काले रावणादिषु शत्रुषु ।
न समर्थाः पुरः स्थातुं नियतेरेष निश्चयः ।। ३० ।।

हे मुने ! यदि निशाचर सेना का संहार आपको अभीष्ट है तो चतुरङ्गिणी सेनाओं के साथ मुझे ले चलें ॥२३॥

वे राक्षस-गण कितने बलशाली, किसके पुत्र और किस प्रकार के और कितनी संख्या में हैं—ये सभी बातें आप स्पष्ट वर्णित करें ॥२४॥

हे ब्रह्मन् ! उन कूट योद्धा दुष्टात्मा राक्षसों के साथ उस राम के द्वारा, मेरे बालकों के द्वारा या मेरे द्वारा महान् रण-क्षेत्र में हे भगवन् ! किस प्रकार युद्ध करना चाहिए, क्योंकि, वे बल से गर्वित होते हैं ॥२५-२६॥

सुनता हूँ कि साक्षात् कुबेर का भाई विश्रवा मुनि का पुत्र अतिशय बलशाली रावण नाम का राक्षस है, यह वह दुर्बुद्धि दुरात्मा आपके यज्ञ में विघ्न कर रहा है तब हम सब उसके साथ संग्राम में समर्थ नहीं हैं ॥२७-२८॥

हे ब्रह्मन् ! समय-समय पर प्राणियों के मध्य में अति शक्ति और ऐश्वर्य से समन्वित व्यक्ति उदय प्राप्त करते हैं और कालवश नष्ट हो जाते हैं ॥२९॥

इस वर्तमान काल में रावण आदि शत्रुओं के सम्मुख उपस्थित होने में हम लोग समर्थ नहीं हैं—यह निर्यात=भाग्य की ही विडम्बना है ॥३०॥

तस्मात् प्रसादं धर्मज्ञ ! कुरु त्वं मम पुत्रके ।
मम चैवाऽल्पभाग्यस्य भवान् हि परदैवतम् ॥ ३१ ॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पर्वतपन्नगाः ।
न शक्ता रावणं योद्धुं किं पुनः पुरुषा युधि ॥ ३२ ॥
महावीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि राक्षसः ।
तेन सार्द्धं न शक्ताः स्म संयुगे तस्य बालकैः ॥ ३३ ॥
अयमन्यतमः कालः पेलवीकृतसज्जनः ।
राघवोऽपि गतो दैन्यं यतो वार्द्धकजर्जरः ॥ ३४ ॥
अथवा लवणं ब्रह्मन् ! यज्ञघ्नं ते मधोः सुतम् ।
कथयत्वसुरप्रख्यं नैव मोक्ष्यामि पुत्रकम् ॥ ३५ ॥
सुन्दोपसुन्दयोश्चैव पुत्रौ वैवस्वतोपमौ ।
यज्ञविघ्नकरौ ब्रूहि न ते दास्यामि पुत्रकम् ॥ ३६ ॥
अथ नेष्यसि चेद्ब्रह्मंस्तद्धतोऽस्म्यहमेव ते ।
अन्यथा तु न पश्यामि शाश्वतं जयमात्मनः ॥ ३७ ॥
इत्युक्त्वा मृदुवचनं रघूद्वहोऽसौ
कल्लोले मुनिमतसंशये निमग्नः ।
नाऽज्ञासीत् क्षणमपि निश्चयं महात्मा
प्रोद्वीचाविव जलधौ स मुह्यमानः ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे दशरथवाक्यं नामाऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ ! आप मेरे पुत्र पर कृपा करें मुझ जैसे अल्प भाग्य वाले के आपही परम देवता हैं ।।३१।।

देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, पर्वतीय पक्षिगण रावण के साथ युद्ध करने में समर्थ नहीं फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है, अर्थात् वे तो रावण से युद्ध करने में सर्वथा असमर्थ हैं ।।३२।।

रावण अतिशय शक्तिशाली व्यक्तियों की भी शक्ति को युद्ध में गृहीत कर लेते हैं, रावण के साथ एवं उसके बालकों के साथ भी युद्ध करने में हम लोग समर्थ नहीं हैं ।।३३।।

यह एक समय है जब सज्जन ही सुकुमार अर्थात् कमजोर हैं अर्थात् यह कालगति है, यतः मैं वार्द्धक्य के कारण जर्जर हो गया हूँ, अतः राम में भी दैन्य आ गया है ।।३४।।

हे ब्रह्मन् ! प्रख्यात मधु का पुत्र लवण आपके यज्ञ में विघ्न कर रहा है तब भी मैं अपने पुत्र को नहीं जाने दूँगा ।।३५।।

यम के समान सुन्द और उपसुन्द के पुत्र मारीच और सुबाहु आपके यज्ञ में विघ्न कर रहें हैं तब भी मैं पुत्र को नहीं भेजूँगा ।।३६।।

हे ब्रह्मन् ! यदि श्री रामचन्द्र को आप ले ही जायेंगे तो आपके द्वारा ही मार दिया जाऊँगा, इससे अतिरिक्त अर्थात् बिना मरे अपनी जय नहीं देख पा रहा हूँ ।।३७।।

इस प्रकार महाराज दशरथ उन्नत तरङ्गों वाले जलधि के समान कोमलकान्त वचनों को कह कर मुनि मत रूपी संशय में निमग्न मोहावस्थापन्न होते हुए क्षण भर के लिए भी अपना निश्चयात्मक विचार व्यक्त नहीं कर सके, अर्थात् भेजना चाहिए या नहीं यह निश्चय नहीं कर सके ।।३८।।

इस प्रकार आर्ष वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में दशरथ-वाक्य नामक कुसुमलता का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।।८।।

९

वाल्मीकिरुवाच
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलेक्षणम् ।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १ ॥
करिष्यामीति संश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमर्हसि ।
स भवान् केसरी भूत्वा मृगतामिव वाञ्छसि ॥ २ ॥

९

वाल्मीकि ने कहा :—

महाराज दशरथ के स्नेहाश्रु से आकुलित दर्शन समन्वित इस वचन को सुनकर क्रोध के साथ कौशिक ने राजा से यह प्रत्युत्तर वाक्य कहा ।।१।।

मेरे कहने पर "मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा" यह वचन देकर अब प्रतिज्ञा छोड़ना चाहते हो, आप सिंह होकर सियार बनने की कामना कर रहे हो ।।२।।

राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्याऽस्य विपर्ययः ।
न कदाचन जायन्ते शीतांशोरुष्णरश्मयः ॥ ३ ॥
यदि त्वं न क्षमो राजन्! गमिष्यामि यथागतम् ।
हीनप्रतिज्ञः काकुत्स्थ ! सुखी भव सबान्धवः ॥ ४ ॥

वाल्मीकिरुवाच

तस्मिन् कोपपरीतेऽथ विश्वामित्रे महात्मनि ।
चचाल वसुधा कृत्स्ना सुरांश्च भयमाविशत् ॥ ५ ॥
क्रोधाभिभूतं विज्ञाय जगन्मित्रं महामुनिम् ।
धृतिमान्सुव्रतो धीमान् वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद्धर्म इवाऽपरः ।
भगवान् दशरथः श्रीमांस्त्रैलोक्यगुणभूषितः ॥ ७ ॥
धृतिमान् सुव्रतो भूत्वा न धर्मं हातुमर्हसि ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मेण यशसा युतः ॥ ८ ॥
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व न धर्मं हातुमर्हसि ।

रघुवंश की रघु सम्बन्धी इस वंश की यह विपरीत गति उचित नहीं है, कभी-भी शीतांशु अर्थात् चन्द्रदेव की उष्ण किरण नहीं होती है ॥३॥

हे राजन् ! यदि तुम अपने वचन पूर्ण करने में असमर्थ हो तो मैं जैसे आया था वैसे ही जा रहा हूँ, हे काकुत्स्थ ! प्रतिज्ञा विच्युत तुम अपने बान्धवों के साथ सुखी रहो ॥४॥

वाल्मीकि ने कहा :—

उस महात्मा विश्वामित्र के कोपाविष्ट होने पर सम्पूर्ण वसुन्धरा काँपने लगी और देवगण भी भयभीत हो गये ॥५॥

जगत् के मित्र महामुनि को क्रोधाविष्ट समझ कर धृतिमान्, बुद्धिमान्, उत्तम व्रतों के अनुष्ठाता वसिष्ठ ने यह वाक्य कहा ॥६॥

श्री वसिष्ठ ने कहा :—

तीनों लोकों के गुणों से विभूषित साक्षात् दूसरे धर्म के स्वरूप श्रीमान् आप दशरथ इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न हुए हैं ॥७॥

तीनों लोकों के धर्म और यश के कारण प्रख्यात, धैर्य सम्पन्न सुन्दर अनुष्ठानों के कर्ता होकर धर्म का परित्याग नहीं कर सकते हो ॥८॥

अपने धर्म का पालन करो, कर्म का परित्याग न करो, त्रिभुवन स्वामी मुनि विश्वामित्र के वचन का पालन करें ॥९॥

मुनेस्त्रिभुवनेशस्य वचनं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
करिष्यामीति संश्रुत्य तत्ते राजन्नकुर्वतः ।
इष्टापूर्तं हरेद्धर्मं तस्माद्रामं विसर्जय ॥ १० ॥
इक्ष्वाकुवंशजातोऽपि स्वयं दशरथोऽपि सन् ।
न पालयसि चेद्वाक्यं कोऽपरः पालयिष्यति ॥ ११ ॥
युष्मदादिप्रणीतेन व्यवहारेण जन्तवः ।
मर्यादां न विमुञ्चन्ति तां न हातुं त्वमर्हसि ॥ १२ ॥
गुप्तं पुरुषसिंहेन ज्वलनेनाऽमृतं यथा ।
कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ॥ १३ ॥
एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष बुद्ध्याऽधिको लोके तपसां च परायणम् ॥ १४ ॥
एषोऽस्त्रं विविधं वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
नैतदन्यः पुमान् वेत्ति न च वेत्स्यति कश्चन ॥ १५ ॥
न देवा नर्षयः केचिन्नाऽसुरा न च राक्षसाः ।
न नागा यक्षगन्धर्वाः समेताः सदृशा मुनेः ॥ १६ ॥

हे राजन् ! करूँगा यह वचन देकर वैसा आचरण न करने पर अभीष्ट पूर्ण किये गये अनुष्ठानों से उत्पन्न धर्म का नाश हो जायगा, अतः राम को विश्वामित्र के साथ भेज दें ॥१०॥

इक्ष्वाकु वंश में जन्म-ग्रहण कर और स्वयं दशरथ होते हुए भी यदि दिये हुए वचन का पालन नहीं करोगे तो दूसरा कौन पालन करेगा। अर्थात् राजा प्रतिज्ञात वचन का पालन नहीं करेगा तो प्रजा के पालन का प्रश्न ही नहीं उठता है ॥११॥

आप लोगों के द्वारा अनुष्ठित व्यवहार के कारण ही प्राणिवर्ग मर्यादा का परित्याग नहीं करते हैं, अतः प्रतिज्ञा का परित्याग आप न करें ॥१२॥

जैसे प्रज्वलित अग्नि से रक्षित अमृत के समान पुरुषसिंह विश्वामित्र से रक्षित अस्त्र-विद्या में कुशल हो या अकुशल हो राम का राक्षस-गण कुछ भी करने में समर्थ नहीं होंगे ॥१३॥

यह विश्वामित्र मूर्तरूपधारी धर्म हैं, यह शक्तिशालियों में श्रेष्ठ हैं, यह बुद्धिमान् में भी सब से आगे हैं और तपस्या में सदारत हैं ॥१४॥

चर-अचर ब्रह्माण्ड में यह विविध अस्त्रों के ज्ञाता हैं अर्थात् शस्त्रग्रामवेत्ता हैं, इनसे अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति इतना शस्त्रज्ञ नहीं है और न होगा ॥१५॥

न देव, न ऋषि, न असुर, न राक्षस, न नाग, न यक्ष और न गन्धर्व एवं ये लोग मिलकर भी महर्षि विश्वामित्र के समान नहीं हैं ॥१६॥

अस्त्रमस्मै कृशाश्वेन परैः परमदुर्जयम् ।
कौशिकाय पुरा दत्तं यदा राज्यं समन्वगात् ॥ १७ ॥
ते हि पुत्राः कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतोपमाः ।
एनमन्वचरन् वीरा दीप्तिमन्तो महौजसः ॥ १८ ॥
जया च सुप्रभा चैव दाक्षायिण्यौ सुमध्यमे ।
तयोस्तु यान्यपत्यानि शतं परमदुर्जयम् ॥ १९ ॥
पञ्चाशतं सुतान् जज्ञे जया लब्धवरा पुरा ।
वधार्थं सुरसैन्यानां ते क्षमाः कामचारिणः ॥ २० ॥
सुप्रभा जनयामास पुत्रान् पञ्चाशतं परान् ।
संघर्षान्नाम दुर्धर्षान् दुराकारान् बलीयसः ॥ २१ ॥
एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो जगन्मुनिः ।
न रामगमने बुद्धिं विक्लवां कर्तुमर्हसि ॥ २२ ॥
अस्मिन् महासत्त्वतमे मुनीन्द्रे
स्थिते समीपे पुरुषस्य साधो ।
प्राप्तेऽपि मृत्यावमरत्वमेति
मा दीनतां गच्छ यथा विमूढः ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे वसिष्ठसमाश्वासनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

कौशिक जब राज्य कर रहे थे उस समय रुद्र ने, कृशाश्व से निर्मित अन्य व्यक्तियों से सर्वथा दुर्जय अस्त्र इन्हें प्रदान किया था ॥१७॥

प्रजापति के पुत्र रुद्र के समान संहारकारी विशिष्ट पराक्रम सम्पन्न अतिशय शक्तिशाली कृशाश्व के वे अस्त्र-रूपी पुत्र कौशिक के लिये दास के समान अनुगामी है ॥१८॥

जया और सुप्रभा दो दक्ष प्रजापति की सुन्दर कन्यायें थीं, उनके जो सौ पुत्र थे वे अतिशय दुर्धर्ष= लोगों के द्वारा दुर्जय थे ॥१९॥

वर प्राप्त कर (अर्थात् पतिसेवा वर की प्राप्ति कर) देव-सेनाओं के द्वारा असुर का वध करने में पुत्रों को जन्म दिया, सुप्रभा ने भली-भाँति युद्ध करने वाले, भयंकर वीर विशाल आकार सम्पन्न अतिशय बलवान् पचास पुत्रों को जन्म दिया ॥२०-२१॥

इस प्रकार शक्ति सम्पन्न महातेजस्वी जगत् में श्रेष्ठ मुनि सम्पूर्ण विश्व को हाथ पर रखे हुए आँवले के समान देखने वाले विश्वामित्र हैं इनके साथ राम के जाने में बुद्धि में विकलता न करें या जाने दें ॥२२॥

हे सज्जन ! इस महाप्रभवशाली मुनिश्रेष्ठ के समीप में रहने वाले पुरुष की मृत्यु होने पर भी अमरत्व की प्राप्ति होती है, अतः विशेष रूप से मोहापन्न आप दैन्य का अवलम्बन न करें ॥२३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वालमीकीय श्रीवासिष्ठ महारामायण में वैराग्य प्रकरण में वसिष्ठ के द्वारा समाश्वान नाम का कुसुमलता का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥९॥

१०

वाल्मीकिरुवाच

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः सुतम् ।
संप्रहृष्टमना राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥

दशरथ उवाच

प्रतीहार ! महाबाहुं रामं सत्यपराक्रमम् ।

१०

वाल्मीकि ने कहा :—

इस प्रकार वसिष्ठ जी के द्वारा कहने पर महाराज दशरथ ने अतिशय प्रसन्न चित्त हो लक्ष्मण के साथ अपने पुत्र राम को बुलवाया ॥१॥

दशरथ ने कहा :—

हे प्रतीहार ! विशाल भुजाओं वाले, सत्य पराक्रमी

सलक्ष्मणमविघ्नेन पुण्यार्थं शीघ्रमानय ॥ २ ॥
इति राज्ञा विसृष्टोऽसौ गत्वाऽन्तःपुरमन्दिरम् ।
मुहूर्त्तमात्रेणाऽऽगत्य समुवाच महीपतिम् ॥ ३ ॥
देव दोर्दलिताशेषरिपो रामः स्वमन्दिरे ।
विमनाः संस्थितो रात्रौ षट्पदः कमले यथा ॥ ४ ॥
आगच्छामि क्षणेनेति वक्ति ध्यायति चैकतः ।
न कस्यचिच्च निकटे स्थातुमिच्छति खिन्नधीः ॥ ५ ॥
इत्युक्तस्तेन भूपालस्तं रामानुचरं जनम् ।
सर्वमाश्वासयामास पप्रच्छ च यथाक्रमम् ॥ ६ ॥
कथं कीदृग्विधो राम इति पृष्टो महीभृता ।
रामभृत्यजनः खिन्नो वाक्यमाह महीपतिम् ॥ ७ ॥
देहयष्टिमिमां देव धारयन्त इमे वयम् ।
खिन्नाः खेदे परिम्लानतनौ रामे सुते तव ॥ ८ ॥
रामो राजीवपत्राक्षो यतः प्रभृति चाऽऽगतः ।
सविप्रस्तीर्थयात्रायास्ततः प्रभृति दुर्मनाः ॥ ९ ॥

(अर्थात् जिसका पराक्रम कभी भी व्यर्थ नहीं होता है) राम को लक्ष्मण के साथ निर्विघ्न पुण्य-कार्य के सम्पादन के लिए शीघ्र लाओ ॥२॥

महाराज के द्वारा भेजा गया वह अन्तःपुर भवन में जाकर क्षण भर बाद ही लौटकर महीपति से निवेदन किया ॥३॥

हे महाराज ! अपनी भुजाओं से अशेष शत्रुओं के नाशक ! अपने प्रासाद में, रात्रि में जैसे कमल में भ्रमर रहता है वैसे ही राम उदास बैठे हैं ॥४॥

क्षण भर में आ रहा हूँ—यह कहा है, किन्तु, दूसरी ओर ध्यानमग्न हैं, दुःखी अर्थात् म्लानमति किसी के निकट आने की इच्छा नहीं करता है ॥५॥

उसके द्वारा यह निवेदन करने पर पृथिवीपति ने राम - सेवक से सभी बातें यथाक्रम में पूछी और आश्वासन दिया, अर्थात् आश्वासन प्रदान कर सत्य बात जानना चाहा ॥६॥

राम कैसे हैं ? क्या कर रहे हैं ? इस महाराज के पूछने पर, राम-दास दुःख के साथ पृथिवीपति से—यह कहा ॥७॥

हे देव ! सर्वथा म्लान शरीरधारी आपके पुत्र राम के दुःखी रहने के कारण हमलोग केवल इस शरीर-यष्टि को धारण कर रहे हैं ॥८॥

कमल - पत्र सदृश नयन वाले राम जब से विप्र के

यत्नप्रार्थनयाऽस्माकं निजव्यापारमाह्निकम् ।
सोऽयमाम्लानवदनः करोति न करोति वा ॥ १० ॥
स्नानदेवार्चनादानभोजनादिषु दुर्मनाः ।
प्रार्थितोऽपि हि नाऽऽतृप्तेरश्नात्यशनमीश्वरः ॥ ११ ॥
लोलान्तःपुरनारीभिः कृतदोलाभिरङ्गणे ।
न च क्रीडति लीलाभिर्धाराभिरिव चातकः ॥ १२ ॥
माणिक्यमुकुलप्रोता केयूरकटकावलिः ।
नाऽऽनन्दयति तं राजन् ! द्यौः पातविषयं यथा ॥ १३ ॥
क्रीडद्वधूविलोकेषु वहत्कुसुमवायुषु ।
लतावलयगेहेषु भवत्यतिविषादवान् ॥ १४ ॥
यद् द्रव्यमुचितं स्वादु पेशलं चित्तहारि च ।
बाष्पपूर्णेक्षण इव तेनैव परिखिद्यते ॥ १५ ॥
किमिमा दुःखदायिन्यः प्रस्फुरन्तीः पुराङ्गनाः ।
इति नृत्तविलासेषु कामिनीः परिनिन्दति ॥ १६ ॥

साथ तीर्थयात्रा से लौटे हैं तभी से वे उदास रहते हैं ॥९॥

हम लोगों की सावधानी के साथ की गयी प्रार्थना पर सर्वथा उदास मुख वह राम अपने दैनन्दिन व्यापार को करते भी हैं या नहीं भी करते हैं ॥१०॥

स्नान, देवार्चन, दान, भोज आदि के लिए प्रार्थना करने पर वे मन से हम लोगों के प्रभु राम तृप्ति पर्यन्त भोजन नहीं करते हैं ॥११॥

धाराओं से जैसे चातक जलक्रीडा नहीं करता है वैसे ही दोला पर झूलती हुई चञ्चल अन्तःपुर की ललनाओं के साथ आंगन में क्रीड़ा नहीं करते हैं ॥१२॥

हे राजन् ! स्वर्ग से गिरने वालों को अर्थात् जिसका भोग के द्वारा पुण्य क्षीण हो गया है, जैसे स्वर्गीय वस्तु आनन्दप्रद नहीं होते हैं, वैसे ही माणिक्य मुकुल के रूप में जटित माणिक्य रत्न वाले भुजबन्द और काञ्चली भी उन्हें आनन्द नहीं देते हैं ॥१३॥

लीला करने वाली रमणियों से मण्डित कुसुम के आमोद से पूर्ण वायु वाले लता - कुञ्ज - गृहों में भी अतिशय उदास रहते हैं ॥१४॥

जो पदार्थ समीचीन स्वाद युक्त सुन्दर और मनोहर है उनको देखकर अश्रुपूर्ण नेत्र होते हुए उनसे अतिशय दुःख का अनुभव करते हैं ॥१५॥

ये अन्तःपुर की रमणियाँ गात्रविक्षेपों के समय क्यों

भोजनं शयनं यानं विलासं स्नानमासनम् ।
उन्मत्तचेष्टित इव नाऽभिनन्दत्यनिन्दितम् ।। १७ ।।
किं सम्पदा किं विपदा किं गेहेन किमिङ्गितैः ।
सर्वमेवाऽसदित्युक्त्वा तूष्णीमेकोऽवतिष्ठते ।। १८ ।।
नोदेति परिहासेषु न भोगेषु निमज्जति ।
न च तिष्ठति कार्येषु मौनमेवाऽवलम्बते ।। १९ ।।
विलोलालकवल्लर्यो हेलावलितलोचनाः ।
नाऽऽनन्दयन्ति तं नार्य्यो मृग्यो वनतरुं यथा ।। २० ।।
एकान्तेषु दिगन्तेषु तीरेषु विपिनेषु च ।
रतिमायात्यरण्येषु विक्रीत इव जन्तुषु ।। २१ ।।
वस्त्रपानाशनादानपराङ्मुखतया तया ।
परिव्राड्धर्मिणं भूप सोऽनुयाति तपस्विनम् ।। २२ ।।
एक एव वसन् देशे जनशून्ये जनेश्वर ! ।
न हसत्येकया बुद्धया न गायति न रोदिति ।। २३ ।।
बद्धपद्मासनः शून्यमना वामकरस्थले ।

ये दुःखदायिनी के रूप में अङ्ग का स्फुरण कर रही हैं, यह कहते हुए कामिनियों की निन्दा करते हैं ।।१६।।

उन्मत्त की क्रियाओं के समान प्रिय निर्दोष भोजन, शयन, यान, विलास, स्नान, आसन को भी अभिनन्दित नहीं करते हैं, अर्थात् वे भी प्रिय नहीं हैं ।।१७।।

सम्पत्ति से क्या, विपत्ति से क्या, घर से क्या, हाव-विलास चेष्टा से क्या—ये सभी असत् अर्थात् मिथ्या सारहीन हैं—यह कह कर मौन बैठे रहते हैं ।।१८।।

हास-परिहास में आनन्द का अनुभव नहीं करते हैं, भोगों में निमग्न नहीं होते हैं, कार्यों में योगदान नहीं करते—केवल मौन बैठे रहते हैं ।।१९।।

जिनके केशपाश चञ्चल पुष्प-मञ्जरियों से विभूषित हैं और विलास पूर्ण चपल कटाक्षवाली हैं ऐसी रमणियाँ उसी प्रकार राम को आनन्दित नहीं करती हैं जैसे पुष्पमञ्जरी स्वरूप अलकों वाली, चपल नेत्र हरिणी-वृन्द वृक्ष को आनन्दित नहीं करती हैं ।।२०।।

बिके हुए प्राणियों के समान एकान्त प्रदेश में, दिगन्त में, तीर पर, विपिनों में, अरण्यों में निवास प्रिय लगता है ।।२१।।

हे राजन् ! वस्त्र, पान, भोजन, ग्रहण से पराङ्मुख होने के कारण परिव्राज धर्मानुष्ठान करने वाले तपस्वी का अनुसरण कर रहे हैं ।।२२।।

हे प्रजापते ! जन शून्य एक ही स्थान में बैठे रहते हैं, मनोयोग से न हँसते हैं, न गाते हैं, न रोते हैं, पद्मासन बाँधकर शून्य हृदय, वाम हाथ की हथेली पर

कपोलतलमाधाय केवलं परितिष्ठति ।। २४ ।।
नाऽभिमानमुपादत्ते न च वाञ्छति राजताम् ।
नोदेति नाऽस्तमायाति सुखदुःखानुवृत्तिषु ।। २५ ।।
न विद्मः किमसौ याति किं करोति किमीहते ।
किं ध्यायति किमायाति कथं किमनुधावति ।। २६ ।।
प्रत्यहं कृशतामेति प्रत्यहं याति पाण्डुताम् ।
विरागं प्रत्यहं याति शरदन्त इव द्रुमः ।। २७ ।।
अनुयातो तथैवैतौ राजञ्छत्रुघ्नलक्ष्मणौ ।
तादृशाविव तस्यैव प्रतिबिम्बाविव स्थितौ ।। २८ ।।
भृत्यैं राजभिरम्बाभिः संपृष्टोऽपि पुनः पुनः ।
उक्त्वा न किञ्चिदेवेति तूष्णीमास्ते निरीहितः ।। २९ ।।
आपातमात्रहृद्येषु मा भोगेषु मनः कृथाः ।
इति पार्श्वगतं भव्यमनुशास्ति सुहृज्जनम् ।। ३० ।।
नानाविभवरम्यासु स्त्रीषु गोष्ठीगतासु च ।
पुरःस्थितमिवाऽस्नेहो नाशमेवाऽनुपश्यति ।। ३१ ।।

कपोल प्रदेश को रखकर केवल बैठे रहते हैं ।।२३-२४।।

सुख और दुःख के जनक पदार्थों से न प्रसाद और न विषाद होता है, न गर्व की चेष्टाएँ हैं और न राजत्व की आकांक्षा है ।।२५।।

हम लोग नहीं समझ पा रहे हैं कि वह क्या प्राप्त कर रहे हैं, क्या कर रहे हैं, क्या चाह रहे हैं, क्या ध्यान कर रहे हैं, क्या मिलता है ।।२६।।

शरद् ऋतु की समाप्ति के बाद वृक्ष के समान अर्थात् शरद् के वृक्ष के पत्ते पीले होकर गिर जाते हैं और वृक्ष कृश प्रतीत होता है वैसे ही प्रतिदिन कृशता बढ़ रही है, प्रतिदिन पीलापन बढ़ रहा है और प्रतिदिन वैराग्य की वृद्धि हो रही है ।।२७।।

हे राजन् ! रामचन्द्र का अनुगमन करते हुए लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी वैसे ही हो गये हैं मानों उन्हीं के प्रति-छवि के रूप में अवस्थित हैं ।।२८।।

भृत्यों, राजाओं एवं माताओं के द्वारा पुनः-पुनः अच्छी तरह पूछने पर भी "कुछ नहीं है" यह उत्तर दे कर चेष्टा शून्य होकर मौन बैठे रहते हैं ।।२९।।

विवेकी समीपस्थ मित्रों को उपदेश देते हैं कि आपात दृष्टि से प्रिय विषयोपभोगों से मन हटाओ ।।३०।।

अनेक अलङ्कारों से अर्थात् ऐश्वर्याभिव्यञ्जक आभूषणों से सुन्दर विलास चेष्टाओं में अवस्थित अपने सम्मुख उपस्थित रमणियों के प्रति स्नेह-रहित भावसम्पन्न नाश की ही भावना करते हैं ।।३१।।

नीतमायुरनायासपदप्राप्तिविवर्जितैः ।
चेष्टितैरिति काकल्या भूयो भूयः प्रगायति ॥ ३२ ॥
सम्राड् भवेति पार्श्वस्थं वदन्तमनुजीविनम् ।
प्रलपन्तमिवोन्मत्तं हसत्यन्यमना मुनिः ॥ ३३ ॥
न प्रोक्तमाकर्णयति ईक्षते न पुरोगतम् ।
करोत्यवज्ञां सर्वत्र सुसमेत्याऽपि वस्तुनि ॥ ३४ ॥
अप्याकाशसरोजिन्या अप्याकाशमहावने ।
इत्थमेतन्मन इति विस्मयोऽस्य न जायते ॥ ३५ ॥
कान्तामध्यगतस्याऽपि मनोऽस्य मदनेषवः ।
न भेदयन्ति दुर्भेद्यं धारा इव महोपलम् ॥ ३६ ॥
आपदामेकमावासमभिवाञ्छसि किं धनम् ।
अनुशिष्यति सर्वस्वमर्थिने संप्रयच्छति ॥ ३७ ॥
इयमापदियं संपदित्येवं कल्पनामयः ।

हम लोगों ने उत्तम पदकरी प्राप्ति के विना ही अनायास अनेक चेष्टाओं के साथ आयु व्यतीत कर दी—यह पुनः-पुनः मधुर वाणी से स्पष्ट कहते रहते हैं ॥३२॥

समीपस्थ भृत्यों के द्वारा यह कहने पर कि आप सम्राट् हो, उन्मत्त के समान प्रलाप कर रहा है, यह समझकर अन्यमनस्क हो हँसते हैं ॥३३॥

सावधानीपूर्वक कथित बात न सुनते हैं, और न सम्मुख स्थित वस्तु को देखते हैं, सदा गुण और प्रयोजन की दृष्टि से अपने अनुरूप वस्तु को प्राप्त कर भी उसका अनादर करते हैं ॥३४॥

आकाश रूपी महावन में आकाश कमलिनी जैसे असम्भव है अर्थात् आकाश वन और उस वन में कमलिनी दोनों ही असम्भव है, इसी प्रकार आत्मा में मन, मन में विस्मय यह सम्भव नहीं है अर्थात् बाह्य वस्तु गगन-कमलिनी के समान होने से मन भी उसी प्रकार है, अतः, इस आत्मतत्त्व का चिन्तन करने वालों को आश्चर्य नहीं होता है। अथवा संसार की इस गति को देखकर आश्चर्य होता है ॥३५॥

जैसे दुर्भेद्य=कष्ट से भी जिसका भेद नहीं हो सकता है ऐसे विशाल पत्थर के समान कान्ताओं के मध्य में स्थित भी राम के मन को काम के बाण विकार उत्पन्न नहीं करते हैं ॥३६॥

आपत्तियों का एकमात्र आश्रय स्थान धन की क्यों कामना करते हो, इस प्रकार का अनुशासन=उपदेश देते हुए याचक को सर्वस्व प्रदान कर देते हैं ॥३७॥

मनसोऽभ्युदितो मोह इति श्लोकान् प्रगायति ॥ ३८ ॥
हा हतोऽहमनाथोऽहमित्याक्रन्दपरोऽपि सन् ।
न जनो याति वैराग्यं चित्रमित्येव वक्त्यसौ ॥ ३९ ॥
रघुकाननशालेन रामेण रिपुघातिना ।
भृशमित्थं स्थितेनैव वयं खेदमुपागताः ॥ ४० ॥
न विद्मः किं महाबाहो ! तस्य तादृशचेतसः ।
कुर्मः कमलपत्राक्ष ! गतिरत्र हि नो भवान् ॥ ४१ ॥
राजानमथवा विप्रमुपदेष्टारमग्रतः ।
हसत्यज्ञमिवाऽव्यग्रः सोऽवधीरयति प्रभो ! ॥ ४२ ॥
यदेवेदमिदं स्फारं जगन्नाम यदुत्थितम् ।
नैतद् वस्तु न चैवाऽहमिति निर्णीय संस्थितः ॥ ४३ ॥
नाऽरौ नाऽऽत्मनि नो मित्रे न राज्ये न च मातरि ।
न संपदा न विपदा तस्याऽऽस्था न विभो बहिः ॥ ४४ ॥

यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है—यह मन से काल्पनिक मोह है, इस प्रकार के श्लोकों का प्रकृष्ट गायन करते हैं ॥३८॥

मैं मर गया, मैं अनाथ हूँ, इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए भी मनुष्य को वैराग्य नहीं होता है—यह आश्चर्य है, इस प्रकार वे कहते हैं ॥३९॥

रघुकुल रूपी अरण्य के शाल वृक्ष के समान, शत्रु के नाशक राम की यह स्थिति देखकर हम लोग अतिशय खिन्न रहते हैं ॥४०॥

हे महाबाहो ! इस प्रकार की अन्तःकरण की स्थिति से समन्वित राम के लिए हम लोगों का क्या कर्तव्य है—यह हम लोग नहीं समझते हैं। हे कमलपत्रनयन ! आप ही हम लोगों के लिए निर्देशक है ॥४१॥

हे प्रभो ! उपदेश देने वाले राजा या विप्र को अपने सम्मुख आने पर अज्ञ के समान निश्चिन्त होकर हँसते हैं और उनकी अवहेलना करते हैं ॥४२॥

यह जो विस्तृत जगत् नामरूपात्मक दिखाई देता है, यह परमार्थ सत्य पदार्थ नहीं है और कर्ता-भोक्ता मैं भी सत्य पदार्थ नहीं हूँ—यह निश्चयात्मक ज्ञान कर अवस्थित हैं ॥४३॥

हे विभो ! न शत्रु में, न अपने में=बान्धवों में, न राज्य में और न माता में, न सम्पत्ति में और न विपत्ति में, बाह्य किसी भी वस्तु में, उनकी आस्था नहीं है ॥४४॥

निरस्तास्थो निराशोऽसौ निरीहोऽसौ निरास्पदः ।
न मूढो न च मुक्तोऽसौ तेन तप्यामहे भृशम् ॥ ४५ ॥
किं धनेन किमम्बाभिः किं राज्येन किमीहया ।
इति निश्चयवानन्तः प्राणत्यागपरः स्थितः ॥ ४६ ॥
भोगेऽप्यायुषि राज्येषु मित्रे पितरि मातरि ।
परमुद्वेगमायातश्चातकोऽवग्रहे यथा ॥ ४७ ॥
इति तोके समायातां शाखाप्रसरशालिनीम् ।
आपत्तामलमुद्धर्तुं समुदेतु दयापरः ॥ ४८ ॥
तस्य तादृक्स्वभावस्य समग्रविभवान्वितम् ।
संसारजालमाभोगि प्रभो ! प्रतिविषायते ॥ ४९ ॥
इदृशः स्यान्महासत्त्वः क इवाऽस्मिन्महीतले ।
प्रकृते व्यवहारे तं यो निवेशयितुं क्षमः ॥ ५० ॥
मनसि मोहमपास्य महामनाः
सकलमार्तितमः किल साधुताम् ।
सफलतां नयतीह तमो हरन्
दिनकरो भुवि भास्करतामिव ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्य-प्रकरणे राघवविषादो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

यतः आस्थारहित आशाशून्य इच्छा शून्य, विशेष स्थानशून्य न मूढ़ और न मुक्त ही हैं, अतः हम लोग अतिशय सन्तप्त हैं ॥४५॥

धन से क्या, माताओं से क्या, राज्य से क्या, अनेक अभिलाषाओं से क्या ? इस प्रकार निर्णय कर प्राणत्याग के लिए तत्पर हैं ॥४६॥

वृष्टि होने में बाधा आने पर जैसे चातक अतिशय उद्विग्न हो जाता हैं वैसे ही भोग में, आयु में, राज्य में, मित्र में, पिता में, माता में परम उद्वेग हो गया है ॥४७॥

शाखा, प्रशाखा के विस्तार से समन्वित आई हुई आपत्तियों के समूह से उद्धार करने के लिए दयालु आप ही उद्योग तत्पर हों ॥४८॥

हे स्वामिन् ! पूर्वोक्त स्वभाव वाले राम को समग्र विभवों से समन्वित पूर्णतः उपभोगक्षम यह संसार-जाल विष के समान अनुभूत हो रहा है ॥४९॥

इस भूतल में कौन ऐसा महात्मा है जो रामचन्द्र को जगत् के व्यवहार में निविष्ट करने में समर्थ होगा। अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति प्रतीत नहीं होता है ॥५०॥

जैसे दिनकर सूर्य अपनी प्रभाभास्वरता को बिखेर अन्धकार को दूर कर सफलता प्राप्त करता है, इस प्रकार महामनस्वी नहीं है जो सभी दुःखरूपी, अन्धकार-रूपी मोह को राम के मन से दूर कर साधुता को सफल करे ॥५१॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्री वसिष्ठ महारामायण में वैराग्य प्रकरण में राघवविषाद नामक कुसुमलता का दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥

११

श्रीविश्वामित्र उवाच

एवं चेत्तन्महाप्राज्ञा भवन्तो रघुनन्दनम् ।
इहाऽऽनयन्तु त्वरिता हरिणं हरिणा इव ॥ १ ॥
एष मोहो रघुपतेर्नाऽऽपद्भ्यो न च रागतः ।
विवेकवैराग्यवतो बोध एव महोदयः ॥ २ ॥

११

श्रीविश्वामित्र ने कहा :—

यदि ऐसी बात है तो जैसे मृगों का समूह अपने यूथ-पति मृग को लाता है वैसे ही महामति आप लोग रघुनन्दन को शीघ्र यहाँ ले आएँ ॥१॥

विवेक वैराग्यसम्पन्न रघुपति का यह महाफलप्रद ही बोध है, यह आपत्ति या राग के कारण नहीं हुआ है ॥२॥

इहाऽऽयातु क्षणात् राम इह चैव वयं क्षणात् ।
मोहं तस्याऽपनेष्यामो मारुतोऽद्रेर्घनं यथा ॥ ३ ॥
एतस्मिन् मार्जिते युक्त्या मोहे स रघुनन्दनः ।
विश्रान्तिमेष्यति पदे तस्मिन् वयमिवोत्तमे ॥ ४ ॥
सत्यतां मुदितां प्रज्ञां विश्रान्तिमपतापताम् ।
पीनतां वरवर्णत्वं पीतामृत इवैष्यति ॥ ५ ॥
निजां च प्रकृतामेव व्यवहारपरम्पराम् ।
परिपूर्णमना मान्य आचरिष्यत्यखण्डितम् ॥ ६ ॥
भविष्यति महासत्त्वो ज्ञातलोकपरावरः ।
सुखदुःखदशाहीनः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ७ ॥
इत्युक्ते मुनिनाथेन राजा संपूर्णमानसः ।
प्राहिणोद्राममानेतुं भूयो दूतपरम्पराम् ॥ ८ ॥
एतावताऽथ कालेन रामो निजगृहासनात् ।
पितुः सकाशमागन्तुमुत्थितोऽर्क इवाऽचलात् ॥ ९ ॥
वृतः कतिपयैर्भृत्यैर्भ्रातृभ्यां च जगाम ह ।
तत्पुण्यं स्वपितुः स्थानं स्वर्गं सुरपतेरिव ॥ १० ॥

जैसे वायु पर्वत के मेघ को हटा देता है वैसे ही राम यहाँ आए यहीं हम लोग क्षण भर में उनका मोह हटा देंगे ॥३॥

युक्ति अर्थात् तर्क से मोह दूर हो जाने पर हम लोगों की ही तरह रामचन्द्र जी उस उत्तम पद अर्थात् चिन्मय भूमि में विश्रान्ति प्राप्त करेंगे ॥४॥

अनन्तर सुधारसपान किये हुए के समान सन्ताप शून्य होकर सत्य, आनन्दस्वरूप प्रज्ञा को प्राप्त कर अतिशय कान्ति सम्पन्न होकर पुष्ट शरीर को धारण करेंगे ॥५॥

मान्य रामचन्द्र परिपूर्ण चित्त अपनी अवस्था के अनुरूप व्यवहारों का सम्पादन निर्विघ्न रूप से करेंगे ॥६॥

महात्मा राम परात्पर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सुख-दुःख से परे लोहा, पत्थर और काञ्चन को समभाव से देखने वाले हो जायेंगे ॥७॥

मुनिनाथ के द्वारा ऐसा कहने पर सन्तुष्ट हृदय राजा ने राम को लाने के लिए पुनः दूतों को भेजा ॥८॥

जैसे पर्वत से सूर्य का उदय हो वैसे ही इतने समय में अपने महल के आसन से पिता के समीप आने के लिए कतिपय भृत्यों एवं दो भाइयों के साथ इन्द्र की अमरावती के समान अपने पिता की पुण्य-भूमि पर उपस्थित हो गये ॥९-१०॥

देव-समूहों से घिरे हुए इन्द्र के समान राज-समूह

दूरादेव ददर्शाऽसौ रामो दशरथं तदा ।
वृतं राजसमूहेन देवौघेनेव वासवम् ॥ ११ ॥
वसिष्ठविश्वामित्राभ्यां सेवितं पार्श्वयोर्द्वयोः ।
सर्वशास्त्रार्थतज्ज्ञेन मन्त्रिवृन्देन मालितम् ॥ १२ ॥
चारुचामरहस्ताभिः कान्ताभिः समुपासितम् ।
ककुब्भिरिव मूर्ताभिः संस्थिताभिर्यथोचितम् ॥ १३ ॥
वसिष्ठविश्वामित्राद्यास्तथा दशरथादयः ।
ददृशू राघवं दूरादुपायान्तं गुहोपमम् ॥ १४ ॥
सत्त्वावष्टब्धगर्भेण शैत्येनेव हिमाचलम् ।
श्रितं सकलसेव्येन गम्भीरेण स्फुटेन च ॥ १५ ॥
सौम्यं समं शुभाकारं विनयोदारमानसम् ।
कान्तोपशान्तवपुषं परस्यार्थस्य भाजनम् ॥ १६ ॥
समुद्यद्यौवनारम्भं वृद्धोपशमशोभनम् ।
अनुद्विग्नमनानन्दं पूर्णप्रायमनोरथम् ॥ १७ ॥
विचारितजगद्यात्रं पवित्रगुणगोचरम् ।
महासत्त्वैकलोभेन गुणैरिव समाश्रितम् ॥ १८ ॥

परिवृत दशरथ जी को दूर से ही रामचन्द्र ने देखा ॥११॥

महाराज दशरथ दोनों बगल में वसिष्ठ और विश्वामित्र से सविनय सभी शास्त्रों के अर्थों को भली-भाँति जानने पर मन्त्रिगण मालाकार पंक्ति में बैठे थे, सुन्दर चमर हाथ में लिए हुए कमनीय रमनियों से भली-भाँति उपासित थे। मानो दिशायें ही मूर्तस्वरूप धारण कर यथोचित सेवा में लगी हुई थी ॥१२-१३॥

महर्षि वसिष्ठ विश्वामित्र आदि तथा दशरथ आदि ने साक्षात् कार्तिकेय के समान दूर से आते हुए राघव को देखा ॥१४॥

सत्त्व गुण को हृदय में धारण किये हुए सकल जन-सेव्य गम्भीर और स्फुट शैत्य से = हिम से परिवृत हिमालय के समान योग्य सौम्य = मनोहर, सम और शुभ आकर को धारण किए हुए विनय और उदार भाव से परिपूर्ण हृदय, कमनीय और शान्त शरीरधारी परम पुरुषार्थ के लिए सत्पात्र थे ॥१५-१६॥

युवावस्था का प्रारम्भ होने पर भी वृद्ध जनोचित शान्ति भाव से शोभायमान, उद्वेगरहित परमानन्द की प्राप्ति के विना भी मानो अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति पूर्ण प्राय की स्थिति में थी ॥१७॥

जिसने लोकयात्रा का भली-भाँति विचार कर लिया था पवित्र गुणों के निधान गुणों के द्वारा महासत्त्व के

उदारमार्यमापूर्णमन्तःकरणकोटरम् ।
अविक्षुभितया वृत्त्या दर्शयन्तमनुत्तमम् ॥ १९ ॥
एवं गुणगणाकीर्णो दूरादेव रघूद्वहः ।
परिमेयस्मिताच्छाच्छस्वहाराम्बरपल्लवः ॥ २० ॥
प्रणनाम चलच्चारुचूडामणिमरीचिना ।
शिरसा वसुधाकम्पलोलदेवाचलश्रिया ॥ २१ ॥
एवं मुनीन्द्रे ब्रुवति पितुः पादाभिवन्दनम् ।
कर्तुमभ्याजगामाऽथ रामः कमललोचनः ॥ २२ ॥
प्रथमं पितरं पश्चान्मुनी मान्यैकमानितौ ।
ततो विप्रांस्ततो बन्धूंस्ततो गुरुगणान् सुहृत् ॥ २३ ॥
जग्राह च ततो दृष्ट्या मनाङ्मूर्ध्ना तथा गिरा ।
राजलोकेन विहितां तां प्रणामपरम्पराम् ॥ २४ ॥
विहिताशीर्मुनिभ्यां तु रामः सुसममानसः ।
आससाद पितुः पुण्यं समीपं सुरसुन्दरः ॥ २५ ॥
पादाभिवन्दनपरं तदथाऽसौ महीपतिः ।

लोभ से उनका आश्रयण कर लिया था, अर्थात् सभी गुणों के आकर थे ॥१८॥

उदार कर्तव्य का आचरण और अकर्तव्य का अनुष्ठान न करने, प्रकृत आचार के सम्पादक स्वरूप आर्य एवं जिसका अन्तःकरण-गुहा आनन्द से परिव्याप्त है उद्वेग शून्य व्यवहार से अतिशय श्रेष्ठ दर्शन थे। इस प्रकार के गुणराशि से परिव्याप्त, मन्द मुसकान अतिशय स्वच्छ अपने हार से अम्बर-पल्लव वाले चञ्चल सुन्दर चूड़ामणि की दीप्ति से मानो पृथिवी कम्पन के समय चञ्चल हिमालय की कान्ति से नतमस्तक होकर प्रणाम किया ॥१९-२१॥

इस प्रकार मुनि के द्वारा 'रामचन्द्र को बुलाओ' यह कहने के समय में ही पिता के चरणों का अभिवन्दन करने के लिए कमललोचन राम आ गये ॥२२॥

प्रथम पिता को, अनन्तर मान्यों के मान्य वसिष्ठ और विश्वामित्र को, अनन्तर विप्रों को, अनन्तर बन्धुओं को इसके बाद विशिष्ट गुणशाली मित्रों को प्रणाम किया ॥२३॥

राजगणों के द्वारा विहित प्रणाम परम्परा को कुछ अवनत मस्तक से प्रसन्न दृष्टि और मधुर वाणी से स्वीकार किया ॥२४॥

सर्वथा समदर्शी देव सदृश सुन्दर श्री राम ने मुनियों का आशीर्वचन स्वीकार कर पिता के पवित्र सामीप्य में आये।

शिरस्यभ्यालिलिङ्गाऽऽशु चुचुम्ब च पुनः पुनः ॥ २६ ॥
शत्रुघ्नं लक्ष्मणं चैव तथैव परवीरहा ।
आलिलिङ्ग घनस्नेहो राजहंसोऽम्बुजे यथा ॥ २७ ॥
उत्सङ्गे पुत्र तिष्ठेति वदत्यथ महीपतौ ।
भूमौ परिजनास्तीर्णे सोऽशुकेऽथ न्यविक्षत ॥ २८ ॥

राजोवाच

पुत्र प्राप्तविवेकस्त्वं कल्याणानां च भाजनम् ।
जडवज्जीर्णया बुद्ध्या खेदायाऽऽत्मा न दीयताम् ॥२९॥
वृद्धविप्रगुरुप्रोक्तं त्वादृशेनाऽनुतिष्ठता ।
पदमासाद्यते पुण्यं न मोहमनुधावता ॥ ३० ॥
तावदेवाऽऽपदो दूरे तिष्ठन्ति परिपेलवाः ।
यावदेव न मोहस्य प्रसरः पुत्र दीयते ॥ ३१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

राजपुत्र महाबाहो शूरस्त्वं विजितास्त्वया ।
दुरुच्छेदा दुरारम्भा अत्यमी विषयारयः ॥ ३२ ॥

अनन्तर महाराज दशरथ ने चरणवन्दन में तत्पर शीघ्र ही मस्तक का स्पर्श किया और पुनः-पुनः चुम्बन किया ॥२५-२६॥

वीर शत्रुहन्ता राजा ने कमल के प्रति सघन स्नेह समन्वित राजहंस के समान वीर शत्रुहन्ता राजा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न का भी आलिङ्गन किया ॥२७॥

इसके बाद हे वत्स! 'गोद में बैठो' यह राजा के द्वारा कहने पर भी भृत्यों के द्वारा भूमि पर बिछाए गये वस्त्र पर बैठ गये ॥२८॥

महाराज (दशरथ) ने कहा :—

हे वत्स! विवेकसम्पन्न कल्याणपात्र तुम अविवेकियों के समान मन्दमति से अपने को खिन्न मत करो ॥२९॥

वृद्ध, विप्र और गुरु से निर्दिष्ट वाणी के अनुसार तुम्हारे जैसे व्यक्ति से आचरण करने पर ही चिन्मय स्थान प्राप्त किये जाते हैं, किन्तु मोह का अनुव्रजन करने पर उस परम पद की प्राप्ति नहीं होती है ॥३०॥

हे वत्स! सर्वथा निर्बल अर्थात् सुकोमल होकर आपत्तियाँ तभी तक दूर रहती हैं, जब तक मोह को अवसर नहीं दिया जाता है ॥३१॥

महर्षि वसिष्ठ ने कहा :—

हे राजकुमार! हे महाबाहो! तुम शूर हो, जिसका नाश कठिन है ऐसे दुःख के आरम्भक विषयरूपी शत्रुओं पर तुमने विजय प्राप्त कर ली है ॥३२॥

किमतज्ज्ञ इवाऽऽज्ञानां योग्ये व्यामोहसागरे ।
विनिमज्जसि कल्लोलबहुले जाड्यशालिनि ॥ ३३ ॥

विश्वामित्र उवाच

चलन्नीलोत्पलव्यूहसमलोचनलोलताम् ।
ब्रूहि चेतःकृतां त्यक्त्वा हेतुना केन मुह्यसि ॥ ३४ ॥
किन्निष्ठाः के च ते केन कियन्तः कारणेन ते ।
आधयः प्रविलुम्पन्ति मनोगेहमिवाऽऽखवः ॥ ३५ ॥
मन्ये नाऽनुचितानां त्वमाधीनां पदमुत्तमम् ।
आपत्सु चाऽप्रयोज्यं ते निहीना अपि चाऽऽधयः ॥ ३६ ॥
यथाभिमतमाशु त्वं ब्रूहि प्राप्स्यसि चाऽनघ ।
सर्वमेव पुनर्येन भेत्स्यन्ते त्वां तु नाऽऽधयः ॥ ३७ ॥
इत्युक्तमस्य सुमते रघुवंशकेतु-
राकर्ण्य वाक्यमुचितार्थविलासगर्भम् ।
तत्याज खेदमभिगर्जति वारिवाहे
बर्ही यथा त्वनुमिताभिमतार्थसिद्धिः ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे राघवसमाश्वासनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

अज्ञों के योग्य तरङ्गबहुल, जड़ात्मक व्यामोह सागर में अज्ञ के समान क्यों निमग्न हो रहे हो ॥३३॥

महर्षि विश्वामित्र ने कहा :—

चित्त से सम्पादित चञ्चल कमल-दलों के समान नेत्रों की चपलता का परित्याग कर आप किस कारण से मोहापन्न हो रहे हैं—यह बताएँ ॥३४॥

मन-मन्दिर में चूहों के समान अर्थात् जैसे चूहे घर को बिल के द्वारा नष्ट कर देते हैं, वैसे ही मन में आगत आधियाँ किसलिए हैं और कितने साधनों से ये आधियाँ नष्ट हो सकती हैं ॥३५॥

अनुचित आधियों के आप उचित पात्र नहीं हैं—यह मैं मानता हूँ, आप की स्वतः निरस्त आधियाँ हैं, अतः ये आपत्ति की अप्रयोज्य है, अर्थात् इसको दूर करने लिए प्रतीकार की आवश्यकता नहीं है ॥३६॥

हे पापरहित ! आप अपनी अभीष्ट कामनाओं को सूचित करें, तुम सभी अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त कर सकोगे और ये आधियाँ तुझे कष्ट नहीं देंगी ॥३७॥

जैसे मेघ गर्जन से अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का अनुमान कर मयूर खिन्नता का परित्याग कर देता है, वैसे ही विमल मति महर्षि विश्वामित्र की अभीष्ट अर्थ की दीप्ति से समन्वित वाणी को सुनकर रघुवंश के ध्वजा के समान राम ने शोक छोड़ दिया ॥३८॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठ महारामायण में वैराग्यप्रकरण में राघवसमाश्वासन नामक कुसुमलता का एकादश सर्ग समाप्त हुआ ॥११॥

१२

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इति पृष्टो मुनीन्द्रेण समाश्वस्य च राघवः ।
उवाच वचनं चारु परिपूर्णार्थमन्थरम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् ! भवता पृष्टो यथावदधुनाऽखिलम् ।
कथयाम्यहमज्ञोऽपि को लङ्घयति सद्वचः ॥ २ ॥

१२

महर्षि वाल्मीकि ने कहा :—

मुनिनाथ विश्वामित्र समुचित आश्वासनपूर्वक राघव से यह पूछने पर परिपूर्ण अर्थ के कारण गम्भीर मधुर वाणी में कहा ॥१॥

श्रीराम ने कहा :—

हे भगवन् ! आप से पूछे जाने पर सभी यथार्थ बातें आपको निवेदित करता हूँ, क्योंकि, कौन अज्ञ सज्जनों की वाणी का उल्लंघन कर सकता है, अर्थात् आपके पूछने पर कौन मौन रहकर उपेक्षा कर सकता है ॥२॥

अहं तावदयं जातो निजेऽस्मिन् पितृसद्मनि ।
क्रमेण वृद्धिं संप्राप्तः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः ॥ ३ ॥
ततः सदाचारपरो भूत्वाऽहं मुनिनायक ! ।
विहृतस्तीर्थयात्रार्थमुर्वीमम्बुधिमेखलाम् ॥ ४ ॥
एतावताऽथ कालेन संसारास्थामिमां हरन् ।
समुद्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥ ५ ॥
विवेकेन परीतात्मा तेनाऽहं तदनु स्वयम् ।
भोगनीरसया बुद्ध्या प्रविचारितवानिदम् ॥ ६ ॥
किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसन्ततिः ।
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च ॥ ७ ॥
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ।
आपदां पतयः पापा भावा विभवभूमयः ॥ ८ ॥

अपने इस पितृ-गृह में जन्म-ग्रहण कर क्रमशः बढ़कर विद्याध्ययन सम्पन्न कर मैं अवस्थित हूँ ॥३॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! सदाचारपूर्वक समुद्र की मेखला=करधनी धारण किये हुए अशेष पृथ्वी का तीर्थयात्रा क्रम में विहरण किया । अर्थात् समुद्र पर्यन्त पृथ्वी की यात्रा की ॥४॥

इन्हीं समयों के मध्य संसार की आस्था को हरण करने वाले जो विचार मेरे मन में उपस्थित हुए, वे इस प्रकार हैं ॥५॥

विवेक से अर्थात् सत्य और मिथ्या के ज्ञान से मेरा हृदय परिव्याप्त हो जाने पर मैंने स्वयं विषय-भोगों में असारता का अनुभव कर यह निश्चय किया कि यह जो ससार प्रवाह है, यह कौन सुख है, लोगों को मरने के लिए जन्म और जन्म के लिए मृत्यु है । "मृतिबीजं भवेज्जन्म जन्म बीजं भवेन्मृतिः" यह शास्त्र में कहा गया है ॥

चर और अचर ये सभी क्रियाएँ (अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप साधन से साध्य चर चेष्टा है, भाग्याधीन या दैवायत्त भोग चेष्टा अचर चेष्टा है) अस्थिर=नश्वर है । ये विषय आपत्तियों के प्रभु अर्थात् स्वामी हैं, विभव के स्थान स्वरूप ये पदार्थ पाप स्वरूप हैं, क्योंकि, प्राप्ति में सुख और वियोग में दुःख स्वरूप हैं तथा राग-द्वेष परम्परा जनक होने से आपत्ति के मूलभूत हैं ॥६-८॥

सभी पदार्थ, लोहे की शलाकाओं के समान, एक दूसरे से अलग हैं, केवल अपने मन की कल्पना से एक

अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः ।
श्लिष्यन्ते केवलं भावा मनःकल्पनया स्वया ॥ ९ ॥
मनःसमायत्तमिदं जगदाभोगि दृश्यते ।
मनश्चाऽसदिवाऽऽभाति केन स्म परिमोहिताः ॥ १० ॥
असतैव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः ।
मृगतृष्णाम्भसा दूरे वने मुग्धमृगा इव ॥ ११ ॥
न केनचिच्च विक्रीता विक्रीता इव संस्थिताः ।
बत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम् ॥ १२ ॥
किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगाः ।
मुधैव हि वयं मोहात् संस्थिता बद्धभावनाः ॥ १३ ॥
अज्ञातं बहुकालेन व्यर्थमेव वयं वने ।
मोहे निपतिता मुग्धाः श्वभ्रे मुग्धा मृगा इव ॥ १४ ॥

दूसरे से कार्यकारणभाव के रूप में सम्बद्ध से प्रतीत होते हैं ॥९॥

जगत् के अशेष भोग मन के अधीन हैं । सम्पूर्ण विश्व सत्य के रूप में दीखाई दे रहा है और विवेक होने पर मन भी सतत् के रूप में प्रतीत होता है, अतः सर्वथा मोहापन्न हो गये हैं । अर्थात् असत् मन से सुख की कल्पना की जा रही है ॥१०॥

जैसे मरुभूमि में सूर्य-किरणों को जल समझ कर उसकी प्राप्ति के लिए मोह सम्पन्न मृग वन में दौड़ते हैं, वैसे ही मूढमति हम लोग भी असत् पदार्थों के द्वारा आकृष्ट होकर कष्ट का अनुभव कर रहे हैं ॥ ११ ॥

यह सत्य है कि हमलोग किसी से खरीदे नहीं गये हैं, किन्तु खरीदे हुए के समान हैं । अर्थात् खरीदा हुआ व्यक्ति पराधीन होता है, अतः उसकी क्रियाएँ अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं रहती हैं । हम लोग माया से विमोहित हैं—यह जानते हुए भी सभी मोहग्रस्त हो जीवन व्यतीत कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इन प्रपञ्चों में सर्वथा प्रयोजन शून्य अर्थात् ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने में अक्षम ये भोग क्या हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं हैं, ये निःसार हैं, कल्याण प्राप्ति की बद्ध-भावना से व्यर्थ ही मोह से परिव्याप्त हैं ॥ १३ ॥

जैसे वन में किसी गर्त में गिरे हुए मुग्ध मृग के समान हम लोग मोह से अभिभूत मायाजाल में आबद्ध हैं, व्यर्थ ही बहुत दिनों से हम लोग मोह को नहीं जान सके ॥ १४ ॥

किं मे राज्येन किं भोगैः कोऽहं किमिदमागतम् ।
यन्मिथ्यैवाऽस्तु तन्मिथ्या कस्य नाम किमागतम् ॥१५॥
एवं विमृशतो ब्रह्मन् सर्वेष्वेव ततो मम ।
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव ॥ १६ ॥
तदेतद् भगवन्! ब्रूहि किमिदं परिणश्यति ।
किमिदं जायते भूयः किमिदं परिवर्द्धते ॥ १७ ॥
जरामरणमापच्च जननं संपदस्तथा ।
आविर्भावतिरोभावैर्विवर्द्धन्ते पुनः पुनः ॥ १८ ॥
भोगैस्तैरेव तैरेव तुच्छैर्वयममी किल ।
पश्य जर्जरतां नीता वातैरिव गिरिद्रुमाः ॥ १९ ॥
अचेतना इव जनाः पवनैः प्राणनामभिः ।
ध्वनन्तः संस्थिता व्यर्थं यथा कीचकवेणवः ॥ २० ॥
शाम्यतीदं कथं दुःखमिति तप्तोऽस्मि चिन्तया ।
जरद्द्रुम इवोग्रेण कोटरस्थेन वह्निना ॥ २१ ॥

मुझे राज्य से क्या लाभ, भोगों से क्या लाभ, मैं कौन हूँ, किसलिए यहाँ आया हूँ, जो मिथ्या है वह मिथ्या ही रहे, इससे हमको लाभ क्या हुआ ॥ १५ ॥

हे ब्रह्मन्! पथिकों की मरुभूमि पर आस्था नहीं रह जाता है, मुझे विचार करने पर सभी वस्तुओं के भोग में मेरा चित्त रमण नहीं करता है ॥ १६ ॥

हे भगवन्! यह बताने की कृपा करें कि क्या इस जगत् का अत्यन्त विनाश हो सकता है, अर्थात् अपने असत् स्वरूप को सार्थक करता है; अत्यन्त उच्छिन्न की पुनः उत्पत्ति नहीं सम्भव है। अतः यह जिज्ञासा होती है कि यह पुनः कैसे उत्पन्न होता है और सतत वृद्धि प्राप्त करता है ॥ १७ ॥

वृद्धावस्था, मृत्यु और आपत्तियों इनका सम्पद् के द्वारा उत्पत्ति होती है और आविर्भाव एवं तिरोभाव के क्रम में पुनः-पुनः बढ़ते रहते हैं ॥ १८ ॥

पर्वत पर स्थित वृक्ष जिस प्रकार वायु से जर्जर हो गये वैसे ही हमलोग इन तुच्छ अर्थात् साररहित भोगों के द्वारा जर्जर हो गये हैं ॥ १९ ॥

अनन्त वायु से प्रेरित होकर कीचक वेणु के समान अचेतन जन प्राण नाम की वायु से शब्दायमान् रहते हैं ॥ २० ॥

जैसे जर्जर वृक्षस्थ कोटर स्थित उग्र वह्नि से समाप्त हो जाते हैं वैसे ही यह भव-दुःख कैसे शान्त होगा इसी चिन्ता से सन्तप्त हूँ ॥ २१ ॥

संसारदुःखपाषाणनीरन्ध्रहृदयोऽप्यहम् ।
निजलोकभयादेव गलद्बाष्पं न रोदिमि ॥ २२ ॥
शून्या मन्मुखवृत्तीस्ताः शुष्करोदननीरसाः ।
विवेक एव हृत्संस्थो ममैकान्तेषु पश्यति ॥ २३ ॥
भृशं मुह्यामि संस्मृत्य भावाभावमयीं स्थितिम् ।
दारिद्र्येणेव सुभगो दूरे संसारचेष्टया ॥ २४ ॥
मोहयन्ति मनोवृत्तिं खण्डयन्ति गुणावलिम् ।
दुःखजालं प्रयच्छन्ति विप्रलम्भपराः श्रियः ॥ २५ ॥
चिन्तानिचयचक्राणि नाऽऽनन्दाय धनानि मे ।
संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥ २६ ॥
विविधदोषदशापरिचिन्तनै-
विततभङ्गुरकारणकल्पितैः ।
मम न निर्वृतिमेति मनो मुने
निगडितस्य यथा वनदन्तिनः ॥ २७ ॥

संसार क्लेश रूपी पाषाण से मेरा हृदय भी अचेतन पाषाणमय हृदय हो गया है किन्तु अपने बन्धु-बान्धव और मित्रों के भय से अश्रुपूर्ण नेत्रों से रो भी नहीं सकता हूँ, यतः मेरा रोना देखकर वे भी रोने लगेंगे ॥ २२ ॥

शुष्क रोदन से नीरस=आनन्द रहित शून्य मेरे मुख की मन्द मुस्कान आदि वे वृत्तियों को मेरे अन्तःकरण में स्थित मेरा विवेक ही एकान्त में इनका अनुभव करता है ॥२३॥

वैभवसम्पन्न कोई व्यक्ति दैववशात् निर्धन होकर पूर्व की सम्पदा का स्मरण कर मोहित होता है वैसे ही प्रियतम विषयों का विनाश या सर्वदुःखशान्तिस्वरूप से उपलक्षित परमानन्दस्वरूप का अभाव अर्थात् अज्ञान और उसके विकार की स्थिति को सोचकर अतिशय मुग्ध होता हूँ ॥२४॥

वियोगात्मिका या वञ्चन प्रधान ये ऐश्वर्य मन की वृत्ति को मुग्ध करती हैं, गुणराशि का विनाश करती हैं और दुःखों को देती हैं ॥२५॥

चिन्ता समूह के प्रवाह स्वरूप धन, पुत्र, कलत्र आदि से समन्वित घर उग्र आपत्तियों से परिपूर्ण घर के समान मुझे आनन्द नहीं देते हैं ॥२६॥

हे मुने! जेल में आबद्ध हाथी के समान विभिन्न क्षणभङ्गुर कारणों से कल्पित अनेक दोषपूर्ण दशाओं के परिचिन्तन से मेरा मन शान्ति लाभ नहीं कर रहा है ॥२७॥

खलाः काले काले निशि निशितमोहैकमिहिका-
गतालोके लोके विषयशतचोराः सुचतुराः ।
प्रवृत्ताः प्रोद्युक्ता दिशि दिशि विवेकैकहरणे
रणे शक्तस्तेषां क इव विदुषः प्रोज्झ्य सुभटाः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्य-प्रकरणे प्रथमपरितापो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

अज्ञानान्धकारपूर्ण निशा में अविवेक रूपी कुहरों के द्वारा ज्ञान रूपी दीप्ति के नाश से दुष्ट दूसरों को दुःख देने में सुचतुर सैंकड़ों विषय रूपी चोर सभी समय सभी ओर से विवेक को हरण करने के लिए विशिष्ट उद्योग में सन्नद्ध हैं, विद्वानों को छोड़कर अन्य कौन सुन्दर योद्धा उनके साथ रण में समर्थ हो सकता है, अर्थात् कोई भी नहीं ।।२८।।

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में प्रथम परिताप नामक कुसुमलता का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।।१२।।

१३

श्रीराम उवाच

इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिकल्पिता ।
श्रीर्मुने ! परिमोहाय साऽपि नूनं कदर्थदा ॥ १ ॥
उल्लासबहुलानन्तकल्लोलानलमाकुलान् ।
जडान् प्रवहति स्फारान् प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ २ ॥
चिन्तादुहितरो बह्वचो भूरिदुर्ललितैधिताः ।
चञ्चलाः प्रभवन्त्यस्यास्तरङ्गा सरितो यथा ॥ ३ ॥
एषा हि पदमेकत्र न निबध्नाति दुर्भगा ।
दग्धेवाऽनियताचारमितश्चेतश्च धावति ॥ ४ ॥
जनयन्ती परं दाहं परामृष्टाङ्गिका सती ।
विनाशमेव धत्तेऽन्तर्दीपलेखेव कज्जलम् ॥ ५ ॥
गुणागुणविचारेण विनैव किल पार्श्वगम् ।
राजप्रकृतिवन्मूढा दुरारूढाऽवलम्बते ॥ ६ ॥

१३

श्रीराम ने कहा :—

हे मुने ! इस लोक में सम्पत्तियाँ स्थिर और अनेक सुखों के साधन के रूप में परिकल्पित सुखलेश भी प्रदान नहीं करती है, अर्थात् कुत्सित फल को ही देने वाली है, अतः सम्पत्तियाँ भी निश्चत रूप से सर्वथा मोह के लिए ही हैं ।।१।।

सम्पत्तियाँ अनन्त उल्लास और विविध तरङ्ग रूपी बातों से आकुल अनेक मूढ़ व्यक्तियों को वर्षाकालीन नदियों के समान प्रवाहित करती है ।।२।।

वायु के द्वारा परिवर्धित नदी के अनेक तरङ्गों के समान सम्पत्ति की अनेक चिन्ता रूपी पुत्रियाँ हैं जो दुश्चेष्टाओं से परिवर्धित होती हैं ।।३।।

जैसे कोई भाग्यहीन अग्नि से जले हुए पैर वाले पुरुष के समान यह लक्ष्मी एकत्र स्थिर नहीं रहती हैं; अपितु शास्त्रविहित अनुष्ठान से शून्य उधर-उधर घूमती हुई अनेक ऐसे व्यक्तियों का अपना आश्रय बनाती हैं ।।४।।

जैसे दीपशिखा से अङ्ग का स्पर्श होने पर दाह और कालिमा की प्राप्ति होती है वैसे ही सम्पत्तियों का व्यय एवम् अपहरण होने पर अन्तर्दाह, म्लानता और विनाश होता है ।।५।।

गुण और अवगुण का विचार किये विना ही राज-स्वभाव के समान दुःख से सम्पादित लक्ष्मी समीपस्थ किसी का भी आश्रयण कर लेती है। इस के लिए गुण का कोई महत्त्व नहीं है ।।६।।

कर्मणा तेन तेनैषा विस्तारमनुगच्छति ।
दोषाशीविषवेगस्य यत्क्षीरं विस्तरायते ॥ ७ ॥
तावच्छीतमृदुस्पर्शाः परे स्वे च जने जनाः ।
वात्ययेव हिमं यावच्छ्रिया न परुषीकृताः ॥ ८ ॥
प्राज्ञाः शूराः कृतज्ञाश्च पेशला मृदवश्च ये ।
पांसुमुष्ट्येव मणयः श्रिया ते मलिनीकृताः ॥ ९ ॥
न श्रीः सुखाय भगवन् ! दुःखायैव हि वर्द्धते ।
गुप्ता विनशनं धत्ते मृतिं विषलता यथा ॥ १० ॥
श्रीमानजननिन्द्यश्च शूरश्चाऽप्यविकत्थनः ।
समदृष्टिः प्रभुश्चैव दुर्लभाः पुरुषास्त्रयः ॥ ११ ॥
एषा हि विषमा दुःखभोगिनां गहना गुहा ।
घनमोहगजेन्द्राणां विन्ध्यशैलमहातटी ॥ १२ ॥
सत्कार्यपद्मरजनी दुःखकैरवचन्द्रिका ।

लोभ हिंसा अनृत आदि दोषरूपी सर्पविष वेग के लिए जो दुग्ध के समान है, उन क्रियाओं से ही यह लक्ष्मी विस्तार प्राप्त करती है अर्थात् दान यज्ञ आदि से लक्ष्मी की वृद्धि नहीं होती है ॥७॥

वायु-समूह से जल को हिम बनाने के समान जब तक लक्ष्मी के द्वारा पुरुष कठोर नहीं कर दिया जाता है तभी तक अपने और पराये लोगों के लिए दया, दाक्षिण्य और स्नेहपूर्ण व्यवहार करता है ॥८॥

धूली से परिपूर्ण मुट्ठी जैसे मणि को म्लान कर देती है वैसे ही जो महामति, शूर, कृतज्ञ, दक्ष और लक्ष्मी के द्वारा मलिन चित्त हो जाते हैं ॥९॥

हे भगवन् ! विषलता के समान लक्ष्मी सुख के लिए नहीं वरन् दुःख के लिए ही वृद्धि को प्राप्त करती है, लक्ष्मी सुरक्षा करने पर बिनाश और मृत्यु का साधन होती है ॥१०॥

श्रीमान् और लोगों से अनिन्द्य, शूर और अपनी स्वयं प्रशंसा न करने वाला, प्रभु और समदृष्टि तीन प्रकार के पुरुष दुर्लभ हैं ॥११॥

यह लक्ष्मी दुःख रूपी सर्पों की दुर्गम और भयङ्कर गुफा, महमोह रूपी गजों की आवास भूमि विन्ध्य पर्वत का प्रदेश प्रान्त है ॥१२॥

पुण्य कर्मों के अनुष्ठान रूपी कमलों के लिए रात्रि है, दुःख रूपी कुमुदिनी के लिए चन्द्र की चाँदनी है, शोभन दृष्टि रूपी दीपक के लिए भयंकर वायु एवं चञ्चल तरङ्गों से युक्त नदी है ॥१३॥

सुदृष्टिदीपिका वात्या कल्लोलौघतरङ्गिणी ॥ १३ ॥
संभ्रमाभ्रादिपदवी विषादविषवर्द्धिनी ।
केदारिका विकल्पानां खेदाय भयभोगिनी ॥ १४ ॥
हिमं वैराग्यवल्लीनां विकारोलूकयामिनी ।
राहुदंष्ट्रा विवेकेन्दोः सौजन्याम्भोजचन्द्रिका ॥ १५ ॥
इन्द्रायुधवदालोलनानारागमनोहरा ।
लोला तडिदिवोत्पन्नध्वंसिनी च जडाश्रया ॥ १६ ॥
चापलावजितारण्यनकुली नकुलीजना ।
विप्रलम्भनतात्पर्यजितोग्रमृगतृष्णिका ॥ १७ ॥
लहरीवैकरूपेण पदं क्षणमकुर्वती ।
चला दीपशिखेवाऽतिदुर्ज्ञेयगतिगोचरा ॥ १८ ॥
सिंहीव विग्रहव्यग्रकरीन्द्रकुलपोथिनी ।
खड्गधारेव शिशिरा तीक्ष्णतीक्ष्णाशयाश्रया ॥ १९ ॥

भ्रान्ति रूपी मेघ के प्रथम मार्ग है, विषाद रूपी विष को बढ़ाने वाली है, संशय संक्षोभ का क्षेत्र है, दुःख के लिए भयरूपी सर्पिणी है ॥१४॥

वैराग्य रूपी लता के लिए तुषार = हिम है, विकार अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि उल्लू के लिए रात्रि है, विवेकरूपी चन्द्रमा के लिए राहु का ग्रास है, सुजनता रूपी कमल के लिए चन्द्रिका है। अर्थात् हिमपात से वैराग्य समाप्त होता है काम क्रोध रूपी उल्लू के लिए रात्रि होने से उसका आधिपत्य बढ़ जाता है, राहु ग्रास से विवेक रूपी चन्द्र म्लान हो जायेगा एवं सुजनता रूपी कमल चन्द्रिका के द्वारा म्लान हो जाता है ॥१५॥

लक्ष्मी इन्द्रधनुष के समान चञ्चल अर्थात् कुछ क्षण में नाश होने वाला एवम् अनेक रंगों से अर्थात् विविध भोगों की कल्पना से मनोरम है, बिजली के समान चपला अर्थात् अचिर अस्थायी उत्पति के साथ विनाशशील है और मूर्ख का ही आश्रयण करती है ॥१६॥

दुष्कुल में उत्पन्न, वञ्चना के प्रसङ्ग में मृगतृष्णा पर भी विजयी, चाञ्चल्य में अरण्यस्थ नेवली से भी आगे हैं ॥१७॥

तरङ्ग के समान एक क्षण भी एक स्थान में नहीं रहने वाली, चञ्चल दीपशिखा के समान दुर्ज्ञेयगति सम्पन्न है ॥१८॥

विग्रह के लिए उत्कण्ठित पुरुष ही गजेन्द्रकुल हैं उन के लिए सिंहिनी के समान है एवं तीव्र स्वभाव तीक्ष्ण तम हृदय को अश्रयण कर रहने वाली तलवार के सदृश है ॥१९॥

नाऽन्ययाऽपहृतार्थिन्या दुराधिपरिलीनया ।
पश्याम्यभव्यया लक्ष्म्या किञ्चिद् दुःखादृते सुखम् ॥२०॥
दूरेणोत्सारिताऽलक्ष्म्या पुनरेव तमादरात् ।
अहो बताऽऽश्लिष्यतीव निर्लज्जा दुर्जना सदा ॥ २१ ॥
मनोरमा कर्षति चित्तवृत्तिं
कदर्थसाध्या क्षणभङ्गुरा च ।
व्यालावलीगात्रविवृत्तदेहा
श्वभ्रोत्थिता पुष्पलतेव लक्ष्मीः ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे लक्ष्मीनिराकरणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

दूसरे की मृत्यु के द्वारा अभिवाञ्छित एवं भयंकर आधियों से परिव्याप्त इस अकल्याणकर लक्ष्मी से दुःख के अतिरिक्त सुख की आशा नहीं है ॥२०॥

अपनी सपत्नी दरिद्रा के द्वारा निकाली गई यह पुनः उसके पास सादर उसका आलिङ्गन करती हुई यह अतिशय निर्लज्ज और दुर्जन है ॥२१॥

मनोरम होने से चित्त का आकर्षण करती है। कुत्सित प्रयोजन पतन मरण आदि साधनों से साध्य और क्षण भङ्गुर है। सर्प-समूहों से परिव्याप्त शरीर वाली गर्त = गढ़े में उत्पन्न पुष्पलता के समान यह लक्ष्मी है ॥२२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में लक्ष्मीनिराकरण नामक कुसुमलता का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१३॥

१४

श्रीराम उवाच

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम् ।
उन्मत्तमिव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम् ॥ १ ॥
विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् ।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥ २ ॥
ये तु विज्ञातविज्ञेया विश्रान्ता वितते पदे ।
भावाभावसमाश्वाससमायुस्तेषां सुखायते ॥ ३ ॥
वयं परिमिताकारपरिनिष्ठितनिश्चयाः ।
संसाराभ्रतडित्पुञ्जे मुने ! नाऽऽयुषि निर्वृताः ॥ ४ ॥
युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रथनं च तरङ्गाणामास्था नाऽऽयुषि युज्यते ॥ ५ ॥

१४

श्रीराम ने कहा :—

पल्लव के कोने के अग्रभाग में अवस्थित जलकण के समान चञ्चल वायु उन्मत्त के समान असमय में ही शरीर को छोड़कर चली जाती है ॥१॥

विषयरूपी सर्पों के संसर्ग से सर्वथा जर्जर चित्त वाले एवं प्रौढ़ = दृढ़ आत्मविवेक शून्य व्यक्तियों के लिए वायु क्लेश का साधन है ॥२॥

जिन्होंने ज्ञान योग्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया है अर्थात् जो ब्रह्मज्ञानी हैं एवं अनन्त ब्रह्म विश्रान्ति प्राप्त किया है, लाभ और हानि में जिनका समान स्वरूप रहता है अर्थात् विकृति नहीं आती है, उनकी आयु सुख के लिए है ॥३॥

हे मुने ! हम लोग सीमित आकार वाले देह आदि को आत्मरूप में निश्चित ज्ञान रखने वाले पुरुष संसार-रूपी मेघ की बिजली-समूह के समान क्षणिक सुख में ही तुष्ट हैं ॥४॥

वायु का वेष्टन अर्थात् घेरा हो सकता है, आकाश का टुकड़ा भी हो सकता है, तरङ्गों की माला हो सकती है, किन्तु आयु में आस्था उचित नहीं है ॥५॥

पेलवं शरदीवाऽभ्रमस्नेह इव दीपकः ।
तरङ्गक इवाऽऽलोलं गतमेवोपलक्ष्यते ॥ ६ ॥
तरङ्गं प्रतिबिम्बेन्दुं तडित्पुञ्जं नभोम्बुजम् ।
ग्रहीतुमास्थां बध्नामि न त्वायुषि हतस्थितौ ॥ ७ ॥
अविश्रान्तमनाः शून्यमायुराततमीहते ।
दुःखायैव विमूढोऽन्तर्गर्भमश्वतरी यथा ॥ ८ ॥
संसारसंसृतावस्यां फेनोऽस्मिन्सर्गसागरे ।
कायवल्ल्याम्भसो ब्रह्मन् ! जीवितं मे न रोचते ॥ ९ ॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते ।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥ १० ॥
तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति ॥ ११ ॥
जातास्य एव जगति जन्तवः साधुजीविताः ।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥ १२ ॥

शरत् काल में सुकुमार बादल के समान एवं तेल शून्य दीपक और तरङ्ग के समान चञ्चल आयु गई हुई ही समझनी चाहिए ॥६॥

तरङ्ग, प्रतिबिम्बित चन्द्र, बिजली समूह, आकाश-कमल ग्रहण के लिए आस्था की जा सकती है किन्तु अस्थिर आयु पर विश्वास नहीं किया जा सकता है ॥७॥

जैसे खच्चरी दुःख के लिए ही गर्भ धारण करती है वैसे ही विमूढ़ तृष्णाओं से जिनका मन विश्रान्ति लाभ नहीं कर चुका है, वे व्यर्थ ही आयु की कामना करते हैं ॥८॥

इस संसार में लता स्वरूप शरीर, सृष्टि स्वरूप सागर में जल के विकार भूत फेन के समान है अर्थात् अत्यन्त अस्थिर है, अतः मुझे यह जीवन प्रिय नहीं लगता है ॥९॥

प्राप्ति योग्य अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था स्वरूप परम पुरुषार्थ स्वरूप स्थान जो प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिसकी प्राप्ति के बाद सोचना नहीं पड़ता है, वही जीवन कहा जाता है ॥१०॥

वृक्ष भी जीवित रहते हैं, मृग और पक्षिगण भी जीवित रहते हैं, किन्तु उनका ही जीवन सार्थक है जो तर्क से जीवित नहीं रहते हैं अर्थात् मनन के फल को प्राप्त कर लिया है ॥११॥

संसार में उन्हीं व्यक्तियों की उत्पत्ति प्रशंसनीय है जो पुनः इस संसार में जन्म-ग्रहण नहीं करते हैं, इनसे अतिरिक्त चिरजीवी होते हुए गदहे के समान हैं, अर्थात् भारवहन करते हुए जीवनयापन करने वाले हैं ॥१२॥

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥ १३ ॥
रूपमायुर्मनोबुद्धिरहंकारस्तथेहितम् ।
भारो भारधरस्येव सर्वं दुःखाय दुर्धियः ॥ १४ ॥
अविश्रान्तमनापूर्णमापदां परमास्पदम् ।
नीडं रोगविहङ्गानामायुरायासनं दृढम् ॥ १५ ॥
प्रत्यहं खेदमुत्सृज्य शनैरलमनारतम् ।
आखुनेव जरच्छ्वभ्रं कालेन विनितन्यते ॥ १६ ॥
शरीरबिलविश्रान्तैर्विषदाहप्रदायिभिः ।
रोगैरापीयते रौद्रैर्व्यालैरिव वनानिलः ॥ १७ ॥
प्रस्नुवानैरविच्छेदं तुच्छैरन्तरवासिभिः ।
दुःखैरावृश्च्यते क्रूरैर्घुणैरिव जरद्द्रुमः ॥ १८ ॥
नूनं निगरणायाऽऽशु घनगर्द्धमनारतम् ।
आखुर्मार्जारकेणेव मरणेनाऽवलोक्यते ॥ १९ ॥

विवेकहीन व्यक्तियों के लिए शास्त्र भार है, विषय के प्रति आसक्त व्यक्तियों के लिए ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त चित्त व्यक्ति के लिए मन भारस्वरूप है, जो आत्म-तत्त्वज्ञ नहीं हैं, उनके लिए शरीर भार स्वरूप है ॥१३॥

भार वहन करने वाले व्यक्तियों के लिए भार के समान दुर्मति पुरुष के लिए रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चेष्टा सभी दुःख के लिए है ॥१४॥

विश्राम से रहित, पूर्ण कामना से शून्य आयु रोग-रूपी पक्षियों का घोसला है, निश्चित ही यह आयु आयास परिश्रम मात्र है ॥१५॥

कष्ट को न गिन कर अर्थात् खिन्नता का परित्याग कर अनवरत प्रतिदिन परिश्रम कर जैसे चूहा बड़े-बड़े टीले को जर्जर कर देता है वैसे ही काल प्रतिदिन आयु का नाश करता है ॥१६॥

विष और सन्ताप प्रदान करने वाले बिल में स्थित भयङ्कर सर्पों के द्वारा जैसे बन की वायु का पान किया जाता है, वैसे ही शरीर रूपी बिल में स्थित रोगों के द्वारा जीव की आयु का पान किया जाता है ॥१७॥

जैसे वृक्ष के अन्दर में स्थित क्रूर घुणों के द्वारा सतत तुच्छ बुरादों को गिराकर वृक्ष को समाप्त कर दिया जाता है वैसे ही रक्त मलवाही शरीर में रहने वाले दुष्ट रोगों के द्वारा आयु समाप्त की जा रही है ॥१८॥

उत्कृष्ट आकांक्षा के साथ भक्षण करने के लिए जैसे बिल्ली चूहे को देखती है, वैसे ही मनुष्य को शीघ्र समाप्त करने के लिए मृत्यु देखती रहती है ॥१९॥

गन्धादिगुणगर्भिण्या शून्ययाऽशक्तिवेश्यया ।
अन्नं महाशनेनेव जरया परिजीर्यते ॥ २० ॥
दिनैः कतिपयैरेव परिज्ञाय गतादरम् ।
दुर्जनः सुजनेनेव यौवनेनाऽवमुच्यते ॥ २१ ॥
विनाशसुहृदा नित्यं जरामरणबन्धुना ।
रूपं खिड्गवरेणेव कृतान्तेनाऽभिलष्यते ॥ २२ ॥
स्थिरतया सुखभासितया तया
सततमुज्झितमुत्तमफल्गु च ।
जगति नाऽस्ति तथा गुणवर्जितं
मरणभाजनमायुरिदं यथा ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे जीवितगर्हा नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

अधिक अन्न खाने वाले व्यक्तियों को जैसे अन्न सर्वथा जीर्ण कर समाप्त कर देता है वैसे ही गन्ध आदि गुणों से समन्वित तुच्छ वेश्या रूपी जरा मनुष्य को जीर्ण कर समाप्त कर देता है ॥२०॥

जैसे सज्जन पुरुष कुछ दिनों के व्यवहार से यह व्यक्ति दुर्जन है यह समझ कर उसको छोड़ देता है, वैसे ही युवावस्था भी कुछ दिन रह कर निरादरपूर्वक मनुष्य का परित्याग कर देती है ॥२१॥

काम-लम्पट (षिड्ग) जैसे रूप अर्थात् सौन्दर्य का अभिलाषी रहता है, वैसे ही विनाश का मित्र तथा वृद्धावस्था और मृत्यु के बन्धु यम के द्वारा भी मनुष्य की आयु की अभिलाषा की जाती है ॥२२॥

जीवन्मुक्त रूप में प्रसिद्ध नित्य आनन्दानुभवी अति तुच्छ गुणहीन वस्तु का सर्वथा परित्याग कर मरण-मात्र इस आयु का जो संसार में उपयोग है वैसा अन्य किसी प्रकार से इसका उपयोग नहीं है ॥२३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में जीवननिन्दा नामक कुसुमलता का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

१५

श्रीराम उवाच

मुधैवाऽभ्युत्थितो मोहान्मुधैव परिवर्धते ।
मिथ्यामयेन भीतोऽस्मि दुरहंकारशत्रुणा ॥ १ ॥
अहंकारवशादेव दोषकोशकदर्थताम् ।
ददाति दीनदीनानां संसारो विविधाकृतिः ॥ २ ॥
अहङ्कारवशादापदहङ्काराद् दुराधयः ।
अहङ्कारवशादीहा त्वहङ्कारो ममाऽऽमयः ॥ ३ ॥
तमहङ्कारमाश्रित्य परमं चिरवैरिणम् ।
न भुञ्जे न पिबाम्यम्भः किमु भोगान् भुजे मुने ! ॥ ४ ॥
संसाररजनीदीर्घा माया मनसि मोहिनी ।
ततोऽहङ्कारदोषेण किरातेनेव वागुरा ॥ ५ ॥

१५

श्रीराम ने कहा :—

व्यर्थ ही अज्ञान से उत्पत्ति है और व्यर्थ ही अज्ञान के द्वारा सर्वतोभाव से वृद्धि होती है। इस दुःखद सर्वथा मिथ्यात्मक अहङ्कार रूपी शत्रु से भीत हूँ ॥१॥

अहङ्कार के ही कारण विविध साध्य-साधन स्वरूप संसार राग-द्वेष मोहात्मक दोष और धन स्वरूप कुत्सित रूप को दीनातिदीन व्यक्तियों को प्रदान कर रहा है ॥२॥

अहङ्कार के कारण ही आपत्तियों एवं अहङ्कार के ही कारण विविध मानस कष्ट, अहङ्कार के ही कारण इच्छा होती है, अहङ्कार ही मेरा रोग है ॥३॥

हे मुने ! उसी चिर वैरी अहङ्कार का अवलम्बन कर न खाता हूँ और न जल पीता हूँ, विविध भोगों के विषय में क्या कहना है ॥४॥

अनन्तर किरात जैसे विशाल पाश बिछाता है, वैसे ही अहङ्कार दोष से मोहिनी माया दीर्घ संसाररूपी रात्रि में मन को जाल से आबद्ध करती है ॥५॥

यानि दुःखानि दीर्घाणि विषमाणि महान्ति च ।
अहङ्कारात् प्रसूतानि तान्यगात् खदिरा इव ॥ ६ ॥
शमेन्दुसैंहिकेयास्यं गुणपद्महिमाशनिम् ।
साम्यमेघशरत्कालमहङ्कारं त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥
नाऽहं रामो न मे वाञ्छाभावेषु न च मे मनः ।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा ॥ ८ ॥
अहङ्कारवशाद् यद्यन्मया भुक्तं हुतं कृतम् ।
सर्वं तत्तदवस्त्वेव वस्त्वहङ्काररिक्तता ॥ ९ ॥
अहमित्यस्ति चेद् ब्रह्मन्नहमापदि दुःखितः ।
नाऽस्ति चेत् सुखितस्तस्मादनहङ्कारिता वरम् ॥ १० ॥
अहङ्कारं परित्यज्य मुने ! शान्तमनस्तया ।
अवतिष्ठे गतोद्वेगो भोगौघो भंगुरास्पदः ॥ ११ ॥
ब्रह्मन्यावदहङ्कारवारिदः परिजृम्भते ।
तावद्विकासमायाति तृष्णाकुटजमञ्जरी ॥ १२ ॥
अहङ्कारघने शान्ते तृष्णा नवतडिल्लता ।
शान्तदीपशिखावृत्त्या क्वाऽपि यात्यतिसत्वरम् ॥ १३ ॥
अहङ्कारमहाविन्ध्ये मनोमत्तमहागजः ।
विस्फूर्ज्जति घनास्फोटैः स्तनितैरिव वारिदः ॥ १४ ॥
इह देहमहारण्ये घनाहङ्कारकेसरी ।
योऽयमुल्लसति स्फारस्तेनेदं जगदाततम् ॥ १५ ॥
तृष्णातन्तुलवप्रोता बहुजन्मपरम्परा ।
अहङ्कारोग्रषिड्गन कण्ठे मुक्तावली कृता ॥ १६ ॥
पुत्रमित्रकलत्रादि तन्त्रमन्त्रविवर्जितम् ।
प्रसारितमनेनेह मुनेऽहङ्कारवैरिणा ॥ १७ ॥
प्रमार्जितेऽहमित्यस्मिन् पदे स्वयमपि द्रुतम् ।
प्रमार्जिता भवन्त्येते सर्व एव दुराधयः ॥ १८ ॥
अहमित्यम्बुदे शान्ते शनैश्च शमशातिनी ।
मनोगगनसंमोहमिहिका क्वाऽपि गच्छति ॥ १९ ॥
निरहङ्कारवृत्तेर्मे मौर्ख्याच्छोकेन सीदतः ।
यत्किञ्चिदुचितं ब्रह्मंस्तदाख्यातुमिहार्हसि ॥ २० ॥

पर्वत से खैर (वृक्ष) के समान अहङ्कार से चिर स्थायी भयङ्कर और महान् दुःखों का उद्गम होता है ॥६॥

शम स्वरूप चन्द्र को निगलने के लिए राहु का मुख, गुण समन्वित कमल के लिए तुषार स्वरूप वज्र, प्राणियों के प्रति समदर्शिता रूप मेघ के लिए शरत् ऋतु यह अहङ्कार है, अतः, मैं इनका परित्याग करता हूँ ॥ ७॥

न मैं राम हूँ, न मेरी पदार्थों के प्रति आकाङ्क्षा है, न मेरा मन ही है, राग-द्वेष से परे आत्मलीन शान्त होना चाहता हूँ ॥८॥

अहङ्कार के कारण जो कुछ उपभोग किया, यज्ञ आदि होम किया और अन्य कर्म किये वे सभी अवस्तु ही हैं, अहङ्कार शून्यता ही परमार्थ पदार्थ है ॥९॥

हे ब्रह्मन् ! अहम् रहने पर अर्थात् अहङ्कार के कारण मैं आपत्ति में दुःखी होता हूँ, अहम् न रहने पर सुखी रहता हूँ, अतः अहङ्कार शून्यता ही श्रेष्ठ है ॥१०॥

हे मुने ! अहङ्कार का परित्याग कर शान्त चित्त उद्वेग रहित शान्ति से रहता हूँ, क्योंकि, भोग-समूह क्षण स्थायी है ॥११॥

हे ब्रह्मन् ! जब तक अहङ्कार रूपी मेघ आच्छन्न रहता है तब तक तृष्णा रूपी कुटज वृक्ष की कली विकसित होती है ॥१२॥

अहङ्कार रूपी मेघ के शान्त हो जाने पर तृष्णा रूपी नव विद्युल्लता बुझी हुई दीपशिखा के समान शीघ्र ही कहीं चली जाती है ॥१३॥

जैसे युद्ध के लिए उत्साह सम्पन्न या निविड पर्वत शिलाओं के टूटने के समान मेघ गरजता है वैसे ही अहङ्कार रूपी महा विन्ध्याचल में मन रूपी मदोन्मत्त गज भी गर्जन करता है ॥१४॥

इस शरीर रूपी महावन में निविड अहङ्कार रूपी सिंह जो उल्लासपूर्ण होता है, उसी से यह विश्व वृद्धि को प्राप्त करता है ॥१५॥

तृष्णा रूपी तन्तु=धागे में गुँथी गई अनेक जन्म परम्परा रूपी माला को अहङ्कार रूपी उग्रविषयलम्पट (षिड्ग) ने मोती की माला के समान धारण कर ली है ॥१६॥

हे मुने ! तन्त्र-मन्त्र के विना अर्थात् मारण, मोहन, वशीकरण के विना ही पुत्र, मित्र, स्त्री आदि को इस अहङ्कार रूपी शत्रु ने फैला दिया है ॥१७॥

अहङ्कार का भली-भाँति संशोधन होने पर अथवा विनाश होने पर ये सभी भयङ्कर दुस्तर आधियाँ शीघ्र ही स्वयं उच्छिन्न हो जाती हैं ॥१८॥

अहङ्कार रूपी मेघ के शान्त होने पर शान्ति को हटाने वाली मन रूपी आकाश में स्थित मोह रूपी तुषार स्वयं विलीन हो जाता है ॥१९॥

हे ब्रह्मन् ! अहङ्कार रहित वृत्ति का आश्रयण कर भी मूर्खतावश मैं दुःखी हो रहा हूँ, अतः मेरे लिए जो कर्तव्य हो उसका निर्देश करें ॥ ०॥

सर्वापदां निलयमध्रुवमन्तरस्थ-
मुन्मुक्तमुत्तमगुणेन न संश्रयामि ।
यत्नादहङ्कृतिपदं परितोऽतिदुःखं
शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ।। २१ ।।

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे अहङ्कारजुगुप्सानाम पञ्चदशः सर्गः ।। १५ ।।

हे महाशय ! सभी आपत्तियों का आश्रय स्थान हृदयस्थ शान्ति आदि उत्तम गुणों से शून्य अहङ्कार का आश्रयण नहीं करना चाहता हूँ, दृढ़तापूर्वक अहङ्कार को चतुर्दिक् परिव्याप्त दुःखपूर्ण समझता हूँ, अतः अवशिष्ट आत्म-तत्त्व का उपदेश दें ।।२१।।

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठ महारामायण में वैराग्यप्रकरण में अहङ्कार-जुगुप्सा नामक कुसुमलता का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।।१५।।

१६

श्रीराम उवाच

दोषैर्जर्जरतां याति सत्कार्यादार्यसेवनात् ।
वातान्तःपिच्छलववच्चेतश्चलति चञ्चलम् ।। १ ।।
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाऽभिधावति ।
दूराद् दूरतरं दीनं ग्रामे कौलेयको यथा ।। २ ।।
न प्राप्नोति क्वचित्किञ्चित् प्राप्तैरपि महाधनैः ।
नाऽन्तः संपूर्णतामेति करण्डक इवाऽम्बुभिः ।। ३ ।।
नित्यमेव मुने ! शून्यं कदाशावागुरावृतम् ।
न मनो निर्वृतिं याति मृगो यूथादिव च्युतः ।। ४ ।।
तरङ्गतरलां वृत्तिं दधदालूनशीर्णताम् ।
परित्यज्य क्षणमपि हृदये याति न स्थितिम् ।। ५ ।।
मनो मननविक्षुब्धं दिशो दश विधावति ।
मन्दराहननोद्धूतं क्षीरार्णवपयो यथा ।। ६ ।।
कल्लोलकलितावर्तं मायामकरमालितम् ।
न निरोद्धुं समर्थोऽस्मि मनोमयमहार्णवम् ।। ७ ।।

१६

श्रीराम ने कहा :—

सत्कार्य और आर्यजनों की सेवा न करने से वायु के वेग में पड़ी मयूर की पूँछ के अग्रभाग की चञ्चलता के समान चित्त चञ्चल होता है और दोषों के द्वारा शिथिलता अर्थात् पुरुषार्थ साधन में अग्रसर नहीं होता है ।।१।।

गाँव में कुत्ते के समान व्यग्रता के साथ इधर-उधर दूर से व्यर्थ ही दौड़ता रहता है । अर्थात् तृष्णा की पूर्ति जीवन की दौड़-धूप में समाप्त हो जाता है ।।२।।

जैसे बाँस या वेंत की शलाका से रचित वस्त्र आदि के आधान विशेष से बने पात्र कभी-भी जल से अन्तःपूर्ण नहीं भरते हैं, वैसे ही विपुल धनराशि प्राप्त करने पर भी कहीं कुछ भी प्राप्त नहीं होता है । अर्थात् वेंत आदि की टोकड़ी में जल नहीं टिक सकता है, इस लिए अन्तस्थ रिक्त ही रहेगा, वैसे ही धन से अन्तःकरण की अशान्ति दूर होकर शान्ति नहीं पा सकती है ।।३।।

हे मुने ! अपने सजातीय मृग-समूहों से अलग जाल में आबद्ध मृग जैसे कभी-भी सुखी नहीं होता है, वैसे ही मन सदा शून्य रहता है और परम शान्ति की प्राप्ति नहीं करता है ।।४।।

तरङ्ग के समान चञ्चल वृत्ति को धारण करता हुआ मेरा चित्त स्थूल अवयवों से विभक्त व्यवधान रूप आलूनता और सूक्ष्म तत्त्वों का व्यवधान रूपी शीर्णता को छोड़ कर क्षण भर भी हृदय में शान्ति को प्राप्त नहीं करता है ।।५।।

मन्दराचल के मन्थन के सदृश समुद्र के जल के समान मनन अर्थात् तर्क से विक्षुब्ध मन दशों दिशाओं में दौड़ता रहता है ।।६।।

तरङ्गों के समान भोग की प्राप्ति के उत्साह से अनेक आवर्तों से परिव्याप्त अर्थात् डूबने वाले भ्रमियों से समन्वित मायारूपी मकर से आकुलित ऐसे मनरूपी महासागर को रोकने में मैं समर्थ नहीं हूँ ।।७।।

भोगदूर्वाङ्कुराकाङ्क्षी श्वभ्रपातमचिन्तयन् ।
मनोहरिणको ब्रह्मन्! दूरं विपरिधावति ॥ ८ ॥
न कदाचन मे चेतः स्वामालूनविशीर्णताम् ।
त्यजत्याकुलता वृत्त्या चञ्चलत्वमिवार्णवः ॥ ९ ॥
चेतश्चञ्चलया वृत्त्या चिन्तानिचयचञ्चुरम् ।
धृतिं बध्नाति नैकत्र पञ्जरे केसरी यथा ॥ १० ॥
मनो मोहरथारूढं शरीरात् समतासुखम् ।
हरत्यपहृतोद्वेगं हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥ ११ ॥
अनल्पकल्पनातल्पे विलीनाश्चित्तवृत्तयः ।
मुनीन्द्र! न प्रबुद्धयन्ते तेन तप्येऽहमाकुलः ॥ १२ ॥
क्रोडीकृतदृढग्रन्थितृष्णासूत्रे स्थितात्मना ।
विहगो जालकेनेव ब्रह्मन्! बद्धोऽस्मि चेतसा ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन्! भोगरूपी दुर्वाराङ्कुर की अभिलाषा करता हुआ गर्त में पतन कर चिन्ता से विमुक्त होता हुआ मन रूपी मृग दूर अनवरत दौड़ता रहता है ॥८॥

जैसे सागर अपनी चञ्चलता का परित्याग नहीं करता है वैसे ही स्थूल वस्तु का व्यवधान अर्थात् नाश रूप आलूनता एवं सूक्ष्म वस्तु का व्यवधान रूप विशीर्णता को चिन्तित=आकुल वृत्ति होने से मेरा मन उनका कभी भी परित्याग नहीं करता है, अर्थात् विषय की अप्राप्ति होने पर भी उस ओर दौड़ता ही रहता है ॥९॥

जैसे पिंजड़े में आबद्ध सिंह चञ्चल वृत्ति के कारण चिन्ता समूह से अतिशय चलायमान होकर चित्त कभी भी एक स्थान में धैर्य-धारण नहीं करता है ॥१०॥

जैसे हंस जल से दूध को अलग कर ग्रहण कर लेता है, वैसे ही मोहरथ रूपी रथ पर आरूढ़ मन शरीर से शरीर मात्र में आत्मभाव के कारण समता सुख=प्राणि मात्र में आत्म भावना को बिना उद्वेग के ही हरण कर लेता है ॥११॥

हे मुनिश्रेष्ठ! विपुल कल्पना प्रवाह में प्रवाहित अर्थात् आबद्ध मेरी चित्तवृत्तियाँ प्रबुद्ध नहीं हो सकती है अर्थात् प्रबुद्ध आचार्यों के ज्ञानोपदेश के बिना सजग नहीं हो सकती हैं, इसीलिए आकुलता से सन्तप्त हूँ ॥१२॥

हे ब्रह्मन्! अन्तः हृदय में प्रविष्ट "यह मैं हूँ" और यह मेरा है, इस तादात्म्याध्यास अर्थात् शरीर और आत्मा में अभेद ज्ञान एवं यह मेरा है इस प्रकार के शरीर के संसर्गाध्यास रूपी दृढ़ ग्रन्थि स्वरूप तृष्णारूपी सूत्र में चित्त द्वारा आबद्ध हूँ ॥१३॥

हे मुने! भयङ्कर अर्थात् दुःसह धूम और ज्वाला से

सन्ततामर्षधूमेन चिन्ताज्वालाकुलेन च ।
वह्निनेव तृणं शुष्कं मुने! दग्धोऽस्मि चेतसा ॥ १४ ॥
क्रूरेण जडतां यातस्तृष्णाभार्यानुगामिना ।
शवं कौलेयकेनेव ब्रह्मन्! भुक्तोऽस्मि चेतसा ॥ १५ ॥
तरङ्गतरलास्फालवृत्तिना जडरूपिणा ।
तटवृक्ष इवौघेन ब्रह्मन्! नीतोऽस्मि चेतसा ॥ १६ ॥
अवान्तरनिपाताय शून्ये वा भ्रमणाय च ।
तृणं चण्डानिलेनेव दूरे नीतोऽस्मि चेतसा ॥ १७ ॥
संसारजलधेरस्मान्नित्यमुत्तरणोन्मुखः ।
सेतुनेव पयःपूरो रोधितोऽस्मि कुचेतसा ॥ १८ ॥
पातालाद्गच्छता पृथ्वीं पृथ्व्याः पातालगामिना ।
कूपकाष्ठं कुदाम्नेव वेष्टितोऽस्मि कुचेतसा ॥ १९ ॥

परिव्याप्त अग्नि जैसे शुष्क तृण को जला देती है वैसे ही सतत दुःसह कोप रूपी धूम से समन्वित चिन्ता रूपी ज्वाला से परिव्याप्त चित्त से जल रहा हूँ ॥१४॥

हे ब्रह्मन्! तृष्णा के समान सदा भूखी कुत्ती का अनुगमन करता हुआ क्रूर कुत्ता भार स्वरूप शव को खा लेता है वैसे ही तृष्णारूपी भार्या के अनुसरण करने वाले कठोर चित्त के द्वारा जड़ता प्राप्त मैं खा लिया गया हूँ ॥१५॥

हे ब्रह्मन्! तरङ्गों से चञ्चल और उठते जल के समूह से तट वृक्ष जैसे उखाड़ कर फेंक दिया जाता है वैसे ही तरङ्ग के समान चञ्चल वृत्ति वाले समूह अर्थात् अलभ्य वस्तु की प्राप्ति के लिए सचेष्ट चित्त ने मुझे इस अवस्था में कर दिया है ॥१६॥

जैसे भयङ्कर वायु तृण को दूर पहुँचा देती है अर्थात् स्थानभ्रष्ट कर देती है, वैसे ही पुण्य कर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति होने पर भी पुण्य के क्षीण होने पर मध्य में ही पतन के लिए या सुख शून्य इस संसार में विभिन्न योनियों में जन्म-ग्रहण कर भ्रमण के लिए चित्त के द्वारा दूर ले जाया गया हूँ ॥१७॥

जैसे जल से पूर्ण नदी को बान्ध रोक देता है वैसे हीं संसारसागर से नित्य उद्धार के लिए सन्नद्ध मैं कुत्सित चित्त के द्वारा रोक दिया गया हूँ ॥१८॥

कूप-काष्ठ को जैसे कुत्सित रस्सी वेष्टित रखती है और रस्सी में आबद्ध घट आदि कभी पृथ्वी पर और कभी कूप के अन्दर अर्थात् पाताल में जाता है वैसे ही कुत्सित रस्सी रूपी तृष्णा से कुत्सित चित्त के द्वारा आबद्ध हूँ।

मिथ्यैव स्फाररूपेण विचाराद्विशरारुणा ।
बालो वेतालकेनेव गृहीतोऽस्मि कुचेतसा ॥ २० ॥
बह्नेरुष्णतरः शैलादपि कष्टतरक्रमः ।
वज्रादपि दृढो ब्रह्मन् ! दुर्निग्रहमनोग्रहः ॥ २१ ॥
चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषेष्विव ।
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनकादिव ॥ २२ ॥
जडप्रकृतिरालोलो विततावर्त्तवृत्तिमान् ।
मनोब्धिरहितव्यालो दूरं नयति तात ! माम् ॥ २३ ॥
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २४ ॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥ २५ ॥
चित्तादिमानि सुखदुःखशतानि नून-
मभ्यागतान्यगवरादिव काननानि ।
तस्मिन् विवेकवशतस्तनुतां प्रयाते
मन्ये मुने ! निपुणमेव गलन्ति तानि ॥ २६ ॥
सकलगुणजयाशा यत्र बद्धा महद्भि-
स्तमरिमिह विजेतुं चित्तमभ्युत्थितोऽहम् ।
विगतरतितयाऽन्तर्नाऽभिनन्दामि लक्ष्मीं
जडमलिनविलासां मेघलेखामिवेन्दुः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे चित्तदौरात्म्यं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

आशय यह है कि कुएँ से जल निकालते समय एक ओर घट रहता है और दूसरी ओर काष्ठ आदि भार वहन के लिए रहता है और रस्सी के साथ घट ऊपर नीचे पराधीन घूमता रहता है वैसे ही मानव तृष्णा से आबद्ध चित्त के द्वारा मैं इधर-उधर घूमता रहता हूँ ॥१९॥

बालक को मिथ्याभूत कल्पित वेताल की विपुलता के समान अज्ञान के कल्पित स्वरूप विवेक के द्वारा नष्ट होने वाले कुत्सित चित्त के द्वारा मैं ग्रहण कर लिया गया हूँ ॥२०॥

हे ब्रह्मन् ! वह्नि से अधिक ताप से युक्त पर्वत से भी अतिशय कष्ट से आरोहण योग्य वज्र से भी दृढ़ अर्थात् कठोर दुःखपूर्वक ग्रहण के अयोग्य मन रूपी ग्रह है ॥२१॥

जैसे पक्षिगण अपने भक्ष्य माँस को देखते ही उस पर टूट पड़ते हैं, बालक अपने खिलौने को देखते ही दौड़ पड़ता है और क्षण भर में उससे विरत भी हो जाता है, वैसे ही चित्त भी इन्द्रिय सम्बद्ध विषयों पर (हिताहित विवेचन रहित होकर) दौड़ पड़ता है ॥२२॥

हे तात ! जड़ स्वभाव चञ्चल विस्तृत आवर्त्तों वाला समुद्र और विस्तृत आवर्त रूपी वृत्तियों से समन्वित व्याल सर्प से परिव्याप्त सागर स्वरूप काम-क्रोध आदि छः शत्रुरूपी सर्पों से परिव्याप्त मन मुझे दूर ले जाता है ॥२३॥

हे सज्जन ! समुद्र-पान सुमेरु के उच्छेद और वह्नि के भक्षण से भी चित्त का निग्रह करना अतिशय कष्ट-कर है ॥२४॥

सभी प्रयोजनों का साधन मन है, मन के रहने पर ही तीनों लोक है, मन के क्षीण होने पर संसार क्षीण अर्थात् नष्ट हो जाता है, अतः मन की ही प्रयत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् मन को ही क्षीण करना चाहिए ॥२५॥

हे मुने ! श्रेष्ठ पर्वतों से जैसे अनेक वनों की सृष्टि होती है वैसे ही चित्त से ही निश्चित रूप में सैंकड़ों सुख-दुःख रूपी तृष्णाएँ नष्ट हो जाती हैं ॥२६॥

जैसे चन्द्र मेघ-पंक्ति का अभिनन्दन नहीं करता है वैसे ही तृष्णा के प्रति अनासक्ति होने से अर्थात् वैराग्य होने से जड़ मलिन विलास लक्ष्मी का अभिनन्दन नहीं करता हूँ, क्योंकि श्रेष्ठ जनों ने जिस चित्त पर विजय प्राप्त करने से सभी शम - दम आदि पर जय स्वीकार किया है उस संसार के शत्रुभूत चित्त को जीतने के लिए सन्नद्ध हूँ ॥२७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में चित्तदौरात्म्य नामक कुसुमलता का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

श्रीराम उवाच

हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया ।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषाः कौशिकपङ्क्तयः ॥ १ ॥
अन्तर्दाहप्रदायिन्या समूढरसमार्द्दवः ।
पङ्क आदित्यदीप्त्येव शोषं नीतोऽस्मि चिन्तया ॥ २ ॥
मम चित्तमहारण्ये व्यामोहतिमिराकुले ।
शून्ये ताण्डविनी जाता भृशमाशापिशाचिका ॥ ३ ॥
वचोरचितनीहारा काञ्चनोपवनोज्ज्वला ।
नूनं विकासमायाति चिन्ताचणकमञ्जरी ॥ ४ ॥
अलमन्तर्भ्रमायैव तृष्णा तरलिताशया ।
आयाता विषमोल्लासमूर्मिरम्बुनिधाविव ॥ ५ ॥
उद्दामकल्लोलरवा देहाद्रौ वहतीह मे ।
तरङ्गतरलाकारा तरत्तृष्णातरङ्गिणी ॥ ६ ॥
वेगं संरोद्धुमुदितो वात्ययेव जरत्तृणम् ।
नीतः कलुषया क्वाऽपि तृष्णया चित्तचातकः ॥ ७ ॥
यां यामहमतीवास्थां संश्रयामि गुणश्रियाम् ।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥ ८ ॥
पयसीव जरत्पर्णं वायाविव जरत्तृणम् ।
नभसीव शरन्मेघश्चिन्ताचक्रे भ्रमाम्यहम् ॥ ९ ॥
गन्तुमास्पदमात्मीयमसमर्थधियो वयम् ।
चिन्ताजाले विमुह्यामो जाले शकुनयो यथा ॥ १० ॥

१७

श्रीराम ने कहा :—

परम प्रिय स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व का आवरण हो जाने पर अज्ञान रूपी अन्धकारपूर्ण रात्रिस्वरूप दुरुच्छेद तृष्णा से चित्त गगन में अर्थात् जीव को उल्लुराशि के समान राग, द्वेष, मोह आदि दोष उदित होते हैं ॥१॥

सूर्य की रश्मि के समान अन्तःकरण में सन्ताप-प्रदायिनी चिन्ता के द्वारा रस और मृदुता अर्थात् स्नेह और विनय का अपहरण कर कीचड़ को शुष्क बना दिया है । अर्थात् जैसे पङ्क का जल और मृदुता को सूर्य-किरण नष्ट कर शुष्क बना देती है वैसे ही पूर्वोक्त चिन्ता से विनयहीन कठोर हो गया है ॥२॥

व्यामोह अर्थात् अज्ञान रूपी अन्धकार से परिव्याप्त विवेकशून्य मेरे चित्त रूपी महारण्य में आशारूपी पिशाची का भयङ्कर ताण्डव नृत्य चल रहा है, अर्थात् विनाशकारी लीलाएँ चल रही हैं ॥३॥

दुःखरूपी विलाप वचनों से समन्वित अश्रुकण रूपी ओसकण से वर्द्धित, कनक की अभिलाषा से उज्ज्वल चिन्ता रूपी चने की कली अर्थात् तृष्णा निश्चित रूप से विकास प्राप्त कर रही है । अर्थात् चने की कलिका की वृद्धि का साधन तुषार अर्थात् रात्रि का ओस है और धतुरे के समीपस्थ वन के द्वारा कनकमदवत् मत्तता व्यक्त है ॥४॥

समुद्र के मध्य भाग को चञ्चल करने के लिए ही तरङ्ग केवल भ्रम पैदा करने के लिए ही विषम उल्लास करती है, उसी तरह चित्त को क्षुब्ध करने वाली तृष्णा ने अन्तःकरण में भयङ्कर भ्रम पैदा करने के लिए ही अनेक दुःखों से पूर्ण धनोपार्जन के लिए उत्साह की वृद्धि कराता है ॥५॥

मेरे शरीर रूपी पर्वत में (अनृत भाषण आदि) प्रचण्ड कल्लोलशब्दों से युक्त तरङ्गों से तरल आकार वाली और एक विषय से अन्य विषयों की ओर जाने वाली तृष्णा रूपी नदी बह रही है ॥६॥

चपलता को रोकने के लिए (समाधि आदि में) तत्पर रहने पर भी जैसे आँधी जीर्ण तृण को कहीं अन्यत्र ले जाती है, वैसे ही कलुषित तृष्णा ने चित्त रूपी चातक को कहीं अन्य विषय में ही आबद्ध कर दिया है ॥७॥

(वैराग्य आदि) गुण सम्पत्ति से युक्त जिन पदार्थों के ग्रहण के लिए तत्पर होता हूँ, उनको जैसे दुष्ट चूहा वीणा के तार को काट देता है वैसे ही मेरी तृष्णाएँ उनको काट देती हैं अर्थात् समाप्त कर देती हैं ॥८॥

जैसे जल के आवर्त में (भौंरी में) पुराना पत्ता, वायु में लघु तृण और आकाश में शरत्कालीन मेघ यत्र-तत्र घूमते रहते हैं, वैसे ही मैं चिन्तारूपी चक्र में घूम रहा हूँ ॥९॥

जैसे जाल में फँसे हुए पक्षी (अपने घोंसले में) जाने के लिए असमर्थ हो जाल में ही पड़े रहते हैं, वैसे ही अपने पारमार्थिक स्वरूप को प्राप्त करने में असमर्थ हम लोग चिन्तारूपी जाल में मुग्ध हो रहते हैं ॥१०॥

तृष्णाभिधानया तात ! दग्धोऽस्मि ज्वालया तथा ।
यथा दाहोपशमनमाशङ्के नाऽमृतैरपि ॥ ११ ॥

दूरं दूरमितो गत्वा समेत्य च पुनः पुनः ।
भ्रमत्याशु दिगन्तेषु तृष्णोन्मत्ता तुरङ्गमी ॥ १२ ॥

जडसंसर्गिणी तृष्णा कृतोर्ध्वाधोगमागमा ।
क्षुब्धा ग्रन्थिमती नित्यमारघट्टाग्ररज्जुवत् ॥ १३ ॥

अन्तर्ग्रथितया देहे सर्वदुश्छेदयाऽनया ।
रज्ज्वेवाऽऽशु बलीवर्द्दस्तृष्णया वाह्यते जनः ॥ १४ ॥

पुत्रमित्रकलत्रादि तृष्णया नित्यकृष्टया ।
खगेष्विव किरात्येदं जालं लोकेषु रच्यते ॥ १५ ॥

भीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम् ।

हे मुनिवर ! तृष्णारूपी ज्वाला से दग्ध हो गया हूँ कि मुझे अमृत से भी अपने दाह की शान्ति की आशा नहीं है ॥११।

तृष्णारूपी उन्मत्त घोड़ी यहाँ से दूर जाकर पुनः बड़ी शीघ्रता से आकर चारों ओर घूम रही है ॥१२॥

विषय से सम्बद्ध क्षोभयुक्त एवं देह और आत्मा के तादात्म्य से आबद्ध तृष्णा या वासना अर्थात् रागद्वेषवश किये गये कर्मों के अनुसार (धर्म और अधर्म से) स्वर्ग और नरकरूपी फलों को प्रदान करती हुई घटचक्र के अग्रभाग में बंधी रस्सी के समान है, या घाट में इस पार से उस पार जाने वाली घिडनी (घिर्री) में बंधी रस्सी से इस पार उस पार का आवागमन होता है। घट के अनुसार जैसे रस्सी ऊपर-नीचे आती जाती है वैसे ही जीव तृष्णा के कारण कर्मफल के अनुसार संसार में आवागमन करता रहता है। कर्म रस्सी उसको फल प्रदान करती रहती है ॥१३॥

अच्युत ग्रन्थमाला में निम्नलिखित व्याख्यान है :—जिसे किसी भी तरह तोड़ा नहीं जा सकता है शरीर में अन्तःकरण में ग्रथित इस तृष्णा रूपी रस्सी के द्वारा बैल के समान मनुष्य से भार वहन कराया जाता है। अर्थात् कर्मों के फलों को भोगता हुआ संसार-चक्र से आबद्ध रहता है ॥१४॥

जैसे बहेलिये की स्त्री पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बनाती है, वैसे ही नित्य आकर्षण करने वाली तृष्णारूपी किराती ने लोगों को फँसाने के लिए यह पुत्र, मित्र, कलत्र आदि जाल बनाया है ॥१५॥

खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी ॥ १६ ॥

कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यशंसिनी ।
दशत्यपि मनाक् स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी ॥ १७ ॥

भिन्दती हृदयं पुंसां मायामयविधायिनी ।
दौर्भाग्यदायिनी दीना तृष्णा कृष्णेव राक्षसी ॥ १८ ॥

तन्त्रीतन्त्रीगणैः कोशं दधाना परिवेष्टितम् ।
नाऽऽनन्दे राजते ब्रह्मंस्तृष्णा जर्जरवल्लकी ॥ १९ ॥

नित्यमेवाऽतिमलिना कटुकोन्माददायिनी ।
दीर्घतन्त्री घनस्नेहा तृष्णा गह्वरवल्लरी ॥ २० ॥

अनानन्दकरी शून्या निष्फला व्यर्थमुन्नता ।
अमङ्गलकरी क्रूरा तृष्णा क्षीणेव मञ्जरी ॥ २१ ॥

भयङ्कर काली रात्रि के समान यह धीर रहते हुए भी तृष्णा मुझे डरा रही है, विवेकरूपी चक्षु से सम्पन्न रहने पर भी अन्धा बना रही है और आनन्द स्वभाव रहने पर भी दुःख दे रही है ॥१६॥

कुटिल होते हुए भी कोमल स्पर्श वाली विषम अर्थात् भयङ्कर विष से युक्त यह तृष्णा तनिक स्पर्श करने पर ही काली नागिन की भाँति डंस लेती है अर्थात् मोह में डाल देती है ॥१७॥

पुरुषों के हृदय का भेदन करने वाली, बन्धन, रोग आदि की या मायामय सारे प्रपञ्च को उत्पादन करने वाली, दौर्भाग्य देनेवाली और दीनता से पूर्ण यह तृष्णा काली राक्षसी के सदृश है ॥१८॥

हे ब्रह्मन्, तुम्बी से युक्त बीणा के समान अनेक जँभाई और नाड़ियों से वेष्टित शरीर को धारण करने वाली तृष्णा निरतिशय परमानन्द के लिए उपयुक्त नहीं है ॥१९॥

सदा अतिशय मलिन, कड़वी और उन्माद देने वाली गुफा लता स्वरूप ही सदा अतिमलिन, परिणाम में दुःखप्रद उन्माद को देने वाली, दीर्घ तन्त्रियों से युक्त तथा विषयों में घनीभूत स्नेह करने वाली ही यह तृष्णा है। पर्वत की गुफा में उत्पन्न लता और तृष्णा की समानता है ॥२०॥

मञ्जरी रहित फल शून्य, व्यर्थ उन्नत वृक्ष के समान वैसे ही अमङ्गलकरिणी और क्रूर यह तृष्णा न आनन्द-प्रद है, न सुखप्रद है और न फलप्रद है, किन्तु व्यर्थ विस्तृत है ॥२१॥

अनावर्जितचित्ताऽपि सर्वमेवाऽनुधावति ।
न चाऽऽप्नोति फलं किंचित्तृष्णा जीर्णेव कामिनी ॥२२॥

संसारवृन्दे महति नानारससमाकुले ।
भुवनाभोगरङ्गेषु तृष्णा जरठनर्तकी ॥ २३ ॥

जराकुसुमिताऽऽरूढा पातोत्पातफलावलिः ।
संसारजङ्गले दीर्घे तृष्णा विषलता तता ॥ २४ ॥

यन्न शक्नोति तत्राऽपि धत्ते ताण्डवितां गतिम् ।
नृत्यत्यानन्दरहितं तृष्णा जीर्णेव नर्तकी ॥ २५ ॥

भृशं स्फुरति नीहारे शाम्यत्यालोक आगते ।
दुर्लङ्घ्येषु पदं धत्ते चिन्ता चपलबर्हिणी ॥ २६ ॥

जडकल्लोलबहुला चिरं शून्यान्तरान्तरा ।
क्षणमुल्लासमायाति तृष्णा प्रावृट्तरङ्गिणी ॥ २७ ॥

नष्टमुत्सृज्य तिष्ठन्तं तृष्णा वृक्षमिवाऽपरम् ।
पुरुषात् पुरुषं याति तृष्णालोलेव पक्षिणी ॥ २८ ॥

पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ताऽपि फलमीहते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥ २९ ॥

इदं कृत्वेदमायाति सर्वमेवाऽसमञ्जसम् ।
अनारतं च यतते तृष्णा चेष्टेव दैविकी ॥ ३० ॥

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम् ।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥ ३१ ॥

सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा ।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥ ३२ ॥

प्रयच्छति परं जाड्यं परमालोकरोधिनी ।
मोहनीहारगहना तृष्णाजलदमालिका ॥ ३३ ॥

हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने में असमर्थ वृद्धा कामिनी के समान यह तृष्णा सभी के पीछे दौड़ रही है, किन्तु किसी प्रकार का फल - भोग का अनुभव नहीं करती है ॥२२॥

अनेक प्रकार के शोक, मोह आदि रसों से परिपूर्ण इस महान् संसार समूह के भुवनरूपी विविध आस्वाद्य रसों से युक्त नाटचशाला में वृद्ध नर्तकी यह तृष्णा है ॥२३॥

संसाररूप विशाल जङ्गल में जरा, मरण आदि विकसित कुसुमों से युक्त एवं विनिपात और उत्पात आदि फलों की जननी फैली हुई विषलता ही तृष्णा है ॥२४॥

तृष्णा उस जीर्ण नर्तकी के समान है जो नृत्य के साम्पार में अशक्त है, किन्तु वहाँ भी ताण्डवगति धारण करती है और आनन्दरहित नृत्य करती है ॥२५॥

चिन्तारूपी चञ्चल मयूरी नीहार में — निहार सदृश मोहावरण में— नृत्य करती है,—अतिशय अग्रसर होती है, आलोक के आने पर — विवेक रूप प्रकाश होने पर— शान्त हो जाती है, और असाध्य वस्तुओं में अपना कदम रखती है । मयूरी भी वर्षा में नृत्य करती हैं, शरत् में शान्त हो जाती है और दुर्गम स्थानों में गमन करती है ॥२६॥

वर्षाकाल अन्य काल में बहुत दिनों तक शून्य रहने वाली नदी वर्षाकाल में जलकल्लोलों से प्रचुर होकर क्षण में ही वृद्धि को प्राप्त करने वाली, चिरकाल तक शून्य, फल पाने पर भी मध्य-मध्यमें शून्य यह, तृष्णा जड़ विषय पदार्थों में अनेक प्रकार के कल्लोलों से अर्थात् विषय आनन्द से क्षण में ही उल्लसित हो जाती है ॥२७॥

चिड़िया फल शून्य वृक्ष को छोड़कर जैसे फल वाले अन्य वृक्ष पर चली जाती है, वैसे ही यह चपल तृष्णा एक विनष्ट पुरुष को छोड़ कर अन्य पुरुष के पास चली जाती है ॥२८॥

चञ्चल बन्दरीरूपी तृष्णा दुष्प्राप्य स्थानों में भी अपना कदम रखती है, तृप्त होने पर भी फल की आशा करती है, एक स्थान पर अधिक काल तक नहीं ठहरती है ॥२९॥

कर्म के अनुसार अदृष्ट भोग प्राप्त करने की चेष्टा के समान तृष्णा किसी एक शुभकार्य को आरम्भ कर सङ्गतिरहित—प्रसङ्ग से अप्राप्त अन्य कर्मों को आरम्भ कर देती है और अनवरत लगी रहती है, अर्थात् जीवन में शान्ति नहीं होने देती है ॥३०॥

क्षण में पाताल में जाती है, क्षण में आकाश में जाती है, क्षण में दिशारूपी कुञ्ज में घूमती है, इसलिए यह तृष्णा हृदयरूप कमल में रहने वाली भँवरी है ॥३१॥

संसार में जितने दोष हैं उनकी अपेक्षा एक तृष्णा ही दीर्घकाल तक दुःख देने वाली है, जो अन्तःपुर में रहने वाले को भी भीषण सङ्कट में डाल देती है ॥३२॥

परम-आत्मतत्त्वप्रकाश के साथ विरोध करने वाली मोहरूप नीहार से निविड़ मेघमालारूपी तृष्णा केवल जड़ता ही प्रदान करती है ॥३३॥

सर्वेषां जन्तुजातानां संसारव्यवहारिणाम् ।
परिप्रोतमनोमाला तृष्णा बन्धनरज्जुवत् ॥ ३४ ॥
विचित्रवर्णा विगुणा दीर्घा मलिनसंस्थितिः ।
शून्या शून्यपदा तृष्णा शक्रकार्मुकधर्मिणी ॥ ३५ ॥
अशनिर्गुणसस्यानां फलिता शरदापदाम् ।
हिमं संवित्सरोजानां तमसां दीर्घयामिनी ॥ ३६ ॥
संसारनाटकनटी कार्यालयविहङ्गमी ।
मानसारण्यहरिणी स्मरसंगीतवल्लकी ॥ ३७ ॥
व्यवहाराब्धिलहरी मोहमातङ्गशृङ्खला ।
सर्गन्यग्रोधसुलता दुःखकैरवचन्द्रिका ॥ ३८ ॥
जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका ।
आधिव्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥ ३९ ॥

अनेक पशुओं के बाँधने के लिए गले में लगी हुई रस्सियों से ग्रथित माला के सदृश तिरछी विस्तृत रस्सी के समान संसारिक व्यवहार में फँसे हुए प्राणियों के समूह के मनों को चारों ओर से बाँधने के लिए यह तृष्णारूपी रस्सी है ॥३४॥

जिस तरह इन्द्रधनुष विस्मयोत्पादक अनेक प्रकार के रूपों से युक्त, विगुण—ज्यासे रहित—, लम्बा चौड़ा, मेघाश्रित, शून्यात्मक आकाश में स्थित और स्वतः शून्य=अवस्तु—है, वैसे ही यह तृष्णा भी विचित्र विषयों से अनुरञ्जित, असत् गुणों से युक्त, दीर्घ, मलिन पुरुषों में आश्रित और शून्यात्मक हृदय में अवस्थित है ॥३५॥

तृष्णा गुणरूपी धानों=सस्यों के लिए वज्र है, आपत्तियों के लिए शरद् ऋतु के समान वर्धिका है, तत्त्वज्ञानरूपी कमलों के लिए हिम है अर्थात् विघातिका है एवं अज्ञान रूपी अन्धकार के लिए दीर्घ हेमन्त की रात्रि है ॥३६॥

तृष्णा संसाररूपी नाटक में नटी है, प्रवृत्तिरूपी घोंसले में रहने वाली चिड़िया है, मनोरथरूपी अरण्यों में रहने वाली हरिणी है और कामदेव को बढ़ाने के लिए संगीतवीणा है ॥३७॥

तृष्णा व्यवहाररूपी समुद्र की लहर है, मोहरूपी मत्त मातङ्ग की शृङ्खला है, सृष्टिरूप वट-वृक्ष की सुन्दरता है और दुःखरूपी कुमुदिनी की चन्द्रिका है ॥३८॥

जरा-मरणरूप दुःखों की यह तृष्णा एक रत्नपेटिका है और सदा आधि-व्याधिरूप विलासों की मत्त विलासिनी है ॥३९॥

तृष्णा आकाशरूपी वीथी के समान है, क्योंकि

क्षणमालोकविमला सान्धकारलवा क्षणम् ।
व्योमवीथ्युपमा तृष्णा नीहारगहना क्षणम् ॥ ४० ॥
गच्छत्युपशमं तृष्णा कायव्यायामशान्तये ।
तमो घनतमःकृष्णा यथा रक्षोनिवृत्तये ॥ ४१ ॥
तावन्मुह्यत्ययं मूको लोको विलुलिताशयः ।
यावदेवाऽनुसन्धत्ते तृष्णा विषविषूचिका ॥ ४२ ॥
लोकोऽयमखिलं दुःखं चिन्तयोज्झितयोज्झति ।
तृष्णा विषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि कथ्यते ॥ ४३ ॥
तृणपाषाणकाष्ठादिसर्वमामिषशङ्कया ।
आददाना स्फुरत्यन्ते तृष्णामत्स्यी ह्रदे यथा ॥ ४४ ॥
रोगार्त्तिरङ्गना तृष्णा गम्भीरमपि मानवम् ।
उत्तानतां नयन्त्याशु सूर्यांशव इवाऽम्बुजम् ॥ ४५ ॥

जैसे आकाश कभी सूर्यप्रकाश से निर्मल हो जाता है, कभी मेघाच्छन्न होने पर कुछ-कुछ अन्धकार युक्त हो जाता है और कभी कुहरे से गहनरूप में आवृत्त हो जाता है, तृष्णा भी कभी विवेकरूपी प्रकाश से कुछ निर्मल हो जाती है, विवेक न होने पर अज्ञान से मलिन और कभी कुहरे के समान व्यामोह से परिव्याप्त रहती है ॥४०॥

जैसे गाढ़ अन्धकार से अँधेरी कृष्णपक्ष की रात्रि राक्षसों के प्रचार के अभाव के लिए विनष्ट हो जाती है, वैसे ही तृष्णा भी देहप्रयुक्त परिश्रम की शान्ति के लिए नष्ट हो जाती है। तृष्णा का नाश ही मुक्ति का साधन है ॥४१॥

जब तक तृष्णा विषविषूचिका=हैजा का अनुसन्धान करता है, तब तक व्याकुल चित्त मूढ़-प्राणी मोह से परिव्याप्त रहता है ॥४२॥

इस संसार में चिन्ता से रहित होने पर प्राणी सभी दुःखों से छुटकारा पा लेते हैं, क्योंकि, तृष्णा विषूचिका=हैजा का मन्त्र चिन्ता का त्याग ही कहा गया है ॥४३॥

जैसे तालाब में रहने वाली मछली घास-पत्ती, पत्थर-लकड़ी आदि सभी को मांस समझकर अन्त में मछली को फंसाने के कांटे को भी मुँह में डालकर मछुवे द्वारा मारी जाती हुई फड़फड़ाती है, वैसे ही तृष्णा भी तृण, पत्थर, काष्ठ आदि निखिल वस्तुओं को अपना समझकर ग्रहण करती हुई अन्त में छट-पटाती है ॥४४॥

जैसे सूर्य की किरणें मुकुलित कमल को विकसित कर देती हैं, वैसे ही रोग-पीड़ा, स्त्री और तृष्णा धीर पुरुष को भी शीघ्र अधीर कर देती हैं ॥४५॥

अन्तःशून्या ग्रन्थिमत्यो दीर्घस्वांकुरकण्टकाः ।
मुक्तामणिप्रिया नित्यं तृष्णा वेणुलता इव ॥ ४६ ॥
अहो बत महच्चित्रं तृष्णामपि महाधियः ।
दुश्छेदामपि कृन्तति विवेकेनाऽमलासिना ॥ ४७ ॥
नाऽसिधारा न वज्राचिर्न तप्तायः कणार्चिषः ।
तथा तीक्ष्णा यथा ब्रह्मंस्तृष्णेयं हृदि संस्थिता ॥ ४८ ॥
उज्ज्वलाऽसिततीक्ष्णाग्रा स्नेहदीर्घदशापरा ।
प्रकाशा दाहदुस्पर्शा तृष्णा दीपशिखा इव ॥ ४९ ॥
अपि मेरुसमं प्राज्ञमपि शूरमपि स्थिरम् ।
तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम् ॥ ५० ॥
संस्तीर्णगहना भीमा घनजालरजोमयी ।
सान्धकारोग्रनीहारा तृष्णा विन्ध्यमहातटी ॥ ५१ ॥
एकैव सर्वभुवनान्तरलब्धलक्ष्या
दुर्लक्ष्यतामुपगतैव वपुःस्थितैव ।
तृष्णा स्थिता जगति चञ्चलवीचिमाले
क्षीरोदकाम्बुतरले मधुरेव शक्तिः ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे तृष्णाभङ्गो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

तृष्णा बांस की लता के समान सदा अन्त:सारशून्य= भीतर से खोखली ग्रंथियों से युक्त तृष्णाओं के पक्ष में दुराग्रहरूपी ग्रंथियों से युक्त और बांस के पक्ष में पोररूपी ग्रन्थियों से युक्त, बड़ी-बड़ी चिन्ताओं और दु:खों से पूर्ण, बांस के पक्ष में बड़े-बड़े कोंपलों के काँटों से युक्त, मोती और मणियों पर प्रेम करने वाली, बांस के पक्ष में सर्वजन प्रिय मोतीरूपी मणियों की उपलब्धि का स्थान है ।।४६।।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसी दुश्छेद्य विषय-तृष्णा को भी ज्ञानसम्पन्न महानुभाव लोग विवेकरूपी निर्मल अर्थात् तीक्ष्ण तलवार से अनायास काट डालते हैं ।।४७।।

हे ब्रह्मन् ! जीवों के हृदय में स्थित तृष्णा जितनी तीक्ष्ण है, वैसी तीक्ष्ण न तो तेज तलवार की धार है, न वज्राग्नि की चिनगारियाँ हैं और न बन्दूक की गोलियाँ ही हैं ।।४८।।

जैसे दिये की शिखा आगे तीक्ष्ण उज्ज्वल और अन्त में कृष्ण, स्नेह से युक्त, दीर्घ दशा युक्त, प्रकाशमान और ताप के कारण दु:स्पर्श होती है, विषयतृष्णा भी भोग और वैभव से उज्ज्वल रहती है, अन्त में रोगादि और मृत्यु का कारण होती है, माता, स्त्री और पुत्र के स्नेह से दीर्घ और उत्कृष्ट, बाल्य, यौवन और वार्धक्य अवस्था-ओं से युक्त, प्रत्यक्ष और इष्टवियोग से उत्पन्न हार्दिक क्लेश के कारण असह्य है ।।४९।।

हे महर्षे ! एकमात्र विषयतृष्णा ही अर्थात् विषय वासना मेरु के समान स्थिर नरश्रेष्ठ मनीषी और शूर को भी क्षण भर में तृण के समान हलका अर्थात् उपेक्ष-णीय बना देती है और कामना की पूर्ति के लिए इधर-उधर दौड़ने लगता है ।।५०।।

जैसे विन्ध्याचल अनेक बड़े-बड़े अरण्यों से पूर्ण, निबिडतारूपी जाल और धूलिपटल से आच्छन्न एवं भीषण अन्धकार और घने कुहरे से परिव्याप्त रहता है, वैसे ही विषयपिपासारूपिणी तृष्णा भी अरण्य के समान अनेक बड़े-बड़े साहस के कार्यों से युक्त, पतन का कारण होने से भयङ्कर, निबिड जाल के समान बन्धन का साधन आशारूपी रस्सी से और रजोगुण से बनी हुई एवं अज्ञानरूपी कुहरे से व्याप्त रहती है ।।५१।।

जैसे 'रसन' इन्द्रिय के रूप से शरीर में विद्यमान सभी जलों के मध्य में (जल-सामान्य में) रहने वाली एक ही माधुर्य शक्ति, (नदी, समुद्र आदि में क्षरण गिरने से) क्षीर, (क्लेदन से) उदक, (शब्द करने से) अम्बु, इस प्रकार क्रिया और वाचक शब्दों के भेद से विभिन्न, चञ्चल तरङ्गों से संकुल जल में स्थित होकर दुर्लक्ष्य होती है, अर्थात् एक ही है ऐसा उसका ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही शरीर में विद्यमान तृष्णा एक होती हुई भी सम्पूर्ण भुवनों के योग्य पदार्थों में व्याप्त होकर व्यवहार में दुर्लक्ष्य सी प्रतीत होती है—देहस्थित तृष्णा ने ही आशा, काम और लोभ का बाना धारण किया है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता ।।५२।।

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवसिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में तृष्णाभङ्ग नामक कुसुमलता का सप्तदश सर्ग समाप्त हुआ ।।१७।।

श्रीराम उवाच

आर्द्रान्त्रतन्त्रीगहनो विकारी परिपातवान् ।
देहः स्फुरति संसारे सोऽपि दुःखाय केवलम् ॥ १ ॥
अज्ञोऽपि तज्ज्ञसदृशो वलितात्मचमत्कृतिः ।
युक्त्या भव्योऽप्यभव्योऽपि न जडो नाऽपि चेतनः ॥२॥
जडाजडदृशोर्मध्ये दोलायितदुराशयः ।
अविवेकी विमूढात्मा मोहमेव प्रयच्छति[1] ॥ ३ ॥
स्तोकेनाऽऽनन्दमायाति स्तोकेनाऽऽयाति खेदिताम् ।
नाऽस्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणबहिष्कृतः ॥ ४ ॥
आगमापायिना नित्यं दन्तकेसरशालिना ।
विकासस्मितपुष्पेण प्रतिक्षणमलङ्कृतः ॥ ५ ॥

१८

[राग-द्वेष मोह के विषय और आश्रय के विषय के भेद से ही काम क्रोध लोभ ही विश्व में तृष्णा के भेद हैं—

शरीर में स्थित एक ही तृष्णा (इन्द्रियों के भेद से भिन्न लक्ष्य का आश्रयण कर रही है) सभी भुवनों के मध्य में भोग्य विषय के रूप में लक्ष्य का आश्रयण कर (शरीर और आत्मा का अभेद ज्ञान होने से) दुर्लक्ष्य रूप में अर्थात् अपने को तिरोहित कर स्थित है। (इन्द्रियों को ही विषयाभिलाषा होती है और उसकी तृप्ति के लिए सचेष्ट होता है तथा उसके सम्बन्ध से स्वयं तृष्णा को शान्त करने का प्रयास करता है। तृष्णा जगत् की तरङ्ग-मालाओं में क्षीर उदक और अम्बु रूपी एक ही द्रव वस्तु में विभिन्न नाम के समान है। अर्थात् तरलता या द्रवता के कारण ही क्षरण से क्षीर, उन्दन=क्लेदन से उदक, अम्वन=द्रवता से अम्बु यह शब्दान्तर है, किन्तु क्रिया एक ही है, वैसे ही तृष्णा एक ही है उनके लक्ष्य भिन्न हैं, अतः शरीर और इन्द्रिय के साथ आत्मा का तादात्म्य और संसर्गाध्यास से छुटकारा होना चाहिए। आत्मा आनन्द स्वरूप है, शरीर और इन्द्रिय आत्मा नहीं है, आत्मा की कामना के लिए सभी प्रिय होते हैं। अतः इन्द्रिय में आत्मभाव के मूल पर ही विषय तृष्णा प्रतिष्ठित है। विषय में तृष्णा नहीं है, शरीररूपी आत्मा में ही तृष्णा है और लक्ष्यभूत विषय में आरोपित है।

तृष्णा भले ही दुःख की कारण हो, पर 'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्' (जीवित पुरुष अनेक मङ्गलों को देखता है) इस न्याय से भी शरीर सुख-भोग का स्थान है, ऐसी प्रसिद्धि है और शरीर पर सबका अतिशय प्रेम भी देखा जाता है, इसलिए शरीर सुख का कारण है, ऐसी शङ्का कर शरीर भी दुःख का ही कारण है, इसीका 'आर्द्रा' इत्यादि सेउपपादन करते हैं।]

श्रीरामजी ने कहा—गीली आंतों (पेट में स्थित मल, मूत्र आदि की थैलियों) और नाड़ियों से व्याप्त जरा आदि विकारयुक्त पतनशील अर्थात् समाप्त होने वाला शरीर जो संसार में दिखाई दे रहा है, वह भी केवल दुःख भोग के लिए ही है ॥१॥

युक्तिमार्ग का अवलम्बन करने पर स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि यह जीव-शरीर दो रूप वाला है। प्राण आदि चार कोशों का आधार होने के कारण जिसमें आत्म चमत्कृति अर्थात् अध्यस्तचैतन्यातादात्म्या ध्यास से परिव्याप्त है, ऐसा यह शरीर अज्ञ= जड़ होने पर भी अभिज्ञ के समान=चेतन के समान और अभव्य होने पर भी भव्य के समान प्रतीत होता है। अतः अन्य पदार्थों से विलक्षण है, क्योंकि अभिव्यक्त चेतन के सम्बन्ध से चेतन के समान है और मुक्ति का साधन है, इसी दृष्टि से अमङ्गल होते हुए भी मङ्गल अर्थात् कल्याण का साधक कहा है—यही इस शरीर की भव्यता है ॥२॥

चित् और जड़ दृष्टियों के मध्य में क्या यह शरीर चेतन है या जड़ है ऐसा सन्देह होने के कारण विवेक-रहित होने से ही विमूढ़ आत्मा वाला यह शरीर मोह ही पैदा करता है। 'प्रपश्यति' ऐसा पाठ होने पर अज्ञानी और अविवेकी इस देह में आत्मबुद्धि करने के कारण संसार को ही देखता है, पुरुषार्थ को नहीं देख पाता, क्योंकि, वह चञ्चल एवं विमूढ़ चित्त वाला है ॥३॥

यह शरीर क्षणिक तृप्ति से ही आनन्द को प्राप्त करता है और थोड़े ही अभाव से अर्थात् इच्छानुरूप विषयों की अप्राप्ति से ही क्लेश को प्राप्त करता है, इस लिए शरीर के समान गुणहीन, शोचनीय=शोक करने योग्य और अधम दूसरा कोई पदार्थ नहीं है ॥४॥

शरीर के उपेक्षात्मक स्वरूप का निरूपण वृक्ष के रूपक के माध्यम से अग्रिम चार पद्यों से किया जा रहा है—

१. "प्रपश्यति" इति पाठः ।

भुजशाखो घनस्कन्धो द्विजस्तम्भशुभस्थितिः ।
लोचनालिबिलाक्रान्तः शिरःपीठबृहत्फलः ॥ ६ ॥
श्रवदन्तरसग्रस्तो हस्तपादसुपल्लवः ।
गुल्मवान् कार्यसङ्घातो विहङ्गमकृतास्पदः ॥ ७ ॥
सच्छायो देहवृक्षोऽयं जीवपान्थगणास्पदः ।
कस्याऽऽत्मीयः कस्य पर आस्थानास्थे किलाऽत्र के ॥८॥
तात ! सन्तरणार्थेन गृहीतायां पुनः पुनः ।
नावि देहलतायां च कस्य स्यादात्मभावना ॥ ९ ॥
देहनाम्नि वने शून्ये बहुगर्त्तसमाकुले ।
तनूरुहासंख्यतरौ विश्वासं कोऽधिगच्छति ॥ १० ॥
मांसस्नाय्वस्थिवलिते शरीरपटहेऽदृढे ।
मार्जारवदहं तात ! तिष्ठाम्यत्र गतध्वनौ ॥ ११ ॥
संसारारण्यसंरूढो विलसच्चित्तमर्कटः ।
चिन्तामञ्जरिताकारो दीर्घदुःखघुणक्षतः ॥ १२ ॥
तृष्णाभुजङ्गमीगेहं कोपकाककृतालयः ।
स्मितपुष्पोद्गमः श्रीमाञ्छुभाशुभमहाफलः ॥ १३ ॥
सुस्कन्धौधलताजालो हस्तस्तवकसुन्दरः ।
पवनस्पन्दिताशेषस्वाङ्गावयवपल्लवः ॥ १४ ॥
सर्वेन्द्रियखगाधारः सुजानुस्तम्भ उन्नतः ।
सरसश्छायया युक्तः कामपान्थनिषेवितः ॥ १५ ॥
मूर्द्धसञ्जनितादीर्घशिरोरुहतृणावलिः ।
अहङ्कारगृध्रकृतकुलायः सुषिरोदरः ॥ १६ ॥

यह शरीर वृक्ष के तुल्य है—दो भुजाएँ इसकी शाखाएँ हैं, उन्नत कन्धा इसका तना है, दो नेत्र इसके खोखले हैं, मस्तक इसका बड़ा भारी फल है, यह दाँत रूपी पक्षियों के बैठने के स्तम्भ के समान उत्तम रीति से खड़ा है, यह दो कर्णरूपी कठफोड़वा पक्षियों के चोंच के आघात से जर्जरित (छिद्रयुक्त-सा) है, हाथ और पैर इसके सुन्दर पल्लव हैं, रोग आदि से इस शरीर का भी उच्छेद, किया जा सकता है, 'द्वा सुपर्णा' इस श्रुति में प्रसिद्ध (जीव और ईश्वररूप) पक्षियों ने जिसके हृदय में अपने निवास के लिए घोसला बना रक्खा है, यह उत्पन्न और विनाशशील दाँतरूपी केसर से शोभित हास रूप पुष्पों से सदा अलंकृत रहता है, अर्थात् जैसे वसन्त आदि फूल की ऋतु आने पर वृक्ष उत्पन्न हो-हो कर मुरझाने वाले एवं केसर से शोभित होने वाले फूलो से अलंकृत रहता है, वैसे ही यह शरीर भी हर्ष के समय में उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले एवं दाँतरूपी केसरों से सुशोभित होने वाले मन्दहास से शोभित होता है । सुन्दर कान्तिरूपी छाया वाला यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी बटोंहियों का विश्राम-भूमि है । यह किसका आत्मीय (मित्र है) और किसका शत्रु है ? इस देहरूपी वृक्ष में प्रेम और द्वेष करना व्यर्थ है, अर्थात् देह के साथ जीव का कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, इसलिए यह किसी का आत्मीय नहीं है अतः इसके प्रति आस्था और अनास्था ही क्या ? ॥६—८॥

[यह शरीर सब लोगों में आत्मरूप से प्रसिद्ध है, इसको उपेक्षणीय कैसे कहते हैं ? ऐसी शङ्का होने पर 'तात' इत्यादि से कहते हैं ।]

हे तात ! भव-सागर को पार करने के लिए पुनः-पुनः गृहीत नौकारूपी शरीर में किसकी आत्मभावना होगी ? आशय यह है कि भव-सागर को पार करने के लिए गृहीत नौका में किसी की भी आत्मभावना संभव नहीं होती है, वैसे ही संसार से मुक्त होने के लिए बार-बार गृहीत देहमें किसी की आत्मभावना नहीं होती है ॥९॥

रोमरूपी असंख्य वृक्ष और इन्द्रियरूपी अनेक गड्ढों से युक्त देहनामक निर्जन वन में कौन पुरुष=यह शरीर चिरकाल तक निःशङ्क होकर रहने योग्य है, यह विश्वास कर सकता है ? ॥१०॥

हे तात ! साररहित तथा छिद्रयुक्त, मांस, स्नायु=नसों और हड्डियोंसे परिवेष्टित और इससे छुटकारा=मुक्त होने के उपाय भूतमार्ग अर्थात् उपदेश से शून्य इस अदृढ़ शरीररूपी नगाड़े में मैं बिल्ली के समान रहता हूँ ॥११॥

[१२ से १७ श्लोकों से पाकड़ के वृक्ष के रूपक से शरीर का निरूपण किया गया है अतः इन छः पद्यों के अर्थ की सङ्गति के लिए एक ही साथ इनका अनुवाद प्रस्तुत है : —]

यह शरीररूपी पाकड़ वृक्ष संसाररूपी अरण्य में पैदा हुआ है, चित्तरूपी चपल बन्दर इसमें इधर-उधर कूदता-फाँदता है, चिन्तारूपी मञ्जरी से यह फूला हुआ है, महादुःखरूपी घुनों ने इसके चारों ओर क्षत-विक्षत कर रक्खे हैं, तृष्णारूपी सर्पिणी का यह घर है, कोपरूपी कौए ने इसमें घोसला बना रक्खा है, मन्दहासरूप प्रस्फुटित पुष्पों से यह सुन्दर शोभायमान है, शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) ये दो इसके महाफल हैं, भुजाएँ ही इसकी लताएँ हैं, हाथ ही पुष्पों के गुच्छे हैं, यह बहुत भला लगता है, प्राण-वायुरूप वायु से इसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पल्लव हिल रहे हैं, सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी चिड़ियाँ इसमें

विच्छिन्नवासनाजालमूलत्वाद् दुर्लवाकृतिः ।
व्यायामविरसः कायवृक्षोऽयं न सुखाय मे ॥ १७ ॥
कलेवरमहङ्कारगृहस्थस्य महागृहम् ।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन मुने ! मम ॥ १८ ॥
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वलत्तृष्णागृहाङ्गनम् ।
रागरञ्जितसर्वाङ्गं नेष्टं देहगृहं मम ॥ १९ ॥
पृष्ठास्थिकाष्ठसङ्कट्टपरिसङ्कटकोटरम् ।
आन्त्ररज्जुभिराबद्धं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २० ॥
प्रसृतस्नायुतन्त्रीकं रक्ताम्बुक्लृतकर्दमम् ।
जरामङ्कोलधवलं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २१ ॥
चित्तभृत्यकृतानन्तचेष्टावष्टब्धसंस्थिति ।
मिथ्यामोहमहास्थूणं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २२ ॥

बसेरा लेती हैं, सुन्दर घुटनों से युक्त अधोभाग इसका तना है, यह उन्नत है और यौवनकान्तिरूपी शीतल छाया से युक्त है। काम देवरूपी बटोही इस पर बास करता है, सिर में उगे हुए खूब लम्बे सिर के केश उसकी जटा हैं। अहङ्काररूपी गृध्र इसमें घोसला बनाकर रहता है, यह भीतर से खोखला=छिद्रयुक्त है। विविध वासना रूपी जटाओं से चारों ओर वेष्टित होने के कारण दुरुच्छेद्य है, व्यायामरूपी विस्तार से कोमलतारहित और रूक्ष भी है अतः शरीररूपी यह पाकड़ का वृक्ष मुझे प्रिय नहीं लगता है ॥१२--१७॥

हे महामुने ! अहङ्काररूपी गृहस्थ का महान् गृह यह शरीर चाहे भूमि में गिरकर बदल जाय, चाहे चिरकाल तक स्थिर रहे, इससे मुझे क्या लाभ है? ॥१८॥

इस देहरूपी अहङ्कार के घर में इन्द्रियरूपी पशु कतार बाँधकर खड़े हैं, तृष्णारूपी गृहस्वामिनी=घर की मालकिन बार-बार इधर उधर घूम रही है, कामदेवरूपी गेरु आदि रंगने के पदार्थों से सब अवयव रंगे गये हैं, इसीलिए यह शरीर मुझे प्रिय नहीं है ॥१९॥

पीठ की हड्डीरूपी=रीढ़रूपी सहतीरों के एक साथ मिलने से जिसके भीतर बहुत थोड़ा स्थान रह गया है, आँतरूपी रज्जुओं से आबद्ध शरीररूपी यह घर मुझे प्रिय नहीं लगता है ॥२०॥

स्नायु (नस) रूपी रस्सियाँ जिसमें चारों ओर तनी हैं, रस, रक्तरूप जल से रचित गारे से लिपा गया है, वृद्धावस्था रूपी चूने से सफेद यह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥२१॥

दुःखार्भककृताक्रन्दं सुखशय्यामनोरमम् ।
दुरीहादग्धदासीकं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २३ ॥
मलाढ्यविषयव्यूहभाण्डोपस्करसङ्कटम् ।
अज्ञानक्षारवलितं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २४ ॥
गुल्फगुग्गुलुविश्रान्तजानूर्ध्वस्तम्भमस्तकम् ।
दीर्घदोर्दारुसुदृढं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २५ ॥
प्रकटाक्षगवाक्षान्तः क्रीडत्प्रज्ञागृहाङ्गनम् ।
चिन्तादुहितृकं ब्रह्मन्नेष्टं देहगृहं मम ॥ २६ ॥
मूर्धजाच्छादनच्छन्नकर्णश्रीचन्द्रशालिकम् ।
आदीर्घाङ्गुलिनिर्व्यूहं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २७ ॥
सर्वाङ्गकुडचसङ्घातघनरोमयवाङ्कुरम् ।
संशून्यपेटविवरं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २८ ॥

चित्तरूपी भृत्य ने विविध चेष्टाओं द्वारा इसकी स्थिति इतनी मजबूत कर रक्खी है कि यह गिर नहीं सकता है, मिथ्या और अज्ञान इसके आधारस्तम्भ हैं, दुःख रूपी बाल-बच्चों ने इसमें चीत्कार कर कुहराम मचा रक्खा है, सुख-शय्या से यह मनोहर है, दुश्चेष्टारूपी दाह-व्रण से पीड़ित दासी इसमें निवास करती है, ऐसा शरीर-रूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥२२--२३॥

हे मुने ! यह देहरूपी गृह दोषपूर्ण विषयसमूहरूपी बर्तनों और अन्यान्य उपकरणों से पूर्ण रूप से भरा हुआ है और अज्ञानरूपी क्षार से=नोनी से जर्जर है, अतः यह शरीररूपी गृह मुझे अभीप्सित नहीं है ॥२४॥

एड़ी के ऊपर की गांठ रूपी आधारकाष्ठपर स्थित पिण्डली का घुटनारूप मस्तक जिस स्तम्भ का मस्तक है, लम्बी-लम्बी दो भुजाएँ रूपी आड़ी लकड़ियों से अत्यन्त दृढ़ यह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥२५॥

हे ब्रह्मन् ! जिसमें ज्ञानेन्द्रियरूपी वातायन के अन्दर प्रज्ञारूपिणी गृहस्वामिनी क्रीड़ा कर रही है, जहाँ चिन्ता-रूपी अनेक पुत्रियाँ विद्यमान हैं, ऐसा देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥२६॥

सिर के केशरूपी छाजन=छाने की घास फूस से आच्छादित, कर्णरूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओंसे=सबसे ऊपर के कमरों से युक्त तथा लम्बी-लम्बी अँगुलीरूपी काठ के चित्रों से सुसज्जित देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥२७॥

जिसमें सम्पूर्ण अङ्गरूपी भित्तियों में रोमरूपी घने जौ के अङ्कुर उगे हैं और पेटरूपी छिद्र है, ऐसा देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥२८॥

नखोर्णनाभिनिलयं सरमारणितान्तरम् ।
भाङ्कारकारिपवनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ २९ ॥
प्रवेशनिर्गमव्यग्रवातवेगमनारतम् ।
वितताक्षगवाक्षं तन्नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३० ॥
जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम् ।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३१ ॥
त्वक्सुधालेपमसृणं यन्त्रसञ्चारचञ्चलम् ।
मनःसदाखुनोत्खातं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३२ ॥
स्मितदीपप्रभोद्भासि क्षणमानन्दसुन्दरम् ।
क्षणं व्याप्तं तमःपूरैर्नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३३ ॥
समस्तरोगायतनं वलीपलितपत्तनम् ।
सर्वाधिसारगहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥ ३४ ॥
अक्षर्क्षक्षोभविषमा शून्या निःसारकोटरा ।

जिसमें नखरूपी मकड़ियों के जाले तने हैं, कुत्ती (के समान भ्रमण, दीनता, कलह आदि करनेवाली क्षुधा) जिसके अन्दर शोर मचाये हुए है और जिसमें भीषण शब्द करने वाला वायु सदा चलता रहता है वह शरीर मुझे प्रिय नहीं है।

वायु का वेग भीतर प्रवेश करने और बाहर निकलने में सदा व्यग्र रहता है और इन्द्रियरूपी वातायन सदा खुले हैं, यह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥२९-३०॥

देहरूपी घर के मुँहरूपी दरवाजे पर जिह्वारूपी वानरी सदा डटी रहती है, इससे उसकी भीषणता और बढ़ जाती है, दांतरूपी हड्डी के टुकड़े स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, यह देहगृह मुझे प्रिय नहीं है ॥३१॥

त्वचारूपी चूने के लेप से चिकना है, यन्त्रों के सञ्चार से चञ्चल है, मानरूपी सदा रहने वाले चूहे ने इसे खोदकर शिथिल कर दिया है, यह देहगृह मुझे प्रिय नहीं है ॥३२॥

क्षणभर में मन्दहासरूपी दीपों की प्रभा से उज्ज्वल एवं आह्लाद से देदीप्यमान और क्षणभर में अज्ञानरूपी अन्धकार से व्याप्त यह देहरूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है ॥३३॥

सम्पूर्ण रोगों का घर, बुढ़ापे के कारण पड़ने वाली झुर्रियों और केशों की सफेदी का नगर, सभी प्रकार के मानसिक रोगों से भयङ्कर, यह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है ॥३४॥

घोर अन्धकार से आच्छन्न दिशारूपी झाड़ियों से

तमोगहनदिक्कुञ्जा नेष्टा देहाटवी मम ॥ ३५ ॥
देहालयं धारयितुं न शक्नोमि मुनीश्वर ! ।
पङ्कमग्नं समुद्धर्तुं गजमल्पबलो यथा ॥ ३६ ॥
किं श्रिया किं च राज्येन किं कायेन किमीहितैः ।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥ ३७ ॥
रक्तमांसमयस्याऽस्य सबाह्याभ्यन्तरं मुने ! ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥ ३८ ॥
मरणावसरे काया जीवं नाऽनुसरन्ति ये ।
तेषु तात ! कृतघ्नेषु कैवाऽऽस्था वद धीमताम् ॥ ३९ ॥
मत्तेभकर्णाग्रचलः कायो लम्बाम्बुभङ्गुरः ।
न संत्यजति मां यावत्तावदेनं त्यजाम्यहम् ॥ ४० ॥
पवनस्पन्दतरलः पेलवः कायपल्लवः ।
जर्जरस्तनुवृत्तश्च नेष्टो मे कटुनीरसः ॥ ४१ ॥

युक्त, भीतर से शून्य अनेक गुहाओं से पूर्ण यह देहरूपी महारण्य है, यह इन्द्रियरूपी भालुओं के घूमने से भयङ्कर है, अतः यह देहरूपी महारण्य मुझे प्रिय नहीं है ॥३५॥

हे मुनीश्वर ! जैसे कोई निर्बल जीव कीचड़ में फँसे हुए हाथी को नहीं निकाल सकता है, वैसे ही मैं भी इस देहरूपी गृह को धारण करने में असमर्थ हूँ ॥३६॥

राजलक्ष्मी से क्या (लाभ है) ? राज्य से क्या (प्रयोजन है) ?, शरीर से क्या (लाभ है) ?, चेष्टाओं= प्रवृत्तियों से क्या (लाभ है) ? कुछ समय में ही काल इनको काट देगा अर्थात् नष्ट कर देगा ॥३७॥

हे मुनिवर ! रक्त और मांस से विरचित विनाशशील इस देह के बाहर और भीतर भली-भाँति देखकर कहिए कि इसमें कौन-सी रमणीयता है ? ॥३८॥

हे तात ! आप ही कहिये जो शरीर मरने के समय जीव के पीछे नहीं जाता अर्थात् जीव का त्याग कर देता है, उन कृतघ्न शरीरों पर ज्ञानवान् पुरुषों को कैसी आस्था हो सकती है ? ॥३९॥

मदोन्मत्त हाथी के कानों के अग्रभाग के समान चञ्चल और हाथी के कान के आगे की ओर लटक रहे जलकणों के समान विनाशशील यह शरीर जब तक मुझे नहीं छोड़ता, उससे पहले ही मैं इसका त्याग कर दूँगा ॥४०॥

वायु के वेग से परिचालित कोमल पल्लव के समान चञ्चल यह शरीर आधि-व्याधिरूपी सैकड़ों काँटों से क्षतविक्षत जर्जर, कटु और नीरस है, अतः यह देह मुझे प्रिय नहीं है ॥४१॥

भुक्त्वा पीत्वा चिरं कालं बालपल्लवपेलवाम् ।
तनुतामेत्य यत्नेन विनाशमनुधावति ॥ ४२ ॥
तान्येव सुखदुःखानि भावाभावमयान्यसौ ।
भूयोऽप्यनुभवन् कायः प्राकृतो हि न लज्जते ॥ ४३ ॥
सुचिरं प्रभुतां कृत्वा संसेव्य विभवश्रियम् ।
नोच्छ्रायमेति न स्थैर्यं कायः किमिति पाल्यते ॥ ४४ ॥
जराकाले जरामेति मृत्युकाले तथा मृतिम् ।
सम एवाऽविशेषज्ञः कायो भोगिदरिद्रयोः ॥ ४५ ॥
संसाराम्भोधिजठरे तृष्णाकुहरकान्तरे ।
सुप्तस्तिष्ठति मुक्तेहो मूकोऽयं कायकच्छपः ॥ ४६ ॥
दहनैकार्थयोग्यानि कायकाष्ठानि भूरिशः ।
संसाराब्धाविहोह्यन्ते कश्चित्तेषु नरं विदुः ॥ ४७ ॥

चिरकाल तक भाँति-भाँति के सुन्दर खाद्य और पेय पदार्थों को खा-पीकर नवीन पल्लव के समान कोमल कृशता को प्राप्त कर स्वतः विनाश की ओर अग्रसर होता है ॥४२॥

यह पामर शरीर भाव और अभावरूपी सुख और दुःखों का पुनः-पुनः अनुभव करता हुआ भी लज्जित नहीं होता है॥ ४३॥

दीर्घकाल तक लोगों पर अपना आधिपत्य जमाकर और विविध विभवों को प्राप्त कर न तो वृद्धि या उत्कर्ष को प्राप्त करता है और न स्थिरता को प्राप्त करता है, तब इसके परिपालन से क्या लाभ है? ॥४४॥

यह शरीर बुढ़ापे के समय में बुढ़ापे को अवश्य प्राप्त करता है और मरने के समय मृत्यु को अवश्य प्राप्त करता है, यह नियम भोगी भाग्यवान् और दरिद्र दोनों के लिए ही समान है ॥४५॥

यह शरीर मूक कच्छप के (कच्छों द्वारा=दुष्ट इन्द्रियों द्वारा—दुर्विषयरूपी पङ्क का पान करने वाले कछुए के) समान संसाररूप समुद्र के उदर में तृष्णारूपी छोटे बिल के अन्दर यह मूक=जड शरीर सोया रहता है। यह अपनी आत्मा के उद्धार के अनुकूल इच्छा और चेष्टा भी नहीं करता है ॥४६॥

इस संसाररूपी महासागर में केवल जलना ही जिसका मुख्य प्रयोजन है, ऐसे हजारों देहरूपी काष्ठ प्रतीत होते हैं, उनमें संसारसागर की इच्छा को त्याग करने लिए सचेष्ट ही कोई नर=पुरुष कहा जा सकता है ॥४७॥

दुष्टतारूपी बड़े-बड़े प्रतानों से युक्त और दुश्चरितों से

दीर्घदौरात्म्यवलया निपातफलपातया ।
न देहलतया कार्यं किञ्चिदस्ति विवेकिनः ॥ ४८ ॥
मज्जन् कर्दमकोशेषु झटित्येव जरां गतः ।
न ज्ञायते यात्यचिरात् कः कथं देहदर्दुरः ॥ ४९ ॥
निःसारसकलारम्भाः कायाभ्रपलवायवः ।
रजोमार्गेण गच्छन्तो दृश्यन्ते नेह केनचित् ॥ ५० ॥
वायोर्दीपस्य मनसो गच्छतो ज्ञायते गतिः ।
आगच्छतश्च भगवञ्छरीरस्य कदाचन ॥ ५१ ॥
बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान्धिग्धिगस्तु पुनः पुनः ॥ ५२ ॥
नाऽहं देहस्य नो देहो मम नाऽयमहं तथा ।
इति विश्रान्तचित्ता ये ते मुने! पुरुषोत्तमाः ॥ ५३ ॥

जिसका पतन अवश्यम्भावी है, ऐसी देहरूपी लता से विवेकी पुरुष को कुछ भी काम नहीं है ॥४८॥

यह शरीर कीचड़ से भरे हुए पल्वलों में (तलैयों में) निमग्न मेंढक के समान विषय-भोगों में अत्यन्त निमग्न होकर वृक्षावस्था से आक्रान्त हो जाता है, किन्तु यह शीघ्र ही कहाँ जायगा और किस प्रकार की दुर्दशाओं से ग्रस्त होगा, यह ज्ञात नहीं होता ॥४९॥

इस देह-राशि की चेष्टाएँ आँधी के ही अनुरूप हैं अर्थात् इसकी सब चेष्टाएँ पवन के समान नीरस=अनर्थकारिणी और दर्शनशक्ति का नाश करने वाली हैं। यह शरीर ही चपल वायु है, यह राजसी प्रवृत्ति का उत्पादन कर आत्मदर्शन से विमुख रहता है ॥५०॥

वायु की, दीपक की और मन की गति—उत्पत्ति और विनाश—जैसे अज्ञात हैं, वैसे ही इस शरीर की उत्पत्ति, विनाश आदि अज्ञात हैं, कोई भी किसी प्रकार इसको नहीं जान सकता है (यह क्या है, किस प्रकार से और कहाँ से आता है और कहाँ जाता है, इस बात को कोई नहीं जानता) ॥५१॥

जो शरीर में आस्था करते हैं और जो संसार-स्थिति के विषय में आस्था करते हैं (जो लोग शरीरों को तथा संसार को सारयुक्त, चिरस्थायी और सत्य मानते हैं) वे मोह=अज्ञान रूपी मदिरा से उन्मत्त हैं, उन्हें बार-बार धिक्कार है) ॥५२॥

न मैं देह का सम्बन्धी हूँ, न मैं देह हूँ, न मेरा देह है और न मैं देह ही हूँ, अर्थात् इदन्त्व से विशिष्ट घट आदि के समान जड़ देह यह मैं नहीं हूँ, ऐसा निश्चय कर जिनका चित्त सुदृढ़ है, वे ही पुरुषोत्तम हैं ॥५३॥

मानावमानबहुलाबहुलाभमनोरमाः ।
शरीरमात्रबद्धास्थं घ्नन्ति दोषदृशो नरम् ॥ ५४ ॥
शरीरश्वभ्रशायिन्या पिशाच्या पेशलाङ्ग्या ।
अहङ्कारचमत्कृत्या छलेन छलिता वयम् ॥ ५५ ॥
प्रज्ञा वराकी सर्वैव कायबद्धास्थयाऽनया ।
मिथ्याज्ञानकुराक्षस्या छलिता कष्टमेकिका ॥ ५६ ॥
न किञ्चिदपि दृश्येऽस्मिन् सत्यं तेन हतात्मना ।
चित्रं दग्धशरीरेण जनता विप्रलभ्यते ॥ ५७ ॥
दिनैः कतिपयैरेव निर्झराम्बुकणो यथा ।
पतत्ययमयत्नेन जरठः कायपल्लवः ॥ ५८ ॥
कायोऽयमचिरापायो बुद्‌बुदोऽम्बुनिधाविव ।
व्यर्थं कार्यपरावर्त्ते परिस्फुरति निष्फलः ॥ ५९ ॥
मिथ्याज्ञानविकारेऽस्मिन् स्वप्नसम्भ्रमपत्तने ।
काये स्फुटतरापाये क्षणमास्था न मे द्विज ! ॥ ६० ॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च ।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥ ६१ ॥
सततभङ्गुरकार्यपरम्परा-
विजयिजातजयं हठवृत्तिषु ।
प्रबलदोषमिदं तु कलेवरं
तृणमिवाऽहमपोह्य सुखं स्थितः ॥ ६२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे कायजुगुप्सानामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

मान और अपमान से वृद्धि को प्राप्त हुई एवं प्रचुर लाभ से सुन्दर लगने वाली केवल शरीर में ही परम आस्था रखने वाली दोषदृष्टि ही मनुष्य को मार देती है। अर्थात् अहङ्कार चमत्कृत कोमलाङ्गी मृत्यु ही उसे वशीभूत कर लेती हैं ॥५४॥

शरीररूपी गड्ढे में रहने वाली अहङ्कार-चमत्कृत कोमलाङ्गी भोगतृष्णारूपिणी पिशाची के द्वारा कपट ने हमें ठग लिया गया है ॥५५॥

शरीर को ही सब कुछ समझने वाली इस मिथ्याऽज्ञानरूपिणी राक्षसी ने अकेली, अत एव दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूप से ठग लिया है, यह बड़े कष्ट की बात है ॥५६॥

जब इस दृश्य-प्रपञ्च में कोई भी वस्तु सत्य नहीं है, तब उसके मध्यपाती होने से यह शरीर भी सत्य नहीं है। अपने आप जले हुए अर्थात् मिथ्या शरीर से जनता ठगी जाती है, यह महान् आश्चर्य है ॥५७॥

[यदि जनता को ठगने से इस शरीर का कोई प्रयोजन सिद्ध होता, तो किसी अंश में वह क्षन्तव्य भी होता, पर वैसा भी तो कुछ नहीं है, यह—'दिनैः' इत्यादि दो श्लोकों से व्यक्त करते हैं।]

कुछ ही दिनों मे वृद्धता को प्राप्त कर यह शरीर रूपी पल्लव झरने के जलकणों के समान स्वयं गिर पड़ता है ॥५८॥

समुद्र में उत्पन्न हुए जल के बुद्‌बुदों के समान इस शरीर का बहुत शीघ्र ही विनाश हो जाता है, यह संसार में परिभ्रमणरूपी = आवागमनरूपी जलभँवर में निष्प्रयोजन आता-जाता रहता है ॥५९॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञान का विकार है—अज्ञानजनित इस शरीर में जो स्वप्नरूपी भ्रान्तियों के नगर हैं, इनका विनाश भी सर्वथा निश्चित है, इसलिए-इस शरीर में मेरी क्षण भर के लिए भी आस्था नहीं है ॥६०॥

जिस पुरुष ने बिजली में, शरद् ऋतु के मेघों में और गन्धर्वनगर में ये चिरस्थायी हैं, ऐसा निर्णय रखता है, वह इस क्षणभङ्गुर शरीर को भले ही चिरस्थायी माने ॥६१॥

(किसका शीघ्र विनाश होता है, इस विषय में अपना उत्कर्ष व्यक्त करने के लिए) हठ से प्रवृत्त सम्पूर्ण पदार्थों में सदा विनाशशीलता में विजयी होने वाले (बिजली, शरद् ऋतु के मेघ आदि से भी) क्षणभङ्गुर पदार्थों से उत्कृष्ट एवं प्रबल दोषी इस शरीर को तृण से भी तुच्छ समझ कर मैं परम सुखी हूँ ॥६२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में कायजुगुप्सा नामक कुसुमलता का अट्ठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

१८

श्रीराम उवाच

लब्ध्वाऽपि तरलाकारे कार्यभारतरङ्गिणि ।
संसारसागरे जन्म बाल्यं दुःखाय केवलम् ॥ १ ॥
अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता ।
गृध्नुता लोलता दैन्यं सर्वं बाल्ये प्रवर्त्तते ॥ २ ॥
रोषरोदनरौद्रासु दैन्यजर्जरितासु च ।
दशासु बन्धनं बाल्यमालानं करिणामिव ॥ ३ ॥
न मृतौ न जरा रोगे न चाऽऽपदि न यौवने ।
ताश्चिन्ताः परिकृन्तन्ति[1] हृदयं शैशवेषु याः ॥ ४ ॥
तिर्यग्जातिसमारम्भः सर्वैरेवाऽवधीरितः ।
लोलो बालसमाचारो मरणादपि दुःखदः ॥ ५ ॥
प्रतिबिम्बघनाज्ञानं नानासङ्कल्पपेलवम् ।
बाल्यमालूनसंशीर्णमनः कस्य सुखावहम् ॥ ६ ॥
जलवह्न्यनिलाजस्रजातभीत्या पदे पदे ।
यद्भयं शैशवेऽबुद्ध्या कस्याऽऽपदि हि तद् भवेत् ॥ ७ ॥

१९

[देह की सभी अवस्थाएँ दुःखरूप नहीं हैं, क्योंकि उसकी बाल्यावस्था की सब लोग स्पृहा करते हैं, इससे प्रतीत होता है कि वह सुखमय है। 'तद्यथा महाराजो वा मनाब्राह्मणो वा महाकुमारो वा असिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीत' यह श्रुति भी बाल्यावस्था में अतिशय आनन्द का प्रतिपादन करती है, इस प्रकार शङ्का कर विस्तारपूर्वक बाल्यावस्था की अनर्थकारिता का प्रतिपादन करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—'लब्ध्वाऽपि' से ।]

श्रीराम ने कहा—

हे महर्षे ! कर्तव्यभाररूपी तरङ्गों से युक्त संसार-सागर में मनुष्य जन्म पाकर भी बाल्यावस्था में केवल दुःख ही मिलता है। (पहले मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है, वह किसी प्रकार पुण्य-परिपाक से यदि प्राप्त भी हो गया, तो उसमें बाल्यावस्था अतिक्लेश कारक है—'अपि' पद से यह अर्थ व्यक्त हो रहा है) ॥१॥

[जिसकी पहले प्रतिज्ञा की थी, उसी अर्थ का विस्तार से वर्णन —'अशक्ति' इत्यादि से करते हैं।]

अशक्ति=असामर्थ्य, आपत्तियाँ, खाने-पीने आदि की तृष्णा, मूकता=बोल न सकना, मूढ़बुद्धिता=विवेक शून्यता, क्रीड़ा, कौतुक आदि के विषय में अभिलाषा करना, न मिलने पर दीन-हीन बन जाना और चञ्चलता ये बाल्यावस्था में स्वभावतः होते हैं ॥२॥

हाथियों के बन्धन-स्तम्भ के समान बाल्यावस्था अकारण क्रोध और रोदन से भीषण और दीनता से जर्जरित दशाओं में बन्धन है। आशय यह है कि अकारण क्रोध, रोदन आदि से भीषण और दीनता से जर्जरित अवस्थाओं में हाथी का आलान अर्थात् बन्धनस्तम्भ में जिस प्रकार बन्धन होता है, वैसे ही अकारण क्रोध, रोना आदि से भीषण और दैन्य से जर्जरित अवस्थाओं में प्राणियों का बाल्यकाल भी बन्धन ही है ॥३॥

चिन्ताएँ बाल्यावस्था में जीव के हृदय को जिस तरह पीड़ित करती हैं, मरण में, बुढ़ापे में, रोगावस्था में, आपत्ति में एवं यौवनावस्था में उस प्रकार पीड़ित नहीं करती हैं ॥४॥

बाल्यावस्था में पशुपक्षियों की-सी चेष्टाएँ होती हैं, सभी बालकों की भर्त्सना=अपमानित करते हैं, सचमुच चञ्चल बाल्यावस्था मरण से भी बढ़कर दुःखदायिनी है ॥५॥

सामने स्थित प्रतिबिम्ब के समान बाल्यावस्था में स्फुट और निबिड़ अज्ञान रहता है अथवा प्रत्येक क्षण में चित्त में उन-उन विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ने से अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ होती हैं, अतएव यह अनेक प्रकार के संकल्पों से तुच्छ है। कामना के अनुरूप संकल्पित विषयों के न मिलने से बाल्यावस्था में मन चारों ओर से कटा हुआ-सा और जीर्णशीर्ण हो दुःखित रहता है, भला ऐसी बाल्यावस्था किसी को सुखप्रद होती है ? ॥६॥

बाल्यावस्था में पद-पद पर अज्ञानवश जल, वह्नि और वायु से सदा उत्पन्न होने वाले भय से जैसा दुःख होता है, वैसा आपत्ति में भी किसी को होगा ? वैसा दुःख आपत्ति में भी नहीं होगा। अर्थात् बाल्यावस्था में आपत्ति से भी बढ़कर दुःख होता है ॥७॥

---

१. "विनिकृन्तति" इति पाठः ।

लीलासु दुर्विलासेषु दुरीहासु दुराशये ।
परमं मोहमाधत्ते बालो बलवदापतन् ॥ ८ ॥
विकल्पकल्पितारम्भं दुर्विलासं दुरास्पदम् ।
शैशवं शासनायैव पुरुषस्य न शान्तये ॥ ९ ॥
ये दोषा ये दुराचारा दुष्क्रमा ये दुराधयः ।
ते सर्वे संस्थिता बाल्ये दुर्गर्त्त[1] इव कौशिकाः ॥ १० ॥
बाल्यं रम्यमिति व्यर्थबुद्धयः कल्पयन्ति ये ।
तान् मूर्खपुरुषान् ब्रह्मन् धिगस्तु हतचेतसः ॥ ११ ॥
यत्र दोलाकृति मनः परिस्फुरति वृत्तिषु ।
त्रैलोक्याभव्यमपि तत्कथं भवति तुष्टये ॥ १२ ॥
सर्वेषामेव सत्वानां सर्वावस्थाभ्य एव हि ।
मनश्चञ्चलतामेति बाल्ये दशगुणं मुने ! ॥ १३ ॥
मनः प्रकृत्यैव चलं बाल्यं च चलतां वरम् ।

बालक अनेक क्रीड़ाओं में, दुश्चेष्टाओं में, दुराशाओं में, दुरभिसन्धानों में और दुर्विलासों में सहसा पड़कर ये सार वस्तुएँ हैं, ऐसे महाभ्रम उस को प्राप्त होता है ॥८॥

तुच्छ वस्तु की कल्पना कर आरम्भ करने वाला दुश्चेष्टाओं से युक्त, प्रतिष्ठा-शून्य शैशवकाल अन्य लोगों के द्वारा अर्थात् गुरुजनों के द्वारा प्रताडना के लिए ही है, शान्ति के लिए नहीं है ॥९॥

जैसे उल्लू दिन में अन्धारमय गड्ढों में छिपे रहते हैं, वैसे ही जितने दोष, जितने दुराचर, जितने दुष्कर्म और जितनी मानसिक चिन्ताएँ हैं, वे सब बाल्यावस्था में जीव के हृदय में भयङ्कर गड्ढों में छिपे हुए उल्लुओं के समान छिपकर बैठे रहते हैं ॥१०॥

हे ब्रह्मन्! जो यह कल्पना करते हैं, बाल्यावस्था रमणीय=सुखमय है उन हतचित मूर्ख लोगों को बार-बार धिक्कार है ॥११॥

जिस अवस्था में हिंडोले के समान चञ्चल मन विविध विषयों के आकार को प्राप्त करता है, तीनों लोकों में अत्यन्त अमङ्गल वह बाल्यावस्था कैसे सुखकर हो सकती है ? ॥१२॥

हे मुनि ! सम्पूर्ण प्राणियों की सभी अवस्थाओं की अपेक्षा बाल्यावस्था में मन दस गुना चञ्चल होता है ॥१३॥

मन स्वभावतः चञ्चल ही है और बाल्यावस्था में तो सभी चञ्चल पदार्थों में श्रेष्ठ है। उन दोनों का सम्बन्ध

तयोः संश्लिष्यतोस्त्राता क इवाऽन्तः कुचापले ॥ १४ ॥
स्त्रीलोचनैस्तडित्पुञ्जैर्ज्वालाजालैस्तरङ्गकैः ।
चापलं शिक्षितं ब्रह्मञ्छैशवाक्रान्तचेतसः ॥ १५ ॥
शैशवं च मनश्चैव सर्वास्वेव हि वृत्तिषु ।
भ्रातराविव लक्ष्येते सततं भङ्गुरस्थितौ ॥ १६ ॥
सर्वाणि दुःखभूतानि सर्वे दोषा दुराधयः ।
[2]बालमेवोपजीवन्ति श्रीमन्तमिव मानवाः ॥ १७ ॥
नवं नवं प्रीतिकरं न शिशुः प्रत्यहं यदि ।
प्राप्नोति तदसौ याति विषवैषम्यमूर्छनाम् ॥ १८ ॥
स्तोकेन वशमायाति स्तोकेनैति विकारिताम् ।
अमेध्य एव रमते बालः कौलेयको यथा ॥ १९ ॥
अजस्रबाष्पवदनः कर्दमाक्तो जडाशयः ।
वर्षोक्षितस्य तप्तस्य स्थलस्य सदृशः शिशुः ॥ २० ॥

होनेपर चञ्चलताप्रयुक्त अनर्थ से रक्षा करने वाला ही कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥१४॥

हे ब्रह्मन् ! बाल्यावस्था से आक्रान्त चित्त से युवतियों के लोचनों ने, बिजली ने, अग्नि की ज्वालाओं ने और तरङ्गों ने चञ्चलता सीखी है। आशय यह है कि मन सभी चञ्चल पदार्थों में श्रेष्ठ है ॥१५॥

सभी व्यवहारों में चञ्चल शैशवावस्थ और मन—ये दोनों सदा सहोदर भाई से प्रतीत होते हैं ॥१६॥

जैसे मनुष्य धनवान् पुरुष के आश्रय में रहते हैं, वैसे ही दुःखपूर्ण सभी दुर्व्यसन, सभी दोष और सभी मानसिक चिन्ताएँ बाल्यावस्था में ही निवास करती हैं ॥१७॥

यदि बालक को प्रतिदिन मन को प्रसन्न करने वाली नई-नई वस्तुएँ न मिलें, तो वह विष की विषमता जनित मूर्च्छा को प्राप्त करता है ॥१८॥

कुत्ते के समान बालक थोड़े से खाने-पीने की वस्तु देने से वश में आ जाता है, थोड़ा सा घुड़कने से विकृत हो जाता है और अपवित्र में (विष्ठा आदि में) क्रीड़ा करता है ॥१९॥

जैसे वर्षा से भींगी और धूप से तपी हुई भूमि के ऊपर सदा भाप रहती है, कीचड़ व्याप्त रहता है और भीतर जल रहता है, वैसे ही बालक भी सदा आँसुओं से युक्त मुखवाला, कीचड़ से सना एव मूढ़ बुद्धि रहता है ॥२०॥

---

१. "दुर्गते इव" इति पाठः। २. "बाल्यमेव इति पाठः।"

भयाहारपरं दीनं दृष्टादृष्टाभिलाषि च ।
लोलबुद्धिवपुर्धत्ते बाल्यं दुःखाय केवलम् ॥ २१ ॥
स्वसङ्कल्पाभिलषितान् भावानप्राप्य तप्तधीः ।
दुःखमेत्यबलो बालो विनिष्कृत्त[1] इवाऽऽशये ॥ २२ ॥
दुरीहालब्धलक्षाणि[2] बहुवक्रोल्बणानि च ।
बालस्य[3] यानि दुःखानि मुने ! तानि न कस्यचित् ॥२३॥
बालो बलवता स्वेन मनोरथविलासिना ।
मनसा तप्यते नित्यं ग्रीष्मेणेव वनस्थली ॥ २४ ॥
विद्यागृहगतो बालो परामेति कदर्थनाम् ।
आलान इव नागेन्द्रो विषवैषम्यभीषणाम् ॥ २५ ॥
नानामनोरथमयी मिथ्याकल्पितकल्पना ।
दुःखायाऽत्यन्तदीर्घाय बालता पेलवाशया ॥ २६ ॥
संहृष्टो भुवनं भोक्तुमिन्दुमादातुमम्बरात् ।
वाञ्छते येन मौर्ख्येण तत्सुखाय कथं भवेत् ॥ २७ ॥
अन्तश्चित्तेरशक्तस्य शीतातपनिवारणे ।
को विशेषो महाबुद्धे[4] बालस्योर्वीरुहस्तथा ॥ २८ ॥
उड्डीतुमभिवाञ्छन्ति पक्षाभ्यां क्षुत्परायणाः ।
भयाहारपरा नित्यं बाला विहगधर्मिणः ॥ २९ ॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा ।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥ ३० ॥
सकलदोषदशाविहताशयं
शरणमप्यविवेकविलासिनः ।
इह न कस्यचिदेव महामुने !
भवति बाल्यमलं परितुष्टये ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे बाल्यजुगुप्सा नामैकोनविंशः सर्गः ॥१९॥

सदा दूसरों से डरने और भोजन करने वाले, दीन-हीन, दृष्ट और अदृष्ट सभी वस्तुओं की इच्छा करनेवाले एवं चञ्चल बुद्धि और शरीर से युक्त बाल्यकाल केवल दुःख-भोग के लिए ही है ॥२१॥

हृदय के काटने के समान बालक अपने संकल्पानुरूप अभिलषित पदार्थों को पाकर सन्तप्त होकर दुःखी होता है ॥२२॥

हे मुने ! दुष्ट चेष्टाओं या दुष्ट मनोरथों के कारण और विविध वञ्चनाओं के उपायों से भीषण जो दुःख बालक को प्राप्त होते हैं, वैसे दूसरे किसी को नहीं होते ॥२३॥

ग्रीष्म ऋतु से जैसे वनभूमि सन्तप्त हो जाती है, वैसे ही बालक भी कामनाओं के विलास से युक्त बलवान् अपने मन से नित्य सन्ताप्त रहता है ॥२४॥

बालक जब विद्यालय में पढ़ने जाता है, तब उसे बन्धनस्तम्भ में बँधे हुए हाथी के समान विष की विषमता के समान भीषण कष्ट सहन करने पड़ते हैं ॥२५॥

बाल्यावस्था में अनेक कामनामायी असत्य पदार्थों में ही सत्यत्व बुद्धि की कल्पना से अनेक प्रकार के मनोरथों का साम्राज्य छाया रहता है और हृदय की अतिशय कोमलता के कारण बाल्यावस्था में अत्यन्त दीर्घ दुःख के सिवा सुख का लेश भी नहीं रहता है ॥२६॥

किसी समय जब बालक भूख लगने से रोता है, तब तुम्हें खाने के लिए भुवन (लोक) दूँगी, इस प्रकार कहने पर सन्तुष्ट होकर वह भुवन को ही खाने की इच्छा करता है । तुम्हें चन्द्रमारूप खिलौना देंगे, इस प्रकार कहने पर आकाश से चन्द्रमा को हाथ में लेने की इच्छा करता है, ऐसी मूर्खता से पूर्ण बाल्यावस्था कैसे सुखकर हो सकती है ? ॥२७॥

हे महामते ! बालक के मन में शीत और घाम का अनुभव तो होता है, पर वह उनका निवारण नहीं कर सकता, इसलिए बालक और वृक्ष में क्या भेद है अर्थात् बालक वृक्ष के समान जड़ है ॥२८॥

भूख से व्याकुल (पक्षिगण) अपने डैनों से उड़ने की अभिलाषा करते हैं, बालक भी भय और भोजन परायण है, अतः, बालकों में पक्षी का ही धर्म है ॥२९॥

बाल्यावस्था में गुरुओं से, माता-पिता से, अन्य लोगों से अपने से बड़े बालक से भय बना रहता है, इस लिए बाल्यावस्था भय का गृह ही है ॥३०॥

हे महामुने ! सभी दोषपूर्ण दशाओं से दूषित चित्त, किसी की चिन्ता के बिना स्वच्छन्द बिहार करने वाले अविवेक का घर बाल्यकाल किसी के भी सन्तोष के लिए नहीं हो सकता ॥३१॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणित वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में बाल्यजुगुप्सा नामक कुसुमलता का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥१९॥

---

१. "विनिष्कृत" इति पाठः । २. "लक्ष्याणि" इति पाठः । ३. "बाल्यस्य" इति पाठः । ९. "महाबाहो" इति पाठः ।

२०

श्रीराम उवाच

बाल्यानर्थमथ त्यक्त्वा पुमानभिहताशयः ।
आरोहति निपाताय यौवनं संभ्रमेण तु ॥ १ ॥
तत्राऽनन्तविलासस्य लोलस्य स्वस्य चेतसः ।
वृत्तीरनुभवन् याति दुःखाद् दुःखान्तरं जडः ॥ २ ॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानासंभ्रमकारिणा ।
बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥ ३ ॥
चिन्तानां लोलवृत्तीनां ललनानामिवाऽवृतीः ।
अर्पयत्यवशं चेतो बालानामञ्जनं यथा ॥ ४ ॥
ते ते दोषा दुरारम्भास्तत्र तं तादृशाशयम् ।
तद्रूपं प्रतिलुम्पन्ति दुष्टास्तेनैव ये मुने ! ॥ ५ ॥
महानरकबीजेन सन्ततभ्रमदायिना ।
यौवनेन न ये नष्टा नष्टा नाऽन्येन ते जनाः ॥ ६ ॥
नानारसमयी चित्रवृत्तान्तनिचयोम्भिता ।
भीमा यौवनभूर्येन तीर्णा धीरः स उच्यते ॥ ७ ॥
निमेषभासुराकारमालोलघनगर्जितम् ।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते ॥ ८ ॥
मधुरं स्वादु तिक्तं च दूषणं दोषभूषणम् ।
सुराकल्लोलसदृशं यौवनं मे न रोचते ॥ ९ ॥
असत्यं सत्यसंकाशमचिराद्विप्रलम्भदम् ।
स्वप्नाङ्गनासंगसमं यौवनं मे न रोचते ॥ १० ॥

२०

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :—

हे मुनिवर ! अनन्तर पुरुष बाल्यावस्था के अनर्थों का त्याग कर भोग भोगने के उत्साह से (या आनेवाले कामरूप पिशाच से) दूषित चित्त होकर सर्वथा पतन के लिए ही यौवनारूढ़ होता है । माण्डव्य ऋषि की व्यवस्था के अनुसार चौदह वर्ष तक किये गये दुष्कर्मों से नरक की प्राप्ति नहीं होती है ॥१॥

मूर्ख व्यक्ति यौवनावस्था में अनन्त चेष्टावाले चञ्चल अपने चित्त की राग, द्वेष आदि वृत्तियों का अनुभव करता हुआ एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त करता है ॥२॥

चित्तरूपी बिल में निवास करने वाले तथा अनेक प्रकार के भ्रमों को पैदा करने वाले कामरूपी पिशाच से विवश (विवेक का तिरस्कार कर) सर्वथा अनादर का पात्र बन जाता है ॥३॥

जैसे बालकों को सिद्धाञ्जन लगाने से चञ्चल वृत्ति वाली नेत्रप्रभाओं के अनावरण को अर्थात् व्यवधान को हटाकर निधि देखने की सामर्थ्य को—देता है, वैसे ही यौवनावस्था में अवश चित्त—युवतियों के चित्त से भी चञ्चल अनेक चिन्ताओं को अनावृत्त कर—कपाट खोल देता है ॥४॥

हे मुनिवर ! युवावस्था से प्राप्त स्त्री, जुआ, कलह आदि व्यसनों को उत्पन्न करने वाले राग, लोभ आदि दोष, काम, चिन्ता आदि के वशीभूत चित्तवाला होने से—काममय और चिन्तामय बनाकर पुरुष को नष्ट कर देते हैं ॥५॥

महानरक की हेतुभूत साधन और सदा भ्रान्ति पैदा करने वाली युवावस्था से जिन लोगों का विनाश नहीं हुआ, उनका अन्य किसी से विनाश नहीं हो सकता ॥६॥

अनेक रसों से परिपूर्ण आश्चर्यजनक अनेक वृत्तान्तों से परिपूर्ण भयङ्कर यौवनभूमि को जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहा जाता है ॥७॥

क्षणभर के लिए देदीप्यमान, चञ्चल मेघों के गर्जन से युक्त बिजली के समान प्रकाशमान अमङ्गलमय यौवन मुझे पसन्द नहीं है ॥८॥

मधुर, स्वादिष्ट और परिणाम में कड़ुवा, दोषों से अलङ्कृत दूषणपूर्ण युवावस्था भूषण (सब दोषों में श्रेष्ठ) शराब के नशे के समान मुझे अच्छी नहीं लगती है ॥९॥

यौवन निरा असत्य होने पर भी सत्य-सा प्रतीत होने वाला शीघ्र ही लोगों को अपनी वञ्चना का शिकार बनाने वाला धोखा दे देता है—और स्वप्न में दृष्ट स्त्री के सम्भोग के समान यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥१०॥

सर्वस्याऽग्रे सर्वपुंसः क्षणमात्रमनोहरम् ।
गन्धर्वनगरप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥ ११ ॥
इषुप्रपातमात्रं हि सुखदं दुःखभासुरम् ।
दाहदोषप्रदं नित्यं यौवनं मे न रोचते ॥ १२ ॥
आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम् ।
वेश्यास्त्रीसंगमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥ १३ ॥
ये केचन समारम्भास्ते सर्वे सर्वदुःखदाः ।
तारुण्ये सन्निधिं यान्ति महोत्पाता इव क्षये ॥ १४ ॥
हार्दान्धकारकारिण्या भैरवाकारवानपि ।
यौवनाज्ञानयामिन्या बिभेति भगवानपि ॥ १५ ॥
सुविस्मृतशुभाचारं बुद्धिवैधुर्यदायिनम् ।
ददात्यतितरामेष भ्रमं यौवनसम्भ्रमः ॥ १६ ॥
कान्तावियोगजातेन हृदि दुःस्पर्शवह्निना ।
यौवने दह्यते जन्तुस्तरुर्दावाग्निना यथा ॥ १७ ॥

क्षणभर के लिए सुन्दर प्रतीत होने वाली सभी वस्तुओं में श्रेष्ठ गन्धर्व-नगर के समान यौवनकाल मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥११॥

दुःख से परिपूर्ण काम बाण पतन काल तक ही सुख-प्रद नित्य सन्तापरूपी दोष देनेवाला यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥१२॥

समीचीन विचारों से शून्य केवल आपाततः अर्थात् जब तक विचार न किया जाय तभी तक रमणीय वेश्या स्त्री के समागम के समान नीरस यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥१३॥

जैसे प्रलयकाल में सबको दुःख देने वाले बड़े-बड़े उत्पात चारों ओर से उपस्थित हो जाते हैं वैसे ही युवावस्था में भी सभी को दुःख देने वाले कार्य समीप में आ जाते हैं ॥१४॥

हृदय में अन्धकार करने वाली यौवनयुक्त अज्ञान-रात्रि से भैरव आकार वाले भगवान् महादेव जी भी भयभीत होते हैं (इसीलिए वे सदा विवेक=ज्ञानरूपी चन्द्रमा को धारण करते हैं।) ॥१५॥

यौवन से उत्पन्न मोह शुभ आचरण को भली-भाँति भुलाने वाले एवं बुद्धि को कुण्ठित करने वाले भ्रम को प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करता है ॥१६॥

जैसे वनाग्नि से वृक्ष जलाया जाता है, वैसे ही युवावस्था में प्रियतमा के वियोग से उत्पन्न हृदयस्थ दुःसह शोकानल से प्राणी जलाया जाता है ॥१७॥

सुनिर्मलाऽपि विस्तीर्णा पावन्यपि हि यौवने ।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥ १८ ॥
शक्यते घनकल्लोला भीमा लङ्घयितुं नदी ।
न तु तारुण्यतरला तृष्णातरलितान्तरा ॥ १९ ॥
सा कान्ता तौ स्तनौ पीनौ ते विलासास्तदाननम् ।
तारुण्य इति चिन्ताभिर्याति जर्जरतां जनः ॥ २० ॥
नरं तरलतृष्णार्त्तं युवानमिह साधवः ।
पूजयन्ति न तु च्छिन्नं जरत्तृणलवं यथा ॥ २१ ॥
नाशायैव मदार्त्तस्य दोषमौक्तिकधारिणः ।
अभिमानमहेभस्य नित्यालानं हि यौवनम् ॥ २२ ॥
मनोविपुलमूलानां दोषाशीविषधारिणाम् ।
शोषरोदनवृक्षाणां यौवनं बत काननम् ॥ २३ ॥
रसकेसरसंबाधं कुविकल्पदलाकुलम् ।
दुश्चिन्ताचञ्चरीकाणां पुष्करं विद्धि यौवनम् ॥ २४ ॥

बुद्धि कितनी ही निर्मल क्यों न हो, कितनी ही उदार क्यों न हो और गुणों के आधान से कितनी ही पवित्र क्यों न हो, पर जैसे वर्षा-ऋतु में नदियाँ मलिन हो जाती हैं, वैसे ही यौवन में मति मलिन हो जाती है ॥१८॥

बड़ी-बड़ी लहरों से युक्त भीषण नदी लांघी जा सकती है, पर भोग-तृष्णा से चञ्चल इन्द्रियों वाली यौवन से अस्थिर चित्त-वृत्ति वश में नहीं की जा सकती है ॥१९॥

वह मनोहारिणी कान्ता, उसके वे विशाल स्तन, वे मनोज्ञ हाव-भाव और वह सुन्दर मुख युवावस्था में ऐसी अनेक चिन्ताओं से मनुष्य जर्जर हो जाता है ॥२०॥

जैसे कटे हुए और सूखे तिनके का लोग तिरस्कार करते हैं वैसे ही इस संसार में सज्जन लोग चञ्चल भोग तृष्णा से पीड़ित युवा पुरुष का महत्त्व नहीं देते हैं ॥२१॥

आलान=हाथी को बाँधने का खूँटा, मोती वाले मदोन्मत्त गजराज के दर्प को चूर्ण कर देता है, वैसे ही यौवन भी अभिमान से मत्त और विविध दोषों से पूर्ण पुरुष का नाश कर देता है ॥२२॥

मनुष्यों का यौवन वनस्वरूप है, (प्रियतम स्त्री, पुत्र आदि इष्ट पदार्थों की अप्राप्ति और वियोग-जनित सन्ताप से पैदा हुआ) शोष और रोदन उस वन के वृक्ष हैं, मन वन के वृक्षों की बड़ी जड़ है और दोषरूपी साँप (उन वृक्षों के खोखलों में) निवास करते हैं ॥२३॥

यौवन दुष्ट चिन्तारूपी भ्रमरों का आवासभूत कमल है, वह विषयसुखकणरूपी मधु-बिन्दुओं और रागादिरूपी

कृताकृतकुपक्षाणां हृत्सरस्तीरचारिणाम् ।
आधिव्याधिविहङ्गनामालयो नवयौवनम् ॥ २५ ॥
जडानां गतसंख्यानां कल्लोलानां विलासिनाम् ।
अनपेक्षितमर्यादो वारिधिर्नवयौवनम् ॥ २६ ॥
सर्वेषां गुणसर्गाणां परिरूढरजस्तमाः ।
अपनेतुं स्थितिं दक्षो विषमो यौवनानिलः ॥ २७ ॥
नयन्ति पाण्डुतां वक्त्रमाकुलावकरोत्कटाः ।
आरोहन्ति परां कोटिं रूक्षा यौवनपांसवः ॥ २८ ॥
उद्बोधयति दोषालिं निकृन्तति गुणावलिम् ।
नराणां यौवनोल्लासो विलासो दुष्कृतश्रियाम् ॥ २९ ॥
शरीरपङ्कजरजश्चञ्चलां मतिषट्पदीम् ।
निबध्नन् मोहयत्येष नवयौवनचन्द्रमाः ॥ ३० ॥

केसरों से परिपूर्ण है और दुष्ट सङ्कल्परूपी कमल-दल से परिव्याप्त है ।।२४।।

नव यौवन पुण्य और पाप रूपी पतन के साधन होने से कुत्सित परवाले हैं, हृदय रूपी तालाब के तीर पर विचरने वाले आधि–व्याधिरूपी पक्षियों का निवास भूमि है ।।२५।।

नवयौवन असंख्य तुच्छ सङ्कल्प-विकल्पात्मक विलास-रूपी लहरों का असीम सागर है ।।२६।।

यौवनरूपी विषम वायु अर्थात् आँधी के समान रजो-गुण और तमोगुण से पूर्ण विषम यौवन (सत्संगति, शास्त्राभ्यास आदि अनेक प्रयत्नों से उत्पन्न होने वाले) सद्गुणों की (प्रसाद, प्रकाश, विवेकदृष्टि की अभिवृद्धि आदि की) स्थिरता को नष्ट करने में दक्ष है ।।२७।।

अतिरूक्ष पांसुओं के (आँधी में उड़ने वाले धूलि-कणों के) समान विषयोन्मुख चञ्चल इन्द्रियों के द्वारा अधिक कष्टदायक रूक्ष यौवन भी विषयवासना से उत्पन्न रोगों से लोगों के मुँह को धूसर रक्त-शून्य अर्थात् सफेद कर देता है और दोषों की चरम सीमा में आरूढ़ करता है ।।२८।।

मनुष्यों का यौवनोल्लास-विलास दोषों को जगाता है और गुणों का मूलोच्छेद करता है और पापों का विलास है ।।२९।।

मनुष्यों का नवयौवनरूपी चन्द्रमा शरीर में ही शरीरकमलपराग की अभिलाषिणी भ्रमरी के समान चञ्चल बुद्धि को अभिमानरूप कोश में बाँध कर विमूढ़ कर देता है ।।३०।।

शरीररूपी छोटे वन में उत्पन्न हुई बड़ी रमणीय

शरीरखण्डकोद्भूता रम्या यौवनवल्लरी ।
लग्नमेव मनोभृङ्गं मदयत्युन्नतिं गता ॥ ३१ ॥
शरीरमरुतापोत्थां युवतामृगतृष्णिकाम् ।
मनोमृगाः प्रधावन्तः पतन्ति विषयावटे ॥ ३२ ॥
शरीरशर्वरीज्योत्स्ना चित्तकेसरिणः सटा ।
लहरी जीविताम्भोधेर्युवता मे न तुष्टये ॥ ३३ ॥
दिनानि कतिचिद्येयं फलिता देहजङ्गले ।
युवता शरदस्यां हि न समाश्वासमर्हथ ॥ ३४ ॥
झटित्येव प्रयात्येव शरीराद् युवताखगः ।
क्षणेनैवाऽल्पभाग्यस्य हस्ताच्चिन्तामणिर्यथा ॥ ३५ ॥
यदा यदा परां कोटिमध्यारोहति यौवनम् ।
वल्गन्ति सज्वराः कामास्तदा नाशाय केवलम् ॥ ३६ ॥

यौवनरूपी मञ्जरी जब उत्कर्ष को प्राप्त करती है तब अपने से संबद्ध मनरूपी भ्रमर को उन्मत्त कर डालती है। (जैसे कुञ्ज में उत्पन्न रमणीय फूलों का गुच्छा जब बढ़ता है, तब वह बैठे भँवरे को मोहित कर देता है) ।।३१।।

शरीररूपी मरुभूमि में कामरूपी घाम के ताप से प्रतीत हो रही यौवनरूपी मृगतृष्णा के प्रति दौड़ रहे मनरूपी मृग विषयरूपी गड्ढे में गिर जाते है। आशय यह है कि मरुभूमि में सूर्य के ताप से प्रतीत हो रही मृग-तृष्णा के प्रति जल की इच्छा से दौड़ रहे मृग गड्ढे में गिर पड़ते हैं, वैसे ही शरीर में काम के सन्ताप से भासित यौवन के प्रति दौड़ रहा मन विषयों में फँस जाता है ।।३२।।

शरीररूपी रात्रि की चाँदनी, मनरूपी सिंह के गर्दन के बाल और जीवनरूपी समुद्र की लहरी युवावस्था-सम्पन्न मुझे सन्तोषप्रद नहीं है ।।३३।।

यह युवावस्था देहरूपी जङ्गल में कुछ दिनों के लिए फली-फूली शरद् ऋतु है, यह शीघ्र ही नष्ट हो जायगी, इसपर लोगों को विश्वास नहीं करना चाहिए ।।३४।।

जिस प्रकार भाग्यहीन पुरुष के हाथ से प्राप्त अभीष्ट पदार्थ को देने वाला रत्न=चिन्तामणि शीघ्र ही चला जाता है, वैसे ही शरीर से युवावस्थारूपी पक्षी जल्दी ही भाग जाता है ।।३५।।

जब यौवन अपनी चरम सीमा में पहुँच जाता है, तब केवल नाश के लिए ही सन्तापयुक्त कामनाएँ बढ़ने लगती हैं ।।३६।।

तावदेव विवल्गन्ति रागद्वेषपिशाचकाः ।
नाऽस्तमेति समस्तैषा यावद् यौवनयामिनी ॥ ३७ ॥
नानाविकारबहुले वराके क्षणनाशिनि ।
कारुण्यं कुरु तारुण्ये म्रियमाणे सुते यथा ॥ ३८ ॥
हर्षमायाति यो मोहात् पुरुषः क्षणभङ्गिना ।
यौवनेन महामुग्धः स वै नरमृगः स्मृतः ॥ ३९ ॥
मानमोहान्मदोन्मत्तं यौवनं योऽभिलष्यति ।
अचिरेण स दुर्बुद्धिः पश्चात्तापेन युज्यते ॥ ४० ॥
ते पूज्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि ।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो यौवनसङ्कटात् ॥ ४१ ॥
सुखेन तीर्यतेऽम्भोधिरुत्क्रुष्टमकराकरः ।
न कल्लोलवलोल्लासि सदोषं हतयौवनम् ॥ ४२ ॥
विनयभूषितमार्यजनास्पदं
करुणयोज्ज्वलमावलितं गुणैः ।
इह हि दुर्लभमङ्ग सुयौवनं
जगति काननमम्बरगं यथा ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे यौवनगर्हानाम विंशतितमः सर्गः ॥२०॥

जब तक यह यौवनरूपी रात्रि सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तभी तक राग-द्वेषरूपी पिशाच विशेष रूप से इधर-उधर घूमते-फिरते हैं ॥३७॥

विविध चित्तविकारों अर्थात् मनोरथों से बढ़ी-चढ़ी, थोड़े समय तक रहकर नष्ट हो जाने वाली बेचारी युवावस्था पर भी वैसी ही करुणा करो जैसी विविध बाल-क्रीड़ाओं को करने वाले, क्षण भर में नष्ट होने वाले मरणासन्न पुत्र में लोगों की करुणा होती है ॥३८॥

जो मनुष्य क्षण भर में विनष्ट होने वाले यौवन से मूढ़तावश आनन्द का अनुभव करता है वह महामूढ़ मनुष्य होते हुए भी पशु ही है ॥३९॥

जो मनुष्य अभिमान युक्त अज्ञान के कारण मदोन्मत्त युवावस्था को उपादेय (सारयुक्त) वस्तु समझकर उसपर आसक्त होता है वह दुर्बुद्धि शीघ्र ही पश्चात्ताप का अनुभव करता है ॥४०॥

हे मुनि ! इस संसार में वे ही पूजनीय हैं, वे ही महात्मा हैं और वे ही पुरुष हैं, जिन्होंने सुखपूर्वक यौवनरूपी संकट को पार कर लिया है ॥४१॥

बड़े-बड़े मगरों से पूर्ण सागर सुखपूर्वक तैरा जा सकता है, परन्तु (रागद्वेष आदि) महातरङ्गों के कारण उमड़े हुए अनेक दोषों से युक्त निन्दनीय यौवन को पार करना कठिन है ॥४२॥

[बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में अज्ञान और अशक्ति से पुरुषार्थ साधन नहीं हो सकता और युवावस्था विविध दोषों से पूर्ण होने के कारण पुरुषार्थ साधन के योग्य नहीं है, ऐसी परिस्थिति में पुरुष को कभी-भी साधनसम्पत्ति से मोक्ष की आशा नहीं है, ऐसी आशङ्का कर सम्पूर्ण यौवनों की निन्दा नहीं की जाती, किन्तु दुर्यौवन की ही निन्दा की जाती है। सुयौवन का तो पुरुषार्थ में ही पर्यवसना होता है, ऐसा लक्षण द्वारा दिखलाते हुए उसकी दुर्लभता को दिखलाते हैं—'विनय०' इत्यादिसे ।]

विनय से विभूषित, आर्यों के द्वारा प्रशस्त अर्थात् शान्तिप्रद, करुणापूर्ण विविध गुणों से युक्त यौवन इस संसार में मनुष्य-जन्म में गगन-वन के समान ही दुर्लभ है ॥४३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रवभूण में यौवन गर्हा नामक कुसुमलता का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥२०॥

श्रीराम उवाच

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥१॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचनम् ।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥ २ ॥
इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदातनुः ।
किमेतया निन्दितया करोति विपुलाशयः ॥ ३ ॥
वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः ।
तान्यङ्गान्यङ्गलुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम् ॥ ४ ॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन् स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥ ५ ॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवाऽन्धसः ॥ ६ ॥
रक्तमांसास्थिदिग्धानि करभस्य यथा वने ।
तथैवाऽङ्गानि कामिन्यास्तां प्रत्यपि हि को ग्रहः ॥ ७ ॥
आपातरमणीयत्वं कल्प्यते[1] केवलं स्त्रियाः ।
मन्ये तदपि नाऽस्त्यत्र मुने ! मोहैकारणम् ॥ ८ ॥
विपुलोल्लासदायिन्या मदमन्मथपूर्वकम् ।
कोविशेषो विकारिण्या मदिराया स्त्रिया[1]स्तथा ॥ ९ ॥

२१

[कामिनी के कमनीय अङ्ग आपात दृष्टि से उपरिस्तर के अवलोकन से ही रमणीयता की भूमि है, अन्तःस्तल के विवेक से निखिल अङ्ग प्रत्यक्ष नरक है और नरक-भोग के लिए पुरुषों के उत्पादक हैं।]

श्रीराम ने कहा :—

नस और हड्डियों के संयोग से निर्मित मांसमय यन्त्रात्मक चञ्चल पिंजड़े में अर्थात् कङ्काल स्वरूप कामिनी के शरीर में कौन सी कमनीयता है।

स्नायु और अस्थिसंयुक्त मांसमय यन्त्र के समान चञ्चल पञ्जर ही तो नारी है, अतः, इसमें कोई सौन्दर्य नहीं है ॥१॥

विश्लेषण करते हुए पूर्वोक्त कथन का समर्थन कर रहे हैं :—

त्वचा, मांस, रक्त और अश्रुजल को अलग कर नेत्र को देखो, क्या वह रमणीय है ? अन्यथा क्यों व्यर्थ उस पर मोहित होते हो। आशय यह है कि नेत्र, त्वचा, मांस, रक्त और आंसू ही है, इन्हीं के समुदाय का नाम नेत्र है, इसमें क्या कमनीयता है ? ॥२॥

कुछ अंश केश है, कुछ अंश रक्त है यही तो नारी का शरीर है। पुरुष को इस निन्दित स्त्री के शरीर से क्या काम है ॥३॥

हे मित्र ! वस्त्र और उबटनों के पुनः पुनः प्रयोग से सभी प्राणियों के जो अङ्ग समूह=शरीर सुन्दर है। हे मित्र ! उन्हें मांसाहारी जीव नोच-दबोच कर खाते हैं ॥४॥

जिस स्तन पर सुमेरु पर्वत के शिखर से बहने वाले गङ्गा जल के प्रवाह के सदृश मोतियों के हार की शोभा देखी गई थी वही स्त्रीस्तन श्मशान-भूमि में एवं निर्जन स्थानों में भात के छोटे पिण्ड के समान कुत्तों के द्वारा खाया जाता है ॥५, ६॥

वन में चरने वाले गदहे या ऊँट के अङ्ग जैसे रक्त, मांस और हड्डियों से बने हैं, वैसे ही स्त्री के अंग भी, उस स्त्री के लिए भी इतना आग्रह क्यों ? ॥७॥

हे मुने ! अविचार से ही लोगों ने स्त्री में रमणीयता की कल्पना कर ली है, परन्तु मैं तो समझता हूँ कि स्त्री शरीर में अविचार जनित रमणीयता भी नहीं है, क्योंकि स्त्री में कारण एकमात्र मोह है। आशय यह है कि स्त्री की कमनीयता मोह अर्थात् अज्ञान के कारण है, वस्तुतः वह रमणीय नहीं है। विवेक बुद्धि होने पर यह मोह जनित कामिनी की कमनीयता कल्पित होने से समाप्त हो जायगी ॥८॥

काम उत्पन्न कर अनेक प्रकार के आनन्द को देने वाली तण्डुल आदि के विकार से उत्पन्न एवं विकार उत्पन्न करने वाली मदिरा के समान ही कामिनी है, इन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है। क्योंकि, कामिनी भी काम से मदमस्त कर अनेक प्रकार के आनन्द को उत्पन्न करती है तथा स्वयं भी काम-विकार युक्त है, (अतः, मदिरा के समान यह भी विवेकियों के लिए हेय है) ॥९॥

१. 'कल्पते' इति पाठः।

१. "स्त्रैयस्तथा" इति पाठः।

ललनालानसंलीना मुने ! मानवदन्तिनः ।
प्रबोधं नाऽधिगच्छन्ति दृढैरपि शमाङ्कुशैः ॥ १० ॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥ ११ ॥
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।

हे मुने ! मानवरूपी गज ललनारूपी आलान बन्धन में आबद्ध अर्थात् भली-भाँति मोहसम्पन्न दृढ़ शमरूपी अङ्कुशों से भी नहीं जागता है ।

आशय यह है कि जैसे मदमत्त सोया हुआ हाँथी-स्तम्भ में बंधा हुआ दृढ़ अङ्कुशों से पुनः पुनः सावधान करने पर भी नहीं उठता है, वैसे ही ललना के मोहपाश में आबद्ध विवेकहीन मानवगज दृढ़ शम, दम, तितिक्षा आदि उपदेशों से भी प्रबुद्ध नहीं होता है ॥१०॥

केशरूपी कालिमा को धारण करने वाली, काम ताप से सन्तप्त, अतः, स्पर्श करने के अयोग्य, नेत्र को प्रिय लगने वाली पाप रूपी अग्निशिखा स्वरूप कामिनी तृण के समान मनुष्य को जला देती है ।

आशय यह है कि दुष्कृतरूपी अग्निशिखा अर्थात् जो होमाग्नि नहीं है ऐसी अग्नि ज्वाला ऊपर में काली रहती है अर्थात् धूएँ से परिव्याप्त रहती है, नेत्र के द्वारा देखने में प्रिय लगने पर भी जलाने वाली होने से छूने के योग्य नहीं रहती है और तृण को जलाकर भस्म कर देती है । कामिनी भी आपातदृष्टि से दर्शनीय है, काम सन्तप्त रहती है, अतः आसक्त होते ही विवेक को ध्वस्त कर कामसन्तप्त कर देती है तथा मनुष्य को तृण के समान स्वाहा ही कर देती है, अतः नारी दूर से ही सुन्दर है, उस पर आसक्ति नहीं करनी चाहिए ॥११॥

अतिशय दूर धधकती हुई नरकरूपी अग्नि की, सरस होते हुए भी नीरस स्त्रियाँ, सुन्दर लकड़ी है ।

आशय यह है कि वासनाभिभूत होने से सरस होती हुई भी वस्तुतः स्त्रियाँ नीरस हैं और इसके नरक का द्वार खुल जाता है अर्थात् नरक का कष्ट सहन करना पड़ता है ॥१२॥

फैले हुए अन्धाररूपी जूड़ों वाली, चञ्चलताररूपी नेत्रों वाली, पूर्ण चन्द्रबिम्बरूपी मुख वाली, विकसित पुष्परूपी मन्दहास वाली, हाव-भाव-विलास-लीलाओं से चञ्चल पुरुषों वाली, कार्यों का संहार करने वाली बुद्धि को भयङ्कर मोह में डालने वाली लम्बी रात्रि के समान ही नारी है ।

स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम् ॥ १२ ॥
विकीर्णाकारकबरी तरत्तारकलोचना ।
पूर्णेन्दुबिम्बवदना कुसुमोत्करहासिनी ॥ १३ ॥
लीलाविलोलपुरुषा कार्यसंहारकारिणी ।
परं विमोहनं बुद्धेः कामिनी दीर्घयामिनी ॥ १४ ॥

आशय यह है कि रात्रि में अन्धकार सर्वत्र परि-व्याप्त रहता है, नारी के भी केशविन्यास परिव्याप्त रहते हैं, छिट-फुट तारे भी रात्रि में रहते हैं, पूर्ण चन्द्र गगन में शोभित रहता है, पुष्प अर्थात् कुमुदिनी खिल जाती है, पुरुषगण चञ्चल अर्थात् अभिसारिका के पास जाने के लिए चञ्चल मदमस्त हो घूमते हैं, अभि-सारिकाएँ एवं कामिनियाँ निशा में विलासपूर्ण रहती हैं, अतः, पुरुषगण वासनासक्त हो जाते हैं, रात्रि में तमोगुण प्राधान्य रहने से अच्छे कार्यों का उपसंहार होकर शयनपरायण रहते हैं, अन्धकार के कारण भयङ्कर मोह उत्पन्न रहता है । नारियों की भी यही स्थित रहती है केशविन्यास, चञ्चल नेत्र, पूर्णचन्द्रमुखी मन्दहासयुक्ता, पुरुषों की आसक्ति के कारण हाव-भाव विलास पूर्ण रहती है, सत्यार्थ इनके कारण नहीं हो पाते हैं, अतः, यह दीर्घ निशास्वरूप है ॥१३-१४॥

अग्रिम पद्यों से नारियों की अनर्थकारिता का वर्णन किया जा रहा है :—

जैसे अपने समूह से बिछुड़ा हुआ मृग किस दिशा में जाऊँ, इस चिन्ता से मन अतिशय चिन्ता से आकुल हो मोहाभिभूत हो जाता है और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, वैसे ही अतिशय धन की प्राप्ति की अभिलाषा से किस मार्ग का अवलम्बन करूँ, इस चिन्ता से अन्ध होकर अर्थात् किंकर्तव्यविमूढ़ हो व्याकुल हो जाता है और अतिशय मोह से अभिभूत हो जाता है ।

स्त्री केवल पुरुषार्थ का ही नाश नहीं करती, किन्तु अनर्थकारिणी भी ऐसा कहते हैं—'पुष्प०' इत्यादि दो श्लोकों से ।

युवावस्था से अर्थात् कामोद्गम से रसीली (लता के पक्ष में फूलों से मनोहर), हाथरूपी पल्लवों से सुशोभित, भ्रमररूपी नेत्रों के कटाक्ष विक्षेपसे पूर्ण गुच्छेरूपी = स्तबकरूपी स्तनों को धारण करने वाली फूलों के केसर के समान गौरवर्णवाली मनुष्यों की आधिव्याधिजनित के लिए तत्पर और कामोन्माद से अपना सेवन करने वाले लोगों को मूर्छा, विवशता को प्राप्त कराने वाली विष-

पुष्पाभिराममधुरा करपल्लवशालिनी ।
भ्रमराक्षिविलासाढ्या स्तनस्तबकधारिणी ॥ १५ ॥

पुष्पकेसरगौराङ्गी नरमारणतत्परा ।
ददात्युन्मत्तवैवश्यं कान्ता विषलता यथा ॥ १६ ॥

सत्कार्योच्छ्वासमात्रेण भुजङ्गदलनोत्कया ।
कान्तयोद्ध्रियते जन्तुः करभ्येवोरगो बिलात् ॥ १७ ॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम् ।
नार्यो नरविहङ्गनामङ्गबन्धनवागुराः ॥ १८ ॥

ललनाविपुलालाने मनोमत्तमतङ्गजः ।

लता के समान ही स्त्री है। आशय है कि जैसे विष की लता फूलों से मनोहर लगती है, नये-नये लाल पत्तों से सुशोभित रहती है, भँवरों से व्याप्त रहती है, फूलों के गुच्छों को धारण करती है, फूलों के केसर से पीतवर्ण होती है, मनुष्यों को मारने में तत्पर रहती है और कामजनित उन्माद से उसका सेवन करने पर मूर्छा या मृत्यु के वश में कर देती है, स्त्री भी युवावस्था से रसीली, सुन्दर हाथों से सुशोभित, भँवर की भाँति चञ्चल नयनों के कटाक्ष से सम्पन्न, गुच्छों के समान मनोज्ञ स्तनों को धारण करने वाली, फूलों के केसर के समान कांचनवर्णा, मनुष्यों के विनाश के लिए तत्पर रहती है और अपने में आसक्त को मूर्छा, मृत्यु आदि के वश में कर देती है ॥१५-१६॥

जैसे टुकड़े-टुकड़े करने की इच्छा वाली रीछन (भालू की स्त्री) अपनी साँस से बिल में स्थित साँप को बिल से निकाल कर खा जाती है, वैसे ही लम्पट लोगों का धन और मन हरकर विनाश करने के लिए उत्कण्ठित स्त्री प्रदर्शन के लिए किये गये मिथ्याभूत सत्कार के द्वारा आश्वासन देकर मनुष्य को अपने वश में कर लेती है ॥१७॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! कामरूपी व्याध ने मूढ़बुद्धि मनुष्यरूपी पक्षियों को फँसाने के लिए स्त्रीरूपी जाल फैला रक्खे हैं, अर्थात् जैसे व्याध दाना चरने के लिए लालायित पक्षियों को फँसाने के लिए जाल बिछाते हैं, वैसे ही कामदेव ने मूढ़मति अर्थात् अज्ञानी लोगों को फँसाने के लिए कामिनियों को जाल की भाँति, इधर-उधर बिखेर रक्खी हैं ॥१८॥

रतिशृङ्खलया ब्रह्मन् ! बद्धस्तिष्ठति मूकवत् ॥ १९ ॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां वित्त[1]कर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥ २० ॥

मन्दुरं च तुरङ्गाणामालानमिव दन्तिनाम् ।
पुंसा मन्त्र इवाऽहीनां बन्धनं वामलोचना ॥ २१ ॥

नानारसवती चित्रा भोगभूमिरियं मुने ! ।
स्त्रियमाश्रित्य संयाता परामिह हि संस्थितिम् ॥ २२ ॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २३ ॥

हे ब्रह्मन् ! स्त्रीरूपी विशाल आलान में अर्थात् हाथी को बांधने के खूँटे में रतिरूपी=वासनारूपी जंजीर से बँधा हुआ मनरूपी मदोन्मत्त हाथी गूँगे के समान चुपचाप बैठा रहता है ॥१९॥

दुष्ट वासनारूप रस्सी से बँधी हुई स्त्री धनरूपी कीचड़ में विचरनेवाले या मनरूपी पङ्क में घूमने वाले संसाररूपी छोटे तालाब के मछलीरूपी पुरुषों को फँसाने के लिए बंसी में (मछलियों को पकड़ने के कांटे में) लगी हुई गोली है। अर्थात् जैसे मछुवे की बंसी में लगी गोली कीचड़ में इधर-उधर चलने वाली छोटे बरसाती तालाब की मछलियों को बन्धन में डालकर मरवा देती है, वैसे ही दुर्वासना से पूर्ण नारी धनलोलुप संसारी पुरुषों को बन्धन में डालकर नष्ट कर देती है ॥२०॥

घोड़ों के लिए अश्वशाला, हाथियों के लिए आलान और साँपों के लिए मन्त्र जैसे बन्धन है, वैसे ही पुरुषों के लिए नारी बन्धन है ॥२१॥

हे मुनि ! विविध रसों से परिपूर्ण यह विचित्र भोग की भूमि पृथिवी ने स्त्रियों को ही अवलम्बन कर दृढ़ स्थिति को प्राप्त किया ॥२२॥

दुःखरूपी शृङ्खला युक्त सम्पूर्ण दोषरूपी रत्नों की सन्दूक स्वरूप स्त्री से मुझे क्या लाभ है अर्थात् यह व्यर्थ है। [आशय यह है कि स्त्री दोषरूपी रत्नों के लिए सन्दूक है और दुःख उसमें ताला बन्द करने के लिए जंजीर है, अतएव दुःखमय और दोषमय स्त्री की भला किस विवेकी को इच्छा होगी] ॥२३॥

१. "चित्तकर्दमचारिणाम्" इतिपाठः ।

किं स्तनेन किमक्ष्णा वा किं नितम्बेन किं भ्रुवा ।
मांसमात्रैकसारेण करोम्यहमवस्तुना ॥ २४ ॥
इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः ।
ब्रह्मन् ! कतिपयैरेव याति स्त्री विशरारुताम् ॥ २५ ॥
यास्तात ! पुरुषैः स्थूलैर्लालिता मनुजैः प्रियाः ।
ता मुने ! प्रविभक्ताङ्ग्यः स्वपन्ति पितृभूमिषु ॥ २६ ॥
यस्मिन् घनतरस्नेहं मुखे पत्राङ्कुराः स्त्रियः ।
कान्तेन रचिता ब्रह्मन् ! पीयते तेन जङ्गले ॥ २७ ॥
केशाः श्मशानवृक्षेषु यान्ति चामरलेखिकाम् ।
अस्थीन्युडुवदाभान्ति दिनैरवनिमण्डले ॥ २८ ॥
पिबन्ति पांसवो रक्तं क्रव्यादाश्चाऽप्यनेकशः ।
चर्माणि च शिवा भुङ्क्ते खं यान्ति प्राणवायवः ॥ २९ ॥

स्तन, नेत्र, नितम्ब और भौंहों से क्या लाभ है ? वे सब अति तुच्छ हैं, केवल मांस ही बने हैं ॥२४॥

ब्रह्मन् ! स्त्री के किसी भाग में मांस है, किसी भाग में खून है और कहीं पर हड्डियां प्रचुर मात्रा में है, और थोड़े ही दिनों में वह जीर्ण-शीर्ण हो जाती है ॥२५॥

हे मुने ! स्थूल बुद्धि वाले पुरुषों ने बड़े लाड़-प्यार से जिन्हें पाला-पोसा, हे तात ! वे प्रियतमाएँ श्मशान में छिन्न-भिन्न अङ्ग होकर सोती हैं । अर्थात् कहीं उनका सिर पड़ा है, तो कहीं हाथ पड़े हैं, कहीं पैरे पड़े हैं और कहीं अन्य अंग ॥२६॥

हे ब्रह्मन् ! प्रिया के जिस मुख में प्रियतम पति ने बड़े प्रेम से (कपूर, कस्तूरी, गोरोचन, केसर, चन्दन आदि से) पत्रावलियों का निर्माण किया था, वही मुख निर्जन वन में सूखता है ॥२७॥

उनके सिर के बाल राख से धूसर होने के कारण श्मशान के वृक्षों में चँवर ऐसे मालूम पाड़ते हैं और उनकी (मांस और रक्त से शून्य सफेद) हड्डियां पृथिवी में तारों के समान चमचमाती दिखाई देती हैं ॥२८॥

उनके शरीर के रक्त को धूलि पीती है और मांसाहारी जीव भी झुण्ड के झुण्ड उन पर टूटते हैं, उनके मांस शृगाल नोच-नोचकर खांते हैं और उनका प्राणवायु आकाश में चला जाता है ॥२९॥

हे संसारस्थित लोगों ! स्त्री के अंगों का थोड़े ही काल में होने वाला यह परिणाम मैंने आप लोगों से कहा उसमें आप लोग क्यों भ्रान्ति कर रहे हैं ? अर्थात् स्त्री शरीर पर अनाशक्ति होनी चाहिए ॥३०॥

इत्येषा ललनाङ्गनामचिरेणैव भाविनी ।
स्थितिर्मया वः कथिता किं भ्रान्तिमनुधावथ ॥ ३० ॥
भूतपञ्चकसंघट्टसंस्थानं ललनाभिधम् ।
रसादभिपतत्वेतत्कथं नाम धियाऽन्वितः ॥ ३१ ॥
शाखाप्रतानगहना कट्वम्लफलमालिनी ।
सुतालात्तालतामेति चिन्ता कान्तानुसारिणी ॥ ३२ ॥
कान्दिग्भूततया चेतो घनगर्द्धान्धमाकुलम् ।
परं मोहमुपादत्ते यूथभ्रष्टमृगो यथा ॥ ३३ ॥
शोच्यतां परमां याति तरुणस्तरुणीपरः ।
निबद्धः करिणीलोलो विन्ध्यखाते यथा गजः ॥ ३४ ॥
तस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥३५॥

पांच भूतों के समुदाय से बना हुआ अंगों का संगठन ही स्त्री संज्ञा है, विवेकी पुरुष रागवशवर्ती होकर कैसे उसपर आसक्त हो सकता है ? अर्थात् ज्ञानी उसको कैसे उपादेय समझेगा ॥३१॥

जैसे शाखा-प्रशाखा से जटिल, कड़वे और खट्टे फलों से परिव्याप्त सुतालालता (एक प्रकार की जंगली लता) बड़ी ऊँचाई तक फैलती है, वैसे ही मनुष्यों की कान्तानुसारिणी (स्त्री के कारण होने वाली) चिन्ता अनेक प्रकार की शाखा-प्रशाखाओं से युक्त कड़वे (पारलौकिक दुःख) और खट्टे (कुछ सुख से मिश्रित ऐहिक दुःख) फलों से पूर्ण होती हुई बहुत ही विस्तृत होती है ॥३२॥

जैसे हथिनी को चाहने वाला (हस्तिनी पर आसक्त) हाथी विन्ध्याचल के गड्ढे में (हाथियों को पकड़ने के लिए बनाये गये गड्ढे में) बाँधा जाता है, वैसे ही स्त्रीलम्पट पुरुष बन्धन में पड़कर बड़ी शोचनीय दशा को प्राप्त करता है ॥३४॥

जिसकी स्त्री है, उसको भोग की इच्छा होती है, जिसकी स्त्री नहीं है, उसे भोग की भूमि ही अर्थात् स्थान ही कहाँ है, स्त्री का त्याग कर तो जगत् का ही त्याग कर दिया, और जगत् का त्याग करने से सुखी होगा ॥३५॥

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु
भोगेषु नाऽहमलिपक्षतिचञ्चलेषु ।
ब्रह्मन् ! रमे मरणरोगजरादिभीत्या
शाम्याम्यहं परमुपैमि पदं प्रयत्नात् ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे स्त्रीजुगुप्सानामैकविंशतितमः सर्गः ॥२१॥

हे ब्रह्मन् ! आपाततः (विचार के बिना) भले प्रतीत होने वाले, भँवर के परों के मूल के समान चञ्चल और जिनसे निस्तार होना बड़ा कठिन है, ऐसे भोगों की, जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि के भय से, मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है; मैं इनसे विरत हो जाऊँ ऐसा प्रयत्न करूँगा जिससे कि मुझे परम पद प्राप्त हो जाय ॥३६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में स्त्रीजुगुप्सा नामक कुसुमलता का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२१॥

२२

श्रीराम उवाच

अपर्याप्तं हि बालत्वं बलात् पिबति यौवनम् ।
यौवनं च जरा पश्चात् पश्य कर्कशतां मिथः ॥ १ ॥
हिमाशनिरिवाऽम्भोजं वात्येव शरदम्बुकम् ।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा ॥ २ ॥
जर्जरीकृतसर्वाङ्गी जरा जरठरूपिणी ।

२२

श्रीराम ने कहा :—

[राग-द्वेष का मूलाधार वासना है, वासना युवावस्था में प्रौढ़ता पर रहती है। इसके भी विषय के रूप में कामिनी और कञ्चन का मुख्य स्थान है। अतः पूर्व सर्गों में इन विषयों की हेयता का साङ्गोपाङ्ग विवरण प्रस्तुत किया गया है। बाल्यावस्था में काम का अभाव रहने पर भी अन्य दृष्टि से वह भी हेय है—इसका भी विश्लेषण किया गया है। वृद्धावस्था में मानव विषयों के उपयोग में असमर्थ हो जाता है, क्योंकि, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, अतः वे कार्यक्षम नहीं रहती है। इस सर्ग में वृद्धावस्था का जीवन सभी दृष्टि से दुःखावह है—इसी की समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है :—]

बालभाव पूर्ण हुए विना ही अर्थात् खेल-कूद, कौतूहल आदि की अभिलाषा के पूर्ण न होने पर ही युवावस्था जबर्दस्ती बाल्यावस्था को निगल जाती है, अर्थात् स्त्री-संभोग आदि के अनन्तर वृद्धावस्था आकर युवावस्था की इच्छा की पूर्ति न होने पर ही उसे स्वाहा कर देती है, अतः इन दोनों की (युवावस्था और वृद्धावस्था की) परस्पर कठोरता को देखिये। अर्थात् उसी शरीर में होने वाली बाल्यावस्था को यौवन निगल गया अतएव यौवन कठोरतर हुआ, उक्त कोठरतर यौवन को निगलने वाली वृद्धावस्था न होगी, तो क्या होगी ? ॥१॥

[पामर लोगों के परम प्रेमपात्र विषयसुख के गृहभूत शरीर को ही जो वृद्धावस्था नष्ट-भ्रष्ट कर देती है, उसमें सुख की आशा कहाँ ? ऐसा कहते हैं—'हिमाशनि०' इत्यादि से।]

जैसे तुषाररूपी वज्र कमलों को नष्ट भ्रष्ट कर देती है, आँधी शरद ऋतु की ओस को (पत्तों के सिरे पर लटक रहे जल-कण को) नष्ट कर देती है और नदी-तट के वृक्ष को उखाड़ देती है, वैसे ही वृद्धावस्था शरीर को नष्ट कर डालती है ॥२॥

जैसे विषका छोटा-सा टुकड़ा खा लिया जाय, तो वह थोड़ी देर में देह को कुरूप कर देती है, वैसे ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शिथिल करने वाली एवं वृद्ध के समान दिखने

विरूपतां नयत्याऽऽशु देहं विषलवो यथा ॥ ३ ॥
शिथिलादीर्णसर्वाङ्गं जराजीर्णकलेवरम् ।
समं पश्यन्ति कामिन्यः पुरुषं करभं यथा ॥ ४ ॥
अनायासकदर्थिन्या गृहीते जरसा जने ।
पलाय्य गच्छति प्रज्ञा सपत्न्येवाऽऽहताऽङ्गना ॥ ५ ॥
दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्द्धककम्पितम् ॥ ६ ॥
दुष्प्रेक्ष्यं जरठं दीनं हीनं गुणपराक्रमैः ।
गृध्रो वृक्षमिवाऽऽदीर्धं गर्द्धो ह्यभ्येति वृद्धकम् ॥ ७ ॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा हृदि दाहप्रदायिनी ।
सर्वापदामेकसखी वार्द्धके वर्द्धते स्पृहा ॥ ८ ॥
कर्त्तव्यं किं मया कष्टं परत्रेत्यतिदारुणम् ।
अप्रतीकारयोग्यं हि वर्द्धते वार्द्धके भयम् ॥ ९ ॥

वाली वृद्धावस्था देह को शीघ्र (आते ही) कुरूप कर देती है । यदि वृद्धावस्था स्वयं वृद्धरूप न होती, तो अन्यों को वृद्धरूप कैसे करती, इस तर्क के आधर पर श्लोक में जरठरूपिणी कहा है ॥३॥

जिनके सब अङ्ग शिथिल और छिन्न-भिन्न हो गये हैं और वृद्धावस्था से शरीर जर्जरित हो गया है, ऐसे पुरुषों को स्त्रियाँ ऊँट के समान समझती हैं ॥४॥

अनायास दीनता को प्राप्त कराने वाली वृद्धावस्था के द्वारा जब मनुष्य के पकड़े जाने पर सौत से पीटी गई स्त्री के समान बुद्धि भाग कर कहीं अन्यत्र चली जाती है ॥५॥

नौकर-चाकर, पुत्र, स्त्रियाँ, बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी सभी लोग वृद्धावस्था से काँप रहे मनुष्य का घृणित उन्मत्त पुरुष की भाँति उपहास करते हैं ॥६॥

फलयुक्त शाखा और टहनियों के फैलाव के कारण अन्य पक्षियों के आक्रमण से रहित अतिशय उन्नत पुराने वृक्षपर जैसे गृध्र रहता है, वैसे ही कुरूप, वृद्ध, गुण और सामर्थ्य से शून्य अतएव दीन वृद्ध पुरुष में अतिशय अभिलाषा आ जाती है ॥७॥

दीनतारूपी दोष से परिपूर्ण, हृदय में सन्ताप पहुँचाने वाली और सम्पूर्ण आपत्तियों की एकमात्र सहचरी बड़ी तृष्णा वृद्धावस्था में बढ़ जाती है ॥८॥

खेद है, परलोक में मैं क्या करूँगा, इस प्रकार का अतिशय भयङ्कर भय, जिसका कोई प्रतीकार नहीं हो सकता है, वह वृद्धावस्था में बढ़ जाता है ॥९॥

कोऽहं वराकः किमिव करोमि कथमेव च ।
तिष्ठामि मौनमेवेति दीनतोदेति वार्द्धके ॥ १० ॥
कथं कदा मे किमिव स्वादुस्याद्भोजनं जनात् ।
इत्यजस्रं जरा चैषा चेतो दहति वार्द्धके ॥ ११ ॥
गर्द्धोऽभ्युदेति सोल्लासमुपभोक्तुं न शक्यते ।
हृदयं दह्यते नूनं शक्तिदौःस्थ्येन वार्द्धके ॥ १२ ॥
जराजीर्णबकी यावत् कायक्लेशापकारिणी ।
रौति रोगोरगाकीर्णा कायद्रुमशिरःस्थिता ॥ १३ ॥
तावदागत एवाऽऽशु कुतोऽपि परिदृश्यते ।
घनान्ध्यतिमिराकाङ्क्षी मुने ! मरणकौशिकः ॥ १४ ॥
सायंसन्ध्यां प्रजातां वै तमः समनुधावति ।
जरां वपुषि दृष्ट्वैव मृतिः समनुधावति ॥ १५ ॥
जराकुसुमितं देहद्रुमं दृष्ट्वैव दूरतः ।

मैं बड़ा दुःखी-दीन कौन हूँ, मैं क्या करूँ, कैसे करूँ, अच्छा चुपचाप मौन ही रहूँ, ऐसी दीनता वृद्धावस्था में उत्पन्न होती है अर्थात् वृद्धावस्था में मैं दुःखी हूँ, मैं अकर्मण्य हूँ, मैं नितान्त हेय और तुच्छ हूँ, मैं क्या करूँ, मुझमें सामर्थ्य ही क्या है, किस प्रकार मैं अपना जीवन निर्वाह करूँ, मुझे बोलने से क्या लाभ है, अच्छा मैं मौन रहता हूँ, इत्यादि दीमता उदित होती है ॥१०॥

किस प्रकार कब कुछ स्वादिष्ट भाजन अपने आत्मीय जनों से मुझे प्राप्त होगा, ऐसी चिन्तारूपी दूसरी जरा वृद्धावस्था में सदा चित्त को जलाती रहती है ॥११॥

वृद्धावस्था में भोग की इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, पर उपभोग नहीं किया जा सकता है अतः हृदय सदा जलता रहता है ॥१२॥

हे मुनिवर ! विविधि दुःखों से शरीर का अपकार करने वाली रोगरूपी साँपों से व्याप्त वृद्धावस्थारूपी जीर्ण बगुली शरीररूपी वृक्ष की चोटी पर बैठी रहती है, उसी समय निबिड़ मूर्च्छारूपी अन्धकार को चाहने वाला मृत्यु रूपी उल्लू शीघ्र ही कहीं से आया हुआ दिखाई देता है ॥१३-१४॥

सायंकाल की सन्ध्या के उत्पन्न होने पर अन्धकार जैसे उसके पीछे दौड़ता है अर्थात् सायंकाल होने के अनन्तर अन्धकार इधर-उधर परिव्याप्त हो जाता है, वैसे ही शरीर में वृद्धावस्था को देखकर काल उसे लेने के लिए समीप में दौड़ कर आ जाता है ॥१५॥

हे मुने ! वृद्धावस्था से कास की नाईं फूला हुआ

अध्यापतति वेगेन मुने ! मरणमर्कटः ॥ १६ ॥
शून्यं नगरमाभाति भाति च्छिन्नलतो द्रुमः ।
भात्यनावृष्टिमान् देशो न जराजर्जरं वपुः ॥ १७ ॥
क्षणान्निगरणायैव कासक्वणितकारिणी ।
गृध्रीवाऽऽमिषमादत्ते तरसैव नरं जरा ॥ १८ ॥
दृष्ट्वैव सोत्सुकेवाऽऽशु प्रगृह्य शिरसि क्षणम् ।
प्रलुनाति जरा देहं कुमारी कैरवं यथा ॥ १९ ॥
सीत्कारकारिणी पांसुपरुषा परिजर्जरम् ।
शरीरं शातयत्येषा वात्येव तरुपल्लवम् ॥ २० ॥
जरसोपहतो देहो धत्ते जर्जरतां गतः ।

(सफेद केश और मोछ-दाढ़ी से युक्त) देहरूपी वृक्ष को कालरूपी बन्दर दूर से ही देखकर बड़े वेग से उसकी ओर दौड़ता है अर्थात् जैसे फल-फूलों से युक्त वृक्ष को दूर से ही देखकर बन्दर उसकी ओर दौड़ता है, वैसे ही वृद्धावस्था से सफेद हुए शरीर की ओर काल दौड़ता है ॥१६॥

निर्जन नगर कथंचित् शोभायमान हो भी सकता है, कटी लताओं वाली वृक्ष भी कुछ शोभित हो सकता है, अनावृष्टि से पीड़ित देश की भी कुछ न कुछ शोभा हो सकती है, मगर वृद्धावस्था से जर्जरित शरीर की कुछ भी शोभा नहीं है ॥१७॥

शब्द कपने वाली गृध्री जैसे निगलने के ही लिए मांस के टुकड़े को शीघ्र ही पकड़ लेती है, वैसे ही खांसी-रूपी शब्द करने वाली वृद्धावस्था मनुष्य को निगलने के लिए ही वेग से पकड़ लेती है ॥१८॥

जैसे बालिका उत्सुकता के साथ कमल के फूल को देखकर उसके अग्र भाग को पकड़कर तोड़ लेती है, वृद्धावस्था भी बड़ी उत्सुकता के साथ देखकर सिर पकड़कर देह को काट देती है ॥१९॥

जैसे धूलि-कणों से कठोर और सी-सीकार करने वाली शिशिर ऋतु की तेज वायु वृक्ष के पल्लवों को धूलि से ध्वस्त कर छिन्न-भिन्न कर देती है, वैसे ही शरीर में कम्प कराने वाली रूसी से कठोर यह वृद्धा-वस्था शरीर को नष्ट कर देती है ॥२०॥

वृद्धावस्था से तहस-नहस और जर्जरित शरीर हिम के कणों से व्याप्त मुरझाये हुए कमल की कान्ति को धारण करता है अर्थात् जैसे हिम-समूह से आक्रान्त कमल मुरझा जाता है वैसे ही वृद्धावस्था से आक्रान्त शरीर भी

तुषारनिकराकीर्णपरिम्लानाम्बुजश्रियम् ॥ २१ ॥
जराज्योत्स्नोदितैवेयं शिरःशिखरिपृष्ठतः ।
विकासयति संरब्धं वातकासकुमुद्वती ॥ २२ ॥
परिपक्वं समालोक्य जराक्षारविधूसरम् ।
शिरःकूष्माण्डकं भुङ्क्ते पुंसां कालः किलेश्वरः ॥ २३ ॥
जराजह्नुसुतोद्युक्ता मूलान्यस्य निकृन्तति ।
शरीरतीरवृक्षस्य चलत्यायुषि सत्वरम् ॥ २४ ॥
जरामार्जारिका भुङ्क्ते यौवनाखुं तथोद्धता ।
परमुल्लाससमायाति शरीरामिषगर्द्धिनी ॥ २५ ॥
काचिदस्ति जगत्यस्मिन्नाऽमङ्गलकरी तथा ।
यथा जराऽऽक्रोशकरी देहजङ्गलजम्बुकी ॥ २६ ॥

जीर्ण-शीर्ण म्लान हो जाता है ॥२१॥

यह वृद्धावस्थारूपिणी चाँदनी सिररूपी पर्वत के शिखर से उदित होते ही वात-रोग और कासरोगरूपी कुमुदिनी को बड़े प्रयत्न से विकसित करती है अर्थात् जैसे उदयाचल से उदित होते ही चाँदनी यत्नपूर्वक कुमुदिनी को विकसित करती है वैसे ही प्रथम सिर में आविर्भूत हुई वृद्धावस्था वात-रोग और खाँसी को खूब बढ़ा देती है ॥२२॥

जैसे क्षार चूर्ण से धूसर कोहड़े को पका हुआ जान कर खा जाता है, वैमे ही कालरूपी ईश्वर भी मनुष्यों के सिर को वृद्धावस्था से सफेद हुआ देखकर खा जाता है ॥२३॥

आयुरूपी प्रवाह के शीघ्र चलने पर वृद्धावस्थारूपी गङ्गा लगातार प्रयत्नपूर्वक इस शरीररूपी तटवृक्ष की जड़ों को काट डालती है, आशय यह है कि जैसे गङ्गा-तीर स्थित वृक्ष की जड़ों को काट कर उसे गिरा देती है, वैसे ही आयु के पूर्ण होने पर वृद्धावस्था लगातार शरीर की जड़ों (शरीर के आधार बल आदि) को काटकर उसे गिरा देती है ॥२४॥

पहले वृद्धावस्थारूपी बिल्ली यौवनरूपी चूहे को खाती है, फिर उद्धत होकर उसे शरीर का मांस खाने की इच्छा हो जाती है, वह अतिशय आनन्द का अनुभव करती है ॥२५॥

शब्द करने वाली शरीररूपी वन की शृगाली स्वरूप वृद्धावस्था के समान अमङ्गलकारिणी संसार में कुछ भी नहीं है ॥२६॥

खाँसी और साँस के साँय-साँय शब्द से युक्त दुःखरूपी धूम की कालिमा से पूर्ण यह वृद्धावस्थारूपी ज्वाला

कासश्वाससीत्कारा दुःखधूमतमोमयी ।
जराज्वालाज्वलत्येषा यस्याऽसौ दग्ध एव हि ॥ २७ ॥
जरसा वक्रतामेति शुक्लावयवपल्लवा ।
तात ! तन्वी तनुर्नृणां लता पुष्पानता यथा ॥ २८ ॥
जराकर्पूरधवलं देहकर्पूरपादपम् ।
मुने ! मरणमातङ्गो नूनमुद्धरति क्षणात् ॥ २९ ॥
मरणस्य मुने ! राज्ञो जराधवलचामरा ।
आगच्छतोऽग्रे निर्याति स्वाधिव्याधिपताकिनी ॥ ३० ॥
न जिताः शत्रुभिः संख्ये प्रविष्टा येऽद्रिकोटरे ।
ते जराकीर्णराक्षस्या पश्याऽऽशु विजिता मुने ! ॥ ३१ ॥
जरातुषारवलिते शरीरसदनान्तरे ।

जिसकी जलती है, उसे जला ही हुआ समझे अर्थात् उसे समाप्त ही माने ॥२७॥

हे तात ! जैसे सफेद पल्लव वाली और फूलों से लदी हुई छोटी लता, फूलों के बोझ को न सह सकने के कारण, टेढ़ी हो जाती है, वैसे ही सफद सम्पूर्ण अंगों से युक्त मनुष्यों का छोटा-सा शरीर वृद्धावस्था से टेढ़ा हो जाता है ॥२८॥

हे मुने ! वृद्धावस्थारूपी कपूर से सफेद देहरूपी केले के पेड़ को कालरूपी हाथी निःसन्देह एक क्षण में उखाड़ कर फेंक देता है अर्थात् जैसे कपूर से सफेद केले के पेड़ को हाथी अनायास उखाड़ कर फेंक देता है वैसे ही मृत्यु भी वृक्षावस्था से सफेद देह को क्षणभर में उखाड़ कर फेंक देती है ॥२९॥

हे मुने ! पीछे से आनी वाली मृत्युरूपी राजा की वृद्धावस्थारूपी सफेद चँवरों से युक्त चिन्ता-व्याधिरूपी अपनी सेना पहले आती है । अर्थात् जैसे कोई राजा जब कहीं जाता है, तक चँवर से युक्त उसकी सेना पहले निकलती है ॥३०॥

हे मुने ! दुर्गम पहाड़ों की खोहों में बैठे हुए जिन लोगों को रण में शत्रु नहीं जीत सके, उन्हें भी वृद्धावस्था रूपी वृद्धराक्षसी ने शीघ्र जीत लिया, यह आश्चर्य देखिये ॥३१॥

वृद्धावस्थारूपी हिम से संकुचित (चारों ओर हिम से पूर्ण हो जाने के कारण कम अवकाश वाले) शरीर रूपी गृह के मध्य में इन्द्रियरूपी बच्चे तनिक भी हिलने-डुलने को समर्थ नहीं हो सकते, अर्थात् जैसे हिम से परिपूर्ण घर के अन्दर बालक इधर-उधर चल-फिर नहीं सकते, वैसे वृद्धावस्था से पूर्ण शरीर में इन्द्रियाँ अपना कुछ भी व्यापार नहीं कर सकती ॥३२॥

शक्नुवन्त्यक्षशिशवः स्पन्दितुं न मनागपि ॥ ३२ ॥
दण्डतृतीयपादेन प्रस्खलती मुहुर्मुहुः ।
कासाधोवायुमुरजा जरा योषित् प्रनृत्यति ॥ ३३ ॥
संसारसंभृतेरस्या गन्धकुटयां शिरोगता ।
देहयष्टयां जरानाम्नी चामरश्रीर्विराजते ॥ ३४ ॥
जराचन्द्रोदयसिते शरीरनगरे स्थिते ।
क्षणाद् विकासमायाति मुने ! मरणकैरवम् ॥ ३५ ॥
जरासुधालेपसिते शरीरान्तःपुरान्तरे ।
अशक्तिरार्तिरापच्च तिष्ठन्ति सुखमङ्गनाः ॥ ३६ ॥
अभावोऽग्रेसरी यत्र जरा जयति जन्तुषु ।
कस्तत्रेह समाश्वासो मम मन्दमतेर्मुने ! ॥ ३७ ॥

दण्डरूपी तीसरे पैर से युक्त, बार-बार लड़खड़ा रही तथा खाँसी और अपान वायुरूपी पखावज से युक्त वृद्धावस्थारूपी स्त्री नाच कर रही है ॥३३॥

गन्ध अर्थात् राग-द्वेष आदि से चित्त को (दूसरे पक्ष में सभा को) वासित करने वाला विषय भोग (और कस्तूरी आदि सुगन्धित पदार्थ) इस संसाररूपी राजा के व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाली और विषय भोग की आश्रय देहरूपी यष्टि के सिर पर बैठी हुई वृद्धावस्था नामक चँवरशोभा विराजमान है ॥३४॥

हे मुने ! वृद्धावस्थारूपी चन्द्रोदय से शुभ (सफेद और प्रकाशमय) शरीररूपी नगर में स्थित जीविताशारूप तालाब में मृत्युरूपी कुमुदिनी क्षण भर में विकसित हो जाती है । अर्थात् जैसे चन्द्रमा के उदय होने पर प्रकाशमय नगर में स्थित तालाब में कैरव शीघ्र विकसित हो जाती है, वैसे ही वृद्धावस्था से सफेद हुए शरीर में स्थित जीविताशा में शीघ्र मृत्यु का आविर्भाव हो जाता है ॥३५॥

वृद्धावस्थारूपी चूने की पुताई से शुभ शरीररूपी अन्तःपुर अर्थात् रनिवास में अशक्ति (सामर्थ्य का अभाव) पीड़ा और आपत्तिरूपी महिलाएँ बड़े आनन्द से रहती हैं ॥३६॥

हे मुने ! जिन जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जरूप चार प्रकार के शरीरों में पहले वृद्धावस्था आक्रमण करती है और उसके आगे मृत्यु अवश्य आती है, उन्हीं शरीरों में से एक इस शरीर में (उन शरीरों के ही सजातीय इस शरीर में) मुझ अतत्त्वज्ञ को क्या विश्वास हो सकता है ? अर्थात् पहले वृद्धावस्था का अनन्तर मृत्यु का ग्रास होने वाले इस शरीर में मेरी तनिक भी आस्था नहीं है ॥३७॥

किं तेन दुर्जीवितदुर्ग्रहेण
जरागतेनाऽपि हि जीव्यते यत् ।
जरा जगत्यामजिता जनानां
सर्वैषणास्तात ! तिरस्करोति ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे जराजुगुप्सानामद्वाविंशतितमः सर्गः ॥ २२ ॥

हे तात ! जो वृद्धावस्था को प्राप्त होकर भी जीवित रहता है, उस दुष्ट जीवन के दुराग्रह से=दुरभिलाषा से क्या लाभ है ? क्योंकि वृद्धावस्था इस पृथिवी में मनुष्य की सम्पूर्ण एषणाओं का तिरस्कार कर देती है । आशय यह है कि वृद्धावस्था के आने पर कोई भी पुरुष अपनी किसी इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकता, इसलिए दुःखप्रद दुष्ट जीवन की दुराग्रहपूर्वक इच्छा करना निष्फल ही है ॥३८॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में जराजुगुप्सा नामक कुसुमलता का बाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२२॥

२३

श्रीराम उवाच

विकल्पकल्पनानल्पजल्पितैरल्पबुद्धिभिः ।
भेदैरुद्धुरतां नीतः संसारकुहरे भ्रमः ॥ १ ॥
सतां कथमिवाऽऽस्थेह जायते जालपञ्जरे ।
बाला एवाऽत्तुमिच्छन्ति फलं मुकुरबिम्बितम् ॥ २ ॥

२३

श्रीराम ने कहा :—

मूढ़मतियों ने मन के विकल्पों की कल्पना से विविध व्यवहार वचनों के द्वारा अनन्त विषय से भेदों से ब्रह्माण्ड-गह्वर में भ्रम अर्थात् अज्ञान को अतिशय दुरुच्छेद्य बना दिया है।

आशय यह है कि भोग्य विषय यश, पुत्र और धन, स्त्री आदि के भोग साधन बाल्य आदि अवस्थाओं की दोष-राशि का समीक्षणकर ये अपरिहार्य दुःख मात्र फल के साधक हैं इनका युक्ति के द्वारा उपपादन कर लौकिक और पारलौकिक सुख-भोग-विराग की आस्था को दृढ़ किया।

इस प्रकरण में काम आदि के स्वभावों का वर्णन करते हुए उनकी हेयता का प्रदर्शन का उपक्रम कर रहे हैं। मेरा यह भोग्य है, मैं इसका भोग करने वाला हूँ, ये उनके उपकरण हैं, इन साधनों के द्वारा इस प्रकार सम्पादन कर चिर काल तक भोग करूँगा, ये मनोरथ सिद्ध हो गये हैं अब इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा, इन अनन्त विकल्पों की कल्पनाओं के जाल से अनन्त व्यवहारों की मूढ़ जन कल्पना कर लेते हैं, इन असद् व्यवहार जगत् के विषयों को सत्य मानकर इसके आधार पर शत्रु, मित्र और उदासीन के भेद के अनुसार हेय, उपादेय और उपेक्ष्य की कल्पना कर संसार भ्रम को किसी तरह भी उच्छेद करने योग्य नहीं होने देता है ॥१॥

जाल के समान दूर से ही आकृष्ट कर बन्धन करने वाले विषयों तथा पिजड़े के समान सीमा में बाँधने वाले देह राशि भूत इस भ्रमात्मक संसार में विवेकियों की कैसे आस्था हो सकती है ? बालक ही दर्पण से प्रतिबिम्बित फल को खाने की इच्छा करते हैं, विवेकी नहीं। आशय यह है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित फल को खाने की इच्छा करना जैसे मूर्खता है, वैसे ही अवस्तुभूत इस संसार में आस्था करना भी मूर्खता ही है ॥२॥

इहाऽपि विद्यते येषां पेलवा सुखभावना ।
आखुस्तन्तुमिवाऽशेषं कालस्तामपि कृन्तति ॥ ३ ॥
न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः ।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः ॥ ४ ॥
समस्तसामान्यतया भीमः कालो महेश्वरः ।
दृश्यसत्तामिमां सर्वां कवलीकर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥
महतामपि नो देवः प्रतिपालयति क्षणम् ।
कालः कवलितानन्तविश्वो विश्वात्मतां गतः ॥ ६ ॥
युगवत्सरकल्पाख्यैः किञ्चित्प्रकटतां गतः ।
रूपैरलक्ष्यरूपात्मा सर्वमाक्रम्य तिष्ठति ॥ ७ ॥
ये रम्या ये शुभारम्भा सुमेरुगुरवोऽपि ये ।

इस प्रकार के अवस्तुभूत संसार में जिनको क्षुद्र सुख की आशा होती है, जो तृण के सिरे से कुँएँ में लटक रहे मकड़ी के जाले को जैसे चूहा पूर्णतया काट देता है वैसे ही, उस आशा को निःशेषरूप से काट देता है ॥३॥

वाडवाग्नि चन्द्रोदय आदि से उमड़े हुए समुद्र को जैसे नष्ट कर देती है, वैसे ही इस संसार में उत्पन्न हुई ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे यह सर्वभक्षी काल नष्ट नहीं करता है, अर्थात् जैसे वाडवाग्नि प्रतिदिन समुद्र को सोंखती है, वैसे ही यह सर्वभक्षी काल भी प्रत्येक वस्तु को निगलता है ॥४॥

भयङ्कर कालरूपी महाकाल साधारण रूप से इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को निगलने के लिए सदा उद्यत रहता है ॥५॥

(बल बुद्धि और वैभव से) महान् प्राणियों की भी क्षणभर के लिए रक्षा नहीं करता है, अनन्त विश्व को कवलित करने के कारण ही काल की विश्वात्मस्वरूपता है । अर्थात् ब्रह्माण्डस्वरूप एवं सभी की उत्पत्ति और संहार का कारण है ॥६॥

युग, वर्ष और कल्प नामक क्रिया के द्वारा उपाधि रूपों से काल अंशतः ही प्रकट है, किन्तु अलक्ष्य स्वरूप काल सभी को आक्रान्त कर संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं को आक्रान्त कर प्रतिष्ठित है अर्थात् अपने वश में करके बैठा है ॥७॥

जो पुण्यात्मा, जो रम्य और जो सुमेरु पर्वत के समान गौरवान्वित थे, उन्हें भी जैसे गरुड साँपों को निगल जाता है वैसे ही काल ने निगल लिया ॥८॥

यह काल निर्दय (पत्थर के समान) कठोर, (बाघ आदि के समान) क्रूर, (आरे के समान) कर्कश, कृपण

कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ॥ ८ ॥
निर्दयः कठिनः क्रूरः कर्कशः कृपणोऽधमः ।
न तदस्ति यदद्याऽपि न कालो निगिरत्ययम् ॥ ९ ॥
कालः कवलनैकान्तमतिरत्ति गिरन्नपि ।
अनन्तैरपि लोकौघैर्नाऽयं तृप्तो महाशनः ॥ १० ॥
हरत्ययं नाशयति करोत्यत्ति निहन्ति च ।
कालः संसारनृत्तं हि नानारूपं यथा नटः ॥ ११ ॥
भिनत्ति प्रविभागस्थभूतबीजान्यनारतम् ।
जगत्यसत्तया बन्धाद्दाडिमानि यथा शुकः ॥ १२ ॥
शुभाशुभविषाणाग्रबिलूनजनपल्लवः ।
स्फूर्जति स्फीतजनताजीवराजीवनीगजः ॥ १३ ॥

और अधम है । आज तक ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी गई, जिसे इस काल ने न निगल लिया हो ॥९॥

इसका चित्त सदा निगलने में ही लगा रहता है, यह एक को निगलता हुआ भी दूसरे को निगलता है । अनन्त लोग इसकी उदरदरी में समा चुके हैं, पर इस बहुभक्षी की आज भी तृप्ति नहीं हुई हैं, अर्थात् अब भी यह अपने उसी स्वाभाविक वेग से सभी को निगलता जा रहा है ॥१०॥

नट के समान यह काल भी अपने विविधरूप वाले संसाररूपी नृत्य को आरम्भ करता है, बन्द कर देता है, बिगाड़ देता है, खा जाता है और नष्ट कर देता है अर्थात् जैसे ऐन्द्रजालिक अपने विविध खेलों को आरम्भ करता है, उनका अन्त कर डालता है, उनको बिगाड़ देता है, कोई खाद्य पदार्थ बनाकर उसे खा जाता है और बरबाद कर देता है, वैसे ही धन-सम्पत्ति आदि में जो कुछ भी हरण, नाश, व्यय आदि होते हैं, उन सबको हरणकर्ता, नाशकर्ता आदि के रूप में स्थित काल ही करता है, दूसरा नहीं ॥११॥

यह काल इस जगत् में व्याकृतावस्था में स्थित भूतों को (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार के प्राणियों को) नाश कर असत् अर्थात् अस्तित्वहीन बनाकर, वैसे ही तोड़-मरोड़ कर खा जाता है, जैसे तोता दाड़िम के फल को तोड़कर उसके भीतर के बीजों को खा जाता है ॥१२॥

शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) रूप दन्तपङ्क्ति से मनुष्यरूपी पल्लवों को छिन्न-भिन्न करने वाला अभिमानी जनता के जीवराशि रूपी महारण्य में रहने वाला गजरूप यह काल बड़े जोर से चिग्घाड़ता है । आशय यह

विरिञ्चिमूलब्रह्माण्डबृहद्देवफलद्रुमम् ।
ब्रह्मकाननमाभोगि परमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
यामिनीभ्रमरापूर्णा रचयन् दिनमञ्जरीः ।
वर्षकल्पकलावल्लीर्न कदाचन खिद्यते ॥ १५ ॥
भिद्यते नाऽवभग्नोऽपि दग्धोऽपि हि न दह्यते ।
दृश्यते नाऽपि दृश्योऽपि धूर्त्तचूडामणिर्मुने ! ॥ १६ ॥
एकेनैव निमेषेण किञ्चिदुत्थापयत्यलम् ।
किञ्चिद्विनाशयत्युच्चैर्मनोराज्यवदाततः ॥ १७ ॥
दुर्विलासविलासिन्या चेष्टया कष्टपुष्टया ।

है कि जैसे महारण्य में रहने वाला और अपने दाँतों से वृक्षों के पल्लवों को छिन्न-भिन्न करने वाला हाथी बड़े जोर से चिंघाड़ता है, दहाड़ मारता है, वैसे ही पुण्य-पाप-रूपी अपने दाँतों से प्राणियों को चबा डालने वाला और दर्पपूर्ण जनता के जीव-समूह रूपी महारण्य का गज स्वरूप यह काल बड़े जोर से दहाड़ता है ॥१३॥

अपञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक मूल से ब्रह्माण्डरूपी महान् और देवतारूपी फलों से युक्त वृक्षों से पूर्ण ब्रह्मरूपी महावन को पूर्णरूप से आवृत कर यह काल बैठा है।

आशय यह है कि ब्रह्मस्वरूपी ब्रह्माण्ड-कानन जो पाँच महाभूतों को मूल आधार बनाकर अनेक देवगणरूपी फल और वृक्षों से मायिक रूप में अशेष प्रपञ्चात्मक ब्रह्माण्ड निर्मित है, उस महावन को काल ही आवृत कर स्थित है, क्योंकि, काल ही उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है, इसीलिए इसे महाकाल कहा गया है ॥१४॥

यह काल रात्रिरूपी भँवरों से चारों ओर व्याप्त और दिनरूपी मञ्जरियों से शोभित वर्ष, कल्प (ब्रह्मा का दिन) और कलारूपी (अर्थात् १८ निमेष की १ काष्टा, ३० काष्टा की १ कला, ३० कला का १ क्षण, १२ क्षण का १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त का १ अहोरात्र (रात्रिदिन) इस प्रकार आजकल के मानसे १ कला = २/१५ मिनट या ८ सेकण्ड है।) लताएँ बराबर बनाता रहता है पर इसे कभी कुछ भी परिश्रम नहीं होता, जिससे कि यह अपने व्यापार से विरत हो ॥१५॥

हे मुने ! यह काल धूर्तों का सिरताज है, इस काल को कितना ही तोड़ो पर यह टूटता नहीं, जलाने पर जलता नहीं और दृश्य होने पर भी (स्वरूप से) नहीं दिखाई देता, अतः यह धूर्त चूड़ामणि है ॥१६॥

द्रव्यैकरूपकृद्रूपं जनमावर्त्तयन् स्थितः ॥ १८ ॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुमेरुं पर्णमर्णवम् ।
आत्मम्भरितया सर्वमात्मसात्कर्त्तुमुद्यतः ॥ १९ ॥
क्रौर्यमत्रैव पर्याप्तं लुब्धताऽत्रैव संस्थिता ।
सर्वदौर्भाग्यमत्रैव चापलं वाऽपि दुःसहम् ॥ २० ॥
प्रेरयन् लीलयाऽर्केन्दू क्रीडतीव नभस्तले ।
निक्षिप्तलीलायुगलो निजे बाल इवाङ्गणे ॥ २१ ॥
सर्वभूतास्थिमालाभिरापादवलिताकृतिः ।
विलसत्येव कल्पान्ते कालः कलितकल्पनः ॥ २२ ॥

काल एक ही निमेष में किसी वस्तु के सर्वाङ्गीण निर्माण कर उठा देता है और किसी का निःशेष विनाश कर देता है, यह काल मनोराज्य के समान फैला हुआ है अर्थात् सर्वव्यापक है।

आशय यह है कि मनोराज्य भी किसी भी वस्तु को सहसा खड़ा कर देता है और किसी का सर्वथा विनाश कर देता है, अतः, मन के समान ही काल भी है, इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है ॥१७॥

यह काल अपने दुर्विलासों में विलास करने वाली प्राणियों के कष्ट से परिपुष्ट चेष्टारूप भार्या द्वारा भौतिक देह, इन्द्रिय आदि द्रव्यों में आत्मा का तादात्म्या-ध्यास कराता हुआ घुमा रहा है ॥१८॥

यह काल बड़ा पेटू है, इसको सदा अपने पेट को धारण-पोषण करने के लिए तिनका हो, धूलि हो, महेन्द्र हो, सुमेरु हो, पत्ता हो, समुद्र हो, सभी को अपने अधीन कर निगलने के लिए उद्यत रहता है ॥१९॥

क्रूरता इसी में पर्याप्तरूप से भरी गई है, लुब्धता इसी में अपना घर बनाये हैं, अर्थात् स्थित है, सम्पूर्ण दौर्भाग्य है और दुःसह चपलता भी इसी में हैं, आशय यह है कि यह परले सिर का क्रूर, बेजोड़ लोभी, नितान्त अभागा और महाचपल है ॥ ०॥

जैसे बालक अपने आँगन में खेल के गेंदों को बारबार उछालता है, वैसे ही यह क्रूरतम काल खेल के लिए सूर्य और चन्द्रमा को प्रेरणा देकर आकाश में खेलता है ॥२१॥

प्रलयकाल में यह काल सब प्राणियों को नष्टकर और अपने शरीर को उनकी (सब प्राणियों की) हड्डियों की मालाओं से पैर तक ढककर विलास ही करता है ॥२२॥

अस्योड्डामरवृत्तस्य कल्पान्तेऽङ्गविनिर्गतैः ।
प्रस्फुरत्यम्बरे मेरुर्भूर्जत्वगिव वायुभिः ॥ २३ ॥
रुद्रो भूत्वा भवत्येष महेन्द्रोऽथ पितामहः ।
शक्रो वैश्रवणश्चाऽपि पुनरेव न किंचन ॥ २४ ॥
धत्तेऽजस्रोत्थितोऽधस्तात् सर्गानमितभास्वरान् ।
अन्यान्दधद्दिवानक्तं वीचीरब्धिरिवाऽऽत्मनि ॥ २५ ॥
महाकल्पाभिधानेभ्यो वृक्षेभ्यः परिशातयन् ।
देवासुरगणान्पक्वान्फलभारानिव स्थितः ॥ २६ ॥
कालोऽयं भूतमशकघुंघुमानां प्रपातिनाम् ।
ब्रह्माण्डोदुम्बरौघानां बृहत्पादपतां गतः ॥ २७ ॥

प्रलय के समय निरङ्कुश चरित्रवाले इस काल के अंगों से निकले हुए वायुओं से विशाल सुमेरु पर्वत भूर्जपत्र के समान आकाश में फड़फड़ाता है। आशय यह है कि जैसे वायु के द्वारा अतिकोमल भूर्जपत्र फटकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही इस काल के शरीर से निर्गत वायुओं से सुमेरु पर्वत आकाश में उड़कर विशीर्ण हो जाता है ॥२३॥

यह काल ही रुद्र का रूप धारण कर महेन्द्र का रूप धारण करता है, पुनः ब्रह्मा का रूप धारण करता है, फिर इन्द्र होता है और कुबेर होता है और अन्त में कुछ भी नहीं अर्थात् प्रलय में पर्यवसान लाभ करता है ॥२४॥

सदा परिपूर्ण सागर रात-दिन जैसे अपने में अन्य तरङ्गों को धारण कर पहले की बड़ी-बड़ी तरङ्गों को नीचे कर देता है अर्थात् अपने में विलीन कर देता है, वैसे ही तत्परतापूर्वक रात-दिन अन्य नई-नई सृष्टियों को करता हुआ पूर्व की अति देदीप्यमान सृष्टियों को यह काल ही नष्टकर देता है ॥२५॥

यह काल महाकल्प नामक वृक्षों से देवता, मनुष्य और राक्षसरूपी पके हुए फलों को गिरा रहा है ॥२६॥

यह काल प्राणि स्वरूप मच्छरों से अर्थात् गुलर के जीव से घुम्, घुम् ऐसा शब्द कर रहे और गिरने वाले ब्रह्माण्डरूपी गूलर के फलों का महान् वृक्ष स्वरूप है। आशय यह है कि जैसे छोटे-छोटे मच्छरों से गूँज रहे शीघ्र गिरने वाले गूलर के फल गूलर के पेड़ में होते हैं, वैसे ही प्राणियों के शब्दों से गूँज रहे और शीघ्र गिरने वाले कालकवलित होने वाले ब्रह्माण्डरूपी फलों का आश्रय महावृक्ष यह काल ही है। गूलर के फलों का उत्पादक गूलर का वृक्ष है, ब्रह्माण्डों का उत्पादक यह काल ही है ॥२७॥

सत्तामात्रकुमुद्वत्या चिज्ज्योत्स्नापरिफुल्लया ।
वपुर्विनोदयत्येकं क्रियाप्रियतमान्वितः ॥ २८ ॥
अनन्तापारपर्यन्तबद्धपीठं निजं वपुः ।
महाशैलवदुत्तुङ्गमवलम्ब्य व्यवस्थितः ॥ २९ ॥
क्वचिच्छ्यामतमःश्याम्यं क्वचित्कान्तियुतं ततम् ।
द्वयेनाऽपि क्वचिद्रिक्तं स्वभावं भावयन् स्थितः ॥ ३० ॥
संलीनासंख्यसंसारसारया स्वात्मसत्तया ।
उर्व्येव भारघनया निबद्धपदतां गतः ॥ ३१ ॥
न खिद्यते नाऽऽद्रियते नाऽऽयाति न च गच्छति ।
नाऽस्तमेति न चोदेति महाकल्पशतैरपि ॥ ३२ ॥

तत्-तत् प्राणियों के शुभाशुभ क्रिया (पुण्य-पाप) रूपी प्रियतमा से युक्त काल सबके अधिष्ठानभूत चित्रूप (चैतन्यरूप) चाँदनी के सन्निधान से प्रकट हुई जगत् की सत्तारूपी कुमुदिनी से पूर्ण सरसी से अपने अद्वितीय स्वरूप को विनोदित करता है। विहाररूपी कौतुक से कालयापन ही विनोद है। यहां पर काल ही विहार करने वाला है। विहार करने वाला दूसरा काल प्रसिद्ध नहीं है, अतः स्वशरीर को ही विनोद करता है ॥२८॥

जैसे महापर्वत (हिमालय) पृथिवी में पूर्व और उत्तर की सीमा से शून्य प्रदेश में स्थित महापर्वत अपने शरीर का अवलम्बन कर जिस प्रकार खड़ा है वैसे ही यह काल भी असीम आदि-अन्तरहित ब्रह्म में प्रतिष्ठित अपने स्वरूप का अवलम्बन कर स्थित है ॥२९॥

यह काल कहीं पर (रात्रि आदि) काले अन्धकार के समान श्यामल, कहीं पर दिन, चाँदनी, मणि आदि प्रकाशमान पदार्थों में भी कान्ति से परिपूर्ण और कहीं पर (भण्डार और भीत आदि में) अन्धकार और कान्ति से शून्य अपने कार्य का सम्पादन करता हुआ स्थित है ॥३०॥

यह संलीन हुए असंख्य प्राणिपूर्ण संसारों के सारभूत अपनी स्वरूपभूत सत्ता से अतिशय भार से युक्त पृथिवी के समान स्थित है, अतः इसका मूल कभी-भी हिल नहीं सकता है ॥३१॥

सैकड़ों महाकल्पों से न इसे खेद होता है, न प्रसन्नता होती है, न यह आता है, न जाता है, न अस्त होता है और न उदित ही होता है ॥३२॥

केवलं जगदारम्भलीलया घनहेलया ।
पालयत्यात्मनाऽऽत्मानमनहङ्कारमाततम् ॥ ३३ ॥
यामिनीपङ्ककलितां दिनकोकनदावलीम् ।
मेघभ्रमरिकामात्मसरस्यारोपयन् स्थितः ॥ ३४ ॥
गृहीत्वा कृपणः कृष्णां रजनीं जीर्णमार्जनीम् ।
आलोककनकक्षोदानाहरत्यभितो गिरिम् ॥ ३५ ॥
संचारयन् क्रियाङ्गुल्या कोणकेष्वर्कदीपिकाम् ।
जगत्सद्मनि कार्पण्यात् क्व किमस्तीति वीक्षते ॥ ३६ ॥
प्रेक्ष्याऽहर्विनिमेषेण सूर्याक्ष्णा पाकवन्त्यलम् ।
लोकपालफलान्यत्ति जगज्जीर्णवनादयम् ॥ ३७ ॥
जगज्जीर्णकुटीकीर्णानिर्पयत्युग्रकोटरे ।
क्रमेण गुणवल्लोकमणीन् मृत्युसमुद्गके ॥ ३८ ॥

यह काल अत्यन्त अनादरपूर्वक जगत् की रचनारूप लीला से अहङ्कार से रहित और सर्वत्र व्याप्त अपनी आत्मा का ही पालन करता है, उसका विनाश कभी नहीं करता है ।।३३।।

यह काल लगातार रात्रिरूपी पङ्क से उत्पन्न हुई और मेघरूपी भँवरी से युक्त दिनरूपी लाल कमलों की श्रेणी का अपने आत्मरूपी तालाब में आरोपण करता हुआ स्थित है ।।३४।।

यह कृपण काल पुरानी सम्मार्जनी (बुहारी) रूपी काली रात्रि को लेकर कनकाचल के अर्थात् (सुमेरु के) चारों ओर उससे गिरे हुए आलोकरूपी सुवर्णके कणोंका बटोरता रहता है । एक बार एक झाड़ू से बटोरने पर बहुत सा सुवर्ण मिलने पर भी यह सन्तुष्ट नहीं होता और लोभी इतना बड़ा है कि नई सम्मार्जनी भी नहीं ले सकता है ।।३५।।

कृपणता के कारण ही अर्थात् कञ्जूसी से कार्यरूपी अङ्गुली से दिशाओं के कोनों में सूर्यरूपी दीपक ले जाता हुआ यह काल जगत्रूपी घर में कहां पर क्या है ? यह देखता रहता है ।।३६।।

दिनरूपी पलकों से युक्त सूर्यरूपी नेत्र से ये बहुत अच्छी तरह पक गये हैं, यह देखकर जगत् रूपी पुराने वन से यह लोकपाल रूपी फलों को खाता है ।।३७।।

जगत्रूपी पुराने फूस के झोपड़े में प्रमाद से इधर-उधर गिरे हुए गुणवान् प्राणिरूपी मणियों को यह काल महान् उदर वाले मृत्युरूपी सन्दूक में क्रमशः डालता है ।।३८।।

गुणैरापूर्य्यते यैव लोकरत्नावली भृशम् ।
भूषार्थमिव तामङ्गे कृत्वा भूयो निकृन्तति ॥ ३९ ॥
दिनहंसानुसृतया निशेन्दीवरमालया ।
तारकेसरयाऽजस्रं चपलो वलयत्यलम् ॥ ४० ॥
शैलार्णवद्युधराश्रृङ्गजगदूर्णायुसौनिकः ।
प्रत्यहं पिबते प्रेक्ष्य तारारक्तकणानपि ॥ ४१ ॥
तारुण्यनलिनीसोम आयुर्मातङ्गकेसरी ।
न तदस्ति न यस्याऽयं तुच्छातुच्छस्य तस्करः ॥ ४२ ॥
कल्पकेलिविलासेन पिष्टपातितजन्तुना ।
अभावो भवभासेन रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥ ४३ ॥
कर्ता भोक्ताऽथ संहर्ता स्मर्ता सर्वपदं गतः ॥ ४४ ॥

जो प्राणिरूपी रत्नावली गुणों से (सूत्रों से) अत्यन्त पूर्ण हो जाती है, अलङ्कार के लिए उसको अपने अवयव-रूप सत्य, त्रेता आदि युगों में रखकर फिर उन्हें नष्ट कर देता है ।।३९।।

यह चञ्चल काल बीच-बीच में दिनरूपी हंसों से गुंथी गई तारारूपी केसर से पूर्ण रात्रिरूपी नीलकमलों की माला को पाँच ऋतुरूपी अङ्गुलियों से युक्त वर्षरूपी हाथ के प्रकोष्ठ में कङ्कण के समान नित्य धारण करता है ।।४०।।

पर्वत, समुद्र, द्युलोक और पृथिवीरूप चार श्रृङ्गवाले जगत्रूपी भेड़ों का हिंसक यह काल नभोरूपी आँगन में बिखरे हुए तारारूपी रक्त के विन्दुओं को भी देखकर प्रतिदिन उन्हें चाटता है ।।४१।।

यह काल यौवनरूपी कमलिनी के लिए चन्द्रमारूपी और आयुरूपी गज के लिए सिंहस्वरूप है। इस संसार में अत्यन्त तुच्छ या महान् ऐसी कोई वस्तु नहीं है, यह काल जिसका नाश न करता हो ।।४२।।

जैसे जीव सुषुप्तिकाल में सब दुःखों का संहारकर अज्ञान मात्र के अवलम्ब से स्थिति करता है, प्राणियों को पीसकर मृत्यु के मुँह में गिराकर प्रलयरूपी क्रीडा के विलास से पदार्थों का अभाव स्वरूप यह काल अज्ञानाव-भासक अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्म चैतन्य का अवलम्बन कर आत्मभूत हो चिद्रूप से रमण करता है अर्थात् चिद्रूप में चिद्रूप से रमण करता है ।।४३।।

इस प्रकार प्रलयकाल में विश्राम-ग्रहण कर यह काल ही फिर सृष्टिकाल में संसार का कर्ता, भोक्ता, संहर्ता, स्मर्ता आदि सब पदार्थों के स्वरूप को प्राप्त

सकलमप्यकलाकलितान्तरं
सुभगदुर्भगरूपधरं वपुः ।
प्रकटयन् सहसैव च गोपयन्
विलसतीह हि कालबलं नृषु ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे कालापवादो नाम त्रयोविंशतितमः सर्गः ॥२३॥

करता है अर्थात् यह स्वयं ही कर्ता, भोक्ता, संहर्ता, सुभग, दुर्भग आदि स्वरूप धारण करता है ॥४४॥

बुद्धिकौशल से जिस काल के रहस्य को किसी से निश्चय नहीं किया जा सकता है, पुण्यफल के उपभोग के अनुकूल सुन्दर रूप और पापफल के भोग के अनुरूप कुरूप को धारण करने वाले सम्पूर्ण शरीरों की सहसा सृष्टि, रक्षा और संहार करता हुआ यह विराजमान् है ॥४५॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में कालापवाद नामक कुसुमलता का तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२३॥

२४

श्रीराम उवाच

अस्योड्डामरलीलस्य दूरास्तसकलापदः ।
संसारे राजपुत्रस्य कालस्याऽकलितौजसः ॥ १ ॥

अस्यैवाऽऽचरतो दीनैर्मूग्धैर्भूतमृगव्रजैः ।
आखेटकं जर्जरिते जगज्जङ्गलजालके ॥ २ ॥

एकदेशोल्लसच्चारुवडवानलपङ्कजा ।
क्रीडापुष्करिणी रम्या कल्पकालमहार्णवः ॥ ३ ॥

कटुतिक्ताम्लभूताद्यैः सदधिक्षीरसागरैः ।
तैरेव तैः पर्युषितैर्जगद्भिः कल्यवर्त्तनम् ॥ ४ ॥

चण्डी चतुरसंचारा सर्वमातृगणान्विता ।
संसारवनविन्यस्ता व्याघ्री भूतौघघातिनी ॥ ५ ॥

२४

श्रीराम ने कहा—

[इस सर्ग में उक्त काल के ही चरित्र का वर्णन किया जाता है]

यह काल राजकुमार के अनुरूप है संसार में इसकी लीलाएँ बड़ी विकट हैं। इसके समीप एक भी आपत्ति नहीं फटक सकती और इसका पराक्रम विचारशक्ति के बाहर है ॥१॥

इस जीर्ण-शीर्ण जगत्‌रूपी वनराजि में दीन-हीन और अज्ञानी प्राणीरूपी मृगों का शिकार कर रहे इस राजकुमाररूपी काल की प्रलयकालरूपी महासागर क्रीडा के लिए निर्मित रमणीय पुष्करिणी=क्रीड़ार्थ बनाई गई रमणीय बावड़ी है, जिसके एक भाग में कमानीय बड़वानलरूपी सुन्दर कमल लहलहा रहे हैं ॥२, ३॥

दधिसागर, क्षीरसागर सहित तथा कड़ुवे, तीते और खट्टे विविध भक्ष्य वस्तु पूर्ण सदा एक रूप से रहने वाले चिरकाल-स्थित विविध जगत् इस राजकुमाररूपी काल के प्रातःकाल का भोजन है ॥४॥

(शीघ्र) चलने में कुशल सब मातृगणों से समन्वित और बाघिन के समान प्राणियों का नाश करने वाली इस राजकुाररूपी काल की प्रिय पत्नी कालरात्रि संसार-रूपी बन में विहार करने के लिए नियुक्त है ॥५॥

पृथ्वी करतले पृथ्वी पानपात्री रसान्विता ।
कमलोत्पलकह्लारलोलजालकमालिता ॥ ६ ॥
विरावो विकटास्फोटो नृसिंहो भुजपञ्जरे ।
सटाविकटपीनांसः कृतः क्रीडाशकुन्तकः ॥ ७ ॥
अलाबुवीणामधुरः शरद्व्योमलसच्छविः ।
देवः किल महाकालो लीलाकोकिलबालकः ॥ ८ ॥
अजस्रस्फूर्जिताकारो वान्तदुःखशरावलिः ।
अभावनामकोदण्डः परिस्फुरति सर्वतः ॥ ९ ॥
अनुत्तमस्त्वधिकविलासपण्डितो
भ्रमच्चलन्परिविलसन् विदारयन् ।
जरज्जनितविलोलमर्कटः
परिस्फुरद्वपुरिह काल ईहते ॥ १० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे कालविलासो नाम चतुर्विंशतितमः सर्गः ॥२४॥

चञ्चल श्वेतकमल, नीलकमल और रक्तकमलों से परिवेष्टित मधुर जल से समन्वित पृथ्वी ही इसके हाथ में मधुर मद्य से पूर्ण विशाल पानपात्री को धारण कर पृथ्वी विराजमान है ॥६॥

गर्जन करने वाले भीषण ताल; ठोंकने वाले, गर्दन के बालों से जिसका कन्धा ढका हुआ है वे नृसिंहदेव=विष्णु के अवतार इसके भुजारूपी पिंजड़े में हिरण्यकशिपु आदि दानवों की हिंसारूपी क्रीड़ा के लिए बाज पक्षी बनाये गये हैं ॥७॥

ब्रह्माण्डों की माला को धारण करने के कारण तुम्बों से बनाई गई वीणा के समान सुन्दर रूप और ध्वनि से समन्वित और शरद् ऋतु के आकाश के समान स्वच्छ नीली कान्तिवाला संहार भैरव इसकी क्रीडा के लिए कोकिल के बच्चे के रूप में बनाया गया है ॥८॥

सदा टंकार शब्द करने वाला और लगातार दुःख-रूपी वाणों की उगलनेवाला उसका संहार नामका धनुष चारों ओर देदीप्यमान हो रहा है ॥९॥

विलास करने में अतुलनीय प्रवीण यह राजपुत्र रूपी काल स्वयं दौड़ता है और इसके लक्ष्यभूत प्राणी भी निरन्तर दौड़ते रहते हैं किन्तु, इसका निशाना नहीं चूकता । यह सबको ही दुःखरूपी बाणों से विदीर्ण करता रहता है । यह जीर्ण जगत् में बन्दर की भाँति चञ्चलवृत्ति वाले विषयलोलुप जनों को व्याकुल बनाता रहता है और स्वयं विराजमान रहकर मृगया का आनन्द लेता है ॥१०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में कालाविलास नामक कुसुमलता का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२४॥

२५

श्रीराम उवाच

अत्रैव दुर्विलासानां चूडामणिरिहाऽपरः ।
करोत्यत्तीति लोकेऽस्मिन् दैवं कालश्च कथ्यते ॥ १ ॥
क्रियामात्रादृते यस्य स्वपरिस्पन्दरूपिणः ।
नाऽन्यदालक्ष्यते रूपं न कर्म न समीहितम् ॥ २ ॥

२५

श्रीराम ने कहा :—

इस संसार में दुश्चरित्रों का शिरोमणि महाकाल से अन्य एक दूसरा काल है । वह इस लोक में प्राणियों की सृष्टि और संहार करता है, लोग उसे दैव और काल भी कहते हैं ॥१॥

सूचो कटाह न्याय से पहले दूसरे का वर्णन करते हैं—'क्रिया०' इत्यादि से ।

अपने क्षणात्मक गति रूप कालक्रिया का फल से अतिरिक्त कुछ भी अभिव्यक्त नहीं है, न कर्म, न रूप और न अभिलाषा ॥२॥

तेनेयमखिला भूतसन्ततिः परिपेलवा ।
तापेन हिममालेव नीता विधुरतां भृशम् ॥ ३ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जिगदाभोगि मण्डलम् ।
तत्तस्य नर्त्तनागारमिहाऽसावतिनृत्यति ॥ ४ ॥
तृतीयं च कृतान्तेति नाम बिभ्रत्सुदारुणम् ।
कापालिकवपुर्मत्तं दैवं जगति नृत्यति ॥ ५ ॥
नृत्यतो हि कृतान्यस्य नितान्तमिव रागिणः ।
नित्यं नियतिकान्तायां मुने ! परमकामिता ॥ ६ ॥
शेषः शशिकलाशुभ्रो गङ्गावाहश्च तौ त्रिधा ।
उपवीते अवीते च उभौ संसारवक्षसि ॥ ७ ॥

उसी क्रियात्मक काल के द्वारा अतिशय सुकुमार सम्पूर्ण प्राणिवर्ग उसी तरह विनष्ट हो रहा है जैसे प्रखर ताप से बर्फ सर्वथा विनष्ट हो जाता है। (अतः कर्म ही सभी अनर्थ अर्थात् प्राणियों के सांसारिक फल भोग का कारण है, मानव-क्रिया ही अनर्थफल की साधिका है ॥३॥

जो यह विशाल संसाररूपी मण्डल दिखाई दे रहा है, वह उसी काल की नृत्यशाला है, वह इसमें स्वच्छन्द हो कर नृत्य करता है ॥४॥

[उक्त दो कालों में से प्रथम केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है, अतः उस पर विश्वास को दृढ़ करने के लिए उसका विस्तार से वर्णन करते हैं—'**तृतीयम्**' इत्यादि से ।]

दैव=भाग्य यह पूर्वोक्त महाकाल की अपेक्षा तीसरा है। यह बड़ा उन्मादी है, कृतान्त=यमराज इस भयंकर नाम को धारण कर नरमुण्डधारी वेष-धारण कर संसार में नृत्य करता है ॥५॥

हे मुने ! अतिशय राग सम्पन्न सदा नियति=भाग्य रूपी कान्ता में आसक्त इस काल का बहुत अनुराग है। अर्थात् वह पूर्वजन्म के कर्मों के द्वारा अवश्य फलप्रद नियति अर्थात् अतिशय अनुराग है क्योंकि नियति के अनुकूल ही फल देता है ॥६॥

चन्द्रमा की कला के समान स्वच्छ शेषनाग और तीन धाराओं में विभक्त गङ्गाका प्रवाह ये दोनों उसके संसाररूपी वक्षस्थल में उपवीत और अवीत यज्ञोपवीत-रूप में विद्यमान हैं अर्थात् गङ्गा की एक धारा स्वर्ग में बहती है, दूसरी पृथ्वी में और तीसरी पाताल में। ये तीन धाराएँ काल के गले में उपवीत यज्ञसूत्र के सदृश

चन्द्रार्कमण्डले हेमकटकौ करमूलयोः ।
लीलासरसिजं हस्ते ब्रह्मन् ब्रह्माण्डकर्णिका ॥ ८ ॥
ताराबिन्दुचितं लोलपुष्करावर्त्तपल्लवम् ।
एकार्णवपयोधौतमेकमम्बरमम्बरम् ॥ ९ ॥
एवंरूपस्य तस्याऽग्रे नियतिर्नित्यकामिनी ।
अनस्तमितसंरम्भमारम्भैः परिनृत्यति ॥ १० ॥
तस्या नर्त्तनलीलाया जगन्मण्डलकोटरे ।
अरुद्धस्पन्दरूपाया आगमापायचञ्चुरे ॥ ११ ॥
चारु भूषणमङ्गेषु देवलोकान्तरावली ।
आपातालं नभो लम्बं कबरीमण्डलं बृहत् ॥ १२ ॥

प्रतीत होती हैं। बाएँ कन्धे में स्थित यज्ञोपवीत को उपवीत कहते हैं और दक्षिण स्कन्ध में स्थित यज्ञोपवीत को अवीत कहते हैं। शेषनाग उसका अवीतरूप में स्थित यज्ञसूत्र है ॥७॥

सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल उसके हाथ के मूल में स्थित अलङ्कार हैं और सुमेरु पर्वत उसके हाथ में स्थित लीलाकमल है ॥८॥

तारारूपी चित्र-विचित्र बिन्दुओं से व्याप्त और प्रलय के पुष्कर और आवर्त नाम के मेघ उसके चञ्चल छोर प्रलय काल के सागर में धोया गया असीम आकाश उसका एकमात्र वस्त्र है ॥९॥

इस प्रकार के कृतान्तरूप काल के सामने उसकी भार्या नियति आलस्यरहित होकर सदा प्राणियों के समुचित भोगानुरूप कार्यारम्भ कर नाचती रहती है ॥१०॥

नियति की क्रियाशक्ति कभी क्षीण नहीं होती और नृत्य करने के कारण उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सदा चञ्चल रहते हैं। उसका नाँच देखने वाले प्राणियों के आगमन (जन्म) और नाश से चञ्चल जगत्-मण्डलरूपी कोठरी में नाँच रही उस नियति के अङ्गों में देवलोक सहित अन्य लोकों की पङ्क्ति सुन्दर भूषण हैं और पातालपर्यन्त आकाश उसका लम्बमान बड़ा भारी केशों का जूड़ा है। प्राणियों के रोदन के कोलाहल से शब्दायमान और नरक की अग्नियों से देदीप्यमान नरकों की पङ्क्ति उसके पातालरूप चरण में स्थित मञ्जीरमाला पैर में पहनी जाने वाली पाजेब है और वह पापरूपी तागे से पिरोई गई है। आशय यह है कि प्रकृति रूपी नर्तकी भुवन में नृत्य करती हुई जीव को विभिन्न जन्मों में नृत्य करा रही

नरकाली च मञ्जीरमाला कलकलोज्ज्वला ।
प्रोता दुष्कृतसूत्रेण पातालचरणे स्थिता ॥ १३ ॥
कस्तूरिकातिलककं क्रियासख्योपकल्पितम् ।
चित्रितं चित्रगुप्तेन यमे वदनपट्टके ॥ १४ ॥
कालास्यं समुपादाय कल्पान्तेषु किलाऽऽकुला ।
नृत्यत्येषा पुनर्देवी स्फुटच्छैलघनारवम् ॥ १५ ॥
पश्चात्प्रालम्बविभ्रान्तकौमारमृतबर्हिभिः ।
नेत्रत्रयबृहद्रन्ध्रभूरिभाङ्कारभीषणैः ॥ १६ ॥
लम्बलोलजटाचन्द्रविकीर्णहरमूर्द्धभिः ।
उच्चरच्चारुमन्दारगौरीकबरचामरैः ॥ १७ ॥

है। गति और स्पन्दन से अतिरिक्त काल नहीं है। निरवच्छिन्न कर्म प्रवाह में विशिष्ट सीमा के निर्धारण के लिए काल की कल्पना मात्र है। अतः, क्रिया और काल एक ही है। क्रियाक्रम ही काल है। इस प्रकार कर्म की अवस्था काल-प्रवाह है। नियति और अदृष्ट के रूप में ही काल इस रूप में निर्दिष्ट है ॥११-१३॥

चित्रगुप्त प्राणियों के कर्मरूपी सौगन्ध्य को प्रकट करता है, अतः वह कस्तूरी स्वरूप है। कस्तूरी स्वरूप चित्रगुप्त ने क्रियारूपी सखी के द्वारा प्राणियों के यमरूप कपाल में सुन्दर तिलक बनाया है। आशय यह है कि यम नियति का मुख है और चित्रगुप्त चित्रित करने वाला है। क्रियारूपी सखी की सहायता से कस्तूरी तिलक का निर्माण किया जा रहा है, अर्थात् नियतिरूपी कस्तूरी वासना संक्रम के रूप में प्रवाहित है। प्राणियों के कर्म की वासना को व्यक्त करने से यम ने ललाट पर नियति को चित्रित किया है। यहाँ पर काल के ललाट और पैर—इन आदि और अन्त अङ्गों की भूषणकल्पना का ही वर्णन किया गया है, इसी से उसके शरीर के अन्य अवयवों के भूषण की कल्पना का भी यथायोग्य स्वयं अनुमान कर लेना चाहिये ॥१४॥

प्रलय काल में काल की प्रियपत्नी यह नियतिदेवी अपने पति काल के इङ्गितपूर्ण मुख के अभिप्राय को जानकर बड़ी चञ्चलता के साथ फिर नाचना आरम्भ कर देती है। इसके नाचने में पर्वतों के टूटने का घोर शब्द होता है॥१५॥

वह नियति देवी महाप्रलयों में नाचने के समय पृष्ठ भाग में गले से सीधे लटक रही माला में चञ्चल कार्तिकेय के वाहनरूप मृत मयूरों से शोभित होती है। लम्बमान चञ्चल जटाओं में चन्द्रमा से लाञ्छित महादेवजी के

उत्ताण्डवाचलाकारभैरवोदरतुम्बकैः ।
रणत्सप्तशतरन्ध्रेन्द्रदेहभिक्षाकपालकैः ॥ १८ ॥
शुष्कशारीरखट्वाङ्गभरैरापूरिताम्बरम् ।
भीषयत्यात्मनाऽऽत्मानं सर्वसंहारकारिणी ॥ १९ ॥
विश्वरूपशिरश्चक्रचारुपुष्करमालया ।
ताण्डवेषु विवलगन्त्या महाकल्पेषु राजते ॥ २० ॥
प्रमत्तपुष्करावर्त्तडमरोड्डामरारवैः ।
तस्याः किल पलायन्ते कल्पान्ते तुम्बुरादयः ॥ २१ ॥
नृत्यतोऽन्तः कृतान्तस्य चन्द्रमण्डलभासिनः ।
तारकाचन्द्रिकाचारुव्योमपिच्छावचूलिनः ॥ २२ ॥

मुण्डों से, जो तीन नेत्रों के बड़े-बड़े छिद्रों से निकल रहे विपुल भाँय-भाँय शब्द से भयङ्कर प्रतीत होते हैं, विकसित मन्दार के पुष्पों से शोभित श्रीपार्वतीजी के केशरूपी चँवरों से, ताण्डव के समय पर्वताकार हुए संहारभैरव के उदररूपी तुम्बों से और एक हजार सात छेदों से अन्य देहियों के शरीर में नौ छिद्र प्रसिद्ध हैं, परन्तु इन्द्र सहस्राक्ष (हजार नेत्रवाले) हैं, उनके शरीर में एक हजार छिद्र तो नेत्रों के हैं तथा सात छिद्र और हैं, इस प्रकार नौ छिद्र वाले प्रसिद्ध अन्य शरीरों से एक हजार छिद्र वाला इन्द्र का शरीर विलक्षण है।) युक्त इन्द्र की देहरूपी भिक्षापात्रों से जो नाचने के समय खनखन शब्द करते हैं, बड़ी शोभित होती है। सबका संहार करने वाली यह नियति देवी सूखे हुए नर-कङ्कालरूपी खाट की पाटियों से आकाश-मण्डल को पूर्णकर अपने को आप ही भयभीत करती है। नाचने के समय हिल रही जीवों के भाँति-भाँति के मस्तकरूपी सुन्दर कमलों की माला से इसकी शोभा की सीमा नहीं रहती।

प्रलय के समय नियतिदेवी के उद्धत प्रलयकाल के मेघरूपी डमरु के भीषण शब्दों से तुम्बुरु आदि गन्धर्व भागते हैं (छः श्लोकों से नृत्य के प्रकार का निरूपण किया गया है, अतः एक साथ इसका अनुवाद दिया गया है) ॥१६-२१॥

[नियति देवी के नृत्य और नृत्य की सामग्री का वर्णन कर उसके पति के भी नृत्य का वर्णन करते हुए उसके भूषणों को कहते हैं—'नृत्यतः' इत्यादि से।]

नियति के पति काल का वर्णन इन पद्यों से किया जा रहा है :—

नृत्यशाला के अन्दर नियति देवी का पति कृतान्त नृत्य करता है। कुण्डलभूत चन्द्र-मण्डल से वह अति शोभित

एकस्मिञ्छ्रवणे दीप्ता हिमवानस्थिमुद्रिका ।
अपरे च महामेरुः कान्ता काञ्चनकर्णिका ॥ २३ ॥
अत्रैव कुण्डले लोले चन्द्रार्कौ गण्डमण्डले ।
लोकालोकाचलश्रेणी सर्वतः कटिमेखला ॥ २४ ॥
इतश्चेतश्च गच्छन्ती विद्युद्वलयकर्णिका ।
अनिलान्दोलिता भाति नीरदांशुकपट्टिका ॥ २५ ॥
मुसलैः पट्टिशैः प्रासैः शूलैस्तोमरमुद्गरैः ।
तीक्ष्णैः क्षीणजगद्ग्रान्तकृतान्तैरिव संभृतैः ॥ २६ ॥
संसारबन्धनादीर्घे पाशे कालकरच्युते ।
शेषभोगमहासूत्रप्रोते मालाऽस्य शोभते ॥ २७ ॥
जीवोल्लसन्मकरिका रत्नतेजोभिरुज्ज्वला ।
सप्ताब्धिकङ्कणश्रेणी भुजयोरस्य भूषणम् ॥ २८ ॥
व्यवहारमहावर्त्ता सुखदुःखपरम्परा ।
रजःपूर्णतमःश्यामा रोमाली तस्य राजते ॥ २९ ॥
एवंप्रायः स कल्पान्ते कृतान्तस्ताण्डवोद्भवाम् ।
उपसंहृत्य नृत्येहां सृष्ट्वा सह महेश्वरैः ॥ ३० ॥
पुनर्लास्यमयीं नृत्यलीलां सर्गस्वरूपिणीम् ।
तनोतीमां जराशोकदुःखाभिभवभूषिताम् ॥ ३१ ॥
भूयः करोति भुवनानि वनान्तराणि
लोकान्तराणि जनजालककल्पनां च ।
अचारचारुकलनामचलां चलां च
पङ्काद्यथाऽर्भकजनो रचनामखिन्नः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे कृतान्तविलसितं नाम पञ्चविंशतितमः सर्गः ॥ २५ ॥

है और उसके केश तारे और चाँदनी से मनोहर आकाशरूपी मोरपंख से अलंकृत हैं। उसके दाहिने कान में हिमालयरूपी हड्डी का बना अँगूठी के आकार का चमकदार कुण्डल है और बाँए कान में महान् सुमेरु पर्वत ही सोने का सुन्दर कुण्डल है। उसके चन्द्रमा और सूर्य ही उक्त दोनों ही कानों में गालों की शोभा को बढ़ाने वाले चञ्चल कुण्डल हैं। लोकालोकाचल पर्वत की श्रेणी उसकी कमर के चारों ओर लगी हुई है। बिजली उसके हाथ का गोलाकार कङ्कण है और वह नृत्य के समय कभी इधर कभी उधर सरकता है। मेघ ही उसके रङ्ग-बिरङ्ग के वस्त्रों के टुकड़ों से बनी हुई कन्था है और वह वायु से सदा हिलती-डुलती हुई शोभित होती है। इसके गले में मुसल, पट्टिश, प्रास, शूल, तोमर और मुद्गरों से बनी हुई माला शोभा पा रही है, वे मूसल आदि ऐसे तीक्ष्ण हैं कि मानों पूर्व-पूर्व की जितनी सृष्टियाँ नष्ट हुई थीं, उनसे निकले हुए मृत्यु ही इकट्ठे हो गये हों। यह माला शेषनाग के शरीररूपी महान् रस्सी से बँधे हुए राजपुत्ररूप काल के हाथ से गिरे हुए और जन्म-मरणशील जीवरूप मृगों के बन्धन के लिए बिछाए गये जाल में गुँथी हुई यह माला शेषनागरूपी महान् शरीर रस्सी से बनाई गई है ॥२२-२७॥

रत्नों की कान्ति से यह देदीप्यमान, चेतन मछलियों से विराजमान सात समुद्रों की पंक्ति ही इसकी भुजाओं के कङ्कण हैं ॥२८॥

शास्त्रीय और स्वाभाविक व्यवहाररूप भ्रमि से युक्त रजोगुण पूर्ण तमोगुण से काली सुख-दुःख परम्परा उसकी रोमावली के रूप में विराजमान हैं ॥२९॥

इस प्रकार का वह कृतान्त प्रलयकाल में ताण्डव को उत्पन्न करने वाली नाचने की इच्छा का परित्याग कर देता है, अर्थात् उक्त नृत्य-चेष्टा से विरत होकर चिरकाल तक विश्राम करता है। तदनन्तर ब्रह्मा आदि के साथ प्रकृति की फिर सृष्टि कर पुनः नृत्यलीला का विस्तार करता है। उसकी उक्त नृत्यलीला अङ्ग-प्रत्यङ्ग के अभिनय से पूर्ण है और वृद्धता, शोक, दुःख और तिरस्कार उसके आभूषण हैं ॥३०-३१॥

जैसे बालक गीली मिट्टी को लेकर अनेक प्रकार के खिलौने का निर्माण करता है और थोड़ी देर में उन्हें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है, वैसे ही क्रियात्मक काल भी आलस्य रहित होकर चौदह भुवन, विविध देश, वन और असंख्य तथा विविध जीव और उनके सुन्दर श्रौतस्मार्तादिरूप आचार-विचारों की सृष्टि कर फिर उन्हें नष्ट कर देता है उक्त आचार-विचार सत्य और त्रेता मे निश्चल रहते हैं तथा कलि और द्वापर में अस्थिर रहते हैं ॥३२॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में कृतान्तविलास नामक कुसुमलता का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२५॥

श्रीराम उवाच

वृत्तेऽस्मिन्नेवमेतेषां कालादीनां महामुने ! ।
संसारनाम्नि कैवाऽऽस्था मादृशानां वदत्विह ॥ १ ॥
विक्रीता इव तिष्ठाम एतैर्दैवादिभिर्वयम् ।
मुने ! प्रपञ्चरचनैर्मुग्धा वनमृगा इव ॥ २ ॥
एषोऽनार्यसमाम्नायः कालः कवलनोन्मुखः ।
जगत्यविरतं लोकं पातयत्यापदर्णवे ॥ ३ ॥
दहत्यन्तर्दुराशाभिर्दैवो दारुणचेष्टया ।
लोकमुष्णप्रकाशाभिर्ज्वालाभिर्दहनो यथा ॥ ४ ॥
धृतिं विधुरयत्येषा मर्यादारूपवल्लभा ।
स्त्रीत्वात् स्वभावचपला नियतिर्नियतोन्मुखी ॥ ५ ॥
ग्रसतेऽविरतं भूतजालं सर्प इवाऽनिलम् ।
कृतान्तः कर्कशाचारो जरां नीत्वाऽजरं वपुः ॥ ६ ॥
यमो निर्घृणराजेन्द्रो नाऽऽर्तं नामाऽनुकम्पते ।
सर्वभूतदयोदारो जनो दुर्लभतां गतः ॥ ७ ॥
सर्वा एव मुने ! फल्गुविभवा भूतजातयः ।
दुःखायैव दुरन्ताय दारुणा भोगभूमयः ॥ ८ ॥
आयुरत्यन्तचपलं मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः ।
तारुण्यं चाऽतितरलं बाल्यं जडतया हृतम् ॥ ९ ॥
कलाकलङ्कितो लोको बन्धवो भवबन्धनम् ।
भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥ १० ॥

२६

[अनेक दोषों का वर्णन कर कालाधीन संसार की अनेक दुर्दशाओं का वर्णन]

श्रीराम ने कहा— महामुने ! इस संसार में पूर्वोक्त काल आदि का इस प्रकार का चरित्र है, ऐसी स्थिति में आप ही कहें कि इस संसार में कैसे विश्वास हो सकता है ॥ १ ॥

हे मुने ! यह बड़े दुःख का विषय है कि शब्द आदि विषयों के विस्तार में दक्ष इन दैव प्रभृति (पूर्वजन्म के कर्म आदि) चारों से प्रपञ्च-रचनाओं द्वारा मोहित हुए हम लोग बिके हुए पुरुषों के समान एवं वनमृगों के समान स्थित हैं । आशय यह है कि क्रीतदास अपनी इच्छा से कोई भी काम नहीं कर सकता और व्याधों द्वारा मधुर ध्वनि से विमोहित मृग कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकते वैसे ही भाग्य=नियति आदि द्वारा मोहित हम लोगों की भी अवस्था है ॥२॥

यह काल सदा अपना पेट भरने में ही लगा है और इसका चरित्र बड़ा निन्दित है, वह भोगतृष्णा और जीवित तृष्णा जिनकी पूर्ण नहीं हुई है, उन्हें आपत्तियों से परिपूर्ण संसारसागर में गिरता है ॥ ३ ॥

जैसे अग्नि उष्ण और प्रकाशपूर्ण ज्वालाओं से दाह्य पदार्थों को जला देती है, वैसे ही यह संसारकारी काल भी दुराशाओं से (हृदय को) जलाता है और दुष्ट चारित्र्य से (बाहर) भी जलाता है ॥ ४ ॥

कालमर्यादा रूप कृतान्त की भार्या इन्द्रियों की विषयों में उन्मुख (प्रवृत्ति) कराने वाली यह नियति, स्त्री होने के कारण स्वभावतः चञ्चल, समाधि में तत्पर लोगों के धैर्य की यह महाशत्रु है, अर्थात् धैर्य्य को नष्ट कर देती है ॥ ५ ॥

यह क्रूर आचरण करने वाला कृतान्त शरीर को बुढ़ापे में पहुँचाकर जैसे साँप वायु को निगलता है वैसे ही प्राणियों सदा निगलता रहता है, निर्दयों में श्रेष्ठ यह यम रूपी राजा दीन प्राणियों पर भी दया नहीं करता है, सभी प्राणियों पर दया करने वाला उदार पुरुष तो संसार में दुर्लभ ही है ॥६, ७॥

हे मुने ! संसार में जितने भी प्राणी हैं, उनमें किसी का भी ऐश्वर्य पूर्ण नहीं है, सभी तुच्छ ऐश्वर्य वाले हैं । जितने भी विषय हैं, वे सभी भयङ्कर हैं । उनसे अनन्त दुःख की ही प्राप्ति होती है ॥८॥

आयु अत्यन्त चञ्चल है और उसकी ताक में बैठा हुआ मृत्यु अत्यन्त निष्ठुर है । यौवन भी अतिशय चञ्चल है, उसके जाने में समय नहीं लगता और बाल्यावस्था मोह में ही बीत जाती है ॥९॥

सभी संसारी पुरुष विषयों के चिन्तन से ही मलिन चित्त हैं, बन्धु-बान्धव संसार रूप बन्ध के लिए रस्सी हैं । सभी भोग संसाररूपी महारोग हैं, आशय यह है कि अपथ्य सेवन से रोग नष्ट नहीं होता, अपितु भोगों के सेवन से संसाररूपी महारोग बना रहता है, अतएव उन्हें महारोग की मूर्ति ही समझना चाहिये । सुख आदि की तृष्णाएँ मृगतृष्णिका के समान हैं ॥१०॥

शात्रवञ्चेन्द्रियाण्येव सत्यं यातमसत्यताम् ।
प्रहरत्यात्मनैवाऽऽत्मा मनसैव मनो रिपुः ॥ ११ ॥
अहङ्कारः कलङ्काय बुद्धयः परिपेलवाः ।
क्रिया दुष्फलदायिन्यो लीला स्त्रीनिष्ठतां गताः ॥ १२ ॥
वाञ्छाविषयशालिन्यः सच्चमत्कृतयः क्षताः ।
नार्यो दोषपताकिन्यो रसा नीरसतां गताः ॥ १३ ॥
वस्त्ववस्तुतया ज्ञातं दत्तं चित्तमहङ्कृतौ ।
अभाववेधिता भावा भावान्तो नाऽधिगम्यते ॥ १४ ॥
तप्यते केवलं साधो मतिराकुलितान्तरा ।
रागरोगो विलसति विरागो नोपगच्छति ॥ १५ ॥
रजोगुणहता दृष्टिस्तमः संपरिवर्द्धते ।
न चाऽधिगम्यते सत्त्वं सत्त्वमत्यन्तदूरतः ॥ १६ ॥

इन्द्रिय ही अपने शत्रु हैं, सत्य, ज्ञान आदि अज्ञान-वश असत्य स्वरूप (देहादिता) हो गया है। बन्धन का हेतु होने से मन आत्मा का शत्रु है एवं मन में 'अहम्' यह अभिमान होने से मनोभूत आत्मा, आत्मा को आत्म-भूत मन से हो दुःखी करता है ॥११॥

अहङ्कार=अभिमान प्रधान अन्तःकरण आत्मा के कलङ्क का कारण है, बुद्धियाँ=निश्चयात्मक वृत्तियाँ बड़ी कोमल हैं, आत्मनिष्ठा की दृढ़ता से रहित हैं, क्रिया शारीरिक प्रवृत्तियाँ क्लेशकारिणी हैं। लीलाएँ=मानसिक चेष्टाएँ स्त्री पर ही केन्द्रित हो गई हैं, अर्थात् उनका विषय केवल स्त्रियाँ ही हो गई हैं। वासनाओं के विषय ही लक्ष्य हो गये हैं अर्थात् विषयों की ओर ही वासनाएँ दौड़ती हैं ॥१२॥

आत्मस्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं, स्त्रियाँ दोषों की पताका के सदृश हो गई हैं और सम्पूर्ण विषय नीरस हो गये हैं ॥१३॥

सत् पदार्थ ब्रह्म कार्यकारण-सङ्घात रूप से अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि रूप से जाना जाता है, (संसारी लोग देह, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा समझते हैं) चित्त अहङ्कार में प्रविष्ट किया गया है (लोगों का चित्त अहङ्कार से परिपूर्ण है) जितने पदार्थ हैं वे विनाशी हैं। उक्त अनित्य पदार्थ जिसमें लीन होता हैं, आत्मा को कोई नहीं जानता है ॥१४॥

हे साधो ! बुद्धि ने सभी के अन्तःकरण को व्याकुल कर रक्खा है, किसी का अन्तःकरण सुखी नहीं है, केवल दुःख ही दुःख व्याप्त है, राग रूपी रोग प्रति दिन बढ़ रहा है, वैराग्य का कहीं ठिकाना नहीं है ॥१५॥

स्थितिरस्थिरतां याता मृतिरागमनोन्मुखी ।
धृतिर्वैधुर्यमायाता रतिर्नित्यमवस्तुनि ॥ १७ ॥
मतिर्मान्द्येन मलिना पातैकपरमं वपुः ।
ज्वलतीव जरा देहे प्रतिस्फुरति दुष्कृतम् ॥ १८ ॥
यत्नेन याति युवता दूरे सज्जनसंगतिः ।
गतिर्न विद्यते काचित्क्वचिन्नोदेति सत्यता ॥ १९ ॥
मनो विमुह्यतीवाऽन्तर्मुदिता दूरतां गता ।
नोज्ज्वला करुणोदेति दूरादायाति नीचता ॥ २० ॥
धीरताऽधीरतामेति पातोत्पातपरो जनः ।
सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सत्समागमः ॥ २१ ॥
आगमापायिनो भावा भावना भवबन्धनी ।
नीयते केवलं क्वाऽपि नित्यं भूतपरम्परा ॥ २२ ॥

आत्मदर्शनशक्ति रजोगुण से नष्ट हो गई है और तमोगुण बढ़ रहा है, सत्त्वगुण का कहीं पता नहीं है एवं तत्त्वपदार्थ अत्यन्त दूर है। जीवन अत्यन्त अस्थिर है, मृत्यु आने के लिए तत्पर ही है, धैर्य का सर्वथा विनाश हो गया है और लोगों का तुच्छ विषयों में अनुराग नित्य बढ़ता जा रहा है ॥१६,१७॥

मति मूर्खता से मलिन हो गई है, शरीर का अन्तिम परिणाम एकमात्र नाश ही है, अर्थात् उसको अवश्य नष्ट होना है, शरीर में बुढ़ापा मानो व्यक्त हो रहा है और पाप खूब स्फुरित हो रहा है ॥१८॥

युवावस्था प्रति-दिन प्रयत्नपूर्वक भाग रही है, सत्सं-गति का कहीं पता नहीं है, दुःख से छुटकारा प्राप्त हो, जाय, ऐसी कोई गति नहीं है और सत्यता का उदय तो किसी भी व्यक्ति में दिखाई नहीं देता है ॥१९॥

अन्तःकरण मोहजाल से अत्यन्त आच्छन्न-सा हो गया है, दूसरे को सुखी देखकर होने वाले सन्तोष का पता ही नहीं है, उज्ज्वल करुणा का उदय कहीं नहीं होता और दूर से नीचता चली आ रही है ॥२०॥

धीरता अधीरता में परिणत हो गई है, सम्पूर्ण जीवों का जन्म और मरण या ऊर्ध्वगमन और अधोराम ही एक मात्र काम है, दुर्जनों का सङ्ग पद-पद पर अति सुलभ है, सज्जन की सङ्गति सर्वथा दुर्लभ है। सभी पदार्थ उत्पन्न विनाशशील हैं और वासना पदार्थों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती है। वासना संसार में बन्धन करने वाली है। काल नित्य प्राणियों के झुण्ड को न मालूम कहाँ ले जाता है। दिशाएँ भी जिन्हें काल से हरे जाने का भय नहीं है। नहीं दिखाई देतीं, नष्ट हो जाती हैं,

दिशोऽपि हि न दृश्यन्ते देशोऽप्यन्यापदेशभाक् ।
शैला अपि विशीर्यन्ते कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २३ ॥
अद्यते सत्तयाऽपि द्यौर्भुवनं चाऽपि भुज्यते ।
धराऽपि याति वैधुर्यं कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २४ ॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च शीर्यन्ते तारका अपि ।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २५ ॥
दानवा अपि दीर्यन्ते ध्रुवाऽप्यध्रुवजीविताः ।
अमरा अपि मार्यन्ते कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २६ ॥
शक्रोऽप्याक्रम्यते वक्त्रैर्यमोऽपि हि नियम्यते ।
वायुरप्येत्यवायुत्वं कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २७ ॥
सोमोऽपि व्योमतां याति मार्तण्डोऽप्येति खण्डताम् ।
भग्नतामग्निरप्येति कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २८ ॥

देश भी अदेश अर्थात् नष्ट हो जाता है और पर्वत भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे सदृश जन्तु की स्थिरता में क्या विश्वास है ? ॥२१–२३॥

सन्मात्रस्वभाव वाला ईश्वर आकाश को भी खा जाता है, चौदहों भुवनों को नष्ट कर देता है और पृथ्वी भी उसी से नष्ट हो जाती है, फिर मेरे ऐसे जीव की स्थिरता में क्या विश्वास है ? ॥२४॥

समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूट पड़ते हैं और सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे ऐसे जन की स्थिरता में क्या विश्वास है ? ॥२५॥

बड़े-बड़े पराक्रमी दैत्यों को भी ईश्वर नष्ट कर देता है, ध्रुव के जीवन का भी कोई निश्चय नहीं है और अमर भी=देवता भी मारे जाते हैं, फिर मेरे ऐसे जीव की स्थिरता में क्या विश्वास हो सकता है ? ॥२६॥

वह इन्द्र पर भी अपने मुंह से आक्रमण करता है, यम को भी अपने कार्य से विरत कर देता है अर्थात् नियमित कर देता है और उसी से वायु का भी अभाव हो जाता है, फिर मेरे ऐसे प्राणी में स्थिरता की क्या आशा ? ॥२७॥

चन्द्रमा भी शून्यता को=अभाव को प्राप्त हो जाता है, सूर्य की भी अखण्डता समाप्त हो जाती है चन्द्रमा आकाश स्वरूप हो जाता है अर्थात् खण्ड हो जाते हैं और अग्नि भी भग्न हो जाती है अर्थात् शान्त हो जाती है, फिर मेरे ऐसे प्राणी की स्थिरता की क्या आशा है ? ॥२८॥

ब्रह्मा की भी अवधि है अर्थात् ब्रह्मा की भी समाप्ति का अवसर नियत है, अजन्मा विष्णु का भी संहार होता

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् ह्रियते हरिरप्यजः ।
भवोऽप्यभावमायाति कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ २९ ॥
कालः संकाल्यते येन नियतिश्चाऽपि नीयते ।
खमप्यालीयतेऽनन्तं कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ ३० ॥
अश्राव्यावाच्यदुर्दर्शतत्त्वेनाऽज्ञातमूर्तिना ।
भुवनानि विडम्ब्यते केनचिद् भ्रमदायिना ॥ ३१ ॥
अहङ्कारकलामेत्य सर्वत्राऽन्तरवासिना ।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु यस्तेनेह न बाध्यते ॥ ३२ ॥
शिलाशैलकवप्रेषु साश्वभूतो दिवाकरः ।
वनपाषाणवन्नित्यमवशः परिचोद्यते ॥ ३३ ॥
धरागोलकमन्तस्थसुरासुरगणास्पदम् ।
वेष्ट्यते धिष्ण्यचक्रेण पक्वाक्षोटमिव त्वचा ॥ ३४ ॥

है और शिवजी भी नहीं रहते, फिर मेरे ऐसे मनुष्य की स्थिरता की क्या आशा है ? ॥२९॥

काल का भी जो विनाश करता है, नियति को भी नष्ट कर डालता है, और अनन्त आकाश को नष्ट कर देता है, वह भला मुझे कहां छोड़ेगा, इसलिए मेरे ऐसे जीवों की स्थिरता का कभी-भी विश्वास नहीं हो सकता ॥३०॥

जिसे कानों से नहीं सुना जा सकता, वाणी से जिसे नहीं कहा जा सकता और नेत्रों से जिसे नहीं देखा जा सकता ऐसे अज्ञात स्वरूप एवं भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले किसी सूक्ष्म तत्त्व से चौदहों भुवन अपनी अधिष्ठान माया द्वारा दिखलाये जा रहे हैं ॥३१॥

अहङ्कार की कला को प्राप्त कर सबके मध्य में निवास करने वाला वह तत्त्व तीनों लोकों में स्थित प्राणियों में से ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे वह नष्ट नहीं करता है ॥३२॥

जिस प्रकार पर्वत शिखर से वेगपूर्वक दहता हुआ जल गोल पत्थरों को नीचे की ओर ले जाता है, वैसे ही अवश ('य आदित्ये तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति से अपने में अधिष्ठित ईश्वर से प्रेरित होने वाला एवं चट्टान, पहाड़ आदि दुर्गम स्थानों में किरण रूपी घोड़े के पैरों से चलते हुए से सूर्य में रथ की कल्पना की गई है।) रथभूत सूर्य को ईश्वर चट्टान, पर्वत और परिखाओं में हांकता है ॥३३॥

जैसे पका हुआ अखरोट का फल कठिन छिलके से घिरा रहता है, वैसे ही वह मध्य में स्थित देवता, असुर आदि का निवास पृथ्वी रूप गेंद को देवताओं के

दिवि देवा भुवि नराः पातालेषु च भोगिनः ।
कल्पिताः कल्पमात्रेण नीयन्ते जर्जरां दशाम् ॥ ३५ ॥
कामश्च जगदीशानरणलब्धपराक्रमः ।
अक्रमेणैव विक्रान्तो लोकमाक्रम्य वल्गति ॥ ३६ ॥
वसन्तो मत्तमातङ्गो मदैः कुसुमवर्षणैः ।
आमोदितककुप्चक्रश्चेतो नयति चापलम् ॥ ३७ ॥
अनुरक्ताङ्गनालोललोचनालोकिताकृति ।
स्वस्थीकर्तुं मनः शक्तो न विवेको महानपि ॥ ३८ ॥
परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया ।
बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया धिया ॥ ३९ ॥
उत्पन्नध्वंसिनः कालवडवानलपातिनः ।
संख्यातुं केन शक्यन्ते कल्लोला जीविताम्बुधौ ॥ ४० ॥
सर्व एव नरा मोहाद्दुराशापाशपाशिनः ।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले ॥ ४१ ॥
संक्षीयते जगति जन्मपरम्परासु
लोकस्य तैरिह कुकर्मभिरायुरेतत् ।
आकाशपादपलताकृतपाशकल्पं
येषां फलं नहि विचारविदोऽपि विद्मः ॥ ४२ ॥
अद्योत्सवोऽयमृतुरेष तथेह यात्रा
ते बन्धवः सुखमिदं सविशेषभोगम् ।
इत्थं मुधैव कलयन्सुविकल्पजाल-
मालोलपेलवमतिर्गलतीह लोकः ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे दैवदुर्विलासवर्णनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥२६॥

निवास भूत ज्योतिश्चक्र से चारों ओर से व्याप्त किये हुए है ॥३४॥

स्वर्ग में देवता, भूलोक में मनुष्य में और पाताल में सर्पों की उसी ने कल्पना की है, वह अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें जीर्ण-शीर्ण कर देता है। आशय यह है कि जैसे जगत् का अत्यन्त पराधीन होना बहुत दड़ा दोष है, वैसे ही अन्याधीन जगत् में आस्था करना मूर्खता ही है ॥३५॥

जगत् के अधिपति के साथ हुए रण में विजयी भयङ्कर कामदेव अपने अनुचित रूप से जगत् को अपने वश में कर अपना प्रभाव दिखा रहा है ॥३६॥

जैसे मत्त गजराज मद से चारों ओर दिशाओं को सुगन्धित करता है, वैसे ही वसन्त ऋतु पुष्पवृष्टि द्वारा चारों ओर दिशाओं को सुगन्धित कर चित्त को चञ्चल कर देती है ॥३७॥

अनुराग युक्त महिलाओं के चञ्चल लोचनों के कटाक्ष-विक्षेप के लक्ष्य बने हुए मन को महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर सकता ॥३८॥

दूसरों का उपकार करने वाली, दूसरों के दुःख से अति सन्तप्त और अपनी आत्मा को शान्ति देने वाली शीतल बुद्धि से युक्त ज्ञानी पुरुष ही सुखी है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ॥३९॥

उत्पन्न होकर नष्ट होने वाले कालरूपी बाड़वाग्नि के मुँह में गिरने वाले जीवन रूपी सागर के तरङ्ग के समान पदार्थों को कौन गिन सकता है ? जैसे सागर में उत्पन्न होकर वाड़वाग्नि के मुंह में गिरकर नष्ट होने वाले अनेक कल्लोलों को कोई गिन नहीं सकता वैसे ही संसार में उत्पन्न होकर काल के मुंह में गिरने वाले असंख्य जीवों को गिनने की किसमें शक्ति है ॥४०॥

दोषरूपी झाड़ियों में स्थित मृग या पक्षियों के समान सभी मनुष्य अज्ञान से दुराशा रूपी जाल में बँध कर जन्मरूपी जङ्गल में विनष्ट हो जाते हैं (जैसे झाड़ियों में बैठे हुए मृग या पक्षी जिह्वालौल्य के कारण अज्ञान से जाल में फँस कर नष्ट हो जाते है, वैसे ही दोष पूर्ण मनुष्य अज्ञान से दुराशाबद्ध होकर जन्मरूपी जङ्गल में नष्ट हो जाते हैं) ॥४१॥

इस संसार में, लोगों की आयु अनेक जन्मों की परम्परा से प्राप्त दोषों से होने वाले कुकर्मों से अर्थात् काम्य और निषिद्ध कर्मों से नष्ट हो जाती है। वह आकाश में वृक्ष हो और उस वृक्ष में लता भी हो, उस लता से गले में फाँसी देकर मनुष्य लटका दिया जाय, उसके समान अन्त में पतन कराने वाला ही उनका फल होता है। उसकी निवृत्ति के लिए उपाय करना तो दूर रहा, परन्तु उसका विचार करने वाले लोग भी हमें नहीं दिखलाई देते ॥४२॥

इस संसार में चञ्चल और कोमल बुद्धि से युक्त लोग-आज उत्सव है, यह सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिए, ये हमारे बान्धव हैं, विशिष्ट भोगों से युक्त यह सुख है, इस प्रकार वृथा ही अनेक सङ्कल्प-विकल्प कर नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में दैवदुर्विलास नामक कुसुमलता का छब्बीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२६॥

श्रीराम उवाच

अन्यच्च ताताऽतितरामरम्ये
मनोरमे चेह जगत्स्वरूपे ।
न किंचिदायाति तदर्थजातं
येनाऽतिविश्रान्तिमुपैति चेतः ॥ १ ॥

बाल्ये गते कल्पितकेलिलोले
मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे ।
शरीरके जर्जरतां प्रयाते
विद्रूयते केवलमेव लोकः ॥ २ ॥

जरातुषाराभिहतां शरीर-
सरोजिनीं दूरतरे विमुच्य ।
क्षणाद्गते जीवितचञ्चरीके
जनस्य संसारसरोऽवशुष्कम् ॥ ३ ॥

यदा यदा पाकमुपैति नूनं
तदा तदेयं रतिमातनोति ।
जराभराऽनल्पनवप्रसूना
विजर्जरा कायलता नराणाम् ॥ ४ ॥

तृष्णानदी सारतरप्रवाह-
ग्रस्ताखिलानन्तपदार्थजाता ।
तटस्थसन्तोषसुवृक्षमूल-
निकाषदक्षा वरतीह लोके ॥ ५ ॥

शारीरनौश्चर्मनिबन्धबद्धा
भवाम्बुधावालुलिता भ्रमन्ती ।
प्रलोडचते पञ्चभिरिन्द्रियाख्यै-
रधो भवन्ती मकरैरधीरा ॥ ६ ॥

२७

[मुक्ति के विरोधी पदार्थों के प्रति वैराग्य के बाधक दोषों का वर्णन]

श्री राम ने कहा—और भी सुनें, वस्तुतः अत्यन्त अरमणीय पदार्थ भी विचार के बिना आपाततः रमणीय मालूम पड़ता है, इस जगत् में जिस पदार्थ की प्राप्ति होने से चित्त में शान्ति=पूर्णकामता प्राप्त हो ऐसा कोई भी पदार्थ मेरी समझ में नहीं आता ॥ १ ॥

विचार कर देखिए, बाल्यावस्था विविध प्रकार से कल्पित क्रीड़ाकौतुक में ही बीत जाती है, उसमें चित्त की स्थिरता का लेश भी नहीं रहता। युवावस्था चित्त-रूपी मृग स्त्रीरूपी गुफाओं में ही जीर्ण हो जाता है, उसमें भी चित्त में शान्ति नहीं रहती। वृद्धावस्था के प्राप्त होने पर शरीर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, उस समय भी शान्ति नहीं रहती, इस प्रकार पुरुषार्थ साधन शून्य अतएव व्यर्थ आयु के यापन से मनुष्यों को केवल दुःख ही दुःख प्राप्त होता है, सुख-शान्ति का लेश भी नहीं है ॥ २ ॥

वृद्धावस्थारूपी हिम वर्षा से नष्ट हुई शरीर रूपी कमलिनी का परित्याग कर जब प्राण रूपी भ्रमर अतिशय दूर चला जाता है, तब मनुष्य का यह संसार रूपी सरोवर सूख जाता है ॥ ३ ॥

वृद्धावस्था के आक्रान्त, जिसमें अनेक वार्द्धक्य से पलितादि नये-नये फूल खिले हैं और अत्यन्त जीर्ण मनुष्यों की शरीर रूपी लता जब अत्यन्त पाक परिणत दशा को प्राप्त कर लेती है, तब यह मृत्यु को अतिशय आनन्द देती है, अर्थात् जरा-जीर्ण शरीर को देखकर मृत्यु को बड़ा आनन्द होता है, ॥ ४ ॥

अपने प्रबल वेग से संसार के सभी अनन्त पदार्थों को निगलने वाली तृष्णा रूपी नदी सदा बहती रहती है, वह सन्तोष रूपी तट के वृक्षों की जड़ों को खोदने में अतिशय कुशल है। आशय यह है कि संसार के अनन्त पदार्थों को सदा निगलते रहनेपर भी उसे सन्तोष नहीं होता है ॥ ५ ॥

चर्म से आच्छादित यह शरीर रूपी नौका संसाररूपी समुद्र में सुख-दुःख रूपी तरङ्गों से व्याकुल हलकी होने के कारण स्वयं भी इधर-उधर घूम रही है और इसीलिए नीचे डूबने के लिए तैयार है, पाँच इन्द्रियरूपी मगर भी इसके डूबने में सहायक हो रहे हैं, क्योंकि इसमें बैठे हुए जीव वैराग्य युक्त और धैर्यशाली नहीं हैं ॥ ६ ॥

तृष्णालताकाननचारिणोऽमी
शाखाशतं काममहीरुहेषु ।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं
मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति ॥ ७ ॥
कृच्छ्रेषु दूरास्तविषादमोहाः
स्वास्थ्येषु नोत्सिक्तमनोभिरामाः ।
सुदुर्लभाः सम्प्रति सुन्दरीभि-
रनाहतान्तःकरणा महान्तः ॥ ८ ॥
तरन्ति मातङ्गघटातरङ्गं
रणाम्बुधिं ये मयि ते न शूराः ।
शूरास्त एवे मनस्तरङ्गं
देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति ॥ ९ ॥
अक्लिष्टपर्यन्तफलाभिरामा
न दृश्यते कस्यचिदेव काचित् ।

तृष्णारूपी लताओं से परिव्याप्त वन में घूमने वाले ये मन रूपी बन्दर कामरूपी वृक्षों की सैकड़ों शाखाओं में घूमकर व्यर्थ ही आयु क्षीण करते हैं, उन्हें कुछ भी फल प्राप्त नहीं होते हैं। (काम विशाल वृक्ष के समान है, वह तृष्णा रूपी लताओं से आच्छन्न भी है, उसकी असंख्य शाखा-प्रशाखाएँ हैं। मन रूपी बन्दर फल की इच्छा से उनमें निरन्तर घूम रहे हैं, फिर भी उन्हें अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है)॥ ७ ॥

आपत्तियों में जिनको दुःख और मोह प्राप्त नहीं होता है, सम्पत्तियों में भी जिनके मन में अहङ्कार नहीं आता है और स्त्रियों द्वारा जिनका अन्तःकरण दूषित नहीं होता है ऐसे महान् पुरुष इस समय अति दुर्लभ हैं ॥ ८ ॥

गजघटारूपी तरङ्गों से पूर्ण सङ्ग्रामसागर को जो तैरते हैं वे मुझे शूर प्रतीत नहीं होते हैं, मैं उन्हीं को शूरवीर समझता हूँ, जो मनरूपी तरङ्गों से पूर्ण इस वर्तमान देह और इन्द्रियरूपी सागर को (विवेक, वैराग्य आदि और) भावी देह इन्द्रियरूप सागर को (मूलाज्ञान के उच्छेद द्वारा भली-भाँति) तैर जाते है ।।९ ॥

किसी की कोई भी क्रिया संसार के आत्यन्तिक विनाश रूप फल को देने वाली प्रतीत नहीं होती है। क्रियारूपी दुराशा पिशाची द्वारा जिसकी चित्त वृत्ति नष्ट हो गई है, ऐसा पुरुष जिस क्रिया का अवलम्बन कर विश्रान्ति को प्राप्त हो ऐसी कोई क्रिया दिखाई

क्रियादुराशाहतचित्तवृत्ति-
र्यमित्यविश्रान्तिमुपैति लोकः ॥ १० ॥
कीर्त्या जगद्दिक्कुहरं प्रतापैः
श्रिया गृहं सत्त्वबलेन लक्ष्मीम् ।
ये पूरयन्त्यक्षतधैर्यबन्धा
न ते जगत्यां सुलभा महान्तः ॥ ११ ॥
अप्यन्तरस्थं गिरिशैलभित्ते-
र्वज्रालयाभ्यन्तरसंस्थितं वा ।
सर्वं समायान्ति ससिद्धिवेगाः
सर्वाः श्रियः संततमापदश्च ॥ १२ ॥
पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्ध्या
प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथाऽन्ते
यत्राऽतिरम्या विषमूर्छनैव ॥ १३ ॥

नहीं देती। ('तद् यथेह कर्मचितो लोकः' अर्थात् जैसे इस लोक में कृषि आदि कर्म से प्राप्त उपार्जित धान नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही परलोक में पुण्य से उपार्जित स्वर्ग आदि लोक भी क्षीण हो जाते हैं, ऐसी श्रुति है। अतएव कर्म से जो फल उत्पन्न होता है, उसका अवश्य विनाश हो जाता है, ऐसा नियम लोक में देखा भी जाता है) ।।१०।।

जो महापुरुष कीर्ति से संसार को, प्रतापों से दिशाओं को, सम्पत्ति से याचकों के घरों को और क्षमा, विनय, उदारता आदि सात्त्विक बल से अर्थात् क्षमा विनय उदारता धैर्य आदि से लक्ष्मी को पूर्ण करते हैं, कभी क्षीण न होने वाले धैर्य से परिपूर्ण ऐसे महापुरुष पृथिवी में सुलभ नहीं हैं ।।११।।

पहाड़ की शिलामय चट्टान के भीतर स्थित एवं वज्र से बने हुए घर के भीतर बैठे हुए भी भाग्यशाली पुरुष के पास सम्पूर्ण अणिमा आदि सिद्धियाँ और सम्पत्तियाँ बड़े वेग के साथ आ जाती हैं, वैसे ही आपत्तियाँ आती हैं। जैसे बुरे दिनों में आपत्तियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं, वैसे ही भले दिनों में सम्पत्तियाँ और सिद्धियाँ भी अपने आप वेगपूर्वक आ जाती हैं ।।१२।।

भ्रम के कारण पुत्र, स्त्रियाँ, धन आदि सभी रसायन के समान सुख साधन समझे जाते हैं, मृत्युकाल आने पर वे पुत्र आदि अतिरमणीय भोग-जनक विषय कुछ नहीं करते, विष की मूर्च्छा के समान अत्यन्त दुःखदायी ही होते हैं ।।१३।।

विषादयुक्तो विषमामवस्था-
मुपागतः कायवयोवसाने ।
भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जन्तुर्जरावानिहः दह्यतेऽन्तः ॥ १४ ॥

कामार्थधर्माक्रिकृतान्तराभिः
क्रियाभिरादौ दिवसानि नीत्वा ।
चेतश्चलद्बर्हिणपिच्छलोलं
विश्रान्तिमागच्छतु केन पुंसः ॥ १५ ॥

पुरोगतैरप्यनवाप्तरूपै-
स्तरङ्गिणीतुङ्गतरङ्गकल्पैः ।
क्रियाफलैर्दैववशादुपेतै-
र्विडम्ब्यते भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥ १६ ॥

इमान्यमूनीति विभावितानि
कार्याण्यपर्यन्तमनोरमाणि ।
जनस्य जायाजनरञ्जनेन
जवाज्जरान्तं जरयन्ति चेतः ॥ १७ ॥

पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां
समेत्य जन्माऽऽशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः
समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥ १८ ॥

इतस्ततो दूरतरं विहृत्य
प्रविश्य गेहं दिवसावसाने ।
विवेकिलोकाश्रयसाधुकर्म-
रिक्तेऽह्नि रात्रौ क उपैति निद्राम् ॥ १९ ॥

विद्राविते शत्रुजने समस्ते
समागतायामभितश्च लक्ष्म्याम् ।
सेव्यन्त एतानि सुखानि यावत्
तावत्समायाति कुतोऽपि मृत्युः ॥ २० ॥

शरीर की बाल्य आदि अवस्थाओं के अवसान में अर्थात् वृद्धावस्था में दुःखमय विषमावस्था को प्राप्त कर दुःखी जीर्ण पुरुष इस लोक में अपने पुण्य सञ्चय के प्राप्त होने पर अतीत कर्मों का स्मरण कर दुःसह अन्तर्दाह से जलते हैं ॥१४॥

धनार्जन और भोग तृष्णा की प्रबलता से मोक्षमार्ग का परित्याग कर केवल काम और अर्थ की चिन्ता से मानव का आदि जीवन युक्त रहता है और वह उसी के अनुरूप कार्यों से समय को व्यतीत करता है। वृद्धावस्था आने पर मयूर के चञ्चल परों के समान कम्पमान पुरुष का चित्त किस कर्म से शान्ति को प्राप्त कर सकता है। (चित्त की शान्ति के साधनभूत कर्म तो उसने कभी किये ही नहीं, फिर उसका चित्त शान्त कैसे होगा ?) ॥१५॥

(अनात्मा में प्रेम करने वाले लोग) भाग्यवश प्राप्त हुए, सामने स्थित नदी की ऊँची तरङ्गों के समान शीघ्र नष्ट हो जाने वाले अतएव अप्राप्त के समान क्रियाफल स्वर्ग आदि के द्वारा वञ्चित विभिन्न अभिलाषा वाले प्राणी ठगे जाते हैं। (सच्चा लाभ वही है जो प्राप्त होकर नष्ट नहीं होता और जिससे अनर्थ नहीं होता, दूसरा लाभ तो केवल वञ्चना मात्र ही है, जैसे कि अल्पायु पुत्र की प्राप्ति और मछली को वंशी में लगे हुए खाद्य की प्राप्ति। उक्त लाभ से किसी प्रकार का आश्वासन नहीं हो सकता) ॥१६॥

ये कार्य यहीं और अभी कर्तव्य हैं और ये अन्य प्रदेश और अन्य काल में करने योग हैं, इस प्रकार जिन कार्यों की सदा चिन्ता बनी रहती है और अन्त में जिनका फल अनर्थ ही होता है। उन कार्यों का प्रयोजन स्त्रियों तथा अन्य लोगों की प्रसन्नता का उत्पादन = मनोरञ्जन ही है, पर वे देह के वृद्ध होने तक लोगों के चित्त को जबरदस्ती विवेक से भ्रष्ट कर देते हैं ॥१७॥

जैसे वृक्षों के जीर्ण पत्ते जन्म लेकर शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं, वैसे ही आत्म-विवेक से रहित लोग इस लोक में जन्म लेकर थोड़े ही दिनों में कहीं चले जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं ॥१८॥

मूढ़ व्यक्ति के सिवा कौन ज्ञानी व्यक्ति विवेकी पुरुषों की सेवा और सत्कर्म से रहित दिन में इधर-उधर दूर तक घूम-फिर कर और सायङ्काल के समय घर में आकर रात्रि में सुख की नींद सोवेगा ? आशय है कि दिन के विवेकियों की सेवा से रहित और सत्कर्मों से शून्य होने पर ज्ञानी को तो रात्रि में नींद ही नहीं आ सकती, पर अज्ञानी ही दिन के विवेकी जनों की सेवा और सत्कर्मों के आचरण शून्य होकर भी इधर-उधर घूम-फिरकर सायङ्काल में अपने घर में आ कर खूब सुख की नींद सोता है ॥१९॥

सम्पूर्ण शत्रुओं के छिन्न-भिन्न होने पर और चारों ओर से धन-सम्पत्ति की वृष्टि होने पर जब पुरुष इन सांसारिक भोगों को भोगने लगता है कहाँ से आकर मृत्यु सामने खड़ी हो जाती है ॥२०॥

कुतोऽपि संवर्द्धिततुच्छरूपै-
र्भावैरमीभिः क्षणनष्टदृष्टैः ।
विलोडयमाना जनता जगत्यां
न वेत्त्युपाया[1]तमहो नु पातम् ॥ २१ ॥
प्रियासुभिः कालमुखं क्रियन्ते
जनैडकास्ते हतकर्मबद्धाः ।
यैः पीनतामेव बलादुपेत्य
शरीरबाधेन न ते भवन्ति ॥ २२ ॥
अजस्रमागच्छति सत्वरैव-
मनारतं गच्छति सत्वरैव ।
कुतोऽपि लोला जनता जगत्यां
तरङ्गमाला क्षणभङ्गुरेव ॥ २३ ॥

इस संसार में सभी लोगों को किसी एक अनिर्देश्य अद्भुत कारण से अभिवृद्धि को प्राप्त अत्यन्त तुच्छ और क्षणभर में जन्म लेकर विनाशशील इन विषयों ने मोहित कर रक्खा है; वे समीप में आई हुई मृत्यु को भी नहीं जानते, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। यदि मूल में 'पातम्' के स्थान में 'यातम्' पाठ हो, तो आये हुए और बीते हुए दिन को नहीं जानते, ऐसा अर्थ करना चाहिए ॥२१॥

विषयों पर आसक्ति से देह के लालन-पालन आदि द्वारा हृष्ट-पुष्ट शरीर होना ही जो उचित समझते हैं (विवेक, वैराग्य आदि का अभ्यास नहीं किया,) उन नर-पशुओं को सब प्राणियोंके परम प्रिय यजमानरूप प्राण उन्हीं नररूपपशुओं को (बकरों को) निन्दित कर्मरूपी यज्ञ-स्तम्भों में बाँध कर दोषरूपी कर्म से आबद्ध कर बलि-वेदी पर चढ़ा कर काल के मुख में कर देते हैं। (रोगरूपी ऋत्विजों द्वारा हनन, अङ्गछेदन आदि से शरीर का नाश होने के कारण वे असत्प्राय हो जाते हैं। भगवती श्रुति ने भी कहा है—'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' अर्थात् जो असत् देह आदि को ब्रह्म समझता है वह असत् ही हो जाता है। श्लोक में 'जनैडकाः' पद है अर्थात् जनरूपी एडक (भेड)। किसी यज्ञ में भेड़ों का बलिदान प्रसिद्ध है अथवा एडक शब्द की बकरे में लक्षणा कर नररूपी बकरा अर्थ कर लेना चाहिए) तात्पर्य प्रकाश व्याख्या में इसका अर्थ विभिन्न रूप में प्रदर्शित है :—

जैसे यजमान यज्ञकार्य की सिद्धि के लिए यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए बकरे आदि का संस्कार करता है, तदुपरान्त ऋत्विक् उसका यथाविधि हनन और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का छेदन करते हैं, वैसे ही परम प्रिय प्राण भी विषय-भोग और देहपोषण आदि द्वारा अति परिपुष्ट लोगों को निन्दित कर्मों में फँसाकर दोष से लाञ्छित कर देते हैं। तदुपरान्त रोग उन पर आक्रमण कर उनका नाम-निशान मिटा देते हैं।

प्रिय प्राण, पोषण करने वाले जिन नर-पशुओं से स्वयं पुष्ट हुए, उन्हीं नरपशुओं को बलात्कार से निन्दित कर्मरूपी जालमें फँसाकर काल के (मृत्यु के) सम्मुख कर देते हैं अर्थात् काल को उपहार देते हैं अतएव कृतघ्न प्राण शरीर के विनाशक होने के कारण प्रिय नहीं हैं, किन्तु अप्रिय (शत्रु) ही हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य को केवल प्राणों के पोषण में ही तत्पर नहीं रहना चाहिए।

यद्यपि मूढ़ जन प्राणों के पोषण में सदा तत्पर रहते हैं यथापि वे प्रिय प्राण (प्राणों के प्रति प्रेम करने वाले) नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे तो उलटे मृत्यु मुँह में डालने वाले उपायों के आचरण द्वारा प्राणों के नाशक ही हैं। वास्तव में तत्त्वज्ञ पुरुष ही प्राणों पर प्रेम करने वाले हैं, क्योंकि वे तत्त्व दृष्टि से प्राणों में नित्य आत्मभाव प्राप्त कर उनके रक्षक हैं। अतएव वे प्रिय प्राण गर्हित कर्मों में फँसे हुए मूढ़ जनरूपी पशुओं का आदर नहीं करते। उत्तरार्द्ध से मूढ़ जनों की अपेक्षा तत्त्वज्ञ पुरुषों में अतिशय दिखलाते हैं—जो तत्त्वज्ञान से स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के बाध से अपरिच्छिन्नता को प्राप्त हुए हैं, उनकी मूढ़ जनों की नाईं देह में आत्म-बुद्धि नहीं हो सकती। मूढ़ जनों की अपेक्षा तत्त्वज्ञों में यही विशेष है ॥

इस संसार में यह चञ्चल मानव क्षण में नष्ट होने वाली तरङ्गों की पङ्क्तियों के समान न मालूम कहाँ से सदा बड़ी शीघ्रता के साथ आती है और जैसे आती है वैसे ही शीघ्रता के साथ न मालूम सदा कहाँ चली जाती है। (जहाँ चली जाती है, उस स्थान को हम जानना चाहते हैं।) ॥२३॥

१. उपापात इति पाठान्तरम् ।

प्राणापहारैकपरा नाराणां
मनो मनोहारितया हरन्ति ।
रक्तच्छदाश्चञ्चलषट्पदाक्ष्यो
विषद्रुमालोलतलाः स्त्रियश्च ॥ २४ ॥

इतोऽन्यतश्चोपगता मुधैव
समानसङ्केतनिबद्धभावा ।
यात्रासमासङ्गसमा नाराणां
कलत्रमित्रव्यवहारमाया ॥ २५ ॥

प्रदीपशान्तिष्विव भुक्तभूरि-
दशास्वतिस्नेहनिबन्धनीषु ।
संसारमालासु चलाचलासु
न ज्ञायते तत्त्वमतात्त्विकीषु ॥ २६ ॥

जैसे चञ्चल भ्रमररूपी नयनों से युक्त चञ्चल भ्रमरों से सेवित लाल पल्लवों से आच्छन्न विषवृक्ष पर चढ़ी हुई विषलताएँ देखने में अति सुन्दर होने के कारण पहले मन को हर लेती हैं बाद में प्राण का नाश कर देती हैं, वैसे ही मनुष्यों के प्राणहरण में तत्पर भ्रमर के समान चञ्चल नयन वाली और बिम्बोष्ठी नारियाँ मनोहर होने के कारण पहले चित्त को चुरा लेती हैं फिर प्राणों को हर लेती हैं ॥२४॥

जैसे तीर्थयात्रा या महोत्सव में बहुत से आदमियों का सम्मेलन होता है, वैसे ही मनुष्य-लोक से या स्वर्ग आदि लोकों से व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थान पर हम लोगों की भेंट होगी इस प्रकार परस्पर सङ्केत और अभिप्राय से इकट्ठे हुए लोगों में परस्पर स्त्री, पुत्र, मित्र आदि व्यवहार होता है । यह व्यवहार माया नहीं है तो और क्या है ? ॥२५॥

जन्म-मरण की परम्पराएँ दीपकों के बुझने के समान है । जैसे प्रदीप रात्रिभर प्रचुर तेल और बहुत-सी बत्तियों का भक्षण कर अन्त में बुझ जाता है, वहाँ पर फिर उसका अस्तित्व प्रतीत नहीं होता है (प्रचुर तेल और बत्तियों का भक्षण करने वाले अतिचञ्चल मिथ्याभूत क्षणिक दीपशिखा के निर्वाण-प्रवाह में पारमार्थिक वस्तु प्रतीत नहीं होती; वैसे ही बाल्य आदि सैकड़ों अवस्थाओं का भोग करने वाले अत्यन्त स्नेह से=राग से परिपूर्ण अत्यन्त चञ्चल क्षण-विध्वंसी मिथ्याभूत संसार में कोई भी वस्तु पारमार्थिक नहीं है ॥२६॥

यह संसार कुम्हार के चाक के समान है । जैसे कुलाल के चाक के शीघ्रता से घूमने पर भी असावधान आदमी को यह नहीं घूम रहा है, स्थिर है, ऐसा भ्रम होता है, वैसे ही यह संसार प्रवृत्तिरूप कुचक्र भी लोगों को भ्रम में डालता है । वास्तव में यह वर्षा-ऋतु के जल के बुद्बुदों के समान क्षणभङ्गुर होते हुए भी असावधान लोगों की बुद्धि में अपनी चिरस्थायिता की प्रतीति करा देता है ॥२७॥

संसारसंरम्भकुचक्रियेयं
प्रावृट्पयोबुद्बुदभङ्गुराऽपि ।
असावधानस्य जनस्य बुद्धौ
चिरस्थिरप्रत्ययमातनोति ॥ २७ ॥

शोभोज्ज्वला दैववशाद्विनष्टा
गुणाः स्थिताः सम्प्रति जर्जरत्वे ।
आश्वासनाद्दूरतरं प्रयाता
जनस्य हेमन्त इवाऽम्बुजस्य ॥ २८ ॥

पुनः पुनर्दैववशादुपेत्य
स्वदेहभारेण कृतोपकारः ।
विलूयते तत्र तरुः कुठारै-
राश्वासने तत्र हि कः प्रसङ्गः ॥ २९ ॥

जैसे शरद् ऋतु में कमल के सौन्दर्य, सौगन्ध्य आदि गुण शोभा से देदीप्यमान रहते हैं, किन्तु हेमन्त ऋतु में वे सब नष्ट हो जाते हैं, फिर उनसे न चित्त को शान्ति मिलती है और न घ्राणेन्द्रिय को तृप्ति ही मिलती है, वैसे ही यौवनावस्था में मनुष्य के जो सौकुमार्य और सौन्दर्य आदि गुणराशि शोभा से उज्ज्वल रहते हैं, वे वृद्धावस्था में भाग्यवश विनष्ट होकर दुर्लभ हो जाते हैं इसलिए उनमें विश्वास करना उचित नहीं है ॥२८॥

इस संसार में वृक्ष पृथिवी, जल, वायु आदि तत्त्वों के द्वारा किये गये उपकारों से जन्म, वृद्धि और फल-फूल आदि से समृद्धि होकर अपने देह-धारण से छाया, पत्तियाँ फूल, फल आदि से पुनः लोगों का उपकार करते हैं, किसी का भी अपराध नहीं करते, किन्तु वह कुल्हाड़ियों से काटे जाते हैं । ऐसे कृतघ्न संसार में पद-पद में जिससे अपराध हो सकते हैं और जिससे किसी का उपकार भी नहीं हो सकता, ऐसे मनुष्य के विषय में क्या विश्वास किया जा सकता है ? आशय यह कि यदि वह अपकार न भी करे, तो भी मृत्यु उसका नाश कर डालेगी । मृत्यु के घर में उपकारी और अपकारी के प्रति कोई भेदभाव नहीं है ॥२९॥

मनोरमस्याऽप्यतिदोषवृत्ते-
रन्तर्विघाताय समुत्थितस्व ।
विषद्रुमस्येव जनस्य सङ्गा-
दासाद्यते सम्प्रति मूर्च्छनैव ॥ ३० ॥
कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः
कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः ।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वं
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ॥ ३१ ॥
कल्पाभिधानक्षणजीविनो हि
कल्पौघसंख्याकलने विरिञ्च्याः ।
अतः कलाशालिनि कालजाले
लघुत्वदीर्घत्वधियोऽप्यसत्याः ॥ ३२ ॥

आत्मीय जनों का संसर्ग विषवृक्ष के संसर्ग के समान है । विषवृक्ष देखने में बड़ा सुन्दर लगता है और आत्मीय जन भी आपाततः विचार के बिना सुन्दर प्रतीत होते हैं । जिस पुरुष का विषवृक्ष से सम्बन्ध होता है, उसको दाह और मूर्च्छा आदि होती है और आत्मीय जन का संसर्ग भी स्नेह और भोग आदि उत्पन्न करते हैं । विषवृक्ष जीवन नाश का कारण है और आत्मीय जन भी जीवन के समान प्रिय आत्मज्ञान के विनाश का साधन हैं । जैसे विषवृक्ष के संसर्ग से मूर्च्छा होती है, वैसे ही आत्मीय जन के संसर्ग से मूढ़ता प्राप्त होती है । (इसका यही एक बड़ा भारी दोष है) ॥३०॥

संसार की दृष्टियों में ऐसी कौन दृष्टियाँ है, जिनमें दोष का सम्बन्ध नहीं है । दिशाओं में कौन ऐसी दिशाएँ हैं, जिनमें दुःख-दाह नहीं होता ? कौन ऐसी प्रजाएँ हैं, जिनका नाश नहीं होता है ? कौन ऐसी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल नहीं होता है ? (सभी दृष्टियाँ दोष युक्त हैं) सभी दिशाएँ दुःखदाह से पूर्ण हैं और सभी लोग विनाशी हैं और सम्पूर्ण लौकिक कार्यों में छल-कपट रहता है ॥३१॥

विगत और आने वाले अनन्त कल्पों की संख्या का परिज्ञान नहीं होता, अतएव जैसे क्षण अनन्त हैं, वैसे ही कल्प भी अनन्त हैं, इसलिए विष्णु, रुद्र आदि की दृष्टि से कल्प भी क्षण ही हैं । अतएव ब्रह्मलोकवासी जन भी कल्प नामक क्षण भर जीने वाले हैं । अवयव युक्त काल-समूह में लघुत्व और दीर्घत्व बुद्धि एवं चिरजीवन और अचिर जीवन बुद्धि भी, द्रष्टा की कल्पना के अधीन होने से, असत्य है । तुल्यन्याय से ब्रह्माण्ड भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को देखने वालों की दृष्टि में अणुरूप ही है, इसलिए अणुत्व और महत्व बुद्धि भी सापेक्ष होने से असत्य ही है ॥३२॥

सर्वत्र पाषाणमया महीध्रा
मृदा मही दारुभिरेव वृक्षाः ।
मांसैर्जनाः पौरुषबद्धभावा
नाऽपूर्वमस्तीह विकारहीनम् ॥ ३३ ॥
आलोक्यते चेतनयाऽनुविद्धा
पयोनुबद्धोऽस्तनयो नभः स्थाः ।
पृथग्विभागेन पदार्थलक्ष्म्या
एतज्जगन्नेतरदस्ति किञ्चित् ॥ ३४ ॥
चमत्कृतिश्चेह मनस्विलोक-
चेतश्चमत्कारकरी नराणाम् ।
स्वप्नेऽपि साधो विषयं कदाचित्
केषाञ्चिदभ्येति न चित्ररूपा ॥ ३५ ॥

पर्वत वस्तुतः पाषाण ही हैं, पृथिवी मिट्टी ही है, वृक्ष काष्ठ ही हैं और मनुष्य मांस आदि ही हैं (पर्वत पत्थर से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, पृथिवी मिट्टी से अतिरिक्त नहीं है, वृक्षों में काष्ठ से भिन्न कुछ नहीं है) पौरुष से आबद्ध स्वभाव मनुष्य भी हाड़, मांस आदि के ही पुतले हैं (उनसे पृथक् उनमें कुछ नहीं है) । इस भोग्य-वर्ग में विकार से भिन्न कुछ भी नहीं है । विकार होने से ये विषय आदि सब मिथ्या हैं, इसलिए इन पर विश्वास नहीं ही करना चाहिए । व्यवहार की दृष्टि से ही ये नाम और रूप से विभिन्न प्रतीत हो रहे हैं ॥३३॥

जल, वह्नि, वायु, आकाश और पृथिवी ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर गो, घट आदि नाना पदार्थों के रूप में अविवेकी पुरुषों द्वारा उनकी बुद्धि से प्रतीत होते हैं, विवेकदृष्टि से पृथक्-पृथक् विभाग से पर्यालोचन करने पर तो पञ्चभूत से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है । अविवेकी पुरुष ही मोहवश पञ्चमहाभूत विकार जगत् को सत्य समझता है, पर जो विवेकी हैं, उनको तो इस जगत् में पञ्चमहाभूत समुदाय से अतिरिक्त कोई वास्तविक पदार्थ प्रतीत नहीं होता है ॥३४॥

हे साधो ! इस मिथ्या रूप जगत् में व्यवहार कुशल विद्वान् लोगों के मन में भी भोग चमत्कार को उत्पन्न करने वाली जो व्यवहार चमत्कृति प्रतीत होती है, वह कोई आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि स्वप्न में मिथ्याभूत

अद्याऽपि यातेऽपि च कल्पनाया
आकाशवल्लीफलवन्महत्त्वे ।
उदेति नो लोभलवाहताना-
मुदारवृत्तान्तमयी कथैव ॥ ३६ ॥

आदातुमिच्छन् पदमुत्तमानां
स्वचेतसैवाऽपहतोऽद्य लोकः ।
पतत्यशङ्कं पशुरद्रिकूटा-
दानीलवल्लीफलवाञ्छयैव ॥ ३७ ॥

अवान्तरन्यस्तनिरर्थकांश-
च्छायालतापत्रफलप्रसूनाः ।
शरीर एव क्षतसम्पदश्च
श्वभ्रद्रुमा अद्यतना नराश्च ॥ ३८ ॥

क्वचिज्जना मार्दवसुन्दरेषु
क्वचित्कठोरेषु च सञ्चरन्ति ।
देशान्तरालेषु निरन्तरेषु
वनान्तखण्डेष्विव कृष्णसाराः ॥ ३९ ॥

धातुर्नवानि दिवसं प्रति भीषणानि
रम्याणि वा विलुलितान्ततमाकुलानि ।
कार्याणि कष्टफलपाकहतोदयानि
विस्मापयन्ति न शवस्य मनांसि केषाम् ॥ ४० ॥

जनः कामासक्तो विविधकुकलाचेष्टनपरः
स तु स्वप्नेऽप्यस्मिन् जगति सुलभो नाऽद्य सुजनः ।
क्रिया दुःखासङ्गाविधुरविधुरा नूनमखिला
न जाने नेतव्या कथमिव दशा जीवितमयी ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे निःश्रेयसविरोधिभावानित्यताप्रतिपादनं नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ॥२७॥

विषयों को भी देखकर उस प्रकार की चमत्कृति लोगों को होती है ॥३५॥

इस युवावस्था में और आने वाली वृद्धावस्था में आकाशलता के फल के समन मिथ्यारूप भोग शक्ति की कल्पना जब अविचार के कारण बढ़ जाती है तब भोग और उनके साधनों में आसक्त पुरुषों में परमात्मा के स्वरूप का निरूपण करने वाली कथा का प्रसङ्ग ही नहीं होता, सदा उसका विचार करना तो दूर रहा ॥३६॥

जैसे पशु हरी-हरी लतारूप फल की प्राप्ति की इच्छा से ही पर्वत-शिखर से गिर पड़ता है वैसे ही उत्कृष्ट भोगशाली पुरुषों का पद प्राप्त करने की इच्छा करने वाला पुरुष राग, लोभ आदि से मूढ़ अर्थात् प्रचुर राग और लोभ से अभिभूत अपने चित्त से आहत होकर पूर्वावस्था में ही पतन रूप गर्त में गिर जाता है ॥३७॥

आज के मनुष्य गड्ढे के वृक्षों के समान हैं, जैसे गड्ढे के वृक्ष के छाया, लता, पत्ते, फल, फूल आदि गड्ढे में ही रह जाते हैं, प्राणी उनका भोग नहीं कर सकते, वैसे ही मनुष्य भी अपने शरीर के पोषण के लिए ही अपनी विद्या, विनय, धन, सम्पत्ति आदि को व्यर्थ नष्ट कर देते हैं उनसे किसी दूसरे का उपकार नहीं होता है ॥३८॥

जैसे कृष्णसार मृग गहन जङ्गलों में इधर-उधर भ्रमण करते रहते है, वैसे ही मनुष्य भी (कहीं पर दया, उदारता, क्षमा, सौन्दर्य, विद्या, विनय आदि से युक्त) सज्जन पुरुषों के समाज में और कभी (क्रोध, लोभ, निष्ठुरता आदि से परिपूर्ण) पापासक्त दुराचारियों की सन्निधि में विहार करते हैं ॥३९॥

यह दैव अचेतन होने के कारण मृतक के समान है । यदि यह जीवित होता, तो ऐसा निर्दय न होता । दैव इस संसार में प्रतिदिन फल से भयंकर कष्ट देने वाले विचार के बिना भले प्रतीत होने वाले, राग आदि से अत्यन्त व्याकुल चित्त वाले लोगों से पूर्ण एवं अन्त में कष्ट रूपी फल देने के कारण जिनका उदय दूषित है, ऐसे नूतन कार्य करता है । उसके ये कार्य किस विवेक-शील पुरुषों के मन को आश्चर्यचकित नहीं करते हैं ॥४०॥

आजकल स्वप्न के समान मिथ्याभूत इस संसार में विविध प्रकार के छल-कपटों से व्यवहार करने वाले, विषयासक्त मनुष्य सर्वत्र सुलभ हैं, पर विवेकशील पुरुष सर्वथा दुर्लभ हैं और सम्पूर्ण कर्म अत्यन्त दुःखों से रहित साधनों अथवा फलों से शून्य हैं, ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसके साधन अथवा फल अत्यन्त दुःख से शून्य हों, सभी क्रियाएँ दुःखमय ही हैं । समझ में नहीं आता है कि हम लोगों की जीवन-दशा कैसे बीतेगी ? ॥४१॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में निःश्रेयसविराधिभावानित्यताप्रतिपादन नामक कुसुमलता का सत्ताइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२७॥

श्रीराम उवाच

यच्चेदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मन् ! स्वप्नसङ्गमसंनिभम् ॥ १ ॥
शुष्कसागरसङ्काशो निखातो योऽद्य दृश्यते ।
स प्रातरभ्रसंवीतो नगः सम्पद्यते मुने ! ॥ २ ॥
यो वनव्यूहविस्तीर्णो विलीढगगनो महान् ।
दिनैरेव स यात्युर्वीसमतां कूपतां च वा ॥ ३ ॥
यदङ्गमद्य संवीतं कौशेयस्रग्विलेपनैः ।
दिगम्बरं तदेव श्वो दूरे विशारिताऽवटे ॥ ४ ॥
यत्राऽद्य नगरं दृष्टं विचित्राचारचञ्चलम् ।
तत्रैवोदेति दिवसैः संशून्यारण्यधर्मता ॥ ५ ॥
यः पुमानद्य तेजस्वी मण्डलान्यधितिष्ठति ।
स भस्मकूटतां राजन् ! दिवसैरधिगच्छति ॥ ६ ॥
अरण्यानी महाभीमा या नभोमण्डलोपमा ।
पताकाच्छादिताकाशा सैव सम्पद्यते पुरी ॥ ७ ॥
या लतावलिता भीमा भात्यद्य विपिनावली ।
दिवसैरेव सा याति पुनर्मरुमहीपदम् ॥ ८ ॥
सलिलं स्थलतां याति स्थलीभवति वारिभूः ।
विपर्यस्यति सर्वं हि सकाष्ठाम्बुतृणं जगत् ॥ ९ ॥
अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसंचयाः ।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरङ्गवदनारतम् ॥ १० ॥
वातान्तर्दीपकशिखालोलं जगति जीवितम् ।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये ॥ ११ ॥
विपर्यासमियं याति भूरिभूतपरम्परा ।
बीजराशिरिवाऽजस्रं पूर्यमाणः पुनः पुनः ॥ १२ ॥

२८

[भोग्य पदार्थों में विरसता की प्रतीति के लिए परिवर्तन शीलता का वर्णन]

श्रीराम ने कहा—हे ब्रह्मन् ! यह जो स्थावर-जङ्गमरूप दृश्य जगत् दिखाई देता है, वह सब स्वप्न के समाज-सम्मेलन के समान असत्य या अस्थिर है ॥ १॥

हे मुने ! आज यहां पर सूखे हुए सागर के समान गम्भीर यह विशाल गड्ढा दिखाई देता है, वही कल मेघ-माला से परिवेष्टित पर्वत बन जाता है और जो आज यहां पर विविध वन-श्रेणियों से परिपूर्ण गगनचुम्बी महापर्वत दिखाई देता है, कुछ ही दिनों में वही समतल पृथिवी के रूप में या गम्भीर कुएँ के रूप में परिणत हो जाता है ॥ २, ३॥

आज जो शरीर रेशमी वस्त्र, माला और कुङ्कुम, केसर एवं कस्तूरी के विलेपन से विभूषित है, वही कल वस्त्रशून्य होकर ग्राम या नगर से दूरवर्ती गड्ढे में सड़ेगा ॥ ४ ॥

जहाँपर आज बहुत आचार-व्यवहार वाले मनुष्यों की चहल-पहल से परिपूर्ण नगर दिखाई देता है, कुछ ही दिनों के बाद वहीं पर शून्य अरण्य बन जाता है ॥५॥

जो पुरुष आज तेजस्वी है, अनेक मण्डलों पर शासन करता है, वही कुछ दिनों के पश्चात् भस्मराशि (क्षार की ढेरी) बन जाता है ॥६॥

आज जो महारण्य विस्तार और नील कान्ति से आकाश-मण्डल के समान है (आकाश के समान विशाल और गहन होने के कारण आकाश के समान काला है) वही कुछ दिनों में पताकाओं से आकाश को व्याप्त कर महानगर बन जाता है ॥ ७ ॥

आज जो लताओं से आच्छन्न भयङ्कर वनश्रेणी दिखाई देती है, वह कुछ ही दिनों में जल और वृक्षों से शून्य मरुभूमि (रेगिस्तान) बन जाती है ॥८॥

समुद्र अर्थात् जल स्थल बन जाता है और स्थल जलाशय बन जाता है, काष्ठ, जल और तृणों से आच्छादित सम्पूर्ण जगत् विपरीत अवस्था को प्राप्त होता है ॥९॥

युवावस्था, बाल्यावस्था, शरीर और द्रव्यराशि ये सभी अनित्य हैं। जैसे तरङ्ग लगातार जल से तरङ्ग-रूपता को और तरङ्ग से जलरूपता को प्राप्त होती हैं वैसे ही सब पदार्थ निरन्तर अपने पूर्व स्वभाव से अन्य स्वभाव को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

जगत् में जीवन प्रखर वायु से पूर्ण स्थान रक्खे हुए दीपक की शिखा के समान अत्यन्त चञ्चल है और तीनों लोकों में सभी पदार्थों की कान्ति बिजली की चमक के समाद क्षणभङ्गुर है ॥११॥

प्रचुर धान, गेहूँ आदि अन्नों की राशि (प्रतिदिन के व्यय से) रिक्त हो जाती या खेत में बोई गई और पानी

मनःपवनपर्यस्तभूरिभूतरजःपटा ।
पातोत्पातपरावर्तपराभिनयभूषिता ॥ १३ ॥
आलक्ष्यते स्थितिरियं जागती जनितभ्रमा ।
नृत्तावेशविवृत्तेव संसाराररभटी नटी ॥ १४ ॥
गन्धर्वनगराकारविपर्यासविधायिनी ।
अपाङ्गभङ्गुरोदारव्यवहारमनोरमा ॥ १५ ॥
तडित्तरलमालोकमातन्वाना पुनः पुनः ।
संसाररचना राजन्! नृत्तसक्तेव राजते ॥ १६ ॥
दिवसास्ते महान्तस्ते सम्पदस्ताः क्रियाश्च ताः ।
सर्वं स्मृतिपथं यातं यामो वयमपि क्षणात् ॥ १७ ॥
प्रप्यहं क्षयमायाति प्रत्यहं जायते पुनः ।

से सींची जाती हुई धान्यराशि अङ्कुर और पौधे के रूप से विपरीत अवस्था को धारण करती है, वैसे ही ये विविध पदार्थ परिवर्तन होते रहते हैं। अर्थात् कोई भी पदार्थ सदा एक रूप में और स्थिर नहीं रहते हैं। अतः, संचय-वृत्ति सर्वथा व्यर्थ है ॥१२॥

यह संसार नर्त्तन की भूमिका से युक्त नटी के समान अपना नृत्य कौशल व्यक्त करने के लिए अङ्ग परिवर्तन द्वारा पद-पद में भ्रम उत्पन्न करती हैं। मनोरूपी वायु से परिचालित जीवरूपी धूलि ही इस संसार-रचना रूप नर्तकी के वस्त्र हैं और प्राणियों को (नरक) में गिरना, (स्वर्ग में) पहुँचाना और (पुनः इसी लोक में) लौटाना ही इसके उत्तम अभिनय हैं, उनसे यह अलङ्कृत है ॥ १३-१४ ॥

कटाक्षदर्शन के समान क्षणभङ्गुर व्यवहारपरम्परा से मनोहर यह संसार-रचना कटाक्षपात और क्षणभङ्गुर नूतन कारीगरियों से मनोहर नृत्तासक्त नटी के समान अद्भुत गन्धर्व नगर के समान विविध भ्रम उत्पन्न करती है और यह बिजली रूप चञ्चल कान्ति को फैलाती है। अर्थात् जैसे ऐन्द्रजालिक स्त्री ज्ञान उत्पन्न कराती है, यह संसार रचना रूप नर्तकी भी वैसे ही जो पदार्थ जैसा नहीं उस प्रकार भ्रान्ति (अवस्तु में वस्तु और वस्तु में अवस्तु दर्शन) करा रही है। इसकी दृष्टि बिजली से भी चञ्चल है अतः यह नृत्य में आसक्त संसार रचना नृत्य में आसक्त नटी के समान शोभायमान है ॥ १५, १६ ॥

वे उत्सव, वैभव परिपूर्ण वे दिन, वे महापुरुष, वे अपार सम्पत्तियाँ, वे यज्ञ आदि क्रियाएँ कहाँ हैं ? वे सब-के-सब हमारे दृष्टि-पथ से दूर हो गये हैं, अब केवल

अद्यापि हृतरूपाया नाऽन्तोऽस्या दग्धसंसृतेः ॥ १८ ॥
तिर्यक्त्वं पुरुषा यान्ति तिर्यञ्चो नरतामपि ।
देवाश्चाऽदेवतां यान्ति किमिवेह विभो स्थिरम् ॥ १९ ॥
रचयन् रश्मिजालेन रात्र्यहानि पुनः पुनः ।
अतिवाह्य रविः कालो विनाशावधिमीक्षते ॥ २० ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः ।
नाशमेवाऽनुधावन्ति सलिलानीव वाडवम् ॥ २१ ॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः ।
विनाशवाडवस्यैतत्सर्वं संशुष्कमिन्धनम् ॥ २२ ॥
धनानि बान्धवा भृत्या मित्राणि विभवाश्च ये ।
विनाशभयभीतस्य सर्वं नीरसतां गतम् ॥ २३ ॥

उनकी स्मृति ही शेष रह गई है, वैसे ही हम भी कुछ ही दिनों में चले जायँगे, केवल स्मृति ही शेष रह जायगी ॥१७॥

यह निन्दित संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन पुनः उत्पन्न होता है, इस गर्हित आवागमन रूपी संसार का अन्त नहीं हुआ है अर्थात् सीमाहीन यह संसरण चलता ही रहेगा ॥१८॥

हे भगवन्! मनुष्य पशु-योनि को प्राप्त करते हैं, पशु मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं और देवता देव भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं; इस संसार में कौन वस्तु स्थिर है सभी का परिवर्तन दिखाई दे रहा है ॥१९॥

काल रूपी सूर्य अपनी किरणों द्वारा रात-दिन की सृष्टि कर अनेक रात्रि और दिनों को बिता कर स्वयंरचित भूतों की विनाश की अवधि की प्रतीक्षा करता है ॥२०॥

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र सभी प्राणिवर्ग जैसे जल वाड़वाग्नि का अनुसरण करता है वैसे ही विनाश का अनुसरण करते हैं ॥२१॥

द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ, दिशाएँ ये सब-के-सब विनाश रूपी अग्नि के (मूल में स्थित वाड़वशब्द भागत्यागलक्षणा द्वारा अग्नि का प्रतिपादक है, क्योंकि अन्यथा प्रसिद्ध वड़ावाग्नि जल तक जला डालती है, इसलिए उसके दाह्य इन्धनों में शुष्क विशेषण अनुपयुक्त होगा ।) लिए सूखे काठ हैं। (जैसे अग्नि को सूखे काठ को जलाने में कुछ भी विलम्ब नहीं होता, वैसे ही इनका विनाश होने में भी कुछ काल नहीं लगता) ॥२२॥

विनाश के भय से भीत पुरुषों के लिए धन, बान्धव, भृत्य, मित्र और ऐश्वर्य ये सब भी नीरस हो गये हैं ॥२३॥

स्वदन्ते तावदेवैते भावा जगति धीमते ।
यावत्स्मृतिपथं याति न विनाशकुराक्षसः ॥ २४ ॥
क्षणमैश्वर्यमायाति क्षणमेति दरिद्रताम् ।
क्षणं विगतरोगत्वं क्षणमागतरोगताम् ॥ २५ ॥
प्रतिक्षणविपर्यासदायिना निहतात्मना ।
जगद्भ्रमेण के नाम धीमन्तो हि न मोहिताः ॥ २६ ॥
तमःपङ्कसमालब्धं क्षणमाकाशमण्डलम् ।
क्षणं कनकनिष्यन्दकोमलालोकसुन्दरम् ॥ २७ ॥
क्षणं जलदनीलाब्जमालावलितकोटरम् ।
क्षणमुड्डामररवं क्षणं मूकमिव स्थितम् ॥ २८ ॥
क्षणं ताराविरचितं क्षणमर्केण भूषितम् ।
क्षणमिन्दुकृताह्लादं क्षणं सर्वबहिष्कृतम् ॥ २९ ॥
आगमापायपरया क्षणसंस्थितिनाशया ।

इस जगत् में विवेकशील पुरुषों को तभीतक ये पदार्थ भले लगते हैं, जब तक विनाश रूपी दुष्ट राक्षस का स्मरण नहीं होता है ॥२४॥

क्षण में मनुष्य वैभव पूर्ण हो जाता है, क्षण में दरिद्र बन जाता है, क्षण में निरोग हो जाता है और क्षण में ही रोग से आक्रान्त हो जाता है ॥ २५ ॥

प्रतिक्षण परिवर्तनशील परमार्थ शून्य जगत् भ्रान्ति से कौन बुद्धिमान् मोहित नहीं हुआ है, अर्थात् जगत् के भ्रम से सभी ने मोह में पड़कर कष्टमय जीवन व्यतीत किया है ॥२६॥

आकाशमण्डल कभी सघन अन्धकार से आच्छन्न हो जाता है, कभी कनक के समान मृदु क्रान्ति से उद्भासित हो उठता है, कभी मेघरूपी नीलकमल की माला से व्याप्त हो जाता है, कभी गम्भीरतर घनगर्जन से परिपूर्ण हो जाता है, कभी मूक की नाईं सुनसान हो जाता है, कभी तारों की पङ्क्तियों से रञ्जित हो जाता है, कभी सूर्य की किरणों से विभूषित हो जाता है, कभी चाँदनी-रूपी आभूषण अलङ्कृत हो उठता है और कभी कोई भी पदार्थ उसमें नहीं रहते है। संसार का स्वरूप ठीक आकाश के सदृश है। आगम और अपाय के वशीभूत एवं क्षण में उत्पन्न और क्षण में नष्ट होने वाली इस जगत् की स्थिति से कौन ऐसा धीर पुरुष है, जो इस संसार में भयभीत नहीं होता है, अर्थात् विभिन्न आकारों से शून्य आकाश के समान ही संसार में सब भ्रम ही है परमार्थ कुछ भी नहीं है। किन्तु, संसार के भ्रम से सभी आबद्ध हुए हैं ॥२७-३०॥

न बिभेति हि संसारे धीरोऽपि क इवाऽनया ॥ ३० ॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति सम्पदः ।
क्षणं जन्म क्षणं मृत्युर्मुने ! किमिव न क्षणम् ॥ ३१ ॥
प्रागासीदन्य एवेह जातस्त्वन्यो नरो दिनैः ।
सदेकरूपं भगवन् ! किञ्चिदस्ति न सुस्थिरम् ॥ ३२ ॥
घटस्य पटता दृष्टा पटस्याऽपि घटस्थितिः ।
न तदस्ति न यद् दृष्टं विपर्यस्यति संसृतौ ॥ ३३ ॥
तनोत्युत्पादयत्यत्ति निहन्त्यासृजति क्रमात् ।
सततं रात्र्यहानीव निवर्तन्ते नरं प्रति ॥ ३४ ॥
अशूरेण हतः शूर एकेनाऽपि हतं शतम् ।
प्राकृताः प्रभुतां याताः सर्वमावर्त्यते जगत् ॥ ३५ ॥
जनतेयं विपर्यासमजस्रमनुगच्छति ।
जडस्पन्दपरामर्शात्तरङ्गाणामिवाऽऽवली ॥ ३६ ॥

हे मुने ! क्षण में आपत्तियाँ आती हैं एवं क्षण में ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, केवल सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ ही नहीं, किन्तु क्षण में ही जन्म होता है और क्षण में ही मृत्यु हो जाती है। इस संसार में कौन सी वस्तु क्षणिक नहीं है ॥३१॥

जो पुरुष पहले अन्य रूप में था, कुछ ही दिनों में अन्य प्रकार का हो जाता है। भगवन् ! सदा एकरूप में रहने वाली सुस्थिर वस्तु यहाँ कुछ भी नहीं है ॥३२॥

घड़ा कपासरूप में परिणत होकर वस्त्र बन जाता है और पट भी घटरूप बन जाता है, इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका परिवर्तन नहीं होता है ॥३३॥

क्रम से वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, विनाश और जन्म को प्राप्त हो रहे देहाभिमानी के समीप ये पांच भावविकार भी चिरकाल तक नहीं रहते, रात और दिन के समान निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् परिवर्तित हो जाते हैं। आशय यह है कि रात्रि और दिन के समान उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, ह्रास और विनाश पारापारी से मनुष्य को प्राप्त होते हैं, ये प्राप्त होकर स्थिर नहीं रहते, किन्तु पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं ॥३४॥

बलवान् दुर्बल के हाथ मारा जाता है, एक व्यक्ति भी सैकड़ों व्यक्तियों को धराशायी बना देता है एवं सामान्य व्यक्ति भी प्रभुता को प्राप्त हो जाते हैं। सारा जगत् ही परिवर्तनशील है ॥३५॥

जल की वेगवति क्रिया के साथ संपर्क होने से तरङ्गों की पङ्क्तियाँ जैसे लगातार परिवर्तित होती हैं,

बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा ।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥ ३७ ॥
क्षणमानन्दितामेति क्षणमेति विषादिताम् ।
क्षणं सौम्यत्वमायाति सर्वस्मिन्नटवन्मनः ॥ ३८ ॥
इतश्चाऽन्यदितश्चाऽन्यदितश्चाऽन्यदयं विधिः ।
रचयन् वस्तुना याति खेदं लीलास्विवाऽर्भकः ॥ ३९ ॥
चिनोत्युत्पादयत्यत्ति निहत्यासृजति क्रमात् ।
सततं रात्र्यहानीव निवर्तन्ते नरं प्रति ॥ ४० ॥
आविर्भावतिरोभावभागिनो भवभागिनः ।
जनस्य स्थिरतां यान्ति नाऽपदो न च सम्पदः ॥ ४१ ॥
कालः क्रीडत्ययं प्रायः सर्वमापदि पातयन् ।
हेलाविचलिताशेषचतुराचारचञ्चुरः ॥ ४२ ॥
समविषमविपाकतो विभिन्ना-
स्त्रिभुवनभूतपरम्पराफलौघाः ।
समयपवनपातिताः पतन्ति
प्रतिदिनमाततसंसृतिद्रुमेभ्यः ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे सर्वभावाविरत-विपर्यासप्रतिपादनं नामाऽष्टाविंशतितमः सर्गः ॥२८॥

वैसे ही यह चेतनप्राणिसमूह भी जड़ प्राण, इन्द्रिय आदि के संसर्ग से निरन्तर परिवर्तित होती है ॥३६॥

बाल्यावस्था थोड़े ही दिनों में चली जाती है, अनन्तर यौवन का पदार्पण होता है, (वह भी बाल्यावस्था के अनुसार थोड़े ही दिनों में चल बसता है) अनन्तर वृद्धावस्था आती है। देह में भी स्थिरता नहीं है, बाह्य दार्थों में तो एकरूपता की क्या आशा की जा सकती ? ॥३७॥

मन कभी किसी विषय को देखकर आनन्दित होता क्षण में ही अन्य को देखकर दुःखी हो जाता है और क्षण में सौम्य बन जाता है। नट के समान मन सभी स्वरूप को धारण करता है अर्थात् कभी दुःखी कभी आनन्दित और कभी सौम्य रूप हो जाता है ॥३८॥

जैसे बालक क्रीड़ा में कभी कुछ वस्तु बनता हुआ थकता नहीं, वैसे ही यह विधाता भी इधर दूसरी उधर दूसरी और उधर दूसरी वस्तु को बनाता हुआ कभी खिन्न या थकता नहीं। जैसे बालक खेख में कभी कुछ कभी कुछ करता हुआ नहीं थकता है। आशय यह है कि बालक के समान ही विधाता निर्माण करता हुआ क्रीड़ा कर रहा है ॥३९॥

विधाता मनुष्यों को धान आदि के समान संचित कर बढ़ाता है। उनसे अन्य साधनों का चयन करता है, उत्पन्न करता है भक्षण करता है, मार कर फिर सृष्टि करता है। रात और दिन के समान ये क्रम से आते जाते रहते हैं ॥४०॥

उत्पन्न और विनष्ट होने वाले संसारी पुरुषों की न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही स्थिर रहती हैं ॥ ४१ ॥

यह काल समर्थों को भी अनादर के साथ परिवर्तन करने में अति दक्ष है। यह प्रायः सब लोगों को आपत्ति में डाल कर क्रीड़ा करता है ॥ ४२ ॥

कर्मों के एवं रसों के सम परिणाम और विषम परिणाम से विविध भाँति के तीनों लोकों के प्राणिसमुदाय रूपी फल समयरूपी वायु के द्वारा कम्पित होकर विस्तृत संसार रूपी वृक्षों से प्रतिदिन गिरते हैं ॥ ४३ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में सर्वभावाविरत-विपर्यासप्रतिपादन नामक कुसुमलता का अष्ठाइसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२८॥

२८

श्रीराम उवाच

इति मे दोषदावाग्निदग्धे महति चेतसि ।
प्रस्फुरन्ति न भोगाशा मृगतृष्णा सरःस्विव ॥ १ ॥
प्रत्यहं याति कटुतामेषा संसारसंस्थितिः ।
कालपाकवशाल्लोला रसा निम्बलता यथा ॥ २ ॥
वृद्धिमायाति दौर्जन्यं सौजन्यं याति तानवम् ।
करञ्जकर्कशे राजन् ! प्रत्यहं जनचेतसि ॥ ३ ॥
भज्यते भुवि मर्यादा झटित्येव दिनं प्रति ।
शुष्केव माषशिम्बीका टङ्कारकरवं विना ॥ ४ ॥
राज्येभ्यो भोगपूगेभ्यश्चिन्तावद्भ्यो मुनीश्वर ! ।
निरस्तचिन्ताकलिता वरमेकान्तशीलता ॥ ५ ॥
नाऽऽनन्दाय ममोद्यानं न सुखाय मम स्त्रियः ।
न हर्षाय ममाऽर्थाशा शाम्यामि मनसा सह ॥ ६ ॥
अनित्यश्चाऽसुखो लोकस्तृष्णा तात ! दुरुद्वहा ।
चापलोपहतं चेतः कथं यास्यामि निर्वृतिम् ॥ ७ ॥
नाऽभिनन्दामि मरणं नाऽभिनन्दामि जीवितम् ।
यथा तिष्ठामि तिष्ठामि तथैव विगतज्वरम् ॥ ८ ॥
किं मे राज्येन किं भोगैः किमर्थेन किमीहितैः ।
अहङ्कारवशादेतत् स एव गलितो मम ॥ ९ ॥
जन्मावलिवरत्रायामिन्द्रियग्रन्थयो दृढा ।
ये बद्धास्तद्विमोक्षार्थं यतन्ते ये त उत्तमाः ॥ १० ॥

२९

श्रीराम ने कहा—इस प्रकार दोषदर्शनरूपी वनाग्नि से मेरा चित्त दग्ध प्राय हो गया है (पहले जो जगत् के प्रति स्थायित्व बुद्धि थी या जगत् के प्रति प्रेम था, वह जल गया है) जैसे जलाशयों में मृगतृष्णा का (सूर्य किरणों में जल बुद्धि का) उदय नहीं होता है (मरुभूमि में ही मृगतृष्णा की प्रतीति होती है) वैसे ही मेरे चित्त में भोग की आशा का उदय नहीं होता है ॥१॥

नीम के पेड़ पर चढ़ी हुई लता के रस कालक्रम में अधिकृत हो जाते हैं अर्थात् अधिक काल रहने से कटु कटुतर और कटुतम हो जाते हैं वैसे ही संसार कालक्रम से अधिक दु:खदायी हो जाता है—यही संसार की स्थिति है ॥२॥

हे राजन् ! करञ्ज वृक्ष के फल के समान कठोरतम मनुष्य के चित्त में दिनानुदिन दुर्जनता बढ़ती जाती है और सज्जनता क्षीण होती जाती है अर्थात् धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि से सज्जनता का ह्रास और दुर्जनता की वृद्धि होती है ॥३॥

सूखी हुई उड़द की छीमी को तोड़ने में तो टंकार-शब्द होता है पर संसार में दिन प्रतिदिन बिना टंकार-शब्द के बड़ी शीघ्रता के साथ मर्यादा का भङ्ग किया जा रहा है। आशय यह है कि लोग संसार में उड़द की सूखी हुई छीमी के समान बड़ी शीघ्रता से मर्यादा का भङ्ग कर रहे हैं, केवल अन्तर इतना ही है कि छीमी को तोड़ने में शब्द होता है, पर मर्यादा को तोड़ने में शब्द भी नहीं होता ॥ ४ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! विविध मानसिक चिन्ताओं से परिपूर्ण प्रचुर भागों से युक्त राज्यों की अपेक्षा चिन्ताशून्य महात्माओं द्वारा स्वीकृत एकान्त सेवन कहीं अच्छा है ॥ ५ ॥

उद्यान के विहार से मुझे प्रसन्नता नहीं होती है, स्त्रियों से मुझे सुख नहीं होता है और धन प्राप्ति से मुझे हर्ष नहीं होता है। मैं मन के साथ उपशान्त होना चाहता हूँ (यह मेरी प्रबल इच्छा है) ॥ ६ ॥

हे तात ! यह संसार सुख-रहित और विनाशी है विषयवासना बड़ी तीव्र है, चञ्चल चित्त में कब शान्ति होगी यही मैं सोचता हूँ ॥ ७ ॥

न मैं मृत्यु का अभिनन्दन करता हूँ और न जीवन का ही अभिनन्दन करता हूँ। जिस अवस्था में स्थित होने से मैं लोक-सन्ताप से निर्मुक्त हो जाऊँ, उसी अवस्था का मैं अवलम्बन करना चाहता हूँ। (वह चाहे जीवनावस्था में प्राप्त हो, चाहे मरने के पश्चात् जब कभी हो, उसके लिए मैं व्यग्र नहीं हूँ) ॥ ८ ॥

राज्य से मुझे क्या करना है, भोग से मेरा वह कौन प्रयोजन सिद्ध होगा, धन से मुझे क्या मतलब है, किसी प्रकार की चेष्टा से भी मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, अहङ्कारवश इसकी उत्पत्ति होती है, मेरा वह अहङ्कार ही नष्ट हो गया है ॥९॥

इन्द्रियों का विषयों की आसक्ति से मुक्त होना बड़ा कठिन है, अतएव इन्द्रियों की गाँठ बहुत सुदृढ़ है। उन ग्रन्थियों द्वारा जन्म-परम्परा रूपी चमड़े की रस्सी में बाँधे गये जीवों में से जो प्राणी उस बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए यत्न करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं ॥१०॥

मथितं मानिनीलोकैर्मनो मकरकेतुना ।
कोमलं खुरनिष्पेषैः कमलं करिणा यथा ॥ ११ ॥
अद्य चेत् स्वच्छया बुद्धया मुनीन्द्र! न चिकित्स्यते ।
भूयश्चित्तचिकित्सायास्तत्किलाऽवसरः कुतः ॥ १२ ॥
विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम् ॥ १३ ॥
न सुखानि न दुःखानि न मित्राणि न बान्धवाः ।
न जीवितं न मरणं बन्धाय ज्ञस्य चेतसः ॥ १४ ॥
तद्भवामि यथा ब्रह्मन् ! पूर्वापरविदां वर ! ।
वीतशोकभयायासो ज्ञस्तथोपदिशाऽऽशु मे ॥ १५ ॥
वासनाजालवलिता दुःखकण्टकसङ्कुला ।

जैसे हाथी अपने विशाल पैर के प्रहार से कोमल कमल को कुचल डालता है, वैसे ही कामदेव ने रमणियों द्वारा कोमल मन को मथ डाला है अर्थात् वशीभूत कर दिया है ॥ ११ ॥

हे मुनीश्वर ! यदि आज अर्थात् इस बाल्यावस्था में निर्मल बुद्धि से चित्त की चिकित्सा का अवसर कब आयगा ? आशय यह है कि भली-भाँति जड़ न जमी हो तभी छोटा सा वृक्ष उखाड़ा जा सकता, जब वह बद्ध-मूल हो जाता है, तब तो उसे उखाड़ना बड़ा कठिन है ॥ १२ ॥

विषय की विषमता ही विष हैं, प्रसिद्ध विष विष नहीं है, क्योंकि विष एक ही देह का अर्थात् जिस देह से उसका सम्बन्ध होता है, उसी का विनाश करता है, किन्तु विषय अन्य जन्म के द्वारा उसका भी विनाश करते हैं अर्थात् विषय तो अन्य जन्मों में भी देह को मृत्यु के मुँह में डालते हैं ॥१३॥

सुख, दुःख, मित्र, बन्धु, बान्धव, जीवन और मरण ये ज्ञानी के चित्त के बन्धक नहीं होते हैं (कारण यह है कि ज्ञानी इनके वश में नहीं होते हैं) ॥१४॥

हे ब्रह्मन् ! हे तत्त्वज्ञशिरोमणे ! इसलिए ज्ञानी होकर शोक, भय और खेद से शीघ्र मुक्त हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र दीजिये ॥ १५ ॥

अज्ञता भीषण अरण्य के सदृश है, जैसे अरण्य में मृगों को फँसाने के लिए जाल बिछे रहते हैं, चारों ओर काँटे बिखरे रहते हैं, जगह-जगह ऊँची-नीची भूमि विषय-वासना रूपी जालों से परिवेष्ठित दुःख रूपी कण्टकों से आकीर्ण और सम्पत्ति से या स्वर्ग-नरक परम्परा से

निपातोत्पातबहुला भीमरूपाऽज्ञताटवी ॥ १६ ॥
क्रकचाग्रविनिष्पेषं सोढुं शक्नोम्यहं मुने ! ।
संसारव्यवहारोत्थं नाऽऽशाविषयवैशसम् ॥ १७ ॥
इदं नाऽस्तीदमस्तीति व्यवहाराञ्जनभ्रमः ।
धुनोतीदं चलं चेतो रजोराशिमिवाऽनिलः ॥ १८ ॥
तृष्णातन्तुलवप्रोतं जीवसञ्चयमौक्तिकम् ।
चिदच्छाङ्गतया नित्यं विकसच्चित्तनायकम् ॥ १९ ॥
संसारहारमरतिः कालव्यालविभूषणम् ।
त्रोटयाम्यहमक्रूरं बागुरामिव केसरी ॥ २० ॥
नीहारं हृदयाटव्यां मनस्तिमिरमाशु मे ।
केन विज्ञानदीपेन भिन्धि तत्त्वविदां वर ! ॥ २१ ॥

परिपूर्ण इस अज्ञता से मैं शीघ्र मुक्त होना चाहता हूँ ॥१६॥

हे मुने ! मैं आरे के दाँतों की रगड़ से पीसना सहने के समर्थ हूं, लेकिन सांसारिक व्यवहार से उत्पन्न एवं आशा और विषयों से हुए संघर्ष को सहने के लिए समर्थ नहीं हूँ ॥ १७ ॥

यह अनिष्ट है, (यह सोचकर उसके निवारण में) यह इष्ट है, (यह समझकर उसके सम्पादन में) प्रवृत्ति-निवृत्ति व्यवहाररूप अविद्यारूपी अञ्जन से उत्पन्न भ्रान्ति स्वभावतः चञ्चल चित्त को इस प्रकार कँपा डालती है जैसे वायु दीपक की शिखा को कँपाती है ॥१८॥

जीव समूहरूपी मोती तृष्णारूपी अत्यन्त सूक्ष्म धागे में पिरोये गये हैं, साक्षीरूप चैतन्य के संम्बन्ध से एवं तैजस होने के कारण अत्यन्त देदीप्यमान मन ही उस माला में प्रधान (नायक) मणि है ॥१९॥

रोषपूर्ण सिंह जैसे जाल को तोड़ डालता है, वैसे ही कालरूपी विट के आभूषण इस संसाररूपी हार को वैराग्य से सम्पन्न मैं आपके उपदेश से उत्पन्न ज्ञान से— क्रोध, हिंसा आदि उग्र उपायों के बिना-तोड़ता हूँ ॥२०॥

हे तत्त्वज्ञशिरोमणे ! हृदयारण्य में व्याप्त कुहरेरूपी मन के अन्धकार को विज्ञान दीप के द्वारा अर्थात् सुख के उपदेश से दूर करें। आशय यह है कि हृत्पुण्डरीक ही दुष्प्रवेश होने के कारण अरण्य है, उसमें शैत्य और आवरण का हेतु होने के कारण कुहरे के तुल्य और उसमें आत्मतत्त्व के अन्वेषण के लिए प्रवृत्त हुए मन के अन्धकार के समान विवेकरूपी नेत्र को बन्द कर देने वाले अज्ञान को सुखकर उपदेशरूपी सूर्य से नष्ट करें ॥२१॥

विद्यन्त एवेह न ते महात्मन् !
दुराधयो न क्षयमाप्नुवन्ति ।
ये सङ्गमेनोत्तमानसानां
निशा तमांसीव निशाकरेण ॥ २२ ॥

आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरं
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चलाः ।
लोला यौवनलालनाजलरयश्चेत्याकलय्य द्रुतं
मुद्रैवाऽद्य दृढार्ऽपिता ननु मया चित्ते चिरं शान्तये ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे सफलपदार्थानास्थाप्रतिपादनं नामैकोनत्रिंशः सर्गः ॥२९॥

हे महात्मन् ! चन्द्रमा से जैसे रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही उत्तम पुरुषों की सङ्गति के द्वारा प्राप्त उपदेश से जिनका विनाश नहीं होता है ऐसी दुष्ट मानसिक चिन्ताएँ इस जगतीतल में नहीं है। आशय यह है कि जैसे चन्द्रमा रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देता है वैसे ही महात्मा पुरुषों की सङ्गति से लब्ध उपदेश भी सम्पूर्ण क्लेशों को नष्ट कर देता है ॥२२॥

आयु वायु से टकराये हुए मेघों के समूह से बरस रहे जल के समान भङ्गुर है, भोग नेघ पटल में चमक रही बिजली के समान चञ्चल हैं और यौवन में होने वाले चित्त विनोद जल के वेग के समान चपल हैं, ऐसा शीघ्र विचार कर मैंने अपने चित्त में एकान्त शान्ति के लिए अधिकार की मुद्रा दृढ़ रूप से अङ्कित कर ली है। अर्थात् आयु, भोग, यौवन आदि में तृष्णा चञ्चलता आदि दोषों से दुःख, नाश आदि को अनर्थकारी समझ कर उनका त्याग कर मैंने बाल्यावस्था में ही सभी दोषों से रहित शान्ति के लिये अपने हृदय के विषय में अटल अधिकारी की मुहर दे रक्खी है। जैसे राजा अधिकारलोलुप बहुत से व्यक्तियों में से जिनसे लोभ, कायरता आदि दोषों के कारण राज्य में प्रजापीडन, शत्रु द्वारा आक्रमण आदि की आशङ्का होती है, उन्हें छोड़कर किसी एक गुणवान् और शक्तिशाली व्यक्ति को अधिकार मुद्रा सौंपता है, वैसे ही मैंने भी समर्थ शान्ति के लिए अपने चित्त के विषय में दृढ़ अधिकार मुद्रा दे रक्खी है ॥२३॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में सकलपदार्थास्था-प्रतिपादन नामक कुसुमलता का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२९॥

३०

श्रीराम उवाच

एवमभ्युत्थितानर्थशतसङ्कटकोटरे ।
जगदालोक्य निर्मग्नं मनो मननकर्दमे ॥ १ ॥

मनो मे भ्रमतीवेदं सम्भ्रमश्चोपजायते ।
गात्राणि परिकम्पन्ते पत्राणीव जरत्तरोः ॥ २ ॥
अनाप्तोत्तमसन्तोषधैर्योत्सङ्गाकुला मतिः ।
शून्यास्पदा बिभेतीह बालेवाऽल्पबलेश्वरा ॥ ३ ॥

३०

श्रीराम ने कहा—

इस प्रकार सैकड़ों अनर्थों से परिपूर्ण संसाररूपी अँधे कुँए के छिद्र में सम्पूर्ण प्राणियों को मग्न देखकर मेरा मन चिन्तारूपी कीचड़ में फँस गया है ॥ १ ॥

मेरा मन घूम-सा रहा है और मुझे भय भी हो रहा है, अतः मेरा शरीर पुराने वृक्ष के पत्तों के समान काँप रहा है ॥ २ ॥

जैसे निर्जन स्थान में रहने वाली अल्प बलशाली पति की मुग्धा नारी (पद पद में) भयभीत रहती है, वैसे ही उत्कृष्ट सन्तोषदायक धैर्यरूपी माँ की गोद न मिलने के कारण व्याकुल मेरी बालबुद्धि भी इस संसार में भयभीत हो रही है ॥ ३ ॥

विकल्पेभ्यो लुठन्त्येताश्चाऽन्तःकरणवृत्तयः ।
श्वभ्रेभ्य इव सारङ्गास्तुच्छालम्बविडम्बिताः ॥ ४ ॥
अविवेकास्पदा भ्रष्टाः कष्टे रूढा न सत्पदे ।
अन्धकूपमिवाऽऽपन्ना वराकाश्चक्षुरादयः ॥ ५ ॥
नाऽवस्थितिमुपायाति न च याति यथेप्सितम् ।
चिन्ता जीवेश्वरायत्ता कान्तेव प्रियसद्मनि ॥ ६ ॥
जर्जरीकृत्य वस्तूनि त्यजन्ती बिभ्रती तथा ।
मार्गशीर्षान्तवल्लीव धृतिर्विधुरतां गता ॥ ७ ॥
अपहस्तितसर्वार्थमनवस्थितिरास्थिता ।
गृहीत्वोत्सृज्य चाऽऽत्मानं भवस्थितिरवस्थिता ॥ ८ ॥

मृगगण जैसे सुख के मोह में तुच्छ तृणों के लोभ से वञ्चित होकर गड्ढे में गिर पड़ते हैं, वैसे ही असार विषयों से वञ्चित ये अन्तःकरण-वृत्तियाँ विक्षेप रूप दुःखों की प्राप्ति के लिए ही दुःखरूप गड्ढे में गिर रही हैं ॥ ४ ॥

अविवेकी पुरुषों की दुष्ट नेत्र आदि इन्द्रियाँ जगत् की ओर ही पूर्ण रूप से आकृष्ट हैं, संसार में ही उनकी दृढ़ वासना है, परमार्थ वस्तु के प्रति उनका आकर्षण नहीं है। अतः नेत्र आदि इन्द्रियाँ आत्मा के उद्धार में समर्थ नहीं हैं और अन्धकूप में गिरे हुए जीवों के समान दुःखी हैं ॥ ५ ॥

जैसे पति के अधीन कान्ता न तो उपरत होती है और न स्वेच्छा से अपने अभीष्ट स्थान में ही जाती है, किन्तु पति के घर में ही रहती है, वैसे ही जीवरूपी पति की कान्ता चिन्ता भी न तो उपरत होती है और न अभीष्ट विषयों को ही प्राप्त करती है, किन्तु अपने पति जीव के प्रिय स्थान हृदय में ही निवास करती है ॥ ६ ॥

मार्गशीर्ष मास के अन्त में जैसे लताएँ तुषार गिरने के कारण पुराने पत्तों को गिरा देती है, हरे पत्तों को धारण भी करती हैं, वैसे ही विवेक से विषयों को तुच्छ समझ कर उनका त्याग कर रही और रस के राग के शेष रहने के कारण कुछ विषयों को धारण कर रहा मेरा धैर्य कष्ट का अनुभव कर रहा है ॥ ७ ॥

मेरी चित्त की अस्थिरता सांसारिक और पारमार्थिक सम्पूर्ण सुखों का विनाश कर स्थित है, अन्तराल में स्थित मुझे न ऐहिक सुख ही प्राप्त है और न परमार्थिक ही आशय यह है कि आधा विवेक होने के कारण न तो मैं सर्वथा संसार के सुखों का परित्याग कर पाता हूँ और न परमार्थ परम सुख का ही अनुभव कर पा रहा हूँ न धर्म स्थित दोनों सुखों से रहित हूँ। पूर्ण ज्ञान के बिना पारमार्थिक सुख की प्राप्ति नहीं हो सकता है ॥ ८ ॥

चलिताचलितेनाऽन्तरवष्टम्भेन मे मतिः ।
दरिद्रा छिन्नवृक्षस्य मूलेनेव विडम्ब्यते ॥ ९ ॥
चेतश्चञ्चलमाभोगि भुवनान्तर्विहारि च ।
न सम्भ्रमं जहातीदं स्वविमानमिवाऽमराः ॥ १० ॥
अतोऽतुच्छमनायासमनुपाधि गतभ्रमम् ।
किं तत्स्थितिपदं साधो यत्र शोको न विद्यते ॥ ११ ॥
सर्वारम्भसमारूढाः सुजना जनकादयः ।
व्यवहारपरा एव कथमुत्तमतां गताः ॥ १२ ॥
लग्नेनाऽपि किलाऽङ्गेषु बहुधा बहुमानद ! ।
कथं संसारपङ्केन पुमानिह न लिप्यते ॥ १३ ॥

जैसे कटे हुए वृक्ष के ठूँठ के द्वारा (स्थाणु द्वारा) अन्धकार में सत्य कोटि और असत्य कोटि रूप यह ठूँठ है या पुरुष है, इस प्रकार स्थिरत्व और अस्थिरत्व प्रकारक संशय से लोगों की बुद्धि ठगी जाती है वैसे ही आत्मतत्त्व के निश्चय से रहित (आत्मतत्त्वनिश्चय में सन्देह युक्त) मेरी बुद्धि भी यह तत्त्व है या यह तत्त्व है, इस प्रकार के सन्देह से वञ्चित हो रही है अर्थात् मैं संशय के कारण विनष्ट हो रहा हूँ ॥ ९ ॥

जैसे देवता विविध भोगसामग्रियों से परिपूर्ण, भुवनों में विहार करने वाले एवं शीघ्रगामी अपने विमान का परित्याग नहीं करते वैसे ही स्वभावतः चञ्चल नाना भोगसामग्रियों से परिपूर्ण भुवनों में परिभ्रमण से अधिक चपलता को प्राप्त मेरा मन भी चञ्चलता को नहीं छोड़ पाता है। मैं उसे बलात् रोकना चाहता हूँ, पर तत्त्व-ज्ञान न होने के कारण मैं ऐसा नहीं कर पाता हूँ ॥१०॥

हे साधो ! परमार्थ सत्य, जन्म-मरण आदि दुःखों से शून्य, देहादि उपाधि से विरहित, भ्रम से रहित वह विश्रान्ति-स्थान कौन है, जिसे प्राप्त कर शोक नहीं होता है ॥११॥

हमारे ही समान दृष्ट और अदृष्ट रूप फलदायक सम्पूर्ण कर्मों के अनुष्ठाता एवं लौकिक व्यवहार में तत्पर जनक आदि महापुरुषों ने कैसे उत्तम पद को प्राप्त किया था ॥१२॥

हे अन्य को मान देने वाले ! इस संसार में वह कौन

- DONATED BY -
Lt. PADMASHREE
Prof. V. VENKATACHALAM
VARANASI

कां दृष्टिं समुपाश्रित्य भवन्तो वीतकल्मषाः ।
महान्तो विचरन्तीह जीवन्मुक्ता महाशयाः ॥ १४ ॥
लोभयन्तो भयायैव विषया भोगभोगिनः ।
भङ्गुराकारविभवा कथमायान्ति भव्यताम् ॥ १५ ॥
मोहमातङ्गमृदिता कलङ्ककलितान्तरा ।
परं प्रसादमायाति शेमुषीसरसी कथम् ॥ १६ ॥
संसार एव निवहे जनो व्यवहरन्नपि ।
न बन्धं कथमाप्नोति पद्मपत्रे पयो यथा ॥ १७ ॥
आत्मवत्तृणवच्चेदं सकलं कलयन् जनः ।
कथमुत्तमतामेति मनो मन्मथमस्पृशन् ॥ १८ ॥
कं महापुरुषं पारमुपयातं महोदधेः ।
आचारेणाऽनुसंसृत्य जनो याति न दुःखिताम् ॥ १९ ॥
किं तत्स्यादुचितं श्रेयः किं तत्स्यादुचितं फलम् ।

सा उपाय है, जिससे कि संसार रूपी पङ्क पुण्य-पापरूप पङ्क का या शोक-मोह रूप पङ्क का बहुधा शरीर से सम्पर्क होने पर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ॥१३॥

महान् आशय सम्पन्न पापशून्य आप श्रेष्ठ जन किस दृष्टि का अवलम्बन कर जीवन्मुक्त होकर संसार में विचरण करते हैं ॥१४॥

विषय स्वरूप भोगात्मक सर्प लुभाते हुए भय के लिए है, नश्वर और कुटिल आकार वाले विषय कल्याण के लिए कैसे हो सकते हैं। जैसे विष सामर्थ्य सम्पन्न कुटिल चञ्चल सर्प कल्याणकारी कैसे हो सकते हैं ॥१५॥

मोहरूपी हाथी के द्वारा मथा गया काम आदिरूपी कीचड़ और सेवार से व्याप्त प्रज्ञा रूपी तालाब कैसे अत्यन्त निर्मल हो सकता है ॥१६॥

संसार में व्यवहार करते हुए भी किस प्रकार कमल के पत्ते में जल का सम्पर्क न होने के समान पुरुष बन्धन में नहीं आता है ॥१७।

इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च को तत्त्वदृष्टि से आत्मा के समान और बाह्य दृष्टि से तृण के समान देख रहे एवं कामादि वृत्तियों का स्पर्श न कर रहे मन वाले पुरुष कैसे श्रेष्ठता को प्राप्त करते हैं ॥१८॥

जिसने अज्ञानरूपी महासागर पारकर लिया है, ऐसे किस महापुरुष के चरित्र का स्मरणपूर्वक आचरण कर मनुष्य दुःखी नहीं होता है ॥१९॥

(अविनाशी होने के कारण प्राप्त करने के) योग्य

वर्तितव्यं च संसारे कथं नामाऽसमञ्जसे ॥ २० ॥
तत्त्वं कथय मे किञ्चिद्येनाऽस्य जगतः प्रभो ।
वेद्मि पूर्वापरं धातुश्चेष्टितस्याऽनवस्थितेः ॥ २१ ॥
हृदयाकाशशशिनश्चेतसो मलमार्जनम् ।
यथा मे जायते ब्रह्मंस्तथा निर्विघ्नमाचर ॥ २२ ॥
किमिह स्यादुपादेयं किं वा हेयमथेतरत् ।
कथं विश्रान्तिमायातु चेतश्चपलमद्रिवत् ॥ २३॥
केन पावनमन्त्रेण दुःसंसृतिविषूचिका ।
शाम्यतीयमनायासमायासशतकारिणी ॥ २४ ॥
कथं शीतलतामन्तरानन्दतरुमञ्जरीम् ।
पूर्णचन्द्र इवाऽक्षीणां भृशमासादयाम्यहम् ॥ २५ ॥
प्राप्याऽन्तः पूर्णतां पूर्णो न शोचामि यथा पुनः ।
सन्तो भवन्तस्तत्त्वज्ञास्तथेहोपदिशन्तु माम् ॥ २६ ॥

मोक्ष या कल्याण क्या है (और कर्म, उपासना आदि का) उचित फल क्या है ? इस विषम संसार में कैसे व्यवहार करना चाहिए ? ॥२०॥

हे प्रभो ! मुझे तत्त्व का उपदेश दीजिए, जिससे मैं अव्यवस्थित ब्रह्मा की कृति जगत् की पूर्वापर वस्तु का ज्ञान कर सकूँ अर्थात् जगत् के आदि और अन्त में अवशिष्ट रहने वाला पारमार्थिक तत्त्व को जान सकूँ ॥२१॥

हे ब्रह्मन् ! जैसे मेरे हृदयरूपी आकाश के चन्द्ररूप साभास अन्तःकरण का मल अज्ञान हट जाय वैसा प्रयत्न आप निर्विघ्न होकर कीजिए ॥२२॥

इस संसार में कौन वस्तु उपादेय है, कौन वस्तु अनुपादेय है और कौन वस्तु न उपादेय है और न अनुपादेय है। यह चञ्चल चित्त कैसे पर्वत के समान स्थिरता = शान्ति को प्राप्त कर सकता है ॥२३॥

सैकड़ों क्लेशों की सृष्टि करने वाली यह निन्दित संसाररूपी महामारी किस पवित्रतम मन्त्र से अनायास शान्ति को प्राप्त कर सकती है ॥२४॥

जैसे पूर्ण चन्द्र अत्यन्त आनन्द देने वाली शीतलता को प्राप्त करता है, वैसे ही मैं भी आनन्दरूपी वृक्ष की मञ्जरीरूप देशपरिच्छेद और कालपरिच्छेद से शून्य शीतलता को अपने हृदय में कैसे प्राप्त करूँ ? ॥२५॥

आप तत्त्वज्ञ और सज्जन हैं, अपने में पूर्णता को प्राप्त कर पूर्ण मैं इस लोक में फिर शोक को प्राप्त न करूँ वैसा आप मुझे उपदेश दीजिये ॥२६॥

अनुत्तमानन्दपदप्रधान-
विश्रान्तिरिक्तं सततं महात्मन् ! ।
कदर्थयन्तीह भृशं विकल्पाः
श्वानो वने देहमिवाऽल्पजीवम् ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे प्रयोजनकथनं नाम त्रिंशत्तमः सर्गः ॥३०॥

हे महात्मन् ! जैसे वन से कुत्ते स्वल्प बल से युक्त जीवों की=क्षुद्र प्राणियों की देह को अतिशय पीड़ित करते हैं, वैसे ही विविध संशय सर्वोत्कृष्ट आनन्दमय ब्रह्मपद में आत्यन्तिक स्थिरता से रहित पुरुष को सदा अतिशय पीड़ित करते हैं ॥२७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में कृतान्तविलास नामक कुसुमलता का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥३०॥

३१

श्रीराम उवाच

प्रोच्चवृक्षचलत्पत्रलम्बाम्बुलवभङ्गुरे ।
आयुषीशानशीतांशुकलामृदुनि देहके ॥ १ ॥
केदारविरटद्भेककण्ठत्वक्कोणभङ्गुरे ।
वागुरावलये जन्तोः सुहृत्सुजनसङ्गमे ॥ २ ॥
वासनावातवलिते कदाशातटिति स्फुटे ।
मोहोग्रमिहिकामेघे घनं स्फूर्जति गर्जति ॥ ३ ॥
नृत्यत्युत्ताण्डवं चण्डे लोले लोभकलापिनि ।

३१

[सांसारिक जीवन वर्षा ऋतु के मेघ के समान कुत्सित है, अतः संसारनिर्मुक्ति पूर्वक सुखपदप्रापक उपाय का प्रश्न]

श्रीराम ने कहा :—

इस संसार में जीव की आयु ऊँचे वृक्षों के चञ्चल पत्तों में लटक रहे, जलकण ओसबिन्दु के सदृश क्षणभङ्गुर एवं शिवजी के आभूषण स्वरूप चन्द्रकला के सदृश अत्यल्प है (वर्षा ऋतु में पूर्ण चन्द्रमा का भी कठिनाई से यदा कदा ही दर्शन हो जाता है फिर कलामात्र अवशिष्ट कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा की दुर्लक्ष्यता में तो कहना ही क्या है ? उसके दिखाई देने में ही आश्चर्य है) (दुर्लक्ष्य होने के कारण यदि कहा जाय कि उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी), तुच्छ देह धानों के खेतों में बोल रहे मेढ़कों के गले के चमड़े के समान अस्थिर है, इष्ट-मित्र और बन्धु-बान्धवों का समागम सद्गति का प्रतिबन्धक होने के कारण जाल की तरह तने हुए झाड़ियों के समूह के समान है, वासनारूपी पुरवा हवा से वेष्टित, तुच्छ आशारूपी बिजली से विभूषित और मोहरूपी निविड़ कुहरे से जनित मेघों के खूब जोर से तर्जन-गर्जन-पूर्वक वज्रपात करने पर, अतिशय उग्र और चञ्चल लोभरूपी मयूर के ताण्डव नृत्य करने पर, अनर्थरूपी कुटज वृक्षों की कलियों के चटचट शब्द पूर्वक खूब विकसित होने पर, अतिक्रूरतम यमरूपी वन बिलार के सम्पूर्ण प्राणि रूपी चूहों का अनवरत संहार करने पर सदा मूसलाधार वृष्टि के किसी अनिर्दिष्ट स्थान से अपने ऊपर गिरने पर इस संसार में किस उपाय का अवलम्बन करना चाहिए, कौन गति है, किसका स्मरण करना चाहिए और किसकी शरण में जाना चाहिए (जैसे अरण्य में प्राप्त आँधी, वृष्टि आदि से उत्पन्न क्लेश की निवृत्ति के लिए छाता, छप्पर, चटाई आदि उपाय हैं, पारदगुटिका, ओषधिलेप आदि द्वारा शीघ्र वृष्टिरहित दूर देश में गति (गमन) होता है, संकट से बचाने वाले मन्त्र या देवता आदि का स्मरण होता है, पर्वत की गुफा का आश्रय लिया जाता

सुविकासिनि सास्फोटे ह्यनर्थकुटजद्रुमे ॥ ४ ॥
क्रूरे कृतान्तमार्जारे सर्वभूताखुहारिणि ।
अश्रान्तस्यन्दसञ्चारे कुतोऽप्युपरिपातिनि ॥ ५ ॥
क उपायो गतिः का वा का चिन्ता कः समाश्रयः ।
केनेयमशुभोदर्का न भवेज्जीविताटवी ॥ ६ ॥
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ।
सुधियस्तुच्छमप्येतद्यन्नयन्ति न रम्यताम् ॥ ७ ॥
अयं हि दग्धसंसारो नीरन्ध्रकलनाकुलः ।
कथं सुस्वादुतामेति नीरसो मूढतां विना ॥ ८ ॥
आशाप्रतिविपाकेन क्षीरस्नानेन रम्यताम् ।
उपैति पुष्पशुभ्रेण मधुनेव वसुन्धरा ॥ ९ ॥
अपमृष्टमलोदेति क्षालनेनाऽमृतद्युतिः ।
मनश्चन्द्रमसः केन तेन कामकलङ्कितात् ॥ १० ॥
दृष्टसंसारगतिना दृष्टादृष्टविनाशिना ।

है, वैसे ही सांसारिक क्लेश की निवृत्ति के लिए भी क्या कोई उपाय, गमन, स्मरण और आश्रयण आदि साधन हैं ? यह अभिप्राय है) जिससे कि यह जीवन रूपी अरण्य भविष्य में अकल्याणकारी न हो ।।१-६।।

सज्जन महात्मा जो अति तुच्छ वस्तु को भी रमणीय बना सकते हैं। यह सामर्थ्य पृथिवी में मनुष्यों में एवं स्वर्ग में देवताओं में कहीं भी नहीं है ॥ ७ ॥

निरन्तर दुःख से परिव्याप्त यह नीरस निन्द्य संसार किस उपाय से अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक सुस्वादु=सरस बनता है ॥ ८ ॥

जैसे फूलों से अत्यन्त रमणीय वसन्त के आगमन से पृथिवी मनोहर हो जाती है वैसे ही सम्पूर्ण दुःखों की एकमात्र कारण आशा के प्रसिद्ध स्वभाव से प्रतिकूल परिणामरूपी (पूर्णकामतारूपी) दुग्ध स्नान से संसार कैसे रमणीय हो जाता है ॥ ९ ॥

काम से कलङ्कित मनरूपी चन्द्रमा विद्वान् जनों द्वारा अनुभूत किस क्षालन से धोया जाय जिससे कि उससे निर्मल=काम आदि मल से रहित आनन्दरूपी चाँदनी का उदय हो सके ।।१०।।

जिसे संसार की अनर्थकारिता का अनुभव है और जो ऐहिक और पारलौकिक भोगों का विवेकजनित वैराग्य और दृढ़बोध द्वारा नाश कर चुका है, ऐसे किस महापुरुष के समान संसाररूपी वनश्रेणी में हमें व्यवहार करना चाहिए ।।११।।

कैसा प्रयत्न करने से रागद्वेषरूपी महाव्याधियाँ

केनेव व्यवहर्त्तव्यं संसारवनवीथिषु ॥ ११ ॥
रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः ।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम् ॥ १२ ॥
कथञ्च धीरदर्याऽग्नौ पतताऽपि न दह्यते ।
पावके पारदेनेव रसेन रसशालिना ॥ १३ ॥
यस्मात्किल जगत्यस्मिन् व्यवहारक्रियां विना ।
न स्थितिः सम्भवत्यब्धौ पतितस्याऽचला यथा ॥ १४ ॥
रागद्वेषविनिर्मुक्ता सुखदुःखविवर्जिता ।
कृशानोर्दाहहीनेव शिखा नाऽस्तीह सत्क्रिया ॥ १५॥
मनोमननशालिन्याः सत्ताया भुवनत्रये ।
क्षयो युक्तिं विना नाऽस्ति ब्रूत तामलमुत्तमाम् ॥ १६ ॥
व्यवहारवतो युक्त्या दुःखं नाऽऽयाति मे यया ।
अथवा व्यवहारस्य ब्रूत तां युक्तिमुत्तमाम् ॥ १७ ॥

एवं प्रचुरभोगों से परिपूर्ण दुःखदायिनी सम्पत्तियाँ संसाररूपी समुद्र में विहार करने वाले प्राणियों को क्लेश नहीं देती है ।।१२।।

हे धीर श्रेष्ठ ! जैसे अग्नि में गिरने से भी पारद रस जलता नहीं, वैसे ही अग्नि के तुल्य सन्ताप देने वाले संसार में पड़ने पर भी ज्ञानामृत से सुशोभित पुरुष किस उपाय का अवलम्बन कर सन्तप्त नहीं होता है ।।१३।।

जैसे सागर में उत्पन्न हुए मछली आदि जलजन्तुओं के जल के बिना प्राण नहीं रह सकते हैं, वैसे ही व्यवहारों के सम्पादन के बिना इस संसार में किस प्रकार स्थिति नहीं हो सकती है ।।१४।।

जैसे अग्नि दाहरहित नहीं हो सकती है, वैसे ही इस संसार में ऐसी कोई सत्क्रिया नहीं है, जो राग-द्वेष से रहित हो तथा सुख-दुःख से वर्जित हो ।।१५।।

मुनिश्रेष्ठ, तीनों भुवनों में मन का विषयों से संसर्ग होना अर्थात् विषयों का मनन करना ही मन का अस्तित्व है और उसका विषयों से सम्पर्क न होना ही मन के अस्तित्व का अभाव है और मन की सत्ता का विनाश सम्पूर्ण विषयों के बाधक तत्वज्ञान की उत्पत्ति में कारणभूत युक्ति के उपदेश के बिना नहीं हो सकता, इसलिए जब तक मुझमें तत्त्वज्ञान का उदय न हो तब तक मुझे उक्त साधन का पुनः पुनः उपदेश दीजिये ।।१६।।

अथवा जिस युक्ति से, मेरे लोकव्यवहार में रत रहने पर भी, मुझे दुःख प्राप्त न हो, व्यवहार की उस उत्तम साधन का आप मुझे उपदेश दीजिये ।।१७।।

तत्कथं केन वा किंवा कृतमुत्तमचेतसा ।
पूर्वं येनैति विश्रामं परमं पावनं मनः ॥ १८ ॥
यथा जानासि भगवन्! तथा मोहनिवृत्तये ।
ब्रूहि मे साधवो येन नूनं निर्दुःखतां गताः ॥ १९ ॥
अथवा तादृशी युक्तिर्यदि ब्रह्मन्न विद्यते ।
न वक्ति मम वा कश्चिद् विद्यमानामपि स्फुटम् ॥ २० ॥
स्वयं चैव न चाऽऽप्नोमि तां विश्रान्तिमनुत्तमाम् ।
तदहं त्यक्तसर्वेहो निरहङ्कारतां गतः ॥ २१ ॥
न भोक्ष्ये न पिबाम्यम्बु नाऽहं परिदधेऽम्बरम् ।
करोमि नाऽहं व्यापारं स्नानदानाशनादिकम् ॥ २२ ॥
न च तिष्ठामि कार्येषु सम्पत्स्वापद्दशासु च ।
न किञ्चिदपि वाञ्छामि देहत्यागादृते मुने! ॥ २३ ॥
केवलं विगताशङ्को निर्ममो गतमत्सरः ।
मौन एवेह तिष्ठामि लिपिकर्मस्विवार्पितः ॥ २४ ॥
अथ क्रमेण सन्त्यज्य प्रश्वासोच्छ्वाससंविदः ।
सन्निवेशं त्यजामीममनर्थं देहनामकम् ॥ २५ ॥
नाऽहमस्य न मे नाऽन्यः शाम्याम्यस्नेहदीपवत् ।
सर्वमेव परित्यज्य त्यजामीदं कलेवरम् ॥ २६ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवानमलशीतकराभिरामो
रामो महत्तरविचारविकासिचेताः ।
तूष्णीम्बभूव पुरतो महतां घनानां
केकारवं श्रमवशादिव नीलकण्ठः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे राघवप्रश्नो नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥३१॥

मनन से अज्ञान का निराकरण पहले किस उत्तम चित्त वाले ने किया और किस प्रकार किया? जिससे चित्त पवित्र होकर परम शान्ति को प्राप्त होता है। मोह की निवृत्ति के लिए जो कुछ आपको जानकारी हो उसे कृपाकर कहिये, जिसके अवलम्बन से अनेक साधु-सन्त पुरुषों ने निर्वाण को प्राप्त किया हैं ॥१८-१९॥

हे ब्रह्मन्? यदि वैसी कोई युक्ति है ही नहीं अथवा उसके विद्यमान रहने पर भी कोई महात्मा पुरुष मुझको उसका स्पष्ट रीति से उपदेश नहीं करता है या मैं स्वयं ही विचार कर उस सर्वश्रेष्ठ शान्ति को नहीं पा सकता हूँ, तो सम्पूर्ण चेष्टाओं का त्याग कर निरहङ्कारता को प्राप्त हुआ मैं न तो भोजन करूँगा, न जल पीऊँगा, न वस्त्र पहनूंगा, न स्नान, दान, भोजन आदि व्यापार ही करूँगा और न सम्पत्ति और आपत्ति की अवस्था में किसी प्रकार के कार्य का अवलम्बन करूँगा। हे मुने! देहत्याग को छोड़कर मैं और कुछ भी नहीं चाहता हूँ ॥ २०-२३ ॥

मैं सम्पूर्ण शङ्काओं मोह ममता और अभिमान से शून्य होकर भित्ति में लिखित चित्र के समान मौन होकर जीवित रहूँगा ॥२४॥

तदुपरान्त क्रमशः श्वास-उच्छ्वास क्रिया का त्याग कर अवयवसङ्गठन रूप देह नामक इस अनर्थ का त्याग करता हूँ, इस देह रूप अनर्थ का न मुझसे कोई सम्बन्ध है, न मेरा इससे सम्बन्ध है और न मेरा और किसी से सम्बन्ध है, मैं तेल रहित दीपक के समान शान्त हो जाऊँगा। मैं सम्पूर्ण पदार्थों का परित्याग कर इस अनर्थ-रूप देह का त्याग कर दूँगा ॥२५, २६॥

श्रीवाल्मीकि ने कहा—जैसे मयूर बड़े-बड़े मेघों के सन्मुख केकावाणी बोलकर, थकावट होने के कारण, चुप हो जाता है, वैसे ही निर्मल चन्द्रमा के सदृश मनोहर एवं तत्त्व बिचार से उदार चित्त वाले श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार कह कर वसिष्ठ आदि गुरुओं के सम्मुख मौन हो गये ॥२७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्नीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्य-प्रकरण में राघवप्रश्न नामक कुसुमलता का एकतीसवाँ सर्ग पम्पूर्ण हुआ ॥३१॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

वदत्येवं मनोमोहविनिवृत्तिकरं वचः ।
रामे राजीवपत्राक्षे तस्मिन् राजकुमारके ॥ १ ॥
सर्वे बभूवुस्तत्रस्था विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
भिन्नाम्बरा देहरुहैर्गिरः श्रोतुमिवोद्धुरैः ॥ २ ॥
विरागवासनापास्तसमस्तभववासनाः ।
मुहूर्तममृताम्भोधिवीचीविलुलिता इव ॥ ३ ॥
ता गिरो रामभद्रस्य तस्य चित्रार्पितैरिव ।
संश्रुताः शृणुकैरन्तरानन्दपदपीवरैः ॥ ४ ॥
वसिष्ठविश्वामित्राद्यैर्मुनिभिः संसदि स्थितैः ।
जयन्तधृष्टिप्रमुखैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ॥ ५ ॥
नृपैर्दशरथप्रख्यैः पौरैः पारशवादिभिः ।
सामन्तै राजपुत्रैश्च ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥
तथा भृत्यैरमात्यैश्च पञ्जरस्थैश्च पक्षिभिः ।
क्रीडामृगैर्गतस्पन्दैस्तुरङ्गैस्त्यक्तचर्वणैः ॥ ७ ॥
कौसल्याप्रमुखैश्चैव निजवातायनस्थितैः ।
संशान्तभूषणारावैरस्पन्दैर्वनितागणैः ॥ ८ ॥
उद्यानवल्लीनिलयैर्विटङ्कनिलयैरपि ।
अक्षुब्धपक्षततिभिर्विहङ्गैर्विरतारवैः ॥ ९ ॥
सिद्धैर्नभश्चरैश्चैव तथा गन्धर्वकिन्नरैः ।
नारदव्यासपुलहप्रमुखैर्मुनिपुङ्गवैः ॥ १० ॥
अन्यैश्च देवदेवेशविद्याधरमहोरगैः ।
रामस्य ता विचित्रार्था महोदारा गिरः श्रुताः ॥ ११ ॥
अथ तूष्णीं स्थितवति रामे राजीवलोचने ।
तस्मिन् रघुकुलाकाशशशाङ्के शशिसुन्दरे ॥ १२ ॥
साधुवादगिरा सार्धं सिद्धसार्थसमीरिता ।
वितानकसमा व्योम्नः पौष्पी वृष्टिः पपात ह ॥ १३ ॥
मन्दारकोशविश्रान्तभ्रमरद्वन्द्वनादिनी ।
मधुरामोदसौन्दर्यमुदितोन्मदमानवा ॥ १४ ॥
व्योमवातविनुन्नेव तारकाणां परम्परा ।
पतितेव धरापीठे स्वर्गस्त्रीहसितच्छटा ॥ १५ ॥

३२

[श्री रामचन्द्रजी के वचनों को सुननेवाले लोगों के प्रचुर आश्चर्य का तथा देवताओं द्वारा की गई पुष्प-वृष्टि का वर्णन]

श्रीवाल्मीकि ने कहा :—

कमल के सदृश नेत्र वाले राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी के इस प्रकार मन के मोह को नष्ट करने वाले वचन कहने पर वहाँ पर बैठे हुए सभी व्यक्ति आश्चर्य से प्रसन्न नेत्र हो गये, श्रीरामचन्द्रजी की वाणी सुनने के लिए मानों खड़े हुए उनके रोमराजि से उनके कपड़े छिद गये, वैराग्य की वासना से उनकी संसार की कारणभूत राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण वासनाएँ नष्ट हो गईं और वे क्षणभर के लिए अमृत-सागर की तरङ्गों में ओत-प्रोत के समान हो गये ॥१—३॥

श्रीरामचन्द्र की वे वाणियाँ सुनने में समर्थ लोगों ने हार्दिक आनन्द से प्रसन्न मुख हो ऐसे ध्यान से सुनीं कि वे निश्चलता के कारण चित्रलिखित से प्रतीत होते थे। सभा में स्थित वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणा करने में निपुण जयन्त, धृष्ट आदि दशरथ के मन्त्री, दशरथ आदि राजा, पौर आदि देशों के शासक सामन्त, नगरवासी, भरत आदि राजकुमार, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, भृत्य, अमात्य, पिंजड़े में स्थित पक्षी, निश्चल क्रीडामृग (मनोविनोद के लिए पाले गये मृग), घास-दाना न चबा रहे घोड़े, अपने महल के झरोखे पर बैठी हुई, निश्चल अतएव आभूषणों के शब्दों से रहित कौशल्या आदि रानियाँ, बगीचे की लताओं में और महल के अग्र भाग में (कबूतर आदि के रहने के स्थान में) रहने वाले, परों को तनिक भी न हिला रहे एवं चुपचाप पक्षी, आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं नारद, व्यास, पुलह आदि मुनि श्रेष्ठ। उक्त महानुभावों ने और उनसे अतिरिक्त देवता, दिक्पति देवराज आदि, विद्याधर तथा शेषनाग प्रभृति नागों ने भी श्रीरामचन्द्रजी की विचित्र अर्थों से परिपूर्ण उदारतम वाणियाँ सुनीं ॥४—११॥

रघुकुलरूपी आकाश के उज्ज्वल चन्द्रमा और चन्द्र के समान सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी जब उक्त गम्भीर वचन कह कर चुप होने पर चारों ओर से उनकी प्रशंसा के पुल बँध गये, वाह वाह से आकाश गूँज उठा और साथ ही साथ सिद्धों ने चन्दोवा के समान आकाश से मन्दार के पुष्पों के मध्य में विश्राम ले रही भँवरों की

वृष्टमूककचन्मेघलवावलिरिव च्युता ।
हैयङ्गवीनपिण्डानामीरितेव परम्परा ॥ १६ ॥
हिमवृष्टिरिवोदारा मुक्ताहारचयोपमा ।
ऐन्दवी रश्मिमालेव क्षीरोर्मीणामिवाऽऽततिः ॥ १७ ॥
किञ्जल्काम्भोजवलिता भ्रमद्भृङ्गकदम्बका ।
सीत्कारगायदामोदिमधुरानिललोलिता ॥ १८ ॥
प्रभ्रमत्केतकीव्यूहा प्रस्फुरत्कैरवोत्करा ।
प्रपतत्कुन्दवलया चलत्कुवलयालया ॥ १९ ॥
आपूरिताङ्गणरसा गृहाच्छादनचत्वरा ।
उद्ग्रीवपुरवास्तव्यनरनारीविलोकिता ॥ २० ॥
निरभ्रोत्पलसङ्काशव्योमवृष्टिरनाकुला ।
अदृष्टपूर्वा सर्वस्य जनस्य जनितस्मया ॥ २१ ॥
अदृश्याम्बरसिद्धौघरोत्करसमीरिता ।
सा मुहूर्तचतुर्भागं पुष्पवृष्टिः पपात ह ॥ २२ ॥
आपूरितसभालोके शान्ते कुसुमवर्षणे ।
इमं सिद्धगणालापं शुश्रुवुस्ते सभागताः ॥ २३ ॥
आकल्पं सिद्धसेनासु भ्रमद्भिरभितोदिवम् ।
अपूर्वमिदमस्माभिः श्रुतं श्रुतिरसायनम् ॥ २४ ॥
यदनेन किलोदारमुक्तं रघुकुलेन्दुना ।
वीतरागतया तद्धि वाक्पतेरप्यगोचरम् ॥ २५ ॥
अहो बत महत्पुण्यमद्याऽस्माभिरिदं श्रुतम् ।
वचो राममुखोद्भूतं महाह्लादकरं धियः ॥ २६ ॥
उपशमामृतसुन्दरमादरा-
दधिगतोत्तमतापदमेष यत् ।
कथितवानुचितं रघुनन्दनः
सपदि तेन वयं प्रतिबोधिताः ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे नभश्चरसाधुवादो नाम द्वात्रिंशः सर्ग ॥३२॥

जोड़ी की गुनगुनाहट से गुलजार थी, पुष्प-वृष्टि की मधुर सुगन्धि और सुन्दरता से मनुष्यों का चित्त उनके अधीन नहीं रह गया था। वह पुष्पवृष्टि क्या थी मानो आकाश वायु से गिराये गये तारों की पङ्क्ति थी, पृथिवी में गिरी हुई अप्सराओं के हास की छटा थी, बरसने के बाद तर्जन-गर्जन से रहित और बिजली से देदीप्यमान मेघों के छोटे-छोटे टुकड़ों की झड़ी थी, फेंके गये मक्खन के पिण्डों की परम्परा थी, मोतियों के हारों की राशि के समान विशाल हिम-वृष्टि थी, चन्द्रमा के किरणों की माला थी और क्षीरसागर के लहरों की पंक्ति थी। उस पुष्पवृष्टि में प्रचुर केसर से पूर्ण कमलों की अधिकता थी और उसके चारों ओर भँवर मंडरा रहे थे तथा वह स्पर्शसुखसूचक लोगों की सीत्कारध्वनि से गा रहे, अतिसुगन्धित और मन्द होने के कारण सुख स्पर्श वाले वायु से कुछ-कुछ हिल रही थी ॥१२—१८॥

उस पुष्पवृष्टि में कहीं पर केतकी के फूल लहलहा रहे थे, तो कहीं पर सफेद कमलों की छटा शोभित हो रही थी, तो कहीं पर कुन्द के फूल अधिक मात्रा में गिर रहे थे और कहीं पर केवल नीले कमलों की ही वृष्टि हो रही थी। फूलों की लगातार वृष्टि से आँगन, घर, छत और चौतरे सबके सब भर गये थे, नगर के सभी नर-नारी ऊपर गर्दन कर पुष्प-वृष्टि की छटा को देखते थे। मेघ रहित होने के कारण नील कमल के सदृश स्वच्छ आकाश से गिरी हुई वह पुष्पवृष्टि अभूतपूर्व थी, उसने सभी के चित्त को आश्चर्यमग्न कर दिया था। आकाश में अदृश्य सिद्धों द्वारा की गई उक्त पुष्पवृष्टि आधी घड़ी तक लगातार होती रही। सभा और सभा में स्थित लोगों को आच्छन्न कर उक्त पुष्पवृष्टि के बन्द होने पर सभा में स्थित लोगों ने सिद्धों का वार्तालाप सुना—हम लोग सृष्टि के आरम्भ से लेकर स्वर्ग के इस छोर से उस छोर तक अनेकानेक सिद्धों में विचर रहे हैं, पर हमने आज ही कानों को अमृत के समान प्रिय लगने वाले या वेदों के सारभूत ये वचन सुने हैं। विरक्त होने के कारण रघुवंश दीपक श्रीरामचन्द्रजी ने जो उदार वचन कहे, उन्हें वाचस्पति भी नहीं कह सकते हैं। खेद है कि जिन लोगों ने ऐसे वाक्य नहीं सुने उनका जन्म वृथा है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें श्रीरामचन्द्रजी के मुखारबिन्द से निर्गत एवं चित्त को अत्यन्त आह्लादित करने वाला यह वचन सुनने को मिला ॥१९-२६॥

श्रीरामचन्द्र ने शान्तिप्रद सुधा के समान सुन्दर एवं जाति, कुल, चरित्र, धर्माभिज्ञता आदि द्वारा प्राप्त उत्तमता के द्योतक जो वचन आदरपूर्वक कहे, उनसे हमको भी तुरन्त 'स्वर्ग आदि के सुखों में कुछ भी सार नहीं हैं' यह ज्ञान हो गया है ॥२७॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में नभश्चरसाधुवाद नामक कुसुमलता का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३२॥

३३

सिद्धा उचुः

पावनस्याऽस्य वचसः प्रोक्तस्य रघुकेतुना ।
निर्णयं श्रोतुमुचितं वक्ष्यमाणं महर्षिभिः ॥ १ ॥
नारदव्यासपुलहप्रमुखा मुनिपुङ्गवाः ।
आगच्छताऽऽश्वविघ्नेन सर्वे एव महर्षयः ॥ २ ॥
एतामः परितः पुण्यामेतां दाशरथीं सभाम् ।
नीरन्ध्रां कनकोद्योतां पद्मिनीमिव षट्पदाः ॥ ३ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इत्युक्ता सा समस्तैव व्योमवासनिवासिनी ।
तां पपात सभां तत्र दिव्वा मुनिपरम्परा ॥ ४ ॥
अग्रस्थितमनुत्सृष्टरणद्वीणं मुनीश्वरम् ।
पयःपीनघनश्यामं व्यासमेव किलाऽन्तरा ॥ ५ ॥
भृग्वङ्गिरः पुलस्त्यादिमुनिनायकमंडिता ।
च्यवनोद्दालकोशीरशरलोमादिमालिता ॥ ६ ॥
परस्परपरामर्शदुःसंस्थानमृगाजिना ।
लोलाक्षमालावलया सुकमण्डलुधारिणी ॥ ७ ॥
तारावलिरिव व्योम्नि तेजःप्रसरपाटला ।
सूर्यावलिरिवाऽन्योन्यं भासिताननमण्डना ॥ ८ ॥
रत्नावलिरिवाऽन्योन्यं नानावर्णकृताङ्गिका ।
मुक्तावलिरिवाऽन्योन्यं कृतशोभातिशायिनी ॥ ९ ॥
कौमदीवृष्टिरन्येव द्वितीयेवाऽर्कमण्डली ।
संभृतेवाऽतिकालेन पूर्णचन्द्रपरम्परा ॥ १० ॥
ताराजाल इवाऽम्भोदो व्यासो यत्र विराजते ।
तारौघ इव शीतांशुर्नारदोऽत्र विराजते ॥ ११ ॥
देवेष्विव सुराधीशः पुलस्त्योऽत्र विराजते ।
आदित्य इव देवानामङ्गिरास्तु विराजते ॥ १२ ॥
अथाऽस्यां सिद्धसेनायां पतन्त्यां नभसो रसाम् ।
उत्तस्थौ मुनिसंपूर्णा तदा दाशरथी सभा ॥ १३ ॥

३३

सिद्धों ने कहा —

रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्र द्वारा उक्त इन पवित्रतम प्रश्नवाक्यों का महर्षियों के द्वारा वक्ष्यमाण निर्णय सुनना उचित होगा ॥ १ ॥

हे नारद, व्यास, पुलह प्रभृति मुनिश्रेष्ठों और सम्पूर्ण महर्षियों ! आप लोग उसे निर्विघ्न सुनने के लिए शीघ्र पधारें ॥ २ ॥

कमलों से खचाखच भरे हुए, कनक के समान पीले केसर से देदीप्यमान एवं पवित्र कमलों के तालाब में जैसे भ्रमर चारों ओर से जाते हैं, वैसे ही हम लोग भी पवित्र परिपूर्ण सुवर्ण से चमचमा रही महाराज दशरथ की इस सभा में चारों ओर से चलें ॥ ३ ॥

श्रीवाल्मीकि ने कहा —

सिद्धों के इस प्रकार कहने पर विमानों पर रहने वाले सभी दिव्य मुनिगण उस विशाल सभा में आए ॥४॥

उनके आगे-आगे वीणा बजा रहे देवर्षि श्रीनारदजी थे और जल से पूर्ण मेघ के समान श्याम वेदव्यासजी उनके पीछे थे। उन दोनों के मध्य में दिव्य मुनि-मंडली भृगु, अङ्गिरा, पुलस्त्य आदि मुनीश्वरों से विभूषित और च्यवन, उद्दालक, उशीर, शरलोम आदि मुनिजनों से परिवेष्टित थी। परस्पर संघर्ष से उनके मृगचर्म मुड़कर कुरूप हो गये थे, रुद्राक्ष मालाएँ हिल रही थीं और सुन्दर कमंडलु उनके हाथों में सुशोभित हो रहे थे ॥५-६॥

आकाश में तेज (ब्रह्मवर्चस्) के विस्तार से सफेद और लाल मुनियों की पङ्क्ति चमक रही तारागणों की पङ्क्ति के समान शोभित हो रही थी और परस्पर तेज से उनके मुखमंडल देदीप्यमान हो के वे सूर्य-पङ्क्ति के समान प्रतीत होते थे। मुनिमंडली में परस्पर एक दूसरे के अङ्ग-प्रत्यङ्ग विविध वर्ण के थे, अतः विभिन्न रत्नों की राशि से दिखाई दे रहे थे। परस्पर एक दूसरे की शोभा बढ़ाने वाली मुनिमंडली मुक्तावली के समान दिखाई दे रही थी, वह मुनिमंडली क्या थी मानो दूसरी चाँदनी की छटा थी, दूसरी सूर्यमंडली थी, दीर्घ काल से एक स्थान में संचित पूर्ण चन्द्रों की परम्परा। मुनिमंडली में, तारागणों में सजल मेघ के समान एक ओर व्यासजी विराजमान थे, तारागणों में चन्द्रमा के सदृश दूसरी ओर नारदजी विराजमान थे, देवताओं में देवराज के सदृश महर्षि पुलस्त्य विराजमान थे और देवमंडल में सूर्य के समान अङ्गिरा विराजमान थे। मुनिगण की सिद्धसेना के आकाश से पृथिवी पर आने पर महाराज दशरथ की वह सम्पूर्ण सभा उनके स्वागत के लिए उठ खड़ी हुई ॥७—१३॥

मिश्रीभूता विरेजुस्ते नभश्चर महीचराः ।
परस्परवृताङ्गाभा भासयन्तो दिशो दश ॥ १४ ॥
वेणुदण्डावृतकरा लीलाकमलधारिणः ।
दूर्वाङ्कुराक्रान्तशिखाः सचूडामणिमूर्धजाः ॥ १५ ॥
जटाजूटैश्चकपिला मौलिमालितमस्तकाः ।
प्रकोष्ठगाक्षवलया मल्लिकावलयान्विताः ॥ १६ ॥
चीरवल्कलसंवीताः स्रक्कौशेयावगुंठिताः ।
विलोलमेखलापाशाश्चलन्मुक्ताकलापिनः ॥ १७ ॥
वसिष्ठविश्वामित्रौ तान्पूजयामासतुः क्रमात् ।
अर्घ्यैः पाद्यैर्वचोभिश्च सर्वानेव नभश्चरान् ॥ १८ ॥
वसिष्ठविश्वामित्रौ ते पूजयामासुरादरात् ।
अर्घ्यैः पाद्यैर्वचोभिश्च नभश्चरमहागणाः ॥ १९ ॥
सर्वादरेण सिद्धौघं पूजयामास भूपतिः ।
सिद्धौघो भूपतिं चैव कुशलप्रश्नवार्तया ॥ २० ॥
तैस्तैः प्रणयसंरम्भैरन्योन्यं प्राप्तसत्क्रियाः ।
उपाविशन् विष्टरेषु नभश्चरमहीचराः ॥ २१ ॥
वचोभिः पुष्पवर्षेण साधुवादेन चाऽभितः ।

एक हुए अतएव एक दूसरे की आभा को धारण करते हुए दशों दिशाओं को आभामय कर रहे वे आकाशचारी और भूमिचर अतिशय शोभित हुए। उनमें से किन्हीं के हाथ में बाँस की लट्ठियाँ थीं, किन्हीं के हाथ में लीला-कमल थे, किन्हीं के सिर में दूब के तिनके थे और किन्हीं के केशों में चूड़ामणियाँ चमक रहीं थीं, कोई जटाजूटों से कपिल हो रहे थे, किन्हीं का मस्तक मालाओं से वेष्ठित था, किन्हीं की कलाई में रुद्राक्ष की मालाएँ थीं, किन्हीं के हाथों में मल्लिका की मालाएँ शोभित हो रही थीं, कोई चीरवल्कलधारी थे, कोई सूक्ष्म रेशमी वस्त्र पहिने हुए थे, किन्हीं के अङ्ग में मूँज की मेखलाएँ लटक रही थीं और कोई मुक्ताहारों से अलङ्कृत थे ।।१४—१७।।

वसिष्ठ और विश्वामित्र ने अर्घ्य, पाद्य और मधुर वचनों द्वारा क्रमशः सभी आकाशचारियों की पूजा की। उन सिद्धों ने भी श्रीवसिष्ठ और विश्वमित्रजी की अर्घ्य, पाद्य और मधुर वचनों द्वारा बड़े आदर के साथ पूजा की। महाराज दशरथ ने सिद्धमंडली का बड़े समादर से पूजन किया और सिद्धों ने कुशल प्रश्न द्वारा महाराज दशरथ का सत्कार किया ।।१८—२०।।

रामं ते पूजयामासुः पुरः प्रणतमास्थितम् ॥ २२ ॥
आसाञ्चक्रे च तत्राऽसौ राज्यलक्ष्मीविराजितः ।
विश्वामित्रो वसिष्ठश्च वामदेवोऽथ मन्त्रिणः ॥ २३ ॥
नारदो देवपुत्रश्च व्यासश्च मुनिपुङ्गवः ।
मरीचिरथ दुर्वासा मुनिराङ्गिरसस्तथा ॥ २४ ॥
क्रतुः पुलस्त्यः पुलहः शरलोमा मुनीश्वरः ।
वात्स्यायनो भरद्वाजो वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः ॥ २५ ॥
उद्दालक ऋचीकश्च शर्यातिश्च्यवनस्तथा ॥ २६ ॥
एते चाऽन्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः ।
ज्ञातज्ञेया महात्मान आस्थितास्तत्र नायकाः ॥ २७ ॥
वसिष्ठविश्वामित्राभ्यां सह ते नारदादयः ।
इदमूचुरनूचाना राममानमिताननम् ॥ २८ ॥
अहो बत कुमारेण कल्याणगुणशालिनी ।
वागुक्ता परमोदारा वैराग्यरसगर्भिणी ॥ २९ ॥
परिनिष्ठितवक्तव्यं सबोधमुचितं स्फुटम् ।
उदारं प्रियमार्यार्हमविह्वलमपि स्फुटम् ॥ ३० ॥
अभिव्यक्तपदं स्पष्टमिष्टं स्पष्टं च तुष्टिमत् ।
करोति राघवप्रोक्तं वचः कस्य न विस्मयम् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त प्रेमोचित दान, सम्मान आदि के क्रम में परस्पर आदर-सत्कार प्राप्त कर सब आकाशचारी सिद्ध महात्मा और भूमिचर अपने-अपने आसनों पर बैठ गये। उन लोगों ने सामने नतमस्तक स्थित श्रीरामचन्द्रजी का चारों ओर से सामयिक वार्तालाप, प्रशंसा और पुष्पवृष्टि द्वारा सत्कार किया। सिद्ध-महात्माओं के मध्य में राज्यलक्ष्मी से विभूषित श्रीरामचन्द्रजी विराजमान थे। वसिष्ठ, वामदेव, सुयज्ञ आदि मन्त्री, ब्रह्मपुत्र श्रीनारदजी, मुनिश्रेष्ठ व्यासजी, मुनिवर मरीचि, दुर्वासा, अङ्गिरा, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मुनिराज शरलोमा, वात्स्यायन, भरद्वाज, वाल्मीकि, उद्दालक, ऋचीक, शर्याति, च्यवन आदि अनेक वेद और वेदाङ्गों के पारङ्गत, तत्त्वज्ञानी महात्मा विराजमान थे। वसिष्ठ और विश्वामित्रजी के साथ देवर्षि नारद आदि ने, जो कि गुरुमुख से विधिपूर्वक साङ्गवेदों का अध्ययन किये हुए वसिष्ठ और विश्वामित्र के साथ देवर्षि नारद आदि ने विनय से नतमस्तक श्रीरामचन्द्रजी से यह वाक्य कहा ।।२१—२८।।

बड़े आश्चर्य की बात है कि राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी ने कल्याण गुणों से शोभायमान, वैराग्य-रस से परिपूर्ण बड़ी उदार वाणी कही। उक्त वाणी में ये इस प्रकार

शतादेकतमस्यैव सर्वोदारचमत्कृतिः ।
ईप्सितार्थार्पणैकान्तदक्षा भवति भारती ॥ ३२ ॥
कुमार त्वां विना कस्य विवेकफलशालिनी ।
परं विकासमायाति प्रज्ञा शरलतातता ॥ ३३ ॥
प्रज्ञादीपशिखा यस्य रामस्येव हृदि स्थिता ।
प्रज्वलत्यसमालोककारिणी स पुमान् स्मृतः ॥ ३४ ॥
रक्तमांसास्थियन्त्राणि बहून्यतितराणि च ।
पदार्थानभिकर्षन्ति नास्ति तेषु सचेतनः ॥ ३५ ॥
जन्ममृत्युजरादुःखमनुयान्ति पुनः पुनः ।
विमृशन्ति न संसारं पशवः परिमोहिताः ॥ ३६ ॥
कथञ्चित् क्वचिदेवैको दृश्यते विमलाशयः ।
पूर्वापरविचारार्हो यथाऽयमरिमर्दनः ॥ ३७ ॥

के और ऐसे ही हैं, यों विचार कर वक्तव्य अर्थ व्यवस्था के साथ संनिहित है, पदार्थों का तत्त्वबोध भी है अतएव यह विद्वानों की सभा में स्थान पाने योग्य है, इसके वर्ण बिलकुल स्फुट हैं, यह वाणी उत्कृष्ट और विपुलभाव से गम्भीर है, हृदय को आनन्द देनेवाली है, पूज्य महात्माओं के सुनने योग्य है, चित्त की चञ्चलता आदि दोषों से रहित है, इसके वर्ण स्फुट हैं अर्थ भी स्फुट हैं, इसके सम्पूर्ण पद व्याकरण के नियमों से सुसंस्कृत हैं, यह हितकारिणी है, ग्रस्त आदि दोषों से रहित है तृष्णा के विनाश से उत्पन्न सन्तोष की सूचक है, श्रीरामचन्द्रजी द्वारा इस प्रकार कही गई वाणी किसको आश्चर्यमग्न नहीं करती ॥२९—३१॥

सैकड़ों में किसी एक-आध की ही वाणी सम्पूर्ण वक्ताओं की अपेक्षा सर्वांश में उत्कृष्ट चमत्कार से परिपूर्ण विवक्षित अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होती है। राजकुमार, आपके बिना अन्य किस पुरुषकी वाणी विवेकरूपी फल से सुशोभित, कुशाग्र के समान तीव्र प्रज्ञा विचार-वैराग्य रूपी पुष्प-पल्लवों से वृद्धि को प्राप्त करे? ॥ ३२,३३ ॥

श्रीरामचन्द्रजी के समान जिसके हृदय में असाधारण रीति से पदार्थों के तत्त्व का प्रकाश कराने वाली या अध्यस्त देह इन्द्रिय आदि के साम्य से पृथक्कृत आत्मा का प्रकाश कराने वाली प्रज्ञारूप दीप-ज्योति प्रज्वलित होती है, वही पुरुष है। अन्य पुरुषार्थ के लिए असमर्थ स्त्रीप्राय हैं। प्रज्ञा से हीन रक्त, मांस आदि यन्त्र रूप देह में आत्मबुद्धि होने से रक्त, माँस, अस्थि आदि यन्त्र रूप ही शब्द, स्पर्श आदि पदार्थों का उपभोग करते हैं,

अनुमत्तमचमत्कारफलाः सुभगमूर्तयः ।
भव्या हि विरला लोके सहकारद्रुमा इव ॥ ३८ ॥
सम्यग्दृष्टजगद्यात्रा स्वविवेकचमत्कृतिः ।
अस्मिन् मान्यमतावन्तरियद्यैव दृश्यते ॥ ३९ ॥
सुभगाः सुलभारोहाः फलपल्लवशालिनः ।
जायन्ते तरवो देशे न तु चन्दनपादपाः ॥ ४० ॥
वृक्षाः प्रतिवनं सन्ति नित्यं सफलपल्लवाः ।
न त्वपूर्वचमत्कारो लवङ्गः सुलभः सदा ॥ ४१ ॥
ज्योत्स्नेव शीता शशिनः सुतरोरिव मञ्जरी ।
पुष्पादामोदलेखेव दृष्टा रामाच्चमत्कृतिः ॥ ४२ ॥
अस्मिन्नुद्दामदौरात्म्यदैवनिर्माणनिर्मिते ।
द्विजेन्द्रा दग्धसंसारे सारो ह्यत्यन्तदुर्लभः ॥ ४३ ॥

वे सर्वथा मोहाछन्न होने के कारण संसार का विचार करने से पशु ही हैं; एवं वे पुनः पुनः जन्म, मरण, जरा आदि दुःखों को प्राप्त करते हैं ॥ ३४-३६ ॥

शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्रजी के समान विमल अन्तःकरणवाला निर्मल अन्तःकरणवाला, पूर्वापर का विचार करने वाला कहीं पर बड़ी कठिनाई से कोई विरला ही दिखाई देता है ॥३७॥

जैसे लोक में उत्कृष्ट माधुर्य वाले फलों में लदे हुए मनोहर आकृति वाले आम के वृक्ष विरले हैं, वैसे ही उत्कृष्ट माधुर्य से परिपूर्ण तत्त्वसाक्षात्कार से सम्पन्न मनोज्ञ आकृति वाले भव्य पुरुष विरले ही हैं ॥३८॥

यथार्थरूप से देखा गया है जगत् का व्यवहार जिससे ऐसा केवल स्वविवेक से ही तत्त्वदर्शनपर्यन्त चमत्कार आदरणीय बुद्धिवाले इसी राजकुमार में इसी अवस्था में होना, यह आज देखा। देखने में सुन्दर, सरलता से चढ़ने योग्य एवं फल, फूल और फल्लवों से सुशोभित वृक्ष सभी देशों में होते हैं, पर चन्दन के वृक्ष सर्वत्र नहीं होते। फल और पल्लवों से पूर्ण वृक्ष प्रत्येक वन में सदा मिलते हैं, पर अपूर्व चमत्कार वाला लौंग का वृक्ष सदा सर्वत्र सुलभ नहीं है ॥३९-४१॥

जैसे चन्द्रमा से शीतल चाँदनी उत्पन्न होती है जैसे सुन्दर वृक्ष से बौर उत्पन्न होते हैं और जैसे फूलों से सुगन्ध परम्परा उत्पन्न होती है, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी से चमत्कार देखा गया है ॥४२॥

हे द्विजेन्द्र! अत्यन्त दुष्टात्मा पूर्वजन्म के कर्म का अनुसरण करने वाले विधाता की सृष्टि से रचित इस निन्दित संसार में सार पदार्थ अत्यन्त दुर्लभ है ॥४३॥

यतन्ते सारसम्प्राप्तौ ये यशोनिधयो धियः ।
धन्या धुरि सतां गण्यास्त एव पुरुषोत्तमाः ॥ ४४ ॥
न रामेण समोऽस्तीह दृष्टो लोकेषु कश्चन ।
विवेकवानुदारात्मा न भावी चेति नो मतिः ॥ ४५ ॥
सकललोकचमत्कृतिकारिणोऽ-
प्यभिमतं यदि राघवचेतसः ।
फलति नो तदिमे वयमेव हि
स्फुटतरं मुनयो हतबुद्धयः ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये वैराग्यप्रकरणे नभश्चरमहीचरसम्मेलनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥३३॥

जो यशस्वी सदा तत्त्व के विचार में तत्पर होकर सार पदार्थ की प्राप्ति के लिए यत्न करने वाले ही धन्य हैं, सज्जनशिरोमणि हैं और उत्तम पुरुष हैं ॥४४॥

मेरी बुद्धि के अनुसार तीनों लोकों में श्रीरामचन्द्र जी के सदृश विवेकी एवं उदारचित्त न कोई है और न कोई होगा ॥४५॥

सम्पूर्ण लोगों को गुण, शील, विनय आदि द्वारा और समुचित प्रष्टव्य बातों के रहस्य के उद्घाटन द्वारा आनन्दित करने वाले श्रीरामचन्द्रजी के चित्त का तत्त्व-जिज्ञासारूप मनोरथ यदि हमारे ऐसे ज्ञानियों के उपदेश से परिपूर्ण नहीं हुआ, तो निश्चय ही हमारी अभिज्ञता निष्फल होगी ॥४६॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में नभश्चरमहीचरसम्मेलन नामक तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥३३॥

डा० श्रीमहाप्रभुलाल गोस्वामि विरचित कुसुमलता व्याख्या का वैराग्यप्रकरण सम्पन्न हुआ ॥

मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणम्

१

वाल्मीकिरुवाच

इति नादेन महता वचस्युक्ते सभागतैः ।
राममग्रगतं प्रीत्या विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥
न राघव तवाऽस्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर ! ।
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्धया सर्वं विज्ञातवानसि ॥ २ ॥
केवलं मार्जनामात्रं मनागेवोपयुज्यते ।
स्वभावविमले नित्यं स्वबुद्धिमुकुरे तव ॥ ३ ॥
भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्येव मतिस्तव ।
विश्रान्तिमात्रमेवाऽन्तर्ज्ञातज्ञेयाऽप्यपेक्षते ॥ ४ ॥

१

वाल्मीकि ने कहा :—

सभा में आये हुए सिद्धों द्वारा बड़े दीर्घ स्वर से पूर्वोक्त वचन कहने पर अपने सामने स्थित एवं अधिकारी श्रीरामचन्द्रजी से श्रीविश्वामित्र ने प्रीतिपूर्वक कहा ॥ १ ॥

हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! हे राघव ! तुम्हारे लिए और ज्ञातव्य शेष नहीं है, (जो तुम्हें ज्ञात न हो और अवश्य ज्ञातव्य हो, ऐसी कोई वस्तु नहीं है ।) तुम स्वयं ही सूक्ष्म बुद्धि से सम्पूर्ण रहस्य को जान चुके हो ॥२॥

स्वभावतः निर्मल तुम्हारे बुद्धिरूपी दर्पण में केवल (अविश्वास और सन्देहरूपी) मलिनता का निराकरण ही आवश्यक है, क्योंकि अपनी बुद्धि से परमात्मतत्त्व के ज्ञात होने पर भी शास्त्र और आचार्य आदि के संवाद के बिना विश्वास नहीं होता। कहा भी है कि 'बलवदपि

श्रीराम उवाच

भगवद्व्यासपुत्रस्य शुकस्य भगवन् कथम् ।
ज्ञेयेऽप्यादौ न विश्रान्तं विश्रान्तं च धिया पुनः ॥ ५ ॥

विश्वामित्र उवाच

आत्मोदन्तसमं राम ! कथ्यमानमिदं मया ।
शृणु व्यासात्मजोदन्तं जन्मनामन्तकारणम् ॥ ६ ॥
योऽयमञ्जनशैलाभो निविष्टो हेमविष्टरे ।
पार्श्वे तव पितुर्व्यासो भगवान् भास्करद्युतिः ॥ ७ ॥
अस्याऽभूदिन्दुवदनस्तनयो नयकोविदः ।
शुको नाम महाप्राज्ञो यज्ञो मूर्त्येव सुस्थितः ॥ ८ ॥
प्रविचारयतो लोकयात्रामलमिमां हृदि ।
तवेव किल तस्याऽपि विवेक उदभूदयम् ॥ ९ ॥
तेनाऽसौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः ।
प्रविचार्य चिरं चारु यत्सत्यं तदवाप्तवान् ॥ १० ॥
स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः ।
इदं वस्त्विति विश्वासं नाऽसावात्मन्युपाययौ ॥ ११ ॥
केवलं विरराामाऽस्य चेतो विगतचापलम् ।
भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥ १२ ॥
एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसुस्थितम् ।
पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥ १३ ॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने ! ।
कथं च प्रशमं याति कियत्कस्य कदेति वा ॥ १४ ॥
इति पृष्टेन मुनिना व्यासेनाऽखिलमात्मजे ।
यथावदमलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥ १५ ॥
आज्ञासिषं पूर्वमेतदहमित्यथ तत्पितुः ।
स शुकः शुभया बुद्ध्या न वाक्यं बह्वमन्यत ॥ १६ ॥
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम् ।
प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाऽहं जानामि तत्त्वतः ॥ १७ ॥

शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः' (भली-भाँति शिक्षित लोगों का भी चित्त अपने विषय में विश्वास नहीं करता) भगवान् वेदव्यासजी के सुपुत्र श्रीशुकदेवजी की बुद्धि के समान तुम्हारी बुद्धि ने भी ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है। अन्तःसाक्ष्य से केवल विश्रान्ति की ही उसे अपेक्षा है ॥ ३, ४ ॥

श्रीराम ने कहा —

हे भगवन् ! श्रीव्यास जी के पुत्र श्री शुकदेव जी की अपने ही विचार से ज्ञातव्य तत्त्व में कैसे विश्रान्ति नहीं हुई और गुरु के उपदेश द्वारा प्राप्त संवादिनी बुद्धि से फिर कैसे उनको विश्रान्ति प्राप्त हुई ? ॥ ५ ॥

हे राम ! तुम्हारे वृत्तान्त के समान सुनने वालों के लिए पुनर्जन्म का निवारण मेरे द्वारा कहा गया व्यास-पुत्र शुकदेव का वृत्तान्त सुनो ॥ ६ ॥

जो ये अञ्जन पर्वत के सदृश और सूर्य के समान तेजस्वी श्री व्यासदेव जी तुम्हारे पिताजी के बगल में सुवर्ण के आसन पर बैठे हैं, इनका चन्द्रमा के समान सुन्दर कला, महाबुद्धिमान, सर्वशास्त्रज्ञ और मूर्तिमान यज्ञ के समान शुकदेव नामक पुत्र हुआ। तुम्हारे ही समान अपने हृदय में सदा बार-बार इस लोकयात्रा का (संसार स्थिति का) विचार कर रहे उनके भी हृदय में ऐसा ही विवेक से चिरकाल तक अच्छी तरह विचार कर परमार्थसत्यरूप प्राप्त किया था ॥ ७–१० ॥

स्वयं प्राप्त परमात्मतत्त्व रूप वस्तु में उनका मन विश्रान्त नहीं हुआ, उन्हें आत्मतत्त्व में, यही वस्तु है, ऐसा विश्वास नहीं हुआ। विश्वास न होने से विश्रान्ति भी नहीं मिली। विश्रान्ति न मिलने में अविश्वास ही कारण है। जैसे स्वाति की वर्षा की जल-धाराओं से भिन्न जलधाराओं में चातक प्रीति नहीं करता, वैसे ही केवल उनका मन चञ्चलता का त्यागकर जन्म-मरण रूपी महान् दुःख के कारण विषयभोगों से विरक्त हो गया ॥ ११, १२ ॥

एक समय निर्मल मति शुकदेव जी मेरु पर्वत पर एकान्त स्थान में बैठे हुए अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन जी से बड़े भक्ति-भाव के साथ पूछा ॥ १३ ॥

हे मुने ! यह संसाररूप आडम्बर किस क्रम में उत्पन्न हुआ, कब यह उच्छिन्न होता है, यह कितना बड़ा है, कितने काल तक रहेगा और यह संसार किसका है ?॥१४॥

आत्मज के द्वारा पूछे जाने पर आत्मवेत्ता महामुनि श्री व्यास जी ने अपने पुत्र से सम्पूर्ण वक्तव्य को आद्योपान्त भली-भाँति कहा। पिताजी के उपदेश के अनन्तर श्रीशुकदेव जी ने यह सब तो मैं पहले ही जानता था, इससे कुछ अपूर्व बात नहीं ज्ञात हुई, यह सोचकर पिताजी के वाक्य का शुभ बुद्धि से विशेष आदर नहीं किया ॥ १५, १६ ॥

भगवान् व्यासदेव जी ने भी पुत्र का ऐसा अभिप्राय जानकर उनसे फिर कहा कि मैं उक्त तत्त्व से अतिरिक्त तत्त्व को नहीं जानता। पृथिवी में जनक नामके महाराज

जनको नाम भूपालो विद्यते वसुधातले ।
यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात् सर्वमवाप्स्यसि ॥ १८ ॥
पित्रेत्युक्ते शुकः प्रायात् सुमेरोर्वसुधातले ।
विदेहनगरीं प्राप जनकेनाऽभिपालिताम् ॥ १९ ॥
आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने ।
द्वारि व्याससुतो राजञ्शुकोऽत्र स्थितवानिति ॥ २० ॥
जिज्ञासार्थं शुकस्याऽ[१]सावास्तामेवेत्यवज्ञया ।
उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्तदिनान्यथ ॥ २१ ॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणम् ।
तत्राऽह्नानि स सप्तैव तथैवाऽवसदुन्मनाः ॥ २२ ॥
अथ प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुरं शुकम् ।
राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि च ॥ २३ ॥
तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसञ्चयैः ।
जनको लालयामास शुकं शशिसमाननम् ॥ २४ ॥
ते भोगास्तानि दुःखानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः ।
नाऽजहुर्मन्दपवना बद्धपीठमिवाऽचलम् ॥ २५ ॥
केवलं सुसमः स्वस्थो मौनी मुदितमानसः ।
अतिष्ठत् स शुकस्तत्र सम्पूर्ण इव चन्द्रमाः ॥ २६ ॥
परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः ।
आनीतं मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह ॥ २७ ॥
निःशेषितजगत्कार्य ! प्राप्ताखिलमनोरथ ! ।
किमीप्सितं तवेत्याशु कृतस्वागतमाह तम् ॥ २८ ॥

श्रीशुक उवाच

संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो ।
कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाऽऽशु मे ॥ २९ ॥

विश्वामित्र उवाच

जनकेनेति पृष्टेन शुकस्य कथितं तदा ।
तदेव यत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महात्मना ॥ ३० ॥

हैं, वे ज्ञातव्य तत्त्व को भली भाँति जानते हैं, उनसे तुम वेद्य आत्मतत्त्व को भली भाँति जान जाओगे ॥१७,१८॥

पिता जी के यों कहने पर श्रीशुकदेव जी सुमेरु पर्वत से पृथिवी में आये और महाराज जनक से संरक्षित विदेह नगरी में पहुँचे ॥ १९ ॥

द्वारपालों ने महात्मा जनक को सूचना दी कि राजन् ! दरवाजे पर वेदव्यास जी के सुपुत्र श्रीशुकदेव जी स्थित हैं । जनक ने उनके वैराग्य आदि साधनों की और विश्वास की स्थिरता की परीक्षा के लिए उपेक्षा के साथ अच्छा, आये हैं तो रहने दो ऐसा कह कर सात दिन तक चुपचाप रह गये ॥ २०,२१ ॥

सात दिन के बाद उन्होंने शुकदेव जी को घर के आँगन के अन्दर प्रवेश कराने की अनुमति दी, वहाँ पर भी वे पूरे सात दिन तक वैसे ही उन्मना अर्थात् तत्त्व-जिज्ञासा की उत्कण्ठा से अनादर की ओर कुछ ध्यान न देकर बैठे रहे । तदुपरान्त जनक ने शुक को अन्तःपुर में प्रवेश कराने की आज्ञा दी । वहाँ पर भी जबतक तुम्हारी भोजन आदि द्वारा पूजा नहीं हो जाती तब तक राजा नहीं दिखाई देंगे इस बहाने से राजा ने चन्द्रमा के सदृश सुन्दर मुख वाले शुकदेव जी का अन्तःपुर में यौवन-मदमत्त स्त्रियों द्वारा विविध भोगपूर्ण भोजनों से सात दिन तक लालन-पालन किया । जैसे मन्द वायु बद्धमूल वृक्ष को नहीं उखाड़ सकता, वैसे ही वे भोग, वे दुःख व्यासदेव जी के पुत्र के मन को विकृत न कर सके । वहां पर पूर्ण चन्द्र के सदृश सुन्दर श्रीशुकदेवजी भोग और अनादर में हर्ष-विषाद रहित स्वस्थ, वागादि इन्द्रियों को अपने वश में किये हुए प्रसन्न मन रहे ॥ २२—२६ ॥

प्रसन्न चित्त जिसका स्वभाव भली-भाँति ज्ञात कर लिया है, ऐसे समीप में आदरपूर्वक लाये गये शुकदेव को देखकर प्रणाम किया ॥ २७ ॥

राजा ने बड़ी शीघ्रता से शुकदेवजी का स्वागत कर उनसे कहा—महाभाग, आपने जगत् में प्रसिद्ध परम-पुरुषार्थ के साधनभूत आवश्यक सभी मनोरथ पूर्ण कर लिए हैं, आप कृतकृत्य हैं । आपको क्या अभीष्ट है ? ॥ २८ ॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा:—

गुरुदेव ! यह संसाररूपी आडम्बर किस क्रम से उत्पन्न हुआ है और कैसे इसका उच्छेद होता है, यह भली-भाँति मुझसे शीघ्र कहिये ॥ २९ ॥

श्रीविश्वामित्रजी ने कहा:—

इस प्रकार पूछने पर जनक ने श्रीशुकदेवजी से उसी तत्त्व का उपदेश दिया जिसका कि पहले उनके पिता महात्मा श्रीवेदव्यासजी ने दिया था ॥ ३० ॥

---

१ "शुकस्याज्ञायास्तां" इति पाठान्तरम् ।

श्रीशुक उवाच

स्वयमेव मया पूर्वमेतज्ज्ञातं विवेकतः ।
एतदेव च पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥ ३१ ॥
भवताऽप्येष एवाऽर्थः कथितो वाग्विदां वर ।
एष एव च वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥ ३२ ॥
यथाऽयं स्वविकल्पोत्थः स्वविकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चयः ॥ ३३ ॥
तत्किमेतन्महाबाहो सत्यं ब्रूहि ममाऽचलम् ।
त्वत्तो विश्रान्तिमाप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत् ॥ ३४ ॥

श्रीशुकदेवजी ने कहा:—

मैंने यह बात अपने विवेक से पहले ही जान ली थी और जब मैंने अपने पिताजी से पूछा, तो उन्होंने भी यही कहा ॥ ३१ ॥

हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! महाराज, आपने भी यही बात कही। यही वाक्यार्थ शास्त्रों में दिखाई देता है ॥ ३२ ॥

यह निन्दित संसार अन्तःकरण से उत्पन्न हुआ है और अन्तःकरण का आत्यन्तिक विनाश होने से नष्ट हो जाता है, अतः यह निस्सार है; ऐसा तत्त्वज्ञानियों का निश्चय है। तात्पर्यप्रकाश व्याख्या में इसका विस्तारपूर्वक अर्थ इस प्रकार कहा गया है— स्वमें—अज्ञान में उपहित आत्मामें—विविध प्रकार के प्रपञ्च की कल्पना करनेवाला विकल्प है अर्थात् अन्तःकरण, जो कि अनन्त काम, कर्म और वासनाओं के बीजों से परिपूर्ण है, सुषुप्ति अवस्था में केवल समष्टि तथा व्यष्टि संस्कारों से अवशिष्ट रह कर अव्याकृत में लीन हो जाता है और जीवभाव की उपाधि है। उस अन्तःकरण से प्रलय क्रम से विपरीत क्रम से अर्थात् पहले अपञ्चीकृत आकाश आदि की उत्पत्ति के क्रम से समष्टिहिरण्यगर्भरूप से, तदनन्तर पञ्चीकरण द्वारा विराड्रूप से, तदुपरान्त अन्नादि के क्रम से व्यष्टि-स्थूलदेहरूप से और उसके अन्दर व्यष्टिलिङ्गदेहरूप से आविर्भूत हुआ यह निन्दित संसार महा अनर्थरूप है। यह केवल कर्म और उपासना के अनुष्ठान से व्यष्टिभाव की जननी वासना का विनाश होने पर समष्टिहिरण्यगर्भरूप से अवशिष्ट रहता है तथा श्रवण आदि के परिपाक से उत्पन्न तत्त्वसाक्षात्कार से वासनासहित कार्यकारणरूप अविद्या का नाश होने पर मूलोच्छेदपूर्वक अन्तःकरण का आत्यान्तिक विनाश होने के कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है। मूलस्थित दग्धशब्द निन्दा का वाचक है।

अथवा— स्वप्रकाशरूप आत्मा में तीनों कालों में बाधित होने और मिथ्या होने के कारण यह संसार प्रथमतः दग्धप्राय अतएव निस्सार है, फिर साक्षात्कार-रूपी प्रलयाग्नि से, चारों ओर से, परिवेष्टित होनेपर कैसे रह सकता है, यह भाव है ॥३३॥

हे महाबाहो ! क्या यह सत्य है जो आपने कहा है, दृढ़तापूर्वक कहे, भ्रान्तचित्त से इधर-उधर जगत् में घूमता हुआ मैं विश्रान्ति लाभ कर सकूं ॥३४॥

जनक उवाच

नाऽतः परतरः कश्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ! ।
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम् ॥ ३५ ॥
अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत् ।
स्वसंकल्पवशाद् बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते ॥ ३६ ॥
तेन त्वया स्फुटं ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः ।
भोगेभ्यो विरतिर्जाता दृश्यात्[1] प्राक्सकलादिह ॥ ३७ ॥
तव बाल ! महावीर ! मतिर्विरतिमागता ।
भोगेभ्यो दीर्घरोगेभ्यः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

श्रीजनकजी ने कहा —

हे मुने ! आपने स्वयं विचारपूर्वक जिस तत्त्व को जाना है और जिसका गुरुमुख से श्रवण किया है, उससे अतिरिक्त दूसरा कोई ज्ञातव्य तत्त्व नहीं है ॥३५॥

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक, चिन्मय एकमात्र परम पुरुष परमात्मा ही है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। वही अद्वितीय परमात्मा अपने सङ्कल्प से संसाररूप बन्धन में पड़ा है और जब वह सङ्कल्परहित हो जाता है तब मुक्त हो जाता है ॥३६॥

यतः जिस महात्मा को पूर्व में ही सभी दृश्य पदार्थों और भोगों से विरति हो गई है।

अतः आपने ज्ञातव्य सभी विषयों का भली-भाँति ज्ञान कर लिया है ॥३७॥

हे बालक ! हे महावीर ! दीर्घ रोगों के समान भोगों के प्रति आप की बुद्धि विरक्त हो गई अब अन्य और क्या सुनना चाहते हो ॥३८॥

---

१ 'निश्चयाद्वा' इति पाठान्तरम्।

न तथा पूर्णता जाता सर्वज्ञानमहानिधेः ।
तिष्ठतस्तपसि स्फारे पितुस्तव यथा तव ॥ ३९ ॥
व्यासादधिक एवाऽहं व्यासशिष्योऽसि तत्सुतः ।
भोगेच्छातानवेनेह मत्तोऽप्यत्यधिको भवान् ॥ ४० ॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा ।
न दृश्ये पतसि ब्रह्मन् ! मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥ ४१ ॥
अनुशिष्टः स इत्येवं जनकेन महात्मना ।
अतिष्ठत्स शुकस्तूष्णीं स्वच्छे परमवस्तुनि ॥ ४२ ॥
वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः ।
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमनिन्दितम् ॥ ४३ ॥
तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना ।
दश स्थित्वा शशामाऽसावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥ ४४ ॥
व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः
स्वयममलात्मनि पावने पदेऽसौ ।
सलिलकण इवाऽम्बुधौ महात्मा
विगलितवासनमेकतां जगाम ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे वासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे शुकनिर्याणं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

विशिष्ट तपस्या में संलग्न सभी ज्ञानों के महासागर आपके पिता व्यास जी को वैसी पूर्णता नहीं प्राप्त हुई है जैसी आपको है ॥३९॥

श्रीव्यासदेवजी का शिष्य मैं श्रीव्यासजी से भी बढ़कर हूँ, क्योंकि उनके पुत्र और शिष्य आप मेरे शिष्य हुए हैं। आप में भोगों की इच्छा इतनी अल्पमात्रा में है कि भोगेच्छा की न्यूनता से आप मुझ से भी कहीं बढ़कर हैं ॥४०॥

हे ब्रह्मन् ! आपको जो पाना था, उसे आप ने पा लिया है। इस समय आपका चित्त परिपूर्ण है। आप मुक्त हो गये हैं, इसलिए कोई और भी ज्ञातव्य वस्तु है, ऐसी भ्रान्ति का त्याग कीजिये ॥४१॥

इस प्रकार महात्मा जनक के द्वारा उपदिष्ट श्रीशुकदेवजी दृश्यरूप मल से रहित परमात्मा में चित्त समाधानपूर्वक चुपचाप स्थित हो गये ॥४२॥

उनके शोक, भय, खेद, इच्छा रहित निस्संशय होकर श्रीशुकदेवजी सात्त्विक देवताओं से आक्रान्त होने के कारण चित्त विक्षेप के हेतुओं के न रहने से समाधि के अनुकूल मेरु के अनिन्दित शिखर पर समाधि के लिए चले गये ॥४३॥

वहां वे दस हजार वर्ष तक निर्विकल्पक समाधि लगाकर तेलरहित दीपक के समान आत्मा में लीन हो गये ॥४४॥

विषयासक्ति और उसके हेतु अज्ञान का विनाश होने से परम शुद्ध, निर्मलस्वरूप, पावन महात्मा श्रीशुकदेवजी निर्मल परम पावन परमात्मवस्तु में वासनारहित होकर जैसे जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है वैसे ही ऐकता को प्राप्त किया ॥४५॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में शुकनिर्याण नामक कुसुमलता का प्रथम सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

२

श्रीविश्वामित्र उवाच

तस्य व्यासतनूजस्य मलमात्रोपमार्जनम् ।
यथोपयुक्तं ते राम तावदेवोपयुज्यते ॥ १ ॥
ज्ञेयमेतेन विज्ञातमशेषेण मुनीश्वराः ! ।
स्वदन्तेऽस्मै न यद्भोगा रोगा इव सुमेधसे ॥ २ ॥

२

श्रीविश्वामित्र ने कहा :—

श्रीरामचन्द्र ! जिस प्रकार व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीके केवल मनोमालिन्य के मार्जन के लिए उपपत्ति युक्त उपदेश की आवश्यकता थी वैसे ही तुम्हारा भी मनोमालिन्य का मार्जन आवश्यक है ॥ १ ॥

पूर्वोक्त बात का ही सम्पूर्ण मुनियों की सम्मति से

ज्ञातज्ञेयस्य मनसो नूनमेतद्धि लक्षणम् ।
न स्वदन्ते समग्राणि भोगवृन्दानि यत्पुनः ॥ ३ ॥
भोगभावनया याति बन्धो दार्ढ्यमवस्तुजः ।
तयोपशान्तया याति बन्धो जगति तानवम् ॥ ४ ॥
वासनातानवं राम मोक्ष इत्युच्यते बुधैः ।
पदार्थवासनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥
स्वात्मतत्त्वाभिगमनं भवति प्रायशो नृणाम् ।
मुने ! विषयवैरस्यं कदर्थात्तूपजायते ॥ ६ ॥
सम्यक् पश्यति यस्तज्ज्ञो ज्ञातज्ञेयः स पण्डितः ।
न स्वदन्ते बलादेव तस्मै भोगा महात्मने ॥ ७ ॥
यशःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भुवि भोगा न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ८ ॥
ज्ञेयं यावन्न विज्ञातं तावत्तावन्न जायते ।
विषयेष्वरतिर्जन्तोर्मरुभूमौ लता यथा ॥ ९ ॥
अतएव हि विज्ञातज्ञेयं विद्धि रघूद्वहम् ।
यदेनं रञ्जयन्त्येता न रम्या भोगभूमयः ॥ १० ॥
रामो यदन्तर्जानाति तद्वस्त्वित्यस्येव सन्मुखात् ।
आकर्ण्य चित्तविश्रान्तिमाप्नोत्येव मुनीश्वराः ॥ ११ ॥

समर्थन करने के लिए 'मुनीश्वराः' सब मुनियों का संबोधन है । हे मुनिवर, श्रीरामचन्द्र ने ज्ञातव्य वस्तुएँ सम्पूर्णतया जान ली है, अतिशय ज्ञानसम्पन्न श्रीराम को भोग रोगों की भाँति ही रुचिकर नहीं हो रहे है ॥२॥

जिसने ज्ञातव्य वस्तु को जान लिया है, यही निश्चित लक्षण है कि समग्र भोगों का पुनः आस्वादन वह नहीं करना चाहता है अर्थात् भोग उसे प्रिय नहीं लगते हैं ॥ ३ ॥

अज्ञान से उत्पन्न संसाररूपी बन्धन भोगों की वासना से दृढ़ हो जाता है और जगत् में भोग-वासना के शान्त होनेपर बन्धन भी शिथिल हो जाता है ॥ ४ ॥

हे राम ! मनीषिगण वासनाक्षय को 'मोक्ष' कहते हैं और विषयोंमें वासनाकी दृढ़ताको बन्ध कहते हैं। आशय यह है कि जितनी ही विषयवासना क्षीण होती जायगी, उतना ही संसार से (बन्ध से) छुटकारा मिलेगा । वासनाके सर्वथा क्षीण होने पर मुक्ति हो जाती है ॥ ५ ॥

हे मुने ! मनुष्यों को आत्मतत्त्व का आपात ज्ञान (सामान्य ज्ञान) प्रायः अल्प श्रवण आदि आयास से भी हो जाता है, अपरोक्ष दृक्स्वरूप आत्मा का केवल दृश्य विवेक से भी अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है विषयों में विराग तो कष्ट से होता है ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति भली-भाँति (राग आदि से अप्रतिहत होकर) आत्मदर्शी होता है वही यथार्थ आत्मज्ञानी है, वही ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञाता पण्डित है । उस महात्मा पुरुषों को भोग हठात् अच्छे नहीं लगते ॥ ७ ॥

जिसे यश, पूजा, लाभ आदि उद्देश्यों के बिना ही भोग अच्छे नहीं लगते वह सांसारिक जीवन्मुक्त कहलाता है अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा जिसे नहीं रहता वही जीवन्मुक्त है ॥ ८ ॥

वैराग्य, बोध और उपरति की अभिवृद्धि में वैराग्य आदि परस्पर सहायक हैं, अतः जैसे मरुभूमि में लता नहीं उगती वैसे ही जबतक ज्ञातव्य तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक विषयों में वैराग्य नहीं होता ॥ ९ ॥

इसलिए आप लोग श्रीरामचन्द्रजी को निश्चयज्ञातज्ञेय (जिसने ज्ञातव्य तत्त्व को जान लिया है) यह जानिये, क्योंकि इन्हें ये मनोहर विषय अनुरञ्जित (प्रसन्न) नहीं कर रहे हैं ॥ १० ॥

हे मुनीश्वरो ! श्रीरामचन्द्रजी जिस तत्त्वको जानते हैं, उसे श्रीगुरुमुख से यही वस्तु है, ऐसा सुनकर श्रीरामजी का चित्त अवश्य विश्रान्ति को प्राप्त होगा ही, अथवा श्रीरामचन्द्रजी ने जिस तत्त्व को स्वयं विचार से जाना है, उसमें उन्हें यही वस्तु है, ऐसा दृढ़ विश्वास न होने के कारण वह अप्राप्त-सा ही है, गुरुमुख से उसे सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उसमें विश्वास होने के कारण अवश्य चित्तविश्रान्ति को प्राप्त करें । संस्कृत टीका में इस प्रकार व्यक्त किया है आशय यह है कि श्रीरामचन्द्रजी परम-तत्त्वको जानते ही हैं लोकहित के लिए वे गुरूपदेश के प्रार्थी हैं । उनका आशय यह है कि इसी बहाने अन्यान्य अधिकारी जन भी उपदेश सुनकर मेरी तरह चित्त-विश्रान्ति को प्राप्त हों । अथवा श्रीरामचन्द्रजी परमतत्त्व क्या है ? इस बात को मन ही मन में खूब जानकर भी दृढ़ विश्वास के न होने के कारण अनात्मज्ञ के समान असुखी हैं, उन्हें विश्वास दिलाने के लिए कि यही तत्त्व है, उपदेश की आवश्यकता है । उपदेश देनेके उपरान्त अविश्वास हट जायगा और परम विश्रान्ति प्राप्त हो जायगी ॥ ११ ॥

केवलं केवलीभावविश्रान्ति समपेक्षते ।
रामबुद्धिः शरल्लक्ष्मीः खलु विभ्रमणं यथा ॥ १२ ॥
अत्राऽस्य चित्तविश्रान्त्यै राघवस्य महात्मनः ।
युक्तिं कथयतु श्रीमान् वसिष्ठो भगवानयम् ॥ १३ ॥
रघूणामेव सर्वेषां प्रभुः कुलगुरुः सदा ।
सर्वज्ञः सर्वसाक्षी च त्रिकालामलदर्शनः ॥ १४ ॥
वसिष्ठ ! भगवन् ! पूर्वं कच्चित्स्मरसि यत्स्वयम् ।
आवयोर्वैरशान्त्यर्थं श्रेयसे च महाधियाम् ॥ १५ ॥
निषधाद्रेर्मुनीनां च सानौ सरलसङ्कुले ।
उपदिष्टं भगवता ज्ञानं पद्मभुवा बहु ॥ १६ ॥
येन युक्तिमता ब्रह्मन् ! ज्ञानेनेयं हि वासना ।
सांसारी नूनमायाति शमं श्यामेव भास्वता ॥ १७ ॥
तदेव युक्तिमज्ज्ञेयं रामायाऽन्तेनिवासिने ।
ब्रह्मन्नुपदिशाऽऽशु त्वं येन विश्रान्तिमेष्यति ॥ १८ ॥

जैसे शरत्काल की शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्र की अपेक्षा करती है वैसे ही निर्मल श्रीरामचन्द्रजी की बुद्धि द्वैतनिरास में विश्वास द्वारा केवल अद्वितीय चिन्मात्र के अवशेष की अपेक्षा करती है ॥१२॥

यहां पर महात्मा श्रीरामचन्द्रजी की चित्तविश्रान्ति लिए श्रीमान् भगवान् वसिष्ठजी युक्ति का निर्देश करें ॥१३॥

वसिष्ठजी सम्पूर्ण रघुवंशियों के नियन्ता, कुलगुरु, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी एवं तीनों कालों में मोह आदि से अनभिभूत निर्मल तत्वद्रष्टा हैं ॥१४॥

भगवन् ! वसिष्ठजी ! आपके और मेरे वैर को शान्त करने के लिए और महामति मुनियों के कल्याण के लिए देवदारु के वृक्षों से आवृत निषध पर्वत के शिखरपर, भगवान् ब्रह्माजी ने स्वयं पहले जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसका आपको स्मरण है ? ॥१५-१६॥

हे ब्रह्मन् ! जिस युक्तिपूर्वक ज्ञान से यह सांसारिक वासना जैसे सूर्य के उदय से रात्रि नष्ट हो जाती है वैसे ही निस्सन्देह नष्ट हो जाती है ॥१७॥

हे ब्रह्मन् ! आप उसी उपपत्तियुक्त ज्ञातव्य वस्तु का समीप में स्थित श्रीरामचन्द्रजी को शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये अवश्य ही विश्रान्ति को प्राप्त करें ॥१८॥

भगवन्, यह अल्पफल देनेवाला महान् परिश्रम नहीं है। श्रीरामचन्द्रजी निष्पाप हैं, अतः जैसे निर्मल दर्पण में प्रयत्न के बिना ही मुख प्रतिबिम्बित हो जाता है वैसे ही

कदर्थना च नैवैषा रामो हि गतकल्मषः ।
निर्मले मुकुरे वक्त्रमयत्नेनैव बिम्बति ॥ १९ ॥
तज्ज्ञानं स च शास्त्रार्थस्तद्वैदग्ध्यमनिन्दितम् ।
सच्छिष्याय विरक्ताय साधो यदुपदिश्यते ॥ २० ॥
अशिष्यायाऽविरक्ताय यत्किञ्चिदुपदिश्यते ।
तत्प्रयात्यपवित्रत्वं गोक्षीरं श्वदृताविव ॥ २१ ॥
वीतरागभयक्रोधा निर्माना गलितैनसः ।
वदन्ति त्वादृशा यत्र तत्र विश्राम्यतीह धीः ॥ २२ ॥
इत्युक्ते गाधिपुत्रेण व्यासनारदपूर्वकाः ।
मुनयस्ते तमेवाऽर्थं साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ २३ ॥
अथोवाच महातेजा राज्ञः पार्श्वे व्यवस्थितः ।
ब्रह्मेव ब्रह्मणः पुत्रो वसिष्ठो भगवान् मुनिः ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

मुने ! यदादिशसि मे तदविघ्नं करोम्यहम् ।
कः समर्थः समर्थोऽपि सतां लङ्घयितुं वचः ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी को प्रयत्न के बिना तत्त्वबोध प्राप्त हो जायगा ॥१९॥

हे साधो ! वही ज्ञान है, वही शास्त्रार्थ है और वही अनिन्दित पाण्डित्य है, जिसका कि विरक्त सत् शिष्य के लिए उपदेश दिया जाता है ॥२०॥

वैराग्यशून्य असत् शिष्य के लिए जो कुछ भी उपदेश दिया जाय, वह कुत्ते के चमड़े से बने पात्र में रक्खे हुए गाय के दूध के समान अपवित्रता को प्राप्त हो जाता है ॥२१॥

हे प्रभो ! वीतराग, भय तथा क्रोध से रहित, अभिमानशून्य और पापविवर्जित आप ऐसे महापुरुष जिसे उपदेश देते हैं, उसकी बुद्धि नित्य अपरोक्ष परमात्मतत्त्व में विश्रान्त हो ही जाती है ॥२२॥

इस प्रकार श्रीविश्वामित्रजी के कहने पर व्यास, नारद आदि सम्पूर्ण मुनियों ने भी उनके कथन को साधु साधु यह कहकर खूब प्रशंसा की ॥२३॥

तदुपरान्त महाराज दशरथ की बगल में बैठे हुए ब्रह्मा के पुत्र, ब्रह्मा के समान महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठजी ने कहा ॥२४॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे मुने ! जिस कार्य के लिए आप मुझे आदेश देते हैं, उसे मैं निर्विघ्न करता हूँ। सामर्थ्य होते हुए भी सन्तों के वचन को टालने की किसमें शक्ति है ? ॥२५॥

अहं हि राजपुत्राणां रामादीनां मनस्तमः ।
ज्ञानेनाऽपनयाम्याशु दीपेनेव निशातमः ॥ २६ ॥

स्मराम्यखण्डितं सर्वं संसारभ्रमशान्तये ।
निषधाद्रौ पुरा प्रोक्तं यज्ज्ञानं पद्मजन्मना ॥ २७ ॥

श्रीवाल्मीकिरुवाच

इति निगदितवानसौ महात्मा
परिकरबन्धगृहीतवक्तृतेजाः ।
अकथयदिदमज्ञतोपशान्त्यै
परमपदैकविबोधनं वसिष्ठः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे विश्वामित्रवाक्यं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

जैसे लोग दीपक से रात्रि का अन्धकार दूर करते हैं, वैसे ही मैं श्रीराम आदि राजकुमारों के अन्तःकरण के अज्ञान को ज्ञान से शीघ्र दूर करता हूँ ॥२६॥

पहले भगवान् ब्रह्मा ने संसाररूप भ्रम को दूर करने के लिए जिस ज्ञान का निषध पर्वत पर उपदेश दिया था, उसका मैं ज्यों का त्यों आद्योपान्त स्मरण कर रहा हूँ ॥२७॥

श्रीवाल्मीकिजी ने कहा :—

महात्मा श्रीवसिष्ठजी ने इस प्रकार स्पष्टतया प्रतिज्ञा कर प्रबोधप्राप्ति द्वारा शिष्य के अनुरञ्जन में उपायभूत दृष्टान्त, उपाख्यान, प्रमाण और तर्क आदि का अनुसंधान, उत्साह आदि परिकरबन्धन से व्याख्याताओं के तेज को धारण कर जगत् की अज्ञानता का विनाश करने के लिए मुख्यरूप से परमात्मा के बोधक शास्त्र को कहने लगे ॥२८॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में
विश्वामित्रवाक्य नामक कुसुमलता का दूसरा सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

३

श्रीवसिष्ठ उवाच

पूर्वमुक्तं भगवता यज्ज्ञानं पद्मजन्मना ।
सर्गादौ लोकशान्त्यर्थं तदिदं कथयाम्यहम् ॥ १ ॥

श्रीराम उवाच

कथयिष्यसि विस्तीर्णां भगवन्मोक्षसंहिताम् ।
इमं तावत् क्षणं जातं संशयं मे निवारय ॥ २ ॥

पिता शुकस्य सर्वज्ञो गुरुर्व्यासो महामतिः ।
विदेहमुक्तो न कथं कथं मुक्तः सुतोऽस्य सः ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमार्कप्रकाशान्तस्त्रिजगत्त्रसरेणवः ।
उत्पत्योत्पत्य लीना ये न संख्यामुपयान्ति ते ॥ ४ ॥

३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

पहले सृष्टि के आरम्भ में भगवान् श्रीब्रह्माजी ने सांसारिक सकल दुःखों की निवृत्ति के लिए जिस ज्ञान का उपदेश दिया था, उसी को मैं कहता हूं ॥१॥

श्रीराम ने कहा —

हे भगवन् ! श्रीव्यासजी के अवशिष्ट लोगों के समान जीव भाव में दिखलाई देने से एवं शुकदेवजी की मुक्ति सुनने से उत्पन्न हुए इस सन्देह को पहले क्षणभर में दूर कर दीजिये, इस सन्देह की निवृत्ति के अनन्तर विस्तीर्ण मोक्ष संहिता को कहिएगा ॥ २ ॥

उक्त सन्देह को ही दर्शाते हैं—'पिता' इत्यादि से ।

श्रीशुकदेवजी के पिता और गुरु महामति सर्वज्ञ ये व्यासजी कैसे विदेहमुक्त न हुए और इनके पुत्र श्रीशुकदेव जी कैसे मुक्त हो गये ? ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा —

परमार्करूपी[1] प्रकाश के अन्दर त्रिजगत्‌रूपी (अनन्त

१. सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक सूर्य अर्क कहलाता है । सूर्य आदि सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक परमात्मा परमार्क हुआ ।

वर्त्तमानाश्च याः सन्ति त्रैलोक्यगणकोटयः ।
शक्यन्ते ताश्च संख्यातुं नैव काश्चन केनचित् ॥ ५ ॥
भविष्यन्ति पराम्भोधौ जगत्सर्गतरङ्गकाः ।
तांश्च वै परिसंख्यातुं सा कथैव न विद्यते ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

या भूता या भविष्यन्त्यो जगत्सर्गपरम्पराः ।
तासां विचारणा युक्ता वर्त्तमानास्तु का इव ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

तिर्यक्पुरुषदेवादेर्यो नाम स विनश्यति ।
यस्मिन्नेव प्रदेशेऽसौ तदैवेदं प्रपश्यति ॥ ८ ॥
आतिवाहिकनाम्नाऽन्तः स्वहृद्येव जगत्त्रयम् ।
व्योम्नि चित्तशरीरेण व्योमात्माऽनुभवत्यजः ॥ ९ ॥
एवं मृता म्रियन्ते च मरिष्यन्ति च कोटयः ।
भूतानां यां जगन्त्याशामुदितानि पृथक् पृथक् ॥ १० ॥
सङ्कल्पनिर्माणमिव मनोराज्यविलासवत् ।
इन्द्रजालमाल इव कथार्थप्रतिभासवत् ॥ ११ ॥
दुर्वातभूकम्प इव त्रस्तबालपिशाचवत् ।
मुक्तावलीवाऽमले व्योम्नि नौस्पन्दतरुयानवत् ॥ १२ ॥
स्वप्नसंवित्तिपुरवत् स्मृतिजातखपुष्पवत् ।
जगत्संसरणं स्वान्तर्मृतोऽनुभवति स्वयम् ॥ १३ ॥

कोटि ब्रह्माण्डरूपी) त्रसरेणु[1] स्थित हो होकर लीन हो गये हैं, उनकी गिनती नहीं हो सकती। इससे व्यास आदि भी असंख्य उत्पन्न होते हैं, यह व्यक्त होता है ॥४॥

जो कोटि-कोटि त्रिजगत् इस समय विद्यमान हैं, उनमें भी कोई किसी की गिनती नहीं कर सकता है ॥५॥

परमात्मारूपी महासागर में जगत् सृष्टिरूपी जो तरङ्ग होंगे, उनकी गिनती करने के लिए भी वाणी में सामर्थ्य नहीं है ॥६॥

श्रीराम ने कहा—जो जगत्सृष्टिपरम्पराएँ अतीत हो गई हैं और जो आगामी हैं, उनका विचार करना तो ठीक है, परन्तु वर्तमान जो सृष्टियाँ हैं वे किसके समान हैं वर्तमान सृष्टियाँ विशेषरूप से (तत्तद्व्यक्तित्वरूप से) असंख्य हैं, तथापि कालतः—पूर्व और उत्तर कालरूप—दोनों तटों का भान होने से भूत और भविष्यत् सृष्टि की अपेक्षा वे न्यूनसंख्यक होने के कारण विदित ही हैं। इस प्रकार आपने यह व्यक्त किया कि अनन्त आगन्तुकों का उपादान आत्मतत्त्व अनन्त, अद्वितीय, अनागन्तुक और चैतन्यस्वरूप है ॥७॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—

पशु-पक्षी, मनुष्य, देवता आदि प्राणियों में से जो जिस स्थान पर और जब नाश को प्राप्त होता है, वह प्रत्यगात्मा उसी स्थान में तब वक्ष्यमाण त्रिजगत् को देखता है ॥८॥

आतिवाहिक[2] नामक चित्त, (अहङ्कार, मन, बुद्धि, दस इन्द्रियों और प्राण से घटित वासनामय सूक्ष्मशरीर से) अपने हृदयरूपी आकाश में (दहराकाश में) ही वासनामय त्रिजगत् का अनुभव करता है। और भ्रान्ति से वासनामय तत्-तत् शरीरों को क्रमशः प्राप्त करता है। वस्तुतः चिदाकशास्वरूप जन्मादिविकार रहित है ॥९॥

एक स्थान में दर्शाई गई युक्ति को सर्वत्र दर्शाते हैं—'एवम्' इत्यादि से।

इस प्रकार करोड़ों प्राणी मर चुके हैं, मरते हैं और मरेंगे, वे मृत्यु के पहले जीवन-दशा में जिस सम्पूर्ण जगत् को देखते हैं उनमें से जिस दृश्य में उनको वासना संस्कार पकड़ लेती है, मृत्युकाल में उनके हृदयाकाश में वही दृश्य उदित होता है, मरण के बाद उन्हें वही जगत् प्राप्त होता है। जगत् वासना का विलास मात्र है। इसी लिए गीता में कहा गया है कि जिस भाव का स्मरण करता हुआ मानव जीवन का परित्याग करता है बाद में उसी योनि या भाव को प्राप्त करता है। जडभरत की कथा प्रसिद्ध ही है। फलतः वासनात्मक जगत् सिद्ध होता है ॥१०॥

यह जगत् संकल्प से निर्मित के समान, मनोराज्य के विलास के समान, इन्द्रजाल से रचित माला के समान, कथा के अर्थ के प्रतिभास के समान, बातरोग से प्रतीत होनेवाले भूकम्प के समान, बालक को डराने के लिए कल्पित भूत के समान, निर्मल आकाश में कल्पित मोती-माला के समान, नाव की गति से प्रतीत होने वाली वृक्षों की गति के समान, स्वप्न में देखे गये नगर के समान,

२. त्र्यणुक। परमाणुद्वयेनाणुस्त्रसरेणुस्तु ते त्रयः (ब्र० वै० पु०), अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः (भा० ३।१२।५) अर्थात् दो परमाणु=एक अणु और तीन अणु=एक त्रसरेणु।

१. अतिवहनम्—अतिवाहः अर्थात् धूम, अर्चिरादि मार्गों के अभिमानी देवताओं द्वारा परलोक में पहुँचाना, उक्त कर्म में जो दक्ष है, वह आतिवाहिक कहलाता है।

तत्राऽतिपरिणामेन तदेव घनतां गतम् ।
इह लोकोऽयमित्येव जीवाकाशे विजृम्भते ॥ १४ ॥
पुनस्तत्रैव जन्मेहामरणाद्यनुभूतिमान् ।
परं लोकं कल्पयति मृतस्तत्र तथा पुनः ॥ १५ ॥
तदन्तरेऽन्ये पुरुषास्तेषामन्तस्तथेतरे[1] ।
संसार इति भान्तीमे कदलीदलपीठवत् ॥ १६ ॥
न पृथ्व्यादिमहाभूतगणा न च जगत्क्रमाः ।
मृतानां सन्ति तत्राऽपि तथाऽप्येषां जगद्भ्रमाः ॥ १७ ॥
अविद्यैव ह्यनन्तेयं नानाप्रसरशालिनी ।
जडानां सरिदादीर्घा तरत्सर्गतरङ्गिणी ॥ १८ ॥

अन्यत्र दृष्ट के स्मरण से आकाश में कल्पित पुष्प के समान भ्रम कल्पित है। मृत पुरुष इसका अपने हृदय में स्वयं अनुभव करता है ॥११–१३॥

ऐसी परिस्थिति में भगवान् वेदव्यासजी का 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' (जाग्रत् और स्वप्न आदि में अबाधित विषयत्वरूप वैलक्षण्य है, अतएव जीव ने जीवनावस्था में जो जगत् देखा था, मृत्यु के अनन्तर उसीका उसको स्मरण होता है और फिर जन्म होनेपर उसीका वह अनुभव करता है। जगत् असत् है, फिर भी पुनः पुनः दर्शन की 'इह लोक' के रूप में दृढ़ता को प्राप्त कर जीवाकाश में प्रकाशित होता है ॥१४॥

जन्म से लेकर मरण तक की चेष्टाएँ और मरण का अनुभव करनेवाला जीव उसी में इहलोक की कल्पना करता है और मरण के अनन्तर उसी में परलोक की कल्पना करता है ॥१५॥

वासना के अन्दर अन्य अनेक देह और उनके मध्य में और अन्यान्य देह इस संसार में ये केले की स्तम्भ त्वचा के समान एक के पीछे एक और एक के पीछे एक इस प्रकार शोभायमान हो रहे हैं ॥१६॥

न पृथिवी आदि पञ्च महाभूत हैं, न जगत् और जगत् का क्रम=सृष्टिक्रम है (ये सब मिथ्या हैं) फिर भी मृत और जीवित जीवों को इनमें जगत्-भ्रम होता है ॥१७॥

मूढ़ों द्वारा तैरने के अयोग्य, विविध विस्तारयुक्त अनन्त यह अविद्या हो रहे सृष्टिरूप तरङ्गों से युक्त विशाल नदी है ॥१८॥

हे राम ! अतिविस्तृत परमार्थ सत्यरूपी महासागर

परमार्थाम्बुधौ स्फारे राम सर्गतरङ्गकाः ।
भूयो भूयोऽनुवर्तन्ते त एवाऽन्ये च भूरिशः ॥ १९ ॥
सर्वतः सदृशाः केचित् कुलक्रममनोगुणैः ।
केचिदर्द्धेन सदृशाः केचिच्चाऽतिविलक्षणाः ॥ २० ॥
इमं व्यासमुनिं तत्र द्वात्रिंशं संस्मराम्यहम् ।
यथा सम्भवविज्ञानदृशा संदृश्यमानया ॥ २१ ॥
द्वादशाऽल्पधियस्तत्र कुलाकारेहितैः समाः ।
दश सर्वे समाकाराः शिष्टाः कुलविलक्षणाः ॥ २२ ॥
अद्याऽप्यन्ये भविष्यन्ति व्यासवाल्मीकयस्तथा ।
भृग्वङ्गिरःपुलस्त्याद्यास्तथैवाऽप्यन्यथैव च ॥ २३ ॥

में वे प्राचीन और नूतन सृष्टिरूपी तरङ्ग बार-बार प्रचुर मात्रा में चक्कर काट रहे हैं, उत्पत्ति और लय को प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ तो कुल, क्रम, मन और गुणों से सर्वथा समान हाते हैं, कुछ समान हैं और कुछ अत्यन्त विलक्षण अर्ध होते हैं ॥१९, २०॥

यथासम्भव जन्म, शास्त्रविज्ञान और ब्रह्मविद्या से उपलक्षित सर्वशास्त्रविशारद ये वेदव्यासजी उक्त सृष्टिरूपी तरङ्गों में बत्तीसवें हैं, ऐसा मैं स्मरण करता हूँ ॥२१॥

अनेक तरङ्गों में से ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ इस प्रकार प्रसिद्ध चार भेदों में चतुर्थ स्थान में न पहुँचने के कारण अल्पबुद्धि बारह तरङ्ग कुल, आकार, जीवन, चेष्टा आयु सर्वांश में समान हैं, दस ज्ञानादि विषय में भी समान हैं और शेष वंश में विलक्षण हैं। आशय यह है कि तात्पर्य की व्याख्या के अनुसार सृष्टिकाल से श्रीराम के समय तक अनेक व्यासों की उत्पत्ति हुई है, ये सभी न तो द्वैपायन थे और न ब्रह्मसूत्र महाभारत के रचयिता थे, किन्तु, कोई वंश आदि में पूर्ण समान थे, कोई अर्द्ध समान थे, और कोई सर्वथा विलक्षण थे। महाभारत आदि के रचयिता द्वैपायन व्यास प्रत्येक द्वापर में अवतीर्ण होते हैं। आरम्भ के मन्वन्तर से वैवस्वत मन्वन्तर तक बत्तीस द्वापर व्यतीत हुए हैं। दस ही इनमें प्रत्यक्ष हैं ॥२२॥

पूर्वसदृश और उनसे विलक्षण व्यास तथा वाल्मीकि आगे होंगे, यहीं बात भृगु, अङ्गिरा और पुलस्त्य आदि अन्यान्य ऋषियों के विषय में कही जा सकती है। अर्थात् वे भी पूर्व के समान और विलक्षण होंगे। मनुष्य, देवर्षि

१. तथा परे इति पाठान्तरम्।

नराः सुरर्षिदेवानां गणाः संभूय भूरिशः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते कदाचिच्च पृथक् पृथक् ॥ २४ ॥

ब्राह्मी द्वासप्ततिस्त्रेता आसीदस्ति भविष्यति ।
स एवाऽन्यश्च लोकाश्च त्वं चाऽहं चेति वेद्म्यहम् ॥२५॥

क्रमेणाऽस्य मुनेरित्थं व्यासस्याऽद्भुतकर्मणः ।
संलक्ष्यतेऽवतारोऽयं दशमो दीर्घदर्शिनः ॥ २६ ॥

अभूम व्यासवाल्मीकियुक्ता वयमनेकशः ।
अभूम वयमेवेमे बहुशश्च पृथक् पृथक् ॥ २७ ॥

अभूम वयमेवेमे सदृशा इतरे विदः ।
अभूम वयमेवेमे नानाकाराः समाशयाः ॥ २८ ॥

भाव्यमद्याऽप्यनेनेह ननु वाराष्टकं पुनः ।
भूयोऽपि भारतं नाम सेतिहासं करिष्यति ॥ २९ ॥

कृत्वा वेदविभागं च नीत्वाऽनेन कुलप्रथाम् ।
ब्रह्मत्वं च तथा कृत्वा भाव्यं वै देहमोक्षणम् ॥ ३० ॥

वीतशोकभयः शान्तनिर्वाणो गतकल्पनः ।
जीवन्मुक्तो जितमना व्यासोऽयमिति वर्णितः ॥ ३१ ॥

वित्तबन्धुवयःकर्मविद्याविज्ञानचेष्टितैः ।
समानि सन्ति भूतानि कदाचिन्न तु तानि तु ॥ ३२ ॥

क्वचित्सर्गशतैस्तानि भवन्ति न भवन्ति वा ।
कदाचिदपि मायेयमित्थमन्तविवर्जिता ॥ ३३ ॥

यच्छतीयं विपर्यासं भूरिभूतपरम्परा ।
बीजराशिरिवाऽजस्रं पूर्यमाणः पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

तेनैव सन्निवेशेन तथाऽन्येन पुनः पुनः ।
सर्गाकाराः प्रवर्तन्ते तरङ्गाः कालवारिधेः ॥ ३५ ॥

और देवता बार बार उत्पन्न और विलीन हुए हैं, होते हैं और होते रहेंगे। ये लोग पहले भी इस प्रकार के आकार से सम्पन्न थे, इस समय भी वैसे ही हैं इसके पश्चात् भी इस देह की अपेक्षा भिन्न-भिन्न देहों को धारण कर जन्म-ग्रहण करेंगे ॥२३, २४॥

हे राम ! ब्रह्मकल्प का बत्तीसवाँ अवयवरूप यह त्रेता-युग इस समय है ? पहले अनेक बार हो गया है और आगे भी होगा। उनके समान और विलक्षण प्राणिवर्ग, तुम और हम कितनी बार जन्म लिया है और लेंगे यह मैं जानता हूँ। आशय यह है कि जैसे इन त्रेतायुगों में कितनी ही बार तुमने रामरूप धारण किया था एवं आगे आनेवाले त्रेतायुगों में कितनी बार तुम रामरूप में अवतार लोगे, इसकी कोई सीमा नहीं है। मैं भी कितनी बार वसिष्ठ मूर्ति धारण कर चुका हूँ, इस समय भी वसिष्ठरूप में विद्यमान हूँ और आगे भी कितनी ही बार वसिष्ठरूप में अवतीर्ण होऊँगा। इन रूपों में कोई पूर्व के तुल्य होंगे और कोई उनसे भिन्न। यही बात अन्यान्य साधारण लोगों के विषय में कही जा सकती है ॥२५॥

इस प्रकार मैंने अद्भुत कर्म करने वाले दीर्घदर्शी महामुनि श्रीव्यासजी का क्रमशः यह दसवाँ अवतार संलक्षित होता है अर्थात् इन्हें दस बार जन्मते देखा है ॥२६॥

हे राम ! हम लोग कितनी ही बार व्यास, वाल्मीकि के साथ एकत्रित हुए और कितनी ही बार हम लोग पृथक् पृथक् उत्पन्न हुए हैं। हम लोगों ने कभी सदृशरूप में और कभी भिन्नरूप में जन्म-ग्रहण किया है। हम लोग आगे भी कितनी ही बार भिन्न आकारों में और समान अभिप्रायों में जन्म-ग्रहण करेंगे। कभी हम लोगों ने अभिज्ञ होकर जन्म-ग्रहण किया है और कभी अनभिज्ञ होकर। व्यासजी इस जगत् में और आठ बार उत्पन्न होकर महाभारत नामक इतिहास का प्रचार, वेदविभाग, कुल-प्रथाका पालन और ब्रह्मा के अधिकार को प्राप्त कर विदेहमोक्ष को प्राप्त होंगे ॥२७-३०॥

इस समय भी ये श्रीव्यासजी वीतशोक, निर्भय, सब प्रकार की कल्पनाओं से शून्य, प्रशान्तचित्त, निर्वाण सुख को प्राप्त बन्धन से विनिर्मुक्त हैं, अतएव ये जीवन्मुक्त कहे गये हैं ॥३१॥

कभी जीवन्मुक्त प्राणी वित्त, बन्धु, बान्धव, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओं से तुल्य होते हैं कभी सैकड़ों बार उनका जन्म होता है और कभी बहुत कल्पों में एक बार भी उनका जन्म नहीं होता है। इस प्रकार माया अनन्त है ॥ ३२, ३३ ॥

जैसे तौलने के लिए पुनः पुनः बराबर तराजू में भरी जाती हुई धान्यराशि में पहले जिस क्रम से नहीं रहते हैं, ऊपर नीचे हो जाते हैं वैसे ही यह बहुत से प्राणियों का समूह पूर्वजन्म के क्रम तथा अवयव संनिवेश की अपेक्षा विपरीत क्रम और देह संगठन को—प्राप्त करता है ॥३४॥

कालरूपी महासागर के तरङ्ग पूर्वजन्म के अवयव-संगठन अथवा क्रम से भिन्न अवयव संगठन अथवा क्रम से सृष्टि के रूप में आविर्भूत होते हैं ॥३५॥

आश्वस्तान्तःकरणः शान्तविकल्पः स्वरूपसारमयः । परमशमामृततृप्तस्तिष्ठति विद्वान्निरावरणः ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे भूयोभूयःसर्गानुवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः ॥३॥

अविद्यारूपी आवरण से रहित विद्वान् समाहित चित्त, विकल्पविरहित स्वरूपभूतसार से ओत-प्रोत चिन्मय एवं परम शान्तिरूपी अमृत से तृप्त रहता है। चाञ्चल्य, विकल्प, असार देह आदि रूपता, अशान्ति और अतृप्ति अविद्यारूपी आवरण से होती हैं उक्त आवरण के नष्ट हो जाने से चित्त समाहित हो जाता है विकल्प नष्ट हो जाते हैं, चिन्मयता प्राप्त हो जाती है और परमशान्तिरूपी सुधा से तृप्ति प्राप्त हो जाती है। जीवन्मुक्ति ही ज्ञान का फल है और वह ज्ञान से ही होती है, अन्य कर्म से नहीं होती है ॥३६॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुवैराग्यप्रकरण में सर्गानुवर्णन नामक कुसुमलता का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

४

वसिष्ठ उवाच

सौम्याऽम्बुत्वे तरङ्गत्वे सलिलस्याऽम्बुता यथा ।
समैवाऽब्धौ तथाऽदेहसदेहमुनिमुक्तता ॥ १ ॥
सदेहा वाऽस्त्वदेहा वा मुक्तता विषये न च ।
अनास्वादितभोगस्य कुतो भोज्यानुभूतयः ॥ २ ॥
जीवन्मुक्तं मुनिश्रेष्ठं केवलं हि पदार्थवत् ।
पश्यामः पुरतो नाऽस्य पुनर्विघ्नोऽन्तराशयम् ॥ ३ ॥
सदेहादेहमुक्तानां भेदः को बोधरूपिणम् ।
यदेवाऽम्बुतरङ्गत्वे सौम्यत्वेऽपि तदेव तत् ॥ ४ ॥
न मनागपि भेदोऽस्ति सदेहादेहमुक्तयोः ।
सस्पन्दोऽप्यथवाऽस्पन्दो वायुरेव यथाऽनिलः ॥ ५ ॥

४

वसिष्ठजी ने कहा—

हे सौम्य ! जैसे समुद्र में जल की निश्चलावस्था में और तरङ्गित दशा में जलत्व एक ही है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है वैसे ही विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त मुनि की स्वरूप में तुल्य ही अवस्थिति है ॥ १ ॥

मुक्ति चाहे सदेह हो अथवा विदेह हो, वह विषयाधीन कदापि नहीं है। जिसने सत्यत्वबुद्धि से भोगों का आस्वादन ही नहीं किया, उसमें भोग्य की अनुभूति कहाँ से होगी ॥ २ ॥

जीवन्मुक्त मुनिश्रेष्ठ श्रीवेदव्यासजीको पदार्थ के समान सदेह के सदृश केवल हम अपनी कल्पना से सामने देखते हैं, इन्हें अपने विदेहत्वनिश्चय के प्रति किसी प्रकार का विघ्न नहीं है ॥ ३ ॥

ज्ञानरूपी (चिन्मय) सदेहमुक्त (जीवन्मुक्त) और विदेहमुक्त में कौन भेद है ? जल की तरङ्गावस्था में जो जल है, सौम्यावस्था में=निश्चलावस्था में भी वही है ॥ ४ ॥

जल में कदाचित् अस्वच्छता, मलिनता आदिसे जनित अन्तर भी हो सकता है, सदेह और विदेह मुक्ति में कुछ भी भेद नहीं है जैसे कि वेगवान् और वेगरहित वायु वायु ही है उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है[1] ॥ ५ ॥

[1] तात्पर्य व्याख्या के अनुसार कतिपय पुस्तकों में यह भी पद्य इसके अनन्तर है—

'मयोक्तं केवलीभावं तत्तत्स्मरणजीवनम् । सदेहस्य विदेहस्य समतैव सदा शिवा ॥'

हे रामचन्द्र ! आप सर्वत्र तत्-तत् दृष्टान्तों के स्मरण का विवक्षित सारभूत अंश वस्तु की स्वरूप से अप्रच्युति है=केवलीभाव है यही मैने कहा है। ऐसी अवस्था में सदेहमुक्त और विदेहमुक्त की सदा कल्याणकारिणी समता ही है।

सदेहा वा विदेहा वा मुक्तता न प्रमास्पदम् ।
अस्माकमपि तस्याऽस्ति स्वैकताऽस्त्यविभागिनी ॥ ६ ॥
तस्मात्प्रकृतमेवेदं शृणु श्रवणभूषणम् ।
मयोपदिश्यमानं त्वं ज्ञानमज्ञानध्यनाशनम् ॥ ७ ॥
सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन ! ।
सम्यक्प्रयुक्तात् सर्वेण पौरुषात् समवाप्यते ॥ ८ ॥
इह हीन्दोरिवोदेति शीतलाह्लादनं हृदि ।
परिस्पन्दफलप्राप्तौ पौरुषादेव नाऽन्यतः ॥ ९ ॥
पौरुषं स्पन्दफलवद् दृष्टं प्रत्यक्षतो न यत् ।
कल्पितं मोहितैर्मन्दैर्दैवं किञ्चिन्न विद्यते ॥ १० ॥
साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोऽङ्गविचेष्टितम् ।

हमारी और श्रीव्यासजी की दृष्टिमें सदेहमुक्ति अथवा विदेहमुक्ति परमार्थ वस्तु नहीं है, किन्तु द्वैतशून्य आत्मैक्य ही परमार्थ वस्तु है जो एक ही है, विभाजक नहीं है। आशय यह है कि उसकी प्राप्ति रूप ज्ञान-फल में कोई भेद नहीं है, इसलिए ज्ञानमें अनित्यफलतारूप दोषकी आशङ्का का अवसर ही नहीं है, ज्ञानका उदय होनेपर देहपातकी आपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधी अंश का ही ज्ञानसे बाध होता है, प्रारब्ध कर्म का फल होने से देह-धारण प्रारब्ध कर्म-फल ज्ञान के सदृश है और ज्ञानका उपजीव्य है, इसलिए देहधारण का ज्ञान के साथ किसी प्रकारका विरोध नहीं है, जैसे उपादानभूत निद्रा का नाश होने पर भी स्वप्न के संस्कारों की कुछ काल तक अनुवृत्ति देखी जाती है, वैसे ही अज्ञान का ज्ञान से विनाश होने पर जब तक प्रारब्ध कर्म रहता है तब तक देह आदि की स्थिति उत्पन्न होती है ॥६॥

इसलिए कानों को अति प्रिय लगनेवाले अज्ञानरूपी अन्धकार को विनाश करने वाले मेरे द्वारा उपदिश्यमान इस प्रस्तुत ज्ञान को ही तुम सुनो ॥७॥

हे रघुनन्दन ! इस संसार में भली-भाँति निरन्तर किये गये पौरुष=प्रयत्न से सब लोग सदा सभी पदार्थों को प्राप्त कर सकते हैं ॥८॥

शास्त्रों में विहित कर्मों के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि होने पर हृदय में संतापरहित शीतल चन्द्राह्लाद उदित होता है, पौरुष अर्थात् पुरुष प्रयत्न के द्वारा तृष्णाक्षणरूपी परिस्पन्द=निश्चलता की प्राप्ति होती है, अन्य उपाय से नहीं अर्थात् सम्पूर्ण सुख पुरुषप्रयत्न से ही प्राप्त हो सकता है, अन्य से=दैव आदि से नहीं, इसलिए पुरुष को प्रयत्न पर ही निर्भर रहना चाहिए ॥९॥

क्रिया द्वारा दूसरे स्थान में पहुँचाता हुआ और तृप्ति करता हुआ पुरुषप्रयत्न प्रत्यक्षतः क्रियारूप फलवाला होता है। दैव को प्रत्यक्षतः किसी ने नहीं देखा है अतः वह कुछ नहीं है, अज्ञानमोहित मूढ़ पुरुषों की कपोल-कल्पनामात्र है ॥१०॥

तत्पौरुषं तत्सफलमन्यदुन्मत्तचेष्टितम् ॥ ११ ॥
यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात् ।
अवश्यं स तमाप्नोति न चेदर्धान्निवर्त्तते ॥ १२ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन त्रैलोक्यैश्वर्यसुन्दराम् ।
कश्चित्प्राणिविशेषो हि शक्रतां समुपागतः ॥ १३ ॥
पौरुषेणैव यत्नेन सहसाऽम्भोरुहास्पदम् ।
कश्चिदेव चिदुल्लासो ब्रह्मतामधितिष्ठति ॥ १४ ॥
सारेण पुरुषार्थेन स्वेनैव गरुडध्वजः ।
कश्चिदेव पुमानेव पुरुषोत्तमतां गतः ॥ १५ ॥
पौरुषेणैव यत्नेन ललनावलिताकृतिः ।
शरीरी कश्चिदेवेह गतश्चन्द्रार्द्धचूडताम् ॥ १६ ॥

शास्त्रज्ञ सज्जन पुरुषों के द्वारा निर्दिष्ट भोग से जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टाएँ की जाती हैं, वही पौरुष है, वह सुफल है, उससे भिन्न मन, वचन और शरीर की चेष्टाएँ उन्मत्त की चेष्टाएँ हैं ॥११॥

जो मनुष्य जिस प्रदार्थ को चाहता है और प्राप्ति के लिए यत्न करता है। यदि बीच ही में उसका त्याग न कर दे, तो वह क्रमशः उसको अवश्य प्राप्त करता है। अर्थात साङ्गोपाङ्ग उचित कर्म करने से अवश्य फलप्राप्ति होती है ॥१२॥

कोई प्राणि विशेष ही पुरुषप्रयत्न से ही तीनों लोकों के महा ऐश्वर्य से अतिरमणीय इन्द्रपदवी को प्राप्त करता है ॥१३॥

कोई चिदुल्लास=चित् के उत्कर्ष से उत्कृष्ट प्राणी ही पौरुष प्रयत्न से कमलासन में स्थित होकर ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है ॥१४॥

सारभूत अपने पुरुषार्थ से ही पुरुष ने गरुडध्वज होकर पुरुषोत्तमता को प्राप्त किया है ॥ १५ ॥

अपने पुरुषकार से ही किसी देही ने अर्धनारीश्वर बन कर चन्द्रशेखरता को प्राप्त किया है ॥१६॥

प्राक्तनं चैहिकं चेति द्विविधं विद्धि पौरुषम् ।
प्राक्तनोऽद्यतनेनाऽऽशु पुरुषार्थेन जीयते ॥ १७ ॥
यत्नवद्भिर्दृढाभ्यासैः प्रज्ञोत्साहसमन्वितैः ।
मेरवोऽपि निगीर्यन्ते कैव प्राक्पौरुषे कथा ॥ १८ ॥
शास्त्रनियन्त्रितपौरुषपरमा
पुरुषस्य पुरुषता या स्यात् ।
अभिमतफलभरसिद्ध्यै
भवति हि सैवाऽन्यथा त्वनर्थाय ॥ १९ ॥

कस्याञ्चित्स्वयमात्मदुःस्थिति-
वशात् पुंसो दशायां शनै-
रङ्गुल्यग्रनिपीडितैकचुलुका-
दावापबिन्दुर्बहुः ।
कस्याञ्चिज्जलराशिपर्वतपुर-
द्वीपान्तरालीकृता
भर्तव्योचितसंविभागकरणे
पृथ्वी न पृथ्वी भवेत् ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे पौरुषप्रकरणं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पौरुष दो प्रकार का है, एक पूर्वजन्म का और दूसरा इस जन्म का आधुनिक पुरुषार्थ के द्वारा पूर्वजन्म का पुरुषार्थ शीघ्र तिरस्कृत होता है ॥१७॥

निरन्तर प्रयत्न करने वाले, दृढ़ अभ्यासवाले एवं प्रज्ञा और उत्साह स युक्त पुरुष प्रलय में अधिकार रखने वाले देवताओं की पदवी को प्राप्त कर महान् मेरु पर्वत तक को निगल जाते हैं=समाप्त कर देते हैं, प्राक्तन पौरुष की तो बात ही क्या है ? ॥१८॥

श्रुति आदि से नियन्त्रित=श्रुत्यनुसारी पुरुषकार का ही (पुरुषार्थ का) ही अवश्य सम्पादन करने वाली पुरुष की जो निरन्तर उद्योगशीलता है, वही अभीष्ट सिद्धि देने वाली होती है । शास्त्रविधि के प्रतिकूल पुरुषार्थ का उपार्जन करनेवाली पुरुष की उद्योगशीलता अनर्थकारिणी होती है ॥१९॥

पुरुष जब शास्त्रीय यत्न को शिथिल करता है, तब स्वाभाविक रागादि दोषों से असन्मार्ग में आसक्त=अग्रसर होने के कारण दारिद्र्य, रोग, बंधन आदि दुर्दशा को प्राप्त करता है, जब अपने हाथ आदि भी अपने काबू में नहीं रहते, अङ्गुलियों को खूब तोड़ मरोड़कर बनाये गये चुल्लू में स्थित चुल्लूभर जल से मुँह में पड़े हुए एक बूंद जल को भी दुर्लभ होने के कारण अधिक समझता है, वही जब शास्त्रीय प्रयत्न में दृढ़ रहता है, तब धर्म के उत्कर्ष से प्रियव्रत महाराज के समान सात द्वीपों पर एकछत्र आधिपत्य कर अवश्य पोषणीय पुत्र आदि के लिए यथायोग्य दायभाग का विभाग करने में समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपों से व्याप्त विशाल पृथ्वी को भी अधिक नहीं समझता है ॥२०॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में पौरुष प्रकरण नामक चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

५

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्रवृत्तिरेव प्रथमं यथाशास्त्रविहारिणाम् । प्रभेव वर्णभेदानां साधनी सर्वकर्मणाम् ॥ १ ॥

५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

जैसे नील, पीत आदि वर्णों की अभिव्यक्ति में प्रकाश ही मुख्य कारण है, वैसे ही शास्त्र के अनुसार कायिक, वाचिक और मानसिक व्यवहार करने वाले अधिकारी पुरुषों के पुरुषार्थों की सिद्धि में प्रवृत्ति ही मुख्य कारण है ॥ १ ॥

मनसा वाञ्छ्यते यच्च यथाशास्त्रं न कर्मणा ।
साध्यते मत्तलीलाऽसौ मोहनी नाऽर्थसाधनी ॥ २ ॥
यथा संयत्यते येन तथा तेनाऽनुभूयते ।
स्वकर्मैवेति चास्तेऽन्यथा व्यतिरिक्ता न दैवदृक् ॥ ३ ॥
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति द्विविधं पौरुषं स्मृतम् ।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ ४ ॥
द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ समासमौ ।
प्राक्तनश्चैहिकश्चैव शाम्यत्यत्राऽल्पवीर्यवान् ॥ ५ ॥
अतः पुरुषयत्नेन यतितव्यं यथा तथा ।
पुंसा तन्त्रेण सद्योगाद्येनाऽऽश्वद्यतनो जयेत् ॥ ६ ॥
द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ समासमौ ।
आत्मीयश्चाऽन्यदीयश्च जयत्यतिबलस्तयोः ॥ ७ ॥
अनर्थः प्राप्यते यत्र शास्त्रितादपि पौरुषात् ।
अनर्थकर्तृ बलवत्तत्र ज्ञेयं स्वपौरुषम् ॥ ८ ॥

पुरुष जिसकी केवल मन से इच्छा करता है, शास्त्रानुसार कर्म से नहीं करता, वह उन्मत्त की चेष्टा मात्र ही करता है, वह पुरुषार्थ का साधन नहीं है, बल्कि मोह का साधन है ॥२॥

जो आदमी जैसा प्रयत्न करता है, वह वैसा ही फल पाता है । प्राक्तन स्वकर्म ही दैव कहलाता है, उससे अतिरिक्त दैव कुछ नहीं है । फलतः पौरुष ही अर्थात् कर्म ही दैव है अन्तर इतना ही है कि प्राक्तन कर्म की दैव या अदृष्ट या अपूर्व संज्ञा है । और शास्त्रानुमोदित कर्म परमार्थवस्तु की प्राप्ति का कारण है । कहींपर सम और कहीं पर असम प्राक्तन और ऐहिक दो पुरुषार्थ मेषों की तरह परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो न्यूनबलवाला होता है, वह नष्ट हो जाता है ॥३-५॥

इसलिए पुरुष को शास्त्रीय प्रयत्न से सज्जन महात्माओं के सङ्ग के द्वारा वैसा उद्योग करना चाहिए जिससे कि इस जन्म का पौरुष पूर्वजन्म के पौरुष को शीघ्र जीत ले ॥६॥

सम और विषम अपना और दूसरे का पुरुषार्थ दोनों भेड़ों की तरह लड़ते हैं उन दोनों में जो अतिबलवान् होता है, वह जीतता है ॥७॥

जहाँ पर शास्त्रानुमोदित पौरुष के सम्पादन करने पर भी अनर्थ की प्राप्ति होती है अर्थात् विघ्नबाधा प्राप्त होती है, वहाँपर अनर्थकारी अपने पौरुष को ही बलवान् समझना चाहिए ॥८॥

परं पौरुषमाश्रित्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्णयन् ।
शुभेनाऽशुभमुद्युक्तं प्राक्तनं पौरुषं जयेत् ॥ ९ ॥
प्राक्तनः पुरुषार्थोऽसौ मां नियोजयतीति धीः ।
बलादधस्पदीकार्या प्रत्यक्षादधिका न सा ॥ १० ॥
तावत्तावत्प्रयत्नेन यतितव्यं सुपौरुषम् ।
प्राक्तनं पौरुषं यावदशुभं शाम्यति स्वयम् ॥ ११ ॥
दोषः शाम्यत्यसन्देहं प्राक्तनोऽद्यतनैर्गुणैः ।
दृष्टान्तोऽत्र ह्यस्तनस्य दोषस्याऽद्यगुणैः क्षयः ॥ १२ ॥
असद्दैवमधः कृत्वा नित्यमुद्रिक्तया धिया ।
संसारोत्तरणं भूत्यै यतेताऽऽधातुमात्मनि ॥ १३ ॥
न गन्तव्यमनुद्योगैः साम्यं पुरुषगर्दभैः ।
उद्योगस्तु यथाशास्त्रं लोकद्वितयसिद्धये ॥ १४ ॥
संसारकुहरादस्मान्निर्गन्तव्यं स्वयं बलात् ।
पौरुषं यत्नमाश्रित्य हरिणेवाऽरिपञ्जरात् ॥ १५ ॥

अपने उत्कृष्ट पौरुष का अवलम्बन कर दाँतोंसे दाँतों को पीस रहे पुरुष को अपने शुभ पौरुष से विघ्न करने के लिए उद्यत पूर्व जन्म के अशुभ पौरुष को जीत लेना चाहिए । प्राक्तन कर्म जो अदृष्ट या प्रारब्ध के रूप में होकर मेरी बुद्धि को प्रेरित करता है, इस प्रकार की बुद्धि को बलपूर्वक कुचल डालना चाहिए, क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्न से अधिक बलवान् नहीं है ॥९, १०॥

तबतक पौरुषपूर्वक अच्छी तरह प्रयत्न करना चाहिए जबतक कि प्राक्तन पूर्वजन्म का अशुभ कर्म या पौरुष स्वयं निश्शेष शान्त न हो जाय ॥११॥

इस जन्म के गुणों से (शुभ पौरुष से) पूर्वजन्म का दोष (अशुभ पौरुष) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । क्योंकि कल का दोष अर्थात् अजीर्णता आदि आजके उपवास या अन्य शुभ कर्म से नष्ट हो जाते हैं—यह दृष्टान्त है ॥१२॥

पूर्व जन्म के दुरदृष्ट का ऐहिक शुभ कर्मों से सदा उद्योगशील बुद्धि द्वारा तिरस्कार कर अपने में संसारोत्तरण के सम्पादन के लिए शम, दम, श्रवण आदि सम्पत्ति के अनुष्ठान के लिए यत्न करना चाहिए ॥१३॥

पुरुषार्थ का सम्पादन न कर पुरुष को गर्दभ के समान नहीं होना चाहिए वरन् दो लोकों स्वर्ग और मोक्ष की सिद्धि के लिए शास्त्रानुसार सदा यत्न करना चाहिए ॥१४॥

जिस तरह हरि—विष्णु भगवान् असुरों द्वारा मायारूपी प्रयुक्त पिंजड़े से स्वयं बलपूर्वक निकल गये

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत देहं नश्वरमात्मनः ।
संत्यजेत्पशुभिस्तुल्यं श्रयेत्पुरुषोचितम् ॥ १६ ॥
किञ्चित् कान्तान्नपानादिकलिलं कोमलं गृहे ।
व्रणे कीट इवाऽऽस्वाद्य वयः कार्यं न भस्मसात् ॥ १७ ॥
शुभेन पौरुषेणाऽऽशु शुभमासाद्यते फलम् ।
अशुभेनाऽशुभं नित्यं दैवं नाम न किञ्चन ॥ १८ ॥
प्रत्यक्षमानमुत्सृज्य योऽनुमानमुपैत्यसौ ।
स्वभुजाभ्यामिमौ सर्पाविति प्रेक्ष्य पलायते ॥ १९ ॥
दैवं संप्रेरयति मामिति दग्धधियां मुखम् ।
अदृष्टश्रेष्ठदृष्टीनां दृष्ट्वा लक्ष्मीर्निवर्तते ॥ २० ॥
तस्मात्पुरुषयत्नेन विवेकं पूर्वमाश्रयेत् ।
आत्मज्ञानमहार्थानि शास्त्राणि प्रविचारयेत् ॥ २१ ॥
चित्तं चिन्तयतामर्थं यथाशास्त्रं निजेहितैः ।
असंसाधयतामेव मूढानां धिग्दुरीप्सितम् ॥ २२ ॥
पौरुषं च न वाऽनन्तं न यत्नमभिवाञ्छ्यते ।
न यत्नेनाऽपि महता प्राप्यते रत्नमश्मतः ॥ २३ ॥
यथा घटः परिमितो यथा परिमितः पटः ।
नियतः परिमाणस्थः पुरुषार्थस्तथैव च ॥ २४ ॥
स च सच्छास्त्रसत्सङ्गसदाचारैर्निजं फलम् ।
ददातीति स्वभावोऽयमन्यथा नार्थसिद्धये ॥ २५ ॥
स्वरूपं पौरुषस्यैतदेवं व्यवहरन्नरः ।
याति निष्फलयत्नत्वं न कदाचन कश्चन ॥ २६ ॥
दैन्यदारिद्र्यदुःखार्त्ता अप्यन्ये पुरुषोत्तमाः ।
पौरुषेणैव यत्नेन याता देवेन्द्रतुल्यताम् ॥ २७ ॥

अथवा जैसे हरि=सिंह मनुष्यों से बनाये गये बन्धनरूपी पिंजड़े से स्वयं बलपूर्वक निकल जाता है, उसी प्रकार मनुष्यों को पौरुषरूपी यत्न का अवलम्बन कर इस संसार रूपी गर्त से स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिए ।।१५।।

अपने शरीर को प्रतिदिन नश्वर समझे, पशुओं की समानता को छोड़ दे अर्थात् पशुता को स्वीकार न करे, किन्तु सत्पुरुषों के योग्य साधु-सङ्गम और सत्शास्त्रों का अवलम्बन करे । आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि का पशु अपने प्राक्तन कर्मों के अनुसार भोग करता है, किन्तु अपनी विवेक बुद्धि से शास्त्रानुमोदित कर्मानुष्ठान कर जीवन को उदार उदात्त करना चाहिए ॥ १६ ॥

जैसे कीट घाव के पीप आदि द्रव पदार्थका आस्वादन करता हुआ जीवनयापन करता है वैसे ही घर में स्त्री, अन्न, पान आदि द्रव और कोमल पदार्थों का आस्वादन करते हुए सम्पूर्ण पुरुषार्थों के साधनभूत यौवन को व्यर्थ व्यतीत नहीं करना चाहिए ।।१७।।

शुभ पुरुषकार से शीघ्र शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पौरुष से अशुभ फल मिलता है । पूर्वजन्म के शुभ और अशुभ कर्म अर्थात् पौरुष से अतिरिक्त दैव नाम की कोई वस्तु नहीं है ॥ १८ ॥

जो मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण का त्याग कर अनुमान प्रमाण का अवलम्बन करता है, वह अपनी बाहुओं को ही सर्प समझकर उनसे भयभीत होकर भागता है ।।१९।।

विश्वामित्र आदि श्रेष्ठ पुरुषों ने पौरुष से ही पुरुषार्थ का अर्जन किया था, इस बात को न जानकर मुझे दैव प्रेरित कर रहा है, ऐसा कहनेवाले दुर्बुद्धियों का मुख देखकर ही लक्ष्मी लौट जाती है ।।२०।।

इसलिए पहले पुरुषकार से नित्यानित्यवस्तुविवेक आदि चार साधनों का अवलम्बन करना चाहिए और आत्मज्ञानरूपी महान् अर्थवाले शास्त्रों का मनन करना चाहिए ।।२१।।

शास्त्रानुसार श्रवण, मनन आदि चेष्टाओं द्वारा परमार्थभूत आत्मतत्त्व का विचार न करने वाले पुरुषार्थ-साधन से शून्य मूढ़ पुरुषों की अनन्त अतिदुष्ट भोगेच्छा को धिक्कार है ।।२२।।

पौरुष निरवधिक नहीं है, साक्षात्कार का उदय ही उसकी अवधि है । वह प्रयत्न की भी अपेक्षा नहीं करता, बहुत बड़े प्रयत्न से भी पत्थर से रत्न की प्राप्ति नहीं हो सकती है ।।२३।।

जैसे घड़ा परिमित है जैसे लम्बाई चौड़ाई आदि परिमाण से वस्त्र परिमित है, वैसे ही पुरुषप्रयत्न भी परिमाणस्थ (आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूपी फल की अवधि में स्थित) एवं परिमित है, अर्थात् पुरुष के प्रयत्न की अवधि भी तत्त्व का साक्षात्कारात्मक ज्ञान है ।।२४।।

यदि पुरुषप्रयत्न सत् शास्त्र, सत्सङ्ग और सदाचार से युक्त होता है, तो अपना फल (तत्त्वसाक्षात्कार) देता है, यह उसका स्वभाव है । यदि वह सत्-शास्त्र, सत्सङ्ग और सदाचार मे रहित होता है, तो उससे फलकी सिद्धि नहीं होती है ।।२५।।

पौरुष का यह स्वभाव है कि इस प्रकार व्यवहार कर रहे किसी भी पुरुष का प्रयत्न कभी भी विफल नहीं होता है ।।२६।।

दीनता और दरिद्रता से उत्पन्न दुःख से पीड़ित हुए

आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्सङ्गमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन स्वार्थः संप्राप्यते यतः ॥ २८ ॥
इति प्रत्यक्षतो दृष्टमनुभूतं श्रुतं कृतम् ।
दैवात्तमिति मन्यन्ते ये हतास्ते कुबुद्धयः ॥ २९ ॥
आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः
को न स्याद्बहुधनको बहुश्रुतो वा ।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता
संपूर्णा नरपशुभिश्च निर्धनैश्च ॥ ३० ॥
बाल्ये गतेऽविरतकल्पितकेलिलोले
दोर्दण्डमण्डितवयःप्रभृति प्रयत्नात् ।
सत्सङ्गमैः पदपदार्थविशुद्धबुद्धिः
कुर्यान्नरः स्वगुणदोषविचारणानि ॥ ३१ ॥

वाल्मीकिरुवाच

इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरेण सहाऽऽजगाम ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे पौरुषस्थापनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

नल, हरिश्चन्द्र आदि श्रेष्ठ पुरुष भी अपने पुरुषकार से ही देवराज के समान हो गये हैं ।।२७।।

बाल्यावस्था से लेकर भली-भाँति अभ्यस्त शास्त्र, सत्सङ्ग आदि गुणों से पुरुषप्रयत्न के द्वारा स्वार्थ=तत्त्व-साक्षात्कार प्राप्त होता है । (सहसा किये मये शास्त्राभ्यास, सत्सङ्ग आदि से वह प्राप्त नहीं किया जा सकता) ।।२८।।

जीवन्मुक्त हम लोगों ने इस बात का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया है, सुना है और साधनों से उसे उपार्जित भी किया है, जो लोग उसे दैवाधीन कहते हैं, वे कुत्सित मति और विनष्ट हैं ।।२९।।

अनर्थ (दुर्गति) का कारण होने या अर्थ (उन्नति) का विघातक होने के कारण अनर्थकारी आलस्य यदि जगत् में न होता, तो कौन पुरुष बड़ा धनी और विद्वान् नहीं होता अर्थात् सभी धनी और विद्वान् होते ? आलस्य के कारण ही यह सागरपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी निर्धनो और नरपशुओं से परिपूर्ण है । (इसलिए आलस्य का परित्याग कर बाल्यकाल से ही मनुष्य को सत्संग, शास्त्राभ्यास आदि में लग जाना चाहिए, यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है) ।।३०।।

चपल बालकों द्वारा की गई क्रीड़ाओं से अति चञ्चल बाल्यावस्था के बीत जानेपर गुरुसेवा आदि में समर्थ भुजाओं से अलंकृत अवस्था से (यौवनावस्था से) लेकर पद-पदार्थ के ज्ञान में निपुण (व्युत्पन्न) पुरुष गुरु, सतीर्थ्य, अपने से अधिक ज्ञाताओं के संग से अपने गुणों का (भक्ति, दया आदि का), दोषों का (राग-द्वेष आदि का) विचारकर अर्थात् शान्ति आदि से अन्त में कल्याण होता है और राग आदि से अनर्थ की प्राप्ति होती है, इस प्रकार मनन करे ।।३१।।

वाल्मीकिजी ने कहा :—

महामुनि श्रीवसिष्ठजी के इस प्रकार उपदेश देते हुए दिन बीत गया और सूर्य भगवान् अस्ताचल के शिखर-पर चले गये । मुनिसभा महामुनि वसिष्ठजी को प्रणाम कर सायं-सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र आदि करने के लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रि बीतनेपर सूर्योदय होते-होते श्रीवसिष्ठजी के पास पुनः आ गई ।

योगवासिष्ठ की तात्पर्यप्रकाश नाम की संस्कृतव्याख्या में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—वाल्मीकिजी ने कहा, यह अरिष्टनेमि के प्रति देवदूत की उक्ति है, वाल्मीकिजी के इस प्रकार से भरद्वाज के प्रति कहनेपर दिन अस्त हो गया, सूर्य भगवान् अस्ताचल के शिखरपर चले गये एवं मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को नमस्कार कर सायंकालीन सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि करने के लिए स्नानार्थ चली गई और रात्रि के बीतने के बाद सूर्योदय होनेपर पुनः वाल्मीकिजी के पास आ गई। टीकाकार का कहना है कि यदि इस प्रकार अर्थ न किया जायगा तो आगे तत्-तत् स्थलों में जो दशरथसभा के उत्थान का वर्णन, आह्निक कर्मानुष्ठान का वर्णन, रात्रि में राम आदि के साथ श्रुत अर्थ के चिन्तन का वर्णन एवं प्रातः सूर्योदय आदि का वर्णन है, वह असङ्गत हो जायगा ।।३२।।

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण का पौरुषस्थापन नामक पाचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।।५।।

६

वसिष्ठ उवाच

तस्मात्प्राक्पौरुषाद्दैवं नाऽन्यत्तत्प्रोज्झ्य दूरतः ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रैर्जीवमुत्तारयेद् बलात् ॥ १ ॥
यथा यथा प्रयत्नः स्याद्भवेदाशु फलं तथा ।
इति पौरुषमेवाऽस्ति दैवमस्तु तदेव च ॥ २ ॥
दुःखाद्यथा दुःखकाले हा कष्टमिति कथ्यते ।
हा कष्टशब्दपर्यायस्तथा हा दैवमित्यपि ॥ ३ ॥
प्राक्स्वकर्मेतराकारं दैवं नाम न विद्यते ।
बालः प्रबलपुंसेव तज्जेतुमिह शक्यते ॥ ४ ॥
ह्यस्तनो दुष्ट आचार आचारेणाऽद्य चारुणा ।
यथाऽऽशु शुभतामेति प्राक्तनं कर्म तत्तथा ॥ ५ ॥
तज्जयाय यतन्ते ये न लोभलवलम्पटाः ।
ते दीनाः प्राकृता मूढाः स्थिता दैवपरायणाः ॥ ६ ॥
पौरुषेण कृतं कर्म दैवाद् यदभिनश्यति ।
तत्र नाशयितुर्ज्ञेयं पौरुषं बलवत्तरम् ॥ ७ ॥
यदेकवृन्तफलयोरथैकं शून्यकोटरम् ।
तत्र प्रयत्नः स्फुरितस्तथा तद्रससंविदः ॥ ८ ॥
यत्प्रयान्ति जगद्भावाः संसिद्धा अपि संक्षयम् ।
क्षयकारकयत्नस्य ह्यत्र ज्ञेयं महद् बलम् ॥ ९ ॥
द्वौ हुडाविव युध्येते पुरुषार्थौ परस्परम् ।
य एव बलवांस्तत्र स एव जयति क्षणात् ॥ १० ॥
भिक्षुको मङ्गलेभेन नृपो यत्क्रियते बलात् ।
तदमात्येभपौराणां प्रयत्नस्य बलं महत् ॥ ११ ॥

६

वसिष्ठजी ने कहा:—

पौरुष से अतिरिक्त दैव कोई वस्तु नहीं है, इसलिए पूर्वजन्म में किया गया पुरुषप्रयत्न ही दैव है। अतएव मैं दैव के अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, इस प्रकार के विचार का परित्याग कर सज्जनसङ्गति अच्छे शास्त्र के अभ्यास से अधिकारी मनुष्य इस संसारसागर से अपना उद्धार करे ॥ १ ॥

जैसा प्रयत्न होगा वैसा ही शीघ्र फल होगा, इसीका नाम पौरुष है और उसीको दैव भी कहते हैं, दैव और पौरुष में कोई अन्तर नहीं है ॥ २ ॥

जैसे दुःख के समय में दुःख से 'हा कष्ट' कहा जाता है, वैसे ही 'हा कष्ट' शब्द का ही दूसरा पर्याय 'प्राक्तन अशुभ कर्म' भी है। अर्थात् दुःखरूप से परिणत अपना प्राक्तन कर्म 'हा कष्ट' शब्द से कहा जाता है और वही 'दैव है ॥३॥

दैव अपने प्राक्तन कर्म से भिन्न नहीं है। जैसे प्रबल पुरुष बालक को जीत लेता है, वैसे ही वह भी प्रबल पौरुष से जीता जा सकता है ॥४॥

जैसे कल का दुराचरण आज के सुन्दर आचरण से शुभ हो सकता है, वैसे ही प्राक्तन अशुभ कर्म की अशुभता भी वर्तमान शुभ कर्म से नष्ट हो सकती है ॥५॥

जो तुच्छ विषयसुख के लोभ में पड़कर प्राक्तन कर्मरूपी दैव को जीतने के लिए प्रयत्न नहीं करते तथा सदा दैव के भरोसे बैठे रहते हैं, वे विचारे पामर और मूर्ख हैं ॥६॥

यदि कहीं पर पुरुषप्रयत्न से किया गया कर्म दैव से (भाग्य से) विनष्ट हो जाय, तो वहाँ पर भी नाश करने वाले एक पौरुष को ही दैव से बलवत्तर समझना चाहिए ॥७॥

जहाँ एक टहनी में लगे हुए दो फलों में एक खोखला (रसशून्य) होता है वहाँपर उसके रस का उपभोग करनेवाले मनुष्य या कीड़े आदि का, पूर्वजन्म का या इस जन्म का, प्रयत्न ही=पौरुष ही उसके रस का विनाशक होता है ॥८॥

जहाँपर जगत् में संसिद्ध पदार्थ भी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, वहाँपर विनाश करनेवाले का प्रयत्न अधिक बलवान् है, यही मानना चाहिए ॥९॥

पूर्वजन्म के और इस जन्म के कर्म (पौरुष) दो भेड़ों की भाँति परस्पर लड़ते हैं, उनमें जो बलवान् होता है, वही दूसरे को क्षणभर हराकर विजयी होता है ॥१०॥

राजवंश के न रहने पर मन्त्री आदि से प्रेरित अलङ्कृत हाथी किसी भिक्षुक को लाकर बलात् राजा बना देता है, वह मन्त्री, हाथी और नगरवासियों के प्रयत्न का ही महान् फल है। आशय यह है कि भिक्षुक का राज्य-

पौरुषेणाऽन्नमाक्रम्य यथा दन्तेन चूर्ण्यते ।
अन्यः पौरुषमाश्रित्य तथा शूरेण चूर्ण्यते ॥ १२ ॥
अन्नभूता हि महतां लघवो यत्नशालिनाम् ।
यथेष्टं विनियोज्यन्ते तेन कर्मसु लोष्ठवत् ॥ १३ ॥
शक्तस्य पौरुषं दृश्यमदृश्यं वाऽपि यद्भवेत् ।
तद्दैवमित्यशक्तेन बुद्धमात्मन्यबुद्धिना ॥ १४ ॥
भूतानां बलवद्भूतं यन्न दैवमिति स्थितम् ।
तत्तेषामप्यधिष्ठातृ सतामेतत्स्फुटं मिथः ॥ १५ ॥
शास्त्रामात्येभपौराणामविकल्पा स्वभावधीः ।
या सा भिक्षुकराज्यस्य कर्तृ धर्तृ प्रजास्थितेः ॥ १६ ॥
भिक्षुको मङ्गलेभेन नृपो यत्क्रियते क्वचित् ।
प्राक्तनं पौरुषं तत्र बलवद्वाऽपि कारणम् ॥ १७ ॥
ऐहिकः प्राक्तनं हन्ति प्राक्तनोऽद्यतनं बलात् ।
सर्वदा पुरुषस्पन्दस्तत्राऽनुद्वेगवाञ्जयी ॥ १८ ॥
द्वयोरद्यतनस्यैव प्रत्यक्षाद् बलिता भवेत् ।
दैवं जेतुं यतो यत्नैर्बालो यूनेव शक्यते ॥ १९ ॥
मेघेन नीयते यद्वद्वत्सरोपार्जिता कृषिः ।
मेघस्य पुरुषार्थोऽसौ जयत्यधिकयत्नवान् ॥ २० ॥
क्रमेणोपार्जितेऽप्यर्थे नष्टे कार्या न खेदिता ।
न बलं यत्र मे शक्तं तत्र का परिदेवना ॥ २१ ॥
यन्न शक्नोमि तस्यार्थे यदि दुःखं करोम्यहम् ।
तदमारितमृत्योर्मे युक्तं प्रत्यहरोदनम् ॥ २२ ॥

प्राप्ति के अनुकूल पूर्वजन्म का पुण्य होनेपर भी मन्त्री आदि का पौरुष भी उसमें अन्यतर कारण है। यदि मन्त्री हाथी को भेजना आदि उद्योग न करे तो भिक्षुक का लड़का कदापि राजा नहीं हो सकता है। निस्सन्देह मन्त्रियों का पुरुषकार=प्रयत्न या उद्योग भिक्षुक के राज्यलाभ में सहकारी कारण है और भिक्षुक का बलवान् पुण्य मुख्य कारण है ॥११॥

जैसे पुरुषकार से (प्रयत्न से) भक्षण करने योग्य अन्न को मुँह में दबाकर फिर दाँतों से चूर-चूर किया जाता है वैसे ही बलवान् पुरुष पौरुष का अवलम्बन कर दुर्बल को पीस डालता है ॥१२॥

यतः प्रयत्नशील महाबली पुरुषों के अल्प बलवाले पुरुष उपयोग योग्य होते हैं, इसलिए वे उनको ढेले के समान अपनी इच्छा के अनुसार कर्म में नियुक्त करते हैं ॥१३॥

असमर्थ और अल्पबुद्धि पुरुष बलवान् और बुद्धिमान् पुरुष के पौरुष को अर्थात् उसके द्वारा किये गये सफल यत्न को चाहे वह दृश्य, हो या अदृश्य, अपनी अज्ञानता के वश 'दैव' या अदृष्ट समझता है ॥१४॥

उन समर्थ प्राणियों में जो अधिक बलवान् प्राणी होता है, वह औरों का नियन्ता होता है, यह बात सभी वर्तमान प्राणियों में स्पष्ट है; दैव कोई वस्तु नहीं है, यह निश्चित है। आशय यह है कि समर्थ पुरुषों की अपेक्षा अधिक समर्थ अन्य पुरुष भी हैं, वे उनके ऊपर शासन करते हैं। वर्तमान प्राणियों में पुरुषकार ही दिखाई देता है, उससे अन्य कुछ नहीं दिखाई देता है। अतः दैव कोई पदार्थ नहीं है, यही समझना उचित है ॥१५॥

शास्त्र, मन्त्री, हाथी और नगरवासियमों की ऐकमत्य हुई स्वाभाविक बुद्धि ही भिक्षुक को राजा बनानेवाली और प्रजा की रक्षिका है ॥१६॥

अथवा, जहाँ कहीं अलङ्कृत हाथी से भिक्षुक राजा बनाया जाता है, वहाँपर भिक्षुक का पूर्वजन्म का प्रबल पौरुष भी कारण है ॥१७॥

इस जन्म में किया गया उद्वेगशून्य प्रबल पुरुषकार अपने बल से पूर्वजन्म के पौरुष पर विजयी होता है और पूर्वजन्म का उद्वेगशून्य प्रबल पौरुष इस जन्म के पौरुष पर अपने बल से बिजयी होता है (वही पौरुष सदा विजयी होता है, जो उद्वेग से रहित होता है) ॥१८॥

दोनों (ऐहिक और प्राक्तन) पौरुषों में ऐहिक पौरुष ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिए जैसे युवक द्वारा बालक जीत लिया जाता है, वैसे ही इस जन्म के प्रयत्नों द्वारा दैव=पूर्वजन्म का प्रयत्न भी जीता जा सकता है ॥१९॥

जैसे मेघ कृषकों द्वारा वर्ष भर में कमाई गई खेती को एक ही दिन में विनष्ट कर देता है, यह मेघ का ही पुरुषार्थ है, वैसे ही अधिक प्रयत्न करने वाला विजयी होता है ॥२०॥

क्रमशः उपार्जित धन का विनाश हो जाने पर भी खेद नहीं करना चाहिए। जहाँपर अपना कुछ वश नहीं चलता, वहाँपर खेद करना उचित नहीं है वरन् वहाँपर पुनः उद्योग करना ही उचित है ॥२१॥

जिस कार्य को हम नहीं कर सकते हैं उसके लिए यदि हम दुःख करें, तो हमने मृत्यु का विनाश नहीं किया, वह कभी न कभी हमें मार डालेगा, इस प्रकार विचार कर प्रतिदिन रोना चाहिए ॥२२॥

देशकालक्रियाद्रव्यवशतो विस्फुरन्त्यमी ।
सर्व एव जगद्भावा जयत्यधिकयत्नवान् ॥ २३ ॥
तस्मात्पौरुषमाश्रित्य सच्छास्त्रैः सत्समागमैः ।
प्रज्ञाममलतां नीत्वा संसारजलधिं तरेत् ॥ २४ ॥
प्राक्तनश्चैहिकश्चेमौ पुरुषार्थौ फलद्द्रुमौ ।
संजातौ पुरुषारण्ये जयत्यभ्यधिकस्तयोः ॥ २५ ॥
कर्म यः प्राक्तनं तुच्छं न निहन्ति शुभेहितैः ।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽसावात्मनः सुखदुःखयोः ॥ २६ ॥
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं नरकमेव वा ।
स सदैव पराधीनः पशुरेव न संशयः ॥ २७ ॥
यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान् ।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव ॥ २८ ॥
यश्चिन्मां प्रेरयत्येवमित्यनर्थकुकल्पने ।
यः स्थितो दृष्टमुत्सृज्य त्याज्योऽसौ दूरतोऽधमः ॥ २९ ॥

इस संसार के सम्पूर्ण पदार्थ देश, काल, क्रिया और द्रव्य के अनुसार स्फूर्ति को प्राप्त होते हैं, जिस विषय में मनुष्य अधिक प्रयत्न करता है, उसमें विजयी होता है। आशय यह है कि जिस देश में जिस काल में प्रयत्न विफल हो जाय, उसका त्याग कर दूसरे देश में, दूसरे काल में दूसरी क्रिया से और दूसरे द्रव्य से पुनः प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पूर्व आदि दिशाओं में विघ्न आने पर भी श्रीविश्वामित्रजी के तप की उत्तर दिशा में सिद्धि हुई थी ॥ २३ ॥

इसलिए अधिकारी मनुष्य को पुरुषार्थ का अवलम्बन कर, सत् शास्त्रों के अभ्यास और सत्सङ्गति द्वारा बुद्धि को निर्मल बना कर संसाररूप सागर से अपना उद्धार करें ॥ २४ ॥

इस जन्म और पूर्वजन्म के दोनों पौरुषरूपी अरण्य में उत्पन्न फल देने में समर्थ वृक्ष हैं, उनमें से जो अधिक बलवान् होता है, वह विजयी होता है ॥ २५ ॥

जो पुरुष अपने ऐहिक शुभ कर्मों से पूर्वजन्म के तुच्छ कर्म का विनाश नहीं करता है वह अज्ञानी जीव अपने सुख और दुःख के उत्पादन में असमर्थ है ॥ २६ ॥

वह पुरुष ईश्वर की प्रेरणा से पुण्य और पाप के बिना ही स्वर्ग अथवा नरक में जाता है, वह सदा पराधीन रहता है, वह पशु ही है, इसमें वस्तुतः सन्देह नहीं है ॥ २७ ॥

जो पुरुष उदार स्वभाव से प्रयत्न करने में कुशल और सदाचारी हैं, वे पुरुष जैसे मृगराज अपने उद्यम से पिंजड़े से निकल जाता है, वैसे ही जगत् के मोह से निकल जाता है ॥ २८ ॥

जो पुरुष कर्म का त्यागकर कोई पुरुष ईश्वर मुझे प्रेरित कर रहा है, इस प्रकार की कुकल्पना में स्थित है, उस नराधम का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में योगवासिष्ठ के अच्युतग्रन्थमाला के हिन्दी अनुवाद में इस प्रकार संस्कृत व्याख्या के आधार पर शङ्का समाधान प्रस्तुत किया है :—"शङ्का—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते' (यही उस पुरुष से अच्छे कर्म करवाता है, जिसका इस लोक से उद्धार करने की इच्छा करता है) 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति' (जो अन्तर्यामी आत्मा में स्थित होकर आत्मा का नियन्त्रण करता है), 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (हे अर्जुन, ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है) इत्यादि श्रुति और स्मृतियों से विरुद्ध ईश्वर का अपलाप कर जीव की स्वतन्त्रता कैसे कहते हैं ?

समाधान—आप भी 'यथाकारी यथाचारी तथा-भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति' (जैसा करता है वैसा होता है, साधुकर्मकारी साधु होता है और पापकर्मकारी पापी होता है), 'यजेत् जुहुयाद् दद्यात्' (यज्ञ करे, हवन करे, दान दे), 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (आत्मा कर्ता है, क्योंकि कर्ता को अपेक्षित उपायों का बोध करानेवाला विधिशास्त्र सार्थक है, यदि बुद्धिकर्त्री हो और भोक्ता आत्मा हो, तो ऐसा विधिशास्त्र निरर्थक हो जायगा), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' (ईश्वर जीवों के न कर्तृत्व की सृष्टि करते हैं और न कर्मों की सृष्टि करते हैं) इत्यादि श्रुति और स्मृति से विरुद्ध जीव की परतन्त्रता का प्रतिपादन कैसे करते हैं ? अस्वतन्त्र जीव कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अस्वतन्त्र को कर्ता मानेंगे, तो 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस शास्त्र से विरोध होगा। बलवान् ईश्वर की अधीनता में स्थित पुरुष सैकड़ों विधियों और हजारों निषेधों से न तो किसी कर्म में प्रवृत्त किया जा सकता है और न निवृत्त किया जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर द्वारा जबरदस्ती ब्रह्महत्या आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त कराया गया जीव कैसे अपराधी होगा और स्वयं ही लोगों को बुरे कर्मों में प्रवृत्त कराकर उन्हें नरक में गिरा रहे भगवान् वैषम्य और नैर्घृण्य दोष

व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च ।
यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे ॥ ३० ॥
यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः ।
उपतिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव ॥ ३१ ॥
स्वार्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः ।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सा सिद्‌ध्यै शास्त्रयन्त्रिता ॥ ३२ ॥
क्रियया स्पन्दधर्मिण्या स्वार्थसाधकता स्वयम् ।
साधुसंगमसच्छास्त्रतीक्ष्णयोन्नीयते धिया ॥ ३३ ॥
अनन्तं समतानन्दं परमार्थं विदुर्बुधाः ।
स येभ्यः प्राप्यते नित्यं ते सेव्याः शास्त्रसाधवः ॥ ३४ ॥
देवलोकादिहाऽऽगत्य लोकद्वयहितं भवेत् ।
प्राक्तनं पौरुषं तद्वै दैवशब्देन कथ्यते ॥ ३५ ॥
तद्युक्तमेतदेतस्मिन्नाऽस्ति नाऽपवदामहे ।
मूढैः प्रकल्पितं दैवं मन्यन्ते ये क्षयं गताः ॥ ३६ ॥

के भागी क्यों न होंगे ? और अन्तर्यामी ब्राह्मण के अन्त में 'नन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता' इत्यादि से जीव के अपलाप द्वारा ईश्वर-स्वातन्त्र्य का समर्थन कैसे संगत होगा ?

यदि कहिये केवल अज्ञ पुरुष की दृष्टि का अवलम्बन कर कर्मकाण्ड प्रवृत्ति में जीवस्वातन्त्र्यवाद है, उसको शिथिल कर सम्पूर्ण भूतों में ऐकात्म्यज्ञान के लिए प्रवृत्त विवेकदृष्टि का अवलम्बन कर ईश्वरस्वातन्त्र्यवाद है, उसके फलभूत ज्ञान से प्राप्त विवेकदृष्टि का अवलम्बन कर 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (यह ब्रह्म कारणशून्य, कार्यरहित, अनन्तर, अबाह्य, सर्वरूप से सबका अनुभव करनेवाला है), 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' इत्यादि श्रुतिवाद और स्मृतिवाद है। जैसे स्वप्न और दर्पण आदि में काष्ठहस्ती के धावन को हस्ती की दृष्टि से देखने पर हस्ती ही दौड़ता है न कि काष्ठ, काष्ठ की दृष्टि से देखने पर काष्ठ ही दौड़ता है न कि हस्ती, परमार्थदृष्टि से देखने पर तो न हस्ती है, न काष्ठ है और न धावन क्रिया ही है, केवल अविकृत पुरुष, दर्पण आदि ही हैं, वैसे ही ये वाद हैं, तब मोक्ष के उपाय के प्रवर्तक श्रीवसिष्ठजी का प्रस्तुत उपदेश अज्ञ पुरुषों के लिए है, इसलिए यहाँ पर ईश्वरस्वातन्त्र्यवाद का निराकरण उचित ही है। भगवान् श्रीशंकराचार्यजी का भाष्य भी है—'तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिकाः प्रवृत्ता सर्वाणि च शास्त्राणि विधिनिषेधमोक्षपराणि' (इस अविद्यारूप आत्मा और अनात्मा के अन्योन्याध्यास का अवलम्बन कर सभी प्रमाण, प्रमेय आदि लौकिक व्यवहार और विधि, निषेध तथा मोक्षपरक सम्पूर्ण शास्त्र भी प्रवृत्त हैं ।

इस प्रकार अज्ञानी जीव की दृष्टि से सिद्ध जीव-स्वातन्त्र्य-पक्ष में प्राप्त कर्मों के अनुसार नियन्त्रण करने वाले ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं है, यह भाव है ॥ २९ ॥

संसार में हजारों व्यवहार हैं, उनमें लाभ और हानि होती ही है, अतः राग और द्वेष का परित्याग कर शास्त्रानुसार प्रयत्न करना चाहिए ॥ ३० ॥

कभी विच्छिन्न न हुई शास्त्रानुकूल अपनी मर्यादा का त्याग न करने वाले पुरुष को ही जैसे सागर में रत्न प्राप्त होते हैं, वैसे ही सभी अभीष्ट भी उनको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३१ ॥

जिनसे सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति होती है, उन अवश्य कर्तव्य कार्यों में प्रयत्नपूर्वक सदा तत्पर रहने को ही विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं. यह पौरुष यदि शास्त्रानुसार होता है तो वह परमपुरुषार्थ का साधक होता है ॥ ३२ ॥

देहसञ्चालनरूप क्रिया से (गुरुशुश्रूषारूप कार्य से) सज्जनों के समागम एवं आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करने वाले सत् शास्त्रों के अभ्यास से असंभावना, विपरीत भावना आदि दोषों के निराकरणपूर्वक तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा आत्मा का स्वयं उद्धार किया जाना ही स्वार्थ-साधनता है ॥ ३३ ॥

मनीषिगण अनन्त एकरस आनन्द को ही परमार्थ वस्तु मानते हैं। उस परमार्थ वस्तु की प्राप्ति के साधनभूत शास्त्र और साधुओं की सदा शुश्रूषा करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

जो दोनों लोकों में हित करने वाला पुरुषकार है, देवलोक के भोग से अवशिष्ट वही पूर्वजन्म का पौरुष कर्म देवलोक से यहाँ आये हुए पुरुष का 'दैव' कहा जाता है ॥ ३५ ॥

यह सत्य है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है और इसकी हम निन्दा भी नहीं करते हैं। जो लोग मूढ़ों द्वारा अपनी कपोलकल्पना से गढे हुए 'दैव' को मानते हैं, वे विनष्ट हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

नित्यं स्वपौरुषादेव लोकद्वयहितं भवेत् ।
ह्यस्तनी दुष्क्रियाऽभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ॥ ३७ ॥
अद्यैवं प्राक्तनी तस्माद्यत्नाद्यः कार्यवान्भवेत् ।
करामलकवद्दृष्टं पौरुषादेव तत्फलम् ।
मूढः प्रत्यक्षमुत्सृज्य दैवमोहे निमज्जति ॥ ३८ ॥
सकलकारणकार्यविवर्जितं
निजविकल्पबलादुपकल्पितम् ।
तदनपेक्ष्य हि दैवमसन्मयं
श्रय शुभाशय पौरुषमात्मनः ॥ ३९ ॥
शास्त्रैः सदाचरविजृम्भितदेशधर्मै-
र्यत्कल्पितं फलमतीव चिरप्ररूढम् ।
तस्मिन्हृदि स्फुरति चोपनमेति चित्त-
मङ्गावली तदनु पौरुषमेतदाहुः ॥ ४० ॥

बुद्ध्वैव पौरुषफलं पुरुषत्वमेत-
दात्मप्रयत्नपरतैव सदैव कार्या ।
नेया ततः सफलतां परमामथाऽसौ
सच्छास्त्रसाधुजनपण्डितसेवनेन ॥ ४१ ॥
दैवपौरुषविचारचारुभि-
श्चेदमाचरितमात्मपौरुषम् ।
नित्यमेव जयतीति भावितैः
कार्य आर्यजनसेवयोद्यमः ॥ ४२ ॥
जन्मप्रबन्धमयमामयमेष जीवो
बुद्ध्वैहिकं सहजपौरुषमेव सिद्ध्यै ।
शान्तिं नयत्ववितथेन वरौषधेन
मृष्टेन तुष्टपरपण्डितसेवनेन ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे दैवनिराकरणं नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सदा अपने पुरुषकार से ही दोनों लोकों में हित होता है, जैसे कल का दुष्कर्म आज के सत्कर्म से शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही वर्तमान जन्म के शुभ कर्मों से पूर्वजन्म के दुष्कर्म अलङ्कृत जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक शुभ कार्य में संलग्न होता है, उसका फल हाथ में रक्खे हुए आँवले के समान पौरुष से ही साफ देखा गया है । मूढ़ व्यक्ति ही प्रत्यक्ष पौरुष का त्यागकर दैवरूप मोह में निमग्न रहता है ॥ ३७ ॥

इसलिए अपनी कोरी कपोलकल्पना से उत्पन्न मिथ्याभूत सम्पूर्ण कारण और प्रयोजनों से रहित 'दैव' की उपेक्षा कर अपने पौरुष का अवलम्बन करे ॥ ३९ ॥

वेद-शास्त्रों द्वारा और महापुरुषों के शुभ आचार से अति विस्तृत विविध देश धर्मों द्वारा समर्थित चित्तशुद्धि और ज्ञानरूप को देने वाला प्रसिद्ध फल उसकी प्राप्ति के लिए हृदय में अतिशय उत्कट अभिलाषा होने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा से चित्त में क्रिया होती है, अनन्तर इन्द्रिय, हाथ, पैर आदि में क्रिया होती है, तब पुरुष श्रवण, मनन आदि करता है, इसी को पौरुष कहते हैं ॥ ४० ॥

अधिकारी पुरुष का जन्म पुरुषार्थ की सिद्धि होनेपर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं, यह जानकर सदा आत्मप्रयत्न में संलग्न रहना चाहिए । इस प्रयत्नपरायणता को सत् शास्त्रों के अभ्यास, सन्त महात्माओं और मनीषियों की शुश्रूषा के द्वारा आत्मज्ञानरूप फलप्राप्ति से सफल बनाना ही उचित है ॥ ४१ ॥

यदि पौरुष का अवलम्बन किया जाय, तो वह अवश्य दैव को जीत लेता है, इस प्रकार दैव और पौरुष के बलाबल के विचार से भव्य, शम, दम आदि के अनुरूप आचारों से सम्पन्न एवं आर्य पुरुषों की शुश्रूषा में नित्य संलग्न अधिकारी पुरुषों को श्रवण, मनन आदि के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए उद्यत रहना चाहिए ।

इस प्रसङ्ग में आर्य शब्द का प्रयोगकर यह सूचित किया गया है कि कर्त्तव्य को आचरण और अकर्त्तव्य अनाचरण तथा स्वाभाविक शास्त्रानुमोदित मार्ग पर स्थिर रहने वालों की सेवा अर्थात् उनके आचार का अनुसरण करना चाहिए ॥ ४२ ॥

कर्तव्यमाचरन् नित्यम कर्तव्यममाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे सर्वे आर्ष इति स्मृतः ॥

अधिकारी जीव इस जन्म में सम्पादन करने योग्य सहज पौरुष से ही परम पुरुषार्थ का लाभ कर सकता है, ऐसा निश्चय कर सदा आनन्दमग्न सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मवेत्ताओं की शुश्रूषारूप अमोघ मधुर उत्तम ओषधि से विविध जन्ममरणपरम्परारूप भवरोग को दूर करे ॥ ४३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में दैवनिराकरण नामक कुसुमलता का छठा सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

७

वसिष्ठ उवाच

प्राप्य व्याधिविनिर्मुक्तं देहमल्पाधिवेदनम् ।
तथाऽऽत्मनि समादध्याद्यथा भूयो न जायते ॥ १ ॥
दैवं पुरुषकारेण यो निर्वाततुमिच्छति ।
इह वाऽमुत्र जगति स संपूर्णाभिवाञ्छितः ॥ २ ॥
ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः ।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः ॥ ३ ॥
संवित्स्पन्दो मनःस्पन्द ऐन्द्रियस्पन्द एव च ।
एतानि पुरुषार्थस्य रूपाण्येभ्यः फलोदयः ॥ ४ ॥
यथा संवेदनं चेतस्तथा तत्स्पन्दमृच्छति ।
तथैव कायश्चलति तथैव फलभोक्तृता ॥ ५ ॥
आबालमेतत्संसिद्धं यत्र यत्र यथा यथा ।
दैवं तु न क्वचिद्दृष्टमतो जगति पौरुषम् ॥ ६ ॥
पुरुषार्थेन देवानां गुरुरेव बृहस्पतिः ।
शुक्रो दैत्येन्द्रगुरुतां पुरुषार्थेन चाऽऽस्थितः ॥ ७ ॥
दैन्यदारिद्र्यदुःखार्त्ता अपि साधो नरोत्तमाः ।
पौरुषेणैव यत्नेन याता देवेन्द्रतुल्यताम् ॥ ८ ॥
महान्तो विभवास्वादैर्नानाश्चर्यसमाश्रयाः ।
पौरुषेणैव दोषेण नरकातिथितां गताः ॥ ९ ॥
भावाभावसहस्रेषु दशासु विविधासु च ।
स्वपौरुषवशादेव निवृत्ता भूतजातयः ॥ १० ॥

७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

रोगरहित, स्वल्प मानसिक पीड़ा से युक्त देह को प्राप्त कर आत्मा में इस प्रकार चित्त की एकाग्रता करे जिससे फिर जन्म ही न हो ॥ १ ॥

जो पुरुष पौरुष से दैव को जीतने की इच्छा करता है, वे इस लोक और परलोक में सभी मनोरथ को प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

जो लोग उद्यम का परित्याग कर दैव पर निर्भर रहते हैं, वे आत्मशत्रु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विनाश करते हैं ॥ ३ ॥

पुरुषार्थ और उसके साधनों की स्फूर्ति संवित्स्पन्द है उससे उनके साधन की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न मनःस्पन्द है उससे कर्मेन्द्रियों और अङ्गों के संचालन की प्रवृत्ति इन्द्रियस्पन्द है अर्थात् कार्यप्रवृत्ति या अनुष्ठान में तत्पर होना। बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियों की ये चेष्टाएँ पौरुष के स्वरूप हैं। इन पुरुषकारों से ही संकल्पित फल की प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

साक्षी चेतन में पहले जैसी विषयाभिव्यक्ति होती है, वैसी ही मन में क्रिया होती है, मन के व्यापार के अनुसार कर्मेन्द्रियों में व्यापार होता है, कर्मेन्द्रियों के अनुरूप शारीरिक क्रिया के अनुसार ही फल के भोग की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

लोक में लौकिक या वैदिक फल के लिए जहाँ जैसे जैसे पुरुषकार की आवश्यकता होती है वहाँ वैसे ही पुरुषकार के उपयोग से फल की सिद्धि होती है यह बालकों को भी ज्ञान है आशय यह है कि ध्यान चिन्ता आदि में मानस क्रिया ही प्रधान है, स्तुति पाठ में वाचिक क्रिया प्रधान है, दोनों क्रियाओं में ध्येय वस्तु के प्रति तन्मयता अर्थात् ध्याता, ध्यान और ध्येय की एक रूपता ही अपेक्षित है, सब जगह पौरुष ही देखा जाता है, दैव तो कहीं देखा नहीं गया है ॥ ६ ॥

हे साधो ! पुरुषकार से ही बृहस्पति देवताओं के गुरु बने और पुरुषार्थ से ही शुक्राचार्य ने दैत्यराजों का गुरुत्वपद प्राप्त किया था। दीनता, दरिद्रता आदि दुःखों से पीड़ित हुए भी अनेक महापुरुष अपने पौरुष से (प्रयत्न से) ही महेन्द्र के समान ऐश्वर्यशाली हो गये हैं। (हरिश्चन्द, नल, युधिष्ठिर आदि का इतिहास इस बात का साक्षी है) ॥ ७-८ ॥

महासम्पत्तियों का उपभोग करनेवाले तथा उन विपुल वैभवों के अधिपति जिनका स्मरण करने में भी आश्चर्य होता है, (नहुष आदि) महापुरुष अपने ही पौरुषदोष से नरकगामी हुए, अर्थात् उत्कृष्ट पद से भ्रष्ट हुए ॥ ९ ॥

सभी प्राणी हजारों सम्पत्तियों और विपत्तियों को और विविध दशाओं को अपने भले बुरे पुरुषकार से ही पार करते हैं ॥ १० ॥

शास्त्रतो गुरुतश्चैव स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः ।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन ॥ ११ ॥

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवाऽवतारयेत् ।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः ॥ १२ ॥

यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपायविवर्जितम् ।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरव स्थिताः ॥ १३ ॥

यथा यथा प्रयत्नो मे फलमाशु तथा तथा ।
इत्यहं पौरुषादेव फलभाङ् न तु दैवतः ॥ १४ ॥

पौरुषाद् दृष्यते सिद्धिः पौरुषाद्धीमतां क्रमः ।
दैवमाश्वासनामात्रं दुःखे पेलवबुद्धिषु ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षप्रमुखैर्नित्यं प्रमाणैः पौरुषक्रमः ।
फलितो दृश्यते लोके देशान्तरगमादिकः ॥ १६ ॥

शास्त्राभ्यास, गुरुपदेश और अपना परिश्रम इन तीनों से ही पुरुषार्थ की सिद्धि देखी जाती है, लौकिक पुरुषार्थ अपने परिश्रम से ही सिद्ध होते हैं, दैव से सिद्धियाँ कभी नहीं होती है ॥ ११ ॥

अपना अभ्युदय चाहने वाला पुरुष अशुभ कर्मो में संलग्न मन को प्रयत्न से शुभ कर्मों में लगावे, यह सम्पूर्ण शास्त्रों के अर्थ का संग्रह है अर्थात् शास्त्रों का सार अंश है ॥ १२ ॥

हे पुत्र ! जो वस्तु कल्याणकारी है, तुच्छ नहीं है, जो विनाश रहित है, उसी का प्रयत्न से सम्पादन करो सदा ऐसा ही गुरुजन उपदेश देते हैं ॥१३॥

जैसा मैं प्रयत्न करूँगा वैसा ही फल मुझे शीघ्र प्राप्त होगा, ऐसा निश्चय कर मैं प्रयत्न से शुभ फल का भाजन हुआ हूँ, दैव से मेरा कुछ भी उपकार नहीं हुआ है ॥ १४ ॥

पौरुष से पुरुषों को अभीष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं और पौरुष से बुद्धिमान जनों के पराक्रम की वृद्धि होती है। दैव तो दुःखसागर में डूबे हुए दुर्बलचित्त वाले लोगों के लिए आंसू पोछना मात्र है और कुछ नहीं है ॥ १५ ॥

लोक में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पुरुषप्रयत्न का फल अन्य देश में गमन आदि सभी लोगों को सदा दिखाई देता है। यदि पुरुष के पौरुष का अवलम्बन करने से उसका अन्य देश में गमन दिखाई देता है ॥ १६ ॥

जो पुरुष भोजन करता है वही तृप्त होता है, जो भोजन नहीं करता वह कभी भी तृप्त नहीं हो सकता है

भोक्ता तृप्यति नाऽभोक्ता गन्ता गच्छति नाऽगतिः ।
वक्ता वक्ति न चाऽवक्ता पौरुषं सफलं नृणाम् ॥ १७ ॥

पौरुषेण दुरन्तेभ्यः सङ्कटेभ्यः सुबुद्धयः ।
समुत्तरन्त्ययत्नेन न तु मोघतयाऽनया ॥ १८ ॥

यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकभाक् ।
न तु तूष्णीं स्थितेनेह केनचित्प्राप्यते फलम् ॥ १९ ॥

शुभेन पुरुषार्थेन शुभमासाद्यते फलम् ।
अशुभेनाऽशुभं राम मतेच्छसि तथा कुरु ॥ २० ॥

पुरुषार्थात् फलप्राप्तिर्देशकालवशादिह ।
प्राप्ता चिरेण शीघ्रं वा याऽसौ दैवमिति स्मृता ॥ २१ ॥

न दैवं दृश्यते दृष्ट्या न च लोकान्तरे स्थितम् ।
उक्तं दैवाभिधानेन स्वर्लोके कर्मणः फलम् ॥ २२ ॥

जो चलता है वही अन्य देशमें पहुँचता है, गमन न करने वालों की कदापि अन्य देश में गति नहीं होती है, जो वक्ता है, वही बोलता है जो अवक्ता है वह नहीं बोलता है। इससे यह सिद्ध है कि पुरुषों का पुरुषकार ही सफल है, दैव नहीं ॥ १७ ॥

बुद्धिमान् पुरुष पौरुष से ही बड़े भीषण संकटों को अनायास में ही पार कर जाते हैं, पौरुषरहित (अकर्मण्यतारूप) दैव पर निर्भर होकर संकटों से पार नहीं हो सकते हैं ।' १८ ॥

जो पुरुष जैसा प्रयत्न करता है, वह वैसे फल प्राप्त करता है, इस लोक में जो हाथ पर हाथ रखकर चुपचाप बैठा रहता है, उसे कुछ भी फल नहीं मिलता है ॥ १९ ॥

हे राम ! शुभ पुरुषार्थ से (पौरुष से) शुभ फल मिलता है और अशुभ पुरुषार्थ से अशुभ फल मिलता है, तुम्हें जैसे फल की अभिलाषा हो वेसे पुरुषार्थ का अवलम्बन कर उस फल के भागी बनो ॥ २० ॥

पुरुषार्थी पुरुषों को देश और काल के अनुसार पुरुषकार से कभी शीघ्र और कभी कुछ बिलम्ब से जिस फल की प्राप्ति होती है, उसी को दैव शब्द से स्मरण किया जाता है ॥ २१ ॥

न तो 'दैव' का नयनों से दर्शन होता है, न वह कहीं स्वर्ग आदि अन्य लोक में ही स्थित है। (पुरुषार्थी का) स्वर्गलोक में स्थित कर्मफल ही दैवनाम से पुकारा जाता है ॥ २२ ॥

पुरुषो जायते लोके वर्धते जीर्यते पुनः ।
न तत्र दृश्यते दैवं जरायौवनबाल्यवत् ॥ २३ ॥
अर्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः ।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सर्वमासाद्यतेऽनया ॥ २४ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तिर्हस्तस्य द्रव्यधारणम् ।
व्यापारश्च तथाऽङ्गानां पौरुषेण न दैवतः ॥ २५ ॥
अनर्थप्राप्तिकार्यैकप्रयत्नपरता तु या ।
प्रोक्ता प्रोन्मत्तचेष्टेति न किंचित्प्राप्यतेऽनया ॥ २६ ॥
क्रियया स्पन्दधर्मिण्या स्वार्थसाधकता स्वयम् ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रतीक्ष्णयोन्नीयते धिया ॥ २७ ॥
अनन्तसमतानन्दं परमार्थं स्वकं विदुः ।
स येभ्यः प्राप्यते यत्नात्सेव्यास्ते शास्त्रसाधवः ॥ २८ ॥
सच्छास्त्रादिगुणो मत्या सच्छास्त्रादिगुणान्मतिः ।
विवर्धते मिथोऽभ्यासात्सरोब्जाविव कालतः ॥ २९ ॥
आबाल्यादलमभ्यस्तैः शास्त्रसत्संगमादिभिः ।
गुणैः पुरुषयत्नेन स्वार्थः संपद्यते हितः ॥ ३० ॥
पौरुषेण जिता दैत्याः स्थापिता भुवनक्रियाः ।
रचितानि जगन्तीह विष्णुना न च दैवतः ॥ ३१ ॥
जगति पुरुषकारकारणेऽस्मिन्
कुरु रघुनाथ ! चिरं तथा प्रयत्नम् ।
व्रजसि तरुसरीसृपाभिधानां
सुभग ! यथा न दशामशङ्क एव ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे पौरुषप्रधान्यसमर्थनं नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

इस लोक में पुरुष पैदा होता है, बढ़ता है, फिर वृद्ध होता है, पर उस पुरुष में जैसे वृद्धावस्था, यौवन और बाल्यावस्था दिखाई देती है, वैसे दैव नहीं दिखाई देता ॥ २३ ॥

अपनी अभीष्ट को प्राप्त करने वाली कार्यमात्रतत्परता को विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं, उसी प्रयत्नतत्परता से सब कुछ प्राप्त किया जाता है ॥ २४ ॥

एक स्थान से दूसरे स्थान की प्राप्ति पैरों के पुरुषार्थ से होती है, किसी वस्तु को पकड़ना हाथ के पौरुष से होता है और इसी प्रकार अन्य अङ्गों के अन्य चेष्टाएँ पौरुष से ही होती हैं, दैव से नहीं ॥ २५ ॥

अनभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति करने वाले कार्य में जो संलग्नता है, वह उन्मत्त की चेष्टा है, उससे कोई शुभ फल प्राप्न नहीं होता है, बरन् अशुभ (नरकपात आदि) फल ही प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

देहचालनपरम्परारूप क्रिया से तथा सज्जनसंगति और शास्त्रपरिशीलन आदि से तीक्ष्ण हुई मनीषा से स्वयं अपनी आत्मा का उद्धार करना ही स्वार्थसाधनता है ॥ २७ ॥

अज्ञानकृत विषमता की निवृत्ति से उपलक्षित अनन्त आनन्दरूप अपने परमार्थ को जो जानते हैं और जिनसे उस आनन्द की प्राप्ति की जाती है, उन शास्त्र और महात्माओं की श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए ॥ २८ ॥

बार-बार सज्जनसंगति का फल उनके समान शील-स्वभाव की प्राप्ति है शास्त्राभ्यास का फल शास्त्रतात्पर्य-ज्ञान है। बुद्धि से सत् शास्त्राभ्यासरूप गुण होता है और सत् शास्त्र के अभ्यास से बुद्धि की तीक्ष्णता होती है। जैसे वर्षाकाल में तालाब और कमल परस्पर शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही चिरकाल के अभ्यास से मति और मति से शास्त्राभ्यास की बुद्धि होती है ॥ २९ ॥

बाल्यावस्था से लेकर पूर्णरूप से अभ्यस्त शास्त्र एवं सत्संग आदि गुणों से पौरुष द्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

भगवान् श्रीविष्णु ने पौरुष से ही दैत्यों के ऊपर विजय प्राप्त की, पौरुष से ही लोकों की क्रियाएँ नियत की और पौरुष से ही लोकों की रचना की, दैव से नहीं ॥ ३१ ॥

हे रघुनाथ ! इस जगत् में केवल पुरुषकार—प्रयत्न ही पुरुषार्थ का साधना है। यहाँ आप चिरकाल वैसा पौरुष करें कि हे सौम्य ! जिससे आप वृक्ष, सर्प आदि योनियों को प्राप्त न करे ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में पौरुषप्रधान्यसमर्थन नामक कुसुमलता का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

८

श्रीवसिष्ठ उवाच

नाऽऽकृतिर्न च कर्माणि न स्पन्दो न पराक्रमः ।
तन्मिथ्याज्ञानवद्रूढं दैवं नाम किमुच्यते ॥ १ ॥
स्वकर्मफलसम्प्राप्ताविदमित्थमितीति याः ।
गिरस्ता दैवनाम्नैताः प्रसिद्धिं समुपागताः ॥ २ ॥
तत्रैव मूढमतिभिर्दैवमस्तीति निश्चयः ।
आत्तो दुरवबोधेन रज्ज्वामिव भुजङ्गमः ॥ ३ ॥
ह्यस्तनी दुष्क्रियाऽभ्येति शोभां सत्क्रियया यथा ।
अद्यैवं प्राक्तनी तस्माद्यत्नात्सत्कार्यवान्भवेत् ॥ ४ ॥
मूढानुमानसंसिद्धं दैवं यस्याऽस्ति दुर्मतेः ।
दैवाद्दाहोऽस्ति नैवेति गन्तव्यं तेन पावके ॥ ५ ॥
दैवमेवेह चेत् कर्तृ पुंसः किमिव चेष्टया ।
स्नानदानासनोच्चारान् दैवमेव करिष्यति ॥ ६ ॥
किं वा शास्त्रोपदेशेन मूकोऽयं पुरुषः किल ।
संचार्यते तु दैवेन किं कस्येहोपदिश्यते ॥ ७ ॥
न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना ।
स्पन्दाच्च फलसम्प्राप्तिस्तस्माद्दैवं निरर्थकम् ॥ ८ ॥
न चाऽमूर्तेन दैवेन मूर्तस्य सहकर्तृता ।
पुंसः संदृश्यते काचित्तस्माद्दैवं निरर्थकम् ॥ ९ ॥
मिथोऽङ्गानि समासाद्य द्वयोरेकैककर्तृता ।
हस्तादीनां हतत्वे ह न दैवेन क्वचित्कृतम् ॥ १० ॥
मनोबुद्धिवदप्येतद्दैवं नेहाऽनुभूयते ।
आगोपालं कृतप्रज्ञैस्तेन दैवमसत्सदा ॥ ११ ॥

८

वसिष्ठजी ने कहा :—

जिसकी न जाति है या न अनुगत शरीर के अवयवों का संगठन ही है, न कर्म हैं, न चेष्टाएँ हैं और न किसी प्रकार का पराक्रम ही है उस दैव का कैसा स्वरूप है इस बात को निर्णयपूर्वक यथार्थरूप से कोई नहीं बतला सकता है अतः दैव मिथ्याज्ञान के समान केवल लोक प्रसिद्धिमात्र है ॥ १ ॥

अपने कर्मफल की प्राप्ति होने पर इस कर्म का इस कर्म से अनुष्ठान किया था, इसलिए इस प्रकार का फल प्राप्त हुआ, ऐसा वाग्व्यवहार ही दैवनाम से लोक में प्रसिद्ध है ॥ २ ॥

उन वाग्व्यवहारों में मन्दबुद्धि पुरुष यह दैव है, यह भ्रान्ति से निर्णय करते हैं जैसे भ्रान्ति से रस्सी में यह सर्प है, ऐसा निश्चय होता है ॥ ३ ॥

जैसे अतीत काल के दुष्कर्म वर्तमान काल के शुभ कर्मों से शोभित होते हैं, वैसे ही पूर्वजन्म के दुष्कर्म शुभ कर्मों से शुभफलप्रद हो जाते हैं, इसलिए पुरुष को प्रयत्न-पूर्वक सम्यग् उद्योगी होना चाहिए ॥ ४ ॥

जिस दुर्मति के अनुसार मूढ़ व्यक्तियों की कल्पना के अनुसार दैव ही सब कुछ है, उसे दैव के अनुसार अग्नि में भी दाह नहीं रहेगा, अतः उसको अग्नि में कूद जाना चाहिए, अर्थात् अदृष्टवश मैं नहीं जलूँगा, यह निश्चय कर अग्नि में कूद जाना चाहिए ॥ ५ ॥

यदि कर्ता दैव ही है, तो पुरुष के चेष्टा करने की क्या आवश्यकता है ? स्नान, दान, उठना, बैठना, बोलना आदि सभी व्यापारों को दैव ही कर देगा ॥ ६ ॥

मनुष्य को शास्त्रों का उपदेश देने की क्या आवश्य-कता है, क्योंकि पुरुष तो मूक अर्थात् सर्वथा अस्वतन्त्र है, दैव जैसा चाहता है वैसा उससे नाच नचाता है, फिर इस संसार में किसको क्या उपदेश दिया जाय ॥ ७ ॥

शव को छोड़कर अन्य किसी में भी चेष्टा का अभाव इस संसार में नहीं देखा गया है, चेष्टा से ही फलप्राप्ति होती है, दैव से नहीं, इसलिए दैव निरर्थक है ॥ ८ ॥

मूर्तिरहित दैव मूर्तियुक्त पुरुष का सहकारी नहीं हो सकता है, इसलिए दैव निरर्थक है अर्थात् चेतन ही चेतन का सहायक हो सकता है, अचेतन दैव क्या कर सकता है ॥ ९ ॥

परस्पर सम्बद्ध हुए दोनों अङ्गों में एक में ही क्रिया-कारिता देखी जाती है, दूसरे में नहीं, हाथ आदि अङ्गों के नष्ट हो जाने पर दैव से कहीं पर कुछ नहीं किया जाता है । अर्थात् हाथ, पैर, मन, बुद्धि आदि के सदृश क्रिया के करणत्वरूप से भी दैव की कल्पना की आशा नहीं करनी चाहिए ॥ १० ॥

बालक से लेकर विद्वान् तक को मन और बुद्धि के समान इस दैव का अनुभव नहीं होता है, इसलिए दैव सदा असत् ही है, (क्योंकि उसके अस्तित्व का किसी को भी अनुभव नहीं होता) ॥ ११ ॥

पृथक् चेद् बुद्धिरन्योऽर्थः सैव चेत्काऽन्यता तयोः ।
कल्पनायां प्रमाणं चेत् पौरुषं किं न कल्प्यते ॥ १२ ॥
नाऽमूर्तेस्तेन संगोऽस्ति नभसेव वपुष्मतः ।
मूर्तं च दृश्यते लग्नं तस्माद्दैवं न विद्यते ॥ १३ ॥
विनियोक्तृ भूतानामस्त्यन्यच्चेज्जगत्त्रये ।
शेरते भूतवृन्दानि दैवं सर्वं करिष्यति ॥ १४ ॥
दैवेन त्वभियुक्तोऽहं तत्करोमीदृशं स्थितम् ।
समाश्वासनवागेषा न दैवं परमार्थतः ॥ १५ ॥
मूढैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः ।
प्राज्ञास्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः ॥ १६ ॥
ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पण्डिताः ।
तैस्तैः किमिव लोकेऽस्मिन् वद दैवं प्रतीक्ष्यते ॥ १७ ॥
कालविद्भिर्विनिर्णीता यस्याऽतिचिरजीविता ।
स चेज्जीवति संछिन्नशिरास्तद्दैवमुत्तमम् ॥ १८ ॥
कालविद्भिर्विनिर्णीतं पाण्डित्यं यस्य राघव ।
अनध्यापित एवाऽसौ तज्ज्ञश्चेद्दैवमुत्तमम् ॥ १९ ॥
विश्वामित्रेण मुनिना दैवमुत्सृज्य दूरतः ।
पौरुषेणैव सम्प्राप्तं ब्राह्मण्यं राम नाऽन्यथा ॥ २० ॥
अस्माभिरपरैः राम पुरुषैर्मुनितां गतैः ।
पौरुषेणैव सम्प्राप्ता चिरं गगनगामिता ॥ २१ ॥
उत्साद्य देवसंघातं चिक्रुस्त्रिभुवनोदरे ।
पौरुषेणैव यत्नेन साम्राज्यं दानवेश्वराः ॥ २२ ॥
आलूनशीर्णमाभोगि जगदाजह्रुरोजसा ।
पौरुषेणैव यत्नेन दानवेभ्यः सुरेश्वराः ॥ २३ ॥
राम पौरुषयुक्त्या च सलिलं धार्य्यतेऽनया ।
चिरं करण्डके चारु न दैवं तत्र कारणम् ॥ २४ ॥

एक से अन्य की बुद्धि में भेद देखा जाता है, अतः वह दैव की कल्पना में प्रमाण है। (अन्यथा समानरूप से अध्ययन आदि करने पर भी सभी के ज्ञान में विषमता क्यों होती है। इस प्रमाण से भी दैव की कल्पना नहीं की जा सकती है) दैव की कल्पना इसको प्रमाण मानने पर कार्य की विषमता पूर्व जन्म के पौरुष की ही कल्पना क्यों नहीं करते हैं ? ॥ १२ ॥

जैसे मूर्तियुक्त हम लोगों का अमूर्त आकाश से संयोग नहीं हो सकता वैसे ही अमूर्त देव का अन्य कारक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है मूर्त का ही परस्पर संयोग देखा जाता है, अतः दैव नामक कोई पदार्थ नहीं है ॥ १३ ॥

यदि प्राणियों को व्यापार में लगाने वाला दैव नामक कोई होता तो तीनों लोकों में प्राणि वर्ग दैव ही सब कुछ करेगा ऐसा निश्चय कर सो जाते ॥ १४ ॥

दैव से प्रेरित हुआ मैं दैव के संकल्प से सिद्ध ऐसा कार्य करता हूँ, यह वचन समाश्वासनमात्र है वस्तुतः दैव कोई पदार्थ नहीं है ॥ १५ ॥

मूर्ख लोगों ने दैव की कल्पना कर ली है, जो लोग दैव पर निर्भर करते हैं उनका सर्वनाश ही होता है; बुद्धिमान् पुरुष तो पौरुष का अवलम्बन कर उत्तम पद को प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

जो शूरवीर हैं, जो पराक्रमशाली हैं, जो बुद्धिमान् हैं और जो विद्वान् हैं क्या वे इस लोक में दैव की प्रतीक्षा करते हैं ? ॥ १७ ॥

ज्योतिषियों के द्वारा जिसकी बहुत बड़ी आयु का निर्णय किया गया है, यदि वह सिर कटने पर भी जीवित रहे, तो दैव को उत्तम कारण माना जा सकता है ॥१८॥

हे राघव ! ज्योतिषियों ने जिसके विषय में यह बड़ा भारी विद्वान् होगा ऐसा निर्णय किया है, वह यदि विना पढ़ाये ही विद्वान् हो जाय, तब दैव को उत्तम कारण माना जा सकता है ॥ १९ ॥

हे राम ! देखो, महामुनि श्रीविश्वामित्रजी ने दैव को दूर फेंककर पौरुष के बल पर ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया, अन्य उपाय से नहीं ॥ २० ॥

हे राम ! हम लोगों ने एवं अन्य पुरुष के जो मुनित्व को प्राप्त किया है, प्रयत्न से ही उन्होंने आकाशगति प्राप्त की है ॥ २१ ॥

हरिण्यकशिपु आदि दैत्यराजों ने अपने पुरुषकार के बल से ही देवताओं का विनाश कर तीनों भुवनों का साम्राज्य किया था ॥ २२ ॥

इन्द्र आदि देवराजों ने पौरुष के बल से ही शत्रुसेना को काटकर जीर्ण-शीर्ण कर इस विशाल जगत् को दानवों से छीना था ॥ २३ ॥

हे राम ! राल एवं मधुमक्खी का छाता आदि के लेपन पौरुषयुक्ति से बाँस की टोकरी में चिरकाल तक बड़ी खूबी के साथ पानी रक्खा जाता है, इसमें पौरुष ही कारण है, दैव नहीं ॥ २४ ॥

भरणादानसंरम्भविभ्रमश्रमभूमिषु ।
शक्तता दृश्यते राम न दैवस्योषधेरिव ॥ २५ ॥
सकलकारणकार्यविवर्जितं
निजविकल्पवशादुपकल्पितम् ।
त्वमनपेक्ष्य हि दैवमसन्मयं श्रय
शुभाशय ! पौरुषमुत्तमम् ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे दैवनिराकरणं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

हे राम ! आत्मीय जनों का भरण-पोषण, जबर्दस्ती दूसरे के राष्ट्र को छीन लेना, क्रोध से दूसरे को दण्ड देना, परिश्रमसाध्य पुरुषार्थों के प्रति पराक्रम, मणि, मन्त्र, और औषधि में जैसी शक्ति देखी जाती है वैसी दैव में शक्ति नहीं है अर्थात् वे सब पौरुष से ही सिद्ध होते हैं ॥ २५ ॥

हे शुभ विचारवाले ! सम्पूर्ण कारणों और कार्यों से रहित अपने भ्रम से बने हुए के सदृश मिथ्यारूप असत्स्वरूप दैव की उपेक्षा कर तुम उत्तम पौरुष का अवलम्बन करो ॥ २६ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीतवाल्मीकीयश्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में नभश्चरसाधुवादनामक कुसुमलता का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥८॥

९

श्रीराम उवाच

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! प्रतिष्ठामलमागतम् ।
यल्लोके तद्वद ब्रह्मन् ! दैवं नाम किमुच्यते ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

पौरुषं सर्वकार्याणां कर्तृ राघव ! नेतरत् ।
फलभोक्तृ च सर्वत्र न दैवं तत्र कारणम् ॥ २ ॥
दैवं न किञ्चित्कुरुते न भुङ्क्ते न च विद्यते ।
न दृश्यते नाऽऽद्रियते केवलं कल्पनेदृशी ॥ ३ ॥
सिद्धस्य पौरुषेणेह फलस्य फलशालिना ।
शुभाशुभार्थसंपत्तिर्दैवशब्देन कथ्यते ॥ ४ ॥
पौरुषोपनता नित्यमिष्टानिष्टस्य वस्तुनः ।
प्राप्तिरिष्टाऽप्यनिष्टा वा दैवशब्देन कथ्यते ॥ ५ ॥
भावी त्ववश्यमेवाऽर्थः पुरुषार्थैकसाधनः ।
यः सोऽस्मिँल्लोकसङ्घाते दैवशब्देन कथ्यते ॥ ६ ॥

९

श्रीरामचन्द्रने कहा:—

हे भगवन् ! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं, लोक में विख्यात अम्लान दैव क्या है ? (वह सत् है, या असत् ?) उसे आप कृपया मुझसे कहिए ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राघव ! सम्पूर्ण कार्यों को करनेवाला पौरुष ही है, अन्य नहीं है एवं सम्पूर्ण फलों का उपभोक्ता भी पुरुषकार है, उसमें दैव कारण ही नहीं है ॥ २ ॥

दैव न कुछ करता है, न भोग करता है, न उसका अस्तित्व है, न दिखाई देता है, एवं न तो विवेकी पुरुषों द्वारा उसका आदर किया जाता है, पर अनादि रूढ़ भ्रान्ति से केवल मूढ़ों ने उसकी कल्पना कर रक्खी है ॥ ३ ॥

फल को अवश्य देनेवाले पुरुषकार से सिद्ध वनिता आदि को पति और सपत्नी आदि से जो शुभ और अशुभ फल प्राप्त होता है, उसीका आश्रयण कर दैवशब्द का लोक में व्यवहार होता है ॥ ४ ॥

अथवा पुरुषकार द्वारा प्राप्त इष्ट और अनिष्ट वस्तु की जो इष्ट और अनिष्टरूप की प्राप्ति है, सदा लोगों के द्वारा उसे ही दैवशब्द से कहा जाता है ॥ ५ ॥

पुरुषकार के द्वारा अवश्यम्भावी फल का भोग ही लोक में दैवशब्द से कहा जाता है ॥ ६ ॥

ननु राघव ! लोकस्य कस्यचित् किञ्चिदेव हि ।
दैवमाकाशरूपं हि करोति न करोति च ॥ ७ ॥
पुरुषार्थस्य सिद्धस्य शुभाशुभफलोदये ।
इदमित्थं स्थितमिति योक्तिस्तद्दैवमुच्यते ॥ ८ ॥
इत्थं ममाऽभवद् बुद्धिरित्थं मे निश्चयो ह्यभूत् ।
इति कर्मफलप्राप्तौ योक्तिस्तद्दैवमुच्यते ॥ ९ ॥
इष्टानिष्टफलप्राप्ताविदमित्यस्य वाचकम् ।
आश्वासनामात्रवचो दैवमित्येव कथ्यते ॥ १० ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! यत् प्राक्कर्मोपसंचितम् ।
तद्दैवं दैवमित्युक्तमपमृष्टं कथं त्वया ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

साधु राघव ! जानासि शृणु वक्ष्यामि तेऽखिलम् ।
दैवं नाऽस्तीति ते येन स्थिरा बुद्धिर्भविष्यति ॥ १२ ॥
या मनोवासना पूर्वं बभूव किल भूरिशः ।
सैवेयं कर्मभावेन नृणां परिणतिं गता ॥ १३ ॥
जन्तुर्यद्वासनो राम ! तत्कर्त्ता भवति क्षणात् ।
अन्यकर्मान्यभावश्चेत्येतन्नैवोपपद्यते ॥ १४ ॥
ग्रामगो ग्राममाप्नोति पत्तनार्थी च पत्तनम् ।
यो यो यद्वासनस्तत्र स स प्रयतते सदा ॥ १५ ॥
यदेव तीव्रसंवेगाद् दृढं कर्म कृतं पुरा ।
तदेव दैवशब्देन पर्यायेणेह कथ्यते ॥ १६ ॥
एवं कर्मस्थकर्माणि कर्म प्रौढा स्ववासना ।
वासना मनसो नाऽन्या मनो हि पुरुषः स्मृतः ॥ १७ ॥
यद्दैवं तानि कर्माणि कर्म साधो ! मनो हि तत् ।
मनो हि पुरुषस्तस्माद्दैवं नाऽस्तीति निश्चयः ॥ १८ ॥
एष एव मनोजन्तुर्यद्यत् प्रयतते हितम् ।
कृतं तत्तदवाप्नोति स्वत एव हि दैवतः ॥ १९ ॥

हे राघव ! किसी पुरुष का कोई दैव ही भ्रान्त दृष्टि से आकाश को शून्य के सदृश बना देता है और विवेक दृष्टि से वैसा नहीं बनाता है ॥ ७ ॥

सिद्ध पुरुषार्थ से शुभ और अशुभ फल का उदय होने पर 'यह फल इस बीज के स्वरूप में पहिले से स्थित था' इस प्रकार जो कहा जाता है, वही दैव है ॥ ८ ॥

मेरी ऐसी बुद्धि थी और ऐसा मेरा निश्चय था इस प्रकार कर्मफल की प्राप्ति होनेपर जो कहा जाता है, वही दैव है ॥ ९ ॥

इष्ट और अनिष्ट फल के प्राप्त होनेपर प्राक्तन कर्म ही इस प्रकार था। इस अभिप्राय को बतलानेवाला केवल आश्वासनमात्र ही दैवशब्द से कहा जाता है ॥ १० ॥

श्रीराम ने कहा :—

हे भगवान् ! हे सर्वधर्मज्ञ ! जो प्राक्तन कर्म है वही दैव है, ऐसा आपने बारबार कहा, फिर दैव है ही नहीं, इस प्रकार उसका आप अपलाप कैसे करते हैं। अर्थात् उसके अपलाप करने में आपका क्या अभिप्राय है ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राघव ! आप उन दोनों कल्पों के विरोध को जानते हैं, सुनिए, मैं आपसे अशेषविचार कहूँगा, जिससे दैव है ही नहीं, जिसकी आपकी यह बुद्धि स्थिर हो जायगी ॥ १२ ॥

मनुष्यों के मन में पहले जो अनेक प्रकार की वासनाएँ हुई थीं, वे ही कायिक और वाचिक कर्मरूप से परिणत हुई हैं ॥ १३ ॥

हे राम ! प्राणी में जिस प्रकार की वासना होती है, वह शीघ्र ही उस कर्म को करता है। अन्य प्रकार की वासना हो, अन्य कर्म करे यह बात नहीं बन सकती॥१४॥

ग्राम में जाने की जिसकी इच्छा होती है वह ग्राम में पहुँचता है और शहर में जाने की जिसकी इच्छा होती है, वह शहर में पहुँचता है, जिसकी जिस विषय में अभिलाषा होती है; वह उस विषय में प्रयत्न करता है ॥ १५ ॥

पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा से जो कर्म प्रबल प्रयत्न से किया जाता है, वही इस जन्म में दैव शब्द से कहा जाता है (पूर्वजन्म में फल की उत्कट अभिलाषा से किये गये कर्म का ही दूसरा नाम दैव है कर्मसे अतिरिक्त नहीं है) ॥ १६ ॥

कर्मकर्त्ताओंके सभी कर्म इसी प्रकार होते हैं। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है और वासना भी अपने कारण भूत मन से पृथक् नहीं है, सकल कर्म मनोवासनामात्र है, मन पुरुष ही है, उससे पृथक् नहीं है ॥ १७ ॥

हे साधो ! जो दैव है, वही कर्म है। दैव कर्म से पृथक् नहीं है, कर्म मन से पृथक् नहीं है और मन पुरुष रूप है अतएव निश्चितरूप से दैव नहीं है ॥ १८ ॥

मनः-स्वरूप को प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हित के लिए जैसा प्रयत्न करता है दैवनाम से प्रसिद्ध अपने कर्म से वैसा ही फल प्राप्त करता है ॥ १९ ॥

मनश्चित्तं वासना च कर्म दैवं च निश्चयः ।
राम ! दुर्निश्चयस्यैताः संज्ञाः सद्भिरुदाहृताः ॥ २० ॥
एवंनामा हि पुरुषो दृढभावनया यथा ।
नित्यं प्रयतते राम फलमाप्नोत्यलं तथा ॥ २१ ॥
एवं पुरुषकारेण सर्वमेव रघूद्वह ।
प्राप्यते नेतरेणेह तस्मात् स शुभदोऽस्तु ते ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

प्राक्तनं वासनाजालं नियोजयति मां यथा ।
मुने ! तथैव तिष्ठामि कृपणः किं करोम्यहम् ॥ २३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अत एव हि राम ! त्वं श्रेयः प्राप्नोषि शाश्वतम् ।
स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नाऽन्यथा ॥ २४ ॥
द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाऽशुभश्च ते ।
प्राक्तनो विद्यते ! राम द्वयोरेकतरोऽथ वा ॥ २५ ॥

हे श्रीराम ? मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निश्चय ये सभी जिनका निश्चय नहीं हो सकता है ऐसे मिथ्याभूत मन की ही ये संज्ञाएँ सज्जनों के द्वारा कही गई हैं ॥ २० ॥

यों पुरुष की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है—ऐसा कहते हैं—'एवंनामा' से हे श्रीरामचन्द्र ! पूर्वोक्त नामों वाला (मन, चित्त आदि संज्ञाओंवाला) पुरुष दृढ़ वासना से जैसा नित्य प्रयत्न करता है वैसा ही फल मिलता है ॥ २१ ॥

हे राघव ! इस प्रकार पौरुष से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है; अन्य से कुछ भी नहीं मिलता है, इसलिए आपका पुरुषकार शुभ फल देनेवाला हो ॥ २२ ॥

श्रीराम ने कहा :—

हे मुने ! पूर्वजन्म की वासनाएँ जैसे कार्य में मुझे लगाती हैं, वैसे ही मैं रहता हूँ, परवश मैं कर ही क्या सकता हूँ ? ॥ २३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! आप प्रस्तुत जन्म की हेतुभूत वासनाओं की अनुकूलता से ही अपने प्रयत्न से प्राप्त पौरुष द्वारा अक्षय कल्याण को प्राप्त करोगे अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

पूर्वजन्म की वासनाएँ, दो प्रकार की होती हैं, एक शुभ और दूसरी अशुभ । उनमें से आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ शुभ या अशुभ हो सकती हैं ? ॥ २५ ॥

शुद्ध वासना समूह से यदि आज प्राप्त कराये जाते

वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदद्य नीयसे ।
तत्क्रमेण शुभेनैव पदं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ २६ ॥
अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति संकटे ।
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता बलात् ॥ २७ ॥
प्राज्ञश्चेतनमात्रस्त्वं न देहस्त्वं जडात्मकः ।
अन्येन चेतसा[1] तत्ते चेत्यत्वं क्वेव विद्यते ॥ २८ ॥
अन्यस्त्वां चेतयति चेत्तं चेतयति कोऽपरः ।
क इमं चेतयेत्तस्मादनवस्था न वास्तवी ॥ २९ ॥
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥ ३० ॥
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवाऽवतारय ।
स्वं मनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनां वर ! ॥ ३१ ॥

हैं तो क्रमशः उस प्राक्तन शुभ वासनाओं से परम पद अर्थात् अविमश्वेर स्थान को प्राप्त करें आशय यह है कि प्राक्तन शुभ कर्म वासना यदि प्रारब्धरूप में प्राप्त है तो क्रमशः अविनाशी स्थान प्राप्त करें ॥ २६ ॥

यदि आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ अशुभ है तो वे आपको संकट की ओर ले जाती हैं, तो उन प्राक्तन अशुभ वासनाओंपर आपको प्रयत्नपूर्व बलपूर्वक विजय प्राप्त करनी चाहिए ॥ २७ ॥

चेतनमात्र प्राज्ञ आप हैं । आप जड़रूप देह नहीं हैं जिससे उससे अपने को पृथक् समझें, इसलिए चेतनरूप आपकी अन्य चेतन से भास्यता कहाँ है ? ॥ २८ ॥

यदि आपको अन्य कोई प्रकाशित करता है; तो उस प्रकाशित करनेवाले को कौन प्रकाशित करेगा और उस दूसरे प्रकाशित करनेवाले को कौन प्रकाशित करेगा ? उसको भी अन्य करेगा और उसको भी अन्य प्रकाशित करेगा, ऐसा माना, तो अनवस्था होगी (और अनवस्था से किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती है ॥ २९ ॥

वासनारूपी नदी शुभ और अशुभ मार्ग से बह रही है, अपने पुरुषकार से उसे अशुभ मार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में बहाना चाहिए अर्थात् शुभ मार्ग से चलना चाहिए ॥ ३० ॥

हे बलवानों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी ! असत् मार्गों में उलझे हुए अपने मन को अपने पुरुषार्थ के द्वारा बलपूर्वक शुभ मार्गों में लगाओ ॥ ३१ ॥

१. "चेत्य से तत्त्वम्" इतिपाठः "अन्येन चेत्यसे चेत्ते चेतसत्वं क्वेव विद्यते" इति च पाठः ।

अशुभाच्चलितं याति शुभं तस्मादपीतरत् ।
जन्तोश्चित्तं तु शिशुवत्तस्मात्तच्चालयेद् बलात् ॥ ३२ ॥
समतासान्त्वनेनाऽऽशु न द्रागिति शनैः शनैः ।
पौरुषेणैव यत्नेन पालयेच्चित्तबालकम् ॥ ३३ ॥
वासनौघस्त्वया पूर्वमभ्यासेन घनीकृतः ।
शुभो वाऽप्यशुभो वाऽपि शुभमद्य घनीकुरु ॥ ३४ ॥
प्रागभ्यासवशाद्याता यदा ते वासनोदयम् ।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ! ॥ ३५ ॥
इदानीमपि ते याति घनतां वासनाऽनघ ! ।
अभ्यासवशतस्तस्माच्छुभाभ्यासमुपाहर ॥ ३६ ॥
पूर्वं चेद्घनतां याता नाऽभ्यासात्तव वासना ।

अशुभ मार्ग से निवारित मनुष्य का चित्त बालक के समान शुभ मार्ग में जाता है और पुण्यमार्ग से निवारित पापमार्ग में जाता है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक हठात् पापमार्ग से चित्त को हटाना चाहिए ॥ ३२ ॥

क्रम से चित्तरूपी बालक को शीघ्र रागादि दोषों के विश्लेषण से और स्वाभाविक समता में स्थापन से निर्दोष बनाकर धीरे-धीरे आत्मस्वरूप में निरोधरूप पौरुषप्रयत्न से चलाए, शीघ्र हठपूर्वक उसका निरोध न करे ॥ ३३ ॥

पहले अभ्यास से शुभ वासनाओं को या अशुभ वासनाओं को दृढ़ बना लिया हो, किन्तु इस समय आप शुभ वासनाओं को ही दृढ़ करें। आशय यह है कि पूर्वजन्मों में यदि आपने अभ्यास से शुभ वासनाओं को ही दृढ़ किया होगा, तो इस समय भी शुभ ही वासनाओं को दृढ़ करने से शीघ्र फल प्राप्त होगा। यदि पूर्वजन्म में अशुभ वासनाओं को दृढ़ करने से शीघ्र फल प्राप्त होगा यदि पूर्वजन्म में अशुभ वासनाओं को सघन बना रक्खा होगा, फिर भी विरुद्ध वासनाओं के विनाश के लिए भी शुभ वासनाओं के दृढ़ीकरण की आवश्यकता है ॥ ३४ ॥

हे शत्रुनाशक ! जब आपकी पूर्वजन्म की वासनाएँ अभ्यासवश घनीभाव को प्राप्त कर ले तब आप अभ्यास की सफलता को समझें ॥ ३५ ॥

हे पापशून्य ! पूर्व के समान इस समय भी अभ्यासवश आपकी वासना दृढ़ता को प्राप्त कर रही है, इसलिए शुभवासनाओं का ही अभ्यास करें ॥ ३६ ॥

हे तात ! यदि पूर्वजन्म में अभ्यास से आपकी वासना घनी भूत नहीं हुई, तो इस समय भी वह सघन नहीं होगी, इसलिए आप सुख लाभ करें। आपको विषाद नहीं करना चाहिए ॥ ३७ ॥

वर्द्धिष्यते तु नेदानीमपि तात ! सुखी भव ॥ ३७ ॥
संदिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर ।
अस्यां तु वासनावृद्धौ शुभाद्दोषो न कश्चन ॥ ३८ ॥
यद्यदभ्यस्यते लोके तन्मयेनैव भूयते ।
इत्याकुमारं प्राज्ञेषु दृष्टं सन्देहवर्जितम् ॥ ३९ ॥
शुभवासनया युक्तस्तदत्र भव भूतये ।
परं पौरुषमाश्रित्य विजित्येन्द्रियपञ्चकम् ॥ ४० ॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥ ४१ ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना ॥४२॥

राजकुमार ! शुभ और अशुभ वासनाओं की सफलता में सन्देह होनेपर भी आप अत्यन्त शुभ वासनाओं का ही संग्रह करें। शुभ कर्मों के आचरण से शुभ वासना की अभिवृद्धि होनेपर कोई दोष नहीं है संस्कृत व्याख्या में इस पद्य की व्याख्या में अन्य समानार्थक पद्य कहा है।—

शुभाशुभफलारम्भे सन्दिग्धेऽपि शुभं चरेत् ।
यदि न स्यात्तदा किं स्याद्यदि स्यान्नास्तिको हतः ॥

शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा फल की प्राप्ति में सन्देह रहने पर भी अर्थात् शुभ आचरण से शुभ ही फल होता है—इसमें सन्देह होने पर शुभ आचरण ही करना चाहिए नहीं हुआ तो क्या हानि है और अच्छा फल हुआ तो जिसने आचरण नहीं किया वह मारा गया ॥ ३८ ॥

लोक में मनुष्य जिस विषय का अभ्यास करता है, उसी में निःसन्देह तन्मय हो जाता है, यह बात बालकों से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक में देखी गई है ॥ ३९ ॥

पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर अर्थात् इनको वश में कर विशेष पौरुष का आधान कर शुभ वासना से समन्वित हो वही यहाँ पर कल्याण के लिए है ॥ ४० ॥

जब तक गुरु के उपदेश, शास्त्राभ्यास और युक्ति अनुभव आदि प्रमाणों से अव्युत्पन्नचित्त आपको तत्पद का निर्णय नहीं हो जाता है तबतक शुभवासनाओं का आचरण करें ॥ ४१ ॥

पकाये गये क्षार से जैसे वस्त्र आदि में लगे हुए मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही परमतत्त्व के परिज्ञान से आपके राग आदि दोष नष्ट हो जाय, मानसिक व्यथाएँ समाप्त हो जायँ तब आप निश्चय ही इस शुभ वासनासमूह का भी परित्याग कर दें ॥ ४२ ॥

यदतिसुभगमार्यसेवितं त-
च्छुभमनुसृत्य मनोज्ञभावबुद्ध्या ।
अधिगमय पदं सदा विशोकं
तदनु तदप्यवमुच्य साधु तिष्ठ ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे कर्मविचारो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

आप श्रेष्ठतम पुरुषों द्वारा सेवित अतिशय सुन्दर उन शुभ वासनाओं का अनुसरण करें और शुभ वासना से सम्पन्न बुद्धि से परमार्थ वस्तु का साक्षात्कार करें और तब शुभ वासनाओं के अनुसरण का भी त्यागकर परम सत्य में भली-भाँति स्थित हो जाय ॥४३॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीतवाल्मीकीयश्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में निःश्रेयसविरोधि-भावानित्यताप्रतिपादननामक कुसुमलता का नवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥२७॥

१०

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरुच्यते ।
सा विनेतुर्विनेतृत्वं सा विनेयविनेयता ॥ १ ॥
अतः पौरुषमाश्रित्य श्रेयसे नित्यबान्धवम् ।
एकाग्रं कुरु तच्चित्तं शृणु चोक्तमिदं मम ॥ २ ॥
अवान्तरनिपातोनि स्वारूढानि मनोरथम् ।
पौरुषेणेन्द्रियाण्याशु संयम्य समतां नय ॥ ३ ॥
इहाऽमुत्र च सिद्ध्यर्थं पुरुषार्थफलप्रदाम् ।
मोक्षोपायमयीं वक्ष्ये संहितां सारनिर्मिताम् ॥ ४ ॥
अपुनर्ग्रहणायाऽन्तस्त्यक्त्वा संसारवासनाम् ।
सम्पूर्णां शमसन्तोषावादायोदारया धिया ॥ ५ ॥
सपूर्वापरवाक्यार्थविचारविषयाहृतम् ।
मनः समरसं कृत्वा सानुसन्धानमात्मनि ॥ ६ ॥

१०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

सच्चिदानन्द स्वप्रकाश रूप से सभी पदार्थों में अधिष्ठान रूप से अर्थात् अभिन्न निमित्तोपादान रूप से अनुस्यूत सत्ता ही भवितव्यता अर्थात् आगे फल देने वाली होने से नियति शब्द से कही जाती है। वस्तु में अस्तित्व रूप से प्रतिष्ठित नियामकत्व अर्थात् कारण स्वरूप से कार्य आदि की नियामक होती है, कार्य आदि की नियम्यता अर्थात् विनेयता ही वह सत्ता या नियति है। कारण कार्य से पूर्ववर्ती होता है और कार्य पश्चाद्वर्ती होता है इसीलिए कारण विनेता और कार्य विनेय है ॥ १ ॥

इसलिए पौरुष का आश्रयण कर कल्याण के लिए नित्य बन्धुरूप चित्त को एकाग्र करें, मेरे इस कथन को सुने ॥ २ ॥

इन्द्रियाँ सदा विषय की अभिलाषा में आरुढ रहती हैं ऐहिक और स्वर्ग आदि सुख की प्राप्ति के लिए आसक्त रहती हैं, अतः वे इन्द्रियाँ विषयों की अभिलाषा न करें वैसे प्रयत्नों से इन्द्रियों का शीघ्र संयम कर मन की समता करें ॥ ३ ॥

इस लोक तथा परलोक की सिद्धि के लिए अर्थात् जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के लिए या मनुष्य लोक और स्वर्ग आदि लोकों में अधिकारियों की ज्ञान की सिद्धि के लिए मैं पुरुषार्थ रूप फल देनेवाली तथा मोक्ष के लिए साधनभूत तथा सारभूत संहिता का उपदेश देता हूँ ॥ ४ ॥

श्रीरामजी, अपुनर्ग्रहण के लिए (सर्वदा के लिए) संसारवासना को हृदय से निकाल कर तथा उदार बुद्धि से परिपूर्ण शान्तिसुख और सन्तोषसुख का ग्रहण करें, इस संहिता के सुनने में मन्दविरक्त का भी अधिकार नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'अपुनर्ग्रहणाय'ऐसा कहा है ॥ ५ ॥

पूर्ववाक्य (कर्मकाण्ड श्रुतियों) और उत्तरवाक्यों के (उपासनापरक श्रुतियों के) अर्थ के विचारसे सम्पन्न और विषयों द्वारा अविद्ध चित्त को आत्मानुसन्धान से युक्त और समरस करें ॥ ६ ॥

सुखदुःखक्षयकरं महानन्दैककारणम् ।
मोक्षोपायमिमं राम ! वक्ष्यमाणं मया शृणु ॥ ७ ॥
इमां मोक्षकथां श्रुत्वा सह सर्वैर्विवेकिभिः ।
परं यास्यसि निर्दुःखं नाशो यत्र न विद्यते ॥ ८ ॥
इदमुक्तं पुरा कल्पे ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।
सर्वदुःखक्षयकरं परमाश्वासनं धियः ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

केनोक्तं कारणेनेदं ब्रह्मन्पूर्वं स्वयम्भुवा ।
कथं च भवता प्राप्तमेतत्कथय मे प्रभो ! ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्त्यनन्तविलासात्मा सर्वगः सर्वसंश्रयः ।
चिदाकाशोऽविनाशात्मा प्रदीपः सर्वजन्तुषु ॥ ११ ॥
स्पन्दास्पन्दसमाकारात् ततो विष्णुरजायत ।
स्यन्दमानरसापूरात् तरङ्गः सागरादिव ॥ १२ ॥
सुमेरुकर्णिकात्तस्य दिग्दलाद्धृदयाम्बुजात् ।

हे राम ! सुख और दुःख का नाश करनेवाले महान् आनन्द के एकमात्र कारण स्वरूप इस मोक्ष के उपाय को, कह रहा हूँ; आप आत्मा का अनुसन्धान करे ॥ ७ ॥

हे राम ! सभी विवेकशील पुरुषों के साथ आप इस मोक्षकथा को सुनकर उस दुःखरहित परमपद को प्राप्त करेंगे जिसका विनाश नहीं होता है ॥ ८ ॥

सृष्टि के आदि में भगवान् ब्रह्माजीने सम्पूर्ण दुःखों का विनाश करनेवाली और बुद्धि को अतिशय शान्ति देनेवाली इस मोक्षकथा को कहा था ॥ ९ ॥

श्रीरामने कहा:—

हे प्रभो ! सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ब्रह्माजी ने किस लिए यह मोक्षकथा कही थी ? और यह कैसे आपको प्राप्त हुई ? यह कृपाकर मुझे कहें ॥ १० ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा :—

अनन्त विलास स्वरूप अविद्या का अधिष्ठानभूत, सर्वत्र परिव्याप्त, सभी से संबद्ध चेतन, अविनाशी, सब प्राणियों में प्रकाशरूप से स्थित परमात्मा है ॥ ११ ॥

माया और माया के कार्यों के आविर्भाव और तिरोभाव में सदा निर्विकार उस परमात्मा से विष्णु (सम्पूर्ण कार्यों में व्याप्त रहनेवाले ब्रह्माण्डरूप विराट्) सूक्ष्मभूतों के क्रम से वैसे ही उत्पन्न हुए जैसे स्यन्दमान जल से परिपूर्ण निश्चलावस्था और चञ्चलावस्था में अप्रच्युत जलस्वभाव सागर से तरङ्ग उत्पन्न होती हैं ॥ १२ ॥

उस विष्णु के हृदय कमल जिस कमल की सुमेरु

तारकाकेसरवतः परमेष्ठी व्यजायत ॥ १३ ॥
वेदवेदार्थविद्देवमुनिमण्डलमण्डितः ।
सोऽसृजत्सकलं सर्गं विकल्पौघं यथा मनः ॥ १४ ॥
जम्बुद्वीपस्य कोणेऽस्मिन् वर्षे भारतनामनि ।
ससर्ज जनसर्गौघं ह्याधिव्याधिपरिप्लुतम् ॥ १५ ॥
भावाभावविषण्णाङ्गमुत्पातध्वंसतत्परम् ।
सर्गेऽस्मिन्भूतजातोनां नानाव्यसनसङ्कुलम् ॥ १६ ॥
जनस्यैतस्य दुःखं तद् दृष्ट्वा सकललोककृत् ।
जगाम करुणामीशः पुत्रदुःखात् पिता यथा ॥ १७ ॥
क एतेषां हताशानां दुःखस्याऽन्तो हतायुषाम् ।
स्यादिति क्षणमेकाग्रं चिन्तयामास भूतये ॥ १८ ॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान् ससर्ज स्वयमीश्वरः ।
तपो धर्मं च दानं च सत्यं तीर्थानि चैव हि ॥ १९ ॥
एतत्सृष्ट्वा पुनर्देवश्चिन्तयामास भूतकृत् ।
पुंसां नाऽनेन सर्गस्य दुःखस्याऽन्त इति स्वयम् ॥ २० ॥

कर्णिका है दिशाएँ दल है; और तारा केसर समूह है उस कमल से परमेष्ठी की उत्पत्ति हुई ॥ १३ ॥

जैसे मन विविध विकल्पों की सृष्टि करता है वैसे ही वेद और वेदार्थ के महान् परिज्ञाता ब्रह्माजी ने देवताओं और मुनियों की मण्डली के साथ सम्पूर्ण प्राणियों की सृष्टि की ॥ १४ ॥

इस जम्बूद्वीप के एक भाग इस भारतवर्ष में ब्रह्मा ने, लाभ और हानि से दुःखी, जन्म-मरण-शील एवं मानसिक और कायिक व्याधियों से पीड़ित, विविध प्राणियों की सृष्टि की ॥ १५ ॥

प्राणियों की इस सृष्टि में विविध विषयभोगरूपी व्यसनों से पूर्ण लोगों का क्लेश देखकर सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करनेवाले भगवान् ब्रह्मा को, जैसे पुत्र को दुःखी देखकर पिता को दया आती है, वैसे ही, बड़ी दया आई ॥ १६-१७ ॥

उन्होंने प्राणियों के कल्याण के लिए क्षण भर एकाग्रचित्त होकर विचार किया कि इन अल्पायु बेचारे जीवों के दुःख का अन्त किस उपाय से होगा ? ऐसा विचार कर भगवान् ब्रह्माजी ने स्वयं तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थों की सृष्टि की ॥ १८-१९ ॥

हे रघुवर ! तप आदि की सृष्टि कर श्रीब्रह्माजी ने पुनः स्वयं विचार किया कि सृष्टिप्रवाह में पड़े हुए लोगों के दुःख का तप आदि से समूल विनाश नहीं हो सकता है ॥ २० ॥

निर्वाणं नाम परमं सुखं येन पुनर्जनः ।
न जायते न म्रियते तज्ज्ञानादेव लभ्यते ॥ २१ ॥
संसारात्तरणे जन्तोरुपायो ज्ञानमेव हि ।
तपो दानं तथा तीर्थमनुपायाः प्रकीर्तिताः ॥ २२ ॥
तत्तावद् दुःखमोक्षार्थं जनस्याऽस्य हतात्मनः ।
प्रत्यग्रं तरणोपायमाशु प्रकटयाम्यहम् ॥ २३ ॥
इति संचिन्त्य भगवान् ब्रह्मा कमलसंस्थितः ।
मनसा परिसंकल्प्य मामुत्पादितवानिमम् ॥ २४ ॥
कुतोऽप्युत्पन्न एवाऽऽशु ततोऽहं समुपस्थितः ।
पितुस्तस्य पुनः शीघ्रमूर्मिरुर्मेरिवाऽनघ ॥ २५ ॥
कमण्डलुधरो नाथः सकमण्डलुना मया ।
साक्षमालः साक्षमालं स प्रणम्याऽभिवादितः ॥ २६ ॥
एहि पुत्रेति मामुक्त्वा स स्वाब्जस्योत्तरे दले ।
शुक्लाभ्र इव शीतांशुं योजयामास पाणिना ॥ २७ ॥
मृगकृत्तिपरीधानो मृगकृत्तिनिजाम्बरम् ।
मामुवाच पिता ब्रह्मा सुहंसः सारसं यथा ॥ २८ ॥

निर्वाण (मोक्ष) परम सुख है, जिसके प्राप्त होने पर जीव न तो फिर जन्म लेता है और न मरता है। वह निर्वाण ज्ञान से ही प्राप्त होता है। अतः जीव के संसारसागर से पार होने का एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान, और तीर्थ को संसार से मुक्ति का साधन नहीं माना गया है ॥ २१-२२ ॥

इसलिए मैं इन दीन-हीन लोगों के दुःख के समूल विनाश के लिए संसारसागर से पार होने के लिए अर्थात् मोक्ष के साधन को शीघ्र प्रकट करता हूँ ॥ २३ ॥

इस प्रकार विचार कर कमलपर बैठे हुए भगवान् ब्रह्माजी ने मन से संकल्प कर मुझे, उत्पन्न किया ॥ २४ ॥

हे पुण्यमय ! जैसे एक तरङ्ग से शीघ्र दूसरी तरङ्ग होती है वैसे ही मैं भी अनिर्वचनीय माया के अधीन ही उत्पन्न हुआ और उत्पन्न होते ही शीघ्र पिताजी के समीप उपस्थित हुआ ॥ २५ ॥

कमण्डलु एवं रुद्राक्ष की माला को धारण किये हुए वे भगवान् ब्रह्मा को कमण्डलु एवं अक्षमालाधारी मैने विनम्र होकर अभिवादन किया ॥ २६ ॥

हे पुत्र ! यहाँ आओ कहकर उन्होंने अपने आसनरूप कमल की ऊपरी पँखुड़ी पर सफेद बादल सदृश चन्द्रमा के रूप में मुझे अपने हाथ से बैठाया ॥ २७ ॥

जैसे सुन्दर हंस सारस से कहे वैसे मृगचर्मधारी पितृदेव ब्रह्मा ने मृगचर्मधारी मुझसे कहा—हे पुत्र ! जैसे

मुहूर्तमात्रं ते पुत्र ! चेतो वानरचञ्चलम् ।
अज्ञानमभ्याविशतु शशः शशधरं यथा ॥ २९ ॥
इति तेनाऽऽशु शप्तः सन् विचारसमनन्तरम् ।
अहं विस्मृतवान् सर्वं स्वरूपममलं किल ॥ ३० ॥
अथाऽहं दीनतां यातः स्थितोऽसम्बुद्धया धिया ।
दुःखशोकाभिसन्तप्तो जातो जन इवाऽधनः ॥ ३१ ॥
कष्टं संसारनामाऽयं दोषः कथमिहाऽऽगतः ।
इति चिन्तितवानन्तस्तूष्णीमेव व्यवस्थितः ॥ ३२ ॥
अथाऽभ्यधात् स मां तातः पुत्र ! किं दुःखवानसि ।
दुःखोपघातं मां पृच्छ सुखी नित्यं भविष्यसि ॥ ३३ ॥
ततः पृष्टः स भगवान् मया सकललोककृत् ।
हेमपद्मदलस्थेन संसारव्याधिभेषजम् ॥ ३४ ॥
कथं नाथ महादुःखमयः संसार आगतः ।
कथं च क्षीयते जन्तोरिति पृष्टेन तेन मे ॥ ३५ ॥
तज्ज्ञानं सुबहु प्रोक्तं यज्ज्ञात्वा पावनं परम् ।
अहं पितुरभिप्रायः किलाऽधिक इव स्थितः ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा में कलङ्क प्रविष्ट होता है वैसे ही बानर के समान चञ्चल अज्ञान एक मुहूर्त के लिए तुम्हारे चित्त में प्रवेश करे ॥ २८-२९ ॥

ब्रह्माजी से शीघ्र अभिशप्त होकर मैं उनके सङ्कल्प के बाद ही अपना सारा निर्मल स्वरूप भूल गया ॥ ३० ॥

धनी के धन हरण कर लेने के समान दीन-हीन तत्त्व-विज्ञान से रहित और दुःख-शोक से आक्रान्त मैं दिनानुदिन जीर्ण-शीर्ण होने लगा ॥ ३१ ॥

बड़े दुःख की बात है कि यह महाक्लेशदायक संसार नामक दोष कहाँ से मुझको प्राप्त हो गया ऐसा विचार कर मौन होकर बैठ गया ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजी ने मुझसे कहा —हे पुत्र ! तुम क्यों दुःखी हो ? इस दुःख के नाशक उपाय को, तात ! मुझसे पूछो ? तुम अवश्य नित्यसुखी हो जाओगे ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् स्वर्णकमल की पँखुरी में बैठे हुए मैंने सम्पूर्ण लोकों के रचयिता श्रीब्रह्माजी से संसारदुःख की ओषधि पूछी ॥ ३४ ॥

हे भगवन् ! यह महादु,खमय संसार जीव को कैसे प्राप्त हुआ और कैसे इसका विनाश होता है ? इस प्रकार मेरे द्वारा पूछने पर उन्होंने मुझको उस विपुल ज्ञान का उपदेश दिया, जिस परम विपुल ज्ञान को जानकर मैं भी पिता के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वज्ञान के समान परिपूर्णस्वभाव का हो गया ॥ ३५-३६ ॥

ततो विदितवेद्यं मां निर्जां प्रकृतिमास्थितम् ।
स उवाच जगत्कर्ता वक्ता सकलकारणम् ॥ ३७ ॥
शापेनाऽज्ञपदं नीत्वा पृच्छकस्त्वं मया कृतः ।
पुत्राऽस्य ज्ञानसारस्य समस्तजनसिद्धये ॥ ३८ ॥
इदानीं शान्तशापस्त्वं परं बोधमुपागतः ।
संस्थितोऽहमिवैकात्माऽकनकं कनकादिव ॥ ३९ ॥
गच्छेदानीं महीपृष्ठे जम्बुद्वीपान्तरस्थितम् ।
साधो ! भरतवर्षं त्वं लोकानुग्रहहेतुना ॥ ४० ॥
तत्र क्रियाकाण्डपरास्त्वया पुत्र महाधिया ।
उपदेश्याः क्रियाकाण्डक्रमेण क्रमशालिना ॥ ४१ ॥
विरक्तचित्ताश्च तथा महाप्राज्ञा विचारिणः ।
उपदेश्यास्त्वया साधो ! ज्ञानेनाऽऽनन्ददायिना ॥ ४२ ॥
इति तेन नियुक्तोऽहं पित्रा कमलयोनिना ।
इह राघव ! तिष्ठामि यावद्भूतपरम्परा ॥ ४३ ॥
कर्तव्यमस्ति न ममेह हि किञ्चिदेव
स्थातव्यमित्यतिमना भुवि संस्थितोऽस्मि ।
संशान्तया सततसुष्टधियेह वृत्त्या
कार्यं करोमि न च किञ्चिदहं करोमि ॥ ४४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे ज्ञानावतरणं नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

ज्ञातव्य विषयों के ज्ञाता मुझे अपने आत्मस्वरूप में अवस्थित जानकर सभी के कारण जगत् के निर्माता उपदेशक विधाता ने कहा ॥ ३७ ॥

ब्रह्माजी ने मुझसे कहा—हे पुत्र ! मैंने शाप द्वारा तुम्हें अज्ञानी बनाकर समस्त अधिकारी लोगों की ज्ञान-सिद्धि के लिए इस सारभूत ज्ञान का जिज्ञासु बनाया है ॥ ३८ ॥

तुम्हारा शाप शान्त हो गया है, चिरकाल तक मल के सम्पर्क से असुवर्णस्वरूपता को प्राप्त हुआ सुवर्ण पुनः शोधन से पूर्ववत् शुद्ध सुवर्णरूपता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही तुम्हारा औपाधिक अज्ञान नष्ट हो गया है, अब उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त कर तुम मेरे समान अद्वितीय आत्मस्वरूप हो गये हो ॥ ३९ ॥

हे साधो ! इस समय तुम लोकानुग्रह के लिए भूलोक में जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित भारतवर्ष में जाओ ॥ ४० ॥

हे पुत्र ! वहाँ पर महामति तुम कर्मकाण्डपरायण लोगों को क्रमशः कर्मकाण्डक्रम से ही उपदेश देना ॥ ४१ ॥

जो विचारशील, विरक्त और जो अतीन्द्रिय तत्त्व के ग्रहण में समर्थ हो, उन्हें आनन्ददायक ज्ञानमार्ग का उपदेश देना ॥ ४२ ॥

हे राघव ! इस प्रकार पिता ब्रह्माजी के द्वारा नियुक्त मैं इस लोक में जबतक इस लोक में अधिकारी पुरुष रहेंगे तबतक रहूँगा ॥ ४३ ॥

इस लोक में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, पर रहना चाहिए, यह विचार कर मैं अमनस्क होकर यहाँ रहता हूँ, अत अभिमानशून्य वृत्ति से रहता हुआ मैं अज्ञानियों की बुद्धि से कार्य करता हूँ, वस्तुतः कुछ भी नहीं करता हूँ । अनासक्त रूप से जीवनन्यापन करने के कारण करता हुआ भी मैं कुछ नहीं करता हूँ ॥ ४४ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीतवाल्मीकीयश्रीवासिष्ठमहारामायण में वैराग्यप्रकरण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण का पौरुषस्थापन नामक दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

११

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतत्ते कथितं सर्वं ज्ञानावतरणं भुवि ।
मया स्वमीहितं चैव कमलोद्भवचेष्टितम् ॥ १ ॥

११

श्रीवसिष्ठजीने कहा:—

हे पुण्यात्मन् ! ज्ञान का पृथिवीपर अवतरण, अपने जन्म, ज्ञानावरोध, पुनः ज्ञानप्राप्ति आदि और श्रीब्रह्मा-जी का कार्य यह सब मैंने आपसे कहा सम्भव है अब

तदिदं परमं ज्ञानं श्रोतुमद्य तवाऽनघ ! ।
भृशमुत्कण्ठितं चेतो महतः सुकृतोदयात् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

कथं ब्रह्मन् ! भगवतो लोके ज्ञानावतारणे ।
सर्गादनन्तरं बुद्धिः प्रवृत्ता परमेष्ठिनः ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमे ब्रह्मणि ब्रह्मा स्वभाववशतः स्वयम् ।
जातः स्पन्दमयो नित्यमूर्मिरम्बुनिधाविव ॥ ४ ॥
दृष्ट्वैवमातुरं सर्गं सर्गस्य सकलां गतिम् ।
भूतभव्यभविष्यस्थां ददर्श परमेश्वरः ॥ ५ ॥
स क्रियाक्रमकालस्य कृतादेः क्षय आगते ।
मोहमालोच्य लोकानां कारुण्यमगमत् प्रभु ॥ ६ ॥
ततो मामीश्वरः सृष्ट्वा ज्ञानेनाऽऽयोज्य चाऽसकृत् ।
विससर्ज महीपीठे लोकस्याऽज्ञानशान्तये ॥ ७ ॥

आपका चित्त महान् पुण्य के उदय हो जाने से उस ज्ञान के सुनने के लिए अति शय उत्कण्ठित हो रहा होगा ॥ १-२ ॥

श्रीरामने कहा:—

हे ब्रह्मन् ! सृष्टि करने के अनन्तर भगवान् ब्रह्माजी की बुद्धि इस लोक में ज्ञान के अवतरण के लिए किस प्रकार प्रवृत्त हुई ? ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा:—

जैसे सागर में तरङ्ग बार-बार उत्पन्न होती है वैसे ही प्रचुर क्रियाशक्ति से सम्पन्न ब्रह्मा अपने पूर्वजन्म की विद्या, कर्म, और वासनाओं के प्रकर्ष से परम ब्रह्म में उत्पन्न हुए। उन्होंने विविध प्राणियों की सृष्टि करने के बाद सृष्ट लोगों को इस प्रकार जन्म, मरण, नरक आदि से, अपने ही अज्ञान के कारण दुःखी देखकर वर्तमान सृष्टि के दृष्टान्त से अतीत, वर्तमान और भविष्यकाल की सृष्टि की सम्पूर्ण अवस्थाओं का अनुमान कर लिया ॥ ४-५ ॥

विशेषरूप से स्वर्ग और मोक्ष के साधनों के अनुष्ठान के योग्य सत्ययुग आदि समय के क्षीण होनेपर लोगों में अज्ञान का प्राबल्य देखकर भगवान् ब्रह्माजी को बड़ी दया आई ॥ ६ ॥

अनन्तर भगवान् ब्रह्माजी ने मेरी सृष्टि की और बार-बार उपदेश दिया और मुझे ज्ञानसम्पन्न कर लोगों के अज्ञान की शान्ति के लिए पृथिवी पर भेजा ॥ ७ ॥

मेरे ही समान सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, नारद

यथाऽहं प्रहितस्तेन तथाऽन्ये च महर्षयः ।
सनत्कुमारप्रमुखा नारदाद्याश्च भूरिशः ॥ ८ ॥
क्रियाक्रमेण पुण्येन तथा ज्ञानक्रमेण च ।
मनोमोहामयोन्नद्धमुद्धर्तुं लोकमीरिताः ॥ ९ ॥
महर्षिभिस्ततस्तैस्तैः क्षीणे कृतयुगे पुरा ।
क्रमात् क्रियाक्रमे शुद्धे पृथिव्यां तनुतां गते ॥ १० ॥
क्रियाक्रमविधानार्थं मर्यादानियमाय च ।
पृथग्देशविभागेन भूपालाः परिकल्पिताः ॥ ११ ॥
बहूनि स्मृतिशास्त्राणि यज्ञशास्त्राणि चाऽवनौ ।
धर्मकामार्थसिद्ध्यर्थं कल्पितान्युचितान्यथ ॥ १२ ॥
कालचक्रे वहत्यस्मिंस्ततो विगलिते क्रमे ।
प्रत्यहं भोजनपरे जने शाल्यर्जनोन्मुखे ॥ १३ ॥
द्वन्द्वानि संप्रवृत्तानि विषयार्थं महीभुजाम् ।
दण्ड्यतां संप्रयातानि भूतानि भुवि भूरिशः ॥ १४ ॥

आदि अनेक अन्य महर्षियों को अधिकार के अनुसार कर्म के क्रम से पुण्य कर्मकन्ड के उपदेश और ज्ञानकाण्ड के उपदेश द्वारा महामोह रूपी मन की महाव्याधि के वशीभूत लोगों का उद्धार करने के लिए भेजा ॥ ८-९ ॥

प्राचीन-काल में सत्ययुग के बीतने पर कालक्रम से पृथ्वी पर राग, लोभ आदि से अनुपहत कर्मकाण्ड का ह्रास होने पर कर्मकाण्ड के सञ्चालन और मर्यादा के रक्षण के लिए पृथक्-पृथक् देशों का विभाग कर राजाओं की कल्पना की गई। पृथिवी में राजाओं की कल्पना होने पर राजाओं और प्रजाओं के धर्म का नियन्त्रण करने के स्मृतिशास्त्र और यज्ञ की विधियों के प्रतिपादन के लिए यथोचित्त श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र तथा श्रौतगृह्य-प्रयोगों का; धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए; निर्माण किया गया ॥ १०-१२ ॥

इस कालचक्र के परिवर्तित होने पर फिर कर्मकाण्ड क्रम नष्टभ्रष्ट हो प्रतिदिन लोगों के भोजनमात्रपरायण और विषयों के अर्जन में तत्पर हो जाने पर राजाओं के देश या भोग्यपदार्थों के लिए परस्पर युद्ध होने लगे, इस प्रकार पृथ्वी में अनेक प्राणियों को दण्ड भोगना पड़ा।

संस्कृत व्याख्याकार ने इसका इस प्रकार भी व्याख्यान किया है 'द्वन्द्व' शब्द का अर्थ शीतोष्ण आदि द्वन्द्व करना चाहिए। उनके परिहार में उपायभूत विषयों के सम्पादन के लिए प्राणी राजाओं के दण्डनीय हुए, कारण विषयों की सिद्धि धनमूलक है और धन के लिए राजाओं ने प्रजा पर कर लगाया ॥ १३-१४ ॥

ततो युद्धं विना भूपा महीं पालयितुं क्षमाः ।
न समर्थास्तदा याताः प्रजाभिः सह दैन्यताम् ॥ १५ ॥
तेषां दैन्यापनोदार्थं सम्यग्दृष्टिक्रमाय च ।
ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ता महत्यो ज्ञानदृष्टयः ॥ १६ ॥
अध्यात्मविद्या तेनेयं पूर्वं राजसु वर्णिता ।
तदनु प्रसृता लोके राजविद्येत्युदाहृता ॥ १७ ॥
राजविद्या राजगुह्यमध्यात्मज्ञानमुत्तमम् ।
ज्ञात्वा राघव ! राजानः परां निर्दुःखतां गताः ॥ १८ ॥
अथ राजस्वतीतेषु बहुष्वमलकीर्तिषु ।
अस्माद् दशरथाद् राम ! जातोऽद्य त्वमिहाऽवनौ ॥१९॥
तव चाऽतिप्रसन्नेऽस्मिन् जातं मनसि पावनम् ।
निर्निमित्तमिदं चारु वैराग्यमरिमर्दन ! ॥ २० ॥
सर्वस्यैव हि सर्वस्य साधोरपि विवेकिनः ।
निमित्तपूर्वं वैराग्यं जायते राम ! राजसम् ॥ २१ ॥
इदं त्वपूर्वमुत्पन्नं चमत्कारकरं सताम् ।

पहले युद्ध के बिना ही राजा पृथ्वी के पालन में समर्थ होते थे किन्तु तदनन्तर राजा युद्ध के बिना पृथ्वी पर शासन करने के लिए समर्थ नहीं हुए, इसका फल यह हुआ कि प्रजाओं के साथ राजा ने भी दैन्य को प्राप्त किया॥ १५ ॥

उन लोगों की दीनता को दूर करने के लिए और आत्मज्ञान के प्रचार के लिए हम लोगों ने ज्ञानवर्द्धक बड़े-बड़े दर्शनों का उपदेश किया ॥ १६ ॥

इस अध्यात्म विद्या का पहले राजाओं को उपदेश दिया इसके बाद इसका और लोगों में प्रसार हुआ, इस लिए इसको राजविद्या कहा जाता है ॥ १७ ॥

हे राघव ! राजाओं ने राजविद्या, राजगुह्य आदि नामों से प्रसिद्ध उत्तम अध्यात्मज्ञान को जान कर सर्वथा दुःख-रहित अत्यन्त आनन्द को प्राप्त किया ॥ १८ ॥

हे राम ! कालक्रम से निर्मल कीर्ति वाले अनेक राजाओं के कीर्तिशेष होनेपर इन महाराज श्रीदशरथ जी से आप इस पृथिवी में उत्पन्न हुए ॥ १९ ॥

हे परन्तप ! आप के अतिनिर्मल मन में दृष्ट निमित्तों के बिना ही पवित्रतम ज्ञानोत्पादन समर्थ यह उत्तम वैराग्य उत्पन्न हुआ है ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! सम्पूर्ण विवेकी पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ रूप से विख्यात साधु का सब विषयों में दृष्टनिमित्तपूर्वक ही राजस वैराग्य होता है ॥ २१ ॥

हे श्रीराम ! सत्पुरुषों को भी आश्चर्य में डालने वाला अपने विवेक से उत्पन्न आप का यह सात्त्विक वैराग्य

तवाऽनिमित्तं वैराग्यं सात्त्विकं स्वविवेकजम् ॥ २२ ॥
बीभत्सं विषयं दृष्ट्वा को नाम न विरज्यते ।
सतामुत्तमवैराग्यं विवेकादेव जायते ॥ २३ ॥
ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि ।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम् ॥ २४ ॥
स्वविवेकचमत्कारपरामर्शविरक्तया ।
राजते हि धिया जन्तुर्युवेव वरमालया ॥ २५ ॥
परामृश्य विवेकेन संसाररचनामिमाम् ।
वैराग्यं येऽधिगच्छन्ति त एव पुरुषोत्तमाः ॥ २६ ॥
स्वविवेकवशादेव विचार्येदं पुनः पुनः ।
इन्द्रजालं परित्याज्यं सबाह्याभ्यन्तरं बलात् ॥ २७ ॥
श्मशानमापदं दैन्यं दृष्ट्वा को न विरज्यते ।
तद्वैराग्यं परं श्रेयः स्वतो यदभिजायते ॥ २८ ॥
अकृत्रिमविरागत्वं महत्त्वमलमागतः ।
योग्योऽसि ज्ञानसारस्य बीजस्येव मृदु स्थलम् ॥ २९ ॥

किसी निमित्त के बिना ही उत्पन्न हुआ है, क्योंकि, यह पहले कभी नहीं देखा गया है ॥ २२ ॥

घृणाजनक विषयों को देख कर किसको वैराग्य नहीं होता है, किन्तु सत्पुरुषों को उत्तम वैराग्य विवेक से ही होता है ॥ २३ ॥

वे महापुरुष ! वे महामनीषी हैं जिनको सर्वथा निर्मल मानस वैराग्य निमित्त के बिना ही होता है ॥ २४ ॥

अपने विवेक से उत्पन्न तत्त्वपदार्थ के प्रति अभिमुखता से अन्य विषयों से विरक्त बुद्धि से युक्त पुरुष वैसे ही शोभित होता है जैसे वरमाला से युवा पुरुष शोभित होता है ॥ २५ ॥

विवेक से इस संसार रचना की दुःखरूपता का विचार कर जो लोग वैराग्य को प्राप्त करते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं ॥ २६ ॥

अपने विलक्षण विवेक से ही इस इन्द्रजालतुल्य बाह्य और आभ्यन्तर प्रपञ्च का पुनः-पुनः विचार कर हठपूर्वक इस मायिक बाह्य जगत् का परित्याग करना चाहिए ॥ २७ ॥

श्मशानभूमि, आपत्तियों और दीनता को देखकर किसे वैराग्य नहीं होता है किन्तु जो स्वतः वैराग्य उत्पन्न होता है वही श्रेयस्कर है ॥ २८ ॥

खूब जोता गया कोमल खेत जैसे बीजवपन के योग्य होता है वैसे ही स्वाभाविक वैराग्य सम्पन्न व्यक्ति अत्यन्त महत्त्व को प्राप्त करने पर व्यक्ति उपदेश के योग्य पात्र होता है ॥ २९ ॥

प्रसादात् परमेशस्य नाथस्य परमात्मनः ।
त्वादृशस्य शुभा बुद्धिर्विवेकमनुधावति ॥ ३० ॥
क्रियाक्रमेण महता तपसा नियमेन च ।
दानेन तीर्थयात्राभिश्चिरकालं विवेकतः ॥ ३१ ॥
दुष्कृते क्षयमापन्ने परमार्थविचारणे ।
काकतालीययोगेन बुद्धिर्जन्तोः प्रवर्त्तते ॥ ३२ ॥
क्रियापरास्तावदलं चक्रावर्तिभिरावृताः ।
भ्रमन्तीह जना यावन्न पश्यन्ति परं पदम् ॥ ३३ ॥
यथाभूतमिदं दृष्ट्वा संसारं तन्मयीं धियम् ।
परित्यज्य परं यान्ति निरालाना गजा इव ॥ ३४ ॥
विषमेयमनन्तेह राम ! संसारसंसृतिः ।
देहयुक्तो महाजन्तुर्विना ज्ञानं न पश्यति ॥ ३५ ॥

परम प्रभु भगवान् श्रीमहादेवजी की प्रसन्नता से आप जैसे सज्जनों की शुभ बुद्धि विवेक की ओर अग्रसर होती है ॥ ३० ॥

तात्पर्य व्याख्या में इस प्रकार विश्लेषण उपलब्ध होता है —गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, चार वेदव्रत, समावर्तन, विवाह, पाँच महायज्ञों का अनुष्ठान, अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, उपाकरण, उत्सर्जन, चैत और आश्विन में होनेवाली नवसस्येष्टि— ये सात पाकयज्ञ; अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रायणेष्टि, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी— ये सात हविर्यज्ञ; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोड़शी, वाजपेय, अतिरात्र, आत्मोर्याम— ये सात सोमयज्ञ, ये चालीस सस्कार और सब भूतों में दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, आयासाभाव, माङ्गल्य, कार्पण्य का अभाव, अस्पृहा—ये आठ गुण से सायुज्य की प्राप्ति होती है कर्मकाण्ड के क्रम से, विपुल तपस्या से, इन्द्रिय, प्राण और मन के नियमन से, दान से, तीर्थयात्राओं से और चिरकाल तक विचार करने से पापराशि के क्षीण होने के अनन्तर परमात्म-चिन्तन करने पर काकतालीयन्याय से कौए के आने और ताल के गिरने के समान संयोग सम्पन्न साधनों के संमिलन से प्राणी की बुद्धि विवेक की ओर अग्रसर होती है ॥ ३१-३२ ॥

चक्र के समान लोगों को घुमाने वाले राग-द्वेष आदि से आवृत लोग कर्मकाण्डपरायण होकर इस संसार में पुनः पुनः जन्म-मरणरूप परम्परा को प्राप्त करते रहते हैं ॥ ३३ ॥

ज्ञानयुक्तिप्लवेनैव संसाराब्धिं सुदुस्तरम् ।
महाधियः समुत्तीर्णा निमेषेण रघूद्वह ॥ ३६ ॥
तामिमां ज्ञानयुक्तिं त्वं संसाराम्भोधितारिणीम् ।
शृणुष्वाऽवहितो बुद्ध्या नित्यावहितया तया ॥ ३७ ॥
यस्मादनन्तसंरम्भा जागत्यो दुःखभीतयः ।
चिरायाऽन्तर्दहन्त्येता विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥ ३८ ॥
शीतवातातपादीनि द्वन्द्वदुःखानि राघव ! ।
ज्ञानयुक्तिं विना केन सह्यतां यान्ति साधुषु ॥ ३९ ॥
आपतन्ति प्रतिपदं यथाकालं दहन्ति च ।
दुःखचिन्ता नरं मूढं तृणमग्निशिखा इव ॥ ४० ॥
प्राज्ञं विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शनमाधयः ।
न दहन्ति वनं वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥ ४१ ॥

इस संसार को दुःखरूप जानकर संसारमयी बुद्धि का परित्यागकर विद्वान् के समान बन्धन-स्तम्भ से निर्मुक्त गज परमपद को प्राप्त करते हैं ॥ ३४ ॥

हे श्रीराम ! यह संसारसृष्टि विषम और असीम है । देहाध्यास से युक्त महान् जीव भी कृमि, कीट आदि के समान ही है । ज्ञान के बिना परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ ३५ ॥

हे राघव ! विवेकी लोग ज्ञानरूपी नौका से ही सुदुस्तर संसार सागर को एक पलकभर में पार कर जाते हैं ॥ ३६ ॥

भव-सागर से जीव को पार कराने वाले वक्ष्यमाण ज्ञानरूप उपाय को विचाराभ्यासपरायण तथा विवेक, वैराग्य आदि से युक्त बुद्धि से एकाग्र होकर सुने ॥ ३७ ॥

इस अनिन्दित ज्ञानयुक्ति के विना अनन्त विक्षेपोंसे पूर्ण ये सांसारिक दुःखमय एवं बहुकाल तक हृदय को सन्तप्त करती रहती है ॥ ३८ ॥

हे राघव ! साधुओं में शीत, वात, धूप आदि दुःख-द्वन्द्व ज्ञानयुक्ति को छोड़कर किस उपाय से सह्य होते हैं ? अर्थात् ज्ञानयुक्ति स्वरूप साधन से ही ये सहन करने योग्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं ॥ ३९ ॥

अग्नि की शिखाओं के समान मूढ़ व्यक्ति को प्रतिपद तृष्णा के समान ही दुःख चिन्ताएँ जलाती रहती हैं ॥ ४० ॥

जैसे वर्षाकाल में सींचे गये वन को अग्नि नहीं जला सकती है वैसे ही ज्ञातव्य वस्तु के ज्ञाता विवेकशील प्राज्ञ पुरुष को मानसिक व्यथाएँ सन्ताप नहीं पहुँचा सकती है ॥ ४१ ॥

आधिव्याधिपरावर्ते संसारमरुमारुते ।
क्षुभितेऽपि न तत्त्वज्ञो भज्यते कल्पवृक्षवत् ॥ ४२ ॥
तत्त्वं ज्ञातुमतो यत्नाद्धीमानेव हि धीमता ।
प्रामाणिकः प्रबुद्धात्मा प्रष्टव्यः प्रणयान्वितम् ॥ ४३ ॥
प्रामाणिकस्य पृष्टस्य वक्तुरुत्तमचेतसः ।
यत्नेन वचनं ग्राह्यमंशुकनेव कुङ्कुमम् ॥ ४४ ॥
अतत्त्वज्ञमनःदेयवचनं वाग्विदां वर ।
यः पृच्छति नरं तस्मान्नाऽस्ति मूढतरोऽपरः ॥ ४५ ॥
प्रामाणिकस्य तज्ज्ञस्य वक्तुः पृष्टस्य यत्नतः ।
नाऽनुतिष्ठति यो वाक्यं नाऽन्यस्तस्मान्नराधमः ॥ ४६ ॥
अज्ञतातज्ज्ञते पूर्वं वक्तुर्निर्णीय कार्यतः ।
यः करोति नरः प्रश्नं पृच्छकः स महामतिः ॥ ४७ ॥

शरीरिक और मानसिक पीड़ारूपी आवर्तो से परिपूर्ण मरुस्थल में तेज वायु के चलने पर भी कल्पवृक्ष के समान तत्वज्ञाता पुरुष को उखाड़कर फेंका नहीं जा सकता है ।। ४२ ।।

इसलिए तत्त्व के ज्ञान के लिए अर्थात् परमार्थ ज्ञान के लिए बुद्धिमान् अतिकुशल आत्मतत्त्वज्ञ बुद्धिमान् पुरुष का अनुगमन, साष्टाङ्ग प्रणाम, सेवा आदिरूप प्रयत्न से प्रसन्नकर बुद्धिमान् पुरुष से विनयपूर्वक जिज्ञासा करनी चाहिए ।। ४३ ।।

जिज्ञासु द्वारा पूछे गये, श्रुति आदि प्रमाण देने में निपुण और विशुद्ध चित्त वाले वक्ता के वाक्य के रंगने के लिए घोले गये पक्के रंग में डुबाये गये रंग के समान ही दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिए ।। ४४ ।।

जो पुरुष तत्ववस्तु को नहीं जानता अत एव जिसका बचन ग्राह्य नहीं है, ऐसे पुरुष से जो प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है ।। ४५ ।।

पूछे गये तत्त्वज्ञ प्रामाणिक वक्ता से जिज्ञासित उपदेश को प्राप्तकर जो प्रयत्नपूर्वक आचरण के द्वारा पालन नहीं करता है, उससे बढ़कर दूसरा नराधम नहीं है ।। ४६ ।।

व्यवहार के द्वारा वक्ता की अज्ञता और तत्त्वज्ञता का पहले निर्णय कर जो पुरुष प्रश्न करता है, वही प्रश्नकर्ता महाबुद्धिमान् है ।। ४७ ।।

परीक्षा द्वारा प्रकृष्ट वक्ता का निर्णय किये विना ही जो मूर्ख प्रश्न करता है, वह अधम प्रश्नकर्ता है और वह

अनिर्णीय प्रवक्तारं बालः प्रश्नं करोति यः ।
अधमः पृच्छकः स स्यान्न महार्थस्य भाजनम् ॥ ४८ ॥
पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते ।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाऽधमे पशुधर्मिणि ॥ ४९ ॥
प्रामाणिकार्थयोग्यत्वं पृच्छकस्याऽविचार्य च ।
यो वक्ति तमिह प्राज्ञाः प्राहुर्मूढतरं नरम् ॥ ५० ॥
त्वमतीव गुणश्लाघी पृच्छको रघुनन्दन ! ।
अहं च वक्तुं जानामि समो योगोऽयमावयोः ॥ ५१ ॥
यदहं वच्मि तद्यत्नात्त्वया शब्दार्थकोविद ! ।
एतद्वस्त्विति निर्णीय हृदि कार्यमखण्डितम् ॥ ५२ ॥
महानसि विरक्तोऽसि तत्त्वज्ञोऽसि जनस्थितौ ।
त्वयि चोक्तं लगत्यन्तः कुङ्कुमाम्बु यथांऽशुके ॥ ५३ ॥

आत्मज्ञानरूप महान् अर्थ का पात्र नहीं हो सकता है अर्थात् उसे कभी भी तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ४८ ॥

प्राज्ञ पुरुष को चाहिए कि पूर्व और ऊपर के समाधान में समर्थ अर्थात् उक्त और अनुक्त विषयों के विवेचन करने में समर्थ-बुद्धि और जो निन्दनीय न हो ऐसे पुरुष के द्वारा ही पूछे गये प्रश्न का उपदेश दे पशु के समान जाडच मालिन्य आदि धर्मों से युक्त अधम को कभी तत्त्व का उपदेश न दे ॥ ४९ ॥

प्रश्नकर्ता की श्रुति आदि प्रमाणों से निर्णीत पदार्थ के ग्रहण की योग्यता का विचार किये बिना जो तत्त्व का उपदेश देता है, उसको प्राज्ञ व्यक्ति मूढ़तर कहते हैं ॥ ५० ॥

हे रघुनन्दन ! आप श्रेष्ठ गुणों से समन्वित होने से प्रशस्त प्रश्नकर्ता है और मैं उपदेश देना जानता हूँ, इसलिए हमारा यह समागम सर्वथा उचित है ॥ ५१ ॥

हे शब्दार्थ-विज्ञाता ! मेरे द्वारा उपदिष्ट विषय को आप 'यह सत्य तत्त्व वस्तु है' ऐसा निर्णय कर प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय मे ज्यो का त्यों पूर्णरूप से धारण करे ॥ ५२ ॥

आप (कुल, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों और सदाचार आदि से) महान् हैं, विरक्त है एवं तत्त्वज्ञ हैं, आप से जो कहा जायगा वह घोला हुआ रंग जैसे वस्त्र में बैठ जाता है वैसे ही आपको दिया गया उपदेश हृदय के अन्तस्तर में स्थिर हो जायगा ॥ ५३ ॥

उक्तावधानपरमा परमार्थविवेचिनी ।
विशत्यर्थं तव प्रज्ञा जलमध्यमिवाऽर्कभाः ॥ ५४ ॥
यद्यद्वच्मि तदादेयं हृदि कार्यं प्रयत्नतः ।
नो चेत् प्रष्टव्य एवाऽहं न त्वयेह निरर्थकम् ॥ ५५ ॥
मनो हि चपलं राम ! संसारवनमर्कटम् ।
संशोध्य हृदि यत्नेन श्रोतव्या परमार्थगीः ॥ ५६ ॥
अविवेकिनमज्ञानमसज्जनरतिं जनम् ।
चिरं दूरतरे कृत्वा पूजनीया हि साधवः ॥ ५७ ॥
नित्यं सज्जनसंपर्काद् विवेक उपजायते ।
विवेकपादपस्यैव भोगमोक्षौ फले स्मृतौ ॥ ५८ ॥
मोक्षद्वारे द्वारपालश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ ५९ ॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽथवा ।

पदार्थों के ग्रहण में निपुण मेध और परम तत्त्व के विवेचन करने वाली प्रतिभा भी है। जैसे सूर्य की किरणें जल के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही मेधा और प्रतिभा सम्पन्न प्रज्ञा के कारण परमार्थ के ग्रहण में समर्थ होती है ॥ ५४ ॥

मैं जो कहूँ सावधानी से उसे आप अपने हृदय में ग्रहण करें। यदि आप मेरे उपदेश को हृदय में ग्रहण नहीं करते हैं तो आप मुझसे न पूछे क्योंकि वह पूछना निरर्थक ही होगा ॥ ५५ ॥

हे श्रीराम ! संसाररूपी वन का बन्दर मन बड़ा ही चपल है, उसको संस्कार के द्वारा अपने वश में कर परमार्थतत्त्व का प्रयत्नपूर्वक श्रवण करना चाहिए और उसको हृदय में धारण करना चाहिए ॥ ५६ ॥

विवेकशून्य, शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न ज्ञान से रहित एवं असाधु पुरुषों में प्रीति रखने वाले पुरुष से अतिशय दूर रहकर चिरकाल तक महात्माओं की सेवा करें ॥ ५७ ॥

सदा सन्त-महात्माओं की संगति से विवेक उत्पन्न होता है। भोग और मोक्ष विवेकरूपी वृक्ष के ही फल कहे गये हैं ॥ ५८ ॥

मोक्षद्वार के चार द्वारपाल कहे गये हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा सज्जनसंगति ॥ ५९ ॥

पहले तो इन चारों का ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए। यदि चारों के सेवन की शक्ति न हो, तो तीन

द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा ॥ ६० ॥
एकं वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत् ।
एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः ॥ ६१ ॥
सविवेको हि शास्त्रस्य ज्ञानस्य तपसः श्रुतेः ।
भाजनं भूषणाकारो भास्करस्तेजसामिव ॥ ६२ ॥
घनतामुपयातं हि प्रज्ञामान्द्यमचेतसाम् ।
याति स्थावरतामम्बु जाड्यात् पाषाणतामिव ॥ ६३ ॥
त्वं तु राघव ! सौजन्यगुणशास्त्रार्थदृष्टिभिः ।
विकासितान्तःकरणः स्थितः पद्म इवोदये ॥ ६४ ॥
इमां ज्ञानगिरं श्रोतुमवबोद्धुं च सन्मते ! ।
अर्हस्युद्धतकर्णस्त्वं जन्तुर्वीणास्वनं यथा ॥ ६५ ॥
वैराग्याभ्यासयोगेन समसौजन्यसम्पदाम् ।
अर्जनां कुरुतां राम ! यत्र नाशो न विद्यते ॥ ६६ ॥

का सेवन करना चाहिए, तीन का सेवन न हो सकने पर दो का सेवन करना चाहिए। इनका भली-भाँति सेवन होने पर ये मोक्षरूपी राजगृह में मुमुक्षु का प्रवेश होने के लिए द्वार खोलते हैं ॥ ६० ॥

यदि दो के सेवन की भी शक्ति न हो, तो सभी प्रकार के प्रयासों से प्राणों को भी त्यागकर एक का आश्रयण अवश्य करना चाहिए। यदि एक वश में हो जाता है, तो शेष तीन भी वश में हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

जैसे तेजस्वियों में सूर्य सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही विवेकवान् पुरुष सब लोगों में सिर के आभूषण के समान आदरणीय है और शास्त्र के श्रवण, मनन, तप, निदिध्यासन और ज्ञान का योग्य पात्र है ॥ ६२ ॥

जैसे अधिक शीत पड़ने से जल घनीभूत होकर पत्थर बन जाता है, वैसे ही अविवेकियों की मूर्खता सघन होकर अतिशय कठिन हो जाती है ॥ ६३ ॥

हे राघव ! जैसे सूर्य का उदय होने पर कमल विकसित होता है, वैसे ही सौजन्य आदि गुण एवं शास्त्रार्थ की दृष्टि से आप विकसित अन्तःकरण वाले हैं ॥ ६४ ॥

सन्मते! जैसे मृग आदि जन्तु ऊपर कान करके (कान खड़े करके) वीणा के शब्द को सुनते हैं, वैसे ही आप इस ज्ञानमय वाणी को सुनने और समझने के योग्य हैं ॥ ६५ ॥

हे राम, आप वैराग्य के अभ्यास से परिपूर्ण विनय आदि रूप सम्पत्तियों का उपार्जन करें, जिसकी प्राप्ति होने पर नाश नहीं होता है ॥ ६६ ॥

शास्त्रसज्जनसंसर्गपूर्वकैः सतपोदमैः ।
आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाऽभिवर्द्धयेत् ॥ ६७ ॥
एतदेवाऽस्य मौर्ख्यस्य परमं विद्धिनाशनम् ।
यदिदं प्रेक्ष्यते शास्त्रं किञ्चित्संस्कृतया धिया ॥ ६८ ॥
संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम् ।
अज्ञं संमोहयेन्नित्यं मौर्ख्यं यत्नेन नाशयेत् ॥ ६९ ॥
दुराशासर्पगत्येन मौर्ख्येण हृदि वल्गता ।
चेतः संकोचमायाति चर्माग्नाविव योजितम् ॥ ७० ॥

प्राज्ञे यथार्थभूतेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति ।
दृगिवेन्दौ निरम्भोदे सकलामलमण्डले ॥ ७१ ॥
पूर्वापरविचारार्थचारुचातुर्यशालिनी ।
सविकासा मतिर्यस्य स पुमानिह कथ्यते ॥ ७२ ॥
विकसितेन सितेन तमोमुचा
वरविचारणशीतलरोचिषा ।
गुणवता हृदयेन विराजसे
त्वममलेन नभः शशिना यथा ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे वक्तृपृच्छकलक्षणं नाम एकादशः सर्गः ॥११॥

पहले संसाररूप बन्धन से छुटकारा पाने के लिए शास्त्राभ्यास और सज्जन संगतिपूर्वक तपस्या और इन्द्रियनिग्रह से प्रज्ञा की (विवेक के ग्रहण और धारण में निपुण बुद्धि की) वृद्धि करें ॥ ६७ ॥

संस्कृत (विशुद्ध) बुद्धि से जो कुछ शास्त्र का अवलोकन, चिन्तन आदि किया जाता है, उसी को इस मूर्खता के विनाश का हेतु समझो ॥ ६८ ॥

यह संसाररूपी विषवृक्ष आपत्तियों का एकमात्र घर है यह अज्ञानी पुरुष को सदा मोह में डालता है, इसलिए अज्ञान का यत्नपूर्वक विनाश करें ॥ ६९ ॥

दुराशा से शाप की सी कुटिल गति को धारण करनेवाली हृदय में हजारों विक्षेपरूप से व्याप्त मूर्खता से बुद्धि अग्नि में रक्खे हुए चमड़े की भाँति संकुचित के समान होती है अर्थात् मालिन्य प्राप्त करती है ॥ ७० ॥

जैसे मेघरहित और सम्पूर्ण निर्मल मण्डल वाले चन्द्रमा में दृष्टि से प्रसन्नता होती है वैसे ही वस्तुदृष्टि (वस्तु यानी परमार्थरूप तत्त्व जिससे देखा जाता है) सूक्ष्मबुद्धि प्राज्ञ में यथार्थवस्तु की एकरसता को प्राप्त कर प्रसन्नता को प्राप्त करती है ॥ ७१ ॥

जिसकी पूर्वापर के विचार से और अतिसूक्ष्म अर्थ के ग्रहण में अत्यन्त पटुता तथा चतुरता से शोभित बुद्धि विकासयुक्त रहती है, वही इस लोक में पुरुष कहा जाता है ॥ ७२ ॥

हे श्रीराम ! आप भी विकसित ! अज्ञान का त्याग कर शान्ति आदि गुणों से अलंकृत एवं परमतत्त्व के विचार से शीतल बुद्धि से सुशोभित हैं ॥ ७३ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीतवाल्मीकीयश्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुवैराग्यप्रकरण में सर्गानुवर्णननामक कुसुमलता का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ ११ ॥

१२

श्रीवसिष्ठ उवाच

परिपूर्णमना मान्यः प्रष्टुं जानासि राघव ! ।
वेत्सि चोक्तं च तेनाऽहं प्रवृत्तो वक्तुमादरात् ॥ १ ॥
रजस्तमोभ्यां रहितां शुद्धसत्त्वानुपातिनीम् ।
मतिमात्मनि संस्थाप्य ज्ञानं श्रोतुं स्थिरो भव ॥ २ ॥

१२

श्रीवसिष्ठजीने कहा:—

हे राघव ! आप का मन गुणों से परिपूर्ण है और आप हमारे संमान्य हैं तथा आप प्रश्न करना जानते हैं, उक्त बातों को भी विशेषरूप से आप जानते हैं, इसलिए मैं आदरपूर्वक आप को उपदेश देने के लिए उद्यत हूँ ॥ १ ॥

रजोगुण और तमोगुण से रहित (रजोगुण से बुद्धि में चञ्चलता आती है और तमोगुण से आवरण होता है, इसलिए उक्त दोनों गुणों से शून्य होना आवश्यक है), शुद्ध सत्त्वगुण वाली बुद्धि को आत्मा में स्थापित कर ज्ञान की चर्चा सुनने के लिए प्रवृत्त होइए ॥ २ ॥

विद्यते त्वयि सर्वैव पृच्छकस्य गुणावली ।
वक्तुर्गुणाश्चैव मयि रत्नश्रीर्जलधौ यथा ॥ ३ ॥
आप्तवानसि वैराग्यं विवेकासङ्गजं सुत ! ।
चन्द्रकान्त इवाऽऽर्द्रत्वं लग्नचन्द्रकरोत्करः ॥ ४ ॥
चिरमाशैशवादेव तवाऽभ्यासोऽस्ति सद्गुणैः ।
शुद्धैः शुद्धस्य दीर्घैश्च पद्मस्येवाऽतिसन्ततैः ॥ ५ ॥
अथ शृणु कथां वक्ष्ये त्वमेवाऽस्या हि भाजनम् ।
नहि चन्द्रं विना शुद्धा सविकासा कुमुद्वती ॥ ६ ॥
ये केचन समारम्भा याश्च काश्चन दृष्टयः ।
ते च ताश्च पदे दृष्टे निःशेषं यान्ति वै शमम् ॥ ७ ॥
यदि विज्ञानविश्रान्तिर्न भवेद्भव्यचेतसः ।
तदस्यां संसृतौ साधुश्चिन्तामौढ्यं सहेत कः ॥ ८ ॥
परं प्राप्य विलीयन्ते सर्वा मननवृत्तयः ।

जैसे समुद्र में रत्नसम्पत्ति (रत्नोंसे परिपूर्ण लक्ष्मी) रहती है, वैसे ही प्रश्नकर्ता के सभी गुण आप में विद्यमान हैं और वक्ता के (उपदेशक के) गुण मुझमें विद्यमान हैं ॥ ३ ॥

हे वत्स ! जैसे चन्द्रमा की किरणों के संसर्ग से चन्द्रकान्त मणि आर्द्र होती है, वैसे ही विवेक के संसर्ग से उत्पन्न वैराग्य आप को प्राप्त हुआ हैं ॥ ४ ॥

जैसे कमल चारों ओर फैले हुए एवं सदा वर्तमान रहने वाले दीर्घ तन्तुओं और सौगन्ध्य से सम्बद्ध रहता है, वैसे ही बाल्यावस्था से लेकर चिरकाल से शुद्ध सब दिशाओं में फैले हुए एवं अविच्छिन्न शुद्ध सद्गुणों से आप सम्बद्ध है ॥ ५ ॥

मैं आप से यह मोक्ष कथा कहता हूँ आप इस कथा के योग्य पात्र हैं (श्रवण जनित प्रकृष्ट बोध के आधार हैं) शुद्ध (शुभ्र) कुमुदिनी चन्द्रमा के बिना विकासयुक्त नहीं हो सकती अर्थात् जैसे शुद्ध कुमुदिनी चन्द्रमा से ही (चन्द्रमा के उदित होने पर ही) विकसित होती है वैसे ही यह मोक्षकथा आप में ही विकसित होगी ॥ ६ ॥

जो कुछ कार्य हैं और जो कुछ प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे कार्य और वे व्यवहार परब्रह्म परमात्मा के दर्शन होने पर सर्वथा शान्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

यदि विशुद्ध चित्त वाले पुरुष को ज्ञानात्मक विश्रान्ति प्राप्त न होनेपर कौन विवेकशील पुरुष इस संसार में अनेक चिन्ताओं को सहन करेगा, अर्थात् अज्ञानात्मक जगत् से ज्ञानी को भी शान्ति न मिलने पर वह जीवन का ही विसर्जन कर देगा ॥ ८ ॥

कल्पान्तार्कगणासंगात् कुलशैलशिला इव ॥ ९ ॥
दुःसहा राम ! संसारविषावेशविषूचिका ।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेन प्रशाम्यति ॥ १० ॥
स च योगः सज्जनेन सह शास्त्रविचारणात् ।
परमार्थज्ञानमन्त्रो नूनं लभ्यत एव च ॥ ११ ॥

अवश्यमिह हि विचारे कृते सकलदुःखपरिक्षयो भवतीति मन्तव्यं नाऽतो विचारदृष्टयोऽवहेलया द्रष्टव्याः ॥ १२ ॥

विचारवता पुरुषेण सकलमिदमाधिपञ्जरं सर्पेण त्वचमिव परिपक्वां सन्त्यज्य विगतज्वरेण शीतलान्तःकरणेन विनोदादिन्द्रजालमिव जगदखिलमालोक्यते सम्यग्दर्शनवता असम्यग्दर्शनवतो हि परं दुःखमिदम् ॥ १३ ॥

कल्पना के सूर्यों के संसर्ग से जैसे कुल पर्वत चट्टानें चूर्ण-चूर्ण हो जाती हैं; वैसे ही परमात्मा का साक्षात्कार होने पर सम्पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। इसलिए कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥'

परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदम की ग्रन्थियाँ काम आदि टूट जाती हैं, सम्पूर्ण सन्देहों की निवृत्ति हो जाती है और सब कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ९ ॥

हे श्रीराम, संसाररूपी विष के आवेश स्वरूप विषूचिका=हैजा अतिशय कष्टदायिनी है, वह पवित्रतम जीव और ब्रह्म के ऐक्यज्ञानरूपी गारुडमन्त्र से ही शान्त होती है ॥ १० ॥

परमार्थज्ञान स्वरूप मन्त्र (जीवब्रह्मैक्यज्ञान) सज्जनों के साथ संसर्ग और शास्त्रचिन्तन करने से अवश्य प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

विचार करने पर अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखों का विनाश होता है, ऐसा समझना चाहिए, इसलिए विवेकस्वरूव ज्ञान को अनादर की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए ॥ १२ ॥

जैसे साँप अपनी जीर्ण त्वचा का परित्याग कर सन्तापरहित और शान्त हो जाता है वैसे ही विचारवान् पुरुष मानसिक व्यथाओं की पेटी के समान इस सम्पूर्ण जगत् का त्याग कर सन्तापरहित और शान्तहृदय हो जाता है। सम्यग्दर्शनवान् पुरुष इस सम्पूर्ण जगत् को विनोद पूर्वक इन्द्रजाल के समान देखता है, जिसे सम्यक् ज्ञान

विषमो ह्यतितरां संसाररागो भोगीव दशति, असिरिव छिनत्ति; कुन्त इव वेधयति; रज्जुरिवाऽऽवेष्टयति; पावक इव दहति; रात्रिरिवाऽन्धयति; अशङ्कितपरिपतितपुरुषान् पाषाण इव विवशीकरोति; हरति प्रज्ञां; नाशयति स्थितिं; पातयति मोहान्धकूपे; तृष्णा जर्जरी करोति, न तदस्ति किञ्चिद् दुःखं संसारी यन्न प्राप्नोति ॥ १४ ॥

दुरन्तेयं किल विषयविषूचिका यदि न चिकित्स्यते तन्नितरां नरकनगरनिकरफलानुबन्धिनी तत्तत्करोति ॥ १५ ॥

नहीं हुआ है, उसी के लिए यह जगत् परम दुःखदायी है अर्थात् इन्द्रजाल करने वाला पुरुष माया के द्वारा अवास्तविक वस्तु को दिखाकर जनता को अनुरञ्जित कर अपने वश में कर लेता है. वैसे ही अज्ञान वश वासनात्मक जगत् के वश में रहकर मानव अशेष जीवन व्यर्थ में समाप्त कर देता है ज्ञानी पुरुष को यह मायिक जगत् आबद्ध नहीं करता है, क्यों कि उसे पारमार्थिक तत्त्व का ज्ञान है ॥ १३ ॥

यह संसारानुराग अत्यन्त विषम (क्लेशदायक) है। यह निःशङ्क हो संसार में आये हुए पुरुषों को साँप के समान डँसता है, तलवार के समान काटता है, भाले के समान बेधता है, रस्सी के समान जकड़ देता है, अग्नि के समान जलाता है, रात्रि के समान अन्धा बना डालता है, सिर पर गिरे हुए पत्थर के समान मूर्छित कर देता है, विचारदृष्टि को हर लेता है, मर्यादा को नष्ट कर डालता है, पुरुष को मोहरूप अन्धकूप में गिरा देता है, इस संसार में तृष्णा मनुष्य को जर्जर कर डालती है, ऐसा कोई दुःख नहीं है, जो संसारी पुरुष को प्राप्त नहीं होता है ॥ १४ ॥

मल मूत्र आदि के नगररूप शरीरों में (पुत्र, कलत्र आदि पोष्य जनों में) पुरुष को अनुराग से बाधने वाली यह विषयविषूचिका दुरुच्छेद्य (अकाट्य) है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय, तो निश्चय ही हजारों नारकीय दुर्गति प्राप्त कराती है ॥ १५ ॥

जहाँ नरक में जीवों को पत्थर खाने पड़ते हैं, तलवारों से उनके टुकड़े-टुकड़े किये जाते हैं, पर्वतों की चोटियों से गिराया जाता है, पत्थर से उन्हें मारा जाता हैं, आग से जलाया जाता है, बर्फ से सदा तर रक्खा जाता है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग कुल्हाड़े, कैंची आदि से काटे जाते हैं, चन्दन के

यत्र शिलाशिताऽसिशातः पात उपलताडनमग्निदाहो हिमावसेकोऽङ्गावकर्त्तनं चन्दनचर्चा तरुवनानि घुणवृत्तान्तः परिवेषोऽङ्गपरिमार्जनमनवरतानल-विचलितसमरनाराचनिपातो निदाघविनोदनं धारागृहसीकरवर्षणं शिरश्छेदः सुखनिद्रा मूकीकरणमाननमुद्राबान्धुर्यं महानुपचयः ॥ १६ ॥

तदेवंविधकष्टचेष्टासहस्रदारुणे संसारचलयन्त्रेऽस्मिन् राघव ! नाऽवहेलना कर्त्तव्या, अवश्यमेवं विचारणीयमेवं चाऽवबोद्धव्यं यथा किल शास्त्रविचाराच्छ्रेयो भवतीति ॥ १७ ॥

समान पत्थरों पर घिसा जाता है, तलवार के समान तीक्ष्ण पत्ते वाले वृक्षों के वन में दौड़ना पड़ता है, घुनों का-सा व्यवहार होता है अर्थात् सर्वाङ्ग में काठ के यन्त्रों से पीड़ा पहुँचाई जाती है, तपाई गई लोहे की बड़ी-बड़ी सांकलों से शरीर को लपेटा जाता है, काँटेदार झाडुओं से शरीर बुहारा जाता है=त्वचारहित किया जाता है जिनसे सदा आग की लपटें निकलती रहती हैं, ऐसे युद्ध में छोड़े गये बाणों की धारावाहिक वृष्टि होती है, छाया और पानी के बिना ग्रीष्मकाल व्यतीत करना पड़ता है, अतिशय शीत धारागृहों में लगातार झरनों की वृष्टि होती है, पहले काटे गये सिर के पुनः उगनेपर फिर से उसे काटा जाता है. सुखपूर्वक नींद की तो वहाँ बात भी नहीं होती है, मुँह को ढककर श्वास-प्रश्वास भी रोक दिया जाता है, अङ्गों की निम्नता और उन्नतता से विसंस्ठुल (विषम अवयव) होने के कारण व्यवहार की योग्यता नहीं रहती है, यह सब महासम्पत्ति की अभिवृद्धि के समान सहना पड़ता है।

इसकी तात्पर्य व्याख्या में इस प्रकार भी व्याख्यान किया गया है —पत्थर खाना, तलवार द्वारा अङ्गछेदन, पर्वत के शिखर से निपातन और पत्थरों की मार का हिमसेक के समान सहन करना पड़ता है; कुल्हाड़े और कैंची द्वारा हाथ, पैर आदि अङ्गों के काटने को चन्दन लेप के समान सहना पड़ता है; तलवार रूपी पत्रवाले वृक्षों के वन में दौड़ना, घुन के समान काठ के यन्त्र में जकड़ा जाना तथा लोहे की गर्म सांकलों से शरीर को लपेटना देहसंस्कार के समान सहना पड़ता है; अग्नि के ज्वाला को वर्षा रहे भयानक बाणों की लगातार वृष्टि ग्रीष्मकाल में विनोद के लिए बनाये गये धारा-गृहों के फुव्वारों की वृष्टि के समान सहनी पड़ती है; शिर के

अन्यच्च रघुकुलेन्दो, यदि चैते महामुनयो महर्षयश्च विप्राश्च राजानश्च ज्ञानकवचेनाऽवगुण्ठित-शरीरास्ते कथमदुःखक्षमा अपि दुःखकरीं तां तां वृत्ति-पूर्विकां संसारकदर्थनामनुभवन्तः सततमेव मुदित-मनसस्तिष्ठन्ति ॥ १८ ॥

इह हि

विकौतुका विगतविकल्पविप्लवा
यथा स्थिता हरिहरपद्मजादयः ।
नरोत्तमाः समधिगतात्मदीपका-
स्तथा स्थिता जगति विशुद्धबुद्धयः ॥ १९ ॥

परिक्षीणे मोहे विगलति घने ज्ञानजलदे
परिज्ञाते तत्त्वे समधिगत आत्मन्यतितते ।
विचार्यार्याऽऽर्यैः सार्द्धं चलितबपुषो वै सदृशतो
धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥ २० ॥

अन्यच्च राघव !

प्रसन्ने चित्तत्त्वे हृदि शमभवे वल्गति परे
शमाभोगीभूतास्वखिलकलनादृष्टिषु पुरः ।
समं याति स्वान्तःकरणघटनास्वादितरसं
धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥ २१ ॥

अन्यच्च

रथः स्थाणुर्देहस्तुरगरचना चेन्द्रियगतिः
परिस्पन्दो वातो वहनकलितानन्दविषयः ।
परोऽणुर्वा देही जगति विहरामीत्यनघया
धिया दृष्टे तत्त्वे रमणमटनं जागतमिदम् ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे तत्त्वमाहात्म्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

कटने से हुई मृत्यु निद्रासुख के समान सहनी पड़ती है; मुँह बन्द करने से बलपूर्वक किया गया मूकीभाव स्वाभाविक मुखमुद्रा के समान सहना पड़ता है एवं अङ्गों की छोटाई-बड़ाई से उत्पन्न अकिञ्चित्करता महती सम्पत्ति वृद्धि के समान सहनी पड़ती है ॥ १६ ॥

हे राघव, इस प्रकार की हजारों कष्ट देने वाली चेष्टाओं से अविशय क्लेशकारक इस संसार में अवहेलना (अनादर) नहीं करना चाहिए, अवश्य ही विचार करना चाहिए और निश्चय ही अवगत करना चाहिए कि शास्त्र के विचार से कल्याण होता है ॥ १७ ॥

हे रघुकुलनन्द ! ज्ञानरूपी कवच से रक्षित शरीर महामुनि, महर्षिगण, संस्कारी विप्रगण एवं जनक आदि राजा अज्ञानियों के समान मनोवृत्ति से होने वाली अनेक प्रकार की संसारपीड़ा का अनुभव करते हुए सदा प्रसन्न-चित्त रहते हैं ॥ १८ ॥

इस लोक में कौतुकरहित (कौतुक से—विषय के दर्शन और उपभोग में उत्साह से—शून्य), विविध विकल्पों से होने वाले चित्तविक्षेपों से भी रहित, आत्मरूपी ज्ञान प्रदीप से विशुद्ध बुद्धिवाले नरश्रेष्ठ जगत् में इस प्रकार पूर्णकामरूप से स्थित हैं, जिस प्रकार कि हरि, हर और कमल-जन्म आदि देवता स्थित हैं ॥ १९ ॥

सुदृढ़ ज्ञान की दीप्ति से मोह के सर्वथा नष्ट होने पर सघनभ्रम ज्ञानरूपी अज्ञान के विलीन होने पर (पुरुष को 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ के विचार से) तत्त्व के ज्ञात होने पर (मनन द्वारा असंभावना और विपरीत-भावना के निराकरण से) अपरिच्छिन्न आत्मा के ज्ञात होने पर, (निदिध्यासन द्वारा विपरीतभावनाशून्य) बुद्धि से ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इस जगत् का भ्रमण मनोविनोद ही रहता है ॥ २० ॥

और भी राघव ! चैतन्यमात्रस्वाभव परमार्थ वस्तु के प्रसाद होने पर और हृदय में उत्कृष्ट शान्ति का आविर्भाव होने पर सम्पूर्ण बुद्धिवृत्तियों के शान्तिरसास्वादरूप होने पर अन्तःकरण ब्रह्मरसास्वादपूर्वक विषमतारहित स्वाभाव का हो जाता है । तब बुद्धि से ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार होने पर इस जगत् का भ्रमण आनन्दमय हो जाता है ॥ २१ ॥

कटे हुए वृक्ष के और भी जड़ के समान शरीर रथ है, इन्द्रियोंकी विषयाभिमुख प्रवृत्ति घोड़ोंकी चातुरीगति है (जिससे घोड़ों का इधर उधर परिचालन किया जाता है) लगाम प्राणात्मक मन है ऐसे रथ आदि की प्राप्ति से जिसे आनन्दरूप विषय प्राप्त हो जाते है वह देही (आत्मा) समाधि में परमात्मा ही है । व्यवहारकाल में बुद्धि आदि के परिच्छेद से तत्त्वका साक्षात्कार होने पर शुद्ध, बुद्ध, आनन्दघन मैं विहार कर रहा हूँ, इस प्रकार विशुद्ध दृष्टि से जगत् का भ्रमण रमण ही है ॥ २२ ॥

इस प्रकार ऋषि प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुवैराग्यप्रकरण में तत्त्वमाहात्म्यवर्णन नामक कुसुमलता का बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

१३

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतां दृष्टिमवष्टभ्य दृष्टात्मानः सुबुद्धयः ।
विचरन्तीह संसारे महान्तोऽभ्युदिता इव ॥ १ ॥
न शोचन्ति न वाञ्छन्ति न याचन्ते शुभाशुभम् ।
सर्वमेव च कुर्वन्ति न कुर्वन्तीह किञ्चन ॥ २ ॥
स्वच्छमेवाऽवतिष्ठन्ते स्वच्छं कुर्वन्ति यान्ति हि ।
हेयोपादेयतापक्षरहिताः स्वात्मनि स्थिताः ॥ ३ ॥
आयान्ति च न चाऽऽयान्ति प्रयान्ति च न यान्ति च ।
कुर्वन्त्यपि न कुर्वन्ति न वदन्ति वदन्ति च ॥ ४ ॥
ये केचन समारम्भा याश्च काश्चन दृष्टयः ।
हेयोपादेयतस्तास्ताः क्षीयन्तेऽधिगते पदे ॥ ५ ॥
परित्यक्तसमस्तेहं मनो मधुरवृत्तिमत् ।
सर्वतः सुखमभ्येति चन्द्रबिम्ब इव स्थितम् ॥ ६ ॥
अपि निर्मननारम्भमप्यस्ताऽखिलकौतुकम् ।
आत्मन्येव न मात्यन्तरिन्दाविव रसायनम् ॥ ७ ॥
न करोतीन्द्रजालानि नाऽनुधावति वासनाम् ।
बालचापलमुत्सृज्य पूर्वमेव विराजते ॥ ८ ॥
एवंविधा हि वृत्तय आत्मतत्त्वाऽवलोक-
नाल्लभ्यन्ते नाऽन्यथा ॥ ९ ॥
तस्माद्विचारेणाऽऽत्मैवाऽन्वेष्टव्य उपासनीयो
ज्ञातव्यो यावज्जीवं पुरुषेण नेतरदिति ॥ १० ॥

१३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

इस दृष्टिका अवलम्बन कर सुबुद्धिमान् तत्त्वज्ञ महापुरुष इस संसार में इस प्रकार विचरण करते हैं मानो उन्हें अतिशय अभ्युदय अर्थात् ऐश्वर्य प्राप्त हो गया है ॥ १ ॥

वे न तो शोक करते हैं और न कुछ कामना करते हैं वे सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते हैं ॥ २ ॥

हेय और उपादेय के पक्षपात से रहित एवं अपने आत्मा-स्वरूप में स्थित वे असङ्ग आत्मा के साक्षात्कार से निलिप्त रहते हुए शुद्ध बुद्ध स्वभाव निर्मल रहते हैं शुभ ही कर्म करते हैं और निर्मल जीवनयापन करते हैं ॥ ३ ॥

वे (अन्य लोगों की दृष्टि से) आते हैं (और जाते हैं पर वस्तुतः वे न आते हैं (और न जाते हैं) अन्य की दृष्टि से करते हुए एवं) बोलते हुए भी परमार्थ दृष्टि से न करते हैं और न बोलते हैं क्योंकि 'सचक्षुर चक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव' तत्त्वज्ञ पुरुष अन्य की दृष्टि में चक्षुयुक्त होता हुआ भी अचक्षु के सदृश है और अन्य की दृष्टि से कर्णयुक्त होता हुआ भी कर्णरहित है, अन्य की दृष्टि से मनयुक्त होता हुआ भी मन से रहित-सा है ऐसी श्रुति है ॥ ४ ॥

परमपद की प्राप्ति होने पर अर्थात् आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार होने पर हेय और उपादेयरूप से जो कोई यज्ञ-याग आदि कार्य हैं और जो कोई प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार हैं, वे सभी क्षीण हो जाते हैं ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण अभिलाषाओं से रहित शान्तिपूर्ण तथा ब्राह्माकारता को प्राप्त मन चन्द्रबिम्ब में बैठे हुए स्वर्गों के समान चारों ओर से सुख का ही अनुभव करता है ॥ ६ ॥

विषयों का बार-बार स्मरण करना और विषयोंकी प्राप्ति कुतूहल ही विक्षेप के हेतु हैं, उनके अभाव में विक्षेप रहित सुख होता है। जैसे चन्द्रमा में अमृत नहीं समा पाता वैसे ही विषयमननरहित और सम्पूर्ण विषय कौतुक से शून्य सुखरूपता को प्राप्त मन आत्मा में ही नहीं समापाता है, अर्थात् असीम अनन्त विश्व का निमित्तोपादान आत्मा स्वरूप हो जाता है ॥ ७ ॥

आनन्दस्वरूप मन न तो मायिक विक्षेपों को अर्थात् अज्ञानवश कुछ करता है और न (विक्षेपों की जननी) वासना के प्रति दौड़ता है, किन्तु बाल चापल्य (भ्रममूलक चञ्चलता का) त्याग कर अनादिसिद्ध आत्मस्वरूप सुखरूप में विराजमान रहता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार की स्थिति आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से ही प्राप्त होती है, अन्य उपायों से नहीं ॥ ९ ॥

इसलिए जीवनपर्यन्त विचार द्वारा आत्मा का ही पुनः-पुनः श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिए एवं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए, इसके सिवा पुरुष का और कुछ कर्तव्य नहीं है ॥ १० ॥

स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता ।
यस्याऽभ्यासेन तेनाऽऽत्मा सन्ततेनाऽवलोक्यते ॥ ११ ॥
अवहेलितशास्त्रार्थैरवज्ञातमहाजनैः ।
कष्टामप्यापदं प्राप्तो न मूढैः समतामियात् ॥ १२ ॥
न व्याधिर्न विषं नाऽऽपत्तथा नाऽऽधिश्च भूतले ।
खेदाय स्वशरीरस्थं मौर्ख्यमेकं यथा नृणाम् ॥ १३ ॥
किञ्चित्संस्कृतबुद्धीनां श्रुतं शास्त्रमिदं यथा ।
मौर्ख्यापहं तथा शास्त्रमन्यदस्ति न किञ्चन ॥ १४ ॥
इदं श्राव्यं सुखकरं यथादृष्टान्तसुन्दरम् ।
अविरुद्धमशेषेण शास्त्रं वाक्यार्थबन्धुना ॥ १५ ॥
आपदो या दुरुत्तारा याश्च तुच्छाः कुयोनयः ।
तास्ता मौर्ख्यात् प्रसूयन्ते खदिरादिव कण्टकाः ॥ १६ ॥
वरं शरावहस्तस्य चाण्डालागारवीथिषु ।
भिक्षार्थमटनं राम न मौर्ख्यहतजीवितम् ॥ १७ ॥

जिस अधिकारी को अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरु के उपदेश की एकार्थ-निष्ठा का निश्चय होने पर निरन्तर किये गये श्रवण, मनन आदि के अभ्यास से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है ॥ ११ ॥

अतिशय कष्ट की प्राप्ति होने पर भी शास्त्र और उसके अर्थ की अवहेलना करने वाले तत्त्वज्ञानी महापुरुषों की उपेक्षा करने वाले मूढों की समानता को कभी भी प्राप्त न करें ॥ १२ ॥

पृथ्वी में मनुष्यों को ज्वर आदि शारीरिक क्लेश से, विष से, आपत्तियों से और मानसिक चिन्ताओं से वैसा क्लेश नहीं होता जैसा कि अपने शरीर में स्थित एक मूर्खता से क्लेश होता है ॥ १३ ॥

जिस लोगो की बुद्धि में थोड़ा भी संस्कार हो गया है, इस शास्त्र के सुनने से जिस प्रकार उनकी मूर्खता की निवृत्ति होती है वैसे अन्य किसी शास्त्र के श्रवण से नहीं होती है ॥ १४ ॥

यह शास्त्र अतिसुखदायी है, यथायोग्य अनेक दृष्टान्तों से सुन्दर और किसी भी समान अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र से यह विरुद्ध नहीं है। जिसे आत्मा के साक्षात्कार के प्रतिपादक शास्त्र ही इसके सजातीय शास्त्र हैं, अतः उनके वाक्यार्थों से विरुद्ध अर्थ इसमें नहीं है ॥ १६ ॥

हे राम ! जो दुस्तर आपत्तियाँ हैं और जो अति नीच कुत्सित योनियाँ हैं वे सभी खदिर से उत्पन्न काँटे के समान मूर्खता से ही उत्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

वरं घोरान्धकूपेषु कोटरेष्वेव भूरुहाम् ।
अन्धकीटत्वमेकान्ते न मौर्ख्यमतिदुःखदम् ॥ १८ ॥
इममालोकमासाद्य मोक्षोपायमयं जनः ।
अन्धतामेति न पुनः कश्चिन्मोहतमस्यपि ॥ १९ ॥
तावन्नयति संकोचं तृष्णा वै मानवाम्बुजम् ।
यावद्विवेकसूर्यस्य नोदिता विमला प्रभा ॥ २० ॥
संसारदुःखमोक्षार्थं मादृशैः सह बन्धुभिः ।
स्वरूपमात्मनो ज्ञात्वा गुरुशास्त्रप्रमाणतः ॥ २१ ॥
जीवन्मुक्ताश्चरन्तीह यथा हरिहरादयः ।
यथा ब्रह्मर्षयश्चाऽन्ये तथा विहर राघव ! ॥ २२ ॥
अनन्तानीह दुःखानि सुखं तृणलवोपमम् ।
नाऽतः सुखेषु बध्नीयात् दृष्टिं दुःखानुबन्धिषु ॥ २३ ॥
यदनन्तमनायासं तत्पदं सारसिद्धये ।
साधनीयं प्रयत्नेन पुरुषेण विजानता ॥ २४ ॥

मिट्टी के पात्र को (कसोरे को) हाथ में लेकर चाण्डालों की टोली में भीख माँगने के लिए दर-दर घूमना अच्छा है, पर मूर्खतापूर्ण निकृष्ट जीवन अच्छा नहीं है ॥ १७ ॥

निर्जन स्थान में, अति भयानक अन्धकूप में एवं पेड़ों के खोखलों में अन्धा कीड़ा होना अच्छा है, पर अतिदुःखदायी मूर्खता अच्छी नहीं है ॥ १८ ॥

यह संसारी पुरुष मोक्ष के उपायभूत इस शास्त्ररूप प्रकाश को पाकर फिर मोहान्धकार में भी अन्धता को प्राप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

जब तक विवेकरूपी सूर्य की निर्मल प्रभा का उदय नहीं होता तभी तक तृष्णा मनुष्यरूपी कमल को संकुचित करती है ॥ २० ॥

हे राघव, संसारदुःख से छुटकारा पाने के लिए मेरे सदृश आत्मीयों के साथ गुरूपदेश और शास्त्र के प्रमाण से अपने स्वरूप को जानकर जैसे इस संसार में जीवन्मुक्त हरि, हर आदि विचरण करते हैं और जैसे जीवन्मुक्त महर्षिगण विचरण करते हैं वैसे ही आप भी विचरण करें ॥ २१, २२ ॥

इस संसार में, अनन्त दुःख हैं, सुख तिनके के टुकड़े के समान है इसलिए दुःखोंसे परिव्याप्त सुखों में भी कभी आदर नहीं करना चाहिए ॥ २३ ॥

ज्ञानवान् पुरुष को पुरुषार्थकी सिद्धि के लिए जो असीम और क्लेश शून्य है, उस ज्ञानरूप वस्तुको प्रयत्नपूर्वक जानना चाहिए ॥ २४ ॥

त एव पुरुषार्थस्य भाजनं पुरुषोत्तमाः ।
अनुत्तमपदालम्बि मनो येषां गतज्वरम् ॥ २५ ॥
सम्भोगाशनमात्रेण राज्यादिषु सुखेषु ये ।
सन्तुष्टा दुष्टमनसो विद्धि तानन्धदर्दुरान् ॥ २६ ॥
ये शठेषु दुरन्तेषु दुष्कृतारम्भशालिषु ।
द्विषत्सु मित्ररूपेषु भक्ता वै भोगभोगिषु ॥ २७ ॥
ते यान्ति दुर्गमाद् दुर्गं दुःखाद् दुःखं भयाद्भयम् ।
नरकान्नरकं मूढा मोहमन्थरबुद्धयः ॥ २८ ॥
परस्परविनाशोक्तेः श्रेयःस्थो न कदाचन ।
सुखदुःखदशे राम ! तडित्प्रसरभङ्गुरे ॥ २९ ॥
ये विरक्ता महात्मानः सुविविक्ता भवादृशाः ।
पुरुषान् विद्धि तान् वन्द्यान् भोगमोक्षैकभाजनान् ॥३०॥
विवेकं वरमाश्रित्य वैराग्याभ्यासयोगतः ।
संसारसरितं घोरामिमामापदमुत्तरेत् ॥ ३१ ॥

वे ही पुरुष श्रेष्ठ परम पुरुषार्थ के भाजन हैं और जिनका सर्वश्रेष्ठ पद अर्थात् परम पद का आश्रयण कर परम शान्त हो गया है ।। २५ ।।

जो दुष्टचित्त राज्य आदि सुखों में सम्भोगों के आस्वादमात्र से सन्तुष्ट हैं, वे अन्धे मेढक ही हैं। मेढक कुएँ में रहने से बाहर नहीं देख पाता, उससे भी यदि अन्धा हो तो फिर कहना ही क्या है ? ।। २६ ।।

जो शठ, प्रबल दुराचारियों, वैषयिक सुखों का भोग करने वाले और मित्र के रूप में दिखाई देने वाले शत्रुओं पर आसक्त रहते हैं, वे संकट से संकट को, दुःख से दुःख को, भय से भय को और नरक से नरक को प्राप्त करते हैं। वे मूर्ख हैं और अज्ञान से मन्द बुद्धि हैं ।। २७, २८ ।।

हे राम ! सुख और दुःख की परस्पर विनाशशीलता कही गई है, अतः सुख और दुःख की अवस्था बिजली की चमक के समान क्षणभङ्गुर होने से, ये कभी श्रेयस्कर नहीं होते हैं ।। २९ ।।

जो आपके समान वैराग्यसम्पन्न, सम्यक् विवेकी और महात्मा हैं, भोग और मोक्ष के एकमात्र भाजन इन्हीं पुरुषों को वन्दनीय समझें ।। ३० ।।

परम विवेक का आश्रयण कर वैराग्याभ्यास के योग से आपत्तिरूप इस भीषण संसाररूपी नदी को पार करना चाहिए ।। ३१ ।।

विवेकशील पुरुषों को ज्ञान की प्राप्तिकर यह विष

न स्वप्तव्यं च संसारमायास्विह विजानता ।
विषमूर्च्छनसंमोहदायिनीषु विवेकिना ॥ ३२ ॥
संसारमिममासाद्य यस्तिष्ठत्यवहेलया ।
ज्वलितस्य गृहस्योच्चैः शेते तार्णस्य संस्तरे ॥ ३३ ॥
यत्प्राप्य न निवर्त्तन्ते यदासाद्य न शोचति ।
तत्पदं शेमुषीलभ्यमस्त्येवाऽत्र न संशयः ॥ ३४ ॥
नाऽस्ति चेत्तद्विचारेण दोषः को भवतां भवेत् ।
अस्ति चेत्तत्समुत्तीर्णा भविष्यथ भवार्णवात् ॥ ३५ ॥
प्रवृत्तिः पुरुषस्येह मोक्षोपायविचारणे ।
यदा भवत्याशु तदा मोक्षभागी स उच्यते ॥ ३६ ॥
अनपायि निराशङ्कं स्वास्थ्यं विगतविभ्रमम् ।
न बिना केवलीभावाद् विद्यते भुवनत्रये ॥ ३७ ॥
तत्प्राप्तावुत्तमप्राप्तौ न क्लेश उपजायते ।
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः ॥ ३८ ॥

के समान मूर्छा देने वाले मोहप्रद संसार को माया में सो नहीं जाना चाहिए ।। ३२ ।।

इस संसार में आकर अर्थात् मानव जीवन प्राप्तकर जो उपेक्षापूर्वक जीवनयापन कर निश्चित ही वह जल रहे तृणमय घर में घोर निद्रा में सो रहा है ।। ३३ ।।

जिसको प्राप्त कर पुनः नहीं लौटते और जिसे प्राप्त कर फिर शोक नहीं होता, वह उत्तम पद केवल बुद्धिमात्र से प्राप्य है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।। ३४ ।।

यदि ब्रह्म नहीं हैं तो भी उसके विचार से आप की क्या हानि होगी, और यदि है, तो उसके विचार से आप संसार-सागर से पार हो जायेंगे ।। ३५ ।।

इस संसार में पुरुष की मोक्ष के उपाय के विचार में प्रवृत्ति होने पर वह शीघ्र मोक्ष का भागी कहा जाता है। अर्थात् मोक्षके साधन में प्रवृत्ति होने पर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भावित होती है, और जीवन्मुक्तावस्था में वह लोक और राष्ट्र के कल्याण में अपना जीवन-यापन करता है ।। ३६ ।।

विनाशरहित, अशुभ आशङ्का से रहित, स्वस्थतायुक्त एवं विशिष्ट भ्रम से रहित सुख केवलीभाव के बिना तीनों भुवनों में कहीं भी नहीं हो सकता है। आशय यह है कि स्वर्ग आदि विनाशी है, उसमें पतन की शंका सदा बनी रहती है और उत्कर्ष से चित्त अस्वस्थ भी बना रहता है, इसलिए केवलीभाव ही पुरुषार्थ है ।। ३७ ।।

प्रवृत्ति होने पर केवलीभाव की प्राप्ति होती है।

न हस्तपादचलनं न देशान्तरसङ्गमः ।
न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयाः ॥ ३९ ॥
पुरुषार्थैकसाध्येन वासनैकार्थकर्मणा ।
केवलं तन्मनोमात्रजयेनाऽऽसाद्यते पदम् ॥ ४० ॥
विवेकमात्रसाध्यं तद्विचारैकान्तनिश्चयम् ।
त्यजतां दुःखजालानि नरेणैतदवाप्यते ॥ ४१ ॥
सुखसेव्यासनस्थेन तद्विचारयता स्वयम् ।
न शोच्यते पदं प्राप्य न स भूयो हि जायते ॥ ४२ ॥
तत्समस्तसुखासारसीमान्तं साधवो विदुः ।
तदनुत्तमनिष्पन्दं परमाहू रसायनम् ॥ ४३ ॥
क्षयित्वात् सर्वभावानां स्वर्गमानुष्ययोर्द्वयोः ।
सुखं नाऽस्त्येव सलिलं मृगतृष्णास्विवैतयोः ॥ ४४ ॥

केवलीभाव की प्राप्ति होने पर क्लेश नहीं होता है । न धनसम्पत्ति उपकार करती है, न मित्र उपकार करते हैं ॥ ३८ ॥

न हस्तपाद प्रचालनपूर्वक प्रणाम न देशान्तर गमन रूप तीर्थयात्रा आदि, न उपवास, न तीर्थवास उपकार करते हैं ॥ ३९ ॥

एकमात्र श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनरूप मात्र से साध्य पुरुषकार एवं द्वैतवासनाविरोधी ब्रह्माकार दृढ़वासना के समान कर्म से मनोमात्ररूप द्वैत के मूलोच्छेद रूप जय से उस पद को प्राप्त किया जा सकता है ॥ ४० ॥

विवेकमात्र से साध्य अर्थात् प्राप्त होने वाले निश्चय स्वरूप विचार और एकाग्रता उस उत्तम पद विषयों का त्याग करने वाले पुरुषों के द्वारा ही प्राप्त किया जाता है ॥ ४१ ॥

सुखसेव्य आसनपर बैठे हुए और स्वयं उसका विचार कर पुरुष को उस पद को प्राप्त करके तो शोक होता है और न फिर वह पुनर्जन्म ही ग्रहण करता है ॥ ४२ ॥

मनीषिगण संसार में साररूप से प्रसिद्ध सुखों के आसारों का (वेगवती वृत्तियों का) मेघरूप चरम सीमा कहते हैं और जिससे अत्युत्तम आनन्द रस का आविर्भाव होता है, ऐसा परम रसायन कहते हैं ॥ ४३ ॥

स्वर्ग और मनुष्यलोक में सम्पूर्ण भावों के विनाशशील होने से जैसे मृग-तृष्णामें जल ही नहीं होता है, वैसे ही इन दोनों में सुख नहीं ही है ॥ ४४ ॥

इसलिए शान्ति और सन्तोष का एकमात्र साधन मन

अतो मनोजयश्चिन्त्यः शमसन्तोषसाधनः ।
अनन्तसमसंयोगस्तस्मादानन्द आप्यते ॥ ४५ ॥
तिष्ठता गच्छता चैव पतता भ्रमता तथा ।
रक्षसा दानवेनाऽपि देवेन पुरुषेण वा ॥ ४६ ॥
मनःप्रशमनोद्भूतं तत्प्राप्यं परमं सुखम् ।
विकासि शमपुष्पस्य विवेकोच्चतरोः फलम् ॥ ४७ ॥
व्यवहारपरेणाऽपि कार्यवृन्दमविन्दता ।
भानुनेवाऽम्बरस्थेन नोज्झ्यते न च वाञ्छ्यते ॥ ४८ ॥
मनः प्रशान्तमत्यच्छं विश्रान्तं विगतभ्रमम् ।
अनीहं विगताभीष्टं नाऽभिवाञ्छति नोज्झति ॥ ४९ ॥
मोक्षद्वारे द्वारपालानिमाञ्छृणु यथाक्रमम् ।
येषामेकतमासक्त्या मोक्षद्वारं प्रविश्यते ॥ ५० ॥

का जय है ऐसा निश्चय कर उससे निःसीम एक बरस रूपता का अनुभव कर परमानन्द की प्राप्ति करनी चाहिए ॥ ४५ ॥

राक्षस, दानव, देवता या मनुष्य के द्वारा बैठते, चलते, गिरते, घूमते मन के जय से उत्पन्न अर्थात् मन का विषयाभिलाषा से उपशमन कर तथा शमरूपी प्रफुल्ल पुष्पों से युक्त विवेकरूपी उत्कृष्ट वृक्ष का फल परम सुख प्राप्त करना चाहिए ॥४६-४७॥

व्यवहार में संलग्न होने पर भी कार्यजन्य फल को न प्राप्ति न होने पर भी पुरुष के द्वारा आकाशस्थित सूर्य के समान परिपूर्ण होने पर भी हेय न होने के कारण परम सुख को न तो छोड़ा जा सकता है और परिपूर्ण होने से उसकी अभिलाषा नहीं की जा सकती है अर्थात् जैसे आकाशस्थित सूर्य द्वारा परिपूर्ण होने पर भी कल्प-वृक्ष का फल हेय न होने के कारण नहीं छोड़ा जाता और परिपूर्ण होने के कारण वे उसकी अभिलाषा भी नहीं करते, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

प्रशान्त, अतिनिर्मल, विश्रान्ति-सुख से पूर्ण, भ्रम-रहित, स्पृहारहित और अभीष्टशून्य मन न तो किसी वस्तु की अभिलाषा करता है ओर न किसी का त्याग करता है अर्थात् विषय-वासना शान्त हो जाने मन ब्रह्म की ही सर्वत्र अनुभूति होती है । प्राणिमात्र में ब्रह्म भाव का अनुभव कर अनन्त-सुख के द्वारा शान्त रह कर लोक कल्याण करता है ॥ ४९ ॥

मोक्ष के द्वार पर स्थित इन द्वारपालों को क्रमशः सुनिए, उनमें से एक का भी अवलम्बन करने पर मोक्ष के द्वार में प्रवेश प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

सुखदोषदशादीर्घा संसारमरुमण्डली ।
जन्तोः शीतलतामेति शीतरश्मेः समप्रभा ॥ ५१ ॥
शमेनाऽऽसाद्यते श्रेयः शमो हि परमं पदम् ।
शमः शिवः शमः शान्तिः शमो भ्रान्तिनिवारणम् ॥५२॥
पुंसः प्रशमतृप्तस्य शीतलाच्छतरात्मनः ।
शमभूषितचित्तस्य शत्रुरप्येति मित्रताम् ॥ ५३ ॥
शमचन्द्रमसा येषामाशयः समलङ्कृतः ।
क्षीरोदानामिवोदेति तेषां परमशुद्धता ॥ ५४ ॥
हृत्कुशेशयकोशेषु येषां शमकुशेशयम् ।
सतां विकसितं ते हि द्विहृत्पद्माः समा हरेः ॥ ५५ ॥
शमश्रीः शोभते येषां मुखेन्दावकलङ्किते ।
ते कुलीनेन्दवो वन्द्याः सौन्दर्यविजितेन्द्रियाः ॥ ५६ ॥
त्रैलोक्योदरवर्तिन्यो नाऽऽनन्दाय तथा श्रियः ।

तृषातप के समान दोषदशा से दीर्घ संसाररूपी मरुमण्डली शम से चन्द्रमा की प्रभा के समान शीतलता को प्राप्त करती है अर्थात् विषय सुख को मोहात्मक माननेपर अनन्त एकरस दुःखशून्य आनन्द की अनुभूति होती है, क्योंकि विषय तृष्णा ही दुःखपूर्ण सुख भ्रान्ति है ॥ ५१ ॥

शम से कल्याण प्राप्त होता है, शम परम पद है, शम शिव है, शम भ्रान्ति का निरास है ॥ ५२ ॥

शम से तृप्त, शीतल और निर्मल आत्मा वाले एवं शम से जिसका चित्त विभूषित है, उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है ॥ ५३ ॥

शमरूपी चन्द्रमा से जिनका चित्त विभूषित है, क्षीरसागरों के समान उनके हृदय में परमशुद्धता उत्पन्न होती है ॥ ५४ ॥

जिनके हृदयरूपी कमलकोषों में शमस्वरूप कमल विकसित होता है, दो हृदयकमल वाले वे भगवान् श्रीविष्णु के समान हैं। आशय यह है कि भगवान् विष्णु का हृदय-कमल शमप्रधान है और शम प्रधान कमल ब्रह्मा का आसन स्वरूप शमात्मक सृष्टि का उपादान है, अतः इन दो कमलों में शम की प्रधानता और उपादान स्वरूपता है, अतः शान्तिरूपी कमल ही प्रधान है, इसलिए विष्णु की समानता के हृदय-कमल में शमरूप कमल से अलङ्कृत करें ॥ ५५ ॥

जिनके कलङ्करहित मुखचन्द्र में शम शोभित है, पनी सुन्दरता से इन्द्रियों पर विजयी वे कुलीन चन्द्र ही न्दनीय हैं ॥ ५६ ॥

तीनों लोकों के मध्य में स्थित राज्यलक्ष्मी वैसे

साम्राज्यसम्पत्प्रतिमा यथा शमविभूतयः ॥ ५७ ॥
यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः ।
तत्सर्वं शान्तचेतःसु तमोऽर्केष्विव नश्यति ॥ ५८ ॥
मनो हि सर्वभूतानां प्रसादमधिगच्छति ।
न तथेन्दोर्यथा शान्ते जने जनितकौतुकम् ॥ ५९ ॥
शमशालिनि सौहार्दवति सर्वेषु जन्तुषु ।
सुजने परमं तत्त्वं स्वयमेव प्रसीदति ॥ ६० ॥
मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च ।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि ॥ ६१ ॥
न रसायनपानेन न लक्ष्म्याऽऽलिङ्गनेन च ।
तथा सुखमवाप्नोति शमेनाऽन्तर्यथा मनः ॥ ६२ ॥
सर्वाधिव्याधिचलितं क्रान्तं तृष्णावरत्रया ।
मनः शमामृतासेकैः समाश्वासय राघव ! ॥ ६३ ॥

आनन्द के लिए नहीं होती है जैसे साम्राज्य सम्पत्ति के समान शम-सम्पत्ति आनन्द के लिए होती है। आशय यह है कि राज्यलक्ष्मी की अपेक्षा साम्राज्य सम्पत्ति श्रेयस्कर है, अतः राज्यलक्ष्मी स्वभावतः निम्न होने से आनन्दकर नहीं होती है, तारतम्य होने से पूर्णानन्दरूप नहीं होती है, क्योंकि, उसकी प्राप्ति होने पर भी उससे उत्कृष्ट की अभिलाषा उसे दुःखदायी होती है । शम में कोई तारतम्य नहीं है ॥ ५७ ॥

जो दुःख हैं, दुःसह तृष्णाएँ हैं और दुष्ट मानसिक चिन्ताएँ शान्तचित्त वाले पुरुषों में वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे अनेक सूर्यों के प्रकाश में अन्धकार विनष्ट हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

चन्द्र के दर्शन से भी वैसी प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती है जैसे शान्त पुरुष के दर्शन से सब प्राणियों के मन में कौतुकपूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ ५९ ॥

शान्तियुक्त और सब प्राणियों से प्रेम करने वाले सज्जनतम पुरुष में परम-तत्त्व अनायास निर्मलता को प्राप्त हो जाता है ॥ ६० ॥

प्राणियों का अपनी माता पर विश्वास के समान ही क्रूर-कुटिल और मृदु प्राणियों का भी शमशील पुरुष पर विश्वास हो जाता है ॥ ६१ ॥

पुरुष को इन्द्रपद प्राप्त होनेपर अमृत के पान से और भगवान् विष्णु का पद प्राप्त होने पर लक्ष्मी के आलिङ्गन से वैसा सुख प्राप्त नहीं हो सकता, जैसा कि शम के द्वारा अन्तःकरण में सुख प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

हे राघव ! सम्पूर्ण आधि और व्याधियों से ग्रस्त

यत्करोषि यदश्नासि शमशीतलया धिया ।
तत्राऽतिस्वदते स्वादु नेतरत्तात मानसे ॥ ६४ ॥
शमामृतरसाच्छन्नं मनो यामेति निर्वृतिम् ।
छिन्नान्यपि तयाऽङ्गानि मन्ये रोहन्ति राघव ! ॥ ६५ ॥
न पिशाचा न रक्षांसि न दैत्या न च शत्रवः ।
न च व्याघ्रभुजङ्गा वा द्विषन्ति शमशालिनम् ॥ ६६ ॥
सुसंनद्धसमस्ताङ्गं प्रशमामृतवर्मणा ।
वेधयन्ति न दुःखानि शरा वज्रशिलामिव ॥ ६७ ॥
न तथा शोभते राजा अप्यन्तःपुरसंस्थितः ।
समया स्वच्छया बुद्ध्या यथोपशमशालया ॥ ६८ ॥
प्राणात्प्रियतरं दृष्ट्वा तुष्टिमेति न वै जनः ।
यामायाति जनः शान्तिमवलोक्य शमाशयम् ॥ ६९ ॥
समया शमशालिन्या वृत्त्या यः साधु वर्तते ।
अभिनन्दितया लोके जीवतीह स नेतरः ॥ ७० ॥

और तृष्णारूपी रस्सी से आक्रान्त मन को शमरूपी अमृत के सिञ्चन से स्वस्थ करें ॥ ६३ ॥

शम से शीतल बुद्धि से जो कार्य किया जाता है, जो भोजन किया जाता है, वह मन को अत्यन्त स्वादु लगता है। भिन्न बुद्धि से जो कुछ कर्म किया जाता है एवं भोजन किया जाता है, वह स्वादु नहीं लगता है ॥ ६४ ॥

हे राघव ! शमरूपी अमृतरस से आप्लावित मन उस आनन्द को प्राप्त करता है जिससे कटे हुए अङ्ग भी उग जाते हैं, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ ६५ ॥

शमशाली पुरुष से पिशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, बाघ और साँप कोई भी द्वेष नहीं करते हैं ॥ ६६ ॥

जैसे बाण हीरे को नहीं छेद सकते, वैसे ही उत्कृष्ट शमरूपी अमृतकवच से आवृत सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग जिसमें सुरक्षित हैं, उसे सम्पूर्ण दुःख–पीड़ित नहीं कर सकते है ॥ ६७ ॥

अपने राजमहल में विराजमान राजा भी वैसी शोभा को प्राप्त नहीं करता है जैसी शोभा स्वच्छ और शम से शोभायमान समबुद्धि से युक्त पुरुष प्राप्त करता है ॥ ६८ ॥

शान्त अन्तःकरण वाले पुरुष का दर्शन कर मनुष्य को जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द अपने प्राणों से भी प्रियतर मनुष्य को देख कर नहीं होता है ॥ ६९ ॥

इस संसार में जो सज्जन शम से शोभित एवं सब लोगों द्वारा प्रशंसित समवृत्ति से अच्छा साथ व्यवहार

अनुद्धतमनाः शान्तः साधुः कर्म करोति यत् ।
तत्सर्वमभिनन्दन्ति तस्येमा भूतजातयः ॥ ७१ ॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम् ।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते ॥ ७२ ॥
यः समः सर्वभूतेषु भावि काङ्क्षति नोज्झति ।
जित्वेन्द्रियाणि यत्नेन स शान्त इति कथ्यते ॥ ७३ ॥
स्पृष्ट्वाऽवदातया बुद्ध्या यथैवाऽन्तस्तथा बहिः ।
दृश्यन्ते यत्र कार्याणि स शान्त इति कथ्यते ॥ ७४ ॥
तुषारकरबिम्बाभं मनो यस्य निराकुलम् ।
मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते ॥ ७५ ॥
स्थितोऽपि न स्थित इव न हृष्यति न कुप्यति ।
यः सुषुप्तसमः स्वस्थः स शान्त इति कथ्यते ॥ ७६ ॥
अमृतस्यन्दसुभगा यस्य सर्वजनं प्रति ।
दृष्टिः प्रसरति प्रीता स शान्त इति कथ्यते ॥ ७७ ॥

करता है, वही इस लोक में जीवित है, अन्य नहीं ॥ ७० ॥

शम से परिपूर्ण औद्धत्यरहित मन वाला साधु पुरुष जो भी कार्य करता है, सभी प्राणी उसके उस कर्म की प्रशंसा करते हैं ॥ ७१ ॥

प्रिय और अप्रिय को सुन कर, छूकर देख कर, खाकर और सूंघकर न तो प्रसन्न होता है और न खिन्न होता है, वही शान्त कहा जाता है ॥ ७२ ॥

प्रयत्न से इन्द्रियों को यत्नपूर्वक जीत कर सब प्राणियों के साथ समान व्यवहार करता है सुख की न तो इच्छा करता है और न प्रारब्ध प्राप्त का परित्याग करता है वही पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७३ ॥

बाहर भीतर एक सी निर्मल बुद्धि के अनुसार जो कर्तव्य कार्य में तत्पर रहता हैं, वही पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७४ ॥

चन्द्रबिम्ब के समान कान्ति वाला जिसका मन मृत्यु उत्सव और युद्ध में क्रमशः भय, अनुराग और क्रोध से सन्तापरहित रहता है, वह पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७५ ॥

हर्ष और कोप के अवसर पर स्थित रहते हुए भी जो पुरुष वहाँ स्थित न रहने के समान न हर्ष को प्राप्त करता है और न कोप करता है, वरन् सुषुप्त पुरुष के समान स्वस्थ रहता है, वही पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७६ ॥

जिसकी अमृत के प्रवाह के समान सुखप्रद और

योऽन्तःशीतलतां यातो यो भावेषु न मज्जति ।
व्यवहारी न संमूढः स शान्त इति कथ्यते ॥ ७८ ॥

अप्यापत्सु दुरन्तासु कल्पान्तेषु महत्स्वपि ।
तुच्छेऽहं न मनो यस्य स शान्त इति कथ्यते ॥ ७९ ॥

आकाशसदृशी यस्य पुंसः संव्यवहारिणः ।
कलङ्कमेति न मतिः स शान्त इति कथ्यते ॥ ८० ॥

तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च ।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते ॥ ८१ ॥

शमसंसक्तमनसां महतां गुणशालिनाम् ।
उदेति निर्वृतिश्चित्ताज्ज्योत्स्नेव सितरोचिषः ॥ ८२ ॥

सीमान्तो गुणपूगानां पौरुषैकान्तभूषणम् ।
संकटेषु भयस्थाने शमः श्रीमान् विराजते ॥ ८३ ॥

शममसृतमहार्यमार्यगुप्तं परम-
वलम्ब्य परं पदं प्रयाताः ।
रघुतनय यथा महानुभावाः
क्रममनुपालय सिद्धये तमेव ॥ ८४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे शमनिरूपणं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

प्रसन्न दृष्टि सभी प्राणियों के प्रति रहती है, वही पुरुष शान्त कहलाता है ॥ ७७ ॥

अतिशय शीतल अन्तःकरण को प्राप्त कर जो पुरुष व्यवहार करते हुए भी सांसारिक विषयों में आसक्त नहीं रहता और मूढ़ नहीं है, वही पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७८ ॥

बड़ी से बड़ी आपत्तियों में भी तथा दीर्घकाल तक रहने वाले बड़े-बड़े प्रलयों में भी जिसकी नश्वर देह आदि में अहंबुद्धि नहीं होती, वही पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ७९ ॥

व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुष की ब्रह्म के समान समरस या आकाश के समान विकार—शून्य बुद्धि राग-द्वेष मलिन नहीं होती है, वही पुरुष शान्त कहा जाता है ॥ ८० ॥

तपस्वियों में, विद्वानों में, यज्ञकर्ताओं में, राजाओं में बलवान् पुरुषों में एवं गुणों से विभूषित लोगों में, शमयुक्त पुरुष ही शोभायमान होता है ॥ ८१ ॥

जैसे चन्द्रमा से चाँदनी के उदय होने के समान ही शमपूर्ण गुणशाली, सज्जनों के चित्त से आनन्द के स्रोत का प्रवाह होता है ॥ ८२ ॥

अनन्त गुणों की अवधि (सीमा), पौरुष के मुख्य भूषण स्वरूप शम संकटों में और भयपूर्ण स्थानों में भी विराजमान रहता है अर्थात् शम ही एकमात्र गुण है, पौरुष है अतः शम प्रधान व्यक्ति सर्वथा भय और सङ्कट से युक्त रहता है ॥ ८३ ॥

हे रघुनन्दन ! दूसरों के द्वारा हरण के अयोग्य तथा आर्यजनों से बड़ी सावधानी से सुरक्षित परम साधनभूत शमरूपी अमृत का अवलम्बन कर अनेक महानुभावों ने जिस क्रम से परम पद को प्राप्त किया है, आप भी सिद्धि के लिए उसी क्रम का अवलम्बन करें ॥ ८४ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में शमनिरूपण नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

१४

श्रीवसिष्ठ उवाच

शास्त्रावबोधामलया धिया परमपूतया ।
कर्त्तव्यः कारणज्ञेन विचारोऽनिशमात्मनः ॥ १ ॥

१४

वसिष्ठ जी ने कहा :—

शास्त्र के ज्ञान से प्राप्त परम पवित्र निर्मल ज्ञान के कारण के ज्ञाता के द्वारा अहर्निश आत्मा का ही करना चाहिए, इस प्रसङ्ग में तात्पर्य व्याख्या-अनेक विषयों का विशद विवेचन किया है, संग्रह भाषा में निम्नलिखित रूप में किया गया है :—विचार पाँच प्रकार के हैं—अर्थ और अनर्थ कारण का विचार, सार और असार का विचार, हेय और उपादेय का विचार, प्रमाण के तात्पर्य का विचार एवं आत्मतत्त्वविचार। उक्त पाँच प्रकार के विचारों में स्वाभाविक प्रवृत्ति और विषयों में अनर्थकारिता और शास्त्रीय प्रवृत्ति एवं वैराग्य में पुरुषार्थ हेतुता है, इस

विचारात्तीक्ष्णतामेत्य धीः पश्यति परं पदम् ।
दीर्घसंसाररोगस्य विचारो हि महौषधम् ॥ २ ॥
आपद्वनमनन्तेहापरिपल्लविताकृति ।
विचारक्रकचच्छिन्नं नैव भूयः प्ररोहति ॥ ३ ॥
मोहेन बन्धुनाशेषु सङ्कटेषु समेषु च ।
सर्वं व्याप्तं महाप्राज्ञ विचारो हि सतां गतिः ॥ ४ ॥
न विचारं विना कश्चिदुपायोऽस्ति विपश्चिताम् ।
विचारादशुभं त्यक्त्वा शुभमायाति धीः सताम् ॥ ५ ॥
बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिः क्रिया फलम् ।
फलन्त्येतानि सर्वाणि विचारेणैव धीमताम् ॥ ६ ॥
युक्तायुक्तमहादीपमभिवाञ्छितसाधकम् ।
स्फारं विचारमाश्रित्य संसारजलधिं तरेत् ॥ ७ ॥
आलूनहृदयाम्भोजान् महामोहमतङ्गजान् ।
विदारयति शुद्धात्मा विचारो नाम केसरी ॥ ८ ॥
मूढाः कालवशेनेह यद्गताः परमं पदम् ।
तद्विचारप्रदीपस्य विजृम्भितमनुत्तमम् ॥ ९ ॥
राज्यानि संपदः स्फारा योगो मोक्षश्च शाश्वतः ।
विचारकल्पवृक्षस्य फलान्येतानि राघव ! ॥ १० ॥

प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से परीक्षणरूप प्रथम विचार है। स्त्री, पुत्र और अपनी देह में स्वभाव से, बीज से और परिणाम से अशुचिता, विषमूत्ररूपता और अमङ्गलता का परीक्षणरूप और ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण सुखों में अनित्यत्व तथा दुःखमिश्रितत्व आदि का परीक्षणरूप दूसरा विचार है। ये दोनों वैराग्य और मुमुक्षा के हेतु हैं। मुमुक्षा के अनन्तर भी मोक्ष साधन केवल कर्म है या केवल उपासना है या वे दोनों मिलकर हैं अथवा ज्ञान समुचित कर्म और उपासना मोक्ष साधन हैं अथवा केवल ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, इस प्रकार परीक्षण-रूप तीसरा विचार है।

ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, ऐसा मान लेने पर भी साङ्ख्य, वैशेषिक आदि का अभिमत ज्ञान मोक्ष का साधन है या केवल श्रौत ज्ञान के मोक्ष साधन होने पर भी श्रुतियों का द्वैत में अथवा अद्वैत में सविशेष या निर्विशेष आत्मा में या अनात्मा में तात्पर्य है, इस प्रकार परीक्षणरूप चौथा विचार है। वह प्रवण कहलाता है। श्रुति आदि प्रमाणों का अद्वितीय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म में तात्पर्यज्ञान होने पर भी अपनी आत्मा में परमार्थरूप से सच्चिदानन्द-घनता हो सकती है या नहीं, इस विषय का रत्नपरीक्षान्याय से अनुभवी गुरु और सतीर्थ्य आदि के संवाद से जीव, ईश्वर और जगतत्त्व के परिशोधन से निश्चय होने तक परीक्षणरूप पाँचवाँ विचार है। उक्त पाँच विचारों में से आदि तीन का फल साधन चतुष्टय की सम्पत्ति है और अन्तिम दो का फल क्रमशः प्रमाण और प्रमेय में असम्भावना की निवृत्ति है। प्रथम तीन यद्यपि भाग्यवश स्वतः भी प्राप्त हो जाते हैं, तथापि अपनी प्रतीति को दृढ़ करने के लिए फिर गुरुशास्त्रपूर्वक उनकी प्राप्ति करनी चाहिए। अन्तिम दो तो गुरु और शास्त्र से ही प्राप्त होते हैं, इसीलिए ऊपर श्लोक में सर्वसाधारणरूप से 'शास्त्रावबोधामलया धिया' कहा है ॥ १ ॥

विचार से सूक्ष्म तत्त्व के अवगाहन में कुशलता को प्राप्त कर ही बुद्धि, अतः परम पद को देखती है, विचार ही संसाररूपी महारोग की महौषधि है ॥ २ ॥

अनन्त प्रवृत्तियों से चारों ओर से पल्लवित आकार वाला आपत्तिरूपी वन विचाररूपी आरों से काटे जाने पर फिर उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३ ॥

हे महाप्राज्ञ ! बन्धुओं के नाश काल, सङ्कटों की घड़ी, समावस्था ये सभी मोह से परिव्याप्त है, अतः विचार ही एकमात्र सज्जनों की गति है ॥ ४ ॥

दुःखसन्तरण के लिए सज्जनों के पास विचार से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, सज्जनों की मति विचार से अशुभ का त्याग कर शुभ को प्राप्त करती है ॥ ५ ॥

बुद्धिमानों के बल, बुद्धि, सामार्थ्य और समयोचित स्फूर्ति, क्रिया और उसका फल ये सब विचार से ही सफल होते हैं ॥ ६ ॥

युक्त और अयुक्त के प्रकाशक महादीपकरूप अभीष्ट वस्तु के साधक का आश्रय विचार का अवलम्बन कर संसाररूप सागर को पार करना चाहिए ॥ ७ ॥

हृदयस्थित विवेकरूप कमल को कुचल डालने वाले महामोहरूपी हाथियों को विशुद्ध विचाररूपी सिंह मार डालता है ॥ ८ ॥

संसारसंतरण के उपाय से अनभिज्ञ समयानुसार जिन व्यक्तियों ने परमपद को प्राप्त किया है, उस परम-पद की प्राप्ति प्रदीप का ही उपायप्रकाशनजन्य सर्वोत्तम फल है ॥ ९ ॥

हे राघव ! राज्य, सम्पत्तियाँ, भोग और अविनाशी मोक्ष ये सब विचाररूपी कल्पवृक्ष के ही फल हैं ॥ १० ॥

या विवेकविकासिन्यो मतयो महतामिह ।
न ता विपदि मज्जन्ति तुम्बकानीव वारिणि ॥ ११ ॥
विचारोदयकारिण्या धिया व्यवहरन्ति ये ।
फलानामत्युदाराणां भाजनं हि भवन्ति ते ॥ १२ ॥
मूर्खहृत्काननस्थानामाशाप्रथमरोधिनाम् ।
अविचारकरञ्जानां मञ्जर्यो दुःखरीतयः ॥ १३ ॥
कज्जलक्षोदमलिना मदिरामदधर्मिणी ।
अविचारमयी निद्रा यातु ते राघव ! क्षयम् ॥ १४ ॥
महापदतिदीर्घेषु सद्विचारपरो नरः ।
न निमज्जति मोहेषु तेजोराशिस्तमःस्विव ॥ १५ ॥
मानसे सरसि स्वच्छे विचारकमलोत्करः ।
नूनं विकसितो यस्य हिमवानिव भाति सः ॥ १६ ॥

इस संसार में महापुरुषों की विवेक से विकसित मतियाँ ही जल में फेंकी गई तुम्बियों के समान विपत्ति में विषाद को प्राप्त नहीं करती हैं ॥ ११ ॥

जो लोग विचार को उत्पन्न करने वाली (विचारवती) बुद्धि से व्यवहार करते हैं, वे ही अतिश्रेष्ठ फलों के भागी होते हैं ॥ १२ ॥

मूर्खों के हृदयरूपी वन में स्थित तथा मुक्ति की इच्छा को सर्व प्रथम रोकने वाली दुःख को देनी वाली अविचाररूपी करञ्ज वृक्ष की मञ्जरियाँ ही हैं। आशय यह है कि करञ्ज वृक्ष के वन में उगने पर वह अपने बढ़ाव से दिशाओं को रोक देते हैं अविचार भी मूर्खजनों के हृदय में आने पर मोक्ष की आशा को रोक देता है, अतः अविचार का फल ही दुःख है ॥ १३ ॥

हे राघव ! काजल की ढेर के समान मलिन और मदिरा के मद की सजातीय अर्थात् शराब के नशे में होने वाले चिह्नों-भ्रम और स्खलन आदि से युक्त आप की अविचाररूपी नींद का नाश हो ॥ १४ ॥

सद्विचार में तत्पर पुरुष बड़ी-बड़ी आपत्तियों से युक्त एवं अतिविस्तारयुक्त अज्ञानों में वैसे ही निमग्न नहीं होता है जैसे सूर्य निबिड़ अन्धकारोंमें निमग्न नहीं होता है ॥ १५ ॥

जिसके अतिस्वच्छ मनरूपी तालाब में विचाररूपी विकसित कमलराशि हिमालय के समान शोभा को प्राप्त होती है अर्थात् शीतलता, उन्नतता, स्थिरता आदि गुणों से हिमवान् के सदृश शोभित होता है। हिमालय में भी निर्मल मानस सरोवर है और उसमें सदा कमल खिले रहते हैं हिमालय शीतल उन्नत और स्थिर होने से सुशोभित है ॥ १६ ॥

विचारविकला यस्य मतिर्मान्द्यमुपेयुषः ।
तस्योदेत्यशनिश्चन्द्रान्मुधा यक्षः शिशोरिव ॥ १७ ॥
दुःखखण्डकमस्थूलं विपन्नवलतामधुः ।
राम ! दूरे परित्याज्यो निर्विवेको नराधमः ॥ १८ ॥
ये केचन दुरारम्भा दुराचारा दुराधयः ।
अविचारेण ते भान्ति वेतालास्तमसा यथा ॥ १९ ॥
अविचारिणमेकान्तवनद्रुमसधर्मकम् ।
अक्षमं साधुकार्येषु दूरे कुरु रघूद्वह ! ॥ २० ॥
विविक्तं हि मनो जन्तोराशावैवश्यवर्जितम् ।
परां निर्वृतिमभ्येति पूर्णचन्द्र इवाऽऽत्मनि ॥ २१ ॥
विवेकितोदिता देहे सर्वं शीतलयत्यलम् ।
अलङ्करोति चाऽत्यन्तं ज्योत्स्नेव भुवनं यथा ॥ २२ ॥

मूढ़ता के कारण जिस पुरुष की बुद्धि विचार शून्य रहती है, उसके लिए चन्द्रमा से वज्र उदित होता है, जैसे मूर्खतावश बालक के लिए यक्ष (वेताल) उत्पन्न होता है। आशय यह है कि मन का देवता चन्द्रमा है और मन चन्द्रमा की तरह प्रकाश के योग्य है, इसलिए मन में चांदनी के समान ज्ञानजन्य सुख का ही आविर्भाव होना उचित है। जिस मूर्ख के मन में शोक, दुःख की उत्पत्ति होती है, उसके लिए चन्द्रमा से भी वज्र उत्पन्न होता है, जैसे कि बालक की मूर्खता से वेताल उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥

हे राम ! दुःख बीजों के लिए बनाए गये विपुल कोठली, विपत्तिरूपी नूतन लताओं के लिए वसन्त स्वरूप निर्विवेक नराधम को दूर से ही छोड़ देना चाहिए ॥ १८ ॥

जो कुछ दुःख देने वाले कार्य दुष्ट आचरण और जो मानसिक पीड़ाएँ हैं, उनकी अन्धकार से वेताल की तरह अविचार से अविवेक से ही उत्पत्ति होती हैं ॥ १९ ॥

हे रघुकुलतिलक ! विवेकहीन निर्जन स्थान में उगे हुए वनवृक्ष के सदृश और सत्कर्म करने में असमर्थ व्यक्ति को सदा दूर से त्याग देना चाहिए। निर्जन में उत्पन्न वृक्ष की छाया और फल से कोई लाभ नहीं है ॥ २० ॥

विचारपूर्ण आशा की अधीनता से विमुक्त प्राणियों का मन पूर्णचन्द्र की तरह आत्मा में परम विश्रामसुख को प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

जैसे उदित चाँदनी के समान और जल प्यासे प्राणी को शीतल कर देता है, वैसे ही देह में जब विवेकशीलता उदित होती है, तब वह सभी को अतिशय विभूषित और शीतल कर देती है ॥ २२ ॥

परमार्थपताकाया धियो धवलचामरम् ।
विचारो राजते जन्तोरजन्यामिव चन्द्रमाः ॥ २३ ॥
विचारचारवो जीवा भासयन्तो दिशो दश ।
भान्ति भास्करवन्नूनं भूयोभवभयापहाः ॥ २४ ॥
बालस्य स्वमनोमोहकल्पितः प्राणहारकः ।
रात्रौ नभसि वेतालो विचारेण विलीयते ॥ २५ ॥
सर्व एव जगद्भावा अविचारेण चारवः ।
अविद्यमानसद्भावा विचारविशरारवः ॥ २६ ॥
पुंसो निजमनोमोहकल्पितोऽनल्पदुःखदः ।
संसारचिरवेतालो विचारेण विलीयते ॥ २७ ॥
समं सुखं निराबाधमनन्तमनपाश्रयम् ।

जैसे रात्रि में चन्द्रमा के समान पुरुष का (पुरुषार्थ रूप मोक्षरूप राजत्वप्राप्ति की सूचिका होने के कारण) परमार्थ पताकभूत शुद्ध बुद्धि का विचार चँवर के सदृश शोभायमान होता है ॥ २३ ॥

विचार से ही चारुता सम्पन्न जीव अर्थात् जीवन्मुक्त हुआ जीव दस दिशाओं को देदीप्यमान करता हुआ सूर्य के समान सुशोभित होता हैं, निश्चित ही प्रकाश से सूर्य अन्धकार का विनाश करता है और जीव विचाररूप प्रकाश से प्राणियों के संसार-रूपी अन्धकार का विनाश करता है ॥ २४ ॥

रात्रि में बालक के द्वारा आकाश में अपने मन से कल्पित प्राणनाशक वेताल के समान अर्थात् जैसे उसका विचार से विनाश हो जाता है, अपने मन के अज्ञान से कल्पित आत्म स्वरूप का विनाशक यह संसार विचार से विलीन हो जाता है वैसे ही जगत् के सभी पदार्थ अविचार न करने से ही अच्छा जँचते हैं, सत्य पदार्थ के समान सुन्दर लगते हैं, उनका अस्तित्व नहीं है, इसीलिए वे विचाररूपी पत्थर से तोड़े गये मिट्टी के ढेले के समान नष्ट हो जाते हैं, मिथ्या प्रतीत होते हैं ॥ २५-२६ ॥

पुरुष के मानस अज्ञान से कल्पित अतिशय दुःख-दायी भवरूपी प्राचीन केवल विचार करने से विलीन हो जाता है ॥ २७ ॥

विषमता के संपर्क से शून्य, बाधारहित अन्त शून्य नाशरहित सदा आनन्दात्मक कैवल्य विचार का उच्चतर फल है ॥ २८ ॥

चन्द्रमा से शीतता उदय के समान विचार से निर-तिशय आनन्दात्मक निश्चल स्थिति उदार आनन्दपूर्ण

विद्धीमं केवलीभावं विचारोच्चतरोः फलम् ॥ २८ ॥
अचलस्थितितोदारा प्रकटाभोगतेजसा ।
तेन निष्कामतोदेति शीतलेवेन्दुनोदिता ॥ २९ ॥
स्वविचारमहौषध्या साधुश्चित्तनिषण्णया ।
तयोत्तमत्वप्रदया नाऽभिवाञ्छति नोज्झति ॥ ३० ॥
तत्पदालम्बनं चेतः स्फारमाभासमागतम् ।
नाऽस्तमेति न चोदेति खमिवाऽतिततान्तरम् ॥ ३१ ॥
न ददाति न चाऽऽदत्ते न चोन्नमति शाम्यति ।
केवलं साक्षिवत् पश्यन् जगदाभोगि तिष्ठति ॥ ३२ ॥
न च शाम्यति नाऽप्यन्तर्नाऽपि बाह्येऽवतिष्ठति ।
न च नैष्कर्म्यमादत्ते न च कर्मणि मज्जति ॥ ३३ ॥

निष्कामता का उदय होता है ॥ २९ ॥

अचल स्थिति सी सर्वश्रेष्ठ है । उक्त अचल स्थिति को देने वाली चित्त में स्थित आत्मविचाररूपी महौषधि से निर्मल चित्त अपने स्वरूप में स्थित पुरुष न तो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करता है और न प्राप्त का त्याग करता हैं ॥ ३० ॥

सच्चित् आनन्द घन पर ब्रह्म परमात्मा में एकरस चित्त पूर्ण आभासता से सम्पन्न रहता है चित्तविक्षेपहेतु वासनाएँ आकाश की नाईं अति विस्तीर्ण ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाती हैं, अतः न तो उसका विनाश होता है जिससे कि जीवन ही न रहे और न राग, द्वेष आदि वृत्तियों का फिर उदय ही होता है, अद्वितीय ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति हो जाने से अज्ञान-जन्य कार्य जले हुए बीज के समान वासनाङ्कुर के उत्पादन में समर्थ नहीं होते हैं ॥ ३१ ॥

तात्पर्य व्याख्या में इस प्रकार की व्याख्या भी उप-लब्ध है:–परब्रह्म परमात्मा में संलग्न अतएव ब्रह्मभाव को प्राप्त चित्त भूँजे हुए बीजों के समान न तो उगता है, अतः विक्षेप का डर भी है और अनादि वासना से दृढ़ चित्त विषयसंस्कार का विनाश भी नहीं होता है ।

उदासीन साक्षी के समान जगत् का केवल अवलोकन करता हुआ वासनात्मक आभोग शून्य अनासक्त होने से उनमें आसक्त होकर मन को नहीं लगाता और न सत्य समझकर उनका उपभोग ही करता है न तो उपाधि की शान्ति से शान्त होता है, मन वासनामय पदार्थों में अन्त-र्द्वन्द्व न तो आसक्त होता है और न बाह्य विषयों के फन्दे में फँसता है न नैष्कर्म्य का अवलम्बन करता है और न कर्मों में ही अनुवृत्त रहता है ॥ ३२–३३ ॥

उपेक्षते गतं वस्तु संप्राप्तमनुवर्तते ।
न क्षुब्धो न च वाऽक्षुब्धो भाति पूर्ण इवाऽर्णवः ॥ ३४ ॥
एवं पूर्णेन मनसा महात्मानो महाशयाः ।
जीवन्मुक्ता जगत्यस्मिन् विहरन्तीह योगिनः ॥ ३५ ॥
उषित्वा सुचिरं कालं धीरास्ते यावदीप्सितम् ।
ते तमन्ते परित्यज्य यान्ति केवलतां तताम् ॥ ३६ ॥
कोऽहं कस्य च संसार इत्यापद्यपि धीमता ।
चिन्तनीयं प्रयत्नेन सप्रतीकारमात्मना ॥ ३७ ॥
कार्यसङ्कटसन्देहं राजा जानाति राघव ! ।
निष्फलं सफलं वाऽपि विचारेणैव नाऽन्यथा ॥ ३८ ॥
वेदवेदान्तसिद्धान्तस्थितयः स्थितिकारणम् ।
निर्णीयन्ते विचारेण दीपेन च भुवो निशि ॥ ३९ ॥

वह गई हुई वस्तु की उपेक्षा करता है अर्थात् उसकी प्राप्ति के लिए यत्न नहीं करता और प्राप्त वस्तु का अनुसरण भी नहीं करता है, उसे क्षोभ नहीं होता और न निश्चल रहता है अर्थात् स्वाभाविक व्यवहार का त्याग करता हुआ निश्चल नहीं होता है। (समुद्र पक्षमें) समुद्र भी गये हुए लक्ष्मी, कौस्तुभमणि आदि वस्तु की उपेक्षा करता है, प्राप्त अन्यान्य रत्नों से अपना व्यवहार करता है, मर्यादात्याग कर क्षुब्ध नहीं होता है और वह निश्चल भी नहीं रहता है अत: ब्रह्मवेत्तापूर्ण सागर के समान है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार पूर्ण मन से युक्त इसी शरीर में जीव-ब्रह्मैक्यरूप योगसम्पन्न जीवन्मुक्त उदार महात्मा इस जगत् में विचरण करते हैं ॥ ३५ ॥

ऐसे धीर महात्मागण अपनी इच्छा के अनुसार चिरकाल तक इस संसार में निवास कर अन्त में देह, इन्द्रिय आदि उपाधि का त्याग कर अपरिच्छिन्न विदेहकैवल्य को प्राप्त करते हैं ॥ ३६ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को आपत्काल में भी अर्थात् गृहस्थ जीवन में भी मैं कौन हूँ, यह संसार किसका है ? और संसार से छुटकारा पाने के उपायों को श्रवण अनुष्ठान का स्वयं ही प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाविए ॥ ३७ ॥

हे राघव ! राजा सफल चाहे निष्फल अवश्य कर्त्तव्य सन्धि, विग्रह आदि का निश्चय विचार से ही करता है, विचार के सिवा अन्य साधन से निश्चायक नहीं करता है ॥ ३८ ॥

जैसे रात्रि में घट, पट आदि पदार्थों का परिज्ञान दीपक से होता है' वैसे ही पुरुषार्थ प्राप्ति के हेतु वेद और वेदान्तसिद्धान्त के सारभूत धर्म तथा ब्रह्मतत्त्व का निर्णय विचार से ही किया जाता हैं ॥ ३९ ॥

अनष्टमन्धकारेषु बहुतेजःस्वजिह्मितम् ।
पश्यत्यपि व्यवहितं विचारश्चारुलोचनम् ॥ ४० ॥
विवेकान्धो हि जात्यन्धः शोच्यः सर्वस्य दुर्मतिः ।
दिव्यचक्षुर्विवेकात्मा जयत्यखिलवस्तुषु ॥ ४१ ॥
परमात्ममयी मान्या महानन्दैकसाधिनी ।
क्षणमेकं परित्याज्या न विचारचमत्कृतिः ॥ ४२ ॥
विचारचारुपुरुषो महतामपि रोचते ।
परिपक्वचमत्कारं सहकारफलं यथा ॥ ४३ ॥
विचारकान्तमतयो नाऽनेकेषु पुनः पुनः ।
लुठन्ति दुःखश्वभ्रेषु ज्ञाताध्वगतयो नराः ॥ ४४ ॥
न च रौति तथा रोगी नाऽनर्थशतजर्जरः ।
अविचारविनष्टात्मा यथाऽज्ञः परिरोदिति ॥ ४५ ॥

विचाररूपी सुन्दर चक्षु अन्धकार में नष्ट-सा (व्यर्थ सा) नहीं होता, तेजस्वी सूर्य आदि में कुण्ठित नहीं होता एवं जो वस्तु सामने नहीं है, व्यवहित है उसे भी देख लेता है। (प्रसिद्ध नेत्र अन्धकार में नष्ट से हो जाते हैं प्रचुर तेज वाले सूर्य आदि को नहीं देख सकते, चकाचौंध होने के कारण कुण्ठित हो जाते हैं, एवं जो वस्तु व्यवहित है और दूर है उसे नहीं देख सकते है ॥ ४० ॥

विवेकान्ध विवेकरूपी नेत्रों से हीन पुरुष जन्मान्ध है, उस दुर्मति के लिए सभी शोक करता जिस पुरुष को विवेक आत्मा के समान प्रिय है, और सभी पदार्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप में विद्यमान है वह दिव्य चक्षु है ॥ ४१ ॥

परमात्ममयी (सदा परमात्मा में संलग्न) महान् आनन्द की एकमात्र साधिका आदरणीय विचारचमत्कृति का एकक्षण के लिए भी परित्याग नहीं करना चाहिए ॥ ४२ ॥

जैसे परिपाक होने के कारण अत्यन्त माधुर्य से युक्त आम का फल महापुरुषों को भी अच्छा लगता है, वैसे ही विचार से रमणीय पुरुष तत्त्वज्ञों को भी अच्छा लगता है ॥ ४३ ॥

विचार से निर्मल मति और विचार से ही जिन्हें ज्ञानमार्ग को जानने वाला अर्थात् ज्ञानमार्ग पर गमन अनेक दुःखमय गर्तों में जन्म-मरणपरम्परा में नहीं गिरते हैं ॥ ४४ ॥

वैसा नहीं रोता जैसा कि अविचार से विनष्ट आत्मा

वरं कर्दमभेकत्वं मलकीटकता वरम् ।
वरमन्धगुहाहित्वं न नरस्याऽविचारिता ॥ ४६ ॥
सर्वानर्थनिजावासं सर्वसाधुतिरस्कृतम् ।
सर्वदौःस्थित्यसीमान्तमविचारं परित्यजेत् ॥ ४७ ॥
नित्यं विचारयुक्तेन भवितव्यं महात्मना ।
तथाऽन्धकूपे पततां विचारो ह्यवलम्बनम् ॥ ४८ ॥
स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानमवष्टभ्य विचारतः ।
संसारमोहजलधेस्तारयेत् स्वमनोमृगम् ॥ ४९ ॥
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ।
न्यायेवेति परामर्शो विचार इति कथ्यते ॥ ५० ॥
अन्धान्धमोहसुघनं चिरं दुःखाय केवलम् ।
कृतं शिलाया हृदयं दुर्मतेश्चाऽविचारिणः ॥ ५१ ॥
भावाभावग्रहोत्सर्गदृशामिह हि राघव ! ।
न विचारादृते तत्त्वं ज्ञायते साधु किञ्चन ॥ ५२ ॥
विचाराज्ज्ञायते तत्त्वं तत्त्वाद्विश्रान्तिरात्मनि ।
अतो मनसि शान्तत्वं सर्वदुःखपरिक्षयः ॥ ५३ ॥
सफलतां फलते भुवि कर्मणां
प्रकटतां किल गच्छति उत्तमाम् ।
स्फुटविचारदृशैव विचारिता
शमवते भवते च विरोचताम् ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे विचारनिरूपणं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥१४॥

वाला अज व्यक्ति जिस प्रकार सर्वथा रोता है वैसा सैकड़ों अनर्थों से जीर्ण-शीर्ण शरीर वाला रोगी नहीं रोता है ॥ ४५ ॥

कीचड़ में मेंढक बनना अच्छा है, विष्ठा का कीड़ा बनना अच्छा है, अँधेरी गुफा में सांप होना अच्छा है, पर मनुष्य का अविचारी होना अच्छा नहीं है ॥ ४६ ॥

अविचार सम्पूर्ण क्लेशों का अपना घर सम्पूर्ण सज्जनों द्वारा तिरस्कृत एवं समस्त दुर्गतियों की चरमसीमा स्वरूप अविचार का परित्याग कर देना चाहिए ॥ ४७ ॥

अतः अन्धकूप-रूप अर्थात् राग-द्वेष आदि में गिर रहे लोगों का विचार ही अवलम्बन है महात्मा पुरुष को सदा विचारशील होना चाहिए ॥ ४८ ॥

विचारपूर्वक स्वयं ही अपनी आत्मा से राग, द्वेषादि प्रवाह में गिर रहे अपनी आत्मा को हठात् स्थिरकर संसाररागरूपी सागर अपने मनरूपी मृग को उबारना चाहिए ॥ ४९ ॥

मैं कौन हूँ (क्या देह आदि ही मैं हूँ या उनसे विलक्षण हूँ यों त्वंपदार्थ का विचार) और यह भव-नामक दोष मुझे कैसे प्राप्त हुआ (यह संसाररूप दोष अधिष्ठान-ब्रह्म—में कैसे आ गया, तत्पदार्थका विचार) न्याय से इस प्रकार का परामर्श विचार कहा जाता है ॥ ५० ॥

अन्धे से भी अन्धा और मोह से अत्यन्त सघन पत्थर और अविचारशील दुर्बुद्धि का हृदय दुःख के (क्लेश के) लिए ही बनाया है अन्धा देखे बिना कुए में गिरता है, दुर्बुद्धि का मन देखकर भी मोहवश नरक में गिरता है। (पत्थर के पक्ष में) जड़ होने से अन्धे से भी अन्धा है और कठोर होने से मोह से भी अधिक सघन है ॥ ५१ ॥

हे राघव ! इस व्यवहारभूमि में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग को देख रहे विद्वानों को विचार के बिना उत्तम तत्त्व कुछ भी प्रतीत नहीं होता है ॥ ५२ ॥

विचार से तत्त्व का ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञान से आत्म विश्रान्ति (मन की निश्चलता) होती है। विश्रान्ति से मन में शान्ति प्राप्त होती है इससे अशेष दुःखों का विनाश होता है ॥ ५३ ॥

यतः पृथिवी में सभी लोग स्फुट विचारदृष्टि से ही वैदिक और लौकिक कर्मों में सफलता प्राप्त करते हैं, आत्मतत्त्व की उत्तमता भी विचार से ही प्राप्त होती हैं, अतः शम, दम आदि साधनसम्पत्ति से युक्त आप को उक्त विचारशीलता रुचिकर हो ॥ ५४ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में विचारनिरुपण नामक कुसुमलता का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

१५

श्रीवसिष्ठ उवाच

सन्तोषो हि परं श्रेयः सन्तोषः सुखमुच्यते ।
सन्तुष्टः परमभ्येति विश्राममरिसूदन ! ॥ १ ॥

सन्तोषैश्वर्यसुखिनां चिरविश्रान्तचेतसाम् ।
साम्राज्यमपि शान्तानां जरत्तृणलवायते ॥ २ ॥

सन्तोषशालिनी बुद्धी राम ! संसारवृत्तिषु ।
विषमास्वप्यनुद्विग्ना न कदाचन हीयते ॥ ३ ॥

सन्तोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
भोगश्रीरतुला तेषामेषा प्रतिविषायते ॥ ४ ॥

न तथा सुखयन्त्येताः पीयूषरसवीचयः ।
यथाऽतिमधुरास्वादः सन्तोषो दोषनाशनः ॥ ५ ॥

अप्राप्तवाञ्छामुत्सृज्य सम्प्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदी यः स सन्तुष्ट इहोच्यते ॥ ६ ॥

आत्मनाऽऽत्मनि सन्तोषं यावद्याति न मानसम् ।
उद्भवन्त्यापदस्तावल्लता इव मनोविलात् ॥ ७ ॥

सन्तोषशीतलं चेतः शुद्धविज्ञानदृष्टिभिः ।
भृशं विकासमायाति सूर्यांशुभिरिवाऽम्बुजम् ॥ ८ ॥

आशावैवश्यविवशे चित्ते सन्तोषवर्जिते ।
म्लाने वक्त्रमिवाऽऽदर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति ॥ ९ ॥

अज्ञानघनयामिन्या संकोचं न नराम्बुजम् ।
यात्यसावुदितो यस्य नित्यं संतोषभास्कर ॥ १० ॥

अकिञ्चनोऽप्यसौ जन्तुः साम्राज्यसुखमश्नुते ।
आधिव्याधिविनिर्मुक्तं सन्तुष्टं यस्य मानसम् ॥ ११ ॥

नाऽभिवाञ्छत्यसंप्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथाक्रमम् ।
यः सुसौम्यसमाचारः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥ १२ ॥

१५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:----

हे शत्रुनाशक ! सन्तोष परम श्रेय (मोक्षसुख) है और सन्तोष ही सुख कहा जाता है, क्योंकि सन्तुष्ट पुरुष परम विश्रान्ति सुख को प्राप्त करता है ॥ १ ॥

सन्तोषरूपी ऐश्वर्य से सुखी तथा चिरकाल से विश्रान्त शान्त पुरुषों को विशाल साम्राज्य भी पुराने तिनके के टुकड़ा-सा प्रतीत होता है ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! सन्तोष-शालिनी बुद्धि दारिद्र्य, विषम सांसारिक व्यवहार में भी उद्वेग-रहित रहती है अतः कभी भी सुख से विरहित नहीं होती है ॥ ३ ॥

सन्तोषरूपी अमृत के पान से तृप्त शान्त पुरुष हुए हैं, उनको यह अतुल विषयभोगसम्पत्ति प्रतिकूल विष-सी लगती है ॥ ४ ॥

प्रचुर आनन्ददायक आस्वाद से युक्त दोषों का विनाशक सन्तोष जैसा सुख देता है, वैसा सुख ये अमृत-रस की लहरें नहीं देतीं हैं ॥ ५ ॥

अप्राप्त वस्तु की आशङ्का का त्याग करने, वस्तु के प्राप्त होने पर भी (उसके मिथ्या होने के कारण उसकी प्राप्ति से होने वाले हर्ष आदि के अभाव के कारण) समता को प्राप्त और जिसमें कभी खेद और हर्ष नहीं देखे गये, ऐसा पुरुष इस संसार में सन्तुष्ट कहा जाता है ॥ ६ ॥

जब तक मन स्वतः ही आत्मा में ही रमण नहीं करता है तब तक मनरूपी बिल से लता के समान विविध आपत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं ॥ ७ ॥

सूर्य की किरणों से जल में स्थित कमल के अतिशय विकास के समान शुद्धविज्ञान दृष्टि से सन्तोष से शीतल चित्त अतिशय ऐनक में विकसित होता है ॥ ८ ॥

जैसे म्लान मुख प्रतिबिम्बित नहीं होता है, वैसे ही आशा की परवशता से व्याकुल तथा सन्तोषशून्य चित्त में ज्ञान प्रतिबिम्बित नहीं होता ॥ ९ ॥

जिस मनुष्यरूपी कमल के विकास के लिए सन्तोष-रूपी सूर्य का नित्य उदय रहता है वह मनुष्यरूपी कमल अज्ञानरूपी घनान्धकार युक्त रात्रि से सङ्कुचित नहीं होता है ॥ १० ॥

जिसका आधि और व्याधि से सर्वथा मुक्त मन सन्तुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होता हुआ भी साम्राज्य-सुख का भोग करता है ॥ ११ ॥

अप्राप्त विषय की अभिलाषा नहीं करता है प्राप्त सुख और दुःख का ही भोग करता है और जगत् को आनन्द देने वाले सदाचार से युक्त रहता है वह पुरुष सन्तुष्ट कहा जाता है ॥ १२ ॥

सन्तुष्टिपरतृप्तस्य महतः पूर्णचेतसः ।
क्षीराब्धेरिव शुद्धस्य मुखे लक्ष्मीर्विराजते ॥ १३ ॥
पूर्णतामलमाश्रित्य स्वात्मन्येवाऽऽत्मना स्वयम् ।
पौरुषेण प्रयत्नेन तृष्णां सर्वत्र वर्जयेत् ॥ १४ ॥
सन्तोषामृतपूर्णस्य शान्तशीतलया धिया ।
स्वयं स्थैर्यं मनो याति शीतांशोरिव शाश्वतम् ॥ १५ ॥
सन्तोषपुष्टमनसं भृत्या इव महर्द्धयः ।
राजानमुपतिष्ठन्ति किङ्करत्वमुपागताः ॥ १६ ॥
आत्मनैवाऽऽत्मनि स्वस्थे सन्तुष्टे पुरुषे स्थिते ।
प्रशाम्यन्त्याधयः सर्वे प्रावृषीवाऽऽशु पांसवः ॥ १७ ॥
नित्यं शीतलया राम ! कलङ्कपरिभिन्नया ।
पुरुषः शुद्धया वृत्त्या भाति पूर्णतयेन्दुवत् ॥ १८ ॥
समतासुन्दरं वक्त्रं पुरुषस्याऽवलोकयन् ।
तोषमेति यथा लोको न तथा धनसंचयैः ॥ १९ ॥
समतया मनया गुणशालिनां
पुरुषराडिह यः समलङ्कृतः ।
तममलं प्रणमन्ति नभश्चरा
अपि महामुनयो रघुनन्दन ! ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे सन्तोषनिरूपणं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥१५॥

सन्तोष से अत्यन्त तृप्त पूर्ण चित्त वाले और क्षीर-सागर के समान शुद्ध महापुरुष के मुख पर सदा लक्ष्मी विराजमान रहती है ॥ १३ ॥

अपनी आत्मा में आत्मा से ही निरतिशयानन्दरूप पूर्णता का अनुभव कर पौरुष प्रयत्न से सम्पूर्ण विषयों की तृष्णा का त्याग कर देना चाहिए ॥ १४ ॥

शान्त और शीतल बुद्धि से चन्द्रमा के समान सन्तोष रूप अमृत से पूर्ण मनुष्य का मन सदा स्वयं एकरूपता अर्थात् स्थिरता को प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

सन्तोष से सर्वथा पूर्ण हृदय वाले राजा के पास विपुल ऐश्वर्य मृत्यु के समान वैदूर्य की प्राप्ति के लिए लिए आते हैं, अर्थात् जैसे सन्तुष्ट शुद्ध हृदय वाले राजा के पास मृत्यु स्वयं उपस्थित हैं ॥ १६ ॥

जैसे वर्षा ऋतु में धूलिकण स्वयं शीघ्र शान्त हो जाते हैं, वैसे ही अपनी आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट स्वस्थ पुरुष में सम्पूर्ण मानसिक व्यथाएं शान्त हो जाती हैं ॥ १७ ॥

हे राम ! पुरुष नित्य शीतल और कलङ्क से शून्य शुद्ध वृत्तिरूपी पूर्णता से चन्द्रमा के समान शोभित होता है ॥ १८ ॥

जैसे पुरुष समता से सुन्दर पुरुष के मुख को देखकर सन्तुष्ट होता है, वैसे ही धन के संचय से सन्तुष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥

हे रघुनन्दन ! समतारूपी ज्ञान से विभूषित गुण शालियों में उत्कृष्ट पुरुष श्रेष्ठ की आकाशचारी महा-मुनि गण भी वन्दना करते हैं ॥ २० ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में सन्तोषनिरूपण नामक कुसुमलता का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥१५॥

१६

वसिष्ठ उवाच

विषेशेण महाबुद्धे ! संसारोत्तरणे नृणाम् ।
सर्वत्रोपकरोतीह साधुः साधुसमागमः ॥ १ ॥
साधुसङ्गतरोर्जातं विवेककुसुमं सितम् ।
रक्षन्ति ये महात्मानो भाजनं ते फलश्रियः ॥ २ ॥

१६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

हे महामते ! इस लोक में श्रेष्ठ साधु समागम मनुष्यों का संसारसागर से पार करने में विशेष रूप से सभी जगह अर्थात् सभी अवस्था में उपकार करता है ॥ १ ॥

साधुसङ्गतिरूपी वृक्ष से उत्पन्न हुए विवेकरूपी सफेद फूल की जो महात्मा रक्षा करते हैं, वे मोक्षफल स्वरूप सम्पत्ति के भाजन होते हैं ॥ २ ॥

शून्यमाकीर्णतामेति मृतिरप्युत्सवायते ।
आपत्संपदिवाऽऽभाति विद्वज्जनसमागमे ॥ ३ ॥
हिममापत्सरोजिन्या मोहनीहारमारुतः ।
जयत्येको जगत्यस्मिन्साधुः साधुसमागमः ॥ ४ ॥
परं विवर्धनं बुद्धेरज्ञानतरुशातनम् ।
समुत्सारणमाधीनां विद्धि साधुसमागमम् ॥ ५ ॥
विवेकः परमो दीपो जायते साधुसंगमात् ।
मनोहरोज्ज्वलो नूनमासेकादिव गुच्छकः ॥ ६ ॥
निरपायां निराबाधां निर्वृतिं नित्यपीवरीम् ।
अनुत्तमां प्रयच्छन्ति साधुसङ्गविभूतयः ॥ ७ ॥
अपि कष्टतरां प्राप्तैर्दशां विवशतां गतैः ।
मनागपि न संत्याज्या मानवैः साधुसंगतिः ॥ ८ ॥
साधुसंगतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः ।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ॥ ९ ॥
यः स्नातः शीतसितया साधुसंगतिगङ्गया ।
किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥१०॥
नीरागाश्छिन्नसन्देहा गलितग्रन्थयोऽनघ ! ।
साधवो यदि विद्यन्ते किं तपस्तीर्थसंग्रहैः ॥ ११ ॥
विश्रान्तमनसो धन्याः प्रयत्नेन परेण हि ।
दरिद्रेणैव मणयः प्रेक्षणीया हि साधवः ॥ १२ ॥
सत्समागमसौन्दर्यशालिनी धीमतां मतिः ।
कमलेवाऽप्सरोवृन्दे सर्वदैव विराजते ॥ १३ ॥
तेनाऽमलविचारस्य पदस्याऽग्रावचूलिता ।
प्रथिता येन धन्येन न त्यक्ता साधुसंगतिः ॥ १४ ॥
विच्छिन्नग्रन्थयस्तज्ज्ञाः साधवः सर्वसंमताः ।
सर्वोपायेन संसेव्यास्ते ह्युपाया भवाम्बुधौ ॥ १५ ॥

विद्वान् पुरुषों का समागम होने पर आत्मीय जन और धन से शून्य दुःखपूर्ण स्थान भी धन जन से परिपूर्ण हो जाता है, मृत्यु भी उत्सव में परिणत हो जाती है और आपत्तियों की तरह मालूम होती हैं ॥ ३ ॥

हे राम ! पुरुष नित्य शीतल और कलङ्क से शून्य शुद्ध वृत्तिरूपी पूर्णता से चन्द्रमा के समान शोभित होता है ॥ १८ ॥

इस संसार में आपत्तिरूपी कमलनी के लिए हेमन्त ऋतु-स्वरूप और मोहरूपी कुहरे के लिए वायु-स्वरूप श्रेष्ठ साधुसमागम ही एकमात्र सर्वोत्कृष्ट है ॥ ४ ॥
साधुसमागम बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाला, अज्ञानरूपी वृक्ष का उच्छेद करने वाला और मानसिक व्याथाओं को दूर करने वाला समझें ॥ ५ ॥

उद्यान को सींचने से फल-फूलों के गुच्छे की प्राप्ति के समान साधुसङ्गम मनोहर और निर्मल विवेकरूपी परम दीप को करने वाला होता है ॥ ६ ॥

सज्जन समागम ऐश्वर्य नित्य बढ़ने वाले अविनाशी और बाध रहित उत्तम सुख को देने वाली होती है ॥ ७ ॥

बड़ी से बड़ी आपत्ति की होने पर कितनी ही बड़ी से बड़ी पराधीनता की प्राप्ति होंने पर भी मनुष्यों को क्षण भर के लिए भी साधु-सङ्गति का याग नहीं करना चाहिए ॥ ८ ॥

साधुसङ्गति सन्मार्ग की दीपक है और हृदयान्धकार को दूर करने वाली ज्ञानरूपी सूर्य की प्रभा है ॥ ९ ॥

जिसने शीतल और स्वच्छ साधुसङ्गतिरूपी गङ्गा में स्नान कर लिया है, उसको दानों से, तीर्थो से, तपस्याओं से और यज्ञों की क्या आवश्यकता है ॥ १० ॥

हे निष्पाप ! जिनके राग नष्ट हो गये हैं, सन्देह कट चुके हैं एवं भवग्रन्थि नष्ट हो चुकी हैं, यदि ऐसे साधु पुरुष विद्यमान हैं, तो तप और तीर्थ की क्या आवश्यकता है ? ॥ ११ ॥

जिनका चित्त विश्रान्तिसुख से परिपूर्ण है, ऐसे धन्य साधु पुरुषों का जैसे दरिद्र पुरुष मणियों को बड़े प्रेम से देखते हैं, वैसे ही बड़े प्रयत्न से करना चाहिए ॥ १२ ॥

सज्जन समागमरूपी चारुता से सम्पन्न मनीषियों की मति, अप्सराओं के समूह में अपनी सर्वोत्कृष्ट सुन्दरता से समन्वित लक्ष्मी के समान सदा विराजमान रहती है ॥ १३ ॥

जिस धन्य पुरुष ने साधुसंगति का परित्याग नहीं किया, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है वह लोगों में ब्रह्म की प्राप्ति से अपनी शिरोभूषणता सर्वोत्कृष्टता प्रसिद्धि कर लेता है ॥ १४ ॥

जिनकी अज्ञान अर्थात् तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास की ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो गई है, उन ब्रह्मज्ञानी एवं सर्वसम्मत साधुओं की दान, सम्मान, सेवा आदि भी प्रयत्नों से सेवा करनी चाहिए, क्योंकि वे लोग भवसागर में डूबे हुए लोगों के तारण के उपाय हैं ॥ १५ ॥

त एते नरकाग्नीनां संशुष्केन्धनतां गताः ।
यैर्दृष्टा हेलया सन्तो नरकानलवारिदाः ॥ १६ ॥
दारिद्र्यं मरणं दुःखमित्यादिविषयो भ्रमः ।
संप्रशाम्यत्यशेषेण साधुसंगमभेषजैः ॥ १७ ॥
सन्तोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा ।
एत एव भवाम्भोधावुपायास्तरणे नृणाम् ॥ १८ ॥
सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमा गतिः ।
विचारः परमं ज्ञानं शमो हि परमं सुखम् ॥ १९ ॥
चत्वार एते विमला उपाया भवभेदने ।
यैरभ्यस्तास्त उत्तीर्णा मोहवारिभवार्णवात् ॥ २० ॥
एकस्मिन्नेव वै तेषामभ्यस्ते विमलोदये ।
चत्वारोऽपि किलाऽभ्यस्ता भवन्ति सुधियां वर ॥ २१ ॥
एकोऽप्येकोऽपि सर्वेषामेषां प्रसवभूरिह ।
सर्वसंसिद्धये तस्माद् यत्नेनैकं समाश्रयेत् ॥ २२ ॥
सत्समागमसन्तोषविचाराः सुविचारितम् ।

जिन लोगों ने नरकरूपी अग्नि को बुझाने के लिए जल बरसाने वाले मेघस्वरूप सन्तों को जो तिरस्कार की दृष्टि से देखा है वे नरकरूपी अग्नि की सूखी लकड़ी के समान हैं ॥ १६ ॥

दरिद्रता, मृत्यु, दुःख आदि विषय भ्रम साधुसङ्गति रूपी औषधि से समूल नष्ट हो जाते हैं ॥ १७ ॥

सन्तोष सत्संगति, विचार और शान्ति ये ही संसार-सागर से पार करने के मानव के लिए साधन हैं ॥ १८ ॥

सन्तोष सर्वश्रेष्ठ लाभ है, सत्संगति परम गति है, विचार परम ज्ञान है और शम परम सुख है ॥ १९ ॥

संसार के समूल विनाश के लिए ये ही चार निर्मल साधन हैं, इनका जिन्होंने अभ्यास किया है वे मोहरूपी जल से पूर्ण संसारसागर को पार कर जाते हैं ॥ २० ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ ! इनमें से निर्मल उदय बुद्धि एक का अभ्यास करने पर भी शेष चारों का अभ्यास हो जाता है ॥ २१ ॥

एक-एक भी इन सबकी उत्पत्ति स्थान है, अतः सबकी सिद्धि के लिए एक का भी प्रयत्नपूर्वक आश्रयण करना चाहिए ॥ २२ ॥

तरङ्गों से शून्य प्रशान्त सागर में बड़े-बड़े जहाज बिना किसी आयास के बड़ी सावधानी से प्रवृत्त होते हैं ॥ २३ ॥

जैसे कल्पवृक्ष के आश्रय में स्थित पुरुष को लौकिक सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही विचार, सन्तोष,

प्रवर्तन्ते शमस्वच्छे वाहनानीव सागरे ॥ २३ ॥
विचारसन्तोषशमसत्समागमशालिनि ।
प्रवर्तन्ते श्रियो जन्तौ कल्पवृक्षाश्रिते यथा ॥ २४ ॥
विचारशमसत्सङ्गसन्तोषवति मानवे ।
प्रवर्तन्ते प्रपूर्णेन्दौ सौन्दर्याद्या गुणा इव ॥ २५ ॥
सत्सङ्गसन्तोषशमविचारवति सन्मतौ ।
प्रवर्तन्ते मन्त्रिवरे राजनीव जयश्रियः ॥ २६ ॥
तस्मादेकतमं नित्यमेतेषां रघुनन्दन ! ।
पौरुषेण मनो जित्वा यत्नेनाऽभ्याहरेद् गुणम् ॥ २७ ॥
परं पौरुषमाश्रित्य जित्वा चित्तमतङ्गजम् ।
यावदेको गुणो नाऽन्तस्तावन्नाऽस्त्युत्तमा गतिः ॥ २८ ॥
पौरुषेण प्रयत्नेन दन्तैर्दन्तान् विचूर्णयेत् ।
यावन्नाऽभिनिविष्टं ते मनो राम ! गुणार्जने ॥ २९ ॥
देवो भवाऽथ यक्षो वा पुरुषः पादपोऽथवा ।
तावत्तव महाबाहो ! नोपायोऽस्तीह कश्चन ॥ ३० ॥

शान्ति और साधुसङ्गति से सुशोभित पुरुष को ज्ञान-सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥ २४ ॥

जैसे (परिपूर्ण) पूर्णिमा में सौन्दर्य आदि गुण रहते हैं, वैसे ही विचार, शान्ति, सत्संगति और सन्तोष से युक्त मनुष्य में प्रसाद आदि गुण आ जाते हैं ॥ २५ ॥

सज्जन समागम सन्तोष शान्तिमय विचार से सम्पन्न श्रेष्ठ मन्त्रियों के विचार से सम्पन्न राजा को विजय-लक्ष्मी की प्राप्ति के समान ही सत्संग, सन्तोष, शान्ति और विचार से युक्त सद्बुद्धि सम्पन्न पुरुष को ज्ञान-सम्पत्ति की प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

हे रघुकुलनन्दन ! पुरुषकार से मन को नित्य अपने वश में कर इनमें से एक गुण का भी प्रयत्नपूर्वक उपार्जन करना ही चाहिए ॥ २७ ॥

पौरुष के द्वारा अपने चित्तरूपी हाथी को अपने वश में कर जब तक चित्त में एक गुण की प्राप्ति नहीं की जाती है तब तक उत्तम गति नहीं हो सकती है ॥ २८ ॥

हे राम ! यदि आप का चित्त गुणों के उपार्जन के लिए अभिनिवेश युक्त नहीं होगा तो प्रयत्नपूर्वक दाँतों को दाँतों से पीसना चाहिए अर्थात् गुणार्जन के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए ॥ २९ ॥

हे महाबाहु ! आप चाहे देवता हो या यक्ष हो पुरुष हो अथवा वृक्ष हो पर जब तक आप का चित्त गुणों के उपार्जन के लिए आग्रहवान् न होगा तब तक उत्तम गति की प्राप्ति का कोई उपाय नहीं है ॥ ३० ॥

एकस्मिन्नेव फलदे गुणे बलमुपागते ।
क्षीयन्ते सर्व एवाऽऽशु दोषा विवशचेतसः ॥ ३१ ॥
गुणे विवृद्धे वर्धन्ते गुणा दोषजयप्रदाः ।
दोषे विवृद्धे वर्धन्ते दोषा गुणविनाशनाः ॥ ३२ ॥
मनोमोहवने ह्यस्मिन् वेगिनी वासनासरित् ।
शुभाशुभबृहत्कूला नित्यं वहति जन्तुषु ॥ ३३ ॥
सा हि स्वेन प्रयत्नेन यस्मिन्नेव निपात्यते ।
कूले तेनैव वहति यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ३४ ॥
पुरुषयत्नजवेन मनोवने
शुभतटानुगतां क्रमशः कुरु ।
वरमते ! निजभावमहांनदी-
महह तेन मनागपि नोह्यसे ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे सदाचारनिरूपणं नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

फलदायक एक ही गुण के दृढ़ होने पर दोषासक्त चित्त वाले के सभी दोष शीघ्र ही क्षीण हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

गुणों की अभिवृद्धि होने पर दोषों पर विजय पाने वाले गुणों की वृद्धि होती है और दोषों के बढ़ने पर गुणविनाशक दोष ही बढ़ते हैं ॥ ३२ ॥

इस मनोमोह स्वरूप वन में, सब प्राणियों में वेगवती वासनारूपी नदी सदा बहती रहती है, पुण्य और पाप उसके बड़े-बड़े तट हैं ॥ ३३ ॥

अपने प्रयत्न से वासनारूपी नदी को जिस तट की ओर प्रवाहित किया जाता है उसी तट से वह बहती है, अतः आप को जैसा अभीष्ट हो, वैसा करें ॥ ३४ ॥

हे श्रेष्ठमते, आप अपनी वासनारूपी नदी को मन रूपी वन में क्रमशः पुण्य तट की ओर प्रवृत्त करें ऐसा करने से आप पापप्रवाह से नाम मात्र नहीं बहाये जायँगे ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीयश्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में सदाचारनिरूपण नामक कुसुमलता का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

१७

वसिष्ठ उवाच

एवमन्तर्विवेको यः स महानिह राघव ! ।
योग्यो ज्ञानगिरः श्रोतुं राजेव नयभारतीम् ॥ १ ॥
अवदातोऽवपातस्य विचारस्य महाशयः ।
जडसङ्गोज्झितो योग्यः शरदिन्दोर्यथा नभः ॥ २ ॥
त्वमेतयाऽखण्डितया गुणलक्ष्म्या समाश्रितः ।
मनोमोहहरं वाक्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ ३ ॥
पुण्यकल्पद्रुमो यस्य फलभारानतः स्थितः ।
मुक्तये जायते जन्तोस्तस्येदं श्रोतुमुद्यमः ॥ ४ ॥

१७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

हे राघव ! इस प्रकार के अन्तः-विवेक से सम्पन्न व्यक्तिश्रेष्ठ है । वह नीतिशास्त्र के सुनने के अधिकारी राजा के समान ज्ञान-मयी वाणी को सुनने के योग्य है ॥ १ ॥

जैसे मेघ के संसर्ग से विमुक्त आकाश शरत्काल के चन्द्रमा के योग्य होता है, वैसे ही मूर्खों के संग से रहित निर्मल उदार पुरुष निर्दोष ज्ञान के प्रकाशक विचार का योग्य पात्र है ॥ २ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, आप इन अखण्डित गुणगणों से परिपूर्ण हैं, अतः आप आगे कहे जाने वाले मानस अज्ञान के विनाशक इस वाक्य को सुने ॥ ३ ॥

जिसका फलों के भार से खूब झुका हुआ पुण्यरूपी कल्पवृक्ष है, वही पुण्यात्मा जीव मुक्ति के लिए इसको सुनने के लिए उद्यत होता है ॥ ४ ॥

पावनानामुदाराणां परबोधैकदायिनाम् ।
वचसां भाजनं भूत्यै भव्यो भवति नाऽधमः ॥ ५ ॥
मोक्षोपायाभिधानेयं संहिता सारसंमिता ।
त्रिंशद्द्वे च सहस्राणि ज्ञाता निर्वाणदायिनी ॥ ६ ॥
दीपे यथा विनिद्रस्य ज्वलिते संप्रवर्तते ।
आलोकोऽनिच्छतोऽप्येवं निर्वाणमनया भवेत् ॥ ७ ॥
स्वयं ज्ञाता श्रुता वाऽपि भ्रान्तिशान्त्यैकसौख्यदा ।
आप्रेक्ष्य वर्णिता साधो यथा स्वर्गतरङ्गिणी ॥ ८ ॥
यथा रज्ज्वामहिभ्रान्तिर्विनश्यत्यवलोकनात् ।
तथैतत्प्रेक्षणाच्छान्तिमेति संसारदुःखिता ॥ ९ ॥
युक्तियुक्तार्थवाक्यानि कल्पितानि पृथक्पृथक् ।
दृष्टान्तसारसूक्तानि चाऽस्यां प्रकरणानि षट् ॥ १० ॥
वैराग्याख्यं प्रकरणं प्रथमं परिकीर्तितम् ।
विरागो वर्धते येन सेकेनेव मरौ तरुः ॥ ११ ॥

उक्त गुणों से सम्पन्न पुरुष ही मुक्ति के लिए अति पवित्र अन्य को बोध देने वाले उदार बचनों का उचित अधिकारी भव्य पुरुष ही होता है, अधम पुरुष नहीं ॥ ५ ॥

मोक्ष के साधन का प्रतिपादन करने वाली और सारभूत अर्थ से परिपूर्ण मोक्षदायिनी यह संहिता में बत्तीस हजार श्लोक वाली जानी जायगी ॥ ६ ॥

जैसे गहरी नींद में सोये हुए पुरुष के सामने दिये के जलने पर सोये हुए पुरुष को प्रकाश की अभिलाषा नहीं रहने पर भी प्रकाश होता है, वैसे ही इस संहिता के श्रवण से, इच्छा न होने पर भी, मोक्ष का साधन ज्ञान अवश्य प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

जैसे स्वयं दर्शन करके जानी गई और दूसरे के मुख से सुनी गई श्रीगंगाजी विविध योनियों में भ्रमण के हेतुभूत पाप और ताप की शान्ति द्वारा शीघ्र सुख देने वाली होती है वैसे ही स्वयं परिशीलन करके जानी गई या दूसरे के मुख से सुख से सुनी गई यह संहिता अज्ञान का विनाश कर शीघ्र सुखप्रद होती है ॥ ८ ॥

जैसे रस्सी के अवलोकन से रस्सी में हुई सर्पभ्रान्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही इस संहिता के अवलोकन से (परिशीलन से) संसार दुःख नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

इस संहिता में युक्तिसङ्गत अर्थ वाले वाक्यों से परिपूर्ण, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ दृष्टान्तों से भरी हुई आख्यायिकाओं से युक्त तथा पृथक्-पृथक् रचे गये छः प्रकरण हैं ॥ १० ॥

उनमें वैराग्य नामक पहला प्रकरण कहा गया है, जैसे निर्जल स्थान में भी जल के सेक से वृक्ष बढ़ता है, वैसे ही उक्त वैराग्यप्रकरण से वैराग्य बढ़ता है ॥ ११ ॥

[अनुबन्धेन सहितं दिष्टतत्त्वनिरूपणम्]

सार्धं सहस्रं ग्रन्थस्य यस्मिन् हृदि विचारिते ।
प्रकाशाच्छुद्धतोदेति मणाविव सुमार्जिते ॥ १२ ॥
मुमुक्षुव्यवहाराख्यं ततः प्रकरणं कृतम् ।
सहस्रमात्रं ग्रन्थस्य युक्तिग्रथेन सुन्दरम् ॥ १३ ॥
स्वभावो हि मुमुक्षूणां नराणां यत्र वर्ण्यते ।
अथोत्पत्तिप्रकरणं दृष्टान्ताख्यायिकामयम् ॥ १४ ॥
सप्तग्रन्थसहस्राणि विज्ञानप्रतिपादकम् ।
जागती द्रष्टृदृश्यश्रीरहंत्वमितिरूपिणी ॥ १५ ॥
अनुत्पन्नैवोत्थितेव यत्रेति परिवर्ण्यते ।
यस्मिन्श्रुते जगदिदं श्रोताऽन्तर्बुध्यतेऽखिलम् ॥ १६ ॥
सास्मद्युष्मत्सविस्तारं सलोकाकाशपर्वतम् ।
पिण्डग्रहविनिर्मुक्तं निर्भित्तिकमपर्वतम् ॥ १७ ॥

(डेढ़ हजार श्लोकों से उक्त वैराग्यप्रकरण में चारों अनुबन्ध दिखाये गये हैं, और भाग्यतत्त्व का दैव का विशेषरूप से निरूपण किया गया है) जिसके विचार करने से विषयों में दोष का ज्ञान होने से हृदय में ऐसी शुद्धता प्राप्त होती है जैसे कि मणि को सान में चढ़ाने पर प्रकाश से उसमें स्वच्छता उत्पन्न होती है ॥ १२ ॥

वैराग्य-प्रकरण के बाद मुमुक्षु-व्यवहार नामक प्रकरण की रचना की गई है, इसमें एक हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण युक्तियों से बड़ा सुन्दर है। इसमें मुमुक्षु पुरुषों के स्वभाव वर्णित हैं ॥ १३ ॥

इसके बाद दृष्टान्त और आख्यायिकाओं से भरे हुए ज्ञानप्रद उत्पत्तिप्रकरण की रचना की गई है ॥ १४ ॥

उस सात हजार श्लोक वाले प्रकरण में जगत् की 'अहम्' 'इदम्' स्वरूपवाली द्रष्टृ और दृश्य के भेद की विचित्रतारूप सम्पत्ति वास्तव में उत्पन्न न होने पर भी भ्रम से उत्पन्न हुई-सी प्रतीत होती है, ऐसा वर्णन किया गया है। जिस प्रकरण के सुनने पर श्रोता युष्मत् और अस्मत् से युक्त, जिनका अर्थ भिन्न प्रतीत होता है ॥ १५-१६ ॥

उन त्वंपद और अहंपद की एकार्थता के प्रतिपादक अनन्त ब्रह्माण्डों के विस्तार से युक्त तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में लोकालोक पर्वत और आकाश से युक्त इस चराचर सम्पूर्ण जगत् को अपने हृदय में मूर्तद्रव्यतासे रहित, भेद

पृथ्व्यादिभूतरहितं संकल्प इव पत्तनम् ।
स्वप्नोपलम्भभावाभं मनोराज्यवदाततम् ॥ १८ ॥
गन्धर्वनगरप्रख्यमर्थशून्योपलम्भनात् ।
द्विचन्द्रविभ्रमाभासं मृगतृष्णाम्बुवर्तनम् ॥ १९ ॥
नौयानलोलशैलाभं सत्यलाभविवर्जितम् ।
चित्तभ्रमपिशाचाभं निर्बीजमपि भासुरम् ॥ २० ॥
कथार्थप्रतिभासाभं व्योममुक्तावलीनिभम् ।
कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथाऽम्भसि ॥ २१ ॥
यथा नभसि नीलत्वमसदेवोत्थितं सदा ।
अभित्तिरङ्गरहितमुपलब्धिमनोहरम् ॥ २२ ॥
स्वप्नो वा व्योम्नि वा चित्रमकर्तृचिरभासुरम् ।
अवह्निरेव वह्नित्वं धत्ते चित्रानलो यथा ॥ २३ ॥
दधात्येवं जगच्छब्दरूपार्थमसदात्मकम् ।

शून्य, अतएव पर्वत आदि पदार्थों से रहित, पृथिवी आदि भूतों से रहित, सङ्कल्पात्मक नगर के समान असत्, स्वप्न में जो मनोमय पदार्थ दिखाई देते हैं, उनके समान मनोराज्य के समान स्थित, अर्थशून्य होने के कारण गन्धर्वनगर के सदृश दो चन्द्रमाओं की भ्रान्ति के सदृश, मृगतृष्णा में जल की भ्रान्ति के समान अवगत हैं ॥ १७-१९ ॥

नाव आदि के चलने से पर्वत, वृक्ष आदि के चलन-भ्रम के समान सत्य पुरुषार्थ से शून्य, चित्त के मोह से कल्पित पिशाच के समान निर्बीज होने पर भी (जगत् की बीज माया के मिथ्या होने से और आत्मा के निर्विकार होने से बीज—रहित होने पर भी) प्रकाशमान कथा के अर्थ के प्रतिभास के समान आकाश में कल्पित मुक्तावली के समान सुवर्ण में कटकत्व=कङ्कणत्व, जल में तरङ्गत्व और आकाश में नीलिमा के समान असत् ही यह सदा उत्पन्न हुआ है, भीत्ति=दीवाल=जिस पर चित्र बनाया जाता है और विविध रँगों के बिना केवल प्रतीतिमात्र से पूर्व अनुभव के स्मरणमात्र से मनोहर एवं कर्ता से रहित चित्र जैसे स्वप्न में या आकाश में चिर-काल तक प्रतीत होता है जैसे चित्रलिखित अग्नि अग्नि न होने पर भी अग्नि के समान प्रतीत होती है, वैसे ही मिथ्याभूत यह प्रपञ्च जगत् शब्द के अनुरूप अर्थ को—गच्छति=जाता है अर्थात् विचार में नहीं रहता इस आशय को धारण करता है। तरङ्गों में भ्रान्ति से कल्पित नील कमलों की माला के समान, पहले देखे गये स्मृति-पथ में आरूढ हो रहे नृत्य के समान मन में उत्थित, जैसे

तरङ्गोत्पलमालाभं दृष्टनृत्यमिवोत्थितम् ॥ २४ ॥
चक्रचीत्कारपूर्णस्य जलराशिमिवोद्यतम् ।
शीर्णपत्रं भ्रष्टनष्टं ग्रीष्मे वनमिवाऽरसम् ॥ २५ ॥
मरणव्यग्रचित्ताभं शिलागृहगुहास्पदम् ।
अन्धकारगुहैकैकनृत्तमुन्मत्तचेष्टितम् ॥ २६ ॥
प्रशान्ताज्ञाननीहारं विज्ञानशरदम्बरम् ।
समुत्कीर्णमिव स्तम्भे चित्रं भित्ताविवोदितम् ॥ २७ ॥
पङ्कादिवाऽभिरचितं सचेतनमचेतनम् ।
ततः स्थितिप्रकरणं चतुर्थं परिकल्पितम् ॥ २८ ॥
त्रीणि ग्रन्थसहस्राणि व्याख्यानाख्यायिकामयम् ।
इत्थं जगदहंभावरूपस्थितिमुपागतम् ॥ २९ ॥
द्रष्टृदृश्यक्रमं प्रौढमित्यत्र परिकीर्तितम् ।
दशदिङ्मण्डलाभोगभासुरोऽयं जगद्भ्रमः ॥ ३० ॥

चित होकर सोये हुए पुरुष या कवि को चक्रवाक के (चकवा पक्षी के) चीत्कार से पूर्ण आकाश को देखने पर यह तालाब है, ऐसी उत्प्रेक्षा होती है, वैसे ही यह जगत् भी उत्प्रेक्षित है। ग्रीष्म ऋतु में पत्तों से शून्य, सूखे हुए और सारहीन अतएव छाया, शोभा आदि से रहित और फल आदि की समृद्धि से शून्य वन के समान, मरण के समय में व्यग्र हुए लोगों के मन के समान (मरण के समय व्यग्र हुए लोगों का मन भ्रम और मूर्च्छा से युक्त और अस्थिर रहता है), पर्वतों की गुफाओं की तरह (गुफाएँ अन्धकार से भरी हुई, शून्य और भयङ्कर होती हैं, वैसे ही यह भी है), अन्धकारपूर्ण गुफा में प्रत्येक के नृत्य के सदृश उन्मत्त पुरुषों की चेष्टाओं के सदृश, भीति में लिखे हुए चित्र एवं खम्भे में खोदी हुई मूर्ति के समान तथा पङ्क आदि से बनायी गई प्रतिमा के समान अधि-करण की पृथक्सत्ता से शून्य है, ऐसा अवगत होता है। परमार्थ दृष्टि से यह प्रशान्त और अज्ञानरूपी कुहरे से शून्य ज्ञानरूपी शरत्काल के आकाश के सिवा अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् अज्ञान के जगत् के दूर होने पर यह नित्य निर्विशेष अभिन्न निमित्तोपादान सच्चिदानन्द परब्रह्म में पर्यवसित हो जाता है ॥२०-२८॥

अनन्तर चौथा स्थितिप्रकरण कहा गया है तीन हजार श्लोक वाले उस प्रकरण में प्रपञ्च और उसके अधिष्ठान अस्मत् तत्त्व का वास्तविक प्रतिपादन किया गया है और कथाएँ प्रचुर मात्रा में हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भाव को ग्रहण कर जगत्-रूप से और अहं-रूप से स्थिति को प्राप्त किया है, ऐसा

इत्थमभ्यागतो वृद्धिमिति तत्रोच्यते चिरम् ।
उपशान्तिप्रकरणं ततः पञ्चसहस्रकम् ॥ ३१ ॥
पञ्चमं पावनं प्रोक्तं युक्तिसन्ततिसुन्दरम् ।
इदं जगदहं त्वं च स इति भ्रान्तिरुत्थिता ॥ ३२ ॥
इत्थं संशाम्यतीत्यस्मिन्कथ्यते श्लोकसंग्रहैः ।
उपशान्तिप्रकरणे श्रुते शाम्यति संसृतिः ॥ ३३ ॥
प्रभ्रष्टचित्रसेनेव किञ्चिल्लभ्योपलम्भना ।
शतांशशिष्टा भवति संशान्तभ्रान्तरूपिणी ॥ ३४ ॥
अन्यसंकल्पचित्तस्था नगरश्रीरिवाऽसती ।
अलभ्यवस्तुपार्श्वस्थस्वप्नयुद्धचिरारवा ॥ ३५ ॥
शान्तसंकल्पमत्ताभ्रभीषणाशनिशब्दवत् ।
विस्मृतस्वप्नसंकल्पनिर्माणनगरोपमा ॥ ३६ ॥

स्थितिप्रकरण में कहा गया है, दस दिशाओं के मण्डल की विशालता से देदीप्यमान यह जगद्भ्रम चिरकाल से इस प्रकार से परिवर्तित्त हुआ; यह बात इस प्रकरण में भली-भाँति समझाई गई है ॥ ३० ॥

तदनन्तर पाँच हजार श्लोकों से विरचित परम पवित्र तथा विविध युक्तियों से अतिरमणीय पाँचवाँ उपशान्तिप्रकरण कहा गया है। उक्त प्रकरण में यह (जगत्) मैं, तुम और वह यह उत्पन्न भ्रान्ति इस प्रकार शान्त होती है, यह बात अनेक श्लोकों से कही गई है। उपशान्तिप्रकरण के सुनने पर यह संसार जीवन्मुक्तिक्रम से क्षीण हो कर अंशतः अवशिष्ट रहता है। जैसे जीर्ण-शीर्ण चित्रलिखित सेना कुछ,कुछ दिखाई देती है, वैसे ही शान्त हो भ्रमपूर्ण स्वरूप जिसका ऐसी यह संसृति शतांश शेष रह जाती है ॥ ३१-३४ ॥

यह संसार अन्य के सङ्कल्प से विरचित होने के कारण अन्य के चित्त में स्थित है अतएव मिथ्याभूत जिसमें सङ्कल्प करने वाले पुरुष के पास बैठे हुए अन्य पुरुष के स्वप्न के युद्ध और वादविवाद से कुछ भी धन आदि वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है ऐसी नगरश्री के समान हैं, मिथ्या होने के कारण संसार और उक्त नगरश्री दोनों समान हैं, अतः दूसरे की क्रिया और शब्द के अविषय ही हैं, जैसे स्वप्न देखने वाले दृष्टि से जैसे वह कुछ स्पष्ट दृश्य है, किन्तु सङ्कल्प करने वाले की दृष्टि से थोड़ा भी दृश्य पदार्थ नहीं होता है अत वह अपने आप शान्त हो जाता है वैसे ही यह संसार भी है ॥ ३५ ॥

उससे भी अधिक शान्ति का प्रकर्ष होने पर अदृश्य अवस्था से अन्त में यह संसार शान्त हुए सङ्कल्प से

भविष्यन्नगरोद्यानप्रसूवन्ध्यामलाङ्गिका ।
तस्या जिह्वोच्यमानोग्रकथार्थानुभवोपमा ॥ ३७ ॥
अनुल्लिखितचित्रस्य चित्रव्याप्तेव भित्तिभूः ।
परिविस्मर्यमाणार्थकल्पनानगरीनिभा ॥ ३८ ॥
सर्वर्तुमदनुत्पन्नवनस्पन्दाऽस्फुटाकृतिः ।
भाविपुष्पवनाकारवसन्तरसरञ्जना ॥ ३९ ॥
अन्तर्लीनतरङ्गौघसौम्यवारिसरित्समा ।
निर्वाणाख्यं प्रकरणं ततः षष्ठमुदाहृतम् ॥ ४० ॥
शिष्टो ग्रन्थः परीमाणं तस्य ज्ञानमहार्थदः ।
बुद्धे तस्मिन्भवेच्छ्रेयो निर्वाणं शान्तकल्पनम् ॥ ४१ ॥
अचेत्यचित्प्रकाशात्मा विज्ञानात्मा निरामयः ।
परमाकाशकोशाच्छः शान्तसर्वभवभ्रमः ॥ ४२ ॥

कल्पित गजराज के समान निरङ्कुश मेघ के भयङ्कर शब्द के समान, जिस नगर का स्वप्न द्वारा निर्माण या सङ्कल्प द्वारा निर्माण के समान है ॥ ३६ ॥

भावी बनाये जाने वाले नगर-बाटिका में बच्चा पैदा करने वाली बाँझ स्त्री के समान शून्यस्वरूप से युक्त, उक्त वन्ध्या स्त्री की जिह्वा से कही जा रही अपने पुत्र के युद्ध आदि की वीररसपूर्ण कथा के अर्थ के अनुभव के समान है ॥ ३७ ॥

जिस घर में चित्र नहीं लिखा गया उस घर की चित्रों से भरी हुई भित्ति के समान विस्मृत हो रही अर्थ-शून्य कल्पना से कल्पित नगरी के समान है ॥ ३८ ॥

फूलों के वन की आकृति-स्वरूप वसन्त से रसरञ्जित तथा सम्पूर्ण ऋतुओं से युक्त होने पर भी अनुत्पन्न वन के स्पन्दन के समान अस्पष्ट आकार वाला है ॥ ३९ ॥

तरङ्गमालाओं के स्वयं में समा जाने से अतिशय निश्चल जल से परिपूर्ण नदी के समान प्रतीत होता है इसके बाद निर्वाण नामक छठा प्रकरण कहा गया है ॥ ४० ॥

शेष ग्रन्थ उसके समान परिणाम का है (बत्तीस हजार श्लोकों में से ऊपर गिने गये साढ़े सत्रह हजार श्लोकों से शेष साढ़े चौदह हजार उसका परिणाम है) यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् (दुर्लभ) पदार्थ का प्रकाशक है ॥ ४१ ॥

निर्विषय चित् प्रकाशस्वरूप विज्ञानात्मा, आधि-व्याधियों से शून्य परमाकाश के समान स्वच्छ, उसके ज्ञान से मूलविद्या के नाश से सभी भ्रम शान्त हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

निर्वापितजगद्यात्रः कृतकर्तव्यसुस्थितः ।
समस्तजनतारम्भवज्रस्तम्भो नभोनिभः ॥ ४३ ॥
विनिगीर्णयथासंख्यजगज्जालातितृप्तिमान् ।
आकाशीभूतनिःशेषरूपालोकमनस्कृतिः ॥ ४४ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वहेयादेयदृशोज्झितः ।
सदेह इव निर्देहः ससंसारोऽप्यसंसृतिः ॥ ४५ ॥
चिन्मयो घनपाषाणजठरापीवरोपमः ।
चिदादित्यस्तपँल्लोकानन्धकारोपरोपमम् ॥ ४६ ॥
परप्रकाशरूपोऽपि परमान्ध्यमिवाऽऽगतः ।
रुद्धसंसृतिदुर्लीलः प्रक्षीणाशाविषूचिकः ॥ ४७ ॥
नष्टाहङ्कारवेतालो देहवानकलेवरः ।
कस्मिंश्चिद्रोमकोटचग्रे तस्येयमवतिष्ठते ।
जगल्लक्ष्मीर्महामेरोः पुष्पे क्वचिदिवाऽलिनी ॥ ४८ ॥
परमाणौ परमाणौ चिदाकाशः स्वकोटरे ।
जगल्लक्ष्मीसहस्राणि धत्ते कृत्वाऽथ पश्यति ॥ ४९ ॥
विततता हृदयस्य महामते-
र्हरिहराब्जजलक्षशतैरपि ।
तुलनमेति न मुक्तिमतो यतः
प्रविततास्ति निरुत्तमवस्तुनः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे ग्रन्थसंख्यादिवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥१७॥

सम्पूर्ण जगत् की यात्राओं के शान्त हो जाने से तथा कृतकृत्य होने से वह स्वस्थ हो जाता है जैसे हीरे का खम्भा अपने में किसी प्रकार के विकार के बिना ही अपने में प्रतिबिम्बित मानव और उसकी चेष्टाओं का आधार होता है, वैसे ही आकाश तुल्य जीव भी सबका आश्रय होता है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जालों के निगलने से अतिशय तृप्ति को प्राप्ति हो जाती है ॥ ४३-४४ ॥

इन्द्रियों के भोग और मानसिक भोग के शान्त हो जाने से देहयुक्त होने पर भी देह रहित-सा संसार में रहने पर भी असंसारी हो जाता है ॥ ४५ ॥

निविड़ प्रस्तर के हृदय के समान छिद्र रहित अन्य वस्तुएँ भी जिसकी उपमा है इस प्रकार का वह चैतन्य-रूप सूर्य अपने अज्ञान से कल्पित लोकों को आत्माकार वृत्ति से खूब प्रदीप्त हुए अपने प्रकाश से दीप्त करता हुआ भी (प्रकाशरूप होता हुआ भी) दृश्य पदार्थों के न होने से ही उनके प्रकाश के अविषय में निविड हुए अन्धकाररूप पत्थर के सदृश परम अन्धकार को दूसरे का प्रकाशक होने पर भी उसकी जन्ममरणरूप परम अन्धकार को प्राप्त कर सांसारीक दुष्ट लीलाएँ शान्त हो जाती हैं और आशारूपी हैजा समाप्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

अहङ्कारूपी वेताल विहीन वह शरीरी रहते हुए भी विदेह रहता है । महान् सुमेरु के किसी पुष्प विशेष में भ्रमरी के समान उस पुरुष के रोम कोटि में किसी अग्र भाग में यह जगत् का ऐश्वर्य अवस्थित रहता है। अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्ति इस भव के ऐश्वर्य को सर्वथा तुच्छ समझ कर उसके लिए आग्रही नहीं रहता है ॥ ४८ ॥

अपने में कल्पित चिदाकाश में प्रति परमाणु में हजारों ब्रह्माण्ड सभी को स्वयं धारण करता है और उन्हें देखता है ॥ ४९ ॥

हे महामते ! विदेह पुरुष के हृदय की विशालता अर्थात् अनन्तता का मापन करोड़ों हरि, हर आदि भी करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं सत्ता से, अनन्तता से और आनन्दस्वरूपता से उससे बढ़कर उत्कृष्ट कोई पदार्थ ही नहीं है, उसकी अपरिच्छिन्नता पारमार्थिक ही है, अतः उस असीम की तुलना की ही नहीं जा सकती है। अर्थात् परमात्मा स्वरूप ब्रह्म से तादाम्य जीवन्मुक्त पुरुष अपरिछिन्न, अनन्त आनन्द आदि स्वरूप से समृद्ध हो जाता है, अतः आकाश आदि से उसकी उपमा या परि-छिन्न, ईश्वर से उसका माप सम्भव नहीं है ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में ग्रन्थसंख्यादिवर्णन नामक कुसुमलता का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

१८

वसिष्ठ उवाच

अस्यां वा चित्तमात्रायां प्रबोधः संप्रवर्तते ।
बीजादिव सतो व्युप्तादवश्यंभावि सत्फलम् ॥ १ ॥
अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम् ।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥ २ ॥
युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि ।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥ ३ ॥
योऽस्मत्तातस्य कूपोऽयमिति कौपं पिबत्यपः ।
त्यक्त्वा गाङ्गं पुरःस्थं तं कोऽनुशास्त्यतिरागिणम् ॥४॥
यथोषसि प्रवृत्तायामालोकोऽवश्यमेष्यति ।
अस्यां वा चित्तमात्रायां सुविवेकस्तथैष्यति ॥ ५ ॥
श्रुतायां प्राज्ञवदनाद् बुद्ध्वाऽऽन्तं स्वयमेव च ।
शनैः शनैर्विचारेण बुद्धौ संस्कार आगते ॥ ६ ॥
पूर्वं तावदुदेत्यन्तर्भृशं संस्कृतवाक्यता ।
शुद्धयुक्ता लतेवोच्चैर्या सभास्थानभूषणम् ॥ ७ ॥
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी ।
सा यया स्नेहमायान्ति राजानो अमरा अपि ॥ ८ ॥

१८

जिस प्रकार निश्चित समय में (अच्छे खेत में) बोये गये बीज अवश्य ही अच्छे फल से सम्पन्न होते हैं, वैसे ही इस योगवासिष्ठ को हृदय में सन्निविष्ट करने पर ज्ञान का निश्चय ही सञ्चार होता है अर्थात् प्रकृष्ट ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान प्राप्त होता है ॥ १ ॥

यदि पुरुष के द्वारा निर्मित युक्तियों के द्वारा तत्त्व का बोधक शास्त्र हैं तो उचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले न्यायप्रिय व्यक्ति के द्वारा उसी का अवलम्बन करना चाहिए और ऋषिदृष्ट अर्थात् युक्तियों के द्वारा प्रबोध देने वाले आर्ष=वेद का भी उसके सम्मुख परित्याग कर देना चाहिए।

आशय यह है कि ज्ञान की प्राप्ति ही उद्देश्य है, उस उद्देश्य की सिद्धि पुरुष प्रणीत शास्त्रों की युक्ति के चिन्तन से भी हो जाती है तो व्यक्ति को युक्ति समन्वित उस शास्त्र का अवलम्बन करना चाहिए। आर्ष वेद अर्थात् ऋषि दृष्ट वेद को भी उसके सम्मुख त्याग करना चाहिए। ज्ञानार्जन की सम्पत्ति वेद के द्वारा सामान्य व्यक्ति का सम्भव नहीं है और आनार्ष=पुरुष से निर्मित शास्त्र से ज्ञान की प्राप्ति नहीं करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में कभी भी प्रबुद्ध नहीं हो सकेगा, इसी का उचित निर्देश यहाँ प्रस्तुत है, वेद विरुद्ध युक्ति समर्थित पौरुषेय शास्त्र भी मनन के लायक है और उसके द्वारा भी ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए ॥ २ ॥

बालक के द्वारा युक्ति-युक्त विषयों का ग्रहण करना चाहिए। कमल योनि अर्थात् ब्रह्मा के भी वचन का तृण के समान परित्याग कर देना चाहिए ॥ ३ ॥

सामने स्थित गङ्गा के जल का परित्याग कर मेरे पिता ने इस कूप का निर्माण किया है इस आवेश से अतिशय रागी व्यक्ति कूप का ही जल पीता है, तो ऐसे व्यक्ति को कौन शिक्षा या उपदेश दे सकता है। अर्थात् आर्षवेद का ही अध्ययन करना है पुरुष प्रणीत शास्त्र का नहीं ऐसे व्यक्ति को कौन समझा सकता है, अर्थात्, ऐसे व्यक्ति को कभी भी ज्ञान नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

जैसे प्रातःकाल होने पर अवश्य ही प्रकाश होता है, वैसे ही इस शास्त्र के मनन-पूर्वक चित्त में अवस्थित करने मात्र से निर्मल विवेक की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

मनीषी के मुख से इस ग्रन्थ का आद्यन्त श्रवण कर और स्वयं सावधानी से विचार करने से ज्ञान का संस्कार बुद्धि में संलग्न होने पर अर्थात् प्राप्त होने पर उन्नत भूमि पर स्थित लता के समान अशुद्धि-रहित अर्थात् अतिशय शुद्ध संस्कृत वाक्यतापूर्ण में अन्तर्हृदय में उत्पन्न होती है। आशय यह है कि इसके अध्ययन करने से हृदय में शुद्ध संस्कार की प्राप्ति होती है और शुद्ध अन्तःकरण की सम्पत्ति होती है, निर्मल अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है ॥ ६-७ ॥

श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न परम दक्षता अर्थात् चतुरता उत्पन्न होती है, इस प्रज्ञा के उदय होने पर राजा और देवता गण भी प्रेम करते हैं ॥ ८ ॥

पूर्वापरज्ञः सर्वत्र नरो भवति बुद्धिमान् ।
पदार्थानां यथा दीपहस्तो निशि सुलोचनः ॥ ९ ॥
लोभमोहादयो दोषास्तानवं यान्त्यलं शनैः ।
धियो दिशः समासन्नशरदो मिहिका यथा ॥ १० ॥
केवलं समवेक्ष्यन्ते विवेकाध्यासनं धियः ।
न किञ्चन फलं धत्ते स्वाभ्यासेन विना क्रिया ॥ ११ ॥
मनः प्रसादमायाति शरदीव महत्सरः ।
परं साम्यमुपादत्ते निर्मन्दर इवार्णवः ॥ १२ ॥
निरस्तकालिमा रत्नशिखेवाऽस्ततमःपटा ।
प्रतिज्वलत्यलं प्रज्ञा पदार्थप्रविभागिनी ॥ १३ ॥
दैन्यदारिद्र्यदोषाढ्या दृष्टयो दर्शितान्तराः ।
न निकृन्तन्ति मर्माणि ससन्नाहमिवेषवः ॥ १४ ॥
हृदयं नाऽवलुम्पन्ति भीमाः संसृतिभीतयः ।
पुरःस्थितमपि प्राज्ञं महोपलमिवेषवः ॥ १५ ॥
कथं स्यादादिता जन्मकर्मणां दैवपौंस्त्वयोः ।
इत्यादिसंशयगणः शाम्यत्यह्नि यथा तमः ॥ १६ ॥
सर्वदा सर्वभावेषु संशान्तिरुपजायते ।
यामिन्यामिव शान्तायां प्रज्ञालोक उपागते ॥ १७ ॥
समुद्रस्येव गाम्भीर्यं धैर्यं मेरोरिव स्थितम् ।
अन्तः शीतलता चन्द्रोरिवोदेति विचारिणः ॥ १८ ॥
सा जीवन्मुक्तता तस्य शनैः परिणतिं गता ।
शान्ताशेषविशेषस्य भवत्यविषयो गिराम् ॥ १९ ॥

जैसे सुन्दर नेत्र वाला पुरुष रात में दीप को हाथ में लेकर पदार्थों को जान लेता है वैसे ही पूर्वापर विवेक सम्पन्न बुद्धिमान् पुरुष परमार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

लोभ मोह आदि बुद्धि के दोष धीरे-धीरे वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे शरद् ऋतु के आगमन पर दिशाओं में परिव्याप्त कुहरे समाप्त हो जाते हैं । अर्थात् बुद्धि निर्मल हो जाती है अज्ञान के नष्ट हो जाने से राग-द्वेष लोभ मोह काम क्रोध स्वयं विनष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

आप की बुद्धि निर्मल हो गई है, अब आप को केवल विवेकाभ्यास की आवश्यकता है । किन्तु स्वयं अभ्यास किये बिना कुछ भी फल नहीं देती है ॥ ११ ॥

शरत् काल में जैसे महान् सरोवर अतिशय निर्मल हो जाते हैं वैसे ही पूर्वोक्त विवेकाभ्यास से मन्दर पर्वत से रहित समुद्र के मन अतिशय प्रसन्न और क्षोभ–रहित हो जाता है ।

अर्थात् विवेक-सम्पन्न पुरुष को सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण नहीं रह जाता है, क्योंकि, अज्ञान कल्पित समझ उन्हें अतिशय तुच्छ समझता है और रस्सी में सर्प के समान अवास्तविक मानने से हृदय में उसकी प्राप्ति के लिए किसी प्रकार का उद्वेग न होने से हृदय अतिशय प्रसन्न विक्षोभ के कारण मन्दराचल के न रहने से समुद्र के समान चित्त शान्त हो जाता है । लक्ष्मी, अमृत आदि वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा से देव दानवों के द्वारा समुद्र क्षुब्ध किया जाता है वैसे भवसागर के प्रति अभिलाषा से ही चित्त-सागर विक्षुब्ध होता है ॥ १२ ॥

इस ग्रन्थ के मनन से व्यामोह रूपी कालिमा से रहित रत्न-स्वरूप दीप की शिखा से अन्धकार का नाश होने पर पदार्थों के विभाग से समृद्ध प्रज्ञा अतिशय प्रभा से समन्वित हो जाती है, अर्थात् इस शास्त्र के मनन और अनुरूप क्रिया के सम्पादन से अज्ञान और उसका कार्य विनष्ट होकर चित्त शुद्ध-बुद्ध हो जाता है ॥ १३ ॥

इस ग्रन्थ के मनन से दीनता दरिद्रतारूपी दोष से समृद्ध दृष्टियों विषयों की असारता का ज्ञान होने से उसी तरह हृदय को छेदन नहीं कर पाती है जैसे कवच से सन्नद्ध व्यक्ति को वाण राशि मर्म का छेदन नहीं कर पाती है ॥ १४ ॥

इस ग्रन्थ के अभ्यास से मनीषी को भव-भय सम्मुख उपस्थित होकर भी उसी तरह हृदय का छेदन नहीं कर पाते हैं जैसे विशाल पत्थर को वाण राशि छिन्न नहीं कर पाती है ॥ १५ ॥

अदृष्ट और पौरुष हेतु जन्म और कर्मों की आदिता कैसे रह सकती है । अर्थात् संसार में जन्म के प्रथम होने पर पौरुष की प्रधानता और कर्म के प्रथम होने पर दैव की प्रधानता कैसे रहेगी ? ये संशय दिन में अन्धकार के समान शान्त हो जाते हैं ॥ १६ ॥

रात के समाप्त होने के समान ज्ञानरूपी आलोक के प्राप्त होने पर अज्ञान के बिना सदा सभी पदार्थो में शान्ति (राग-द्वेष रूपी दोष क्षोभ नहीं होता है) हो जाती है ॥ १७ ॥

विचारशील पुरुष के हृदय में सागर के समान गम्भीरता, मेरु पर्वत के समान दृढ़ता और चन्द्रमा के समान शीतलता प्राप्त हो जाती है ॥ १८ ॥

भूमिका के क्रम से सम्पूर्ण भव की विशेषताओं के शान्त होने से प्राज्ञव्यक्ति की जीवन्मुक्ति दृढ़ हो जाती है, जिसे वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता है क्योंकि वह वाणी का अविषय है ॥ १९ ॥

सर्वार्थशीतला शुद्धा परमालोकदाऽस्य धीः ।
परं प्रकाशमायाति ज्योत्स्नेव शरदैन्दवी ॥ २० ॥
हृद्याकाशे विवेकार्के शमालोकिनि निर्मले ।
अनर्थसार्थकर्तारो नोद्यन्ति किल केतवः ॥ २१ ॥
शाम्यन्ति शुद्धिमायान्ति सौम्यास्तिष्ठन्ति सून्नते ।
अचञ्चले जले तृष्णाः शरदीवाऽभ्रमालिकाः ॥ २२ ॥
यत्किञ्चनकरी क्रूरा ग्राम्यता विनिवर्तते ।
दीनानना पिशाचानां लीलेव दिवसागमे ॥ २३ ॥
धर्मभित्तौ भृशं लग्नां धियं धैर्यधुरं गताम् ।
आधयो न विधुन्वन्ति वाताश्चित्रलतामिव ॥ २४ ॥
न पतत्यवटे ज्ञस्तु विषयासङ्गरूपिणि ।
कः किल ज्ञातसरणिः श्वभ्रं समनुधावति ॥ २५ ॥
सच्छस्त्रसाधुवृत्तानामविरोधिनि कर्मणि ।

सभी पदार्थों को शीतलता एवं अतिप्रकाशरूपता प्रदान करने वाली चन्द्रमा की चाँदनी जैसे शोभायमान होती है उसी प्रकार विचार-सम्पन्न व्यक्ति की प्रज्ञा अतिशय आलोक और सांसारिक विषयों को शीतलता प्रदान करती है अर्थात् अज्ञान के नाश से विषय की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति न होने से अप्राप्ति-जन्य संताप नहीं होता है ॥ २० ॥

हृदयरूपी आकाश में शमरूपी प्रकाशयुक्त विवेकरूप निर्मल सूर्य का उदय होने पर विविध अनर्थों के साधन धूमकेतु का कभी उदय नहीं होता है ॥ २१ ॥

शरद् ऋतु में जल प्रदान की कामना से रहित मेघ-मालाएँ जैसे स्वच्छ उन्नत आकाश में अवस्थित रहती है वैसे ही विषयों की तृष्णा से शून्य शान्त शुद्ध प्रज्ञा परम पद अवस्थित हो जाती है अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति से विवेकी को कुछ भी प्राप्ति की कामना नहीं रह जाती है ॥ २२ ॥

जैसे दिन होने पर पिशाचों की लीला की समाप्ति के समान ही दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष हीनता को सम्पन्न करने वाली क्रूर असलील वाणी भी निवृत्त हो जाती है ॥ २३ ॥

धर्मरूपी भित्त में भली-भाँनि संलग्न धैर्य की सीमा को संप्राप्त मनीषा=बुद्धि को मानस पीडाएँ अर्थात् चिन्ताएँ उसी तरह विचलित नहीं कर पाती हैं जैसे चित्र में लिखित लता को वायु कम्पित नहीं कर सकती है ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष विषयों की वासनारूपी आसक्ति के

रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे ॥ २६ ॥
जगतां कोटिलक्षेषु यावन्तः परमाणवः ।
तेषामेकैकशोऽन्तःस्थान्सर्गान्पश्यत्यसङ्गधीः ॥ २७ ॥
मोक्षोपायावबोधेन शुद्धान्तःकरणं जनम् ।
न खेदयति भोगौघो न चाऽऽनन्दयति क्वचित् ॥ २८ ॥
परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलाः ।
ये पतन्त्युत्पतन्त्यम्बुवीचिवत्तान् स पश्यति ॥ २९ ॥
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
कार्याण्येष प्रबुद्धोऽपि निष्प्रबुद्ध इव द्रुमः ॥ ३० ॥
दृश्यते लोकसामान्यो यथाप्राप्तानुवृत्तिमान् ।
इष्टानिष्टफलप्राप्तौ हृदयेनाऽपराजितः ॥ ३१ ॥
बुद्ध्वेदमखिलं शास्त्रं वाचयित्वा विविच्यताम् ।
अनुभूयत एवैतन्न तूक्तं वरशापवत् ॥ ३२ ॥

मोहगर्त में नहीं गिरता है जिसे मार्ग ज्ञात होगा वह गर्त की ओर क्यों दौड़ेगा ? ॥ २५ ॥

बुद्धि शास्त्र के अनुसार यथोचित कर्म में ही रमण करती है जैसे सच्चरित्रा स्त्री अन्तःपुर के प्राङ्गण में ही प्रसन्न रहती है ॥ २६ ॥

विषयों के प्रति असङ्गबुद्धि सम्पन्न पुरुष करोड़ों लाख विश्व में जितने परमाणु हैं, उनमें प्रत्येक ब्रह्माण्डों को अपने अन्तःकरण में ही देखता, क्योंकि उसे अघटित घटना पटीयसी माया की अत्यन्त पटुता का ज्ञान रहता है ॥ २७ ॥

मोक्ष के उपाय का ज्ञान रहने पर शुद्ध अन्तःकरण पुरुष को विविध भोग न क्लेश और न आनन्द ही देते हैं ॥ २८ ॥

प्रति परमाणु में जो सम्पूर्ण सर्गवर्ग असंकीर्ण होकर जलतरङ्गों के समान आविर्भाव और तिरोभाव प्राप्त करते हैं, पुरुष मात्र द्रष्टा रहता है ॥ २९ ॥

प्राप्त कार्यों के लिए वह द्वेष नहीं करता और इष्ट कार्यों की प्राप्ति की निवृत्त इच्छा ही करता है। कार्य को भली भाँति जानकर भी वह अनजान वृक्ष के समान रहता है ॥ ३० ॥

यदृच्छा लाभ से निर्वाह करनेवाला वह सर्वसाधारण लोगों के समान दिखाई देता है, इष्ट या अनिष्ट फल की प्राप्ति होनेपर भी उसके हृदय में विकृति नहीं होती हैं ॥ ३१ ॥

इस सम्पूर्ण शास्त्र को सुनकर और आपात दृष्टि से जानकर तात्पर्य का मननपूर्वक प्रत्येक श्लोक का विवे-

शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालङ्कारविभूषितम् ।
काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम् ॥ ३३ ॥
बुध्यते स्वयमेवेदं किञ्चित्पदपदार्थवित् ।
स्वयं वस्तु न वेत्तीदं श्रोतव्यं तेन पण्डितात् ॥ ३४ ॥
यस्मिञ्छ्रुते मते ज्ञाते तपोध्यानजपादिकम् ।
मोक्षप्राप्तौ नरस्येह न किञ्चिदुपयुज्यते ॥ ३५ ॥
एतच्छास्त्रघनाभ्यासात्पौनःपुन्येन वीक्षणात् ।
पाण्डित्यं स्यादपूर्वं हि चित्तसंस्कारपूर्वकम् ॥ ३६ ॥
अहं जगदिति प्रौढो द्रष्टृदृश्यपिशाचकः ।
पिशाचोऽर्कोदयेनेव स्वयं शाम्यत्ययत्नतः ॥ ३७ ॥
भ्रमो जगदहं चेति स्थित एवोपशाम्यति ।
स्वप्नमोहः परिज्ञात इव नो भ्रमयत्यलम् ॥ ३८ ॥
यथा सङ्कल्पनगरे पुंसो हर्षविषादिता ।
न बाधते तथैवाऽस्मिन् परिज्ञाते जगद्भ्रमे ॥ ३९ ॥
चित्रसर्पः परिज्ञातो न सर्पभयदो यथा ।
दृश्यसर्पः परिज्ञातस्तथा न सुखदुःखदः ॥ ४० ॥
परिज्ञानेन सर्पत्वं चित्रसर्पस्य नश्यति ।
यथा तथैव संसारः स्थित एवोपशाम्यति ॥ ४१ ॥
सुमनःपल्लवामर्दे किञ्चिद्व्यतिकरो भवेत् ।
परमार्थपदप्राप्तौ न तु व्यतिकरोऽल्पकः ॥ ४२ ॥
गच्छत्यवयवः स्पन्दं सुमनःपत्रमर्दने ।
इह धीमात्ररोधस्तु नाऽङ्गावयवचालनम् ॥ ४३ ॥

चन करें इसे ब्रह्मा आदि देवताओं के शाप और वरदान के समान कथन मात्र न समझें इसका फल निश्चित होता है ॥ ३२ ॥

सरल सुबोध अलङ्कृत सुन्दर दृष्टान्तों से विषयों का प्रतिपादक यह रसमय काव्य है। अर्थात् रसमय अलङ्कार समन्वित होने से यह काव्य सरल बोधगम्य है, अतः इसकी शिक्षा से कर्तव्य मार्ग में दृढ़ निष्ठा प्राप्त होती है ॥ ३३ ॥

सामान्य रूप में पद और पदार्थ का ज्ञाता व्यक्ति भी इसे अनायास स्वयं वस्तु की अवगति कर लेता है जो पुरुष स्वयं नहीं समझ पाता हो तो उसे विद्वान् के मुख से श्रवण करना चाहिए ॥ ३४ ॥

इसके सुनने, मनन करने और ज्ञान करने पर मनुष्य को मोक्षप्राप्ति के लिए तपस्या, ध्यान, जप आदि किसी का भी उपयोग नहीं होता है ॥ ३५ ॥

इस शास्त्र का भली-भाँति अभ्यास और पुनः पुनः अनुशीलन से चित्तसंस्कारपूर्वक अपूर्व पाण्डित्य की प्राप्ति होती है अर्थात् अन्य शास्त्रों के मनन से प्रज्ञा की प्राप्ति होने पर भी चित्त संस्कारपूर्वक पाण्डित्य की प्राप्ति इसी शास्त्र के मनन से होती है ॥ ३६ ॥

सूर्य का उदय होने से जैसे पिशाच बिना प्रयास के ही स्वयं शान्त हो जाता है अर्थात् अज्ञान के कारण पिशाच भ्रम समाप्त हो जाता है वैसे ही अहं का द्रष्टृत्व और जगत् का दृश्यत्व रूप पिशाच स्वयं शान्त होकर शुद्धबुद्ध आत्मस्वरूप रह जाता है। कल्पित द्रष्टत्व के शमन से दृश्यत्व पिशाचात्मक जगत् प्रपञ्च भी शान्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

मैं और जगत् इस प्रकार का अज्ञान अर्थात् भ्रम नष्ट हो जाता है, केवल अधिष्ठान ही रह जाता है, जैसे जागने पर स्वप्नमोह के जाननेपर स्वप्न भ्रम पैदा करने में समर्थ नहीं होता है ॥ ३८ ॥

सङ्कल्प द्वारा निर्मित नगर है, इसके ज्ञाता पुरुष को हर्ष और विषाद पीडित जनित पीडा और आनन्द उत्पन्न नहीं होता हैं वैसे ही जगत् भ्रम स्वरूप कल्पित है-यह जानने पर उससे कष्ट नहीं होता है, अर्थात् अज्ञान के द्वारा कल्पित जगत् प्रपञ्च इस प्रकार के ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को जगत् से कष्ट नहीं होता है ॥ ३९ ॥

यह सर्प चित्रलिखित है, (वास्तविक सर्प नहीं है) यह जानने पर चित्रसर्प भयप्रद नहीं होता है, वैसे ही दृश्य जगत्रूपी सर्प का परिज्ञान होने पर यह सुखद अथवा दुःखद नहीं होता है अर्थात् अधिष्ठान रस्सी के ज्ञान से सर्प-भ्रम से भय नहीं होता है, क्योंकि वह जानता है कि सर्प अज्ञान के द्वारा रस्सी में कल्पित है ॥ ४० ॥

यह चित्रलिखित सर्प है, ऐसा ज्ञान होने से चित्र सर्प की सर्पता नष्ट हो जाती है, वैसे ही संसार रहते हुए भी उसकी यथार्थ स्वरूपता का ज्ञान होने से संसार शान्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

फूलों और पल्लवों के (नवीन पत्तों के) मलने में (नख और सुई आदि से उन्हें छेदने में) कुछ प्रयत्न करना पड़ता है, पर परमपद प्राप्ति में कुछ भी यत्न नहीं करना पड़ता है ॥ ४२ ॥

फूल की पांखुरी के मर्दन में भी अङ्गों की अर्थात् शरीर के अवयव अङ्गुलियों की क्रिया करनी पड़ती है परमार्थपदप्राप्ति में परमार्थ ज्ञान में बुद्धि के व्यापार की भी शान्ति हो जाती है, अवयव की क्रिया का तो प्रश्न ही नहीं उठता है ॥ ४३ ॥

सुखासनोपविष्टेन यथासम्भवमश्नता ।
भोगजालं सदाचारविरुद्धेषु न तिष्ठता ॥ ४४ ॥
यथाक्षणं यथादेशं प्रविचारयता सुखम् ।
यथासम्भवसत्सङ्गमिदं शास्त्रमथेतरत् ॥ ४५ ॥
आसाद्यते महाज्ञानबोधः संसारशान्तिदः ।
न भूयो जायते येन योनियन्त्रप्रपीडनम् ॥ ४६ ॥
एतावत्यपि येऽभीताः पापा भोगरसे स्थिताः ।
स्वमातृविष्ठाक्रिमयः कीर्तनीया न तेऽधमाः ॥ ४७ ॥
शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया ।
विचार्यते यथार्थोऽयं यथा च परिभाषया ॥ ४९ ॥
येनेहाऽननुभूतेऽर्थे दृष्टेनाऽर्थेन बोधनम् ।
बोधोपकारफलदं तं दृष्टान्तं विदुर्बुधाः ॥ ५० ॥
दृष्टान्तेन विना राम ! नाऽपूर्वार्थोऽवबुध्यते ।

सुखकर आसन से बैठे हुए, यथायोग्य भोगों का भोग करते हुए, सदाचार विरुद्ध भोग-मार्ग से विमुख रहते हुए समय और देश के अनुसार यथासम्भव इस शास्त्र और सत्सङ्ग का अनुष्ठान करने पर संसार प्रपञ्च को शमन करके महान् ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे मातृयोनि के आवागमन की पीड़ा की शान्ति हो जाती है अर्थात् पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता है ॥ ४४-४६ ॥

ऐसे शास्त्र के रहने पर भी जो अधम क्लेशों से भयभीत न होकर भोगरस में आसक्त हैं वह माता के मल का कीड़ ही है, उनका नाम भी नहीं लेना चाहिए ॥ ४७ ॥

हे राघव ! मेरे द्वारा कथित इस शास्त्र को आप सुनें, यह शास्त्र विवेकबुद्धि से गृहीत होनेवाला सारतर ज्ञान का विस्तार करने वाला है ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार से इस शास्त्र को सुना जाता है और जिस परिभाषा या संकेत से यथार्थरूप से जाना जाता है, उस अवतरणिका को आप सुनें ॥ ४९ ॥

जिसके द्वारा पूर्व अननुभूत अर्थात् पूर्व से अज्ञान अर्थ का ज्ञान कराया जाता हैं उस बोध के उपकारक फल को देने वाले पदार्थ को दृष्टान्त शब्द से कहा जाता है, अर्थात् ज्ञान अर्थ के सादृश्य के द्वारा अदृष्ट का निर्णायक दृष्टान्त है ॥ ५० ॥

जैसे रात्रि में दीपक के विना रात में घर में रखे हुए घट, पट पदार्थो का परिज्ञान नहीं होता है वैसे ही दृष्टान्त के बिना अननुभूत अर्थ का परिज्ञान नहीं होता है ॥ ५१ ॥

यथा दीपं विना रात्रौ भाण्डोपस्करणं गृहे ॥ ५१ ॥
यैर्यैः काकुत्स्थ ! दृष्टान्तैस्त्वं मयेहाऽवबोध्यसे ।
सर्वे सकारणास्ते हि प्राप्यन्तु सदकारणम् ॥ ५२ ॥
उपमानोपमेयानां कार्यकारणतोदिता ।
वर्जयित्वा परं ब्रह्म सर्वेषामेव विद्यते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मोपदेशे दृष्टान्तो यस्तवेह हि कथ्यते ।
एकदेशसधर्मत्वं तत्रान्तः परिगृह्यते ॥ ५४ ॥
यो यो नामेह दृष्टान्तो ब्रह्मतत्त्वावबोधने ।
दीयते स स बोद्धव्यः स्वप्नजातो जगद्गतः ॥ ५५ ॥
एवं सति निराकारे ब्रह्मण्याकारवान् कथम् ।
दृष्टान्त इति नोद्यन्ति मूर्खवैकल्पिकोक्तयः ॥ ५६ ॥
अन्यासिद्धविरुद्धादिदृग्दृष्टान्तप्रदूषणैः ।
स्वप्नोपमत्वाज्जगतः समुदेति न किञ्चन ॥ ५७ ॥

हे काकुत्स्थ, जिन जिन दृष्टान्तों से मैं आप को ज्ञान कराता हूँ वे किसी कारण से उत्पन्न हैं, अर्थात् मिथ्या हैं, ज्ञातव्य (परमार्थ सत्य) कारण रहित नित्य है॥ ५२ ॥

परब्रह्म को छोड़कर सभी उपमान एवं उपमेय स्वरूप पदार्थ राशियों की उत्पत्ति के कोई कारण विद्यमान है अर्थात् ब्रह्म ही अनादि अनन्त एकरस पारमार्थिक वस्तु है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मोपदेश में जो दृष्टान्त मेरे द्वारा कहा गया है उसमें एक देश का साधर्म्य लेकर अर्थ का निर्मण किया जाता है । ॥ ५४ ॥

प्रकृत में ब्रह्मतत्त्व के बोधन जो दृष्टान्त दिये जाते हैं वे स्वप्न में प्रतीत पदार्थ के समान मिथ्याभूत जगत् के अन्तर्गत है ॥ ५५ ॥

ऐसी स्थिति में निराकार ब्रह्म में साकार दृष्टान्त कैसे उपपन्न होता है, अर्थात् दृष्टान्त उपपन्न नहीं हो सकती है—यह मूर्खो का वैल्पिक कथन है अर्थात् ब्रह्म सद्वितीय है या अद्वितीय ? यदि सद्वितीय है, तो सिद्धान्त की हानि होगी । यदि अद्वितीय है, तो ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी, इस प्रकार के विकल्प ठीक नहीं है गुरु, शास्त्र आदि के अभाव से उत्पन्न मूर्खजनों की उक्तियों को अवसर नहीं मिलता ॥ ५६ ॥

असिद्ध, विरुद्ध आदि दृष्टान्त-दोषों से, जगत् के स्वप्नतुल्य होने के कारण, कुछ भी दोष नहीं होता है ॥ ५७ ॥

अवस्तु पूर्वापरयोर्वर्तमाने विचारितम् ।
यथा जाग्रत्तथा स्वप्नः सिद्धमाबालमागतम् ॥ ५८ ॥

स्वप्नसङ्कल्पनाध्यानवरशापौषधादिभिः ।
यथार्था इह दृष्टान्तास्तद्रूपत्वाज्जगत्स्थितेः ॥ ५९ ॥

मोक्षोपायकृता ग्रन्थकारेणाऽन्येऽपि ये कृताः ।
ग्रन्थास्तेष्वियमेवैका व्यवस्था बोध्यबोधने ॥ ६० ॥

स्वप्नाभत्वं च जगतः श्रुते शास्त्रेऽवबोध्यते ।
शीघ्रं न पार्यते वक्तुं वाक्किल क्रमवर्तिनी ॥ ६१ ॥

स्वप्नसङ्कल्पनाध्याननगराद्युपमं जगत् ।
यतस्त एव दृष्टान्तास्तस्मात्सन्तीह नेतरे ॥ ६२ ॥

अकारणे कारणता यद्बोधायोपमीयते ।
न तत्र सर्वसाधर्म्यं सम्भवत्युपमाश्रमैः ॥ ६३ ॥

पूर्वकाल में, उत्तरकाल में और जगत् के वर्तमान काल में भी विचार करने पर अवस्तुभूत ही है, दोनों में मिथ्यात्वरूप से साम्य है ये बातें बालकों तक के समझ में आ सकती हैं ॥ ५८ ॥

स्वप्न में सङ्कल्प, ध्यान, वरदान, शाप और औषध आदि यथार्थ फल की प्राप्ति देखी जाती है इसी प्रकार जगत् के पदार्थों के लिए स्वप्न का दृष्टान्त यथार्थ है ॥ ५९ ॥

मोक्ष के उपायों की सूचना देनेवाले ग्रन्थकार महामुनि वाल्मीकि जी ने अन्य जिन ग्रन्थों की रचना की है, उनमें भी दृष्टान्तों के द्वारा बोध्य के साम्य के बोधन में यही एक व्यवस्था प्रसिद्ध है जिस अंश में साम्य संभव हो उसी अंश के साम्यज्ञापन की व्यवस्था की गई है ॥ ६० ॥

इस शास्त्र के सुनने पर जगत् स्वप्न के आभास के समान ज्ञात होता है, उसका बोध सहसा नहीं कराया जा सकता है क्योंकि वाणी अपना कार्य क्रमशः ही करती हैं ॥ ६१ ॥

यतः स्वप्न, सङ्कल्प और ध्यान से कल्पित नगर के समान यह जगत् है इसलिए उन्हीं को दृष्टान्त स्वरूप यहां दिया गया है, अन्य दृष्टान्त नहीं दिये गये हैं ॥ ६२ ॥

अकारण अर्थात् अनादि में जो बोध के कारणतात्मक वस्तु की उपमा दी जाती है अर्थात् बोध के लिए अपरिणामी ब्रह्म में जो परिणामी सुवर्ण आदि का दृष्टान्त दिया जाता है, वहाँ पर उपमा के प्रयत्नों से सर्वांश में सादृश्य नहीं हो सकता है ॥ ६३ ॥

उपमेयस्योपमानादेकांशेन सधर्मता ।
अङ्गीकार्याऽवबोधाय धीमता निर्विवादिना ॥ ६४ ॥
अर्थावलोकने दीपादाभामात्रादृते किल ।
न स्थानतैलवर्त्यादि किञ्चिदप्युपयुज्यते ॥ ६५ ॥
एकदेशसमर्थत्वाद्उपमेयावबोधनम् ।
उपमानं करोत्यङ्ग दीपोऽर्थप्रभया यथा ॥ ६६ ॥
दृष्टान्तस्यांऽशमात्रेण बोध्यबोधोदये सति ।
उपादेयतया ग्राह्यो महावाक्यार्थनिश्चयः ॥ ६७ ॥
न कुतार्किकतामेत्य नाशनीया प्रबुद्धता ।
अनुभूत्यपलापान्तैरपवित्रैर्विकल्पितैः ॥ ६८ ॥
विचारणादनुभवकारिवैरिणोऽपि
वाङ्मयं त्वनुगतमस्मदादिषु ।
स्त्रियोक्तमप्यपरमार्थवैदिकं
वचो वचःप्रलपनमेव नाऽऽगमः ॥ ६९ ॥

अतिशयतार्किक बुद्धि से शून्य प्रज्ञाशी पुरुष को बोध के लिए उपमान से उपमेय का एक अंश में ही साधर्म्य स्वीकार करना चाहिए ॥ ६४ ॥

पदार्थों की प्रकाशता में प्रकाशमात्रस्वरूप दीपक से अतिरिक्त (दिया), तेल, बत्ती आदि किसी का उपयोग नहीं होता है। प्रकाश में ही उपमान का साधर्म्य उपमेय के साथ दिया जाता है एकदेश में ही सादृश्य होने से उपमान उपमेय का ज्ञान कराता है ॥ ६५-६६ ॥

दृष्टान्त के आंशिक बोध्य को लेकर बोध का उदय होने पर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों के अर्थ के निश्चय में उपादेयरूप से ग्रहण करना चाहिए ॥ ६७ ॥

कुतार्किकता का अवलम्बन कर अनुभव का अपलाप करने वाले अपवित्र विकल्पों से प्रबोध का नाश नहीं करना चाहिए, ऐसा करने पर तर्क जाल में ही जीवन यापन करते हुए परमार्थ ज्ञान से दूर ही रहना पड़ेगा, क्योंकि, तर्क से किसी वस्तु की स्थापना नहीं हो सकती है ॥ ६८ ॥

आपाततः विरोधी एवं जीवन के अज्ञान जनित सुख का विरोधी होने से शत्रु स्वरूप होने पर भी वेद-वाक्य मनन करने से निरतिशय आनन्द आत्मरूप परम-पुरुषार्थ का अनुभव कराने वाला है, अतः हम लोगों के लिए आगम प्रमाण सभी प्रमाणों में उत्तम और ग्राह्य है। अपारिमार्थिक वैदिक आगम प्रमाण शून्य वचन परम प्रिय स्त्री का भी हो, तो वह अनेक अनर्थों के साधन होने से प्रलापमात्र ही है, वह न आगम वेद है, और न आप्त पुरुष का वाक्य है ॥ ६९ ॥

अस्माकमस्ति मतिरङ्ग तयेति सर्व-
शास्त्रैकवाक्यकरणं फलितं यतोऽयः ।
प्रातीतिकार्थमपशास्त्रनिजाङ्गपुष्टा-
त्संवेदनादितरदस्ति ततः प्रमाणम् ॥ ७० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे दृष्टान्तनिरूपणं नाम अष्टादशः सर्गः ॥१८॥

हे तात ! यतः हम लोगों के द्वारा प्रदत्त ज्ञान से अपरोक्ष परमार्थ तत्त्व की अनुभूति होती है, अतः सभी शास्त्रों का एक महावाक्यार्थ के बोधक तात्पर्य विषय स्वरूप अर्थ का प्रकाश होता है, अन्य शास्त्रो के द्वारा अर्थात् न्याय सांख्य आदि शास्त्रों से प्रातीतिक अर्थात् अज्ञान प्रयुक्त लब्ध विषय का कुतर्कों से समर्थन होता है, इसलिए व्यावहारिक संवेदन अर्थात् अनुभूति के आधार पर ही अन्य शास्त्रों का तर्क विचार से समर्थित प्रमाणों से वस्तु का समर्थन किया जाता है, वे परमार्थ वस्तु की साक्षात्कारात्मक अनुभूति को साधक न होने से वे शास्त्र प्रमाण नहीं है—यही एकमात्र आगमाश्रित शास्त्र प्रमाण है ॥ ७० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में दृष्टान्तनिरूपण नामक कुसुमलता का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

१९

श्रीवसिष्ठ उवाच

विशिष्टांशसमर्थत्वमुपमानेषु गृह्यते ।
को भेदः सर्वसादृश्ये तूपमानोपमेययोः ॥ १ ॥
दृष्टान्तबुद्धावेकात्मज्ञानशास्त्रार्थवेदनात् ।
महावाक्यार्थसंसिद्धा शान्तिर्निर्वाणमुच्यते ॥ २ ॥
तस्माद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तविकल्पोल्लसितैरलम् ।
यया कयाचिद्युक्त्या तु महावाक्यार्थमाश्रयेत् ॥ ३ ॥
शान्तिः श्रेयः परं विद्धि तत्प्राप्तौ यत्नवान्भव ।
भोक्तव्यमोदनं प्राप्तं किन्तत्सिद्धौ विकल्पितैः ॥ ४ ॥
अकारणैः कारणिभिर्बोधार्थमुपमीयते ।
उपमानैस्तूपमेयैः सदृशैरेकदेशतः ॥ ५ ॥

१९

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—

विशिष्ट अंश के समर्थन के लिए उपमान के सादृश्य के आधार पर उपमा का प्रयोग होता है यदि सभी अंशों में उपमान और उपमेय में सादृश्य रहेगा तो दोनों एक ही हो जायेगें, उनमें क्या भेद रहेगा ॥ १ ॥

दृष्टान्तबुद्धि के विवेक के होने पर अर्थात् अद्वितीय ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वरूप शास्त्रार्थ का अर्थात् 'तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्यार्थ का ज्ञान होने से अद्वितीय आत्मतत्त्वविषयक अखण्डाकार वृत्ति का उदय होने से उससे अभिव्यक्त महावाक्यार्थभूत ब्रह्मस्वरूप ज्ञान से ही अविद्यात्मक अज्ञान और उसके कार्य का विनाशरूप निर्वाण होता है ॥ २ ॥

इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकों के अनेक विकल्पों के उल्लासों के द्वारा जिस किसी युक्ति से महावाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करें ॥ ३ ॥

आप शान्ति को परम कल्याण समझें, उसी की प्राप्ति के लिए यत्न करें। भोजन योग्य भात यदि प्राप्त हो गया, तो उसके साधनभूत दृष्टान्त आदि के मिथ्या होने से क्या हानि है ? ॥ ४ ॥

अकारणों से कारण की सिद्धि बोध के लिए उपमा स्वरूप कही जाती है अर्थात् औषधि पीओ, भाई के समान तुम्हारी भी शिखा बढ़ जायगी इस प्रकार बालक की ओषधि पीने में प्रवृत्ति के कारण और शिखा की वृद्धि में अकारण, इष्ट साधन होने से, एक अंश में समान उपमान और उपमेयों से बालक को ओषधिपान में ओषधि पीने से मेरा हित होगा इस ज्ञान के लिए जैसे लोक में उपमा दी जाती है, एक अंश से सदृश अपरिणामी उपमान और उपमेयों से ज्ञातव्य सत् पदार्थ के बोध के लिए उपमा दी जाती है ॥५॥

स्थातव्यं नेह भोगेषु विवेकरहितात्मना ।
उपलोदरसंजातपरिपीनान्धभेकवत् ॥ ६ ॥
दृष्टान्तैर्यत्नमाश्रित्य जेतव्यं परमं पदम् ।
विचारणवता भाव्यं शान्तिशास्त्रार्थशालिना ॥ ७ ॥
शास्त्रोपदेशसौजन्यप्रज्ञातज्ज्ञसमागमैः ।
अन्तरान्तरसम्पन्नधर्मार्थोपार्जनक्रियः ॥ ८ ॥
तावद्विचारयेत् प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि ।
संप्रयात्यपुनर्नाशां शान्ति तुर्यपदाभिधाम् ॥ ९ ॥
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य प्रतीपस्य भवार्णवात् ।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्य तथा यतेः ॥ १० ॥
न कृतेनाऽकृतेनाऽर्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ।
निर्मन्दर इवाऽम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितम् ॥ ११ ॥
एकांशेनोपमानानामुपमेयसधर्मता ।

पत्थर की चट्टान के बीच में उत्पन्न अतिशय मोटे अन्धे मेढक के समान विवेकरहित बुद्धिवाले पुरुष को इस ब्रह्माण्ड के भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए, वरन् शान्ति आदि की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए ॥ ६ ॥

दृष्टान्तों का अवलम्बन कर प्रयत्नपूर्वक विचारशील पुरुष से शान्ति शास्त्रार्थ तत्पर व्यक्ति के द्वारा परम पद की प्राप्ति करनी चाहिए ॥ ७ ॥

धर्म, अर्थ के उपार्जन की क्रियाओं में तत्पर प्राज्ञ व्यक्ति तब तक विचार तत्पर रहे जब तक अविनाशी अद्वैत शिवात्मक चतुर्थ पाद नामक शान्तिप्रद आत्मविश्रान्ति की प्राप्ति नहीं कर लेता है ॥ ८-९ ॥

भवसागर के प्रतीप अर्थात् प्रतिकूल चतुर्थ विश्रान्ति सम्पन्न जीवित या अजीवित गृहस्थ तथा संन्यासी को श्रुति-स्मृति के विभ्रमों से कृत या अकृत कर्मों से अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक फल से मन्दराचल से शून्य अर्थात् मन्दराचल से शून्य समुद्र के समान यथार्थ अर्थात् शान्त स्वरूप में अवस्थित रहे ॥ १०-११ ॥

एक अंश से उपमानों की उपमेयों के साथ बोध्य पदार्थ के बोधन के लिए साम्य होता है। बोध्य पदार्थ के बोध के उपयोगी होने के कारण इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि दूसरे के पक्ष का खण्डन करने के लिए हीं चोंच के समान साधारण बोध को मुँह में लगाकर ही नहीं बैठ जाना चाहिए, अपितु बोध को हृदय में प्रविष्ट करा देना चाहिए। अन्यथा अपने पुरुषार्थ का विनाश अनिवार्य हो जायगा ॥ १२ ॥

बोद्धव्यं बोध्यबोधाय न स्थेयं बोधचञ्चुना ॥ १२ ॥
यया कयाचिद्युक्त्या तु बोद्धव्यं बोध्यमेव ते ।
युक्तायुक्तं न पश्यन्ति व्याकुला बोधचञ्चवः ॥ १३ ॥
हृदये संविदाकाशे विश्रान्तेऽनुभवात्मनि ।
वस्तुन्यनर्थं यः प्राह बोधचञ्चुः स उच्यते ॥ १४ ॥
अभिमानविकल्पांशैरज्ञो ज्ञप्तिं विकल्पयेत् ।
बोधं मलिनयत्यन्तः स्वं खमब्द इवाऽमलम् ॥ १५ ॥
सर्वप्रमाणसत्तानां पदमब्धिरपामिव ।
प्रमाणमेकमेवेह प्रत्यक्षं तदतः शृणु ॥ १६ ॥
सर्वाक्षसारमध्यक्षं वेदनं विदुरुत्तमाः ।
नूनं तत्प्रति यत्सिद्धं तत्प्रत्यक्षमुदाहृतम् ॥ १७ ॥
अनुभूतेर्वेदनस्य प्रतिपत्तेर्यथाभिधम् ।
प्रत्यक्षमिति नामेह कृतं जीवः स एव नः ॥ १८ ॥

जिस किसी युक्ति से ज्ञातव्य पदार्थ का अवश्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो लोग बोधचञ्चु (अपूर्णबोध) हैं, वे परपक्ष खण्डन में ही व्याकुल रहते हैं, अतः वे युक्त और अयुक्त का विचार नहीं कर सकते हैं ॥ १३ ॥

हृदयरूपी संवित् आकाश में अनुभवस्वरूप आत्मस्वरूप वस्तु में विश्रान्त अनर्थ बुद्धि करता है, वह प्रथम बोधचञ्चु कहा जाता है ॥ १४ ॥

भाव यह है कि निर्मल आकाश को मेघ के द्वारा मलिन करने के समान ही अभिमानमूलक कुतर्कों से ज्ञान और उसके साधनों को विकल्पित करने पर जो मूर्ख अपने आत्मभूत बोध को अन्तःकरण में मलिन करता है, वह (द्वितीय) बोधचञ्चु है ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण जलों का आधार समुद्र के समान ही सम्पूर्ण प्रमाणों के प्रामाण्य का आधारभूत प्रत्यक्ष ही प्रधान है, प्रत्यक्ष को ही तत्त्वतः आप से कहता हूँ, उसे सुनें ॥ १६ ॥

सब प्रमाणों की सार इन्द्रियाँ के समान ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का सार अपरोक्षज्ञान है, ऐसा श्रेष्ठ जनों का कहना है, अपरोक्षज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष है निश्चित ही जानामि इस त्रिपुटीज्ञान से सिद्ध जो अवच्छेदभूत, आश्रयभूत और विषयभूत पदार्थ का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा गया है ॥ १७ ॥

अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्तिका के नामाक्षरों के अनुसार 'प्रत्यक्ष' यह अभिधान किया गया है, वह साक्षी ही प्राणधारण के कारण जीव कहा जाता है। साक्षी ही वृत्तिरूप उपाधि से संवित् कहा जाता है। वही 'अहम्'

स एव संवित् स पुमानहन्ताप्रत्ययात्मकः ।
स यदोदेति संवित्त्या सा पदार्थ इति स्मृता ॥ १९ ॥
स सङ्कल्पविकल्पाद्यैः कृतनानाक्रमभ्रमैः ।
जगत्तया स्फुरत्यम्बुतरङ्गादितया यथा ॥ २० ॥
प्रागकारणमेवाऽऽशु सर्गादौ सर्गलीलया ।
स्फुरित्वा कारणं भूतं प्रत्यक्षं स्वयमात्मनि ॥ २१ ॥
कारणं त्वविचारोत्थजीवस्याऽसदपि स्थितम् ।
सदिवाऽस्यां जगद्रूपं प्रकृतौ व्यक्तिमागतम् ॥ २२ ॥
स्वयमेव विचारस्तु स्वत उत्थं स्वकं वपुः ।
नाशयित्वा करोत्याशु प्रत्यक्षं परमं महत् ॥ २३ ॥
विचारवान्विचारोऽपि आत्मानमवगच्छति ।
यदा तदा निरुल्लेखं परमेवाऽवशिष्यते ॥ २४ ॥

इत्याकारक प्रतीति का विषय होने से प्रमाता कहा जाता है, वही साक्षी जिस विषयाकारकीवृत्ति से प्राप्तकर (बाह्याकारवृत्ति से) आवरणभङ्ग आविर्भूत होता है वह पदार्थ अर्थात् विषय कहा जाता है, इस प्रकार साक्षी ही क्रम से त्रिविध को प्राप्त होता है ॥ १८,१९ ॥

उसी तरह प्रकाशित होता है जैसे जल तरङ्ग आदि विविध रूप में प्रकाशित होता है । अद्वितीय नित्य सर्व-व्यापक सर्वावभासक चैतन्य ही—विविध भ्रमों को करने वाले संकल्पविकल्प प्रधान अन्तःकरणों से जगत् के रूप में प्रकाशित होता है ॥ २० ॥

सृष्टि के पूर्व में अनादि साक्षी एक और अकारणरूप में विराजमान सृष्टि के आरम्भ में सृष्टिभाव को प्राप्त कर स्वयं ही कारणभाव में आविर्भूत होता है ॥ २१ ॥

साक्षी चेतन में कारणता अविचार अज्ञान जनित होने से सत् नहीं है, फिर भी जीव को सत्-सी प्रतीत होती है । इस अज्ञानसंवलित आत्मरूप प्रकृति में जगत् अभिव्यक्त हुआ है, इस प्रकार यह जगत् आरोपित है ॥ २२ ॥

विचार (विचार से उत्पन्न आत्मसाक्षात्कार) भी अपने से उत्पन्न और परमार्थरूप से अपने से अभिन्न जगद्रूप शरीर को अज्ञान के विनाश द्वारा विनष्ट कर तत्त्वज्ञ पुरुषों को आत्मभूत अनावृत अपरिच्छिन्न परम पुरुषार्थ रूप की प्राप्ति कराता है ॥ २३ ॥

जब विचारवान् पुरुष आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है तब विचार भी समाप्त हो जाता है, उस समय वाणी और मन से परे एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है ॥ २४ ॥

मनस्यनीहिते शान्ते स्वबुद्धीन्द्रियकर्मभिः ।
नहि कश्चित्कृतैरर्थो नाऽकृतैरप्यभावनात् ॥ २५ ॥
मनस्यनीहिते शान्ते न प्रवर्तन्त एव ते ।
कर्मेन्द्रियाणि कर्मादावसञ्चारितयन्त्रवत् ॥ २६ ॥
मनोयन्त्रस्य चलने कारणं वेदनं विदुः ।
प्रणालीदारुमेषस्य रज्जुरन्तर्गता यथा ॥ २७ ॥
रूपालोकमनस्कारपदार्थव्याकुलं जगत् ।
विद्यते वेदनस्याऽन्तर्वातान्तः स्पन्दनं यथा ॥ २८ ॥
सर्वात्मवेदनं शुद्धं यथोदेति तदात्मकम् ।
भाति प्रसृतदिक्कालबाह्यान्तारूपदेहकम् ॥ २९ ॥
दृष्ट्वैव दृश्यताभासं स्वरूपं धारयन्स्थितः ।
सर्वं यथा यत्र यद्रूपं प्रतिभाति तथैव तत् ॥ ३० ॥

प्रपञ्च के बाधित होनेपर अपने बुद्धि, इन्द्रिय आदि के साथ इच्छा आदि से शून्य मन के शान्त होनेपर कृत अकृत इच्छा आदि का भी प्रयोजन नहीं रहता है क्योंकि बाधित का सत्यरूप से भान न होने के कारण प्रारब्ध जनित क्रियाभास से क्रिया और उसके फल का भोग नहीं होता है ॥ २५ ॥

इच्छादिरहित मन के शान्त होनेपर कर्मेन्द्रिय आदि कर्म में चलाये गये यन्त्रों के समान प्रवृत्त नहीं होते हैं । मन की शान्ति होनेपर कर्मेन्द्रियों के और उनकी प्रवृत्ति के निमित्त विषयस्फूर्ति के न होने से जीव में चलनक्रिया का अभाव होता है ॥ २६ ॥

काठ की नाली के भीतर लकड़ी के बने हुए दो भेड़ों को परस्पर भिड़ाने में भीतर रक्खी हुई और भीतर से खींची जाती हुई रस्सी की कारण तार के समान ही मनरूपी यन्त्र के चलन में विषयों की स्फूर्ति कारण है ॥ २७ ॥

स्पन्दन चलन क्रिया जैसे वायु के ही अन्तर्गत है, वैसे ही रूपालोक, मनस्कार तथा पदार्थ या विषय इनसे परिपूर्ण जगत् वेदन के=विषयस्फूर्ति के अन्तर्गत है ॥ २८ ॥

जैसे शुद्ध सर्वात्मवेदन कर्मपरिपाक की व्यवस्था से प्राणियों के कर्म भोग के लिए आविर्भूत होता है, वैसे ही उन्हीं का रूप धारण कर उत्पन्न हुआ सा विस्तृत देश काल बाह्य और अभ्यान्तर पदार्थों के स्वरूप से होता है ॥ २९ ॥

अज्ञान के कारण सर्वात्म रूप विचार देह आदि दृश्यताभास को देखकर ही यही मेरा स्वरूप है यह

स सर्वात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः ।
तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूप इव राजते ॥ ३१ ॥
सर्वात्मकतया द्रष्टुर्दृश्यत्वमिव युज्यते ।
दृश्यत्वं द्रष्टृसद्भावे दृश्यताऽपि न वास्तवी ॥ ३२ ॥
अकारणकमेवाऽतो ब्रह्मसिद्धमिदं स्थितम् ।
प्रत्यक्षमेव निर्मातृ तस्यांऽशास्त्वनुमादयः ॥ ३३ ॥
स्वयत्नमात्रे यदुपासको य-
स्तद्दैवशब्दार्थमपास्य दूरे ।
शूरेण साधो पदमुत्तमं त-
त्स्वपौरुषेणैव हि लभ्यतेऽन्तः ॥ ३४ ॥
विचारयाऽऽचार्यपरम्पराणां
मतेन सत्येन सितेन तावत् ।
यावद्विशुद्धं स्वयमेव बुद्ध्या
ह्यनन्तरूपं परमभ्युपैषि ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारायायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे
प्रमाणनिरूपणं नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

समझता हुआ जीवाभास से अवस्थित है। अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकार का प्रतीत होता है वैसा ही वह हो जाता है ॥ ३० ॥

वह सर्वात्मा जहां जिस रूप में उल्लसित होता है वहां शीघ्र वैसे ही स्थित होता है और उसी रूप में शोभायमान है ॥ ३१ ॥

सर्वात्मक होने से ब्रह्म ही द्रष्टा दृश्य सभी रूपों में मिथ्याभूत रूप से प्रतीत होता है, द्रष्टा के होने पर ही द्रश्यत्व रहता है, जब दृष्टत्व ही वास्तविक नहीं है वैसे ही दृश्यत्व भी वास्तविक नहीं है। आशय यह है कि भ्रमवश रज्जु में सर्प ज्ञान होता है वैसे ही जगत् और वह सर्वात्मा द्रष्टा मिथ्या दृश्य होकर प्रकाशित होते हैं, परन्तु जब विचार होने पर भ्रम निवृत्त हो जाता है तब सम्पूर्ण दृश्य यथार्थ है, ऐसा बोध नहीं होता। चूंकि चिद्रूपी द्रष्टा सर्वात्मक है अतएव उसके दृश्य के तुल्य होना अनुचित है ॥ ३२ ॥

अकारण अद्वितीय ब्रह्मात्मक ही यह प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ है यह निश्चित होता है, अनुमान प्रत्यक्षोपजीव्य अर्थात्प्रत्यक्ष पूर्वक होने से प्रत्यक्ष का ही अंश है ॥ ३३ ॥

हे साधो ! परमार्थतः जो केवल अपने पूर्वजन्म का कर्म है उसे अदृष्टा मानकर 'मैं दैव के अधीन हूँ वह जैसा मुझसे करायेगा मैं वैसा करूँगा' इस प्रकार उसकी उपासना में जो पुरुष तत्पर रहता है उससे कल्पित दैव को दूर भगाकर इन्द्रिय आदि की विजय में शूर अधिकार पुरुष अपने पौरुष से ही उस परमपद को अपने हृदय में ही प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

जब तक आप स्वयं ही बुद्धि से उस अनन्तरूप, विशुद्ध परब्रह्म का साक्षात्कार जब तक नहीं करते हैं तब तक आचार्य परम्परा के परमार्थनिष्ठ और प्रमाण शुद्ध मत से विचार करें ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में
प्रमाणनिरूपण नामक कुसुमलता का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

२०

श्रीवसिष्ठ उवाच

आर्यसंगमयुक्त्यादौ प्रज्ञां वृद्धिं नयेद् बलात् । ततो महापुरुषतां महापुरुषलक्षणैः ॥ १ ॥

२०

[एक दूसरे को बढ़ाने वाले प्रज्ञाबुद्धिप्रकार, महापुरुष लक्षण और सदाचार क्रम का कथन]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

आर्यों की संगति से अर्थात् प्राप्त उपदेश, आचरण शिक्षण और युक्ति आदि के द्वारा प्रज्ञा को बलात् बढ़ाना चाहिए, अनन्तर आदि के आगे कहे जाने वाले महापुरुष के लक्षणों से अपने में महापुरुषत्व का सम्पादन करें ॥ १ ॥

यो यो येन गुणेनेह पुरुषः प्रविराजते ।
शिष्यते तं तमेवाऽऽशु तस्माद् बुद्धिं विवर्द्धयेत् ॥ २ ॥
महापुरुषता ह्येषा शमादिगुणशालिनी ।
सम्यग् ज्ञानं विना राम ! सिद्धिमेति न काञ्चन ॥ ३ ॥
ज्ञानाच्छमादयो यान्ति वृद्धिं सत्पुरुषक्रमाः ।
श्लाघनीयाः फलेनाऽन्तर्वृष्टेरिव नवाङ्कुराः ॥ ४ ॥
शमादिभ्यो गुणेभ्यश्च वर्द्धते ज्ञानमुत्तमम् ।
अन्नात्मकेभ्यो यज्ञेभ्यः शालिवृष्टिरिवोत्तमा ॥ ५ ॥
गुणाः शमादयो ज्ञानाच्छमादिभ्यस्तथा ज्ञता ।
परस्परं विवर्द्धन्ते ते अब्जसरसी इव ॥ ६ ॥
ज्ञानं सत्पुरुषाचाराज्ज्ञानात् सत्पुरुषक्रमः ।

जिन गुणों के द्वारा इस संसार में पुरुष प्रतिष्ठित प्रतीत होता है, वह उन्हीं गुणों के द्वारा दूसरे पुरुषों से विशिष्ट गिना जाता है, अतः शीघ्र उन गुणों को उस पुरुष से प्राप्त कर अपनी प्रज्ञा की अभिवृद्धि करनी चाहिए ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! शम आदि गुणों से परिपूर्ण इस महा-पुरुषता के रहने पर भी यथार्थ ज्ञान के बिना किसी प्रकार की सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३ ॥

वृष्टि से नवीन अङ्कुर की अभिवृद्धि के समान ही आत्मसुख के आविर्भाव से प्रशंसा के योग्य सत्पुरुषों की शान्ति आदि की उत्तम प्रज्ञा के द्वारा वृद्धि की प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

जैसे अन्नात्मक घृत आदि से युक्त यज्ञों से धान आदि अन्नों की हेतु वृष्टि की अभिवृद्धि होती है, वैसे ही शम आदि गुणों से उत्तम ज्ञान की अभिवृद्धि अन्नात्मक यज्ञों के द्वारा धान्य के साधन वृष्टि की प्राप्ति के समान यज्ञों से वृष्टि होती है, भगवान् ने भी कहा है यज्ञ से वृष्टि होती है और वृष्टि से प्रचुर अन्न होता है "यज्ञाद्भवति पर्जन्य-पर्जन्यादन्नसम्भवः" । इस विषय में अन्य वचन भी हैं, यथाः—'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्य-मुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा ॥' अग्नि में भली भाँति दी गई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है, आदित्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्राणी होते हैं ॥ ५ ॥

शम आदि गुणों की ज्ञान से और ज्ञान की शम आदि गुणों से परस्पर उसी प्रकार अभिवृद्धि होती है जैसे कमल से सौगन्ध्य और शोभा आदि गुणों द्वारा

परस्परं गतौ वृद्धिं ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ॥ ७ ॥
शमप्रज्ञादिनिपुणपुरुषार्थक्रमेण च ।
अभ्यसेत् पुरुषो धीमान् ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ॥ ८ ॥
न यावत्सममभ्यस्तौ ज्ञानसत्पुरुषक्रमौ ।
एकोऽपि नैतयोस्तात ! पुरुषस्येह सिद्धयति ॥ ९ ॥
यथा कमलरक्षिण्या गीत्या विततताळया ।
खगोत्सादेन सहितं गीतानन्दः प्रसाध्यते ॥ १० ॥
ज्ञानसत्पुरुषेहाभ्यामकर्त्रा कर्तृरूपिणा ।
तथा पुंसा निरिच्छेन सममासाद्यते पदम् ॥ ११ ॥
सदाचारक्रमः प्रोक्तो मयैवं रघुनन्दन ! ।
तथोपदिश्यते सम्यगेवं ज्ञानक्रमोऽधुना ॥ १२ ॥

सरोवर की जल से शैत्य आदि गुणों द्वारा कमल की परस्पर वृद्धि होती है ॥ ६ ॥

ज्ञान की सत्पुरुषों के आचार से वृद्धि होती है और सत्पुरुष के आचार की ज्ञान से वृद्धि होती है, एवं ज्ञान और सत्पुरुष का आचार परस्पर एक दूसरे के द्वारा अभिवृद्धि को प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

शम, प्रज्ञा आदि कुशल कर्मों से युक्त श्रवण आदि प्रयत्नों के क्रम से धीमान् पुरुष ज्ञान और सदाचार का अभ्यास करे ॥ ८ ॥

जब तक ज्ञान और सदाचार का अच्छी तरह अभ्यास न किया जाय, तब तक उनमें से एक की भी सिद्धि यहाँ पुरुष को नहीं होती ॥ ९ ॥

जैसे पके हुए धान के खेत की रक्षा करने वाली स्त्री विस्तृत करतलध्वनि से युक्त गान से ही आनुषङ्गिक पक्षियों का भगाना और गान का आनन्द एक ही काल में प्राप्त करती है अर्थात् करतल ध्वनि युक्त लय समन्वित गान से ही गान का आनन्द और पक्षियों को भगा देती है। वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति में बाधक के निराकरण से इच्छारहित कर्ता न होते हुए भी किये गये ज्ञान के हेतु श्रवण और सदाचार से कर्तारूप होकर परम पद को प्राप्त करता है ॥ १०-११ ॥

हे रघुनन्दन ! मैंने इस प्रकार इस सदाचारक्रम का आपको उपदेश दिया है, इस समय अग्रिम प्रकरण में ज्ञान क्रम का आपको यश देने वाले, आयु की वृद्धि करने वाले, पुरुषार्थ रूपी फल को देने वाले इस शास्त्र का अच्छी तरह उपदेश दूँगा ॥ १२ ॥

इदं यशस्यमायुष्यं पुरुषार्थफलप्रदम् ।
तज्ज्ञादाप्ताच्च सच्छास्त्रं श्रोतव्यं किल धीमता ॥ १३ ॥
श्रुत्वा त्वं बुद्धिनैर्मल्याद् बलाद् यास्यसि तत्पदम् ।
यथा कतकसंश्लेषात् प्रसादं कलुषं पयः ॥ १४ ॥
विदितवेद्यमिदं हि मनो मुनो मुने-
विवशमेव हि याति परं पदम् ।
यदवबुद्धमखण्डितमुत्तमं
तदवबोधवशान्न जहाति हि ॥ १५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणे सदाचारनिरूपणं नाम विंशः सर्गः ॥२०॥

समाप्तमिदं द्वितीयं मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणम् ॥ २ ॥

इस शास्त्र के जानकार यथार्थ रूप से तत्त्वों के पूर्णरूप से ज्ञाता अर्थात् आप्त पुरुष के द्वारा बुद्धिमान् व्यक्ति को सुनना चाहिए ॥ १३ ॥

निर्मली के चूर्ण के सम्पर्क से मैले जल की निर्मलता की प्राप्ति के समान इसके सुनने से बुद्धि की ऐनक के समान निर्मलता की प्राप्ति हो जाने से आप उस परम पद को प्राप्त करेंगे ॥ १४ ॥

मुनि का अर्थात् साधन चतुष्टय सम्पत्ति से मनन-शील पुरुष का मन ज्ञातव्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर विदित पदार्थों के बल से विषयों से अनासक्त होकर परम पद की प्राप्ति होने से अज्ञान और उसके कार्य का परित्याग कर प्रबुद्ध हो अखण्ड उत्तम पद का परित्याग नहीं करता है। आशय यह है कि देह में आत्मज्ञान होने पर सांसारिक विषयों में ही आसक्त रहकर भव-सागर में डूबता रहता है, किन्तु साधन चतुष्टय से सम्पन्न होने पर शुद्ध-बुद्ध अनन्त, एकरस आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त होने पर विषयों में सर्वथा अनासक्त जीवन्मुक्त होकर जीवनयापन करता है ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मुमुक्षुव्यवहारप्रकरण में सदाचारनिरूपण नामक बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २० ॥

उत्पत्तिप्रकरण

ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती है "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः" कर्म और भक्ति ज्ञान के साधन हैं। कर्म के द्वारा चित्त के निर्मल होने से निर्मल चित्त में ज्ञान की दीप्ति होती है। भक्ति ज्ञान सम्प्राप्ति का साधन ही है। ज्ञान के द्वारा द्रष्टा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। ज्ञान अर्थात् तत्त्व के साक्षात्कार होने तक मनन की धारा अविच्छिन्न तैल धारा के समान चलती रहनी चाहिए। ऐकान्तिक आत्यन्तिक शान्ति अर्थात् तत्त्व का अपरोक्ष निश्चयात्मक ज्ञान ही प्राप्तव्य होने से तब तक मनन की परिधि है।

दो प्रकरणों के द्वारा सभी साधनों की सम्प्राप्ति रूप अधिकारित्व की प्राप्ति का उपाय निर्दिष्ट है। श्रीराम को अधिकारी समझकर ज्ञान के क्रम का निर्देश किया जा रहा है।

जिसके होने पर ब्रह्म को जानने की इच्छा और ब्रह्म ज्ञान होता है एवं जिसके न रहने पर ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान नहीं होता है। ये चार साधन हैं। १–नित्यानित्य-वस्तुविवेक। २–इहामुत्रार्थभोगविराग। ३–शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा इन पाँचों का प्रकर्ष। ४–मुमुक्षुत्व। नित्यवस्तु अर्थात् प्रत्यगात्मा, अनित्यवस्तु अर्थात् देह, इन्द्रिय, विषय आदि इनका विवेक अर्थात् भेदज्ञान। प्रकृत में यह विचारणीय है कि यह प्रमारूप निश्चयात्मक ज्ञान है, या भ्रमात्मक ज्ञान है या संशयात्मक ज्ञान है? यदि निश्चयात्मक ज्ञान माना जाय तब ब्रह्म जानने की इच्छा से लाभ ही क्या है? नित्य अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान तो पूर्व में ही हो गया है, जिस ब्रह्मज्ञान का नित्यानित्यवस्तुविवेक साधन है, वह ज्ञान तो पूर्व में ही हो गया, ऐसी स्थिति में जिसके होनेपर ब्रह्मजिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान होता है और जिसके न होने पर यह ब्रह्म जिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान नहीं होता है ऐसे साधन में नित्यानित्यवस्तुविवेक नहीं रह जाता है, कारण ब्रह्मज्ञान तो इससे पूर्व ही हो गया। यदि उक्त विवेक को निश्चयात्मक भ्रमात्मक ज्ञान माना जाय अर्थात् नित्य जो प्रत्यगात्मा एवं अनित्य जो देह, इन्द्रिय विषय आदि उनका जो विवेक अर्थात् परस्पर भ्रमात्मक निश्चयज्ञान यह अर्थ मानने पर उक्त ज्ञान वेदान्त ब्रह्मैक्य का प्रयोजक नहीं हो सकता है, कारण शास्त्र नित्य जो प्रत्यगात्मा, उसीको नित्य कहकर निर्देश करता है एवं जो अनित्य है उसको अनित्य कह कर उपदेश करता है। प्रकृत में विपरीत ज्ञान ही यदि निश्चयात्मक ज्ञान है तब इस नित्यानित्य वस्तुविवेक से ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्ति कैसे होता है? व्यवहार में शुक्तिका आदि में रजतादिभ्रम का निश्चय होने पर इच्छा का साधन वह नहीं होता है, कारण, आगे उसका बाध हो जाने से दढ़तर इच्छा की साधनता उसमें नहीं है। यदि उक्त विवेक ज्ञान को सामान्य ज्ञान अर्थात् निश्चयात्मक नहीं माना जाय अर्थात् संशयात्मक ज्ञान माना जाय, तब संशयात्मक नित्यानित्य वस्तु के विवेक से वैराग्य नहीं हो सकता है और वैराग्य न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा का साधन ही उत्पन्न नहीं होगा, वैराग्य ही ब्रह्मजिज्ञासा का मुख्य साधन है। संशयात्मक ज्ञान मानने पर भी कार्य नहीं चल सकता है, अतः, इस प्रधान साधन का अर्थ निम्नलिखित रूप में मानना होगा=सामान्यतयाप्रकृत में इस प्रकार समास अवगत होता है नित्यञ्च अनित्यञ्च= द्वन्द्व समास, नित्यानित्ये वस्तुनी=नित्यानित्यवस्तुनी, कर्मधारय, नित्यानित्यवस्तुनोः विवेक=नित्यानित्यवस्तुविवेकः षष्ठी तत्पुरुष। इस प्रकार समास करने पर कौन वस्तु नित्य एवं कौन वस्तु अनित्य उनका स्वरूप निर्णय यह अर्थ होता है, किन्तु इस प्रकार अर्थ करने पर पूर्वोक्त दोष की आपत्ति है, अतः इस प्रकार का समास मानना होगा। नित्यञ्च अनित्यञ्च=नित्या- नित्ये, द्वन्द्वसमास, नित्यानित्ययोः वस्तूनि=नित्यानित्यवस्तूनि षष्ठीतपुरुष, नित्यानित्यवस्तूनां विवेकः=नित्या नित्यवस्तुविवेकः षष्ठीतत्पुरुष, यह समास मानने पर वस्तु शब्द का अर्थ धर्म होता है, क्योंकि, वस्तु शब्द की व्युत्पत्ति "वसति यत् तत् वस्तु" यह मानने पर वस्तु शब्द का अर्थ धर्म होता है। कारण, धर्म धर्मी को आश्रय कर रहता है अर्थात् धर्मी में धर्म रहता है। नित्यानित्यवस्तुविवेक का अर्थ जो धर्म नित्य और अनित्य वस्तुओं का आश्रयण कर रहता है उन धर्मों के परस्पर पार्थक्य अर्थात् भेद का निश्चयात्मक ज्ञान। इस प्रकार के अर्थ को मानने पर पूर्वोक्त दोष नहीं होता है, कारण, पूर्व अर्थ के अनुसार नित्य ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान एवं अनित्य देह, इन्द्रिय आदि का स्वरूपज्ञान ही आवश्यक

था। ब्रह्म और ब्रह्म से भिन्न का स्वरूपज्ञान होने पर ब्रह्म की जिज्ञासा आवश्यक नहीं रहती है, किन्तु, इस अर्थ के अनुसार नित्य ब्रह्म एवं अनित्य ब्रह्म भिन्न वस्तु का समान्यतः ज्ञान के द्वारा उनके धर्मी ब्रह्म और ब्रह्म भिन्न वस्तु का सामान्यतः ज्ञान ही होता है। इन दोनों का वास्तविक स्वरूप ज्ञान नहीं होता है। जैसे देवदत्त के स्वरूप ज्ञान से उसके सभी विशेष धर्मों के ज्ञानपूर्वक उसका ज्ञान अवगत होता है, किन्तु, मनुष्यत्व सामान्य धर्म-पूर्वक ज्ञान होने से किसी एक विशेष धर्मपूर्वक उसका ज्ञान अपेक्षित होता है। फलतः प्रकृत में नित्यत्व रूप धर्म ज्ञानपूर्वक ब्रह्म और ब्रह्म भिन्न का ज्ञान उनका स्वरूप ज्ञान नहीं वरन् सामान्य रूप में उनका ज्ञान है, विशेष रूप में ज्ञान नहीं है। समान्यतः ज्ञान से ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा संभव हो सकती है। अतः वेदान्त श्रवण में प्रवृत्ति सम्भव है। क्योंकि ऐसा देखा जाता कि अपेक्षित वस्तु का सामान्य ज्ञान होने पर उसके विशेष रूप में स्वरूप ज्ञान की इच्छा होती है, समान्य ज्ञान के बिना विशेष ज्ञान की इच्छा नहीं होती है। नित्यानित्यवस्तुविवेक का यह अर्थ स्वीकार करने पर द्वितीय साधन अर्थात् वैराग्य की उपपत्ति किस प्रकार हो सकती है, क्योंकि नित्य शब्द का अर्थ सत्य है, वही प्रकृत सुख है, यह सभी के लिए आस्था या श्रद्धा का विषय है जो अनित्य है, वह अनृत है वही प्रकृत दुःख है, अतः वह सभी विवेकी व्यक्तियों के लिए अनास्था या अश्रद्धा का विषय है। फलतः नित्यानित्यवस्तु-विवेक होने से ही नित्यवस्तु के प्रति श्रद्धा एवं अनित्य वस्तु के प्रति अश्रद्धा होती है, अश्रद्धा ही वैराग्य है वैराग्य पूर्ण मात्रा में होने पर इहामुत्रार्थ-भोग-विराग उत्पन्न होता है। नित्यानित्य-वस्तु होने पर भी विशुद्ध चित्त वाले व्यक्ति को ही वैराग्य होता है। चित्त की विशुद्धि विहित कर्मों का अनुष्ठान निषिद्ध कर्मों का परित्याग एवं संचित दुरदृष्टनाश का उपाय स्वरूप प्रायश्चित्तादि कर्मों के अनुष्ठान के बिना सम्भव नहीं है। इतना सत्य है कि इन कर्मों का पूर्व जन्म में अनुष्ठान होने पर भी चित्त की शुद्धि सम्भव है। यह ध्यान देने योग्य है कि नित्यानित्यवस्तु विवेक आदि वैराग्य का जनक है तब अनेक व्यक्तियों को यह विवेक रहने पर भी वैराग्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? इसके समाधान में कल्पतरुकार ने कहा है कि नित्यानित्य-वस्तु-विवेक होने पर भी उसका अभ्यास करते-करते क्रमशः वैराग्य उत्पन्न होता है।

नित्यानित्यवस्तुविवेक शब्द का अर्थ सत्या-सत्य-वस्तुविवेक मानने पर वास्तविक सत्य कोई पदार्थ है क्या ? क्योंकि जितने भी सत्य पदार्थ हैं, वे आपेक्षिक सत्य है, निरवच्छिन्न सत्य कोई भी पदार्थ नहीं है। शून्यवादी बौद्धों ने सबल युक्तियों के आधार पर सभी पदार्थों की शून्यता सिद्ध की है, इसका भी अपलाप सहज में नहीं किया जा सकता है। शून्यवादियों के मत में शून्यता एक धर्म विशेष है, धर्म विशेष होने से ही वह धर्मी के बिना नहीं रह सकता है, अतः शून्यता शून्य का धर्म है, शून्य को अवास्तव मानने पर उसका धर्म सत्य कैसे हो सकता है ? संसार में अधिष्ठान रहित भ्रम नहीं देखा गया है; रस्सी नहीं रहें और सर्प का भ्रम हो जाय—यह कभी भी सम्भव नहीं है, अतः यह मानना पड़ेगा की शून्यवादियों के द्वारा सत्य वस्तु का अपलाप किसी प्रकार सम्भव नहीं है। फलतः अनुभव और उपपत्ति के द्वारा अच्छी तरह सत्यलोक से अवीचि नामक नरक पर्यन्त सर्वत्र प्राणियों का जन्म, मरण, जरा और व्याधि आदि होती है, वहाँ सतत दुःखमय अवस्था देखकर मनुष्य को स्वभावतः नित्यानित्यवस्तु-विवेक होने पर ऐहिक और परलौकिक फलों के भोग के प्रति वैराग्य होगा। वैराग्य का अर्थ भोग की इच्छा का त्याग रूप उपेक्षात्मक ज्ञान अर्थात् सभी विषयों के प्रति अनादर स्वरूप उपेक्षा बुद्धि।

इस ऐहिक और परलौकिक भोग-विराग से शमदम आदि साधन सम्पत् की उत्पत्ति होती है मन सदा आसक्तिरूप कषाय मदिरा से मत्त रहता है और विशृंखलित रूप में भिन्न-भिन्न विषयों में इन्द्रियों को प्रवर्तित कर पाप और पुण्य की जनक अनेक प्रवृत्तियों की सृष्टि करता है, इस प्रवृत्ति के फल स्वरूप पुरुष अतिशय भयंकर अनेक दुःख ज्वाला से जटिल संसाररूपी अग्नि में गिरता है, किन्तु नित्यानित्य-वस्तु-विवेक-ज्ञान के अभ्यास से वैराग्य की प्राप्ति करने के बाद वैराग्य की दृढ़भूमि हो जाने से मन की आसक्ति रूप कषाय मदिरा की मत्तता विनष्ट हो जाती है, मन की विजित या वशीकृत अवस्था ही शम है; शम का ही दूसरा नाम वशीकार है 'शम' के

साधन के द्वारा मन के विजित होने पर मन तत्व विषय में विनियुक्त होने के योग्य होता है—यह योग्यता ही 'दम' का अर्थ है। 'शमदमादि' पद के द्वारा अन्य तीन साधनों का ग्रहण होता है=जैसे विषय-तितिक्षा, विषयोपरम्, एवं तत्त्वश्रद्धा। विषय तितिक्षा से तात्पर्य शीतोष्ण-द्वन्द्वसहिष्णुता, विषयोपरम शब्द का अर्थ विषय भोग से निवृत्ति एवं तत्त्वश्रद्धा शब्द का अर्थ तत्त्वज्ञान के प्रति श्रद्धा है, श्रुति में भी कहा है—

"तस्मात् शान्तो दान्त उपरतः तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मनि एव आत्मानं पश्येत् सर्वमात्मनि पश्यति"

इसलिए शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्ष और श्रद्धावित् होकर आत्मा में ही आत्मा को देखे। "इन पाँच प्रकार के साधनों का सम्यक् प्रकर्ष ही शमसमादि साधन सम्पत् है इन साधनों के होने पर पुरुषों को संसार रूपी बन्धन से मुक्त होने की इच्छा होती है। इसी इच्छा का नाम मुमुक्षत्व है। इन साधनों की क्रमिक उत्पत्ति होते हुए "मुमुक्षुत्व की उत्पत्ति होने पर पुरुष गुरु के द्वारा 'श्रवण' करता है, नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म है, ब्रह्म का ज्ञान होने पर मोक्ष होता है, मोक्ष का कारण इस प्रकार के ब्रह्म ज्ञान ही है, ऐसी स्थिति में ब्रह्म के विषय की जिज्ञासा होती है, यह ब्रह्म जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा से पूर्व और बाद में भी हो सकती है, अतः यह मानना पड़ेगा नित्यानित्य-वस्तु-विवेक इहांमुत्रार्थ-फल-भोग-विराग शमदमादि-साधन-सम्पत् एवं मुमुक्षुत्व के अनन्तर ही ब्रह्म-जिज्ञासा होती है धर्म जिज्ञासा के बाद ही ब्रह्म जिज्ञासा होगी—ऐसा कोई नियम नहीं है।

यह विचारणीय है कि इन कारणों की उपस्थिति होने पर ब्रह्म को जानने की इच्छा ही होती है, ब्रह्मज्ञान नहीं होता है ब्रह्मज्ञान में कोई इससे अतिरिक्त ही साधन है? इसी के उत्तर में आचार्य ने कहा है-"ज्ञातुं च"। अर्थात् इसके उपस्थित होने पर ब्रह्म के ज्ञान का भी सामर्थ्य उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रमाण की सहायता से ब्रह्म का ज्ञान भी होता है यह ज्ञातव्य है कि इस कथित साधनचतुष्टय के आनन्तर्य में कोई श्रुति भी प्रमाणस्वरूप है या नहीं? श्रुति के तात्पर्य का निर्णय के लिए ही तो इन सूत्रों की रचना है:—"शान्तो दान्त उपरततितिक्षुः समाहितो भूत्वा" (वृ. उ. ४.४.२३) "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा" (माध्यन्दिनी शाखा) "मुमुक्षुर्वै श्रवणमहं प्रपद्ये" (श्वे. उ. ६।१८) इन उपनिषदों के आधार पर ही साधनचतुष्टय का आनन्तर्य विवक्षित है।

उत्पत्तिप्रकरण में सृष्टि के प्रकार का वर्णन करते हुए अनन्त, आनन्द, चैतन्य, एकरस अद्वैत ब्रह्म का उपदेश किया जा रहा है।

ब्रह्म ही "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि महावाक्यों के अखण्डाकार वृत्ति की उत्पत्ति से स्वात्मतत्त्व के प्रकाश से ब्रह्मज्ञानी होकर पारमार्थिक तत्त्व के साक्षात्कर्ता के स्वरूप में नित्य मुक्त पूर्ण स्वरूप से प्रकाशित होता है। इनके सिद्धान्त में वाक्य से ही अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है, वाक्यजन्य वृत्ति से अतिरिक्त वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि, ये देह, इन्द्रिय, आकाश आदि सभी दृश्य पदार्थ बन्धस्वरूप प्रत्यगात्म-स्वरूप आत्मा ब्रह्म में स्वप्न के समान आविर्भूत होते हैं, अर्थात् अष्ठिानभूत ब्रह्म में अविद्या के द्वारा अवभासित हो रहे हैं, जैसे स्वाप्न पदार्थ की निवृत्ति जागरण मात्र से होती है, स्वाप्निक पदार्थों की तिवृत्ति के लिए किसी प्रकार की अन्य वृत्ति अपेक्षित नहीं रहती है। जो ब्रह्म ज्ञान से होता है या मनुष्य मानते हैं, क्या वह ब्रह्म अवेद्य है, जिससे सब हुआ था, यह आक्षेप कर उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्म ही आगे था, उसने आत्मा को जाना मैं ब्रह्म हूँ, उसी से सभी उत्पन्न हुआ, सभी पूर्ण है। असंसारी भूम आनन्द स्वरूप है, इस श्रुति में ब्रह्म स्वयं स्वतत्त्व बोध से बन्धशून्य पूर्ण हुआ, इस कथन से वही पूर्व में आत्मतत्त्व के प्रतिबोध से स्वप्न के समान द्वैत प्रिय और अप्रिय दर्शन स्वरूप बन्धन का अनुभव करता है। अतः, बन्धन का मिथ्यात्व और बन्ध पूर्ववर्ती ब्रह्म तत्व का पारमार्थिकत्व स्फुट रूप से अवगत हो रहा है। अर्थवादभूत नामरूपात्म जगत् का स्फुरण होता है। नख के अग्रभाग तक में उसी का प्रवेश है, इत्यादि प्राक्तन सृष्टि प्रवेश आदि वाक्यों से जगत् और जीव के स्वरूप में अज्ञात ब्रह्ममात्र अभिन्न-निमित्त-उपादानक होने से तीनों कालों में

उत्पत्तिमान् पदार्थ की मिथ्या-रूपता प्रतीत होती है, क्योंकि, ब्रह्म से अतिरिक्त सत्ता सम्भव नहीं है। फलतः अद्वैत ब्रह्म में ही पर्यवसान होता है। उसी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप ब्रह्म का इस समय अधिकारी व्यक्ति श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूप साधन से साक्षात्कार करता है और पूर्ण नित्य मुक्त ब्रह्म के भान से मोक्ष फल की भी प्राप्ति करता है।

उत्पत्ति के प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म विवर्त्त के रूप में जगत् को माना गया है। मोक्ष प्रप्ति अधिकरण में । १ । १३ सूत्र में प्रपञ्च को ब्रह्म के परिणाम के रूप में निर्देश कर आरम्भणाधिकरण में २ । १ । १४ सूत्र में प्रपञ्च के परिणामित्व का निषेध कर प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त्त माना गया है। उपसंहार अधिकरण २ । १ । २४ एवं कृत्स्न-प्रसक्ति-अधिकरण में (२ । १ । २६) सूत्र में प्रपञ्च को ब्रह्म के परिणामित्व-वाद में सम्भावित दोषों का निराकरण कर निर्दुष्ट रूप में इसका समर्थन किया गया है तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः (२ । १ । १४) सूत्र में भाष्य के अन्त में भाष्यकार ने कहा है कि २ । १ । १३ सूत्र में सूत्रकार ने परिणाम प्रक्रिया का आश्रयण किया है। अतः, आकाशादि प्रपञ्च का प्रत्याख्यान नहीं किया है। परिणाम की प्रकिया में सम्भावित दोषों का निराकरण कर सूत्रकार ने उसका उत्तर दिया है। सगुण ब्रह्म की उपासना में परिणाम प्रक्रिया की आवश्यकता होने से सूत्रकार ने परिणामवाद का अवलम्बन किया है। सर्वज्ञात्म मुनि ने संक्षेप-शारीरक में परिणामवाद को विवर्त्तवाद के अनुकूल ही विशदरूप में प्रतिपादित किया है। उत्पत्ति में आरम्भवाद, सङ्घात-वाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद इन चार प्रकार के वादों में किसी एक वाद का अवलम्बन कर अपने अभि-प्राय को अभिव्यक्त किया है, ब्रह्म सूत्रकार ने आरम्भवाद और सङ्घातवाद का परित्याग कर परिणामवाद और विवर्त्तवाद का अपने सूत्र में सिद्ध किया है :—

आरम्भ–संहति-विकार-विवत्तवादानाश्रित्य वादिजनता खलुवावदीति।
आरम्भ-संहतिमते परिहृत्य वादौ द्वावत्र संग्रहपदं लभते मुनीन्द्रः। (संक्षेप २.५७)

उत्पत्ति प्रकरण के द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि सप्रपञ्चरूप में ब्रह्म का ज्ञान न होने पर निष्प्रपञ्चरूप में ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता है। ब्रह्म-परिणामवाद के अवलम्बन से ब्रह्म का सप्रपञ्चरूप में ज्ञान होने पर ब्रह्म विवर्त्तवाद के अवलम्बन से ब्रह्म का निष्प्रपञ्च रूप में ज्ञान होता है। श्रुति से भी ब्रह्म का सप्रपञ्च रूप में निर्देश कर ब्रह्म का निष्प्रपञ्चरूप में प्रतिपादन किया गया है। सर्व-धर्मविवर्जित, असङ्ग, ब्रह्मतत्त्व किसी भी प्रतीति का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि, सभी प्रतीतियाँ "यह इस प्रकार" "यह अन्य प्रकार नहीं" "एव म्प्रकारमिदम् नान्यप्रकारम्" इसी रूप में वस्तु को विषय करती हैं, यदि निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व अन्य प्रमाणों से निरू-पित हो सकता तो निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व प्रतिपादिनी श्रुति अनुवादिनी हो जाती, और अनुवादिनी श्रुति प्रमाण कोटि में गृहीत नहीं होती है, अज्ञात-ज्ञापकता ही श्रुति में प्रमाणत्व है, निर्विशेष असङ्ग ब्रह्म अत्यन्त अपरिदृष्ट वस्तु होता है, अतः, ऐसी वस्तुओं में किसी भी पद की सङ्गति नहीं रहती है। इसलिए, ऐसा ब्रह्म अपदार्थ है, जो अपदार्थ है, वह पदार्थ संसर्गरूप वाक्यर्थ का विशेषण या विशेष्यरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकता है, वैसा ब्रह्म वस्तु संसर्ग रूप भी नहीं है, इसलिए, वैसे ब्रह्म शब्द की ब्रह्म से सिद्ध ही सम्भव नहीं है, अतः, वैसे ब्रह्म के प्रतिपादन के लिए अन्य उपाय न रहने पर भी श्रुति प्रथमतः समस्त जगत् के उपादान रूप में अर्थात् अनेक रूप में परिणत प्रपञ्च का परिणामी उपादान रूप में ब्रह्म का निर्देश किया जाता है। सभी उत्पत्ति श्रुतियाँ जिस स्थल में ब्रह्म को कारण कहती हैं, उस स्थल में ब्रह्म अनेक प्रपञ्च रूप में परिणत होता है—यही अवगत होता है, एक असहाय ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कहने से आरम्भवाद और सङ्घातवाद नहीं रहता है, इन उभयवादों में ही एक असहाय द्रव्य द्रव्यान्तर का आरम्भक हो नहीं सकता है एवं संहत भी नहीं हो सकता है। इन दोनों वादों में कारण द्रव्य का अनेकत्व अपेक्षित रहता है एवं एक असहाय ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानने पर प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सम्भावना का कोई भी कारण न रहने से विवर्तवाद में ही प्रवेश सम्भव होता है, इस

प्रकार श्रुतियों के द्वारा परिणामवाद का अवलम्बन कर सप्रपञ्च ब्रह्म निरूपित होने पर ब्रह्म का सदा निष्प्रपञ्च स्वभाव की प्रदिपादक "नेति नेत्यात्मा" "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" "नाना काचन भिदास्ति" आदि श्रुतियाँ उत्पत्ति श्रुतियों के द्वारा प्रसक्त प्रपञ्च की ब्रह्म रूप उपादान रूपताका निषेध कर निष्प्रपञ्च निरूपण किया गया है, मण्डन मिश्र ने भी इसका समर्थन किया है– "भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरूपणम्" (ब्रह्मसिद्धि १श्लोक) अपने उपादान में प्रसक्त प्रपञ्च का सदा अभाव प्रतिपादन के द्वारा श्रुतियाँ प्रपञ्च का मिथ्यात्व ही व्यक्त करती है, फलतः, प्रपञ्च की ब्रह्म विवर्तता के रूप में मिथ्यात्व सिद्ध होता है। इसी विषय को इस कारिका के द्वारा कहा जाता है :—

अध्यारोपापवादभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चते। नान्यत्र कारणात् कार्यं नचेत् तत्र क्व तद् भवेत्

इस प्रकार परिणामवादपूर्वक ही विवर्त्तवाद का प्रवेश होता है :—

विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः। व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः (२.६१)

ब्रह्म का विवर्त ब्रह्माण्ड को मानने पर प्रपञ्च की उत्पत्ति को भली-भाँति अवगत करना आवश्यक है। अतः, उत्पत्तिवाद प्रकारण का निरूपण मुमुक्षुप्रकरण के द्वारा प्रसङ्गतः प्राप्त है।

१

वाग्भाभिर्ब्रह्मविद् ब्रह्म भाति स्वप्न इवाऽऽत्मनि। यदिदं तत्स्वशब्दोत्थैर्यो यद्वेत्ति स वेत्ति तत् ॥ १ ॥

१

महावाक्यों के द्वारा प्रकाशात्मक वृत्ति से ब्रह्मवेत्ता होकर स्वप्न के समान आत्मा में आत्मा का साक्षात्कार करता है, अहं ब्रह्मास्मि आदि शब्दों से जो इस ब्रह्म का ज्ञान कर लेता है वह जिस दृश्य पदार्थ को देखता है वह अधिष्ठानात्मक ब्रह्म के रूप में उसे देखता है। अर्थात् सभी विश्व ब्रह्मात्मक है। प्रकृत रूप में उत्पन्न ब्रह्माण्ड की भिन्न रूपता को देखते हुए भी मिथ्या अवगत करता हुआ अनुस्यूत ब्रह्म का ही साक्षात्कार करता है। इसी लिए वामदेव को स्वयं में मनु और सूर्य के अभेद रूप में निश्चयात्मक ज्ञान होता है—"अहं मनुरभवं सूर्यश्च"।

तात्पर्य प्रकाशिका संस्कृत टीकाकार इस पद्य में अनेक अर्थ किये हैं, जिसका निदर्शन अच्युतग्रन्थमाला के हिन्दी अनुवाद से अविकल प्रस्तुत किया जा रहा है:—जो अज्ञात होने के कारण मुमुक्षुओं की जिज्ञासा का विषय है, सम्पूर्ण लोगों को जिसका आत्मरूप से प्रत्यक्ष है, वह ब्रह्म वाचक शब्द समूह और उससे प्रकाशित होने वाले अर्थ,समूह से 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' (नाम, रूप और कर्म ये तीन) इत्यादि श्रुति में प्रदर्शित द्वैतप्रपञ्च से अपृथक् अपने को देखता हुआ अपने में स्वप्न की नाईं बध, बन्धन, शोक, मोह आदि से दुःखी प्रतीत होता है। जो अधिकारी उस प्रकार से प्रतीत होते हुए भी ब्रह्म को केवल आत्मा का ही परिशेष बतलाने वाले 'नेति नेति' इत्यादि वाक्य द्वारा द्वैत-निषेध से अवशिष्ट जानता है, वही ब्रह्म को यथार्थ रूप से जानता है। आरोपित नाम, रूप आदि को देखने वाला पुरुष उसे नहीं जान सकता यह भाव है।

अथवा—'वाग्' से 'वचन (बोलना), गमन आदि क्रियाप्रधान कर्मेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं और 'भाः' से प्रकाशप्रधान ज्ञानेन्द्रियाँ लक्षित होती हैं। उक्त द्वारभूत ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों से जो वस्तुतः ब्रह्म को भी देखता है वह स्वयं ब्रह्म होता हुआ भी आत्मा में स्वप्न की नाईं अब्रह्मभूत अन्यथा प्रतीत होता है, कारण कि बहिर्मुख पुरुष को तत्त्वदर्शन नहीं हो सकता, 'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (परमात्मा ने इन्द्रियों को अनात्मविषयक बना कर उनकी हिंसा की, इसलिए जीव उनसे अनात्म पदार्थों को ही देखता है) इत्यादि श्रुति है। परन्तु जो अधिकारी प्रसिद्ध इस प्रपञ्च को भी 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' (यह सब ब्रह्म ही है। यह सब आत्मा ही है) इत्यादि परमार्थपरक वाक्यों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से

सबका अधिष्ठान सन्मात्र जानता है, बाह्य इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति से मुक्त तथा प्रत्यङ्मुख हुआ वह ब्रह्म को जानता है। बाह्य दृष्टि से देखा गया ब्रह्म भी अनर्थ ही है और प्रामाणिक प्रत्यक् दृष्टि से देखा गया जगत् भी पुरुषार्थ के लिए होता है। यों सृष्टि विस्तार के बहाने प्रत्यग्-दृष्टि के विकास कराने में ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है, यह भाव है।

अथवा—आगे कही जाने वाली उपदेश वाणियों से तथा दृष्टान्त, आख्यान और युक्तिरूप प्रकाशों से यह कहा जाता है कि ब्रह्मज्ञ ही परमार्थरूप से ब्रह्म है। ब्रह्म नाम का दूसरा कोई पदार्थ व्यवहित दूर प्रदेश में आत्मा से अतिरिक्त है, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये। जो यह दृश्य प्रपञ्च है, वह स्वप्न की नाईं परमात्मा में अध्यस्त हुआ प्रतीत होता है, वह भी परमार्थ सत्य अन्य पदार्थ है, ऐसी भ्रान्ति को स्थान नहीं देना चाहिए। पूर्वोक्त ब्रह्मभाव और जगद्भाव में जो विवेकी अथवा अविवेकी मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं देवदत्त हूँ, यों स्वाभाविक लौकिक प्रसिद्ध मिथ्यास्वशब्दों से उत्पन्न या 'ब्रह्मैवाहम्' (मैं ब्रह्म ही हूँ), 'चिदेवाहम्' (मैं चित् ही हूँ) इत्यादि शास्त्रीय सत्य अर्थ वाले स्वशब्दों से उत्पन्न ज्ञान से जैसा अपना स्वरूप जानता है वैसा ही पुनः पुनः अनुभव करता है। संसारी आत्मा को देखने वाले को संसार रूप फल प्राप्त होता है और ब्रह्मात्मदर्शी को ब्रह्मभाव प्राप्त होता है, इसलिए जीव को ब्रह्मदर्शी होना चाहिए, यह भाव है।

अथवा—यदि किसी को शङ्का हो कि 'यथास्थितं ब्रह्मतत्त्वं सत्ता नियतिरुच्यते' तथा 'अस्त्यनन्तविलासानामाश्रयः' (यो० १।१ तथा ११ मुमुक्षुव्य० प्र०) इत्यादि से पूर्व में ब्रह्म का उपदेश हो ही चुका है। वहीं पर ब्रह्म का उपदेश देने पर शम, दम आदि के अभाव में चित्त अस्थिरता होने पर चित्त की स्थिरता के साधन शम, दम आदि और उनकी पुष्टि के लिए पौरुष का उपदेश दिया जा चुका है अब कोई भी उपदेष्टव्य वस्तु बची नहीं। यदि कहिये कि एक बार उपदिष्ट वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान से ब्रह्म का भान नहीं होता, तो सैकड़ों बार उसका उपदेश देने पर भी वह वैसा का वैसा ही रहेगा। फिर पिष्टपेषण की नाईं उसके पुनः पुनः उपदेश से क्या फल होगा ? इस पर कहते हैं—'वाग्भाभिः' इत्यादि से।

जो ब्रह्मवेत्ता श्रोता पुरुष एक बार उपदिष्ट वाक्यों के अर्थ प्रकाश से मैं ही ब्रह्म हूँ, यों जानता है उसके ज्ञान का स्वप्न की नाईं प्रायः बाध हो जाता है, वह दृढ़ नहीं रहता या जैसे निद्रावशीभूत पुरुष अप्रसिद्ध अपने अपने नक्षत्र नाम से धीरे-धीरे पुकारे जा रहे वाक्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता वैसे ही एक बार उपदिष्ट वाक्य के अर्थ प्रकाश से भी 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता। वही पुरुष हे देवदत्त ! हे यज्ञदत्त ! यों चिरकाल के व्यवहार से प्रसिद्ध अपने नाम के सम्बोधन से उत्पन्न ज्ञान से जैसे जाग जाता है वैसे ही चिरकाल से अभ्यस्त श्रवण आदि के अभ्यास से खूब परिचित महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान से जो जानता है वही जानता है वैसा असंदिग्ध आत्मबोध ही अविद्या के उच्छेद में हेतु है, यह अर्थ है। वैसे दृढ निश्चय से युक्त अपरोक्ष अनुभव के लिए युक्तियों से फल की प्राप्ति होने तक पुनः पुनः उपदेश का अभ्यास करना चाहिए।

अथवा—जैसे ब्रह्म को न जानने वाला पुरुष जाग्रत्-काल की भय आदि की चिरकालिक वासनाओं से वासित होकर स्वप्न में अविद्यावश निन्दा करना, धमकाना आदि भीषण वाणियों से भय से काँपना, भागना, गड्ढे में गिरना आदि से युक्त होकर दुःखी प्रतीत होता है, या जैसे उपासक पुरुष जाग्रत्-काल की देवभाव वासना के वासित होकर स्वप्न में देवता के तुल्य, राजा के तुल्य स्तुति, प्रशंसा आदि की वाणियों से और क्रीड़ा, विमान पर चढ़ना, आकाश विहार करना आदि प्रतिभा से युक्त प्रतीत होता है वैसे ब्रह्मवेत्ता भी चिरकाल से भली भाँति अभ्यस्त श्रवण आदि से वासित होकर स्वप्न में 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है', 'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार परमार्थ का प्रतिपादन करने वाली वाणियों से और वास्तविक ब्रह्मभाव की प्रतिभा से दीप्त होता है, फलावस्था में भी स्वप्न की नाईं परलोक फल भी दृढ़ अभ्यस्त वासना के अनुसार होता है, इसका आगे लीलोपाख्यान आदि में उपपादन किया जायगा।

शङ्का—इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—स्वप्न की नाईं परलोक फल भी वासना के अनुसार होता है, इस बात का 'जो स्वयं ही (न कि अन्य किसी की अपेक्षा से) ज्ञान कराते हैं, वे स्वशब्द हैं अर्थात् श्रुतियाँ उनसे उत्पन्न स्वतः प्रमाण भूत ज्ञान से

न्यायेनाऽनेन लोकेऽस्मिन् सर्गे ब्रह्माम्बरे सति ।
किमिदं कस्य कुत्रेति चोद्यमूचे निराकृतम् ॥ २ ॥

निश्चय होता है । 'अत्र यत्रैनं घ्नन्तीव हस्तीव विच्छादयति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथो यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः' (स्वप्न में इस स्वप्न दर्शक पुरुष को शत्रु या अन्य चोर मारते-से हैं, वशीभूत-सा करते हैं, हस्ती-सा इसको भगाता है, गड्ढे में-सा गिरता है, जो हस्ती आदिरूप जाग्रद्भय को देखता है, उसी का स्वप्न में भी देखता है, स्वप्न में भय के बिना भी मिथ्या ही उत्पन्न हुई अविद्या से भय मानता है । जिस काल में देवता के समान, राजा के समान मैं ही सब हूँ, ऐसा मानता है । जो यह सर्वात्मभाव है वही इसका परम लोक है), 'तद्य इह व्याघ्रो वा सिंहो वा यद् यद्भवन्ति तदा भवन्ति' (वे इस लोक में कर्म से प्राप्त जिस-जिस व्याघ्र आदि जाति को प्राप्त हुए थे, वे उस कर्म ज्ञान की वासना से वासित होकर सत् में प्रविष्ट होकर भी फिर तद्-तद्भाव से उत्पन्न होते हैं), 'यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्' 'मनो कृतेनायात्यस्मिन् शरीरे' (जिस वस्तु का चिन्तन करता है, तन्मय हो जाता है, यह परम गुह्य है और संकल्प द्वारा ही इस शरीर में आता है) इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च ॥ (जिस जिस पदार्थ का स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, उसी भाव को प्राप्त होता है । इसलिए तुम सर्वदा मेरा स्मरण करो) इत्यादि स्मृतियाँ हैं । अभ्यासावस्था में जो संसारी आत्मा को यह ब्रह्मभाव को जानता हैं, वह फलावस्था में भी उसको जानता है, इसलिए नित्य निरन्तर ब्रह्मानुभव वासना को ही दृढ़ करना चाहिए, यह उत्पत्ति प्रकरण का तात्पर्यार्थ है ।

अध्यारोप और अपवाद न्याय से अभिन्न निमित्तोपादन कारणभूत अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म में अध्यस्त अर्थात् विवर्तभूत इस परिदृश्यमान चराचर प्रपञ्चात्मक सृष्टि के (ब्रह्मसाक्षात्कार से अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति होने पर भी) ब्रह्ममात्रावशेष रहने पर भी यह क्या है ? यह किसका है ? यह कहाँ से आया है ? इन जिज्ञासाओं का स्वयं निराकरण हो जाता है ।

आशय यह है कि, सत् पदार्थ का नाश नहीं होता है, ब्रह्म की सत्ता से सम्पूर्ण विश्वभासमान है । जैसे रस्सीरूप अधिष्ठान=आधार में अविद्या या अज्ञान से रस्सी के स्वरूप का आवरण कर विक्षेप शक्ति से अनिर्वचनीय सर्प की उत्पत्ति होती है और नायं सर्पः=यह साँप नहींहै, रज्जुरियं=यह रस्सी ही है, इस वाक्य के द्वारा अस्तित्व के अभाव का निराकरण होता है और सर्प की आधार स्वरूप रस्सी के साक्षात्कार के द्वारा अज्ञान की सृष्टि सर्प का सर्वथा निराकरण होता है । किन्तु, इस प्रसङ्ग में यह ज्ञात है कि वेदान्त प्रक्रिया में दो मत प्रचलित है एक मत के अनुसार शब्द के द्वारा स्वयं प्रकाश ब्रह्म की महिमा से अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है और अन्य प्रक्रिया के अनुसार मन के द्वारा ही साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है और शब्द के परोक्षात्मक ज्ञान होता है । इस प्रसङ्ग में शब्दापरोक्षावादियों का कहना है कि शब्द ज्ञान का विषय ब्रह्म स्वप्रकाश है, अतः शब्द से भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है । इस प्रसङ्ग में एक प्रसिद्ध उदाहरण है :–

दश व्यक्ति गङ्गा स्नान के लिए जाते हैं, लौटने के समय जब गणना की जाती है, अपने को छोड़कर नौ संख्या ही होने के कारण दशों व्यक्ति के डूबने की आशंका से रोने लगते हैं, भाग्य से एक अन्य व्यक्ति आता है और वह इनके रोने के कारण की जिज्ञासा करता है, यह जानकर दश होते हुए भी नौ हो समझकर अज्ञानवश आत्म परिचय न होने से रो रहें है, वह उन्हें गिनने को कहता है, एक व्यक्ति गणना करता है और अपने छोड़कर नौ की गणना करता है, तब साक्षी तटस्थ व्यक्ति कहता है कि दशमस्त्वमसि=दसवें व्यक्ति तुम ही , इस वाक्य से ही अपरोक्षात्मक ज्ञान होता है, अतः, शब्द से भी साक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है, प्रकृत में वाक्य के द्वारा आत्मसाक्षात्कार की चर्चा और अध्यारोप अपवाद न्याय के ब्रह्म मात्र शेष का प्रतिपादन किया गया विवर्तभूत पदार्थ की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानी जाती है इसका विस्तृत विवरण भूमिका से अवगत करें ॥ २ ॥

अहं तावद् यथाज्ञानं यथावस्तु यथाक्रमम् ।
यथास्वभावं तत्सर्वं वच्मीदं श्रूयतां बुध ! ॥ ३ ॥

हे विद्वन् ! मैं पीछे संक्षेप से दिखलाये गये सम्पूर्ण पदार्थों को प्रमाणों और अनुभव के अनुसार, वस्तु के अनुसार और स्वभाव के अनुसार क्रमशः मैं सभी विषयों को कहता हूँ, सावधान होकर सुनें इस विषय का तात्पर्य व्याख्या में इस प्रकार कहा गया है ।

स्वप्नवत्पश्यति जगच्चिन्नभोदेहवि¹स्स्वयम् । स्वप्नसंसारदृष्टान्त एवाऽहंत्वंसमन्वितम् ॥ ४ ॥

'यथावस्तु' का—परीक्षापूर्वक वस्तु का प्रतिपाद उसके अनुसार, 'यथाक्रम' हेतु और युक्तियों के आधार पर 'यथास्वभाव' श्रोता के स्वभाव के अनुरूप अर्थात् श्रोता की बुद्धि की परिपक्वता के अनुसार 'यथावस्तु' से सृष्टि से पूर्व की अवस्था का कथन है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण सन्मात्र ही था। 'यथाज्ञानम्' से सृष्टि के आरम्भ की उन्मुखता का कथन है, 'यथाक्रमम्' से स्थूल-रूप से सृष्टि के क्रम का कहना है 'यथास्वभावम्' से जगत् के आरोप की दशा में भी वह अविकृतस्वभाव रहता है, इसके कहा गया है और सर्वम्' से ज्ञान प्राप्त होनेवाले पूर्णयता का कथन है—

पूर्णमिद पूर्णमदः पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

इस श्रुति के ब्रह्म मात्र ही अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति के शेष रह जाता* है ॥ ३ ॥

चिदाकाश के समान असङ्ग जीवभाव को प्राप्तकर अखिल प्रपञ्च को स्वप्न के समान देखता है, अर्थात् स्वप्न की वस्तु का बाध होने पर स्वप्न ज्ञान बाधित नहीं होता है, वैसे ही अज्ञान परिकल्पित पदार्थ समन्वित जगत् को जानता है। अतः रागद्वेष से अभिभूत नहीं होता है। अहं=चित् तत्त्व एवं त्वं=जीवतत्त्व के रूप में भासमान जीव और ब्रह्म से युक्त संसार के लिए स्वप्न दृष्टान्त ही समन्वित होता है, क्योंकि स्वप्न ज्ञान बाधित स्वाप्निक पदार्थ बाधित होता है।

आशय यह है कि आकाश असङ्ग है फिर भी नील नभ एवं विभिन्न घर पर उपाधि के आधार पर घटा-काश, मठाकाश आदि के रूप में अज्ञान वश प्रतीत होता है अर्थात् व्योम में नील गुण चलन क्रिया="नीवं नभश्च-लति" इत्यादि प्रतीति होती है, चिद्रूप जीव के असङ्ग होने पर कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि प्रतीत होते हैं। इस दृष्टान्त के द्वारा चिद्रूप की सत्यता का प्रतिपादन एवं संसार के मिथ्यात्व प्रतिपादन में तात्पर्य है। अहं रूप प्रत्यगात्म तादात्म्यापन्न जीव एवं पराग्भावापन्न रूप से आसमान प्रपञ्च स्वरूपता स्वप्न के दृष्टान्त से भली-भाँति समन्वित है। इस प्रकार के दृष्टान्त संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादित किया गया है।

यह विचारणीय है कि संसार प्रमाण विषय है अतः अप्रमाणिक स्वप्न का दृष्टान्त कैसे समन्वित होता है। यद्यपि बाह्य जगत् को प्रमाणों के आधर पर देखा जाता है, तथापि कार्यकारण संघात स्वरूप व्यष्टि समष्टि स्वरूप शरीर का प्रकाशक स्वयं ही बाह्य प्रमाण सापेक्ष नहीं है। रूपदिमान् शरीर भी नेत्र से भासित होना चाहिए, यदि चक्षु आदि से उसका प्रकाश मानेगे तो वह युष्मत् या अस्मत् प्रत्यय का विषय नहीं होगा, क्योंकि, चैतन्य ही त्वं और अहं का विषय होता है, अतः, यह अर्थात् इदं प्रत्यय का ही विषय होगा, अहम् और त्वं की प्रतीति स्वप्न के दृष्टान्त से ही समन्वित होती है।

अथवा देह को स्वप्न के समान मानने पर भी नाम रूपात्मक जगत् मात्र का स्वाप्निक रूप है। केवल बाह्य जगत् में रूपादि मात्र की प्रतीति नहीं होती है, अपितु मैं रूप को देखता हूँ="अहं रूपं पश्यामि" इस रूप में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों समन्वित रूप में भासमान होते हैं, अतः यह केवल साक्षी से ही प्रतीति का विषय होने से स्वप्न संसार की दृष्टान्तता उपपन्न होती है। अध्यस्त विषय के प्रत्यक्ष ज्ञान में पारमार्थिक अर्थ विषय नहीं होता है। अध्यस्त अनिर्वचनीय अज्ञानोत्पन्न वस्तु ही भ्रम में अवगत होती है, अतः, बाह्य प्रमाणों के अर्थ के साथ अविसंवाद होने पर भी व्यवहारिक प्रामाण्य का विघात नहीं होता है ॥ ४ ॥

---

* 'यथावस्तु' का—परीक्षापूर्वक वस्तु का प्रतिपाद उसके अनुसार, 'यथाक्रम' हेतु और युक्तियों के आधार पर 'यथास्वभाव' श्रोता के स्वभाव के अनुरूप अर्थात् श्रोता की बुद्धि की परिपक्वता के अनुसार 'यथावस्तु' से सृष्टि से पूर्व की अवस्था कथन है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण सन्मात्र ही था। 'यथाज्ञानम्' से सृष्टि के आरम्भ की उन्मुखता का कथन है, 'यथाक्रमम्' से स्थूलरूप से सृष्टि के कम का कहना है 'यथास्वभावम्' से जगत् के आरोप की दशा में भी वह अविकृतस्वभाव रहता है, इसको कहा गया है और 'सर्वम्' से ज्ञान से प्राप्त होनेवाले पूर्ण एकता का कथन है।

१. चिन्मयन् इति पाठान्तरम् ।

मुमुक्षुव्यवहारोक्तिमयात् प्रकरणात् परम् ।
अथोत्पत्तिप्रकरणं मयेदं परिकथ्यते ॥ ५ ॥
बन्धोऽयं दृश्यसद्भा[1]वाद् दृश्याभावेन बन्धनम् ।
न सम्भवति दृश्यं तु यथेदं तच्छृणु क्रमात् ॥ ६ ॥
उत्पद्यते यो जगति स एव किल वर्द्धते ।
स एव मोक्षमाप्नोति स्वर्गं वा नरकं च वा ॥ ७ ॥
अतस्ते स्वावबोधार्थं तत्तावत् कथयाम्यहम् ।
उत्पत्तिः संसृतावेति पूर्वमेव हि यो यथा ॥ ८ ॥
इदं प्रकरणार्थं त्वं संक्षेपाच्छृणु राघव ! ।
ततः संकथयिष्यामि विस्तरं ते यथेप्सितम् ॥ ९ ॥
यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥ १० ॥

मुमुक्षुओं के व्यवहार मात्र के वर्णन अर्थात् मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरण के बाद मैं इस उत्पत्तिप्रकरण का विशुद्ध विवेचन करता हूँ ॥ ५ ॥

हे राम ! दृश्य पदार्थ के रहने तक ही यह संसाररूप बन्धन है । दृश्य के न रहने पर बन्ध नहीं रह सकता है । यह दृश्य जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसे आप क्रमशः सुनिए ॥ ६ ॥

इस जगत् में जो उत्पन्न होता है, उसी की वृद्धि, क्षय, स्वर्ग और नरक की प्राप्ति होती है एवं उसीका बन्ध और मोक्ष होता है । आशय यह है कि उत्पत्ति, वृद्धि, विनाश आदि धर्म शरीर के हैं । आत्मा के नहीं हैं अपने स्वरूप का परिज्ञान होने से ही उसकी उत्पत्ति आदि का भ्रम नष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥

उत्पत्ति प्रलय बद्ध संसार जीव और न साधक न मोक्षार्थी और न मुक्त है, यही परमार्थ सत्य है ॥ ८ ॥

हे राघव ! इस सर्ग में कहे गये अर्थ को संक्षेप से सुनें– अनन्तः मैं आप से आप की इच्छा के अनुकूल इसको विस्तारपूर्वक कहूँगा ॥ ९ ॥

जो यह चराचर अर्थात् स्थावर जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत् दिखाई देता है, वह सुषुप्ति में स्वप्न के समान दिखाई देता है और कल्पान्त=प्रलयकाल में नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

संज्ञा अर्थात् नाम से रहित (क्योंकि, निर्धर्मा है) अभिव्यक्ति शून्य, (क्योंकि अज्ञान से आवृत या प्रपञ्च के

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिस्यते ॥ ११ ॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ॥ १२ ॥
स तथाभूत एवाऽऽत्मा स्वयमन्य इवोल्लसन् ।
जीवतामुपयातीव भाविनाम्ना[2] कदर्थिताम् ॥ १३ ॥
ततः स जीवशब्दार्थकलनाकुलतां गतः ।
मनो भवति भूतात्मा मननान्मन्थरीभवन् ॥ १४ ॥
मनः सम्पद्यते तेन महतः परमात्मनः ।
सुस्थिरादस्थिराकारस्तरङ्ग इव वारिधेः ॥ १५ ॥
तत्स्वयं स्वैरमेवाऽऽशु सङ्कल्पयति नित्यशः ।
तेनेत्थमिन्द्रजालश्रीर्विततेयं वितन्यते ॥ १६ ॥

संस्कार का आधार है) (अक्रिय और अमूर्त होने से व्योम के समान) अपरिच्छिन्न गम्भीर, रूप रहित होने से तेज स्वरूप नहीं और (प्रकाश स्वरूप होने से) अन्धकार स्वरूप नहीं सत्स्वरूप ही केवल शेष रह जाता है ॥ ११ ॥

मनीषियों ने व्यवहार के लिए उस सद्रूप सर्वव्यापक आत्मा की ऋतु, आत्मा, पर, ब्रह्म, सत्य इत्यादि अनेक नामों की व्यवहार के लिये कल्पना कर ली है ॥ १२ ॥

चिद्रूप आत्मा ही अज्ञान से अन्य के समान अभिव्यक्त होकर अर्थात् आकाश आदि के क्रम से उत्पन्न प्रतीत होता हुआ भावी जीवनाम से निन्दित जीवता को भ्रान्ति से प्राप्ति के समान लाभ करता है ॥ १३ ॥

अनन्तर वह चिद्रूप आत्मा क्रिया शक्ति प्रधान होने से अर्थात् सङ्कल्प विकल्पात्मक तर्कमूलक होने से वह आकलन से चञ्चल मनन से जड़ता को प्राप्त कर भूतात्म स्वरूप मन हो जाता है अर्थात् मनरूपी आत्मा जीव हो जाता है बुद्धि तत्त्व की प्रधानता रहती है ॥ १४ ॥

जैसे समुद्र सर्वथा गम्भीर निश्चल अस्थिर तरङ्ग के रूप में हो जाता है वैसे ही अपरिच्छिन्न परमात्मस्वरूप को विस्मृत होकर मनःस्वरूप हो जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह इन्द्रजाल के समान समष्टि मनोभाव को प्राप्तकर हिरण्यगर्भनामक ब्रह्म स्वयं (दूसरे द्वारा बोध पाये बिना ही) पूर्ववासना के अनुसार विराट स्वरूप

---

१. सद्भावो दृष्यभावेन इतिपाठान्तरम् ।
२. भादिनाम इतिपाठान्तरम् ।

यथा कटकशब्दार्थः पृथक्त्वार्हो न काञ्चनात् ।
न हेमकटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परे ॥ १७ ॥
ब्रह्मण्येवाऽस्त्यनन्तात्म यथास्थितमिदं जगत् ।
न जगच्छब्दकार्थेऽस्ति हेम्नीव कटकात्मता ॥ १८ ॥
सती वाऽप्यसती तापनद्येव लहरीचला ।
मनसेहेन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते ॥ १९ ॥
अविद्या संसृतिर्बन्धो माया मोहो महत्तमः ।
कल्पितानीति नामानि यस्याः सकलवेदिभिः ॥ २० ॥
बन्धस्य तावद्रूपं त्वं कथ्यमानमिदं शृणु ।
ततः स्वरूपं मोक्षस्य ज्ञास्यसीन्दुनिभानन ! ॥ २१ ॥
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते ।

भुवन आदि भाव को और वहाँपर स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज और जरायुज रूप चार प्रकार के जीवभावों का नित्य सङ्कल्प कर उस सत्यसङ्कल्प से यह विशाल सृष्टि व्याप्त हो जाती है ॥ १६ ॥

सत्य सङ्कल्प विश्वाधार ब्रह्म ही जगद्रूप है। जैसे सुवर्ण निर्मित कटक कुण्डल को सुवर्ण से पृथक् नहीं है अर्थात् कञ्चन स्वरूप ही केवल नाम रूप से पृथक् अवभासित होते हैं ॥ १७ ॥

जिस प्रकार कटकरूपता सुवर्ण स्वरूप के ही अन्तर्गत है परिच्छिन्न कटकस्वभाव के अन्तर्गत सुवर्ण नहीं है, वैसे ही परिच्छेद शून्य यह जगत्-शब्दार्थ भी अनन्तस्वरूप ब्रह्म के स्वभाव के ही अन्तर्गत है नाशवान् जगत् स्वरूप नहीं है। आशय यह है कि सङ्कल्पात्मक जगत् की उत्पत्ति होने से जगत् की निवृत्ति के अभिन्न निमित्तोपादान ब्रह्मात्मक ही रहता है ॥ १८ ॥

जैसे मरुस्थल में मरुमरीचिका नदी असत् चञ्चल तरङ्गों के सत् के समान विस्तार करती है वैसे ही मन से यह इन्द्रजाल के समान जगत् सत् न होता हुआ भी सत् के समान उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

सर्वज्ञों ने इसके लिए अविद्या, संसार, बन्धन, माया, मोह, महत्, तम आदि अनेक नामों की कल्पना की है ॥ २० ॥

मैं आप से माया=अज्ञान या बन्ध का स्वरूप आप को कह रहा हूँ, हे चन्द्रमुख ! बन्ध स्वरूप को सुनकर अवगत करने पर ही मोक्ष स्वरूप को आप समझ सकेंगे ॥ २१ ॥

वत्स, दृश्य प्रपञ्च का अस्तित्व द्रष्टा का बन्ध कहा जाता है। दृश्य के कारण ही द्रष्टा बन्धन में पड़ा है और दृश्य के हट जाने से मुक्त हो जाता है। असत्य

द्रष्टा दृश्यबलाद् बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ॥ २२ ॥
जगत्त्वमहमित्यादिर्मिथ्यात्मा दृश्यमुच्यते ।
यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥ २३ ॥
नेदं नेदमिति व्यर्थप्रलापैर्नोपशाम्यति ।
संकल्पजनकैर्दृश्यव्याधिः प्रत्युत वर्द्धते ॥ २४ ॥
न च तर्कभरक्षोदैर्न तीर्थनियमादिभिः ।
सतो दृश्यस्य जगतो यस्मादेति विचारकाः ॥ २५ ॥
जगद्दृश्यं तु यद्यस्ति न शाम्यत्येव कस्यचित् ।
नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ॥ २६ ॥
अचेत्यचित्स्वरूपात्मा यत्र यत्रैव तिष्ठति ।
द्रष्टा तत्राऽस्य दृश्यश्रीः समुदेत्यप्यणूदरे ॥ २७ ॥

स्वरूप जगत् 'त्वम्' 'अहम्' इत्यादि दृश्य कहा जाता है। जबतक यह दृश्य रहता हैं तब तक मोक्ष नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

यह नहीं है, यह नहीं है इत्यादि व्यर्थ प्रलापों से इसका विनाश नहीं होता बलिक संकल्प के हेतु 'यह दृश्य नहीं है' इत्यादि प्रलापों से दृश्यरूप व्याधि बढ़ती है। दृश्य के विद्यमान रहने पर यह नहीं है, यह कथन बाधित हो जाता है, अतः वह विद्यमान दृश्य के विरोधी अन्य दृश्य के उत्पादन-संकल्प से उसके उत्पादन द्वारा पूर्व दृश्य का निराकरण करता है, यही मानना होगा; ऐसी परिस्थति में एक दृश्य का निराकरण के लिए दो दृश्यों की उत्पत्ति हो जाने से दृश्य बढता ही जायेगा ॥ २४ ॥

हे विचारशील ! व्यक्ति दृश्य जगत् के विद्यमान रहने पर तर्क के विनतक्षोदक्षेम से अर्थात् अनेक तर्कों की परम्परा से तथा तीर्थयात्रा तथा नियम आदि से वर्तमान दृश्य की निवृत्ति नहीं होती है ॥ २५ ॥

यदि जगत् की वास्तविक सत्ता है, तो किसी भी प्रकार जगत् की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि असत् पदार्थ की सद्भाव नहीं होती है और सत् का अभाव नहीं होता है ॥ २६ ॥

तप आदि से जिसका ज्ञान नहीं हो सकता है अर्थात् चिद्रूप आत्मा जिसको ज्ञात नहीं है और मन, शरीर, भूत आदि को ही जो आत्मा मानता है। ऐसा द्रष्टा जहां कहीं भी रहेगा वहां परमाणु के उदर में भी उसको दृश्य की प्रतीति होगी। आशय यह है कि आत्मतत्व का परिज्ञान जिसको नहीं है ऐसे अज्ञानी पुरुष के दृश्य के बीजभूत परमाणु में भी दृश्य मूलक बन्धन दुर्निवार है ॥ २७ ॥

तस्मादस्ति जगद् दृश्यं तत्प्रमृष्टमिदं मया ।
त्यक्तं तपोध्यानजपैरिति काञ्जिकतृप्तिवत् ॥ २८ ॥
यदि राम ! जगद् दृश्यमस्ति तत्प्रतिबिम्बति ।
परमाणूदरेऽप्यस्मिश्चिदादर्शे तथैव हि ॥ २९ ॥
यत्र यत्र स्थिते यद्वद्दर्पणे प्रतिबिम्बति ।
अद्र्यब्ध्युर्वीनदीवारि चिदादर्शे तथैव हि ॥ ३० ॥
ततस्तत्र पुनर्दुःखं जरा मरणजन्मनी ।
भावाभावग्रहोत्सर्गः स्थूलसूक्ष्मचलाचलः ॥ ३१ ॥
इदं प्रमार्जितं दृश्यं मया चात्रात्रऽहमास्थितः ।
एतदेवाऽक्षयं बीजं समाधौ संसृतिस्मृतेः ॥ ३२ ॥
सति त्वस्मिन्कुतो[1] दृश्ये निर्विकल्पसमाधिता ।

इसलिए दृश्य जगत् के रहने पर भी उसका तप, ध्यान और जप द्वारा जहाँ वह था वहीं उसका त्याग कर दिया, यह धारणा बासी भात आदि के सड़े जल से तृप्ति करने की प्राप्ति के समान है ॥ २८ ॥

हे राम ! यदि दृश्यरूप जगत् है, तो उसका परमाणु के भीतर और चैतन्यरूपी आदर्श में भी वैसा ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। आशय यह है कि दृश्यरूप जगत् जैसे विपुल दृश्य में विद्यमान है, वैसे ही परमाणु में एवं चेतन आत्मस्वरूप में भी ऐनक उसका प्रतिबिम्ब पड़ता ही है अर्थात् चिदात्मा और परमाणु भी बन्धन का कारण है ॥ २९ ॥

जैसे पर्वत, समुद्र, पृथिवी, नदी के जल का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही चैतन्यरूपी ऐनक में जिस किसी भी स्थान में स्थित दर्पण में आत्मा में भी पड़ता है ॥ ३० ॥

उसके बाद उस प्रतिबिम्ब में पुनः जरा, मरण, जन्म दुःख वैसे ही प्राप्त होते हैं जैसे जाग्रत्, अवस्था में स्थूल तथा स्वप्न में सूक्ष्म भाव और अभाव का ग्रहण और सुषुप्ति में उनका त्याग हो जाता है ॥ ३१ ॥

इस दृश्य जगत् का मैंने परिमार्जन कर लिया अतः, यहाँ पर मैं समाधि में स्थित हूँ, पर समाधि में संसार के स्मरण का यह कभी क्षय न होनेवाला बीज है। अर्थात् जिसका स्मरण नहीं हुआ, उसका मार्जन नहीं हो सकता और उसका स्मरण होनेपर तो समाधि का भङ्ग हो जायगा ॥ ३२ ॥

इस दृश्य प्रपञ्च के रहने पर निर्विकल्पक समाधि कभी नहीं हो सकती है। निर्विकल्पक समाधि होनेपर

समाधौ चेतनत्वं तु तुर्यं चाऽप्युपपद्यते ॥ ३३ ॥
व्युत्थाने हि समाधानात् सुषुप्तान्त इवाऽखिलम् ।
जगद्दुःखमिदं भाति यथास्थितमखण्डितम् ॥ ३४ ॥
प्राप्तं भवति हे राम ! तत्किं नाम समाधिभिः ।
भूयोऽनर्थनिपाते हि क्षणसाम्ये हि किं सुखम् ॥ ३५ ॥
यदि वाऽपि समाधाने निर्विकल्पे स्थितिं व्रजेत् ।
तदक्षयसुषुप्ताभं तन्मन्येताऽमलं पदम् ॥ ३६ ॥
प्राप्यते सति दृश्येऽस्मिन्न च किं नाम केनचित् ।
यत्र यत्र किलाऽऽयाति चित्तताऽस्य जगद्भ्रमः ॥ ३७ ॥
द्रष्टाऽथ यदि पाषाणरूपतां भावयन्बलात् ।
किलाऽऽस्ते तत्तदन्तेऽपि भूयोऽस्योदेति दृश्यता ॥ ३८ ॥

भी चित्त के रहनेपर चेतनता और चित्त का बाध होने पर तुर्यपद उपपत्ति होती है। द्रष्टास्वरूप में अवस्थान के बिना निर्विकल्प समाधि का अवसर ही नहीं है ॥३३॥

जैसे सुषुप्ति के (गाढ़ी नींद के) बाद जागने पर दुःखमय यह सारा जगत् दुःखमय हो जाता है, वैसे ही समाधि टूटने पर यह दुःखमय सम्पूर्ण जगत् पूर्व के समान ही भासमान है ॥ ३४ ॥

हे राम ! इस समाधि से क्या लाभ है समाधि की समाप्ति के बाद यदि अनर्थ दुःखमय संसार में आना ही है तो क्षणिक शान्तिप्रद सुख से क्या लाभ होता है ॥ ३५ ॥

यदि निर्विकल्प समाधि से कभी विच्छेद अर्थात् अव्युत्थान की प्राप्ति हो जाय तो ज्ञान के बिना भी अक्षय सुख की प्राप्ति हो गयी, ऐसा यदि कोई मानता है तो वह निर्मल पद को कभी क्षीण न होनेवाली सुषुप्ति के ही समान मानता है अर्थात् यह पुरुषार्थ नहीं रहेगा ॥ ३६ ॥

इस मनरूपी दृश्य के रहते हुए समाधि से कितना भी प्रयत्न किया जाय उसे दृश्य की अवश्य प्राप्त होती है, क्योंकि जहाँ जहाँ इसका चित्त जाता है, वहाँ वहाँ चित्त से उत्पन्न होनेवाले जगद्भ्रम का निवारण नहीं किया जा सकता है ॥ ३७ ॥

यदि अज्ञानी द्रष्टा समाधि के बल से लब्ध दुःखशून्य पाषाणता का चिन्तन करता रहता है, तो समाधि के अन्त में उसको पुनः दृश्यता की प्राप्ति होती है ॥ ३८ ॥

१ जगद्दृश्ये इति पाठान्तरम् ।

न च पाषाणतातुल्या निर्विकल्पसमाधयः ।
केषाञ्चित्स्थितिमायान्ति सर्वैरित्यनुभूयते ॥ ३९ ॥
न च पाषाणतातुल्या रूढिं[1] याताः समाधयः ।
भवन्त्यग्रपदं शान्तं चिद्रूपमजमक्षयम् ॥ ४० ॥
तस्माद्यदीदं सद्दृश्यं तन्न शाम्येत्कदाचन ।
शाम्येत्तपोजपध्यानैर्दृश्यमित्यज्ञकल्पना ॥ ४१ ॥
आलीनवल्लरीरूपं यथा पद्माक्षकोटरे ।
आस्ते कमलिनीबीजं तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ ४२ ॥
यथा रसः पदार्थेषु यथा तैलं तिलादिषु ।
कुसुमेषु यथाऽऽमोदस्तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ ४३ ॥
यत्र तत्र स्थितस्याऽपि कर्पूरादेः सुगन्धिता ।
यथोदेति तथा दृश्यं चिद्धातोरुदरे जगत् ॥ ४४ ॥
यथा चाऽत्र तव स्वप्नः सङ्कल्पश्चित्तराज्यधीः ।
स्वानुभूत्यैव दृष्टान्तस्तथा हृद्यस्थि दृश्यभूः ॥ ४५ ॥
तस्माच्चित्तविकल्पस्थपिशाचो बालकं यथा ।
विनिहन्त्येवमप्येतं द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥ ४६ ॥
यथाऽङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः ।
करोति भासुरं देहं तनोत्येवं हि दृश्यधीः ॥ ४७ ॥
द्रव्यस्य हृद्येव चमत्कृतिर्यथा
सदोदिताऽस्त्यस्तमितोज्झितोदरे ।
द्रव्यस्य चिन्मात्रशरीरिणस्तथा
स्वभावभूताऽस्त्युदरे जगत्स्थितिः ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे बन्धहेतुवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

किसी की भी दुःखशून्य पाषाणता के समान निर्विकल्पक समाधियाँ स्थिर नहीं होती है यह बात सभी समाधिनिष्ठ पुरुषों द्वारा अनुभूत है ॥ ३९ ॥

रूढ़ि को प्राप्त हुई अर्थात् स्थिरता को प्राप्त पाषाणता के तुल्य अचेतन समाधियाँ शान्त, चिद्रूप, अज तथा अक्षयरूप नहीं हो सकती हैं ये समाधियाँ सम्पूर्ण संसार की निश्शेष शान्तिरूप परमपद=मोक्ष नहीं हो सकती है ॥ ४० ॥

अतः यदि यह दृश्य सत् है, तो यह कभी भी शान्त नहीं होगा, इसलिए तप, जप और ध्यान से दृश्य की निवृत्ति हो जायगी, यह अज्ञानियों की कल्पना भाव ही है ॥ ४१ ॥

जैसे कमल गट्टे के अन्दर वह बीज विद्यमान है, जिसमें होनेवाली कमलनी का लतारूप अन्तर्निहित है, वैसे ही अज्ञानी द्रष्टा में वह दृश्य-बुद्धि रहती है, जिसमें भावी संसार अन्तर्निहित है ॥ ४२ ॥

जैसे पदार्थों में रस रहता है, तिल आदि में तेल रहता है और फूलों में सुगन्धि रहती है, वैसे ही द्रष्टा में दृश्यबुद्धि रहती ही है ॥ ४३ ॥

वैसे ही द्रष्टा चाहे कहींपर क्यों न हो, फिर भी उसमें दृश्य रहता ही है जैसे कपूर आदि नहीं भी रहे उसकी सुगन्धि रहती है ॥ ४४ ॥

जैसे आपके हृदय में स्थित सङ्कल्पात्मक मनोराज्य-बुद्धि केवल आपके अनुभव से ही देखी जाती है जैसे स्वप्न तथा सङ्कल्प आपही के अनुभव से देखे जाते हैं, वैसे ही दृश्य जगत् भी स्वानुभव से ही आपके हृदय में प्रतीत होता है ॥ ४५ ॥

इसलिए जैसे चित्त द्वारा कल्पित पिशाच बालक को मार देता है, वैसे ही स्त्री के वेष से पुरुष को मोहित कर मारने वाली दृश्यरूपिणी पिशाची द्रष्टा को मार ही देती है अपने स्वरूप प्राप्ति से विच्युत कर देती है ॥ ४६ ॥

जैसे बीज के भीतर स्थित अङ्कुर देश और काल के अनुसार अपने को अभिव्यक्त करता है, वैसे ही दृश्य बुद्धि भी देश और काल के अनुसार अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है ॥ ४७ ॥

बीज आदि के भीतर अचिन्त्यकार्यवैचित्र्यशक्तिरूप चमत्कार जैसे रहता ही है, वैसे ही चिन्मात्रस्वरूप आत्मा के ही उदर में चिद् और अचित् से सम्बद्ध अतीत, अनागत जगत् की सत्ता रहती है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार ऋषिप्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में बन्धहेतुवर्णन नामक कुसुमलता का पहला सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥

---

१ वृद्धिं याताः इति पाठान्तरम् ।

२

श्रीवसिष्ठ उवाच

इदमाकाशजाख्यानं श्रृणु श्रवणभूषणम् ।
उत्पत्त्याख्यं प्रकरणं येन राघव ! बुध्यते ॥ १ ॥
अस्तिऽह्याकाशजो नाम द्विजः परमधार्मिकः ।
ध्यानैकनिष्ठः सततं प्रजानां च हिते रतः ॥ २ ॥
स चिरं जीवति यदा तदा मृत्युरचिन्तयत् ।
सर्वाण्येव क्रमेणाऽहं भूतान्यद्मि किलाऽक्षयः ॥ ३ ॥
एनमाकाशजं विप्रं न कस्मद्भूक्षयाम्यहम् ।
अत्र मे कुण्ठिता शक्तिः खड्गधारा इवोपले ॥ ४ ॥
इति सञ्चिन्त्य तं हन्तुमगच्छत् तत्पुरं तदा ।
त्यजन्त्युद्यममुद्युक्ता न स्वकर्माणि केचन ॥ ५ ॥
ततस्तत्सदनं यावन्मृत्युः प्रविशति स्वयम् ।
तावदेनं दहत्यग्निः कल्पान्तज्वलनोपमः ॥ ६ ॥
अग्निज्वालामहामालां विदार्याऽन्तर्गतो ह्यसौ ।
द्विजं दृष्ट्वा समादातुं हस्तेनैच्छत्प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
न चाऽशकत्पुरो दृष्टमपि हस्तशतैर्द्विजम् ।
बलवानप्यनष्टब्धुं संकल्पपुरुषं यथा ॥ ८ ॥
अथाऽऽगत्य यमं मृत्युरपृच्छत्संशयच्छिदम् ।
किमित्यहं न शक्नोमि भोक्तुमाकाशजं विभो ! ॥ ९ ॥

यम उवाच

मृत्यो न किञ्चिच्छक्तस्त्वमेको मारयितुं बलात् ।
मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तृणीति नेतरत् ॥ १० ॥

२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राघव ! कानों के लिए अलङ्कार स्वरूप अर्थात् कर्णप्रिय इस आकाश विप्र की कथा को, जिससे उत्पत्ति-प्रकरण का आपको बोध हो जायगा, वह सुने ॥ १ ॥

परम धार्मिक आकाशज नामक एक ब्राह्मण है। वह सदा ध्यान में तत्पर और प्रजाओं के हित में रत रहता है ॥ २ ॥

बहुत दिनों तक आकाशज के जीवित रहने पर मृत्यु ने विचार किया, मैं अनश्वर हूँ और क्रमशः सभी प्राणियों का संहार करता हूँ ॥ ३ ॥

इस आकाशज विप्र का मैं भक्षण क्यों नहीं करूँ, किन्तु पत्थर पर तलवार की धारा के समान मेरी शक्ति इसके संहार में कुण्ठित हो गई है ॥ ४ ॥

ऐसा विचार कर, वह मेरुपर्वत के मध्य में स्थित सत्यलोकनाम के उसके नगर में उसे मारने के लिए गया। कोई भी समर्थ पुरुष अपने कर्म उद्यम युक्त का त्याग नहीं करता है ॥ ५ ॥

आकाशज—अध्यस्त अविद्यारूपी नीलता का आधार होने से आकाश तुल्य ब्रह्म से अथवा अविद्यावृत्त होने से स्वल्प प्रकाशवाले ब्रह्म से— जो उत्पन्न है, वह आकाशज है अर्थात् लिङ्गसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ।

'तद्यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति' (जैसे एक कृतनामक पासे के जीते जाने पर अन्य द्वापर आदि पासे जीते जीते हैं) इत्यादि श्रुति के अनुसार हिरण्य-गर्भपदप्रापक संवर्गविद्योपसनरूप धर्म में सम्पूर्ण प्रजाओं के धर्मों का अन्तर्भाव होने से वह परम धर्मात्मा कहा गया है।

उसके बाद आकाशज विप्र के घर में ज्यों ही मृत्यु स्वयं प्रविष्ट हुआ वैसे ही प्रलयाग्नि के समान अग्नि मृत्यु को जलाने लगी ॥ ६ ॥

मृत्यु अग्नि की ज्वालाओं की परम्परा को चीरकर अन्दर गया। उसने ब्राह्मण को देखकर यत्नपूर्वक उसे हाथ से पकड़ने की इच्छा की ॥ ७ ॥

जैसे बलवान् पुरुष भी सङ्कल्प से कल्पित पुरुष को पकड़ने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही वह सामने विद्य-मान उस ब्राह्मण को अपने सैकड़ों हाथों से भी पकड़ने में समर्थ नहीं हुआ ॥ ८ ॥

उसके बाद मृत्यु ने संशय को हटाने वाले यमराज के पास जाकर उनसे पूछा, हे विभो ? मैं आकाशज ब्राह्मण को खाने में समर्थ क्यों नहीं हूँ ॥ ९ ॥

यमराज ने कहा:—

हे मृत्यो ! अकेले तुम अपने बल से किसी को मारने में समर्थ नहीं हो। जिसको तुम मारते हो उसके कर्म ही उसको मारते हैं ॥ १० ॥

तस्मादेतस्य विप्रस्य मारणीयस्य यत्नतः ।
कर्माण्यन्विष्य तेषां त्वं साहाय्येनैनमत्स्यसि ॥ ११ ॥
ततः स मृत्युर्बभ्राम तत्कर्मान्वेषणादृतः ।
मण्डलानि दिगन्तांश्च सरांसि सरितो दिशः ॥ १२ ॥
वनजङ्गलजालानि शैलानब्धितटानि च ।
द्वीपान्तराण्यरण्यानि नगराणि पुराणि च ॥ १३ ॥
ग्रामाण्यखिलराष्ट्राणि देशान्तर्गहनानि च ।
एवं भूमण्डलं भ्रान्त्वा न कुतश्चित्स कानिचित् ॥ १४ ॥
तान्याकाशजकर्माणि लब्धवान्मृत्युरुद्यतः ।
वन्ध्यापुत्रमिव प्राज्ञः संकल्पाद्रिमिवाऽपरः ॥ १५ ॥
समपृच्छदथाऽऽगत्य यमं सर्वार्थकोविदम् ।
परायणं हि प्रभवः सन्देहेष्वनुजीविनाम् ॥ १६ ॥

मृत्युरुवाच

आकाशजस्य कर्माणि क्व स्थितानि वद प्रभो ! ।

इसलिए यदि तुम उसे मारना चाहते हो तो प्रयत्न-पूर्वक उसके कर्मों को खोजो । उनकी सहायता से तुम उसे खा सकोगे ॥ ११ ॥

इसके बाद मृत्यु उसके कर्मों को खोजने के लिए तत्पर होकर सम्पूर्ण देशों, दिगन्तों, तालाबों, नदियों, दिशाओं, वनों, जङ्गलों, पर्वतों, समुद्रतटों, अन्यान्य द्वीपों, अरण्यों, नगरों, ग्रामों, सभी राष्ट्रों एवं अन्य गहन स्थानों में घूमा इस तरह सम्पूर्ण भूमण्डल में घूमकर भी उद्यमी मृत्यु ने जैसे प्राज्ञ व्यक्ति बन्ध्या-पुत्र के एवं जिस पुरुष ने पर्वत की कल्पना की उससे भिन्न पुरुष उस पर्वत को नहीं प्राप्त कर सकता है वैसे ही आकाशज विप्र के कोई भी मरने बाले कर्म को कहीं भी नहीं पाया ॥ १२-१५ ॥

इसके बाद सम्पूर्ण अर्थों को जाननेवाले यमराज के पास आकर मृत्यु ने उनसे पूछा, क्योंकि भृत्यों को सन्देह होनेपर उनके प्रभु ही आश्रय होते हैं ॥ १६ ॥

मृत्यु ने कहा :—

प्रभो ! आकाशज विप्र के कर्म कहाँ हैं, यह बात आप मुझसे कहें । धर्मराज ने बहुत देर तक विचार कर उससे यह कहा ॥ १७ ॥

आकाशज के कोई भी कर्म नहीं हैं, यह आकाशज विप्र केवल आकाश से ही उत्पन्न हुआ है आशय यह है कि यदि किसी कर्म से किसी का जन्म होने से कर्म फल भोग के बाद मृत्यु के द्वारा उसका नाश होता है, किन्तु कर्म से लिप्त नहीं है तो वह मृत्यु के अधीन नहीं है ॥ १८ ॥

धर्मराजोऽथ सञ्चिन्त्य सुचिरं प्रोक्तवानिदम् ॥ १७ ॥
आकाशजस्य कर्माणि मृत्यो सन्ति न कानिचित् ।
एष आकाशजो विप्रो जातः खादेव केवलात् ॥ १८ ॥
आकाशादेव यो जातः स व्योमैवाऽमलं भवेत् ।
सहकारीणि नो सन्ति न कर्माण्यस्य कानिचित् ॥ १९ ॥
सम्बन्धः प्राक्तनेनाऽस्य न मनागपि कर्मणा ।
अस्ति बन्ध्यासुतस्येव तथाऽजाताकृतेरिव ॥ २० ॥
कारणानामभावेन तस्मादाकाशमेव सः ।
नैतस्य पूर्वकर्माऽस्ति नभसीव महाद्रुमः ॥ २१ ॥
नैतदस्याऽवशं चित्तमभावात् पूर्वकर्मणाम् ।
अद्य तावददेना[1]ऽऽद्यं न किञ्चित्कर्म सञ्चितम् ॥ २२ ॥
एवमाकाशकोशात्मा विशदाकाशरूपिणि ।
स्वकारणे स्थितो नित्यं[2] कर्माण्यस्य न कानिचित् ॥२३॥

आकाश से जो उत्पन्न हुआ है, वह आकाश के समान निर्मल है । इसके मारने के लिए सहकरी मृत्यु की सहायता करने वाले कोई भी कर्म नहीं हैं ॥ १९ ॥

प्रारब्ध से प्राप्त फलों का उपभोग से ही क्षय होने, सञ्चितों का ज्ञान से क्षय होने तथा आगामी कर्मों का बीज के अभाव से कर्म ही नहीं हैं, यह भाव है ।

अथवा अभिमान, राग आदि अद्यतन कर्म, यह अर्थ है ।

इस आकाशज विप्र का किसी की कर्म से उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है जैसे वन्ध्या के पुत्र का और जैसे जिसका आकार उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसका प्राक्तन कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ॥ २० ॥

अविद्या आदि कारणों का या निर्विकार तत्त्व के विकार के हेतुओं का अभाव होने से विकार का सम्बन्ध न होने के कारण वह आकाशरूप ही है आकाश में महान् वृक्ष के अस्तित्व के अभाव के समान ही आकाशज विप्र के कोई भी पूर्व कर्म नहीं है ॥ २१ ॥

पूर्व कर्मों के अभाव से इसका चित्त अधीन नहीं है, आजतक इसने मरण साधन मृत्यु के सहायक किसी मानस कर्म का संचय नहीं किया है ॥ २२ ॥

इस प्रकार आकाशकोशस्वरूप यह आकाशज विप्र निर्मल आकाशरूपी अपने कारण में ही नित्य स्थित है, अतः इसके कोई भी कर्म नहीं हैं ॥ २३ ॥

१ अनेनान्यन्न किञ्चित् इतिपाठान्तरम्

२ नित्यः कारणानि न कानिचित् इतिपाठान्तरम् ।

प्राक्तनानि न सन्त्यस्य कर्माण्यद्य करोति नो ।
किञ्चिदप्येवमेषोऽत्र विज्ञानाकाशमात्रकः ॥ २४ ॥
प्राणस्पन्दोऽस्य यत्कर्म लक्ष्यते चाऽस्मदादिभिः ।
दृश्यतेऽस्माभिरेवैतन्न त्वस्याऽस्त्यत्र कर्मधीः ॥ २५ ॥
संस्थिता भावयन्तीव चिद्रूपैव परात्पदात् ।
भिन्नमाकारमात्मीयं चित्स्तम्भे शालभञ्जिका ॥ २६ ॥
तथैव परमार्थात्स[१] खात्मभूतः स्थितो द्विजः ।
यथा द्रवत्वं पयसि शून्यत्वं च यथाऽम्बरे ॥ २७ ॥
स्पन्दत्वं च यथा वायोस्तथैष परमे पदे ।
कर्माण्यद्यतनान्यस्य संचितानि न सन्ति हि ॥ २८ ॥
न पूर्वाण्येष तेनेह न संसारवशं गतः ।
सहकारिकारणानामभावे यः प्रजायते ॥ २९ ॥
नाऽसौ स्वकारणाद् भिन्नो भवतीत्यनुभूयते ।
कारणानामभावेन तस्मादेष स्वयंभवः ॥ ३० ॥
कर्ता न पूर्वं नाऽप्यद्य कथमाक्रम्यते वद ।
यदैष कल्पनां बुद्ध्या मृतिनाम्नीं करिष्यति ॥ ३१ ॥
पृथ्व्यादिमानयमहमिति यस्य च निश्चयः ।
स पार्थिवो भवत्याशु ग्रहीतुं स च शक्यते ॥ ३२ ॥
पृथ्व्यादिकलनाभावादेष विप्रो न रूपवान् ।
दृढरज्ज्वेव गगनं ग्रहीतुं नैव युज्यते ॥ ३३ ॥

मृत्युरुवाच

भगवन् ! जायते शून्यात्कथं नाम वदेति मे ।
पृथ्व्यादयः कथं सन्ति न सन्ति वद वा कथम् ॥ ३४ ॥

यम उवाच

न कदाचन जातोऽसौ न च नाऽस्ति कदाचन ।
द्विजः केवलविज्ञानभामात्रं तत्तथा स्थितः ॥ ३५ ॥
महाप्रलयसंपत्तौ न किञ्चिदवशिष्यते ।
ब्रह्माऽऽस्ते शान्तमजरमनन्तात्मैव केवलम् ॥ ३६ ॥
शून्यं नित्योदितं सूक्ष्मं निरुपाधि परं स्थितम् ।
तदा तदनु येनाऽस्य निकटेऽद्रिनिभं महः ॥ ३७ ॥

इसके प्राक्तन कर्म नहीं हैं आजकल यह कुछ कर्म नहीं करता है, इस प्रकार यह केवल विज्ञानाकाशस्वरूप ही है ॥ २४ ॥

इसके प्राणव्यापार जिसे हम लोग देखते हैं, वह लोगों की अपनी अज्ञानजनित भ्रान्ति से ही हैं, अर्थात् कर्म ज्ञान इसकी उसमें सत्यताबुद्धि नहीं है ॥ २५ ॥

चैतन्यरूप स्तम्भ में चैतन्यरूपिणी प्रतिमा अर्थात् पुत्तलिका मेरा आकार परम पद से (ब्रह्म से) भिन्न है, ऐसी वासना के समान सी स्थिति है ॥ २६ ॥

जल में द्रवत्व (तरलता) है, आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्दता (गति) के समान ही परमार्थरूप से आकाशभूत यह परमपद में स्थित है। इसके न आधुनिक कर्म हैं, न संचित कर्म हैं और न प्राक्तन कर्म हैं, अतः यह संसार के अधीन नहीं है, सहकारी कारणों के विना ही जो उत्पन्न होता है इसलिए वह अपने कारण से भिन्न नहीं होता, यही अनुभूति है। कारण न होने के कारण ही यह स्वयम्भू भी है ॥ २७-३० ॥

हे मृत्यो ! न तो इसने पहले कर्म किये थे और न यह आज कर्म करता है, ऐसी स्थिति में इसे तुम कैसे आक्रान्त कर सकते हो ॥ ३१ ॥

पृथिवी आदि से रचित देह ही मैं हूँ ऐसा जिस जीव को निश्चय रहता है वह मूढ़ पार्थिव देह ही होता है, उसको तुम पकड़ सकते हो यह द्विज जिस समय सत्य-सङ्कल्पबुद्धि से मृत्यु की कल्पना करेगा, उसी समय तुम उसको पकड़ सकते हो ॥ ३२ ॥

पृथिव्यादिमय देह का ग्रहण न करने से यह आकाशज विप्र रूपवान् अर्थात् देह आकारवान् नहीं है, अतएव जैसे आकाश को किसी दृढ़ रस्सी से बांधा नहीं जा सकता है, वैसे ही इस आकाशज का भी ग्रहण नहीं ही किया जा सकता है ॥ ३३ ॥

मृत्यु ने कहा :—

हे भगवन् ! शून्य से कैसे उत्पत्ति होती है, यह बात मुझे कहें तथा पृथिवी आदि कैसे हैं ? और नहीं हैं यह कैसे सम्भव होता है ? यह भी आप मुझे कहें ॥ ३४ ॥

यम ने कहा :—

यह आकाशज द्विज न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी विनष्ट हुआ है यह द्विज केवल प्रकाशात्मक विज्ञान-स्वरूप है, अतः निर्विकाररूप में सदा स्थित रहता है ॥ ३५ ॥

महाप्रलय होनेपर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता, उस समय केवल शान्त जरारहित, अनन्तस्वरूप, शून्य, नित्य उदित, सूक्ष्म, उपाधिशून्य परम आत्मा ही स्थित रहता है। इसके बाद सृष्टि आरम्भकाल में इसके निकट विषयभाव से पर्वत के समान जिसके निवारण नहीं किया

१ परमार्थान्तः स्वान्यभूत इति पाठान्तरम् ।

संविन्मात्रस्वभावत्वाद्देहोऽहमिति चेतसि ।
काकतालीयवद् भ्रान्तमाकारं तेन पश्यति ॥ ३८ ॥
स एष ब्राह्मणस्तस्मिन्सर्गादावम्बरोदरे ।
निर्विकल्पश्चिदाकाशरूपमास्थाय संस्थितः ॥ ३९ ॥
नाऽस्य देहो न कर्माणि न कर्तृत्वं न वासना ।
एष शुद्धचिदाकाशो विज्ञानघन आततः ॥ ४० ॥
प्राक्तनं वासनाजालं किञ्चिदस्य न विद्यते ।
केवलं व्योमरूपस्य भारूपस्येव तेजसा ॥ ४१ ॥
वेदनामात्रसंशान्तावीदृशोऽपि न दृश्यते ।
तस्माद् यथा चिदाकाशस्तथा तत्प्रतिपत्तयः ॥ ४२ ॥
कुतः किलाऽत्र पृथ्व्यादेः कीदृशः संभवः कथम् ।
एतदाक्रमणे मृत्यो ! तस्मान्मा यत्नवान् भव ॥ ४३ ॥
ग्रहीतुं युज्यते व्योम न कदाचन केनचित् ।
श्रुत्वैतद्विस्मितो मृत्युर्जगाम निजमन्दिरम् ॥ ४४ ॥

जा सकता है विज्ञान मात्र स्वभाव होने पर भी मैं देह हूँ इस नाम से कहने के योग्य स्थूलरूप तेज स्फुरित होता है, उस समय अविद्या से ही हम लोग काकतालीय के समान अकस्मात् स्वप्न की भाँति मिथ्याभूत उस भ्रान्त आकार को देखते हैं ॥ ३६-३८ ॥

वही यह निर्विकल्प ब्रह्म सृष्टि के आत्मा में निर्विकल्प चिदाकाशरूप अपने स्वरूप का श्रवण कर आकाश में स्थित रहता है ॥ ३९ ॥

इसका न शरीर है, न कर्म हैं, न इसमें कर्तृत्व है और न वासना है। यह शुद्ध चिदाकाश, विज्ञानघन और सर्वव्यापक है ॥ ४० ॥

इसकी प्राचीन वासनाएँ बिलकुल नहीं है, इस व्योम स्वरूप की तेज से प्रकाशरूपता ही रहती है ॥ ४१ ॥

अधिष्ठानतत्त्व के ज्ञान से विषय का बोध होने से विषयज्ञानरूप वेदनाएँ भी चिदाकाश स्वरूप हीं चिदाकाशरूप से ही रहती हैं ॥ ४२ ॥

इसमें किसी प्रकार का कहाँ से और कैसे पृथिवी आदि का सम्भव हो सकता है इसलिए हे मृत्यो ! तुम इसके ऊपर आक्रमण करने के लिए प्रयत्न मत करो ॥ ४३ ॥

कोई भी पुरुष कभी भी आकाश को पकड़ नहीं सकता। इस वचन को सुनकर आश्चर्यचकित मृत्यु अपने घर लौट गया ॥ ४४ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मैष कथितो देवस्त्वया मे प्रपितामहः ।
स्वयंभूरज एकात्मा विज्ञानात्मेति मे मतिः ॥ ४५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतन्मया राम ! ब्रह्मैष कथितस्तव ।
विवादमकरोन्मृत्युर्यमेनैतत्कृते पुरा ॥ ४६ ॥
मन्वन्तरे सर्वभक्षो यदा मृत्युर्हरन् प्रजाः ।
बलमेत्यब्जजाक्रान्तावारम्भमकरोत्स्वयम् ॥ ४७ ॥
तदैव धर्मराजेन यमेनाऽऽश्वनुशासितः ।
यदेव क्रियते नित्यं रतिस्तत्रैव जायते ॥ ४८ ॥
ब्रह्मा किल पराकाशवपुराक्रम्यते कथम् ।
मनोमात्रं च सङ्कल्पः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः ॥ ४९ ॥
यश्चिद्व्योमचमत्कारः किलाकारानुभूतिमान् ।
स चिद्व्योमैव नो तस्य कारणत्वं न कार्यता ॥ ५० ॥

श्रीराम ने कहा :—

आपने मुझसे आकाशज ब्राह्मण के व्याज से स्वयम्भू, अज, एकात्मा, प्रपितामह जीवसमष्टिरूप ब्रह्मा में ही कहा है ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ४५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे श्रीराम ! आपने जो कहा है वही बात है अर्थात् आपका कथन ठीक है, मैंने आपसे आकाशज विप्र के नाम से ब्रह्म को ही कहा है। प्राचीन काल में इन्हीं के लिए मृत्यु ने यम के साथ विवाद किया था ॥ ४६ ॥

मन्वन्तर में सर्वभक्षी मृत्यु प्रजाओं का संहार करता हुआ बलवान् होकर उसने कमलयोनि ब्रह्मा जी पर आक्रमण करने का उद्योग किया ॥ ४७ ॥

उस समय धर्मराज यम ने मृत्यु को शिक्षा दी। मृत्यु ने ऐसे विषय में, जो पुरुष नित्य जिस काम को करता है, उसी में उसकी रति होती है आशय यह है कि जिस कार्य को सम्पन्न करने की जिसमें शक्ति है उसी कार्य को करने का प्रयास कहना चाहिए ॥ ४८ ॥

ब्रह्मा चिदाकाश स्वरूप, सङ्कल्पशरीर और पृथ्वी आदि से रहित मूर्तिवाला है, उसका शरीर मनोमात्र है, उस पर आक्रमण ही कैसे किया जा सकता है ॥ ४९ ॥

जो चिदाकाश के समान दीप्तिस्वरूप और चिदाकाश के समान अनुभवस्वरूप है, वह चिदाकाश ही है, उसमें न करणत्व है और न कार्यता है ॥ ५० ॥

आकाशस्फुरदाकारः सङ्कल्पपुरुषो यथा ।
पृथ्व्यादिरहितो भाति स्वयंभूर्भासते तथा ॥ ५१ ॥
निर्मले व्योम्नि मुक्ताली सङ्कल्पस्वप्नयोः पुरम् ।
अपृथ्व्यादि यथा भाति स्वयंभूर्भासते तथा ॥ ५२ ॥
न दृश्यमस्ति न द्रष्टा परमात्मनि केवले ।
स्वयं चित्ता तथाप्येष स्वयंभूरिति भासते ॥ ५३ ॥
सङ्कल्पमात्रमेवैतन्मनो ब्रह्मेति कथ्यते ।
सङ्कल्पाकाशपुरुषो नाऽस्य पृथ्व्यादि विद्यते ॥ ५४ ॥
यथा चित्रकृदन्तःस्था निर्देहा भाति पुत्रिका ।
तथैव भासते ब्रह्मा चिदाकाशाच्छरञ्जनम् ॥ ५५ ॥
चिद्व्योमकेवलमनन्तमनादिमध्यं
ब्रह्मेति भाति निजचित्तवशात् स्वयंभूः ।
आकारवानिव पुमानिव वस्तुतस्तु
बन्ध्यातनूज इव तस्य तु नाऽस्ति देहः ॥ ५६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे आद्यसृष्टिकर्तृवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

जैसे संकल्प से निर्मित पुरुष पृथिवी आदि से रहित प्रतीत होता है, वैसे ही यह स्वयंभू भी पृथिवी आदि से रहित प्रकाशित होता है, आशय यह है कि आकाश में जैसे इन्द्रनीलमणि से बना औंधा रक्खा हुआ महान् कड़ाह का आकार-सा पदार्थ पृथिवी आदि से रहित प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

स्वयंभू पृथिव्यादि रहित उसी रूप में प्रकाशित होता है, जैसे निर्मल आकाश में मोती की माला एवं सङ्कल्प और स्वप्न में नगर पृथिव्यादि से रहित ही प्रकाशित होते हैं ॥ ५२ ॥

केवल परमात्मा में न दृश्य है और न द्रष्टा है, केवल चिन्मात्रस्वभावता ही है, तथापि यह स्वयम्भू नाम से प्रकाशित होता है ॥ ५३ ॥

यह सङ्कल्पमात्र मन ही ब्रह्मा इस शब्द से कहा जाता है, यही सङ्कल्पाकाश पुरुष ब्रह्मा है, इसमें पृथ्वी आदि विद्यमान नहीं हैं ॥ ५४ ॥

चित्रकार के अन्तःकरण में स्थित चित्र देहरहित होने पर भी जैसे प्रतिमाकार पुत्रिका के रूप प्रतीत होता है, वैसे ही चिदाकाश के स्वच्छ प्रतिबिम्ब का ग्राहक मन ब्रह्माकार ही प्रतीत होता है। (चित्रकार अपने अन्तःकरण में सङ्कल्पात्मक चित्र का निर्माण करता है। अनन्तर वैसा ही उसका बाहर वस्त्र आदि पर चित्रण करता है। चित्रकार के अन्तःकरण में स्थित सङ्कल्पित चित्रप्रतिमा देहरहित होने पर भी चित्रप्रतिमा के आकार में भासित होती है, वैसे ही चिदाकाश के प्रतिबिम्ब का ग्राहक स्वच्छ मन उसके स्वरूप में भासमान् होता है यद्यपि निराकार का प्रतिबिम्ब नहीं होता है किन्तु स्वच्छ जल में आकाश का प्रतिबिम्ब अनुभव करते हैं ॥ ५५ ॥

मन का स्वयम्भू के आकार में परिणाम वास्तविक नहीं है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान से उस प्रकार विवर्त को प्राप्त होता है, यह कहते हैं—'चद्व्योम०' इत्यादिसे।

आदि, मध्य और अन्तरहित चिदाकाश अद्वितीय ब्रह्म ही हैं अपने संकल्प के कारण स्वयम्भू होते हुए भी आकारवान्-सा तथा पुरुष के समान प्रतीत होता है, वास्तुतः बन्ध्यापुत्र के समान ही उसका भी शरीर नहीं है ॥ ५६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में आद्यसृष्टि कर्तृवर्णन नामक कुसुमलता का द्वितीय सर्ग समाप्त ॥ २ ॥

३

श्रीराम उवाच

एवमेव मनः शुद्धं पृथ्व्यादिरहितं त्वया ।
मनो ब्रह्मेति कथितं सत्यं पृथ्व्यादिवर्जितम् ॥ १ ॥
तदत्र प्राक्तनी ब्रह्मन् ! स्मृतिः कस्मान्न कारणम् ।
यथा मम तवाऽन्यस्य भूतानां चेति मे वद ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

पूर्वदेहोऽस्ति यस्याऽद्य पूर्वकर्मसमन्वितः ।
तस्य स्मृतिः संभवति कारणं संसृतिस्थितेः ॥ ३ ॥
ब्रह्मणः प्राक्तनं कर्म यदा किञ्चिन्न विद्यते ।
प्राक्तनी संस्मृतिस्तस्य तदोदेति कुतः कथम् ॥ ४ ॥
तस्मादकारणं भाति वा स्वचित्तैककारणम् ।
स्वकारणादनन्यात्मा स्वयम्भूः स्वयमात्मवान् ॥ ५ ॥
आतिवाहिक एवाऽसौ देहोऽस्त्यस्य स्वयंभुवः ।
न त्वाधिभौतिको राम ! देहोऽजस्योपपद्यते ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

आतिवाहिक एकोऽस्ति देहोऽन्यस्त्वाधिभौतिकः ।
सर्वासां भूतजातीनां ब्रह्मणोऽस्त्येक एव किम् ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

सर्वेषामेव देहौ द्वौ भूतानां कारणात्मनाम् ।
अजस्य कारणाभावादेक एवाऽऽतिवाहिकः ॥ ८ ॥
सर्वासां भूतजातीनामेकोऽजः कारणं परम् ।
अजस्य कारणं नाऽस्ति तेनाऽसादेकदेहवान् ॥ ९ ॥
नाऽस्त्येव भौतिको देहः प्रथमस्य प्रजापतेः ।
आकाशात्मा च भात्येष आतिवाहिकदेहवान् ॥ १० ॥

३

श्रीराम ने कहा :—

आपने पृथिवी आदि से रहित आपने ब्रह्म के मन को शुद्ध कहा है—यह ठीक है, वह वैसा ही प्रसिद्ध है। यदि पृथिवी आदि से रहित मन ब्रह्मा है, यह सत्य है, तो जैसे अन्य प्राणियों के आपके, मेरे, अन्य पुरुष के और पशु आदि के शरीर में पूर्वस्मृति कारण है वैसे ही ब्रह्मा के शरीर में पूर्वशरीर के त्याग के समय उत्पन्न स्मृति कारण क्यों नहीं है ? यह आप कहें ॥ १-२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

जिसका पूर्व जन्म के कर्मों से समन्वित पूर्व शरीर है, इस जन्म में उसीको संसार में स्थिति की कारणभूत स्मृति हो सकती है ॥ ३ ॥

जब ब्रह्मा का प्राक्तन कुछ भी (पूर्वजन्म में उपार्जित) कर्म नहीं है, तब उनको पूर्वजन्म की स्मृति का कहाँ से और कैसे उदय हो सकता है ॥ ४ ॥

अतः ब्रह्मा का शरीर पृथिवी आदि कारणों से रहित भासमान हो रहा है अथवा जीव का चित्त ही उसका एकमात्र कारण है। वह अपने कारण चिद्घन परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न, स्वयम्भू और स्वयं आत्मस्वरूप है ॥ ५ ॥

हे राम ! इस स्वयम्भू ब्रह्मा की आतिवाहिक ही देह अजन्माकी आधिभौतिक (स्थूल भूतों से उत्पन्न) देह नहीं हो सकता है अर्चिरादि तथा धूमादि मार्ग अन्य लोक में पहुँचाने में समर्थ हम लोगों के लिङ्ग शरीर के समान शरीर आतिवाहिक है ॥ ६ ॥

श्रीराम ने कहा :—

सम्पूर्ण भूतों के (प्राणियों के) एक आतिवाहिक और दूसरा आधिभौतिक यों दो शरीर हैं, किन्तु ब्रह्मा का केवल आतिवाहिक ही शरीर क्यों है ? ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—हे श्रीरामचन्द्रजी ! कारण युक्त (पञ्चीकृत भूतों से उत्पन्न देह आदि से युक्त) सभी प्राणियों के आतिवाहिक और आधिभौतिक ये दो शरीर हैं, कारण न होने से (पञ्चीकृतभूतरूप कारण न होने से) अजन्मा हिरण्यगर्भ का केवल एक आतिवाहिक ही शरीर है ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण भूतों का परम कारण एक अज हिरण्यगर्भ है। अज का कोई कारण नहीं है, इसलिए वह आतिवाहिक एक शरीर वाला है, अर्थात् आतिवाहिक और आधिभौतिकरूप दो देहोंवाला नहीं है ॥ ९ ॥

प्रथम प्रजापति का भौतिक शरीर नहीं है। यह केवल चिदाकाशस्वरूप आतिवाहिक शरीर वाला ही भासमान हो रहा है। क्योंकि आरोपित पदार्थ का अधिष्ठान से अतिरिक्त स्वरूप नहीं होता ॥ १० ॥

चित्तमात्रशरीरोऽसौ न पृथ्व्यादिक्रमात्मकः ।
आद्यः प्रजापतिर्व्योमवपुः प्रतनुते प्रजाः ॥ ११ ॥
ताश्च चिद्व्योमरूपिण्यो विनाऽन्यैः कारणान्तरैः ।
यद्यतस्तत्तदेवेति सर्वैरेवाऽनुभूयते ॥ १२ ॥
निर्वाणमात्रं पुरुषः परो बोधः स एव च ।
चित्तमात्रं तदेवाऽऽस्ते नाऽऽयाति वसुधादिताम् ॥ १३ ॥
सर्वेषां भूतजातानां संसारव्यवहारिणाम् ।
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दश्चित्तदेहः स्वतोदयः ॥ १४ ॥
अस्मात्पूर्वात्प्रतिस्पन्दादनन्यैतत्स्वरूपिणी ।

चिद्व्योमस्वरूप जो पृथिवी आदि क्रम से रहित उस आदि प्रजापति ने प्रजा का विस्तार किया है ॥ ११ ॥

अन्य कारणों की अपेक्षा के बिना ही वह चिदाकाशस्वरूप जब जिसको उत्पन्न करता है, तब वह उस रूप में भासित होता है, अर्थात् सङ्कल्पमात्र शरीर होने से अपने सङ्कल्प मात्र से उस रूप में भासित होता है, अतः सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्मोपादानक है ॥ १२ ॥

चित्तोपाधि जीव चित्तभ्रान्ति से चित्तमात्र होकर भी परमार्थरूप से निर्वाणमात्र परमसंविद्रूप चिदाकाश ही है, इसलिए वह भौतिक स्वरूप को प्राप्त नहीं करता है, विभिन्नरूप में भान मात्र हो रहा है। पारमार्थिक यह पार्थिव स्वरूप नहीं है ॥ १३ ॥

संसार में व्यवहार योग्य सभी उत्पन्न भौतिक पदार्थों में यह प्रथम प्रतिस्पन्दात्मकचित्त शरीर स्वयं उत्पन्न हुआ है ॥ १४ ॥

इस आदि प्रतिस्पन्द से अभिन्न चितस्वरूप वाली यह विस्तृत फैली हुई सृष्टि वायु के द्वारा स्पन्द की सृष्टि के समान है ॥ १५ ॥

इस अनुत्पन्न प्रतिभान स्वरूप ब्रह्म से प्रातिभासिक स्वरूप को धारण किये हुए किन्तु, सभी प्राणियों की दृष्टि में सत्य स्वरूप में जानी जा रही है। पूर्व पद्य की संगति के अनुसार इसका अर्थ यह होना चाहिए —

चिद्ब्रह्मोपादान कारण वाली प्रातिभासिक ब्रह्म से उत्पन्न यह सृष्टि चिन्मात्र सत्य स्वरूप होनेपर भी जडात्मक प्रतीत हो रही है, जड़ स्वरूप में प्रतीत होने वाली यह सृष्टि-क्रम प्रातिभासिक है, वास्तविक नहीं है किन्तु व्यवहार में कोई बाधा नहीं है ॥ १६ ॥

इयं प्रविसृता सृष्टिः स्पन्दसृष्टिरिवाऽनिलात् ॥ १५ ॥
प्रतिभानाकृतेरस्मात् प्रतिभामात्ररूपधृक् ।
विभात्येवमयं सर्गः सत्यानुभववान् स्थितः ॥ १६ ॥
दृष्टान्तोऽत्र भवत्स्वप्न[1]स्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ।
असदप्यर्थसम्पत्त्या सत्यानुभवभासुरम् ॥ १७ ॥
अपृथ्व्यादिमयो भाति व्योमाकृतिरदेहकः ।
सदेह इव भूतेशः स्वात्मभूः पुरुषाकृतिः ॥ १८ ॥
संवित्सङ्कल्परूपत्वात् नोदेति समुदेति च ।
स्वायत्तत्वात्स्वभावस्य नोदेति न च शाम्यति ॥ १९ ॥

असद् वस्तु की सत्यरूप से प्रतीति का दृष्टान्त है— स्वप्न के अन्तर्गत स्वप्न में स्त्री का समागम है। जैसे स्वप्न में स्त्रीसमागम स्वप्न देखने पर अर्थ के असत्य रहने पर भी व्यवहार और प्रयोजन की सिद्धि के समान होती है। स्वप्न में स्त्रीसमागम-स्वप्न के सर्वथा असत्य होनेपर उसमें जैसे सत्य के समान प्रयोजन की सिद्धि होती है, वैसे ही प्रतिभासमात्र आकारवाले ब्रह्मा से उत्पन्न प्रतिभासरूपी यह सृष्टि भी सत्य के तुल्य प्रयोजन को सिद्ध करती है ॥ १७ ॥

चिदाकाशाकार विदेहात्मक एवं जिसका शरीर पृथिवी आदि स्वरूप वाला नहीं है वह भूतों का अधिपति ब्रह्मा भ्रान्तिवश पुरुषाकृति एवं सदेह-सा प्रतीत होता है ऐसा भूतों का स्वामी स्वयम्भू ब्रह्मा सदेह पुरुषाकार रूप में प्रतीत हो रहा है ॥ १८ ॥

ज्ञानात्मक सङ्कल्परूप होने से न इसकी सृष्टि अर्थात् उदय होता है और न अनुदय होता है अर्थात् यह सदा चित्स्वरूप एकरस रहता है। स्वभाव स्वाधीन अर्थात् किसी भी कारण से अपरिवर्तनशील होने से उदय और शमन इसका नहीं हो सकता है, अतः सर्ग प्राप्ति भासिक मात्र है।

अच्युतग्रन्थमाला में इसका अनुवाद निम्नलिखित है:

ब्रह्मा के दो रूप हैं—एक संवित्-रूप जो कि पारमार्थिक है और दूसरा संकल्परूप जो भ्रान्ति से है। यों संवित् और संकल्परूप ब्रह्मा परमार्थरूप से उदित नहीं होता और भ्रान्ति से उदित होता है। स्वरूपस्थिति जगत् की सत्ता के समान अविद्या के अधीन नहीं है, इसलिए न तो उसका उदय होता है और न विनाश ही ॥ १९ ॥

१ 'स्वप्नपुरस्त्री' इति पाठान्तरम् ।

ब्रह्मा सङ्कल्पपुरुषः पृथ्व्यादिरहिताकृतिः ।
केवलं चित्तमात्रात्मा कारणं त्रिजगत्स्थितेः ॥ २० ॥
सङ्कल्प एष कचति यथा नाम स्वयंभुवः ।
व्योमात्मैष तथा भाति भवत्सङ्कल्पशैलवत् ॥ २१ ॥
आतिवाहिकमेवाऽन्तर्विस्मृत्या दृढरूपया ।
आधिभौतिकबोधेन मुधा भाति पिशाचवत् ॥ २२ ॥
इदं प्रथमतोद्योगसंप्रबुद्धं महाचितेः ।
नोदेति शुद्धसंवित्त्वादातिवाहिकविस्मृतिः ॥ २३ ॥
आधिभौतिकजा तेन नाऽस्योदेति पिशाचिका ।
असत्या मृगतृष्णेव मिथ्याजाड्यभ्रमप्रदा ॥ २४ ॥
मनोमात्रं यदा[1] ब्रह्मा न पृथ्व्यादिमयात्मकः ।

संकल्पपुरुष पृथिवी आदि अर्थात् मूर्तिधारण करने पृथिवी आदि से शून्य आकार केवल चित्तमात्रशरीर सङ्कल्पस्वरूप ब्रह्मा ही तीनों जगतों की स्थिति का कारण है ॥ २०॥

प्राणियों के कर्म फलभोग के अनुसार व्योम अर्थात् चित्तस्वरूप दीप्त्यात्मक ब्रह्मा की सङ्कल्प से उन रूपों में प्रतीत होता है जैसे हम लोगों के पर्वतात्मक मानस सङ्कल्प से पर्वत का भान होता है। आशय यह है कि यह दृश्यमान् पदार्थ सङ्कल्पस्वरूप होने से वास्तविक नहीं है ॥ २१ ॥

अपने स्वरूप के दृढ़ विस्मरण और आतिवाहिक शरीर ही आत्मस्वरूप के दृढ़ विस्मरण से सर्वथा असत्य पिशाच के समान आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है। आशय यह है कि:—पिशाच वास्तवमें सर्वथा असत् होता हुआ भी भ्रमवश आकारवान्-सा प्रतीत होता है, वैसे ही प्राणियों को स्वरूप की दृढ़ विस्मृति से आतिवाहिक ही आधिभौतिकरूपसे प्रतीत होता है ॥ २२ ॥

ब्रह्मा का यह मायाशबल स्वरूप चिदात्मक ब्रह्मा का प्रथम स्वरूप है सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा कारणभूत सूक्ष्मभूत है, सत्यसंकल्प होनेके कारण अर्थात् तमोगुण के द्वारा अन्धकाराच्छन्न न होने से शुद्ध संवित्स्वरूप प्रजापति को आतिवाहिकभाव की विस्मृति नहीं होती है ॥ २३ ॥

ब्रह्मा को आधिभौतिक से उत्पन्न हुई मृगतृष्णा के समान असत्य जड़तारूपी भ्रम को उत्पन्न करने वाली पिशाचिका अर्थात् वासनात्मक मृगतृष्णा उत्पन्न नहीं होती है ॥ २४ ॥

मनोमात्रमतो विश्वं यद्यज्जातं तदेव हि ॥ २५ ॥
अजस्य सहकारीणि कारणानि न सन्ति यत् ।
तज्जस्याऽपि न सन्त्येव तानि तस्मात्तु कानिचित् ॥२६॥
कारणात्कार्यवैचित्र्यं तेन नाऽत्राऽस्ति किञ्चन ।
यादृशं कारणं शुद्धं कार्यं तादृगिति स्थितम् ॥ २७ ॥
कार्यकारणता ह्यत्र न किञ्चिदुपपद्यते ।
यादृगेव परं ब्रह्म तादृगेव जगत्त्रयम् ॥ २८ ॥
मनस्तामिव यातेन ब्रह्मणा तन्यते जगत् ।
अनन्या[2] दात्मनः शुद्धाद्द्रवत्वमिव वारिणः ॥ २९ ॥
मनसा तन्यते सर्वमसदेवेदमाततम् ।
यथा सङ्कल्पनगरं यथा गन्धर्वपत्तनम् ॥ ३० ॥

मनोमात्र—चित्स्वरूप ब्रह्मा पृथिवी आदि स्वरूप वाला नहीं है, अतः, मनोमात्र ब्रह्मा से अर्थात् उसके सङ्कल्प से उत्पन्न यह जगत् मनोमात्र स्वरूप ही है, मन के द्वारा उत्पन्न पर्वत आदि मनोमय ही रहता है, वस्तुतः बाह्य भूतात्मक पर्वत स्वरूप नहीं रहता है, उस रूप में प्रतिभास होता है, अतः यह विश्व भी सङ्कल्प शरीर होने से मनोमात्र स्वरूप को धारण करने वाला है, जडता आदि की प्रतीति भ्रमात्मक है जो जिससे उत्पन्न होता वह तद्रूप ही रहता है ॥ २५ ॥

चूँकि अज के सहकारी कारण नहीं है, इसलिए उससे उत्पन्न हुए विश्व के भी कोई सहकारी कारण नहीं हैं ॥ २६ ॥

यहाँ पर कारण से कार्य में किसी प्रकार की विचित्रता नहीं है, इसलिए जैसा शुद्ध कारण है, वैसा ही कार्य भी शुद्ध है, यही वास्तविक स्थिति है ॥ २७ ॥

इस विश्व में कार्यकारण भाव की किसी भी तरह उपपत्ति नहीं होती है। जैसा परब्रह्म है, वैसे ही तीनों जगत् हैं अर्थात् जगत् का दृश्यमान स्वरूप सत्य नहीं है बरन् उपादान चिद्रूप ब्रह्मात्मक ही सब कुछ है। यह प्रतीति भ्रमात्मक है ॥ २८ ॥

मनोरूपता को धारण किये हुए ब्रह्मा के द्वारा जगत् से अभिन्न शुद्ध आत्मा से जगत् का विस्तार किया जाता है जैसे द्रवता से अभिन्न जल से द्रवत्व का विस्तार किया जाता है। अर्थात् सङ्कल्पात्मक जगत् की सृष्टि के लिए ब्रह्मा की मनोरूपता होती है ॥ २९ ॥

असत् सङ्कल्पनगर की और असत् गन्धर्वनगर की जैसे मन से ही कल्पना होती है, वैसे ही इस असत्रूप

1 'यथा' इति पाठान्तरम् । 2. 'अनन्यत्' इतिपाठान्तरम् ।

आधिभौतिकता नाऽस्ति रज्ज्वामिव भुजङ्गता ।
ब्रह्मादयः प्रबुद्धास्तु कथं तिष्ठन्ति तत्र ते ॥ ३१ ॥
आतिवाहिक एवाऽस्ति न प्रबुद्धमतेः किल ।
आधिभौतिकदेहस्य वाचो वाऽत्र कुतः कथम् ॥ ३२ ॥
मनोनाम्नो मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः ।
मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम् ॥ ३३ ॥
मन एव विरिञ्चित्वं तद्धि सङ्कल्पनात्मकम् ।
स्ववपुः स्फारतां नीत्वा मनसेदं वितन्यते ॥ ३४ ॥
विरिञ्चो मनसो रूपं विरिञ्चस्य मनो वपुः ।
पृथ्व्यादि विद्यते नाऽत्र तेन पृथ्व्यादि कल्पितम् ॥३५॥
पद्माक्षे पद्मिनीवाऽन्तर्मनोहृद्यस्ति दृश्यता ।
मनोदृश्यदृशौ भिन्ने न कदाचन केनचित् ॥ ३६ ॥
यथा चाऽत्र तव स्वप्नः सङ्कल्पश्चित्तराज्यधीः ।
स्वानुभूत्यैव दृष्टाऽन्तस्तस्माद्धृद्यस्ति दृश्यभूः ॥ ३७ ॥
तस्माच्चित्तविकल्पस्थपिशाचो बालकं यथा ।
विनिहन्त्येवमेषाऽन्तर्द्रष्टारं दृश्यरूपिका ॥ ३८ ॥
यथाऽङ्कुरोऽन्तर्बीजस्य संस्थितो देशकालतः ।
करोति भासुरं देहं तनोत्येवं हि दृश्यधीः ॥ ३९ ॥
सच्चेन्न शाम्यति कदाचन दृश्यदुःखं
दृश्ये त्वशाम्यति न बोद्धरि केवलत्वम् ।
दृश्ये त्वसंभवति बोद्धरि बोद्धृभावः
शाम्येत्स्थितोऽपि हि तदस्य विमोक्षमाहुः ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे बन्धहेतुवर्णनं नाम तृतीयः सर्गः । ३ ।

समस्त विश्व की भी केवल मन से ही कल्पना होती है ॥ ३० ॥

रस्सी में सर्प का भ्रम होनेपर जैसे रस्सी में भौतिक सर्प नहीं रहता है अर्थात् अज्ञान कल्पित सर्प के आधार-भूत रस्सी में सर्प का अज्ञान से भान होने पर भी रस्सी रूप अर्थात् मानस सङ्कल्प शरीर ही रहता है तब तत्त्व-ज्ञानी अर्थात् प्रबुद्ध ब्रह्मा आदि आधिभौतिक शरीर का धारण कैसे कर सकते हैं, अर्थात् ब्रह्मा की भी आधि-भौतिक रूप में स्थित नहीं। इससे मीमांसकों की अन्य दार्शनिकों के द्वारा सिद्ध मन्त्रात्मक शरीर देवता का सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

प्रबुद्ध व्यक्ति का आतिवाहिक (प्रातिभासिक) भी शरीर नही होता है फिर उसके आधिभौतिक देह का कथन कैसे हो सकता है अर्थात् यह सर्वथा व्यर्थ है ॥३२॥

ब्रह्मा के स्वरूप को धारण करनेवाले मननामक मनुष्य का मनोराज्य ही यह ब्रह्माण्ड सत्य है इस रूप में स्थित है ॥ ३३ ॥

मन ही ब्रह्मा है, वह सङ्कल्पात्मक है वही अपने शरीर को विपुल बनाकर मानस सङ्कल्प से इस जगत् की रचना करता है ॥ ३४ ॥

ब्रह्मा मनःस्वरूप है और ब्रह्मा का मन ही शरीर है अर्थात् सङ्कल्पनात्मक होने से मनःस्वरूप शरीरधारी है मन में पृथिवी आदि नहीं हैं। अतः पृथिवी आदि कल्पित है वास्तविक नहीं है ॥ ३५ ॥

मन और दृश्य तथा इन दोनों का द्रष्टा=साक्षीभूत आत्मा—इन दोनों का विवेक=भेद कभी किसी ने नहीं किया है ॥ ३६ ॥

जैसे स्वप्न और स्वाप्निक सङ्कल्पात्मक मनोराज्य-बुद्धि अपनी अनुभूति के आधार पर ही देखी जाती है इसी दृष्टान्त के अनुसार हृदय में दृश्य की उत्पत्ति है अर्थात् अशेष ब्रह्माण्ड सङ्कल्पात्मक मानस है ॥ ३७ ॥

अतः जिस तरह चित्त के द्वारा कल्पित पिशाच बालक को मार देता है, वैसे ही दृश्यरूपिणी रूपिका (पिशाची) इस द्रष्टा को मार देती है जगत् में भ्रमण कराती है अर्थात् अपने स्वरूप से भ्रष्ट कर देती है ॥ ३८ ॥

बीज के भीतर स्थित अङ्कुर देश और काल के अनुसार जिस तरह विपुल शरीर को धारण कर लेता है उसी तरह यह दृश्य बुद्धि भी देश और काल के अनुसार अपना विस्तार करती है ॥ ३९ ॥

यदि दृश्यरूप दुःख सत् हो, तो उसकी कभी शान्ति नहीं होगी क्योंकि, सत्पदार्थ का विनाश नहीं होती है अपितु कल्पित का ही उच्छेद होता है। दृश्य की यदि शान्ति नहीं होगी, तो बोद्धा को केवलत्व की (मोक्षकी) प्राप्ति नहीं होगी। दृश्य का अभाव होनेपर बोद्धा में बोद्धृभाव स्थित रहने पर भी वह निवृत्त हो जाता है, फिर मिथ्याभूत वस्तु की निवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या है ? बोद्धा की केवल स्वरूपता अर्थात् चिदेकरस रूपता को ही विमोक्ष कहते हैं ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में बन्धहेतुवर्णन नामक कुसुमलता का तीसरा सर्ग समाप्त ॥ ३ ॥

४

श्रीवाल्मीकिरुवाच

कथयत्येवमुद्दामवचने मुनिनायके ।
श्रोतुमेकरसे जाते जने मौनमुपस्थिते ॥ १ ॥
शान्तेषु किङ्किणीजालरवेषु स्पन्दनं विना ।
पञ्जरान्तरहारीतशुकेष्वप्यस्तकेलिषु ॥ २ ॥
सुविस्मृतविलासासु स्थितासु ललनास्वपि ।
चित्रभित्ताविव न्यस्ते समस्ते राजसद्मनि ॥ ३ ॥
मुहूर्तशेषमभवद् दिवसं मधुरातपम् ।
व्यवहारा रविकरैः सह तानवमाययुः ॥ ४ ॥
ववुरुत्फुल्लकमलप्रकरामोदमांसलाः ।
वायवो मधुरस्पन्दाः श्रवणार्थमिवाऽऽगताः ॥ ५ ॥
श्रुतं चिन्तयितुं भानुरिवाऽहोरचनाभ्रमम् ।
तत्याजैकान्तमगमच्छून्यमस्तगिरेस्तटम् ॥ ६ ॥
उत्तस्थुर्मिहिकारम्भसमता वनभूमिषु ।
विज्ञानश्रवणादन्तःशीतलाः शान्तता इव ॥ ७ ॥
बभूवुरल्पसञ्चारा जना दशसु दिक्ष्वपि ।
सावधानतया श्रोतुमिव संत्यक्तचेष्टिताः ॥ ८ ॥
छायादीर्घत्वमाजग्मुर्वासिष्ठं वचनक्रमम् ।
इव श्रोतुमशेषाणां वस्तूनां दीर्घकन्धराः ॥ ९ ॥
प्रतीहारः पुरः प्रह्वो भूत्वाऽऽह वसुधाधिपम् ।
देवस्नानद्विजार्चासु कालो व्यतिगतो भृशम् ॥ १० ॥
ततो वसिष्ठो भगवान् संहृत्य मधुरां गिरम् ।
अद्य तावन्महाराज ! श्रुतमेतावदस्तु वः ॥ ११ ॥
प्रातरन्यद्वदिष्यामि इत्युक्त्वा मौनवानभूत् ।
इत्याकर्ण्यैवमस्तूक्त्वा भूपतिर्भूतिवृद्धये ॥ १२ ॥

४

श्रीवाल्मीकि जी ने कहा—

उत्कृष्ट वाणी से मुनिनाथ वसिष्ठ जी के उपदेश देने के उपदेश को सुनने के लिए सब लोग एकाग्रचित्त और मौन थे ॥ १ ॥

(उपदेश सुनने में सब लोग ऐसे लीन हो रहे थे कि) किसीका कोई अवयव हिलता डुलता ही न था, इसलिए आभूषणों में लगे घुघुरुओं का शब्द शान्त था, पिजड़े में बैठे सुग्गे, कबूतर आदि पक्षियों ने भी अपनी स्वाभाविक क्रीड़ा (चहकना आदि) छोड़ दी थी ॥ २॥

विलासपरायण रमणियाँ अपने हाव, भाव आदि विलासों को छोड़कर बैठी थीं। राजभवन में रहनेवाले सभी प्राणी चित्रभित्ति में लिखे हुए चित्र के समान निश्चल होकर बैठे थे ॥ ३ ॥

प्रिय लगने वाली धूप से युक्त मुहूर्त मात्र दिन शेष था। जैसे-जैसे सूर्य की किरणें कम होती जातीं थी वैसे-वैसे लोग भी अपना दैनिक काम-काज कम कर रहे थे ॥ ४॥

मानो महर्षि के उपदेश को सुनने के लिए आई हुई, विकसित कमलों की सुगन्धि से परिपूर्ण, मन्द-मन्द सायङ्काल की शीतल वायु बह रही थी ॥ ५ ॥

मानो मननपूर्वक खूब अभ्यास करने के लिए सूर्य दिन की रचना के लिए स्वीकृत अपने भ्रमण का परित्यग कर जनशून्य एकान्त अस्ताचल के शिखर के तट पर चले गये थे ॥ ६ ॥

ज्ञानगर्भित उपदेश के सुनने से उत्पन्न हुई अन्तःकरण को शीतल करनेवाली शान्ति के समान वनभूमियों में तुषार गिरने से सम्पूर्ण वनभूमियाँ सम हो गईं ॥ ७ ॥

दसों दिशाओं में लोगों का आना जाना बहुत कम हो गया था मानों लोगों ने महामुनि के उपदेश को सुनने के लिए अपनी अन्य सभी चेष्टाओं को छोड़ दिया था ॥ ८ ॥

मानो श्रीवसिष्ठजी के उपदेश को सुनने के लिए सभी वस्तुओं की छाया की गर्दनें लम्बी अर्थात् ऊँची हो गई थी, आशय यह है कि एकाग्र चित्त से सुनने के लिए मनुष्य अपनी गर्दन ऊँची कर लेता है फलतः उसकी छाया भी लम्बी हो जाती है ॥ ९ ॥

इसी समय द्वारपाल ने सभा में आकर बड़े विनम्र-भाव से महाराज दशरथ से कहा—देव, स्नान, ब्राह्मण-पूजा आदिका समय बहुत बीत चुका है ॥ १० ॥

इसके बाद श्रीवसिष्ठजी ने अपनी मधुर वाणी का उपसंहार कर महाराज से कहा—महाराज, आज आप लोग इतना ही सुनिए ॥ ११ ॥

शेष कल प्रातःकाल कहूँगा, ऐसा कहकर वे मौन हो गये। उनके वचन को सुनकर राजा ने ऐसा ही हो यह

पुष्पपाद्यार्घसन्मानदक्षिणादानपूजया ।
सदेवर्षिमुनीन्विप्रान्पूजयामास सादरम् ॥ १३ ॥
अथोत्तस्थौ सभा सर्वा सराजमुनिमण्डला ।
मण्डलाकीर्णरत्नौघपरिवेषावृतानना ॥ १४ ॥
परस्पराङ्गसङ्घट्टरणत्केयूरकङ्कणा ।
हारभाराहृतस्वर्णपट्टाभोरुस्तनान्तरा ॥ १५ ॥
शेखरोत्सङ्गविश्रान्तप्रबुद्धमधुपस्वनैः ।
सघुङ्घुमशिरोभारा वदद्भिरिव मूर्द्धजैः ॥ १६ ॥
काञ्चनाभरणोद्योतकनकीकृतदिङ्मुखाः ।
बुद्धिस्थमुनिवागर्थसंशान्तेन्द्रियवृत्तयः ॥ १७ ॥
जग्मुर्नभश्चरा व्योम भूचरा भूमिमण्डलम् ।
चक्रुर्दिनसमाचारं सर्वे ते स्वेषु सद्मसु ॥ १८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे श्यामा यामिनी समदृश्यत ।

कहकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि की कामना से पुष्प, पाद्य, अर्घ, दक्षिणादान और यथायोग्य सम्मान द्वारा आदरपूर्वक देवता, ऋषि और मुनियों के साथ-साथ सम्पूर्ण ब्राह्मणों की पूजा की ॥ १२-१३ ॥

इसके बाद राजगण और मुनिगणों के साथ सभा के सभी सदस्य उठकार खड़े हो गये। राजा द्वारा दिये गये बहुमूल्य रत्नों की निःस्पृह मुनियों ने उपेक्षा कर दी थी, इसलिए वे मण्डलाकार इधर-उधर फैले हुए थे। उनकी प्रभा की परिधि से सब लोगों के मुखमण्डल आवृत थे ॥ १४ ॥

परस्पर अङ्गों के सम्पर्क से लोगों के बाजूबन्द और कड़े शब्दायमान हो रहे थे। सब लोगों के वक्षःस्थल और स्तनान्तर हार तथा सुवर्णजटित रेशमी वस्त्रों की कान्ति से विभूषित थे ॥ १५ ॥

बोल रहे केशों के सदृश शेखर (सिर में पहने गये आभूषण जो) पहले विश्रान्त और इस समय प्रबुद्ध भँवरों की मधुर ध्वनि से लोगों का सिर 'घुं घुं' शब्दों से युक्त केशपाश हो रहे थे ॥ १६ ॥

सुवर्ण के अलङ्कारों की आभा से लोगों ने दिशाओं को सुवर्णमय बना दिया था। किन्तु चित्त में स्थित महामुनि की वाणी के अर्थ से सबकी चित्तवृत्तियाँ शान्त थीं ॥ १७ ॥

उन सभासदों से आकाशचारी आकाश की ओर चले गये और भूलोकवासी भूमि में चले गये। सबने अपने-अपने घरों में जाकर दैनिक कृत्य किये ॥ १८ ॥

इसी समय जैसे बालङ्गनाएं अर्थात् आरूढ यौवना

जनसङ्गाद्विनिर्मुक्ता गृहे बालाङ्गना यथा ॥ १९ ॥
देशान्तरं भासयितुं ययौ दिवसनायकः ।
सर्वत्राऽऽलोककर्तृत्वमेव सत्पुरुषव्रतम् ॥ २० ॥
उदभूदभितः सन्ध्या तारानिकरधारिणी ।
उत्फुल्लकिंशुकवना वसन्तश्रीरिवोदिता ॥ २१ ॥
चूतनीपकदम्बाग्रग्रामचैत्यगृहोदरे ।
निलिल्यिरे खगाश्चित्तेऽवदाता वृत्तयो यथा ॥ २२ ॥
भानोर्भासा भूषितैर्मेघलेशैः
किञ्चित्किञ्चित्कुङ्कुमच्छाययेव ।
पाश्चात्योऽद्रिः पीतवासाः समेघै-
स्ताराहारः श्रीयुतः खं समेतः ॥ २३ ॥
पूजामादाय सन्ध्यायां प्रगतायां यथागतम् ।
अन्धकाराः समुत्तस्थुर्वेताला वपुषा यथा ॥ २४ ॥

ललनाएँ जनकोलाहल के शान्त होने पर धीरे-धीरे पतिगृह में जाती हुई दिखाई देती है, वैसे ही जनसम्पर्कशून्य काली निशा दिखाई दी ॥ १९ ॥

सर्वत्र आलोक प्रदान करना ही सज्जनों का नियम होने से दिवसनात्मक भगवान् सूर्य भी अन्य देश को प्रकाशित करने के लिए चले गये ॥ २० ॥

उदित तारागणों को धारण किये हुई सन्ध्या वसन्तश्री से सुशोभित फूले हुए पलाशवन के समान चारों ओर से व्याप्त हो गई ॥ २१ ॥

पक्षिगण आम, कदम्बों की चोटियों पर एवं ग्राम मन्दिर और घर के अन्दर वैसे ही लीन हो गये जैसे निर्मल चित्तवृत्तियों निद्रा से परिव्याप्त चित्त में लीन हो जाती है ॥ २२ ॥

कुछ-कुछ, केसर की दीप्ति के समान सुनहली सूर्य की कान्ति से सुशोभित मेघखण्डरूपी पीले वस्त्र वाला तारारूपी हार तथा श्री से युक्त अस्ताचल सूर्य की कान्ति से विभूषित मेघों से युक्त एवं हार और श्री से युक्त समानधर्मवाले व्योम में प्रविष्ट हो गया। जैसे पीतवस्त्रधारी हार और लक्ष्मी से युक्त श्रीविष्णु भगवान् आवरणरहित तथा अपने अनुरूप ध्यान करने वाले व्यक्तियों के हृदयाकाश में प्रविष्ट होते हैं, वैसे ही अस्ताचल सूर्य ने भी आकाश में प्रवेश किया। समासोक्ति अलङ्कार से सन्ध्या के समय भगवान् का ध्यान करना श्रेष्ठ है यह भी प्रतीत होता है ॥ २३ ॥

सन्ध्यादेवी के पूजा लेकर चले जानेपर मूर्तिमान्

अवश्यायकणास्पन्दी हेलाविधुतपल्लवः ।
कोमलः कुमुदाशंसी ववावाशीतलोऽनिलः ॥ २५ ॥
परमान्ध्यमुपाजग्मुर्दिशोऽविस्फुटतारकाः ।
लम्बदीर्घतमःकेश्यो विधवा इव योषितः ॥ २६ ॥
आययौ भुवनं तेजःक्षीरपूरेण पूरयन् ।
रसायनमयाकारः शशिक्षीरार्णवो नभः ॥ २७ ॥
जग्मुस्तिमिरसङ्घाताः पलाय्य क्वाऽप्यदृश्यताम् ।
श्रुतज्ञानगिरश्चित्तान्महीपानामिवाज्ञताः ॥ २८ ॥
ऋषयो भूमिपालाश्च मुनयो ब्राह्मणास्तथा ।
चेतसीव विचित्रार्थाः स्वास्पदेषु विशश्रमुः ॥ २९ ॥
यमकायोपमा श्यामा ययौ तिमिरमांसला ।
आययौ मिहिकास्फारा तत्र तेषामुषः शनैः ॥ ३० ॥
अन्तर्धानमुपाजग्मुस्तारा नभसि भासुराः ।

वेतालों की भाँति भीषण अन्धकार चारों ओर छा गया ॥ २४ ॥

तुषारकणवाही, वृक्षों के कोमल-कोमल पत्तों को अनायास कम्पित करता हुआ और चारों ओर आस-पास विकसित कुमुदों को सूचित करता हुआ मन्द, सुगन्ध और शीतल पवन बहने लगा ॥ २५ ॥

चारों ओर व्याप्त निबिड़ अन्धकाररूपी केशों से युक्त, कुहरे से व्याप्त होने के कारण नक्षत्रों की स्पष्ट प्रतीति से शून्य सूर्यरूपी पति के अस्त हो जाने के कारण और सघन अन्धकार के समान काले केशवाली तथा सदा रोने के कारण जिनके नेत्र की पुतली व्यक्त नहीं है, ऐसी विधवा स्त्रियों के समान विधवा दिशाएँ लम्बायमान परम अन्धकार से युक्त हो गईं ॥ २६ ॥

चाँदनीरूपी दूध के प्रवाह से सम्पूर्ण भुवन को परिपूर्ण करता हुआ अमृतमयमूर्ति चन्द्रमारूपी क्षीरसागर व्योम में आया ॥ २७ ॥

जैसे ज्ञानगर्भित वाणियों के सुनने से राजाओं के हृदय से अज्ञान भाग गया था वैसे ही चन्द्रोदय से गाढ़ अन्धकार की राशियाँ भाग कर कहीं अदृश्य हो गईं ॥ २८ ॥

ऋषिगण, मुनिगण, ब्राह्मणों और राजाओं ने अपने-अपने निवास-स्थानों में उसी तरह विश्राम किया जिस तरह उपदेश दिये गये विचित्र अर्थों ने श्रोताओं के चित्त में स्थान ग्रहण किया ॥ २९ ॥

गाढ़ अन्धकार से परिपूर्ण यमराज के शरीर के

प्रभातपवनेनेव हृताः कुसुमवृष्टयः ॥ ३१ ॥
दृश्यतामाजगामाऽर्कः प्रभोन्मीलितलोचनः ।
विवेकवृत्तिर्महतां मनसीव नवोदिता ॥ ३२ ॥
भानोर्भासा भूषितैर्मेघलेशैः
किञ्चित्किञ्चित्कुङ्कुमच्छाययेव ।
पूर्वक्ष्माभृत्पीतवासाः समेघै-[1]
स्ताराहारः श्रीयुतः खं समेतः ॥ ३३ ॥
सभां पुनरुपाजग्मुर्नभश्चरमहीचराः ।
ह्यस्तनेन क्रमेणैव कृतप्रातस्तनक्रमाः ॥ ३४ ॥
पूर्ववत्सन्निवेशेन विवेश सकला सभा ।
बभूवाऽस्पन्दिताकारा वातमुक्तेव पद्मिनी ॥ ३५ ॥
अथ प्रसङ्गमासाद्य रामो मधुरया गिरा ।
उवाच मुनिशार्दूलं वसिष्ठं वदतांवरम् ॥ ३६ ॥

समान काली रात्रि चली गई और उनके निवासस्थानों में कुहरे सराबोर उषा-काल का आगमन हुआ ॥ ३० ॥

आकाश में देदीप्यमान तारागण प्रातःकाल की वायु से हरी गई कुसुम की वृष्टि के समान आकाश में अन्तर्हित हो गये ॥ ३१ ॥

अपनी प्रभा से नयनों को विकसित करने वाले भगवान् भास्कर महात्माओं के हृदय में उत्पन्न नवीन विवेक दीप्ति के समान दृष्टिगोचर हुए ॥ ३२ ॥

केसर की प्रभा के समान कतिपय विचित्र सूर्य की सुनहली किरणों से विभूषित मेघखण्डरूपी पीतवस्त्र को धारण किये हुए तथा ताराखपी हार और श्री से युक्त उदयाचल सूर्य की अरुण कान्ति से अलङ्कृत मेघों से पीतवस्त्रवाले तथा तारारूपी हार और श्री से युक्त आकाश में प्रविष्ट हो गया ॥ ३३ ॥

प्रातःकाल का कृत्य समाप्त कर सभी आकाशचारी और भूलोकवासी विगत दिन के क्रम से पुनः सभास्थान में आये ॥ ३४ ॥

जिस क्रम से पूर्वदिन में लोग बैठे थे उसी क्रम से सारी सभा बैठी, वायु से रहित पद्मों से पूर्ण तालाब जैसे निश्चल रहता है, वैसे ही वह सभा बात की बात में निश्चल और नीरव हो गई ॥ ३५ ॥

सभी लोगों के बैठ जाने पर कथा के प्रसंग का अवलम्बन कर श्रीरामजी ने मधुर वाणी से वक्ताओं में श्रेष्ठ महामुनि श्रीवसिष्ठ जी से कहा ॥ ३६ ॥

१. 'स्तमोघ्नैः' इति पाठान्तरम् ।

श्रीराम उवाच

भगवन् ! मनसो रूपं कीदृशं वद मे स्फुटम् ।
यस्मात्तेनेयमखिला तन्यते लोकमञ्जरी ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

रामाऽस्य मनसो रूपं न किञ्चिदपि दृश्यते ।
नाममात्रादृते व्योम्नो यथा शून्यजडाकृतेः ॥ ३८ ॥

न बाह्ये नाऽपि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः ।
सर्वत्रैव स्थितं चैतद्विद्धि राम ! यथा नभः ॥ ३९ ॥

इदमस्मात् समुत्पन्नं मृगतृष्णाम्बुसन्निभम् ।
रूपं तु क्षणसङ्कल्पाद् द्वितीयेन्दुभ्रमोपमम् ॥ ४० ॥

मध्ये यदेतदर्थस्य प्रतिभानं प्रथां गतम् ।
सतो वाऽप्यसतो वाऽपि तन्मनो विद्धि नेतरत् ॥ ४१ ॥

यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ।
अन्यन्न किञ्चिदप्यस्ति मनो नाम कदाचन ॥ ४२ ॥

श्रीराम ने कहा :—

भगवन् ! मन का स्वरूप कैसा है, यह मुझे स्पष्ट बताएँ, क्योंकि मन से ही यह सम्पूर्ण लोकमञ्जरी विस्मृत है ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे श्रीराम ! शून्य और जड़ आकारवाले भूताकाश का जैसे नाममात्र से अतिरिक्त कोई रूप नहीं दिखाई देता । अतः, मानस कार्य नाम मात्र है इनका वास्तविक कोई स्वरूप नहीं है । अतः मन सङ्कल्पित वस्तु मिथ्या है ॥ ३८ ॥

हे राम ! मन बाहर और हृदय में कहीं पर भी सद्रूप से विद्यमान नहीं है । किञ्च, जैसे आकाश सर्वत्र विद्यमान है, वैसे ही इसको भी सर्वत्र विद्यमान समझो ॥३९॥

मृगतृष्णा में (प्यासे मृगों को मरुस्थल में सूर्य की किरणों में) प्रतीत होनेवाले जल के समान मिथ्या यह जगत् मन से उत्पन्न हुआ। इसका स्वरूप क्षणभर के संकल्प से दूसरे चन्द्रमा के भ्रम के समान ही है ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षस्थल में सामने विद्यमान और स्मरण आदि परोक्षस्थल में अविद्यमान पदार्थ जो दृश्यरूप में भान होता है, वही मन है ॥ ४१ ॥

अर्थों का प्रतीति ही अर्थात् प्रतिभासिक रूप में ज्ञान ही मन कहा जाता है, इससे अतिरिक्त मन नाम का कोई भी पदार्थ कभी नहीं है ॥ ४२ ॥

जैसे द्रवत्व से जल का और वायु से स्पन्दन का भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही संकल्प से मन का भेद नहीं किया जा सकता अतः, सङ्कल्प को ही आप मन समझिये ॥ ४३ ॥

सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पात्तन्न भिद्यते ।
यथा द्रवत्वात् सलिलं तथा स्पन्दो यथाऽनिलात् ॥४३॥

यत्र सङ्कल्पनं तत्र तन्मतोऽङ्ग ! तथा स्थितम् ।
सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित् ॥ ४४ ॥

सत्यमस्त्वथवाऽसत्यं पदार्थप्रतिभासनम् ।
तावन्मात्रं मनो विद्धि तद्ब्रह्मैव पितामहः ॥ ४५ ॥

आतिवाहिकदेहात्मा मन इत्यभिधीयते ।
आधिभौतिकबुद्धिं तु स आधत्ते चिरस्थितेः ॥ ४६ ॥

अविद्या संसृतिश्चित्तं मनो बन्धो मलस्तमः ।
इति पर्यायनामानि दृश्यस्य विदुरुत्तमाः ॥ ४७ ॥

नहि दृश्यादृते किञ्चिन्मनसो रूपमस्ति हि ।
दृश्यं चोत्पन्नमेवैतन्नेति वक्ष्याम्यहं पुनः ॥ ४८ ॥

यथा कमलबीजान्तः स्थिता कमलवल्लरी ।
महाचित्परमाण्वन्तस्तथा दृश्यं जगत्स्थितम् ॥ ४९ ॥

हे तात ! जिस विषय का संकल्प होता है, उसमें मन संकल्परूप से स्थित रहता है, अर्थात् जो संकल्प है वही मन है । संकल्प और मन का कदापि एक का दूसरे से भेद नहीं किया गया है ॥ ४४ ॥

पदार्थभान (मिथ्याविषयाकार होने से) मिथ्या या (चित्संवलित होने से) सत्य जो भी हो मन केवल संकल्पस्वरूप ही है, वही सृष्टिकर्ता ब्रह्मा है ॥ ४५ ॥

आतिवाहिक देह स्वरूप को ही मन कहा गया है, चिरकाल की स्थिति के कारण वह (सूक्ष्म भूतों के मिश्रण से पञ्चीकरण द्वारा) आधिभौतिक बुद्धि का आधान करता है, यही उसका कर्तृत्व है ॥ ४६ ॥

अविद्या, संसार, चित्त, मन, बन्धन, मल, तम—ये सब दृश्य के पर्यायवाची शब्द हैं, ऐसा मनीषिगण कहते हैं ॥ ४७ ॥

दृश्य से अतिरिक्त मन का कोई भी स्वरूप नहीं है, यदि उत्पन्न दृश्य ही अविद्या और मन है, तो उनकी अनादिता कैसी ? इसपर कहते हैं— 'दृश्यम्' हुआ है ऐसी बात इत्यादि से । यह दृश्य उत्पन्न नहीं है, ऐसा मैं आगे पुनः कहूँगा ॥ ४८ ॥

जैसे कमलगट्टे के अन्दर कमललता स्थित रहती है, वैसे ही महाचैतन्यरूप परमाणु के अन्दर यह जगत् स्थित है ॥ ४९ ॥

प्रकाशस्य यथाऽऽलोको यथा वातस्य चापलम् ।
यथा द्रवत्वं पयसि दृश्यत्वं द्रष्टरीदृशम् ॥ ५० ॥
अङ्गदत्वं यथा हेम्नि मृगनद्यां यथा जलम् ।
भित्तिर्यथा स्वप्नपुरे तथा द्रष्टरि दृश्यधीः ॥ ५१ ॥
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमनन्यदिव यत्स्थितम् ।
तदप्युन्मार्जयाम्याशु त्वच्चित्तादर्शतो मलम् ॥ ५२ ॥
यद्द्रष्टुरस्याऽद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद् बलात् ।
तद्विद्धि केवलीभावं तत एवाऽसतः सतः ॥ ५३ ॥
तत्तामुपगते भावे रागद्वेषादिवासनाः ।
शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा ॥ ५४ ॥
असंभवति सर्वस्मिन् दिग्भूम्याकाशरूपिणि ।
प्रकाश्ये यादृशं रूपं प्रकाशस्याऽमलं भवेत् ॥ ५५ ॥
त्रिजगत्त्वमहं चेति दृश्येऽसत्तामुपागते ।
द्रष्टुः स्यात् केवलीभावस्तादृशो विमलात्मनः ॥ ५६ ॥

जैसे प्रकाशक का आलोक, वायु का चाञ्चल्य और जल का द्रवत्व स्वभाव है, वैसे ही द्रष्टा में इस प्रकार दृश्यत्व है ॥ ५० ॥

जैसे सुवर्ण में केयूरत्व है, जैसे मृगतृष्णा में जल है और जैसे स्वाप्निक नगर में भित्ति है, उसी तरह द्रष्टा में दृश्यबुद्धि है ॥ ५१ ॥

इस प्रकार द्रष्टा में जो दृश्यत्व सर्वथा अभिन्न के रूप में स्थित है उसे भी (उस मल को भी) तुम्हारे चित्तरूपी आदर्श से शीघ्र ही दूर करता हूँ ॥ ५२ ॥

दृश्य का अभाव होने से इस द्रष्टा में जो अद्रष्टता बलात् प्राप्त हो जाती है, उसी को सन्मात्र चिद्रूप से अवशिष्ट आत्मा का केवलीभाव जानो उसी की सत्ता असत् भी सत् के रूप में प्रतीत हो रहा है ॥ ५३ ॥

जैसे वायु के स्पन्दनरहित होनेपर वन, जलाशय आदि में वायु-स्पन्दन के कारण उत्पन्न चञ्चलता शान्त हो जाती है, वैसे ही कैवल्य अर्थात् चिद्रूपता की प्राप्ति होनेपर मन में राग, द्वेष आदि वासनाएँ शान्त हो जाती हैं ॥ ५४ ॥

प्रकाश्य दिशा, भूमि, आकाश आदि सभी पदार्थों के न रहनेपर प्रकाश का निर्मल स्वरूप जैसा रहता है, वैसा ही तीनों जगत्, त्वम्, अहम् इत्यादि दृश्यों के न रहनेपर द्रष्टा का निर्मल शुद्ध स्वरूप केवलीभाव ही रहता है ॥ ५५-५६ ॥

ऐसे दर्पण में जिसमें सम्पूर्ण पर्वत आदि का प्रति-

अनाप्ताखिलशैलादिप्रतिबिम्बे हि यादृशी ।
स्याद् दर्पणे दर्पणता केवलात्मस्वरूपिणी ॥ ५७ ॥
अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ॥ ५८ ॥

श्रीराम उवाच

सच्चेन्न शाम्यत्येवेदं नाऽभावो विद्यते सतः ।
असत्तां च न विद्मोऽस्मिन् दृश्ये दोषप्रदायिनि ॥ ५९ ॥
तस्मात्कथमियं शाम्येद् ब्रह्मन् ! दृश्यविषूचिका ।
मनोभवभ्रमकरी दुःखसन्ततिदायिनी ॥ ६० ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्य दृश्यपिशाचस्य शान्त्यै मन्त्रमिमं शृणु ।
रामाऽत्यन्तमयं येन मृतिमेष्यति नङ्क्ष्यति ॥ ६१ ॥
यदस्ति तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन राघव ! ।
तस्मात् तन्नष्टमप्यन्तर्बीजभूतं भवेद्धृदि ॥ ६२ ॥

बिम्ब नहीं पड़ा है, उसमें जैसे केवल आत्मस्वरूपभूत दर्पणता ही रहती है, वैसे ही त्वम्, अहम्, यह जगत् इत्यादि दृश्य भ्रम के शान्त होनेपर दृश्योन्मुखताशून्य द्रष्टा में केवलीभाव ही रहता है ॥ ५७-५८ ॥

श्रीराम ने कहा :—

हे ब्रह्मन् ! यदि यह सत्य है तो इसका शमन नहीं हो सकता है क्यों कि, सत् का अभाव नहीं होता है और इस दोषप्रद अर्थात् दुःखदायी दृश्य में असत्‌रूप की प्रतीति नहीं हो रही है ॥ ५९ ॥

हे ब्रह्मन् ! अतः, मन से उत्पन्न भ्रमात्मक और दुःख परम्परा को देनेवाली यह दृश्यरूपी महामारी=हैजा किस तरह शान्त होगी ? ॥ ६० ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! इस दृश्यरूपी पिशाच की शान्ति के लिए, इस मन्त्र को सुनो, जिससे चेतनरूप से प्रतीत इस देहादिरूप पिशाच की सर्वथा मृत्यु हो जायगी इसका सर्वथा नाश हो जायगा। प्रकृत में मृत्यु और नाश के द्वारा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नाश विवक्षित है अर्थात् नाश और नष्ट की पुनः उत्पत्ति नहीं होगी ॥ ६१ ॥

हे राघव ! जिस वस्तु का अस्तित्व है, उसका कभी भी नाश नहीं होता है, क्योंकि नष्ट होनेपर भी वह बीजरूप से हृदय में विद्यमान रहता है। सामान्यतया किसी वस्तु का नाश होनेपर भी संस्कार अर्थात् बीजरूप से उसकी स्थिति रह जाती है और पुनः वह वासनात्मक

स्मृतिबीजाच्चिदाकाशे पुनरुद्भूय दृश्यधीः ।
लोकशैलाम्बराकारं दोषं वितनुतेऽतनुम् ॥ ६३ ॥

इत्यनिर्मोक्षदोषः स्यात् न च तस्येह संभवः ।
यस्माद्देवर्षिमुनयो दृश्यन्ते मुक्तिभाजनम् ॥ ६४ ॥

यदि स्याज्जगदादीदं तस्मान्मोक्षो न कस्यचित् ।
बाह्यस्थमस्तु हृत्स्थं वा दृश्यं नाशाय केवलम् ॥ ६५ ॥

तस्मादिमां प्रतिज्ञां त्वं शृणु रामाऽतिभीषणाम् ।
यामुत्तरेण ग्रन्थेन नूनं त्वमवबुध्यसे ॥ ६६ ॥

अयमाकाशभूतादिरूपोऽहं चेति लक्षितः ।
जगच्छब्दस्य नामाऽर्थो ननु नाऽस्त्येव कश्चन ॥ ६७ ॥

जगत् का कारण होगा, फलतः अनिर्मोक्षरूप दोष की प्रसक्ति होगी, [जो चौसठवें पद्य से निर्दिष्ट किया गया है] ॥ ६२ ॥

स्मृतिरूपी बीज से चिदाकाश में पुनः दृश्य बुद्धि उत्पन्न होकर भुवन, पर्वत, आकाश आदि आकारवाले विपुल दोष का विस्तार करती है ॥ ६३ ॥

इस प्रकार अनिर्मोक्षरूप दोष होगा, पर उसकी यहां सम्भावना नहीं है, क्योंकि अनेक देवता, ऋषि, मुनि जीवन्मुक्त देखे जाते हैं अर्थात् अनेक महर्षिगण मुक्त हुए हैं ॥ ६४ ॥

जब तक इस जगत् का आदि अस्तित्व रहेगा, तब तक उससे किसी का भी मोक्ष नहीं होगा, वह (दृश्य) चाहे बाहर में स्थित हो, या अन्तःकरण में स्थित हो वह द्रष्टा के पारमर्थिक स्वरूप के नाश के लिए ही होता है ॥ ६५ ॥

इसलिए हे श्रीराम ! आप अतिशय भयङ्कर इस प्रतिज्ञा को सुनें जिसका स्वरूप आप अच्छी तरह से अवगत करेंगे अर्थात् जान लेगें ॥ ६६ ॥

ये आकाशभूत आदि और अन्दर अहं लक्षित हो रहे हैं, वे सब व्यवहारदशा में जगत् शब्द के ही नाम और अर्थ हैं; वस्तुतः परमार्थदशा में कुछ भी नहीं है ॥ ६७ ॥

ब्रह्म के अतिरिक्त जगत्-शब्द का कोई दूसरा वास्तविक अर्थ नहीं है । जो कुछ दृश्य सामने दिखाई देता है, वे सब अजर-अमर अव्यय परम-ब्रह्म ही है ॥ ६८ ॥

प्रत्यगात्मा का ब्रह्म की जो एकता है, वह पूर्ण में पूर्ण का ही विकास है । चूंकि स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं से रहित ब्रह्म में आकाशादि जगत् व्यवस्थित है और आकाश में घट आदि उपाधियों के

यदिदं दृश्यते किञ्चिद् दृश्यजातं पुरोगतम् ।
परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम् ॥ ६८ ॥

पूर्णे पूर्णं प्रसरति शान्ते शान्तं व्यवस्थितम्[1] ।
व्योमन्येवोदितं व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति ॥ ६९ ॥

न दृश्यमस्ति सद्रूपं न द्रष्टा न च दर्शनम् ।
न शून्यं न जडं नो चिच्छान्तमेवेदमाततम् ॥ ७० ॥

श्रीराम उवाच

वन्ध्यापुत्रेण पिष्टोऽद्रिः शशशृङ्गं प्रगायति ।
प्रसार्य भुजसम्पातं शिला नृत्यति ताण्डवम् ॥ ७१ ॥

त्याग से आकाश ही है, इसलिए ब्रह्म में ही ब्रह्म अवस्थित रहता है, अणुमात्र भी उसका विकार नहीं होता है

आशय यह है कि पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति है, उपाधि के द्वारा द्वैतरूप में मान होनेपर उस शुद्ध बुद्ध चैतन्य रस उदासीन ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता है ॥ ६९ ॥

[पूर्व पदार्थ का प्रवेश और निर्गम कहना संभव नहीं है । ब्रह्म और आत्मा की एकता ज्ञात होनेपर ही पूर्ण में पूर्ण का प्रकाश (प्रवेश) हुआ कहा जा सकता है । जब तक ब्रह्मतत्त्व अज्ञात रहता है, तब तक उसमें रस्सी में सर्पदर्शन के समान जगत्-दर्शन होता है । रस्सी में जैसी सर्प की स्थिति है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति है । जगत् नहीं है, यह ज्ञान ही जगत् की शान्तता है । शान्त में शान्त की स्थिति कहना उचित ही है । श्लोक में प्रथम शान्तशब्द ब्रह्म के लिए और द्वितीय शान्तशब्द जगत् के लिए उपात्त है । घटादि उपाधि के नष्ट होनेपर जैसे आकाश में आकाश का उदय हुआ कहा जाता है, वैसे ही जगत्-दर्शन के निवृत्त होनेपर ब्रह्ममें ब्रह्म का उदय हुआ कहा जा सकता है । ब्रह्म में ही ब्रह्म का अवस्थान, इसका तात्पर्य यह है कि जगत् ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है ।]

यह दृश्य सद्रूप नहीं है, न द्रष्टा और न दर्शन ही सद्रूप है, न शून्य सद्रूप है न जड़ ही सद्रूप है और न बुद्धिप्रतिबिम्ब चैतन्य ही है किन्तु सर्वत्र व्याप्त यह शान्त ब्रह्म ही सद्रूप है ॥ ७० ॥

श्रीरामजी ने कहा :—हे प्रभो ! आपका यह कथन वन्ध्या के पुत्र ने पर्वत को पीस दिया, खरगोश का सींग गाता है, शिला भुजाओं को फैलाकर ताण्डव नृत्य करती

१. 'परंस्थितं' इतिपाठान्तरम् ।

स्नवन्ति सिकतास्तैलं पठन्त्युपलपुत्रिकाः ।
गर्जन्ति चित्रजलदा इतीवेदं वचः प्रभो ॥ ७२ ॥
जरामरणदुःखादिशैलाकाशमयं जगत् ।
नाऽस्तीति किमिदं नाम भवताऽपि ममोच्यते ॥ ७३ ॥
यथेदं न स्थितं विश्वं नोत्पन्नं न च विद्यते ।
तथा कथय मे ब्रह्मन् ! येनैतन्निश्चितं भवेत् ॥ ७४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

नाऽसमन्वितवागस्मि शृणु राघव ! कथ्यते ।
यथेदमसदाभाति वन्ध्यापुत्र इवाऽऽरवी ॥ ७५ ॥
इदमादावनुत्पन्नं सर्गादौ तेन नाऽस्त्यलम् ।
इदं हि मनसो भाति स्वप्नादौ पत्तनं यथा ॥ ७६ ॥
मन एव च सर्गादावनुत्पन्नमसद्वपुः ।
तदेतच्छृणु वक्ष्यामि यथैवमनुभूयते ॥ ७७ ॥
मनो दृश्यमयं दोषं तनोतीमं क्षयात्मकम् ।
असदेव सदाकारं स्वप्नः स्वप्नान्तरं यथा ॥ ७८ ॥
तत्स्वयं स्वैरमेवाऽऽशु सङ्कल्पयति देहकम् ।
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्विततेन वितन्यते ॥ ७९ ॥
स्फुरति वल्गति गच्छति याचते
भ्रमति मज्जति संहरति स्वयम् ।
अपरतामुपयात्यपि केवलं
चलति चञ्चलशक्तितया मनः ॥ ८० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणार्थकल्पनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

हैं, बालू से तेल निकलता है, पत्थर की प्रतिमाएँ पढ़ती हैं और चित्र में लिखित मेघ गरजते हैं इन वचनों के समान प्रतीत होते हैं ॥ ७१, ७२ ॥

जरा, मृत्यु, विविध दुःख आदि से परिपूर्ण पर्वत, आकाश आदिमय जगत् नहीं है, इस प्रकार के वचन विवेकशाली तथा अवञ्चनीय आप भी मुझसे कैसे कह रहे हैं ? आप विवेकशाली प्रामाणिक और पारमार्थिक सत्य के वक्ता होते हुए भी मुझसे ऐसी अविश्वासनीय बातें कैसे कह रहे हैं, क्योंकि, प्रतिक्षण जिससे व्यवहार चल रहा है, उनको मिथ्या या बन्ध्या-पुत्र या खरगोश की सींग के गाने से मान लिया जाय ॥ ७३ ॥

हे ब्रह्मन् ! जिस प्रकार यह जगत् न तो अनादिकाल से स्थित है, न उत्पन्न हुआ है और न इस समय विद्यमान ही है, उस प्रकार मुझे कहें जिससे इसका निश्चय हो जाय ॥ ७४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राघव ! मेरा वचन पूर्वापरसमन्वय विरुद्ध नहीं है शब्द करनेवाले वन्ध्यापुत्र के समान किस प्रकार यह असद्रूप होते हुए भी सद्रूप में प्रतीत होता है, उसे मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो ॥ ७५ ॥

यह जगत् सृष्टि के आदि में उत्पन्न नहीं था, इसलिए उस समय इसका सर्वथा अस्तित्व नहीं था। जिस तरह स्वप्न आदि में नगर आदि की प्रतीति होती है, उसी तरह यह भी मन से अर्थात् सङ्कल्प से उत्पन्न होकर प्रतीत हो रहा है ॥ ७६ ॥

सृष्टि के आरम्भ में अनुत्पन्न असत्-शरीर मनरूप अर्थात् सङ्कल्पात्मक यह जगत् किस प्रकार अनुभूत होता है, यह मैं कहता हूँ आप सुनें ॥ ७७ ॥

स्वप्न जिस तरह असत् दृश्यात्मक होते हुए भी सत् के रूप में प्रतीत होने वाले स्वप्न का विस्तार है, वैसे नाशात्मक दृश्यात्मक इस दोष का ही मन के द्वारा विस्तार है अर्थात् सङ्कल्पात्मक मन का ही कल्पित यह विस्तार है अर्थात् स्वप्न वस्तु के समान ही इसका भी अस्तित्व नहीं है ॥ ७८ ॥

स्वच्छन्द मन ही अपनी इच्छानुसार स्वयं देह का कल्पना करता है, उसीने चिर-काल की भावना से विपुल होकर इस इन्द्रजालरूप दृश्य का विपुल स्वरूप में विस्तार किया है ॥ ७९ ॥

केवल चञ्चलशक्ति के द्वारा मन ही प्रकाशित होता है, भ्रमण करता है, गमना करता है, याचना करता है, निमग्न होता है, संहार करता है, सांसारिक दशाप्रयुक्त अपकर्ष की प्राप्ति करता है तथा कैवल्यरूप उत्कर्ष की भी प्राप्ति करता है अर्थात् ये सब मनकी क्रीड़ा मात्र हैं। सङ्कल्पात्मक मन ही अशेष है। उससे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं है ॥ ८० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरणार्थकल्पन नामक कुसुमलता का चौथा सर्ग समाप्त ॥ ४ ॥

५

श्रीराम उवाच

भगवन् ! मुनिशार्दूल ! किमिवेह मनोभ्रमे ।
विद्यते कथमुत्पन्नं मनो मायामयं कुतः ॥ १ ॥
उत्पत्तिमादाविति मे समासेन वद प्रभो ।
प्रवक्ष्यसि ततः शिष्टं वक्तव्यं वदतांवर ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

महाप्रलयसम्पत्तावसत्तां समुपागते ।
अशेषदृश्यसर्गादौ शान्तमेवाऽवशिष्यते ॥ ३ ॥
आस्तेऽनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः ।
सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मा महेश्वरः ॥ ४ ॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते ।
यस्य चाऽऽत्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः ॥५॥
यः पुमान् सांख्यदृष्टीनां ब्रह्म वेदान्तवादिनाम् ।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम् ॥ ६ ॥
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम् ।
वक्ता मन्ता ऋतं भोक्ता द्रष्टा कर्त्ता सदैव सः ॥ ७ ॥
सन्नप्यसद् यो जगति यो देहस्थोऽपि दूरगः ।
चित्प्रकाशो ह्ययं यस्मादालोक इव भास्वतः ॥ ८ ॥
यस्माद् विष्ण्वादयो देवाः सूर्यादिव मरीचयः ।
यस्माज्जगन्त्यनन्तानि बुद्बुदा जलधेरिव ॥ ९ ॥

५

श्रीरामजी ने कहा :—

हे भगवन् ! इस मन के भ्रम में परमार्थ भूत मूल क्या है, मायामय यह मन कहाँ से उत्पन्न हुआ ? ॥ १ ॥

हे प्रभो ! मन की उत्पत्ति किससे हुई ? यह पहले संक्षेप से मुझे कहें, हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! इसके बाद अविशिष्ट वक्तव्य को कहिये । आशय यह है कि मन ही सभी अनर्थों का मूल है, अतः मन की सृष्टि एवं उसके स्वरूप को संक्षेप में कहें, सामान्य ज्ञान के विशिष्ट ज्ञान कराने की कृपा करें ॥ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

महालय प्रलय की अवस्था में, जगत् की अतिशय-सूक्ष्मरूप से अर्थात् बीजरूप में स्थिति रहने से अपने कार्य के उत्पादन में असमर्थ होने पर सम्पूर्ण दृश्यवर्ग की सृष्टि से पहले जगत् की शान्तरूप में स्थिति रहता है । आवरण रूप में अज्ञान की या सङ्कल्पात्मक मन की स्थिति होनेपर भी विक्षेप अर्थात् संसार के विविधरूपों में प्रतीति का अभाव रहता है । आशय यह है कि संस्कार रूप में अज्ञान उपादान में अवस्थित रहता है ।

अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं आवरण और विक्षेप, आवरण के द्वारा सद्रूप की प्रतीति नहीं होती है और विक्षेप के द्वारा अनेक रूपों में ब्रह्माण्ड की प्रतीति होती है । महाप्रलय में विक्षेप शक्ति का संवरण रहता है । अर्थात् सङ्कल्पात्मक मन के द्वारा सृष्टि नहीं होती है ॥ ३ ॥

उस समय स्वयंप्रकाश अजन्मा, संवित् स्वरूप कीर्तिमान्, आनन्दघन, सदा सर्वशक्तिमान्, अविनाशी केवल महेश्वर ही रहता है ॥ ४ ॥

जिससे वाणियां भी निवृत्त हो जाती हैं, अर्थात् वह वाणी का विषय नहीं रहता है जिसे जीवन्मुक्त महात्मा ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ स्वाभाविक नहीं कल्पित हैं अर्थात् उसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ अनारोपितस्वरूप से उत्पन्न नहीं हैं, किन्तु आरोपित धर्म से उत्पन्न हुई हैं ॥ ५ ॥

जिसे सांख्यदर्शन की दृष्टि से पुरुष कहते हैं, वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, विज्ञानवादी अत्यन्त निर्मल केवल क्षणिक-विज्ञानरूप कहते हैं ॥ ६ ॥

जो शून्यवादी के मन में शून्यवादी शून्य है जो सूर्य के प्रकाश का प्रकाशक है वह सदा सत्य वक्ता सत्य मनन करनेवाला, भोक्ता, द्रष्टा और कर्त्ता है ॥ ७ ॥

जगत् में सर्वदा विद्यमान रहते हुए भी असत् कर देनेवाली अर्थात् आवरणात्मक अविद्या की शक्ति आवृत होने के कारण पामर पुरुषों की दृष्टि में जो असत् है, जो देह में स्थित होनेपर भी (अविद्यावृत होने के कारण पामरों की दृष्टि में) दूर स्थित है सूर्य के प्रकाश समान के जिससे चैतन्यरूपी दीप्ति होती है, अर्थात् सूर्य और किरण की एकता के समान जिससे विष्णु आदि देवतागण उत्पन्न होते हैं एवं सागर से अनन्त बुद्बुदों के समान जिससे अनन्त दृश्य ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है ॥ ८–९ ॥

यं यान्ति दृश्यवृन्दानि पयांसीव महार्णवम् ।
य आत्मानं पदार्थं च प्रकाशयति दीपवत् ॥ १० ॥
य आकाशे शरीरे च दृषत्स्वप्सु लतासु च ।
पांसुष्वद्रिषु वातेषु पातालेषु च संस्थितः ॥ ११ ॥
यः प्लावयति संरब्धं पुर्यष्टकमितस्ततः ।
येन मूकीकृता मूढाः शिला ध्यानमिवाऽऽस्थिताः ॥१२॥
व्योम येन कृतं शून्यं शैला येन घनीकृताः ।
आपो द्रुताः कृता येन दीपो यस्य वशो रविः ॥ १३ ॥
प्रसरन्ति यतश्चित्राः संसारासारवृष्टयः ।
अक्षयामृतसंपूर्णादम्भोदादिव वृष्टयः ॥ १४ ॥
आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः ।
स्फुरन्त्यतितते यस्मिन् मराविव मरीचयः ॥ १५ ॥

जैसे नदी, नाले आदि का जल महासागर में ही गिरता है, वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ के प्रलय द्वारा जिसमें विलीन हो जाते हैं, जो दीप के समान अपना और अपने में कल्पित अन्या पदार्थों का प्रकाश करता है अर्थात् सभी पदार्थों में सत् के रूप में भासमान रहता है ॥ १० ॥

जो आकाश में, शरीर में, पत्थरों में, जल में, लताओं में, धूलिकणों में, पर्वतों में, वायु में और पाताल में स्थित रहता है ॥ ११ ॥

जो अपने व्यापार में उद्यत पुर्यष्टक को (कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, भूतमात्रा, प्राण, अविद्या, काम, कर्म और अन्तःकरण को) बाहर-भीतर अपने चैतन्य की व्याप्ति से चैतन्य-सम्पन्न करता है और जिसने ध्यान में मग्न के समान जड़ शिलाओं को मूक बना दिया है। आशय यह है कि इसी के कारण चेतन, अचेतन, मूक, वक्ता आदि होता है, कर्म के अनुसार सभी का यही हेतु है ॥ १२ ॥

व्योम को=आकाश को जिसने शून्य किया है, जिसने पर्वतों को सघन रूप दिया है, जलको जिसने तरल किया है और जिसने अपने वशीभूत सूर्य को दीपक अर्थात् प्रकाशमय किया है ॥ १३ ॥

जैसे अक्षय जल से पूर्ण मेघ से मूसलाधार वृष्टि होती है, वैसे ही अक्षय=अनश्वर आनन्द से परिपूर्ण जिस परमतत्त्व से चित्र-विचित्र संसाररूपी मूसलाधार वृष्टि अर्थात् सृष्टि होती है ॥ १४ ॥

जैसे मरुभूमि में कभी दिखलाई देनेवाला कभी छिप जानेवाला मरुमरीचिकाजल व्यक्त होता है, वैसे ही जिस अतिविस्तारयुक्त (व्यापक) तत्त्व में आविर्भाव-तिरोभावमय त्रिभुवन रूप लहरें स्फुरित हो रही हैं ॥ १५ ॥

नाशरूपोऽविनाशात्मा योऽन्तःस्थः सर्वजन्तुषु ।
गुप्तो योऽप्यतिरिक्तोऽपि सर्वभावेषु संस्थितः ॥ १६ ॥
प्रकृतिव्रततिर्व्योम्नि जाता ब्रह्माण्डसत्फला ।
चित्तमूलेन्द्रियदला येन नृत्यति वायुना ॥ १७ ॥
यश्चिन्मणिः प्रकचति प्रतिदेहसमुद्गके ।
यस्मिन्निन्दौ स्फुरन्त्येता जगज्जालमरीचयः ॥ १८ ॥
प्रशान्ते चिद्घने यस्मिन् स्फुरन्त्यामृतवर्षिणि ।
धाराजलानि भूतानि सृष्टयस्तडितः स्फुटाः ॥ १९ ॥
चमत्कुर्वन्ति वस्तूनि यदालोकतया मिथः ।
असज्जातमसद् येन येन सत्सत्त्वमागतम् ॥ २० ॥
चलतीदमनिच्छस्य कायो यो यस्य सन्निधौ ।
जडं परमरक्तस्य शान्तमात्मनि तिष्ठतः ॥ २१ ॥

प्रपञ्चरूप से विनाशी होते हुए भी जो अविनाशी के रूप में प्राणियों के अन्दर स्थित है। गुप्त और सबसे अतिरिक्त होते हुए भी जो सभी पदार्थों में निरञ्जन रूप में विद्यमान है ॥ १६ ॥

चिदाकाश में शुद्ध चैतन्य में उत्पन्न प्रकृति=माया ही लता है, चित्त उसकी जड़ है, इन्द्रियां उसके पत्ते हैं और ब्रह्माण्ड उसके सुन्दर फल हैं। वह मायारूपी लता वायुरूप जिससे स्पन्दित होती है ॥ १७ ॥

जो चैतन्यरूपी मणि प्रत्वेक देहरूपी पेटी में प्रकाशित होती है और अमृत की वर्षा करने वाली चन्द्रमा की किरणों की भाँति जिसमें ये अनेक जगत् स्फुरित हैं ॥ १८ ॥

जिस प्रशान्त चैतन्यात्मक एकरस में अमृत की वर्षा करने वाली भूतस्वरूप जल-धारायें और विद्युत् की सृष्टि वैसे ही स्फुरित होती है, जैसे मेघ से धारा सम्पात वृष्टि और बिजली का स्फुरण होता है। अर्थात् चेतनाचेतनात्मक ब्रह्माण्ड का स्फुरण उसी चिद्रूप से होता है ॥१९॥

जिसकी दीप्ति से सब पदार्थ परस्पर चमत्कार पूर्ण अर्थात् आश्चर्यजनक कार्य करते हैं, जिससे असत्पदार्थ असत् और सत् पदार्थ सद्रूप को प्राप्त करता है ॥२०॥

शान्त भाव से अपनी आत्मा में स्थित अर्थात् असङ्ग कामनारहित जिसके सान्निध्य में यह दृश्यवर्ग अत्यन्त जड़ होता हुआ भी क्रियावान् है ॥ २१ ॥

नियतिर्देशकालौ च चलनं स्पन्दनं क्रिया ।
इति येन गताः सत्तां सर्वसत्तातिगामिना ॥ २२ ॥

शुद्धसंविन्मयत्वाद् यः खं भवेद् व्योमचिन्तया ।
पदार्थचिन्तयाऽर्थत्वमिव तिष्ठत्यधिष्ठितः ॥ २३ ॥

कुर्वन्नपीह जगतां महतामनन्त-
वृन्दं न किञ्चन करोति न काश्चनाऽपि ।
स्वात्मन्यनस्तमयसंविदि निर्विकारे
त्यक्तोदयस्थितिमति स्थित एक एव ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मूलकारणदेवस्वरूपवर्णनं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

नियति अर्थात् नियम अर्थात् समय से सृष्टि और प्रलय नियम के अवच्छेदक देश और काल, बीज का विकासरूप क्रिया स्पन्दन अर्थात् अङ्कुर की उत्पत्ति रूप स्पन्दन एवं अन्य क्रिया में अर्थात् वृद्धि पल्लव पुष्प आदि की उत्पत्ति स्वरूप व्यापार इस क्रम में सभी में सत् के रूप में वर्तमान जिसकी सत्ता से ही क्रिया करने में समर्थ होते हैं ॥ २२ ॥

शुद्ध संविद्रूप=ज्ञानमय होने के कारण जो आकाश के सङ्कल्प अर्थात् चिन्ता (मैं आकाश हूँ इस प्रकार विचार करने से) आकाशस्वरूप को और पदार्थों के चिन्तन से पदार्थत्व को धारण कर स्थित है ॥ २३ ॥

अनेक महान् ब्रह्माण्ड के समूहों के सृष्टि विचित्र विविध लीलाओं को करता हुआ भी जो कुछ कार्य नहीं करता है क्योंकि यह निर्विकार अतएव उत्पत्ति, स्थिति आदि से शून्य ज्ञानमय अपने स्वरूप में स्थित और अद्वितीय ही है ।

आशय यह है कि निर्विकार चैतन्य रस होने से यह ब्रह्माण्ड लीला मात्र है, वह कुछ करता नहीं है, केवल सङ्कल्पात्मक है, अतः परमार्थ दृष्टि से स्वप्न के समान मिथ्या पदार्थ रहित है ॥ २४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में मूल-कारणदेवस्वरूपवर्णन नामक कुसुमलता का पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

६

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्य देवाधिदेवस्य परस्य परमात्मनः ।
ज्ञानादेव परा सिद्धिर्न त्वनुष्ठानदुःखतः ॥ १ ॥

अत्र ज्ञानमनुष्ठानं न त्वन्यदुपयुज्यते ।
मृगतृष्णाजलभ्रान्तिशान्तौ चेदं निरूपितम् ॥ २ ॥

नह्येष दूरे नाऽभ्याशे नाऽलभ्यो विषमे न च ।
स्वानन्दाभासरूपोऽसौ स्वदेहादेव लभ्यते ॥ ३ ॥

किञ्चिन्नोपकरोत्यत्र तपोदानव्रतादिकम् ।
स्वभावमात्रे विश्रान्तिमृते नाऽत्राऽस्ति साधनम् ॥ ४ ॥

६

[ज्ञान से आत्मा की प्राप्ति होती है, कर्मों से नहीं; अतएव ज्ञानप्राप्ति के उपायों में प्रयत्न और क्रम का वर्णन]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

इस परब्रह्म परमात्मा देवाधिदेव की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है, कर्मानुष्ठान से उत्पन्न क्लेशों से इसकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है ॥ १ ॥

ज्ञान से अतिरिक्त कर्म आदि का कोई उपयोग नहीं है ब्रह्म की प्राप्ति में ज्ञानरूपी अनुष्ठान का ही उपयोग है । मरुस्थल में मरीचिका में जल-भ्रम की निवृत्ति कोटि कोटि कर्म करने पर भी नहीं हो सकती, एकमात्र ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होती है यह कहा गया है ॥ २ ॥

न तो यह दूर है, और न नजदीक है, अलभ्य भी नहीं है, अर्थात् प्राप्ति के योग्य है और दुर्गम स्थान में स्थित भी नहीं है किन्तु आत्मानन्दाभासरूप यह अपने शरीररूपी उपाधि से ही प्राप्त होता है अर्थात् विस्मृत सुवर्णहार के समान ज्ञानरूप कौशल से अपने ही शरीर से प्राप्त रहने पर भी अप्राप्त के समान "दशमस्त्वमसि" के समान प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

परमात्मा की प्राप्ति में तपस्या, दान, व्रत आदि कुछ भी सहायता नहीं करते हैं, अपने स्वरूप में विश्रान्ति से अतिरिक्त उसकी प्राप्ति में अन्य कुछ भी साधन नहीं है ॥ ४ ॥

साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरतैवाऽत्र कारणम् ।
साधनं बाधनं मोहजालस्य यदकृत्रिमम् ॥ ५ ॥
अयं सदेव इत्येव सम्परिज्ञानमात्रतः ।
जन्तोर्न जायते दुःखं जीवन्मुक्तत्वमेति च ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

सम्परिज्ञातमात्रेण किलाऽनेनाऽऽत्मनाऽऽत्मना ।
पुनर्दोषा न बाधन्ते मरणाद्याः कदाचन ॥ ७ ॥
देवदेवो महानेष कुतोऽदूरादवाप्यते ।
तपसा केन तीव्रेण क्लेशेन कियताऽथवा ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकासिना ।
स देवो ज्ञायते राम ! न तपःस्नानकर्मभिः ॥ ९ ॥
रागद्वेषतमःक्रोधमदमात्सर्यवर्जनम् ।
विना राम! तपो दानं क्लेश एव न वास्तवम् ॥ १० ॥

साधुसमागम तथा सत्-शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर होना ही परमब्रह्म की प्राप्ति के कारण हैं, अकृत्रिम आत्म स्वरूप का साक्षात्कार स्वरूप साधन ही मोह-जाल का बाधक होता है। अतः साक्षात्कारात्मक ज्ञान ही एक मात्र अज्ञान-जाल का बाधक और अज्ञान पाश का नाशक होता है। स्वस्वरूप साक्षात्कार सिद्ध स्वरूप है कृत्रिम नहीं है ॥ ५ ॥

यह परमात्मा सत् स्वरूप है, इस प्रकार के ज्ञान मात्र से हो जीव को क्लेश नहीं होता है और वह जीवन्मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा :—

आत्मस्वरूप से आत्मा का केवल ज्ञान होने से क्लेशदायक जन्म-मरण आदि दोष फिर कभी-भी दुःख नहीं देते हैं ॥ ७ ॥

यह महान् देवाधिदेव किस उपाय से अतिशीघ्र प्राप्त होता है ? किस दुष्कर तप से अथवा कितने प्रचुर क्लेश से प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! वेदान्तश्रवण आदि अपने पौरुष प्रयत्न के विकास सम्पन्न विवेक से ही देव के ज्ञान की प्राप्ति होती है, तप, स्नान, यज्ञ आदि कर्मों से नहीं ॥ ९ ॥

हे राम ! राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मद्य और मात्सर्य का परित्याग किये बिना तप, दान आदि क्लेश स्वरूप मात्र ही हैं, वास्तविक साधन नहीं हैं ॥ १० ॥

रागाद्युपहते चित्ते वञ्चयित्वा परं धनम् ।
यदर्ज्यते तस्य दानाद्यस्याऽर्थास्तस्य तत्फलम् ॥ ११ ॥
रागाद्युपहते चित्ते व्रतादि क्रियते च यत् ।
तद्दम्भः प्रोच्यते तस्य फलमस्ति मनाङ्न च ॥ १२ ॥
तस्मात् पुरुषयत्नेन मुख्यमौषधमाहरेत् ।
सच्छास्त्रसज्जनासङ्गौ संसृतिव्याधिनाशिनौ ॥ १३ ॥
अत्रैकं पौरुषं यत्नं वर्जयित्वेतरा गतिः ।
सर्वदुःखक्षयप्राप्तौ न काचिदुपपद्यते ॥ १४ ॥
शृणु तत्पौरुषं कीदृगात्मज्ञानस्य लब्धये ।
येन शाम्यत्यशेषेण रागद्वेषविषूचिका ॥ १५ ॥
यथासंभवया वृत्त्या लोकशास्त्राविरुद्धया ।
सन्तोषसन्तुष्टमना भोगगन्धं परित्यजेत् ॥ १६ ॥
यथासंभवमुद्योगादनुद्विग्नतया स्वया ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरतां प्रथमं श्रयेत् ॥ १७ ॥

राग आदि से परिव्याप्तचित्त रहने पर दूसरे को ठगकर जो धन उपार्जित किया जाता है, उसके दान से उसी को फल मिलता है, जिसका कि वह धन है ॥ ११ ॥

चित्त में राग आदि से उपहत अर्थात् राग-द्वेष का साम्राज्य रहने पर जो व्रत आदि किया जाता है, वह दम्भ ही कहा जाता है, उसका कुछ भी फल नहीं होता है ॥ १२ ॥

इसलिए पौरुष प्रयत्न से मुख्य ओषधि का अर्थात् साधन का संग्रह=उपार्जन करना चाहिए। सत् शास्त्रों का अभ्यास और सज्जन संगति ही संसाररूपी व्याधि की निवृत्ति के साधन हैं ॥ १३ ॥

इस संसार में संपूर्ण दुःखों के विनाश की प्राप्ति में केवल एक पौरुष प्रयत्न ही उपाय है, उसको छोड़कर अन्य कोई भी उपाय उपपन्न नहीं होता है ॥ १४ ॥

जिससे राग-द्वेषरूपी विषूचिका सर्वथा निवृत्त हो जाती है उस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अपेक्षित पौरुष कैसा है ? उसे आप सुनें ॥ १५ ॥

मुमुक्षु पुरुष—लोक और शास्त्र से जिस प्रकार के आचरण में किसी प्रकार का विरोध नहीं है, ऐसी यथा-योग्य (अपने कुलानुरूप) आजीविका से सन्तुष्ट होकर-भोगवासना के गन्ध का भी परित्याग करे ॥ १६ ॥

अनुद्विग्नतापूर्वक यथासंभव (शक्त्यनुरूप) उद्योग से सज्जन संगति और सत्-शास्त्र के अभ्यास की सर्व-प्रथम शरणागति करनी चाहिए ॥ १७ ॥

यथाप्राप्तार्थसन्तुष्टो यो गर्हितमुपेक्षते ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरः शीघ्रं स मुच्यते ॥ १८ ॥
विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य महामतेः ।
अनुकम्प्या भवन्त्येते ब्रह्मविष्ण्विन्द्रशङ्कराः ॥ १९ ॥
देशे यं सुजनप्राया लोकाः साधुं प्रचक्षते ।
स विशिष्टः स साधुः स्यात्तं प्रयत्नेन संश्रयेत् ॥ २० ॥

अध्यात्मविद्या विद्यानां प्रधानं तत्कथाश्रयम् ।
शास्त्रं सच्छास्त्रमित्याहुर्मुच्यते तद्विचारणात् ॥ २१ ॥
सच्छास्त्रसत्सङ्गमजैर्विवेकै-
स्तथा विनश्यन्ति बलादविद्याः ।
यथा जलानां कतकानुषङ्गा-
द्यथा जनानां मतयोऽपि योगात् ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मुमुक्षुप्रयत्नोपदेशो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

प्रारब्धानुसार प्राप्त पदार्थ सन्तुष्ट रहता है, और जो शास्त्र एवं शिष्टों द्वारा निन्दित की उपेक्षा करता है और साधुसंगति तथा सत्-शास्त्र के अभ्यास में तत्पर रहता है, वह शीघ्र मुक्त हो जाता है ॥ १८ ॥

विचार द्वारा अपने स्वरूप (आत्मतत्त्व) के ज्ञाता महामनीषी महापुरुष के ये ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर और इन्द्र अनुकम्पा के पात्र हो जाते हैं ॥ १९ ॥

सदाचार में परिनिष्ठित सज्जन लोग देश में जिसे साधु कहते हैं, वह यदि ज्ञान, वैराग्य आदि शुभ गुणों से विशिष्ट हो, तो वह साधु है । प्रयत्नपूर्वक उसकी शरण में जाना चाहिए ॥ २० ॥

सम्पूर्ण विद्याओं में अध्यात्मविद्या प्रधान है, उसकी उत्पत्ति के अनुकूल विचारात्मक वर्णन जिसमें हो, वह शास्त्र (उपनिषत्, सूत्रभाष्य, गीता एवं इनके विवरणात्मक ग्रन्थ) सत्-शास्त्र कहा जाता है, उस शास्त्र का विचार करने से पुरुष मुक्त हो जाता है ॥ २१ ॥

जैसे निर्मली के चूर्ण के संसर्ग से जल का मैल नष्ट हो जाता है और जैसे योग के अभ्यास से लोगों की बाह्य मनोवृत्तियां विनष्ट हो जाती हैं, वैसे ही सत्-शास्त्र और साधु-संगति से उत्पन्न विवेक से अविद्या सहसा राग, द्वेष, मोह आदि सहसा विनष्ट हो जाते हैं ॥ २२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में मुमुक्षु-प्रयत्नोपदेश नामक कुसुमलता का छठां सर्ग समाप्त ॥ ६ ॥

७

श्रीराम उवाच

य एष देवः कथितो यस्मिन् ज्ञाते विमुच्यते ।
वद क्वाऽसौ स्थितो ब्रह्मन् ! कथमेनमहं लभे ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

य एष देवः कथितो नैष दूरेऽवतिष्ठते ।
शरीरे संस्थितो नित्यं चिन्मात्रमिति विश्रुतः ॥ २ ॥
एष सर्वमिदं विश्वं न विश्वं चैष सर्वगः ।
विद्यते ह्येष एवैको न तु विश्वाभिधाऽस्ति दृक् ॥ ३ ॥
चिन्मात्रमेष शशिभृच्चिन्मात्रं गरुडेश्वरः ।
चिन्मात्रमेव तपनश्चिन्मात्रं कमलोद्भवः ॥ ४ ॥

७

श्रीरामचन्द्रने कहा :—

हे ब्रह्मन् ! जिस प्रत्यगात्मरूप देव का आपने वर्णन किया है, जिसका ज्ञान होने पर पुरुष विमुक्त हो जाता है, वह देवाधिदेव कहाँ स्थित है तथा उसे मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ, यह आप मुझे कहें ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा :—

जिस देवाधिदेव का मैंने वर्णन किया है, वह दूर नहीं रहता है । चैतन्यमात्ररूप से प्रसिद्ध यह नित्य शरीर में ही संस्थित है ॥ २ ॥

यह देव ही सर्वत्र विश्व में अधिष्ठान रूप से एवं सद्रूप से अनुस्यूत है, यह अज्ञान कार्य सर्वत्र परिव्याप्त विश्व ही नहीं है । एकमात्र इसी की सत्ता है । यह विश्वात्मक चैतन्य नहीं है अर्थात् उससे अतिरिक्त विश्व की सत्ता नहीं है आशय यह है कि इसी की सत्ता से असत् विश्व भी सत् के रूप में भासमान है ॥ ३ ॥

चिन्मात्रस्वरूप यही चन्द्रशेखर महादेव है, चिन्मात्रस्वरूप यही गरुडपति विष्णु है, चिन्मात्रस्वरूप यही सूर्य है और चिन्मात्रस्वरूप यही चतुर्मुख कमलयोनि ब्रह्मा है । चिन्मात्र से इनकी पृथक् सत्ता नहीं है ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

बाला अपि वदन्त्येतद्यदि चेतनमात्रकम् ।
जगदित्येव केवाऽत्र नाम स्यादुपदेशता ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रं चेतनं विश्वमिति यज्ज्ञातवानसि ।
न किञ्चिदेव विज्ञातं भवता भवनाशनम् ॥ ६ ॥
चेतनं राम ! संसारो जीव एष पशुः स्मृतः ।
एतस्मादेव निर्यान्ति जरामरणभीतयः ॥ ७ ॥
पशुरज्ञो ह्यमूर्तोऽपि दुःखस्यैवैष भाजनम् ।
चेतनत्वाच्चेतनीयं मनोऽनर्थः स्वयं स्थितः ॥ ८ ॥
चेत्यनिर्मुक्तता या स्यादचेत्योन्मुखताऽथवा ।
अस्य सा भरिताऽऽवस्था तां ज्ञात्वा नाऽनुशोचति ॥९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ १० ॥
तस्य चेत्योन्मुखत्वं तु चेत्यासंभवनं विना ।
रोद्धुं न शक्यते दृश्यं चेत्यं शाम्यति वै कथम् ॥ ११ ॥
अचेत्यचित्स्वरूपं यत्तच्चाऽसंभवनं विना ।
क्व स्वरूपोन्मुखत्वं हि केवलं चेत्यरोधतः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—

यदि बालक भी यह जगत् चेतनमात्र आश्रित है, ऐसा कहते हैं, तो इस विषय में उपदेश की क्या आवश्यकता रह जाती है ॥ ५ ॥

वत्स श्रीरामचन्द्र जी ! आपने जो विश्व को चिन्मात्र अर्थात् चेतन जाना है, ऐसी दशा में आपने भवभीतिनाशक कुछ भी उपाय नहीं जाना ॥ ६ ॥

हे राम ! संसार अर्थात् अन्तःकरण को चिद्रूप अर्थात् चेतन माननेपर विषय मात्र सत्य मानता है, अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्य को देखकर विषयरूप उपाधि अर्थात् विश्व को ही सत्य मानता है ऐसी दृष्टि वाला पशुस्वरूप है फलतः जरा, मरण, भय से उसका कभी भी उद्धार नहीं होता है, पुनः पुनः भय में आना-जाना लगा रहता है ।

अच्युत ग्रन्थालय में इसका अनुवाद निम्नलिखित है : कर्ता में क्विप् प्रयत्न से निष्पन्न चित् और चेतन शब्द समानार्थक ही है, कारण कि नन्द्यादिल्युट् प्रत्यय भी कर्ता में ही होता है । उनका अर्थ होता है—चितिकर्ता । नित्य चिति में कर्तृत्व का सम्भव नहीं है, इसलिए अनित्य मनोवृत्ति में प्रतिफलित चित् का ग्रहण करनेपर उसके आश्रयभूत अन्तःकरण को आत्मा समझनेवाला जीव ही चित्शब्द से कहा गया है । वह बहिर्मुख होने से विषयों को ही सार पदार्थ समझता है, अतएव पशु है, इससे ही जन्म, मरण आदि भीतर बैठे हुए से बाहर निकलते है ॥ ७ ॥

बहिर्मुख होने के कारण बाह्य विषयों को ही सार समझनेवाला यह जीव मूर्तस्थूलशरीर से शून्य होता हुआ भी कृतकृत्य नहीं होता, क्योंकि अज्ञानी है, स्वयं चेतनीय मनरूप और अनर्थरूप बनकर स्थित है, अतः यह दुःख का ही भाजन है, 'अशरीरम्' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिका तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण नामक तीन देहों से रहित को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते हैं— ऐसा अर्थ है, केवल स्थूल देह से रहित को प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते, ऐसा अर्थ नहीं है, कारण कि स्वप्न में स्थूल देह का अभाव होनेपर भी प्रिय देखे जाते हैं, यह अभिप्राय है ॥ ८ ॥

अमूर्त होते हुए भी अज्ञानी यह पशु अर्थात् जीव दु.ख का ही पात्र रहता है । मन को ही चेतन और चेतन मन को मानने से स्वयं अनर्थ की सृष्टि करता है । अर्थात् स्थूल देह शून्य अमूर्त चेतन आत्मा न मानकर शरीर या मन को चेतन जीव मानकर अज्ञानवश स्वयं ही दुःख का अनुभव करता है । अच्युत ग्रन्थमाल में इस प्रकार कहा है-

चेत्य=दृश्य पदार्थों से जो सर्वथा मुक्तता (छुटकारा पाना) है अथवा जो अचेत्य=चेतनीय से अतिरिक्त पदार्थ की ओर प्रवणता है (जीव की चेत्यनिर्मुक्तता मुक्त्यवस्था में होती है और अचेत्योन्मुखता समाधि अवस्था में होती है ।) वह जीव की पूर्णावस्था है, उसका ज्ञानकर जीव पुनः शोक नहीं करता ॥ ९ ॥

उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार होनेपर मूलाज्ञान के विनाश से इस जीव की मूलाज्ञान का कार्यभूत अन्तःकरण में तादात्म्याध्यासरूप हृदय-बन्धन टूट जाता है, उसके नाश से सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं और सञ्चित सञ्चीयमान सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं ॥१०॥

चेत्य का=दृश्य का ज्ञान से समूल विनाश किये बिना जीव का दृश्य पदार्थों के प्रति आकर्षण नहीं रोका जा सकता है । ज्ञान के बिना दृश्य जगत् का उच्छेद कैसे हो सकता है अर्थात् ज्ञान के बिना ब्रह्म साक्षात्कारात्मक निदिध्यासन नहीं हो सकती है ॥ ११ ॥

जो मोक्ष नामक अचेत्य चित्स्वरूप है, वह पूर्वोक्त चेत्य के=दृश्य के असम्भव बिना अर्थात् ज्ञान द्वारा

श्रीराम उवाच

यस्मिन् जीवे हि विज्ञाते न विनश्यति संसृतिः ।
व्योमरूपी पशुस्त्वज्ञः स ब्रह्मन्! कुत्र कीदृशः ॥ १३ ॥
साधुसङ्गमसच्छास्त्रैः संसारार्णवतारकः ।
दृश्यते परमात्मा यः स ब्रह्मन् ! वद कीदृशः ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यदेतच्चेतनं जीवो विशीर्णो जन्मजङ्गले ।
एतमात्मानमिच्छन्ति ये तेऽज्ञाः पण्डिता अपि ॥ १५ ॥
जीव एव हि संसारश्चेतना दुःखसन्ततेः ।
अस्मिन् ज्ञाते न विज्ञातं किञ्चिद्भवति कुत्रचित् ॥ १६ ॥
ज्ञायते परमात्मा चेद्राम ! दुःखस्य सन्ततिः ।
क्षयमेति विषावेशशान्ताविव विषूचिका ॥ १७ ॥

श्रीराम उवाच

रूपं कथय मे ब्रह्मन् ! यथावत्परमात्मनः ।
यस्मिन् दृष्टे मनो मोहान् समग्रान् सन्तरिष्यति ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

देशाद्देशान्तरं दूरं प्राप्तायाः संविदो वपुः ।
निमिषेणैव तन्मध्ये तद्रूपं परमात्मनः ॥ १९ ॥
अत्यन्ताभाव एवाऽस्ति संसारस्य यथास्थितेः ।
यस्मिन् बोधमहाम्भोधौ तद्रूपं परमात्मनः ॥ २० ॥

समूल उच्छेद के बिना कैसे प्राप्त हो सकता है ? समाधि में केवल ब्रह्मस्वरूपोन्मुखता भी दृश्य के बाध से ही होती है, मोक्ष में दृश्यस्वरूप के बाध की आवश्यकता के विषय में कहना ही क्या है ? ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—

इस श्लोक का आशय यह है कि मन को चेतन मानने पर अड़ा पशु स्वरूप जीव संसारात्मक हो जाता है, और अमूर्त देहादि शून्य चिद्रूप जीव मानने पर संसार की क्या स्थिति होती है ? क्या संसार ब्रह्मस्वरूप चेतनात्मक हो जाता है । अर्थात् ब्रह्म की भवरूपता की प्राप्ति होगी यदि ब्रह्मरूपता की प्राप्ति अशेष ब्रह्माण्ड की न हो तो ज्ञान की साधनता ही व्यर्थ हो जायेगी । ऐसी स्थिति में यह कहना है कि ब्रह्म विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान या आश्रय स्वरूप है अर्थात् उस अमूर्त चेतनपर अज्ञान वश आकाश में नील आदि रूप के समान ब्रह्म में अज्ञान-वश संसारित्व और इन विषयों की कल्पना मात्र है । अद्वैत स्वरूप होने से ये विषय सत्य नहीं है मात्र कल्पना के विषय हैं जैसे रस्सी के ज्ञान से उस पर अज्ञान कल्पित सर्प विनष्ट हो जाता है, वैसे ही चिद्रूप ब्रह्म का ज्ञान होने अज्ञानवश विक्षेप शक्ति से परिकल्पित यह विश्व एवं अनेक विषय स्वयं विनष्ट हो जाते हैं ॥ १३ ॥

हे ब्रह्मन् ! यदि साधुसमागम और शास्त्र के अभ्यास से जिसका साक्षात्कार होता है, वह संसाररूपी सागर से उद्धार करनेवाला परमात्मा कैसा है ? उसे आप मुझसे कहें ॥ १४ ॥

हे श्रीराम ! जो यह चेतन जीव विविध जन्म जङ्गल में आता है और विशीर्ण होता है, इसे जो लोग आत्मा समझते हैं, वे शास्त्रीय प्रज्ञासे सम्पन्न होते हुए भी अज्ञानी हैं ॥ १५ ॥

हे राघव ! जीव ही संसारी है और उसी को दुःख-परम्पराओं का अनुभव होता है, अतएव जीव के ज्ञात होने पर कहीं पर कुछ ज्ञात नहीं होता ॥ १६ ॥

हे राम ! यदि परमात्मा का ज्ञान होता है, तो जैसे विष के वेग के शान्त होने पर विषूचिका शान्त हो जाती है, वैसे ही दुःख सन्तति अर्थात् क्लेश परम्परा भी नष्ट हो जाती है ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—

हे ब्रह्मन् ! परमात्मा का यथार्थस्वरूप मुझे कहें, जिसका साक्षात्कार होने पर मन सम्पूर्ण मोहों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

एक पलक भर में एक देश से दूर अन्य देश में प्राप्त संवित् ज्ञान का निर्विषय स्वरूप निकट और दूर देश के मध्य में स्थित स्वरूप ही निरालम्बन शुद्ध ज्ञानाकार परमात्मा का रूप है । आशय यह है कि शाखा के अग्रभाग में चन्द्रमा के दर्शन नेत्र द्वारा निर्गत अपरोक्ष ज्ञान शाखा प्रदेश से लेकर दूर चन्द्र प्रदेश तक एक पलक भर में पहुँच जाता है । शाखा प्रदेश से लेकर चन्द्र-प्रदेश तक उक्त ज्ञान की अनुस्यूतता माने बिना शाखा और चन्द्रमा का एक साथ ज्ञान नहीं हो सकता है इस प्रकार के ज्ञान की उपपत्ति के लिए शाखा से चन्द्र तक ज्ञान की अनुस्यूतिता अवश्य माननी पड़ेगी । वहाँ पर शाखा और चन्द्र प्रदेश में ज्ञान के सविषय होने पर भी बीच में उक्त ज्ञान का जो स्वरूप है, वह निर्विषय अपरोक्ष चिद्रूप से रहता है, वही परमात्मा का रूप समझना चाहिए ॥ १९ ॥

जिस रूप में संसार को देख रहे हैं उसका अत्यन्त अभाव ही है, अर्थात् इस अज्ञान से कल्पित संसार का स्वरूप रस्सी में सर्प के समान सर्वथा अभावरूप ही है ।

द्रष्टृदृश्यक्रमो यत्र स्थितोऽप्यस्तमयङ्गतः ।
यदनाकाशमाकाशं तद्रूपं परमात्मनः ॥ २१ ॥
अशून्यमिव यच्छून्यं यस्मिन् शून्यं जगत्स्थितम् ।
सर्गौघे सति यच्छून्यं तद्रूपं परमात्मनः ॥ २२ ॥
यन्महाचिन्मयमपि बृहत्पाषाणवत् स्थितम् ।
जडं वाऽजडमेवाऽन्तस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ २३ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं येन सर्वं संप्राप्य सङ्गमम् ।
स्वरूपसत्तामाप्नोति तद्रूपं परमात्मनः ॥ २४ ॥
प्रकाशस्य यथाऽऽलोकः शून्यत्वं नभसो यथा ।
तथेदं संस्थितं यत्र तद्रूपं परमात्मनः ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

सद्रूपं परमात्मेति कथं नाम हि बुद्ध्यते ।
इयतोऽस्य जगन्नाम्नो दृश्यस्याऽसंभवः कथम् ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

भ्रमस्य जागतस्याऽस्य जातस्याऽऽकाशवर्णवत् ।
अत्यन्ताभावसंबोधे यदि रूढिरलं भवेत् ॥ २७ ॥
तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं भवेन्नाऽन्येन कर्मणा ।
दृश्यात्यन्ताभावतस्तु ऋते नाऽन्या शुभा गतिः ॥ २८ ॥
अत्यन्ताभावसंपत्तौ दृश्यस्याऽस्य यथास्थितेः ।
शिष्यते परमार्थोऽसौ बुद्ध्यते जायते ततः ॥ २९ ॥
न विदः प्रतिबिम्बोऽस्ति दृश्याभावादृते क्वचित् ।
क्वचिन्नाऽप्रतिबिम्बेन किलाऽऽदर्शोऽवतिष्ठते ॥ ३० ॥
जगन्नाम्नोऽस्य दृश्यस्य स्वसत्तासंभवं विना ।
बुद्ध्यते परमं तत्त्वं न कदाचन केनचित् ॥ ३१ ॥

यह अत्यन्ताभाव जिस आधार स्वरूप ज्ञान स्वरूप में होता है वही परमात्मा का स्वरूप है, अर्थात् अज्ञान का अधिष्ठान अनन्तानन्द चैतन्य सद्रूप ही परमात्मा है ॥२०॥

जिसमें द्रष्टा, दर्शन, दृश्य ये सम्पूर्ण क्रम रहते हुए भी वे नित्य अस्त हो जाते हैं, आकाश स्वरूप न होते हुए भी अपरिच्छिन्न होने से आकाश से उपमित होता है, वही परमात्मा का रूप है ॥ २१ ॥

जगत्-स्वभाव से शून्य होते हुए भी जो सम्पूर्ण पदार्थों के याथात्म्यभूत स्वरूप से पूर्ण होने के कारण अशून्य-सा है, शून्य=अविद्यमान भी जगत् जिसमें स्थित है जिसके द्वारा सद्भाव को प्राप्त है तथा विविध सृष्टि समूह चल रही है इस प्रकार का अज्ञान रहते हुए विद्यमान रहते हुए भी अविद्यमान शून्य के समान प्रतिष्ठित है, यही परमात्मा का स्वरूप है ॥ २२ ॥

महाचिन्मय होते हुए भी (अज्ञानी लोगों की दृष्टि में) यह पाषाण के समान स्थूल है, जो अजड होता हुआ भी जड़ की भाँति अन्दर स्थित है, वही परमात्मा का स्वरूप है ॥ २३ ॥

बाह्य=अधिभूत और अधिदैव तथा आभ्यन्तर=अध्यात्म जो पदार्थ प्रसिद्ध हैं, उनसे युक्त सभी विश्व जिसके द्वारा आध्यासिक तादात्म्यसम्बन्ध प्राप्तकर सद्रूप में व्यवहारयोग्य स्वरूपसत्ता को प्राप्त करता है, वह परमात्मा का स्वरूप है अर्थात् जिसकी सत्ता से सम्पूर्ण विश्व का अस्तित्व है, सद्रूप में व्यवहार के योग्य रहता है वही परमात्मा है ॥ २४ ॥

प्रकाश का आलोक और आकाश का शून्यत्व जैसे स्वस्वरूप से स्थित है, वैसे ही यह जगत् जिसमें स्थित है अर्थात् जो इस जगत् का अधिष्ठान भूत है, अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्य के आत्मस्वरूपता को प्राप्त करता है वह परमात्मा का रूप है ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—

परमात्मा सत्स्वरूप है, यह कैसे अवगत होता है, और इस असीम (तथा विविध प्रमाणों द्वारा सिद्ध) जगत्-नामक दृश्य का असंभव कैसे प्रतीत होता है ॥२६॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

रूपहीन आकाश में नील, पीत आदि रूप के समान हैं, चिन्मय ब्रह्म में यह जगत्-भ्रम उत्पन्न हुआ। उक्त जगद्भ्रम के अत्यन्ताभाव के ज्ञान में यदि अत्यन्त दृढ़ता हो तभी ब्रह्म का ज्ञान होता है, अन्य कर्म से नहीं। दृश्य के अत्यन्ताभाव के बिना दूसरी कोई शुभ गति नहीं है ॥ २७-२८ ॥

'यथास्थितेः' यानी नाश आदि विकार के बिना ही अपने अधिष्ठान में मिथ्यात्व को प्राप्त होनेवाले इस दृश्य जगत् का अन्यन्ताभाव होनेपर जो अवशिष्ट यथास्थित रहता है, उस परमार्थ वस्तु का बोध होनेपर वह बोद्धा परमात्मा स्वरूप ही हो जाता है ॥ २९ ॥

जैसे दर्पण कभी-भी किसी-न-किसी प्रतिबिम्ब का ग्रहण किये बिना जैसे नहीं रहता है, वैसे ही बुद्धि द्वैत-प्रतिबिम्ब के ग्रहण के बिना नहीं रह सकती है ऐसी स्थिति में द्वैतप्रतिबिम्ब के रहने पर उसमें अद्वैत का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है ॥ ३० ॥

वत्स श्रीरामजी ! जब तक जगत्-नामक इस दृश्य का मिथ्यात्व सिद्ध न हो जाय, तब तक परमात्मतत्त्व को कभी कोई भी नहीं जान सकता है ॥ ३१ ॥

श्रीराम उवाच

इयतो दृश्यजातस्य ब्रह्माण्डस्य जगत्स्थितेः ।
मुने ! कथमसत्ताऽस्ति क्व मेरुः सर्षपोदरे ॥ ३२ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

दिनानि कतिचिद्राम यदि तिष्ठस्यखिन्नधीः ।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरमस्तदहं क्षणात् ॥ ३३ ॥
प्रमार्जयामि ते दृश्यं बोधे मृगजलं यथा ।
दृश्याभावे द्रष्टृता च शाम्येद् बोधोऽवशिष्यते ॥ ३४ ॥
द्रष्टृत्वं सति दृश्येऽस्मिन् दृश्यत्वं सत्यथेक्षके ।
एकत्वं सति हि द्वित्वे द्वित्वं चैकत्वयोजने ॥ ३५ ॥
एकाभावे द्वयोरेव सिद्धिर्भवति नाऽत्र हि ।
द्वित्वैक्यद्रष्टृदृश्यत्वक्षये सदवशिष्यते ॥ ३६ ॥
अहन्तादिजगद्दृश्यं सर्वं ते मार्जयाम्यहम् ।
अत्यन्ताभावसंवित्त्या मनोमुकुरतो मलम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द ने कहा :— हे मुने ! इतने बड़े ब्रह्माण्ड-रूप स्थित जगद्रूप दृश्यसमूह की असत्ता कैसे हो सकती है, सरसों के अन्दर मेरु पर्वत समाविष्ट हो सकता है ? यदि ब्रह्म में जगत् अध्यस्त होता । परन्तु ब्रह्म में जगत् का अध्यास ही नहीं बन सकता, क्योंकि चिन्मात्ररूप होने से सूक्ष्म ब्रह्म में इतने बड़े ब्रह्माण्डों से विस्तृत स्थूल प्रपञ्च का अध्यास होना असम्भव है ॥ ३२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! यदि आप अनुद्विग्नचित्त होकर कुछ दिनों तक साधुसङ्ग और सत्-शास्त्रों के अभ्यास में परायण रहें, तब जैसे ज्ञान होनेपर मृगजल एक क्षण में नष्ट हो जाता है, वैसे ही आपके इस दृश्य का संशोधन कर दूँगा ? दृश्य का अभाव होनेपर द्रष्टृता भी शान्त हो जायगी, केवल बोध मात्र अवशिष्ट रह जायगा ॥ ३३-३४ ॥

दृश्य के रहनेपर दृष्द्रत्व रहता है और दष्टा के रहनेपर दृश्यत्व रहता है । द्वित्य प्रसिद्ध रहनेपर एकत्व की कल्पना होती है । व्यावर्त्य की प्रसिद्धि के विना किसकी व्यावृत्ति के लिए उसकी कल्पना की जाय और एकत्व का योग होनेपर ही द्वित्व होता है ॥ ३५ ॥

उक्त दोमें एक के अभाव में दोनों की ही सिद्धि नहीं होती है । द्वित्व, एकत्व, द्रष्दृत्व और दृश्यत्व का क्षय होनेपर केवल सद्रूप ही अवशिष्ट रहता है ॥ ३६ ॥

दृश्य के अत्यन्ताभाव-ज्ञान से आपके मनरूपी दर्पण के मलरूप अहन्तादिरूप जगत् दृश्य का परिमार्जन कर दूँगा ॥ ३७ ॥

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।
यत्तु नाऽस्ति स्वभावेन कः क्लेशस्तस्य मार्जने ॥ ३८ ॥
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदं दृश्यते ततम् ।
तत्स्वात्मन्येव विमले ब्रह्म चित्त्वात् स्वबृंहितम् ॥३९॥
जगन्नाम्ना न चोत्पन्नं न चाऽस्ति न च दृश्यते ।
हेम्नीव कटकादित्वं किमेतन्मार्जने श्रमः ॥ ४० ॥
तथैतद्विस्तरेणाऽहं वक्ष्यामि बहुयुक्तिभिः ।
अबाधितं यथा तत्त्वं स्वयमेवाऽनुभूयते ॥ ४१ ॥
आदावेव हि नोत्पन्नं यत्तस्येहाऽस्तिता कुतः ।
कुतो मरौ जलसरिद् द्वितीयेन्दौ कुतो ग्रहः ॥ ४२ ॥
यथा वन्ध्यासुतो नाऽस्ति यथा नाऽस्ति मरौ जलम् ।
यथा नाऽस्ति नभोवृक्षस्तथा नाऽस्ति जगद्भ्रमः ॥४३॥
यदिदं दृश्यते राम ! तद् ब्रह्मैव निरामयम् ।
एतत्पुरस्ताद्वक्ष्यामि युक्तितो न गिरैव च ॥ ४४ ॥

असत् पदार्थ की सत्ता नहीं होती है और सत् का अभाव नहीं होता है । जो वस्तु स्वभावतः नहीं है, उसके परिमार्जन में किस प्रकार का क्लेश है ॥ ३८ ॥

यह दृश्यमान विस्तृत जगत् पहले उत्पन्न नहीं हुआ था, यह चिन्मात्र होने के कारण निर्मल आत्मा में ही परिवृंहित है, अतः इसकी ब्रह्म से अतिरिक्त सत्ता नहीं है ॥ ३९ ॥

जगत्-नाम से न यह उत्पन्न हुआ है, न है और न दिखाई देता है । जैसे सुवर्ण में कल्पित कटकत्व आदि का सुवर्णदृष्टि से ही बाध हो जाता है, (वैसे ही ब्रह्म में कल्पित इसका ब्रह्मदृष्टि से ही बाध हो जाता है) इसके परिमार्जन में कौन-सा श्रम है ॥ ४० ॥

विविध युक्तियों के द्वारा इस विषय को मैं विस्तार-पूर्वक इस तरह कहूँगा जैसे कि अबाधित परमार्थ तत्त्व स्वयं ही आपको अनुभूत हो जायगा ॥ ४१ ॥

जो वस्तु पहले उत्पन्न ही नहीं हुई है उसका यहाँ अस्तित्व कैसे हो सकता है ? मरुस्थल में जलपूर्ण नदी की सत्ता तथा द्वितीय चन्द्रमा में ग्रहणत्व का कैसे संभव है ॥ ४२ ॥

जैसे वन्ध्या का पुत्र नहीं है, जैसे मरुभूमि में जल नहीं है और जैसे आकाश में वृक्ष नहीं है वैसे ही जगद्भ्रम भी नहीं है ॥ ४३ ॥

हे श्रीराम ! जो कुछ यह दिखाई देता है, वह सब विमल ब्रह्म ही है, इसे मैं आगे केवल उपदेश से ही नहीं वरन् आख्यान आदि युक्तियों से कहूँगा ॥ ४४ ॥

यन्नाम युक्तिभिरिह प्रवदन्ति तज्ज्ञा-
स्तत्राऽवहेलनमयुक्तमुदारबुद्धे ।
यो युक्तियुक्तमवमत्य विमूढबुद्धिः
कष्टाग्रहो भवति तं विदुरज्ञमेव ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे जगदादिदृश्यासत्ताप्रतिज्ञा नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

हे उदारबुद्धे ! तत्त्वज्ञ पुरुष जिस बात को युक्तियों के द्वारा कहते हैं, उसकी अवहेलना अर्थात् उपेक्षा करना उचित नहीं है। जो विमूढ़मति व्यक्ति युक्तियुक्त तत्त्व का अनादर कर युक्तिशून्य वस्तु में आग्रह करता है, उसे विद्वान् लोग अज्ञानी ही मानते हैं ॥ ४५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में जगदादि-दृश्यासत्ताप्रतिज्ञा नामक कुसुमलता का सातवाँ सर्ग समाप्त ॥ ७ ॥

८

श्रीराम उवाच

कथैतज्ज्ञायते युक्त्या कथमेतत्प्रसिद्ध्यति ।
न्यायानुभूत एतस्मिन्न ज्ञेयमवशिष्यते ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

बहुकालमियं रूढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
जगन्नाम्न्यविचाराख्या विना ज्ञानं न शाम्यति ॥ २ ॥
वदाम्याख्यायिका राम ! या इमा बोधसिद्धये ।
ताश्चेच्छृणोषि तत्साधो मुक्त एवाऽसि बुद्धिमान् ॥ ३ ॥
नो चेदुद्वेगशीलत्वादर्द्धादुत्थाय गच्छसि ।
तत्तिर्यग्धर्मिणस्तेऽद्य न किञ्चिदपि सेत्स्यति ॥ ४ ॥

योऽयमर्थं प्रार्थयते तदर्थं यतते तथा ।
सोऽवश्यं तदवाप्नोति न चेच्छ्रान्तो निवर्तते ॥ ५ ॥

साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरो भवसि राम ! चेत् ।
तद्दिनैरेव नो मासैः प्राप्नोषि परमं पदम् ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

आत्मज्ञानप्रबोधाय शास्त्रं शास्त्रविदां वर ।
किंनाम तत्प्रधानं स्याद्यस्मिन्ज्ञाते न शोच्यते ॥ ७ ॥

८

श्रीराम ने कहा :—

यह किस युक्ति से जाना जाता है, किस प्रकार यह प्रसिद्ध होता है और कैसे युक्तियों द्वारा इसके अनुभूत होनेपर कुछ ज्ञातव्य शेष नहीं रहता है। अर्थात् दृश्यमान जगत् विमल ब्रह्म स्वरूप है यह कैसे अवगत होता है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! यह मिथ्याज्ञानीरूपी विषूचिका चिरकाल से बद्धमूल है, इसीका नाम जगत् और अविचार है, यह ज्ञान के बिना निवृत्त नहीं होती है ॥ २ ॥

हे राम ! बोध की प्राप्ति के लिए विविध आख्यायिकाओं को कहूँगा, हे साधो ! उनको यदि आप सुनेंगे तो मतिमान् आप अवश्य मुक्त हो जायँगे ॥ ३ ॥

उद्विग्न स्वभाववाले होने के कारण बीच ही में उठकर चले जायँगे, तो पशुपक्षी के धर्म का धारण करने वाले अर्थात् सत् शास्त्र के श्रवण में अयोग्यतावाले आपको कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होगा ॥ ४ ॥

जो व्यक्ति जिस पदार्थ की इच्छा करता है, वह उस पदार्थ की प्राप्ति के लिए वैसा प्रयत्न करता है, वह उस पदार्थ को अवश्य प्राप्त करता है, यदि वह मध्य में ही श्रान्त होकर उससे निवृत्त नहीं हो जाता है ॥ ५ ॥

हे श्रीराम ! यदि आप सज्जनसंगति और सत् शास्त्रों के अभ्यास में तत्पर हो जाँय तो कुछ ही दिनों में, महीनों में नहीं, परम पद को प्राप्त करोगे ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा:—

हे शास्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! आत्मज्ञान कराने के लिए कौन शास्त्र मुख्य है, जिसका ज्ञान होने पर पुनः पुरुष को शोक नहीं होता है ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आत्मज्ञानप्रधानानामिदमेव महामते ! ।
शास्त्राणां परमं शास्त्रं महारामायणं शुभम् ॥ ८ ॥

इतिहासोत्तमादस्माच्छ्रुताद् बोधः प्रवर्तते ।
सर्वेषामितिहासानामयं सार उदाहृतः ॥ ९ ॥

श्रुतेऽस्मिन्वाङ्मये यस्माज्जीवन्मुक्तत्वमक्षयम् ।
उदेति स्वयमेवाऽत्त इदमेवाऽतिपावनम् ॥ १० ॥

स्थितमेवाऽस्तमायाति जगद् दृश्यं विचारणात् ।
यथा स्वप्ने परिज्ञाते स्वप्नादावेव भावना ॥ ११ ॥

यदिहाऽस्ति तदन्यत्र यन्नेहाऽस्ति न तत् क्वचित् ।
इमं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः ॥ १२ ॥

य इदं शृणुयान्नित्यं तस्योदारचमत्कृतेः ।
बोधस्याऽपि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः ॥ १३ ॥

यस्मै नेदं त्वरुचये रोचते दुष्कृतोदयात् ।
विचारयतु यत्किञ्चित्सच्छास्त्रं ज्ञानवाङ्मयम् ॥ १४ ॥

जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते ।
स्वयमेव यथा पीते नीरोगत्वं वरौषधे ॥ १५ ॥

श्रूयमाणे हि शास्त्रेऽस्मिन् श्रोता वेत्ति तदात्मना ।
यथावदिदमस्माभिर्नन्नूक्तं वरशापवत् ॥ १६ ॥

नश्यति संसृतिदुःखमिदं ते
स्वात्मविचारणया कथयैव ।
नो धनदानतपःश्रुतवेदै-
स्तत्कथनोदितयत्नशतेन ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे सच्छास्त्रनिरूपणं नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ ने कहा:—

हे महामते ! आत्मज्ञान के मुख्यरूप से प्रतिपादक शास्त्रों में यह शुभ महारामायण नामक शास्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ८ ॥

इस सर्वोत्तम इतिहास का श्रवण करने से बोध प्राप्त होता है, सम्पूर्ण इतिहासों का यह सार कहा गया है ॥ ९ ॥

यतः इस शास्त्र के सुननेपर अक्षय जीवन्मुक्ति स्वयं उदित होती है, अतः यही अतिशय पवित्र है ॥ १० ॥

इस शास्त्र के विचार से यथास्थित दृश्य जगत् उसी तरह समाप्त हो जाता है जैसे स्वप्न आदि में स्वप्न के रहनेपर ही 'यह स्वप्न है' ऐसा ज्ञान होनेपर स्वप्न में सत्यत्वभाव निवृत्त हो जाता है ॥ ११ ॥

वे दूसरे ग्रन्थ में नहीं हैं जो इस ग्रन्थ में है वही अन्य ग्रन्थ में है अर्थात् आत्म बोध के लिए इस शास्त्र में कथित विषय ही अन्यत्र कहे गये हैं। जो यहाँपर नहीं है वह कहीं भी नहीं है। इसलिए मनीषिगण इसको सम्पूर्ण विज्ञान शास्त्ररूपी धनों का कोशगृह (खजाना) मानते हैं ॥ १२ ॥

जो पुरुष इसका नित्य श्रवण करता है, उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले पुरुष की बुद्धि अन्य ग्रन्थों के अभ्यास से उत्पन्न बोध की अपेक्षा उत्कृष्ट बोध को प्राप्त करती है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १३ ॥

दुर्भाग्यवश जिस पुरुष को यह शास्त्र रुचिकर नहीं होता है वह ज्ञानवाङ्मय=ज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले अन्य किसी शास्त्र का विचार करे ॥ १४ ॥

इस शास्त्र का श्रवण करनेपर जीवन्मुक्ति स्वयं उसी तरह अनुभूत होती है जैसे उत्तम ओषधि के सेवन से नीरोगता स्वयं प्राप्त हो जाती है ॥ १५ ॥

इस शास्त्र के सुननेपर श्रोता पुरुष जीवन्मुक्ति को स्वयं ही जान लेता है, यह जो हमने कहा है, वह वर और शाप के समान यथार्थ ही है ॥ १६ ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ की आत्मविचारात्मक कथा से ही आपका यह संसाररूपी क्लेश नष्ट हो जायगा। धन, दान, तपस्या, वेद, श्रवण, कर्मकाण्डरूप वेद वाक्यप्रबन्ध से उक्त यज्ञ, याग, होम आदि सैकड़ों प्रयत्नों से भी आपका यह संसाररूप क्लेश नष्ट नहीं हो सकता है ॥ १७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में सच्छास्त्रनिरूपण नामक कुसुमलता का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

८

श्रीवसिष्ठ उवाच

तच्चितास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च तं नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १ ॥
तेषां ज्ञानैकनिष्ठानामात्मज्ञानविचारिणाम् ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति विदेहान्मुक्ततैव या ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन्विदेहमुक्तस्य जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
ब्रूहि येन तथैवाऽहं यते शास्त्रदृशा धिया ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ ४ ॥
बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत् ।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ ५ ॥
नोदेति नाऽस्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ ६ ॥
यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ७ ॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छस्थः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ८ ॥
यस्य नाऽहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ९ ॥
यस्योन्मेषनिमेषार्द्धाद्विदः प्रलयसंभवौ ।
पश्येत्त्रिलोक्याः स्वसमः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १० ॥

९

[जीवन्मुक्त के लक्षण तथा सर्वात्मता का वर्णन और जगत् का प्रलय होनेपर अवशिष्ट आत्मस्वरूप का प्रतिपादन]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

जिनका चित्त निरन्तर आत्मा में ही है जो नित्य परस्पर आत्मा का ही बोध कराते हुए प्रसन्न होते हैं और उसके विषय में वार्तालाप करते हुए आनन्दमग्न होते हैं ॥ १ ॥

ज्ञानसाधन में ही जिनकी एकान्तनिष्ठा अर्थात् श्रद्धा है और जो सदा आत्मज्ञान का ही विचार करते हैं, उनको वह जीवन्मुक्ति उदित होती है, जो शरीर छूटनेपर शुद्ध मुक्ति ही है ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—

हे ब्रह्मन्! विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त का लक्षण आप मुझसे कहें। जिससे कि मैं शास्त्ररूपी नेत्र से उत्पन्न बुद्धि से वैसा ही होने का प्रयत्न करूँ ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

जिस पुरुष के लिए यथास्थित यह विश्व व्यवहार करते हुए भी परमार्थ दृष्टि से निवृत्त होकर आकाश के समान शून्य हो जाता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४ ॥

जो व्यवहार करता हुआ ही जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्त के समान निर्विकार रहता है, वह ज्ञानमात्र निष्ठा से सम्पन्न जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ५ ॥

जिसकी मुखकान्ति सुख में प्रसन्न, दुःख में म्लान नहीं होती है और जो कुछ मिल जाता है उससे जीवननिर्वाह करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ६ ॥

सुषुप्त के समान स्थित रहता हुआ भी इन्द्रियों द्वारा पदार्थों की प्रतीतिरूप जाग्रत अवस्था जिसकी नहीं रहती है और जिसका ज्ञान वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है अर्थात् आत्म-ज्ञान हो जाने से संसार में रहते हुए भी अविद्यारूपी निद्रा न होने से आत्मरमण मात्र करता है, देहेन्द्रिय आदि अज्ञान कार्य का बाध हो जाने से संसारिक वासनाओं से परे रहता है, अज्ञानावरण शून्य व्यक्ति ही जीवन्मुक्त है ॥ ७ ॥

राग, द्वेष, भय आदि का यथायोग्य आचरण करता हुआ भी जो अन्दर आकाश की भाँति स्वच्छ आत्मा में स्थित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है अर्थात् निर्विकार रहता है ॥ ८ ॥

जिसमें अहङ्कार नही है और कर्म कर रहे हैं या न कर रहे अर्थात् कर्तृत्व के अभिमान से जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ९ ॥

जो चिदात्मा के अर्ध उन्मेष अर्थात् आवरणभङ्ग से तीनों लोकों का प्रलय और अर्द्धनिमेष अर्थात् आवरण से तीनों लोकों की उत्पत्ति देखता है एवं जो अपनी आत्मा में समरूप अवस्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ १० ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ११ ॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १२ ॥
यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
पदार्थेष्वपि पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ १३ ॥
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा देहे कालवशीकृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ १४ ॥
विदेहमुक्तो नोदेति नाऽस्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नाऽसन्न दूरस्थो न चाऽहं न च नेतरः ॥ १५ ॥
सूर्यो भूत्वा प्रतपति विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ।
रुद्रः सर्वान् संहरति सर्गान् सृजति पद्मजः ॥ १६ ॥

जिससे अन्य लोगों को उद्वेष=कष्ट नहीं होता है और जिसको लोगों से उद्वेग=क्लेश नहीं होता है, हर्ष, क्रोध और भय से सर्वथा रहित है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। अर्थात् अज्ञानावरण शून्य होने रागद्वेष आदि से रहितजीवन यापन करता है, वह जीवन्मुक्त है ॥ ११ ॥

जिसकी संसारविषयक सत्यताबुद्धि निवृत्त हो गई है, जो दूसरों की दृष्टि में देह आदि अवयवों से युक्त होता हुआ भी निरवयव है और जो चेतन होते हुए भी चित्त-रहित अर्थात् निर्मन्सक है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ १२ ॥

जो पुरुष सम्पूर्ण पदार्थों में व्यवहार करता हुआ भी राग आदि क्लेश को नहीं प्राप्त करता है अर्थात् सन्तप्त न होने से शीतल रहता है वह जीवन्मुक्त है ॥ १३ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष देह छूटने के अनन्तर यानी प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होनेपर जीवन्मुक्तिपद का त्याग कर विदेह-मुक्ति में उसी प्रकार प्रवेश करता है जैसे वायु अपनी सहज चञ्चलता का परित्याग कर अन्त में स्थिरता को प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

विदेहमुक्त का फिर कभी न उदय (वृद्धि) होता है और न ह्रास ही होता है। वह न तो शान्त ही होता है वह सत्=व्यक्त नहीं है, असत्=अव्यक्त नहीं है, दूरस्थ नहीं है और निकटस्थ भी नहीं है। वह आत्मरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते अर्थात् वह आत्मरूप ही है और आत्मा से भिन्न है अर्थात् विश्व के सभी स्वरूपों में नहीं है, यह भी नहीं कह सकते वही विद्यमान रहता है ॥ १५ ॥

खं भूत्वा पवनस्कन्धं धत्ते सर्षिसुरासुरम् ।
कुलाचलगतो भूत्वा लोकपालपुरास्पदः ॥ १७ ॥
भूमिर्भूत्वा बिभर्तीमां लोकस्थितिमखण्डिताम् ।
तृणगुल्मलता भूत्वा ददाति फलसन्ततिम् ॥ १८ ॥
बिभ्रज्जलानलाकारं ज्वलति द्रवति द्रुतम् ।
चन्द्रोऽमृतं प्रसवति मृतं हालाहलं विषम् ॥ १९ ॥
तेजः प्रकटयत्याशास्तनोत्यान्ध्यं तमो भवत् ।
शून्यं सद् व्योमतामेति गिरिः सन् रोधयत्यलम् ॥ २० ॥
करोति जङ्गमं चित्तः स्थावरं स्थावराकृतिः ।
भूत्वाऽर्णवो वलयति भूस्त्रियं वलयो यथा ॥ २१ ॥
परमार्कवपुर्भूत्वा प्रकाशान्तं विसारयन् ।
त्रिजगत्त्रसरेण्वोघं शान्तेमेवाऽवतिष्ठते ॥ २२ ॥

सूर्य बनकर जगत् को प्रकाश=आतप देता है, विष्णु बनकर तीनों लोकों का पालन-पोषण करता है, रुद्र बनकर सबका संहार करता है, और ब्रह्मा बनकर विविध सृष्टियाँ करता है ॥ १६ ॥

आकाश बनकर वायुस्कन्धों को (ऊपर ऊपर स्थित उनचास वायुरूपी स्तरों को) तथा ऋषि, देव और असुरों को धारण करता है, सुमेरु और हिमालय बनकर इन्द्र आदि लोकपालों को धारण करता है ॥ १७ ॥

भूमि बनकर कभी विच्छिन्न न होनेवाली इस जन-मर्यादा की रक्षा करता है और तिनने, झाड़ियाँ और लताएँ बनकर विविध फल देता है ॥ १८ ॥

जल और अग्नि का आकर धारण कर बरसता और जलता है, चन्द्रमा बनकर अमृत बरसाता है, हलाहल विष बनकर मृत्यु पैदा करता है ॥ १९ ॥

तेज बनकर दिशाओं को प्रकाशित करता है और तम बनकर अन्धकार को फैलता है, शून्य होकर व्योम-रूपता को धारण होता है तथा पर्वत बनकर वायु आदि के वेग को रोकता है ॥ २० ॥

अन्तःकरण में स्फुट अभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जङ्गम जगत् की और अनभिव्यक्त चैतन्य द्वारा जडाकृति बन कर स्थावर जगत् के आकार को धारण करता है। जैसे कड़ा स्त्री को परिवेष्ठित करता है वैसे ही समुद्र बन कर पृथिवीरूपी स्त्री को परिवेष्टित करता है ॥ २१ ॥

आवरणरहित चैतन्यरूप बनकर चैतन्य के प्रकाश का तीनों लोक को परिव्याप्त कर त्र्यणुकपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थों का विस्तार करता हुआ भी स्वयं शान्त (निर्वि-कार) ही रहता है ॥ २२ ॥

यत्किञ्चिदिदमाभाति भातं भानमुपैष्यति ।
कालत्रयगतं दृश्यं तदसौ सर्वमेव च ॥ २३ ॥

श्रीराम उवाच

कथमेव वद ब्रह्मन् ! भूयते विषमा हि मे ।
दृष्टिरेषाऽथ दुष्प्राप्या दुराक्रम्येति निश्चयः ॥ २४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

मुक्तिरेषोच्यते राम ! ब्रह्मैतत्समुदाहृतम् ।
निर्वाणमेतत्कथितं शृणु तत् प्राप्यते कथम् ॥ २५ ॥
यदिदं दृश्यते दृश्यमहन्त्वन्तादिसंयुतम् ।
सतोऽप्यस्याऽत्यनुत्पत्त्या बुद्ध्यैतदवाप्यते ॥ २६ ॥

श्रीराम उवाच

विदेहमुक्तास्त्रैलोक्यं सम्पद्यन्ते यदा तदा ।
मन्ये ते सर्गतामेव गता वेद्यविदांवर ! ॥ २७ ॥

जो कुछ यह दृश्य इस समय प्रकाशित हो रहा है (वर्तमान में स्थित है) जो कुछ पहले प्रकाशित हुआ था, (भूतकाल में स्थित था) जो कुछ आगे प्रकाशित होगा (जो भविष्यत् काल में स्थित होगा) वह सम्पूर्ण दृश्य यही है, अर्थात् इससे अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा:—

हे ब्रह्मन् ! यह किस प्रकार हो सकता है अर्थात् जैसा आपने कहा है, वैसा मैं कैसे हो सकता हूँ ? क्योंकि मेरी दृष्टि विषम है। ऐसी अवस्था में मुक्ति दुष्प्राप्य है। ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम ! यह मुक्ति कही जाती है, इसे ब्रह्म कहते हैं तथा यह निर्वाण कहा जाता है, वह कैसे प्राप्त होता है, इसको मैं कहता हूँ, आप सुनें ॥ २५ ॥

वत्स, तुम, मैं इत्यादि भावों से युक्त जो यह दृश्य जगत् दिखाई देता है, वह यद्यपि सत्-रूप प्रतीत होता है, उसकी एकान्तरूप से उत्पत्ति न होने के ज्ञान से अर्थात् अत्यन्त अनुत्पत्ति ज्ञान से यह मुक्ति प्राप्त होती है ॥२६॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—

हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! विदेहमुक्त पुरुष जब त्रैलोक्य-रूपता को प्राप्त करता है, तब वे संसारभाव को ही प्राप्त करते हैं, ऐसा मैं समझता हूँ ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—यदि त्रैलोक्य हो, तो वे

श्रीवसिष्ठ उवाच

विद्यते चेत्त्रिभुवनं तत्तत्तां संप्रयान्तु ते ।
यत्र त्रैलोक्यशब्दार्थो न संभवति कश्चन ॥ २८ ॥
एतत्त्रिलोकतां यातं ब्रह्मेत्युक्तार्थधीः कुतः ।
तस्मान्नो संभवत्येषा जगच्छब्दार्थकल्पना ॥ २९ ॥
अनन्यच्छान्तमाभासमात्रमाकाशनिर्मलम् ।
ब्रह्मैव जगदित्येतत् सर्वं सत्त्वावबोधतः ॥ ३० ॥
अहं हि हेमकटके विचार्याऽपि न दृष्टवान् ।
कटकत्वं क्वचिन्नाम ऋते निर्मलहाटकात् ॥ ३१ ॥
जलादृते पयोवीचौ नाऽहं पश्यामि किञ्चन ।
वीचित्वं तादृशं दृष्टं यत्र नाऽस्त्येव तत्र हि ॥ ३२ ॥
स्पन्दत्वं पवनादन्यन्न कदाचन कुत्रचित् ।
स्पद एव सदा वायुर्जगत्तस्मान्न भिद्यते ॥ ३३ ॥

(विदेहमुक्त) त्रैलोक्यता को प्राप्त हों। जहांपर त्रैलोक्यशब्द का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता ॥ २८ ॥

यह ब्रह्म विदेहमुक्त ने त्रैलोक्यरूपता को कैसे प्राप्त किया, इस प्रकार अर्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकती है ? इससे सिद्ध हुआ कि जगत्शब्द के अर्थ की कल्पना ही सम्भव हो सकती है अर्थात् अज्ञानवश कल्पित होने के कारण जगत् शब्दार्थ सम्भव होने से ब्रह्म की जगत् स्वरूप की सम्भावना ही नहीं है ॥ २९ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् अद्वय अर्थात् सजातीय और विजाजीय भेद से शून्य, निर्विकार, आकाश के समान निर्मल चिन्मात्र ब्रह्म ही है, क्योंकि सद्रूप ब्रह्म के कारण सद्रूपता की अनुस्यूति से सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों में सन्मात्रता की प्रतीति होती है ॥३० ॥

मैंने सोने के कड़े में, बहुत विचार करके भी, विशुद्ध सुर्वण के सिवा 'कटक' नामक कोई वस्तु कहीं नहीं देखी है ॥ ३१ ॥

जल-तरङ्ग में जल के सिवा मैं कुछ नहीं देखता हूँ और जहाँपर तरङ्ग नहीं दिखाई देती, वहाँपर भी जल के सिवा कुछ नहीं है। अर्थात् जल की तरङ्गावस्था और अतरङ्गावस्था दोनों जल से अतिरिक्त अन्य कुछ वस्तु नहीं हैं ॥ ३२ ॥

वायु से भिन्न स्पन्दत्व नाम की कोई वस्तु कभी कहीं पर नहीं देखी गई है, स्पन्द (वायुकी गति) सदा वायु रूप ही है, इसलिए ब्रह्म से जगत् अतिरिक्त नहीं है, अर्थात् ब्रह्मरूप ही है ॥ ३३ ॥

यथा शून्यत्वमाकाशे ताप एव मरौ जलं ।
तेज एव सदालोके ब्रह्मैव त्रिजगत्तथा ॥ ३४ ॥

श्रीराम उवाच

अत्यन्तावसम्पत्त्या जगद्दृश्यस्य मुक्तता ।
ययोदेति मुने ! युक्त्या तां ममोपदिशोत्तमाम् ॥ ३५ ॥
मिथः सम्पन्नयोर्द्रष्टृदृश्ययोरेकसंख्ययोः ।
द्वयाभावे स्थितिं याते निर्वाणमवशिष्यते ॥ ३६ ॥
दृश्यस्य जगतस्तस्मादत्यन्तासंभवो यथा ।
ब्रह्मैवेत्थं स्वभावस्थं बुद्ध्यते वद मे तथा ॥ ३७ ॥
कथैतज्ज्ञायते युक्त्या कथमेतत्प्रसिद्ध्यति ।
एतस्मिंस्तु मुने ! सिद्धे न साध्यमवशिष्यते ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

बहुकालमियं रूढा मिथ्याज्ञानविषूचिका ।
नूनं विचारमन्त्रेण निर्मूलमुपशाम्यति ॥ ३९ ॥
न शक्यते झटित्येषा समुत्सादयितुं क्षणात् ।
समप्रपतने ह्यद्रौ समरोहावरोहणे ॥ ४० ॥
तस्मादभ्यासयोगेन युक्त्या न्यायोपपत्तिभिः ।
जगद्भ्रान्तिर्यथा शाम्येत्तवेदं कथ्यते शृणु ॥ ४१ ॥
वक्ष्याम्याख्यायिकां राम ! यामिमां बोधसिद्धये ।
तां चेच्छृणोषि तत्साधो मुक्त एवाऽसि बोधवान् ॥४२॥
अथोत्पत्तिप्रकरणं मयेदं तव कथ्यते ।
यत्किलोत्पद्यते राम ! तेन मुक्तेन भूयते ॥ ४३ ॥
इयमित्थं जगद्भ्रान्तिर्भात्यजातैव खात्मिका ।
इत्युत्पत्तिप्रकरणे कथ्यतेऽस्मिन् मयाऽधुना ॥ ४४ ॥
यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं ससुरासुरकिन्नरम् ॥ ४५ ॥
तन्महाप्रलये प्राप्ते रुद्रादिपरिणामिनि ।
भवत्यसदद्दृश्यात्म क्वाऽपि याति विनश्यति ॥ ४६ ॥
ततस्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिदवशिष्यते ॥ ४७ ॥

जैसे आकाश में शून्यत्व, मरुभूमि में ताप ही जल और प्रकाश ही आलोक स्वरूप है, वैसे ही तीनों लोक ब्रह्म ही है ॥ ३४ ॥

श्रीराम ने कहा:—

हे मुने ! जिस युक्ति से दृश्यमान् जगत् के बाध द्वारा मुक्ति प्राप्त हो, उस उत्तम युक्ति का मुझे उपदेश दें ॥ ३५ ॥

परस्पर एकत्व संख्या में प्राप्त बाध के अवधिरूप से अवशिष्ट स्वप्रकाश आत्मभाव को प्राप्त द्रष्टा और दृश्य में द्वितीयता का अभाव स्थिर होनेपर निर्वाण (मुक्ति) शेष रहती हैं ॥ ३६ ॥

इसलिए जिस प्रकार दृश्य जगत् का अत्यन्त असम्भव (बाध) हो और जगत् का बाध होनेपर कूटस्थ ब्रह्म का ही बोध हो, उस उपाय को मुझसे कहें ॥ ३७ ॥

हे मुने ! यह किस प्रकार अवगत होता है और किस प्रकार प्रसिद्ध अर्थात् स्थिर होता है, इसकी स्थिरता का निश्चय होने पर कुछ भी कर्तव्य अर्थात साध्य शेष नहीं रह जाता है ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

चिरकाल से बद्धमूल यह अज्ञानरूपी विषूचिका (हैजा) विचाररूपी मन्त्र से समूल शान्त अर्थात् नष्ट हो जाती है ॥ ३९ ॥

जिस पर्वत पर चारों तरफ से गिरना समान है, ऐसे पर्वत पर एक साथ चढ़ना और उतरना जैसे असम्भव है, वैसे ही एक ही समूल इस अज्ञान को नाश करना सम्भव नहीं है ॥ ४० ॥

अतः यह जगद्भ्रान्ति पुनः पुनः अभ्यास से, युक्तियों से तथा दृष्टान्तों के द्वारा जिस प्रकार शान्त हो जाय वैसा मैं कहता हूँ, आप सुने ॥ ४१ ॥

हे राम ! आपको बोध की प्राप्ति के लिए जिस आख्यायिका को कहता हूँ हे साधो ! उसको यदि आप सुनें तो ज्ञानी होकर अवश्य ही मुक्त हो जायेंगे ॥ ४२ ॥

हे राम ! मैं उत्पत्तिप्रकरण अर्थात् जगत् की उत्पत्ति का क्रम आपको कहता हूँ, जो उत्पन्न होता है, वह मुक्त होता है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार यह जगद्भ्रान्ति उत्पत्ति शून्य तथा शून्यरूप होती हुई भी प्रतीत होती है; इस उत्पत्ति-प्रकरण में अब यही कहा जायगा ॥ ४४ ॥

विविध प्रकार की वस्तुओं से परिपूर्ण तथा देवता, असुर, किन्नर आदि से अधिष्ठित सम्पूर्ण जो कुछ भी यह सचराचर जगत् दिखाई देता है, वह रुद्र आदि का भी तिरोधान करनेवाले महाप्रलय के आने पर असद् एवं अदृश्यस्वरूप होकर न मालूम कहां चला जाता है, विनष्ट हो जाता है ॥ ४५-४६ ॥

उसके अनन्तर नाम और रूप से रहित शान्त

न शून्यं नाऽपि चाऽऽकारं न दृश्यं न च दर्शनम् ।
न च भूतपदार्थौघो यदनन्ततया स्थितम् ॥ ४८ ॥
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात् पूर्णतराकृति ।
न सन्नाऽसन्न सदसन्न भावो भवनं न च ॥ ४९ ॥
चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥ ५० ॥
यस्मिन् जगत् प्रस्फुरति दृष्टमौक्तिकहंसवत् ।
यश्चेदं यश्च नैवेदं देवः सदसदात्मकः ॥ ५१ ॥
अकर्णजिह्वानासात्वग्नेत्रः सर्वत्र सर्वदा ।
शृणोत्यास्वादयति यो जिघ्रेत्स्पृशति पश्यति ॥ ५२ ॥
स एव सदसद्रूपं येनाऽऽलोकेन लक्ष्यते ।
सर्गचित्रमनाद्यन्तं स्वरूपं चाऽऽप्य रञ्जनम् ॥ ५३ ॥
अर्द्धोन्मीलितदृश्यभ्रूमध्ये तारकवत् जगत् ।
व्योमात्मैव सदाभासं स्वरूपं योऽभिपश्यति ॥ ५४ ॥
यस्याऽन्यदस्ति न विभोः कारणं शशशृङ्गवत् ।
यस्येदं च जगत्कार्यं तरङ्गौघ इवाऽम्भसः ॥ ५५ ॥
ज्वलतः सर्वतोऽजस्रं चित्तस्थानेषु तिष्ठतः ।
यस्य चिन्मात्रदीपस्य भासा भाति जगत्त्रयम् ॥ ५६ ॥
यं विनाऽर्कादयोऽप्येते प्रकाशास्तिमिरोपमाः ।
सति यस्मिन् प्रवर्त्तन्ते त्रिजगन्मृगतृष्णिकाः ॥ ५७ ॥
सस्पन्दे समुदेतीव निःस्पन्दान्तर्गते न च ।
इयं यस्मिन् जगल्लक्ष्मीरलात इव चक्रता ॥ ५८ ॥

गम्भीर केवल 'सत्' ही अवशिष्ट रहता है जो अनन्तरूप से स्थित है। वह न तेज है और न व्याप्त अन्धकार ही है। न वह शून्य ही है, न आकारवान् ही है, न दृश्य है, न दर्शन है और न भूत-भौतिक पदार्थ समूह ही है ॥ ४७-४८ ॥

वह अव्यपदेश्यस्वरूप है (उसके स्वरूप का निर्वचन नहीं किया जा सकता) और पूर्ण से भी पूर्णतर आकृति वाला है, न वह सत् है, न असत् है, न सत् असत्रूप है, न वह उत्पन्न अर्थात् कालसम्बन्ध ही है और न कालसम्बन्धवान् ही है ॥ ४९ ॥

चिन्मात्र, अनन्त, अजर, शिव, आदि मध्य और अन्त से रहित, अनादि=कारणशून्य और निर्दोष है ॥ ५० ॥

जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् चित्र आदि में देखे गये मुक्तामय हंस के समान प्रस्फुरित होता है और जो सत्=व्यक्त और असत्=अव्यक्त दोनों अवस्थाओं में अनुगत है, वह देव अध्यारोपदृष्टि से जगद्रूप और अपवाददृष्टि से जगद्रूप नहीं है। इस पद्य की व्याख्या में तात्पर्य प्रकाश में कहा गया है कि मुक्ता का भक्षण हंस करता है, इसलिए, हंस का शरीर मोतियों का परिणाम है, फलतः हंस को देखने से वह मोती के समान प्रतीत होता है, किन्तु, ध्यान से देखने के बाद हंस स्वरूप का निर्णय होता है, मोती खाने वाले हंसरूप द्रव्य में अध्यारोप दृष्टि से मुक्त स्वरूप की और अपवाद की दृष्टि से अमुक्ता स्वरूपता की प्रतीति होती है, इसी प्रकार देव की व्यक्ताव्यक्तानुगता अध्यारोपदृष्टि से जगद्रूप और अपवाददृष्टि से जगद्रूप है। अर्थात् जगत् सद्रूप और असद्रूप है ॥५१॥

जिसके न कान हैं, न जीभ है, न त्वचा है और न नेत्र हैं फिर भी वह सदा सभी जगह सुनता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, छूता है और देखता है ॥ ५२ ॥

सद् और असद्रूप प्रपञ्च जिस प्रकाश से दिखाई देता है, वह चैतन्यरूप आलोक भी वही है। विविध सृष्टियों के कारण त्रिविधरूप आदि और अन्त से रहित स्वरूप चित्प्रकाशस्वरूप भी वही है ॥ ५३ ॥

योगी दो भौहों के बीच में दृष्टि रखकर अर्धनिमीलित नेत्रों से दृश्य भौंह के मध्य में नेत्रों की काली पुतली को लगा कर अस्फुट होने के कारण सदा आभासरूप जगत् को देखने के समान ही जो आकाशरूप सदाभासस्वरूप को देखता है, वह भी सद्रूप ही है ॥ ५४ ॥

शशशृङ्ग के समान सर्वव्यापक का कोई दूसरा कारण नहीं है। जल के तरङ्गसमूह कार्य के समान ही इस सर्वकारण का यह जगत् कार्य है। अर्थात् शशशृङ्ग के अभाव में भी अज्ञानवश शशशृङ्ग का दर्शन होता है, वस्तुतः अज्ञानवश अनिर्वचनीय शशशृङ्ग का दर्शन है वैसे ही अज्ञान के कारण सदधिष्ठान ब्रह्म में विचित्र अनिर्वचनीय जगत् का दर्शन है, वस्तुतः यह नहीं है ॥ ५५ ॥

सभी जगह देदीप्यमान एवं अन्तःकरण में विद्यमान जिस चिन्मात्ररूपी दीपक की दीप्ति से तीनों जगत् प्रकाशित होते हैं ॥ ५६ ॥

प्रकाशमय सूर्य आदि जिसके बिना अन्धकार के समान हो जाते हैं और जिसके रहनेपर ही तीनों जगद्रूपी मृगतृष्णाएँ प्रवृत्त होती हैं ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार रात में जली हुई लकड़ी को घुमाने पर चक्राकारता दीख पड़ती है, वैसे ही इसके मनोभाव को

जगन्निर्माणविलयविलासो व्यापको महान् ।
स्पन्दास्पन्दात्मको यस्य स्वभावो निर्मलोऽक्षयः ॥५९॥
स्पन्दास्पन्दमयी यस्य पवनस्येव सर्वगा ।
सत्ता नाम्नैव भिन्नेव व्यवहारान्न वस्तुतः ॥ ६० ॥
सर्वदैव प्रबुद्धो यः सुप्तो यः सर्वदैव च ।
न सुप्तो न प्रबुद्धश्च यः सर्वत्रैव सर्वदा ॥ ६१ ॥
यदस्पन्दं शिवं शान्तं यत्स्पन्दं त्रिजगत्स्थितिः ।
स्पन्दास्पन्दविलासात्मा य एको भरिताकृतिः ॥ ६२ ॥
आमोद इव पुष्पेषु न नश्यति विनाशिषु ।
प्रत्यक्षस्थोऽप्यथाऽग्राह्यः शौक्ल्यं शुक्लपटे यथा ॥६३॥
मूकोपमोऽपि योऽमूको मन्ता योऽप्युपलोपमः ।
यो भोक्ता नित्यतृप्तोऽपि कर्त्ता यश्चाऽप्यकिञ्चनः ॥६४॥
योऽनङ्गोऽपि समस्ताङ्गः सहस्रकरलोचनः ।
न किञ्चित्संस्थितेनाऽपि येन व्याप्तमिदं जगत् ॥ ६५ ॥
निरिन्द्रियबलस्याऽपि यस्याऽशेषेन्द्रियक्रियाः ।
यस्य निर्मननस्यैता मनोनिर्माणरीतयः ॥ ६६ ॥
यदनालोकनाद् भ्रान्तिसंसारोरगभीतयः ।
यस्मिन् दृष्टे पलायन्ते सर्वाशाः सर्वभीतयः ॥ ६७ ॥
साक्षिणि स्फार आभासे ध्रुवे दीप इव क्रियाः ।
सति यस्मिन् प्रवर्तन्ते चित्तेहाः स्पन्दपूर्विकाः ॥ ६८ ॥
यस्माद् घटपटाकारपदार्थशतपङ्क्तयः ।
तरङ्गगणकल्लोलवीचयो वारिधेरिव ॥ ६९ ॥

प्राप्त होने से स्पन्द अर्थात् विक्षोभयुक्त होनेपर इसमें जगत् की शोभा उदित हो जाती है और प्रत्यक्त्व को प्राप्त होने से निःस्पन्द=विक्षोभरहित होनेपर जगत् की शोभा नहीं उदित होती है ॥ ५८ ॥

जगत् की सृष्टि और संहार जिसके विलास हैं, जो महान् और व्यापक है एवं स्पन्दस्वरूप=गत्यात्मक तथा अस्पन्दस्वरूप=निश्चल है, जिसका स्वभाव=पारमार्थिक स्वरूप निर्मल और क्षय रहित है ॥ ५९ ॥

वायु की स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ता के समान जिसकी स्पन्दमयी और अस्पन्दमयी सर्वगामिनी सत्ता व्यवहारवश नाम से ही भिन्न के समान प्रतीत होती है ॥ ६० ॥

जो सदा प्रबुद्ध रहता है एवं जो सदा सोया ही रहता है और जो सभी जगह सदा न सोया रहता है और न प्रबुद्ध रहता है ॥ ६१ ॥

जिसका अस्पन्दस्व शिव और शान्त स्वरूप है और जिसका स्पन्दस्वरूप ही तीनों जगत् की स्थिति है। स्पन्द और अस्पन्द का विलास स्वरूप जो एक अद्वितीय परिपूर्ण स्वरूप है ॥ ६२ ॥

पुष्पों में आमोद के समान अर्थात् जैसे आमोद सुगन्ध सम्पूर्ण पुष्प में परिव्याप्त है, वैसे ही विनाशी पदार्थों में भी सर्वत्र स्थित है। विनाशी पदार्थों का विनाश होनेपर भी जो अविनाशीस्वरूप से स्थित रहता है। सम्पूर्ण वस्तुओं का प्रत्यक्ष करनेवाली वृत्तियों में प्रकाशरूप से स्थित होते हुए भी शुक्ल वस्त्र में स्थित शुक्लता के समान वृत्ति विषयत्वरूप से वह गृहीत नहीं होता है ॥ ६३ ॥

मूक के समान होते हुए भी (सम्पूर्ण वाणियों की प्रवृत्ति में कारण होने से) मूक नहीं है, पाषाण के समान होता हुआ भी मन्ता (मननक्रियाकारी) है, जो नित्य-तृप्त होता हुआ भी भक्षण करता है, जो क्रियातीत होता हुआ भी कर्ता है ॥ ६४ ॥

अङ्गरहित होनेपर भी सम्पूर्ण लोगों के अङ्ग ही जिसके अङ्ग हैं, जिसकी हजारों भुजाएँ हैं और हजारों नेत्र आदि हैं। जिसके शरीर की कुछ भी गठन नहीं है, फिर भी जिसने इस जगत् को व्याप्त कर लिया है ॥ ६५ ॥

जो इन्द्रियबल से विहीन होते हुए भी सम्पूर्ण इन्द्रिय-व्यापारों को करता है, जो मननशून्य होते हुए भी मन की निर्माणात्मक कृतियाँ हैं अर्थात् जगत् का निर्माण मन की क्रिया के बिना सम्भव नहीं है ॥ ६६ ॥

जिसके अदर्शन से भ्रमजनित संसाररूपी सर्प की भीतियाँ हो रही है, जिसका साक्षात्कार होने पर सम्पूर्ण भवभीतियाँ चारों दिशाओं में भाग जाती हैं ॥ ६७ ॥

अपरिच्छिन्न प्रकाश साक्षीरूप जिस कूटस्थ के आभास में स्पन्दपूर्वक चित्तचेष्टाएँ वैसे ही प्रवृत्त होती हैं जैसे दीपक के रहनेपर नाट्य आदि क्रियाएँ होती हैं ॥ ६८ ॥

जिससे घट-पटाकार सैकड़ों हजारों पदार्थ जिससे उसी प्रकार प्रवृत्त होते हैं जैसे समुद्र से तरङ्गसमूहभूत बड़ी बड़ी लहरें निकलती हैं ॥ ६९ ॥

स एवाऽन्यतयोदेति यत्पदार्थशतभ्रमैः ।
कटकाङ्गदकेयूरनूपुरैरिव काञ्चनम् ॥ ७० ॥
यस्त्वमेकोऽवभासात्मा योऽहमेते जनाश्च ये ।
यश्च न त्वमबुद्धात्मा नाऽहं नैते जनाश्च यः ॥ ७१ ॥
अन्येवाऽप्यतिरिक्तेव सैवाऽसेव च भङ्गुरा ।
पयसीव तरङ्गाली यस्मात् स्फुरति दृश्यता ॥ ७२ ॥
यतः कालस्य कलना यतो दृश्यस्य दृश्यता ।
मानसी कलना येन यस्य भाषा विभासनम् ॥ ७३ ॥
क्रियां रूपं रसं गन्धं शब्दं स्पर्शं च चेतनम् ।
यद्वेत्सि तदसौ देवो येन वेत्सि तदप्यसौ ॥ ७४ ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्थितम् ।
साधो तदवधानेन स्वात्मानमवबुद्ध्यसे ॥ ७५ ॥
अजमजरमनाद्यं शाश्वतं ब्रह्म नित्यं
शिवममलममोघं वन्द्यमुच्चैरनिन्द्यम् ।
सकलकलनशून्यं कारणं कारणाना-
मनुभवनमवेद्यं वेदनं विश्वमन्तः ॥७६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे परमकारणवर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

शतशत पदार्थों के भ्रम से जो अन्य के समान वैसे ही प्रतीत होता है जैसे कड़ा, बाजूबन्द, केयूत् तथा नूपुरों से उनका कारण सुवर्ण अन्य-सा प्रतीत होता है ॥ ७० ॥

जो तुम एक प्रकाश स्वरूप हो उसका जो साक्षात्कार करता है वह वही हो जाता है अर्थात् भेद नहीं रहता है जो अहम् अर्थात् मेरे द्वारा या अन्य लोगों से साक्षात्कार होता है वह एक ही अवभास स्वरूप है। अज्ञान स्वरूप होनेपर वह न त्वद्रूप है और न मद्रूप और न अन्यरूप रहता है अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप में ही अवभासित रहता है। ज्ञानस्वरूपता उसकी न हो सर्वत्र एकात्मत्व नहीं रहता है, अच्युत ग्रन्थमाला संस्कारण में इसका अनुवाद इस प्रकार है :—जो तुम साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ त्वद्रूप ही एक हैं, मुझसे साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ मद्रूप ही एक है और अन्य जनों द्वारा साक्षात्कृतस्वरूप होता हुआ तत्-तत् रूप ही एक है तथा जो अज्ञातस्वरूप होता हुआ न त्वद्रूप है, न मद्रूप है और न अन्य जनरूप है ॥७१॥

जैसे जल में क्षण में नष्ट होनेवाली तरङ्गों का समूह स्फुरित होता है, वैसे ही जिससे अनन्य होती हुई भी अन्य के समान पृथक् न होते हुए भी पृथक् के समान, प्रथमतः सिद्ध हुई भी उत्पन्न हुई-सी यह विनाशशील दृश्यपरम्परा स्फुरित होती है ॥ ७२ ॥

जिससे काल के जायते, अस्ति, वर्द्धते आदि छः विकार एवं दृश्य की दृश्यता अर्थात् दर्शन फल की प्राप्ति मानसीकलना अर्थात् इष्ट प्राप्ति, अनिष्ट परिहार विषयक अपने मनोरथ जिस कारण से उत्पन्न होते हैं ये सभी सच्चिदानन्द का ही विभाजन है।

अज्ञात सामान्य सर्वव्याप्तिस्वरूप सत्ता, आवृत्त मात्र व्याप्ति दर्शन, अनुकूल मात्र वेदनीय व्याप्ति आनन्दता के एक होने पर भी औपाधिक वैलक्षण्य है। वस्तुतः ये सभी दीप्ति रूप में एक हैं ॥ ७३ ॥

आप क्रिया, रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, चेतन को यत्स्वरूप होकर जानते हो, वह चिद्रूप भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी वही है ॥ ७४ ॥

हे साधो ! द्रष्टा, दर्शन और दृश्यों के मध्म में साक्षीरूप से जो स्थित है। स्वात्मभूत उसको एकाग्र मन से उपाधियों से पृथक् कर आप समझें ॥ ७५ ॥

उत्पत्ति और जरा से रहित, अनादि, नित्य, शिवात्मक=मङ्गलमय, निर्मल, अमोघ, सबके वन्दनीय, अनिन्द्य, सम्पूर्ण सम्बन्धों से रहित, सभी कारणों के कारण, अनुभवरूपी विश्वात्मक साक्षीरूप ब्रह्म तुम ही हो संस्कृत के टीका के अनुसार:—'कारणं कारणानाम्' यह तत्पदके वाच्य अर्थ का निर्देश है, 'अजमजर०' यहाँ से लेकर 'सकलकलनशून्यम्' तक तत्पद के अर्थ का निर्देश है। 'विश्वं वेदनम्' से तीनों अवस्थाओं के द्रष्टृतारूप त्वंपद के वाच्य अर्थ का निर्देश है और 'अवेद्यं वेदनम्' से वेद्य तीनों अवस्थाओं से निर्मुक्तस्वरूप त्वंपद के लक्ष्य अर्थ का निर्देश है समभिव्याहार से तत्त्वमसि के द्वारा कथित अखण्ड वाक्यार्थ का उपदेश है ॥ ७६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में परमकारणवर्णन नामक कुसुमलता का नवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

१०

श्रीराम उवाच

महाप्रलयसंपत्तौ यदेतदवशिष्यते ।
भवत्येतदनाकारं नाम नाऽस्त्यत्र संशयः ॥ १ ॥
न शून्यं कथमेतत्स्यान्न प्रकाशः कथं भवेत् ।
कथं वा न तमोरूपं कथं वा नैव भास्वरम् ॥ २ ॥
कथं वा नवै चिद्रूपं जीवो वा न कथं भवेत् ।
कथं न बुद्धितत्त्वं स्यात् कथं वा न मनो भवेत् ॥ ३ ॥
कथं वा नैव किञ्चित्स्यात् कथं वा सर्वमित्यपि ।
अनयैव वचो भङ्ग्या मम मोह इवोदितः ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

विषमोऽयमतिप्रश्नो भवता समुदाहृतः ।
भेत्ताऽस्म्यहं त्वयत्नेन नैशं तम इवांऽशुमान् ॥ ५ ॥
महाकल्पान्तसंपत्तौ यत्तत्सदवशिष्यते ।
तद्राम ! न यथा शून्यं तदिदं शृणु कथ्यते ॥ ६ ॥
अनुत्कीर्णा यथा स्तम्भे संस्थिता शालभञ्जिका ।
तथा विश्वं स्थितं तत्र तेन शून्यं न तत्पदम् ॥ ७ ॥
अयमित्थं महाभोगो जगदाख्योऽवभासते ।
सत्यो भवत्वसत्यो वा यत्र तत्र त्वशून्यता ॥ ८ ॥
यथा न पुत्रिकाशून्यः स्तम्भोनुत्कीर्णपुत्रिकः ।
तथा भातं जगद्ब्रह्म तेन शून्यं न तत्पदम् ॥ ९ ॥
सौम्याम्भसि यथा वीचिर्न चाऽस्ति न च नाऽस्ति च ।
तथा जगद् ब्रह्मणीदं शून्याशून्यपदं गतम् ॥ १० ॥
देशकालादिशान्तत्वात् पुत्रिकारचनं द्रुमे ।
संभवत्ययथाऽतो वै तेनाऽनन्ते विमुह्यते ॥ ११ ॥

१०

श्रीराम ने कहा—

महाप्रलय होनेपर जो यह 'सत्' अवशिष्ट रहता है, वह आकार शून्य है, इसमें तो संशय ही नहीं है ॥ १ ॥

वह शून्य नहीं है, यह कैसे, वह प्रकाश स्वरूप नहीं है, यह कैसे ? तमोरूप नहीं है, यह कैसे, न भास्वर ही है, यह कैसे ? तथा न चिद्रूप ही है, यह कैसे ? अथवा वह जीव कैसे नहीं हो सकता है वह बुद्धित्त्व कैसे नहीं है अथवा मन कैसे नहीं है, वह कैसे कुछ नहीं है और कैसे सब कुछ है, आपकी इस वचनभङ्गी से मेरे मन में मोह-सा उत्पन्न हो गया है ॥ २-४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

आपने मेरे आशय को ठीक न समझ कर यह प्रश्न किया है, यह अतिशय विषम प्रश्न आपने किया है, मैं विना प्रयास के ही आपके इस प्रश्न को उसी प्रकार विनष्ट कर दूँगा जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को नष्ट कर देता है ॥ ५ ॥

हे राम ! महाप्रलय होनेपर जो सत् अवशिष्ट रहता है, वह वैसा शून्य नहीं है इसी को मैं कहता हूँ, आप सुनें ॥ ६ ॥

जैसे अनुत्कीर्ण=न गढ़ी गई प्रतिमा खम्भे में ही अव्यक्त रूप में स्थित रहती है, वैसे ही यह विश्व उसमें स्थित है, अतः वह शून्य नहीं है। आशय यह कि जैसे खम्भे में न गढ़ी गई प्रतिमा की खम्भे की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता न होने से खम्भे की सत्ता से ही वह स्थित रहती है, इसलिए वह खम्भे में नहीं गढ़ी जाने पर भी उसमें उसकी स्थिति का विनाश नहीं होता है ॥ ७ ॥

इसी प्रकार यह प्रचुर भोगों से पूर्ण जगत्-नाम का प्रपञ्च व्यवहारतः सत्य और परमार्थतः असत्य भले ही हो, इसमें हमारा आग्रह नहीं है, पर जिस अधिष्ठान में इसका भान होता है, वहाँ पर जगत् की शून्यता नहीं है ॥ ८ ॥

जैसे वह खम्भा, जिसमें कि प्रतिमा नहीं गढ़ी गई है, प्रतिमाशून्य नहीं है, वैसे ही जगत् का आधार प्रकाशमान ब्रह्म भी जगत् शून्य नहीं है। अतः तत्पद=ब्रह्म जगत् से शून्य नहीं है अर्थात् प्रतिमा की अभिव्यक्ति शिल्पी से की जाती है ॥ ९ ॥

जैसे शान्त=विक्षोभ शून्य जल में लीन लहर की न तो सत्ता है और न असत्ता है (उसमें न वीचि है, यह कह सकते हैं और न नहीं है, यह कह सकते हैं।) वैसे ही ब्रह्म में लीन यह जगत् भी न शून्य है और न अशून्य है सत् और असत् से अनिर्वचनीय है, या शून्य और अशून्य दोनों कल्पनाओं के अधिष्ठान परमार्थ वस्तु स्वरूप है ॥ १० ॥

पेड़ को चीर कर बनाये गये खम्भे में प्रतिमा का

तत्स्तम्भपुत्रिकाद्येतत् परमार्थे जगत्स्थितेः ।
एकदेशेन सदृशमुपमानं न सर्वथा ॥ १२ ॥
न कदाचिदुदेतीदं परस्मान्न च शाम्यति ।
इत्थं स्थितं केवलं सद् ब्रह्म स्वात्मनि संस्थितम् ॥१३॥
अशून्यापेक्षया शून्यशब्दार्थपरिकल्पना ।
अशून्यत्वात् संभवतः शून्यताशून्यते कुतः ॥ १४ ॥
ब्रह्मण्ययं प्रकाशो हि न संभवति भूतजः ।
सूर्यानलेन्दुतारादिः कुतस्तत्र किलाऽव्यये ॥ १५ ॥
महाभूतप्रकाशानामभावस्तम उच्यते ।
महाभूताभावजं तु तेनाऽत्र न तमः क्वचित् ॥ १६ ॥

निर्माण हो सकता है, कारण कि जहाँ शिल्पी अपना शिल्प करे, ऐसा खम्भे प्रतिमा के निर्माण के लिए स्थान दिन आदि काल तथा बसुला आदि सभी उपकरण वहां विद्यमान हैं, अतएव खम्भे में प्रतिमा की सत्ता की संभावना की जा सकती है, किन्तु अनन्त देश-काल एवं सामग्री आदि से शून्य अर्थ देश-काल से अपरिच्छिन्न ब्रह्म में उक्त सामग्री का सर्वथा अभाव है, अतः प्रलय काल में जगत् की सत्ता के विषय में सन्देह होता है ॥ ११ ॥

वह स्तम्भप्रतिमा आदि 'ब्रह्म में जगत् की सत्ता है' इस एकदेश से उसके अस्तित्वरूप अंश से समान हैं, अतः उसी अंश में उपमान हैं, सर्वथा दृष्टान्त नहीं है। आशय यह है कि जैसे खम्भे में प्रतिमा की सत्ता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की सत्ता है, केवल इसी अंश में ही स्तम्भ प्रतिमा का दृष्टान्त है ॥ १२ ॥

परब्रह्म से यह जगत् न कभी उदित होता है और न उसेमें लीन होता है, केवल सद्ब्रह्म ही पूर्वोक्त प्रकार से अपने स्वरूप में स्थित है ॥ १३ ॥

अशून्य की अपेक्षा से ही उसकी शून्यरूप से कल्पना की जाती है और शून्य की अपेक्षा अशून्य की कल्पना है। यदि एकमात्र शून्य या अशून्य ही होता, तो शून्य और अशून्य की कल्पना ही कैसे हो सकती ? आशय यह है कि जिसका अभाव कहा जाता है वह प्रतियोगी है अशून्यता की कल्पना कर उस कल्पित अशून्यता की अपेक्षा से अन्य वस्तु में उसकी शून्यता अभाव की कल्पना होती है और कल्पित शून्यता की अपेक्षा से प्रतियोगी में अशून्यता की कल्पना होती है, इस प्रकार जिनकी कल्पना परस्पर सापेक्ष है. ऐसी शून्यता और अशून्यता कैसे हो सकती हैं ॥ १४ ॥

स्वानुभूतिः प्रकाशोऽस्य केवलं व्योमरूपिणः ।
योऽन्तरस्ति स तेनैव न त्वन्येनाऽनुभूयते ॥ १७ ॥
मुक्तं तमःप्रकाशाभ्यामित्येतदजरं पदम् ।
आकाशकोशमेवेदं विद्धि कोशं जगत्स्थितेः ॥ १८ ॥
बिल्वस्य बिल्वमध्यस्य यथा भेदो न कश्चन ।
तथाऽस्ति ब्रह्मजगतोर्न मनागपि भिन्नता ॥ १९ ॥
सलिलान्तर्यथा वीचिर्मृदन्तर्घटको यथा ।
तथा यत्र जगत्सत्ता तत् कथं खात्मकं भवेत् ॥ २० ॥
भूजलाद्युपमानश्रीः साकारान्ता समा न सा ।
ब्रह्मत्वाकाशविशदं तस्याऽन्तस्थं तथैव तत् ॥ २१ ॥

जलरूप इन्धन के या पार्थिव ईन्धन के व्यय से भौतिक सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, तारा आदि भूतज प्रकाश अव्यय ब्रह्म में कैसे सम्भव हो सकता है। भूत से उत्पन्न 'न प्रकाशः' से पूर्वोक्त प्रकाश का निषेध है। इससे वह भास्वर नहीं है यह नहीं कहा गया है ॥ १५ ॥

सूर्य आदि महाभूतों के अभाव से तम उत्पन्न होता है। पृथिवी आदि महाभूतों के प्रकाश का विरोधी होता हुआ वह दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होने वाले पृथिवी आदि में ही कहा जा सकता है अर्थात् 'तम' यह व्यवहार पृथिवी आदि में ही होता है। स्वप्रकाश ब्रह्म में तम की स्थिति हो सकती है। इसलिए 'न तमः' कहा गया है 'तु' शब्द मायारूपी तम की व्यावृत्ति के लिए है ॥ १६ ॥

चिदाकाशरूपी इस ब्रह्म का प्रकाश अनुभव से ही अवगत किया जा सकता है, अर्थात् ब्रह्म का प्रकाश केवल अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता है, वह स्वानुभव से ही गम्य होता है। जो सर्वान्तर आत्मा है, उसका वही अनुभव कर सकता है, अन्य नहीं ॥ १७ ॥

अजर अमर यह परम पद तम और प्रकाश से रहित है। धनरूपी जगत्-सत्ता के धनागार रूपी ब्रह्म को आप विमल आकाश कोश जानें ॥ १८ ॥

जैसे बेल और बेल-फल के उदर में कुछ भी भेद नहीं है, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भी भिन्नता नहीं है ॥ १९ ॥

जैसे जल के अन्दर तरङ्ग और मिट्टी के अन्दर घड़ा है, वैसे ही जिस ब्रह्म में जगत की सत्ता है, अतः ब्रह्म शून्य कैसे हो सकता है ॥ २० ॥

पृथिवी, जल आदि साकार दृष्टान्तरूप से उपस्थित किये हैं, वे सम दृष्टान्त नहीं हैं, वरन् विषम हैं, क्योंकि वे सदा साकार ही दिखाई देते हैं और ब्रह्म आकाशसदृश

तस्माद्यादृक् चिदाकाशमाकाशादपि निर्मलम् ।
तदन्तस्थं तादृगेव जगच्छब्दार्थभागपि ॥ २२ ॥
मरीचेऽन्तर्यथा तैक्ष्ण्यमृते भोक्तुर्न लक्ष्यते ।
चिन्मात्रत्वं चिदाकाशे तथा चेत्यकलां विना ॥ २३ ॥
तस्माच्चिदप्यचिद्रूपं चेत्यरिक्तं तदात्मनि ।
जगत्ता तादृगेवेयं तावन्मात्रात्मतावशात् ॥ २४ ॥
रूपालोकमनस्कारास्तन्मया एव नेतरत् ।
यथास्थितमतो विश्वं सुषुप्तं तुर्यमेव वा ॥ २५ ॥
तेन योगी सुषुप्तात्मा व्यवहार्यपि शान्तधीः ।
आस्ते ब्रह्मनिराभासं सर्वाभाससमुद्गकः ॥ २६ ॥
आकारिणि यथा सौम्ये स्थितास्तोये महोर्मयः ।
अनाकृतौ तथा विश्वं स्थितं तत्सदृशं परे ॥ २७ ॥

व्यापक निराकार है, निराकार ब्रह्म अधिष्ठानरूप से स्थित यह जगत् ब्रह्म के सदृश ही निराकार है ॥ २१ ॥

चिदाकाश ब्रह्म आकाश से भी निर्मल निराकार है, उसके अन्दर स्थित 'जगत्' शब्द का अर्थभूत दृश्य प्रपञ्च भी वैसा ही निराकार है ॥ २२ ॥

जैसे मिर्चा खानेवाले पुरुष से अतिरिक्ति व्यक्तियों को मिर्चे के अन्दर विद्यमान तीक्ष्णता (कडुवेपन) का परिज्ञान नहीं होता है, वैसे ही चिदाकाश में दृश्यता के बिना चिन्मात्रत्व का ज्ञान भी नहीं हो सकता है ॥ २३ ॥

इसलिए चिदात्मक ब्रह्म में दृश्य से अतिरिक्तरूप चिद् होता हुआ भी अचित् ही है । चिद् और अचित् परस्पर सापेक्षा हैं, अचित् के सर्वथा अभाव में चित् भी अचित् ही है ॥ २४ ॥

भाव यह कि जगत् का लय होनेपर चित् की जगद्विषयतारूप चित्ता निवृत्त हो जाती है, अतएव प्रत्यगात्मा में चिद् आदि शब्द लक्षणा से प्रवृत्त होते हैं । यह जगत्ता भी वैसे ही है, भाव यह कि जैसे जगत् का लय होनेपर चित् की जगद्विषयतारूप चित्ता निवृत्त हो जाती है, वैसे ही चिद्विषयत्वरूप जगत् की जगत्ता भी निवृत्त हो जाती है । बाह्य घट, पट आदि विषय तथा आभ्यन्तर सुख, दु:ख आदि ब्रह्ममय ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, इसलिए यथास्थित, सुषुप्ति और तुर्यरूप सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मरूप ही है ॥ २५ ॥

इसलिए सम्पूर्ण संस्कारों का कोषरूप सुषुप्तात्मक योगी लौकिक व्यवहार करता हुआ भी संस्कार शून्य निराभास ब्रह्म ही रहता है ॥ २६ ॥

पूर्णात्पूर्णं प्रसरति यत्तत्पूर्णं निराकृति ।
ब्रह्मणो विश्वमाभातं तद्धि स्वार्थं विचक्षितम् ॥ २८ ॥
पूर्णात्पूर्णं प्रसरति संस्थितं पूर्णमेव तत् ।
अतो विश्वमनुत्पन्नं यच्चोत्पन्नं तदेव तत् ॥ २९ ॥
चेत्यासंभवतस्तस्मिन् यदेका जगदर्थता ।
आस्वादकासंभवतो मरीचे क्वैव तीक्ष्णता ॥ ३० ॥
सत्येवेयमसत्यैव चित्तचेत्यादिता परे ।
तद्भावात् प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बार्हता कुतः ॥ ३१ ॥
परमाणोरपि परं तदणीयो ह्यणीयसः ।
शुद्धं सूक्ष्मं परं शान्तं तदाकाशोदरादपि ॥ ३२ ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नरूपत्वादतिविस्तृतम् ।
तदनाद्यन्तमाभासं भासनीयविवर्जितम् ॥ ३३ ॥

जैसे निश्चल (शान्त होने के कारण प्रसन्न) आकार वाले जल में चञ्चलाकार भयङ्कर लहरें विद्यमान रहती हैं, वैसे ही आकाररहित परब्रह्म में यह विश्व निराकाररूप से स्थित है ॥ २७ ॥

जो निराकर पूर्ण ब्रह्म से औपाधिक भेद द्वारा निराकार जीवरूप से पूर्ण उत्पन्न होता है, वह परमार्थत: पूर्ण ही और जो पूर्ण है, वह निराकार है, क्योंकि साकार पूर्ण नहीं हो सकता है ॥ २८ ॥

पूर्ण से पूर्ण ही अभिव्यक्त होता है, पूर्ण संस्थित वह पूर्ण ही है, अत: विश्व उत्पन्न नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है वह ब्रह्मस्वरूप ही है ॥ २९ ॥

चेत्य = दृश्य संभव न होने से उस चिद्घन आनन्द में जगत् शब्द का अर्थ एकरूप हो गया है, पृथक् नहीं है, जब आस्वाद लेनेवाला ही नहीं है, तब मिर्चे में कडुवेपन की क्या संभावना है ॥ ३० ॥

दृश्य प्रपञ्च के ब्रह्म में एकरस होने के कारण ही ब्रह्म में चित्ता, चेत्यता, दृश्यरूपता आदि सर्वथा असत्य होते हुए भी सत्य के समान प्रतीत होते हैं । उपाधिका अभाव होनेपर प्रतिबिम्बभूत जीव की प्रतिबिम्बयोग्यता कहाँ रहती है । आशय यह है कि जब उपाधि हो और उसमें प्रतिबिम्ब जीवभाव की योग्यता ब्रह्म में कहाँ है ॥ ३१ ॥

वह परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म, अतिशय सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, अत्यन्त शुद्ध अत्यन्त शान्त और आकाश के मध्य से भी विशेष निर्मल है ॥ ३२ ॥

दिशा काल और परिमाण से उसके स्वरूप का भेद नहीं हो सकता है अतएव वह सर्वव्यापक है । उसका न

चिद्रूपमेव नो यत्र लभ्यते तत्र जीवता।
कथं स्याच्चित्तताकारा वासना नित्यरूपिणी ॥ ३४ ॥
चिद्रूपानुदयादेव तत्र नास्त्येव जीवता।
न बुद्धिता चित्तता वा नेन्द्रियत्वं न वासना ॥ ३५ ॥
एवमित्थं महारम्भपूर्णमप्यजरं पदम्।
अस्मदृष्ट्या स्थितं शान्तं शून्यमाकाशतोऽधिकम् ॥३६॥

श्रीराम उवाच

परमार्थस्य किं रूपं तस्याऽनन्तचिदाकृतेः।
पुनरेतन्ममाऽऽचक्ष्व निपुणं बोधवृद्धये ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

महाप्रलयसंपत्तौ सर्वकारणकारणम्।
शिष्यते परमं ब्रह्म तदिदं वर्ण्यते शृणु ॥ ३८ ॥

आदि है, न मध्य है और न अन्त है। अन्य भासक से वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है ॥ ३३ ॥

जहांपर चिद्रूपता की ही प्राप्ति नहीं हो सकती है वहांपर चित्तताकार जीवता और वासना कैसे रह सकती है ॥ ३४ ॥

चिद्रूप का उदय न होने से ही उसमें जीवता ही नहीं है तब चित्तताकार नित्य वर्तमान बुद्धिता, इन्द्रियता और वासना कैसे हो सकती है ॥ ३५ ॥

इस प्रकार दृष्टि से आकाश से भी अधिक शून्य और निर्विकार महाभूत-भौतिक पदार्थों से पूर्ण होते हुए भी हमारी अजर ब्रह्मतत्त्व स्थित है ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—अनन्त चिदाकार उस परमार्थतत्त्व का कैसा रूप है ? अच्छी तरह उसके ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसे मुझे स्पष्टरूप से कहें ॥ ३७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—महाप्रलय होनेपर सम्पूर्ण कारणों का भी कारण अपरोक्ष परमब्रह्म अवशिष्ट रहता है, उसका मैं वर्णन करता हूँ, आप सुनें ॥ ३८ ॥

समाधि में मन का विषयों से निरोध करने पर वृत्ति का क्षय होने से लकड़ियों के समाप्त होनेपर अग्नि के समान मन के स्वरूप का भी नाश कर जो नाम-रूप-शून्य स्वप्रकाश सद्रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस परमार्थ वस्तु का रूप है ॥ ३९ ॥

दृश्य जगत् नहीं रहता है, दृश्य के अभाव से द्रष्टा भी विलीन होने के समान प्रतीत होता है, ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान इस त्रिपुटी के लय का साक्षीरूप जो ज्ञान अवशिष्ट रहता है, वही परब्रह्म स्वरूप है ॥ ४० ॥

नाशयित्वा स्वमात्मानं मनसो वृत्तिसंक्षये।
सद्रूपं यदनाख्येयं तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ ३९ ॥
नाऽस्ति दृश्यं जगद्द्रष्टा दृश्याभावाद्विलीनवत्।
भातीति भासनं यत्स्यात्तद्रूपं तस्य वस्तुनः ॥ ४० ॥
चितेर्जीवस्वभावाया यदचेत्योन्मुखं वपुः।
चिन्मात्रं विमलं शान्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४१ ॥
अङ्गलग्नेऽपि वातादौ स्पर्शाद्यनुभवं विना।
जीवतश्चेततो रूपं यत्तद्वै परमात्मनः ॥ ४२ ॥
अस्वप्नाया अनन्ताया अजडाया मनःस्थितेः।
यद्रूपं चिरनिद्रायास्तत्तदाऽनघ शिष्यते ॥ ४३ ॥
यद्व्योम्नो हृदयं यद्वा शिलायाः पवनस्य च।
तस्याऽचेत्यस्य चिद्व्योम्नस्तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४४ ॥

समाधि-व्युत्थान होने से पूर्व जीव-स्वरूप होनेवाली है, जीव स्वभाव चितिकार अचेत्योन्मुख चिन्मात्र में प्रवण चिन्मात्र, निर्मल और निर्विकाररूप की उपलब्धि है, वह उस परमात्मा का रूप है ॥ ४१ ॥

वायु आदि का देह में स्पर्श होनेपर भी चित्त के रहते-रहते स्पर्श आदि के अनुभव के बिना प्रतीत होनेवाला जो रूप है, वही उस परमात्मा का रूप है।

आशय यह कि विच्छेद रहित ब्रह्माकार अपरोक्ष वृत्ति होने से अर्थात् अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की धारा चेतन जीव के शरीर में अध्यास हो जाने से=ब्रह्मामयत्व की संप्राप्ति से आत्मा में स्पर्श आदि का अनुभव न होने पर भी दूध में एकरस जल के समान ब्रह्मैक रस चित्त में=मन में स्पर्श आदि का प्रतीत होने वाला जो अविच्छिन्न चैतन्यरूप है वही परमात्मा परब्रह्माकाररूप है।

इस पद्य में विभिन्न पाठ उपलब्ध होता है :—

"अङ्गुष्ठस्य पाताद्यस्पर्शने सति का अङ्गुल्या वाताद्यस्पर्शने सति" इन पाठों में अङ्गुष्ठया अङ्गुलियों वातादि का अस्पर्शन होने पर भी नोदन आदि व्यापार के अस्पर्श से भी स्पर्श का अप्राप्तिसन्ध न होने पर भी यह अर्थ होता है ॥ ४२ ॥

हे अनघ ! स्वप्नदर्शन शून्य अनन्त मच्छर, खटमल आदि द्वारा जनित विच्छेद से रहित मन की विश्रान्ति की हेतु, सुषुप्तिरूप जड़ता से हीन मन की गाढ़ निद्रा का रूप ही उस परमात्मा का रूप प्रलयकाल में अवशिष्ट रहता है ॥ ४३ ॥

जैसे आकाश का तात्त्विक शून्यत्व रूप है, शिला के

अचेत्यस्याऽमनस्कस्य जीवतो या स्वभावतः ।
स्यात्स्थितः सा परा शान्ता सत्ता तस्याऽऽद्यवस्तुनः॥४५॥
चित्प्रकाशस्य यन्मध्यं प्रकाशस्याऽपि खस्य वा ।
दर्शनस्य च यन्मध्यं तद्रूपं ब्रह्मणो विदुः ॥ ४६ ॥
वेदनस्य प्रकाशस्य दृश्यस्य तमसस्तथा ।
वेदनं यदनाद्यन्तं तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४७ ॥
यतो जगदुदेतीव नित्यानुदितरूप्यपि ।
विभिन्नवदिवाऽभिन्नं तद्रूपं परमार्थकम् ॥ ४८ ॥

घनत्व स्वरूप और वायु के अन्तर्बहिः पूर्णत्व स्वरूप दृश्य-भिन्न और दृश्यरहित चिदाकाश ही उस परमात्मा का रूप है ॥ ४४ ॥

बहुत क्या कहें, सम्पूर्ण जीवित जीवोंकी चेत्य (दृश्य) और चित्त का परित्याग करनेपर स्वभावतः जो स्थिति अवशिष्ट रहती है, वह शान्त उत्कृष्ट अस्तित्व स्वरूप उस आदिपुरुष का रूप है ॥ ४५ ॥

अच्युत ग्रन्थमाला के अनुवाद में संस्कृति के आधार पर यह अनुवाद दिया गया है :—प्रकाशात्मक आकाश का चित्प्रकाश जो मध्यस्थ है अर्थात् सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा के स्वरूप लक्षण का मध्यस्थ चिद्रूप का दृष्टि स्वरूप मध्यस्थ अन्तःस्फुरण स्वरूप है वही स्वरूप ब्रह्म का समझें अर्थात् दीप्ति=स्वयं प्रकाश स्वरूप आनन्द चिद्रूपता ही ब्रह्म का स्वरूप है इसीके आभास आनन्द और सत्ता सर्वत्र चित् सत् और आनन्द की व्याप्ति है ॥ ४६ ॥

चित्-प्रकाश अन्नमयकोषपर्यन्त आत्मरूप से व्याप्त है अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय— इन पाँच कोषों में प्रत्येक कोष का विवेकपूर्वक विचार करने से आनन्दमय कोष सब कोषों का आन्तर ठहरता है और आनन्दमय कोष का आन्तर ब्रह्म है, अतः द्रष्टृ-कोटि में सर्वान्तरभूत चित्प्रकाशरूप आनन्दमय कोष का भी आन्तर होने से जो मध्य है तैतिरीय उपनिषत् में— अन्नमय आदि सब कोषों के आन्तर आनन्दमय कोष को दिखलाकर 'तस्य प्रियमेव शिरः। मोदः दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।' इस श्रुति द्वारा आनन्दमय कोष का भी आन्तर ब्रह्म दर्शाया गया है और दृश्यकोटि में मूर्त प्रपञ्च के सारभूत सूर्यरूप प्रकाश का, अमूर्त प्रपञ्च के सारभूत भूताकाश का अथवा लिङ्गसमाष्टिरूस अव्याकृत आकाश का आन्तर होने से जो मध्य है बृहदारण्यक उप-निषत् में—'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' इस प्रकार आरम्भ कर 'तस्यैतस्य मूर्तस्य रसो य एष तपति तस्यैतस्यामूर्तस्य रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, इससे मूर्त और अमूर्त रूप का सार दिखला कर 'अथात् आदेशो नेति नेति' इससे मूर्त और अमूर्त के आरोप का अधिष्ठान ब्रह्म उनका आन्तर है, यह बात उनके (मूर्त और अमूर्त के) निषेध से दिखलाई है। तथा चाक्षुष आदि वृत्तियों के भीतर स्फुरण रूप से विद्यमान होने से जो उक्त वृत्तियों का मध्य है तलवकारोपनिषत् में— 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस वाक्य से ब्रह्म सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियों का आन्तर कहा गया है। क्रमशः जो आनन्द, सत् और चिद्रूप है, उसीको ज्ञानी जन ब्रह्म का रूप जानते हैं ॥ ४६ ॥

बुद्धिवृत्ति का अर्थात् वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य पदार्थों के स्फुरण का, अस्तित्व का, विषय का और अज्ञान का साक्षीरूप आदि और अन्त से शून्य जो संवित् है, वह उस परमात्मा का रूप है ॥ ४७ ॥

नित्य अनुदित रूप होता हुआ भी जगत् जिससे उदित के समान होता है, जिससे अभिन्न होता हुआ भी बिलकुल भिन्न-सा प्रतीत होता है, परमात्मा का पारमार्थिक रूप है ॥ ४८ ॥

व्यवहारपरस्याऽपि यत्पाषाणवदासनम् ।
अव्योम्न एव व्योमत्वं तद्रूपं परमात्मनः ॥ ४९ ॥
वेद्यवेदनवेत्तृत्वरूपत्रयमिदं पुरः ।
यत्रोदेत्यस्तमायाति तत्तत् परमदुर्लभम् ॥ ५० ॥
वेद्यवेदनवेतृत्वं यत्रेदं प्रतिबिम्बति ।
अबुद्ध्याद्यौ महादर्शे तद्रूपं परमं स्मृतम् ॥ ५१ ॥
मनः स्वप्नेन्द्रियैर्मुक्तं यद्रूपं स्यान्महाचितेः ।
जङ्गमे स्थावरे वाऽपि तत्सर्वान्तेऽवशिष्यते ॥ ५२ ॥

व्यवहारों में संलग्न हुए भी जो पाषाण के समान निश्चल स्थित है और निरवकाश (सूराख आदि से शून्य) होते हुए भी सम्पूर्ण जगत् को अपने में अवकाश देने से जो व्योमता सावकाशरूप है, वही परमात्मा का रूप है ॥ ४९ ॥

ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञातृत्व रूपोंवाला सामने दृश्यमान यह प्रपञ्च जिससे आविर्भूत होता है, जिसमें स्थित रहता है और जिसमें लीन हो जाता है, वही उसका परम दुर्लभ रूप कहा गया है ॥ ५० ॥

बुद्धि आदि से रहित महादर्पण रूप ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता

स्थावराणां हि यद्रूपं तच्चेद्बोधमयं भवेत् ।
मनो बुद्ध्यादिनिर्मुक्तं तत्परेणोपमीयते ॥ ५३ ॥
ब्रह्मार्कविष्णुहरशक्रसदाशिवादि
शान्तौ शिवं परममेतदिहैकमास्ते ।
सर्वोपधिव्ययवशादविकल्परूपं
चैतन्यमात्रमयमुज्झितविश्वसङ्गम् ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे महाकल्पान्तावशिष्टपरमभाववर्णनं नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

स्वरूप प्रपञ्च जिसमें प्रतिबिम्बित होता है है, वही उसका सर्वश्रेष्ठ परम रूप कहा गया है ॥ ५१ ॥

स्वप्न और जागरण से निर्मुक्त सुषुप्तरूप जो मन है, वही महाचित् का स्वरूप है, वही दृश्य का प्रलय होनेपर स्थावर और जङ्गम पदार्थों में अवशिष्ट रहता है ॥ ५२॥

स्थावर पदार्थों का मन, बुद्धि आदि से शून्य जो रूप है यानी अचलस्वभाव, वह यदि बोधमय=चेतनायुक्त हो जाय, तो उनके मन, बुद्धि आदि से निर्मुक्त उस बोधरूप की परमात्मा से तुलना की जा सकती है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मा, सूर्य, विष्णु, हर, इन्द्र, सदाशिव आदि के महाप्रलय के समय विलीन होनेपर सम्पूर्ण उपाधियों का विलय होने से निर्विकल्परूप, चैतन्यमात्रमय परमशिव केवल विश्व संसर्ग शून्य एक शेष रहता है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में महाकल्पान्तावशिष्टपरमभाववर्णन नामक कुसुमलता का दसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १० ॥

११

श्रीराम उवाच

इदंरूपमिदं दृश्यं जगन्नाऽस्तीति भासुरम् ।
महाप्रलयसंप्राप्तौ भो ब्रह्मन् ! क्वेव तिष्ठति ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

कुत आयाति कीदृग्वा वन्ध्यापुत्रः क्व गच्छति ।
क्व याति कुत आयाति वद वा व्योमकाननम् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

वन्ध्यापुत्रो व्योमवनं नैवाऽस्ति न भविष्यति ।
कीदृशी दृश्यता तस्य कीदृशी तस्य नास्तिता ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

वन्ध्यापुत्रव्योमवने यथा न स्तः कदाचन ।
जगदाद्यखिलं दृश्यं तथा नाऽस्ति कदाचन ॥ ४ ॥

११

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—

हे ब्रह्मन् ! यह विविध स्वरूप और दृश्यमान जगत् अर्थात् चौदह भुवन, देवता, मनुष्य, असुर, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि असीम विस्तारवाला अतिस्पष्टरूप से दिखाई देनेवाला, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से दृढ़ीकृत यह जगत्, जिसको आप न होते हुए भी ब्रह्म में भासमान वह कहते हैं, महाप्रलयावस्था किसमें स्थित रहता है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा —बन्ध्यापुत्र कहां से आता है, कैसा है, और कहाँ जाता है एवं आकाश में स्थित वन कहाँ से आता है और किसमें समा जाता है ? कैसी उसकी दृश्यता है और कैसी उसकी अदृश्यता है अर्थात् उसका अस्तित्व और नास्तित्व कैसा है ? ॥ २ ॥

श्रीराम ने कहा —

बन्ध्या-पुत्र और आकाशवन न तो इस समय हैं और न आगे होंगे ? फिर उनकी कैसी दृश्यता और कैसी नास्तिता ? ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

जैसे वन्ध्यापुत्र और आकशवन की जैसे कभी-भी सत्य नहीं है अर्थात् त्रैकालिक सत्ता नहीं है वैसे ही इस सम्पूर्ण जगत् आदि दृश्य की भी कभी-भी सत्ता नहीं है अर्थात् त्रैकालिक सत्ता नहीं है ॥ ४ ॥

न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यत्किलादौ न विद्यते ।
उत्पत्तिः कीदृशी तस्य नाशशब्दस्य का कथा ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

वन्ध्यापुत्रनभोवृक्षकल्पना तावदस्ति हि ।
सा यथा नाशजन्माढ्या तथैवेदं न किं भवेत् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

तुल्यस्याऽतुलदुःस्थस्य भावकैः किल तोलनम् ।
निरन्वया यथैवोक्तिर्जगत्सत्ता तथैव हि ॥ ७ ॥
यथा सौवर्णकटके दृश्यमानमिदं स्फुटम् ।
कटकत्वं तु नैवाऽस्ति जगत्त्वं न तथा परे ॥ ८ ॥
आकाशे च यथा नास्ति शून्यत्वं व्यतिरेकवत् ।
जगत्त्वं ब्रह्मणि तथा नाऽस्त्येवाऽप्युपलब्धिमत् ॥ ९ ॥
कज्जलान्न यथा कार्ष्ण्यं शैत्यं च न यथा हिमात् ।

न तो यह जगत् उत्पन्न हुआ है और न इसका विनाश ही हुआ है। जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है उसकी उत्पत्ति कैसी और उसमें विनाशशब्द की ही क्या चर्चा है ? ॥ ५ ॥

श्रीराम ने कहा :—

वन्ध्यापुत्र और आकाशवृक्ष की तो कल्पना होती ही है। वह जैसे जन्म और नाश से युक्त है, वैसे ही यह जगत् भी जन्म और नाश से युक्त क्यों नहीं होगा ? ॥६॥

दृश्य जगत् की किसी अन्य पदार्थ के साथ तुलना= उपमा करने की इच्छा तो है पर उपमेयभूत दृश्य पदार्थ से अतिरिक्त उपमान न मिलने के कारण उसकी किसी से उपमा नहीं की जा सकती है। जैसे किसी से अनुपमेय उक्ति होती है जगत् की सत्ता वैसे ही है इसकी किसी से उपमा नहीं हो सकती है क्योंकि, इसके समान कुछ है ही नहीं ॥ ७ ॥

जैसे सुवर्ण के कटक में स्पष्टतः दृश्यमान यह भी कटकत्व नाम का कोई पदार्थ नहीं है, वैसे ही प्रत्यक्षतः अनुभूयमान भी यह जगत् परमब्रह्म में नहीं ही है ॥ ८ ॥

वैसे ही ब्रह्म में प्रत्यक्षतः उपलभ्यमान भी यह जगत् उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न नहीं है जैसे आकाश में उपलभ्यमान शून्यत्व आकाश से भिन्न नहीं है ॥ ९ ॥

जैसे काजल से कालिमा पृथक् ज्ञात नहीं होता है, शैत्य हिमसे पृथक् नहीं है वैसे ही परम पद में जगत् उसी प्रकार पृथक् होनेवाला नहीं है ॥ १० ॥

पृथगेवं भवेद् बुद्धं जगन्नास्ति परे पदे ॥ १० ॥
यथा शैत्यं न शशिनो न हिमाद् व्यतिरिच्यते ।
ब्रह्मणो न तथा सर्गो विद्यते व्यतिरेकवान् ॥ ११ ॥
मरुनद्यां यथा तोयं द्वितीयन्दौ यथेन्दुता ।
नास्त्येवेह जगन्नाम दृष्टमप्यमलात्मनि ॥ १२ ॥
आदावेव हि यन्नाऽस्ति कारणासंभवात्स्वयम् ।
वर्तमानेऽपि तन्नाऽस्ति नाशः स्यात्तत्र कीदृशः ॥ १३ ॥
क्वाऽसंभवद्भूतजाड्यं पृथ्व्यादेर्जडवस्तुनः ।
कारणं भवितुं शक्तं छायायाश्चाऽऽतपो यथा ॥ १४ ॥
कारणाभावतः कार्यं नेदं तत्किञ्चनोदितम् ।
यत्तत्कारणमेवाऽस्ति तदेवेत्थमवस्थितम् ॥ १५ ॥
अज्ञानमेव यद्भाति संविदाभासमेव तत् ।
यज्जगदृश्यते स्वप्ने संवित्कथनमेव तत् ॥ १६ ॥

परमपद में भिन्नरूप से अवगत यह जगत् उस ब्रह्म से वैसे ही भिन्न नहीं है जैसे चन्द्रमा और हिम से शीतलता भिन्न नहीं है ॥ ११ ॥

मरुभूमि में प्रतीयमान नदी में जैसे जल नहीं है, प्रतीयमान द्वितीय चन्द्रमा में जैसे चन्द्रत्व नहीं है, वैसे ही सर्वविध मलों से रहित ब्रह्म में अनुभूयमान जगत् भी नहीं है ॥ १२ ॥

कारण के न रहने से जो स्वयं ही पहले भी नहीं था, वह वर्तमान काल में भी नहीं है, अतः उसका नाश ही कैसे होगा ॥ १३ ॥

पृथिवी आदि जड़ वस्तु का जड़ता से रहित चेतन ब्रह्म वैसे ही कारण नहीं हो सकता है जैसे छाया का कारण आतप नहीं हो सकता, जड़ का ही जड़ परिणाम हो सकता है, स्वविरुद्ध परिणाम नहीं भी उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

परिणामी कारण न होने से परिणामदृष्टि से यह कुछ नहीं है, विवर्त का कारणभूत ब्रह्म ही जगत्रूप में अवस्थित है, अतः जगत् की कारण से अतिरिक्त कार्यरूप से पृथक् सत्ता नहीं है ॥ १५ ॥

जो अज्ञान ही जगदाकार से परिणत होता है, यह कहा जाता है, संवित् का ही आभास अर्थात् जगत् के रूप से विवर्त है आशय यह है कि अज्ञान का परिणाम संवित् का ही विवर्त है, स्वप्न में जो जगत् (स्वाप्निक प्रपञ्च) दिखाई देता है, वह संवित् का विलास ही है= संवित्का विवर्त ही है उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ १६ ॥

संवित्कचनमेवाऽन्तर्यथा स्वप्ने जगद्भ्रमः।
सर्गादौ ब्रह्मणि तथा जगत्कचनमाततम् ॥ १७ ॥

यदिदं दृश्यते किञ्चित्सदैवाऽऽत्मनि संस्थितम्।
नाऽस्तमेति न चोदेति जगत्किञ्चित्कदाचन ॥ १८ ॥

यथा द्रवत्वं सलिलं स्पन्दनं पवनो यथा।
यथा प्रकाश आभासो ब्रह्मैव त्रिजगत्तथा ॥ १९ ॥

यथा पुरमिवाऽऽस्तेऽन्तर्विदेव स्वप्नसंविदः।
तथा जगदिवाऽऽभाति स्वात्मैव परमात्मनि ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

एवं चेत् तत्कथं ब्रह्मन्! सुघनप्रत्ययं वद।
इदं दृश्यविषं जातमसत्स्वप्नानुभूतिवत् ॥ २१ ॥

स्वप्न में स्वप्न देखनेवाले पुरुष के अन्तःकरण में जो स्वाप्निक जगत् की भ्रान्ति होती है, वह जैसे संवित्-विकास ही है, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म में यह जगत् का स्फुरण अर्थात् विस्तार हुआ है, ब्रह्म से अतिरिक्त जगत् नामकी कोई वस्तु ही नहीं है ॥ १७ ॥

यह जो कुछ प्रपञ्च दिखाई देता है, यह सदा आत्मा में ही स्थित है। न तो यह कभी उदित होता है और न कभी कुछ भी नष्ट होता है ॥ १८ ॥

जैसे द्रवत्व जल है, स्पन्दन वायु है, प्रकाश आभास है वैसे ही ये तीनों जगत् ब्रह्म ही हैं। आशय यह है कि द्रवता और जल में, स्पन्दन और वायु में, प्रकाश और आभास में कोई भेद नहीं है वैसे ब्रह्माण्ड प्रपञ्च और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है ॥ १९ ॥

जैसे स्वप्न देखने वाले पुरुष के अन्दर विद्यमान ज्ञान ही नगर के समान प्रतीत होता है, वैसे ही परमार्थ स्वस्वरूप में परमात्मा ही जगत् के समान प्रतीत होता है ॥ २० ॥

श्रीराम ने कहा :—

हे ब्रह्मन्! यदि यह दृश्यरूपी विष स्वप्न प्रतीति के समान मिथ्या है, तो यह इतनी सुदृढ़ प्रतीति से सम्पन्न कैसे हो गया यह कहें ॥ २१ ॥

दृश्य के विद्यमान रहने पर द्रष्टा का निवारण नहीं किया जा सकता है (दृश्य यदि रहेगा, तो उसका द्रष्टा भी अवश्य रहेगा) द्रष्टा के विद्यमान रहने पर दृश्य का निवारण नहीं किया जा सकता है (द्रष्टा यदि रहेगा, तो दृश्य भी अवश्य रहेगा) दृश्य और द्रष्टा परस्पर सापेक्ष

सति दृश्ये किल द्रष्टा सति द्रष्टरि दृश्यता।
एकसत्त्वे द्वयोर्बन्धो मुक्तिरेकक्षये द्वयोः ॥ २२ ॥

अत्यन्तासंभवो यावद् बुद्धो दृश्यस्य न क्षयः।
तावद् द्रष्टरि दृश्यत्वं न संभवति मोक्षधीः ॥ २३ ॥

दृश्यं चेत्संभवत्यादौ पश्चात् क्षयमुपालभेत्।
तद्दृश्यस्मरणानर्थरूपो बन्धो न शाम्यति ॥ २४ ॥

यत्र क्वचन संस्थस्य स्वादर्शस्येव चिद्गतेः।
प्रतिबिम्बो लगत्येव सर्वस्मृतिमयो ह्यलम् ॥ २५ ॥

आदावेव हि नोत्पन्नं दृश्यं नाऽस्त्येव चेत्स्वयम्।
द्रष्टुर्दृश्यस्वभावत्वात् तत्संभवति मुक्तता ॥ २६ ॥

तस्मादसंभवन्मुक्तेर्मम प्रोत्सार्य युक्तिभिः।
अत्यन्तासंभवो यावत् कथयाऽऽत्मविदां वर! ॥ २७ ॥

हैं। दृश्य कहा जा सकता है, दर्शक के रहने पर और द्रष्टा तभी कहा जा सकता है, जब दर्शन का विषय दृश्य हो। दृश्य और द्रष्टा दोनों में एक की दूसरे से अपेक्षा अर्थात् बन्धन है और दोनों में एक का भी (नाश) हो जाय तो दोनों की समाप्ति हो जायेगी ॥ २२ ॥

दृश्य का आत्यन्तिक क्षय का—सर्वथा उच्छेद का ज्ञान न हो जाय, अर्थात् अविद्या और उसका संस्कार सर्वथा विनष्ट न हो जाय तब तक द्रष्टा में दृश्यत्व का अस्तित्व अनिवार्य है, इसलिये मुक्ति नहीं हो सकती है ॥ २३ ॥

दृश्य प्रपञ्च की यदि पहले उत्पत्ति और बाद में उसका विनाश माना जाय तो संस्काररूप से स्थित दृश्य का पुनः पुनः उद्भवरूप अनर्थकारी बन्धन कभी-भी विनष्ट नहीं हो सकता है ॥ २४ ॥

जैसे कहीं पर भी स्थित स्वच्छ दर्पण प्रतिबिम्ब पड़ता ही है, वैसे ही चैतन्याश्रय द्रष्टा में सर्वस्मृतिमय प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ेगा ही ॥ २५ ॥

यदि पहले से उत्पन्न न होने से दृश्य का स्वयं अस्तित्व न होता तो द्रष्टा की दृश्यस्वभाव से मुक्ति हो सकती है। आशय यह है कि जगत् उत्पन्न नहीं है, यह बात अनुभव में नहीं आती, अतः द्रष्टा की दृश्यस्वभाव से मुक्ति नहीं हो सकती है ॥ २६ ॥

हे ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ! अतः मेरी मुक्ति के असंभव की आशङ्का को युक्तियों द्वारा दूर नहीं कर देते हैं, दृश्य के अत्यन्त असम्भव का मुझे दृढ़ परिज्ञान न हो जाय, तब-तक आप मुझे उपदेश दें ॥ २७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

असदेव सदाभाति जगत्सर्वात्मकं यथा।
शृण्वहं कथया राम! दीर्घया कथयामि ते॥ २८॥

व्यवसायकथावाक्यैर्यावत् तत्राऽनुवर्णितम्।
न विश्राम्यति ते तावद्धृदि पांसुर्यथा ह्रदे॥ २९॥

अत्यन्ताभावमस्यास्त्वं जगत्सर्गभ्रमस्थितेः।
बुद्ध्वैकध्याननिष्ठात्मा व्यवहारं करिष्यसि॥ ३०॥

भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचलाचलाः।
दृशस्त्वां वेधयिष्यन्ति न महाद्रिमिवेषवः॥ ३१॥

स एषोऽस्त्येक एवाऽऽत्मा न द्वितीयाऽस्ति कल्पना।
जगदत्र यथोत्पन्नं तत्ते वक्ष्यामि राघव!॥ ३२॥

तस्मादिमानि सकलानि विजृम्भितानि
सोऽपीदमङ्ग सकलासकलं महात्मा।
रूपावलोकनमननप्रकारा-
कारास्पदं स्वयमुदेति विलीयते च॥ ३३॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे परमार्थवर्णनं नामैकादशः सर्गः॥ ११॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

हे राम! यह जगत् सर्वात्मक अर्थात् ब्रह्मात्मक होते हुए भी जगत्‌रूप से असत् होता हुआ भी सत्-प्रतीत होता है, उसे मैं आप से विस्तारपूर्वक कहता हूँ, आप सुनें॥ २८॥

पूर्वजों के व्यवहार के प्रतिपादक वाक्यों से उन लम्बी आख्यायिकाओं में वर्णित तत्त्व तालाब में धूलि के समान, जब तक आपके हृदय में न बैठ जाय तब तक सुनें॥ २९॥

भ्रान्ति से जो यह जगत् की सत्ता दिखलाई दे रही है, इसके अत्यन्ताभाव को अवगत कर आप अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म के ध्यान में संलग्न हो कर ही लौकिक व्यवहार करेंगे॥ ३०॥

प्रयोजन रहने पर जिनका ग्रहण होता है और प्रयोजन न रहने पर जिनका त्याग होता है, ऐसे स्थूल सूक्ष्म आदि विषयों के अनुसार चञ्चल और स्थिर व्यवहारदृष्टियाँ आपको उसी प्रकार पीड़ित नहीं कर सकेंगी, जिस प्रकार बाण पर्वत को विद्ध नहीं कर सकते हैं॥ ३१॥

हे राघव! जिसका पहले विस्तार से वर्णन किया गया है, वही यह एक अद्वितीय आत्मा ही है। इससे अतिरिक्त दूसरी कल्पना ही नहीं है। इस द्वितीय-कल्पना से शून्य आत्मा में यह जगत् जिस तरह उत्पन्न होता है, उसको मैं आगे आपसे कहूँगा॥ ३२॥

हे वत्स! यह अशेष चराचर जगत् परमात्माका विजृम्भन मात्र है, रूपात्मक अवलोकन और मननात्मक आकार स्वयं उदित होता है और विलीन होता है, इतना ही नहीं महात्मा भी समष्टि और व्यष्टि रूप में उत्पन्न और विलीन होता है अर्थात् महान् आत्मा भी समष्टिव्यष्टि रूप बाहर इन्द्रियों द्वारा दिखाई देने वाला दृश्य दर्शन आकार रूप और अन्दर मननप्रकाराकार रूप होकर स्वयं ही उदित होता है और विलीन होता है॥ ३३॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में परमार्थवर्णन नामक कुसुमलता का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त॥ ११॥

१२

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मात्परमाच्छान्तात्पदात्परमपावनात्।
यथेदमुत्थितं विश्वं तच्छृणूत्तमया धिया॥ १॥

सुषुप्तं स्वप्नवद् भाति भाति ब्रह्मैव सर्गवत्।
सर्वात्मकं च तत्स्थानं तत्र तावत्क्रमं शृणु॥ २॥

१२

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—

सर्वोत्तम, शान्त और परम पवित्र इस पद से ब्रह्म से यह सम्पूर्ण विश्व जैसे उत्पन्न हुआ है, उसे आप उत्तम बुद्धि से एकाग्र मन से सुनें॥ १॥

जैसे सुषुप्त आत्मा ही स्वप्न-सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म ही सृष्टि के समान प्रतीत होता है उसका अधिष्ठान सर्वात्मक ब्रह्म है। इस विषय को आप क्रमपूर्वक सुनें॥ २॥

तस्याऽनन्तप्रकाशात्मरूपस्याऽनन्तचिन्मणेः ।
सत्तामात्रात्मकं विश्वं यदजस्रं स्वभावतः ॥ ३ ॥
तदात्मनि स्वयं किञ्चिच्चेत्यतामिव गच्छति ।
अगृहीतात्मकं संविदहंमर्शनपूर्वकम् ॥ ४ ॥
भाविनामार्थकलनैः किञ्चिदूहितरूपकम् ।
आकाशादणु शुद्धं च सर्वस्मिन् भाति बोधनम् ॥ ५ ॥
ततः सा परमा सत्ता सचेतश्चेतनोन्मुखी ।
चिन्नामयोग्या भवति किञ्चिल्लभ्यतया तथा ॥ ६ ॥
घनसंवेदना पश्चाद्भाविजीवादिनामिका ।
संभवत्यात्तकलना यदोज्झति परं पदम् ॥ ७ ॥
सत्तैव भवनामात्रसारा संसरणोन्मुखी ।

यह सम्पूर्ण विश्व सत्तामात्रात्मक स्वभावतः सदा अनन्तप्रकाश रूप तथा अनन्तचैतन्य स्वरूप ब्रह्म का सत्तामात्रस्वरूप है, अर्थात् वही अशेष नित्य सत्ता-मात्रात्मक दृश्यता स्वरूप के अस्तित्व को धारण करता है ॥ ३ ॥

आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल जो बोध है, वह भावी (होनेवाले) नाम और रूपों के अनुसन्धान से कुछ अनुमितरूपवाला होकर सम्पूर्ण सृष्टि करने योग्य विषयों में संकलपपूर्वक अहङ्काराध्यास के बिना प्रतीत होता है अतएव वही स्वयं अपने स्वरूप में मानो किञ्चित् चेत्यता दृश्यता को प्राप्त करता है ॥ ४, ५ ॥

वह परम सत्ता ही ईक्षणात्मक वृत्ति से युक्त चेतना में (उक्त ईक्षणात्मक वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य में) उन्मुख होकर ईक्षणवृत्ति सहित चेतनाप्रधान होकर वाणी के व्यवहार के विषय धर्मों से युक्त होने से वाणी के व्यवहार के योग्य होकर 'चित्' 'सर्वज्ञ ईश्वर' नाम के योग्य होती है ॥ ६ ॥

चिरकाल की अनुवृत्ति से जिसकी ईक्षणवृत्ति अत्यन्त सघन हो कर ईक्षणवृत्ति के विषय सूक्ष्म प्रपञ्चस्वरूपता रूप काल कल्पना परिच्छेद स्वीकार करती है तब वही परमसत्ता परम पद का त्याग कर भावी प्राणधारी उपाधिवाले जीव, हिरण्यगर्भ आदि नाम वाली होती है ॥ ७ ॥

उस समय ब्रह्मसत्ता ही केवल भावना से संसारो-न्मुख होती है, विकार आदि क्रिया से नहीं ।

शङ्का—सो कैसे ?

समाधान—स्वभाव की ब्रह्म सत्ता ही संसारोन्मुखी

तदा वस्तुस्वभावेन त्वनुत्तिष्ठति तामिमाम् ॥ ८ ॥
समनन्तरमेवाऽस्याः खसत्तोदेति शून्यता ।
शब्दादिगुणबीजं सा भविष्यदभिधाऽर्थदा ॥ ९ ॥
अहन्तोदेति तदनु सह वै कालसत्तया ।
भविष्यदभिधार्थेन बीजं मुख्यं जगत्स्थितेः ॥ १० ॥
तस्याः शक्तेः परायास्तु स्वसंवेदनमात्रकम् ।
एतज्जालमसद्रूपं सदिवोदेति विस्फुरत् ॥ ११ ॥
एवंप्रायात्मिका संविद्वीजं सङ्कल्पशाखिनः ।
भवत्यहङ्कारकणस्ततः स्पन्दतया मरुत् ॥ १२ ॥
चिदहन्तावती व्योम्नि शब्दतन्मात्रभावनात् ।
खतो घनीभूय शनैः खतन्मात्रं भवत्यलम् ॥ १३ ॥

होकर केवल भावनामात्र संकल्पमात्र संसारभाव को प्राप्त करती है, किसी प्रकार का विकार प्राप्त कर वह संसारभाव को प्राप्त नहीं करती है ॥ ८ ॥

जीवभाव का उदय होने के बाद अन्य भूतों को अवकाश देने वाली शून्यप्राय आकाशसत्ता उदित होती है, जो कि सूर्य आदि की सृष्टि के पश्चात् होने वाले हैं और शब्द आदि गुणों का कारण स्वरूप वह सत्ता आकाश आदि नामों के अर्थ को (आकाश यानी आ-समन्तात्—काशते प्रकाशते यानी चारों ओर जो प्रकाशित है, इत्यादि अर्थ को धारण करती है ॥ ९ ॥

आकाश सत्ता के बाद नामों के अर्थरूप से जगत् स्थिति की मुख्य बीज भूत अहन्ता कालसत्ता के साथ उदित होती है ॥ १० ॥

उस परमशक्ति का परमात्मसत्ता का स्वसंकल्पमात्र रूप यह प्रकाशमान असदात्मक दृश्य प्रपञ्च सत् के समान उससे उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

'मैं आकाश होऊँ' इस अहङ्कार से जिसका स्वरूप प्रायः आकाश हो जाता है ऐसी संवित् आकाशकार्य वायु आदि विषयक संकल्परूपी वृक्ष का मूल है। उससे परिच्छिन्न स्पन्दशक्ति प्रधान एक कण अहङ्कार का वायु आविर्भूत होता है ॥ १२ ॥

आकाशाहङ्कारोपाधि से उपहित परमात्मसत्ता ही जब सम्पूर्ण शब्दों के मूल आकाश में अहन्ताबुद्धिवाली परमात्मसत्ता शब्दतन्मात्र के संकल्प से 'मैं शब्द तन्मात्रा होऊँ' इस संकल्प से अतिसूक्ष्म आकाशभाव से कुछ सघन होकर शब्द तन्मात्र होती है । संस्कृत टीका में कहा गया है कि पुराण आदि में तन्मात्राओं से भूतों की उत्पत्ति कही

भाविनामार्थरूपं तद् बीजं शब्दौघशाखिनः।
पदवाक्यप्रमाणाख्यं वेदवृन्दं विकासितम् ॥ १४ ॥
तस्माद्दुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः परमात्मनः।
शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणः ॥ १५ ॥
चिदेवंपरिवारा सा जीवशब्देन कथ्यते।
भाविशब्दार्थजालेन बीजं रूपौघशाखिनः ॥ १६ ॥
चतुर्दशविधं भूतजालमावलितान्तरम्।
जगज्जठरगर्त्तौघं प्रसरिष्यति वै ततः ॥ १७ ॥
असंप्राप्ताभिधाचारा चिज्जवात् प्रस्फुरद्वपुः।
सा चैव स्पर्शतन्मात्रं भावनाद्भवति क्षणात् ॥ १८ ॥
पवनस्कन्धविस्तारं बीजं स्पर्शौघशाखिनः।
सर्वभूतक्रियास्पन्दस्तस्मात् संप्रसरिष्यति ॥ १९ ॥
तत्रैव चिद्विलासेन प्रकाशोऽनुभवाद् भवेत्।
तेजस्तन्मात्रकं तत्तु भविष्यदभिधार्थकम् ॥ २० ॥
तत्सूर्याग्निविजृम्भादि बीजमालोकशाखिनः।
तस्माद्रूपविभेदेन संसारः प्रसरिष्यति ॥ २१ ॥
भावयंस्तनुतामेव रसस्कन्ध इवाऽम्भसः।
स्वदनं तस्य सङ्कस्य रसतन्मात्रमुच्यते ॥ २२ ॥
भाविवारिविलासात्मा तद्बीजं रसशाखिनः।
अन्योन्यस्वदने तस्मात्संसारः प्रसरिष्यति ॥ २३ ॥
भविष्यद्रूपसङ्कल्पनामाऽसौ कल्पनात्मकः।
सङ्कल्पात्मगुणैर्गन्धतन्मात्रत्वं प्रपश्यति ॥ २४ ॥

गई है, तथापि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः', 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म ही आकाश आदि भूतों का साक्षात् उपादान सुना गया है और 'तद्यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य' इत्यादि श्रुति में सामान्य शब्द विशेष शब्दों का कारण सुना गया है, आकाश से ही सामान्य शब्दरूप शब्द तन्मात्रा की उत्पत्ति कही गई है ॥ १३ ॥

भावी (होनेवाले) नामों का अर्थभूत तथा शब्द समूहरूपी वृक्ष का बीज वह शब्दतन्मात्र ही विस्तार को प्राप्त कर पदवाक्य प्रमाण नामक वेद-समूह का विकास करती है ॥ १४ ॥

इस प्रकार वेदरूपता को प्राप्त हुए परमात्मा से जो कि शब्द-समूह से निर्मित पदार्थ-समूह रूप परिणाम (कार्य) का विस्तार करते हैं, जगत् की उत्पत्ति होगी ॥ १५ ॥

वायु पर्यन्त परिवार सम्पन्न वह चित् जीव शब्द से कही जाती है। वही भावी नाम-रूपसमूह से मूर्तिमान् जीवों के समूहरूपी वृक्ष का मूल है। सम्पूर्ण मूर्त्याकार पदार्थ (जीव) उसी से उत्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

चौदह भुवन प्राणियों का आकार-प्रकार भिन्न-भिन्न है। अतएव चौदह भुवनों के भेद से चौदह प्रकार के प्राणी पूर्वोक्त प्राणवायु के कारण ब्रह्म से व्याप्त होकर ब्रह्माण्डोदर रूप विविध गर्तों में विस्तार प्राप्त करते हैं ॥ १७ ॥

'मैं वायु हूँ' इस प्रकार अपने में वायुत्व के अभिमान के वेग से व्यापारवान् चलनादि क्रियाओं से युक्त स्पर्श तन्मात्र की भावना से 'मैं स्पर्शतन्मात्र होऊँ' इस संकल्प से वही शीघ्र स्पर्श तन्मात्र हो जाता है अर्थात् 'मैं वायु हूँ' इस अभिमान के पूर्व उक्त चैतन्य का न 'वायु' नाम था और न उसमें चलनादि क्रिया ही थी ॥ १८ ॥

वह स्पर्शतन्मात्र विविध स्पर्शरूपी वृक्षों का मूल है तथा वायुओं का विस्तार उसमें सूक्ष्मरूप से निहित है। उसी से सम्पूर्ण भूतों में चलनादि क्रियारूपी स्पन्द उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

'मैं प्रकाशरूप होऊँ' इस सङ्कल्प से उसी चैतन्य में प्रकाश की सृष्टि होती है। प्रकाशरूपता को प्राप्त अनुभवरूप चैतन्य से ही रूपतन्मात्रा की उत्पत्ति होती है, जो सम्पूर्ण भावी पदार्थों के नाम और रूप का प्रकाशक है ॥ २० ॥

सूर्य, वह्नि, विद्युत् आदि उस आलोकात्मक प्रकाश रूपी वृक्ष का बीज है। तेज से विविध रूपों के भेद वाले संसार का विस्तार होता है ॥ २१ ॥

वह चैतन्य जल के विविध रस मैं ही हूँ, इस प्रकार अपनी जलरूपता की भावना करता हुआ जलरूपता में सम्पन्न होता है। जलरूप मूर्त द्रव्य (पदार्थ) का जिह्वा से आस्वाद लेने पर 'यह मीठा है' इस प्रकार का जो स्वाद है, वह सम्पूर्ण रसों का एकमात्र उपादान होने से रस तन्मात्र कहलाता है ॥ २२ ॥

वह रसरूपी भावी पदार्थ का बीज है और भावी जल के विविध आकारों को धारण करने वाला है। इन्द्रिय और विषय रूप से परस्पर रस का आस्वाद लेने पर विषयों में अनुराग आदि की उत्पत्ति से पुनः पुनः विषय के उपार्जन में प्रवृत्तिरूप संसार का उससे प्रसार होता है ॥ २३ ॥

परमात्मा 'मैं पृथिवी ही हूँ' इस प्रकार सङ्कल्परूप होने से जिसका विस्तार स्वरूप आगे होने वाला है, उस पृथिवी का सङ्कल्पनात्मक होकर संकल्परूप अपने

भाविभूगोलकत्वेन बीजमाकृतिशाखिनः ।
सर्वाधारात्मनस्तस्मात् संसारः प्रसरिष्यति ॥ २५ ॥
चिता विभाव्यमानानि तन्मात्राणि परस्परम् ।
स्वयं परिणतान्यन्तरम्बुनीव निरन्तरम् ॥ २६ ॥
तथैतानि विमिश्राणि विविक्तानि पुनर्यथा ।
न शुद्धान्युपलभ्यन्ते सर्वनाशान्तमेव हि ॥ २७ ॥
संवित्तिमात्ररूपाणि स्थितानि गगनोदरे ।
भवन्ति वटजालानि यथा बीजकणान्तरे ॥ २८ ॥
प्रसवं परिपश्यन्ति शतशाखं स्फुरन्ति च ।
परमाण्वन्तरे भान्ति क्षणात्कल्पीभवन्ति च ॥ २९ ॥
विवर्त्तमेव धावन्ति निर्विवर्त्तानि सन्ति च ।
चिद्वेधितानि सर्वाणि क्षणात्पिण्डीभवन्ति च ॥ ३० ॥
तन्मात्रगणमेतत्स्यात् सा संकल्पात्मिका चितिः ।
वेदना त्रसरेण्वाभमनाकारैव पश्यति ॥ ३१ ॥
बीजं जगत्सु ननु पञ्चकमात्रमेव
बीजं पराव्यवहितस्थितिशक्तिराद्या ।
बीजं तदेव भवतीति सदाऽनुभूतं
चिन्मात्रमेवमजमाद्यमतो जगछ्रीः ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे जगदुत्पत्तिवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

गुणों से अपने को गन्धतन्मात्र देखता है। अर्थात् 'मैं गन्धतन्मात्र होऊँ अपने इस संकल्पात्मक गुण से गन्ध-तन्मात्र हो जाता है ॥ २४ ॥

भावी भूगोलरूप से मनुष्य आदि के विविध आकार रूप वृक्ष का वह बीज है। सम्पूर्ण चर और अचर जीवों के आधारस्वरूप उक्त पृथिवी से संसार का प्रसार होता है ॥ २५ ॥

चैतन्य के पूर्वोक्त रीति से पाँच भूतों में अहन्ता (अहंकार भाव) की संप्राप्ति होने पर चैतन्य से ब्रह्माण्डाकार में प्रतीत हो रहे भूततन्मात्र (शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र) परस्पर संमिश्रण से, अर्थात् पञ्चीकरण प्रक्रिया से जल में बुद्बुदों के समान स्वयं ब्रह्माण्डाकार से परिणत होते हैं ॥ २६ ॥

ये पांच भूत इस प्रकार पञ्चीकरण से सम्मिलित हो गये हैं कि विनाशकालपर्यन्त तक महाप्रलयपर्यन्त अलग और शुद्ध नहीं मिल पाते हैं ॥ २७ ॥

संविद्रूपमात्र अपञ्चीकृत व्योममध्य में ब्रह्माण्ड वैसे ही स्थित है जैसे वट बीज-कण के मध्य में विशाल वट-वृक्ष स्थित है ॥ २८ ॥

तन्मात्रों में स्थूल पदार्थों की वास्तव में स्थिति नहीं है, किन्तु आभास उनका अर्थात् केवल मायिक उत्पत्ति दिखाई देती है। अनन्तर वे शाखा-प्रशाखा के भेद से विविध विस्तार प्राप्त करते हैं और क्षण में ही विलीन भी हो जाते हैं ॥ २९ ॥

वे विवर्तरूप से स्थूलता की ओर अग्रसर होते हैं, पर वास्तव में विवर्तरहित अपने सूक्ष्मतम स्वरूप में ही रहते हैं। विकार रहित चेतन से सम्बद्ध होने के कारण क्षण मैं ही पिण्डीभाव (स्थूलता) की प्राप्त करते हैं ॥ ३० ॥

संकल्पस्वरूप चैतन्य ही यह तन्मात्र समूह, है, उससे अतिरिक्त नहीं है; कारण कि चैतन्य ही 'मैं अमुक हूँ' इस अभिमान से तत्-तत्स्वरूप हुआ है। चैतन्य अपने स्वरूप से निराकार होते हुए भी संकल्परूप से वह अपने को स्थूलरूप त्रसरेणु के समान आभासित होता है ॥ ३१ ॥

दृश्यमान जगत् प्रपञ्च के मूल पञ्चभूततन्मात्र हैं, मूल आद्या मायाशक्ति है, जिसका परमात्मा से कुछ भी व्यवधान नहीं है और वह जगत् की स्थिति में कारण है। इस प्रकार चिद्घन अज परमात्मा ही मायाशक्ति द्वारा जगत् का बीज है। माया के हट जानेपर वही सदा अनुभावरूढ़ होता है, अतः यह दृश्यमान् विश्व प्रपञ्च चेतन स्वरूप ही है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में जगदुत्पत्तिवर्णन नामक कुसुमलता का बारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १२ ॥

१३

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमे ब्रह्मणि स्फारेऽसमे राम ! समे स्थिते ।
अनुत्पन्ननभस्तेजस्तमःसत्ताचिदात्मनि ॥ १ ॥
पूर्वं चेत्यत्वकलनं सतश्चेत्यांशचेतनात् ।
उदेति चित्तकलनं चितिशक्तित्वचेतनात् ॥ २ ॥
ततो जीवत्वकलनं चेत्यसंयोगचेतनात् ।
ततोऽस्य मायाकलनं चेत्यैकपरतावशात् ॥ ३ ॥
ततो बुद्धित्वकलनमहन्तापरिणामतः ।
एतदेव मनस्तादि शब्दतन्मात्रकादिमत् ॥ ४ ॥
उच्छूनादन्यतन्मात्रभावनाद् भूतरूपिणः ।
अवमित्थं महागुल्मो जगदादिर्विलोक्यते ॥ ५ ॥
झटित्येवंक्रमेणेति स्वप्ने पुरमिवाऽकुलम् ।
महाकाशमहाटव्यामुद्भूयोद्भूय नश्यति ॥ ६ ॥
जगत्करञ्जकुञ्जानां बीजमेतदवापजम् ।
नाऽपेक्षते किञ्चिदपि क्षितिवार्यनलादिकम् ॥ ७ ॥
एतच्चिदात्मकं पश्चात्किलोर्व्यादि करिष्यति ।
स्वं स्वप्नवित् पुरमिव चिन्मात्रात्मकमेव यत् ॥ ८ ॥

१३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

हे राम ! आकाश, तेजतम आदि की उत्पत्ति से पूर्व समरूप से स्थित चिदात्मा परमब्रह्म में विस्तार से असम स्वरूपता होती है आशय यह है कि विकार से होने वाली विषमता शून्य होने से एकरस माया शबलित होने से विषम होता है, इससे सर्वत्र शुद्ध सत्ता ही रहती है अनन्तर उपाधि परिच्छिन्न हो जाती है ॥ १ ॥

चित्स्वरूप ब्रह्म में दृश्यत्व की अभिव्यक्ति अर्थात् कालवशात् आकलन होता है, इसका चित्त शक्ति की अभिव्यक्ति से सदात्मक चित्त में चितिशक्ति के उदय से चित्त की=मन की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

दृश्य और चेतन ब्रह्म में परस्पर अध्यास होने से जो सभी का एकमात्र कारण है, उसको विषय के साथ सम्बन्ध होने से अन्तःकरणोपहित जीव की कल्पना होती है, माया के आवरण शक्ति के कारण चिदात्मा में अहन्त्व का दृश्यत्व का अभिमान होता है क्यों चेतन और माया का अनादि सम्बन्ध होने के कारण अहन्त्व स्थिर हो जाता है ॥ ३ ॥

हे राम ! सर्वव्यापक सम और असम (विकार से होनेवाली विषमता से शून्य होने के कारण सम—एकरस—और मायाशबल होने के कारण विषम) अधिष्ठान रूप उत्पन्न न हुए आकाश, तेज और तम आदि के का कारणसत्तास्वरूप (जब कि आकाश, तेज, तम आदि की उत्पत्ति नहीं हुई थी तब उनकी कारणरूप सत्ता ब्रह्मसत्ता से अतिरिक्त नहीं थी) चिद्घन परब्रह्म में दृश्य अंश के प्रकाश से पहले दृश्यत्व (विषयभाव) की कल्पना अनन्तर अहंभाव की अभिवृद्धि होने से उक्त चिदात्मा में बुद्धिभाव की कल्पना उदित होती है । इस प्रकार धर्मों की सिद्धि होनेपर शब्दादितन्मात्राओं से युक्त वहीं ब्रह्म मनःस्वरूप हो जाता है ॥ ४ ॥

संस्काररूप से स्थित शब्दतन्मात्राओं का स्पर्शादितन्मात्राओं के साथ संमिश्रण होने से पञ्चीकरणरूप से आध्यात्मिक भूतरूपी मन से ही इस प्रकार यह महावृक्ष रूपी अतिविशाल चराचर प्रपञ्च दिखाई देता है ॥ ५ ॥

इच्छा के बिना शीघ्र बना हुआ यह जगत् रूपी महान् वृक्ष महाकाशरूपी महारण्य में जैसे स्वप्न में इच्छा न रहते हुए भी शीघ्र ही नगर बन जाता है और पुनः पुनः उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

यह बोये बिना ही उगा हुआ जगद्रूपी करंज वृक्षों (कंजा) की झाड़ियों का बिना बोये ही उत्पन्न यह बीज मिट्टी, जल, प्रकाश, वायु आदि किसी की भी अपेक्षा नहीं करता है । अन्य बीजों के अंकुरित होने के लिए बीज का बोना एवं भूमि, जल, सूर्यताप आदि की आवश्यकता होती है, पर यह उनसे विलक्षण है, किन्तु इसे किसी वस्तु की भी आवश्यकता नहीं होती है ॥ ७ ॥

जैसे स्वप्न देखने वाला पुरुष अपने से अनुभूयमान नगर को उत्पन्न करता है, वैसे ही यह चिदात्मा भी बाद में पृथिवी आदि की उत्पत्ति करता है । वस्तुतः स्वरूपसे तो असंग चिदात्मा ही रहता है ॥ ८ ॥

जगदाद्यङ्कुरं यत्रतत्रस्थमपि मुञ्चति ।
जगतः पञ्चकं बीजं पञ्चकस्य चिदव्यया ॥ ९ ॥
यद् बीजं तत्फलं विद्धि तस्माद् ब्रह्ममयं जगत् ।
एवमेष महाकाशे सर्गादौ पञ्चको गणः ॥ १० ॥
चिच्छक्त्या स्वाङ्गभूतात्मा कल्पितोऽस्ति न वास्तवः ।
अनेनोच्छूनतामेत्य यदपीदं वितन्यते ॥ ११ ॥
तदप्याकाशरूपात्मकल्पनात्मनि सन्मयम् ।
क्वचिन्न नाम तत्सिद्धं यदसिद्धेन साध्यते ॥ १२ ॥
स्वरूपं यद्विकल्पात्म कथं तत्सत्यतामियात् ।
अथ चेत्पञ्चकं ब्रह्म ब्रह्मात्मकतया धिया ॥ १३ ॥
तत्पञ्चकं विद्धि प्रौढो ब्रह्मैव त्रिजगत्क्रमः ।

वह जहां कहीं पर भी स्थित हो, जगद्रूपी अङ्कुर को उत्पन्न करता है पञ्चभूततन्मात्राएँ जगत् की बीज हैं और पञ्चतन्मात्राओं का बीज अविनाशी व्यय ह्रास रहित चिदात्मा है ॥ ९ ॥

जो बीज है, उसे ही फल समझो क्योंकि अभिन्न निमित्तोपादनता अर्थात् कार्य और कारण का अभेद है अतः आप जगत् को ब्रह्मरूप समझें। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में ये पञ्चभूततन्मात्राएँ हैं महाकाश में (चिदात्मा की विषयप्रकाशन शक्ति से स्वस्वरूपभूता हैं,) महाकाश में कल्पित हैं ॥ १० ॥

ये ही पञ्चभूततन्मात्राएँ परस्पर समिश्रण से स्थूलता को प्राप्त होकर इस सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च का विस्तार करती हैं ॥ ११ ॥

जिसका असिद्ध पदार्थ से साधन किया जाता है, वह कभी सिद्ध नहीं होता अतः ये आकाश में प्रतीयमान रूप की भाँति अपनी कल्पना के अधिष्ठान चिदात्मा में स्थित होने के कारण ही सत् हैं, स्वतः सत् नहीं हैं, यह निश्चित है ॥ १२ ॥

जो स्वरूप काल्पनिक है यानी वास्तविक नहीं है, वह कैसे सत्य हो सकता है ? 'ये ब्रह्मस्वरूप हैं' इस बुद्धि से पञ्चभूततन्मात्राएँ ब्रह्मस्वरूपा हैं। आशय यह है कि ब्रह्म में अध्यस्त पञ्चभूततन्मात्राओं की ब्रह्ममात्रता भले ही हो, पर उनके कार्य जगत् की ब्रह्ममात्रता कैसे है ? पञ्चतन्मात्राओं के कार्य स्थूल पांच महाभूत भी ब्रह्म ही हैं, उससे अतिरिक्त नहीं, क्योंकि कार्य और कारण की एकता दिन के समान प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

चिरकाल से बद्धमूल तीनों जगत् ब्रह्म ही हैं यह

यथा स्फुरति सर्गादावेष पञ्चकसंभवः ॥ १४ ॥
तथैवाद्येह भूतत्वे याति कारणतां स्वयम् ।
एवं न जायते किञ्चिज्जगज्जातं न लक्ष्यते ॥ १५ ॥
स्वप्नसङ्कल्पपुरवदसत् सदनुभूयते ।
ब्रह्माकाशपराकाशे जीवाकाशत्वमात्मनि ॥ १६ ॥
इति चित्यवदातात्मा पृथ्व्यादीनामसंभवात् ।
इत्येष जीवः कथितो व्योम्नि खात्मा इवोदितः ॥ १७ ॥
जीवाकाशस्त्विमं देहं यथा विन्दति तच्छृणु ।
जीवाकाशः स्वमेवाऽसौ तस्मिंस्तु परमेश्वरे ॥ १८ ॥
अणुतेजःकणोऽस्मीति स्वयं चेतति चिन्तया ।
यत्तदेवोच्छूनमिव भावयत्यात्मनाऽम्बरे ॥ १९ ॥

अवगत करे जैसे सृष्टि के पूर्व में ये कारण भूत स्थूल प्रपञ्च के प्रति कारणरूप से स्फुरित होती ही आज भी वे आगे होने वाले अपने स्वरूप के प्रति ही कारण होती है, (अतः भेद न रहते हुए भी उनमें कार्यकारण भाव का व्यवहार होता है ।) इस प्रकार यह जगत् न कभी उत्पन्न होता है न उत्पन्न हुआ दिखाई देता है ॥ १४–१५ ॥

जैसे सङ्कल्प और मनोरथ द्वारा निर्मित नगर असत् होता हुआ भी सत् के समान प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्माकाशरूपी परमप्रकाश आत्मा में जीवाकाशत्व असत् होता हुआ भी सत् के समान प्रतीत होता है ॥ १६ ॥

इस प्रकार शुद्ध चिदात्मा में पृथिवी आदि असम्भव होनेपर भी आकाश में घटाकाश, महाकाश आदि परिच्छिन्न आकाश से ही कल्पना द्वारा उत्पन्न है वैसे ही यह आकाशात्मा जीव भी कहा गया है ॥ १७ ॥

शरीर जीवाकाश जिस प्रकार इस को प्राप्त करता है, उसे आप सुनें। चिदात्मा परमेश्वर में कल्पित समष्टि जीवाकाश अतिविस्तृत व्यापक चिद्रूप है ॥ १८ ॥

मैं स्वल्पदीप्तिकण हूँ अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म तेज का कण हूँ, इस प्रकार भावना करने से वैसा ही (अणुरूप ही) अपने को जानता है। श्रुति भी कहा है—'यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे एत आत्मानो व्युच्चरन्ति' (जैसे अग्नि से छोटे-छोटे अग्निकण निकलते हैं, वैसे ही इस आत्मा से ये सब जीव आविर्भूत होते हैं) आकाश में आत्मरूप से जिस स्थूलता का चिन्तन करता है, भावना द्वारा तद्रूप ही अपने को स्थूल के समान समझता है ॥ १९ ॥

असदेव सदाकारं संकल्पेन्दुर्यथा न सन्।
तमेव भावयन् द्रष्टृदृश्यरूपतया स्थितः ॥ २० ॥
एक एव द्वितामेति स्वप्ने स्वमृतिबोधवत्।
किञ्चित्स्थौल्यमिवाऽऽदत्ते ततस्तारकतां विदन् ॥ २१ ॥
यथाभावितमात्रार्थभाविताद् विश्वरूपतः।
स एव स्वात्माऽऽस ततोऽप्ययं सोऽहमिति स्वयम् ॥२२॥
चित्तात्प्रत्ययमाधत्ते स्वप्ने स्वामिव पान्थताम्।
तारकाकारमाकारं भाविदेहाभिधं तथा ॥ २३ ॥
भावयन्याति तद्भावं चित्तं चेत्यार्थतामिव।
परित्यज्यैव तद्भावं चित्तं ततस्तारककोटरे ॥ २४ ॥
अन्तर्भाति बहिष्ठोऽपि पर्वतो मुकुरे यथा।
कूपसंस्थो यथा देहः समुद्गकगतं वचः ॥ २५ ॥

संकल्प से अर्थात् इच्छा से कल्पित चन्द्रमा सत् नहीं है, वैसे ही जिसकी भावना करता है (और भावना= सङ्कल्प से उत्पन्न होता है) वह स्वरूप सत् नहीं रहता है, सत् के समान प्रतीत होता है, उसीकी भावना करने से यह द्रष्टृ-दृश्यरूप से स्थित है ॥ २० ॥

स्वप्न में अपनी मृत्यु के ज्ञान के समान एक ही वह चिदात्मा द्वितीयता को प्राप्त होता है। अर्थात् जीवित व्यक्ति ही स्वप्न में मरण का स्मरण करता है, अतिशय-सूक्ष्म तेजःकणस्वरूपता का परित्याग कर तारों के सदृश स्थूलता को प्राप्त करता है (यही उसकी भूततन्मात्राओं से संवलित लिङ्गात्मकता है) ॥ २१ ॥

विश्वात्मक होनेपर भी सङ्कल्पित अर्थ की भावना से 'सोऽहम्' इस प्रकार वह तारकाकार आत्मा ही स्वात्मा जीव होता है ॥ २२ ॥

वह चित्त की कल्पना से मैं लिङ्गदेहकार और भावी स्थूलदेहाकार हूँ, इन ज्ञान को उसी रूप में धारण करता है जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्न में पथिक बन जाता है ॥ २३ ॥

जैसे चित्त विषयाकारता को प्राप्त करता है अर्थात् स्वप्न और मनोरथ में बाहर स्थित विषय भी बाह्यरूप का परित्याग कर भीतर अन्तःकरणात्मस्वरूपता प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करता हुआ यह चिदात्मा कल्पित स्वरूपता को प्राप्त करता है, अनन्तर उपाधिवश कल्पित आकाश में अपने स्वाभाविक रूप का त्याग कर बाह्य स्वरूपताको उसी प्रकार प्राप्त करता है ॥२४॥

जैसे बाहर स्थित पर्वत भी दर्पण में भीतर स्थित के के समान होता है, सर्वत्र व्यवहार करने में (यातायात

स्वप्नसङ्कल्पयोः संविद्वेत्त्येतज्जीवकोऽणुके।
स्वरूपतारकान्तस्थो जीवोऽयं चेतति स्वयम् ॥ २६ ॥
तदेतद् बुद्धिचित्तादि-ज्ञानसत्तादिरूपकम्।
जीवाकाशः स्वतस्तत्र तारकाकाशकोशगम् ॥ २७ ॥
प्रेक्षेऽहमिति भावेन द्रष्टुं प्रसरतीव खे।
ततो रन्ध्रद्वयेनैव भाविबाह्याभिधं पुनः ॥ २८ ॥
येन पश्यति तन्नेत्रयुगं नाम्ना भविष्यति।
येन स्पृशति सा वै त्वग्यच्छृणोति श्रुतिस्तु सा ॥ २९ ॥
येन जिघ्रति तद् घ्राणं स स्वमात्मानि पश्यति।
तत्तस्य स्वदनं पश्चाद्रसना चोल्लसिष्यति ॥ ३० ॥
स्पन्दते यत्स तद्वायुश्चेष्टा कर्मेंद्रियव्रजम्।
रूपालोकमनस्कारजातमित्यपि भावयत् ॥ ३१ ॥

में) समर्थ शरीर कूपजल में प्रतिबिम्बित होकर कूप में ही व्यवहार करनेवाला प्रतीत होता है, जैसे दूर से सुनने के योग्य गुहास्थित दीर्घशब्द गुहा आदि में ही स्थित रहता है, बाहर नहीं निकलता है ॥ २५ ॥

स्वप्न और स्फुलिङ्गसदृश उपाधि में स्वरूप से कल्पित तारका में स्थित चिदात्मा वासनामय देहादि का उसी प्रकार अनुभव करता है जैसे मनोरथ में संवित् देह में ही स्वप्न आदि देखता है ॥ २६ ॥

तारकाकाशरूपी कोश में स्थित यह वासनामय देह का व्यवहारदृष्टि से विचार करनेपर बुद्धि, चित्त आदि का परिणाम है (परमार्थदृष्टि से विचार करनेपर तो वह ज्ञान, सत्ता और आनन्दरूप ही है)॥ २७ ॥

अनन्तर 'मैं देखूं' इस भावना से आकाश में विस्तृत होता है। जिन दो छिद्रों से वह भावी विषयों को देखता है उसका नाम नेत्र पड़ता है, जिससे बिषयों को छूता है वह त्वचा हाती है, जिससे शब्दादि विषयों को सुनता है वह कान होता है और जिससे गन्ध आदि को सूंघता है वह नाक कही जाती है। वह अपने में अपने को देखता है उसकी जो रसनेन्द्रिय है, वह पीछे जीभ नाम से प्रसिद्ध होती है॥ २८-३० ॥

जिससे श्वासप्रश्वास आदि क्रिया होती है वायु उसके प्राण, अपान आदि से प्रसिद्ध होता है, उसी जो चेष्टाएँ हैं वे कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार बाह्य विषयों और मानसिक विषयों की भावना कर रहा मनोमयशरीरधारी अतिसूक्ष्म जीव आकाश में स्थित रहता है। तेजके कण स्थूलता का अध्यास करता हुआ ब्रह्म ही जीवनामधारी होता है। इस प्रकार जीवशब्द का अर्थभूत वह चिदात्मा

आतिवाहिकदेहात्मा तिष्ठत्यम्बरमम्बरे ।
एवमुच्छूनतां तस्मिन् भावयत्तेजसः कणे ॥ ३२ ॥
असत्यां सत्यसंकाशां ब्रह्माऽऽस्ते जीवशब्दवत् ।
इत्थं स जीवशब्दार्थः कलनाकुलतां गतः ॥ ३३ ॥
आतिवाहिकदेहात्मा चित्तदेहाम्बराकृतिः ।
स्वकल्पनान्त आकारमण्डं संस्थं प्रपश्यति ॥ ३४ ॥
कश्चिज्जलगतं वेत्ति कश्चित्सम्राट्-स्वरूपिणम् ।
भाविब्रह्माण्डकलनां पश्यत्यनुभवत्यपि ॥ ३५ ॥
आत्मगर्भगृहं चित्ताद् यथासंकल्पनात्मनः ।
देशकालक्रियाद्रव्यकल्पनावेदनं स तत् ॥ ३६ ॥
भावयञ्छब्दनिर्माता शब्दैर्बध्नाति कल्पितैः ।
आतिवाहिकदेहोऽसावित्यसत्यजगद्भ्रमे ॥ ३७ ॥

ही विविध कल्पनाओं से, असत्य होता हुआ भी सत्य प्रतीत होता हुआ, पूर्ण हो गया है ॥ ३१-३३ ॥

मनोमयशरीर ब्रह्म ही स्थूलदेहाकार (अर्थात् सूक्ष्म मनोमयशरीर स्थूलता से स्थूलदेहाकार होता है बन कर चिनगारी के आकार से लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त) जो स्वयं रचना के अन्त में आवरण आदि से युक्त ब्रह्माण्ड को देखता है ॥ ३४ ॥

कोई जीव जल के मध्य में स्थित ब्रह्माण्ड में 'अहम्' भावना का परिज्ञान कर ब्रह्माण्ड को जानता है और कोई ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती ब्रह्मा के शरीर में 'अहम्' भाव का ज्ञानकर ब्रह्मा को जानता है । अहम् (अथवा सम्राट महाराज को 'अहम्' के रूप में जानता है । सम्राट् सम्यक् राजते अर्थात् राज् दीप्तौ धातु से विशिष्ट देदीप्यमान को सम्राट् मानता है । चिनगारी से लेकर बाह्य स्थूल विषयाकार पर्यन्त स्वकल्पना को अपने सङ्कल्पानुसार कोई ब्रह्माण्डरूप से जानता है और कोई हिरण्यगर्भरूप से) आगे होनेवाले ब्रह्माण्ड की कल्पना को भी देखता है और उसका अनुभव भी करता है ॥ ३५ ॥

मनोमय शरीरधारी जीव मन को ही आत्मा समझता है । अतएव आत्मरूप मन से अपने संकल्प के अनुसार गर्भरूपी घर=गर्भवासनिमित्त होने से गर्भगृह, देश, काल कर्म, द्रव्य आदि कल्पनाओं की भावना करता हुआ उसी रूप में हो जाता है ॥ ३६ ॥

मनोमय देहधारी वह ईश्वर ही स्वकल्पित शब्दों का निर्माणकर तत्-तत् नामों से पदार्थों को और अपने को भी असत्य जगद्भ्रम में बांधता है । जीवभावापन्न ईश्वर ही मन से=आतिवाहक देश, काल आदि विविध पदार्थों की कल्पना कर देश, काल आदि नामों की सृष्टि करता है और उन नामों से उन पदार्थों का सम्बन्ध कर उनके द्वारा अपने को जगद्रूप भ्रम में बाँधता है ॥ ३७ ॥

असत्य एव कचति स्वप्ने स्वोड्डयनं यथा ।
इत्यनुत्पन्न एवाऽसौ स्वयंभूः स्वयमुत्थितः ॥ ३८ ॥
आतिवाहिक देहात्मा प्रभुराद्यः प्रजापतिः ।
एतस्मिन्नपि सम्पन्ने ब्रह्माण्डाकारिणि भ्रमे ॥ ३९ ॥
न किञ्चिदपि सम्पन्नं न च जातं न दृश्यते ।
तद् ब्रह्माकाशमाकाशमेव स्थितमनन्तकम् ॥ ४० ॥
सङ्कल्पनगराकारमेतत् सदपि नैव सत् ।
अनिर्मितमरागं च एतद्वै चित्रमुत्थितम् ॥ ४१ ॥
अकृतं चाऽनुभूतं च न सत्यं सत्यवत्स्थितम् ।
महाकल्पे विमुक्तत्वाद् ब्रह्मादीनामसंशयम् ॥ ४२ ॥
स्मृतिर्न प्राक्तनी काचित्कारणं वा स्वयम्भुवः ।
तेन यादृक् स्वयम्भूः स्यात्तादृक्तज्जमिदं स्मृतम् ॥४३॥

स्वप्न की अवस्था में जैसे आकाश में उड़ना असत्य है, वैसे ही मनोमय देहधारी परमात्मा पूर्वोक्त असत्य जगद्रूप भ्रम में मिथ्या ही विकास को प्राप्त होता है । वैसे ही पूर्व में उत्पन्न न होकर भी हो जाता है ॥ ३८ ॥

यह मनोमयशरीरधारी प्रजापति आदि स्वयम्भू उदित आतिवाहिक अर्थात् मनोमय शरीरधारी आद्यप्रजापति प्रभु है, इस प्रकार ब्रह्माण्डकार भ्रम होता है ॥३९।

इस ब्रह्माण्डाकार भ्रम के होनेपर भी कुछ भी नहीं हुआ है, कुछ भी पैदा नहीं हुआ है और न कुछ भी दिखाई ही देता है । केवल निर्मल अनन्त ब्रह्माकाश ही है ॥ ४० ॥

मनोरथ=सङ्कल्प कल्पित नगर के समान यह जगत्प्रपञ्च सत् के समान प्रतीत होता हुआ भी सत् नहीं है । स्वयं उदित हुआ यह प्रपञ्च उस चित्र के समान है ॥ ४१ ॥

जिसकी न तो किसी के (चितेरेने तूलिका आदि बाहरी सामग्री से) रचना की है, न जिसमें विविध रंग भरे हैं, न मानसिक प्रयत्न से ही जिसका निर्माण हुआ, न किसी को अनुभव ही हुआ है और जो न सत्य है, फिर भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ४२ ॥

महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा=हिरण्यगर्भ आदि मुक्त हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है, ब्रह्मा के मुक्त हो जाने से वर्तमान जन्म के ब्रह्मा की पूर्वजन्म की स्मृति तो जगत् की उत्पत्ति में कारण हो नहीं सकती, जिससे जैसा स्वयम्भू=प्रजापति होगा वैसा ही अपने किये हुए का स्मरण करेगा ॥ ४३ ॥

अनाद्यनुभवस्त्वित्थं योऽत्राऽस्त्यवनिकादिके ।
स्वप्नानुभूतं पृथ्व्यादिप्रबोधे यादृशं भवेत् ॥ ४४ ॥
स्मृतः स व्योममात्रात्मा सर्वदैव स्मृतं जगत् ।
यत्र यत्र यथा तोये द्रवत्वं नाम भिद्यते ॥ ४५ ॥
तत्र तत्र तथा नाऽन्यः सर्गोऽस्ति परमात्मनि ।
सृष्टिरेवमियं प्रौढा सम एव त्वयं स्थितः ॥ ४६ ॥
भात्येव नाम ब्रह्माण्डं व्योमात्मैवाऽऽतिनिर्मलम् ।
दृश्यमेवमिदं शान्तं स्वात्मनिर्मितविभ्रमम् ॥ ४७ ॥
निराधारं निराधेयमद्वैतं चैक्यवर्जितम् ।
जगत्संविदि जातायामपि जातं न किञ्चन ॥ ४८ ॥
परमाकाशमाशून्यमच्छमेव व्यवस्थितम् ।
सर्वसंसारता नाऽस्ति यदेव तदवस्थितम् ॥ ४९ ॥
नाऽऽधेयं यत्र नाऽऽधारो न दृश्यं न च द्रष्टृता ।
ब्रह्माण्डं नाऽस्ति न ब्रह्मा न च वैतण्डिका क्वचित् ॥५०॥
न जगन्नाऽपि जगती शान्तमेवाऽखिलं स्थितम् ।
ब्रह्मैव कचति स्वच्छमित्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥५१॥
चित्त्वाद् द्रवत्वात्सलिलमिवाऽऽवर्त्ततयाऽऽत्मनि ।
आसदेवेदमाभाति सदिवेहाऽनुभूयते ॥ ५२ ॥

इसकी व्याख्या में अच्युत ग्रन्थ माला की व्याख्या में कहा गया है कि—

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्याऽन्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'

ब्रह्मलोक में गये हुए कर्मी महाप्रलय होनेपर ब्रह्मा के साथ एकीभूत होकर परमपद में प्रवेश करते हैं यानी मुक्त हो जाते हैं तथा 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' प्रारब्ध कर्मों की अवस्थिति तक जीवन्मुक्ततारूप से अधिकारियों की अवस्थित रहती है, तदनन्तर विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं इत्यादि स्मृति और सूत्र में प्रदर्शित न्याय से महाकल्प के अन्त में उन पूर्व कल्प के ब्रह्मा आदि की मुक्ति हो जाती है, ऐसा निश्चय किया गया है। इसलिए ब्रह्म के अदृष्ट संस्कार से आगे के जगत् का निर्माण नहीं हो सकता। जो उपासक कल्प के आरम्भ में हिरण्यगर्भ आदि के पद को प्राप्त करता है, उसने पहले कभी यह विचित्र जगत् बनाया नहीं है, इसलिए उसे जगत् के निर्माण का अनुभव न होने से उससे संसार का संभव नहीं है, इसलिए जगत् को संस्कार से उत्पन्न नहीं कह सकते, किन्तु वह स्वप्न और इन्द्रजाल आदि के समान अकस्मात् उत्पन्न हुआ है, अतएव मिथ्या ही है, इसलिए जैसा संकल्पमय ब्रह्मा है, वैसे ही उससे उत्पन्न यह जगत् भी संकल्पमय ही है ॥ ४३ ॥

यदि पृथिवी आदि की सृष्टि के विषय में अनादि अनुभव को कारण मानने पर साक्षीवेद्य होने के कारण स्वप्नानुभूत पदार्थ जागरणावस्था में जैसे (मिथ्या) होते हैं अनादि साक्षी के संस्कार से उत्पन्न जगत् भी मिथ्या ही होगा ॥ ४४ ॥

स्वयम्भू=हिरण्यगर्भ वर्त्तमान काल में जिसका स्मरण हो रहा है, वे अतीत पदार्थ के समान शून्यमात्रस्वरूप है, उससे उत्पन्न जगत् भी उसी तरह शून्यमात्रस्वरूप है। जैसे किसी देश और किसी काल में जल से तरलता भिन्न नहीं होती है, अर्थात् जल और द्रवता (तरलता) अभिन्न पदार्थ है ॥ ४५ ॥

किसी देश और किसी काल में परमात्मा में जगत्-सृष्टि का भेद नहीं है अर्थात् सृष्टि परमात्मा से भिन्न नहीं है। यह सृष्टि भ्रम से ही प्रौढ़ प्रतीत होती है, वास्तव में केवल (जगत्-वैषम्य से रहित) परमात्मा ही स्थित है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ४६ ॥

अत्यन्त निर्मल चिदात्मा ही ब्रह्माण्ड के समान प्रतीत होता है। आत्मा में स्वयं निर्मित यह दृश्य जगत्प्रपञ्च भ्रम शान्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

आधाररहित, आधेयशून्य, अद्वैत तथा द्वैत व्यवहार न होने के कारण ही व्यावर्त्य न होने से एकत्वसंख्या से भी रहित ब्रह्मरूप है ॥ ४८ ॥

चारों ओर से शून्य, निर्मल चिदाकाश स्वरूप से ही यह स्थित है, न उसमें सम्पूर्ण संसार है, वह सभी रूप में स्थित है ॥ ४९ ॥

न उसका कोई आधार है, न कोई आधेय है, न दृश्य है, न द्रष्टृत्व है, न ब्रह्माण्ड है, न ब्रह्मा है और न कहीं मदान्ध मोहान्ध जनरूपी गजघटा है वह ब्रह्म रूप में ही स्थित है ॥ ५० ॥

न जगत् है और न पृथिवी है। यह सम्पूर्ण दृश्य निर्मल ब्रह्म ही है। उक्त चिदात्मा ब्रह्म अपने में अपने से स्वयं विकसित होता है ॥ ५१ ॥

तरल होने के कारण जैसे जल ही अपने में आवर्त-रूप से प्रतीत होता है, आवर्त कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, वैसे ही चिद्रूप होने के कारण आत्मा ही जगत्-सा प्रतीत होता है, जगत् कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, जगत् होता हुआ भी भ्रान्तिवश सत्-सा प्रतीत होता है ॥ ५२ ॥

विनश्यत्यसदेवाऽन्ते स्वप्ने स्वमरणं यथा ।
अथवा स्वस्वरूपत्वात् सदेवेदमनामयम् ।
अखण्डितमनाद्यन्तं ज्ञानमात्राम्बरोदरम् ॥ ५३ ॥

आकाश एव परमे प्रथमः प्रजेशो
नित्यं स्वयं कचति शून्यतया समो यः ।
स ह्यातिवाहिकवपुर्न तु भूतरूपी
पृथ्व्यादि तेन न सदस्ति तथा न जातम् ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे स्वयंभूत्पत्तिवर्णनं नाम त्रयोदशः सर्गः ॥१३॥

जैसे स्वप्न में प्रतीत हुआ असत् अपना मरण जागरण में बाधित हो जाता है, वैसे ही अज्ञानावस्था में प्रतीयमान यह दृश्य प्रपञ्च ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है ।

ब्रह्मस्वरूप होने के कारण यह दृश्य प्रपञ्च निर्मल परिपूर्ण, अद्वितीय, आदि और अन्त से शून्य, चिदाकाश स्वरूप ब्रह्म ही है । उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है ॥ ५३ ॥

परब्रह्म में कल्पित प्रथम प्रजापति शून्य ही है । जो एकरस परमात्मा है, उसी का स्वयं असत् प्रजापतिरूप से आभास होता है, प्रजापति का मनोमय शरीर है, पाञ्चभौतिक शरीर नहीं है । ये पृथिवी आदि मनोमय शरीर वाले प्रजापति के संकल्प मात्र हैं, इसलिए ये असत्य हैं । जैसे कभी उत्पन्न न हुआ शशशृङ्ग सत्य नहीं है, वैसे ही ये भी सत्य नहीं हैं कभी भी उत्पन्न नहीं होता है, अतः क्योंकि, इसकी भी कभी भी उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ५४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में स्वयंभूत्पत्तिवर्णन नामक कुसुमलता का तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

१४

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्थं जगदहन्तादिदृश्यजातं न किञ्चन ।
अजातत्वाच्च नाऽस्त्येव यच्चाऽस्ति परमेव तत् ॥ १ ॥
परमाकाशमेवाऽऽदौ जीवतां चेतति स्वयम् ।
निःस्पन्दाम्भोधिकुहरे सलिलं स्पन्दतामिव ॥ २ ॥
आकाशरूपमजहद्देवं वेत्तीव हृद्यताम् ।
स्वप्नसंकल्पशैलादाविव चिद्वृत्तिरान्तरी ॥ ३ ॥
पृथ्व्यादिरहितो देहो यो विराडात्मको महान् ।
आतिवाहिक एवाऽसौ चिन्मात्राच्छनभोमयः ॥ ४ ॥
अक्षयस्वप्नशैलाभः स्थिरस्वप्नपुरोपमः ।
चित्रकृत्स्थिरचित्तस्थचित्रसैन्यसमाकृतिः ॥ ५ ॥

१४

इस प्रकार अहन्ता आदि दृश्य समूह भूत जगत् का कुछ भी अस्तित्व नहीं है, यतः वह उत्पन्न ही नहीं हुआ है और जिस अज का अस्तित्व है, वह परमात्मा ही है ॥ १ ॥

जैसे निश्चल सागर में जल स्पन्दता की चञ्चलता को प्राप्ति करता है, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में परम प्रकाशरूप परमात्मा ही 'मैं जीव हूँ' इस प्रकार जीवत्व की स्वयं भावना करता है ॥ २ ॥

अपनी आकाशरूपता परम दीप्ति रूपता का परित्याग किये बिना ही सङ्कल्परूप चिद्वृत्ति विराड् में आत्मत्वभ्रान्ति से प्रेम करती है, मानो यही मेरी आत्मा है, इस भ्रम से उसको अपने प्रेम का पात्र वैसे ही समझती है जैसे देह के अन्दर विद्यमान चेतनवृत्ति स्वप्न में देखे गये या मनोरथ द्वारा कल्पित पर्वत, आदि में आत्मीयता को भ्रम से प्रेम करती है ॥ ३ ॥

चिदात्मा की विराट् स्वरूप विशाल देह पृथिवी आदि से शून्य है मनोमय ही है अर्थात् संकल्पजन्य है इसलिए वह चिन्मात्र स्वच्छ आकाश स्वरूप ही है उससे पृथक् नहीं है ॥ ४ ॥

यदि स्वप्न में देखा गया पर्वत और स्वप्न में दृष्ट नगर यदि चिरकाल तक रहे, तो उनसे इस प्रपञ्चरूप विराड् देह की तुलना हो सकती है और वस्तुतः यह प्रपञ्च चित्रकार के स्थायी चित्त और उसमें निर्मित वासनामय स्थिर चित्र में कल्पना लिखित सेना के समान है ॥ ५ ॥

अनिखातमहास्तम्भपुत्रिकौघसमोपमः ।
ब्रह्माकाशेऽनिखात्मा सुस्तम्भे शालभञ्जिका ॥ ६ ॥
आद्यः प्रजापतिः पूर्वं स्वयंभूरिति विश्रुतः ।
प्राक्तनानां स्वकार्याणामभावादप्यकारणः ॥ ७ ॥
महाप्रलयपर्यन्तेष्वाद्यकालपितामहाः ।
मुच्यन्ते सर्व एवाऽतः प्राक्तनं कर्म तेषु किम् ॥ ८ ॥
सोऽकुडच एव कुडचात्मा दृश्यादृश्यः स्वयं स्थितः ।
न च दृश्यं न च द्रष्टा न स्रष्टा सर्वमेव च ॥ ९ ॥
प्रतिशब्दपदार्थनां सर्वेषामेष एव सः ।
तस्माद्उदेति जीवाली दीपाली दीपकादिव ॥ १० ॥
संकल्प एव संकल्पात्किलैति क्ष्मादिवर्जितः ।
आदिमादिव निशून्यः स्वप्नात्स्वप्नान्तरं यथा ॥ ११ ॥
अस्मादेकप्रतिस्पन्दाज्जीवाः संप्रसरन्ति ये ।

यह महान् खम्भों की उन प्रतिमाओं के समान है, जो गढ़ी नहीं गई हैं, और भी अनेक उपमानों से इसकी उपमा दी जा सकती है। यह जगह चिदाकाशरूपी सुन्दर खम्भे में नहीं गढ़ी गई एक प्रतिमा है ॥ ६ ॥

आदि प्रजापति का भी, जो 'स्वयम्भू' इस नाम से पहले कहा गया, उसके पूर्वजन्म के कर्म नहीं हैं अतः उसका कोई कारण नहीं है ॥ ७ ॥

महाप्रलय होने पर पूर्वकाल प्रजापति मुक्त हो जाते हैं, इसलिए उनमें पूर्वजन्म का कर्म कैसे रह सकता हं ? ॥ ८ ॥

आवरणरहित दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब रूप से पड़ी दीवार आदि का स्वरूप दिखाई देने पर भी असत् जैसे दर्शन योग्य नहीं है, वैसे ही प्रजापति दृश्य होता हुआ भी सत् न होने से अदृश्य ही है। निर्विकार चिदात्मा में द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन, स्रष्टा, सृष्टि तथा सर्जन एवं भोक्ता, भोग्य और भोग ये संभव ही नहीं है, इसलिए स्रष्टा प्रजापति असत् है ॥ ९ ॥

सबका निषेध होने पर भी शब्द और अर्थों की शून्यता नहीं है यह प्रत्यगात्मा ही सम्पूर्ण शब्द और अर्थों को आत्मरूप से स्थित है। जैसे एक दीपक से अनेक दीपक जलाये जाते हैं वैसे ही सम्पूर्ण जीव उसी से आविर्भूत होते हैं ॥ १० ॥

संकलपरूप हिरण्यगर्भ से मिथ्या होने के कारण अत्यन्त शून्य संकलपरूप विराट् की उत्पत्ति होता है तथा मिथ्याभूत आदि स्वप्न से अन्य मिथ्याभूत स्वप्न की जैसे उत्पत्ति होती है, वैसे ही पृथिवी आदि से शून्य सङ्कल्पात्मक विराट् से सङ्कल्परूप जीव की उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

सहकारिकारणानामभावाच्च स एव ते ॥ १२ ॥
सहकारिकारणानामभावे कार्यकारणम् ।
एकमेतदतो नाऽन्यः परस्मात् सर्गविभ्रमः ॥ १३ ॥
ब्रह्मैवाऽऽद्यो विराडात्मा विराडात्मैव सर्गता ।
जीवाकाशः स एवेत्थं स्थितः पृथिव्याद्यसद्यतः ॥ १४ ॥

श्रीराम उवाच

किं स्यात्परिमितो जीवो राशिराहो अनन्तकः ।
आहोस्विदस्त्यनन्तात्मा जीवपिण्डोऽचलोपमः ॥ १५ ॥
धाराः पयोमुच इव शीकरा इव वारिधेः ।
कणास्तप्तायस इव कस्मान्निर्यान्ति जीवकाः ॥ १६ ॥
इति मे भगवन्ब्रूहि जीवजालविनिर्णयम् ।
ज्ञातमेतन्मया प्रायस्तदेव प्रकटीकुरु ॥ १७ ॥

सहकारी कारणों के अभाव से निःसहाय एकाकी ही प्रतीत होने वाले उस विराट् से उत्पन्न व्यष्टचात्मक जीव आत्मस्वरूप ही हैं, (एक वृक्ष से विस्तृत शाखायें वृक्ष से भिन्न नहीं होती हैं) ॥ १२ ॥

सहकारी कारणों के न रहने पर कार्य और कारण एक ही रहता है, पृथक् नहीं, अतः सहकारी कारण से शून्य चैतन्य से उत्पन्न सर्गभ्रम भी चैतन्य स्वरूप ही है ॥ १३ ॥

ब्रह्म ही सर्वप्रथम होने वाला हिरण्यगर्भ ही विराडात्मा है, विराट् ही सृष्टिस्वरूप है वही चिदात्मा जीवरूप है, जिससे असत् पृथिवी आदि उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

श्रीराम ने कहा :—

क्या परिमित जीव है या अनन्त जीवों की राशि है या पर्वत के समान अनन्त आत्माओं का समुदायभूत जीवपिण्ड है ॥ १५ ॥

मेघ से वृष्टिधाराओं के समान, समुद्र से जलकणों के समान, तपाये हुए लोहे के गोले से चिनगारियों के समान ये जीव किससे आविभूत होते हैं ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! जीव समूह के विवरण को सामान्य रूप से मैं समझ गया हूँ, उसी को अब आप विशेषरूप से स्फुट कीजिये ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एक एव न जीवोऽस्ति राशीनां संभवः कुतः ।
शशश्रृङ्गं समुड्डीय प्रयातीव हि ते वचः ॥ १८ ॥
न जीवोऽस्ति न जीवानां राशयः सन्ति राघव ! ।
न चैकः पर्वतप्रख्यो जीवपिण्डोऽस्ति कश्चन ॥ १९ ॥
जीवशब्दार्थकलनाः समस्तकलनान्विताः ।
नेह काश्चन सन्तीती निश्चयोऽस्तु तवाऽचलः ॥ २० ॥
शुद्धचिन्मात्रममलं ब्रह्माऽस्तीह हि सर्वगम् ।
तद्यथा सर्वशक्तित्वाद्विन्दते याः स्वयं कलाः ॥ २१ ॥
चिन्मात्रानुक्रमेणैव संफुल्ललतामिव[1] ।
ननु मूर्तामभूर्त्ता वा तामेवाऽऽशु प्रपश्यति ॥ २२ ॥
जीवो बुद्धिः क्रियास्पन्दो मनो द्वित्वैक्यमित्यपि ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

जब एक भी जीव नहीं है, तब जीवों का समूह कैसे सम्भव हो सकता है ? आपका पूर्वोक्त प्रश्न ऐसा ही उपहासास्पद है, जैसे कोई कहे कि शश का सींग उड़कर जाता है इस कथन के समान ही आपका कहना उपहासास्पद है । भाव यह कि यदि शशश्रृङ्ग का संभव हो, तो वह उड़ कर जाता है या स्थिर रहता है, ऐसा सन्देह हो जब जीव हो, तब उसकी राशि या संघात की कल्पना हो, जीव ही जब असत् है, तब उसके विषय में अन्य कल्पनाओं का अवसर ही कहां है ॥ १८ ॥

हे राघव ! न तो एक जीव है, न जीवों का समूह है और न पर्वताकार कोई पिण्ड ही है ॥ १९ ॥

सम्पूर्ण दृश्य आभासों से युक्त है कोई भी जीव-प्रतिभास चिदात्मा में नहीं है, ऐसा आप दृढ़ निश्चय करें ॥ २० ॥

केवल एकमात्र शुद्ध, चिद्घन, सर्वव्यापक निर्मल ब्रह्म ही है, वह सर्वशक्तिसम्पन्न होने से वह कल्पनाओं की भावना के अवसर स्वयं तद्रूप हो जाता है ॥ २१ ॥

ब्रह्म संकल्पात्मक वृत्तियों के क्रम से प्राप्त उसी प्रकार आभासों के प्रवेश से ही मूर्त अथवा अमूर्तरूप से आविर्भूत कल्पना को जैसे लता क्रम से अपनी कोरकितावस्था और प्रफुल्लितावस्था को देखती है, शीघ्र देखता है ॥ २२ ॥

विकास को प्राप्त हो रही अपनी सत्ता को ही जीव बुद्धि, क्रिया, स्पन्द, मन, द्वित्व, एकत्व आदि के रूप में

स्वसत्तां प्रकचन्तीं तां नियोजयति वेदने ॥ २३ ॥
साऽबुद्धैव भवेत्येव भवेद् ब्रह्मैव बोधतः ।
अबोधः प्रेक्षया याति नाशं न तु प्रबुद्धयते ॥ २४ ॥
यथाऽन्धकारो दीपेन प्रेक्ष्यमाणः प्रणश्यति ।
न चाऽस्य ज्ञायते तत्त्वमबोधस्यैवमेव हि ॥ २५ ॥
एवं ब्रह्मैव जीवात्मा निर्विभागो निरन्तरः ।
सर्वशक्तिरनाद्यन्तो महाचित्साररूपवान् ॥ २६ ॥
सर्वानणुतया त्वस्य न क्वचिद् भेदकल्पना ।
विद्यते या हि कलना सा तदेवाऽनुभूतितः ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

एवमेतत्कथं ब्रह्मन्नेकजीवेच्छयाऽखिलाः ।
जगज्जीवा न युज्यन्ते महाजीवैकतावशात् ॥ २८ ॥

ज्ञान का विषय करता है ॥ २३ ॥

उक्त ब्रह्मसत्ता में जब अज्ञानरूप आवरण रहता है, तब वह विविध रूपों को प्राप्त करती है । बोध स्वरूप से वह ब्रह्म ही है । आत्मज्ञान से अज्ञान का विनाश हो जाता है, किन्तु आत्मज्ञान की प्राप्ति सुलभ नहीं है ॥ २४ ॥

दीपक से देखने पर अन्धकार का सर्वथा नाश हो जाता है उसके मूल का पता ही नहीं चलता है, इस प्रकार ज्ञान होने पर न मालूम अज्ञान कहाँ चला जाता है इसका कुछ पता ही नहीं लगता है ॥ २५ ॥

इस प्रकार अखण्ड, अनवच्छिन्न, अनादि, अनन्त जीवात्मा, बाधित न होने वाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अर्थात् चिद्रूप से परमार्थतः रूपवान् है, वह ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है ॥ २६ ॥

देश, काल और परिमाण से—अपरिच्छिन्न होने से वास्तव में उसका कहीं पर भी भेद नहीं है और जो उसमें भेद कल्पना होती है, वह भी वही है, यही सर्वत्र अनुभव होता है, आशय यह है कि वन के सम्पूर्ण वृक्ष को काट देने पर वृक्षों के कारण प्रतीत होने वाला आतप का भेद भी चला जाता है, वैसे ही विषयभेद के हट जाने पर विषयभेद कल्पनाप्रयुक्त भेद भी चला जाता है ॥ २७ ॥

श्रीराम ने कहा :—

हे ब्रह्मन् ! आपका कहना ठीक है, यह मैं स्वीकार करता हूँ । किन्तु एक जीव की जैसी इच्छा होती है, वैसी

१. संप्रफुल्लितामिव अ. ग्र. पाठः   २. प्रकटन्तीति अ० ग्र० पाठः

श्रीवसिष्ठ उवाच

महाजीवात्म तद् ब्रह्म सर्वशक्तिमयात्मकम् ।
स्थितं तथेच्छमेवेह निर्विभागं निरन्तरम् ॥ २९ ॥

यदेवेच्छति तत्तस्य भवत्याशु महात्मनः ।
पूर्वं तेनेष्टमिच्छादि ततो द्वित्वमुदेति यत् ॥ ३० ॥

पश्चाद् द्वित्वविभक्तानां स्वशक्तीनां प्रकल्पितः ।
अनेनेत्थं हि भवतीत्येवं तेन क्रियाक्रमः ॥ ३१ ॥

तं विनाऽनुदये त्वासां प्रधानेच्छैव रोहति ।
शक्त्या ह्यजातया ब्राह्मया नियमोऽयं प्रकल्पितः ॥ ३२ ॥

यस्या जीवाभिधानायाः शक्त्यपेक्षा फलत्यसौ ।
प्रधानशक्तिनियमानुष्ठानेन विना न तु ॥ ३३ ॥

प्रधानशक्तिनियमः सुप्रतिष्ठो न चेद्भवेत् ।
तत्फलं शक्त्यधीनत्वान्नेहितानां क्वचिद्भवेत् ॥ ३४ ॥

एवं ब्रह्म महाजीवो विद्यतेऽन्तादिवर्जितः ।
जीवकोटिमहाकोटी भवत्यथ न किञ्चन ॥ ३५ ॥

चेत्यसंवेदनात् जीवो भवत्यायाति संसृतिम् ।
तदसंवेदनाद् रूपं समायाति समं पुनः ॥ ३६ ॥

एवं कनिष्ठजीवानां ज्येष्ठजीवक्रमाक्रमैः ।
समुदेत्यात्मजीवत्वं ताम्राणामिव हेमता ॥ ३७ ॥

अत्राऽन्तरे महाकाश इत्थमेष गणोऽप्यसन् ।
स्वात्मैव सदिवोदेति चिच्चमत्करणात्मकः ॥ ३८ ॥

स्वयमेव चमत्कारो यः समापद्यते चितः ।
भविष्यन्नामदेहादि तदहं भावनं विदुः ॥ ३९ ॥

ही इच्छा जगत् के अन्य सभी जीवों को क्यों नहीं होती है ? महाजीव के एक होने से उसी के अनुसार सभी जीवों की एक ही इच्छा होनी चाहिए ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—

सर्वशक्तिसम्पन्न महाजीव रूप वह ब्रह्म 'मैं ही सदा सब जीवों में सत्य सङ्कल्प होऊँ' ऐसी इच्छा करता है ॥ २९ ॥

वह जिस किसी वस्तु की इच्छा करता है, वह उस महात्मा को सदा शीघ्र प्राप्त हो जाती है । उसने पहले अपने सत्य सङ्कल्पत्व और दूसरों की इच्छा के निरोध की इच्छा की, तदुपरान्त द्वित्व का उदय फिर उसने द्वित्व विभाग को प्राप्त कर अपने अंशभूत जीवों का क्रियाक्रम उदय होता है, अर्थात् मैं एक से दो या अनेक होऊँ यह इच्छा करता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार से कार्य की उत्पत्ति होती है, यह क्रियाक्रम—बनाया है ॥ ३१ ॥

क्रियाक्रम के बिना जीवों के कार्यों की उत्पत्ति ही नहीं होती है, कहीं पर महर्षि आदि व्यष्टि जीवों की क्रियाक्रम के बिना इच्छा से यदि कार्य की उत्पत्ति होती है तो वहाँ पर प्रधान (समष्टिजीव) की ही इच्छा से कार्य होता है, यह नियम जन्मरहित ब्राह्मीशक्ति ने ही बनाया है ॥ ३२ ॥

प्रधान शक्ति की अपेक्षा करके ही जीव की इच्छा कार्य को उत्पन्न करती है, प्रधान शक्ति के नियम के अनुष्ठान के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ॥ ३३ ॥

प्रधान की शक्ति का नियम फल की सिद्धि के न होने पर कार्यों की कारणभूत चेष्टाओं से कहीं पर भी फल नहीं होता है क्योंकि कार्य को उत्पन्न करने की चेष्टाएँ भी शक्ति के ही अधीन हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार जन्म-मरण रहित अर्थात् ब्रह्म ही महाजीव है, महाजीव से अतिरिक्त जीवों की व्यष्टि और समष्टि रूप दो कोटियाँ आदि अन्तरहित भिन्न कुछ नहीं है ॥ ३५ ॥

ब्रह्म ही विषयों के संकल्प से, संवेदन से जीव होता है और आवागमन रूप संसार को प्राप्त करता है । विषय-संकल्प का त्याग करने से फिर वैषम्यरहित ब्रह्म-स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

व्यष्टि जीवों की ब्रह्मभावरूप महाजीवता या तो समष्टि जीव के क्रम से (पहले उपासना द्वारा हिरण्य-गर्भपद को प्राप्त होते हैं, तदुपरान्त हिरण्यगर्भ के साथ ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं, इस क्रम से) या बिना क्रम से (ज्ञान से साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं) वैसे ही उदित होती है जैसे ताँबा आदि धातुओं की सुवर्णता रस और औषधियों द्वारा पाकक्रम से होती है या पारस के सम्बन्ध से क्रम के बिना ही तुरन्त हो जाती है ॥ ३७ ॥

इस प्रत्यक्-चैतन्यरूप महान् आकाश में यह जीव समूह आदि समुदाय असत् ही है, किन्तु महान् आकाश में चित् का चमत्काररूप चिदात्मा ही जीव आदि के रूप में सत् के समान उदित होता है ॥ ३८ ॥

चित् का चमत्कार जो स्वयं ही भविष्यत् नाम, देह

चितो यस्माच्चिदालेहस्तन्मयत्वादनन्तकः ।
स एष भुवनाभोग इति तस्यां प्रबिम्बति ॥ ४० ॥
परिणामविकारादिशब्दैः सैव चिदव्यया ।
तादृग्रूपादभेद्याऽपि स्वशक्त्यैव विबुध्यते ॥ ४१ ॥
अविच्छिन्नविलासात्म स्वतो यत्स्वदनं चितः ।
चेत्यस्य च प्रकाशस्य जगदित्येव तत्स्थितम् ॥ ४२ ॥
आकाशादपि सूक्ष्मैषा या शक्तिर्विततता चितः ।
सा स्वभावत एवैतामहन्तां परिपश्यति ॥ ४३ ॥
आत्मन्यात्माऽऽत्मनैवाऽस्या यत्प्रस्फुरति वारिवत् ।
जगदन्तमहन्ताणुं तदैषा संप्रपश्यति ॥ ४४ ॥
चमत्कारकरी चारु यच्चमत्कुरुते चितिः ।

आदि भाव को प्राप्त करता है, उस अहङ्कार को भावना कहा जाता है ॥ ३९ ॥

जगत् के संस्कार से संस्कृत (जगत् की वासना से वासित) माया में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण जगत् की वासना से वासित माया के साथ एकरूप होकर चित् का जो अपने स्वरूप का आस्वाद है, वही यह अनन्त भुवन विस्तार है, वह चिन्मय होने से आत्मचित् में प्रतीत होता है और माया में प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण मायामय अर्थात् जगत् की वासना से वासित हो आस्वाद करता है ॥ ४० ॥

जिसका आस्वाद लिया, वह अविनाशिनी चित् वास्तविक चित् से भिन्न नहीं है, फिर भी अपनी शक्ति से ही परिणाम, विकार आदि शब्दों से कही जाती है ॥ ४१ ॥

चित् द्वारा अपने स्वरूपभूत प्रकाश का और अपने द्वारा प्रकाशित होने वाले विषयों की एकरूपता को प्राप्त कर अविच्छिन्न स्वाभाविक स्वदन 'जगत्' इस भ्रम से अवस्थित है ॥ ४२ ॥

आकाश से भी सूक्ष्म जो चित् की शक्ति चतुर्दिक् विस्तृत फैली है, वह स्वभाव से पहले इस अहन्ता का दर्शन करती है ॥ ४३ ॥

वैसे ही यह चित् भी आत्मा में आत्मा से स्वयं ही अतिसूक्ष्म अहन्तारूप में वैसे ही जैसे जल में जल से जल ही बुद्बुद (बुल्ले) या लहर रूप में प्रतीत होता है, स्फुरित होती है, बाहर स्थूलता का अधिकाधिक उत्कर्ष करने पर अन्त में जो ब्रह्माण्डाकार बन जाती है, उस अणुरूप अहन्ता को देखी है ॥ ४४ ॥

स्वयं स्वात्मनि तस्यैव जगन्नाम कृतं ततः ॥ ४५ ॥
चितश्चेत्यमहङ्कारः सैव राघव ! कल्पना ।
तन्मात्रादि चिदेवाऽतो द्वित्वैकत्वे क्व संस्थिते ॥ ४६ ॥
जीवहेत्वादिसन्त्यागे त्वं चाऽहं चेति सन्त्यज ।
शेषः सदसतोर्मध्ये भवत्यर्थात्मको भवेत् ॥ ४७ ॥
चिता यथाऽऽदौ कलिता स्वसत्ता सा तथोदिता ।
अभिन्ना दृश्यते व्योम्नः सत्तासत्ते न विद्महे ॥ ४८ ॥
विश्वं खं जगदीहाख्यं खमस्ति विबुधालयः ।
साकारश्चिच्चमत्काररूपत्वान्नाऽन्यदस्ति हि ॥ ४९ ॥
यो यद्विलासस्तस्मात्स न कदाचन भिद्यते ।
अपि सावयवं तस्मात्कैवाऽनवयवे कथा ॥ ५० ॥

चमत्कार करने वाली चित् अपने स्वरूप में स्वयं जो सुन्दर चमत्कार करती है उसी का नाम जगत् दिया गया है ॥ ४५ ॥

हे राघव ! चित् से अहङ्कार की कल्पना होती है और अहङ्कार से अर्थात् चेत्य की तन्मात्रादि जगत् की कल्पना होती, अतः, कल्पना चित् से अतिरिक्त नहीं है, तन्मात्रादि जगत् भी चित् ही है। उसमें द्वित्व और एकत्व कहां हैं ? ॥ ४६ ॥

जीवभाव के प्रति कारणभूत वासना, कर्म आदि का त्याग होने पर 'त्वम्', 'अहम्' इत्यादि चेतन परिच्छेद का परित्याग करे। सत् और असत् कल्पनाओं के मध्य में जो शेष रह जायगा, वही सत् होगा ॥ ४७ ॥

मेघों के हट जाने पर पूर्वसिद्ध आकाश की निर्मल सत्ता जैसे उदित होती है वैसे ही चित् ने पहले अपनी जैसी सत्ता का ग्रहण किया था, उसी सर्वाधिष्ठान सत्ता का ज्ञान होने पर वैसे ही उदित होती है, सत् और असत् इस प्रकार के सत्ताभेद को हम नहीं जानते है ॥ ४८ ॥

मन का सङ्कल्परूप सूक्ष्म जगत् शून्य है और देवताओं का अभाव इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवताओंका निवासभूत साकार और स्थूल जो विश्व है, वह भी शून्य ही है, कारण दोनों चित्के चमत्काररूप हैं, उससे भिन्न नहीं हैं ॥ ४९ ॥

जो वस्तु जिस वस्तुकी विलास स्वरूप होती है, वह उससे कभी-भी भिन्न नहीं होती है, सावयव जल आदिके कार्य तरङ्ग आदि में भेद नहीं देखा गया है, तब निरवयव चित्के कार्यमें तो सोचना ही व्यर्थ है ॥ ५० ॥

चितेर्नित्यमचेत्याया निर्नाम्न्या वितताकृतेः ।
यद्रूपं जगतो रूपं तत्तत्स्फुरणरूपिणः ॥ ५१ ॥
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि गिरयो दिशः ।
इति या यास्तु रचनाश्रितस्तत्त्वाज्जगत्स्थितेः ॥ ५२ ॥
चितेश्चित्त्वं जगद्विद्धि नाऽजगच्चित्त्वमस्ति हि ।
अजगत्त्वादचिच्चित्स्याद्भानाद्भेदो जगत्कुतः ॥ ५३ ॥
चितेर्मरीचिबीजस्य निजा याऽन्तश्चमत्कृतिः ।
सा चैषा जीवतन्मात्रमात्रं जगदिति स्थिता ॥ ५४ ॥
चित्तात् स्वशक्तिकचनं यदहंभावनं चितः ।
जीवः स्पन्दनकर्मात्मा भविष्यदभिधो ह्यसौ ॥ ५५ ॥
यच्चिच्चित्त्वेन कचनं स्वसम्पाद्याभिधात्मकम् ।

सदा रूपरहित, नामरहित और सर्वव्यापक चित् का जो रूप है, वही रूप चिद्विलासरूपी जगत् का है ॥ ५१ ॥

मन, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्च महाभूत, पर्वत, दिशाएँ आदि विविध निर्माण हैं, वे चित् ही हैं, उससे भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जगत् की स्थिति चिद्रूप ही है ॥ ५२ ॥

चिति का धर्म चित्त्व ही जगत् समझो, चित्त्व अर्थात् सत्ता जगत् से अतिरिक्त नहीं है अर्थात् अजगत् चित्त्व नहीं है । चित्त्व को जगत्‌तत्त्व से भिन्न मानने पर अचित् जगत् चित् से भिन्न हो जायगा । भान हो रहे जगत् का चित् से भेद कैसे हो सकता है, क्योंकि उसे चित् की सत्ता से ही सब असमान हो रहे हैं अर्थात् अस्तित्व धारण कर रहे हैं भासमानत्व रूप से जगत् चित् धर्म से अभिन्न है । सत्स्वरूप चित् ही है ॥ ५३ ॥

मरीचि के मूलभूत की अर्थात् अज्ञान और उसके कार्य जगत् को अपना अन्तश्चमत्कार=जगत् के रूप में भान वह प्रकाशनशक्ति जीव और केवल तन्मात्र स्वरूप में जगत् से समन्वित है, आशय यह है कि जगत् महामरीचिका के समान अज्ञान का कार्य है, किन्तु इसका प्रकाशमानत्व चित् का ही स्वरूप है । "तस्यैव भासा सर्वमिदं विभाति" अतः व्यावहाकि सत्ता के रूप में प्रकाशमान जीव की उपाधिभूत तन्मात्रा बनकर जगत् के वेष से स्थित है ॥ ५४ ॥

चित्त का संकल्पात्मक अपनी शक्ति का विकासरूप जो अहंकार है, वह स्पन्दात्मक क्रिया शक्ति प्राण से युक्त होकर भविष्य में 'जीव' नाम को धारण करती है ॥ ५५ ॥

यद्यपि चित् का चित्त्वरूप से जीव-जगत् रूप से विकास अपने विकारस्वरूप अहन्ता आदि से अवच्छेद्य

स्वविकारैर्व्यवच्छेद्यं भिद्यते नो न विद्यते ॥ ५६ ॥
चित्स्पन्दरूपिणोरस्ति न भेदः कर्तृकर्मणोः ।
स्पन्दमात्रं भवेत्कर्म स एव पुरुषः स्मृतः ॥ ५७ ॥
जीवश्चित्तपरिस्पन्दः पुंसां चित्तं स एव च ।
मनस्त्विन्द्रियरूपं सत्सत्तां नानेव गच्छति ॥ ५८ ॥
शान्ताशेषविशेषं हि चित्प्रकाशच्छटा जगत् ।
कार्यकारणकादित्वं तस्मादन्यन्न विद्यते ॥ ५९ ॥
अच्छेद्योऽहमदाह्योऽहमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽहमिति स्थितम् ॥ ६० ॥
विवदन्ते तथा ह्यत्र विवदन्तो यथा भ्रमैः ।
भ्रमयन्तो वयं त्वेते जाता विगतविभ्रमाः ॥ ६१ ॥

भेदरूप को प्राप्त कर अपने संकल्प से सम्पादित जीव आदिनाम का हो गया है, तथापि उपाधि आदि के कारण अवच्छिन्न स्वरूप का, उपाधि के मिथ्या होने से वास्तविक अस्तित्व नहीं है । उसके अस्तित्व के अभाव में परस्पर भेद का प्रसङ्ग ही कहां से होगा ? ॥५६ ॥

चित्स्वरूप (चित्प्रधान) कर्ता अर्थात् अहङ्कार और स्पन्दरूपी (क्रिया प्रधान) कर्म अर्थात् प्राण में कोई भेद नहीं है । चित् का स्पन्दमात्र ही तो क्रियाशक्तिरूप प्राण है । कर्ता कभी भी अपनी क्रिया से भिन्न नहीं होता है चित् और स्पन्द से संवलित ही जीव है, अतः जीवप्रयुक्त भेद नहीं है, यह भाव है ॥ ५७ ॥

जीव चित् का चित्तपरिस्पन्दरूप अर्थात् संङ्कल्परूप जीव है और पुरुषों का चित्त भी सङ्कल्पात्मक है और इन्द्रियरूप होकर अनेक प्रकार का होता है ॥ ५८ ॥

अतिशय तुच्छ कार्यकारण भाव स्वभाव जगत् चित् से अतिरिक्त सत्तावान् नहीं है । चित् का ही विलास अर्थात् प्रकाशात्मक स्फुरण है, अतः चित् से भिन्न जगत् नहीं है । आशय यह है कि जीव और जगत् भिन्न नहीं हैं, क्रिया और चैतन्य समन्वित ब्रह्म की जीव है अर्थात् जीव ब्रह्म से अभिन्न है । सङ्कल्पात्मक सभी सृष्टियाँ और अनेकरूपता है, अतः भिन्न स्फुरण और भिन्न अस्तित्व न होने से शुद्ध बुद्ध चैतन्यात्मक है ॥ ५९ ॥

सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मात्मक मैं न काटा जा सकता हूँ, न जलाया जा सकता हूँ, न आर्द्र अर्थात् गिला किया जा सकता हूँ और न सुखाया जा सकता हूँ; मैं नित्य अविनाशी, सर्वव्यापक, स्थिरस्वभाववाला अतएव अचल रूप में अवस्थित हूँ ॥ ६० ॥

अद्वितीय अखण्ड चिद्घन परमात्मा के विषय में

दृश्ये मूर्तेऽज्ञसंरूढे विकारादि पृथग् भवेत् ।
नाऽमूर्ते तज्ज्ञकचिते चित्खे सदसदात्मनि ॥ ६२ ॥
चित्तरौ चेत्यरसतः शक्तिः कालादिनामिकाम् ।
तनोत्याकाशविशदां चिन्मधुश्रीः स्वमञ्जरीम् ॥ ६३ ॥
स्वयं विचित्रं स्फुरति चिदण्डकमनाहतम् ।
स्वयं विलक्षणस्पन्दं चिद्वायुरण्डजात्मकः ॥ ६४ ॥
स्वयं विचित्रं कचनं चिद्वारि न निखातगम् ।
स्वयं विचित्रधातुत्वं श्रेष्ठाङ्गमपि निर्मितम् ॥ ६५ ॥

भ्रान्त द्वैतवादी वैसे ही वाद-विवाद करते हैं जैसे अपने अज्ञान से=भ्रान्ति से औरों को भी भ्रम में आबद्ध कर लोग विवाद करते हैं परन्तु हम लोग तो भ्रमरहित अतः विवाद का अवसर ही कहाँ है किन्तु हम लोग दृढ़ निश्चय से स्थिर हैं, अतः भ्रम से परे हैं, किन्तु पूर्व अर्थ ही समीचीन है।

प्रकृत में "भ्रमैः" का भ्रमण अर्थ मानकर यह अर्थ भी हो सकता है, भ्रमण से अर्थात् चक्राकार घूमने से और लोगों को समझ रहे भ्रमण युक्त भ्रमण करनेवाले लोग तुम भ्रमण कर रहे हो, इस प्रकार विवाद करते हैं, स्वयं चक्कर खा रहे लोगों को अन्य लोग या वस्तुएँ घूमती हुई सी प्रतीत होती हैं ॥ ६१ ॥

यह दृश्य जगत् और इसके मूर्तस्वरूप=अनेक आकृतियाँ अज्ञानी व्यक्ति को ही प्रतीत होती है। तत्त्वज्ञ व्यक्ति की दृष्टि में अमूर्त चिदाकाश स्वरूप अर्थात् विकारशून्य इस विकसित सङ्कल्पात्मक दृश्य जगत् में द्वैत अर्थात् विकारात्मक नानास्वरूप भी प्रतीत नहीं होती है। अर्थात् सत्य दृश्य में मूर्त विकारात्मक अनेकता की प्रतीति अज्ञों को ही होती है, तत्त्वज्ञ को नहीं ॥ ६२ ॥

जल-सिञ्चन से चित्रूपी वृक्ष में काल आदि नामक अपनी मञ्जरी अनुरागरूप आकाश में प्रथम संकल्पात्मक आकाशनामक भूत में विकसित होती है, अर्थात् फैलाती है। आशय यह है कि वृक्षों में, ऊँची-ऊँची टहनियों में, सुन्दर मञ्जरियों को जैसे वसन्तशोभा जल के सेचन से उत्पन्न करती है, वैसे ही चित् की शक्ति माया दृश्य प्रपञ्च में अनुरागवश चित् में प्रथम उत्पन्न आकाश में विकसित काल को फैलाती है ॥ ६३ ॥

अपने में किसी प्रकार के आघात के विना ही अर्थात् विकारशून्य चित् अण्डाकार स्वयं विचित्र स्वरूप में अर्थात् अनेक रूप में आविर्भूत होता है, उस खण्ड से प्रथम आकाश स्वरूप पुनः विलक्षण स्पन्दात्मक वायु

स्वविचित्ररसोल्लासा चिज्ज्योत्स्ना सततोदिता ।
स्वयं चिदेव प्रकटश्चिदालोको महात्मकः ॥ ६६ ॥
स्वयमस्तंगते बाह्ये स्वज्ञानादुदिता चितिः ।
स्वयं जडेषु जाडयेन पदं सौषुप्तमागता ॥ ६७ ॥
स्वयं स्पन्दितया स्पन्दि चित्त्वाच्चिति महानभः ।
चित्प्रकाशप्रकाशो हि जगदस्ति च नाऽस्ति च ॥ ६८ ॥
चिदाकाशैकशून्यत्वं जगदस्ति च नाऽस्ति च ।
चिदालोकमहारूपं जगदस्ति च नाऽस्ति च ॥ ६९ ॥

स्वरूप में स्वयं चित् ही आकाश से आविर्भूत होता है ॥ ६४ ॥

गड्ढे में अर्थात् तालाब, सागर आदि में परिपूर्ण होने वाले जल से भिन्न चित् स्वयं ही तेज के बाद जल के रूप में आविर्भूत होता है, (क्योंकि पृथिवी तत्त्व की सृष्टि न होने से तालाब आदि का अभाव है) वह चित् विचित्र स्वर्ण-रजत धातुओं से परिपूर्ण पृथिवीतत्त्व तथा श्रेष्ठ अङ्गों अर्थात् देवता, मनुष्य आदि के अङ्गों के रूप में स्वयं सङ्कल्प से आविर्भूत हुआ। (तेज से जल रूप में आविर्भूत चित् स्वयं होता है, तेज सृष्टि आगे कही गई है ॥ ६५ ॥

सदा उदित चित् ही सदा उदित स्वयं अपने विचित्र रसवाले उल्लासों से पूर्ण चांदनी (चन्द्रमा) और महान् चिदालोकरूपी प्रकट तेज के आविर्भूत होता है आशय यह है कि पृथिवी में होनेवाले औषधरस भी चन्द्रमा के ही अधीन हैं, ॥ ६६ ॥

दृश्य प्रपञ्च के होने पर चित् स्वयं अपने (चैतन्यरूप ब्रह्म के) ज्ञान से उदित हुए अपने पूर्णता को प्राप्त कर स्थित होता है और स्वयं ही जड़तावश स्थावर आदि जड़ पदार्थों में अहम्भाव कर सौषुप्त पद को भी प्राप्त करता है, अर्थात् चैतन्यशून्य जड़ावस्था को प्राप्त करता है। जड़ की जड़ता को सुषुप्तावस्था कहा गया है ॥ ६७ ॥

चिन्मय ब्रह्म ही अविचारदशा में स्पन्दस्वभाव (श्वासोछ्वास क्रिया करने वाले) प्राण आदि में आत्मत्व की कल्पना करने पर यानी अज्ञानवश स्पन्दभाव प्राण ही मैं हूँ, ऐसी कल्पना करने पर संसारी होता है। विचार करने से जब मैं चित् ही हूँ यों चित्ता का उदय हो जाता है, तब अपने स्वभावभूत चित् में ही स्थित होता है ॥ ६८ ॥

जगत् चिद्रूपी तेज का आलोकस्वरूप है, ब्रह्मसत्ता

चिन्मारुतपरिस्पन्दो जगदस्ति च नाऽस्ति च ।
चित्घनध्वान्तकृष्णत्वं जगदस्ति च नाऽस्ति च ॥७०॥
चिदर्कालोकदिवसो जगदस्ति च नाऽस्ति च ।
चित्कज्जलरजस्तैलपरमाणुर्जगत्क्रमः ॥ ७१ ॥
चिदग्न्यौष्ण्यं जगल्लेखा जगच्चिच्छङ्खशुक्लता ।
जगच्चिच्छैलजठरं चिज्जलद्रवता जगत् ॥ ७२ ॥
जगच्चिदिक्षुमाधुर्यं चित्-क्षीरस्निग्धता जगत् ।
जगच्चिद्धिमशीतत्वं चिज्ज्वालाज्वलनं जगत् ॥ ७३ ॥
जगच्चित्सर्षपस्नेहो वीचिश्चित्सरितो जगत् ।
जगच्चित्क्षौद्रमाधुर्यं जगच्चित्कनकाङ्गदम् ॥ ७४ ॥

से ही उसका अस्तित्व है और जगत्सत्ता से अभाव है। चिद्रूपी आकाश की शून्यतारूप जगत् है भी और नहीं भी है, अर्थात् ब्रह्मसत्ता से उसकी सत्ता है और जगत् सत्ता से अभाव है। जगत् चिद्रूपी आलोक का महान्-रूपभूत है, ब्रह्मसत्ता से उसकी सत्ता है और जगत्सत्ता से अभाव ही है ॥ ६८-६९ ॥

जगत् चित्-रूपी वायु का परिस्पन्दनस्वरूप है, जगत् अस्तित्व है भी और नहीं भी है ब्रह्मसत्ता से अर्थात् उसका अस्तित्त्व है और जगत्सत्ता से अभाव है। जगत् जगत् चिद्रूपी अन्धकार की कालिमा है, उसका अस्तित्व है भी और नहीं भी है ॥ ७० ॥

जगत् चिद्रूपी सूर्यालोक (सूर्यप्रकाश) से जनित दिनस्वरूप है, अतः जगत् है भी और नहीं भी है। यह जगद्भ्रम चिद्रूपी काजल का परमाणुरूप तेलबिन्दु है अर्थात् तेल के जलनेपर जैसे काजल ही शेष रहता है वैसे ही जगत् का बाध होनेपर चित् ही अवशिष्ट रहता है ॥ ७१ ॥

यह त्रिजगत् श्रेणी चिद्रूप अग्नि की उष्णता है यानी जैसे अग्नि का उष्णता से भेद नहीं है, वैसे ही चित् का जगत् से भेद नहीं है, जगत् चित्-रूपी शङ्ख की शुक्लता है और जगत् चित्रूपी पर्वत का मध्यभाग है यानी जैसे पर्वत और पर्वत के उदर का कोई भेद नहीं है, वैसे ही चिद् से जगत् भिन्न नहीं है। जगत् चिद्रूपी जल का द्रवत्वरूप है ॥ ७२ ॥

जगत् चिद्रूपी ईख की मिठास है, जगत् चिद्रूपी दूध का मक्खन है, जगत् चिद्रूपी हिम की शैत्य है, जगत् चिद्रूपी ज्वालाओं ताप है ॥ ७३ ॥

जगत् चित्रूपी सरसों का तेल है, जगत् चित्रूपी नदी की लहर है, जगत् चिद्रूपी शहद का माधुर्य है, जगत् चिद्रूपी सुवर्ण का कङ्कण है ॥ ७४ ॥

जगच्चित्पुष्पसौगन्ध्यं चिल्लताग्रफलं जगत् ।
चित्सत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चिद्वपुः ॥ ७५ ॥
अत्र भेदविकारादि न खे मलमिव स्थितम् ।
इतीदं सन्मयत्वेन सदसद्भुवनत्रयम् ॥ ७६ ॥
अविकल्पतदात्मत्वात् सत्तासत्तैकतैव च ।
अवयवावयविताशब्दार्थौ शशशृङ्गवत् ॥ ७७ ॥
अनुभूत्यपलापाय कल्पितौ यैर्धिगस्तु ताम् ।
न विद्यते जगद्यत्र साद्रिचब्ध्युर्वीनदीश्वरम् ॥ ७८ ॥
चिदेकत्वात्प्रसङ्गः स्यात् कस्तत्रेतरविभ्रमः ।
शिलाहृदयपीनाऽपि स्वाकाशे विशदैव चित् ॥ ७९ ॥

जगत् चिद्रूपी फूलों की सुगन्धि है और चिद्रूपी लता का प्रथम फल है। सर्वत्र चित् से अभिन्न सत्तावान् होने से ही जगत् चिद्धर्म माना गया है, चित्सत्ता ही, जगत्सत्ता ही चिद् का स्वरूप है ॥ ७५ ॥

इस चिद्घन परमात्मा में यद्यपि भ्रान्ति से भेद और विकार आदि की प्रतीत वैसे ही होती है, जैसे आकाश में भ्रमवश नीलिमा की प्रतीति होती है, वस्तुतः वह नहीं है पर वस्तुतः इसमें भेद आदि है नहीं। ये तीनों भुवन यद्यपि असत् है, तथापि सन्मय चिन्मय होने के कारण ये सत् हैं ॥ ७६ ॥

अधिष्ठानरूप होने के कारण कल्पित पदार्थ की सत्ता और असत्ता एक अर्थात् अभिन्न ही है। आशय यह है कि कल्पित की सत्ता और असत्ता कल्पित के अधिष्ठान से अतिरिक्त नहीं होती है, चिन्मय में अवयव और अवयवी शब्दों का अर्थ शशशृङ्ग के समान असत् क्योंकि चिन्मय अखण्ड ब्रह्म में अवयवावयविभाव शब्दों के अर्थों की कल्पना खरहे की सींग के समान है ॥ ७७ ॥

जिन मनीषियों ने अनुभव के अपलाप के लिए अवयव और अवयवी इन शब्दों के अर्थों की कल्पना की है, उन तार्किकों के लिए धिक्कार है। चिन्मय होने के कारण जिसमें पर्वत, सागर, पृथिवी, नदी-नद और उनके अधिष्ठाता देवताओं के साथ जगत् चिन्मय होने के कारण नहीं रहता है जिनमें उसमें अवयव आदि का विभ्रम कैसे हो सकता है ॥ ७८ ॥

पत्थर के हृदय अर्थात् मध्य के समान अत्यन्त सघन होती हुई भी चिति स्फटिक आदि के समान स्वच्छ है।

धत्तेऽन्तरखिलं शान्तं सन्निवेशं यथा शिला ।
पदार्थनिकराकाशे त्वयमाकाशजो मलः ॥ ८० ॥
सत्तासत्तात्मतात्वत्तामत्ताश्लेषा न सन्ति ते ।
पल्लवान्तरलेखौघसन्निवेशवदाततम् ॥ ८१ ॥
अन्यानन्यात्मकमिदं धत्तेऽन्तश्चित्स्वभावतः ।
समस्तकारणौघानां कारणादिः पितामहः ॥ ८२ ॥
स्वभावतोऽकारणात्म चित्तं चिद्‌ध्यनुभूतितः ।
न चाऽसत्त्वमचेत्यायाश्चितो वाचाऽपि सिद्धयति ॥८३॥
यदस्ति तदुदेतीति दृष्टं बीजादिवाऽङ्कुरः ॥ ८४ ॥

गगन इव सुशून्यभेदमस्ति त्रिभुवन-
मङ्ग महाचितोऽन्तरस्याः ।
परमपदमयं समस्तदृश्यं
त्विदमिति निश्चयवान् भवाऽनुभूतेः ॥ ८५ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥८६॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे ब्रह्मप्रतिपादनं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

वैसे ही शान्त (मिथ्या होने के कारण असद्रूप) सम्पूर्ण प्रपञ्च को चिदाकाशरूप अपने स्वरूप में वैसे ही धारण करता है जैसे स्फटिकशिला अपने अन्दर प्रतिबिम्ब नगर, पर्वत आदि के आकार को धारण करता है ॥७९॥

पदार्थ समूहों के अधिष्ठानभूत चिदाकाश में यह भूताकाशजनित वायु आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत होता है ॥ ८० ॥

जब असङ्गस्वभाववाले भूताकाश में ही उसके कार्य वायु आदि का सम्बन्ध नहीं है, तब चिदाकाश में इस प्रपञ्च की सत्ता, असत्ता, त्वत्ता, मत्ता आदि के सम्बन्ध कैसे हो सकते हैं। चित् स्वभाव से ही अपने से भिन्न और अभिन्नरूप इस जगत् को अपने अन्दर वैसे ही धारण करता है जैसे पल्लव के मध्य में रेशों की पंक्तियों की आकृति फैली रहती है। आशय यह है कि जैसे पत्ता रेशों की रेखाओं के समूह के आकार को, जो कि पत्ते से अलग उत्पन्न न होने के कारण असत् ही है और भिन्न तथा अभिन्नरूप से पत्ते में स्थित है, धारण करता है संसार में जितने कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उन सम्पूर्ण कार्यों के अखिल कारणों का पितामह ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) आदि कारण है ॥ ८१-८२ ॥

चित्त से उत्पन्न सङ्कल्प होनेवाले विकल्प असत् होते हैं, अतएव चित्त स्वभाव से ही कारणभावरूप है अर्थात् कारण नहीं है कारणभावरूप चित्त ही ब्रह्मा है। जैसे चित्त के कार्यभूत मनोरथ से होनेवाले विकल्प असत् हैं, वैसे ही उक्त ब्रह्मा से उत्पन्न जगत् मिथ्या है। अर्थात् जगत् के असत् होनेपर भी चित् की असद्रूपता नहीं होती है, क्योंकि चित् स्वरूपभूत चेत्य से अतिरिक्त नहीं है, चित् की असत्ता वीणामात्र से भी सिद्ध नहीं हो सकती है, चित् अनुभव से सिद्ध है। भाव यह है कि अनुभव से विरुद्ध अर्थ में वाणी प्रमाण नहीं होती ॥ ८३ ॥

यदि जगत् स्वतः (अपनी सत्ता से न कि ब्रह्मसत्ता से सत् होता तो ज्ञान आदि सहस्रों उपायों से भी उसका विनाश कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि सत् का आत्यन्तिक (समूल) विनाश तो कभी हो नहीं सकता। ऐसी दशा में उसके पुनः आविर्भाव का वारण न हो सकने से कभी किसी का मोक्ष ही नहीं हो सकेगा, इस आशय से कहते हैं—'यद०' इत्यादि से।

बीज से अङ्कुर के समान जो पदार्थ है उसका अवश्य ही उदय होता है, यह बात देखी गई है; इससे यह सिद्ध होता है कि जगत् की स्वतः सत्ता नहीं है ॥ ८४ ॥

गगन में सर्वथा भेदशून्य गगन की सत्ता के समान इस महाचिति में सर्वथा भेदशून्य यह त्रिभुवन है। इसलिए अनुभव के आधार पर यह सम्पूर्ण दृश्य परम पदरूप चिन्मय है ऐसा दृढ़ निश्चय आप करें ॥ ८५ ॥

मुनि के इस प्रकार कहने पर दिन बीत गया। सूय अस्ताचल को चले गये। सभा में स्थित मुनिगण सायंकाल के आवश्यक सन्ध्योपासना, अग्निहोत्र आदि कर्म करने के लिए स्नानार्थ उठ गए, रात्रि के बीतने पर प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही पुनः मुनिगण सभा में आकर बैठ गये ॥ ८६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में ब्रह्मप्रतिपादन नामक कुसुमलता का चौदहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १४ ॥

१५

श्रीवसिष्ठ उवाच

जगदाकाशमेवेदं यथा हि व्योम्नि मौक्तिकम्।
विमले भाति स्वात्मैव जगच्चिद्गगनं यथा ॥ १ ॥
अनुत्कीर्णैव भातीव त्रिजगच्छालभञ्जिका।
चित्स्तम्भे नैव सोत्कीर्णा न चोत्कर्त्ताऽत्र विद्यते ॥ २ ॥
समुद्रेऽन्तर्जलस्पन्दाः स्वभावादच्युता अपि।
वीचिवेगा भवन्तीव परे दृश्यविदस्तथा ॥ ३ ॥
जालान्तर्गतसूर्याभाजालाकररजांस्यपि ।
जगद्भानं प्रति स्थूलान्यणुं प्रति यथाऽचलाः ॥ ४ ॥
जगद्भानं न भातीदं ब्रह्मणो व्यतिरेकतः।
जालसूर्यांशुजालं तु व्यतिरेकानुभूतिदम् ॥ ५ ॥
अनुभूतान्यपीमानि जगन्ति व्योमरूपिणि।
पृथ्व्यादीनि न सन्त्येव स्वप्नसङ्कल्पयोरिव ॥ ६ ॥

१५

[बार-बार दृष्टान्त और विविध युक्तियों द्वारा चित् और चेत्य के अभेद का ज्ञान कराने के लिए मण्डपाख्यान का आरम्भ]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—

जैसे निर्मल आकाश में भ्रमवश मोतियों का समूह प्रतीत होता है वैसे ही भ्रमवश इसकी भी पृथक् प्रतीति होती है, यह जगत् चिदाकाशरूप है (चिदाकाश की जगद्रूपता को दृष्टान्त के द्वारा समर्थित करते हैं) ॥१॥

तीनों जगत्रूपी प्रतिमा बिना गढ़े ही ब्रह्म में प्रतीत-सी होती है, जैसे पत्थर के खम्भे में प्रतिमा गढ़ी जाती है वैसे चित्रूपी खम्भे में न तो त्रिजगत्रूपी प्रतिमा गढ़ी गई और न उसका कोई गढ़नेवाला शिल्पी ही है। आशय यह है कि चित् से अतिरिक्त कोई चेतन नहीं है, जो चित्रूपी खम्भे में जगत् को गढ़े और साथ ही निर्विकार और असङ्ग चित्रूपी खम्भे का पत्थर के खम्भे के समान तरासना भी सम्भव नहीं है ॥ २ ॥

समुद्र में जल का स्पन्द (स्फुरण) जलस्वभाव से च्युत हुए बिना ही जैसे लहर के समान प्रतीत होता है, वैसे ही चिन्मय ब्रह्म में अपने स्वभाव से अच्युत रहते हुए ही भ्रमवश जगत् की प्रतीति होती है ॥ ३ ॥

अज्ञान दृष्टि स्थूलरूप में प्रतीत होने पर भी ज्ञान से यह परमाणु से भी सूक्ष्म हैं। झरोखे के मार्ग से सूर्य किरण न आने पर जैसे परमाणु दृष्टिगोचर न होते हैं वैसे ही ज्ञान के बिना जगत् की सूक्ष्मता का ज्ञान असम्भव है। अच्युतग्रन्थ माला में इसका अर्थ इस प्रकार किया है। जैसे अणुओं की अपेक्षा पहाड़ स्थूल विशाल हैं, वैसे ही जगत्प्रतीति की अपेक्षा झरोखे से अन्दर प्रविष्ट धूप का झरोखे के छेद के अनुसार बना हुआ दण्ड और मूसल के समान जो आकार है, उसमें दिखाई देनेवाले अत्यन्त छोटे-छोटे कण भी स्थूल हैं। जब इतने सूक्ष्म रजकण जगद्भान की अपेक्षा स्थूल हैं, तब उसकी अपेक्षा औरों के स्थूलतम होने में तो सन्देह ही क्या है ? ॥ ४ ॥

इस श्लोक में संस्कृत टीकाकार ने यह अर्थ किया है कि साक्षी स्वरूप चित्प्रकाश गवाक्ष से प्रविष्ट सूर्य किरण से प्रतीत होनेवाले अणुओं से भी सूक्ष्म है, क्योंकि इस प्रकार श्लोक में छेद करता है। सूर्यास्त जालाकार रजांस्यपि उक्त श्लोक का संस्कृत टीकाकारों ने 'जालान्तर्गत-सूर्याभा जालाकाररजांस्यपि' इस प्रकार छेद करके ऐसा भी अर्थ किया है—

जगत् का प्रकाशक साक्षीरूप चित्प्रकाश सूर्यालोक-रूप (घामरूप) प्रकाश से और उसके अन्दर प्रतीत होनेवाले अणुओं से भी सूक्ष्म है, ऐसा कहते हैं— 'जालान्त०' इत्यादि से।

झरोखे से अन्दर पैठी हुई सूर्य की दीप्ति से (धूप से) और झरोखे के छेद के अनुसार दण्डाकार बनी हुई धूप में स्थित रजकणों से भी जगत् का अवभासक चित्रूप साक्षी सूक्ष्म है, ऐसा सूक्ष्म, जैसे कि पर्वतों की अपेक्षा परमाणु सूक्ष्म हैं। ब्रह्म से अतिरिक्त रूप में अर्थात् ब्रह्म के भेद से जगत् का भान नहीं होता है, परन्तु झरोखे से भीतर पैठा हुआ सूर्य का किरणसमुदाय उसमें स्थित अणुओं का समुदाय भेद की प्रतीति करता है ॥ ५ ॥

जैसे स्वप्न और संकल्प में अनुभूत घट-पट पदार्थ जागरण के पदार्थ पार्थिव (भौतिक) नहीं होते, वैसे ही चिदाकाशरूपी परब्रह्म में प्रतीत ये जगत् पृथिवी आदि वैसे ही नहीं है, जैसे सङ्कल्प और स्वप्न में

पिण्डग्रहो जगत्यस्मिन् विज्ञानाकाशरूपिणि।
मरुनद्यां जलमिव न सम्भवति कुत्रचित् ॥ ७ ॥
जगत्यपिण्डग्राहेऽस्मिन् सङ्कल्पनगरोपमे।
मेरौ सरिदिवाऽऽभाति दृश्यता भ्रान्तिरूपिणी ॥ ८ ॥
स्वप्नाद् दृश्येव जगतां तुलादेशेन केन च।
तुलिता कलनोन्मुक्ता दृश्यश्रीर्व्योम जृम्भते ॥ ९ ॥
वर्जयित्वाऽज्ञविज्ञानं जगच्छब्दार्थभाजनम्।
जगद्ब्रह्मस्वशब्दानामर्थे नाऽस्त्येव भिन्नता ॥ १० ॥
इदं त्वचेत्यचिन्मात्रं भानोर्भातं नभः प्रति।

अनुभूत पदार्थ जागरण के समय अनुभूत नगर के समान ही किन्तु, जागने पर वे स्वाप्निक पदार्थ असत् अर्थात् बाद में भौतिक पदार्थ के रूप में नहीं रहते हैं। अर्थात् ये सभी पदार्थ आभासात्मक ईश्वर सङ्कल्पात्मक होने से प्रतीयमान हो रहे हैं; वस्तुतः नहीं ही हैं ॥ ६ ॥

विज्ञानाकाशरूपी=चिदाकाशरूपी इस जगत् की मूर्त्तता साकारता कभी भी वैसे ही नहीं हो सकती है जैसे मरुभूमि में नदी के समान प्रतीत हो रही सूर्य की किरणों में कदापि जल का संभव नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

आकाररहित सङ्कल्प के द्वारा कल्पित नगर के समान इस जगत् में भ्रान्तिरूपिणी (भ्रमवश) दृश्यता वैसी ही प्रतीत होती है जैसे मरुभूमि में भ्रान्तिरूपिणी नदी प्रतीत होती है ॥ ८ ॥

जगत् की दृश्यता साक्षीरूप चैतन्य में एक ओर अर्थात् साक्षी स्वप्न सदृश सङ्कल्पात्मक है, अतः दृश्य जगत् को और दूसरी ओर स्वप्न को रखकर सार और असार का विवेचन करनेवाली बुद्धिरूपी कांटे से तौला जाय, तो जैसे जागरण में स्वप्न कल्पनाशून्य अर्थात् असत् हो जाता है, वैसे ही दृश्य जगत् भी कल्पनाशून्य शून्यरूप से ब्रह्मरूप से प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

जगत्शब्द के अर्थ के मात्र अज्ञ लोगों के विज्ञान से अतिरिक्त जगत्, ब्रह्म और आत्म शब्दों के अर्थ में कोई भी भेद नहीं है, आशय यह है कि जगत्शब्द का ब्रह्म शब्द के अर्थ से अतिरिक्त अर्थ अज्ञानियों को ही प्रतीत होता है, वास्तव में जगत्, ब्रह्म और आत्मा शब्दों के अर्थ में भेद नहीं है ॥ १० ॥

अचेतन चेत्यसंसर्गरहित चिन्मात्ररूप इस जगत् के प्रति इसके साक्षी का भान उसी प्रकार होता है जैसे रूप-

तथा सूक्ष्मं यथा मेघं प्रति सङ्कल्पवारिदः ॥ ११ ॥
यथा स्वप्नपुरं स्वच्छं जाग्रत्पुरवरं प्रति।
तथा जगदिदं स्वच्छं साङ्कल्पिकजगत्प्रति ॥ १२ ॥
तस्मात्त्वचेत्यचिद्रूपं जगद्व्योमैव केवलम्।
शून्यौ व्योमजगच्छब्दौ पर्यायौ विद्धि चिन्मयौ ॥ १३ ॥
तस्मान्न किञ्चिदुत्पन्नं जगदादीह दृश्यकम्।
अनाख्यमनभिव्यक्तं यथास्थितमवस्थितम् ॥ १४ ॥
जगदेवं महाकाशे चिदाकाशमभित्तिमत्।
तद्देशस्याऽणुमात्रस्य तुलायाश्चाऽप्रपूरकम् ॥ १५ ॥

शून्य आकाश के प्रति सूर्य का प्रकाशकत्वरूप का दर्शन जगत्-दर्शन चैतन्य के प्रति वैसे ही असत् है जैसे संकल्प से कल्पित मेघ सत्य मेघ के प्रति (असत्) है ॥ ११ ॥

वैसे ही संकल्प से उत्पन्न (काल्पनिक) और स्वप्न जगत् की अपेक्षा यह जाग्रतप्रपञ्च भी वैसे ही स्वच्छ है जैसे जाग्रत्काल के सुन्दर नगर की अपेक्षा स्वप्न का नगर निर्मल है, आशय यह है कि जबतक यह प्रतीत होता है तभी तक इसकी अस्वच्छता है। इसका तिरोभाव होनेपर चिद्रूप परम स्वच्छता ही शेष रह जाती है। अत्यन्त मलिन दृश्य की अतिस्वच्छतमचिन्तमात्रता में किसी प्रकार की बाधा नहीं है ॥ १२ ॥

अचेत्य=चेत्यभिन्न चिद्रूप यह जगत् केवल व्योम=आकाश ही है। चिन्मय व्योम और जगत् शब्द ये दोनों अपर पर्यायवाची हैं। इनका चित् से अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं होता है ॥ १३ ॥

इसलिए यहां कुछ भी जगत् आदि दृश्य उत्पन्न नहीं होता है, नाम और रूप से रहित चिद्रूप ब्रह्म अपने स्वरूप में किसी प्रकार के विकार रहित अवस्थित है ॥ १४ ॥

इस प्रकार मायारूप महा आकाश में अर्थात् मायाकाश में स्थित यह जगत् आवरणरहित चिदाकाश स्वरूप ही है। यह चित् के अणुमात्र भाग का और अणुमात्र परिमाण का पूरक नहीं होता है। आशय यह है कि परिच्छिन्न जगत् का चित् से अभेद है, तो अत्यन्त सूक्ष्म अन्तःकरण की वृत्ति और चित्त की वासना से परिच्छिन्न सूक्ष्मतम चिद्भाग में भी सम्पूर्ण जगत् के परिच्छेद का भान होता है, अतः अणुतम चेतन में समा सकने योग्य जगत् जब अणुतम चित् का पूरक नहीं होता है तब अखण्ड ब्रह्मचैतन्य का वह पूरक और ब्रह्म में परिच्छिन्नजगन्मात्रता होने की सम्भावना नहीं है ॥ १५ ॥

आकाशरूपमेवाऽच्छं पिण्डग्रहविवर्जितम् ।
व्योम्नि व्योममयं चित्रं सङ्कल्पपुरवत्स्थितम् ॥ १६ ॥
अत्रेदं मण्डपाख्यानं शृणु श्रवणभूषणम् ।
निःसन्देहो यथैषोऽर्थश्चित्ते विश्रान्तिमेष्यति ॥ १७ ॥

श्रीराम उवाच

सद्बोधवृद्धये ब्रह्मन् ! समासेन वदाऽऽशु मे ।
मण्डपाख्यानमखिलं येन बोधो विवर्द्धते ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अभूदस्मिन् महापीठे कुलपद्मो विकासवान् ।
पद्मो नाम नृपः श्रीमान् बहुपुत्रो विवेकवान् ॥ १९ ॥
मर्यादापालनाम्भोधिर्द्विषत्तिमिरभास्करः ।
कान्ताकुमुदिनीचन्द्रो दोषतृणहुताशनः ॥ २० ॥

आकार रहित अमूर्त यह जगत् स्वच्छ आकाशस्वरूप है, यह आकाश में मनोरथ से अर्थात् सङ्कल्प से कल्पित व्योममय अर्थात् शून्य विचित्र नगर के समान आकाश में स्थित है ॥ १६ ॥

इस प्रसङ्ग में आप कानों के लिए अलङ्कार स्वरूप मण्डपाख्यान को सुनिये जिससे यह विषय आपके चित्तमें बिना किसी सन्देह के स्थिर हो जायेगा ॥ १७ ॥

श्रीराम ने कहा:—

हे ब्रह्मन् ! सत्-चिदानन्दमय ब्रह्म के बोध की अभिवृद्धि के लिए सम्पूर्ण मण्डपाख्यान संक्षेप से शीघ्र मुझसे कहें जिससे सुनने से बोध की वृद्धि होती है ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—

प्राचीन काल में इस भूतल में कुल कमल प्रफुल्लित श्रीमान् अनेक पुत्रों से समन्वित विवेकशील पद्म नाम का राजा था ॥ १९ ॥

समुद्र के समान बेलारूपी वर्णाश्रममर्यादा का पालक सूर्य के समान अन्धकार स्वरूप अपने शत्रुओं का विनाशक चन्द्रमा के समान अपनी सहधर्मिणीरूपी कुमुदिनी को प्रफुल्लित प्रसन्न करने वाला था, दोषरूपी तृष्णा का नाशक अग्नि के समान शत्रु था, जैसे सुमेरु पर्वत देवताओं का आश्रय (निवास स्थान) है वैसे ही वह विद्वद्वृन्द का आश्रय था, संसाररूपी सागर में उसके यशरूपी चंद्रमा की चाँदनी सदा विराजमान रहती थी, दया, दाक्षिण्य आदि सद्गुण रूपी हंसों का आश्रय स्थान मानसरोवर था। जैसे निर्मल (मेघमुक्त)

मेरुर्विबुधवृन्दानां यशश्चन्द्रो भवार्णवे ।
सरः सद्गुणहंसानां कमलामलभास्करः ॥ २१ ॥
संग्रामवीरुत्पवनो मनोमातङ्गकेसरी ।
समस्तविद्यादयितः सर्वाश्चर्यगुणाकरः ॥ २२ ॥
सुरारिसागरक्षोभविलसन्मन्दराचलः ।
विलासपुष्पौघमधुः सौभाग्यकुसुमायुधः ॥ २३ ॥
लीलालतालास्यमरुत् साहसोत्साहकेशवः ।
सौजन्यकैरवशशी दुर्लीलावल्लिकानलः ॥ २४ ॥
तस्याऽस्ति सुभगा भार्या लीला नाम विलासिनी ।
सर्वसौभाग्यवलिता कमलेवोदिताऽवनौ ॥ २५ ॥
सर्वानुवृत्तिललिता लीला मधुरभाषिणी ।
सानन्दमन्दचलिता द्वितीयेन्दूदयस्मिता ॥ २६ ॥

सूर्य कमलों को विकसित कर देता है, वैसे ही वह कमला को=राजलक्ष्मी को निर्मल सूर्य के समान विकसित करता था। वह संग्राम भूमि में लता के लिए वायु के समान अपने शत्रुओं के हृदय को दहला देता था, अतः वह रणगर्वित शत्रु के मनरूपी हाथी के नर्दन में सिंह के समान था [अथवा सिंह जैसे हाथी को अपने अधीन कर लेता है, वैसे ही वह अपने मन को अपने वश में रखने वाला था], वह सम्पूर्ण विद्याओं का पति था और सम्पूर्ण चमत्कारमय गुणों का आकर=खान था। जैसे समुद्रमंथन के समय घूमते हुए मन्दराचल के समान वैसे ही उसने दैत्यों की सेना रूपी सागर को अनेक बार विक्षुब्ध करने वाला विविध विलासरूपी पुरुषों के लिए वसन्त के समान था सुन्दरता में कामदेव, वह विविध लीलाओं के विलासरूपी नृत्य के लिए वायु के समान था। अन्य लोगों से असाध्य कठिनातिकठिन कार्य करने में उत्साह सम्पन्न केशव ही था, अर्थात् सदा कटिबद्ध रहता था, जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी को विकसित करता है, वैसे ही वह सज्जनता रूपी कुमुदिनी के लिए चन्द्रमा था, अर्थात् उसे विकसित करता था। वह दुष्टतारूपी विषलताओं के लिए अग्नि के समान दाहक था ॥ २०-२४ ॥

वह वनितोचित सम्पूर्ण विलासों से समन्वित पृथ्वी पर मानो कमला ही आगयी हो ऐसी सौभाग्यशालिनी लीला उसकी पत्नी थी ॥ २५ ॥

पति-सेवा के विविध रूपों में एवं सभी बन्धु-बान्धवों के अनुकूल आचरणों में निपुण, मधुरभाषिणी, सानन्द

अलकालिमनोहारिवदनाम्भोजशालिनी ।
सिताङ्गी कर्णिकागौरी जङ्गमेव सरोजिनी ॥ २७ ॥
लताविलासकुन्दौघभासिनी रसशालिनी ।
प्रवालहस्ता पुष्पाभा मधुश्रीरिव देहिनी ॥ २८ ॥
अवदाततनुः पुण्या स्पर्शनाह्लादकारिणी ।
गङ्गेव गां गता देहवती हंसविलासिनी ॥ २९ ॥
तस्य भूतलपुष्पेषोः सकलाह्लाददायिनः ।
परिचर्यां चिरं कर्तुमन्या रतिरिवोदिता ॥ ३० ॥
उद्विग्ने प्रोद्विग्ना मुदिते मुदिता समाकुलाऽऽकुलिते ।
प्रतिबिम्बसमा कान्ता संक्रुद्धे केवलं भीता ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे मण्डपोपाख्याने राजवर्णनं नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

मन्दगामिनी द्वितीय चन्द्र के समान मन्द मुस्कान शीला, केशरूपी भ्रमरों से अतिशय मनोहर कमलमुखी श्वेत वर्णा, कर्णालङ्कार की कान्ति से पीतवर्णाभा अर्थात् कर्णिका से धीमी गमनशीला श्वेत कमलिनी के समान थी ॥ २६-२७ ॥

लताओं के विलास रूपी कुन्द के पुष्पों के समान शुभ्र दन्तों से देदीप्यमान, रसशालिनी अर्थात् प्रिय भाषिणी या पति पर अतिशय अनुराग प्रबाल अर्थात् मूँगा के सदृश हाबवाली, अथवा कोमल किसलय सदृश हाथ वाली पुष्प की कान्ति के समान मानो साक्षात् वसन्तश्री ही मूर्तिमती हो ऐसी दिखाई देती थी ॥ २८ ॥

हंसविलासिनी, स्पर्श करने पर आनन्ददायिनी पवित्रा, अतिशय निर्मल गङ्गा ही मानो पृथ्वी पर शरीर-धारण कर लिया हो ऐसी वह अवतीर्ण मूर्तिमती गङ्गा थी ॥ २९ ॥

सबको आनन्द देने वाले भूतल का कामदेव था। राजा पद्म की चिरकाल तक सेवा-शुश्रूषा करने के लिए रति के समान वह लीला उत्पन्न हुई थी ॥ ३० ॥

पतिपरायणा लीला राजा के दुःख में दुःखी, सुख में सुखी, राजा के चिन्तायुक्त होने पर चिन्तायुक्त, सचमुच वह राजा के प्रतिबिम्ब के सदृश थी, परन्तु राजा के क्रुद्ध होने पर वह केवल भयभीत ही होती थी, (क्रुद्ध नहीं होती थी केवल इसी अंश में उसमें प्रतिबिम्बतुल्यता न थी) ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में मण्डपोपाख्यान में राजवर्णन नामक कुसुमलता का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

१६

श्रीवसिष्ठ उवाच

भूतलाप्सरसा सार्धमनन्यदयितापतिः ।
अकृत्रिमप्रेमरसं स रेमे कान्तया तया ॥ १ ॥
उद्यानवनगुल्मेषु तमालगहनेषु च ।
पुष्पमण्डपरम्येषु लतावलयसद्मसु ॥ २ ॥
पुष्पान्तःपुरशय्यासु पुष्पसंभारवीथिषु ।
वसन्तोद्यानदोलासु क्रीडापुष्करिणीषु च ॥ ३ ॥
चन्दनद्रुमशैलेषु सन्तानकतलेषु च ।
कदम्बनीपगेहेषु पारिभद्रोदरेषु च ॥ ४ ॥

१६

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—

उस अनन्यप्रिया नारी के पति राजा अर्थात् लीला से अतिरिक्त पत्नी जिसे नहीं थी पद्म ने भूतल की अप्सरा अपनी कान्ता लीला के साथ विविध स्थानों में वाटिका-बगीचों के निकुञ्जों में, तमाल के घने वनों में, फूलों से अच्छादित बड़े रमणीय लताओं से वेष्टित घरों में, अन्तःपुर में सजी फूलों की सेजों में, विविध प्रकार के फूलों से सुशोभित गलियों में, वसन्त ऋतु में बगीचों में डाले गये हिंडोलों में, जल-क्रीड़ा के लिए बने हुए सरोवरों में चन्दन-वृक्षों से अलङ्कृत पर्वतों में, सन्तानक वृक्षों की (एक प्रकार के कल्पवृक्षों की) छाया में कदम्ब वृक्षों के झुरमुटरूपी घरों में, नीम की सुखद छाया में, कोकिल की काकली से गुलजार और खिले हुए कुन्द और पारिजात के फूलों की भीनी सुगन्ध से मन को हरने वाले वसन्त ऋतु के वनों में, अनेक वनों के मुलायम तृणों से आच्छन्न मैदानों में, इधर-उधर फैल रहे बड़े-बड़े जल

विकसत्कुन्दमन्दारमकरन्दसुगन्धिषु ।
वसन्तवनजालेषु कूजत्कोकिलपक्षिषु ॥ ५ ॥
नानारण्यतृणानां च स्थलेषु मृदुदीप्तिषु ।
निर्झरेषु तरत्तारसीकरासारवर्षिषु ॥ ६ ॥
शैलानां मणिमाणिक्यशिलानां फलकेषु च ।
देवर्षिमुनिगेहेषु दूरपुण्याश्रमेषु च ॥ ७ ॥
कुमुद्वतीषु फुल्लासु स्मेरासु नलिनीषु च ।
वनस्थलीषु कृष्णासु फुल्लासु फलिनीषु च ॥ ८ ॥
सुरतैः सुरतारुण्यैः सुन्दरः सुन्दरेहितैः ।
इहितैः पेशलान्योन्यघनप्रेमरसाधिकैः ॥ ९ ॥
प्रहेलिकाभिराख्यानैस्तथा चाऽक्षरमुष्टिभिः ।
अष्टापदैर्बहुद्यूतैस्तथा गूढचतुर्थकैः ॥ १० ॥
नाटिकाख्यायिकाभिश्च श्लोकैर्बिन्दुमतिक्रमैः ।
देशकालविभागैश्च नगरग्रामचेष्टितैः ॥ ११ ॥
स्रग्दाममालावलितैर्नानाभरणयोजनैः ।
लीलाविलोलचलनैर्विचित्ररसभोजनैः ॥ १२ ॥
आर्द्रकुङ्कुमकर्पूरताम्बूलीदलचर्वणैः ।
फुल्लपुष्पलतागुञ्जादिहगोपनखव्रणैः ॥ १३ ॥
समालम्भनलीलाभिर्मालाप्रहरणक्रमैः ।
गृहे कुसुमदोलाभिरन्योन्यं दोलनक्रमैः ॥ १४ ॥
नौयानयुग्महस्त्यश्वदान्तोष्ट्रादिगमागमैः ।
जलकेलिविलासेन परस्परसमुत्क्षणैः ॥ १५ ॥
नृत्यगीतकलालास्यतालताण्डवमण्डनैः ।
सङ्गीतकैः संकथनैर्वीणामुरजवादनैः ॥ १६ ॥
उद्यानेषु सरित्तीरवृक्षेषु वरवीथिषु ।
अन्तःपुरेषु हर्म्येषु फुल्लदोलावदोलनैः ॥ १७ ॥
सा तथा सुखसंवृद्धा तस्य प्रणयिनी प्रिया ।
एकदा चिन्तयामास सुभ्रूः सङ्कल्पशालिनी ॥ १८ ॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियो भर्ता ममैष जगतीपतिः ।
यौवनोल्लासवान् श्रीमान् कथं स्यादजरामरः ॥ १९ ॥
भर्त्राऽनेन सहोत्तुङ्गस्तनी कुसुमसद्मसु ।
कथं स्वैरं चिरं कान्ता रमे युगशतान्यहम् ॥ २० ॥
तथा यते यत्नमतस्तपोजपयमेहितैः ।
रजनीशमुखो राजा यथा स्यादजरामरः ॥ २१ ॥

कणों की तेजवृष्टि करने वाले झरनों में, अनेक पर्वतों के मणि, माणिक्यमय शिलाखण्डों में, देवता और ऋषियों के आवासभूत दूर-दूर के पवित्र आश्रमों में, चाँदनी से संफुल्ल कुमुदिनी के सरोवर में सूर्यातप से विकसित कमल के तालाबों में काले कालीन के समान मृदु दूर्वाङ्कुरों से आच्छन्न, भाँति-भाँति के फूलों से व्याप्त तथा विविध फलों से लदे वृक्षों से सुशोभित वनों में सुरतों से, विविध विषयों के अभिलाषाओं से, आपस के विबिड़ प्रेमरस से प्रचुरमात्रा में होनेवाले विलासों से, ग्रामीण किस्से-कहानियों से, ऐतिहासिक उपाख्यानों से, पासा, चौपड़, शतरञ्ज आदि विविध प्रकार से द्यूतों से, नाटिकाओं, आख्यायिकाओं और विद्वानों की ही समझ में आनेवाले (गूढ़ाशय) श्लोकों की रचनाओं से; देश-काल के विभाग से, नगर और ग्रामजनों की चेष्टाओं के अनुकरण से, विविध मालाओं के वेष्टनों से, अङ्गों में भाँति-भाँति के आभरणों के विन्यास से, विलासपूर्वक चञ्चल गमनों से, विचित्ररसवाले भोजनों से, आर्द्र केसर और कर्पूर से युक्त ताम्बूलों के चर्वणों से, देह के आच्छादक फूलों, लताओं और गुञ्जाओं से नखक्षतों से, दौड़कर एक दूसरे को छूना आदि विविध कीड़ाओं से, माला द्वारा परस्पर प्रहार से, घर में पुष्पों से सुशोभित हिंडोलों में अन्योन्य झूलने से, नौकाविहार, हाथी, घोड़ों और शिक्षित ऊटों की सवारी से, जलक्रीडा से, आपस में एक दूसरे पर जल-प्रक्षेप से, नृत्य, गीत, लास्य तथा ताण्डव से विभूषित और वीणा ढोल आदि वादन से युक्त सङ्गीतकों से, गीत, कथा और आलापों से तथा उद्यानों में, नदीतीर के वृक्षों में, सुन्दर वीथियों में, अन्तःपुर में और महल में फूलों से सुसज्जित दोलाओं द्वारा झूलने से देवताओं की तरुणता के सदृश तरुणता से सुन्दर राजा पद्म ने भूतल की अप्सरा लीला के साथ अकृत्रिम प्रेम-पूर्वक विहार किया ॥ १—१७ ॥

इस प्रकार सुख से पली हुई और राजा पद्म के प्राणों से भी प्रिय सुन्दर भौओं वाली लीला ने किसी समय विचार किया ॥ १८ ॥

यह युवा और अत्यधिक सुन्दर प्राणों से भी प्रिय पति पृथ्वीपति है, यह कैसे अजर और अमर हो ॥ १९ ॥

विशाल स्तन वाली मैं फूलों की सेज से सुशोभित महलों में इसके साथ सैकड़ों युगों तक अपनी इच्छा के अनुसार कैसे रमण करूँ ॥ २० ॥

तप, जप, यम-नियम आदि कर्मों से मैं वैसा प्रयत्न करती हूँ, जैसे कि यह चन्द्रवदन राजा अजर और अमर हो जाय ॥ २१ ॥

ज्ञानवृद्धांस्तपोवृद्धान् विद्यावृद्धानहं द्विजान् ।
पृच्छामि तावन्मरणं कथं न स्यान्नृणामिति ॥ २२ ॥

इत्यानीयाऽथ संपूज्य द्विजान्प्रपच्छ सा नता ।
अमरत्वं कथं विप्रा भवेदिति पुनः पुनः ॥ २३ ॥

विप्रा ऊचुः

तपोजपयमैर्देवि समस्ताः सिद्धसिद्धयः ।
संप्राप्यन्तेऽमरत्वं तु न कदाचन लभ्यते ॥ २४ ॥

इत्याकर्ण्य द्विजमुखाच्चिन्तयामास सा पुनः ।
इदं स्वप्रज्ञयैवाऽऽशु भीता प्रियवियोगतः ॥ २५ ॥

मरणं भर्त्तुरग्रे मे यदि दैवाद्भविष्यति ।
तत्सर्वदुःखनिर्मुक्ता संस्थास्ये सुखमात्मनि ॥ २६ ॥

अथ वर्षसहस्रेण भर्त्ताऽऽदौ चेन्मरिष्यति ।
तत्करिष्ये यथा येन जीवो गेहान्न यास्यति ॥ २७ ॥

मैं ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी और विद्यावृद्ध ब्राह्मणों से पूछती हूँ कि कैसे मनुष्यों का मरण नहीं होगा ॥ २२ ॥

ऐसा विचार कर उसने ज्ञानी वृद्ध विद्वानों को बुलाया और उनकी पूजा कर उसने विनयपूर्वक पुनः पुनः पूछा अमरत्व कैसे प्राप्त होगा ॥ २३ ॥

ब्राह्मणों ने कहा :—हे विप्रगण ! तप, जप, यम-नियमों से सिद्धों की सम्पूर्ण सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं, पर अमरत्व की प्राप्ति किसी प्रकार नहीं की जा सकती है ॥ २४ ॥

ब्राह्मणों के मुख से यह सुनकर अपने प्रिय के वियोग से भयभीत लीला ने अपनी बुद्धि से हो यह सोचा कि यदि दैवात् पति से पहले मेरा शरीर छूट गया, तो मैं सम्पूर्ण दु.खों से निर्मुक्त होकर आत्मा में सुखपूर्वक अवस्थित हो जाऊँगी ॥ २५-२६ ॥

यदि मेरा पति मुझसे पहले मर गया, तो मैं वैसा प्रयत्न करूँगी जिससे हजारों वर्ष तक उसका जीवन घर से बाहर नहीं जा सके ॥ २७ ॥

मेरे पति का जीव जिसमें घूमता रहे, ऐसे अन्तःपुर के पवित्र मण्डप में सदा भर्ता द्वारा देखी जाती हुई मैं सुखपूर्वक निवास करूँगी ॥ २८ ॥

अपने इस सङ्कल्प की सिद्धि के लिए आज से ही मैं ज्ञानरूपा सरस्वती देवी जब तक प्रसन्न न हो जप, तप आदि से, पूजन करूँगी ॥ २९ ॥

ऐसा विचार कर वह सुन्दर शरीरवाली अपने

तद्भ्रमद्भर्तृजीवेऽस्मिन्निजे शुद्धान्तमण्डपे ।
भर्त्रा विलोकिता नित्यं निवत्स्यामि यथासुखम् ॥ २८॥

अद्यैवाऽऽरभ्यैतदर्थं देवीं ज्ञप्तिं सरस्वतीम् ।
जपोपवासनियमैरातोषं पूजयाम्यहम् ॥ २९॥

इति निश्चित्य सा नाथमनुक्त्वैव वराङ्गना ।
यथाशास्त्रं चचारोग्रं तथा नियममास्थिता ॥ ३० ॥

त्रिरात्रस्य त्रिरात्रस्य पर्यन्ते कृतपारणा ।
देवद्विजगुरुप्राज्ञविद्वत्पूजापरायणा ॥ ३१ ॥

स्नानदानतपोध्याननित्योद्युक्तशरीरिका ।
सर्वास्तिक्यसदाचारकारिणी क्लेशहारिणी ॥ ३२ ॥

यथाकालं यथोद्योगं यथाशास्त्रं यथाक्रमम् ।
तोषयामास भर्त्तारमपरिज्ञातसंस्थितिः ॥ ३३ ॥

पति से बिना पूछे ही विधिपूर्वक* शास्त्रानुसार उग्र तपस्या करने लगी ॥ ३० ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् और ब्रह्मज्ञानी लोगों की पूजा में तत्पर तीसरी-तीसरी रात के बाद वह पारण करती थी ॥ ३१ ॥

आस्तिकों के सभी सदाचारों से सम्पन्ना क्लेश का निवारण करने वाली लीला स्नान, दान, तप, ध्यान में नित्य उद्यत शरीर रहती थी ॥ ३२ ॥

(जो स्त्री पति के आज्ञा के बिना उपवास व्रत करती है, वह पति की आयु को हरती है और मर कर नरक में गिरती है । इत्यादि स्मृतियों द्वारा स्त्री का पति की आज्ञा प्राप्त किये बिना उपवासव्रत आदि निन्दित है, अतः उसे यथाशास्त्र (विधिपूर्वक) कैसे कहा ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा सदा भर्तृहितं चरेत् । व्रतोपवासानियमैरुपचारैश्च लौकिकैः ।" (स्त्री प्रत्यक्ष में अथवा परोक्ष में व्रत, उपवास, नियम और लौकिक उपचारों से सदा पति का हित करे) इस स्मृति के अनुसार यह सिद्ध है कि उक्त शास्त्र में कही गई निन्दा पति-हित से अतिरिक्त अपने काम्य उपवासों के लिए है, अतः कोई दोष नहीं है ।

पति को अपनी परिस्थिति का परिज्ञान कराये विना ही पूर्ववत् यथासमय, वैसे ही प्रयत्न और शास्त्र के विधान के अनुसार नियम के अनुसार पति को सन्तुष्ट करती थी ॥ ३३ ॥

* या स्त्री भर्त्राऽननुज्ञाता उपवासव्रतं चरेत् । आयुष्यं हरते भर्तुर्मृता नरकमृच्छति ॥

त्रिरात्रशतमेवं सा बाला नियमशालिनी ।
अनारतं तपोनिष्ठामतिष्ठत् कष्टचेष्टया ॥ ३४ ॥
त्रिरात्राणां शते चाऽथ पूजिता प्रतिमानिता ।
तुष्टा भगवती गौरी वागीशा समुवाच ताम् ॥ ३५ ॥

सरस्वत्युवाच

निरन्तरेण तपसा भर्तृभक्त्यतिशालिना ।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्से ! गृहाण वरमीप्सितम् ॥ ३६ ॥

राज्युवाच

जय जन्मजराज्वालादाहदोषशशिप्रभे ।
जय हार्दान्धकारौघनिवारणरविप्रभे ॥ ३७ ॥
अम्ब ! मातर्जगन्मातस्त्रायस्व कृपणामिमाम् ।
इदं वरद्वयं देहि यदहं प्रार्थये शुभे ! ॥ ३८ ॥
एकं तावद्विदेहस्य भर्तुर्जीवो ममाऽम्बिके ! ।
अस्मादेव हि मा यासीन्निजाऽन्तःपुरमण्डपात् ॥ ३९ ॥

इस तरह नियमपूर्वक रह कर पतिपरायणा उस नारी ने सौ त्रिरात्रव्रत पूर्ण होने तक लगातार क्लेश के साथ तपस्या की ॥ ३४ ॥

सौ त्रिरात्रव्रतों की पूर्ति होने पर लीला के द्वारा (अर्घ्य, पाद्य, स्नान, गन्ध, पुष्प आदि उपचारों से) पूजित और ध्यान आदि भीतरी उपचारों से सत्कृत भगवती सरस्वती ने प्रसन्न होकर उससे कहा ॥ ३५ ॥

सरस्वती ने कहा :—हे वत्से ! तुम्हारी अविच्छिन्न और पतिभक्ति सम्पन्न तपश्चर्या से मैं तुम पर अतिशय प्रसन्न हूँ. अतः तुम अभीष्ट वर मुझसे माँग ॥ ३६ ॥

रानी ने कहा—भगवती ! आप जन्म और जरारूपी अग्नि की ज्वालाओं से उत्पन्न सन्तापरूपी रोग को दूर करने के लिये शीतल चन्द्रकान्ति (चांदनी) रूप हैं, आपकी जय हो यानी आपके चरणों में मेरा विनम्र प्रणाम है। माता, आप निविड हृदयान्धकार (अज्ञान) रूपी अन्धार का विनाश करने में सूर्य-प्रकाश के तुल्य हैं। हे अम्ब, हे मातः ! हे अशेष जगत् की माँ ! मैं अतिशय दीन-हीन हूँ, मेरी रक्षा करें। हे शुभे ! जिनकी मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ ये दो वर मुझे दें ॥ ३७, ३८ ॥

हे अम्बिके ! उनमें से पहला वर तो यह कि मेरे पतिदेव का शरीर छूटने पर उनका जीव मेरे इस अन्तःपुर के प्रासाद से बाहर न जाय ॥ ३९ ॥

हे महादेवि ! दूसरा यह है कि जब जब वरदान के लिए आपके दर्शनों की मैं प्रार्थना करूँ, तब आप मुझे दर्शन दें ॥ ४० ॥

द्वितीयं त्वां महादेवि ! प्रार्थयेऽहं यदा यदा ।
दर्शनाय वरार्थाय तदा मे देहि दर्शनम् ॥ ४० ॥
इत्याकर्ण्य जगन्माता तवाऽस्त्वेवमिति स्वयम् ।
उक्त्वाऽन्तर्द्धानमगमत् प्रोत्थायोर्मिरिवार्णवे ॥ ४१ ॥
अथ सा राजमहिषी परितुष्टेष्टदेवता ।
श्रुतगीतेव हरिणी बभूवाऽऽनन्दधारिणी ॥ ४२ ॥
पक्षमासर्तुकटके दिनारे वर्षदण्डके ।
क्षणनाभौ स्पन्दमये कालचक्रे वहत्यथ ॥ ४३ ॥
अन्तर्द्धिमाजगामाऽस्याः पत्युस्तच्चेतनं तनौ ।
संदृश्यमानमेवाऽऽशु शुष्कपत्ररसो यथा ॥ ४४ ॥
रणखण्डितदेहेऽस्मिन् मृतेऽन्तःपुरमण्डपे ।
निर्जला नलिनीवाऽसौ परां म्लानिमुपाययौ ॥ ४५ ॥
विषोष्णश्वसनध्वस्तसकलाधारपल्लवा ।
प्राप सा मरणावस्थां सशल्येव मृगी यथा ॥ ४६ ॥

यह सुनकर जगदम्बा सरस्वती ने जैसा तुम चाहती हो वैसा ही हो, यह कह कर, जैसे समुद्र में लहर उठ कर विलीन हो जाती है, वैसे ही वह अन्तर्हित हो गई ॥ ४१ ॥

वह राजमहिषी इष्टदेवी के सन्तुष्ट होने पर गीत सुनने पर हिरनी की खुशी के समान अतिशय आनन्द से विभोर हो गई ॥ ४२ ॥

पक्ष जिसका नेमिकटक=अन्तिम गोलाकार हिस्सा है, मा=महीना जिसका मध्यकटक=बीच का गोलाकार हिस्सा है और ऋतु जिसका नाभिकटक=बीच के भी बीच का गोलाकार हिस्सा है, दिन जिसके अर है अर्थात् पहिये में लगी तिरछी सीकचें हैं और वर्ष जिसका अक्षदण्ड है और क्षण जिसकी नाभि (बीज का छेद) हैं, ऐसे वेगगामी कालरूपी चक्र (पहिये) के चलने पर अर्थात् क्षण, दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्षा के क्रम से काल बीतने पर सूखे पत्ते के रस के समान उसके पति की चेतना देखते-देखते शरीर में अन्तर्हित हो गई ॥ ४३-४४ ॥

रणभूमि में शत्रुओं के प्रहारों से घायल राजा अन्तःपुर में मर गया। राजा के मरने पर रानी लीला जल न रहने से कमलिनी जैसे मुर्झा जाती है, वैसे ही अत्यन्त मुर्झा कर म्लानवदन हो गई ॥ ४५ ॥

विष के समान उष्ण निःश्वास से उसका किसलय के समान अधर म्लान हो गया, बाण से विद्ध हिरनी के समान वह मरणावस्था को प्राप्त हो गई ॥ ४६ ॥

प्राप सा तमसाऽन्धत्वं तस्मिन् मरणमागते ।
दीपज्वालालवे क्षीणे सद्मश्रीरिव भूषिता ॥ ४७ ॥
कार्श्यमाप क्षणेनासौ बाला विरसतां गता ।
यथा स्रोतस्विनी स्रोतःक्षये क्षारविधूसरा ॥ ४८ ॥
क्षिप्रमाक्रन्दिनी क्षिप्रं मौनमूका वियोगिनी ।
बभूव चक्रवाकीव मानिनी मरणोन्मुखी ॥ ४९ ॥
अथ तामतिमात्रविह्वलां
सकृपाऽऽकाशभवा सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविह्वलां
प्रथमा वृष्टिरिवाऽन्वकम्पत ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मण्डपोपाख्याने राज्ञीपरिदेवनं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

वैसे ही राजा के मर जानेपर रानी लीला उसी प्रकार अत्यन्त शोकाकुल हो गई जैसे दीपक के प्रकाश से सुशोभित घर दीपक के बुझ जानेपर अन्धकार से व्याप्त हो जाता है ॥ ४७ ॥

प्रवाह के सूख जानेपर नदी जैसे क्षीण हो क्षार से यानी रेह से धूसर हो जाती है, वैसे ही पति के नष्ट होनेपर वह सुन्दर हतप्रभ हो क्षणभर में ही कृशता को प्राप्त किया ॥ ४८ ॥

मानशीला अथवा पति का सन्मानशीला वह वियोगिनी क्षण में कभी विलाप करने लगती और कभी क्षण में मूक चक्रवाकी के समान मरने के लिए तत्पर हो गई ॥४९॥

पति की मृत्यु से अत्यन्त व्याकुल रानी लाली के ऊपर कृपा समन्विता आकाशवाणी रूपी सरस्वती ने कृपा की वैसे ही जैसे तालाब के सूखने से व्याकुल मछली के ऊपर ग्रीष्म के अन्त में हुई पहली वृष्टि कृपा करती है ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में मण्डपोपाख्यान में राज्ञीपरिदेवन नामक कुसुमलता का सोलहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १६ ॥

१७

श्रीसरस्वत्युवाच

शवीभूतमिमं वत्से ! भर्तारं पुष्पपुञ्जके ।
आच्छाद्य स्थापयैनं त्वं पुनर्भर्तारमेष्यसि ॥ १ ॥
पुष्पाणि म्लानिमेष्यन्ति नो न चैष विनङ्क्ष्यति ।
भूयश्च तव भर्तृत्वमचिरेण करिष्यति ॥ २ ॥
एतदीयश्च जीवोऽसावाकाशविशदस्तव ।
न निर्गमिष्यति क्षिप्रमितोऽन्तःपुरमण्डपात् ॥ ३ ॥
षट्पदश्रेणिनयना समाकर्ण्येति बन्धुभिः ।
सा समाश्वासिताऽऽगत्य पयोभिरिव पद्मिनी ॥ ४ ॥
पतिं संस्थाप्य तत्रैव पुष्पपूरप्रगोपितम् ।
किञ्चिदाश्वासिताऽतिष्ठद्दरिद्रेव निधानिनी ॥ ५ ॥
तस्मिन्नेव दिने सैषा तस्मिञ्छुद्धान्तमण्डपे ।
अर्द्धरात्रे परिजने सर्वस्मिन्निद्रया हृते ॥ ६ ॥

१७

सरस्वती ने कहा :—हे वत्से ! अपने पति के शव को फूलों की राशि में आच्छादन कर रक्खो । तुम फिर इस पति को प्राप्त करोगी ॥ १ ॥

न फूल ही मुर्झाएँगे और न तुम्हारे पति का यह शव विनष्ट होगा । थोड़े दिनो में यह तुम्हें स्वामित्व की प्राप्ति करायेगा ॥ २ ॥

आकाश के समान निर्मल इसका जीव, तुम्हारे अन्तःपुर के गृह से शीघ्र बाहर नहीं निकलेगा ॥ ३ ॥

भ्रमरों की पंक्ति के समान नेत्रवाली रानी लीला के पास आकर उसके बन्धु-बान्धवों ने उसे उसी प्रकार आश्वास्त किया जैसे जल के सूख जाने से मुर्झा रही कमलिनी को वृष्टि का जल आश्वासन देती है ॥ ४ ॥

लीला फूलों के ढेर में प्रच्छन्न अपने पति के शव को अन्तःपुर में रखकर उसी प्रकार कुछ आश्वस्त हुई जैसे निधि से युक्त होनेपर भी निधि को अपने उपयोग में न लाने के कारण भोग, ऐश्वर्य से वञ्चित दरिद्रा होती है । आशय यह कि निधि के रहने पर भी उसका उपयोग करने से जैसे निधानिनी दरिद्रा भोगैश्वर्य से वञ्चित रहती है, वैसे ही पति के रहनेपर भी निश्चेष्ट होने के कारण उपयोग में न आने से वह भोगैश्वर्य-वञ्चित रही ॥ ५ ॥

सभी परिजनों के घोर निद्रा में सोने पर उस अन्तःपुर के प्रासाद में शुद्ध ध्यान से युक्त अन्तःकरण से ज्ञानरूपिणी सरस्वती देवी का उसी दिन आधी रात में आवाहन किया लीला देवी ने उसके पास आकर कहा—

ज्ञप्तिं भगवतीं देवीं शुद्धध्यानमहाधिया ।
दुःखादाह्वाययामास सोवाच समुपेत्य ताम् ॥ ७ ॥
किं स्मृताऽस्मि त्वया वत्से ! धत्से किमिति शोकिताम् ।
संसारभ्रान्तयो भान्ति मृगतृष्णाम्बुवन्मुधा ॥ ८ ॥

लीलोवाच

क्व ममाऽवस्थितो भर्ता किं करोत्यथ कीदृशः ।
समीपं नय मां तस्य नैका शक्नोमि जीवितुम् ॥ ९ ॥

श्रीदेव्युवाच

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं वरानने ! ॥ १० ॥
तच्चिदाकाशकोशात्म चिदाकाशैकभावनात् ।
अविद्यमानमप्याशु दृश्यतेऽथानुभूयते ॥ ११ ॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत् ।

तुमने मेरा क्यों स्मरण किया है ? हे वत्स ! तुम क्यों इतनी शोकाकुल हो रही हो ? दुःख के कारण ये संसार-रूपी भ्रम, मृगतृष्णा में जल के समान मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, जैसे मृगतृष्णा में जलप्रतीति मिथ्या है, वैसे ही ये दुःखजनक संसाररूपी भ्रम मिथ्या है ॥ ६-८ ॥

लीला ने कहा :—मेरे पति कहाँ अवस्थित हैं ? क्या करते हैं और कैसे हैं ? मैं उनके बिना अकेले नहीं जा सकती हूँ, अतः आप मुझे उनके समीप ले चलें ॥ ९ ॥

सरस्वती जी ने कहा :— हे सुन्दरमुखि ! एक वासनामय चित्ताकाश है, दूसरा शुद्ध चिदाकाश है और सुप्रसिद्ध व्यवहारिक भूताकाश तीसरा है । इन दोनों से सर्वथा शून्य को तुम चिदाकाश जानो । इन दोनों की सन्धि में दो से शून्य चिदाकाश स्पष्टरूप से लक्षित होता है ॥ १० ॥

(तुमने अपने पति के रहने का स्थान आदि पूछा है) वह चिदाकाशकोशरूप है, उससे अतिरिक्त नहीं है । चिदाकाश का एकाग्र मन से चिन्तन करने पर पृथक् विद्यमान होते हुए भी वह यहीं से शीघ्र दिखाई देता है और वहाँ जाकर उसका अनुभव भी किया जाता है ॥११॥

हे सुन्दरि ! संवित् के एक पलक में एक देश से दूसरे देश को प्राप्त होने पर संवित् का जो मध्य है उसी को तुम चिदाकाश समझो ॥ १२ ॥

यदि तुम सम्पूर्ण सङ्कल्पात्मक इच्छा का परित्याग कर चिदाकाश में ही मन को एकाग्र करो, तो तुम

निमिषेण चिदाकाशं तद्विद्धि वरवर्णिनि ! ॥ १२ ॥
तस्मिन्निरस्तनिःशेषसङ्कल्पा स्थितिमेषि चेत् ।
सर्वात्मकं पदं तत्त्वं त्वं तदाप्नोष्यसंशयम् ॥ १३ ॥
अत्यन्ताभावसम्पत्त्या जगतश्चैतदाप्यते ।
नाऽन्यथा मद्वरेणाऽऽशु त्वं तु प्राप्स्यसि सुन्दरि ! ॥१४॥

वसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा सा ययौ देवी दिव्यमात्मीयमास्पदम् ।
लीला तु लीलयैवाऽसीन्निर्विकल्पसमाधिभाक् ॥ १५ ॥
तत्तत्याज निमेषेण साऽन्तःकरणपञ्जरम् ।
स्वदेहं खमिवोड्डीना मुक्तनीडा विहङ्गमी ॥ १६ ॥
ददर्श खस्था भर्तारं तस्मिन्नेवाऽऽलयाम्बरे ।
संस्थितं पृथिवीपालमास्थाने बहुराजनि ॥ १७ ॥
सिंहासने समारूढं जय जीवेति संस्तुतम् ।
प्रस्तुतं मण्डलानीककार्यमाहर्तुमादृतम् ॥ १८ ॥

सर्वात्मक उस प्राप्तव्य तत्त्व को अवश्य प्राप्त करोगी ॥ १३ ॥

हे सुन्दरि ! उक्त तत्त्व यद्यपि जगत् की अत्यन्ता-भाव के रूप में प्रतीति होने पर ही वह प्राप्त होता है, अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकता हैं क्योंकि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' ऐसी श्रुति है । फिर भी मेरे वर से तुम उसे शीघ्र प्राप्त करोगी ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—ऐसा कह कर सरस्वती देवी अपने दिव्यलोक को चली गई और लीला ने अनायास ही वर के प्रभाव से निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त किया ॥ १५ ॥

जैसे चिड़िया अपने घोंसले को छोड़कर आकाश में उड़ जाती है वैसे ही उसने लोहे के पिंजड़े के समान दुर्भेद्य अन्तःकरण के साथ अपने स्थूल देह का उसी प्रकार त्याग कर दिया । यहाँ देहत्याग से स्थिर चित्त द्वारा अभिमान का त्याग ही विवक्षित है । मरण के समान बाहर निर्गमन नहीं ॥ १६ ॥

रानी ने निर्विकल्प समाधि द्वारा चिदाकाश में स्थित होकर अपने अन्तःपुर के प्रासाद के उस आकाश में ही जैसे पक्षी अपने घोंसले को छोड़कर आकाश में उड़ जाती है घर आदि अपनी वासना और कर्म के अनुरूप सम्पत्ति से समन्वित राजगण से अलङ्कृत अपने पति मृत पृथ्वी-पति को अवस्थित देखा ॥ १७ ॥

वह सिंहासन पर समारूढ़ था, बन्दीगण 'आप की जय हो', 'आप चिरजीवी हों' कहकर उसकी स्तुति कर

पताकामञ्जरीकीर्णराजधानीगृहस्थितम् ।
पूर्वद्वारस्थितासंख्यमुनिविप्रर्षिमण्डलम् ॥ १९ ॥
दक्षिणद्वारगासङ्ख्यराजराजेशमण्डलम् ।
पश्चिमद्वारगासंख्यललनालोकमण्डलम् ॥ २० ॥
उत्तरद्वारगासंख्यरथहस्त्यश्वसङ्कुलम् ।
एकभृत्यविनिर्णीतदक्षिणापथविग्रहम् ॥ २१ ॥
कर्णाटनाथरचितपूर्वदेशक्रियाक्रमम् ।
सुराष्ट्राधिपनिर्णीतसर्वम्लेच्छोत्तरापथम् ॥ २२ ॥
मालदेशसमाक्रान्तसर्वपाश्चात्यतङ्गणम् ।
दक्षिणाब्धितटायातलङ्कादूतविनोदितम् ॥ २३ ॥
पूर्वाब्धितटमाहेन्द्रसिद्धोक्तगगनापगम् ।
उत्तराब्धितटायातदूतवर्णितगुह्यकम् ॥ २४ ॥
पश्चिमाब्धितटालोकवर्णितास्तमयक्रमम् ।

रहे थे, वह उपस्थित राज्य और सेना का कार्य करने में व्यापृत हो रहा था ॥ १८ ॥

पताकाओं से व्याप्त राजधानी के जिस सुन्दर घर में राजा विराजमान था, उसके पूर्व दरवाजे पर असंख्य मुनि और ब्रह्मर्षि-मण्डल स्थित थे ॥ १९ ॥

दक्षिण दरवाजे पर असंख्य राजा-महाराज विराजमान थे। पश्चिम दरवाजे पर असंख्य ललनाएँ थीं ॥२०॥

उत्तर द्वार असंख्य रथ, हाथी और घोड़ों की भीड़ से व्याप्त था। राजा ने एक गुप्तचर के द्वारा दक्षिण देश के युद्ध की गति-विधि का निर्णय किया ॥ २१ ॥

कर्णाटक देशाधिपति ने उसके पूर्व देश की व्यवहार मर्यादा को अक्षुण्ण बना रक्खा था, सुराष्ट्र देशाधिपति ने उत्तरापथ में सम्पूर्ण म्लेच्छों को उसके अधीन कर रक्खा था ॥ २२ ॥

मालदाधिपति ने उसके लिए पश्चिम देशों को आक्रान्त कर रक्खा था, दक्षिण समुद्र के तट से आया हुआ लङ्का का दूत उसका मनोविनोद कर रहा था ॥ २३ ॥

हजारों पूर्व सागर के तटवर्ती महेन्द्र पर्वत का सिद्ध धाराओं के विस्तार से आश्चर्यमयी गङ्गाजी का वर्णन कर रहा था, उत्तर सागर तट से आया हुआ दूत गुह्यकों का वृत्तान्त कर रहा था ॥ २४ ॥

जिस दूत ने पश्चिम सागर का तट देखा था, वह अस्ताचल के रीति-रिवाजों का वर्णन कर रहा था। पंक्ति में खड़े हुए असंख्य राजाओं की कान्ति से उसका सारा आँगन जगमगा रहा था ॥ २५ ॥

असङ्ख्यबद्धभूपालकलाकीर्णाखिलाजिरम् ॥ २५ ॥
यज्ञवाटपठद्विप्रजिततूर्याग्रनिस्वनम् ।
बन्दिकोलाहलोल्लासप्रतिश्रुद्वनकुञ्जरम् ॥ २६ ॥
गेयवाद्योद्यतध्वानप्रध्वनद्गगनान्तरम् ।
हयहस्तिरथाराजि रजोमेघघनाम्बरम् ॥ २७ ॥
पुष्पकर्पूरधूपाढ्यं गन्धामोदितपर्वतम् ।
सर्वमण्डलसंभाररचितानेकशासनम् ॥ २८ ॥
यशःकर्पूरजलदसुशुभ्राम्बरपर्वतम् ।
रोदसीस्तम्भभूतैकस्वप्रतापजितार्ककम् ॥ २९ ॥
आरम्भमन्थरोदारकार्यसंव्यग्रभूमिपम् ।
नानानगरनिर्माणसोद्योगस्थपतीश्वरम् ॥ ३० ॥
पपाताऽथ महारम्भा सा तां नरपतेः सभाम् ।
व्योमात्मिका व्योममयीं मिहिकेवाऽम्बराटवीम् ॥ ३१ ॥

उसकी यज्ञशाला में वेदमन्त्रों का उच्चारण कर रहे ब्राह्मणों ने तुरही, रणसिंगा आदि उत्तम बाजे के शब्द को दबा दिया था, उसके वनगज बन्दियों के तीव्र शोर-गुल की प्रतिध्वनि कर रहे थे ॥ २६ ॥

उसकी सङ्गीतशाला के गायन और वादन के शब्दों से आकाश गूँज रहा था, चारों ओर घोड़े, हाथी और रथों के ठट्ट लगे थे, उनके एवं पैदल चलने वाली जनता के चलने से उड़ी हुई धूलरूपी बादलों से आकाश छा गया था ॥ २७ ॥

वह स्वयं पुष्प, कर्पूर और धूप से युक्त था और उसके पर्वताकार प्रासाद सुगन्धि से सराबोर थे। सम्पूर्ण मण्डलों से भेंट रूप धन को लाकर जो राजकीय कोष को परिपूर्ण रखते हैं, उन भृत्यों के लिए उसने अनेक प्रकार के शासन बनाये हुए थे ॥ २८ ॥

उसके अपने यशरूपी कर्पूर के ढेर के तुल्य मेघरूपी अतिशुभ्र पर्वत अम्बर में उत्पन्न हुए थे। स्वर्ग लोक और भूलोक के स्तम्भ भूत अपने अद्वितीय प्रताप से उसने सूर्य को भी मात कर दिया था ॥ २९ ॥

उसके अनेक समान्त आरम्भ में मन्दगति से चलने वाले गुरुतर कार्यों में व्यग्र थे और उसके शिल्पी लोग नाना नगरों के निर्माण में संलग्न थे। इस प्रकार राजा को लीला ने देखा ॥ ३० ॥

वासना मात्र शरीर होने से आकाशरूपिणी चिदाकाशनिष्ठारूप विपुल आरम्भ की सम्पादिका लीला वासनामय होने के कारण वैसे ही आकाशरूप राजा की

भ्रमन्तीं तत्र तामग्रे ददृशुस्ते न केचन।
सङ्कल्पमात्ररचितां पुरुषाः कामिनीमिव ॥ ३२॥
तथा ते तां न ददृशुः सञ्चरन्तीं पुरोगताम्।
अन्यसङ्कल्परचितामन्येन नगरीं यथा ॥ ३३॥
प्राक्तनानेव तान् सर्वान् स्वान् ददर्श सभागतान्।
भूभृतेव सुसंप्राप्तान् नगरान्नगरान्तरम् ॥ ३४॥
तद्देशांस्तत्समाचारांस्तथा तानेव बालकान्।
ता एव बालवनितास्तांस्तानेव च मन्त्रिणः ॥ ३५॥
तानेव भूमिपालांश्च तांस्तानेव च पण्डितान्।
तानेव नर्मसचिवान् भृत्यांस्तानेव तादृशान् ॥ ३६॥
अथाऽन्यानप्यपूर्वांश्च पण्डितान् सुहृदस्तथा।
व्यवहारांस्तथाऽन्यांश्च पौरानन्यांस्तथैव च ॥ ३७॥
मध्याह्नकाले दिवसे घनदावाकुला दिशः।
अन्तरिक्षं सचन्द्रार्कं साम्भोदपवनध्वनि ॥ ३८॥

सभा में प्रविष्ट हुई जैसे कुहरा आकाशरूपी अरण्यभूमि में गिरे ॥ ३१॥

वहाँ वह सबके आगे घूम रही थी, किन्तु वहाँ पर स्थित पुरुषों ने अपने आगे घूम रही केवल सङ्कल्प से बनी लीला को मानों सङ्कल्प से कल्पित कामिनी के समान हो, अतः, इसको नहीं देखा ॥ ३२॥

दूसरे के सङ्कल्प से निर्मित नगरी को जैसे दूसरा नहीं देख सकता है, वैसे ही अपने आगे-आगे घूम रही लीला को किसी ने भी नहीं देखा ॥ ३३॥

वहाँ लीला ने अपमे उन्हीं पुराने सब लोगों को सभा में बैठे हुए देखा, जिन्हें वह पहले देखती थी, वे सब ऐसा प्रतीत होता था कि राजा के साथ ही एक नगर से दूसरे नगर में चले गये हों ॥ ३४॥

जो पहले जहाँ पर बैठते थे वे उसी स्थान पर बैठे थे, उन्हीं के समान उनका आचरण था। लीला ने, जिन्हें वह पहले देखती थी, उन्हीं बालकों को, उन्हीं युवतियों को, उन्हीं मन्त्रियों को, उन्हीं राजाओं को, उन्हीं मनीषियों को, उन्हीं विदूषकों को और उन्हीं दासों को तथा वैसे ही भृत्यों को देखा ॥ ३५, ३६॥

इसके बाद उसने उनसे भिन्न कुछ नये विद्वानों और मित्रों को देखा, पहले से कुछ व्यवहार भिन्न दिखाई दिये, अनेक पुरवासी एवं लोग भी भिन्न थे ॥ ३७॥

उसने दिन में दोपहर के समय घने जङ्गलों से व्याप्त दिशाएँ देखीं और देखा चन्द्रमा तथा सूर्य से युक्त

महीरुहनदीशैलपुरपत्तनमण्डितम्।
नानानगरविन्यासजङ्गलग्रामसङ्कुलम् ॥ ३९॥
द्विरष्टवर्षं भूपालं प्राक्तन्या जरसोज्झितम्।
प्राक्तनीं जनतां सर्वां समस्तान् ग्रामवासिनः ॥ ४०॥
सा तानालोक्य ललना चिन्तापरवशाऽभवत्।
तस्मिन्नगरवास्तव्याः किं ते सर्वे मृता इति ॥ ४१॥
पुनः प्रज्ञप्तिबोधेन प्राक्तनाऽन्तःपुरं गता।
क्षणेन च ददर्शाऽत्र सार्द्धरात्रे तथैव तान् ॥ ४२॥
अथ सोत्थापयामास निद्राक्रान्तं सखीजनम्।
आह चाऽतीव मे दुःखमास्थानं दीयतामिति ॥ ४३॥
भर्तुः सिंहासनस्यास्य पार्श्वे तिष्ठाम्यहं यदि।
पश्यामि सभ्यसङ्घातं तत्प्रजीवामि नाऽन्यथा ॥ ४४॥
स राजपरिवारोऽथ तयेत्युक्ते यथाक्रमम्।
आसीद्विनिद्रः संव्यग्रः सर्वः सर्वस्वकर्मणि ॥ ४५॥

आकाश को देखा ॥ ३८॥

बादलों की गड़गड़ाहट और वायु की सनसनाहट से सम्पन्न वृक्ष, नदी, पर्वत, नगर, ग्रामों से विभूषित अनेक जङ्गलों और विविध नगरों की रचना से परिव्याप्त थे ॥ ३९॥

वहाँ पर उसने सोलह वर्ष के राजा को देखा, जो पूर्वजन्म की वृद्धावस्था से रहित था और पूर्वजन्म की सम्पूर्ण जनता को तथा सब ग्रामवासियों को देखा ॥४०॥

उन्हें वासनामय नगर में देखकर लीला चिन्ता के परवश हो गई, उसे सन्देह हुआ कि क्या उस नगर में रहने वाले सभी मर गये हैं? ॥ ४१॥

फिर वह सरस्वती देवी के प्रसाद से उत्पन्न प्रबोध से एक क्षण में अपने पहले के अन्तःपुर में आई। वहां आधी रात में उसने अपने अनुचरों को वैसे ही सोये देखा, जिस रूप में वह उनको छोड़ गई थी ॥ ४२॥

अनन्तर उसने घोर निद्रा में सोई अपनी सखियों को जगाया और कहा कि मुझे अत्यन्त दुःख हो रहा है, इसलिये आप लोग मुझे सभास्थान में ले चलें ॥ ४३॥

यदि मैं राजा के सिंहासन के समीप में बैठूं और सदस्यों को देखूँ, तो मैं जीवित रह सकती हूँ अन्यथा मेरा मरण ही जाने ॥ ४४॥

रानी के ऐसा कहने पर सम्पूर्ण राजपरिवार जाग उठा और यथायोग्य अपने अपने काम में लग गया ॥ ४५॥

पौरान् सभ्यान् समानेतुं ययुर्याष्टीकपङ्क्तयः ।
व्यवहारं कलयितुमुर्व्यामर्ककरा इव ॥ ४६ ॥
आस्थानभूमिं भृत्याश्च मार्जयामासुरादृताः ।
प्रावृट्पयोदमलिनं खं शरद्वासरा इव ॥ ४७ ॥
अङ्गणं प्रति दीपौघास्तस्थुः पीततमोम्भसः ।
आश्चर्यदर्शनायेव संप्राप्ता ऋक्षपङ्क्तयः ॥ ४८ ॥
जनता पूरयामासु पूरैरजिरभूमिकाः ।
अब्धीन्प्रलयसंशुष्कान्पुरासर्गं इवाऽम्भसा ॥ ४९ ॥
आऽजग्मुर्मन्त्रिसामन्ताः स्वं स्वं स्थानमनिन्दिताः ।
त्रैलोक्ये पुनरुत्पन्ने लोकपाला यथा दिशः ॥ ५० ॥
ववुराकीर्णकर्पूरसान्द्रावश्यायशीतलाः ।
उत्फुल्लकुसुमोद्वान्तमांसलामोदितानिलाः ॥ ५१ ॥
पर्यन्तेषु प्रतीहारास्तस्थुर्धवलवाससः ।
ऋष्यमूकार्कतापार्तमेघमाला इवाऽद्रिषु ॥ ५२ ॥
प्रभापीततमःपुञ्जाः पेतुः पुष्पोत्करा भुवि ।
चाण्डमारुतविध्वस्तास्तारकानिकरा इव ॥ ५३ ॥
आस्थानं पूरयामासुर्महीपालानुयायिनः ।
उत्फुल्लकमलोत्कीर्णं हंसा इव सरोवरम् ॥ ५४ ॥
सिंहासनसमीपस्थे हैमचित्रासने नवे ।
उपाविशदसौ लीला लीलेव स्मरचेतसि ॥ ५५ ॥
ददर्श तान्नृपान्सर्वान्पूर्वानिव यथास्थितान् ।
गुरूनार्यान्सखीन्सभ्यान् सुहृत्सम्बन्धिबान्धवान् ॥ ५६ ॥
सकलमेव हि पूर्ववदेव सा
समवलोक्य मुदं परमां ययौ ।
नृपतिराष्ट्रजनं खलु जीवनाभ्यु-
दितया च बभौ शशिवच्छ्रिया ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सन्देहाराष्ट्रवर्णनं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

जैसे सूर्य की किरणें लोगों को अपने अपने व्यवहार में लगाने के लिए पृथिवी पर आती हैं, वैसे बेंतधारी भट नगरवासी सदस्यों को लेने के लिए गये ॥ ४६ ॥

जैसे शरत् ऋतु के दिन वर्षाकाल के बादलों से मलिन आकाश को स्वच्छ कर देते हैं, वैसे ही अपने कार्य में भृत्यों ने सभामण्डप को खूब स्वच्छ कर दिया ॥४७॥

आश्चर्य देखने के लिए आये हुए तारागणों के समान अन्धकाररूपी जल को पानकर दीपपङ्क्तियाँ आंगन में जगमगा उठीं ॥ ४८ ॥

जनता ने राजा के आँगन को प्रवाह के समान आ रहे अपने संघ से उसी प्रकार भर दिया जैसे प्रलय काल में सूखे हुए समुद्रों को जीवों की सृष्टि से पहले होनेवाली जल सृष्टि प्रवाह से पूर्ण कर देती है ॥ ४९ ॥

वैसे ही निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण अपने-अपने स्थान पर उसी प्रकार आकर बैठ गये जैसे प्रलय के अनन्तर त्रैलोक्य के पुनः उत्पन्न होने पर लोकपाल अपनी अपनी दिशाओं में अधिष्ठित हो जाते हैं ॥ ५० ॥

चारों ओर फैले हुए कपूर के समान निविड़ तुषार के संयोग से शीतल और खूब खिले हुए फूलों से निकल रहे मकरन्द की सुगन्ध से सुगन्धित वायु बहने लगी ॥ ५१ ॥

सफेद वस्त्र पहने हुए प्रतिहारगण, द्वारपालगण सभामण्डप के प्रान्तों में उसी तरह जैसे ऋष्यमूक पर्वत पर अपने पुत्र सुग्रीव के ऊपर अनुग्रह करने के लिए आये हुए सूर्य के सन्ताप से पीड़ित मेघपंक्तियाँ हिमालय आदि पर्वतों में आश्रय लेती हैं ॥ ५२ ॥

जैसे प्रलयकाल के प्रचण्ड वायु से विध्वस्त होकर तारागण गिरते हैं, वैसे ही अपनी कान्ति से अन्धकारपटल का विनाश करनेवाले फूल तेजवायु के झोंकों से पृथिवीपर गिरने लगे ॥ ५३ ॥

महाराज के अनुयायियों ने सभामण्डप को उसी प्रकार परिव्याप्त कर दिया जैसे हंस प्रफुल्ल कमलों से व्याप्त सरोवर को भर देते हैं ॥ ५४ ॥

लीला सिंहसान के पास में बिछाये हुए नूतन स्वर्णमय चित्रासन पर उसी प्रकार बैठ गई जैसे कामदेव के चित्त में रति बैठती है या जैसे कामदेव से विकृत चित्त में शृङ्गारचेष्टाएँ आसन जमाती हैं ॥ ५५ ॥

लीला ने पहले के समान यथायोग्य स्थानों में बैठे हुए, पूर्व ही सब राजाओं, गुरुओं, माननीयों, मित्रों, सदस्यों, सहचरों, सम्बन्धियों और बन्धुबान्धवों को देखा ॥ ५६ ॥

राजा के राष्ट्र के सभी लोगों को उसी रूप में देखकर लीला की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा और सबके जीवन का निश्चय होने से उदित हुई चन्द्रमा की कान्ति से सुशोभित हो गई ॥ ५७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में सन्देहराष्ट्रवर्णन नामक कुसुमलता का सत्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १७ ॥

१८

वसिष्ठ उवाच

इत्थं विनोदयामीदं दुःखदं चित्तमित्यलम् ।
बोधयित्वेङ्गितैर्भूपानास्थानादुत्थिताऽथ सा ॥ १ ॥
प्रविश्याऽन्तःपुरं भर्तुः पार्श्वेऽन्तःपुरमण्डपे ।
विवेश पुष्पगुप्तस्य चिन्तयामास चेतसा ॥ २ ॥
अहो विचित्रा मायेयमेतेऽस्मत्पुरमानवाः ।
बहिरन्तरवद्देशे तत्र चेह च संस्थिताः ॥ ३ ॥
तालीतमालहिन्तालमालिता गिरयोऽप्यमी ।
यथा तत्र तथेहाऽपि बत मायेयमातता ॥ ४ ॥
आदर्शेऽन्तर्बहिश्चैव यथा शैलोऽनुभूयते ।
बहिरन्तश्चिदादर्शे तथा सर्गोऽनुभूयते ॥ ५ ॥
तत्र भ्रान्तिमयः सर्गः कः स्यात्कः पारमार्थिकः ।
इति पृच्छामि वागीशामभ्यर्च्योक्तमसंशयम् ॥ ६ ॥
इति निश्चित्य तां देवीं पूजयामास सा तदा ।
ददर्श च पुरः प्राप्तां कुमारीरूपधारिणीम् ॥ ७ ॥
भद्रासनगतां देवीमुपविश्य पुरोगता ।
परमार्थमहाशक्तिं लीलाऽपृच्छद् भुवि स्थिता ॥ ८ ॥

लीलोवाच

अनुकम्प्यस्य नो देवी भजन्त्युद्वेगमुत्तमाः ।
त्वयैव किल सर्गादौ स्थापिता स्थितिरुत्तमा ॥ ९ ॥
तदिदं यत्पुरः प्रह्वा पृच्छामि परमेश्वरि ! ।
तद् ब्रूहि त्वत्कृतो नूनं सफलो मेऽस्त्वनुग्रहः ॥ १० ॥
अस्याऽऽदर्शो जगन्नाम्नः खादप्यधिकनिर्मलः ।
यस्य योजनकोटीनां कोटयोऽवयवो मनाक् ॥ ११ ॥
निःसंधितवचोज्योतिर्घनो मृदुसुशीतलः ।
अचेत्यचिदिति ख्यातो नाम्ना निर्भित्तिरग्रतः ॥ १२ ॥

१८

[समाधि में देखी गई सृष्टि और पहले की सृष्टि दोनों दृश्य होने के कारण समानरूप से मिथ्या हैं चिन्मात्र ही सत्य हैं]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—अत्यन्त दुःखदायी इस चित्त को इस प्रकार बहला रही हूँ, इस तरह ईशारे से राजाओं को अपना अभिप्राय समझा कर रानी लीला सभाभवन से उठ गई ॥ १ ॥

अन्तःपुर में जाकर अन्तःपुर के प्रासाद में फूलों से आच्छन्न अपने पति के पास पहुँची और विचार करने लगी ॥ २ ॥

अहो ! यह बड़ी विचित्र माया है, ये हमारे पुरवासी मनुष्य समाधि में देखे गये प्रदेश में और बाहर अवकाश-युक्त हमारे नगर से भी स्थित हैं ॥ ३ ॥

ताल तमाल आदि वृक्षों से व्याप्त ये पर्वत भी जिस तरह वहाँ दिखाई दे रहे थे, वैसे ही यहाँ भी दिखाई दे रहे हैं, आश्चर्य है यह किसी ने माया फैला रक्खी है ॥४॥

चित्तरूपी आदर्श में भीतर और बाहर भी यह सृष्टि उसी प्रकार प्रतीत हो रही है जैसे पर्वत दर्पण में भीतर और बाहर भी प्रतीत होता है ॥ ५ ॥

इनमें कौन भ्रान्तिमयी सृष्टि है तथा कौन पारमार्थिक सृष्टि है ? इस सन्देह को मैं सरस्वती देवी से, उनकी पूजा कर, इस प्रकार पूछूँगी जिससे कि सन्देह दूर हो जाय ॥ ६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर लीला ने सरस्वती देवी की पूजा की और कुमारीरूप में सरस्वती देवी को अपने सामने उपस्थित देखा ॥ ७ ॥

सुन्दर सिंहासन पर विराजमान हुई परमार्थ महा-शक्तिरूप देवी के सम्मुख आकर लीला ने भूमि पर बैठकर देवी से पूछा ॥ ८ ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! उत्तम लोग अनुकम्पनीय पुरुषपर क्रुद्ध नहीं होते हैं, आपने ही सृष्टि के आरम्भ में यह उत्तम नियम बनाया है ॥ ९ ॥

इसलिए हे परमेश्वर ! मैं आपके सम्मुख विनत होकर जो यह पूछती हूँ, उसे आप मुझसे कहें, पहले आपने मेरे ऊपर जो वरदानरूप अनुग्रह किया है, वह सफल हो ॥ १० ॥

इस जगत् नामक प्रपञ्च का आदर्श (चिदादर्श) आकाश से भी अधिक निर्मल है, करोड़ों-करोड़ों योजन जिसका एक छोटा-सा अवयव है ॥ ११ ॥

संसर्गरूप से बोधक रहित चिद्घन, मृदु अर्थात् अखण्ड वाक्यार्थ सम्पूर्ण ताप का नाश करने के कारण शीतल आवरणशून्य और सम्पूर्ण व्यवहारों में सर्वप्रथम स्फुरित होनेवाला चेत्य से भिन्न चित् कहा गया है ॥ १२ ॥

दिक्कालकलनाकाशप्रकाशनियतिक्रमाः ।
यत्रेमे प्रतिबिम्बन्ति परां परिणतिं गताः ॥ १३ ॥
त्रिजगत्प्रतिबिम्बश्रीर्बहिरन्तश्च संस्थिता ।
तत्रवै कृत्रिमा का स्यात्काऽसौ वा स्यादकृत्रिमा ॥१४॥

श्रीदेव्युवाच

अकृतिमत्वं सर्गस्य कीदृशं वद सुन्दरि ! ।
कीदृशं कृत्रिमत्वं स्याद्यथावत्कथयेति मे ॥ १५ ॥

लीलोवाच

यथाऽहमिह तिष्ठामि त्वं च देवि स्थिताऽम्बिके ।
असावकृत्रिमः सर्ग इति देवेशि ! वेद्म्यहम् ॥ १६ ॥

जिस आत्मारूपी में दिशाएँ, काल सभी कार्यों की उत्पत्ति, उत्पन्न पदार्थों की आकाश में अवकाशप्राप्ति, आलाक और नेत्र आदि द्वारा प्रकाश और प्रकाशित पदार्थों से यह कार्य इस प्रकार के व्यवहार के उपयुक्त है यह नियतिक्रम ये विस्तृत विकाररूप विलक्षणता की प्राप्ति कर प्रतिबिम्ब के समान अन्दर प्रतीत होते हैं ॥ १३ ॥

त्रिजगत्-रूप प्रतिबिम्बश्री बाहर और अन्दर अवस्थित हैं, उन दोनों में कौन सृष्टि अकृत्रिम = सत्य है और कौन कृत्रिम = मिथ्या है ॥ १४ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा :—हे सुन्दरि ! सृष्टि की अकृत्रिमता कैसी है और कृत्रिमता कैसी है, यह मुझे भली-भाँति कहें ॥ १५ ॥

लीलाने कहा:—हे देवि अम्बिके ! जैसे मैं यहाँ पर बैठी हूँ और आप भी स्थित हैं, हे देवेशि ! इसे मैं अकृत्रिम सृष्टि समझती हूँ ॥ १६ ॥

इस समय मेरे पति हैं, उस सृष्टि को कृत्रिम = मिथ्या समझती हूँ, क्योंकि वह अपनी स्थिति के लिए अपर्याप्त देश, काल और व्यवहार की पूर्ति नहीं करती है । अर्थात् जैसे दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित और स्वप्न में देखा गया पर्वत देश-काल और व्यवहार का पूरक नहीं होता है । आशय यह है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित पर्वत की स्थिति के लिए, दर्पणरूप देश पर्याप्त नहीं है, किन्तु जब तक पर्वत की रूप-रेखा बनती है, वह काल उसके लिए पर्याप्त नहीं है और आरोहण-अवरोहण आदि व्यवहार भी नहीं होता है । अपनी स्थिति के लिए अपूर्ण अत्यन्त अल्प देश-काल-व्यवहार पूर्ति जैसे वह नहीं करता है, वैसे ही वह सर्ग भी अपनी स्थिति के लिए अपर्याप्त अत्यन्त अल्प देश, काल और व्यवहार की पूर्ति नहीं करता है, अतः मिथ्या है ॥ १६, १७ ॥

यत्राऽधुना स भर्ता मे स्थितः सर्गः सकृत्रिमः ।
अहं मन्ये यतः शून्यो देशकालाद्यपूरकः ॥ १७ ॥

श्रीदेव्युवाच

कृत्रिमोऽकृत्रिमात्सर्गान्न कदाचन जायते ।
नहि कारणतः कार्यमुदेत्यसदृशं क्वचित् ॥ १८ ॥

लीलोवाच

दृश्यते कारणात्कार्यं सुविलक्षणम्बिके ।
अम्ब्वादातुमशक्ता मृद्घटस्तज्जस्तदास्पदम् ॥ १९ ॥

श्रीदेव्युवाच

संपद्यते हि यत्कार्यं कारणैः सहकारिभिः ।
मुख्यकारणवैचित्र्यं किञ्चित्तत्राऽवलोक्यते ॥ २० ॥

(तुम्हारे पति की जो वासनामय सृष्टि है, उसका कोई कारण है या नहीं ? यदि उसे अकारण कहो, तो उसकी उत्पत्ति नहीं होगी । यदि सकारण मानो, तो वह कारण कृत्रिम है या अकृत्रिम । कृत्रिम कारण मानो, तो यह सृष्टि उसकी कारण है या अन्य सृष्टि ? अन्य सृष्टि तो कोई प्रसिद्ध है नहीं, अतः पहला पक्ष ही शेष रहा, ऐसी दशा में कृत्रिम सृष्टि का कारणभूत यह सर्ग भी कृत्रिम ही ठहरेगा, क्योंकि कहीं पर भी भिन्न सत्ता वाले कार्य और कारण नहीं देखे गये हैं, अतः इन दो सृष्टियों में परस्पर विलक्षणता नहीं है ।)

श्रीदेवी जी ने कहा :— अकृत्रिम कारण कृत्रिम सृष्टि की कभी-भी उत्पत्ति नहीं होती है, कहीं भी कारण से सर्वथा भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं होता है ॥ १८ ॥

लीला ने कहा :—हे अम्बिके ! कारण से कार्य सर्वथा विलक्षण दिखाई देता है—मिट्टी जल आदि धारण नहीं कर सकता है, पर उससे उत्पन्न घड़ा जल-धारण करने में समर्थ दिखलाई देता है ॥ १९ ॥

(उपादान कारण की विचित्रता से या सहकारी और निमित्त कारणों की विलक्षणता से मिट्टी के ढेले और घड़े में विलक्षणता भले हो हो, जिस वस्तु का एक ही उपादान और निमित्त कारण है । उसमें दीपक से अन्य दीपक के समान कारण से विलक्षणता नहीं दिखलाई देती । प्रस्तुत दो सृष्टियां भी वैसी हैं ।)

श्रीदेवीजी ने कहा:—जो कार्य (भिन्न) उपादान और (भिन्न) सहकारी कारणों से उत्पन्न होता है, उसमें मुख्य अर्थात् असाधारण कारणों से कुछ विलक्षणता दिखाई देती है ॥ २० ॥

वद त्वद्भर्तृसर्गस्य किं पृथ्व्यादिषु कारणम् ।
तद्भूतमण्डलतो भूतिर्जाता तत्र वरानने ! ॥ २१ ॥
गतं चेदित उड्डीय कुतः स्यादिह भूतलम् ।
सहकारीणि कानीव कारणान्यत्र कारणे ॥ २२ ॥
कारणानामभावेऽपि यौदेति सहकारिता ।
तत्पूर्वकारणान्नान्यत्सर्वेणेत्यनुभूयते ॥ २३ ॥

लीलोवाच

स्मृतिः सा देवी मद्भर्तुस्तथा स्फारत्वमागता ।
स्मृतिस्तत्कारणं वेद्मि सर्गोऽयमिति निश्चयः ॥ २४ ॥

श्रीदेव्युवाच

स्मृतिराकाशरूपा च यथा तज्जस्तथैव ते ।
भर्तुः सर्गोऽनुभूतोऽपि स व्योमैव तथाऽबले ॥ २५ ॥

(तुम्हारे पतिदेवकी जो वासनामय सृष्टि है, उसमें तो असाधारण कारण से विलक्षणता की कल्पना की नहीं जा सकती, क्योंकि दोनों समानरूप से माया, काम, कर्म और वासनामूलक हैं)

हे सुन्दरमुखि ! प्रत्यक्ष दीख रही तुम्हारे पति की इस सृष्टि के अन्तर्गत पृथिवी आदि में कारण क्या है ? इसे कहो, इस भूमण्डल से भौतिक पदार्थों की जैसे उत्पत्ति हुई है, वैसे ही उस भूमण्डल से उत्पत्ति हुई है, अतः भौतिक पदार्थों में कोई विलक्षणता नहीं है ॥ २१ ॥

यदि भूतल आदि यहाँ से उड़कर वहाँ गया है, तो यहाँ भूतल कैसे रहेगा ? कारण के वहाँ गये बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और इसको कारण मानने पर भी सहकारी कारण कौन हैं ? ॥ २२ ॥

यहाँ के सहकारी कारणों के न रहने पर भी वहाँ जो सामग्री सहकारी के रूप में उत्पन्न होती है, यदि वे सहकारी कारण न होते तो कार्य की उत्पत्ति ही न होती; वे पूर्व सृष्टि के कारण काम, कर्म, वासना और अविद्या से अन्य नहीं इसलिए वैलक्षण्य की सिद्धि नहीं होती है ये बातें सबके अनुभव में आती हैं ॥ २३ ॥

यदि यह कहा जाय कि सत्यरूप इस सृष्टि के अनुभव से जनित संस्कार से पुरोवर्ति-विषयरहित स्मृति के समान स्वप्न सदृश मेरे पति की सृष्टि है ।

लीला ने कहा:—हे देवि ! मेरे पति की वह (पूर्व के अनुभव से जनित संस्कार से पैदा हुई) स्मृति विस्तार को प्राप्त कर वह स्मृति ही इस सृष्टि की सृष्टि कारण है, उसी से यह हुई है ऐसा मेरा निश्चय है ॥ २४ ॥

लीलोवाच

स्मृत्याकाशमयः सर्गो यथा भर्तुर्ममोदितः ।
तथैवेममहं मन्ये स सर्गोऽत्र निदर्शनम् ॥ २६ ॥

श्रीदेव्युवाच

एवमेवतदसत्सर्गो भर्तुस्तैर्भाति भासुरः ।
तथैवाऽयमिहाऽऽभाति पश्याम्येतदहं सुते ! ॥ २७ ॥

लीलोवाच

यथा पत्युरमूर्त्तोऽस्मात्सर्गात् सर्गो भ्रमात्मकः ।
जातस्तथा कथय मे जगद्भ्रमनिवृत्तये ॥ २८ ॥

श्रीदेव्युवाच

प्राक्स्मृतेर्भ्रान्तिमात्रात्मा सर्गोऽयमुदितो यथा ।
स्वप्नभ्रमात्मको भाति तथेदं कथ्यते शृणु ॥ २९ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा—हे अबले ! स्मृति विषय शून्य होने से आकाश स्वरूप है, स्मृति से उत्पन्न तुम्हारे पतिदेव की सृष्टि अनुभूत होने पर भी आकाश के समान विषय शून्य है अर्थात् आकाश ही प्रतीत विषय मिथ्या-भूत है, आशय यह है कि तब तो पहले जन्म में देखी गई सृष्टि के संस्कार द्वारा तुम्हारे पति की सृष्टि हुई । संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं, उसमें विषय सम्मुख नहीं रहता है, पुरोवर्ती विषय से शून्य होने के कारण स्मृति शून्य आकाश रूपा है, अतः तुम्हारे पति की सृष्टि भी शून्यरूप ही होगी क्योंकि वह स्मृति के समान पूर्व सृष्टि के संस्कार से उत्पन्न हैं ॥ २५ ॥

लीला ने कहा :—जैसे आपने मेरे पति के सर्ग को स्मृत्याकाशमय कहा है, वैसे ही मैं इस सृष्टि को भी स्मृत्याकाशमय मानती हूँ, इस सर्ग की स्मृत्याकाशमयता में अर्थात् समाधि में दृष्ट सर्ग दृष्टान्त है ॥ २६ ॥

देवी ने कहा :—हे पुत्रि ! जैसा तुम कह रही हो वैसा ही है अर्थात्, वह असत् मिथ्याभूत सर्ग जैसे तुम्हारे पति के उन सर्ग के रूपों में प्रकाशमान प्रतीत होता है, वैसे ही यह सर्ग भी उन सर्गों से प्रकाशमान प्रतीत होता है, यह ही असत् है, यह मैं देख रही हूँ ॥ २७ ॥

लीला ने कहा :—जिस प्रकार इस सृष्टि से मेरे पति की भ्रमात्मक अमूर्त सृष्टि हुई है उसी प्रकार इस जगत्-भ्रम की निवृत्ति के लिए, वह मुझसे कहें ॥ २८ ॥

श्रीदेवी जी ने कहा :—जैसे पूर्व सृष्टि की स्मृति से उत्पन्न स्वप्न भ्रम के समान केवल भ्रमस्वरूप यह सृष्टि कैसे प्रतीत होती है, यह मैं कहती हूँ, सुनो ॥ २९ ॥

अस्ति क्वचिच्चिदाकाशे क्वचित्संसारमण्डपः ।
आकाशकाचलदलवत्संस्थानाच्छादिताकृतिः ॥ ३० ॥
मेरुस्तम्भस्थलोकेशपुरन्ध्रीशालभञ्जिकः ।
चतुर्दशापवरकस्त्रिगर्त्तो भानुदीपकः ॥ ३१ ॥
कोणस्थभूतवल्मीकव्यामपर्वतलोष्ठकः ।
अनेकपुत्रजरठप्रजेशब्राह्मणास्पदम् ॥ ३२ ॥
जीवौघकोशकाराढ्यो व्योमोर्ध्वतलकालिमा ।
नभोनिवाससिद्धौघमशकाहितघुंघुमः ॥ ३३ ॥
पयोदगृहधूमोग्रजालावलितकोणकः ।
वातमार्गमहावंशस्थितवैमानकीटकः ॥ ३४ ॥
सुरासुरादिदुर्बाललीलाकलकलाकुलः ।
लोकान्तरपुरग्रामभाण्डोपस्करनिर्भरः ॥ ३५ ॥
सरःस्रोतोऽब्धिसरसीजलोक्षितमहीतलः ।
पातालभूतलस्वर्गभागभासुरकोटरः ॥ ३६ ॥
तत्र कस्मिंश्चिदेकस्मिन् कोणेष्वम्बरकोटरे ।
शैललोष्ठतलेऽस्त्येको गिरिग्रामकगर्त्तकः ॥ ३७ ॥
तस्मिन्नदीशैलवनोपगूढे
साग्निः सदारः सुतवानरोगः ।
गोक्षीरवान् राजभयाद्विमुक्तः
सर्वातिथिर्धर्मपरोऽद्विजोऽभूत् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये लीलोपाख्याने सकलजगद्भ्रान्तिप्रतिपादनं नामाऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

चिदाकाश में विशेष में अर्थात् अज्ञान से आच्छन्न भाग में वहां स्रष्टा के अन्तःकरणरूपी किसी कोने में संसाररूपी मन्दिर है, वह आकाशरूपी काँच के टुकड़े के समान नीले छत्राकार संस्थान से आच्छादित है ॥ ३० ॥

मेरुपर्वतरूपी स्तम्भ में लोकपालों की स्त्रियाँ प्रतिमाओं के समान विराजमान हैं, वहाँ चौदह भुवन रूपी अन्तर्गृह हैं, और वहाँ तीनों भुवनों के मध्यभागरूपी तीन गड्ढे हैं, जिसका दीपक सूर्य है ॥ ३१ ॥

जिसमें कोने में स्थित पञ्चभूत रूपी दीमकों के बल्मीक—वामी के समान नगरों से व्याप्त पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले हैं और जो अनेक पुत्रों से युक्त वृद्ध प्रजा के ईश ब्रह्मा का निवासस्थान है ॥ ३२ ॥

जीवरूप कोशकार नामक कीड़ों (विलनी) से संयुक्त आकाश में रहने वाले सिद्धों के समूहरूप मच्छरों से सदा 'घुं घुं' शब्दों से परिव्याप्त रहता है ॥ ३३ ॥

मेघरूपी घरों के धुएँ के समूह से जिसका कोना परिव्याप्त है, जिस वायुमार्गरूपी महावंश में स्थित विमानचारी देवता आदि कीड़े हैं ॥ ३४ ॥

सुर-असुर आदि उद्धत बालकों की क्रीड़ा के कोलाहल से सदा वह शब्दायमान रहता है, भू आदि लोकों के मध्यवर्ती नगर और ग्रामरूपी वर्तन आदि विविध सामग्री से परिपूर्ण है ॥ ३५ ॥

सरोवर और स्रोतरूपी समुद्र और नादियों के जल से जिसका भूभाग सिञ्चित रहता है और पाताल, जहाँ भूलोक और स्वर्गलोकरूपी प्रकाशमान कोठरियाँ हैं ॥३६॥

उस संसाररूपी पुराने गृह में आकाशरूपी कमरे के किसी एक कोने में पर्वतरूपी मिट्टी के ढेले के नीचे एक छोटा-सा पर्वतग्रामरूपी गड्ढा है ॥ ३७ ॥

नदी, पर्वत और वनास घिरे हुए उस स्थान में स्त्री पुत्रों से समन्वित और नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण रहता था। गऊ आदि दूध देनेवाले अनेक पशुओं का स्वामी राजभय से सर्वथा मुक्त सभी वर्णश्रमियों का आतिथ्य सत्कार करने में तत्पर विप्र रहता था ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में लीलोपाख्यान में सकलजगद्भ्रान्ति-प्रतिपादन नामक कुसुमलता का अठारहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १८ ॥

१९

श्रीदेव्युवाच

वित्तवेषवयःकर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
वसिष्ठस्यैव सदृशो न तु वासिष्ठचेष्टितः ॥ १ ॥

१९

श्रीदेवीजी ने कहा :—वह ब्राह्मण वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणों से वसिष्ठ के समान होनेपर भी इक्ष्वाकुकुल का पौरोहित्य और श्रीराम चन्द्रजी को उपदेश आदि वसिष्ठ की चेष्टाओं से शून्य था ॥ १ ॥

वसिष्ठ इति नाम्नाऽसौ तस्याऽभूदिन्दुसुन्दरी ।
नाम्ना त्वरुन्धती भार्या भूमिव्योमन्यरुन्धती ॥ २ ॥
वित्तवेषवयःकर्मविद्याविभवचेष्टितैः ।
समैव साऽप्यरुन्धत्या न तु चेतनसत्तया ॥ ३ ॥
अकृत्रिमप्रेमरसा विलासालसगामिनी ।
साऽस्य संसारसर्वस्वमासीत्कुमुदहासिनी ॥ ४ ॥
स विप्रस्तस्य शैलस्य सानौ सरलशाद्वले ।
कदाचिदुपविष्टः सन् ददर्शाऽधो महीपतिम् ॥ ५ ॥
समग्रपरिवारेण यान्तमाखेटकेच्छया ।
महता सैन्यघोषेण मेरोरिव बिभित्सया ॥ ६ ॥
चामरैः कीर्णचन्द्रांशु पताकाभिर्लतावनम् ।
कुर्वाणं खं सितच्छत्रमण्डलैः रूप्यकुट्टिमम् ॥ ७ ॥
अश्वपादूत्खनत्क्ष्माजरेणुपूरावृताम्बरम् ।

उसका नाम वसिष्ठ ही था, उसकी चन्द्रमा के समान सुन्दर अरुन्धती नाम की पत्नी थी। वह भूमिरूपी आकाश की दूसरी अरुन्धती थी।

वित्त, वेष, अवस्था, कर्म, विद्या, वैभव और आचरणों से वह भी अरुन्धती के समान थी, किन्तु जीवस्वरूप से स्थिति से वह अरुन्धती के समान नहीं थी। आशय यह है कि प्रसिद्ध वसिष्ठ और अरुन्धती तत्त्वज्ञानी होने से वे जीवन्मुक्त थे, किन्तु उक्त अरुन्धती और वसिष्ठ को आगे के जन्म में ज्ञान होनेवाला था, अतः वे उस समय अज्ञानी होने के कारण बद्ध थे ॥ ३ ॥

अकृत्रिम प्रेम रस से सम्पन्न विलासपूर्वक मन्थरगमन तथा कमल के विकास के समान मनोहर हास युक्त वह सुन्दरी संसार में उसकी सर्वस्व थी ॥ ४ ॥

वह ब्राह्मण कभी हरे दूर्वाङ्कुरों से आच्छन्न समतल भूमिवाले उस पर्वत शिखर पर बैठा था ॥ ५ ॥

उसने पर्वत के नीचे शिकार खेलने की इच्छा से सारे साज-बाज के साथ जा रहे राजा को देखा। उसकी सेना का इतना बड़ा कोलाहल हो रहा था, जिससे मेरुपर्वत के विदारण की शङ्का होती थी ॥ ६ ॥

वह राजा अपने चँवरों और पताकाओं से लताओं के वन को चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त कर रहा था, सफेद छातों से आकाश को चाँदी का फर्श बना रहा था ॥ ७ ॥

घोड़ों की नालों से खोदने के योग्य भूमि से उत्पन्न हुई धूलि के पटल से उसने आकाश को ढँक दिया था,

हास्तिकोत्तम्भितकरवाताट्टालकगोपितम् ॥ ८ ॥
महाकलकलावर्तद्रवद्दिग्भूतमण्डलम् ।
कचत्काञ्चनमाणिक्यहारकेयूरमण्डलम् ॥ ९ ॥
तमालोक्य महीपालमिदं चिन्तितवानसौ ।
अहो नु रम्या नृपता सर्वसौभाग्यभासिता ॥ १० ॥
पदातिरथहस्त्यश्वपताकाच्छत्रचामरैः ।
कदा स्यां दशदिक्कुञ्जपूरकोऽहं महीपतिः ॥ ११ ॥
कदा मे वायवः कुन्दमकरन्दसुगन्धयः ।
पास्यन्त्यन्तःपुरस्त्रीणां सुरतश्रमसीकरान् ॥ १२ ॥
कर्पूरेण पुरन्ध्रीणां पूर्णेन यशसा दिशाम् ।
इन्दूदयावदातानि कदा कुर्यां मुखान्यहम् ॥ १३ ॥
इत्थं ततःप्रभृत्येष विप्रः सङ्कल्पवानभूत् ।
स्वधर्मनिरतो नित्यं यावज्जीवमतन्द्रितः ॥ १४ ॥

पर वह स्वयं हाथियों की पीठपर रक्खी हुई सूर्य की किरणों और वायु को रोकनेवाली सोने, चाँदी और मोतियों से अलङ्कृत अम्बारियों से रक्षित था अर्थात् अम्बारी में स्थित होने के कारण धूलि से आवृत नहीं हुआ था ॥ ८ ॥

उसके सैन्यों के कोलाहल से दसों दिशाओं के मृग आदि प्राणियों के झुण्ड दिग्भ्रम होने के कारण जल के भौंरों के समान भाग रहे थे और उसके सुवर्ण और मणियों के बने हुए हार, बाजूबन्द आदि आभरणों की कान्ति छिटक रही थी ॥ ९ ॥

उस राजा को देखकर उस ब्राह्मण के (वसिष्ठ के) मन में यह विचार आया कि अहो ! सम्पूर्ण सौभाग्यों से उद्भासित नृपत्व अतिशय रमणीय है ॥ १० ॥

पैदल सेना, रथ, हाथी, घोड़े, पताका, छत्र और चँवरों से दस दिशारूपी कुञ्ज को पूर्ण करने वाला राजा मैं कब होऊँगा ॥ ११ ॥

कब कुन्दनामक फूल के मकरन्द से सुगन्धित पवन मेरे अन्तःपुर की स्त्रियों के सुरत काल के श्रम से उत्पन्न स्वेदबिन्दुओं का पान करेंगे ॥ १२ ॥

मैं कब अपनी पतिव्रता रानियों के मुखमण्डल को कर्पूरमिश्रित चन्दन से और दिशाओं के मुखमण्डल को कर्पूरतुल्य अपने विपुल यश से चन्द्रमा के उदय के समान कान्तिमय करूँगा ॥ १३ ॥

तब से सदा अपने धर्म के आचरण में तत्पर आलस्यरहित वह ब्राह्मण जीवनभर इस प्रकार के सङ्कल्प से सम्पन्न रहा ॥ १४ ॥

हिमाशनिरिवाऽम्भोजं जर्जरीकर्त्तुमुद्गता ।
जले जर्जरितेवाऽथ जरा द्विजमुपाययौ ॥ १५ ॥
आसन्नमरणस्याऽथ भार्या म्लानिमुपाययौ
तस्य शाम्यति पुष्पर्त्तौ लतेव ग्रीष्मभीतितः ॥ १६ ॥
मामथाऽऽराधितवती सा ततस्त्वमिवाऽङ्गना ।
अमरत्वं सुदुष्प्रापं बुद्ध्वेमं साऽवृणोद्वरम् ॥ १७ ॥
देवि ! स्वमण्डपादेव जीवो भर्तुर्मृतस्य मे ।
मा यासीदित्यतस्तस्याः स एवाऽङ्गीकृतो मया ॥ १८ ॥
अथ कालवशाद्विप्रः स पञ्चत्वमुपाययौ ।
तस्मिन्नेव गृहाकाशे जीवाकाशतया स्थितः ॥ १९ ॥
सम्पन्नः प्राक्तनानल्पसङ्कल्पवशतः स्वयम् ।
आकाशवपुरेवैष पतिः परमशक्तिमान् ॥ २० ॥
प्रभावजितभूपीठः प्रतापाक्रान्तविष्टपः ।

अनन्तर सरोवर के जल में अवस्थित कमल को शिथिल करने के लिए कटिबद्ध तुषार रूपी वज्र जैसे कमल पर आता है, वैसे ही शरीर शैथिल्य युक्त वृद्धावस्था उस ब्राह्मण के शरीर को जर्जर बनाने के लिए उसके पास आई ॥ १५ ॥

जब उसके मरने का समय समीप आया तब उसकी पत्नी को उसी प्रकार अतिशय क्लेश हुआ जैसे वसन्त ऋतु के बीतने पर प्रचण्ड ग्रीष्मकाल के सन्ताप के भय से लता मुर्झा जाती है ॥ १६ ॥

इसके बाद उस सुन्दरी ने तुम्हारे ही समान मेरी अतिशय आराधना की। अमरत्व की प्राप्ति कठिन है, यह समझ कर उसने यह वर माँगा ॥ १७ ॥

हे देवि ! जैसे मृत पति का जीव मेरे घर से बाहर नहीं जाय, उसने ऐसी प्रार्थना की थी, अतः मैंने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १८ ॥

अनन्तर कालवश उसका पति मर गया और उसी घर के आकाश में जीवकाशरूप में अन्तःकरण की वासनाओं से अवच्छिन्न ब्रह्म जीवाकाश में अवस्थित रहा ॥ १९ ॥

स्वयं आकाशरूप होने पर भी वह पूर्वजन्म के दृढ़ संकल्प के कारण परम शक्तिमान् राजा बन गया ॥ २० ॥

उसने अपने प्रभाव से पृथिवी मण्डल को जीत लिया-प्रताप से स्वर्ग लोक को परिव्याप्त कर लिया, उसकी कृपा से पाताल लोक का पालन होता था, इस प्रकार तीनों लोकों का विजयी राजा हो गया ॥ २१ ॥

कृपापालितपातालस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ २१ ॥
कल्पाग्निररिवृक्षाणां स्त्रीणां मकरकेतनः ।
मेरुर्विषयवायूनां साध्वब्जानां दिवाकरः ॥ २२ ॥
आदर्शः सर्वशास्त्राणामर्थिनां कल्पपादपः ।
पादपीठं द्विजाग्र्याणां राका धर्मामृतत्विषः ॥ २३ ॥
स्वगृहाभ्यन्तराकाशे चिताकाशमयात्मनि ।
तस्मिन् द्विजे शवीभूते भूताकाशशरीरिणि ॥ २४ ॥
सा तस्य ब्राह्मणी भार्या शोकेनाऽत्यन्तकर्शिता ।
शुष्केव माषशिम्बीका हृदयेन द्विधाऽभवत् ॥ २५ ॥
भर्त्रा सह शवीभूता देहमुत्सृज्य दूरतः ।
आतिवाहिकदेहेन भर्त्तारं समुपाययौ ॥ २६ ॥
नदी निखातमिव तं भर्त्तारमनुसृत्य सा ।
आजगाम विशोकत्वं सा वासन्तीव मञ्जरी ॥ २७ ॥

शत्रुरूपी वृक्षों के लिए प्रलयाग्नि था अर्थात् शत्रुओं का समूलनाशक था प्रलयाग्नि से दग्ध की पुन. उत्पत्ति नहीं होती है । स्त्रियों (का मन हरने) के लिये कामदेव था, विषयरूपी वायु के लिए मेरु पर्वत था अर्थात् जैसे वायु मेरु को विचलित नहीं कर सकते, प्रत्युत स्वयं टकरा कर रुक जाते हैं, वैसे ही वह विषयों से अप्रकम्प्य और विषयों का विष्टम्भक था । सज्जनरूपी कमलों के विकास के लिए सूर्य था ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण शास्त्रों के लिए ऐनक था अर्थात् जैसे दर्पण में पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वेसे ही सम्पूर्ण शास्त्र उसमें प्रतिबिम्बित थे, याचक वर्गों के लिए कल्पवृक्ष था अर्थात् याचकों को मुँह-माँगा देने के लिए वह कल्पवृक्ष था, श्रेष्ठ ब्राह्मणों के लिए आश्रय-भूमि था, अर्थात् वह सदा ब्राह्मणों के चरणों में नतमस्तक रहता था और धर्मरूपी चन्द्रमा के लिए पूर्णिमा था ॥ २३ ॥

अपने घर के मध्य के आकाश में वासनावच्छिन्न ब्रह्माकाश में भूताकाश रूप उस ब्राह्मण की मृत्यु होने पर उसकी पत्नी ब्राह्मणी शोक से अत्यन्त कृश शरीर की हो गई । अतः सूखी हुई उरद की छीमी के समान उसके हृदय के दो टुकड़े हो गये ॥ २४, २५ ॥

पति के साथ मेरी हुई वह ब्राह्मणी अपने देह का परित्याग कर परलोक पहुँचाने में समर्थ मानसशरीर से पति के पास पहुँच गई ॥ २६ ॥

जैसे नदी नीची भूमि में जाती है, वैसे ही वह अपने पति के पास पहुँचकर वसन्त ऋतु में उत्पन्न हुई मञ्जरी

तत्राऽस्य विप्रस्य गृहाणि सन्ति
भूस्थावरादीनि धनानि सन्ति ।
अद्याऽष्टमं वासरमाप्तमृत्यो-
र्जीवो गिरिग्रामककन्दरस्थः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने ब्राह्मण-मरणं नामैकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

के समान वह शोकरहित अर्थात् प्रफुल्लित हो गई ॥२७॥

उस पर्वतग्राम में इस ब्राह्मण के अनेक घर हैं, भूमि, वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं, उसको मरे हुए आज आठवाँ दिन है और उसका जीव पर्वत के ग्राम के गृह-मण्डप में स्थित है ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण लीलोपाख्यान में ब्राह्मणमरण नामक कुसुमलता का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ १९ ॥

२०

श्रीदेव्युवाच

स ते भर्ताऽद्य सम्पन्नो द्विजो भूपत्वमागतः ।
याऽसावरुन्धती नाम ब्राह्मणी सा त्वमङ्गने ॥ १ ॥
इहेमौ कुरुतो राज्यं तौ भवन्तौ सुदम्पती ।
चक्रवाकाविव नवौ भुवि जातौ शिवाविव ॥ २ ॥
एष ते कथितः सर्वः प्राक्तनः संसृतिक्रमः ।
भ्रान्तिमात्रकमाकाशमेवं जीवस्वरूपधृक् ॥ ३ ॥
भ्रमादस्माच्चिदाकाशे भ्रमोऽयं प्रतिबिम्बितः ।
असत्य एव वा सत्यो भवतोर्भवभञ्जदः ॥ ४ ॥
तस्माद् भ्रांतिमयः कः स्यात्
को वा भ्रान्त्युज्झितो भवेत् ।
सर्गो निरर्गलानर्थबोधान्नाऽन्यो विजृम्भते ॥ ५ ॥

वसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य चिरं चारुविस्मयोत्फुल्ललोचना ।
भूत्वोवाच वचो लीला लीलालसपदाक्षरम् ॥ ६ ॥

लीलोवाच

देवि ! भोस्त्वद्वचो मिथ्या कथं सम्पन्नमीदृशम् ।
क्व विप्रजीवः स्वगृहे क्वेमे वयमिह स्थिताः ॥ ७ ॥
तादृग्लोकान्तरं सा भूस्ते शैलास्ता दिशो दश ।
कथं भान्ति गृहस्याऽन्तर्मद्भर्त्ता येष्ववस्थितः ॥ ८ ॥
मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपस्येव कोटरे ।
मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरणुकोटरे ॥ ९ ॥

२०

श्रीदेवी जी ने कहा :—वही ब्राह्मण आज राजा के रूप में तुम्हारा पति होकर आ गया है और जो अरुन्धती नामकी ब्राह्मणी थी, वह तुम हो ॥ १ ॥

अभिनव चक्रवाक और चक्रवाकी के समान पृथिवी में उत्पन्न शिव और पार्वती के समान सुन्दर दम्पती वे ही तुम दोनों यहाँ पर राज्य करते हो ॥ २ ॥

मैंने तुम्हारे पूर्वजन्म का अशेष सृष्टिक्रम ब्रह्म का जीवभावभ्रम भ्रममूलक होने से वह भ्रान्तिमात्र ही है ॥ ३ ॥

इस पूर्व भ्रम से चिदाकाश में प्रतिबिम्बित यह भ्रम रूप सर्ग दृष्टि से असत्य ही है यह अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म दृष्टि से सत्य है जो आप दोनों के संसाररूपी भ्रम को विनष्ट करता है ॥ ४ ॥

उस भ्रमात्मक पूर्वसृष्टि से कौन सृष्टि भ्रान्तिरूप है और कौन भ्रान्ति से रहित होगी ? इसलिए भ्रान्तिमय सृष्टि से अन्य कोई सृष्टि नहीं होती है ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—श्रीदेवीजी के इस कथन को सुनकर रानी लीला के सुन्दर विशाल नयन आश्चर्य से प्रफुल्लित हो गये, वह विलासपूर्वक मन्द-मन्द बोली ॥७॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! आपका कहना तो सत्य है, वह इस प्रकार विरुद्ध कैसे हुआ ? कहाँ ब्राह्मण का जीव अपने घर में है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेश में हमलोग स्थित हैं अर्थात् वे हम कैसे हो सकते हैं ? ॥ ७ ॥

वैसा वह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे पर्वत, वे दसों दिशाएँ, जिनमें मेरे स्वामी स्थित हैं, कैसे घर के अन्दर प्रतीत हो सकते हैं ॥ ८ ॥

सरसों के भीतर मदोन्मत्त ऐरावत हाथी बाँधा गया,

पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना ।
स्वप्नाब्दगर्जितं श्रुत्वा चित्रं नृत्यन्ति बर्हिणः ॥ १० ॥
असमञ्जसमेवैतद् यथा सर्वेश्वरेश्वरि ! ।
तथा गृहान्तः पृथिवी शैलाश्चेत्यसमञ्जसम् ॥ ११ ॥
यथावदेतद्देवेशि ! कथयाऽमलया धिया ।
प्रसादानुगृहीते हि नोद्विजन्ते महौजसः ॥ १२ ॥

श्रीदेव्युवाच

नाऽहं मिथ्या वदामीदं यथावच्छृणु सुन्दरि ! ।
भेदनं नीयतीनां हि क्रियते नाऽस्मदादिभिः ॥ १३ ॥
विभिद्यमानामन्येन स्थापयाम्यहमेव याम् ।
मर्यादां तां मया भिन्नां कोऽपरः पालयिष्यति ॥ १४ ॥
स ग्रामद्विजजीवात्मा तस्मिन्नेव स्वसद्मनि ।
व्योम्न्येवेदं महाराष्ट्रं व्योमात्मैव प्रपश्यति ॥ १५ ॥
प्राक्तनी सा स्मृतिर्लुप्ता युवयोरुदिताऽन्यथा ।
स्वप्ने जाग्रत्स्मृतिर्यद्वदेतन्मरणमङ्गने ! ॥ १६ ॥

परमाणु के भीतर मच्छर ने सिंहों के झुण्ड के साथ युद्ध किया, कमलगट्टे के अन्दर मेरु स्थापित है और भ्रमर के बच्चे ने उसे निगल लिया, स्वप्न के मेघ की गर्जना को सुनकर मयूर विचित्र नाच करते हैं, इत्यादि कहना जैसे असमञ्जस है, वैसे ही हे सर्वेश्वरेश्वरि ! घर के अन्दर पृथ्वी लोक और पर्वत हैं, यह कहना भी असमञ्जस है ॥ ९-११ ॥

जिस प्रकार यह उपपन्न हो सके, वैसा मुझे निर्मल बुद्धि से कहें, क्योंकि अपने प्रसाद से अनुगृहीत जनों की बड़े लोग कभी-भी उपेक्षा नहीं करते ॥ १२ ॥

श्रीदेवी ने कहा :—हे सुन्दरि ! मैं यह असत्य नहीं कह रही हूँ, तुम इस विषय को अच्छी तरह हृदय से सुनो, हम लोग 'मिथ्या नहीं बोलना चाहिए' इत्यादि नियमों का उल्लंघन नहीं करते हैं ॥ १३ ॥

दूसरों के द्वारा उल्लंघन किये जा रहे जिस वेदमर्यादा का मैं संस्थापन करती हूँ, यदि उसका मैं ही उल्लंघन कर दूँ तो उसका पालन दूसरा कौन करेगा ? ॥ १४ ॥

राजा बनने की वासना से उपहित चिदात्मस्वरूप उक्त गाँव के ब्राह्मण की वह जीवात्मा उसी अपने निवास-स्थान में आकाश में इस व्योमस्वरूप महाराष्ट्र को देखता है ॥ १५ ॥

हे अङ्गने ! जैसे जाग्रत्-स्मृति स्वप्न में नष्ट हो जाती है और अन्य स्मृति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही तुम लोगों की पूर्वजन्म की स्मृति नष्ट हो चुकी है और उससे भिन्न स्मृति उत्पन्न हुई है, यही मरण है ॥ १६ ॥

यथा स्वप्ने त्रिभुवनं सङ्कल्पे त्रिजगद्यथा ।
यथा कथार्थसङ्ग्रामो मरुभूमौ जलं यथा ॥ १७ ॥
तस्य ब्राह्मणगेहस्य स शैलवनपत्तना ।
इयमन्तःस्थिता भूमिः सङ्कल्पादर्शयोरिव ॥ १८ ॥
असत्यैवेयमाभाति सत्येव घनसर्गता ।
तस्मात्सत्यावभासस्य चिद्व्योम्नः कोशकोटरे ॥ १९ ॥
असत्याद्यत्समुत्पन्नं स्मृत्या नाम तदप्यसत् ।
मृगतृष्णातरङ्गिण्यां तरङ्गोऽपि न सद्यतः ॥ २० ॥
इदं त्वदीयं सदनं तद्गेहाकाशकोशगम् ।
विद्धि मां त्वां च सर्वं च तच्चिद्व्योमैव केवलम् ॥२१॥
स्वप्नसम्भ्रमसङ्कल्पस्वानुभूतिपरम्पराः ।
प्रमाणान्यत्र मुख्यानि संबोधाय प्रदीपवत् ॥ २२ ॥
स्थितो ब्राह्मणगेहान्तर्द्विजजीवस्तदम्बरे ।
ससमुद्रवना पृथ्वी स्थिताऽब्ज इव षट्पदः ॥ २३ ॥
तस्याः कस्मिंश्चिदेकस्मिन्पेलवे कोणकोटरे ।
इदं पत्तनदेहादि केशोण्ड्रक इवाऽम्बरे ॥ २४ ॥

जैसे स्वप्न में त्रिभुवन है, जैसे सङ्कल्प में तीनों जगत् हैं, जैसे कथा का अर्थ स्वरूप युद्ध है, वैसे ही मरुभूमि में जल है और जैसे सङ्कल्प और दर्पण के अन्दर में स्थित भूमि है, वैसे ही उस ब्राह्मण के घर की पर्वत, वन और नगर से युक्त यह भूमि भी असत्य है ॥१७-१८।

इसलिए, सत्य, ज्ञान चिदाकाश के कोश-कोटर में यह असत्यभूत घनसृष्टि पञ्चकोश के अन्तर्गत सत्य चिद्व्योमरूप निमित्त से सत्य के समान प्रतीत हो रही है ॥ १९ ॥

असत्यरूप कारण से जो उत्पन्न स्मृतिरूप होने के कारण असत्य ही है, क्योंकि मृगतृष्णा से कल्पित सरिता में तरङ्ग भी सत् नहीं होता ॥ २० ॥

गेहकाशरूप कोश में स्थित तुम्हारा यह घर, मैं, तुम और यह सब केवल चिदाकाशरूप ही है ॥ २१ ॥

स्वप्न, भ्रम और मनोरथ की अनुभव परम्परा दीपक के समान सम्यग् ज्ञान लिए मुख्य प्रमाण हैं ॥ २२ ॥

ब्राह्मण के घर के अन्दर ब्राह्मण जीव है, उस जीवाकाश में, कमल में भ्रमर के समान समुद्र, नद नदी और वनों से परिपूर्ण यह पृथिवी है ॥ २३ ॥

उक्त पृथिवी के किसी एक निर्मल कोने में नगर, देह आदि की वैसे ही प्रतीत होती है जैसे निर्मल आकाश में कुण्डल के आकार के केशों का भ्रम होता है ॥ २४ ॥

तस्मिन्नस्मिन्पुरे तन्वि ! तदेव सदनं स्थितम् ।
तस्मात्किं त्रसरेण्वन्तर्जगद्वृन्दमिव स्थितम् ॥ २५ ॥
परमाणौ परमाणौ सन्ति वत्से ! चिदात्मनि ।
अन्तरन्तर्जगन्तीति किन्त्वेतन्नाम शङ्क्यते ॥ २६ ॥

लीलोवाच

अष्टमे दिवसे विप्रः स मृतः परमेश्वरि ! ।
गतो वर्षगणोऽस्माकं मातः कथमिदं भवेत् ॥ २७ ॥

श्रीदेव्युवाच

देशदैर्घ्यं यथा नाऽस्ति कालदैर्घ्यं तथाऽङ्गने ! ।
नाऽस्त्येति यथान्यायं कथ्यमानं मया शृणु ॥ २८ ॥
यथैतत्प्रतिभामात्रं जगत्सर्गावभासनम् ।
तथैतत्प्रतिभामात्रं क्षणकल्पावभासनम् ॥ २९ ॥
क्षणकल्पं जगत्सर्वं त्वत्तामत्तात्मजन्मनाम् ।
यथावत्प्रतिभासस्य वक्ष्ये क्रममिमं शृणु ॥ ३० ॥

उस ब्राह्मण के गृह के अन्दर इस सृष्टि के उत्पन्न होनेपर भी वह घर अभी उसी तरह बना ही है, अर्थात् विनष्ट नहीं हुआ है। इसलिए विप्रगृह के उदाहरण में आश्चर्य की क्या बात है, क्योंकि त्रसरेणु के अन्दर भी जगत्-समुदाय स्थित-सा है ॥ २५ ॥

परमाणुरूप चिदात्मा में भीतर-भीतर अनेक जगत् विद्यमान हैं, अतः उक्त चिदात्मा में ब्राह्मण के घर की असंभावना तुम क्यों करती हो ? ॥ २६ ॥

लीला ने कहा :—हे परमेश्वर ! आज से आठ दिन पहले उस ब्राह्मण की मृत्यु हुई थी और हमें उत्पन्न हुए अनेक वर्ष बीत चुके हैं, ह जननि ! वे ही दम्पती हम हैं, यह कैसे हो सकता है ? ॥ २७ ॥

श्रीदेवी ने कहा :—हे अङ्गने ! जैसे देश की दीर्घता नहीं है, वैसे ही काल की दीर्घता भी नहीं ही है, इस विषय को युक्तिपूर्वक तुमसे कह रही हूँ, तुम सावधान होकर सुनो ॥ २८ ॥

यह क्षण, कल्प आदि की प्रतीति उसी प्रकार भान-मात्र अर्थात् कल्पनामात्र ही है जैसे यह जगत्सृष्टि की प्रतीति कल्पनामात्र है (वास्तविक नहीं है) ॥ २९ ॥

क्षण, कल्प स्वरूप सम्पूर्ण जगत् 'त्वम्' 'अहम्' इत्यादि अध्यास के कारण अपनी उत्पत्तिरूप भ्रमवाले पुरुषों को प्रतीत होता है, यह प्रतीति के क्रम को मैं तुमसे यथार्थरूप से कहती हूँ, इसको तुम सुनो ॥ ३० ॥

हे शोभन व्रतसम्पन्ने ! जीव क्षण भर मिथ्याभूत मृत्यु

अनुभूय क्षणं जीवो मिथ्यामरणमूर्छनम् ।
विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रते ! ॥ ३१ ॥
तदैवोन्मेषमात्रेण व्योम्न्येव व्योमरूप्यपि ।
आधेयोऽयमिहाऽऽधारे स्थितोऽहमिति चेतसि ॥ ३२ ॥
हस्तपादादिमान् देहो ममाऽयमिति पश्यति ।
यदेव चेतसि वपुस्तदेवेदं स पश्यति ॥ ३३ ॥
एतस्याऽहं पितुः पुत्रो वर्षाण्येतानि सन्ति मे ।
इमे मे बान्धवा रम्या ममेदं रम्यमास्पदम् ॥ ३४ ॥
जातोऽहमभवं बालो वृद्धिं यातोऽहमीदृशः ।
बान्धवाश्चाऽस्य मे सर्वे तथैव विचरन्त्यमी ॥ ३५ ॥
चित्ताकाशघनैकत्वात् स्वेऽप्यन्येऽपि भवन्ति ते ।
एवं नामोदितेऽप्यस्य चित्ते संसारखण्डके ॥ ३६ ॥
न किञ्चिदप्यभ्युदितं स्थितं व्योमैव निर्मलम् ।
स्वप्ने द्रष्टरि यद्वच्चित् तद्वद् दृश्ये चिदेव सा ॥ ३७ ॥

रूपी मूर्छना का अनुभव कर, पूर्वजन्म के पदार्थों को भूल कर अन्य पदार्थों को देखता है ॥ ३१ ॥

चिदाकाश में ही आकाश स्वरूप पलक भर में, इस आधार में स्थित, यह मैं आधेयस्वरूप हूँ, ऐसा स्मरण करता है अर्थात् उसके चित्त में उक्त संस्कार अभिव्यक्त होता है ॥ ३२ ॥

मेरा यह शरीर हस्त, पाद आदि से सम्पन्न है ऐसा वह देखता है जैसा उसके चित्त में संस्कार रहता है, वैसा ही वह अपने शरीर को देखता है ॥ ३३ ॥

मैं इस पिता का पुत्र हूँ, इतने वर्ष मुझे हो गये हैं, ये मेरे प्रिय भाई-बन्धु हैं और यह मेरा रमणीय घर है ॥ ३४ ॥

मैं उत्पन्न हुआ, बालक हुआ, बढ़ा और अब ऐसा हूँ और मेरे बन्धु-बान्धव भी मेरे समान ही उत्पन्न हुए हैं, बालक हुए, बढ़े और अब मेरे समान ही ये सब विचरण करते है ॥ ३५ ॥

बन्धु-बान्धव देहसम्बन्धी होने पर भी देहरूपता को प्राप्त हुए चित्त का और आत्माकाश का दृढ़ तादात्म्या-ध्यास होने के कारण वे वस्तुतः परकीय होते हुए भी आत्मीय ही होते हैं ॥ ३६ ॥

जीव के चित्त के संस्कार में देहरूपता को प्राप्त होने पर भी कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल निर्मल आकाश ही स्थित है, जैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा में विद्यमान चित् ही रहती है, वैसे दृश्य-प्रपञ्च में भी चित् है

सर्वगैकतया यस्मात् सा स्वप्ने दृष्टदर्शना ।
यथा स्वप्ने तथोदेति परलोकदृगादिभिः ॥ ३८ ॥
परलोके यथोदेति तथैवेहाऽभ्युदेति सा ।
तत्स्वप्नपरलोकेहलोकानामसतां सताम् ॥ ३९ ॥
न मनागपि भेदोऽस्ति वीचीनामिव वारिणि ।
अतो जातमिदं विश्वमजातत्वादनाशि च ॥ ४० ॥
स्वरूपत्वात्तु नाऽस्त्येव यच्च भाति चिदेव सा ।
यथैव चेत्यनिर्हीणा परमव्योमरूपिणी ॥ ४१ ॥
सचेत्याऽपि तथैवैषा परमव्योमरूपिणी ।
तस्माच्चेत्यमतो नाऽन्यद्वीचित्वादिव वारितः ॥ ४२ ॥
वीचित्वं च रसे नाऽस्ति शशशृङ्गवदेव हि ।
सैव चेत्यमिवाऽऽपन्ना स्वभावादच्युताऽप्यलम् ॥ ४३ ॥
तस्मान्नाऽस्त्येव दृश्योऽर्थः कुतोऽतो द्रष्टृदृश्यधीः ।
निमिषेणैव जीवस्य मृतिमोहादनन्तरम् ॥ ४४ ॥
त्रिजगद्दृश्यसर्गश्रीः प्रतिभामुपगच्छति ।
यथादेशं यथाकालं यथारम्भं यथाक्रमम् ॥ ४५ ॥
यथोत्पादं यथामातृ यथापितृ यथोरसम् ।
यथावयो यथासंविद्यथास्थानं यथेहितम् ॥ ४६ ॥
यथाबन्धु यथाभृत्यं यथेहास्तमयोदयम् ।
अजात एव जातोऽहमिति चेतति चिद्वपुः ॥ ४७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यमनोबुद्धीन्द्रियादि च ।
झटित्येव मृतेरन्ते वपुः पश्यति यौवने ॥ ४८ ॥

आशय यह है कि जैसे स्वप्न देखने वाले व्यक्ति के विद्यमान चित् ही स्वप्न में दिखाई देनेवाले पदार्थों के आकार को प्राप्त करता है, वैसे ही चित् ही दृश्य पदार्थों के आकार में प्रतीत होता है, चित् से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ३७ ॥

स्वप्न में द्रष्टा और दृश्यरूप से कल्पित विभिन्न पदार्थों में एकरूप से व्याप्त चित् अदृश्य होते हुए भी स्वप्न कल्पित द्रष्टा और दृश्यरूप विविध पदार्थों का बाध होने पर भी दृष्टिगोचर होता है, वहाँ कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। केवल वह चित् स्वप्न में द्रष्टा, दृश्य आदि के रूप में उदित होता है, वैसे ही परलोक के द्रष्टाओं द्वारा कल्पित दृश्य पदार्थ परलोक में उदित होता है ॥ ३८ ॥

जैसे परलोक में चिद्रूप में पदार्थ उदित होता है, वैसे ही इस लोक में भी उदित होता है। इसलिए वास्तव में असत् किन्तु भ्रमवश सत् से प्रतीत होनेवाले स्वप्न, परलोक और इस लोक में तनिक भी भेद नहीं है, जैसे जल में उत्पन्न हुई लहरें एक दूसरे से अभिन्न रहती हैं ॥ ३९ ॥

यह विश्व जल में लहरों के समान चित् में भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह दृश्य पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ है, उत्पन्न न होने के कारण यह अविनाशी है, जो उत्पन्न नहीं होता, उसका नाश भी नहीं होता है ॥ ४० ॥

जगद्रूप में इसका अस्तित्व नहीं है, जिसका भान होता है, वह चैतन्य ही है, आशय यह है कि दिखाई देनेवाले पदार्थ वास्तविक स्वरूप में नहीं है; अधिष्ठान स्वरूप चैतन्य का ही भान होता है, क्योंकि वही अज्ञात और अबाधित होने से वास्तविक है, जड़ नहीं, क्योंकि जड़ में आवरण कार्य न होने से वह प्रमाणों की प्रवृत्ति का फल नहीं है ॥ ४१ ॥

चेत्य=विषय से शून्य परमाकाशरूपी चित् जैसा है, चेत्ययुक्त परमाकाशरूपी चित् भी ठीक वैसा ही है। आशय यह है कि आरोपित विषय से अधिष्ठान में किसी प्रकार का दूषण नहीं होता है ॥ ४२ ॥

जैसे जल में तरङ्ग भिन्न नहीं है; वैसे ही चित् से चेत्य=विषय अतिरिक्त नहीं है। जल में वीचित्व शशशृङ्ग के समान ही है। आशय यह है कि रसतन्मात्र ही जल का यथार्थरूप है, उसमें वीचित्व नहीं है, क्योंकि उसका जीभ से ग्रहण नहीं होता, जो जल में चक्षु से वीचि के आकार का ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है, वह अन्य भूतों के सम्बन्धरूप उपाधि से उत्पन्न औपाधिक है, अतएव जल में वीचित्व शशशृङ्ग के समान असत् है। चित् अपने स्वरूप को बिना छोड़े ही अर्थात् सर्वथा अप्रच्युत होते हुए भी चेत्यभावापन्न-सा प्रतीत होता है, अतः दृश्य पदार्थ नहीं ही है ॥ ४३ ॥

दृश्य पदार्थ के न होने पर द्रष्टृ और दृश्य बुद्धि कैसे होगी? अर्थात् द्रष्टृ और दृश्य परस्पर सापेक्ष हैं, जब दृश्य नहीं है, तो द्रष्टृ कैसे? मरणरूप अज्ञान के बाद क्षण भर में ही जीव की बुद्धि आरूढ़ अर्थात् प्रतीत हो जाता है ॥ ४४ ॥

देश, काल, कर्म, क्रम, उत्पत्ति, माता, पिता, भाई-बन्धु, अवस्था, ज्ञान, स्थान, अभिलाषा, बन्धु-बान्धव, भृत्य, चेष्टा, सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार त्रिजगत्-रूपी दृश्य की शोभा चित् से उत्पन्न हुए बिना ही उत्पन्न हुई है यह विचार कर और वासना के अनुरूप, देश, काल, कर्म, द्रव्य, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को देखता है

एषा माता पिता ह्येष बालोऽभूवमहं त्विति ।
नाऽनुभूतोऽनुभूतो वा यः स्यात्स्मृतिमयः क्रमः ॥ ४९ ॥
पश्चादुदेत्यसौ तस्य पुष्पस्येव फलोदयः ।
निमिषेणैव मे कल्पो गत इत्यनुभूयते ॥ ५० ॥
रात्रिर्द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रे तथा ह्यभूत् ।
कान्ताविरहिणामेकं वासरं वत्सरायते ॥ ५१ ॥
मृतो जातोऽहमन्यो मे पितेति स्वप्नतास्विव ।
अभुक्तस्यैव भोगस्य भुक्तधीरुपजायते ॥
भुक्तेऽप्यभुक्तधीर्दृष्टमित्यलङ्कितवादिषु ॥ ५२ ॥
शून्यमाकीर्णतामेति तुल्यं व्यसनमुत्सवैः ।
विप्रलम्भोऽपि लाभश्च मदस्वप्नादिसंविदि ॥ ५३ ॥
तैक्ष्ण्यं यथामरिचबीजकणे स्थितं स्वं
स्तम्भेषु चारचितपुत्रकजालमन्तः ।
दृश्यं त्वनन्यदिदमेवमजेऽस्ति शान्तं
तस्याऽस्ति बन्धनविमोक्षदृशः कुतः काः ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने परमार्थप्रतिपादनं नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

और मरने के बाद तुरन्त ही राक्षसयोनि में शिव के वरदान से अपने शरीर को युवावस्था में देखता है ॥ ४५-४८ ॥

यह मेरी माता है, यह पिता है, मैं बालक हुआ इत्यादि अनुभूत अथवा अननुभूत स्मृतिमय क्रम है ॥४९॥

पीछे उत्पन्न होता है, जैसे फूल के पीछे फल का उदय होता है वैसे ही यह पीछे उत्पन्न होता है। एक ही पलक में मेरा कल्प बीत गया, ऐसा अनुभव करता है ॥ ५० ॥

राजा हरिश्चन्द्र की एक रात बारह वर्ष की हुई थी, स्त्री विरही व्यक्तियों को एक दिन वर्ष के समान प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

जैसे स्वप्न में मैं मरा और उत्पन्न हुआ, यह दूसरा मेरा पिता है, ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही लोक में भी मैं मरा, पुनः उत्पन्न हुआ, यह मेरा पिता है, जिस भोग का भोग नहीं किया, उसको मैंने भोग लिया, ऐसी बुद्धि और भुक्तभोगों में मैंने इनका भोग नहीं किया, ऐसी प्रतीति मुग्ध लोगों में देखी जाती है ॥ ५२ ॥

रिक्त स्थान भी समृद्ध के समान लोगों की भीड़ से ठसाठस भरा हुआ नशे में और स्वप्न में प्रतीत होता है, विपत्ति उत्सव के समान मालूम होती है और वञ्चना भी लाभ प्रतीत होती है ॥ ५३ ॥

जिस अज में स्वरूपभूत यह सम्पूर्ण विश्व उसकी सत्ता से ही वैसे ही विद्यमान है जैसे मिर्चे के बीज के कण में विद्यमान तीक्ष्णता डण्ठलों में अपने स्वरूप को व्यक्त किये बिना ही अन्दर स्थित है। उस आत्मा में बन्धन और मोक्षदृष्टि कहाँ से होगी और कैसे होगी ? अर्थात् किस कारण से होगी और स्वरूपतः कैसे होगी ? ये सर्वथा असंभावि हैं ॥ ५४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में परमार्थप्रतिपादन नामक कुसुमलता का बीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २० ॥

२१

श्रीदेव्युवाच

प्रतिभान्ति जगन्त्याशु मृतिमोहादनन्तरम् ।
जीवस्योन्मीलनादक्ष्णो रूपाणीवाऽखिलान्यलम् ॥ १ ॥
दिक्कालकलनाकाशधर्मकर्ममयानि च ।
परिस्फुरन्त्यनन्तानि कल्पान्तस्थैर्यवन्ति च ॥ २ ॥

२१

श्रीदेवजी ने कहा :—मृत्युरूप मोह के अनन्तर जीव को शीघ्र ही सम्पूर्ण जगत् का पूर्णरूप से वैसे ही भान होने लगता है जैसे नेत्र खोलने से सम्पूर्ण रूपों की प्रतीति होती है ॥ १ ॥

देश-काल-सम्बन्धमय, आकाशमय, गन्धर्वनगर आदि धर्ममय स्वर्ग आदि कर्ममय गृह आदि और प्रलयपर्यन्त स्थिर रहने वाले पृथिवी आदि अनन्त जगत् उसके सम्मुख आविर्भूत होते हैं ॥ २ ॥

नाऽनुभूतं न यद् दृष्टं तन्मयाकृतमित्यपि ।
तत्क्षणात्स्मृतितामेति स्वप्ने स्वमरणं यथा ॥ ३ ॥
भ्रान्तिरेवमनन्तेयं चिद्व्योमव्योम्नि भासुरा ।
अपकुड्या जगन्नाम्नी नगरी कल्पनात्मिका ॥ ४ ॥
इदं जगदयं सर्गः स्मृतिरेवेति जृम्भते ।
दूरकल्पक्षणाभ्यासविपर्यासैकरूपिणी ॥ ५ ॥
नाऽनुभूताऽनुभूता च ज्ञप्तिरित्थं द्विरूपिणी ।
पूर्वकारणरिक्तैव चिद्रूपैव प्रवर्त्तते ॥ ६ ॥
नाऽनुभूतेऽनुभूतत्वं संविदन्तरुदेत्यपि ।

जो वस्तु कभी अनुभूत नहीं है और जो दृष्टिगोचर नहीं हुई है, वह भी स्वप्न में मुझसे अनुभूत है और दृष्ट है, इस प्रकार अपनी शीघ्र मृत्यु के समान स्मरण में आती है ॥ ३ ॥

मायाकाश में प्रकाशमान, आवरणरहित यह जगत्-नामक कल्पनारूप नगरी असीम भ्रम ही है ॥ ४ ॥

यह जगत् स्मृति=वासना ही है अर्थात् जन्म स्थिति और परिणामस्वरूप यह सृष्टि, इस प्रकार विलास को प्राप्त होती है। समीप में स्थित और वर्तमान में यह दूर स्थित और भूतकालीन है, देश और काल के व्यवधान रूप से और सदातन और निष्क्रिय में क्षण, उनकी आवृत्तिरूप घड़ी मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास और वर्ष आदि रूप से विपर्यास भ्रम ही उक्त वासना का केवल एकमात्र साधन स्वरूप है इस प्रकार यह विलासमात्र है, वास्तविक नहीं है ॥ ५ ॥

इस प्रकार अननुभूत और अनुभूत रूप से ज्ञान दो प्रकार का है, वह पूर्वकारणों से रहित और चिद्रूप में ही प्रवृत्त होता है ॥ ६ ॥

जैसे कि स्वप्न और भ्रमदशा में अन्य के पिता में ये मेरे पिता है जिस प्रकार ऐसी स्मृति होती है वैसे ही अननुभूत में (जो अनुभव में आरूढ़ नहीं हुआ है, उसमें) इसका हमने अनुभव किया, अन्तःकरण में ऐसी प्रतीति होती है ॥ ७ ॥

कभी प्रथम सृष्टि में स्मृतित्व का परित्याग कर केवल अनुभवरूप से ही रहता है, पश्चात् क्रमशः स्मृति रूप से प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

हे कृशाङ्गि ! तीनों भुवन आदि यह दृश्यप्रपञ्च कतिपय व्यक्तियों के स्मृति में स्थित पहले अनुभव में

१. काचन इति पाठान्तरम्

स्वप्नभ्रमादावन्यस्मिन्पितरीव पितुः स्मृतिः ॥ ७ ॥
कदाचित्स्मृतितां त्यक्त्वा प्रतिभामात्रमेव सत् ।
भाति प्रथमसर्गेषु रूपेण तदनुक्रमात् ॥ ८ ॥
दृश्यं त्रिभुवनादीदमनुभूतं स्मृतौ स्थितम् ।
केषाञ्चित्तन्वि ! केषाञ्चिन्नाऽनुभूतं स्मृतौ स्थितम् ॥९॥
प्रतिभासत एवेदं केषाञ्चित्स्मरणं विना ।
चिदणूनां प्रजेशत्वं काकतालीयवद् यतः ॥ १० ॥
अत्यन्तविस्मृतं विश्वं मोक्ष इत्यभिधीयते ।
ईप्सितानीप्सिते तत्र न स्तः केचन[१] कस्यचित् ॥ ११॥

आरूढ़ होकर स्थित है और कुछ लोगों के पूर्व में अनुभव में आरूढ़ हुए बिना ही स्मृति में स्थित है ॥ ९ ॥

काकतालीय के समान कतिपय चिदणुओं का पूर्व में अननुभूत प्रजेशत्व, स्मरण के बिना ही प्रतीत होता है। आशय यह है कि जैसे काक का ताल वृक्ष पर बैठना और उसी समय ताल फल गिर जाता है तो इन दोनों में कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि काक के न बैठने पर भी ताल गिरता ही, किन्तु काकगमन और फल-पतन आकस्मिक है, वैसे ही कुछ चैतन्य परमाणुओं को मैं ब्रह्म हूँ, यह स्मरण पूर्वानुभव के बिना ही अवभासमान होता है। उसे पूर्वजन्म के ब्रह्मत्व का स्मरण होता है, यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि 'सहसिद्धं चतुष्टयम्' अर्थात् तत्त्वज्ञान, सृष्टिकरणसामर्थ्य आदि ब्रह्मा के स्वाभाविक धर्म होने से स्मृति से ब्रह्मा में अवश्य ज्ञानोदय होने पर उसका पुनर्जन्म नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

विश्व की आत्यन्तिक विस्मृति मोक्ष है। मोक्ष में किसी को भी प्रिय और अप्रिय कुछ नहीं होता है क्योंकि 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'=मुक्त पुरुष का प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते ऐसा श्रुति में कहा गया है ('केचन' के स्थान में 'काचन' पाठ बहुधा उपलब्ध होता है। उक्त पाठ में ऐसा अर्थ करना चाहिए-विश्व का आत्यन्तिक विस्मरण मोक्ष कहा जाता है, उक्त अवस्था में प्रिय और अप्रिय नहीं होते, क्योंकि 'अशरीरं वाव' ऐसी श्रुति है। क्यों नहीं होते, ऐसी आकाङ्क्षा होने पर कहती है—'काचन'। मोक्षावस्था में जो चित् अवशिष्ट रहती है, वह किसकी है, विषय की है या भोक्ता की है? जिसके कारण प्रिय और अप्रिय

अत्यन्ताभावसम्पत्तिं विनाऽहन्ताजगत्स्थितेः ।
अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ॥ १२ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमः सर्पशब्दार्थासम्भवं स्थितम् ।
अनुत्पादमयं त्यक्त्वा शान्तोऽपि हि न शाम्यति ॥१३॥
अर्धशान्तो न शान्तोऽसौ समेत्यर्थतया पुनः ।
उदेत्येकपिशाचान्ते पिशाचोऽन्यो ह्यधीमतः ॥ १४ ॥
संसारश्चाऽयमाभोगी परमेवेति निश्चयः ।
कारणाभावतो भाति यदिहाऽभातमेव तत् ॥ १५ ॥

होंगे ? भगवती श्रुति ने भी कहा है—'तत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' जिस मोक्ष दशा में इसका सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहां किसको किससे देखेगा इत्यादि) ॥ ११ ॥

मूलभूत अज्ञान अर्थात् अविद्या के अत्यन्त बाध के बिना अहन्ता और जगत् की स्थिति का यह अनुत्पादमयी अर्थात् नित्य विमुक्तता उदित ही नहीं होती है ॥ १२ ॥

रस्सी में साँप का भ्रम सर्प शब्द के अर्थ को बिना जाने सर्वथा असम्भव ही है, अतः, अनुत्पन्न साँप और उसके अर्थ के अभाव के बिना यह भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता है, अर्थात् साँप नहीं है यह ज्ञान न होने पर भी जब तक साँप के अधिष्ठान का साक्षात्कार नहीं हो जाता है तब तक "साँप नहीं है" इस प्रकार साँप की सत्ता के निषेध करने पर भ्रम शान्त होकर भी वस्तुतः शान्त नहीं होता हैं क्योंकि भ्रम की सर्वथा निवृत्ति साँप का अनुत्पादरूप रस्सी के साक्षात्कार से होता है ॥ १३ ॥

जो विक्षेपरूप अंश की शान्ति से अर्थात् साँप नहीं है इसके द्वारा अनिर्वचनीय उत्पन्न साँप की निवृति से आधा शान्त होने पर भी पूर्णतया निवृत्त नहीं होता है, वह शान्त नहीं होता, समाधि से व्युत्थान होने पर मूढ़ पुरुष को पुनः विक्षेपार्थरूप से वह प्रतीत होता है, क्योंकि मूढ़ पुरुष को एक पिशाच की निवृत्ति होने पर भी दूसरा पिशाच दिखाई देता है ॥ १४ ॥

यह विशाल संसार परब्रह्म ही है, यह निश्चित है। अविद्या का बाध होने पर यदि ब्रह्म प्रकाशित होता है, तो वह प्रकाशित ही रहता है क्योंकि वह प्रकाश स्वरूप ही है। अर्थात् अनिर्वचनीय, अविद्या का कार्य की तो ब्रह्म से अतिरिक्त रूप में कभी भी स्थिति नहीं थी ॥ १५ ॥

लीलोवाच

ब्राह्मणब्राह्मणीरूपे सर्गे कारणसंस्मृतिः ।
कथमभ्युत्थिता साऽस्य स्मरणीयमिदं विना ॥ १६ ॥

श्रीदेव्युवाच

पितामहस्मृतिस्तत्र कारणं तस्य न स्मृतिः ।
पूर्वं न सम्भवत्येव मुक्तत्वात् पूर्वजन्मनः[1] ॥ १७ ॥
पूर्वं न सम्भवत्येव स्मरणीयमिति स्वयम् ।
पद्मजादित्वमायाति चैतन्यस्य तथास्थितेः ॥ १८ ॥
अभूवमहमित्यन्यः प्रजानाथः प्रजापतेः ।
काकतालीयवत् कश्चिद्भवति प्रतिभामयः ॥ १९ ॥

लीला से कहा :—ब्राह्मण और ब्राह्मणीरूप सर्ग में इस सर्ग का कारणभूत संस्कार, पूर्व में अनुत्पन्न स्मरण योग्य के पूर्वानुभव के बिना, कैसे उत्पन्न हुआ ? आशय यह है कि इस समय सर्ग में जो पदार्थ हैं, वे ब्राह्मण-ब्राह्मणीरूप सर्ग में नहीं थीं, अतः उस समय उनका अनुभव नहीं कहा जा सकता है और पूर्व अनुभव के बिना स्मृति का कारणभूत संस्कार उस समय नहीं हो सकता है अतः, संस्कार के बिना वासना=स्मरण नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

श्रीदेवी जी ने कहा :—संस्कार ही वासना नहीं है, यदि पितामह प्रजापति की पूर्वजन्म की अनुभूति का संस्कार ही कारण है, कारण, पितामह की भावी अर्थ का अनुभव होने से वासना या संस्कार ही कारण है किन्तु, यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रजापति के देह आदि से 'सर्ग में उसकी हेतुता नहीं हो सकती है, कारण, वह तो उस सर्ग के अन्त में मुक्त हो जाता है, अतः वासना अर्थात् संस्कार का संक्रमण उच्छिन्न हो जाता है, अतः, पूर्व संस्कार नहीं हो सकता है।' आशय यह है कि संस्कार से अतिरिक्त अनादि अविद्या स्वरूप वासना का वर्णन करूँगी ॥ १७ ॥

पूर्व में स्मरणीय अर्थात् स्मरणयोग्य पदार्थ नहीं थे। पूर्वकल्प के ब्रह्मा के शरीर आदि की वासना से युक्त मायोपहित चैतन्य की ही उस प्रकार के आकार से स्थिति होने से वही इस प्रकार के अपूर्व ब्रह्मा आदि के रूप से विवर्त स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ १८ ॥

पूर्वकल्प के प्रजापति से अन्य मैं प्रजानाथ हुआ इस प्रकार काकतालीय के समान (अकस्मात्) कोई

१. पद्मजन्मनः इति पाठान्तरम्

एवमभ्युदिते लोके न किञ्चिन्न कदाचन ।
क्वचिदभ्युदितं नाम केवलं चिन्नभः स्थितम् ॥ २० ॥
द्विविधायाः स्मृतेरस्याः कारणं परमं पदम् ।
कार्यकारणभावोऽसावेक एव चिदम्बरे ॥ २१ ॥
कार्यं च कारणं चैव कारणैः सहकारिभिः ।

प्रतिभामय काल्पनिक मनोमय ब्रह्मा प्रजापति उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

जगत् के इस प्रकार उत्पन्न होने पर भी कभी कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ, केवल चिदाकाश ही दो प्रकार की इन स्मृतियों का अर्थात् प्रातिभ स्वरूप में = वासनात्मक जगत् के रूप में स्थित है ॥ २० ॥

पूर्व अनुभव से उत्पन्न संस्कार से जन्य या हिरण्यगर्भ की अनादि अविद्याशक्तिरूप अन्य वासना से जनित अथवा अन्य किसी की स्मृतिरूप इस सृष्टि का कारण परमपद मायाशवल ब्रह्म है। शुद्ध ब्रह्म में कार्यकारणभाव आदि के न होने से चिदाकाश में यह कार्यकारणभाव एक ही है अर्थात् अभिन्न ही है ॥ २१ ॥

सहकारी कारणों के साथ कारण और कार्य उस अधिष्ठान भूत चिदाकाश में ही है वही एक कार्य, कारण और सहकारी कारण है, उस चिदात्मक ब्रह्म से अतिरिक्त कार्यकारण और सहकारी कारण नहीं हैं।

आशय यह है कि पट रूप कार्य की उत्पत्ति में तन्तु कारण है, ताना-बाना आदि सहकारी कारण है, क्योंकि, उपकारक होते हैं, किन्तु, इस प्रकार कार्य की सहाकारिता में उपकारक भावना होने से कार्यकारणभाव का बाध होने से एवं इस प्रकार कार्यकारणभाव की अनवस्था होने से भेद का कारण न होने से कार्यकारणभाव शून्य एक अधिष्ठानभूत ही सत्य रहता है ॥ २२ ॥

सन्मात्ररूप सर्वत्र अनुस्यूत अधिष्ठानभूत महाचिद्रूप = शुद्ध चिद्रूप को ही तुम स्मरण समझो अतः कार्यकारणभाव शब्द मात्र है वास्तविक नहीं है।

संस्कृत व्याख्या के अनुसार अच्युतग्रन्थमाला के भाषानुवाद में इसका आशय इस प्रकार व्यक्त किया गया है —'स्मर्यतेऽनेन इति स्मरणम्' इस व्युत्पत्ति से स्मरण चिरसंवलित व्यष्टि और समष्टि अन्तःकरण है, उसी को आप वेदन जानिये और वह मायाशबल ईश्वर का कार्य है। वहां पर मायोपाधि और अन्तःकरणोपाधिका भेद

कार्यकारणयोरैक्यात्तदभावान्न शाम्यति ॥ २२ ॥
महाचिद्रूपमेव त्वं स्मरणं विद्धि वेदनम् ।
कार्यकारणता तेन स शब्दो न च वास्तवः ॥ २३ ॥
एवं न किञ्चिदुत्पन्नं दृश्यं चिज्जगदाद्यपि ।
चिदाकाशे चिदाकाशं केवलं स्वात्मनि स्थितम् ॥२४॥

प्रतीत होने पर उससे उपहित अधिष्ठानरूप सन्मात्र में भी भेदकल्पना होने से कार्य के अस्तित्व का जन्म कारण सत्ता के अधीन है, इस भ्रम से पूर्व अवस्था वाले सद्रूप कारण को यह उत्तरावस्थावाला कार्य है, ऐसा जो तुम जानती हो, वैसा जानना ठीक नहीं है, किन्तु माया और उसके कार्य की उपेक्षा कर उन दोनों में अनुगत सन्मात्र महाचिद्रूप का ही स्मरण (वेदन) जानो। उस पूर्वोक्त लक्षण वाले प्रत्यग्दर्शन से कार्यकारणता तो बाधित हो गई, बच गया केवल कार्य और कारण शब्द। वह भी इस दृष्टि से देखने पर वास्तव नहीं है। इस प्रत्यग्दृष्टि का स्वाराज्य सिद्धि में खूब स्पष्टरूप से उपपादन किया गया है—

पिण्डावस्थाघटत्वे मनसि कलयतो हेतुकार्यत्वधीः स्यात्
मृन्मात्रं यद्वदेकं स्फुटमभिमृशतो नैव हेतुर्न कार्यम् ।
तद्वन्मायिप्रपञ्चौ झटिति कलयतो ब्रह्म विश्वस्य हेतुः
सन्मात्रं त्वेकरूपं पटु परिमृशतो नैव मायी न विश्वम् ॥

(जैसे मन में मृत्पिण्ड और घटत्व का ग्रहण (ध्यान) कर रहे पुरुष की हेतुत्व और कार्यत्व बुद्धि होती है, केवल मृत्-पिण्ड का ही ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में न कार्य है और कारण है, वैसे ही मायावान् और प्रपञ्च का ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में ब्रह्म विश्व का हेतु है, यह प्रतीति होती है, एकरूप सन्मात्र का ध्यान कर रहे पुरुष की दृष्टि में न मायावान् है और न विश्व ही है।) वार्तिक में भी कहा है—

'तस्मात्संभावनामात्रः संसारः प्रत्यगात्मनि ।
उक्तेऽर्थे संशयश्चेत् स्यात् प्रत्यग्दृष्टचा निरीक्ष्यताम् ॥'

(इसलिए संसार प्रत्यगात्मा में संभावनामात्र है। उक्त अर्थ के विषय में यदि सन्देह हो तो प्रत्यक्-दृष्टि से देखिये।) इत्यादि ॥ २३ ॥

इस तरह जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूप से प्रतीत होता है, कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ है, यह चित् ही है। केवल चिदाकाश स्वात्मभूत चिदाकाश में स्थित है ॥ २४ ॥

लीलोवाच

अहो नु परमा दृष्टिर्दर्शिता देवि ! मे त्वया ।
रूपश्रीर्जागती प्रातःप्रभयेवेक्षणद्युतिः ॥ २५ ॥
इदानीमहमेतस्यां यावत्परिणया दृशि ।
नाऽभ्यासेन विना तावद्भिन्धीदं देवि ! कौतुकम् ॥ २६ ॥
यत्राऽसौ ब्राह्मणो गेहे ब्राह्मण्या सहितोऽभवत् ।
तं सर्गं तं गिरिग्रामं नय मां तं विलोकये ॥ २७ ॥

श्रीदेव्युवाच

अचेत्यचिद्रूपमयीं परमां पावनीं दृशम् ।
अवलम्ब्येममाकारमवमुच्य भवाऽमला ॥ २८ ॥
ततः प्राप्स्यस्यसन्देहं व्योमात्मानं नभः स्थितम् ।
भूमिष्ठनरसंकल्पो गगनान्तःपुरं यथा ॥ २९ ॥
एवं स्थिते तं पश्यावः सह सर्गमनर्गलम् ।
अयं तद्दर्शनद्वारे देहो हि परमार्गलम् ॥ ३० ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! आपने मुझे वैसी ही बड़ी श्रेष्ठ दृष्टि दी है जिससे प्रात:काल की प्रभा लोगों को जगत् की स्फुटरूप शोभा दिखलाती है ॥ २५ ॥

हे देवि ! इस समय अभ्यास न होने के कारण जब तक मैं इस दृष्टि में दृढ़ व्युत्पत्ति प्राप्त न कर लूं, तब तक आप मेरी इस उत्कण्ठा को नष्ट कीजिये ॥ २६ ॥

जिस घर में वह ब्राह्मण ब्राह्मणी के साथ उत्पन्न हुआ था, उस सर्ग में पर्वतीय ग्राम में मुझे ले चलिये, उसे मैं देखना चाहती हूँ ॥ २७ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा :—चेत्यशून्य परम पवित्र जो चिन्मय दृष्टि (कारण ब्रह्मरूपता) है, उसका अवलम्बन कर इस आकार का त्याग कर विमल हो। उसके अवलोकन के लिए समाधि द्वारा पहले के समान इस शरीर का भूल जाना परम आवश्यक है ॥ २८ ॥

इसके बाद तुम मायाकाशरूप चिदाकाश में स्थित उस सृष्टि को अवश्य प्राप्त करो जो भूमि में स्थित मनुष्यों के सङ्कल्प के समान और आकाश के अन्त:पुर के समान है ॥ २९ ॥

इस प्रकार की स्थिति से निर्मल होनेपर हम दोनों एक साथ किसी प्रकार की बाधा से रहित होकर उस सृष्टि को देखेंगे। उस सृष्टि के दर्शनरूप महल के द्वार पर यह शरीर बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है, अर्थात् इस शरीर के रहनेपर उसका दर्शन कदापि नहीं हो सकता है ॥ ३० ॥

लीलोवाच

अमुना देवि ! देहेन जगदन्यदवाप्यते ।
न कस्मादत्र मे युक्तिं कथयाऽनुग्रहाग्रहात् ॥ ३१ ॥

श्रीदेव्युवाच

जगन्तीमान्यमूर्तानि मूर्तिमन्ति मुधाग्रहात् ।
भवद्भिरवबुद्धानि हेमानीवोर्मिकाधिया ॥ ३२ ॥
हेम्न्यूर्मिका रूपधरेऽप्यूर्मिकात्वं न विद्यते ।
यथा तथा जगद्रूपे जगन्नाऽस्ति च ब्रह्मणि ॥ ३३ ॥
जगदाकाशमेवेदं ब्रह्मैवेह तु दृश्यते ।
दृश्यते काचिदप्यत्र धूलिरम्बुनिधाविव ॥ ३४ ॥
अयं प्रपञ्चो मिथ्यैव सत्यं ब्रह्माहमद्वयम् ।
अत्र प्रमाणं वेदान्ता गुरवोऽनुभवस्तथा ॥ ३५ ॥
ब्रह्मैव पश्यति ब्रह्म नाऽब्रह्म ब्रह्म पश्यति ।
सर्गादिनाम्ना प्रथितः स्वभावोऽस्यैव चेदृशः ॥ ३६ ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! इस शरीर से दूसरी सृष्टि क्यों नहीं प्राप्त होती है ? मेरे प्रति विशेष अनुग्रह के कारण इसमें क्या युक्ति है ? इस बात को आप कृपाकर मुझ से कहें ॥ ३१ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा :—ये जगत् कारण माया के अमूर्त हैं, किन्तु वैसे ही मिथ्याज्ञान से आप लोग इन्हें मूर्तिमान् मान बैठे हैं ॥ ३२ ॥

जगत् का रूप धारण किये हुए ब्रह्म में जगत् उसी प्रकार नहीं है जैसे अंगूठी का आकार धारण किये हुए सोने में अंगूठी स्वरूप उससे पृथक् नहीं है ॥ ३३ ॥

यह जगत् आकाश अर्थात् शून्य ही है, यहाँ पर जो कुछ दिखलाई देता है, वह ब्रह्म ही है, जैसे धूलि के विरोधी समुद्र में प्रतिबिम्बरूप धूलि जैसे दिखाई देती है वैसे ही ब्रह्म में भ्रमवश माया कार्य दिखाई देता है ॥ ३४ ॥

यह सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है और अद्वितीय आत्मरूप ब्रह्म सत्य है। इस विषय में वेदान्त अर्थात् उपनिषद् वाक्य, गुरुजन और अपना अनुभव प्रमाण है ॥ ३५ ॥

ब्रह्म ही ब्रह्म को देखता ब्रह्म से भिन्न ब्रह्म को नहीं देख सकता है, आशय यह है कि इस सृष्टि में अन्य किसी कारण की अपेक्षा नहीं है ब्रह्म स्वरूप आवृत होकर अज्ञानवश यह स्फुरण हो रहा है ब्रह्म की ही इस प्रकार की यह आवरण सत्ता सृष्टि के नाम से लोक में प्रसिद्ध है ॥ ३६ ॥

न ब्रह्म जगतामस्ति कार्यकारणतोदयः ।
कारणानामभावेन सर्वेषां सहकारिणाम् ॥ ३७ ॥

यावदभ्यासयोगेन न शान्ता भेदधीस्तव ।
नूनं तावदतद्रूपा न ब्रह्म परिपश्यसि ॥ ३८ ॥

तत्र रूढिमुपायाता य इमे त्वस्मदादयः ।
अभ्यासाद् ब्रह्मसंपत्तेः पश्यामस्ते हि तत्परम् ॥ ३९ ॥

सङ्कल्पनगरस्यैव ममाऽऽकाशमयं वपुः ।
ब्रह्मैव चाऽन्तः पश्यामि देहेनाऽनेन तत्पदम् ॥ ४० ॥

विशुद्धज्ञानदेहार्हास्तथैते पद्मजादयः ।
ब्रह्मात्मजगदादीनामंशे संस्थानमङ्गने ! ॥ ४१ ॥

तवाऽभ्यासं विना बाले ! नाऽऽकारो ब्रह्मतां गतः ।
स्थितः कलनरूपात्मा तेन तन्नाऽनुपश्यसि ॥ ४२ ॥

ब्रह्म और जगत् में कारणता और कार्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि, यहाँ सम्पूर्ण सहकारी कारणों का अभाव है ॥ ३७ ॥

अभ्यास न होने के कारण जब तक तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं हो जाती है, तबतक तुम निश्चय अब्रह्मरूप अर्थात् ब्रह्मभिन्न देह आदि में आत्मबुद्धि का निर्णय होने के कारण देह आदि स्वरूप आत्मा हो, अतएव तुम ब्रह्म को नहीं देख सकती है ॥ ३८ ॥

ब्रह्मज्ञान का पुनः पुनः अभ्यास के कारण ब्रह्माद्वैत में अत्यन्त व्युत्पन्न दृढ़मति हम लोग उस परम पद का साक्षात्कार करते हैं ॥ ३९ ॥

सङ्कल्प से निर्मित नगर के समान मेरा शरीर शुद्ध-चित्ताकाशमय है, इस देह से मैं ब्रह्मरूपी उस परम पद को अपने अन्तःकरण में ही देखती हूँ ॥ ४० ॥

हे सुन्दरि ! इसी प्रकार ये ब्रह्मा आदि भी विशुद्ध चित्तरूपी देह से ब्रह्मदर्शन के योग्य हैं, वे ब्रह्मरूप जगत् और जगत् के व्यवहारों की ब्रह्म के एक देश में स्थिति देखते हैं ॥ ४१ ॥

हे वत्से ! अभ्यास न होने के कारण ब्रह्मरूपता को तुमने नहीं प्राप्त किया है । तुम्हारा आकार अर्थात् यह स्वरूप कलनस्वरूप अन्तःकरण में जो चिदाभास तत्स्वरूप स्थित है, इसलिए तुम ब्रह्म को और ब्राह्मण के पर्वतीय ग्राम को नहीं देखती हो ॥ ४२ ॥

अपने सङ्कल्प से निर्मित नगर जब अपने शरीर से नहीं प्राप्त हो सकता है, तब दूसरे के सङ्कल्प से निर्मित

यत्र स्वसंकल्पपुरं स्वदेहेने न लभ्यते ।
तत्राऽन्यसङ्कल्पपुरं देहोऽन्यो लभते कथम् ॥ ४३ ॥

तस्मादेनं परित्यज्य देहं चिद्व्योमरूपिणी ।
तद् द्रक्ष्यसि तदेवाऽऽशु कुरु कार्यविदांवरे ! ॥ ४४ ॥

संकल्पनगरं सत्यं यथासङ्कल्पितं प्रति ।
सदेहं वा विदेहं वा नेतरं प्रति किञ्चन ॥ ४५ ॥

आदिसर्गे जगद्भ्रान्तिर्यथेयं स्थितिमागता ।
तथा तदाप्रभृत्येवं नियतिः प्रौढिमागता ॥ ४६ ॥

लीलोवाच

त्वयोक्तं देवि ! गच्छावो ब्राह्मणब्राह्मणीजगत् ।
सहेतीदमिदं वच्मि कथं गन्तव्यम्ब हे ॥ ४७ ॥

इमं देहमिहाऽऽस्थाप्य शुद्धसत्त्वानुपातिना ।
चेतसा तं परं यामि लोकं त्वं कथमेषि तत् ॥४८॥

नगर को अन्य देह कैसे प्राप्त कर सकता है ? ॥ ४३ ॥

हे कार्यवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! इसलिए इस देहका परित्याग कर तुम चिद्व्योमस्वरूपिणी हो जाओ । चिद्व्योम रूपिणी होकर तुम तुरन्त उसको देख सकोगी अतः, तुम शीघ्र वही कार्य करो ॥ ४४ ॥

देह से साध्य या देह से असाध्य जो सङ्कल्प नगर का व्यवहार अर्थात् उसके उपभोग के लिए सङ्कल्पनगर सत्य है अर्थात् अर्थ क्रियाकारी है । पर देह से साध्य अथवा देह से असाध्य किसी अन्य व्यवहार के लिए वह समर्थ नहीं है अर्थात् तुच्छ है ॥ ४५ ॥

प्रथम सृष्टि में यह जगत्भ्रान्ति जिस प्रकार दृढ़ स्थिति को प्राप्त करती है उस समय से लेकर यह ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति उसी प्रकार दृढ़ता को प्राप्त करती है, आशय यह है कि हमारे द्वारा संकलिपत नगर और ब्रह्म द्वारा संकलिपत जगत् की विलक्षणता में अनादि ईश्वरेच्छारूप मायाशक्ति ही कारण है ॥ ४६ ॥

लीला ने कहा – हे देवि ! आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणी के जगत् में तुम और हम साथ ही चलेंगे, पर हे मातः ! मैं पूछती हूँ कि हम लोग साथ-साथ कैसे जावेंगे ॥ ४७ ॥

इस शरीर को यहाँ रखकर शुद्ध सत्त्व का अनुसरण करनेवाले चित्त से मैं उस आकाशमय सृष्टि में जाऊँगी, पर आप अपनी इस देह से वहाँ कैसे जायेंगी ? ॥ ४८ ॥

श्रीदेव्युवाच

सङ्कल्पव्योमवृक्षस्ते यथा सन्नपि खात्मकः ।
न कुडचात्मा न कुडचेन रोध्यते नाऽपि कुडचहा ।।४९।।
शुद्धैकसत्त्वनिर्माणं चिद्रूपस्यैव तत्किल ।
प्रतिभानमतस्तस्मात् परस्माद्भिद्यते मनाक् ।। ५० ।।
सोऽयमेतादृशो देहो नैनं संत्यज्य याम्यहम् ।
अनेनैव तमाप्नोमि देशं गन्धमिवाऽनिलः ।। ५१ ।।
यथा जलं जलेनाऽग्निरग्निना वायुनाऽनिलः ।
मिलत्येवमतो देहो देहैरन्यैर्मनोमयैः ।। ५२ ।।
नहि पार्थिवतासंविदेत्यपार्थिवसंविदा ।
एकत्वं कल्पनाशैलशैलयोः क्वाऽऽहतिर्मिथः ।। ५३ ।।
आतिवाहिक एवाऽयं त्वादृशैश्चित्तदेहकः ।
आधिभौतिकताबुद्धचा गृहीतश्चिरभावनात् ।। ५४ ।।

श्रीदेवीजी ने कहा :—जैसे तुम्हारा सङ्कल्पमय आकाशवृक्ष साङ्कल्पिक सत्ता से सत् होता हुआ भी वास्तविक सत्ता से शून्यात्मक ही है, न वह आवरण करनेवाले कुडच (भीत) आदि के समान मूर्तिमान् है, न वह आवरण से रोका जा सकता है और न आवरण-भूत कुडच का भेदक है, कारण वह शून्यस्वरूप है ।। ४९ ।।

शुद्ध सत्त्वगुण का कार्य हमारा शरीर आदि चिद्रूप का ही शरीर के रूप में प्रतिभान=प्रतीत है, अतः पर-ब्रह्म से उसमें कुछ भेद है ।। ५० ।।

मेरा यह शरीर ऐसा है, इसलिए तुम्हारे समान इसका परित्याग कर मैं नहीं जाती हूँ; वैसे ही इसी देह से मैं ब्राह्मण-ब्राह्मणी के उस प्रदेश को प्राप्त करूंगी ।। ५१ ।।

जैसे जल जल में मिल जाता है, अग्नि अग्नि से मिल जाती है, वायु वायु से मिल जाती है; वैसे ही यह तुम्हारा शरीर मनोमय देहों से और अन्य वस्तुओं से मिल जाता है ।। ५२ ।।

पृथिवी के विकार स्वरूप पार्थिव पार्थिवत्वसंवित् तुम्हारा यह शरीर अपार्थिव संवित् अर्थात् उससे विरुद्ध चिन्मात्र स्वरूप मेरे शरीर से कदापि अभिन्न नहीं हो सकता है क्या काल्पनिक पर्वत और सत्य पर्वत का परस्पर एकत्व और आघात सम्भव हो सकता है ।। ५३ ।।

तुम्हारा यह शरीर आतिवाहिक है, तुम्हारे समान विचारशील आतिवाहिक चित्तमय शरीर चिरकाल की भावना अर्थात् अभ्यास के कारण आधिभौतिक ही मानते हैं ।। ५४ ।।

यथा स्वप्ने यथा दीर्घकालध्याने यथा भ्रमे ।
यथा च सति सङ्कल्पे यथा गन्धर्वपत्तने ।। ५५ ।।
वासनातानवं नूनं यदा ते स्थितिमेष्यति ।
तदाऽऽतिवाहिको भावः पुनेरष्यति देहके ।। ५६ ।।

लीलोवाच

आतिवाहिकदेहत्वप्रत्यये घनतां गते ।
तामवाप्नोत्ययं देहो दशामाहो विनश्यति ।। ५७ ।।

श्रीदेव्युवाच

यदस्ति नाम तत्रैव नाशानाशक्रमो भवेत् ।
वस्तुतो यच्च नाऽस्त्येव नाशः स्यात्तस्य कीदृशः ।।५८।।
रज्ज्वां सर्पभ्रमे नष्टे सत्यबोधवशात् सुते ! ।
सर्पो न नष्ट उन्नष्टो वेत्येवं कैव सा कथा ।। ५९ ।।
यथा सत्यपरिज्ञानाद्रज्ज्वां सर्पो न दृश्यते ।
तथाऽऽतिवाहिकज्ञानाद्दृश्यते नाऽऽधिभौतिकः ।। ६० ।।

जैसे स्वप्न में, दीर्घकालिक ध्यान में, भ्रम में और सङ्कल्प होनेपर एवं गन्धर्वनगर में आतिवाहिक चित्तमय पदार्थ आधिभौतिकरूप से प्रतीत होता है ।। ५५ ।।

जब समाधि के अभ्यास से निश्चितरूप से तुम्हारी वासना स्वरूप हो जायगी, तब पुनः आतिवाहिक भाव तुम्हारे शरीर में प्राप्त होगा ।। ५६ ।।

लीलाने कहा :—समाधि के अभ्यास से जब 'हमारा शरीर आतिवाहिक अर्थात् सूक्ष्म है' इस भाव के दृढ़ होनेपर यह स्थूल देह पूर्वोक्त सूक्ष्म दशा को अर्थात् अतिवाहिकता को प्राप्त करता है, या विनष्ट हो जाता है ।। ५७ ।।

श्रीदेवीजी ने कहा :—

जो वस्तु है उसी में नाश और नाश के अभाव का क्रम होता है जो पदार्थ वास्तव में है ही नहीं, उसका नाश कैसा होगा ? ।। ५८ ।।

हे वत्से ! यथार्थज्ञान होने से रस्सी में सर्प की भ्रान्ति की निवृत्ति होनेपर सर्प का विनाश नहीं होता है और न नाश हुआ । जब सर्प था ही नहीं तब उसके विनाश और अविनाश का कहना ही निष्प्रयोजन है ।। ५९ ।।

आतिवाहिक शरीर के ज्ञान से आधिभौतिक शरीर उसी प्रकार दिखाई नहीं देता है, जैसे सत्य का परिज्ञान होनेपर अर्थात् रस्सी का प्रत्यक्ष होनेपर सर्प दिखाई नहीं देता है ।। ६० ।।

कल्पनाऽपि निवर्तेत कल्पिता यदि केनचित् ।
सा शिलासमुपास्त्यैव या नेहाऽस्ति कदाचन ॥ ६१ ॥
परं परे परापूर्णमिदं देहादिकं स्थितम् ।
इति सत्यं वयं भद्रे ! पश्यामो नाऽभिपश्यसि ॥ ६२ ॥
आदिसर्गे भवेच्चित्त्वं कल्पनाकल्पितं यदा ।
तदा ततःप्रभृत्येकसत्त्वं दृश्यमवेक्षते ॥ ६३ ॥

लीलोवाच

एकस्मिन्नेव संशान्ते दिक्कालाद्यविभागिनि ।
विद्यमाने परे तत्त्वे कलनावसरः कुतः ॥ ६४ ॥

श्रीदेव्युवाच

कटकत्वं यथा हेम्नि तरङ्गत्वं यथाऽम्भसि ।
सत्यत्वं च यथा स्वप्नसङ्कल्पनगरादिषु ॥ ६५ ॥
नाऽस्त्येव सत्यनुभवे तथा नाऽस्त्येव ब्रह्मणि ।

कल्पना यदि किसी के द्वारा कल्पित या समर्थित हो, तो उसकी भी ज्ञान से समूल निवृत्ति हो जाती है, जो शिला कभी है ही नहीं, उसका भी तो उपयोग किया ही जाता है। आशय यह है कि काल्पनिक पदार्थों का भी अज्ञानदशा में उपभोग देखा ही जाता है और ज्ञान होने पर उनकी निवृत्ति भी हो जाती है, गौड़पादाचार्य ने भी कहा है—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥

हे भद्रे ! परम ब्रह्म से परिपूर्ण ये देह आदि पांच कोश, परस्पर एक दूसरे के अन्दर प्रविष्ट होकर स्थित हैं, वे अपनी उत्कृष्ट महिमा में स्थित परम ब्रह्म ही हैं, यह सत्य हम लोग विना किसी विघ्नबाधा के देखते हैं। तुम्हें दृढ़तत्त्वज्ञान न होने के कारण तुम इसे नहीं देखती हो ॥ ६२ ॥

हिरण्यगर्भ की सृष्टि में सर्ग को दर्शन का विषय बनाने वाली चिति का चित्त्व धर्म रहता है। जब पञ्ची-करण के द्वारा कल्पना से स्थूलरूप की कल्पना हुई तबसे लेकर एक अनुगत सत्त्व दृश्य के अनुरोध से स्वयं भी दृश्यभूत अपने को भ्रान्ति से देखता है ॥ ६३ ॥

लीला ने कहा :—देश और काल आदि के विभाग से रहित नित्यविद्यमान ब्रह्म में कलन=ईक्षण नामक प्रथम विकार का अवसर ही कहाँ है ? आशय यह है कि दूध दही के आकार में परिणत होता है। दही होनेपर दूध विद्यमान नहीं रहता है। देश-काल सम्बन्धशून्य नित्य विद्यमान ब्रह्म में कलन का अवसर ही नहीं है ॥ ६४ ॥

कल्पनाव्यतिरिक्तात्मतत्स्वभावादनामयात् ॥ ६६ ॥
यथा नाऽस्त्यम्बरे पांसुः परे नाऽस्ति तथा कला ।
अकलाकलनं शान्तमिदमेकमजं ततम् ॥ ६७ ॥
यदिदं भासते किञ्चित्तत्तस्यैव निरामयम् ।
कचनं काचकस्येव कान्तस्याऽतिमणेरिव ॥ ६८ ॥

लीलोवाच

एतावन्तं चिरं कालमेते देवि ! वयं वद ।
भ्रामिताः केन नामापि द्वैताद्वैतविकल्पनैः ॥ ६९ ॥

श्रीदेव्युवाच

अविचारेण तरले भ्रान्ताऽसि चिरमाकुला ।
अविचारः स्वभावोत्थः स विचाराद्विनश्यति ॥ ७० ॥
अविचारो विचारेण निमेषादेव नश्यति ।
एषा सत्तैव तेनाऽन्तरविद्यैषा न विद्यते ॥ ७१ ॥

सत्-चित् आनन्द ब्रह्म में कल्पना से अतिरिक्त स्वरूप एवं निर्दोष उसके स्वभाव से पृथक् कोई भी वस्तु वैसे ही नहीं है जैसे सुवर्ण में वलयत्व, जल में तरङ्गत्व, स्वप्न के नगर और मनोरथ से कल्पित नगर आदि में सत्यता नहीं हैं ॥ ६५, ६६ ॥

पर ब्रह्म में कलन नामक प्रथम विकार वैसे ही नहीं हैं जैसे आकाश में धूलि नहीं है विषयशून्य, शान्त, अवि-नाशी अद्वितीय ब्रह्म ही सर्वत्र परिव्याप्त है ॥ ६७ ॥

यह दृश्य प्रपञ्च जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है, वह ब्रह्म का विशुद्ध विकास है। ब्रह्म के विशुद्ध विकास की दृश्यरूप से वैसे ही प्रतीति हो रही है जैसे श्रेष्ठ चन्द्रकान्त मणि की भ्रमवश कांच के समान प्रतीति होती है ॥ ६८ ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! अनुग्रह कर आप यह बतायें कि हम लोगों को इतने चिरकाल तक द्वैत और अद्वैत के विविध विकल्पों द्वारा भ्रम में डाल रक्खा है ? ॥ ६९ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा :— हे चञ्चले ! तुम अविचार से व्याकुल होकर चिरकाल से भ्रान्त हो अविचार स्वभाव से उत्पन्न है, और विचार से वह विनष्ट होता है ॥७०॥

विचार से अविचार पलकभर में ही निवृत्त हो जाता है। यह अविवेक स्वरूप अविद्या विचार से बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है, इसलिए अविद्या का अस्तित्व नहीं है ॥ ७१ ॥

तस्मान्नैवाऽविचारोऽस्ति नाऽविद्याऽस्ति न बन्धनम् ।
न मोक्षोऽस्ति निराबाधं शुद्धबोधमिदं जगत् ॥ ७२ ॥
एतावन्तं यदा कालं त्वयैतन्न विचारितम् ।
तदा न संप्रबुद्धा त्वं भ्रान्त्यैवा¹ऽभव आकुला ॥ ७३ ॥
अद्यप्रभृति बुद्धाऽसि विमुक्ताऽसि विवेकिनी ।
वासनातानवं बीजं पतितं तव चेतसि ॥ ७४ ॥
आदावेव हि नोत्पन्नं दृश्यं संसारनामकम् ।
यदा तदा कथं तेन वास्यन्ते वासनाऽपि का ॥ ७५ ॥
अत्यन्ताभावसंपत्तौ प्रष्टृदृश्येदृशां मनः ।
एकध्याने परे रूढे निर्विकल्पसमाधिनि ॥ ७६ ॥
वासनाक्षयबीजेऽस्मिन् किञ्चिदङ्कुरिते हृदि ।
क्रमान्नोदयमेष्यन्ति रागद्वेषादिका दृशः ॥ ७७ ॥
संसारसम्भवश्चाऽयं निर्मूलत्वमुपैष्यति ।
निर्विकल्पसमाधानं प्रतिष्ठामलमेष्यति ॥ ७८ ॥
विगतकलनकालिमाकलङ्का
गगनकलान्तरनिर्मलाम्बनेन ।
सकलकलनकार्यकारणान्तः
कतिपयकालवशाद् भविष्यसीति ॥ ७९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलाविश्रान्त्युपदेशो नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इसलिए न तो अविवेक है, न अविद्या है, न बन्धन है और न मोक्ष ही है, इसलिए केवल अबाधित शुद्ध बोध स्वरूप ही यह जगत् है ॥ ७२ ॥

इतने दिनों तक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिए तुम्हें बोध नहीं हुआ, ब्रह्म के प्रति भ्रम होने के कारण ही तुम व्याकुल हो ॥ ७३ ॥

आज से तुम प्रबुद्ध हो गई हो विवेकशालिनी तुम विमुक्त हो, क्योंकि वासना की स्वल्पता स्वरूप तुम्हारे हृदय में अवस्थित हो गया है। आशय यह है कि विवेक से द्वैतवासना का बाध होनेपर तत्त्ववासना का अवशिष्ट रहना ही वासना की तनुता है और वही मुक्ति का बीज है, जिसके हृदय की ऐसी स्थिति हो जाती है, वह विमुक्त हो जाता है ॥ ७४ ॥

संसारनामक यह दृश्य पूर्व में ही जब उत्पन्न नहीं हुआ तब लोग उससे वासित कैसे होंगे ? और वासना भी क्या है ? अर्थात् न वासना है और न जगत् ही है, उक्त वासना से द्वैत की उत्पत्ति कैसे हुई ? ॥ ७५ ॥

एकध्यानरूप परम निर्विकल्पक समाधि के मन में आरूढ होनेपर, द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि का अत्यन्ताभाव होनेपर, हृदय में इस वासनाक्षयरूप बीज के कुछ अङ्कुरित होनेपर राग, द्वेष आदि दृष्टि क्रमशः उदय नहीं होंगी और संसार की उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायगी एवं निर्विकल्पक समाधि परम दृढ़ हो जायगी ॥ ७६-७८ ॥

निर्विकल्प समाधि के स्थिर होनेपर मायाकाश और उसके कार्यों के अधिष्ठानस्वरूप विमल शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार से भ्रान्तिज्ञानरूप कालिमा से रहित कलङ्कशून्य सम्पूर्ण प्राणियों की भ्रान्तियों कार्यभूत वासनाओं उनकी कारण अविद्या का अवसान स्वरूप तुम मुक्त हो जाओगी ॥ ७९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलाविश्रान्त्युपदेश नामक कुसुमलता का इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

२२

श्रीदेव्युवाच

यथा स्वप्नपरिज्ञानात् स्वप्नदेहो न वास्तवः । अनुभूतोऽप्ययं तद्वद्वासनातानवादसन् ॥ १ ॥

२२

श्रीदेवीजी ने कहा :—यह स्वप्न है, इस परिज्ञान से जैसे स्वप्न देह वास्तविक नहीं रहती है अर्थात् मिथ्या हो जाता है, वैसे ही वासनाओं का क्षय होने से यह स्थूल शरीर बाधित हो जाता है ॥ १ ॥

१. भ्रान्तेवार्णव आकुला इति पाठान्तरम् ।

यथा स्वप्नपरिज्ञानात् स्वप्नदेहः प्रशाम्यति ।
वासनातानवात् तद्वज्जाग्रद्देहोऽपि शाम्यति ॥ २ ॥
स्वप्नसङ्कल्पदेहान्ते देहोऽयं चेत्यते यथा ।
तथा जाग्रद्भावनाऽन्ते उदेत्येवाऽऽतिवाहिकः ॥ ३ ॥
स्वप्ने निर्वासनाबीजे यथोदेति सुषुप्तता ।
जाग्रत्यवासनाबीजे तथोदेति विमुक्तता ॥ ४ ॥
येयं तु जीवन्मुक्तानां वासना सा न वासना ।
शुद्धसत्त्वाभिधानं तत् सत्तासामान्यमुच्यते ॥ ५ ॥
या सुप्तवासना निद्रा सा सुषुप्तिरिति स्मृता ।
यत्सुप्तवासनं जाग्रद् घनोऽसौ मोह उच्यते ॥ ६ ॥
प्रक्षीणवासना निद्रा तुर्यशब्देन कथ्यते ।
जाग्रत्यपि भवत्येव विदिते परमे पदे ॥ ७ ॥
प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।

जैसे स्वप्न के ज्ञान से स्वप्न शरीर शान्त हो जाता है, वैसे ही वासनाओं की क्षीणता से स्थूल शरीर भी शान्त हो जाता है, अर्थात् नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

जाग्रद्भावना का अर्थात् स्थूलदेह में अहंभावना का समूल उच्छेद हो जानेपर आतिवाहिक देह का वैसे ही उदय होता है जैसे स्वप्न में प्रतीयमान स्वप्नदेह का और मनोरथ द्वारा कल्पित कल्पनामय देह का विनाश होनेपर इस देह का जाग्रद्देह का भान होता है ॥ ३ ॥

जाग्रदवस्था के वासनारूपी बीजों से शून्य होनेपर जीवन्मुक्ति का वैसे ही उदय होता है जैसे स्वप्नावस्था के वासनारूपी बीज से निर्मुक्त होनेपर सुषुप्ति का उदय होता है अर्थात् जबतक स्वप्न में वासना रहेगी, तबतक सुषुप्ति का आविर्भाव नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥

जीवन्मुक्त पुरुषों की जो वासना है, वह भावना नहीं है, सभी भावनाओं में अनुस्यूत सामान्य सत्ता ही शुद्ध वासनारूप से कही जाती है ॥ ५ ॥

जिस निद्रा में वासनाओं का उद्भव न हो या तिरोभाव हो जाय, तो उसका नाम सुषुप्ति है, जिस जागरण में वासनाओं का आविर्भाव न हो या तिरोभाव हो जाय, उसको घन मोह=मूर्छा कहते हैं। अर्थात् अनुद्भूतवासना का नाम निद्रा या सुषुप्ति है और अभिभूतवासना जागरण मोह अर्थात् मूर्छा है ॥ ६ ॥

जिसमें वासनाओं का सर्वथा क्षीण अवस्था निद्रा अर्थात् 'तुर्य' शब्द से कही जाती है, यहांपर 'निद्रा' पद की विवक्षा नहीं है, जागरणावस्था में भी परम पद का

अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ॥ ८ ॥
शुद्धसत्त्वानुपतितं चेतः प्रतनुवासनम् ।
आतिवाहिकतामेति हिमं तापादिवाऽम्बुताम् ॥ ९ ॥
आतिवाहिकतां यातं बुद्धं चित्तान्तरैर्मनः ।
सर्गजन्मान्तरगतैः सिद्धैर्मिलति नेतरत् ॥ १० ॥
यदा तेऽयमहंभावः स्वभ्यासाच्छान्तिमेष्यति ।
तदोदेष्यति ते स्फारा दृश्यान्ता बोधता स्वयम् ॥ ११ ॥
आतिवाहिकताज्ञानं स्थितिमेष्यति शाश्वतीम् ।
यदा तदा ह्यसङ्कल्पाँल्लोकान् द्रक्ष्यसि पावनान् ॥१२॥
वासनातानवे तस्मात्कुरु यत्नमनिन्दिते ।
तस्मिन्प्रौढिमुपायाते जीवन्मुक्ता भविष्यसि ॥ १३ ॥
यावन्न पूरितस्त्वेष शीतलो बोधचन्द्रमाः ।
तावद्देहमवस्थाप्य लोकान्तरमवेक्ष्यताम् ॥ १४ ॥

ज्ञान होनेपर और ज्ञान से समूल वासनाओं का विनाश होनेपर तुर्यावस्था होती है ॥ ७ ॥

जिसमें वासनाओं का सर्वथा अभाव रहता है जीवित पुरुषों की वह जीवनावस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है, उसे बद्ध पुरुष नहीं जान पाते हैं ॥ ८ ॥

जैसे सूर्य के ताप से बर्फ जलरूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही शुद्ध वासनाओं के अधिष्ठानभूत सत्त्व में संलग्न क्षीणवासनावाला मन आतिवाहिकता को=सूक्ष्मता को प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

आतिवाहिकता सम्पन्न व्युत्थानकाल में भी आत्मज्ञानयुक्त मन अन्यान्य सृष्टियों के और अन्यान्य जन्मों के चित्तों से और देव आदि के योग्य शरीरों से एकरूप में मिल जाता है, जो मन आतिवाहकता को प्राप्त नहीं है और सदा ज्ञानसम्पन्न नहीं है, वह उनसे नहीं मिलता है ॥ १० ॥

अतिशय अभ्यास से जब तुम्हारे इस अहङ्कार के शान्त हो जाने पर तुम्हारी स्वाभाविक चिद्रूपता, दृश्य प्रपञ्च की चरम अवधि स्वरूप उदित हो जायगी ॥ ११ ।

तुम्हारे आतिवाहिकताज्ञान की शाश्वत स्थिति की प्राप्ति होनेपर तुम सङ्कल्प से अदूषित पवित्र लोकों को देखोगी ॥ १२ ॥

हे अनिन्दिते ! वासानाओं का जिस प्रकार नाश हो वैसा तुम प्रयत्न करो, वासनाक्षय की दृढ़ता अर्थात् प्रौढ़ता होनेपर तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी ॥ १३ ॥

तुम्हारा यह अतिशीतल=शान्तिप्रद बोधरूपी चन्द्रमा जब तक पूर्ण नहीं होता है तब तक तुम इस देह

मांसदेहो मांसदेहेनैव संश्लेषमेष्यति ।
न तु चित्तशरीरेण व्यवहारेषु कर्मसु ॥ १५ ॥
यथानुभवमेवैतद् यथास्थितमुदाहृतम् ।
आबालसिद्धसंसिद्धं न नाम वरशापवत् ॥ १६ ॥
अवबोधघनाभ्यासाद्देहस्याऽस्यैव जायते ।
संसारवासनाकार्श्ये नूनं चित्तशरीरता ॥ १७ ॥
उदेष्यन्ती च सैवाऽत्र केनचिन्नोपलक्ष्यते ।
केवलं तु जनैर्देहो म्रियमाणोऽवलोक्यते ॥ १८ ॥
देहस्त्वयं न म्रियते न च जीवति किञ्च ते ।
के किल स्वप्नसङ्कल्पभ्रान्तौ मरणजीविते ॥ १९ ॥
जीवितं मरणं चैव सङ्कल्पपुरुषे यथा ।

को रखकर अन्य लोकों को देखो अर्थात् उनके कल्याण की चिन्ता में प्रयत्नशील रहो ॥ १४ ॥

व्यावहारिक कर्मों में मांसनिर्मित शरीर से संयुक्त हो सकता है, मांसदेह चित्तशरीर से कदापि सम्बद्ध नहीं हो सकती है ॥ १५ ॥

अनभिज्ञ बालकों से लेकर सिद्ध पुरुषों तक प्रसिद्ध अनुभव से सिद्ध यथास्थित अर्थ का ही मैंने अनुवाद किया है, वर और शाप के समान किसी अपूर्व अर्थ का हठात् प्रतिपादन नहीं किया है ॥ १६ ॥

ज्ञान के अतिशय अभ्यास से सांसारिक वासनाओं का विनाश होने पर यह स्थूल शरीर निश्चय ही चित्त-शरीर आतिवाहिक शरीर हो जाता है ॥ १७ ॥

मृत्यु के समय में ही इसी शरीर से अतिवाहिक शरीर का उदय होता है किन्तु उसको कोई भी नहीं पाता है, मनुष्यों के द्वारा केवल मृत शरीर को देखा जाता है ।

उदय होने पर भी उसको न तो आशय यह है कि परलोक जाने का अभिलाषी आत्मा भी इस वर्तमान शरीर को नष्टकर, अचेतन हो कर पितृलोकगमनोपयोगी, गन्धर्वलोकगमनोपयोगी या देवसम्बन्धी या प्रजापतिलोक-प्रापक अथवा ब्रह्मप्रापक या अन्य भूतों के सम्बन्धी दूसरे नूतन शरीर को धारण करता है। पारलौकिक देहनिर्माण के लिए मर रहे पुरुष का अपने अज्ञान से कल्पित देहारम्भक भूतों के अंशों से संवलित होकर ही परलोक में गमन होता है, अतः उन मात्राओं का भी, जो उसे दिखाई नहीं देतीं, आतिवाहिकभाव से विरोध नहीं है। अज्ञान से कल्पित पञ्चभूतमात्र का अंश जो

असत्यमेव भात्येवं तस्मिन् पुत्रि ! शरीरके ॥ २० ॥

लीलोवाच

तदेतदुपदिष्टं मे ज्ञानं देवि ! त्वयाऽमलम् ।
यस्मिन् श्रुतिगते शान्तिमेति दृश्यविषूचिका ॥ २१ ॥
अत्रोपकुरु मे ब्रूहि कोऽभ्यासः कीदृशोऽथवा ।
स कथं पोषमायाति पुष्टे तस्मिश्च किं भवेत् ॥ २२ ॥

श्रीदेव्युवाच

यद्येन क्रियते किञ्चिद्येन येन यदा यदा ।
विनाऽभ्यासेन तन्नेह सिद्धिमेति कदाचन ॥ २३ ॥
तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च तदभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ २४ ॥

अज्ञान शरीर है, उसको और लोग मरता हुआ देखते हैं ॥ १८ ॥

यह देह न तो मरती है और न जीती है। स्वप्न और सङ्कल्प के भ्रम में मरण और जीवन क्या हैं ? ॥ १९ ॥

हे पुत्रि ! मनोरथ से कल्पित पुरुष में जीवन और मरण के समान ही शरीर में भी मरण और जीवन अवास्तविक ही प्रतीत होते हैं अर्थात् जीवन और मरण की वास्तविकता की चर्चा ही व्यर्थ है जब पुरुष सङ्कल्पात्मक है ॥ २० ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! आपने मुझे उस निर्मल ज्ञान का उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्र से ही दृश्य-रूपी महामारी शान्त हो जाती है ॥ २१ ॥

मेरे ऊपर अनुग्रह कर यह बताइए कि वह अभ्यास कौन है अर्थात् उसका स्वरूप क्या है और कैसा है अर्थात् उसका क्या लक्षण है तथा किस प्रकार पुष्ट होता है और उसके पुष्ट होने पर क्या होता है ॥ २२ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा :—जब जो प्राणी जिस कार्य को करता है, अभ्यास के बिना वह कार्य कभी सिद्ध नहीं होता है ॥ २३ ॥

निश्चित रूप से बुद्धि में स्थिर करने के लिए उसका चिन्तन करना, अन्य ज्ञाता पुरुष की बुद्धि से संवाद प्राप्त करने के लिए उसकी चर्चा करना, परस्पर अज्ञात अंश के ज्ञान के लिए परस्पर उसका उपदेश देना, सदा उसी में मनोयोगपूर्वक तन्मय रहने को विद्वान् लोग ज्ञान का अभ्यास करते हैं आशय यह है कि उसका चिन्तन करने, उसकी चर्चा करने और आपस में उसी का बोधन करने

ये विरक्ता महात्मानो भोगभावनतानवम् ।
भावयन्त्यभवायाऽन्तर्भव्या भुवि जयन्ति ते ॥ २५ ॥
उदितोदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसरञ्जिता ।
आनन्दस्पन्दिनी येषां मतिस्तेऽभ्यासिनः परे ॥ २६ ॥
अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।
युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ॥२७॥
सर्गादावेव नोत्पन्नं दृश्यं नास्त्येव तत्सदा ।
इदं जगदहं चेति बोधाभ्यास उदाहृतः ॥ २८ ॥
दृश्यासम्भवबोधेन रागद्वेषादितानवे ।
रतिर्बलोदिता याऽसौ ब्रह्माभ्यास उदाहृतः ॥ २९ ॥
दृश्यासम्भवबोधेन विना द्वेषादितानवम् ।
तप इत्युच्यते तस्मान्न ज्ञानं तच्च दुःखतत् ॥ ३० ॥
दृश्यासम्भवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं च कथ्यते ।
तदाभ्यासेन निर्वाणमित्यभ्यासो महोदयः ॥ ३१ ॥
भवबहुलनिशानितान्तनिद्रा-
सततविवेकविबोधवारिसेकैः ।
प्रगलति हिमशीतलैरशेषा
शरदि महाहिमिकेव चेतसीति ॥ ३२ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभा कृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे विज्ञानाभ्यासवर्णनं
नाम द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

से असंभावना की निवृति होती है और सदा उसी में परायण रहने से विपरीत भावना की निवृत्ति होती है, ये अभ्यास के फल हैं ॥ २४ ॥

जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्ति के लिए अपने अन्तःकरण में यत्नपूर्वक विषयवासनाओं की क्षीणता की भावना करते हैं वे पृथिवी में सर्वश्रेष्ठ हैं और उन्हीं का जन्म सफल है ॥ २५ ॥

उदारतारूपी=सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओं के सौन्दर्य से एवं वैराग्यरस से सम्पन्न अतएव सदा आनन्द की वृष्टि करनेवाली बुद्धि जिन पुरुषों में उत्पन्न हो जाती है, वे सर्वश्रेष्ठ अभ्यासी हैं ॥ २६ ॥

प्रमाणतत्त्व के निर्णय के अनुकूल तथा प्रमेयतत्त्व के निर्धारण के अनुकूल युक्तियों से और अध्यात्मतत्त्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों से ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्ताभाव की प्राप्ति के लिए जो यत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी हैं ॥ २७ ॥

'यह जगत् है, यह मैं हूँ' इस प्रकार का दृश्य सृष्टि के आदि में उत्पन्न ही नहीं हुआ है, अतः वह कभी नहीं ही है, यह ज्ञानाभ्यास कहा गया है ॥ २८ ॥

दृश्य प्रपञ्च के असंभवत्व ज्ञान होने से राग, द्वेष आदि का विनाश होनेपर मनन से उत्पन्न विद्या की वासना के परिपाक से उत्पन्न हुई जो आत्मप्रेम है, वह ब्रह्माभ्यास हैं ॥ २९ ॥

दृश्य के असंभव का ज्ञान न होनेपर भी उत्पन्न राग, द्वेष आदि का अपक्षय तप कहा जाता है, वह ज्ञान नहीं है, वह तप दुःखस्वरूप ही है ॥ ३० ॥

चरमसाक्षात्काररूप ज्ञान और उसका ज्ञेय ब्रह्म भी दृश्यासंभवबोध कहा जाता है, उसके अभ्यास से मुक्ति होती है, इस प्रकार के अभ्यास का फल महान् अभ्युदय है ॥ ३१ ॥

चित्त में पूर्वोक्त रीति से अभ्यस्त, सम्पूर्ण तापों (त्रिविध तापों) की शान्ति के हेतु होने से बरफ के समान शीतल विवेकबोधरूपी जल के निरन्तर सिञ्चन से संसाररूपी कृष्णपक्ष की (अन्धेरी) रात्रि में उत्पन्न हुई मोहरूपी गाढ नींद वैसे ही निवृत्त हो जाती है जैसे शरद् ऋतु में हिम के समान शीतल ओस के सेक से कुहरा बिलकुल विनष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

महर्षि वाल्मीकिजी के इतनी कथा कहने पर दिवस बीत गया, भगवान् सूर्य अस्ताचल शिखर की ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियों की सभा वाल्मीकिजी को प्रणाम कर सायङ्काल के सन्ध्या-वन्दन आदि कृत्य के लिए स्नानार्थ चली गई एवं रात्रि बीतने पर सूर्य के उगते-उगते मुनि-मण्डली पुनः सभास्थान में आ गई ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में
विज्ञानाभ्यासवर्णन नामक कुसुमलता का बाइसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २२ ॥

२३

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति संकथनं कृत्वा तस्यां निशि वराङ्गने ।
सुप्ते परिजने नूनमथाऽन्तःपुरमण्डपे ॥ १ ॥
दृढाखिलार्गलद्वारगवाक्षे दक्षचेतसि ।
पुष्पप्रकरनिष्ठ्यूतमांसलामोदमन्थरे ॥ २ ॥
अम्लानमालावसनशवपार्श्वासनस्थिते ।
सकलामलपूर्णेन्दुवदनद्योतितास्पदे ॥ ३ ॥
समाधिस्थानकं गत्वा तस्थतुर्निश्चलाङ्गिके ।
रत्नस्तम्भादिवोत्कीर्णे चित्रे भित्ताविवार्पिते ॥ ४ ॥
सर्वास्तत्यजतुश्चिन्ताः सङ्कोचं समुपागते ।
दिवसान्त इवाऽब्जिन्यौ प्रसृतामोदलेखिके ॥ ५ ॥
बभूवतुर्भृशं शान्ते शुद्धे स्पन्दविवर्जिते ।
गिरौ शरदि निर्वात इव भ्रष्टाभ्रमालिके ॥ ६ ॥
निर्विकल्पसमाधानाज्जहतुर्बाह्यसंविदम् ।
यथा कल्पलते कान्ते पूर्वमृत्वन्तरे रसम् ॥ ७ ॥
अहं जगदिति भ्रान्तिदृश्यस्याऽऽदावनुद्भवः ।
यदा ताभ्यामवगतस्त्वत्यन्ताभावनात्मकः ॥ ८ ॥
तदा दृश्यपिशाचोऽयमलमस्तंगतो द्वयोः ।
असत्त्वादेव चाऽस्माकं शशशृङ्गमिवाऽनघ ॥ ९ ॥
आदावेव हि यन्नाऽस्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
भातं वाऽभातमेवाऽतो मृगतृष्णाम्बुवज्जगत् ॥ १० ॥
स्वभावकेवलं शान्तं स्त्रीद्वयं तद् बभूव ह ।
चन्द्रार्कादिपदार्थौघैर्दूरमुक्तमिवाऽम्बरम् ॥ ११ ॥
तेनैव ज्ञानदेहेन चचार ज्ञप्तिदेवता ।
मानुषी त्विरेणाऽऽशु ध्यानज्ञानानुरूपिणा ॥ १२ ॥

२३

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—वत्स ! वे दोनों उत्तम देवियाँ सरस्वती और लीला उस रात्रि में परस्पर वार्तालाप कर सब भृत्यों के सोने के बाद प्रासाद के दरवाजों और खिड़कियों में मजबूत और अनेक प्रकार की अर्गला लग जाने पर और ड्योढ़ियों पर पहरेदार सावधान होकर पहरा दे रहे थे, फूलों की राशियों से निकली हुई घनीभूत सुगन्धि से अन्तःपुर भर गया था, अम्लान मालारूपी वस्त्रों से आच्छन्न राजा के शव के समीप आसन पर बैठ गईं। उनके कलङ्कशून्य पूर्ण चन्द्रमा के तुल्य मुखमण्डल से सारा अन्तःपुर जगमगा उठा। वे दोनों समाधिस्थ हो इस तरह निश्चल हो बैठ गईं कि ऐसा भान होता था कि वे रत्न के खम्भे में खुदी हुईं दो मूर्तियाँ हैं एवं भित्ति में लटकाये गये दो चित्र हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके विषयों से निवृत्त हुई उन दोनों की सम्पूर्ण दुश्चिन्ताएँ समाप्त हो गईं थीं, अतएव वे सायङ्काल के समय की दो कमलिनियों के समान थीं, जिनके चारों ओर परिमल व्याप्त रहता है। शरद् ऋतु में वायुशून्य पर्वत में गिरी हुई दो मेघ-पंक्तियाँ जैसे शुद्ध= सफेद शान्त=शीतल और कम्पनशून्य रहती हैं, वैसे ही वे भी अत्यन्त शुद्ध, शान्त और स्पन्दनशून्य थीं ॥ १-६ ॥

निर्विकल्पक समाधि लग जाने से उनको देह आदि अनात्मवस्तुओं का प्रतिसन्धान नहीं रह गया था। उन्होंने बाह्य ज्ञान का उसी प्रकार परित्याग कर दिया था जैसे सुन्दर दो कल्पलताएँ वसन्त आदि ऋतुओं के प्राप्त होनेपर पहले के रस का त्याग करती है, क्योंकि पुराने पत्तों का सूखना आदि सभी को दिखलाई देता है ॥ ७ ॥

पहले जब उन दोनों को 'मैं जगत्' इस प्रकार भ्रान्तिरूप दृश्य की अत्यन्ताभावरूप अनुत्पत्ति का ज्ञान हो गया ॥ ८ ॥

अनघ, असत्= मिथ्या होने के कारण ही हम लोगों की दृष्टि से यह उन दोनों का दृश्यरूपी पिशाच सर्वथा समाप्त हो गया। जगत् भासमान होनेपर भी मृगतृष्णा में जल के समान और प्रतीत न होनेपर शशशृङ्ग के समान है, क्योंकि जो पदार्थ पहले नहीं था, वह वर्तमान में भी नहीं है, यह स्पष्ट है ॥ ९, १० ॥

वे दोनों अङ्गनाएँ दृश्य और दर्शन से विमुक्त होकर शान्त और केवलस्वभाव में वैसे ही स्थिर थी जैसे सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि सभी पदार्थों से अत्यन्त शून्य केवल मात्र आकाश केवलस्वभाव में स्थिर रहता है ॥ ११ ॥

पूर्वतन ज्ञानदेह से ही ज्ञानदेवी सरस्वती ने आकाश में विचरण किया और राजमहिषी लीला ने मानव-देह के अभिमान का परित्याग कर ध्यान और ज्ञान के अनुरूप दिव्यदेह का अवलम्बन कर आकाश में विचरण किया ॥ १२ ॥

गेहान्तरेव प्रादेशमात्रमारुह्य संविदा ।
बभूवतुश्चिदाकाशरूपिण्यौ व्योमगाकृती ॥ १३ ॥
अथ ते ललने लीलालोले ललितलोचने ।
स्वभावाच्चेत्यसंवित्तेर्नभो दूरमितो गते ॥ १४ ॥
तत्रस्थे वाऽथ चिद्वृत्त्या पुप्लुवाते नभस्थलम् ।
कोटियोजनविस्तीर्णं दूराद् दूरतरान्तरम् ॥ १५ ॥
दृश्यानुसन्धाननिजस्वभावा-
दाकाशदेहे अपि ते मिथोऽत्र ।
परस्पराकारविलोकनेन
बभूवतुः स्नेहपरे वयस्ये ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलाप्रज्ञादेव्योर्ज्ञानदेहाकाशगमनं नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

उन्होंने उद्‌बुद्ध हुए पूर्वसङ्कल्प-संस्कार-ज्ञान से प्रादेश मात्र अर्थात् विलस्तभर गृहाकाश में ही चढ़कर सर्वगामी ज्ञान में आरोहण और आकाशगमन के अनुरूप चिदाकाशमूर्ति का अवलम्बन किया । योगी लोग समाधि द्वारा स्थूल देह से बाहर निकल कर सूक्ष्म देह से बाहर पर्यटन करते हैं । दूसरा मत यह कि योगी लोग देह से बाहर नहीं निकलते, केवल मात्र स्थूल देह के अभिमान का परित्याग और हृदय से लेकर कण्ठ तक विलस्तभर नाड़ी में स्थित होकर या आरोहण कर सर्वव्यापी ज्ञान प्राप्त करते हैं एवं उसी ज्ञान से वे लोग स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकों का दर्शन करते हैं ॥ १३ ॥

उसके बाद सुन्दरनयनवाली और वनितोचित विलासों से मनोहर वे दोनों ललनाएं विषय ज्ञान के स्वभाव से (विषयानुसार व्यवहारकल्पना के कारण) यहां से अत्यन्त दूर आकाश में गईं ॥ १४ ॥

उसी घर में स्थित रह कर भी 'हम लोग आकाश में संचरण करें' इस प्रकार की चित्प्रधान मानस कल्पना वृत्ति से दूर से भी अतिदूर तथा करोड़ों योजना विस्तीर्ण आकाश में उन्होंने संचरण किया ॥ १५ ॥

समाधि अवस्था में आकाश देह सम्पन्न भी वे दोनों ललनाएँ पूर्वसङ्कल्पि दृश्य के अनुसन्धान से समन्वित चित्तस्वरूपता को प्राप्त कर अपने स्वभाव से परस्पर अपने आकार के दर्शन से स्नेहपूर्ण सखियाँ हो गईं ॥ १६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलाप्रज्ञादेव्योर्ज्ञानदेहाकाशगमन नामक कुसुमलता का तेईसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २३ ॥

२४

श्रीवसिष्ठ उवाच

दूराद्दूरमभिप्लुत्य शनैरुच्चैः पदं गते ।
हस्तं हस्ते समालम्ब्य यान्त्यौ ददृशतुर्नभः ॥ १ ॥
एकार्णवमिवोच्छूनं गम्भीरं निर्मलान्तरम् ।
कोमलं कोमलमरुदासङ्गसुखभोगदम् ॥ २ ॥
आह्लादकमलं सौम्यं शून्यताम्भोनिमज्जनात् ।
अत्यन्तशुद्धं गम्भीरं प्रसन्नमपि सज्जनात् ॥ ३ ॥
शृङ्गस्थनिर्मलाम्भोदपीनोदरसुधालये ।
विशश्रमतुराशासु पूर्णचन्द्रोदरामले ॥ ४ ॥

२४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—एक दूसरे का हाथ पकड़ कर जा रहीं धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर अत्यन्त दूर ऊर्ध्व स्थान में गई हुईं उन दोनों सखियों ने आकाश को देखा ॥ १ ॥

आकाश तरङ्गित प्रलयकाल के एकमात्र समुद्र के समान गंभीर, निर्मल और स्निग्ध (बाधाशून्य), मन्द, सुगन्ध और शीतल वायु के संसर्ग से सुखभोग का दाता, शून्यतारूपी जल में अवगाहन करने से अत्यन्त आनन्ददायक अथवा जगत् शून्यतारूप ब्रह्म जल में पहले पहल निर्गमन करने से प्राणिरूपी भ्रमरों को आह्लादित करने वाला कमल रूप, शान्त, अत्यन्त स्वच्छ, गम्भीर और सज्जन के मन से भी अधिक प्रसन्न था ॥ २-३ ॥

पूर्ण चन्द्रमा के मध्य के समान उज्ज्वल उन दोनों ने दिशाओं में (सुमेरु आदि पर्वतों के) शिखरों में स्थित शुभ्र मेघों के विशाल कलेवर के भीतर विद्यमान महलों में विश्राम किया ॥ ४ ॥

सिद्धगन्धर्वमन्दारमालामोदमनोहरे ।
चन्द्रमण्डलनिष्क्रान्ते रेमाते मधुरानिले ॥ ५ ॥
सस्नतुर्भूरिघर्मान्ते तडिद्रक्ताब्जसङ्कुले ।
सरसीव जलापूरमन्थरे मेघमण्डले ॥ ६ ॥
भूतलौघमहाशैलमृणालाङ्कुरकोटिषु ।
दिक्षु बभ्रमतुः स्वैरं भ्रमर्यौ सरसीष्विव ॥ ७ ॥
धारागृहधिया धीरगङ्गानिर्झरधारिणि ।
भ्रेमतुर्वातविक्षुब्धमेघमण्डलमण्डपे ॥ ८ ॥
ततो मधुरगामिन्यौ विश्राम्यन्त्यौ स्वशक्तितः ।
शून्ये ददृशतुर्व्योममहारम्भातिमन्थरम् ॥ ९ ॥
अदृष्टपूर्वमन्योन्यं सर्वसंकटकोटरम् ।
अपूर्यमाणमाशून्यं जगत्कोटिशतैरपि ॥ १० ॥

चन्द्रमण्डल के समीप में चन्द्रमण्डल से निकल कर उन दोनों ने सिद्ध और गन्धर्वों के गले से पड़ी हुई मन्दार मालाओं की अतिशय सुगन्ध से मनोहर, मन्द और सुगन्ध वायु में विचरण किया ॥ ५ ॥

प्रचुर आतप का विनाश करने वाले बिजली रूपी लाल कमलों से व्याप्त तथा जल से परिपूर्ण होने से मन्दगामी मेघमण्डल में स्नान किया। मानो लोग प्रचुर आतप का अन्त करने वाले बिजली के तुल्य उज्ज्वल कमलों से पूर्ण तालाब में स्नान करते हैं ॥ ६ ॥

उन्होंने भी विविध भूतलों के हिमालय आदि पर्वत रूपी मृणालों के करोड़ों अङ्कुरों से युक्त दिशाओं में वैसे ही भ्रमण किया जैसे दो भ्रमरियाँ करोड़ों मृणालाङ्कुरों से व्याप्त कमल के तालाबों में भ्रमण करती हैं ॥ ७ ॥

आकाशगङ्गा के जल-कणों को धारण करने वाले और वायु से विकसित मेघमण्ढलरूपी मण्डप में धारा भवन की बुद्धि से उन्होंने भ्रमण किया ॥ ८ ॥

इसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार मन्द-मन्द चलने वाली एवं मध्य-मध्य में विश्राम करती हुई उन दोनों ललनाओं ने शून्य देश में महान् भुवनों और उनमें स्थित जनों के निर्माण से अत्यन्त पूर्ण आकाशमण्डल को देखा ॥ ९ ॥

यद्यपि सरस्वती देवी ने उक्त आकाशमण्डल को पहले देखा था, तथापि दोनों ने परस्पर मिलकर पहले उसे नहीं देखा था। प्राणियों के हेतुभूत गर्भच्छिद्र कोटि-कोटि जगतों से लगातार भरे जाने पर भी जो चारों ओर शून्य रहता है जिसे उन दोनों ने एक साथ कभी नहीं देखा था उसे देखा ॥ १० ॥

उपर्युपर्युच्चैरन्यैरन्यैर्वृतं पृथक् ।
विचित्राभरणाकारैर्भूतलैः सुविमानकैः ॥ ११ ॥
परितः पूरितव्योम्नां मेर्वादिकुलभूभृताम् ।
पद्मरागतटोद्योतैः कल्पज्वालोपमोदरम् ॥ १२ ॥
मुक्ताशिखरभापूरैर्हिमवत्सानुसुन्दरम् ।
काञ्चनाद्रिस्थलार्चिभिः काञ्चनस्थलभासुरम् ॥ १३ ॥
महामरकताभाभिः शाद्वलस्थलनीलिमम् ।
द्रष्टृदृश्यक्षयासक्तजातध्वान्तोत्थकालिमम् ॥ १४ ॥
पारिजातलतालोलविमानगणकेतनम् ।
अतो मञ्जरिकाकारमिव वैदूर्यभूतलम् ॥ १५ ॥
मनोवेगमहासिद्धजितवातगमागमम् ।
विमानगृहदेवस्त्रीगेयवाद्यसघुंघुमम् ॥ १६ ॥

उन्होंने उसे ऊपर-ऊपर अतिशय सुन्दर विमानों से युक्त, विचित्र आभरणों के आकर के समान और अलग-अलग बने हुए विभिन्न विशाल भुवनों से आवृत देखा ॥ ११ ॥

मेरु आदि सात कुलपर्वतों ने चारों ओर से जिस आकाश को व्याप्त कर लिया था, वह पद्मरागमणि के तटों के प्रकाशों से समन्वित मध्यभाग वाला उन्हें प्रलय काल की अग्नि के समान प्रतीत हुआ ॥ १२ ॥

उक्त पर्वतों की मुक्तामय चोटियों के प्रभापुञ्ज से वह हिमालय की चोटी के समान प्रिय प्रतीत होता था और स्वर्णमय मेरु पर्वत के मैदानों की कान्तियों से वह स्वर्णमय मैदान के सदृश देदीप्यमान था ॥ १३ ॥

पर्वतों की बड़ी-बड़ी मरकतमणियों की—हरित्-मणियों की आभाओं से घास के हरे मैदानों की हरियाली के सदृश हरियाली से समन्वित था, कहीं-कहीं पर नयन-वान् लोगों की दृष्टि का और नील, पीत आदि रूपों का विनाश करने के लिए कटिबद्ध गाढ़ अन्धकार से तम-साच्छन्न था ॥ १४ ॥

पारिजात के वनों के ऊपर उड़ रहे विमानों का स्थानभूत वह कहींपर समीप में स्थित लोगों की दृष्टि से पारिजात वन की मञ्जरी-सी प्रतीत होता था और दूर-स्थित लोगों की दृष्टि से वैदूर्यमणि से बने हुए भूतल के समान प्रतीत होता था ॥ १५ ॥

कहींपर उसमें मन के समान वेगवाले महासिद्धों ने वायु के संचार के वेग को जीत लिया था अर्थात् मन से भी अधिक शीघ्र चलनेवाले सिद्धों ने अपने वेग से वायु

त्रैलोक्यवरभूतौघसंचाराविरलान्तरम् ।
अन्योन्यादृष्टसंचारसुरासुरकुलाकुलम् ॥ १७ ॥
पर्यन्तस्थितकूष्माण्डरक्षःपैशाचमण्डलम् ।
वातस्कन्धमहावेगवहद्वैमानिकव्रजम् ॥ १८ ॥
वहद्विमानसीत्कारमुष्टिग्राह्यघनध्वनि ।
ग्रहर्क्षघनसंचारात्प्रचलद्वातयन्त्रकम् ॥ १९ ॥
निकटातपदग्धाल्पसिद्धसिद्धोज्झितास्पदम् ।
अर्काश्वमुखवातास्तदग्धमुग्धविमानकम् ॥ २० ॥
लोकपालाप्सरोवृन्दसंचाराचारचञ्चलम् ।
देव्यन्तःपुरिकादग्धधूपधूमाम्बुदाम्बरम् ॥ २१ ॥

के वेग को निम्न कर दिया था और कहींपर विमानरूपी घरों में बैठी हुई अप्सराओं के गायन और वादन की 'घुम्, घुम्' ऐसी ध्वनि से पूर्ण था ॥ १६ ॥

कहींपर तीनों लोकों के श्रेष्ठ-श्रेष्ठ प्राणियों के गमनागमन से परिव्याप्त था और कहींपर देवता और दैत्यों के वृन्द से, जिन्होंने कि आपस में एक दूसरे के गमनागमन को नहीं देखा था, उसमें परस्पर टक्कर लगने से बड़ी घबराहट पैदा हो रही थी ॥ १७ ॥

कहीं उसके कोने में कूष्माण्ड, राक्षस, पिशाचों की मण्डली बैठी थी और कहीं पर आवाह, प्रवह, आदि वायु के भेदों के महान् वेग से विमान से चलनेवाले देवताओं का दल चल रहा था अर्थात् बड़ी तेजी से भ्रमण कर रहा था ॥ १८ ॥

उसमें कहीं पर विमानों के शीघ्र चलने की ध्वनि (सरसराहट और घड़घड़ाहट) के दबने से बादलों का शब्द सुनाई देता था, कहींपर सूर्य आदि ग्रह और नक्षत्रों के घनसंचार से (एक दूसरे से सटकर गमनागमन करने से) वायु को रोकनेवाला ज्योतिश्चक्रनामक यन्त्र चल रहा था ॥ १९ ॥

कहीं पर समीपस्थ सूर्य के आतप की उष्णता से झुलसे हुए सिद्धों ने तपस्या, योग और रसायन आदि से पूर्ण सिद्ध न होने के कारण अपना-अपना स्थान छोड़ दिया था, कहीं पर सुन्दर विमान सूर्य के तीक्ष्ण आतप से जल रहे थे और सूर्य के घोड़ों के मुखपवन से अस्त-व्यस्त हो रहे थे ॥ २० ॥

कहींपर लोकपाल और अप्सराओं के पैरों से गमन और अन्यान्य अङ्गों से उनके उचित आचरणों से चल वस्तु के समान चञ्चल था, कहींपर देवियों के अन्तःपुर में

स्वस्वर्गाहूतदेवस्त्रीस्वाङ्गविभ्रष्टभूषणम् ।
सामान्यसिद्धसंघोग्रतेजःपुञ्जतमोबलम् ॥ २२ ॥
बलवत्सिद्धसंघट्टगमागमविघट्टितैः ।
घनैः सांशुकपार्श्वस्थहिमवन्मेरुमन्दरम् ॥ २३ ॥
काकोलूकैर्गृध्रभासै राशिभूतैश्चलैर्वृतम् ।
नृत्यद्भिर्डाकिनीसङ्घैस्तरङ्गैरिव वारिधिम् ॥ २४ ॥
प्रवृत्तैर्योगिनीसंघैः श्वकाकोष्ट्रखराननैः ।
निरर्थं योजनशतं गत्वाऽऽगच्छद्भिरावृतम् ॥ २५ ॥
लोकपालपुरोध्वान्तधूमधूम्रेऽभ्रमन्दिरे ।
सिद्धगन्धर्वमिथुनप्रारब्धसुरतोत्सवम् ॥ २६ ॥

जली हुई धूप के धूम से उत्पन्न मेघरूपी वस्त्र से आच्छन्न था ॥ २१ ॥

कहींपर उसमें इन्द्र, चन्द्र आदि द्वारा स्वर्ग से अपने-अपने लोकों से बुलाई गई, अतएव अन्य की उपेक्षा कर 'मैं पहले जाऊँ, मैं पहले पहुँचूं' इस अभिमान से दौड़ रहीं देवियों के अङ्गों से आभरण गिरे हुए थे, उन अप्सराओं को चाहनेवाले इन्द्र आदि के तुल्य अणिमा आदि विशेष सिद्धियों से शून्य स्वर्गस्थ पुरुषों के उग्र तेज को क्रोध, ईर्ष्या आदि के द्वारा तिरोभूत करनेवाले तमोगुण की प्रबलता के तुल्य नीला था ॥ २२ ॥

बलवान् सिद्धों का परस्पर टकराकर (धक्का-धुक्की के साथ) जो गमनागमन था, उससे मेघ चकनाचूर हो जाते थे, अतएव मानों उनके गमनागमन से होनेवाले अपने विनाश के भय से उन्होंने पास में स्थित हिमालय आदि पर्वतों के शिखरों में आश्रय ले लिया। मेघों के पर्वतों के शिखरों में जाने से पर्वत ऐसे मालूम होते थे मानों उन्होंने वस्त्र पहन रक्खे हैं। अतएव कहींपर उसके पास में स्थित हिमालय, मेरु, मन्दराचल आदि सवस्त्र-से प्रतीत होते थे ॥ २३ ॥

कहींपर समूह के समूह एक साथ उड़ रहे अतएव चञ्चल कौएँ, उल्लू, गीध, चातक आदि पक्षियों और नाच रही डाकिनियों से वह वैसे ही व्याप्त था जैसे चञ्चल लहरों से समुद्र परिव्याप्त होता है ॥ २४ ॥

कहींपर कुत्ते, कौए, ऊँट और गदहे के तुल्य अनेक प्रकार के विलक्षण मुँहवाली निष्प्रयोजन सैकड़ों कोश जाकर लौट रहीं गमनागमन में प्रवृत्त योगिनियों से व्याप्त था ॥ २५ ॥

कहीं पर लोकपालों के आगे ही स्थित अन्धकार के समान दृष्टि के प्रसार को रोकनेवाले, धूम के समान

स्वर्गगीतस्तवोन्मत्तमदनाक्रान्तमार्गगम् ।
अनारतवहद्धिष्ण्यचक्रलक्षितपक्षकम् ॥ २७ ॥
वातस्कन्धनिखातान्तर्वहत्त्रिपथगाजलम् ।
आश्चर्यालोकनव्यग्रसंचरत्त्रिदशार्भकम् ॥ २८ ॥
सदेहसंचरद्वज्रचक्रशूलासिशक्तिमत् ।
क्वचिन्निर्भित्तिभवनं गायन्नारदतुम्बुरु ॥ २९ ॥
मेघमार्गमहामेघमहारम्भाकुलं क्वचित् ।
चित्रन्यस्तसमाकारमूककल्पान्तवारिदम् ॥ ३० ॥
उत्पतत्कज्जलाद्रीन्द्रसुन्दराम्भोधरं क्वचित् ।
क्वचित्कनकनिष्पन्दकान्ततापान्तवारिदम् ॥ ३१ ॥
क्वचिद्दिग्दाहतापाढ्यमृष्यमूकाम्बुदांशुकम् ।
क्वचिन्निष्पवनाम्भोधिसंरम्भं शून्यताजलम् ॥ ३२ ॥
क्वचिद्वातनदीप्रौढविमानतृणपल्लवम् ।
क्वचिच्चलदलिव्रातपृष्ठत्वक्कान्तिनिर्मलम् ॥ ३३ ॥
क्वचिन्मेरुनदीकल्पवातधूलिविधूसरम् ।
क्वचिद्विमानगीर्वाणप्रभाचित्रबलाङ्ककम् ॥ ३४ ॥
क्वचिन्नरम्बरोन्नृत्तमातृमण्डलमालितम् ।
क्वचिन्नित्यं नवक्षीबक्षुब्धयोगीश्वरीगणम् ॥ ३५ ॥
क्वचिच्छान्तसमाधिस्थविश्रान्तमुनिमालितम् ।
समं दूरास्तसंरम्भसाधुचित्तमनोहरम् ॥ ३६ ॥
गायत्किन्नरगन्धर्वसुरस्त्रीमण्डलं क्वचित् ।
क्वचित् स्तब्धपुरापूर्णं वहत्पुरवरं क्वचित् ॥ ३७ ॥
क्वचिद्रुद्रपुरापूर्णं क्वचिद्ब्रह्ममहापुरम् ।
क्वचिन्मायाकृतपुरं क्वचिदागामिपत्तनम् ॥ ३८ ॥

धुमैले, मेघरूपी मन्दिर में सिद्ध और गन्धर्वों के जोड़े सुरतक्रीड़ा कर रहे थे ॥ २६ ॥

कहींपर आकाशमार्ग से चलनेवाले देववृन्द स्वर्ग में गाये जा रहे उद्दीपन करनेवाले मनोहर गीतों और दिव्य स्तुतियों से उन्मत्त और कामपीड़ा से व्याप्त थे, कहींपर ग्रहनक्षत्रों के गृहभूत ज्योतिश्चक्र के सतत चलनेपर सूर्य आदि की गति से शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष का काल-विभाग उसमें दृष्टिगोचर हो रहा था ॥ २७ ॥

कहीं पर अनेक प्रकार के वायु-समूहों में से एक वायु समूहरूप उक्त ज्योतिश्चक्र में बनाये गए गड्ढे के अन्दर गङ्गाजी का जल बह रहा था, कहीं पर देवताओं के बालक अनेक प्रकार के आश्चर्यमय कौतुकों के दर्शन में व्यापृत होकर घूम रहे थे ॥ २८ ॥

कहींपर वज्र, चक्र, त्रिशूल, तलवार और शक्ति के अधिष्ठाता देवगण मूर्तिमान् होकर संचरण कर रहे थे। कहींपर वह बिना भीत के भवनों से परिपूर्ण था, कहींपर उसमें नारद और तुम्बुरु ऋषि गायन कर रहे थे ॥२९॥

कहींपर मेघों के संचरण प्रदेश में पुष्करावर्तक आदि महामेघों के प्रलयकालीन वृष्टिरूप महान् आरम्भ से उसमें हलचल मची थी और कहींपर तो प्रलयकाल के मेघ चित्र में लिखित के तुल्य निश्चेष्ट और गर्जनध्वनि से शून्य थे ॥ ३० ॥

कहीं पर काजल के महान् पर्वतों के समान सुन्दर मेघ उड़ रहे थे, तो कहीं पर सुवर्ण के द्रव के समान मनोज्ञ सूर्य के ताप को दूर करनेवाले मेघों का जमघट था ॥ ३१ ॥

कहीं पर दिशाओं के दाह से उत्पन्न सन्ताप से पूर्ण था। ऋष्यमूक पर्वतपर पूर्वरामायण में वर्णित प्रकार से बरस रहे मेघ ही उसके वस्त्र थे ॥ ३२ ॥

कहीं पर शून्यतारूपी जल से पूर्ण वह निश्चल सागर के समान था। कहींपर उसमें वायु प्रवाहरूपी नदी में बड़े-बड़े वायुयान ही बहाये जा रहे तिनके और पत्तों के सदृश दिखाई देते थे, कहींपर उड़ रहे भँवरों की पीठ की त्वचा की कान्ति के तुल्य कान्तिवाला और निर्मल था ॥ ३३ ॥

कहींपर वर्षाकाल की पर्वतीय नदियों के समान रङ्गवाले वायु में स्थित धूलि के प्रवाहों से वह मटमैला प्रतीत होता था, कहींपर विमानोंपर बैठे हुए देवताओं की कान्ति से उसकी रूपरेखा चितकबरी हो रही थी ॥ ३४ ॥

कहींपर निरन्तर नृत्य करनेवाले मातृमण्डल से परिवृत्त था, कहीं पर कभी नष्ट न होनेवाले, उन्मत्त और विक्षुब्ध योगिश्वरियों के नौ गणों से युक्त था ॥ ३५ ॥

कहीं शान्त, समाधिस्थ अतएव परमपद में विश्रान्त (ब्रह्मनिष्ठ) मुनियों से परिवेष्टित था। कहींपर जिसने क्रोध आदि का अत्यन्त परित्याग कर दिया है, ऐसे साधु-महात्माओं के चित्त के समान मनोहर और सम था अर्थात् विषम नहीं था ॥ ३६ ॥

कहीं पर उसमें किन्नर, गन्धर्व और देवताओं की पत्नियाँ गायन कर रही थीं, कहींपर वह स्थिर नगरों से व्याप्त था, तो कहींपर उसमें चल रहे सुन्दर-सुन्दर त्रिपुर आदि के सुन्दर पुरों की प्रचुरता थी ॥ ३७ ॥

कहीं पर वह शिवजी के नगरों से परिपूर्ण था, तो कहींपर उसमें ब्रह्माजी के महान् नगर विराजमान थे।

क्वचिद्भ्रमच्चन्द्रसरः क्वचित्स्तब्धमयं सरः ।
क्वचित्सरत्सिद्धगणं क्वचिदिन्दुकृतोदयम् ॥ ३९ ॥
क्वचित्सूर्योदयमयं क्वचिद्रात्रितमोमयम् ।
क्वचित्सन्ध्यांशुकपिलं क्वचिन्नीहारधूसरम् ॥ ४० ॥
क्वचिद्धिमाभ्रधवलं क्वचिद्वर्षत्पयोधरम् ।
क्वचित्स्थल इवाऽकाश एव विश्रान्तलोकपम् ॥ ४१ ॥
ऊर्ध्वाधोगमनव्यग्रसुरासुरगणं क्वचित् ।
पूर्वापरोत्तरायाम्यदिक्संचाराकुलं क्वचित् ॥ ४२ ॥
अपि योजनलक्षाणि क्वचिद् दुष्प्रापभूधरम् ।
अविनाशितमःपूर्णं दृषद्गर्भोपमं क्वचित् ॥ ४३ ॥
अविनाशिबृहत्तेजः क्वचिदर्कानलोपमम् ।

कहींपर उसमें माया द्वारा निर्मित नगर विद्यमान थे, तो कहींपर भविष्य में बनाये जानेवाले थे ॥ ३८ ॥

कहींपर चलता-फिरता चन्द्ररूपी सरोवर विराजमान था, कहींपर जो चलने फिरनेवाला नहीं है (ऐसे) तालाब की छटा देखते ही बनती थी, कहींपर सिद्धगण घूम रहे थे, कहींपर चन्द्रोदय की शोभा छटक रही थी ॥ ३९ ॥

कहींपर सूर्योदय का आनन्द अपना अनोखा समा बांध रहा था, कहींपर रात्रि के गाढ अन्धकार ने अपनी निराली छटा दिखा रक्खी थी, कहींपर सन्ध्याकालीन किरणों से लाल हो रहा था, कहींपर कुहरे से मलिन हो रहा था ॥ ४० ॥

कहींपर बरफ के समान सफेद मेघों से शुभ्र था, तो कहीं पर पानी बरसा रहे मेघों से आच्छन्न था, कहींपर भूमि के तुल्य आकाश में अर्थात् आवरणशून्य प्रदेश में लोकपाल बैठे थे ॥ ४१ ॥

कहींपर अनेक देवता और दैत्य ऊपर नीचे जाने में व्यापृत थे और कहींपर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में भ्रमण करनेवाले देव, दानव आदि से परिव्याप्त था ॥ ४२ ॥

कहींपर लाखों कोशों तक भी पर्वतों का नामनिशान नहीं था और कहींपर लोकालोक पर्वत के अगल-बगल में कभी नष्ट न होनेवाले अन्धकार से आवृत अतएव पत्थर के भीतरी हिस्से के समान ठोस था ॥ ४३ ॥

कहींपर उसमें महान् तेज का कभी विनाश नहीं होता था, उस भाग में वह सूर्य और अग्नि के तुल्य तेजस्वी था, कहींपर चन्द्र आदि ग्रहों में बरफ के चट्टान के मध्यभाग के समान चारों तरफ शीतल था ॥ ४४ ॥

हिमानीजठराशीतं क्वचिच्चन्द्रादिसद्मसु ॥ ४४ ॥
क्वचिद्धृतपुरोवृत्तकल्पवृक्षलतावनम् ।
क्वचिद्दैत्यहतोत्तुङ्गप्रपतद्देवपत्तनम् ॥ ४५ ॥
वैमानिकनिपातेन वह्निलेखाङ्कितं क्वचित् ।
क्वचित्केतुशतोत्पातमिथःसङ्घट्टपट्टितम् ॥ ४६ ॥
क्वचिच्छुभग्रहगणप्रगृहीताग्र्यमण्डलम् ।
क्वचिद्रात्रितमोव्याप्तं क्वचिद्दिवसभास्वरम् ॥ ४७ ॥
क्वचिदुद्गर्जदम्भोदं क्वचिन्मूकामलाम्बुदम् ।
वातावकीर्णशुक्लाभ्रखण्डपुष्पोत्तरं क्वचित् ॥ ४८ ॥
क्वचिदत्यन्तनिःशून्यमवदातमनन्तरम् ।
आनन्दमृदुशान्ताच्छं ज्ञस्येव हृदयं ततम् ॥ ४९ ॥

कहींपर दैत्यों के भय से उखाड़कर ले जा रहे देवताओं के अनुचरों द्वारा कल्पवृक्ष-लता का वन पुरस्कृत था, कहींपर दैत्यों द्वारा छिन्न-भिन्न देवताओं का उन्नत नगर गिर रहा था ॥ ४५ ॥

कहींपर स्वर्गस्थ लोगों के, पुण्यक्षय के पश्चात्, निपात से आग की रेखा के समान अङ्कित था अर्थात् पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गस्थ लोग जब मर्त्यलोक में गिरते हैं तो उनके गिरने के समय उनके प्रचुर तेज से आकाश में आग की सी तेज रेखा खिंच जाती है जैसे कि ऊँचे स्थान से बड़े वेग से जलती हुई लकड़ी फेंकी जाय, तो आग की रेखा सी बन जाती है। कहींपर वह सैकड़ों धूमकेतुओं के उदय और परस्पर संमर्द से वस्त्र की भाँति आच्छिन्न था ॥ ४६ ॥

कहींपर सूर्य, चन्द्र आदि शुभग्रहों से उसका श्रेष्ठ ऊर्ध्वमण्डल आक्रान्त था, कहींपर वह रात्रि के अन्धकार से आवृत्त था, कहींपर दिन के प्रकाश से चमक रहा था ॥ ४७ ॥

कहींपर उसमें जलपूर्ण मेघमण्डल अपना गर्जन-तर्जन दिखा रहा था, तो कहींपर जलशून्य निर्मल मेघ चुप लगाये थे, कहींपर उसमें स्थित शुभ्रमेघखण्डरूपी पुष्पशय्या वायु द्वारा इतस्ततः बिखेर दी गई थी ॥ ४८ ॥

कहींपर वह ज्ञानीजन के हृदय के समान दृश्य पदार्थों से अत्यन्त शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी मेघ के व्यवधान से रहित, आनन्दरूप, कोमल, शान्त और धूलिकणों से शून्य था। ज्ञानियों का चित्त भी दृश्य पदार्थों में आसक्ति से शून्य, स्वच्छ, अज्ञानरूपी आवरण से रहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त और रजोगुण से रहित होता है ॥ ४९ ॥

शुक्रवाहनभेकौघैः क्वचिद् गलकृतारवम् ।
शून्यतावारिवलितं क्षेत्रमाकाशवासिनाम् ॥ ५० ॥
मयूरहेमचूडादिपक्षिभिः क्वचिदावृतम् ।
विद्याधरीणां देवीनां वाहनैर्विहतास्पदैः ॥ ५१ ॥
क्वचिदभ्रान्तरोन्नृत्यद्गुहमायूरमण्डलम् ।
क्वचिदग्निशुकैः श्यामं शाद्वलानामिव स्थलम् ॥ ५२ ॥
क्वचित् प्रेतेशमहिषमहिम्ना वामनाम्बुदम् ।
क्वचिदश्वैस्तृणग्रामशङ्काग्रस्तासिताम्बुदम् ॥ ५३ ॥
क्वचिद् देवपुरव्याप्तं क्वचिद्दैत्यपुरान्वितम् ।
अन्योन्याप्राप्यनगरं नगरन्ध्रकरानिलम् ॥ ५४ ॥
क्वचित् कुलाचलाकारनृत्यद्भैरवभासुरम् ।
क्वचित् सपक्षशैलेन्द्रसमनृत्यद्विनायकम् ॥ ५५ ॥
क्वचित् घर्घरवातौघपक्षप्रोड्डीनपर्वतम् ।

वह आकाशवासियों का खेत था, जैसे खेतों में मेढक बोलते हैं और जल भरा रहता है, वैसे ही उसमें शुक्रशब्द से उपलक्षणविधया उक्त आकाशचारियों के वाहनरूपी मेढक कण्ठ द्वारा शब्द करते थे और शून्यतारूपी जल से वह पूर्ण था ॥ ५० ॥

कहींपर विद्याधरी देवियों के वाहन मयूर, हेमचूड़ आदि पक्षियों से, जिन्होंने कि उसमें अपने-अपने घोंसले बना रक्खे थे उनसे परिव्याप्त था ॥ ५१ ॥

कहींपर मेघमण्डल के अन्दर कार्तिकेय के वाहन मयूरों का झुण्ड उसमें नाच कर रहा था, कहींपर वह अग्नि के वाहन शुकों से (यद्यपि सर्वत्र अग्नि का वाहन मेष ही प्रसिद्ध है, तथापि यहां के कथन से अग्नि का वाहन शुक भी है, ऐसा जानना चाहिए ।) हरी घास के मैदान के तुल्य हरा था ॥ ५२ ॥

कहींपर उसमें यमराज के वाहन भैंस की बृहत्कलेवर-रूप महिमा से मेघ छोटा-सा प्रतीत होता था, कहींपर सूर्य के घोड़ों ने घास की आशङ्का से काले-काले बादलों को निगल डाला था ॥ ५३ ॥

कहींपर देवताओं के नगर से व्याप्त था, कहींपर दैत्यों के नगरों का तांता लगा था, वे लोग एक दूसरे के नगर को नहीं पा सकते थे, क्योंकि उनके नगरों के बीच में पहाड़ों में भी छेद करने में समर्थ यानी अतिबलवान् वायु का आवास था ॥ ५४ ॥

कहींपर मेरु आदि सात कुल-पर्वतों के समान विशालकाय नाच रहे भैरवों से जगमगा रहा था, कहींपर पक्षयुक्त (परवाले) महान् पर्वतों के तुल्य विनायक

क्वचिद् गन्धर्वनगरसुरस्त्रीवृन्दबन्धुरम् ॥ ५६ ॥
क्वचिद्व्रहद्गिरिध्वस्तवृक्षलक्षोच्छ्रिताम्बुदम् ।
क्वचिन्मायाकृताकाशनलिनीजलशीतलम् ॥ ५७ ॥
क्वचिदिन्दुकराकृष्टिशीतलाह्लादमारुतम् ।
क्वचित् तप्तानिलादग्धद्रुमपर्वतवारिदम् ॥ ५८ ॥
क्वचिदत्यन्तसंशान्तवातादेकान्तनिर्ध्वनि ।
क्वचित् पर्वततुल्याभ्रशिखाकूटशतोदयम् ॥ ५९ ॥
क्वचित् प्रावृड्भवोन्मत्तघनाभ्ररवघर्घरम् ।
क्वचित् सुरासुरगणप्रवृत्तरणदुर्गमम् ॥ ६० ॥
क्वचिद् व्योमाब्जिनीहंसीस्वनाहूताब्जवाहनम् ।
क्वचिन्मन्दाकिनीतीरनलिनीलुण्ठकानिलम् ॥ ६१ ॥
स्वशरीरेण गङ्गादिसरितां सन्निधानतः ।
प्रोड्डीनमत्स्यमकरकुलीराम्बुजकूर्मकम् ॥ ६२ ॥

नृत्य कर रहे थे ॥ ५५ ॥

कहींपर पर्वत घड़घड़ाहट और वायु के झोकों के साथ परों से उड़ते थे, कहींपर गन्धर्वों का नगर था, जिसमें झुण्ड की झुण्ड अप्सराएँ निवास करती थीं ॥५६॥

कहींपर मेघ उड़ रहे पर्वतों द्वारा छिन्न-भिन्न तथा लाखों वृक्षों द्वारा छाते के समान अपने ऊपर ताने गये थे। कहींपर वह माया द्वारा निर्मित कमलयुक्त सरोवर के जल से शीतल था ॥ ५७ ॥

कहींपर वायु चन्द्रकिरणों के संसर्ग से शीतल और आह्लादकारी था, कहींपर सूर्य किरणों से तप्त वायु से पर्वत, पेड़ और मेघ जल रहे थे ॥ ५८ ॥

कहींपर वायु के अत्यन्त शान्त होने के कारण बिल-कुल सन्नाटा छाया था, कहींपर पहाड़ों के समान विशाल-काय मेघों के सैकड़ों शिखरसमूह उदित हो रहे थे ॥५९॥

कहींपर उसमें वर्षा ऋतु के उद्दाम और निबिड़ मेघमण्डल के गर्जन की गड़गड़ाहट हो रही थी, कहींपर प्रवृत्त देवासुरसंग्राम से जाना बड़ा कठिन हो गया था ॥ ६० ॥

कहींपर आकाशकमलिनी में रहनेवाली हंसी अपने मधुरस्वर से ब्रह्माजी के वाहन हंस का आवाहन करती थी, कहींपर वायु मन्दाकिनी के तीर की नलिनियों की सुगन्धि चुरा रहा था ॥ ६१ ॥

गङ्गादि पुण्य नदियों की सन्निधि होने से मछली, मगर, केकड़े, वेतस (बेंत के वृक्ष), कछुएँ देवताओं का शरीर धारण कर उड़ते थे ॥ ६२ ॥

पातालगार्कजनितभूच्छायाकाकचोपनैः ।
क्वचित्क्वचिन्मण्डलेषु ग्रस्तचन्द्रार्कमण्डलम् ॥ ६३ ॥
क्वचित् सर्गानिलाधूतमायाकुसुमकाननम् ।
पतत्पुष्पहिमासारत्रस्तवैमानिकाङ्गनम् ॥ ६४ ॥
उदुम्बरोदरमशकक्रमभ्रम-
ज्जगत्त्रयान्तरगतभूतसंचयम् ।
विलङ्घ्य तद्वरललने खमुच्चकै-
र्महीतलं पुनरपि गन्तुमुद्यते ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गगनवर्णनं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

भूगोल के चारों ओर सूर्य के घूमनेपर पृथिवी की छाया भी घूमती है, जब सूर्य पाताल में जाता है, तब पृथिवी की छाया ऊपर को फैलती है, काली होने से वही काक ठहरी, उसके आक्रमणों से किन्हीं किन्हीं मण्डलों में चन्द्र और सूर्य-मण्डल में ग्रहण लगा था ॥ ६३ ॥

कहींपर विमानचारी देवताओं द्वारा अपनी अङ्गनाओं के विस्मय के लिए रचित मायिक सृष्टि के वायुओं द्वारा मायानिर्मित फूलों का वन हिलाया जाता था, गिर रहे पुष्परूपी हिम की लगातार वृष्टि से विमानचारी देवताओं की अङ्गनाएँ भयभीत हो रही थीं ॥ ६४ ॥

वे दोनों ललनाएँ गूलर के फल के अन्दर के छोटे-छोटे मशकों के समान जिसमें त्रिजगत् मध्यवर्ती प्राणिवर्ग घूम रहा था, ऐसे आकाश को ऊपर तक लांघकर फिर पृथ्वी तल में जाने के लिए उद्यत हो गई ॥ ६५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में गगनवर्णन नामक कुसुमलता का चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २४ ॥

२५

श्रीवसिष्ठ उवाच

नभःस्थलाद् गिरिग्रामं गच्छन्त्यौ कञ्चिदेव ते ।
ज्ञप्तिचित्तस्थितं भूमितलं ददृशतुः स्त्रियौ ॥ १ ॥
ब्रह्माण्डनरहृत्पद्मं दिगष्टकदलं बृहत् ।
गिरिकेसरसम्बाधं स्वामोदभरसुन्दरम् ॥ २ ॥
सरित्केसरिकानालमध्येऽवश्यायबिन्दुकम् ।
शर्वरीभ्रमरीभ्रान्तं भूतौघमशकाकुलम् ॥ ३ ॥
अन्तर्गुणगणाकीर्णं सुरन्ध्रैः सुषिरैर्वृतम् ।
उह्यमानपयःपूरैर्दिवसालोककान्तिमत् ॥ ४ ॥
रसार्द्रं खेभ्रमद्धंसं रात्रिसङ्कोचभाजनम् ।
पातालपङ्कनिर्मग्ननागनाथमृणालकम् ॥ ५ ॥
कदाचिदास्पदाम्भोधिकम्पकम्पितदिग्दलम् ।
अधोनालगतानन्तदैत्यदानवकण्टकम् ॥ ६ ॥

२५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—आकाश-मण्डल से पर्वत-ग्राम को जा रहीं उन दोनों ललनाओं ने सरस्वती के मन में स्थित अपूर्व भूमितल को देखा ॥ १ ॥

वह महीतल ब्रह्माण्डरूपी पुरुष का विशाल हृदय कमल था, आठों दिशाएँ उसकी पँखुरियाँ थीं, पर्वतरूपी केसरों से वह ठसाठस भरा था, मन को आकर्षण करनेवाली सुगन्धि से उसकी मनोहरता कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी थी ॥ २ ॥

सरिताएँ ही केसर की अवान्तरशाखाएँ थी, कारण वे केरसरूप पर्वतों से निकली थीं, हिमकण ही उनके नाले के बीच में स्थित मधुबिन्दु थे, रात्रिरूपी भँवरी से वह भ्रमियुक्त था असीम प्राणिवर्ग उसके मशक थे अर्थात् प्राणिसंघरूप क्षुद्र पतिंगों से वह व्याकुल था ॥ ३ ॥

भोग्य वस्तुओं के गुण उसके नालदण्ड के भीतर के तन्तु थे, उनसे वह व्याप्त था, जल-प्रवाह को बहानेवाले पाताल आदि विल उसके सुन्दर नालछिद्र थे, उनसे वह परिव्याप्त था सूर्य के आतप से अत्यन्त कान्तिवाला था ॥ ४ ॥

श्रृङ्गार आदि नौ रस उसके मकरन्द थे, उनसे वह सार्द्र अर्थात् सरस था, आकाश में घूम रहा हंस = सूर्य उसका हंस था, ब्रह्मा की रात्रिरूप रात्रि में प्रलयकाल में संकोच को प्राप्त होता था। पातालरूपी पङ्क में निमग्न शेषनाग उसका मृणालदण्ड था ॥ ५ ॥

कभी आश्रयभूत महोदधि के कम्पन से उक्त भुवन-रूपी हृदयकमल की पँखुरीरूप दसों दिशाएँ कम्पित हो जातीं थीं, नाल के अधोभाग में स्थित अनन्त दैत्य-दानव ही उसके अनन्त कांटे थे ॥ ६ ॥

असुरस्त्रैणवल्लार्यां संभोगसुकुमारया ।
प्राप्यं भूभृन्महाबीजहृदयं भूतबीजया ॥ ७ ॥
जम्बूद्वीप इति ख्यातां विपुलां तत्र कर्णिकाम् ।
सरित्केसरिकानालां नगरग्रामकेसराम् ॥ ८ ॥
कुलशैलेश्वरोत्तुङ्गबीजसप्रकसुन्दरीम् ।
मध्यस्थोच्चमहामेरुबीजाक्रान्तनभस्थलीम् ॥ ९ ॥
सरःप्रालेयकणिकां वनजङ्गलधूलिकाम् ।
स्थलेष्वामण्डलान्तस्थजनजालालिमण्डलाम् ॥ १० ॥
तां योजनशताकारैः प्रतिराकं प्रबोधिभिः ।
सागरैर्भ्रमरैर्व्याप्तां दिक्चतुष्टयशालिभिः ॥ ११ ॥
दिग्दलाष्टकविश्रान्तससुराम्भोधिषट्पदाम् ।
भ्रातृभिर्नवभिर्भूपैर्नवधा परिकल्पिताम् ॥ १२ ॥
लक्षयोजनविस्तीर्णामाकीर्णां च रजोलवैः ।
नानाजनपदव्यूहस्थिरावश्यायसीकराम् ॥ १३ ॥

मृणालकन्द सन्ततिरूपी प्राणियों की बीजभूत, संयोग से सुकुमार, असुरों के स्त्री-समूहरूपी मृणालकलिका आदि वल्लरी द्वारा प्राप्त करने योग्य महाबीज स्थानीय मेरु आदि पर्वतों का हृदय के समान जीवन का हेतु था ॥७॥

उस भुवनरूप कमल में उन्होंने विशालकर्णिका जम्बुद्वीप नाम से प्रसिद्ध थी उसे देखा उसमें सरिताएँ ही केसर की अवान्तर शाखाओं के नालदण्ड थे ॥ ८ ॥

नगर और ग्राम ही उसमें केसर थे । वह जम्बुद्वीपरूपी कर्णिका उत्तुङ्ग महामेरुरूपी बीज से (कमलगट्टे से) आकाश को स्पर्श कर रही थी ॥ ९ ॥

उसके सरोवर ओस के बूंद थे । वन और जङ्गल उसके पराग थे तथा कर्णिका के बगल-बगल के स्थानों में चारों ओर मण्डल के मध्य में रहनेवाला जनसमुदाय ही अलिवृन्द था ॥ १० ॥

वह (जम्बूद्वीप नामक कर्णिका) प्रत्येक पूर्णिमा में उमड़नेवाले, चारों दिशाओं में स्थित तथा सौ योजन विस्तीर्ण समुद्ररूपी भ्रमरों से व्याप्त थी ॥ ११ ॥

आठों दिशारूपी पँखुरियों में स्थित दिक्पालों के सहित सागर उसके षट्पद थे । उसके भद्राश्व, केतुपाल आदि नौ भाइयों ने, जो कि राजा थे, नौ विभाग किये थे ॥ १२ ॥

वह लाखों योजन विस्तीर्ण थी और रज कणों से व्याप्त थी । अनेक जनपद समूह उसके स्थित हिमकण के

द्वीपात्तु द्विगुणं मानं लवणार्णवलेखया ।
दधत्याऽऽवलितां बाह्यो प्रकोष्ठमिव कम्बुना ॥ १४ ॥
ततोऽपि द्विगुणं देहं दधत्यावलयाकृतिम् ।
जगद्भूतलताव्याप्तां शाकाख्यद्वीपलेखया ॥ १५ ॥
ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्या च वेष्टिताम् ।
प्रत्यग्रक्षीरपूर्णाब्धिलेखया स्वादुशीतया ॥ १६ ॥
ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्योपवेष्टिताम् ।
नानाजनालङ्कृतया कुशाख्यद्वीपलेखया ॥ १७ ॥
ततोऽपि द्विगुणाकारं धारयन्त्या च वेष्टिताम् ।
दध्यब्धिलेखया नित्यसन्तर्पितसुरौघया ॥ १८ ॥
ततः क्रौञ्चाभिधद्वीपलेखयैवंप्रमाणया ।
वेष्टितां खातरचया नवां नृपपुरीमिव ॥ १९ ॥
ततोऽपि च घृताम्भोधिलेखयैवंप्रमाणया ।
ततोऽपि शाल्मलीद्वीपलेखया मलपूर्णया ॥ २० ॥

सीकर थे ॥ १३ ॥

वह जम्बूद्वीपरूपी कर्णिका इस द्वीप से द्विगुणित परिणामवाले क्षारसमुद्र से, शङ्खवलय से मणिबन्ध के समान चारों ओर से घिरी हुई थी ॥ १४ ॥

उससे भी द्विगुण देह को धारण कर रही शाकनामक द्वीपरेखा से घिरी हुई जगद्रूप पद्मलता से व्याप्त थी ॥ १५ ॥

शाकद्वीप से भी द्विगुण आकार धारण करनेवाली स्वादु और शीतल नवीन क्षीर से पूर्ण समुद्ररेखा से यानी क्षीरसागर से व्याप्त थी ॥ १६ ॥

क्षीरसागर से भी द्विगुण आकार को धारण कर रही अनेक जनों से अलङ्कृत कुशनामक द्वीपरेखा से वेष्टित थी ॥ १७ ॥

कुशद्वीप से भी द्विगुण आकारवाली दधिसमुद्र की रेखा से, जो सतत देवताओं के समूहों को तृप्त करती है, वेष्टित थी ॥ १८ ॥

दधिसमुद्र से भी द्विगुण परिमाणवाली क्रौञ्चनामक द्वीपरेखा से, परिखा से नवीन राजनगरी की तरह, घिरी हुई थी ॥ १९ ॥

क्रौञ्चद्वीप से द्विगुण आकारवाली घृतसमुद्र की रेखा से घिरी थी, घृतसमुद्र से द्विगुण एवं सुरासमुद्र से परिवृत होने के कारण पापपूर्ण शाल्मलीद्वीपरेखा से वेष्टित थी ॥ २० ॥

ततः सुरामहाम्भोधिलेखया पुष्पशुभ्रया ।
शेषस्य देहलतया हरिर्मूर्त्तिमिवाऽऽवृताम् ॥ २१ ॥
ततो गोमेदकद्वीपलेखयैवंप्रमाणया ।
इक्ष्वब्धिलेखयाऽप्येवं हिमवत्सानुशुद्धया ॥ २२ ॥
ततोऽपि पुष्करद्वीपलेखया द्विगुणस्थया ।
अन्तस्वादूदकाम्भोधिलेखयैवंप्रमाणया ॥ २३ ॥
ततो दशगुणेनाऽथ पातालतलगामिना ।
निखातवलयेनोच्चैः श्वभ्रसम्भाररूपिणा ॥ २४ ॥
पातालगामिमार्गेण वलितां भयदात्मना ।
एतस्मात् खलु सर्वस्मात् ततो दशगुणोच्चया ॥ २५ ॥
आव्योमसु चतुर्दिक्षु श्वभ्रसम्भारभीषया ।
अर्द्धोन्म्लानतमोरूपलग्ननीलोत्पलस्रजा ॥ २६ ॥
नानामाणिक्यशिखरकह्लारकुमुदाब्जया ।
लोकालोकाचलोत्तालविपुलोद्दाममालया ॥ २७ ॥
वलितां त्रिजगल्लक्ष्मीधम्मिल्लवलनामिव ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ २८ ॥
अज्ञातभूतसञ्चारनाम्नाऽरण्येन मालिताम् ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ २९ ॥
नभसेव चतुर्दिक्कं व्याप्तामतुलवारिणा ।
एतस्मादेव सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३० ॥
मेर्वादिद्रावणोत्केन ज्वालाजालेन मालिताम् ।
एतस्मादथ सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३१ ॥
मेर्वाद्यचलसङ्घातं नयता तृणपांसुवत् ।
वहताऽद्रीन्द्रविस्फोटकारिणा जवहारिणा ॥ ३२ ॥
निःशून्यत्वादशब्देन मरुता परितो वृतम् ।
एतस्मादथ सर्वस्मात्ततो दशगुणात्मना ॥ ३३ ॥
परितो वलितं व्योम्ना निःशून्येनैकरूपिणा ।
अथ योजनकोटीनां शतेन घनरूपिणा ।
व्याप्तं ब्रह्माण्डकुडचेन हैमेनाऽपि द्विपर्वणा ॥ ३४ ॥

जैसे शेषनाग की देवरूपी लता से भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति वेष्टित रहती है, वैसे ही वह पुष्प के समान अतिशुभ्र सुरासमुद्र की रेखा से वेष्टित थी ॥ २१ ॥

सुरासमुद्र से परिमाण में द्विगुण गोमेदक नामक द्वीप-रेखा से=मणिप्रधान लक्षद्वीपरेखा से परिवेष्टित थी, उससे भी द्विगुण इक्षुसमुद्र की रेखा से, जो हिमवान् के शिखर के समान शुद्ध थी उससे आवृत थी ॥ २२ ॥

इक्षुसागर से द्विगुण परिमाणवाले पुष्करद्वीप की रेखा से घिरी हुई थी, वह इससे भी द्विगुण परिमाणवाले स्वादुजल के समुद्र से घिरी हुई थी ॥ २३ ॥

वह कर्णिका उक्त स्वादुजलसमुद्र से दशगुण अधिक परिणामवाले पातालतलगामी गड्ढों के समूहरूप निम्न-देशरूप वलय से जो पाताल में जानेवालों का महाभयप्रद मार्ग है, उससे वेष्टित थी ॥ २४ ॥

इससे भी दशगुण अधिक परिमाणवाले चारों दिशाओं में आकाशपर्यन्त गर्तों के समूह से भी अत्यन्त भयङ्कर, दूसरे अर्धभाग में उन्म्लान यानी सूर्य के प्रकाश के न मिलने से म्लानि को अप्राप्त तथा दूसरे यानी ऊपर के अर्धभाग में सूर्य के प्रकाश के संयोग से अन्धकार के न रहने के कारण म्लानप्राय अन्धकाररूपिणी नीलकमलों की पङ्क्ति से खचित तथा विविध प्रकार के माणिक्यों के शिखररूपी रक्तकमल और श्वेतकमलों से युक्त लोका-लोकपर्वतरूपी अति उत्तुङ्ग विशाल और सौरभ्यादि गुणों से श्रेष्ठ माला से परिवेष्टित थी। अतएव तीनों जगतों की लक्ष्मी के लटकी रचना के समान सुशोभित हो रही थी। इससे भी दशगुण अधिक परिमाणवाले अज्ञातजीवसंचार नाम वाले अरण्य से वह आवृत थी ॥ २५-२८ ॥

अज्ञातभूतसंचार नामक जङ्गल से भी दशगुण अधिक परिमाणवाले अपरिमित जल से, आकाश के समान, चारों दिशाओं में वह व्याप्त थी। अपरिमित जल से भी दशगुण अधिक परिणामवाले, मेरु आदि पर्वतों को भी प्रलय करने में समर्थ भीषण ज्वालाओं से वेष्टित थी ॥ २९-३० ॥

ज्वालाओं से भी अधिक दशगुण परिमाणवाले मेरु आदि पर्वतों के समूह को तृण मेरु आदि पर्वतों के समूहों के तिनके और धूलिकण के सदृश ले जा रहे अर्थात् अतिशय सामर्थ्यवान्, बड़े-बड़े पर्वतों में विस्फोट पैदा करनेवाले, अन्य भूतों के वेग को हरनेवाले, मूर्त पदार्थों से प्रतिघात न होने के कारण शब्दरहित एवं बह रहे प्रलयकाल के वायु से चारों ओर परिवृत था। तदनन्तर पूर्वोक्त सबसे भी दशगुना बड़े केवल एक शून्यरूपी आकाश से चारों ओर घिरा था। तदनन्तर सौ करोड़ योजना परिमाणवाली खूब घनी दोहरी सुवर्णमय ब्रह्माण्ड की दीवारों से व्याप्त था ॥ ३१-३४ ॥

इति जलधिमहाद्रिलोकपाल-
त्रिदशपुराम्बरभूतलैः परीतम् ।
जगदुदरमवेक्ष्य मानुषी द्राग्भुवि-
निजमन्दिरकोटरं ददर्श ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने भूलोकवर्णनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार सागर, महापर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतल से परिवेष्टित जगत् के मध्य को देख कर लीला ने शीघ्र पृथिवीपर अपने घर का आधारभूत गिरिग्राम का अवकाश देखा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में भूलोकवर्णन नामक कुसुमलता का पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २५ ॥

२६

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति ते वरवर्णिन्यौ ततो ब्रह्माण्डमण्डलात् ।
निर्गत्याऽन्यदनुप्राप्ते यत्र तद्ब्राह्मणास्पदम् ॥ १ ॥
ततो ददृशतुः सद्म स्वमेवं सिद्धयोषितौ ।
अदृश्ये एव लोकस्य मण्डपं ब्राह्मणास्पदम् ॥ २ ॥
चिन्ताविधुरदासीकं बाष्पक्लिन्नाङ्गनामुखम् ।
विध्वस्तप्रायवदनं शीर्णपर्णाम्बुजोपमम् ॥ ३ ॥
नष्टोत्सवपुरप्रायमगस्त्यात्तमिवाऽर्णवम् ।
ग्रीष्मदग्धमिवोद्यानं विद्युद्दग्धमिव द्रुमम् ॥ ४ ॥
वातच्छिन्नमिवाऽम्भोदं हिमदग्धमिवाऽम्बुजम् ।
अल्पस्नेहदशं दीपमिवाऽऽलोकनभेदनम् ॥ ५ ॥
आसन्नमृत्यु करुणाकुलवक्त्रकान्ति
संशीर्णजीर्णतरुपर्णवनोपमानम् ॥
वृष्टिव्यपायपरिधूसरदेशरूक्षं
जातं गृहेश्वरवियोगहतं गृहं तत् ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ सा निर्मलज्ञानचिराभ्यासेन सुन्दरी ।
सम्पन्ना सत्यसङ्कल्पा सत्यकामा च देववत् ॥ ७ ॥

२६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :— वे दोनों ललनाएँ राजा पद्म जिसमें रहता था, उस ब्रह्माण्डमण्डल से निकल कर जिसमें उस वसिष्ठ नाम के ब्राह्मण का घर था उस दूसरे ब्रह्माण्डमण्डल में पहुँचीं ॥ १ ॥

दोनों सिद्ध-ललनाओं ने अन्य लोगों के द्वारा अदृश्य होती हुई ब्राह्मण का निवासभूत मण्डप अपने घर के रूप में देखा ॥ २ ॥

गृहस्वामी के मर जाने के कारण उसमे दासियाँ शोक से व्याकुल थीं, औरतों के मुँह आंसुओं की धाराओं से आर्द्र थी, आँसू और धूलि से मलिन होने और आभूषण और तिलक से शून्य होने के कारण सबके मुँहपर घनी उदासी छाई थी । सबके मुँह जिसकी पँखुरियाँ झड़ गई हों उस कमल के तुल्य थे ॥ ३ ॥

ब्राह्मण के निवासभूत उस ब्राह्माण्ड के प्रायः सभी नगर रहित थे, अतएव वह महर्षि अगस्त्यजी द्वारा पिये गये समुद्र के समान, ग्रीष्म ऋतु से मुर्झाकर जर्जर हुए उद्यान के समान और बिजली गिरने से जले हुए वृक्ष के समान था ॥ ४ ॥

वायु से छिन्न-भिन्न हुए मेघ के समान, तुषारपात से जले हुए कमल के समान एवं जिसका तेल और बत्ती समाप्त हो चुकी थी उस दीप के समान, अदर्शनीय था ॥ ५ ॥

गृहपति के वियोग से वह घर हतप्रभ हो गया था, उसकी मुखकान्ति करुणा से फीकी पड़ गई थी, अतएव वह आसन्न मृत्यु वाले पुरुष के समान दिखाई देता था । वह चिरकाल की अनावृष्टि से धूलिधूसर देश के समान रूखा था और था उस समान विरूप जिस वन के वृक्षा के पुराने सब पत्त झड़ गये हों उसके समान विरूप था ॥ ६ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—वह सुन्दरी लीला निर्मल ज्ञान का चिरकाल अभ्यास करने से देवताओं के समान सत्य संकल्प और सत्यकाम हो गई थी ॥ ७ ॥

चिन्तयामास मामेते देवीं चेमां स्वबन्धवः ।
पश्यन्तु तावत् सामान्यललनारूपधारणीम् ॥ ८ ॥

ततो गृहजनस्तत्र स ददर्शाऽङ्गनाद्वयम् ।
लक्ष्मीगौर्योर्युगमिव समुद्भासितमन्दिरम् ॥ ९ ॥

आपादविविधाम्लानमालावलनसुन्दरम् ।
वसन्तलक्ष्म्योर्युगलमिवाऽऽमोदितकाननम् ॥ १० ॥

सर्वौषधिवनग्रामं पूरयन्त्यौ रसायनैः ।
शीतलाह्लादसुखदं चन्द्रद्वयमिवोदितम् ॥ ११ ॥

लम्बालकलतालोललोचनालिविलोकनैः ।
किरत् कुवलयोन्मिश्रमालतीकुसुमोत्करान् ॥ १२ ॥

द्रुतहेमरसापूरसरित्सरणहारिणा ।
देहप्रभाप्रवाहेण कनकीकृतकाननम् ॥ १३ ॥

सहजाया वपुर्लक्ष्म्या लीलादोलाविलासिनः ।
ते एते च तरङ्गाढ्या निजलावण्यवारिधेः ॥ १४ ॥

उसने चिन्ता की कि मुझे और देवी सरस्वती को ये मेरे बन्धुबान्धव-गण साधारण स्त्री के स्वरूप में दर्शन करें ॥ ८ ॥

इस प्रकार के संकल्प के बाद घर के लोगों ने वहाँ पर घर को अपने तेज से देदीप्यमान करती हुई लक्ष्मी और पार्वती के समान दो अङ्गनाओं को देखा ॥ ९ ॥

सिर से पैर तक भाँति-भाँति की अनेक अम्लान ताजी मालाओं के धारण से उनकी सहज सुन्दरता अधिक हो गई थी, दो वसन्तलक्ष्मियों के समान उन्होंने अपने सहज सौरभ से वन और उपवनों को सुगन्धित कर दिया था ॥ १० ॥

मानों इन दोनों में अपनी चाँदनीरूप सुधा से सम्पूर्ण औषधियों को पूर्ण करती हुई शीतल तथा आह्लाद देने वाले दो चन्द्र के समान उदय लिया था ॥ ११ ॥

मानों वे दोनों लटक रहे अलकरूपी लताओं के सभी में चञ्चल होने के कारण भ्रमररूप में परिणत लोचनों के द्वारा कटाक्षों से नील कमलों से मिश्रित मालती पुष्पों के समूहों को बरसा रही थी ॥ १२ ॥

पिघलाये गये सुवर्ण के रस को बहाने वाली सरित के वेग के समान मनोहर अपने शरीर की दीप्ति की धारा से उन्होंने आस-पास के वनों को कनकमय कर दिया था ॥ १३ ॥

मानो ये दो ललनाएँ शरीर की प्राकृतिक (स्वाभाविक) शोभारूपी लक्ष्मी की क्रीड़ा के लिए बनाये

विलोलबाहुलतिकायुगेनाऽरुणपाणिना ।
किरन्नवनवं हैमं कल्पवृक्षलतावनम् ॥ १५ ॥

पादैरमृदिताम्लानपुष्पकोमलपल्लवैः ।
स्थलाब्जदलमालाभैरस्पृशद्भूतलं पुनः ॥ १६ ॥

तालीतमालखण्डानां शुष्काणां शुचिशोचिषाम् ।
आलोकनामृतासेकैर्जनयद्बालपल्लवान् ॥ १७ ॥

नमोऽस्तु वनदेवीभ्यामित्युक्त्वा कुसुमाञ्जलिम् ।
तत्याज ज्येष्ठशर्माऽथ सार्द्धं गृहजनेन सः ॥ १८ ॥

पपात पादयोर्गेहे तयोर्वै कुसुमाञ्जलिः ।
प्रालेयसीकरासारः पद्मिन्या इव पद्मयोः ॥ १९ ॥

ज्येष्ठशर्मादय ऊचुः

जयतं वनदेव्यौ नो दुःखनाशार्थमागते ।
प्रायः परपरित्राणमेव कर्म निजं सताम् ॥ २० ॥

गये झूले के समान विलास करने वाले अपने लावण्यरूपी समुद्र की श्रेष्ठ तरङ्ग थीं ॥ १४ ॥

कमल के समान रक्त हाथों से समन्वित चपल दो भुजलताओं से नूतन-नूतन कनकमय कल्पवृक्ष लताओं के वन की सृष्टि कर रही थीं ॥ १५ ॥

जिन का मर्दन नहीं किया गया है ऐसे अम्लान न कुम्हलाये हुए फूल और कोमल पल्लव ही उनके चरण मानों स्थूलकमल पँखुरियों की माला ही हो ऐसी कोमल और लाल चरणों से वे भूमितल का स्पर्श नहीं करती थीं ॥ १६ ॥

वे अपने दृष्टिपातरूप अमृत के सिञ्चन से सूखे हुए सफेद रंग के ताल और तमाल के वृक्षों के खण्डों में नवीन-नवीन पल्लवों को उत्पन्न कर रही थीं ॥ १७ ॥

इसके बाद ज्येष्ठ शर्मा ने घर के अन्य जनों के साथ वनदेवियों के लिए कहकर पुष्पाञ्जलि समर्पित की ॥ १८ ॥

घर में उनके पैरों पर पुष्पाञ्जलि इस प्रकार समर्पित हुई मानों कमल की लता के कमलों पर हिम-जल के सीकरों की वृष्टि हो रही है ॥ १९ ॥

ज्येष्ठशर्मा आदि ने कहा :—हे वन-देवियो ! आप लोगों की जय हो, ऐसा प्रतीत होता है कि आप दोनों हमारे दुःख दूर करने के लिए ही आई हैं, क्योंकि प्रायः दूसरों की रक्षा करना ही सत्पुरुषों का स्वभाव होता है ॥ २० ॥

इति तद्वचनान्ते ते देव्यावूचतुरादरात् ।
आख्यात दुःखं येनाऽयं लक्ष्यते दुःखितो जनः ॥ २१ ॥
ज्येष्ठशर्मादयस्ते ते देव्यौ प्रति यथाक्रमम् ।
निजं तद् दुःखमाचख्युर्दम्पतिव्यसनात्मकम् ॥ २२ ॥

ज्येष्ठशर्मादय ऊचुः

देव्यावभवतां स्निग्धाविह ब्राह्मणदम्पती ।
सर्वातिथी कुलकरौ स्तम्भभूतौ द्विजस्थितेः ॥ २३ ॥
तावद्य गृहमुत्सृज्य सपुत्रपशुबान्धवम् ।
स्वर्गं गतौ नः पितरौ तेन शून्यं जगत्त्रयम् ॥ २४ ॥
पक्षिणो गृहमारुह्य विक्षिपन्तः प्रतिक्षणम् ।
देहं शून्ये मृतं भक्त्या शोचन्ति मधुरैः स्वरैः ॥ २५ ॥
गुहागुरुगुरारावप्रलापलपनाकुलः ।
सरित्स्थूलाश्रुधाराभिः परिरोदिति पर्वतः ॥ २६ ॥
निर्जराक्रन्दकारिण्यो मुक्ताम्बरपयोधराः ।
तप्तनिःश्वासविध्वस्ताः परं कार्श्यमिता दिशः ॥ २७ ॥

ज्येष्ठशर्मा के यह कहने के बाद उन वन-देवियों ने बड़े आदर से पूछा—आप लोग अपना दुःख कहें जिस दुःख से ये सभी लोग दुःखी प्रतीत होते हैं ॥ २१ ॥

ज्येष्ठशर्मा आदि सभी व्यक्तियों ने क्रमशः उन वन-देवियों से ब्राह्मणदम्पतियों की मृत्युरूपी दुःख को कहा ॥ २२ ॥

ज्येष्ठशर्मा आदि ने कहा:—हे देवियों ! इस स्थान में अतिथिसत्कार करनेवाले ब्राह्मणदम्पति रहते थे, उनका आपस में बड़ा स्नेह था, वे द्विजातियों की मर्यादा के स्तम्भ के समान आधार कुलवर्धक थे ॥ २३ ॥

वे हमारे माता-पिता इस समय पुत्र, इष्ट-मित्र और पशुओं से समन्वित घर का त्यागकर स्वर्ग में चले गये हैं। इससे हम लोगों को यह सारा जगत् शून्य दिखलाई दे रहा है ॥ २४ ॥

पक्षिगण घर के ऊपर बैठकर प्रतिक्षण आकाश में अपनी देह को पटकते हुए मृतक के प्रति भक्ति से मधुर शब्दों द्वारा शोक प्रकाश कर रहे हैं ॥ २५ ॥

सभी पर्वत दीर्घ गुर-गुर शब्दरूपी विलाप से पूर्ण गुहारूपी मुखों से युक्त और व्याकुल होकर नदीरूपी आँसू की धाराओं से रोते है ॥ २६ ॥

दिक्पाल देवताओं के आलापरूप क्रन्दन करनेवाली तपे हुए निःश्वास रूपी वायु से म्लान एवं आकाशरूपी वस्त्र जिनके मेघरूपी स्तनों ने त्याग दिया है, ऐसी दिशारूपी अङ्गनाएँ अत्यन्त कृश हो गई हैं ॥ २७ ॥

क्षतविक्षतसर्वाङ्गः करुणाक्रन्दकर्कशः ।
उपवासरतो ग्रामो दीनो मृतिपरः स्थितः ॥ २८ ॥
दिवसं प्रति वृक्षाणामवश्यायाश्रुतिबिन्दवः ।
गुच्छलोचनकोशेभ्यस्तापोष्णा निपतन्त्यधः ॥ २९ ॥
प्रशान्तजनसंचारा रथ्या क्षारविधूसरा ।
विधवा विगतानन्दा संशून्यहृदया स्थिता ॥ ३० ॥
कोकिलालिप्रलापिन्यो वृष्टिबाष्पहता लताः ।
उष्णोष्णश्वसना देहं घ्नन्ति पल्लवपाणिभिः ॥ ३१ ॥
आत्मानं शतधा कर्तुं बृहच्छ्वभ्रशिलातले ।
निर्झराः प्रपतन्त्येते तापतप्तशरीरकाः ॥ ३२ ॥
निःशङ्कया गतश्रीका मूका विलुलिताशयाः ।
अन्धेन तमसा पूर्णा गृहा गहनतां गताः ॥ ३३ ॥
उद्यानपुष्पखण्डेभ्यो रुदद्भ्यो भ्रमरारवैः ।
पूतिगन्धो विनिर्याति स्वामोदापरनामकः ॥ ३४ ॥

ग्रामवासी लोगों के सभी अङ्ग शोक के कारण भूमि में लोटने, छाती पीटने आदि से क्षतविक्षत हो गये हैं, चारों ओर करुण रस का स्रोत बहानेवाले मुक्त-कण्ठ रुदन से सब जर्जरित हो रहे हैं, कोई भी भोजन नहीं करता है। सभी दीन-हीन दशा में हैं और सभी मरने के लिए प्रस्तुत हैं ॥ २८ ॥

वृक्षों के गुच्छरूपी लोचनकोशों से प्रतिदिन ओस-रूपी अश्रुबिन्दु शोक से धूप से गर्म होकर नीचे गिरते हैं ॥ २९ ॥

लोगों के सञ्चरण के अभाव में रेह से धूसर मार्ग आनन्दरहित एवं शून्य-हृदय विधवा के समान थीं ॥३०॥

कोमल भ्रमरों के शब्दरूपी विलाप करती हुई वृष्टिरूपी वाष्प से आहत, अत्यन्त उष्ण निःश्वासवाली लताएँ पल्लवरूपी हाथों से अपने शरीर को ताड़ित कर रही हैं ॥ ३१ ॥

शोक से अति सन्तप्त ये झरने बड़े गर्त के शिला-तलमें अपने सौ टुकड़े करने के लिए गिर रहे हैं ॥ ३२ ॥

गाढ़ अन्धकार अर्थात् शोक से व्याप्त, हर्ष की चर्चा से रहित एवं जिसमें स्थित बर्तन आदि सामग्री अस्त-व्यस्त हैं ऐसे घर निश्चय ही शोभाविहीन होकर अरण्यरूप में परिणत हो गये हैं ॥ ३३ ॥

भ्रमरों के गुञ्जार से रोते हुए उद्यान के फूलों से सुन्दर आमोदनामक दुर्गन्ध पूर्ण है। आशय यह है कि प्रिय सौरभ पुष्पों से निकल रही है किन्तु नासिका को

चैतद्द्रुमविलासिन्यो विरसाः प्रतिवासरम् ।
लताः कृशा विलीयन्ते सङ्कुचद्गुच्छलोचनाः ॥ ३५ ॥
प्रक्षेप्तुमम्बुधौ देहं प्रवृत्ता गन्तुमाकुलाः ।
कुल्याः कलकलालोलं दोलयन्त्यस्तनुं भुवि ॥ ३६ ॥
अशङ्कमशकापातस्पन्दमप्यतिचापलम् ।
कलयन्त्यः स्थिता वाप्यो निस्पन्दानन्दमात्मनि ॥ ३७ ॥
गायत्किन्नरगन्धर्वविद्याधरसुराङ्गनम् ।
नूनमद्य नभो जातमस्मत्ताताम्बालङ्कृतम् ॥ ३८ ॥
तद् देव्यौ क्रियतां तावदस्माकं शोकनाशनम् ।
महतां दर्शनं नाम न कदाचन निष्फलम् ॥ ३९ ॥
इत्युक्तवन्तं सा पुत्रं मूर्ध्नि पस्पर्श पाणिना ।
पल्लवेनाऽऽनता नम्रं मूलग्रन्थिमिवाऽब्जिनी ॥ ४० ॥
तस्याः स्पर्शेन तेनाऽसौ दुःखदौर्भाग्यसङ्कटम् ।
जहौ प्रावृड्घनासङ्गाद् ग्रीष्मतापमिवाऽचलः ॥ ४१ ॥

दुःखदायी होने से शोकार्त पुरुष दुर्गन्धि कह कर उसकी निन्दा करते हैं ॥ ३४ ॥

वसन्त ऋतु वृक्षों को अलङ्कृत करने वाली लताएँ प्रतिदिन विरस और कृश होकर गुच्छरूपी लोचनों को संकुचित करती हुई शीर्ण-विशीर्ण हो रही हैं ॥ ३५ ॥

नहर और नदियाँ सागर में अपने शरीर को फेंकने के लिए गमनाकुल होकर पृथिवी में अपने शरीर को कलकलनिनादपूर्वक दोलायमान कर रही हैं ॥ ३६ ॥

ये बावलियाँ पहले लोगों के स्नान, जल भरना आदि व्यवहार से अत्यन्त चपल थीं, किन्तु अब इनमें मच्छर के गिरने से होनेवाली चपलता की भी संभावना नहीं है, मानों निस्पन्दभाव से स्वस्वरूप में समाधिनिष्ठ स्थित हैं ॥ ३७ ॥

निश्चय ही जिस प्रदेश में किन्नारियां, गन्धर्व, विद्याधर और देवताओं की अङ्गनाएँ गान कर रहीं है, उस स्वर्ग प्रदेश को आज हमारे माता और पिता ने अलङ्कृत किया है ॥ ३८ ॥

हे देवियो ! हमारे शोक को दूर करें । महानुभावों का दर्शन कभी भी निष्फल नहीं होता है इसलिए हमें आशा है कि आप अवश्य हमारे शोक को विनष्ट करेंगी ॥ ३९ ॥

पुत्र के ऐसा कहने पर लीला ने अपने हाथ से उसके मस्तक स्पर्श किया जैसे कमलिनी जल सूख जाने पर नम्र होकर अपने पल्लव से मूलग्रन्थिका का वैसे ही

सर्वो गृहजनः सोऽथ तयोर्देव्योर्विलोकनात् ।
लक्ष्मीवान् दुःखनिर्मुक्तो बभूवाऽमृतपो यथा ॥ ४२ ॥

श्रीराम उवाच

तयाऽस्य लीलया मात्रा पुत्रस्य ज्येष्ठशर्मणः ।
कस्मान्न दर्शनं दत्तं मोहं तावन्निराकुरु ॥ ४३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

बुद्धः पृथ्व्यादिबोधेन येन पृथ्व्यादिसङ्कः ।
तस्य पिण्डात्मतां धत्ते व्योमैवाऽन्यस्य केवलम् ॥ ४४ ॥
असदेवाऽङ्ग सदिव भाति पृथ्व्यादिवेदनात् ।
यथा बालस्य वेतालो ना भाति तदवेदनात् ॥ ४५ ॥
यथा पृथ्व्यादिना भातमपृथ्व्यादि भवेत् क्षणात् ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानात् तथा जाग्रत्यपि स्फुटम् ॥ ४६ ॥
पृथ्व्यादि खतया बुद्धं खमित्येवाऽनुभूयते ।
तथाहि क्षुब्धधातूनां कुडयेषु ख इवोद्यमः ॥ ४७ ॥

स्पर्श करती है ॥ ४० ॥

उसी प्रकार लीला के उस स्पर्श से ज्येष्ठ शर्मा ने दुःख-दुर्भाग्यरूपी विपत्ति का त्याग किया जैसे वर्षा ऋतु के संसर्ग से पर्वत ग्रीष्म ऋतु के सन्ताप का त्याग करता है ॥ ४१ ॥

उन देवियों के दर्शन से घर भर के सब लोग देवताओं के समान शोक-शून्य और श्रीसम्पन्न हो गये ॥ ४२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :—पुत्र ज्येष्ठशर्मा को लीला देवी ने माता के शरीर से दर्शन क्यों नहीं दिया ? मेरे इस मोह का आप निराकरण करें ॥ ४३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—जिस अज्ञानी पुरुष ने मिथ्या पृथिवी आदि के संघातरूप शरीर को सत्य पृथिवी आदि के बोध से सत्य जान लिया है, उसकी दृष्टि में वस्तुतः केवल अद्वितीय चिदाकाश ही भ्रान्ति से पिण्डरूपता को धारण करता है ॥ ४४ ॥

भ्रमवश पृथिवी आदि का ज्ञान होने से असद् ही पृथिवी आदि सत् के रूप में प्रतीत होते हैं जैसे बालक को भ्रम से पुरुष का ज्ञान न होने से, वेताल प्रतीत होता है ॥ ४५ ॥

स्वप्नावस्था में पृथिवी आदिरूप से प्रतीत पदार्थ यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान होने पर क्षणभर में अपृथिवी आदि रूप जिस प्रकार हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रदवस्था में भी स्पष्ट है ॥ ४६ ॥

पृथिवी आदि को आकाशरूप से जानने पर तो ये

स्वप्ने नगरमूर्वी वा शून्यं खातं च बुद्धयते ।
स्वप्नाङ्गना च कुरुते शून्याऽप्यर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४८ ॥
खं पृथ्वादितया बुद्धं पृथ्व्यादि भवति क्षणात् ।
मूर्छायां परलोकोऽपि प्रत्यक्षमनुभूयते ॥ ४९ ॥
बालो व्योमैव वेतालं म्रियमाणोऽम्बरे वनम् ।
केशोण्ड्रकं खमन्यस्तु खमन्यो वेत्ति मौक्तिकम् ॥ ५० ॥
त्रस्तक्षीबार्द्धनिद्राश्च नौयानाश्च सदैव खे ।
वेतालवनवृक्षादि पश्यन्त्यनुभवन्ति च ॥ ५१ ॥
यथाभावितमेतेषां पदार्थानामतो वपुः ।
अभ्यासजनितं भाति नाऽस्त्येकं परमार्थतः ॥ ५२ ॥
लीलया तु यथावस्तु बुद्धा पृथ्व्यादिनास्तिता ।
आकाशमेव संवित्त्या भाति भ्रान्तितयोदितम् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मात्मैकचिदाकाशमात्रबोधवतो मुनेः ।
पुत्रमित्रकलत्राणि कथं कानि कदा कुतः ॥ ५४ ॥
दृश्यमादावनुत्पन्नं यच्च भात्यजमेव तत् ।
सम्यग्ज्ञानवतामेवं रागद्वेषदृशौ कुतः ॥ ५५ ॥
हस्तः शिरसि यद्दत्तो लीलया ज्येष्ठशर्मणः ।
तत्प्रभावस्थितारम्भसंबोधायाश्रितेः फलम् ॥ ५६ ॥
बोधो हि चेतति यथैव तथाऽऽशु भाति
सूक्ष्मस्तु खादपि तथाऽतितरां विशुद्धः ।
सर्वत्र राघव ! स एव पदार्थजालं
स्वप्नेषु कल्पितपुरेष्वनुभूतमेतत् ॥ ५७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सिद्धदर्शनहेतुकथनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

आकाश ही हैं, ऐसी प्रतीति होती है। विक्षिप्त लोगों का दरवाजे के समान प्रतीत होने वाली स्फटिक की दीवारों पर शून्य के समान प्रयत्न दिखाई देता है ॥ ४७ ॥

स्वप्नावस्था में नगर शून्यरूप से प्रतीत होता है और सम पृथिवी गर्तरूप से प्रतीत होती है। स्वप्न की अङ्गना यद्यपि शून्य है, सत् नहीं है, तथापि वह मनुष्यों की पादसंवाहन आदि क्रिया करती है ॥ ४८ ॥

आकाश की पृथिवी आदि के रूप में प्रतीति होने पर आकाश क्षण भर में पृथिवी आदि हो जाता है। मूर्च्छावस्था में किसी-किसी को परलोक भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥ ४९ ॥

बालक आकाश को ही वेताल, मर रहा पुरुष आकाश में वन, अन्य पुरुष उस कुण्डलाकार केशों का गुच्छा के रूप में और दूसरा पुरुष उसको मोतियों के समुदाय के रूप में देखता है ॥ ५० ॥

भयभीत, पागल, आधा सोया और आधा जागा हुआ पुरुष तथा नौका द्वारा चलने वाले पुरुष सदा ही आकाश में वेताल, वन और वृक्ष आदि देखते हैं और उसके देखने के कारण पलायन आदि कार्य का अनुभव करते हैं ॥ ५१ ॥

अतः यह अवगत होता है कि इन पदार्थों का अपनी अपनी भावना के अनुसार अभ्यास से उत्पन्न हुआ शरीर है, परमार्थतः कोई नियत शरीर नहीं है ॥ ५२ ॥

आकाश ही भ्रान्ति के कारण दृश्य पदार्थरूप प्रतीत होता है यह लीला ने जान लिया था अतः पृथिवी आदि की नास्तिता रूप यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर लिया था ॥ ५३ ॥

ब्रह्मरूप एक चिदाकाशमात्र के ज्ञान से सम्पन्न मुनि को पुत्र, मित्र, कलत्र आदि कौन, कैसे, कहां से और कब होंगे ? ॥ ५४ ॥

दृश्य की पूर्व में उत्पत्ति नहीं हुई है, प्रतीत होने वाला पदार्थ अनादि अनन्त परब्रह्म ही है इस प्रकार यथार्थ ज्ञान वाले लोगों की राग-द्वेषदृष्टि कैसे हो सकती है ॥ ५५ ॥

हे राघव ! लीला ने जो ज्येष्ठशर्मा के सिरपर हाथ फेरा था वह ज्येष्ठशर्मा के भावी कल्याण के लिए जिसमें पूर्वजन्म के पुण्य और उनका फल तत्त्वज्ञान स्थित है, ऐसी सर्वाधिष्ठानभूत चिति का ही विवर्तरूप फल था ॥ ५६ ॥

पूर्व में जैसा चिन्तन किया जाता है वही सद्यः बोध में भासमान=बोध प्रतीत होता है। आकाश से भी सूक्ष्म तथा अत्यन्त शुद्ध है। बोध ही सर्वत्र पदार्थ स्वरूप बीज समूह है, स्वप्नों में और कल्पित नगरों में इस बात बहुधा अनुभव होता है ॥ ५७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में सिद्धदर्शनहेतुकथनामक कुसुमलता का छब्बीसवां सर्ग समाप्त ॥ २६ ॥

२७

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्मिन् गिरितटे ग्रामे तस्य मण्डपकोटरे ।
अन्तर्धिमाश्वाययतुस्तत्रस्थे एव ते स्त्रियौ ॥ १ ॥
अस्माकं वनदेवीभ्यां प्रसादः कृत इत्यथ ।
शान्तदुःखे गृहजने स्वव्यापारपरे स्थिते ॥ २ ॥
मण्डपाकाशसंलीनां लीलामाह सरस्वती ।
व्योमरूपा व्योमरूपां स्मयात्तूष्णीमिव स्थिताम् ॥ ३ ॥
सङ्कल्पस्वप्नयोर्येषां यत्र संकथनं मिथः ।
यथेहार्थक्रियां धत्ते तयोः सा संकथा तथा ॥ ४ ॥
पृथ्व्यादिनाडीप्राणादि ऋतेऽप्यभ्युदिता तयोः ।
सा संकथनसंवित्तिः स्वप्नसंकल्पयोरिव ॥ ५ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

ज्ञेयं ज्ञातमशेषेण दृष्टादृष्टार्थसंविदः ।
ईदृशीयं ब्रह्मसत्ता किमन्यद्वद पृच्छसि ॥ ६ ॥

लीलोवाच

मृतस्य भर्तुर्जीवोऽसौ यत्र राज्यं करोति मे ।
तत्राऽहं किं न तैर्दृष्टा दृष्टाऽस्मीह सुतेन किम् ॥ ७ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

अभ्यासेन विना वत्से ! तदा ते द्वैतनिश्चयः ।
नूनमस्तंगतो नाऽभून्निःशेषं वरवर्णिनि ! ॥ ८ ॥
अद्वैतं यो न यातोऽसौ कथमद्वैतकर्मभिः ।
युज्यते तापसंस्थस्य च्छायाङ्गानुभवः कुतः ॥ ९ ॥
लीलाऽस्मीति विनाऽभ्यासं तव नाऽस्तंगतोऽभवत् ।
यदा भावस्तदा सत्यसङ्कल्पत्वमभून्न ते ॥ १० ॥

२७

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—वे दोनों स्त्रियाँ उस पर्वत शिखर के ग्राम में उस ब्राह्मण के घर के मण्डपगह्वर में ही वहींपर स्थित शीघ्र अन्तर्हित हो गईं ॥ १ ॥

वनदेवियों ने हम लोगोंपर अनुग्रह किया है, ऐसा निश्चय कर घर के लोगों का दुःख शान्त हो गया और वे अपने गृहकृत्य में संलग्न हो गये ॥ २ ॥

इसके बाद गृहमण्डपाकाश में अन्य लोगों की दृष्टि से अन्तर्हित विस्मयपूर्वक चुपचाप-सी बैठी हुई व्योम स्वरूप लीला से व्योमरूप अर्थात् शून्यरूप संकल्पशरीर-वाली सरस्वती ने कहा ॥ ३ ॥

देवताओं की कृपा आदि से परस्पर वार्तालाप के समान या स्वप्न होता है, वहाँ परस्पर एकका दूसरे से वाग्व्यवहार सफल क्रिया के रूप में परिणत होता है वैसे लीला और सरस्वती देवी में सम्पन्न हुआ। अर्थात् सङ्कल्पशरीर लीला और वाग्देवी का व्यवहार कैसे सम्पन्न हुआ, क्योंकि सङ्कल्पशरीर धारण करनेवाले को तो एक दूसरा देखता ही नहीं है इस आशङ्का को विवृत्त करने के लिए यह कहा गया है। ऊषा और अनिरुद्ध का भी सङ्कल्प शरीर के द्वारा देवता के अनुसार से व्यवहार देखा गया है। लीला पर सरस्वती का अनुग्रह था अतः यह अनुपपन्न नहीं है ॥ ४ ॥

अधिभूत पृथिवी आदि और अध्यात्म नाड़ी, प्राण आदि से उपलक्षित शरीर के बिना भी उनकी वह संवाद-प्रतीति वैसे ही हुई जैसे स्वप्न और संकल्प में पृथिवी आदि अधिभूत और नाडी, प्राण आदि से उपलक्षित शरीर के बिना भी संवाद की प्रतीति होती है ॥ ५ ॥

श्रीसरस्वतीजी ने कहा :—तुमने जानने योग्य सभी बातों को भली-भाँति जान लिया और द्रष्टव्य पदार्थ देख लिये हैं, ऐसी ही यह ब्रह्मसत्ता है। बताओ, अब और क्या तुम पूछती हो ? ॥ ६ ॥

लीली ने कहा :—जैसे यहाँपर मेरे पुत्र ने मुझे देखा ? मेरे मृत पति का जीव जहाँपर राज्य करता है, वहाँपर उन लोगों के द्वारा मैं क्या नहीं देखी गई यह मुझे बतायें ? ॥ ७ ॥

श्रीसरस्वती ने कहा :—हे वत्से ! हे रमणी श्रेष्ठ ! अभ्यास न होने के कारण उस समय तुम्हारा द्वैतज्ञान अर्थात् प्रपञ्च सत्य है इस प्रकार का ज्ञान पूर्णरूप से नष्ट नहीं हुआ था ॥ ८ ॥

द्वैत का अर्थात् अज्ञान का अत्यन्त विनाश होकर अद्वैत अर्थात् ब्रह्मरूपता के ज्ञान के बिना अद्वैत क्रियाओं से योग कैसे हो सकता है अर्थात् जो पुरुष भेदक अविद्या के उच्छेद से अद्वैतरूप को प्राप्त नहीं करता है, उसका सत्यसंकल्पत्व आदि क्रियाओं से सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? धूप में बैठे हुए पुरुष को छाया में बैठे हुए पुरुष की शीतलता का अनुभव कैसे हो सकता है ? ॥ ९ ॥

अभ्यास न होने के कारण मैं लीला ही हूँ, ऐसा दृढ़ संस्कार तुम्हारा विनष्ट न होने से तुम्हारी सत्यसंकल्पता

अद्यासि सत्यसङ्कल्पा संपन्ना तेन मां सुतः ।
संपश्यत्वित्यभिमतं फलितं तव सुन्दरि ! ॥ ११ ॥
इदानीं तस्य भर्तुस्त्वं समीपं यदि गच्छसि ।
तत्तेन व्यवहारस्ते पूर्ववत् संप्रवर्तते ॥ १२ ॥

लीलोवाच

इहैव मन्दिराकाशे पतिर्विप्रो ममाऽभवत् ।
इहैव स मृतो भूत्वा संपन्नो वसुधाधिपः ॥ १३ ॥
इहैव तस्य संसारे तस्मिन् भूमण्डलान्तरे ।
राजधानीपुरे तस्मिन् पुरन्ध्र्यस्मि[1] व्यवस्थिता ॥१४॥
इहैवाऽन्तःपुरे तस्मिन् स मृतो मम भूपतिः ।
इहैवाऽन्तःपुराकाशे तस्मिन्नेव पुरे नृपः ॥ १५ ॥
संपन्नो वसुधापीठे नानाजनपदेश्वरः ।
सर्वार्जवजवीभाव इहैवैवं व्यवस्थितः ॥ १६ ॥
अस्मिन्नेव गृहाकाशे सर्वा ब्रह्माण्डभूमयः ।
स्थिताः समुद्गके मन्ये यथाऽन्तः सर्षपोत्कराः ॥ १७ ॥

उत्पन्न नहीं हुई थी। हे सुन्दरि ! आज तुम सत्यसङ्कल्प हो गई हो, इसलिए 'मुझे मेरा पुत्र देखे' तुम्हारी यह अभिलाषा सफल हुई ॥ १०, ११ ॥

यदि इस समय तुम अपने पति के समीप जाओ, तो पहले के समान पति के साथ तुम्हारा सम्पूर्ण व्यवहार सम्पन्न होगा ॥ १२ ॥

लीला ने कहा :—इसी मन्दिर से अवच्छिन्न आकाश में मेरे पतिदेव ब्राह्मण हुए, इसी में मरे और फिर इसी में उत्पन्न होकर राजा हुए ।। १३ ॥

अन्य भूमण्डलरूप वह संसार भी उनका यही मन्दिराकाश है, इसमें उनकी राजधानी के नगर में मैं राजा पद्म की राजमहिषीरूप से व्यवस्थित थी ।। १४ ॥

यहीं उस अन्तःपुर में मेरे पतिदेव राजा पद्म की मृत्यु हुई थी, इसी अन्तःपुराकाश में उस नगर में वे राजा हुए थे ॥ १५ ॥

पृथिवीतल में अनेक नगरों के वे अधिपति हो गये। पारमार्थिक ब्रह्म में कल्पित मायिक चलन आदि विकार इस प्रकार से इस मण्डपाकाश में ही व्यवस्थित है ॥१६॥

जैसे दोने के अन्दर सरसों की राशि रहती है, वैसे ही इसी गृहाकाश में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डभूमियाँ स्थित हैं, ऐसा मैं मानती हूँ ॥ १७ ॥

पास में स्थित अपने पति के मण्डल को सदा अति-

सदाऽदूरमहं मन्ये तद्भर्तुर्मम मण्डलम् ।
क्वचित् पार्श्वे स्थितमिह यथा पश्यामि तत् कुरु ॥१८॥

श्रीदेव्युवाच

भूतलारुन्धति सुते भर्तारस्तव संप्रति ।
त्रयो नामाऽथवाऽभूवन् बहवः शतसंमताः ॥ १९ ॥
नेदीयसां त्रयाणां तु द्विजस्ते भस्मतां गतः ।
राजा माल्यान्तरगतः संस्थितोऽन्तःपुरे शवः ॥ २० ॥
संसारमण्डले ह्यस्मिस्तृतीयो वसुधाधिपः ।
महासंसारजलधिं पतितो भ्रममागतः ॥ २१ ॥
भोगकल्लोलकलनाविकलो मलचेतनः ।
जाड्यजर्जरचिद्वृत्तिः संसाराम्भोधिकच्छपः ॥ २२ ॥
चित्राणि राजकार्याणि कुर्वन्नप्याकुलान्यपि ।
सुप्तः स्थितो जडतया न जागर्ति भवभ्रमे ॥ २३ ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ।
इत्यनर्थमहारज्ज्वा वलितोऽवशतां गतः ॥ २४ ॥

निकटवर्ती समझती हूँ, यहाँपर उसे मैं जिस प्रकार देख सकूँ, वैसा उपाय आप करें ॥ १८ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा :— हे सुते ! हे भूतल की अरुन्धति ! अबतक तुम्हारे तीन पति हुए अथवा सैकड़ों पति हुए हैं ॥ १९ ॥

तीन पतियों में अत्यन्त संनिकट वसिष्ठ ब्राह्मणरूप पति तो जलकर भस्म हो गया है और पद्मराजा पति फूलमालाओं की राशि से ढका हुआ शवरूप से अन्तःपुर में स्थित है ॥ २० ॥

संसारमण्डल में तुम्हारा तीसरा पति वसुधाधिप है, वह संसाररूपी महासागर में प्रविष्ट होकर भ्रम से सम्पन्न हो गया है अर्थात् अज्ञानी हो गया है ॥ २१ ॥

भोगरूपी बड़ी-बड़ी लहरों की कल्पनाओं के द्वारा वह विक्षिप्त हो गया है, इसीलिए उसकी बुद्धि मलिन हो गई है। बुद्धि मलिन होने से बुद्धि के अन्दर प्रतिबिम्बित उसकी चित्तवृत्ति भी प्रायः शिथिल हो गई है, वह संसाररूपी सागर का कछुआ बन गया है ॥ २२ ॥

कठिनतर अनेक राजकार्यों को सम्पन्न करता हुआ भी वह इस संसाररूपी भ्रम में पड़ने से जड़ स्वरूप होने से वह जागता ही नहीं है ॥ २३ ॥

मैं ऐश्वर्य सम्पन्न हूँ, मैं भोगों का भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, बलवान् हूँ, सुखी हूँ, इस अनर्थ रूपी महान् रस्सी से

1. पुरतोऽस्मिन्व्यवस्थिता इति पाठान्तरम् ।

तत्कस्य वद भर्तुस्त्वां समीपं वरवर्णिनि ! ।
वात्या वनान्तरं गन्धलेखामिव वनान्नये ॥ २५ ॥
अन्य एव हि संसारः सोऽन्यो ब्रह्माण्डमण्डपः ।
अन्या एव तता वत्से ! व्यवहारपरम्पराः ॥ २६ ॥
संसारमण्डलानीह तानि पार्श्वे स्थितान्यपि ।
दूरं योजनकोटीनां कोटयस्तेष्विहाऽन्तरम् ॥ २७ ॥
आकाशमात्रमेतेषामिदं पश्य वपुः पुनः ।
मेरुमन्दरकोटीनां कोटयस्तेष्ववस्थिताः ॥ २८ ॥
परमाणौ परमाणौ सर्गवर्गा निरर्गलम् ।
महाचितेः स्फुरन्त्यर्करुचीव त्रसरेणवः ॥ २९ ॥
महारम्भगुरूण्येवमपि ब्रह्माण्डकानि हि ।
तुलया धानकामात्रमपि तानि भवन्ति नो ॥ ३० ॥

वेष्टित होकर अस्वतन्त्र हो गया है अर्थात् अज्ञान के कारण भोग आदि से शून्य अपने शुद्ध स्वरूप को विस्मृत होकर प्रपञ्च रूपी माया में आबद्ध है ॥ २४ ॥

हे सुन्दरि ! जैसे आँधी सुगन्धपरम्परा को एक वन से दूसरे वन में ले जाती है, वैसे ही तुम्हें उन तीनों में किस पति के समीप ले जाऊँ, कहो ? ॥ २५ ॥

हे वत्से ! वह अन्य ही संसार है, अन्य ही ब्रह्माण्ड मण्डप है, वहाँ अन्य प्रकार का फैला हुआ व्यवहार है ॥ २६ ॥

वे संसारमण्डल इस मण्डपाकाश में अधिष्ठानभूत चिद्दृष्टि से पास में ही स्थित होने पर भी सांसारिक दृष्टि से उनमें कोटि-कोटि योजन दूरी का व्यवधान है ॥ २७ ॥

इस संसारमण्डलों का पारमार्थिक स्वरूप तो मण्डप के मध्य में स्थित केवल चिदाकाश शरीर ही है, पर इन संसारमण्डलों में एक नहीं कोटि-कोटि मेरु और मन्दर पर्वत स्थित हैं इसे तुम पुनः-पुनः अनुभव करो ॥ २८ ॥

महाचैतन्य के परमाणु में विभिन्न विविध सृष्टियाँ निर्बाधरूप से वैसे ही स्फुरित होती हैं जैसे झरोखे आदि से घर के अन्दर गई हुई सूर्य किरणों में त्रिसरेणु स्फुरित होते हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार (पूर्वदर्शित ब्रह्माण्ड के समान ही) उन ब्रह्माण्डों के बड़े-बड़े द्वीप, समुद्र, भुवन आदि से विशाल होने पर चिद्दृष्टिरूप तुला से उन्हें देखने पर वे वट-बीजों के बराबर भी नहीं होते हैं ॥ ३० ॥

नानारत्नामलोद्योतो वनवद्भाति खे यथा ।
पृथ्व्यादिभूतरहिता जगच्चिद् भाति चिन्तया ॥ ३१ ॥
कचति ज्ञप्तिरेवेदं जगदित्यादिनाऽऽत्मनि ।
न तु पृथ्व्यादि सम्पन्नं सर्गादावेव किञ्चन ॥ ३२ ॥
यथा तरङ्गः सरसि भूत्वा भूत्वा पुनर्भवेत् ।
विचित्राकारकालाङ्गदेशा ज्ञप्तावलं तथा ॥ ३३ ॥

लीलोवाच

एवमेतज्जगन्मातर्मया स्मृतमिहाऽधुना ।
ममेदं राजसं जन्म न तमो न च सात्त्विकम् ॥ ३४ ॥
ब्रह्मणस्त्ववतीर्णाया अष्टौ जन्मशतानि मे ।
नानायोनीन्यतीतानि पश्यामीवाऽधुना पुनः ॥ ३५ ॥

वस्तुतः पृथिवी आदि भेद से रहित चित् स्वरूप होते हुए भी अविद्याजनित दृढ़ वासना से जगद्रूप वैसे ही प्रतीत होती है जैसे आकाश में भ्रमवश वन के समान विविध प्रकार के रत्नों का निर्मल प्रकाश प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥

चित् ही भ्रमवश इस जगत् आदि के रूप में भासमान होता है। यतः सृष्टि के आदि में ही पृथिवी आदि कुछ नहीं था, इसलिए जगत् होने पर भी उससे आत्मा में कभी किसी प्रकार का भी ह्रास, वृद्धि आदि विकार नहीं होता है ॥ ३२ ॥

विचित्र आकार वाले काल, काल के अवयव दिन, रात्रि आदि, ब्रह्माण्ड एवं उनके अवयव भुवन आदि देश महाचिति में वैसे ही पुनः पुनः होते हैं जैसे सरोवर में तरङ्ग होकर पुनः पुनः प्रतीत होता है ॥ ३३ ॥

लीला ने कहा :—हे जगन् मातः ! जैसा आप कहती हैं, यह बात ठीक वैसी है। मुझे इस समय स्मारण आ रहा है कि यहाँ पर यह मेरा जन्म राजस है, तामस या सात्त्विक नहीं है आप जैसा कहती हैं, वे सभी बातें ठीक ही हैं, अर्थात् इस जन्म में दुःख और परिताप की प्रचुरता है और रजोगुण प्रचुर लोग मध्य लोक में रहते हैं ऐसी स्मृति भी है, इससे निश्चय है कि मेरा यह जन्म राजस है ॥ ३४ ॥

इस कल्प के आरम्भ में अन्तःकरणरूप उपाधि से अवच्छिन्न रूप में उत्पन्न होकर अवतीर्ण होने पर आज तक मेरे विभिन्न योनियों में ८०० सौ जन्म बीत चुके हैं, उन्हें मैं आज पुनः साक्षात् रूप में देख-सी रही हूँ उनका स्पष्टरूप से स्मरण कर रही हूँ ॥ ३५ ॥

संसारमण्डले देवि ! कस्मिंश्चिदभवं पुरा ।
लोकान्तराब्जभ्रमरी विद्याधरवराङ्गना ॥ ३६ ॥
दुर्वासनाकलुषिता ततोऽहं मानुषी स्थिता ।
संसारमण्डलेऽन्यस्मिन् पन्नगेश्वरकामिनी ॥ ३७ ॥
कदम्बकुन्दजम्बीरकरञ्जवनवासिनी ।
पत्राम्बरधरा श्यामा शबर्यहमथाऽभवम् ॥ ३८ ॥
वनवासनया मुग्धा संपन्नाऽहमथोद्धता ।
गुलुच्छनयना पत्रहस्ता वनविलासिनी ॥ ३९ ॥
पुण्याश्रमलता साऽहं मुनिसङ्गपवित्रिता ।
वनाग्निदग्धा तस्यैव कन्याऽभूवं महामुनेः ॥ ४० ॥
अस्त्रीत्वफलदातॄणां कर्मणां परिणामतः ।
राजाऽहमभवं श्रीमान् सुराष्ट्रेषु समाः शतम् ॥ ४१ ॥
तालीनां तलकच्छेषु राजदुष्कृतदोषतः ।
नकुली नववर्षाणि कुष्ठनष्टाङ्गिकाऽभवम् ॥ ४२ ॥

हे देवि ! पहले किसी दूसरे संसारमण्डल में विद्याधरलोक रूप कमल की भँवरी मैं विद्याधरराज की पत्नी हुई ॥ ३६ ॥

अनन्तर मैं दुर्वासनाओं से कलुषित हृदयवाली मनुष्य हुई, इसके बाद दूसरे संसारमण्डल में मैं पन्नगराज की कामिनी हुई ॥ ३७ ॥

इसके बाद से कदम्ब, कुन्द, जामुन और करञ्जों के वन में रहने वाली, वृक्षों के पत्तों के वस्त्र पहननेवाली काली भिल्लिन हुई ॥ ३८ ॥

अनन्तर वन की वासना से मूढ़, दुष्कर्मों के संचय से उद्धत मैं फूलों के गुच्छेरूप नेत्रवाली, पल्लव स्वरूप हाथवाली, वन में विलास करने वाली पुण्य आश्रम की गुलुच्छलता हुई, इसके बाद मुनियों के संसर्ग से पवित्र होकर मैं वनाग्नि से जलकर उसी महामुनि की कन्या हो गई ॥ ३९, ४० ॥

पुरुषत्वरूप फल को देने वाले कर्म का सम्पादन करने से जन्मों में सञ्चित कर्मों के फलस्वरूप मैं सौराष्ट्र देश में पूरे सौ वर्षों तक श्रीमान् राजा हुई ॥ ४१ ॥

इसके बाद राजा के परद्रव्यहरण आदि दुष्कर्मों से तालीवृक्ष के तले स्थित किसी जलाशय प्रदेश मे नौ वर्ष तक कुष्ठ और विकलाङ्ग नकुली हुई ॥ ४२ ॥

हे देवि ! अनन्तर मैंने आठ वर्ष सुराष्ट्र देश में दुष्ट तथा अज्ञानी ग्वालों की बालगोपालों की क्रीड़ा के साथ गऊ योनि में जन्म लेकर व्यतीत किये ॥ ४३ ॥

वर्षाण्यष्टौ सुराष्ट्रेषु देवी गोत्वं कृतं मया ।
मोहाद् दुर्जनदुष्टाज्ञबालगोपाललीलया ॥ ४३ ॥
विहङ्ग्या वैरविन्यस्ता वागुरा विपिनावनौ ।
क्लेशेन महता च्छिन्ना अधमा वासना इव ॥ ४४ ॥
कर्णिकाक्रोडशय्यासु विश्रान्तमलिना सह ।
पद्मकुड्मलकोशेषु भुक्तकिञ्जल्कया रहः ॥ ४५ ॥
भ्रान्तमुत्तुङ्गश्रृङ्गासु हरिण्या हारिनेत्रया ।
वनस्थलीषु रम्यासु किराताहतमर्मया ॥ ४६ ॥
दृष्टं नष्टासु दिक्ष्वब्धिकल्लोलैरुह्यमानया ।
मत्स्याम्बुकच्छपाच्छोडे मोघमाननताडनम् ॥ ४७ ॥
पीतं चर्मण्वतीतीरे गायन्त्या मधुरस्वरम् ।
पुलिन्द्या सुरतान्तेषु नालिकेररसासवम् ॥ ४८ ॥
सारसी[1]सरसालिन्या सीत्कारमधुरस्वरम् ।
सारसः सुरतैः स्वैरं सामन्तश्चारु रञ्जितः ॥ ४९ ॥

पक्षियोनि को प्राप्त कर मेरे द्वारा अकारण वैर से ही व्याधों द्वारा बिछाये गये दुष्ट द्वैतवासनाओं के समान जालों को बड़े क्लेश से छिन्न-भिन्न किया ॥ ४४ ॥

मैंने कमल की कलियों के मध्य में भरपेट केसर खाकर कमल के छातों के मध्यरूप शय्या में भ्रमरी होकर भ्रमर के साथ एकान्त में विश्राम किया ॥ ४५ ॥

हरिणीयोनि में मैंने किरातों द्वारा मर्माहत होकर मनोहर नेत्रवाली हरिणी के रूप में ऊँचे-ऊँचे शिखरों से युक्त रमणीय वनस्थलियों में भ्रमण किया ॥ ४६ ॥

तदुपरान्त मैं मत्सी हुई। मत्स्ययोनि में उत्पन्न होकर समुद्र के बड़े-बड़े कल्लोलों द्वारा बहती हुई मैं दिग्भ्रम होनेपर मछुओं के फन्दे में आई और मछुओं द्वारा लाठी आदि से अपने मुँहपर किये गये प्रहारों को बड़ी-बड़ी लहरों और कछुओं की पीठ की हड्डीपर गिरने से व्यर्थ होते देखा ॥ ४७ ॥

पुलिन्दी योनि में चर्मण्वती नदी के किनारे मधुर स्वर में गान करती हुई मैं सुरत के पश्चात् नारियलों के रस का आसव पीती थी ॥ ४८ ॥

सारस की योनि में कमलिनी में प्रेमयुक्त भ्रमरी की समान निश्चल रहती हुई सुरतकाल के सीत्कार से मधुर-ध्वनि करती हुई यथेच्छ सुरतों से सारसराज अपने पति सारस को खूब प्रसन्न किया ॥ ४९ ॥

१. 'सरसी' इति पाठान्तरम् ।

तालीतमालकुञ्जेषु तरलाननेत्रया ।
क्षीबप्रेक्षणविक्षोभैः कृतं कान्तावलोकनम् ॥ ५० ॥
कनकस्यन्दसन्दोहसुन्दरैरङ्गपञ्जरैः ।
स्वर्गाऽप्सरोम्बुजिन्याऽऽशु तोषिताः सुरषट्पदाः ॥ ५१ ॥
मणिकाञ्चनमाणिक्यमुक्तानिकरभूतले ।
कल्पद्रुमवने मेरौ यूना सह रतं कृतम् ॥ ५२ ॥
कल्लोलाकुलकच्छासु लसद्गुच्छलतासु च ।
वेलावनगुहास्वब्धेश्चिरं कूर्मतया स्थितम् ॥ ५३ ॥
तरत्तारतरङ्गासु दोलनं सरसालिनाम् ।
चलच्छदपटालिषु राजहंस्यं मया कृतम् ॥ ५४ ॥
शाल्मलीदललोलानामान्दोलनदरिद्रताम् ।
मशकस्य मयाऽऽलोक्य दीनं मशकया स्थितम् ॥ ५५ ॥
तरत्तारतरङ्गासु चञ्चद्वीच्यग्रचुम्बनैः ।
भ्रान्तं शैलस्रवन्तीषु जलवञ्जुललीलया ॥ ५६ ॥
गन्धमादनमन्दारमन्दिरे मदनातुराः ।
पतिताः पादयोः पूर्वं विद्याधरकुमारकाः ॥ ५७ ॥
कीर्णकर्पूरपूरेषु तल्पेषु व्यसनातुरा ।
चिरं विलुलिताऽस्मीन्दुबिम्बेष्विव शशिप्रभा ॥ ५८ ॥
योनिष्वनेकविधदुःखशतान्वितासु
भ्रान्तं मयोन्नमनसन्नमनाकुलाङ्ग्या ।
संसारदीर्घसरितश्चलया लहर्या
दुर्वारवातहरिणीसरणक्रमेण ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलाजन्मान्तरवर्णनं नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अनन्तर चञ्चलवदन और चञ्चलनयनोंवाला मैंने ताली और तमालों के निकुञ्जों में मदयुक्त कटाक्ष दर्शन से उत्पन्न कामोद्दीपन से पति का अवलोकन किया ॥५०॥

अप्सरा योनि-ग्रहण कर स्वर्ग में भी अप्सरारूपी कमलिनी ने भ्रमररूपी देवताओं को स्वर्ण के रस के संघात के समान मनोहर अङ्गरूपी पिंजरों से आलिङ्गन, अधरपान आदि के द्वारा अतिशय सन्तुष्ट किया ॥ ५१ ॥

अप्सरा के जन्म में ही मणि, सुवर्ण, माणिक्य, मोतियों से जड़ी भूमिवाले कल्प-वृक्षों के वनों से पूर्ण मेरुपर्वत में युवकों के साथ रमण किया ॥ ५२ ॥

समुद्र की बड़ी-बड़ी तरङ्गों से आकुल, जलप्राय प्रदेशों से समन्वित फूलों के गुच्छों से शोभित लताओं से वेष्टित समुद्र के तटवर्ती वनों की गुफाओं में चिरकाल तक मैं कच्छपरूप से रहा ॥ ५३ ॥

चञ्चल लहरियों से परिपूर्ण सरोवरों में मैंने अपने चञ्चल वस्त्र के समान शुभ्र पक्षों की पङ्क्तियोंपर कमल के भ्रम से बैठे हुए भ्रमरों के झूलन के साधन राजहंसीत्व का अनुभव किया आशय यह है कि मैं राजहंसी बनी मेरे वस्त्र के समान शुभ्र चञ्चल परोंपर कमल के भ्रम से बैठे हुए भँवरों ने झूला खेला ॥ ५४ ॥

झूल रहे एक सेंमर के पत्ते में चञ्चल हुए अनेक मच्छरों में से एक मच्छर वहाँ से गिर गया, फिर वहाँ न बैठ सकने कारण वह बेचारा झूला खेलने से वञ्चित रहा, उसकी वह दयनीय अवस्था देखकर मैंने हँस दिया था और उस मच्छर की दयनीयदशा के संस्कार से मरने पर मच्छर बनकर दीनहीन दशा में मुझे रहना पड़ा, जिस भाव का स्मरण करते हुए प्राणी प्राण का त्याग करता है, उसकी वासना से वासित होकर वह उसी भाव को प्राप्त होता है, ऐसा गीता में भगवान् ने कहा है—यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ॥ ५५ ॥

मैंने जलवेतस् की लीला से यानी जलवेतस् की योनी में बड़ी-बड़ी लहरियों से व्याप्त पर्वतीय नदियों में चपल तरङ्गों के अग्रभाग के चुम्बन द्वारा भ्रमण किया ॥ ५६ ॥

मैंने गन्धमादन पर्वत पर रहने वाले मन्दारवृक्षों के कुञ्ज में कामपीड़ित विद्याधर के कुमारों को अपने चरणों पर गिराया था, कामपीड़ित विद्याधर कुमारों ने मेरा अनेक प्रकार से अनुनय-विनय किया था ॥ ५७ ॥

वैसे ही विद्याधर कुमारों के वियोग जनित दुःख से पीड़ित होकर मैं कपूर के चूर्ण से भरपूर शय्याओं में चिरकाल तक वैसे ही लेटी रही जैसे चाँदनी चन्द्रबिम्ब में लोट-पोट करती है ॥ ५८ ॥

तराजू के पले के समान ऊपर उठने और (नीचे गिरने) से व्याकुलचित्त एवं संसार रूपी विशाल नदी की चञ्चल तरङ्ग स्वरूप मैंने वातहरिणी के (वातप्रमी नामक एक प्रकार की हरिणी जाति के) दुर्वारगमनक्रम से (ऐसा प्रसिद्ध है कि वातप्रमी मृग स्वभावतः वायु की गति के अनुसार सम-विषम प्रदेशों में दौड़ता है, उसे कोई रोक नहीं सकता ।) विविध सैकड़ों दुःखों से समन्वित अनेक योनियों में भ्रमण किया है ॥ ५९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलाजन्मान्तरवर्णन नामक कुसुमलता का सत्ताइसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २७ ॥

२८

श्रीराम उवाच

वज्राङ्गसाराद् ब्राह्माण्डकुड्यान्निबिडमण्डलात् ।
कोटियोजनसंपुष्टात् कथं ते निर्गते बले ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

क्व ब्राह्माण्डं क्व तद्भित्तिः क्वाऽत्राऽसौ वज्रसारता ।
किलाऽवश्यं स्थिते देव्यावन्तःपुरवराम्बरे ॥ २ ॥
तस्मिन्नेव गिरिग्रामे तस्मिन्नेवाऽऽलयाम्बरे ।
ब्राह्मणः स वसिष्ठाख्य आस्वादयति राजताम् ॥ ३ ॥
तमेव मण्डापाकाशकोणकं शून्यमात्रकम् ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तं भूतलं सोऽनुभूतवान् ॥ ४ ॥
आकाशात्मनि भूपीठं तस्मिंस्तद्राजपत्तनम् ।
राजसद्माऽनुभवति स च सा चाऽप्यरुन्धती ॥ ५ ॥
लीलाभिधाना सा जाता तया च ज्ञप्तिरर्चिता ।
ज्ञप्त्या सह समुल्लङ्घ्य खमाश्चर्यमनोहरम् ॥ ६ ॥
प्रादेशमात्रे नभसि सा तत्रैव गृहोदरे ।
ब्रह्माण्डान्तरमासाद्य गिरिग्रामकमन्दिरे ॥ ७ ॥
ब्रह्माण्डात् परिनिर्गत्य स्वगृहे स्थितिमाययौ ।
स्वप्नात् स्वप्नान्तरं प्राप्य यथा तल्पगतः पुमान् ॥ ८ ॥
प्रतिभामात्रमेवैतत् सर्वमाकाशमात्रकम् ।
न ब्रह्माण्डं न संसारो न कुड्यादि न दूरता ॥ ९ ॥
स्वचित्तमेव कचति तयोस्तादृङ्मनोहरम् ।
वासनामात्रसोल्लेखं क्व ब्रह्माण्डं क्व संसृतिः ॥ १० ॥
निरावरणमेवेदं ज्ञप्त्याकाशमनन्तकम् ।
किञ्चित् स्वचित्तेनोन्नीतं स्पन्दयुक्त्येव मारुतः ॥ ११ ॥
चिदाकाशमजं शान्तं सर्वत्रैव हि सर्वदा ।
चित्त्वाज्जगदिवाऽऽभाति स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मनि ॥१२॥

२८

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा :—वज्र के समान दृढ़, अनेक करोड़ योजन अच्छी तरह संपुष्ट मध्यभाग वाले अत्यन्त सघन ब्रह्माण्ड की दीवार से वे अबलाएँ कैसे निकलीं । आशय यह है कि यह संसार सङ्कल्पात्मक होने पर भी स्वप्न दीवार भी तो स्वप्न काल तक प्रतिरोधक होती है, अतः संसार की वासना जब तक ज्ञान के द्वारा निवृत्त नहीं होती है तब तक इससे मुक्ति असम्भव है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—कहाँ ब्रह्माण्ड है, कहाँ उसकी दीवार है और कहाँ उसमें वज्र के समान कठोरता है ? राजमहिषी लीला और सरस्वती देवी दोनों ही वस्तुतः उसी अन्तःपुर के शुद्ध आकाश में स्थित थीं ॥ २ ॥

उसी पर्वतग्राम में उसी गृहकाश में वह वसिष्ठनामक ब्राह्मण विदूरथ होकर राज्य के ऐश्वर्य का भोग करता है ॥ ३ ॥

केवल शून्यस्वरूप मण्डपाकाश के कोने को उसने राजा पद्म के रूप में चार समुद्रों से परिवेष्टित भूतल समझा ॥ ४ ॥

वह वसिष्ठ और वह अरुन्धती दोनों उस शून्यस्वरूप मण्डपाकाश में चार सागर पर्यन्त पृथिवी, उसमें राजधानीरूप नगर और राजधानी में राजप्रसाद का अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

वह अरुन्धती ही लीला नाम की राजमहिषी हुई, उसने सरस्वती देवी की उपासना की । वह सरस्वती देवी के साथ अद्भुत रमणीय आकाश को लाँघ कर गृहोदरवर्ती विलस्तभर आकाश में दूसरे ब्रह्माण्ड में गई ॥ ६-७ ॥

ब्रह्माण्ड से उसमें आकार गिरिग्राममन्दिररूप अपने घर में आई । शय्या में सोया हुआ पुरुष जिस प्रकार एक स्वप्न को देखता है ॥ ८ ॥

आकाशस्वरूप यह सब भ्रान्तिमात्र ही है, न ब्रह्माण्ड है, न संसार है, न दीवार आदि है और न दूरी है ॥ ९ ॥

कहाँ ब्रह्माण्ड है और कहां संसार है ? उनका अपना चित्त ही केवल वासनामात्र से उन विविध पदार्थों के व्यवहार का स्वरूप धारणकर वैसा प्रसिद्ध होता है ॥ १० ॥

निरावरण और निस्सीम इस चिदाकाश की ही उन्होंने अपने चित्त से ब्रह्माण्डरूप की कल्पना की । उन्होंने चिदाकाश की ही अपने चित्त से ब्रह्माण्डरूप से वैसे ही कल्पना की जैसे आकाश ही स्पन्द के सम्बन्ध से वायुरूप से कल्पित होता है ॥ ११ ॥

अनादि अविनाशी चिदाकाश ही व्याप्त है । सदा सर्वत्र वह स्वयं चित् स्वरूप होने से अपने में अपने से ही जगत्-सा प्रतीत होता है ॥ १२ ॥

येन बुद्धं तु तस्यैतदाकाशादपि शून्यकम् ।
न बुद्धं येन तस्यैतद्वज्रसाराचलोपमम् ॥ १३ ॥
गृह एव यथा स्वप्ने नगरं भाति भासुरम् ।
तथैतदसदेवाऽन्तश्चिद्धातौ भाति भास्वरम् ॥ १४ ॥
यथा मरौ जलं बुद्धं कटकत्वं च हेमनि ।
असत् सदिव भातीदं तथा दृश्यत्वमात्मनि ॥ १५ ॥
एवमाकथयन्त्यौ ते ललने ललिताकृती ।
गृहात् निर्ययतुर्बाह्यं चारुचङ्क्रमणक्रमैः ॥ १६ ॥
अदृश्ये ग्रामलोकेन प्रेक्षमाणे पुरो गिरिम् ।
चुम्बिताकाशकुहरं संस्पृष्टादित्यमण्डलम् ॥ १७ ॥
नानावर्णाखिलोत्फुल्लविचित्रवननिर्मलम् ।
नानानिर्झरनिर्ह्रादकूजद्वनविहङ्गमम् ॥ १८ ॥
विचित्रमञ्जरीपुञ्जपिञ्जराम्बुदमण्डलम् ।

जिसने उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया है उसकी दृष्टि में यह जगत् आकाश से भी शून्य है और जिसने नहीं जाना है उसकी दृष्टि में यह जगत् वज्र के समान कठोर पर्वत के समान है ॥ १३ ॥

वैसे ही असद् यह जगत् चिदाकाश में वैसे ही प्रतीत होता है जैसे स्वप्न में, घर में ही देदीप्यमान नगर प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

वैसे ही असत् यह दृश्य प्रपञ्च आत्मा में उसी प्रकार सत्-सा प्रतीत होता है जैसे मरुभूमि में असत् जल की प्रतीति होती है, जैसे सुवर्ण में अविद्यमान कटकत्व की प्रतीति होती है ॥ १५ ॥

वे दोनों सुन्दर ललनाएँ इस प्रकार कहती हुई सुन्दर गति से घर के बाहर निकल गईं ॥ १६ ॥

उन्हें ग्रामवासी नहीं देख पाते थे और वे सामने के गगनचुम्बी सूर्यमण्डल को स्पर्श कर रहे पर्वत को देख रही थीं ॥ १७ ॥

अनेक झरनों की ध्वनि से पूर्ण कलरव ध्वनि वाले वन पक्षियों से समन्वित और अनेक रंगों के विकसित पुष्पों वाले विचित्र वनों से निर्मल था ॥ १८ ॥

रँग-बिरँग के सम्पूर्ण फूले हुए विचित्र वनों से निर्मल था तथा उसमें अनेक झरनों का कलकल निनाद हो रहा था और वनविहङ्गम चहचहा रहे थे। उसमें ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की मञ्जरियों के पुञ्जों से पिञ्जर अर्थात् ललाई या भूरापन लिये हुए पीलेपन से युक्त रँग-बिरँग के मेघमण्डल युक्त था, उसमें गुलुच्छलताओं

स्वभ्रमच्छगुलुच्छाग्रविश्रान्तखगसारसम् ॥ १९ ॥
सारवञ्जुलविस्तारगुप्ताखिलसरित्तटम् ।
असमाप्तशिलाश्वभ्रलतावर्त्तनमारुतम् ॥ २० ॥
पुष्पाग्रविहिताकाशकोशकुड्यकवारिदम् ।
पतद्दीर्घसरित्स्रोतःस्फुरन्मुक्ताकलापकम् ॥ २१ ॥
चलद्वृक्षवनव्यूहवातवेल्लिसरित्तटम् ।
नानावनाकुलोपान्तच्छायासततशीतलम् ॥ २२ ॥
अथ ते ललने तत्र तदा ददृशतुः स्वयम् ।
तं गिरिग्रामकं व्योम्नः स्वर्गखण्डमिव च्युतम् ॥ २३ ॥
रटत्प्रणालीपटलं पूर्णपुष्करिणीगणम् ।
द्विजैः कुचकुचैः कूजत्स्वलीलाश्वभ्रकच्छकम् ॥ २४ ॥
गच्छद्गोवृन्दहुङ्कारकरालाखिलकुञ्जकम् ।
कुञ्जगुल्मकखण्डाढ्यं सच्छायाघनशाद्वलम् ॥ २५ ॥
दुष्प्रवेशार्ककिरणं दृषन्नीहारधूसरम् ।
उदग्रमञ्जरीपुञ्जजटालम्बिशिखान्तरम् ॥ २६ ॥

की डालियों में पक्षी और सारस बसेरा ले रहे थे ॥ १९ ॥

बड़े मजबूत जलवेंतसों की झाड़ियों से नदियों के तट सुरक्षित थे, चट्टानों के गड्ढे में पैदा हुई लताओं को, जिन्होंने अच्छी तरह वृक्षों का अवलम्बन नहीं किया था, वायु खूब हिला रहा था, नचा रहा था ॥ २० ॥

शिखर के वृक्षों ने, जिनकी आगे-आगे की टहनियाँ फूलों से व्याप्त थीं, आकाश की दीवार के सदृश बादलों को ढक रक्खा था। बह रही विशाल नदी का स्रोत ही उसकी मुक्तामाला था ॥ २१ ॥

उस पर्वत के नदीतट हिल रहे वृक्षों के वृन्दों से युक्त वन-समूह से परिव्याप्त थे, वे सदा वायु से वेष्टित रहते थे, उसका प्रान्तभाग विविध वनों से व्याप्त था, अतः छाया से सदा ठण्डक रहती थी ॥ २२ ॥

अनन्तर उन दोनों ललनाओं ने उस समय वहीं स्वयं आकाश से गिरे स्वर्ग के एक भाग के समान रमणीय पर्वतग्राम को देखा ॥ २३ ॥

वहाँ रहटों के चलने का शब्द हो रहा था और कमलों से युक्त अनेक पोखरे बने थे, पक्षियों के कलरव से सारा नगर गुलजार था और उसमें क्रीड़ा के लिए बने हुए उत्तम निम्नस्थान और जलप्रदेश थे ॥ २४ ॥

गोचरभूमि में चल रहीं गौओं के रांभने से सम्पूर्ण निकुञ्ज शब्दायमान थे, और कुञ्जों झाड़ियों

शिलाकुहरवाःस्फाल[1]प्रोच्चलन्मुक्तनिर्झरैः ।
स्मारिताचलनिर्धूतक्षीरोदकजलश्रियम् ॥ २७ ॥
फलमाल्यमहाभारभासुरैरजिरद्रुमैः ।
आनीय पुष्पसम्भारं तिष्ठद्भिरिव सङ्कुम् ॥ २८ ॥
तरत्तरङ्गझाङ्कारकारिमारुतकम्पितैः ।
कीर्णपुष्पसमावृष्टं द्रुमैरपि रसाकुलैः ॥ २९ ॥
अशङ्कितशिलाकूटस्रवदब्बिन्दुटङ्कृतैः ।
किञ्चित्कृतरवं गुप्तैरशङ्कैः शङ्कितैः खगैः ॥ ३० ॥
उत्फाललहरीश्रान्तसीकरास्वादनाकुलैः ।
नद्यामुडुपरावर्त्तवृत्तिभिर्विहगैर्वृतम् ॥ ३१ ॥
उत्तालतालविश्रान्तकाकालोकनशङ्कितैः ।
बालैः प्रगोपितामिक्षाखण्डं जीर्णस्वभुक्तकैः ॥ ३२ ॥

छायादार सघन हरीघास के मैदानों से समन्वित था ॥ २५ ॥

वहाँ सूर्य की किरणें कठिनाई से प्रवेश करती थी, वह शिलाओं तथा नीहार से भस्मलिप्त के समान धूसर था। उसकी ऊँची-ऊँची मञ्जरियों से जटा के समान लम्बायमान कतिपय शिखाएँ थीं ॥ २६ ॥

चट्टानें जल के टकराने से मोती के सदृश बिन्दु उछल रहे थे अतः झरने उसमें मन्दराचल से मथे जाते हुए क्षीरसागर के जल की शोभा का स्मरण कराते थे ॥ २७ ॥

फल और फूलों से परिव्याप्त होने से अतिशय मनोहर लगने वाले आँगन के वृक्षों से वह व्याप्त था। वे वृक्ष ऐसे प्रतीत होते थे मानों पुष्पराशि को लाकर खड़े हो रहे हों ॥ २८ ॥

उसमें चञ्चल तरङ्गों को मुखरित करने वाले पवनों द्वारा हिलाय गये, मकरन्द से व्याप्त वृक्ष फूल बरसाते थे ॥ २९ ॥

बराबर पाषाणों से गिर रहीं जलकणों की टङ्कार ध्वनि से, गुलेल और धनुष के शब्द के समान होने के कारण, भय के योग्य न होने पर भी भयभीत छिपे हुए पक्षिगण उसमें कुछ कलरव कर रहे थे ॥ ३० ॥

नदी के उत्तुङ्ग लहरों में बैठे हुए, तरङ्ग के जल बिन्दुओं के आस्वादन से शान्तचित्त नक्षत्रों के परिवर्तन वाले हंसों से वह परिवृत था ॥ ३१ ॥

ऊँचे-ऊँचे तालवृक्षों पर बैठे हुए कौओं को देखकर

पुष्पशेखरसंभारवसनग्रामबालकम् ।
खर्जूरनिम्बजम्बीरगहनोपान्तशीतलम् ॥ ३३ ॥
क्षौमाग्रहस्ताम्बरया मञ्जरीपूर्णकर्णया ।
क्षुत्क्षीणया क्रान्तरथ्यं ग्रामकीटककान्तया ॥ ३४ ॥
सरित्तरङ्गसङ्घट्टसंरावाश्रुतसंकथम् ।
कर्मजाड्यघनत्रासवाञ्छितैकान्तसंस्थितम् ॥ ३५ ॥
दधिलिप्तास्यहस्तांसैः स्निग्धपुष्पलताधरैः ।
नग्नैर्गोमयपङ्काङ्कैर्बालैराकुलचत्वरम् ॥ ३६ ॥
तीरशाद्वलवल्लीनां दोलां दोलनकारिभिः ।
तरङ्गैर्वाह्यमानस्य लेखिकाङ्कितसैकतम् ॥ ३७ ॥
दधिक्षीरघनामोदमत्तमन्थरमक्षिकम् ।
कामभुक्तार्थतोद्बाष्पजर्जराबलबालकम् ॥ ३८ ॥

ये हमारे कलेवे को खा न जायँ, इस प्रकार शङ्कित हुए बालकों के द्वारा प्रातःकाल का खाना पच जाने के बाद हम इसे खायेंगे इस बुद्धि से उसमें आमिक्षा छिपाया गया था ॥ ३२ ॥

उस नगर में बालकों ने फूलों के मुकुट आदि सिर के आभूषण और वस्त्र पहने हुए थे, उस नगर के आस-पास खजूर, नीब, जम्बीर के निबिड़ वन थे, वह सदा शीतल रहता था ॥ ३३ ॥

उसमें दरिद्र, नीच और आलसी लोगों की स्त्रियां अलसी की शाखाओं को ही, सुलभ होने के कारण, वस्त्र-रूप में पहननेवाली, बौरों का कर्णफूल पहनी हुई एवं भूख और प्यास से कृश होकर गलियों में घूमती थी ॥ ३४ ॥

नदियों की लहरों के आपस में टकराने की ध्वनि से लोगों का आलाप सुनाई नहीं पड़ता था, शिल्प आदि कार्य करने की दक्षता न होने के कारण भयभीत मूर्ख और आलसी लोग एकान्त में बैठना चाहते थे ॥ ३५ ॥

दही से मुँह, हाथ और कन्धों को पोते हुए, कोमल-कोमल छोटी लताओं को लिये हुए, गोबर और कीचड़ में सने हुए बालकों से युक्त नगर के चौतरे भरे थे ॥ ३६ ॥

नदी के तटवर्ती सिवार की लताओं को झूले के समान हिलनेवाले तरङ्गों से बहाये जाते हुए जल की रेखाओं से बालूमय तटभूमि अङ्कित थी ॥ ३७ ॥

उसमें दही और दूध की सघन सुगन्ध से उन्मत्त

१. रवाः स्फार इति पाठान्तरम् ।

गोमयासिक्तवलयकरनारीकृतक्रुधम् ।
धम्मिल्लवलनाव्यग्रत्रस्तस्त्रीविहसज्जनम् ॥ ३९ ॥
दान्तपुष्पच्छदोत्सन्नपतत्ककुदवायसम् ।
गृहरथ्यागणद्वारकीर्णक्रूरकुरण्टकम् ॥ ४० ॥
गृहपार्श्वस्थितश्वभ्रकुञ्जैः कुसुमितप्रभैः ।
प्रत्यहं प्रातरागुल्फमाकीर्णकुसुमाजिरम् ॥ ४१ ॥
चरच्चमरसारङ्गजालजङ्गलखण्डकम् ।
गुञ्जानिकुञ्जसंजातशष्पसुप्तमृगार्भकम् ॥ ४२ ॥
एकान्तसुप्तवत्सैककर्णस्पन्दास्तमक्षिकम् ।
गोपोच्छिष्टीकृतदधिस्वसृक्किस्पन्दिमक्षिकम् ॥ ४३ ॥
समस्तसद्मसंक्षीणमक्षिकाक्षिप्तमाक्षिकम् ।
फुल्लाशोकद्रुमोद्यानकृतलाक्षिकमन्दिरम् ॥ ४४ ॥

मक्खियाँ मन्थरगति थीं और अपनी अभिलषित वस्तुओं को खाने के लिए रो रहे बिचारे पराधीन बालकों का मुँह आसुओ की धाराओं से पर्याकुलित हो रहा था ॥ ३८ ॥

दासियों के हाथ के कङ्कण गोबर से सने हुए थे, उनपर गुस्सा होकर खुले हुए केशों को बाँधने में त्रस्त स्त्रियों को देखकर लोग उनकी हँसी कर रहे थे ॥ ३९ ॥

उसमें पहाड़ी कौए शान्त मुनियों द्वारा डंडे और ढेले आदि से उड़ाने कहीं उन्हें चोट न लग जाय इस कारण फूलों या पत्तों द्वारा उड़ाये जानेपर भी पूजा के अक्षत खाने के लिए पुनः पुनः उड़ रहे थे। घरों और गलियों के दरवाजों पर उसमें कठिन पीली कटैया के पेड़ बखेरे थे ॥ ४० ॥

घर के समीप के प्रफुल्लित और शोभायमान गर्तों की कुञ्जों से, प्रतिदिन प्रातःकाल आँगनों के ऊपर के भागतक फूल बरसाये गये थे ॥ ४१ ॥

उसके जंगल घास चर रहे भाँति-भाँति के मृग और पक्षियों से पूर्ण थे, गुञ्जाफल के निकुञ्जों में जमे हुए घास के हरे-हरे तिनकों में मृगों के बच्चे सोये थे ॥४२ ॥

एकान्त स्थान में सोये हुए बछड़े के एक कान के कम्पन से मक्खियाँ उड़ रही थीं, गोपों के उच्छिष्ट अर्थात् छोड़े हुए दही में और मुँह के आसपास मक्खियाँ भन-भना रही थीं ॥ ४३ ॥

उस गाँव के सम्पूर्ण घरों में मधुमक्खियों के द्वारा लाया गया मधु संचित किया गया था, और पुष्पित

सीकरासारमरुता नित्यार्द्रविकचद्रुमम् ।
कदम्बमुकुलप्रोतसमस्तच्छादनतृणम् ॥ ४५ ॥
प्रतिकृत्तलताफुल्लकेतकोत्करपाण्डुरम् ।
वहत्प्रणालपटलीरणद्गुरुगुरारवम् ॥ ४६ ॥
वातायनगुहानिर्यत्सौधविश्रान्तवारिदम् ।
पूर्णपुष्पकरिणीपङ्क्तिपूर्णराजपृथूत्तरम् ॥ ४७ ॥
नीरन्ध्रविटपिच्छायाशीतलामलशाद्वलम् ।
सर्वशष्पाग्रवार्बिन्दुप्रतिबिम्बिततारकम् ॥ ४८ ॥
अनारतपतत्फुल्लहिमवर्षसितालयम् ।
विचित्रमञ्जरीपुष्पपत्रसत्फलपादपम् ॥ ४९ ॥
गृहकक्षान्तरालीनमेघसुप्तचिरण्टिकम् ।
सौधस्थमेघविद्युद्भिरनादेयप्रदीपकम् ॥ ५० ॥

अशोक के वनों में लाह से रञ्जित सुन्दर क्रीड़ामन्दिर बने हुए थे ॥ ४४ ॥

छोटे-छोटे जलकणों की झड़ी लगानेवाले वायु से नित्य आर्द्र होने के कारण प्रफुल्ल सभी वृक्ष फूलों के भारसे लदे थे, कदम्बों की कलियों से उसके सम्पूर्ण छादन तृण ओतप्रोत थे ॥ ४५ ॥

सम्पूर्ण गाँव केतकी के फूलने में बाधक लताओं के काटने के कारण निर्बाधरूप से फूले हुए केतकियों के समूह से सारा गाँव सफेद हो रहा था। उस ग्राम के विशेष में जल की नाली द्वारा गुरु-गुरु शब्द करता हुआ जल बह रहा था ॥ ४६ ॥

मेघमण्डल उसके झरोखों से निकलकर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं में विश्राम लेते थे। जल से लबालब भरे हुए अनेक पोखरों में पूर्ण चन्द्रमा के समान खिले हुए कमलों से उसकी असीम शोभा हो गई थी ॥ ४७ ॥

उसमें सघन वृक्षों की छाया से शीतल साफ सुथरे हरे मैदान थे और सम्पूर्ण हरी-हरी घास के सिरोंपर व्याप्त ओस की बूँदों पर तारों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था ॥ ४८ ॥

लगातार गिर रहे खिले फूलों की वृष्टि से और हिमवृष्टि से उस ग्राम के सब मकान सफेद हो गये थे और उस ग्राम के सभी वृक्ष भाँति-भाँति की मञ्जरियों, फूलों, पत्तों और सुन्दर फलों से लदे थे ॥ ४९ ॥

उसमें घर की कोठरी के अन्दर छिपे हुए बादलों में विजली के प्रकाश के कारण अट्टालिकाओं में सोई हुई युवतियों को दीपक की आवश्यकता नहीं होती थी ॥५०॥

कन्दरानिलभाङ्कारघनघुंघुममण्डपम् ।
चरच्चकोरहारीतहरिणीहारिमन्दिरम् ॥ ५१ ॥
उन्निद्रकन्दलोद्भ्रान्तमांसलामोदमन्थरैः ।
मरुद्भिर्मन्दमावातुमारब्धैर्लोलपल्लवम् ॥ ५२ ॥
लावकालापलीलायामालीनललनागणम् ।
कोककोकिलकाकोलकोलाहलसमाकुम् ॥ ५३ ॥
शालतालमालाब्जनीलतत्फलमालिनम् ।
वल्लीवलयविन्यासविलासवलितद्रुमम् ॥ ५४ ॥
आलोलपल्लवलतावलितायनाना-
मुत्फुल्लकन्दलशिलीन्ध्रसुगन्धितानाम् ।
तालीतमालदलताण्डवमण्डपाना-
मारामफुल्लकुसुमद्रुमशीतलानाम् ॥ ५५ ॥
सारावबारिचलनाकुलगोकुलाना-
मानीलसस्यकुसुमस्थलशोभितानाम् ।
तीरद्रुमप्रकरगुप्तसरित्प्रयाणां
नीरन्ध्रपुष्पितलताप्रवितानकानाम् ॥ ५६ ॥

उस गांव में सब घर गुफाओं की वायु के झंकार से मेघ के समान गरजते थे, घरों के आसपास चकोर, हारीत और हरिण घूमने के कारण वे बड़े मनोहर दिखते थे ॥ ५१ ॥

खिले हुए कन्दल-पुष्पों से निकली हुई अतिशय सुगन्धि से परिपूर्ण मन्द-मन्द बहने के लिए उद्यत वायु द्वारा उसके वृक्ष और लताओं के पल्लव चञ्चल थे ॥५२॥

सुग्गा, मैना और लवा की क्रीड़ा में ललनाएँ तल्लीन थीं। चक्रवाक, कोयल, पहाड़ी कौओं के कोलाहल चारों ओर परिव्याप्त था ॥ ५३ ॥

साल, ताड, तमाल और कमल तथा उनके नीले फलों का, जिधर देखो उधर, तांता बँधा था। वहांपर वृक्ष-लताओं के वलयाकार वेष्टन से सर्वथा आबद्ध थे ॥ ५४ ॥

उक्त गिरिग्राम के मन्दिरों की शोभा का पूर्णरूप से वर्णन कौन कर सकता है? पर्वतीय ग्राम के गृह चञ्चल पल्लववाली असंख्य लताओं के सन्ताप के आश्रय थे, खिले हुए कन्दल के फूलों की सुगन्धि से सराबोर थे, उनके मण्डपों में ताली, तमाल आदि के पत्ते नाचते थे, बाग में खिले हुए फूलों के वृक्षों से उनमें बड़ी ठण्डक रहती थी ॥ ५५ ॥

वे उनकी गौएँ रंभाती हुईं जल में तैरने में आकुल थीं, उनके आसपास चारों ओर के लहलहाते हुए हरे-हरे धान के खेतों और फूलों के बगीचों से उनकी शोभा कहीं अधिक बढ़ गई थी, तट के वृक्षों की कतार से नदी का प्रवाह छिप गया था, फूली हुई सघन लताओं के अग्रभाग ही उनके वितान (चँदवे) थे ॥ ५६ ॥

उद्यानकुन्दमकरन्दसुगन्धितानां
गन्धान्धषट्पदकुलान्तरिताम्बुजानाम् ।
सौन्दर्यतर्जितपुरन्दरमन्दिराणां
राजीवराजिरजसाऽऽरुणिताम्बराणाम् ॥ ५७ ॥
रंहोवहद्गिरिनदीरवघर्घराणां
कुन्दावदातजलदद्युतिभासुराणाम् ।
सौधस्थितोल्लसितफुल्ललतालयानां
लीलावलोलकलकण्ठविहङ्गमानाम् ॥ ५८ ॥
उल्लासिकौसुमदलास्तरणस्थयूना-
मापादमावलितमाल्यविलासिनीनाम् ।
सर्वत्र सुन्दरनवाङ्कुरदन्तुराणां
शोभोल्लसद्वरलताकुलमार्गणानाम् ॥ ५९ ॥
सञ्जातकोमललतोत्पलसङ्कुलानां
तिष्ठत्पयोदपटसंवलितालयानाम् ।
नीहारहारहरितस्थलविश्रुतानां
सौधस्थमेघतडिदाकुलिताङ्गनानाम् ॥ ६० ॥

बगीचों के कुन्द-पुष्पों के मकरन्द की (पुष्प रस की) भीनी-भीनी सुगन्ध से सुगन्धित थे, सुगन्धि से अन्धे बने भ्रमरों ने गिरिग्राम के घरों के आस-पास के कमलों को आच्छन्न कर दिया था, उन घरों ने अपनी सुन्दरता से इन्द्र भवन को नीचा दिखा दिया था, कमलों के पराग से उन्हों ने आकाश को सुनहला बना दिया था ॥ ५७ ॥

वेग से बह रही गिरि नदी का घर-घर शब्द बना रहता था, कन्द पुष्प के समान सफेद मेघों की छवि से वे देदीप्यमान हो रहे थे, अटारियों पर आरूढ़ फूली हुई विशाल लताओं के वे आश्रय थे, उन घरों में परस्पर क्रीड़ा से चञ्चल मधुर ध्वनि वाले पक्षियों का आवास था ॥ ५८ ॥

तुरन्त खिले हुए पुष्पों की पँखुरियों से युवकों की शय्या पूर्ण थी, स्त्रियां पैर के अँगूठे तक लटकी हुई मालाएँ पहने हुई थीं, सभी जगह सुन्दर-सुन्दर नूतन अङ्कुर उगे थे, जिनसे वे घर दन्तुल से (जिसके छोटे-छोटे दाँत निकले हों ऐसे) प्रतीत होते थे अत्यन्त सुशोभित सुन्दर लताओं से सरकण्डे घिरे थे ॥ ५९ ॥

उगी हुई कोमल-कोमल लताओं और कमलों की

नीलोत्पलोल्लसितसौरभसुन्दराणां
हुङ्कारहारिहरितोन्मुखगोकुलानाम् ।
विश्रब्धमुग्धमृगसारगृहाजिराणा-
मुन्नृत्यबर्हिघनसीकरनिर्झराणाम् ॥ ६१ ॥
सौगन्ध्यमत्तपवनाहतविक्लवानां
वप्रौषधिज्वलनविस्मृतदीपकानाम् ।
कोलाहलाकुलकुलायकुलाकुलानां
कुल्याकुलाकलकलाश्रुतसंकथानाम् ॥ ६२ ॥
मुक्ताफलप्रकरसुन्दरबिन्दुपात-
शीताखिलद्रुमलतातृणपल्लवानाम् ।
लक्ष्मीमनस्तमितपुष्पविकाशभाजां
शक्नोति कः कलयितुं गिरिमन्दिराणाम् ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने गिरिग्रामवर्णनं नामाऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

उनमें भरमार थी, स्थिर मेघरूपी वस्त्रों से घरों के कमरे आच्छादित थे, ओस की बूंदरूपी मोतियों की लरों से युक्त हरी घास के मैदानों से जहां तहां उनकी बड़ी ख्याति थी, अटारियों में रुके हुए मेघ की बिजली से उन घरों की स्त्रियां आकुल हो रही थीं ॥ ६० ॥

नील कमलों से सुगन्धि से उनकी सुन्दरता कहीं अधिक बढ़ गई थी, वहां की गौएँ रंभाने से बड़ी भली लगने वाली और हरी घास को चरने में संलग्न थीं, घर के आंगन में सुन्दर मृग निश्शङ्क आ जा रहे थे, उक्त घर निबिड़ जल-बिन्दुओं की वृष्टि करने वाले झरनों से युक्त थे, अतएव वृष्टि की भ्रान्ति से उनमें मयूर नृत्य कर रहे थे ॥ ६१ ॥

वे सुगन्धि के समान भ्रान्त पवन से ताडित विकल हो रहे थे, दीवारों में उगी हुई ओषधिरूपी (ज्योतिलतारूपी) अग्नि बे घर दीपकों को भूल गये थे, ओषधियों से ही उनमें दीपकों का काम चल जाता था, पक्षियों के कलरव से परिपूर्ण अनेक घोसलों से वे घर व्याप्त थे, सैकड़ों झरनों के अविरत कलरव से लोगों की बोल-चाल छिप गई थी ॥ ६२ ॥

मोतियों की लरी के समान सुन्दर बिन्दुओं के गिरने से उनके सम्पूर्ण वृक्ष, लता, तृण और पल्लव शीतल थे और उनमें फूलों का विकास कभी बन्द नहीं होता था ऐसे गिरिग्राम के मन्दिरों की शोभा का वर्णन कौन कर सकता है ? ॥ ६३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में गिरिग्रामवर्णन नामक कुसुमलता का अट्ठाइसवां सर्ग समाप्त ॥ २८ ॥

२९

वसिष्ठ उवाच

तत्र ते पेलतुर्देव्यौ ग्रामेऽन्तःशीतलात्मनि ।
भोगमोक्षश्रियौ शान्ते पुंसीव विदितात्मनि ॥ १ ॥
कालेनैतावता लीला तेनाऽभ्यासेन साऽभवत् ।
शुद्धज्ञानैकदेहत्वात् त्रिकालामलदर्शिनी ॥ २ ॥
अथ सस्मार सर्वास्ताः प्राक्तनीः संसृतेर्गतीः ।
सा स्वयं स्वरसेनैव प्राग्जन्ममरणादिकाः ॥ ३ ॥

लीलोवाच

देवि ! देशमिमं दृष्ट्वा त्वत्प्रसादात् स्मराम्यहम् ।
इह तत्प्राक्तनं सर्वं चेष्टितं चेष्टितान्तरम् ॥ ४ ॥

२९

सुशीतल सुरम्य उस गिरिग्राम में वे दोनों देवियाँ उसी प्रकार पहुँचीं जैसे आत्मज्ञानी अतएव शान्त पुरुष में भोगश्री और मोक्षश्री प्राप्त होती है ॥ १ ॥

इतने समय में उक्त अभ्यास से लीला केवल शुद्ध ज्ञानरूप देहवाली होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमानरूप तीनों कालों को भली-भांति देखनेवाली हो गई थी ॥ २ ॥

इसके बाद उसे संसार की प्राक्तन जन्ममरणरूप सम्पूर्ण गतियों का अनायास ही स्मरण होने लगा ॥ ३ ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! इस देश को देखकर आपकी कृपा से मैं यहांपर अनेक पूर्व-जन्मों की सब विविध चेष्टाओं का स्मरण करती हूँ ॥ ४ ॥

इहाऽभूवमहं जीर्णा शिरालाङ्गी कृशा सिता ।
ब्राह्मणी शुष्कदर्भाग्रभेदरूक्षकरोदरा ॥ ५ ॥
भर्तुः कुलकरी भार्या दोहमन्थानशालिनी ।
माता सकलपुत्राणामतिथीनां प्रियङ्करी ॥ ६ ॥
देवद्विजसतां भक्ता सिक्ताङ्गी घृतगोरसैः ।
भर्जनीचरुकुम्भादिभाण्डोपस्करशोधिनी ॥ ७ ॥
नित्यमन्नलवाक्तैककाचकम्बुप्रकोष्ठका ।
जामातृदुहितृभ्रातृपितृमातृप्रपूजनी ॥ ८ ॥
आदेहं सद्मभृत्यैव प्रक्षीणदिनयामिनी ।
वाचं चिरं चिरमिति वादिन्यनिशमाकुला ॥ ९ ॥
काऽहं क इव संसार इति स्वप्नेऽप्यसंकथा ।
जाया श्रोत्रियमूढस्य तादृशस्यैव दुर्धियः ॥ १० ॥
एकनिष्ठा समिच्छाकगोमयेन्धनसञ्चये ।

पूर्व में यहांपर सूखे हुए कुशों के अग्रभाग से जर्जरित हथेली वाली सफेद बालों वाली नशों से परिव्याप्त कृश शरीर वृद्धा ब्राह्मणी हुई थी ॥ ५ ॥

पतिदेव के कुल की वृद्धि करनेवाली भार्या, अनेक बच्चों की माता और अतिथियों का सत्कार करनेवाली दधिमन्थन मे तत्पर गृहिणी थी ॥ ६ ॥

मैं देवता और सन्त महात्माओं की भक्त थी और दही-दूध से लथपथ शरीर मैं भात पकाने की बटलोही यज्ञ-चरु को पकाने के पात्र, अन्यान्य पात्रों और सामग्री को मांज, धो-पोंछकर साफ-सुथरा रखने वाली थी ॥ ७ ॥

सदा अन्न से सनी हुई एक कांच की चूड़ी से युक्त कलाई बाल, जामाता, बेटी, भाई, पिता और माता की सदा पूजा अर्चा में तत्पर थी ॥ ८ ॥

जब तक शरीर था घर के ही काम-धाम में मेरे दिन-रात बीतते थे । मैं पुत्र, बहू और नौकर-चाकरों से शीघ्र काम करने के लिए तुमन क्यों देरी लगाई, तुम क्यों बिलम्ब कर रहे हो यह वचन कहती रहती थी और स्वयं दिनरात कार्य में व्यग्र रहती थी ॥ ९ ॥

मैं कौन हूँ और यह संसार कहां तक सच्चा है ? इस बात का कभी स्वप्न में भी मैंने विचार नहीं किया था । मेरे पतिदेव भी मेरे ही समान घर में अत्यन्त आसक्त थे, उनकी बुद्धि विशुद्ध नहीं हुई थी, वे शुद्ध क्षत्रिय थे ॥ १० ॥

मैं समिध, शाक और कण्डों के संग्रह में नित्य दत्त-

म्लानकम्बलसंवीतशिरालकृशगात्रिका ॥ ११ ॥
तर्णकीकर्णजाहस्थकृमिनिष्कासतत्परा ।
गृहशाकायनासेकसत्वराहूतकर्परा ॥ १२ ॥
नीलनीरतरङ्गान्ततृणतर्पिततर्णिका ।
प्रतिक्षणं गृहद्वारकृतलेपनवर्णका ॥ १३ ॥
नीत्यर्थं गृहभृत्यानामादीनकृतवाच्यता ।
मर्यादानियमादब्धेर्वेलेवाऽनिशमच्युता ॥ १४ ॥
जीर्णपर्णसवर्णैककर्णदोलाधिरूढया ।
काष्ठताडचजराभीतजीववृत्त्येव चिह्निता ॥ १५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा सञ्चरन्ती सा शिखरिग्रामकोटरे ।
सञ्चरन्त्या सरस्वत्या दर्शयामास सस्मयम् ॥ १६ ॥

चित्त रहती थी । मेरा नस स भरा हुआ दुबला-पतला शरीर मैले कम्बल से ढका रहता था । मैं कभी बछिया की कनपटी के कीड़े निकालने में तत्पर रहती तो कभी घर के पास के शाक के खेतों का सींचने क लिए सीचने वाले नौकरों को पुकारती थी ॥ ११, १२ ॥

जल की लहरों के प्रान्त भाग के तटों पर उगे हुए हरी हरी घास के तिनकों से बछियों की तृप्त करती हुई प्रतिक्षण घर के दरवाजे पर लेपन और एपन दिया करती थी ॥ १३ ॥

घर के विनय, सदाचार आदि नौकर को सिखाने के लिए कुछ दैन्य के साथ ('ऐसे लोगों के घर में इस तरह के अविनीत नौकर-चाकर कैसे रहते है' ऐसा लोग कहेंगे) इस प्रकार निन्दा का दिग्दर्शन कराया करती थी । मर्यादा के नियमरूप सागर की वेला के समान मैं स्वयं कभी-भी अपने कर्तव्य से भ्रष्ट नहीं होती थी, इस प्रकार अपने चरित्र से भी उन्हें शिक्षा दिया करती थी ॥ १४ ॥

पुराने पत्ते के समान वाले शरीर का एक कान, शिर के कम्पन से झूलने के कारण, झूला स्वरूप उसमें चढ़ी हुई-सी, टेकने की लाठी के उठाने पर उससे ताड़न करने के लायक बुढ़ापे से भयभीत, अन्तिम जीवन की अन्तिम वृत्ति से चिह्नित के समान हो गई थी ॥ १५ ॥

श्रीवसिष्ठ ने कहा :—

यह कहकर पर्वतग्राम के मध्य में भ्रमण करती हुई

इयं मे पाटलाखण्डमण्डितापुष्पवाटिका ।
इयं मे पुष्पितोद्यानमण्डपाशोक[1]वाटिका ॥ १७ ॥
इयं पुष्करिणी तीरद्रुमग्रन्थिततर्णका ।
इयं सा कर्णिकानाम्नी तर्णिका मुक्तपर्णिका ॥ १८ ॥
इयं सा मेऽलसाकीर्णा वराकी जलहारिका ।
अद्याऽष्टमं दिनं बाष्पक्लिन्नाक्षी परिरोदिति ॥ १९ ॥
इह देवि ! मया भुक्तमिहोषितमिह स्थितम् ।
इह सुप्तमिहाऽऽपीतमिह दत्तमिहाऽऽहृतम् ॥ २० ॥
एष मे ज्येष्ठशर्माख्यः पुत्रो रोदिति मन्दिरे ।
एषा मे जङ्गले धेनुर्दोग्ध्री चरति शाद्वलम् ॥ २१ ॥
गृहे वसन्तदाहाय रूक्षक्षारविधूसरम् ।
स्वदेहमिव पञ्चाक्षं पश्येमं प्रघणं मम ॥ २२ ॥
तुम्बालताभिरुग्राभिः पुष्टाभिरिव वेष्टितम् ।

लाला न घूम रही सरस्वती देवी को विस्मयपूर्वक दिखलाया ॥ १६ ॥

हे देवि, पाटल वृक्षों से अत्यन्त सुशोभित यह मेरी पुष्पवाटिका है। यह मेरी उद्यान मण्डप की अशोक-वाटिका खिली हुई है ॥ १७ ॥

तट के वृक्षों में बंधे हुए बछड़ों वाला यह मेरा तालाब है, मेरे वियोग जन्य दुःख से घास को छोड़ हुई यह कर्णिका नाम की मेरी बाछया है ॥ १८ ॥

मेरे वियोग जन्य दुःख से आलस्यपूर्ण धूलिधूसरित यह दीन मेरी पानी भरने वाली है, आठ दिनों से अश्रु परिव्याप्त रो रही है ॥ १९ ॥

हे देवि ! यहां पर मैंने भोजन किया। यहां पर निवास किया, यहां पर मैं बैठा, यहां सोई, यहां जल पिया, यहां दिया और यहां फल, अन्न आदि लाई ॥ २० ॥

यह मेरा ज्येष्ठ शर्मा नामक पुत्र घर में रो रहा है। यह मेरी दुधार गाय जंगल में हरी घास चर रही है ॥ २१ ॥

वसन्त के आरम्भ में होली जलाने के लिए बनाया गया, भस्म से विधूसर, पांच खिड़कियों वाला यह बरामदा पांच ज्ञानेन्द्रियों से युक्त मेरी देह के समान मेरा प्रिय है इसे देखो ॥ २२ ॥

स्वयं चढ़ाकर पाली हुई कडुएलौकी की लताओं से छत में वेष्टि बड़ी-बड़ी नसों से वेष्टित मेरे शरीर के

महानसस्थानमिदं मम देहमिवाऽपरम् ॥ २३ ॥
एते रोदनताम्राक्षा बन्धवो भुवि बन्धनम् ।
अङ्गार्पितरुद्राक्षा आहरन्त्यनलेन्धनम् ॥ २४ ॥
अनारतं शिलाकच्छे गुच्छाच्छोटनकारिभिः ।
तरङ्गैः स्थगिताकारं स्पृष्टतीरलतातलैः ॥ २५ ॥
सीकराकीर्णपर्यन्तशाद्वलस्थलसल्लतैः ।
शिलाफलहकास्फालफेनिलोत्पलसीकरैः ॥ २६ ॥
तुषारीकृतमध्याह्नदिवाकरकरोत्करैः ।
फुल्लपुष्पोत्करासारप्रगादोत्कतटद्रुमैः ॥ २७ ॥
विद्रुमैरिव संक्रान्तफुल्लकिंशुककान्तिभिः ।
व्याप्तया पुष्पराशीनां समुल्लासनकारिभिः ॥ २८ ॥
उह्यमानफलापूरसुव्यग्रग्रामबालया ।
महाकलकलावर्त्तमत्तया ग्रामकुल्यया ॥ २९ ॥

सदृश यह रसोई घर है ॥ २३ ॥

भुजाओं रुद्राक्षों की धारण किये हुए ससार में मेरे वन्धन स्वरूप बन्धुबान्धव, अग्नि और काष्ठ ला रहे हैं, सदा रोने के कारण इन बेचारों की आँखें लाल हो गई है ॥ २४ ॥

जो कि शिलामय तट भूमि में फूलों के गुच्छों को सदा टक्कर देने वालो, तटवर्ती लताओं के पत्तों को छूने वाली यह गृहमण्डप है ॥ २५ ॥

यह आस-पास के हरे मैदानों तथा सुन्दर लताओं को जलकणों से व्याप्त करने वाली एवं शिला पर टक्कर लगने से फेनयुक्त और नीलकमल के गन्ध से सुवासित जलकणों से पूर्ण लहरों से ढका हुआ है ॥ २६ ॥

मध्याह्न रवि की किरणों को भी वर्फ के समान शीतल करने वाले, फूले हुए फूलों की राशि पर मँडराने वाले भ्रमरों के गुंजन से उत्कण्ठित ऐसे मध्य में संनिविष्ट फूले हुए पलाश वृक्षों की कान्ति से समन्वित मूंगों के वृक्षों के समान प्रतीत होने वाले पुष्प राशि का विकास करने वाले तट प्रान्त के वृक्षों से व्याप्त ग्रामीण नहर है ॥ २७-२८ ॥

जिस नहर के प्रवाह में बह रहे आम्र आदि फलों को लेने में ग्रामीण लड़कियाँ अतिव्यग्र हैं। प्रचुर कलकल-शब्द करने वाली जलभौंरियों से मदमत्त-सी प्रतीत होती है ॥ २९ ॥

१. शोकपेटिकेति पाठान्तरम् ।

वेष्टितस्तरलास्फालजलधौततलोपलः ।
घनपत्रतरुच्छन्नच्छायासततशीतलः ॥ ३० ॥

अयमालक्ष्यते फुल्ललतावलनसुन्दरः ।
दलद्गुलुच्छकाच्छन्नगवाक्षो गृहमण्डपः ॥ ३१ ॥

अत्र मे संस्थितो भर्ता जीवाकाशतयाऽकृतिः ।
चतुःसमुद्रपर्यन्तमेखलाया भुवः पतिः ॥ ३२ ॥

आस्मृतं पूर्वमेतेन किलाऽऽसीदभिवाञ्छितम् ।
शीघ्रं स्यामेव राजेति तीव्रसंवेगधर्मिणा ॥ ३३ ॥

दिनैरष्टभिरेवाऽसौ तेन राज्यं समृद्धिमत् ।
चिरकालप्रत्ययदं प्राप्तवान् परमेश्वरि ! ॥ ३४ ॥

अत्राऽसौ भर्तृजीवो मे स्थितो व्योम्नि गृहे नृपः ।
अदृश्यः खे यथा वायुरामोदो वाऽनिले यथा ॥ ३५ ॥

इहैवाऽङ्गुष्ठमात्रान्ते तद्व्योम्न्येव पदं स्थितम् ।
मद्भर्तृराज्यं समवगतं योजनकोटिभाक् ॥ ३६ ॥

आवां खमेव खस्थं च भर्तृराज्यं ममेश्वरि ! ।
पूर्णं सहस्रैः शैलानां महामायेयमातता ॥ ३७ ॥

जिस नहर के वेष्टित तीव्र प्रवाह वाले जल से जिसके पत्थर धुले हुए हैं, सघन पत्ते वाले वृक्षों की निविड़ छाया से जो सदा शीतल है और फूली हुई लताओं के परिवेष्टन से बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है और खिल रही गुलुच्छलता से जिसकी खिड़कियाँ आच्छन्न हैं ऐसे गृहमण्डप हैं ॥ ३०-३१ ॥

इसमें भी चार सागर पर्यन्त पृथिवी के स्वामी मेरे पतिदेव जीवाकाश होने के कारण निष्क्रिय होते हुए रहते थे ॥ ३२ ॥

हाँ, मुझे स्मरण हुआ कि दृढ़ संकल्प वाले इन्होंने पहले मैं शीघ्र ही राजा होऊँ, ऐसी कामना की थी ॥ ३३ ॥

हे परमेश्वरि ! आठ ही दिनों में इन्होने चिर काल की प्रतीति देने वाले समृद्धिशाली राज्य को प्राप्त किया था ॥ ३४ ॥

इस घर के आकाश में यह मेरे पति का जीव राजा वैसे ही रहता है जैसे आकाश में वायु और वायु में सुगन्धि अदृश्य होकर रहती है ॥ ३५ ॥

यहीं अङ्गुष्ठमात्र गृहाकाश में ही स्थित स्थान को भ्रम से मैंने करोड़ो योजन विस्तृत मेरे पति का राज्य समझा ॥ ३६ ॥

हे परमेश्वरी ! हम दोनो चिदाकाश ही हैं, हजारों पहाड़ों से पूर्ण आकाश में स्थित मेरे पतिदेव का राज्य है, यह विपुल माया का विस्तार है ॥ ३७ ॥

तद्देवि भर्तृनगरं पुनर्गन्तुं ममेप्सितम् ।
तदेहि तत्र गच्छावः किं दूरं व्यवसायिनाम् ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्त्वा प्रणता देवीं सा प्रविश्याऽऽशु मण्डपम् ।
विहङ्गीव तया साकं पुप्लुवेऽसिनिभं[1] नमः ॥ ३९ ॥

भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं सौम्यैकार्णवसुन्दरम् ।
नारायणाङ्गसदृशं भृङ्गपृष्ठामलच्छवि ॥ ४० ॥

मेघमार्गमतिक्रम्य वातस्कन्धवनिं तथा ।
सौरमार्गमथाऽऽक्रम्य चन्द्रमार्गमतीत्य च ॥ ४१ ॥

ध्रुवमार्गोत्तरं गत्वा साध्यानां मार्गमेत्य च ।
सिद्धानां समतीत्योर्वीमुल्लङ्घ्य स्वर्गमण्डलम् ॥ ४२ ॥

ब्रह्मलोकोत्तरं गत्वा तुषितानां च मण्डलम् ।
गोलोकं शिवलोकं च पितृलोकमतीत्य च ॥ ४३ ॥

विदेहानां सदेहानां लोकमुत्तीर्य[2] दूरगम् ।
दूराद् दूरमथो गत्वा किंचिद्बुद्धा बभूव सा ॥ ४४ ॥

हे देवि ! पति के नगर में पुनः जाने की मेरी इच्छा है, इसलिए आइये वहां चलें। उद्योग सम्पन्न व्यक्तियों के लिए क्या दूर है ? ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—देवी से नतमस्तक हुई लीला यह कहकर शीघ्र ही गृहमण्डप में प्रवेश कर देवी के साथ चिड़िया के समान तलवार के तुल्य नीले आकाश में उड़ गई ॥ ३९ ॥

पीसे हुए अञ्जन के ढेर के सदृश श्याम, निश्चल सागर के समान सुन्दर भगवान् श्रीविष्णु की अङ्ग कान्ति के सदृश श्यामल, भँवरे की पीठ के सदृश निर्मल कान्ति वाले मेघ मार्ग को लाँघकर, प्रवह, आवह आदि उनचास बायुओं के लोक को अतिक्रान्त कर, सूर्यमार्ग और चन्द्र-मार्ग को पार कर ध्रुवलोक के ऊपर साध्यों के लोक में आकर, सिद्धों के लोक को पारकर, स्वर्गमण्डल जाकर, पारकर, ब्रह्मलोक में जाकर नित्यसन्तुष्टों के लोक अर्थात् वैकुण्ठ में पहुँचकर, क्रमशः गोलोक, शिवलोक और पितृलोक का अतिक्रमण कर, विदेह और संदेह मुक्तों के अतिदूरवर्ती लोक को पार कर अत्यन्त दूर जाकर वह लीला कुछ प्रबुद्ध हुई ॥ ४०-४४ ॥

---

१. 'सितिमं' इति पाठान्तरम् । २. 'लोकानुत्तीर्य' इति पाठान्तरम् ।

पश्चादालोकयामास समतीतं नभस्थलम् ।
यावन्न किञ्चिच्चन्द्रार्कताराद्यालक्ष्यते ह्यधः ॥ ४५ ॥
तमस्तिमितगम्भीरमाशाकुहरपूरकम् ।
एकार्णवोदरप्रख्यं शिलोदरघनं स्थितम् ॥ ४६ ॥

लीलोवाच

तद्देवि ! भास्करादीनां क्वाऽधस्तेजो गतं वद ।
शिलाजठरनिष्पन्दं मुष्टिग्राह्यं तमः कुतः ॥ ४७ ॥

श्रीदेव्युवाच

एतावतीमिमां व्योम्नः पदवीमागताऽसि भोः ।
अर्कादीन्यपि तेजांसि यतो दृश्यन्त एव नो ॥ ४८ ॥
यथा महान्धकूपाधः खद्योतो नाऽवलोक्यते ।
पृष्ठगेन तथेहास्तो नाऽधः सूर्योऽवलोच्यते ॥ ४९ ॥

लीलोवाच

अहो नु पदवीं दूरमावामेतामुपागते ।
सूर्योऽप्यधोऽणुकणवन्न मनागपि लक्ष्यते ॥ ५० ॥
इत उत्तरमन्या स्यात् पदवी का नु कीदृशी ।

अनन्तर अतीत आकाशस्थल को देखा, जहाँ नीचे चन्द्रमा, तारा आदि कुछ भी नहीं दिखाई देते थे, दिशारूपी गर्तों को भरने वाला एकमात्र सागर के सदृश, पत्थर के मध्य भाग के समान ठोस, निश्चल और गम्भीर अन्धकार ही अन्धकार था ॥ ४५, ४६ ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! सूर्य आदि का तेज नीचे कहाँ चला गया, पत्थर के मध्यभाग के समान निविड़ मुट्ठि में ग्रहण करने योग्य यह अन्धकार कहाँ से आ गया है ? यह मुजसे कहें ॥ ४७ ॥

श्रीदेवी ने कहा :—भद्रे, तुम इतने दूर आकाश मार्ग में आ गई हो, जहाँ से सूर्य आदि तेज नहीं ही दिखाई देते हैं ॥ ४८ ॥

यहाँ से बहुत नीचे स्थित सूर्य वैसे ही नहीं दिखाई देता जैसे बड़े भारी अन्धे कुएँ के नीचे विद्यमान जुगनूं बहुत दूर ऊपर बैठे हुए पुरुष को नहीं दिखाई देता है ॥ ५० ॥

लीला ने कहा :—अहो ! हम लोग इतने दूर स्थान में आ गये हैं कि नीचे परमाणु के समान सूर्य भी, बिल्कुल ही लक्षित नहीं होता है ॥ ५० ॥

इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा ? यह सब आप मुझसे कहें ॥ ५१ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा :—इसके आगे ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपर कपाल में तुम को जाना है, चन्द्रमा आदि जिस

कथं च मातरेतव्या कथ्यतामिति देवि ! मे ॥ ५१ ॥

श्रीदेव्युवाच

इत उत्तरमग्रे ते ब्रह्माण्डपुटकर्परम् ।
यस्य चन्द्रादयो नाम धूलिलेशाः समुत्थिताः ॥ ५२ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति प्रकथयन्त्यौ ते प्राप्ते ब्रह्माण्डकर्परम् ।
भ्रमर्याविव शैलस्य कुड्यं निविडमण्डपम् ॥ ५३ ॥
अक्लेशेनैव ते तस्मान्निर्गते गगनादिव ।
निश्चयस्थं हि यद्वस्तु तद्वज्रगुरु नेतरत् ॥ ५४ ॥
निरावरणविज्ञाना सा ददर्श ततस्ततम् ।
जलाद्यावरणं पारे ब्रह्माण्डस्याऽतिभासुरम् ॥ ५५ ॥
ब्रह्माण्डाद्दशगुणतस्तोयं तत्र व्यवस्थितम् ।
आस्थितं वेष्टयित्वा तु त्वगिवाऽक्षोटपृष्ठगा ॥ ५६ ॥
तस्माद्दशगुणो वह्निस्तस्माद्दशगुणोऽनिलः ।
ततो दशगुणं व्योम ततः परममम्बरम् ॥ ५७ ॥

ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपर के कपाल के धूलिकण-से उत्पन्न हुए हैं ॥ ५२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—इस प्रकार आपस में प्रश्नोत्तर कर रही वे दोनों ललनाएँ ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपरवाले खप्पर पर वे दोनों वहाँ से जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वत के छिद्ररहित=सघन भाग को प्राप्त करती हैं ॥ ५३ ॥

वैसे ही जैसे कोई आकाश से निकले वे दोनों वहाँ से अनायास निकलीं । जो वस्तु सत्यता के निश्चय से समन्वित होता है वह व्रज के समान ठोस होती है अर्थात् उसका कभी-भी बाध नहीं होता है ॥ ५४ ॥

लीला का विज्ञान आवरणशून्य था, अतएव उसने ब्रह्माण्डसंपुट के ऊपरवाले कपाल के बाद ब्रह्माण्ड के आर-पार अत्यन्त ही देदप्यिमान जलादि आवरण को व्याप्त देखा ॥ ५५ ॥

ब्रह्माण्ड से दसगुना वहांपर जल है, वह जैसे अखरोट के ऊपर उसका बाहरी छिलका उसे व्याप्त करके रहता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर वैसे ही स्थित है जैसे अखरोट के ऊपर उसका बाहरी छिलका उसे उसको परि-व्याप्त कर रहता है ॥ ५६ ॥

उसके बाद उससे दसगुनी अग्नि है, उसके बाद उससे दसगुना वायु था, उसके बाद उससे दसगुना आकाश है तदन्तर शुद्ध चिदाकाश है ॥ ५७ ॥

तस्मिन् परमके व्योम्नि मध्याद्यन्तविकल्पनाः ।
न काश्चन समुद्यन्ति वन्ध्यापुत्रकथा इव ॥ ५८ ॥
केवलं विततं शान्तं तदनादि गतभ्रमम् ।
आद्यन्तमध्यरहितं महत्यात्मनि तिष्ठति ॥ ५९ ॥
आकल्पमुत्तमबलेन शिला पतेच्चेत्
तस्मिन्बलात् पतगराडपि चोत्पतेच्चेत् ।
तद्योजनं लभते विमलेऽम्बरेऽन्त-
र्माकल्पमेकजवगोऽप्यथ मारुतोऽपि ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने परमाकाशवर्णनं नाम एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

उस परमाकाश में बन्ध्यापुत्र के वृत्तान्तों के समान आदि, मध्य और अन्त की कल्पनाएँ कुछ भी उदित नहीं होती है अर्थात् वह अपरिच्छिन्न है ॥ ५८ ॥

वह अद्वितीय, असीम, शान्त, कारणरहित, भ्रमशून्य, आदि, अन्त और मध्यरहित है एवं अपनी महिमा में स्थित है ॥ ५९ ॥

उस निर्मल चिदाकाश में कल्पपर्यन्त बड़े भारी वेग से ऊपर से पत्थर नीचे को गिरे और नीचे से गरुड ऊपर को वेग से कल्पपर्यन्त उड़े और उनके बीच में उनका संन्धया करने में समर्थ वायु एक ही वेग से दाएँ-बाएँ दोनों ओर से बहे, वह भी उनसे नहीं मिल सकता है फिर चारों ओर से उसके अन्त पाने की तो बात ही क्या है ? वह चारों ओर से असीम और अपरिच्छिन्न है ॥ ६० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में परमाकाशवर्णन नामक कुसुमलता का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ २९ ॥

३०

वसिष्ठ उवाच

पृथिव्यप्तेजसां तत्र नभस्वन्नभसोरपि ।
यथोत्तरं दशगुणानतीत्याऽऽवरणान् क्षणात् ॥ १ ॥
ददर्श परमाकाशं तत्प्रमाणविवर्जितम् ।
तथा ततं जगदिदं यथा तत्राण्डमात्रकम् ॥ २ ॥
तादृशावरणान्सर्गान् ब्रह्माण्डेषु ददर्श सा ।
कोटिशः स्फुरितान् व्योम्नि त्रसरेणूनिवाऽऽतपे ॥ ३ ॥
महाकाशमहाम्भोधौ महाशून्यत्ववारिणि ।
महाचिद्द्रवभावोत्थान् बुद्बुदानर्बुदप्रभान् ॥ ४ ॥
कांश्चिदापततोऽधस्तात् कांश्चिच्चोपरि गच्छतः ।
कांश्चित्तिर्यग्गतीनन्यान् स्थितांस्तब्धान् स्वसंविदा ॥५॥
यत्र यत्रोदिता संविद्येषां येषां यथा यथा ।
तत्र तत्रोदितं रूपं तेषां तेषां तथा तथा ॥ ६ ॥
नेहैव तत्र नामोर्ध्वं नाऽधो न च गमागमाः ।
अन्यदेव पदं किञ्चित्तस्माद्देहागमं हि तत् ॥ ७ ॥

३०

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—लीला ने पृथिवी, जल अग्नि, वायु और आकाश के उत्तरोत्तर दसगुने बड़े आवरणों को एक क्षण में पारकर परिणाम रहित अविद्याशबलित चिदाकाश को देखा, उक्त आकाश में जैसे यह ब्रह्माण्डरूप जगत् विस्तृत है सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को भी वैसे ही उसने विस्तृत देखा जैसे यह ब्रह्माण्ड विस्तृत है ॥ १-२ ॥

लीला ने सभी ब्रह्माण्डों में स्वप्रकाश अधिष्ठान चैतन्य भासित आकाश में धूप में करोड़ों त्रसरेणु के समान दृष्टिगोचर किया है ॥ ३ ॥

लीला ने अविद्यारूप जल से परिपूर्ण महाकाशरूपी महासागर में महाचैतन्य के स्फुरणरूप द्रवीभाव से उत्पन्न असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्बुदों को देखा ॥ ४ ॥

उसने तत्-तत् ब्रह्माण्डों के अभिमानी जीवों के ज्ञानानुसार उनमें से कुछ को नीचे गिरते हुए, कुछ को ऊपर उड़ते हुए, कुछ को तिरछे चलते हुए और कुछ को निश्चलरूप से अपनी भावना में स्थित देखा ॥ ५ ॥

जिन-जिन की जहां-जहांपर जैसी भावना हुई, उन-उन की दृष्टि वहां-वहांपर वैसा रूप उदित हुआ ॥ ६ ॥

न तो ऊपर का प्रदेश है, न नीचे का प्रदेश है और

उत्पद्योत्पद्यते तत्र स्वयं संवित्स्वभावतः ।
स्वसङ्कल्पैः शमं याति बालसङ्कल्पजालवत् ॥ ८ ॥

श्रीराम उवाच

किमधः स्यात् किमूर्ध्वं स्यात् किंतिर्यक् तत्र भासुरे ।
इति ब्रूहि मम ब्रह्मन्निहैव यदि न स्थितम् ॥ ९ ॥

वसिष्ठ उवाच

ससर्वावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते ।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा ॥१०॥
अस्वातन्त्र्यात् प्रधावन्ति पदार्थाः सर्व एव यत् ।
ब्रह्माण्डे पार्थिवो भागस्तदधस्तूर्ध्वमन्यथा ॥ ११ ॥
पिपीलिकानां महतां व्योम्नि वर्तुललोष्ठके ।
दशदिक्कमधः पादाः पृष्ठमूर्ध्वमुदाहृतम् ॥ १२ ॥
वृक्षवल्मीकजालेन केषाञ्चिद्धृदि भूतलम् ।

न ब्रह्माण्डों के गमन-आगमन ही हैं, किन्तु वाणी और मन का अगोचर दिग्विभाग आदि सब द्वैतों से रहित दूसरी ही वस्तु है ॥ ८ ॥

संवित् ही स्वयं अविद्या से उत्पन्न अपने संकल्पों से, बालकों के संकल्पों के समान उत्पन्न की तरह होती है और उत्पन्न होकर शान्त-सी होती है ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा :—हे ब्रह्मन् ! अधिष्ठानतत्त्व में ही पहले ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक् नहीं था, कल्पना द्वारा प्रतीत हो रहे जगत् में क्या नीचे होगा, क्या ऊपर होगा और क्या तिरछा होगा मुझे कहें ॥ ९ ॥

अज्ञान से दूषित दृष्टिवाले पुरुष को असीम महान् चिदाकाश में सम्पूर्ण आवरणों से युक्त ये ब्रह्माण्ड वैसे ही प्रतीत होते हैं जैसे आकाश में भ्रमवश केशों का कुण्डलाकार गोला दिखलाई पड़ता है ॥ १० ॥

गोल पत्थर या ढेले में चीटियां जब चिपकी रहती हैं, जिस ओर चीटियों के पैर होते हैं वह नीचे का भाग है और जिधर पीठ रहती है वह ऊपर का भाग है आशय यह है कि दसों दिशाओ में संलग्न लोगों के पैर नीचे को ही होते हैं और पीठ ऊपर को होती है ॥ १२ ॥

कुछ व्यक्तियों के हृदय में पृथिवी वृक्ष और वामी के जाल के रूप में देव, मनुष्य और दैत्य से वेष्टित निर्मल आकाश ही है ॥ १३ ॥

कुछ ब्रह्माण्ड तुरन्त कल्पनात्मक चार प्रकार के प्राणियों के साथ ही ग्राम, नगर, पर्वतों से युक्त होकर वैसे ही उत्पन्न हुए हैं जैसे पका हुआ अखरोट का फल त्वचा से (छाल से) वेष्टित रहता है ॥ १४ ॥

ससुरानरदैत्येन वेष्टितं व्योम निर्मलम् ॥ १३ ॥
संभूतं सह भूतेन सग्रामपुरपर्वतम् ।
इदं कल्पनभूतेन पक्वाक्षोटमिव त्वचा ॥ १४ ॥
यथा बिन्ध्यवनाभोगे प्रस्फुरन्ति करणेवः ।
तथा तस्मिन् पराभोगे ब्रह्माण्डत्रसरेणवः ॥ १५ ॥
तस्मिन् सर्वं ततः सर्वं तत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
तच्च सर्वमयो नित्यं तथा तदणुकं प्रति ॥ १६ ॥
शुद्धबोधमये तस्मिन् परमालोकवारिधौ ।
अजस्रमेत्य गच्छन्ति ब्रह्माण्डाख्यास्तरङ्गकाः ॥ १७ ॥
अन्तःशून्याः स्थिताः केचित् सङ्कल्पक्षयरात्रयः ।
तरङ्गा इव तोयेऽब्धौ प्रोह्यन्ते शून्यतार्णवे ॥ १८ ॥
केषांचिदन्तः कल्पान्तः प्रवृत्तो घर्घरारवः ।
स श्रुतोऽन्यैर्न च ज्ञातः स्वभावेन रसाकुलैः ॥ १९ ॥

वैसे ही परमात्मा के मायाशबल स्थान में ब्रह्माण्ड-रूपी त्रसरेणु वैसे ही उत्पन्न होते हैं जैसे विन्ध्याचल के विशाल वन में हाथी पैदा होते हैं ॥ १५ ॥

उसी में सब है, उसी से सब है, जो कुछ वह है सर्वत्र वही है वह सर्वमय है, अणु-अणु में वह नित्य है आशय यह है कि—

स्थितिकाल में सम्पूर्ण पदार्थ चिदाकाश में रहते हैं, सृष्टिकाल में उससे उत्पन्न होते हैं, प्रलय में सब उसी में लीन हो जाते हैं, ऐसी परिस्थिति से सब दिशाओं में सब कालों में और सब वस्तुओं में वही है, उससे अतिरिक्त कोई नहीं है । वही नित्य सर्वमय आत्मा है, इस प्रकार का वह किसके प्रति अणु होगा ? किसी के प्रति भी वह अणु नहीं हो सकता है ॥ १६ ॥

शुद्ध बोधरूप तथा परम प्रकाश समुद्र चिदाकाश में ब्रह्माण्डनामक लहरें नित्य उठकर विलीन होती है ॥१७॥

सम्पूर्ण सङ्कल्पों के बीज लिङ्गरूप उपाधि का क्षय होनेपर अन्धकारस्वरूप रात्रियों के समान अव्याकृत कुछ ब्रह्माण्ड भीतर स्थित रहता है । जल में तरङ्गों के समान शून्यतारूप सागर में उनकी प्रकर्ष से उत्पत्ति होती है ऐसा तर्क होता है ॥ १८ ॥

ब्रह्माण्डों के भीतर प्रलय में समाप्त होनेवाला घर-घर शब्द प्रवृत्त है, स्वाभाविक अज्ञान से विषयों में प्रीति से व्याकुल हुए अन्य लोगों ने न उसे कभी सुना और न जाना ही, कारण वे स्वाभाविक अज्ञान से विषयों में जो प्रीति होती है उससे आकुल हैं ॥ १९ ॥

अन्येषां प्रथमारम्भे शुद्धभूषु विजृम्भते ।
सर्गः संसिक्तबीजानां कोशेऽङ्कुरकला यथा ॥ २० ॥
महाप्रलयसम्पत्तौ सूर्यार्चिर्विद्युतोऽद्रयः ।
प्रवृत्ता गलितुं केचित्तापे हिमकणा इव ॥ २१ ॥
आकल्पं निपतन्त्येव केचिदप्राप्तभूमयः ।
यावद्विशीर्य जायन्ते तथा संविन्मयाः किल ॥ २२ ॥
स्तब्धा इव स्थिताः केचित् केशोण्ड्रकमिवाऽम्बरे ।
वायोः स्पन्दा इवाऽऽभान्ति तथा प्रोदितसंविदः ॥२३॥
आचाराद्वेदशास्त्राणामाद्य एवाऽन्यथोदिते ।
आरम्भोऽपि तथाऽन्येषामनित्यः संस्थितः क्रमः ॥२४॥
केचिद्ब्रह्मादिपुरुषाः केचिद्विष्ण्वादिसर्गपाः ।
केचिच्चाऽन्यप्रजानाथाः केचिन्निर्नाथजन्तवः ॥ २५ ॥

अन्य ब्रह्माण्डों में प्राथमिक कल्प, युग आदि के आरम्भ में प्रथम उत्पन्न प्राणियों द्वारा दूषित न होने के कारण शुद्ध भुवनों में सृष्टि वैसे ही होती है जैसे जल से सींचे हुए बीजों के कोष में सफेद अङ्कुर निकलता है ॥ २० ॥

ब्रह्माण्डों में महाप्रलय की प्राप्ति होनेपर जैसे सन्ताप लगने से हिमकण गलते हैं, वैसे ही सूर्य, वह्नि और बिजलियाँ पहले भुवनों को जलाकर स्वयं गलने लगते हैं ॥ २१ ॥

कुछ ब्रह्माण्ड आधार भूमि को न पाकर कल्पपर्यन्त गिरते ही रहते हैं, जबतक कि बिलकुल चूर-चूर होकर फिर न पैदा हों ॥ २२ ॥

आशय यह है कि वे ब्रह्माण्डपतन संविन्मय हैं । ऐसे ब्रह्माण्डों में पतन का कोई विरोध नहीं हैं । कुछ ब्रह्माण्ड आकाश में केशों के समान निश्चल से स्थित हैं और स्पन्दात्मक वासना से उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड वायु के स्पन्दन के समान प्रतीत होते हैं ॥ २३ ॥

वेद-शास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले पूर्व जन्म के कर्म-ज्ञान के अनुष्ठानरूप सदाचार से ब्रह्मा का पहले की सृष्टि के अन्य सृष्टिकर्ताओं की सृष्टि से विलक्षणरूप से उदित होनेपर आगे के कल्पों की सृष्टियों का आरम्भ भी पूर्व के समान हो, लेकिन अन्य सृष्टिकर्ताओं का सृष्टि की अपेक्षा इसका क्रम अनियत ही ठहरा । इस प्रकार सृष्टियों की विलक्षणता सिद्ध होती है ॥ २४ ॥

कुछ ब्रह्माण्डों के ब्रह्मा ही सृष्टिकर्ता हैं, कुछ के विष्णु ही अधिपति हैं, कुछ के रुद्र, भैरव, दुर्गा, विनायक आदि अध्यक्ष हैं, क्योंकि उनके माहात्म्य का वर्णन करने

केचिद्विचित्रसर्गेशाः केचित्तिर्यङ्मयान्तराः ।
केचिदेकार्णवापूर्णा इतरे जनिवर्जिताः ॥ २६ ॥
केचिच्छिलाङ्गनिष्पिण्डाः केचित् कृमिमयान्तराः ।
केचिद्देवमया एवं केचिन्नरमयान्तराः ॥ २७ ॥
केचिन्नित्यान्धकाराढ्यास्तथा शीलितजन्तवः ।
केचिन्नित्यप्रकाशाढ्यास्तथा शीलितजन्तवः ॥ २८ ॥
केचिन्मशकसम्पूर्णा उदुम्बरफलश्रियः ।
नित्यं शून्यान्तराः केचिच्छून्यस्पन्दात्मजन्तवः ॥ २९ ॥
सर्गेण तादृशेनाऽन्ये पूर्णा येऽन्तर्धियामिह ।
कल्पनामपि नाऽऽयान्ति व्योमपूर्णाचलो यथा ॥ ३० ॥
तादृगम्बरमेतेषां महाकाशं ततं स्थितम् ।
आजीवितं प्रगच्छद्भिर्विष्ण्वाद्यैर्यन्न मीयते ॥ ३१ ॥

वाले पुराणों में वे भी ब्रह्मा के नियन्ता कहे गये हैं । कुछ ब्रह्माण्डों में मृग, पक्षी आदि जन्तु किसी के नियत्रण के बिना ही स्वच्छन्द रहते हैं ॥ २५ ॥

कुछ ब्रह्माण्ड विचित्र सृष्टि और विचित्र अधिपति-वाले हैं, कुछ ब्रह्माण्ड, प्राणियों के कर्म और वासनाओं के विलक्षण होने से एवं सृष्टिकर्ताओं की इच्छा और ज्ञान के विचित्र होने से, पशु-पक्षियों से ही भरे हैं, कुछ ब्रह्माण्ड केवल एकमात्र समुद्र से भरे हैं, कुछ जीव-जन्तुओं से शून्य हैं ॥ २६ ॥

कुछ ब्रह्माण्ड शिला के तुल्य निविड़ हैं, कुछ के अन्दर कीड़े हैं, कुछ में देवताओं का ही आवास है और कुछ में मनुष्य ही प्रचुर मात्रा में रहते हैं ॥ २७ ॥

कुछ कभी नष्ट न होने वाले अन्धकार से आवृत हैं, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि उल्लुओं का अँधेरे में दर्शन व्यवहार देखा जाता है; कुछ सदा प्रकाश से पूर्ण है, उनमें वैसे ही प्राणी दृष्ट होते हैं ॥ २८ ॥

कुछ गूलर के फल की तरह मच्छरों से परिपूर्ण है, कुछ ब्रह्माण्डों का मध्यभाग सदा शून्य रहता है, कुछ के जीव गति शून्य हैं ॥ २९ ॥

वैसी सृष्टि से पूर्ण कुछ दूसरे ब्रह्माण्ड आकाश से पूर्ण पर्वत के समान योगियों की सविकल्पक ज्ञान विषयता को भी प्राप्त नहीं होते है ॥ ३० ॥

आकाश से पूर्ण पर्वत के समान आकाश शून्य स्वभाव है और महाकाश तो वैसा विस्तृत है कि यदि विष्णु आदि अपनी आयु भर यह कितना बड़ा है, यह

प्रत्येकस्याऽण्डगोलस्य स्थितः कटकरत्नवत् ।
भूताकृष्टिकरो भावः पार्थिवः स्वस्वभावतः ॥ ३२ ॥
यः सर्वविभवोऽस्माकं धियां न विषयं ततः ।
तज्जगत्कथने शक्तिर्न ममाऽस्ति महामते ! ॥ ३३ ॥
भीमान्धकारगहने सुमहत्यरण्ये
नृत्यन्त्यदर्शितपरस्परमेव मत्ताः ।
यक्षा यथा प्रवितते परमाम्बरेऽन्त-
रेवं स्फुरन्ति सुबहूनि महाजगन्ति ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
विचित्रब्रह्माण्डकोटिवर्णनं नाम त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

जानने के लिए दौड़ें तो भी उसकी इयत्ता नहीं जान सकते ॥ ३१ ॥

अपने स्वभाव से ही वलय में जड़े हुए रत्न के समान प्रत्येक ब्रह्माण्ड गोलक की भूतों को आकृष्ट करने वाली एक प्रकार की शक्ति चारों ओर से व्याप्त कर स्थित हैं, इस कारण उनका विश्लेषण नहीं हो सकता है ॥ ३२ ॥

हे महामते ! जगत् के वर्णन के विषय में हमारी बुद्धि का जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम प्रदर्शित कर चुके हैं। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। उसके वर्णन में हमारी शक्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

भीषण अन्धकार से व्याप्त बड़े भारी अरण्य में अविद्या से आवृत्त ब्रह्म में बहुत से महाजगत् वैसे ही स्फुरित होते हैं जैसे मदोन्मत्त भूतगण परस्पर एक दूसरे के स्वरूप को देखे बिना नृत्य करते हैं ॥ ३४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में विचित्र ब्रह्माण्डकोटिवर्णन नामक कुसुमलता का तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३० ॥

३१

वसिष्ठ उवाच

एवमाकलयन्त्यौ ते निर्गत्य जगतो निजात् ।
अन्तःपुरं ददृशतुर्झटित्येव विनिर्गते ॥ १ ॥
स्थितं पुष्पभरापूर्णं महाराजमहाशवम् ।
शवपार्श्वोपविष्टान्तश्चित्तलीलाशरीरकम् ॥ २ ॥
घनरात्रितयाऽल्पाल्पमहानिद्राजनाकुलम् ।
धूपचन्दनकर्पूरकुङ्कुमामोदमन्थरम् ॥ ३ ॥
तमालोक्याऽपरं भर्तुः संसारं गन्तुमादृता ।
पपात लीला सङ्कल्पदेहेनाऽत्रैव तत्क्षमः ॥ ४ ॥
विवेश भर्तुः संङ्कल्पसंसारे किञ्चिदाततम् ।
संसारावरणं भित्वा भित्वा ब्रह्माण्डकर्परम् ॥ ५ ॥
प्राप सार्द्धं तया देव्या पुनरावरणान्वितम् ।
ब्रह्माण्डमण्डपं स्फारं तं प्रविश्य तथा जवात् ॥ ६ ॥
ददर्श भर्तुः सङ्कल्पजगज्जम्बालपल्वलम् ।
सिंहीव शैलकुहरं तमोजलदपङ्किलम् ॥ ७ ॥

३१

अपने पूर्वजन्म के संसार से निकलकर पूर्वोक्त रीति से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की विचित्रता को देखती हुई वे उनमें से किसी ब्रह्माण्ड में शीघ्र ही प्रविष्ट हुईं। वहाँ उन्होंने अन्तःपुर को देखा, वहाँ वे चिरकाल नहीं रहीं, शीघ्र ही चली आईं ॥ १ ॥

उस अन्तःपुर में पुष्पराशि से परिपूर्ण महाराज का महान् शव रक्खा था, शव के पास समाधि में आरूढ चित्तवाला लीला का शरीर बैठा था ॥ २ ॥

शोक के कारण रात्रि के बहुत दीर्घ होने से उसमें लोग थोड़ी-थोड़ी सुषुप्ति से युक्त थे, धूप, चन्दन, कपूर और कुङ्कुम की सुगन्धि से वह भरा था ॥ ३ ॥

उसको देखकर पति के दूसरे संसार में जाने की लीला की इच्छा हुई, लीला सकल्पमात्र देह से अन्तःपुर में ही स्थित पूर्वोक्त मण्डपाकाश में पहुँची ॥ ४ ॥

संसाररूप आवरण को तोड़कर और ब्रह्माण्ड के खप्पर को फोड़कर कुछ विस्तृत पति के संकल्पसंसार में प्रविष्ट हुई ॥ ५ ॥

उस देवी के साथ फिर आवरणों से युक्त विस्तीर्ण ब्रह्माण्डमण्डप में वेग से पहुँची और उसमें प्रवेश कर वैसे ही उसने अपने पतिदेव के सङ्कल्पजगत् को, जो कीचड़ से भरी हुई तलैया के समान था वैसे ही देखा जैसे सिंहिनी अन्धकार और मेघों से पङ्कयुक्त स्थित पर्वत की गुफा को देखती है ॥ ६, ७ ॥

देव्यौ विविशतुस्तत्ते व्योम व्योमात्मिके जगत् ।
ब्रह्माण्डेऽन्तर्यथा पक्वं मृदु बिल्वं पिपीलिके ॥ ८ ॥
तत्र लोकान्तराण्यद्रीनन्तरिक्षमतीत्य ते ।
प्रापतुर्भूतलं शैलमण्डलाम्भोधिसङ्कुलम् ॥ ९ ॥
मेरुणाऽलङ्कृतं जम्बूद्वीपं नवदलोदरम् ।
गत्वाऽथ भारते वर्षे लीलानाथस्य मण्डलम् ॥ १० ॥
एतस्मिन्नन्तरे तस्मिन्मण्डले मण्डितावनौ ।
चक्रेऽवस्कन्दनं कश्चित् सामन्तोद्रिक्तभूमिपः ॥ ११ ॥
तेन संग्रामसंरम्भे प्रेक्षार्थं समुपागतैः ।
त्रैलोक्यभूतैस्तद्व्योम बभूवात्यन्तसङ्कटम् ॥ १२ ॥
अशङ्कितागते तत्ते देव्यौ ददृशतुर्नभः ।
नभश्चरगणाक्रान्तमम्बुदैरिव मालितम् ॥ १३ ॥
सिद्धचारणगन्धर्वगणविद्याधरान्वितम् ।
शूरग्रहणसंरब्धस्वर्गलोकाप्सरोवृतम् ॥ १४ ॥

चिदाकाशमय उन दोनों देवियों ने ब्रह्माण्ड के मध्यवर्ती शून्यात्मक जगत् में, वैसे ही प्रवेश किया जैसे चींटियाँ पके हुए कोमल बिल्वफल में प्रवेश करती है ॥ ८ ॥

वहाँ पर लोकों, अनेकों पर्वतों और आकाश को पार कर वे विविध पर्वतों और समुद्रों से परिपूर्ण भूमितल पर आईं ॥ ९ ॥

इसके बाद मेरु पर्वत से अत्यन्त अलङ्कृत और नौ खण्डों में विभक्त जम्बूद्वीप में जाकर भारतवर्ष में लीला के स्वामी के राज्य में पहुँचीं ॥ १० ॥

इसी मध्य में पृथिवी के भूषणस्वरूप उस राज्य में किसी अपने सहायक सहायकों शक्ति सम्पन्न एक राजा ने (सिन्धुराज ने), आक्रमण किया था ॥ ११ ॥

सिन्धुराज के साथ संग्राम छिड़ने पर उसको देखने के लिए आये हुए तीनों लोकों से आए हुए जीवों के द्वारा आकाश में बहुत भीड़ हो गई थी ॥ १२ ॥

आशङ्का रहित आई हुईं उन देवियों ने आकाशचारी सिद्ध-गन्धर्वों से आक्रान्त उस आकाश को मेघमण्डल से घिरे हुए के समान देखा ॥ १३ ॥

वह सिद्ध, चारण, गन्धर्व और विद्याधरगण से समन्वित और शूर-वीर पुरुषों के ग्रहण में उतावली करने वाली स्वर्गलोक की अप्सराओं से आवृत था ॥ १४ ॥

उन्मत्त भूत, राक्षस और पिशाच रुधिर और मांस के लिए बैठे थे, इस प्रकार पुष्पवृष्टि हो रही थी कि विद्याधरों की स्त्रियों के हाथ भर गये थे ॥ १५ ॥

रक्तमांसोन्मुखोन्मत्तभूतरक्षःपिशाचकम् ।
पुष्पवृष्टिभिरापूर्णहस्तविद्याधराङ्गनम् ॥ १५ ॥
वेतालयक्षकूष्माण्डैर्द्वन्द्वालोकनसादरैः ।
आयुधापातरक्षार्थं गृहीताद्रितटैर्वृतम् ॥ १६ ॥
अस्त्रमार्गनभोभागविद्रवद्भूतमण्डलम् ।
आहोपुरुषिकाक्षुब्धप्रेक्षकामोदनोद्भटम् ॥ १७ ॥
आसन्नभीमसंग्रामकिंवदन्तीपरस्परम् ।
लीलाहासविलासोत्कसुन्दरीधूतचामरम् ॥ १८ ॥
धर्माप्रेक्ष्यप्रयुक्ताग्र्यमुनिस्वस्त्ययनस्तवम् ।
सम्पन्नानेकलोकेशवनितावसरस्तवम् ॥ १९ ॥
स्वर्गार्हशूरानयनव्यग्रेन्द्रभटभासुरम् ।
शूरार्थालङ्कृतोत्तुङ्गलोकपालाख्यवारणम् ॥ २० ॥
आगच्छच्छूरसन्मानोन्मुखगन्धर्वचारणम् ।
शूरोन्मुखामरस्त्रैणकटाक्षेक्षितसङ्कटम् ॥ २१ ॥

अस्त्र-शस्त्रों के आघात से अपनी रक्षा करने के लिए पर्वत के तटों पर बैठे हुए युद्ध को देखने के अभिलाषी वेताल, यक्ष और कूष्माण्डों से वह परिवृत था ॥ १६ ॥

अस्त्रों के मार्गभूत समीपवर्ती आकाश भाग से अपनी रक्षा के लिए सभी भूतगण भाग रहे थे और पौरुषाभिमान से क्षुब्ध योद्धागण दर्शकों का आमोद-प्रमोद कर रहे थे ॥ १७ ॥

परस्पर निकटवर्ती भीषण संग्राम की सभी लोक चर्चा कर रहे थे, क्रीड़ा में हास और विलासों में उत्कण्ठित सुन्दरियों ने लीला अपने हाथों में चँवर ले रक्खे थे ॥ १८ ॥

धार्मिकों में अग्रणी होने से अन्य लोगों के दृष्टि-गोचर न हो सकने वाले, जगत् के कल्याण के लिए योग बल से श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा देवताओं के स्तोत्र वहां पढ़े जा रहे थे, अनेक लोकपालों द्वारा अप्सराओं से सम्बन्ध रखने वाली अवसरोचित स्तुतियाँ की जा रही थीं ॥ १९ ॥

स्वर्ग में स्थान पाने योग्य शूरवीर पुरुषों को लाने में व्यग्र इन्द्र के भटों से वह चमक रहा था, उसमें शूरवीर पुरुषों के लिए ऊँचे-ऊँचे लोकपाल नामक ऐरावत आदि हाथी सजाए गये थे ॥ २० ॥

स्वर्ग की ओर आ रहे रणभूमि में आहत शूरों के आगत-स्वागतरूप सम्मान में गन्धर्व और चारण सन्नद्ध—तत्पर थे, वहां शूरवीर पुरुषों पर आकृष्ट होने वाली

वीरदोर्दण्डकाश्लेषलम्पटस्त्रीगणाकरम् ।
शुक्लेन शूरयशसा चन्द्रीकृतदिवाकरम् ॥ २२ ॥

श्रीराम उवाच

भगवञ्छूरशब्देन कीदृशः प्रोच्यते भटः ।
स्वर्गालङ्करणं कः स्यात् को वा डिम्भाहवो भवेत् ॥२३॥

वसिष्ठ उवाच

शास्त्रोक्ताचारयुक्तस्य प्रभोरर्थेन यो रणे ।
मृतो वाऽथ जयी वा स्यात् स शूरः शूरलोकभाक् ॥२४॥
अन्यथा प्राणिकृत्ताङ्गो रणे यो मृतिमाप्नुयात् ।
डिम्भाहवहतः प्रोक्तः स नरो नरकास्पदम् ॥ २५ ॥
अयथाशास्त्रसञ्चारवृत्तेरर्थेन युध्यते ।
यो नरस्तस्य सङ्ग्रामे मृतस्य निरयोऽक्षयः ॥ २६ ॥
यथासंभवशास्त्रार्थलोकाचारानुवृत्तिमान् ।
युध्यते तादृशश्चैव भक्तः शूरः स उच्यते ॥ २७ ॥
गोरर्थे ब्राह्मणस्यार्थे मित्रस्यार्थे च सन्मते ।
शरणागतयत्नेन स मृतः स्वर्गभूषणम् ॥ २८ ॥
परिपाल्य स्वदेशैकपालने यः स्थितः सदा ।
राजा मृतास्तदर्थं ये ते वीरा वीरलोकिनः ॥ २९ ॥
प्रजोपद्रवनिष्ठस्य राज्ञोऽराज्ञोऽथवा प्रभोः ।
अर्थेन ये मृता युद्धे ते वै निरयगामिनः ॥ ३० ॥
ये हि राज्ञामराज्ञां वाऽप्ययथाशास्त्रकारिणाम् ।
रणे म्रियन्ते छिन्नाङ्गास्ते वै निरयगामिनः ॥ ३१ ॥
धर्म्यं यथा तथा युद्धं यदि स्यात्तर्हि संस्थितिः ।
नाशयेयुरलं मत्ताः परलोकभयोज्झिताः ॥ ३२ ॥
यत्र यत्र हतः शूरः स्वर्ग इत्यवशोक्तयः ।
धर्मे योद्धा भवेच्छूर इत्येवं शास्त्रनिश्चयः ॥ ३३ ॥

अप्सराएँ कटाक्षों से अच्छे-अच्छे योद्धाओं को देख रही थीं ॥ २१ ॥

वह वीर पुरुषों के बाहु-दण्डों का आलिङ्गन करने में लुब्ध सहस्त्रों स्त्रियों से भरा था, शूर पुरुषों के शुभ्र यश ने वहां पर सूर्य को चन्द्रमा बना दिया था, अर्थात् यश की शीतलता और दीप्ति से उष्णता के दब जाने से सूर्य चन्द्र-सा मालूम होता था ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा :—भगवन् ! शूर शब्द कैसे भटका वाचक है ? कौन भट स्वर्ग का अलङ्कार है और कौन डिम्भाहव भट है ? अर्थात् केवल रण के समय अपनी डींग हाँकने वाले तथा असत् स्वामी का साथ देकर युद्ध के लिए सन्नद्ध होते हैं वे ही डिम्भाहव हैं ॥ २३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—शास्त्रों में प्रतिपादित सदाचार से युक्त स्वामी के लिए जो रणभूमि में युद्ध करता है, वह चाहे रण में मृत्यु वरण करे या विजयी हो, वह शूर है और शूरोचित लोक का पात्र है ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त विधि से विपरीत यानी असदाचारी प्रभु के लिए जिसने प्राणियों का अङ्गच्छेदन करने वाला रण से मरता है तो वह डिम्भाहव में मारा गया कहलाता है और वह नरकगामी होता है अर्थात् जो धर्म-युद्ध में धर्म का पालन करता है उस योद्धा का स्वर्गारोहण होता है ॥ २५ ॥

जिस स्वामी का आचरण शास्त्रानुकूल नहीं है, उसके लिए जो पुरुष रणभूमि में युद्ध करता है, उसकी संग्राम-भूमि में मृत्यु होने पर भी उसको अक्षय नरक की ही प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

जो यथासंभव शास्त्र प्रतिपादित विधि के अनुकूल और लोकाचार का अनुवर्तन आचरण करने वाला होकर रण में युद्ध करता है और अर्थात् सत् सदाचारी स्वामी का भक्त हो, वह शूर कहा जाता है ॥ २७ ॥

हे सन्मते ! गऊ की रक्षा लिए, ब्राह्मण की रक्षा के लिए, शरणागत की रक्षा के लिए युद्धरूप उपाय द्वारा जो मरता है, वह स्वर्ग का आभूषण है ॥ २८ ॥

अवश्य परिरक्षणीय अपने देश की रक्षा के लिए जो राजा सदा उद्यमी रहता है, उस राजा की विजय के लिए जो युद्ध करते हैं, वे वीर हैं और उन्हें वीरों का लोक प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

प्रजाओं के प्रति सदा उपद्रव के लिए तत्पर राजा अथवा राजा से भिन्न जमींदार आदि प्रभु के लिए जो युद्ध में करते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ३० ॥

शास्त्रानुकूल आचरण से रहित और प्रजा को पीड़ित करनेवाले राजाओं अथवा राजाओं से भिन्न मालिकों की विजय के लिए जो रण में छिन्न-भिन्न शरीर होकर मरते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी होते हैं ॥ ३१ ॥

धर्मपूर्वक युद्ध होनेपर युद्ध में मृत योद्धा की स्वर्ग में स्थिति होती है । यदि अधर्म्य युद्ध से मारे गये पुरुष को स्वर्ग प्राप्त हो, तब तो मत्त पुरुष परलोक के भय से रहित होकर अत्यन्त अधर्म्य युद्ध से भी दूसरे लोगों को नष्ट कर देंगे ॥ ३२ ॥

'शूर जहाँ-जहाँपर भी मारा जाय, वहाँ उसे पद पदपर स्वर्ग है' इत्यादि अवश लोगों की उक्तियाँ हैं,

सदाचारवतामर्थं खड्गधारां सहन्ति ये ।
ते शूरा इति कथ्यन्ते शेषा डिम्भाहवाहताः ॥ ३४ ॥
तेषामथ रणे व्योम्नि तिष्ठन्त्युत्कणिताशयाः ।
शूरीभूतमहासत्त्वदयितोक्तिसुराङ्गनाः ॥ ३५ ॥
विद्याधरीमधुरमन्थरगीतिगर्भं
मन्दारमाल्यवलनाकुलकामिनीकम् ।
विश्रान्तकान्तसुरसिद्धविमानपङ्क्ति
व्योमोत्सवोच्चरितशोभमिवोल्ललास ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने युद्धप्रेक्षिकास्थिताम्बरवर्णनं नाम एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

किन्तु शास्त्र का तो यही निश्चय है कि धर्म के लिए युद्ध करनेवाला पुरुष शूर है ॥ ३३ ॥

सदाचार सम्पन्न प्रभुओं के लिए खड्ग की धार को सहन करने वाले शूर कहे जाते हैं। अतिरिक्त इसके डिम्भाहव में मारे गये कहे जाते हैं ॥ ३४ ॥

रणभूमि में शूरता को प्राप्त महाबलशाली को प्रिय कहनेवाली सुराङ्गनाएँ उनके लिए आकाश में उत्कण्ठित होकर खड़ी रहती हैं ॥ ३५ ॥

विद्याधरों की अङ्गनाओं के मधुर और मन्द गायन से मुखर मदार के फूलों की मालाओं के गूँथने में व्यग्र कामिनियों से समन्वित और जिसमें देवता और सिद्धों के सुन्दर-सुन्दर विमानों की पङ्क्ति विश्राम ले रही थी, ऐसा आकाश, उत्सव के लिए बहुत बढ़ी-चढ़ी शोभा से युक्त अतिशय शोभित था ॥ ३६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में युद्धप्रेक्षिकास्थिताम्बरवर्णन नामक कुसुमलता का इकतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३१ ॥

३२

वसिष्ठ उवाच

अथ वीरवरो[1]त्कण्ठनृत्यदप्सरसि स्थिता ।
लीलाऽवलोकयामास व्योम्नि विद्याम्विताऽवनौ ॥ १ ॥
स्वराष्ट्रमण्डले भर्तृपालिते बलमालिते ।
कस्मिंश्चिद्विततारण्ये द्वितीयाकाशभीषणे ॥ २ ॥
सेनाद्वितयमाक्षुब्धं सौम्याब्धिद्वितयोपमम् ।
महारम्भघनं मत्तं स्थितं राजद्वयान्वितम् ॥ ३ ॥
युद्धसज्जं सुसन्नद्धमिद्धमग्निमिवाऽद्भुतम् ।
पूर्वप्रहारसम्पातप्रेक्षाक्षुब्धाक्षिलक्षितम् ॥ ४ ॥
उद्यतामलनिस्त्रिंशधारासारवहज्जनम् ।
कचत्परश्वधप्रासभिन्दिपालर्ष्टिमुद्गरम् ॥ ५ ॥
गुरुत्मत्पक्षविक्षुब्धवनसंघातकम्पितम् ।
उद्यद्दिनकरालोकचञ्चत्कनककङ्कटम् ॥ ६ ॥

३२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—हे सौम्य ! इसके बाद शूर-वीर प्रिय के लिए उत्कण्ठापूर्वक नृत्य कर रही अप्सराओं से पूर्ण आकाश में स्थित सरस्वतीदेवी से युक्त लीला ने पृथिवी में अपने पतिदेव के द्वारा अपने राष्ट्रमण्डल में सुरक्षित, चतुरङ्गिणी सेना से परिवृत्त, दूसरे आकाश के समान भीषण किसी विशाल वन में दो महासागरों के सदृश परस्पर सब प्रकार से क्षुब्ध दो सेनाओं को देखा। वे मत्त सेनाएँ महान् कार्योद्योगों से युक्त थीं, दोनों पक्षों के दो राजा उनमें विद्यमान थे, युद्ध के लिए वे सुसज्जित थीं, कवच, शिरस्त्राण, हरवा हथियार से लैस थीं, अतः देदीप्यमान अग्नि के समान वे बड़ी अद्भुत प्रतीत होती थीं, पहले प्रहार-पात को देखने के लिए क्षुब्ध असंख्य नेत्र उन्हें देख रहे थे ॥ १–४ ॥

दोनों सेनाओं में प्रहार के लिए उठाई गई चमचमाती हुई तलवार-धाराएँ ही मानो जलधाराएँ हैं उन्हें लोग सह रहे थे, कुल्हाड़े, बर्छे, बन्दूक, तोप और मुद्गर आदि अस्त्रशस्त्र चमचमा रहे थे ॥ ५ ॥

गरुड के परों से विक्षुब्ध वनसंघात के समान दोनों सेनाएं चञ्चल थीं, उनमें उदयकाल के सूर्य के सुनहले आलोक (आपात) के समान सोने के कवच देदीप्यमान हो रहे थे ॥ ६ ॥

---

१. 'वरोत्कण्ठा' इति पाठान्तरम् ।

परस्परमुखालोककोपप्रोद्दामितायुधम् ।
अन्योन्यबद्धदृष्टित्वाच्चित्रं भित्ताविवार्पितम् ॥ ७ ॥
लेखामर्यादया दीर्घबद्धया स्थापितस्थिति ।
अनिवार्यमहासैन्यझाङ्काराश्रुतसंकथम् ॥ ८ ॥
पूर्वप्रहारस्मयतश्चिरं संशान्तदुन्दुभि ।
निबद्धयोधसंस्थाननिखिलानीकमन्थरम् ॥ ९ ॥
धनुर्द्वितयमात्रात्मशून्यमध्यैकसेतुना ।
विभक्तं कल्पवातेन मत्तमेकार्णवं यथा ॥ १० ॥
काये सङ्कटसंरम्भचिन्तापरवशेश्वरम् ।
विरटद्भेककण्ठत्वभङ्गुरातुरहृद्गुहम् ॥ ११ ॥
प्राणसर्वस्वसंत्यागसोद्योगासंख्यसैनिकम् ।
कर्णाकृष्टशरौघौघत्यागोन्मुखधनुर्धरम् ॥ १२ ॥

भट और प्रतिभट के द्वारा एक दूसरे के मुख को देखने से उत्पन्न हुए कोप से परस्पर अस्त्र-शस्त्र उठाये गये थे, भट और प्रतिभट एक दूसरे के ऊपर टकटकी लगाकर देखने के कारण भीत में लिखे गये चित्र से मालूम होते थे ॥ ७ ॥

खूब दूर तक खींची हुई दो सेनाओं के बीच की रेखारूपी सीमा से दोनों सेनाओं की स्थिति नियत कर दी गई थी, बड़ी भारी दो सेनाओं में एकत्रित भटों के अनिवार्य हल्ले-गुल्ले के कारण लोगों को परस्पर आलाप सुनाई नहीं देता था ॥ ८ ॥

राजा की आज्ञा के बिना पहले वार न हो, इस शङ्का के कारण बहुत देरी तक दोनों सेनाओं में रण-दुन्दुभी शान्त थी, प्रायः अपने-अपने स्थान में श्रेणीबद्ध योद्धारूपी प्रधान अवयव वाली सम्पूर्ण सहायक सेनाओं से दोनों सेनाएँ परिपूर्ण थीं ॥ ९ ॥

वे दोनों सेनाएँ केवल धनुष परिमाण के जनशून्य मध्यभागरूपी एक पुल से वैसे ही विभक्त थीं, जैसे प्रलय-काल के महावायु से विक्षुब्ध एकमात्र समुद्र दो विभागों में विभक्त होता है ॥ १० ॥

उसमें दोनों पक्षों के राजा अपने शरीर पर वेग से उपस्थित हुए संकट की चिन्ता से ग्रस्त थे, दोनों सेनाओं में डरपोक लोगों की हृदयरूपी गुफा बोल रहे मेढ़क के कण्ठ की त्वचा के समान फरफरा रही थी ॥ ११ ॥

दोनों पक्षों में असंख्य सैनिक प्राणरूपी सर्वस्व का त्याग करने के लिए उद्यत थे, कान तक खींचे गये बाण समूह रूपी प्रवाह को छोड़ने के लिए धनुर्धारी तत्पर थे, प्रहार करने की आज्ञा की प्रतीक्षा में असंख्य सैनिक चित्रवत् निश्चल खड़े थे ॥ १२ ॥

प्रहारपातसम्प्रेक्षानिष्पन्दासंख्यसैनिकम् ।
अन्योन्योत्कण्ठकाठिन्यभरभ्रुकुटिसङ्कटम् ॥ १३ ॥
परस्परसुसङ्घट्टकटुटङ्कारकङ्कटम् ।
वीरयोधमुखादग्धभीरुप्रेप्सितकोटरम् ॥ १४ ॥
मिथःसंस्थानकालोकमात्रासंदिग्धजीवितम् ।
समस्ताङ्गरुहासक्तप्रांशुवृद्धेभमानवम् ॥ १५ ॥
पूर्वप्रहारसंप्रेक्षाव्यग्रप्राणतया तथा ।
संशान्तकल्लोलरवं निद्रामुद्रपुरोपमम् ॥ १६ ॥
संशान्तशङ्खसङ्घाततूर्यनिर्ह्रादिदुन्दुभि ।
भूतलाकाशसंलीनसर्वपांसुपयोधरम् ॥ १७ ॥
पलायनपरैः पश्चात्त्यक्तमङ्गु[1]लमण्डलम् ।
विसारिमकरव्यूहमत्स्यसंख्याब्धिभासुरम् ॥ १८ ॥

परस्पर भट और प्रतिभट में युद्ध की उत्कण्ठा से उत्पन्न अतिशय क्रोध से बँधी हुई भ्रुकुटियों से दोनों सेनाएँ दुष्प्रेक्ष्य हो गई थीं ॥ १३ ॥

भट और प्रतिभट के परस्पर अभिघात से कवचों की कर्णकटु टंकारध्वनि हो रही थी, वीर योद्धाओं की मुखाग्नि से जले हुए से अतएव काले मुखवाले डरपोक लोग छिपने के लिए पहाड़ों की खोह ढूँढ रहे थे ॥ १४ ॥

परस्पर युद्ध के दर्शनपर्यन्त जिनका जीवन निश्चित था, दोनों पक्षों में हाथी और मनुष्य खड़े हुए रोंगटों से व्याप्त होने के कारण ऊपर की ओर ऊँचे और अगल-बगल बढ़े हुए थे ॥ १५ ॥

प्रथम प्रहार की आज्ञा की प्रतीक्षा में व्यग्र चित्त होने से दोनों सेनाओं में कोलाहल का शब्द शान्त था, अतएव वे जिसके नरनारी गाढ़ नींद में सोये हैं, ऐसे नगर के तुल्य प्रतीत होती थीं ॥ १६ ॥

शङ्खों, तुरहियों और दुन्दुभियों का शब्द शान्त था, सब धूलिकण और बादल क्रमशः भूमितल और आकाश में लीन थे, भागने में तत्पर डरपोक लोगों ने सेना के अलङ्काररूपी शूरवीरों को पीछे छोड़ दिया था ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े मगरों का और मछलियों का जिसमें युद्ध हो रहा हो, सागर की नाईं उन सेनाओं की छवि छिटक रही थी ॥ १८ ॥

1. 'मङ्गलमण्डलं' इति पाठान्तरम्

पताकामञ्जरीपुञ्जविजिताकाशतारकम् ।
हास्तिकोत्तम्भितकरकाननीकृतखान्तरम् ॥ १९ ॥
तरत्तरलभापूरसपक्षसकलायुधम् ।
घमद्घमितिशब्दैश्च श्वासोत्थैर्ध्मातखान्तरम् ॥ २० ॥
चक्रव्यूहकराक्रान्तदुर्वृत्तसुरभासुरम् ।
गरुडव्यूहसंरम्भविद्रवन्नागसञ्चयम् ॥ २१ ॥
श्येनव्यूहविभिन्नाग्रसन्निवेशोत्तमध्वनि ।
अन्योन्यास्फोटनिःशेषप्रपतद्भूरिवृन्दकम् ॥ २२ ॥
विविधव्यूहविन्यासवान्तवीरवरारवम् ।
करप्रतोलनोल्लासमत्तमुद्गरमण्डलम् ॥ २३ ॥
कृष्णायुधांशुजलदश्यामीकृतदिवाकरम् ।
अनिलाधूतपल्यूलसूत्कृताभशरध्वनि ॥ २४ ॥
अनेककल्पकल्पाग्रसवृन्दमिव संस्थितम् ।
प्रलयानिलसंक्षुब्धमेकार्णवमिवोत्थितम् ॥ २५ ॥
सद्यश्छिन्नं महामेरोः पक्षद्वयमिव स्फुरत् ।
क्षुब्धमारुतनिर्धूतमिव कज्जलपर्वतम् ॥ २६ ॥
पातालकुहरात् क्षुब्धमन्धकारमिवोत्थितम् ।
लोकालोकमिवोन्मत्तनृत्यलोलसत्तटम् ॥
महानरकसङ्घातं भित्त्वाऽवनिमिवोत्थितम् ॥ २७ ॥
आलोलकुन्तमुसलासिपरश्वधांशु-
श्यामायमानदिवसातपवारिपूरैः ।
एकार्णवं भुवनकोशमिवाऽचिरेण
कर्तुं समुद्यतमगाधमनन्तपूरैः ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आहवारम्भणं नाम द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

पताकाओं में लगी हुई चमकदार झालरों ने आकाश के तारों को जीत लिया था, झुण्ड के झुण्ड हाथियों द्वारा ऊपर उठाई गई सूँड़ों ने आकाश के मध्य को वन बना डाला था ॥ १९ ॥

आकाश में तैर रहीं चञ्चल प्रकाशराशियों से सकल शस्त्र-अस्त्र पूँछ से युक्त-से हो रहे थे, दुन्दुभि आदि के 'घम्, घम्' शब्दों से और मुखवायु से होनेवाले शङ्ख आदि के शब्दों से दोनों सेनाओं का आकाशमण्डल मुखरित था ॥ २० ॥

कहींपर चक्राकार व्यूह का निर्माण करनेवाले पुरुषों से, दुर्दान्त दैत्योंपर आक्रमण किये हुए देवताओं की नाई दोनों सेनाएँ देदीप्यमान थीं, कहींपर उनमें गरुड़व्यूह के निर्माण से सर्पों के समूह या हाथियों के झुण्ड वेग के साथ भाग रहे थे ॥ २१ ॥

श्येन के व्यूह से प्रतिपक्षियों का सेनाशिविर दो भागों में विभक्त किया गया था अतएव दोनों सेनाओं में गगनभेदी कलकल शब्द हो रहा था, कहींपर परस्पर बाहुओं में जोर की टक्कर लगने के कारण वेग से सबके सब समूह भूमि में गिर रहे थे ॥ २२ ॥

व्यूहरचना से आगे निकले हुए वीरों के विविध सुन्दर शब्द हो रहे थे, कहींपर हाथों द्वारा उठाने से उत्पन्न हुए उल्लास से मत्त के समान मुद्गर नाच रहे थे ॥ २३ ॥

कहींपर काले-काले शस्त्रास्त्रों के किरणों से मानो उत्पन्न हुए मेघों ने सूर्य को तिरोहित कर किया था, कहींपर वायु द्वारा कँपाये गये पल्यूलों के घास विशेष के सूत्कार के = अनिल के संघर्ष से उत्पन्न सत् इत्याकारक शब्द के समान बाणों की ध्वनि हो रही थी ॥ २४ ॥

प्रलय करने में समर्थ अनेक पुष्करावर्त आदि मेघों से मानो दोनों सेनाएँ अग्रभाग में संघीभूत होकर स्थित थीं, वे दोनो सेनाएँ प्रलय के वायु से विक्षुब्ध एकमात्र सागर के समान उदित हुई थीं ॥ २५ ॥

तुरन्त काटने के कारण फड़फड़ाते हुए महामेरु के दो परों के समान थीं, अत्यन्त शोभायुक्त वायु से कँपाये गये कज्जल पर्वत के समान थी ॥ २६ ॥

पातालरूपी गर्त से निकले हुए क्षुब्ध अन्धकार की नाईं थीं; उन्मत्त नृत्य से चञ्चल और देदीप्यमान तटवाले लोकालोक पर्वत के समान था और पृथिवी को तोड़कर उदित हुए महानरकों के संघात के समान था ॥ २७ ॥

ऐसा प्रतीत होता था कि वे दोनों सेनाएँ चञ्चल वर्छे, मूसल, तलवार और कुल्हाड़ों की किरणों से काले के समान प्रतीत हो रहे दिवसातपरूपी जल के प्रवाह से सम्पूर्ण भुवनकोष को एकमात्र अगाध सागर बनाने के लिए उद्यत थे ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में आहवारम्भण नामक कुसुमलता का बत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३२ ॥

३३

श्रीराम उवाच

भगवन् ! युद्धमेतन्मे समासेन मनाग्वद ।
श्रुतिराह्लाद्यते श्रोतुर्यस्मादेताभिरुक्तिभिः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

अथ तत्रैव ते देव्यौ संग्रामं तमवेक्षितुम् ।
विमाने कल्पिते कान्ते रुद्धे रुरुहतुः स्थिरे ॥ २ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तत्र लीलेशः प्रतिपक्षतः ।
तमुत्सोढुमशक्तः सन् मुखव्यतिकरे रणे ॥ ३ ॥
प्रलयार्णवकल्लोल इवोत्पत्योद्‌भये भटे ।
जहौ सानाविव शिलां भटस्योरसि मुद्‌गरम् ॥ ४ ॥
अथ प्रवृत्तः प्रसभं प्रलयार्णवरंहसा ।
सेनयोः शस्त्रसंपातः किरन्ननलविद्युतः ॥ ५ ॥
तरत्तरलधाराग्ररेखाङ्कितनभस्तलः ।
ध्वनत्कणकणाशब्दमध्यलक्षिततटाङ्कृतिः ॥ ६ ॥
धीरहुङ्कारमिश्रोष्मघर्घरारवघस्मरः ।
प्रवृत्तशरधाराग्रभास्करार्चिर्वितानकः ॥ ७ ॥
नदत्कङ्कटटङ्कारपोड्डीनकणपावकः ।
परस्पराहतिच्छिन्नहेतिखण्डखगाम्बरः ॥ ८ ॥
वीरदोर्द्रुमसञ्चारवहद्वननभस्थलः ।
कोदण्डचक्रक्रेङ्कारद्रवद्वैमानिकाङ्गनः ॥ ९ ॥
महाहलहलारावभृङ्गीकृतघनध्वनिः ।
निर्विकल्पसमाधिस्थ इवैकघनतावशात् ॥ १० ॥
नाराचासारधाराग्रलूनशूरशिरस्करः ।
परस्परांससङ्घट्टरणत्कङ्कटसङ्कटः ॥ ११ ॥

३३

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—हे भगवन् ! कुछ संक्षेप से इस युद्ध का मुझसे वर्णन करें, क्योंकि इन वचनों से सुनने वालों के कानों को बड़ा आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—इसके बाद वे देवियाँ उस संग्राम को रखने के लिए वहींपर रोके गये मन से कल्पित सुन्दर स्थिर विमानपर चढ़ गई ॥ २ ॥

इसी बीच उन दोनों सेनाओं की परस्पर मुठभेड़ होनेपर लीला के पति के शत्रु की प्रलयकालीन सागर की तरङ्गों के समान निर्भय भट निकला। उसके व्यवहार को सहन करने में असमर्थ होकर उसके प्रहार करने की इच्छा करनेपर लीला के पूर्वजन्म के पति राजा विदूरथ ने पर्वत के शिखरपर पत्थर के समान उसकी छातीपर मुद्‌गर से प्रहार किया ॥ ३, ४ ॥

इसके बाद दोनों सेनाओं में प्रलयकाल के सागर के वेग से अग्नि और बिजली की वृष्टि करता हुआ शस्त्र-संपात होने लगा ॥ ५ ॥

ऐसा घमासान युद्ध हुआ कि आकाश में तैर रहे अस्त्र-शस्त्रों की चञ्चल धार के अग्रभाग से आकाशमण्डल रेखाङ्कित-सा प्रतीत होता था, उसमें हो रहे कण-कण शब्द के बीच में धनुषों के टंकार का शब्द सुनाई देता था ॥ ६ ॥

धीर वीरों के हुंकार से मिलने के कारण अधिकाधिक गम्भीर होता हुआ उसका शब्द ग्रीष्म ऋतु के अन्त में होनेवाले मेघ के गर्जनशब्द को अपने में छिपा देता था, धनुषों से छूटी हुई बाणधारा के अग्रभाग में प्रतिबिम्बित सूर्य की किरणें उसमें वितान का काम दे रही थीं ॥ ७ ॥

बाण और तलवार के वारों आघातों से शब्दायमान कवचों से टंकार के साथ आग की चिनगारियाँ उड़ती थीं, रण-स्थल के आकाश में परस्पर आघात से छिन्न-भिन्न हुए तलवार आदि शस्त्रों के टुकड़े पक्षियों की भाँति उड़ रहे थे ॥ ८ ॥

वीरों की बाहुरूपी वृक्षों के संचार से युद्ध भूमि का नभस्तल ऐसा प्रतीत होता था, मानो उसमें चलने फिरने वाले बन घूम रहे हों। उसमें धनुषों की राशियों के टङ्कार से देवाङ्गनाएँ मारे भय के भाग रही थीं ॥ ९ ॥

बड़े भारी कोलाहल शब्द से मेघ के शब्द को भ्रमरों के गुञ्जन के समान छोटा कर दिया था, वैसे ही वह रणसंरम्भ भी बाह्यशब्द आदि का वैसे ही अनुभव नहीं करता था जैसे परमात्मभावापन्न होने से निर्विकल्प समाधिस्थ पुरुष बाह्यशब्द आदि का अनुभव नहीं करता है ॥ १० ॥

उसमें अर्द्धचन्द्राकार नोकवाले बाणों की लगातार वृष्टि से शूरवीरों के सिर और हाथ काटे गये थे, परस्पर के कन्धों की टक्कर से बज रहे कवचों से वह युद्धस्थल डरावना था ॥ ११ ॥

हुङ्कारहतहेत्युग्रसंघट्टकटुटाङ्कृतः ।
तरद्धारातरङ्गाभ्रदन्तुराशेषदिङ्मुखः ॥ १२ ॥

हेतिसंघट्टविक्षोभमुष्टिग्राह्यझणज्झणः ।
चिरमास्फोटकास्फोटलुठच्चटचटारवः ॥ १३ ॥

प्रवहत्खड्गसीत्कारज्वलत्कणसणध्वनि ।
सरच्छरभराध्वान्तशरत्खरखरारवः ॥ १४ ॥

धगद्धगितिविच्छिन्नकण्ठोत्थप्राणलोहितः ।
छिन्नबाहुशिरःखड्गखण्डर्निविवराम्बरः ॥ १५ ॥

कङ्कटोत्थस्फुरद्वह्निसटास्पृष्टशिरोरुहः ।
रणत्पतदसिव्रातमत्तपीनझणज्झणः ॥ १६ ॥

कुन्तकुण्ठितमातङ्गतरङ्गोत्तुङ्गलोहितः ।
दन्तिदन्तविनिष्पेषतारचीत्कारकर्कशः ॥ १७ ॥

शस्त्रों के भीषण संघट्ट से उत्पन्न कर्णकटु टंकार-ध्वनि वीरों के हुँकार से तिरस्कृत हो गई थी, खड्गधारा तरङ्गरूपी मेघों से उस युद्ध-भूमि के सभी दिङ्मुख कुछ ऊँचे से मालूम पड़ते थे ॥ १२ ॥

उस घमासन युद्ध में तलवार के प्रहार से शत्रु को क्रोध होने पर उसके सर को काटने के लिए प्रवृत्त हुए हाथ को सिर के न मिलने से झग्-झग् शब्द मुष्टि में पकड़ने के योग्य-सा होता था, वहां पर चिरकाल तक बाहुओं पर ताल ठोंकने वाले शूरवीर लोगों के ताल ठोंकने से चट-चट शब्द मानो गिर पड़ते थे ॥ १३ ॥

शीघ्रता से म्यान से निकल रही तलवारों को लोहे की म्यान के संघर्ष से उत्पन्न हुए सीत्कार शब्द से युक्त जल रहे स्फुलिङ्गों की सण् सण् ध्वनि होती थी, तेजी से लक्ष्य देश की ओर जा रहे लक्ष्य देश में जाकर फैलने वाले शरों की उसमें खर-खर ध्वनि हो रही थी ॥ १४ ॥

वीरों के कटे हुए कण्ठों से धग् धग् शब्द के साथ प्राण और खून निकल रहा था, कटे हुए बाहुओं, सिरों और तलवार के टुकड़ों से आकाश पट गया था ॥ १५ ॥

कवच में टक्कर लगने से निर्गत दीप्त अग्नि की जटातुल्य ज्वालाएँ वीरों के केशों का स्पर्श कर रही थीं, परस्पर टक्कर लगने से बज रहीं और कटकर गिर रहीं तलवारों का जो झण-झण शब्द हो रहा था ॥ १६ ॥

इन स्थितियों ने शूरों के चित्त को प्रफुल्लित और शरीर को रणोत्साह से दुगुना बना दिया था, बर्च्छों से छिन्न-भिन्न हाथियों के दाँतों के टूटने से हुए दीर्घतम चीत्कार शब्द से अत्यन्त भीषण प्रतीत होता था ॥ १७ ॥

महामुसलसम्पातपिष्टकष्टोद्धुरस्वरः ।
तरच्छूरशिरःपद्मप्रकाराच्छादिताम्बरः ॥ १८ ॥

व्योमन्यस्तभुजाहीन्द्रः पूर्णधूलिमयाम्बुदः ।
छिन्नहेतितरारब्धकेशाकेशिप्रतिक्रियः ॥ १९ ॥

नखानखिनिकृत्ताक्षिकर्णनासौष्ठकन्धरः ।
छिन्नायुधमहामल्लहेलोल्लालनलब्धभूः ॥ २० ॥

पतत्समदमातङ्गकम्पितोर्वीलुठद्भयः ।
रणद्रथरयोत्पन्नक्षरद्रक्तसरित्पथः ॥ २१ ॥

रजोरचितनीहारः कचत्प्रवहदायुधः ।
एकीकृतघनक्षोभसैन्यसागरगर्जितः ॥ २२ ॥

मत्तहासविलासेन मृत्युना परिचर्वितः ।
गर्विताद्रीन्द्रनागेन्द्रखर्विताम्भोदगर्जितः ॥ २३ ॥

महामुसल के प्रहार से चूर-चूर हुए लोगों की कष्टमय कातर हाहाकार ध्वनि हो रही थी, कटकर आकाश में तैर रहे शूरों के सिररूपी पद्मों के समूह से आकाश बिलकुल आच्छन्न था ॥ १८ ॥

कटकर आकाश में फेंकी गयीं वीरभुजाएँ ही उसमें सर्पराज थे और चारों ओर आच्छन्न धूलिमय ही मेघ थे, जिनके अस्त्र-शस्त्र कट गये थे, ऐसे पुरुषों द्वारा अस्त्र-शस्त्र के काटने का बदला चुकाने के लिए केशाकेशि युद्ध हो रहा था ॥ १९ ॥

परस्पर के नखों से आँखें, नाक, कान, ओठ और कन्धे नोचे जा रहे थे, जिन महामल्लों के अस्त्र कट चुके थे, वे क्रीडापूर्वक बाहुयुद्ध से विजय प्राप्त कर रहे थे ॥ २० ॥

शस्त्रों की चोट से गिर रहे मदोन्मत्त हाथियों से कंपाये गये घायल होने के कारण दौड़ने में समर्थ लोग पृथिवी में वेग से लोट रहे थे, शब्दायमान रथ के वेग से बने हुए मार्गों में क्षतविक्षत भटों के शरीर से निकल रहे खून की नदी बह रही थी ॥ २१ ॥

सेना के सञ्चार से उड़ी हुई धूलिओं से वहाँ पर चारों ओर कुहरा छा गया था, चमचमा रहे अस्त्र-शस्त्र चल रहे थे, एकत्रित प्रचुर कोपयुक्त सेनारूपी सागर का प्रतिक्षण गर्जन हो रहा था ॥ २२ ॥

उन्मत्त हास-मृत्यु विलास वाले से असंख्य भट चबाये जा रहे थे, मदोन्मत पर्वत-तुल्य विशालकाय गजराजों ने अपने गर्जन के सामने सागर के गर्जन को तुच्छ बना दिया था ॥ २३ ॥

वृक्षश्वभ्रतटीच्छन्नचक्रशक्त्यृष्टिमुद्गरः ।
शरोर्णातन्तुनीरन्ध्रघृष्टियोधाद्रिमेखलः ॥ २४ ॥

मेघविश्रान्तविच्छिन्नपताकापटचामरः ।
यन्त्रपाषाणचक्रौघदूरविद्रुतखेचरः ॥ २५ ॥

मरणव्यग्रकृत्ताङ्गयोधाक्रन्दातिघर्घरः ।
कुठाराघातसङ्घातविदलन्मस्तकव्रजः ॥ २६ ॥

दूरोड्डीनकचत्खड्गखण्डतारकिताम्बरः ।
शक्तिनिर्मुक्तशक्त्योघविभिन्नेभावृतावनिः ॥ २७ ॥

सैन्यव्याकुलवेताललललनोन्मुक्तमुद्गरः[1] ।
गगनोत्तम्भितोत्तुङ्गशूरतोमरतोरणः ॥ २८ ॥

भुशुण्डीभग्नखड्गौघखण्डालीव्योमकुन्तलः ।
कुन्तवेणुवनन्यस्ततापाम्बरकचच्छविः ॥ २९ ॥

वहां वृक्ष, गर्त और तटों के सहारे शत्रुओं पर प्रहार कर रहे लोगों को मारने के लिए छोड़े गये शक्ति तलवार और मुद्गर वृक्ष गर्त आदि में रुक जाते थे, योद्धारूपी पर्वत के मध्यभाग वाणरूपी मकड़ी के जालों से निरन्तर गूँथे हुए थे ॥ २४ ॥

मेघों के आक्रमणों से पताकाओं के वस्त्र और चँवर छिन्न-भिन्न हो गये थे, वहां क्षेपणी यन्त्रों से (एक प्रकार के गुलेलों से) फेंके गये पत्थरों और चक्रों से पक्षी आदि आकाशचारी बहुत दूर भाग गये थे ॥ २५ ॥

मरने के लिए छटपटा रहे बुरी तरह घायल योद्धाओं के कराहने से वहां तेज घर-घर शब्द हो रहा था, कुठारों के आघातों से योद्धाओं के मस्तक कट रहे थे ॥ २६ ॥

बहुत ऊँचे आकाश में उड़े हुए चमचमा रहे खड्गों के टुकड़ों से आकाश तारों से भरा-सा प्रतीत होता था, पूरे बल से छोड़े गये शक्ति नामक आयुधों के संघात से काटे गये हाथियों से भूमि पट गई थी ॥ २७ ॥

वहां सेना दर्शन से व्याकुल हुई वेतालों की स्त्रियाँ मुद्गर छोड़ रही थीं, आकाश में ऊँचे उठाये हुए शूर-वीरों के तोमर (गँड़ा से) तोरण माला-से प्रतीत होते थे, भुशुण्डी से छिन्न-भिन्न तलवारों के टुकड़ों का समूह आकाश का केश-समूह के समान मालूम होता था ॥२८॥

वहां पर देदीप्यमान भालों की छवि भालों के समूह-रूप वेणुवन में छोड़ी हुई वनाग्नि के सदृश आकाश में चमक रही थी ॥ २९ ॥

वहाँपर अपने सैनिकों की तलवार और छूरियों की कुशल वृष्टि से सन्तुष्ट हुए राजाओं द्वारा उनका सम्मान किया जा रहा था, शूलोंपर टँगे हुए अच्छे-अच्छे शूरों को ग्रहण करने के लिए अप्सराएँ उद्यमशील थीं ॥ ३० ॥

खड्गर्ष्टिवृष्टिसम्पुष्टराजपूजितसैनिकः ।
शूलोत्तम्भितसच्छूरग्रहणोद्यमिताप्सराः ॥ ३० ॥

गदातुषारविगलत्स्फुरिताङ्गदविङ्मुखः ।
प्रासप्रसभसम्पिष्टकष्टचेष्टतयोत्कटः ॥ ३१ ॥

चक्रक्रकचसञ्चारच्छिन्नाश्वनरवारणः ।
परशुव्रातसम्पातपतत्समदवारणः ॥ ३२ ॥

लकुटोल्लोडनोड्डीनप्रोड्डामरचटद्भटः ।
यन्त्रपाषाणसम्पातपिष्टकेतुरथद्रुमः ॥ ३३ ॥

करवालविलूनाग्रच्छत्रपङ्कजपाण्डुरः ।
क्षेपणक्षोभसङ्क्षीणसैन्यक्षोभोऽप्यलक्षणः ॥ ३४ ॥

कबन्धबन्धसन्नेतृपातसम्पिष्टपार्श्वगः ।
साङ्कुशाङ्कितसङ्घस्थवीरवारितवारणः ॥ ३५ ॥

हिमवृष्टि से गल रहे कमलों के तुल्य गदाओं के गिरने से भटों के मुँह गिर रहे थे, भालों से जबरन कुचल दिये गये भटों की दुःखप्रद चेष्टाओं से भीषण दृश्य हो रहा था ॥ ३१ ॥

चक्रों और आरों के प्रहार से घोड़े, मनुष्य और हाथी छिन्न-भिन्न किये गये थे, अनेक कुल्हाड़ों के वारों से मदोन्मत्त हाथियों का समूह गिर रहा था ॥ ३२ ॥

वहाँपर बड़ी-बड़ी लट्ठियों से गौओं की भाँति हाँकने से कोई भट छिप गये थे, कोई भाग रहे थे तथा वृक्ष, भीत और ढाल से अपने को ओझल कर रहे थे, क्षेपणी-यन्त्र से फेंके गये पत्थरों से रथों और वृक्षों में लगी हुई पताकाएँ चूर-चूर हो गई थीं ॥ ३३ ॥

तलवार से जिनके दण्ड काटे गये थे ऐसे छत्रों और वीरों के कर्णाभरण रूप कमलों से सारा रणस्थल सफेद था, अस्त्रों के क्षेपणजनित क्षोभ से सैन्यक्षोभ शान्त हो गया था, सैनिकों के क्षोभ की वहाँ कोई गिनती नहीं थी ॥ ३४ ॥

सिर कटनेपर भी चलनेवाले धड़ों के आलिङ्गनों से जीवित-रथनायकों के गिरने से नियन्त्रण न होने के कारण बे-राह चलनेवाले रथ आदि से आसपास चलने वाले अनेक भट पीरे जा रहे थे, अङ्कुशयुक्त पीलवानों के

१. "द्रुतमुग्दरः" इतिपाठान्तरम् ।

परशुव्रातसम्पातपतत्समदवारणः ।
पाशापाशिविशेषज्ञवीरातिपरिदेवनः ॥ ३६ ॥
क्षुरिकाकुक्षिनिर्भेदगलत्पद्मपतज्जनः ।
त्रिशूलवलनोन्मत्तशूरसङ्करनर्तनः ॥ ३७ ॥
धावद्धानुष्कसम्पूर्णकुल[1]कूजितकाकलिः ।
भिन्दिपालसटाटोपहुङ्काराररभटीनटः ॥ ३८ ॥
वज्रमुष्टिविनिष्पिष्टपिष्टसद्भटसङ्कटः ।
श्येनवद्व्योमपदवीप्रोत्पतत्पटुपट्टिशः ॥ ३९ ॥
अङ्कुशाकृष्टशूरेशरथेभहयकेतनः ।
हलाहलिहतालूनहेलाकुलकुलाचलः ॥ ४० ॥
सुतालोत्तालकुद्दालनिखातवनभूतलः ।
धनुर्द्विगुणमात्रास्तलूनलोकशिलावलिः ॥ ४१ ॥

अङ्कुश के आघात से आहत होनेपर भी युद्ध में प्रहार करनेवाले वीर हाथियों को भगा रहे थे ॥ ३५ ॥

परशुओं के वार से मदोन्मत्त असंख्य हाथी गिर रहे थे, पाशों के युद्ध में विशारद वीर चारों ओर अपने प्राणों की बाजी लगा रहे थे ॥ ३६ ॥

छूरों से पेट को काटने के कारण हृदयकमल गिर रहे थे और भट धराशायी हो रहे थे, त्रिशूलों के बल से उन्मत्त शूरवीर प्रबल भट नाच कर रहे थे ॥ ३७ ॥

दौड़ रहे धनुर्धारियों के सम्पूर्ण दल अस्फुट और मधुर गीत गा रहे थे, भिन्दिपाल के घायालों के आडम्बर और अहङ्कारपूर्ण वचनों से वहाँपर नट नृसिंहवेष का अनुकरण कर रहे थे ॥ ३८ ॥

मल्ल लोगों की वज्रमुष्टि से पीसे गये भटों से पीसे गये अन्य भटों का वहाँपर तांता लगा था, सुन्दर पट्टिश आकाशमार्ग में बाज की नाईं उड़ रहे थे ॥ ३९ ॥

शूर पुरुषों के रथों, हाथियों और घोड़ों की पताकाएँ अङ्कुशों खींची जा रही थीं, शत्रुओं के बीच में अचल रहनेवाले शूरवीर भट हलों द्वारा किये जा रहे युद्ध में मारे गये और काटे गए लोगों की अवहेलना करने में व्यग्र थे ॥ ४० ॥

बड़े-बड़े ताड़ के वृक्षों के समान ऊँचे पुरुषों से, जो कि हाथ में कुदारी लिए थे, वन-भूमियाँ खोदी गई और बराबर की गईं थीं, बाण फेंके जाने के स्थान से केवल दूने प्रदेश में युद्धसच्चार के सुविधा के लिए लोग हटा दिये थे, चट्टानों की पंक्तियाँ काट छाँटकर बराबर कर दी गईं थी ॥ ४१ ॥

क्रकचोभयपार्श्वेभच्छिन्नमत्तमतङ्गजः ।
सङ्ग्रामोलूखलक्षुण्णलोकतण्डुलमौसली ॥ ४२ ॥
अस्त्राभाशृङ्खलाजालबद्धसेनाविहङ्गमः ।
लीलासिवीरनिर्स्त्रिशनीतवादिगृहाङ्गणः ॥ ४३ ॥
गणशो नीयमानाग्र्यश्वापदारावनिर्भरः ।
नखाङ्गुष्ठखनत्पुङ्खप्रेङ्खारणरणारवैः ॥ ४४ ॥
मरिचैर्व्यञ्जनानीव रञ्जयन्सकलान् रवान् ।
सैन्य निक्षिप्तकुम्भाग्निदग्ध[3]योधैरितायुधः ।
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भाग्निदग्धयोधोज्झितायुधः ॥ ४५ ॥
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भस्थतप्ताङ्गारहतेक्षणः ।
सैन्यनिक्षिप्तकुम्भस्थविषवारिदलज्जनः ॥ ४६ ॥

आरों के दोनों बगलों से मत्त मातङ्ग काट डाले गये थे, संग्रामरूपी ऊखल-मूसल से भटरूपी धानों को कूटनेवाला मुसलयुद्ध चल रहा था ॥ ४२ ॥

वस्त्रों की कान्ति की शृङ्खलारूपी पक्षी फाँसे गये थे, चञ्चल तलवार को हाथ में लिए हुए वीरों की तलवारों से वे वैवस्वत के अर्थात् यमराज के घरों के आँगनों में पहुँचाये गये थे ॥ ४३ ॥

युद्धभूमि में गिरे हुए श्रेष्ठ भटों को गणशः ले जा रहे व्याघ्र आदि हिंसक जीवों के घोर गर्जन से रणस्थल पूर्ण था, नख जिसमें प्रधान हैं, ऐसे अंगुष्ठों से निकाले जा रहे बाणों के वेग के रण-रण शब्दों से, अन्य सम्पूर्ण शब्द वैसे ही रञ्जित हो रहे थे जैसे मिरिच से चटनी में जायका आ जाता है सैनिकों द्वारा घड़े में भरकर फेंकी गई अग्नि से तनिक जले हुए प्रतिपक्ष के भट शस्त्र-शस्त्र तानकर खड़े हो रहे थे। प्रति-पक्ष के सैनिकों द्वारा फेंकी गई अग्नि से अधिक जल जाने के कारण योद्धा अशक्ति से शस्त्रत्याग कर रहे थे ॥ ४४-४५ ॥

प्रतिपक्ष सैनिकों द्वारा घड़े में रखकर छोड़े गये तपे हुए अङ्गारों से भटों की आँखें जाती रहीं, उक्त सैनिकों द्वारा छोड़े गये घड़े में स्थित विषमिश्रित जल से भट गिर रहे थे ॥ ४६ ॥

१ "कृतकूजित" इति पाठान्तरम् ।
२. "सैनिक क्षिप्त" इति पाठान्तरम् ।
३. "कुम्भाग्निमृतयोधो जितायुधः" इति पाठान्तरम ।

नाराचवर्षवरवारिदवीरपूर-
मत्ताभ्रसम्भ्रमसनृत्तकबन्धबर्हो ।
कल्पान्तकाल इव वेगविवर्तमान-
मातङ्गशैलवलितो रणसम्भ्रमोऽभूत् ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामाणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सेनयोः प्रथम-पातवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

वर्षारूपी लोहे के बाणों की सुन्दर जल की वृष्टि करनेवाले वीरसंघरूपी मतवाले मेघों के विलास से कबन्धरूपी मोर नाच कर रहे थे और वेग से घूम रहे मत्त मातङ्गरूपी पर्वतों से परिवेष्टित वह संग्राम-संघर्ष प्रलय काल के समान प्रतीत होता था ॥ ४७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में लीलोपाख्यान में दोनों सेनाओं के प्रथमपातवर्णन नामक कुसुमलता का तैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३३ ॥

३४

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ राज्ञां युयुत्सूनां भटानां मन्त्रिणामपि ।
नभसः प्रेक्षकाणां च तत्रेमाः प्रोदगुर्गिरः ॥ १ ॥
चलत्पद्मं सर इव वहद्विहगमेव च ।
नभः शूरशिरःकीर्णं भाति तारकिताकृति ॥ २ ॥
पश्य रक्तपृषत्पूरसिन्दूरारुणमारुतैः ।
सान्ध्या इव विभान्त्येते मध्याह्नेऽम्बुदभानवः ॥ ३ ॥
किमिदं भगवन् ! व्योम पलालभरितं स्थितम् ।
नेदं पलालं वीराणामेते शरभराम्बुदाः ॥ ४ ॥
यावन्तो भुवि सिच्यन्ते रुधिरै रणरेणवः ।
तावन्त्यब्दसहस्राणि भटानामास्पदं दिवि ॥ ५ ॥
मा भैष्ट नैते निस्त्रिंशा लीलोत्पलदलत्विषः ।
अमी वीरावलोकिन्या लक्ष्म्या नयनविभ्रमाः ॥ ६ ॥
वीरालिङ्गनलोलानां नितम्बे सुरयोषितम् ।
मेखलाः शिथिलीकर्तुं प्रवृत्तः कुसुमायुधः ॥ ७ ॥
लसद्भुजलतालोला रक्तपल्लवपाणयः ।
मञ्जरीमत्तनयना मध्वामोदसुगन्धयः ॥ ८ ॥
गायन्त्यो मधुरालापैर्नन्दनोद्यानदेवताः ।
तवाऽऽगमनमाशङ्क्य प्रवृत्ताः परिनर्तितुम् ॥ ९ ॥

३४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :— इसके बाद युद्धलिप्त राजाओं, युद्धेच्छु योद्धाओं, मन्त्रियों और आकाशमार्ग से संग्राम को देखनेवाले देव, गन्धर्व आदि के मुँह से ये वचन उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

हंस, सारस आदि पक्षी उड़ रहे हैं और कमल हिल रहे हैं, इस प्रकार के तालाब के समान शूरवीर पुरुषों के मस्तकों से व्याप्त आकाश तारांकित व्याप्त के समान मालूम पड़ता है ॥ २ ॥

रुधिरबिन्दुओं की राशिरूप सिन्दूर-से रक्त पवनों के द्वारा ये मेघ और सूर्य-किरण मध्याह्न में सायंकाल के समान प्रतीत होते हैं ॥ ३ ॥

हे भगवन् ! यह आकाश पोयाल (धान्य शून्य छिलका) राशि से परिपूर्ण है क्या ? नहीं, यह पोयाल नहीं है, ये वीर पुरुषों के बाणराशिरूप मेघ हैं ॥ ४ ॥

पृथिवी में जितने रणभूमि के धूलिकण रुधिर से सींचे जाते हैं, उतने ही हजार वर्षों तक भटों का स्वर्ग में आवास होता है ॥ ५ ॥

मत डरो, नील कमल की पांखुरी के समान कान्ति-वाली ये तलवारें नहीं है, ये वीरों का निरीक्षण करने-वाली जयलक्ष्मी के नेत्र-कटाक्ष हैं ॥ ६ ॥

वीर पुरुषों का आलिङ्गन करने के लिए सुराङ्गनाओं के जघनस्थल में चञ्चल साभिलाष स्थित मेखलाओं को शिथिल करने के लिए कामदेव सन्नद्ध हो गया है ॥ ७ ॥

सुन्दर भुजलताओं से मनोहर, लाल पल्लवों के समान कोमल हाथों से समन्वित पारिजात आदि-पुष्प-मञ्जरियों के दर्शन से आनन्दित नेत्र और उनकी सुगन्ध से सुगन्धित नन्दन वन की देवियाँ मधुर ध्वनि से गान करती हुई तुम्हारे आगमन की आशङ्का से नाचने के लिए तत्पर हो गई हैं ॥ ८, ९ ॥

प्रत्यनीकं भिनत्त्यन्तः कुठारैः कठिनैरियम् ।
सेना ग्राम्येव वनिता दयितं दृष्टिचेष्टितैः ॥ १० ॥
हा पितुर्मम भल्लेन शिरो ज्वलितकुण्डलम् ।
सूर्यस्य निकटं नीतं कालेनेवाऽष्टमो ग्रहः ॥ ११ ॥
आपादशृङ्खलाप्रोतभ्रमत्स्थूलोपलद्वयम् ।
भ्रामयंश्चित्रदण्डाख्यं चक्रमूर्ध्वभुजो जवात् ॥ १२ ॥
योधो यम इवाऽऽभाति याम्यादायाति दिक्तटात् ।
सर्वतः संहरन्सेनामेहि यामो यथागतम् ॥ १३ ॥
सद्यश्छिन्नशिरःश्वभ्रमज्जत्कङ्ककुलाकुलाः ।
कबन्धाः परिनृत्यन्ति तालोत्तालारणाङ्गणे ॥ १४ ॥
गीर्वाणगणगोष्ठीषु प्रवृत्ताः सङ्कथा मिथः ।
कदा लोकान्तरं धीरा कथं यास्यन्ति के कुतः ॥ १५ ॥
निगिरत्यागताः सेनाः स्रवन्तीरिव सागरः ।
समत्स्यमकरव्यूहा अहो नु विषमो भटः ॥ १६ ॥

यह सेना कठिन कुल्हाड़ों से प्रतिपक्षी-सेना को वैसे ही काट रही है जैसे ग्रामीण सुन्दरी अपने कटाक्षनिरीक्षणों से अपने पति को अन्तःकरण को अधीर कर देती है ॥ १० ॥

दुःख है कि अष्टम ग्रह के समान मेरे पिताजी का कान्तिमान कुण्डलों से समन्वित शिर काल के द्वारा भाले से आदित्य के समीप भेज दिया गया है ॥ ११ ॥

पैरों तक लटकी हुई जंजीर मे गूँथे हुए दो विशाल पत्थरों से समन्वित चित्रदण्डनामक चक्र को ऊपर की ओर भुजाओं को करके शीघ्रता से ये वेग से घुमा रहा है ॥ १२ ॥

ऐसी स्थिति में यह भट यम के समान प्रतीत होता है, दक्षिण दिशा से चारों ओर सेना का संहार करता हुआ इधर आ रहा है, अतः चलो जहाँ से हम आये थे वहीं चलें ॥ १३ ॥

देखिये, तुरन्त कटे हुए कण्ठच्छिद्रों में डुबकी लगा रहे सफेद चीलों से व्याप्त, युद्ध के बाजे के ताल से उछल रहे धर रणभूमि में नाच रहे हैं ॥ १४ ॥

देवगणों की गोष्ठियों में परस्पर यह चर्चा चली कि कौन धीर पुरुष, कब, कैसे और किस लिए स्वर्ग आदि लोकों में जायँगे ॥ १५ ॥

अहो, यह विक्रान्त भट, मत्स्याकार और मकराकार व्यूहवाली सन्मुख आई हुई सेनाओं को वैसे ही निगलता है जैसे सागर मत्स्य और मगर के समूहों से समन्वित नदियों को निगल जाता है ॥ १६ ॥

कटेषु करिणां कीर्णा धारानाराचराजयः ।
पतिता इव सम्पूर्णाः शृङ्गसङ्घेषु वृष्टयः ॥ १७ ॥
हा कुन्तेन शिरो नीतं ममेत्येवं विवक्षतः ।
शिरसाऽजीवमित्येवं खे खगेनेव वाशितम् ॥ १८ ॥
यन्त्रपाषाणवर्षेण यैषाऽस्मान् परिषिञ्चति ।
सेनाऽनुशृङ्खलाजालवलना क्रियतां बलात् ॥ १९ ॥
वलीपलितनिर्मुक्तं पूर्वभार्याऽप्सराः सती ।
अङ्गीकरोति भर्तारं परिज्ञाय रणे हतम् ॥ २० ॥
आदिवं रचिताकाराः कुन्तकाननकान्तयः ।
वीराणां स्वर्गमारोढुमिव सोपानपङ्क्तयः ॥ २१ ॥
कान्तकाञ्चनकान्ताङ्गे भटस्योरसि कामिनी ।
दृष्टा देवपुरन्ध्रीयं भर्तुरन्वेषणान्विता ॥ २२ ॥
हां हतं सैन्यमस्माकं भटैरुद्धतमुष्टिभिः ।
महाप्रलयकल्लोलैः सुरशैलस्थलं यथा ॥ २३ ॥

हाथियों के गण्डस्थलों में बिखरे हुए धाराकार बाणों की पंक्तियाँ पहाड़ों के शिखरोंपर गिरी हुई सम्पूर्ण वृष्टियों के समान शोभायमान हो रही हैं ॥ १७ ॥

अहो, भालेने मेरा सिर काटा, ऐसा बोलने की इच्छा कर रहे मेरे कट कर उड़े हुए सिर ने स्वर्गारोहण के उत्सव को देखने से मैं जीविन हो गया मरा नहीं, इस प्रकार हर्षपूर्वक जो आकाश में भाषण किया, उसे पक्षी ध्वनि के समान लोगों ने सुना ॥ १८ ॥

योद्धा दूसरे योद्धा से कहता है कि यह जो सेना क्षेपणीयन्त्र से निकले हुए पत्थरों की वृष्टि से मेरा सिञ्चन कर रही है उसे जंजीरों के जाल से हठात् बाँध दो ॥ १९ ॥

पहले की पत्नी अप्सरा बन कर रणभूमि में मारे गये पति को वलीपलित से निर्मुक्त देवभूत जानकर ग्रहण कर रही है, यह देवताओं का कथन है ॥ २० ॥

भालों के समूह की कान्तियाँ मानो वीरों के स्वर्ग में चढ़ने के लिए बनाई गईं स्वर्ग पर्यन्त फैली हुई सोपान-पङ्क्तियाँ हैं ॥ २१ ॥

जो भटकी हुई पत्नी स्वतः सुन्दर और स्वर्णालङ्करणों से सुन्दर पति के वक्षःस्थल में हुई देखी गई थी, वह यह अप्सरा होकर भर्ता के अन्वेषण में तत्पर दिखाई देती है ॥ २२ ॥

उद्धत मुष्टि वाले भटों से हमारी सेना वैसे ही मारी जाती है, जैसे महाप्रलय के कल्लोलों से सुमेरु पर्वत आहत होता है ॥ २३ ॥

युध्यध्वमग्रतो मूढा नयतार्द्धमृतान्नरान् ।
निजान् पादप्रहारेण मैतान् दारयताऽधमाः ॥ २४ ॥
धम्मिल्लवलनाव्यग्रे घनोत्कण्ठेऽप्सरोगणे ।
भटो दिव्यशरीरेण पार्श्वप्राप्तो निरीक्ष्यताम् ॥ २५ ॥
फुल्लहेमारविन्दासु च्छायाशीतजलानिलैः ।
स्वर्गनद्यास्तटीष्वेनं दूरायातं विनोदय ॥ २६ ॥
विविधायुधसङ्घट्टखण्डितोग्रास्थिकोटयः ।
खे कवन्त्यः कणत्कारैः प्रसृतास्तारका इव ॥ २७ ॥
व्योम्नि जीवनदीवाहे वहत्सायकवारिणि ।
चक्रावर्त्तिनि गच्छन्ति गिरयोऽप्यणुपङ्कताम् ॥ २८ ॥
भ्रमद्भिर्ग्रहमार्गेषु शिरोभिर्वीरभूभृताम् ।
आयुधांशुलतानाललग्नासिदलकण्टकैः ॥ २९ ॥
केतुपट्टमृणालाङ्गदलैर्लब्धशिलीमुखैः ।
वहद्वातचलत्पद्मं नभः पद्मसरः कृतम् ॥ ३० ॥
मृतमातङ्गसङ्घाते गिराविव पिपीलिकाः ।

हे मूर्खो ! आगे बढ़ कर लड़ो, अपने अर्द्धमृत लोगों को ले जाओ, हे अधर्मो ! इन बेचारों को पैरों के प्रहार से मत कुचलो ॥ २४॥

केशपाश की रचना में व्यग्र अत्यन्त उत्कण्ठित अप्सराओं के समुदाय में दिव्य शरीर से समीप में आए हुए इस योद्धा को देखिये ॥ २५ ॥

सुवर्ण सदृश कमल विकसित हुए इस मन्दाकिनी के तटों में छाया, जल और वायु से दूर से आये हुए इस रणयोद्धा को विश्राम कराओ ॥ २६ ॥

विविध आयुधों की चोट लगने से टूटी हुई असङ्ख्य बड़ी-बड़ी कण-कण शब्द करती हुई हड्डियां, आकाश में व्याप्त तारे के समान प्रतीत होती हैं ॥ २७ ॥

जीवरूप नदी प्रवाह वाले, बाणरूपी जलवाले तथा चक्ररूपी आवर्त वाले आकाशरूपी सागर में बड़े-बड़े पर्वत भी अणुरूप अणुपङ्क के रूप में दिखते हैं ॥ २८ ॥

ग्रहों के मार्ग में घूमने वाले राजाओं के मस्तकों ने आकाश को, वायु से चञ्चल कमलों का तालाब बना दिया है। देखिये न, अस्त्र-शस्त्रों की किरणें ही उक्त सिररूपी कमलों की लताओं के नालदण्ड हैं, उनसे लगी हुई तलवारें उनके पत्ते हैं, त्रिशूल, भाले आदि उनके काँटे हैं, पताकाओं के वस्त्र उनके मृणालों के अंगभूत बड़े पत्ते हैं और बाणरूपी भँवरे उनमें लगे हैं ॥२९-३०॥

मरे हुए हाथियों की ढेर में भीरु लोग वैसे ही लीन

भीरवः परिलीयन्ते स्त्रियः पुंवक्षसीव च ॥ ३१ ॥
अपूर्वोत्तमसौन्दर्यकान्तसङ्गमशंसिनः ।
वान्ति विद्याधरस्त्रीणामलकोल्लासिनोऽनिलाः ॥ ३२ ॥
छत्रेषूड्डीयमानेषु स्थितेषु व्योम्नि चन्द्रता ।
इन्दुनेव यशोमूर्त्या कृता शुभ्रातपत्रता ॥ ३३ ॥
भटो मरणमूर्छान्ते निमेषेणाऽमरं वपुः ।
स्वकर्मशिल्पिरचितं प्राप्तः स्वप्नपुरं यथा ॥ ३४ ॥
शूलशक्त्यृष्टिचक्राणां वृष्ट्यो मुक्तवृष्टयः ।
व्योमाब्धौ मत्स्यमकरसङ्कुलावयवाः स्थिताः ॥ ३५ ॥
शरोत्कृत्तसितच्छत्रकलहंसैर्नभःस्थलम् ।
भाति सञ्चितपूर्णेन्दुबिम्बलक्षैरिवाऽऽवृतम् ॥ ३६ ॥
क्रियते गगनोड्डीनैश्चामरैश्चारुघर्घरैः ।
वातावधूतसंरोधतरङ्गनिकरद्युतिः ॥ ३७ ॥
दृश्यन्ते हेतिदलिताश्छत्रचामरकेतवः ।
आकाशक्षेत्रविक्षिप्ता यशःशालिलता इव ॥ ३८ ॥

होते हैं जैसे पर्वतों में पिपीलिकाएँ और पुरुषों के वक्षःस्थलों ललनाएँ लीन हो जाती हैं ॥ ३१ ॥

अपूर्व उत्तम सौन्दर्य से सम्पन्न कान्त के मिलन के मन्द-मन्द वायु विद्याधरों की अङ्गनाओं के अलकों को अनुकूलरूप से हिलने वाली बह रही है ॥ ३२ ॥

उड़ रहे आकाश में स्थित छत्र चन्द्र का स्वरूप सम्पादन कर रहे हैं मानो यशरूप मूर्ति से चन्द्रमा ने भूमि में शुभ्र छातों का सम्पादन किया ॥ ३३ ॥

भट भी मरणकालीन मूर्छा के बाद एक निमेष में अपने कर्मरूपी शिल्पी द्वारा वैसे ही निर्मित दिव्य शरीर को प्राप्त हुआ जैसे सोया हुआ पुरुष एक निमेष में स्वप्ननगर को प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

आकाशरूपी समुद्र में त्रिशूल, शक्ति, तलवार और चक्रों की व्यग्र वृष्टियाँ मछलियों और मगरों से परिव्याप्त के समान स्थित हैं ॥ ३५ ॥

बाणों से काटे गये सफेद छत्ररूपी कलहंसों से आकाश-स्थल संचित लाखों पूर्णेन्दु-बिम्बों से आवृत होने के समान प्रतीत होता है ॥ ३६ ॥

आकाश में उड़ते हुए सुन्दर घर-घर शब्द करने वाले चँवरों से आकाश वायु के वेग से क्षुब्ध स्थिरता वाले तरङ्गों के समूह की दीप्ति से सम्पन्न बनाया जा रहा है ॥ ३७ ॥

आकाशरूपी खेत में अस्त्र-शस्त्र से काट कर फेंके गये

वहद्भिर्व्योम्नि सक्षेम पश्य नीता क्षयं शरैः।
शक्तिवृष्टिरुपायान्ती सस्यश्रीः शलभैरिव ॥ ३९ ॥
एषा प्रसृतदोर्दण्डभटखड्गच्छटाततकृतिः।
कठिनात् कङ्कटाज्जाता मृत्योरेवोग्रहुंकृतिः ॥ ४० ॥
हेतिकल्पानिलक्षुण्णा दन्तनिर्झरवारयः।
जनताक्षयकालेऽस्मिन् भग्ना नागा नगा इव ॥ ४१ ॥
सचक्रनाथसूताश्वं व्यूढं रक्तमहाह्रदे।
हा हाऽभिभूतगतिकं चेष्टते रथपत्तनम् ॥ ४२ ॥
करकङ्कटकुठ्यङ्कखङ्गसङ्घट्टाटाङ्कृतैः।
कालरात्र्या प्रनृत्यन्त्या रणवीणेन वाद्यते ॥ ४३ ॥
नरेभखरवाजिभ्यो ये च्युता रक्तनिर्झरा।
पश्य तद्बिन्दुसिक्तेन वायुनाऽरुणिता दिशः ॥ ४४ ॥

छाते, चँबर और पताका समूह यशरूपी धानों के पेड़ों के समान दिखाई देते हैं ॥ ३८ ॥

हे कुशलिन्! वैसे ही समीप में आ रही शक्तियों की वर्षा आकाश में उड़ रहे वाणों से वैसे ही नष्ट की गई है, जैसे फलने के लिए तैयार धानों की शोभा को आकाश में उड़ रहा टिड्डियों का दल नष्ट कर देता है, देखो ॥ ३९ ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कठिन कवच से उत्पन्न हुई यह भुजदण्डों को फैलाये हुए भट के खड्ग के वार की ध्वनि ही मृत्यु की हुङ्कार है ॥ ४० ॥

इस जनक्षय के अवसर में तलवार आदि अस्त्र-शस्त्ररूपी प्रलयकाल के वायु परास्त, दाँतरूपी झरने के जल से युक्त ही पर्वतों की तरह प्रतीत हैं ॥ ४१ ॥

अहो दुःख है, रुधिर के महान् तालाब में चक्र, रथारोही वीर, सारथि और घोड़ों से युक्त तथा शस्त्रास्त्र से परिपूर्ण रथरूपी नगर स्तब्ध होकर छटपटा रहा है ॥ ४२ ॥

ऐसा लगता है कि नाच रही कालरात्रि, वीरों की भुजाओं, हाथियों की सूँड़ों और कवचरूपी वाणी के तारों में तलवार के आघात से उत्पन्न वादन शब्दों से वीणा बजाती है ॥ ४३ ॥

मनुष्य, हाथी, घोड़े और गदहों से जो खून के झरने निकले उनके बिन्दुओं से सराबोर वायु से लाल हुई दिशाओं को देखो ॥ ४४ ॥

वैसे ही कालीजी की केशराशि के समान काले अस्त्र-शस्त्रों की किरणरूपी मेघ से युक्त आकाश में

शस्त्रांशुजलदे व्योम्नि कालीचिकुरमेचके।
शरकोरकभारस्रङ्मेघे विद्युदिवोदिता ॥ ४५ ॥
अनन्तरक्तसंसक्तसन्नावनितलायुधैः।
भुवनं भात्यभिज्वालमग्निलोक इवाऽऽकुलम् ॥ ४६ ॥
भुशुण्डीशक्तिशूलासिमुसलप्रासवृष्टयः।
अन्योन्यच्छेदभेदाभ्यां करप्रकरतोऽपतन् ॥ ४७ ॥
अक्षोभैकप्रहरणाद्यातुधान्योन्यचेष्टितम्।
संरम्भावेक्षणप्रज्ञं रणं स्वप्नमिव स्थितम् ॥ ४८ ॥
अनन्यशब्दाविरतहताहतिरणज्झणैः।
गायतीव क्षतक्षोभमुदितो रणभैरवः ॥ ४९ ॥
अन्योन्यरणहेत्युग्रचूर्णपूर्णो रणभैरवः।
बालुकामय एवाऽभूच्छिन्नच्छत्रतरङ्गकः ॥ ५० ॥

वाणीरूपी कलियों के समुदाय की माला वैसे ही प्रादुर्भूत हुई जैसे मेघ में बिजली का प्रादुर्भाव होता है ॥ ४५ ॥

असंख्य रुधिर से लथपथ, टूटे-फूटे भूखण्डों और अस्त्र-शस्त्रों से व्याप्त भुवन अग्निलोक के समान चारों ओर से उठी हुई ज्वालाओं से युक्त-सा प्रतीत होता है ॥ ४६ ॥

उस युद्धस्थल में परस्पर एक दूसरे को काटने और छेदन के लिए तत्पर हस्त-समूहों से भुशुण्डी, शक्ति, त्रिशूल, मूसल और भालों की वृष्टियां गिरती थीं ॥ ४७ ॥

अनेक भटों में हटने में असमर्थ एक शूरवीर के द्वारा अतिशयित हस्तलाघव से प्रहार करने के कारण जिसमें राक्षसों की माया के सदृश शूरों की चेष्टाएँ हैं, क्रोध से निरीक्षण करने वाली भटों की बुद्धि है, ऐसे रण को स्वप्न के समान सामने देखता हूँ। स्वप्न के पक्ष में विनाश के अनुकूल छेदन, भेदन, संचलन आदि से रहित स्वाप्निक पदार्थों में एकमात्र जागरण से प्रहार किया जाता है अर्थात् बाधा पहुँचाई जाती है, इसलिए वह राक्षसों की माया के समान मिथ्या है और उसमें आत्म-प्रज्ञा आवेश से दर्शन करती है ॥ ४८ ॥

घायल भटों के क्षोभ प्रसन्न रणभैरव अन्यान्य शब्दों के संमिश्रण से रहित निरन्तर परस्पर प्रहार से उत्पन्न झनत्कारों से मानो गायन करता है ॥ ४९ ॥

परस्पर युद्ध में प्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रों के प्रचुर चूर्ण से परिपूर्ण रणभूमिरूप सागर बालुकामय ही हो गया है और कटे हुए छाते ही जिसमें तरङ्ग के समान प्रतीत हो रहे हैं ॥ ५० ॥

सरभसरसवद्विसारितूर्य-
प्रतिरवपूरितलोकपाललोकः ।
रणगिरिययमुग्रपक्षदक्ष-
प्रतिसृतिवृत्त इवाऽम्बरे युगान्ते ॥ ५१ ॥
हा हा धिक् प्रविकटकंकटाननोद्य-
प्रोड्डीनप्रकटतडिच्छटाप्रतप्ताः ।
क्रेङ्कारस्फुरितगुणेरिता रणन्तो
नाराचाः शिखरिशिलागणं वहन्ति ॥ ५२ ॥
छिन्नेच्छाच्छमिति न यावदङ्गभङ्गं
कुर्वन्तो ज्वलदनलोज्ज्वलाः पृषत्काः ।
तावद् द्रागद्रुतमिति ऐहि मित्र यामो
यामोऽयं प्रवहति वासरश्चतुर्थः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
रणप्रेक्षकजनोक्तिवर्णनं नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

जिसने मधुर फैलने वाले और तुरही आदि बाजों की प्रतिध्वनियों से वेग के साथ लोकपालों के लोक को भरने वाले रणरूपी यह पर्वत प्रलयकाल में युद्ध में कठोर हुए दो सेनारूपी परों के प्रबल परस्पर प्रतिकूल संचलन से अकाश में उड़ने के लिए तैयार प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

अहो ! धिक्कार है अत्यन्त कठिन कवचों को बिना तोड़े ही कवचों में उनके टकराने से आकाश में उड़ी हुई बिजली के समान अग्नि की ज्वालाओं से तपे हुए क्रेंकार ध्वनि के साथ विस्तारित प्रत्यञ्चा से छोड़े गये बाण जो शब्द कर रहे हैं, समीपवर्ती पर्वत की शिलाओं को छेदकर धारण करते हैं। कठिन कवचों पर निष्फल हुए अपने प्रबल बाणों के लिए शोक कर रहे हैं ॥ ५२ ॥

हे मित्र ! युद्ध से हुई थकावट से आपकी युद्धेच्छा शान्त हो जाने से मैं निर्दोष हित की बात आप से करता हूँ, उसे सुनें। जल रही अग्नि से उज्ज्वल बाण जबतक हम लोगों के अङ्गों को भङ्ग नहीं करते, चलो, तबतक शीघ्र दौड़कर इधर से चले जावें, क्योंकि यह चौथा प्रहर यम का ही दिन है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में
रणप्रेक्षकजनोक्तिवर्णन नामक कुसुमलता का चौतीसवां सर्ग समाप्त ॥ ३४ ॥

३५

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ प्रोड्डयनोद्युक्ततुरङ्गमतरङ्गकः ।
उत्ताण्डव इवोन्मत्तो बभूव स रणार्णवः ॥ १ ॥
छत्रडिण्डीरविश्रान्तसितेषु शफरोत्करः ।
अश्वसैन्योल्लसल्लोलकल्लोलाकुलकोटरः ॥ २ ॥
नानायुधनदीनीतसैन्यावर्तविवृत्तिमान् ।
मत्तहस्तिघटापीठचलाचलकुलाचलः ॥ ३ ॥
कचच्चक्रशतावर्तवृत्तिभ्रान्तशिरस्तृणः ।
धूलीजलधरापीतभ्रमत्खड्गप्रभाजलः ॥ ४ ॥

३५

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—उड़ने के लिए तैयार घोड़े ही जिसमें तरङ्ग का रूप धारण किये हुए संग्रामरूपी सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्त के समान हुआ है ॥ १ ॥

रणरूपी सागर में इधर-उधर बिखरे हुए छातेरूपी समुद्रफेन में रुके हुए सफेद बाण ही छोटी-छोटी मछलियों के समूह थे, घुड़सवार सैनिकरूपी उछल रही चञ्चल बड़ी लहरों से उसके कोटरों में हलचल मची हुई थी, विविध अस्त्रशस्त्ररूपी नदियों में बने हुए सैनिकरूपी आवर्त उसमें भ्रमण कर रहे थे, मदोन्मत्त हाथियों के दलरूपी आमूल चञ्चल मन्दराचल थे, चमचमा रहे सैकड़ों चक्ररूपी आवर्तों के भ्रमि अर्थात् चक्रों से काटे गये सिररूपी तिनके उसमें घूम रहे थे, धूलिरूपी बादलों ने उक्त रण-समुद्र में चल रही तलवारों की प्रभारूपी जल को पी लिया था ॥ २—४ ॥

मकरव्यूहविस्तारभग्नाभग्नभटौघनौः ।
महागुडुगुडावर्तप्रतिश्रुद्धनकन्दरः ॥ ५ ॥

मीनव्यूहविनिष्क्रान्तशरबीजौघसर्षपः ।
हेतिवीचीवरालूनपताकावीचिमण्डलः ॥ ६ ॥

शस्त्रवारिकृताम्भोदसदृशावर्तकुण्डलः ।
संरम्भघनसंचारसेनातिमितिमिङ्गिलः ॥ ७ ॥

कृष्णायसपरीधानवलत्सेनाम्बुभीषणः ।
कबन्धावर्तलेखान्तर्बद्धसैन्यादिभूषणः ॥ ८ ॥

सरसीकरनीहारसान्धकारककुब्गणः ।
निर्घोषाशोषिताशेषशब्दैकघनघुंघुमः ॥ ९ ॥

पतनोत्पतनव्यग्रशिरःशकलसीकरः ।
आवर्तचव्यूहेषु प्रभ्रमद्भटकाष्ठकः ॥ १० ॥

मकराकर व्यूहों के विस्तार से भट-समुदायरूपी नौकाएँ भग्न और अभग्न थीं, रणसागर में मकराकार सेनाव्यूह के विस्तार से कुछ भट वैसे ही भग्न थे और कुछ अभग्न थे जैसे जल-सागर में बड़े विशाल मगरों के कारण कुछ नौकाएँ नष्ट और कुछ अनष्ट रहती हैं, बड़ी भारी गड़गड़ाहट करनेवाले रथादिरूपी आवर्त के शब्द से उक्त रणसागर में बड़ी-बड़ी पर्वतों की कन्दराएँ प्रतिध्वनित हो रही थीं ॥ ५ ॥

उक्त संग्रामभूमि में मरे हुए लोगों के समूह से उन्हें छिन्न-भिन्न कर निकले हुए बाणरूपी सरसों की छिमियाँ वैसे ही बिखरी थीं, जैसे सागर में मछलियों के समूहों से उत्पन्न हुए सर के (काश के) बीजों के ढेर के समान सरसों के आकार के सफेद अण्डे बिखरे रहते हैं, अस्त्र-शस्त्र रूपी प्रधान लहरों ने पताकारूपी छोटी लहरों के मण्डल को छिन्न-भिन्न कर दिया था ॥ ६ ॥

तलवार आदि शस्त्ररूपी जल से निर्मित मेघ के समान अस्थिर आवर्त उक्त रणसागर के कुण्डल थे, मारे क्रोध के शीघ्र चलनेवाली सेना ही उसमें तिमि और तिमिङ्गिल थे ॥ ७ ॥

रणसागर लोहमय कवचों को धारण की हुई इधर-उधर चलती हुई सेनारूपी जल से भीषण था, उसमें कवचरूपी जल के आवर्त की पङ्क्ति के मध्य में सैनिकों के भूषण प्रतिबिम्बित थे ॥ ८ ॥

बाणरूपी जलकणों के कुहरे से दसों दिशाएँ अन्धकार पूर्ण थीं, उस रणसागर ने अपने निर्घोष से सम्पूर्ण शब्दों को असंवेद्य कर दिया था, उसमें एकमात्र निबिड घुंघुम शब्द होता रहता था ॥ ९ ॥

उस सागर में गिरने और उछलने से व्यग्र सिरों के खण्ड ही जलकण थे, आवर्तरूपी चक्रों के समूहों में भटरूपी काष्ठ घूम रहे थे ॥ १० ॥

कष्टटाङ्कारकोदण्डकुण्डलोन्मथनोद्भटः ।
अशङ्कमेव पातालादिवोद्यत्सैनिकोर्मिमान् ॥ ११ ॥

गमागमपरानन्तपताकाच्छत्रफेनिलः ।
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानरथद्रुमः ॥ १२ ॥

गजप्रतिमसम्पन्नमहारुधिरबुद्बुदः ।
सैन्यप्रवाहविचलद्धयहस्तिजलेचरः ॥ १३ ॥

स संग्रामोऽम्बरग्राम इवाऽऽश्चर्यकरो नृणाम् ।
अभूत प्रलयभूकम्पकम्पिताचलचञ्चलः ॥ १४ ॥

तरत्तरङ्गविहगः पतत्करिघटातटः ।
त्रस्तभीरुमृगानीकस्फूर्जद्घुरघुरारवः ॥ १५ ॥

सरच्छरालीशलभशतभङ्गुरसैनिकः ।
तरत्तुरङ्गशरभः शरभारवनावनिः ॥ १६ ॥

क्लेशकारक टङ्कारवाले धनुषरूपी सर्पों के छेदन के लिए भट तत्पर थे, निश्शङ्क होकर पाताल से मानों निकल रहे सैनिकरूपी लहरों से युक्त था ॥ ११ ॥

गमन और आगमन में तत्पर अनन्त पताका और छत्र ही उसमें फेन थे, बह रही रुधिर की नदी के वेग में रथरूपी वृक्ष बहाये जा रहे थे ॥ १२ ॥

रुधिर के बड़े-बड़े बुद्बुद् हाथी के समान हो गये थे, सेनारूपी प्रवाह में हाथी-घोड़े रूपी जल-जन्तु वहाँ इधर-उधर चल रहे थे ॥ १३ ॥

वह रणसागर संग्रामयुक्त गन्धर्वनगर के समान मनुष्यों के लिए बड़ा आश्चर्यकारी हुआ। वह संग्राम क्या था, एक प्रकार का प्रलय ही था, प्रलयकाल के भूकम्प से कँपाए गये पर्वतों के समान चञ्चल था ॥ १४ ॥

उसमें पक्षी तैरती तरङ्गों के समान थे, गजघटारूपी तट गिर रहे थे। भयभीत भीरु हरिणरूपी सेना का घुरघुर शब्द प्रलयकालीन वज्रनिर्घोष के तुल्य था ॥ १५ ॥

इधर-उधर सरसर शब्द करते हुए बाणों की पङ्क्ति से सैकड़ों पतङ्गों के समान सैनिक गिर रहे थे, दौड़ते हुए घोड़े ही मृग थे, बाणों से संघात या बाणधारी योद्धा ही उसमें वनपूर्ण भूमि थी ॥ १६ ॥

चलद्विरेफ[1]निर्ह्रादो रसत्तूर्यगुहांगुरुः ।
चिरात् ससैन्यजलदो लुठद्भटमृगाधिपः ॥ १७ ॥
प्रसरद्धूलिजलदो विगलत्सैन्यसानुमान् ।
पतद्रथवराढ्याङ्गः प्रतपत्खड्गमण्डलः ॥ १८ ॥
प्रोत्पतत्पदपुष्पौघः पताकाच्छत्रवारिदः ।
वहद्रक्तनदीपूरपतत्साराववारणः ॥ १९ ॥
सोऽभूत् समरकल्पान्तो जगत्कवलनाकुलः ।
पर्यस्तसध्वजच्छत्रपताकारथपत्तनः ॥ २० ॥
पतद्विमलहेत्योघभूरिभास्वरभास्करः ।
कठिनप्राणसन्तापतापिताखिलमानसः ॥ २१ ॥
कोदण्डदुष्करावर्तशरधारानिरन्तरः ।
वहत्खड्गशिलालेखाविद्युद्वलयिताम्बरः ॥ २२ ॥
उच्छिन्नरक्तजलधिपतितेभकुलाचलः ।
नभोविकीर्णनिपतद्युक्तारकणतारकः ॥ २३ ॥
चक्रकुल्याम्बुदावर्तपूर्णव्योमशिराम्बुदः ।
अस्त्रकल्पाग्निनिर्दग्धसैन्यलोकान्तरक्रमः ॥ २४ ॥
हेतिवर्षाशनिच्छन्नभूतलामलभूधरः ।
गजराजगिरिव्रातपातपिष्टजनव्रजः ॥ २५ ॥
शरधाराघनानीकमेघच्छन्नमहीनभाः ।
महानीकार्णवक्षोभसङ्घट्टघटिताद्रवः ॥ २६ ॥
व्याप्त उग्रानिलोद्धूतैर्जलव्यालैरिवाऽचलः ।
अन्योन्यदलनव्यग्रैः शस्त्रोत्पात इवोत्थितैः ॥ २७ ॥

उसमें चल रहे सैनिकरूपी भ्रमरों का गुंजार हो रहा था, बज रही तुरहीरूपी गुहाओं से उसका विस्तार कहीं अधिक बढ़ा चढ़ा था, सेनायुक्त गज आदि ही उसमें मेघ थे, लुढ़क रहे भट ही उसमें सिंह थे ॥ १७ ॥

चतुरङ्गिणी सेना के संचार से उड़ी हुई धूलि मेघरूप में परिणत हो गई थी, सैनिकरूपी पर्वत उसमें गल रहे थे, महारथों के अवयव चूरचूर होकर गिर रहे थे, तलवारें अपना प्रताप दिखा रहीं थीं ॥ १८ ॥

पदचिह्नरूपी फूलों के समूह उड़ रहे थे, पताकाओं और छातों ने मेघों का रूप धारण कर रक्खा था, हाथी बह रही रुधिर की नदी के प्रवाह में गिरने के कारण चिंघाड़ रहे थे ॥ १९ ॥

इस प्रकार का वह समररूपी प्रलय जगत् को निगलने में बड़ी त्वरा से प्रवृत्त हुआ मानों उसमें ध्वजाओं, छत्रों और पताकाओं से युक्त रथरूपी नगर इधर-उधर अस्तव्यस्त हो रहे थे ॥ २० ॥

वीरों के ऊपर गिर रहे अस्त्र-शस्त्रों के समूहरूपी अनेक देदीप्यमान सूर्य तप रहे थे, घोर प्राणपीड़ा से सब लोगों के मन सन्तप्त हो रहे थे ॥ २१ ॥

वीरों के धनुषरूपी प्रलयकाल के मेघों से निकली हुई बाणवृष्टिरूपी मूसलाधार वृष्टि से वह चारों ओर व्याप्त था, चमचमा रहीं तलवारों की सान में तीखी की गईं धाररूपी बिजली से सारा आकाश परिवेष्टित था ॥ २२ ॥

उसमें कटे लोगों के शरीरों से निकले हुए रुधिर के समुद्र में हाथीरूपी पर्वत डूब गये थे। आकाश में फैले हुए नीचे गिर रहे अन्य रुधिरबिन्दुओं से मिलकर स्थूल हुए (रुधिरबिन्दु) ही उसमें तारे थे ॥ २३ ॥

अनेक चक्रों की परम्परारूपी छोटी नदियों से, जो कि मेघप्रदेश में घूमने पर प्रचुर भौरीवाली प्रतीत होती थीं, आकाशमण्डल और मेघ भरे थे, वहां अस्त्रशस्त्ररूप प्रलयाग्नि से जले हुए सैनिक परलोकगमन कर रहे थे ॥ २४ ॥

शस्त्रास्त्रों की वृष्टिरूपी वज्र से भूतलरूपी निर्मल पर्वत आच्छन्न थे, उसमें गजराजरूपी पर्वतों की राशियों के गिरने से जनसमूह चूर-चूर हो गया था ॥ २५ ॥

सैनिकरूपी जलदों ने निबिड बाणवृष्टिरूपी वर्षा से महीतल और आकाशमण्डल को परिव्याप्त कर दिया था, क्रमशः महासेनारूपी सागर के संक्षोभ के द्वारा उत्पन्न संघट्ट से चारों ओर भागने लगे थे ॥ २६ ॥

परस्पर एक दूसरे को काटने में व्यग्र, शस्त्र वर्षानेवाले प्रलयोत्पात में उत्पन्न हुए शस्त्रों से रणभूमि वैसे ही व्याप्त थी जैसे उग्र झञ्झावात से उड़ाये गये जल के सांपों से समुद्र के गर्भ में स्थित पर्वत व्याप्त होता है ॥ २७ ॥

---

१. जलद्विरेफ इति पाठान्तरम् ।

शूलासिचक्रशरशक्तिगदाभुशुण्डी-
प्रासादयो विदलनेन मिथो ध्वनन्तः ।
दीप्ता अधुर्दश दिशः शतशो भ्रमन्तः
कल्पान्तवातपरिवृत्तपदार्थलीलाम् ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे रणवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

एक दूसरे को काटने से शब्दायमान और झुण्ड के साथ दसों दिशाओं में घूम रहे देदीप्यमान त्रिशूल, तलवार, चक्र, बाण, शक्ति, गदा, तोप, भाले आदि ने प्रलयकाल के तीक्ष्ण वायु कँपाये जा रहे के समान पत्थर वृक्ष, शस्त्र आदि पदार्थों की लीला धारण किया ॥ २८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में रणवर्णन नामक कुसुमलता का पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३५ ॥

३६

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ शृङ्गोपमानेषु स्थितेषु शरराशिषु ।
सर्वभीरुषु भग्नेषु विद्रुतेषु दिशो दश ॥ १ ॥
मातङ्गशवशैलेषु विश्रान्ताम्बुदपङ्क्तिषु ।
यक्षरक्षःपिशाचेषु क्रीडत्सु रुधिरार्णवे ॥ २ ॥
महतां धर्मनिष्ठानां शीलौजःसत्त्वशालिनाम् ।
शुद्धानां कुलपद्मानां वीराणामनिवर्तिनाम् ॥ ३ ॥
द्वन्द्वयुद्धानि जातानि मेघानामिव गर्जताम् ।
मिथो निगरणोत्कानि मिलन्त्यापगपूरवत् ॥ ४ ॥
पञ्जरः पञ्जरेणेव गजौघेन गजोच्चयः ।
सवनः सवनेनाऽद्रिरद्रिणेवाऽमिलद्बलात् ॥ ५ ॥
अश्वौघो मिलदश्वानां वृन्देनाऽऽराविरंहसा ।
तरङ्गौघेन घोषेण तरङ्गौघ इवाऽर्णवे ॥ ६ ॥
नरानीकं नरानीकः समायुधमयोधयत् ।
वेण्वोघमिव वेण्वोघो मरुल्लोलो मरुद्बलम् ॥ ७ ॥
रथौघश्च रथौघेन निष्पिपेषाऽखिलं वपुः ।
नगरं नगरेणेव दैवेनोड्डीनमासुरम् ॥ ८ ॥
सरच्छरभरासाररचितापूर्ववारिदम् ।
युयुधे स्थगिताकाशा धनुर्धरपताकिनी ॥ ९ ॥

३६

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—इसके बाद वाण राशियों के पर्वत के शिखर के समान स्थित होनेपर घायल डरपोक भट गण दस दिशाओं में भागने लगे ॥ १ ॥

मेघपंक्तियाँ जिनमें विश्राम ले रही थी ऐसे हाथियों के शवरूपी शैलों में अति उन्नत होने के कारण यक्ष, राक्षस और पिशाच रुधिर के समुद्रों में जलक्रीड़ा करने लगे ॥ २ ॥

ध्वनि करते हुए मेघों के समान सच्चारित्रता, तेजस्विता और बल से समन्वित, धर्मनिष्ठ, शुद्ध, अपने कुल के कमल अर्थात् अपने यश आदि से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले और युद्ध में पीठ न दिखानेवाले महावीरों के द्वन्द्वयुद्ध होने लगे। द्वन्द्वयुद्ध में परस्पर एक दूसरे को निगलने के लिए उत्सुक थे और द्वन्द्वयुद्धों के कर्ता वीरगण नदियों के प्रवाहों के समान एक दूसरे से मिलते थे ॥ ३—४ ॥

दोनों पक्षों के वीर परस्पर उसी प्रकार बड़े वेग से मिले जैसे पञ्जर पञ्जर के साथ मिलता है, हाथियों का झुण्ड हाथियों के झुण्ड के साथ बड़े वेग से मिलता है, जैसे वन से युक्त पर्वत वनयुक्त अन्य पर्वत के साथ मिलता है ॥ ५ ॥

उस युद्ध में घोड़ों के समूह से तरङ्गों का समूह उसी प्रकार शब्दपूर्ण वेग से मिला जैसे सागर में तरङ्गों के समूह से तरङ्गों का समूह शब्दपूर्वक मिलता है ॥६॥

जैसे वायु से चञ्चल बाँसों का समूह वायु से हिलनेवाले बाँसों के समूह के साथ लड़ता है नरसेना ने अपने समान आयुधवाली नरसेना से उसी प्रकार लड़ाई की ॥ ७ ॥

रथों के समूह ने रथों के समूह से अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों को खूब चूर-चूर किया जैसे उड़ा हुआ असुर-नगर देवनगर से अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों को चूरचूर करे ॥ ८ ॥

मानो बाणों से आकाश पाट दिया गया है धनुर्धरों

विषमायुधयुद्धेषु योद्धारः पेलवाशयाः ।
यदा युक्त्या पलायन्ते रणकल्पानले तदा ॥ १० ॥
मिलिताश्चक्रिणश्चक्रैर्धनुर्धारैर्धनुर्धराः ।
खड्गिभिः खड्गयोद्धारो भुशुण्डीभिर्भुशुण्डयः ॥ ११ ॥
मुसलैर्मुसलोदाराः कुन्तिनः कुन्तिधारिभिः ।
ऋष्ट्यायुधा ऋष्टिधरैः प्रासिभिः प्रासपाणयः ॥ १२ ॥
समुद्गरा मुद्गरिभिः सगदैर्विलसद्गदाः ।
शाक्तीकैः शक्तियोद्धारः शूलैः शूलविशारदाः ॥ १३ ॥
प्रासासनाविदः प्रासैः परशूक्ता परश्वधैः ।
लकुटोद्यैर्लकुटिनश्चोपलैरुपलायुधाः ॥ १४ ॥
पाशिभिः पाशधारिण्यः शङ्कुभिः शङ्कुधारिणः ।

की सेना ने इस प्रकार सरसर चलते हुए असंख्य बाणों की मूसलाधार वृष्टि से अद्‌भुत मेघों का निर्माण करते हुए रण किया ॥ ९ ॥

जब उन विषमायुधवाले युद्धों में युद्धरूपी प्रलयाग्नि के भड़कने पर भयभीत चित्तवाले योद्धा किसी बहाने से भागने लगे ॥ १० ॥

परस्पर युद्ध के लिए उपस्थित चक्रधारी ने चक्रधारी से धनुर्धारियों ने धनुर्धारियों से, तलवार से लड़नेवाले लोगों ने तलवारधारियों से, भुशुण्डी धारण करनेवाले लोगों ने भुशुण्डी-धारियों से युद्ध किया ॥ ११ ॥

मुसलों से युद्ध करने में विशारद भटों ने मुसल-धारियों से, भाले धारण करनेवालों ने भालाधारी भटों से ऋष्टि हथियार से लड़नेवालों ने ऋष्टिधारियों से, बल्लों से लड़ने वाले बल्लाधारियों से युद्ध किया ॥ १२ ॥

मुद्गरधारियों ने मुद्‌गरधारियों से, गदा धारण किये हुए भटों ने गदाधारियो से, शक्ति से युद्ध करनेवालों ने शक्तिधारियों से, शूल चलाने में दक्ष भटो ने शूलधारियों से युद्ध किया ॥ १३ ॥

प्रासों को (भालों को) चलाने में निपुण भटों ने प्रासधारियों से, कुल्हाड़ों के वार में प्रसिद्धिप्राप्त भटों ने कुल्हाड़ाधारी भटों, से दण्डधारियों ने बाँसों के बड़े-बड़ डण्डों को हाथों में उठाये हुए भटों से, पत्थरों से लड़नेवाले भटों ने पत्थरों से लड़नेवाले भटों से युद्ध किया ॥ १४ ॥

पाशधारी भटों ने पाशधारियों से, कीलधारी भटों ने कीलधारियों से, छूरेधारी भटों ने छूरी धारण करनेवाले भटों से, भिन्दिपाल धारी भटों ने भिन्दिपाल-धारियों से युद्ध किया है ॥ १५ ॥

क्षुरिकाभिस्तु क्षुरिका भिन्दिपालैश्च तद्‌गताः ॥ १५ ॥
वज्रमुष्टिधरा वज्रैरङ्कुशैरङ्कुशोद्धताः ।
हलैर्हलनिकाषज्ञास्त्रिशूलैश्च त्रिशूलिनः ॥ १६ ॥
शृङ्खलाजालिनो जालैः शृङ्खलैरलिकोमलैः ।
क्षुभिताकल्पविक्षुब्धसागरोर्मिघटा इव ॥ १७ ॥
क्षुब्धचक्रदलावर्तः शरसीकरमारुतः ।
प्रभ्रमद्धेतिमकरो व्योमैकार्णव आबभौ ॥ १८ ॥
उत्फुल्लायुधकल्लोलशिरा कुलजलेचरः ।
रोदोरन्ध्रसमुद्रोऽसौ बभूवाऽमरदुस्तरः ॥ १९ ॥
दिव्याष्टकजनानीकं पक्षद्वयतया तथा ।
अर्द्धेनाऽर्द्धेन कुपितं भूपालाभ्यां तथा स्थितम् ॥ २० ॥

वज्ररूप मुष्टिधारी भटों ने वज्ररूपी मुष्टि को धारण करनेवाले भटों से, अङ्कुशयुद्ध में विशारद भटों ने अङ्कुशधारी भटों से, हल से युद्ध करने में अभिज्ञ भटों ने हलधारियों से, त्रिशूलधारियों ने त्रिशूलधारियों से युद्ध किया ॥ १६ ॥

शृङ्खलाजाल पहने हुए घुड़सवार भटों के जालदार कवच पहने हुए घुड़सवारों से प्रलयकाल में विक्षुब्ध महासागर की आकाश-पाताल एक करनेवाली बड़ी-बड़ी लहरों की घटा के आपस में टकराने के समान युद्ध किया ॥ १७ ॥

वार करने के लिए व्याकुल चक्रों की राशि स्वरूप आवर्त वायु बाणरूपी जलकणों से समन्वित आयुधरूपी मगर से परिव्याप्त युद्धाकाशरूपी समुद्र अतिशय सुशो-भित हुआ ॥ १८ ॥

पृथिवी और अन्तरिक्ष का मध्यभागरूपी वह सागर अमर लोगों से दुस्तर था, उसमें चमचमा रहे अस्त्र-शस्त्र रूपी तरङ्गों की शाखाप्रशाखाओं से जलचररूपी भट व्याकुल थे ॥ १९ ॥

आयुधविद्या अर्थात् बुद्धि, बल, शूरता, अस्त्रशस्त्र, घोड़े, रथ और धनुष ये आठ जिनके अप्रतिहत हैं, ऐसे भटों की सेना द्वन्द्वशः मिले हुए दो पक्ष होने से दोनों की सेनाओं में आधे आधे भाग में कुपित होकर अवस्थित थी, क्योंकि दोनों राजा—विदूरथ और सिन्धुराज उनके अनुकूल ही स्थित थे। यक्ष, राक्षस, पिशाच और असुर एक ओर, देवता गन्धर्व, किन्नर और विद्याधररूपी आठ दिव्य पुरुषों का समूह भावी जय और पराजय के अनुसार दो पक्षों में बट कर सम्पूर्ण सेना के आधे आधे भाग से कुपित होकर स्थित हुआ, क्योंकि वे दो राजगण भी तदनुरूप अदृष्ट से युक्त थे ॥ २० ॥

मध्यदेशादिसंख्याने प्राग्दिग्भ्योऽभ्यागतानिमान् ।
लीलानाथस्य पद्मस्य पक्षे जनपदाञ्छृणु ॥ २१ ॥
पूर्वस्यां कोसलाः काशिमागधा मिथिलोत्कलाः ।
मेखलाः कर्करा मुद्रास्तथा संग्रामशौण्डकाः ॥ २२ ॥
मुख्या हिमा रुद्रमुख्यास्ताम्रलिप्तास्तथैव च ।
प्राग्ज्योतिषा वाजिमुखा अम्बष्ठाः पुरुषादकाः ॥ २३ ॥
वर्णकोष्ठाः सविश्वोत्रा आममीनाशनास्तथा ।
व्याघ्रवक्त्राः किराताश्च सौवीरा एकपादकाः ॥ २४ ॥
माल्यवान्नाम शैलोऽत्र शिबिराञ्जन एव च ।
वृषलध्वजपद्माद्यास्तथोदयकरो गिरिः ॥ २५ ॥
अथ प्राग्दक्षिणायां तु इमे विन्ध्यादिवासिनः ।
चेदयो वत्सदाशार्णा अङ्गवङ्गोपवङ्गकाः ॥ २६ ॥
कलिङ्गपुण्ड्रजठरा विदर्भा मेकलास्तथा ।
शबराननवर्णाश्च कर्णात्रिपुरपूरकाः ॥ २७ ॥
कण्टकस्थलनामानः पृथग्दीपककोमलाः ।
कर्णान्ध्राश्चौलिकाश्चैव तथा चार्मण्वता अपि ॥ २८ ॥
काकका हेमकुड्याश्च तथा श्मश्रुधरा अपि ।
बलिग्रीवमहाग्रीवाः किष्किन्धानालिकेरिणः ॥ २९ ॥
अथ लीलापतेरस्य दक्षिणस्यामिमे नृपाः ।

यह वसिष्ठ जी की राम के प्रति उक्ति है :—मध्य देश आदि की गणना में पूर्व दिशा से लीला के स्वामी महाराज पद्म की सहायता के लिए आये हुए देशों के अधिपतियों को मैं आपसे कहता हूँ, सुने ॥ २१ ॥

पूर्व दिशा के कोशल, काशी, मगध, मिथिला, उत्काल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्रामशौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्राग्ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्वोत्र, कच्ची मछली खानेवाले, व्याघ्रसदृश मुखवाले, किरात, सौवीर और एकपादक—इन चौबीस देशों के सहायक आये थे । माल्यवान् नामक पर्वत, शिवी, आञ्जन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदयपर्वत इन सात शैलो के सहायक आये थे ॥ २२—२५ ॥

पूर्व-दक्षिण दिशा में लीला के पति पद्म के बिन्ध्य पर्वत के पूर्वभाग के देश, चेदि, वत्स, दाशार्ण, अङ्ग, बङ्ग, उपबङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, जठर, विदर्भ, मेकल, शबरानन, शबरवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थ, पृथग्दीपक, कोमल, कर्णान्ध्र, चौलिक, चर्मण्वती के निकटवर्ती, काकक, हेमकुड्य, श्मश्रुधर, वलिग्रीव, महाग्रीव,

विन्ध्योऽथ कुसुमापीडो महेन्द्रो दुर्दुरस्तथा ॥ ३० ॥
मलयः सूर्यवांश्चैव गणा राज्यसमृद्धकाः ।
अवन्तीरिति विख्यातास्तथा शाम्बवतीति च ॥ ३१ ॥
दशपूरकथाचक्रारेषिकातुरकच्छपाः ।
वनवासोपगिरयस्ते भद्रगिरयस्तथा ॥ ३२ ॥
नागरा दण्डकाश्चैव गणरा नृराष्ट्रकाः ।
साहा शैवार्ष्यमूकाश्च कर्कोटा वनबिम्बलाः ॥ ३३ ॥
पम्पानिवासिनश्चैव कैरकाः कर्कवीरकाः ।
स्वेरिका यासिकाश्चैव धर्मपत्तनपञ्जिकाः ॥ ३४ ॥
काशिकास्तृणखल्लूला यादास्ते ताम्रपर्णकाः ।
गोनर्दाः कनकाश्चैव दीनपत्तननामकाः ॥ ३५ ॥
ताम्रीका[1] दम्भराकीर्णाः सहकारैणकास्तथा ।
वैतुण्डकास्तुम्बवनालाजिनद्वीपकर्णिकाः ॥ ३६ ॥
कर्णिकाभाश्च शिबयः कौकङ्कणाश्चित्रकूटकाः ।
कर्णाटमण्टवटका महाकटकिकास्तथा ॥ ३७ ॥
आन्ध्राश्च कोलगिरयश्चाऽऽवन्तिकविचेरिकाः ।
चण्डायत्ता देवनकाः क्रौञ्चा वाहास्तथैव च ॥ ३८ ॥
शिलाक्षारोदभोनन्दमर्दना मलयाभिधाः ।
ते चित्रकूटशिखरा लङ्कारक्षोगणाः स्मृताः ॥ ३९ ॥

किष्किन्धा और नारिकेली—इन सत्ताइस देशों और चार पर्वतों के निवासी वीरगण सहायक थे ॥ २६-२९ ॥

अनन्तर लीला के पति के सहायक वीर नरपतियों का मैं उल्लेख करता हूँ, सुनें-विन्ध्य, कुसुमापीड़, महेन्द्र, दर्दुर, मलय सूर्यवान्, समृद्धिशाली अनेक गण्यराज्य, अवन्तीनाम से प्रसिद्ध, शाम्बवती, दशपूरक, कथाचक्रार, ईषिक, आतुरकच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणतन्त्रराज्य, जनतन्त्रराज्य, साह, शैव, ऋष्यमूक, कर्कोट, वनबिम्बल, पम्पानिवासीगण, कैरकदेशीय, कर्कवीरक, स्वेरिक, यासिक, धर्मपत्तन, पञ्जिक, काशिक, तृणखल्लूल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, ताम्रीक दम्भर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजिनद्वीप, कर्णिक, कर्णिकाकार, शिबी, कोङ्कण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलपर्वत, आवन्तिक, विचेरिक, चण्डायत्त, देवनक, क्रौञ्च, वाह, शिलाक्षारोद, भोनन्द, मर्दन, मलय, चित्रकूट—इन तिरसठ देशों और छः पर्वतों के निवासी तथा लङ्का के राक्षस आए थे ॥ ३०—३९ ॥

१. ताम्रीकदम्भराकीर्णा इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रत्यग्दक्षिणस्यां महाराज्यसुराष्ट्रकाः ।
सिन्धुसौवीरशूद्राख्या आभीरा द्रविडास्तथा ॥ ४० ॥
कीकटाः सिद्धखण्डाख्यास्तथा कालिरुहा अपि ।
अत्र हेमगिरिः शैलस्तथा रैवतको गिरिः ॥ ४१ ॥
जयकच्छो मयवरो यवनास्तत्र[1] जन्तवः ।
बाह्लीका मार्गणावन्ता धूम्रास्तुम्बकनामकाः ॥ ४२ ॥
तथा लाजगणाश्चैव तथाऽत्र गिरिवासिनः ।
ततोऽब्धितोकनियुता एते लीलापतेर्जनाः ॥ ४३ ॥
अथ तत्प्रतिपक्षस्थानिमान् जनपदान् शृणु ।
पश्चिमायां दिशि प्रौढा इमे तावन्महाद्रयः ॥ ४४ ॥
मणिमान्नाम शैलेन्द्रः कुरार्पणगिरिस्तथा ।
वनोऽर्कहो मेघभवश्चक्रवानस्तपर्वतः ॥ ४५ ॥
जनाः पञ्चजना नाम काशब्रह्मचयान्तकाः ।
तथैव भारक्षतथाः पारकाः शान्तिकास्तथा ॥ ४६ ॥
शैब्यारमरकायाच्छागुहुत्वानियमास्तथा[2] ।
हैहयाः सुह्मगायाश्च ताजिका हूणकास्तथा ॥ ४७ ॥
पार्श्वे कतकयोः कर्का गिरिपर्णावमास्तथा ।
संत्यक्तधर्ममर्यादास्ते वर्णा म्लेच्छजातयः ॥ ४८ ॥
ततोऽजनपदा भूमिर्योजनानां शतद्वयम् ।
ततो महेन्द्रशिखरी मुक्तामणिमयावनिः ॥ ४९ ॥
युतो महीधरशतैरथाऽश्वनामपर्वतः ।
ततो महार्णवो भीमः पारियात्रगिरिस्तटे ॥ ५० ॥
पश्चिमोत्तरदिग्भागे देशो गिरिमति स्थितः ।
तथा वेणुपतिश्चैव ततो नरपतिर्मही ॥ ५१ ॥
तथा फल्गुणकाश्चैव माण्डव्यानेकनेत्रकाः ।
पुरुकुन्दाश्च पाराश्च भानुमण्डलभावनाः ॥ ५२ ॥
वन्मिला नलिना दीर्घा दीर्घकेशाङ्गबाहवः ।
रङ्गाश्च स्तनिकाश्चाऽन्या गुरुहाश्च[3] लुहास्तथा ॥ ५३ ॥
ततः स्त्रीराष्ट्रमतुलं गोवृषापत्यभोजनम् ।
अथोत्तरस्यां हिमवान् क्रौञ्चोऽथ मधुमान् गिरिः ॥५४॥
कैलासो वसुमान्मेरुस्तत्पादेषु जना इमे ।
मद्रा वारेवयौधेया मालवाः शूरसेनिकाः ॥ ५५ ॥
राजन्याश्च तथा ज्ञेया अर्जुनातनयस्तथा ।
त्रिगर्त एकपात्क्षुद्रामबलास्त्वस्तवासिनः ॥ ५६ ॥

पश्चिम और दक्षिण दिशा के मध्य में महाराज्य, सुराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरुह, सुमेरु पर्वत, रैवतक पर्वत, जयकच्छ, मयवर, जिसमें यवन रहते थे, ये चार पर्वत, बाह्लीक, मार्गणावन्त, धूम्र, तुम्बक, लाजगण और उक्त दिशा के पर्वतों के निवासी तथा समुद्रतट के और तोकनि देश के निवासी, ये लीला के पति के पक्ष के थे ॥ ४०–४३ ॥

लीला के पति के विपक्ष में स्थित वीरों और उनके देशों को मैं आपसे कहता हूँ, सुनें पश्चिम दिशा में ये बड़े-बड़े पर्वत हैं—मणिमान्, शैलेन्द्र, कुरापर्णगिरि, बन, अर्कह, मेघभव, चक्रवान् और अस्ताचल ॥ ४४, ४५ ॥

काश तथा ब्राह्मण के समूहों के अन्तक पञ्चजन-नामक जन और भारक्षतथ, पारक, शान्तिक, शैब्य, आरमरकाय, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक और हूणक, दक्षिण और उत्तर में कतक देश के निकट में कर्क, गिरिपर्ण और अवम सभी वर्ण धर्मों की मर्यादा के सर्वथा परित्यागी ये म्लेच्छ थे ॥ ४६–४८ ॥

अनन्तर दो सौ योजन तक पृथिवी जनपदों से शून्य है, और उसके बाद महेन्द्रपर्वत है, जिसकी भूमि मुक्तामयी तथा मणिमयी है ॥ ४९ ॥

सैकड़ों पर्वतों से युक्त अश्वनामक पर्वत है, उसके अनन्तर भयंकर महासमुद्र है, जिसके तटपर पारियात्र-नामक पर्वत है ॥ ५० ॥

पश्चिम और उत्तर दिशा के अन्तराल भाग पर्वतप्राय है, वहाँ वेणुपति और नरपति देश है, जहाँ नित्य उत्सव हुआ करते हैं ॥ ५१ ॥

फल्गुणक, माण्डव्य, अनेकनेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन और इसके पश्चात् दीर्घकेश, अङ्ग, हस्त, पाद आदि से युक्त मनुष्यवाले होने के कारण दीर्घनाम के देश हैं तथा रङ्ग, स्तनिक, गुरुह और लह नामवाले देश हैं, इसके अनन्तर अतुल स्त्रीराष्ट्र है, जहाँ गाय, बैल तथा सन्तान को भी जाते हैं। इसके बाद उत्तर दिशा में हिमवान्, कौंच और मधुमाद् नामक पर्वत हैं ॥ ५२–५४ ॥

अनन्तर कैलास, वसुमान् और मेरुपर्वत है, उनके सहायक पर्वतश्रेणियों मद्र, वारेव, यौधेय, मालव और शूरसैनिक है ॥ ५५ ॥

अनन्तर क्षत्रिय देश हैं, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त,

---

१. पटनास्तत्र इति पाठान्तरम् ।
२. करछाया महुलानियमास्तथा इति पाठान्तरम् ।
३. चलहास्तथा इति पाठान्तरम् ।

अबलाः प्रखलाः शाकाः क्षेमधूर्त्तय एव च।
दशधानागावसन्यदण्डाहन्यसनास्तथा ॥ ५७ ॥
धानदाः सरकाश्चैव वाटधानास्तथैव च।
अन्तरद्वीपगान्धारास्तथाऽवन्तिसुरास्तथा ॥ ५८ ॥
अथ तक्षशिला नाम ततो बीलवगोधनी।
पुष्करावर्तदेशस्य यशोवतिमही ततः ॥ ५९ ॥
ततो नाभिमतिर्भूमिस्तिक्षा कालवरास्तथा।
काहकं नगरं चैव सुरभूतिपुरं तथा ॥ ६० ॥
तथैव रतिकादर्शा अन्तरादर्श एव च ।
ततः पिङ्गलपाण्डव्यं यामुने यातुधानकाः ॥ ६१ ॥
मानवा नाङ्गना हेमतालाः स्वस्वमुखास्तथा।
हिमवान् वसुमान् क्रौञ्चकैलासावित्यगास्तथा ॥ ६२ ॥
ततोऽजनपदा भूमिरशीतिशतयोजना ।
अथ प्रागुत्तरस्यां तु क्रमाज्जनपदाञ्छृणु ॥ ६३ ॥
कालुता ब्रह्मपुत्राश्च कुणिदाः खदिनास्तथा।
मालवा रन्ध्रराज्याश्च वना राष्ट्रास्तथैव च ॥ ६४ ॥
केडवस्ताः सिंहपुत्रास्तथा वामनतां गताः ।
सावाकच्चापलवहाः कामिरा दरदास्तथा ॥ ६५ ॥
अभिसासदजार्वाकाः पलोलकुविकौतुकाः ।
किराता यामुपाताश्च दीलाः स्वर्णमही ततः ॥ ६६ ॥
देवस्थलोपवनभूस्तदनूदितश्री-
विश्वावसोस्तदनु मन्दिरमुत्तमञ्च ।
कैलासभूस्तदनु मञ्जुवनश्च शैलो
विद्याधरामरविमानसमानभूमिः ॥ ६७ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
जनपदवर्णनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

एकपाद, क्षुद्र, आमबल और अस्ताचलवासी, अबल, प्रखल, शाक, क्षेम, धूर्ति, दश प्रकार के नाग, अवसनी, अदण्ड, अहन्यसन, धानद, सरक, वाटधान, अनन्तरद्वीप के निवासी, गान्धार, अवन्ति और सुर अनन्तर तक्षशिला बीलव, गोधनी, इसके अनन्तर पुष्करावर्त देश की यशोवती नाम की पृथिवी है। अनन्तर नाभिमती भूमि है उसके बाद तिक्षा तथा कालवराभूमि है और काहक तथा सुरभूतिपुर नामक नगर हैं, अनन्तर रतिकादर्श, पिङ्गल एवं पाण्डव्य के निवासी जन और यमुना के तीरवासी यातुधानक, नाङ्गन, हेमताल, स्वस्वमुख तथा हिमालय, वसुमान्, क्रौञ्च और कैलास ये पर्वत हैं ॥ ५६—६२ ॥

इसके बाद देशरहित अस्सी योजन विस्तृत भूमि है। अनन्तर पूर्व और उत्तर दिशा के अन्तराल में कालत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खदिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन, सावाकत्, चापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतुक, किरात, यामुपात, दील, तदुपरान्त स्वर्णभूमि है, तदनन्तर अतिसुशोभित देवस्थल जनपद भूमि है, उसके बाद गन्धर्वराज विश्वावसु का उत्तम मन्दिर है, अनन्तर कैलासभूमि है अनन्तर मञ्जुवन नाम का पर्वत है अनन्तर विद्याधर और देवगणों के समान विमान के समान अभिराम भूमि है ॥ ६२-६७ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण लीलोपाख्यान में जनपदवर्णन
नामक कुसुमलता का छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३६ ॥

३७

वसिष्ठ उवाच

रणे रभसनिर्लूननरवारणदारुणे ।
अहंपूर्वमहंपूर्वमिति वृन्दानुपातिनि ॥ १ ॥
एते चाऽन्ये च बहवस्तत्र भस्मत्वमागताः।
प्रविशन्तः प्रयत्नेन शलभा इव पावके ॥ २ ॥

३७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—वेग से काटे गये मनुष्य और हाथियों से भीषण रण में, जिसनें सैनिक लोग 'पहले मैं पहले मैं' इस होड़ से झुण्ड के झुण्ड विपक्षसेना में टूट रहे थे, प्रयत्न से प्रवेश कर रहे पूर्वोक्त और उनसे अतिरिक्त भी अनेक लोग अग्नि में प्रवेश कर रहे पतगों के समान भस्म हो गये ॥ १-२ ॥

अत्राऽन्ये मध्यदेशीया जना नोदाहृता मया।
तानिमाञ्छृणु वक्ष्यामि पक्षाँल्लीलामहीभृतः ॥ ३ ॥
तद्देहिकाः शूरसेना गुडा अश्वघनायकाः।
उत्तमज्योतिभद्राणि मदमध्यमिकादयः ॥ ४ ॥
सालू[1]काकोद्यमालास्या दौर्ज्ञेयाः पिप्पलायनाः।
माण्डव्याः पाण्डुनगराः सौग्रीवाद्या गुरुग्रहाः ॥ ५ ॥
पारियात्राः कुराष्ट्राश्च यामुनोदुम्बरा अपि।
राज्याह्वा उज्जिहानाश्च कालकोटिकमाथुराः ॥ ६ ॥
पाञ्चाला धर्मारण्याश्च तथैवोत्तरदक्षिणाः।
पाञ्चालकाः कुरुक्षेत्रास्तथा सारस्वता जनाः ॥ ७ ॥
अवन्तीस्यन्दनश्रेणी कुन्तिपाञ्चनदेरितैः।
स्पन्दमाना विद्रवन्ती निपपात महाभृगौ ॥ ८ ॥
कोशब्रह्मावसानाश्च छिन्ना[2] वस्त्रवतीजनैः।
भूमौ निपतिताः सन्तो मिलिता मत्तवारणैः ॥ ९ ॥
शूरा दाशपुराः शस्त्रनिकृत्तोदरकन्धराः।

इस युद्ध में दूसरे मध्यदेश के लोग लीला के स्वामी के पक्षभूत जिनका निर्देश मैंने नहीं किया है। उन लोगों को मैं कहता हूँ आप सुनें ॥ ३ ॥

तद्देहिक, शूरसेन, गुड़, अश्वघनायक, उत्तमज्योतिभद्र, मदमध्यमिकादि, सालक, अकोद्यमालास्य, दौर्ज्ञेय, पिप्पलायन, माण्डव्य, पाण्डुनगर, सौग्रीवादि, गुरुग्रह, पारियात्र, कुराष्ट्र, यामुन, उदुम्बर, राज्यनामक, उज्जिहान, कालकोटिक, माथुर, पाञ्चाल, धर्माख्य तथा उत्तर और दक्षिण पाञ्चालक, कुरुक्षेत्र और सारस्वतनिवसी वीर सैनिक गण थे ॥ ४—७ ॥

उज्जयिनी की रथपंक्ति कुन्तिदेशवासी और पञ्चनददेशवासियों द्वारा छोड़े गये शस्त्रों से भयपूर्वक काँपती और दौड़ती हुई बड़े भारी पर्वतप्रपातो में गिर पड़ी ॥ ८ ॥

वस्त्रवती के लोगों द्वारा काटे गये भूमि में गिर रहे कोशब्रह्म की सीमा के लोग हाथियों द्वारा कुचल दिये गये ॥ ९ ॥

बाण की भूमि के लोगों ने दाशपुर के शूरों को, जिनके कन्धे और पेट शस्त्रों से काट डाले थे, जीत कर आठ कोश तक उनका पीछा किया और संयोगवश मार्ग में प्राप्त तालाब में उन्हें डुबा दिया ॥ १० ॥

विदीर्ण हुए पेट से निकली हुई अपनी अँतड़ीरूपी

बाणक्षितिभिराक्रम्य योजिता योजने ह्रदे ॥ १० ॥
दीर्णोदरविनिर्यातस्वान्त्रतन्त्रीनियन्त्रिताः।
शान्तिकाः शान्तसञ्चाराः पिशाचैश्चर्विता निशि ॥ ११ ॥
उद्रवैर्भद्रगिरिभिः सङ्ग्रामाध्वरदीक्षितैः।
क्षोणिगर्तेषु निक्षिप्ता मरगा कमठा इव ॥ १२ ॥
प्रद्रुता विद्रवद्रक्ता विद्रावितमहारयः।
दण्डिकास्थानिलोद्धूता हैहयैर्हरिणा इव ॥ १३ ॥
दन्तिदन्तविनिर्भिन्ना दरदा दलितारयः।
नीता रक्तमहानद्या द्रुमाणां पल्लवा इव ॥ १४ ॥
नाराचैश्चर्विताश्चीना जीर्णा जर्जरजीविताः।
जहुर्जलनिधौ देहान् भारभूतानिव स्थितान् ॥ १५ ॥
कर्णाटसुभटोड्डीनकुन्ताकलितकन्धराः।
भग्ना नलदशूराश्च तारकानिकरा इव ॥ १६ ॥
करीन्द्रमकरव्यूहरंहःसंहतहेतयः।
केशाकेशिकृतरम्भा विनेदुर्दाशकाः शकाः ॥ १७ ॥

रस्सियों में उलझे हुए मन्दगति शान्तिदेशवासियों को मार्ग के पिशाचों ने चबा डाला ॥ ११ ॥

प्रचण्ड रणघोष करनेवाले संग्रामरूपी यज्ञ में दीक्षित भद्रगिरिनिवासियों ने मरदेशवासी भटों को कछुओं की भाँति पृथिवी के गड्ढों में फेंक दिया ॥ १२ ॥

पहले बड़े-बड़े शत्रुओं को भगानेवाले शरीरों से रुधिर बहनेवाले दण्डिकानगरीनिवासियों को हैहयवंशियों ने इस तरह भगाया मानो वायु के वेग से वातप्रमीनामक हरिण भाग रहे हैं ॥ १३ ॥

हाथियों के दाँतों से विचूर्णित अपने शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले दरददेशनिवासियों को, रुधिर की महानदी पेड़ के पल्लवों की भाँति बहा ले गई ॥ १४ ॥

अर्धचन्द्राकार बाणों से छिन्न-भिन्न घायल अधमरे चीननिवासियों ने अपने भारस्वरूप अपने शरीरों को सागर में अर्पण कर दिया ॥ १६ ॥

कर्णाट देश के दक्ष भटों द्वारा वायु में फेंके गये भालों से जिनके कन्धे कट गये थे, ऐसे नलददेश के शूर तारों के समूह की भाँति समाप्त हो गये ॥ १६ ॥

मगरों के समूह के समान गजराजों ने जिनके शस्त्रास्त्र बड़े वेग से छिन्न-भिन्न कर दिये थे, ऐसे दाशक और और शक केशाकेशि युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर सिंहनाद करते थे ॥ १७ ॥

---

१. सालूसाकेध इति पाठान्तरम्।

२. छिन्नाः इति पाठान्तरम्।

दशार्णाः पाशनिर्मुक्तशृङ्खलाजालभीरवः।
निलीना रक्तजम्बाले वेतसास्तिमयो यथा ॥ १८ ॥
गुर्जरानीकनाशेन गुर्जरीकेशलुञ्चनम्।
विहितं तङ्गणोत्तुङ्गनासिशङ्कुशतैं रणे ॥ १९ ॥
सिषिचुः शस्त्रकर्णौघाद्विन्दुभ्यो निगडा गुहान्।
शरधारावनानीव वीरहेतिप्रभाम्बुदाः ॥ २० ॥
भुशुण्डीमण्डलोद्योतश्यामार्कोत्पातभीरुषु।
आभीरेष्वरयः पेतुर्गोगणा हरितेष्विव ॥ २१ ॥
कान्तकाञ्चनकान्ताऽऽसीत्ताम्रसङ्ग्रामवाहिनी।
भुक्ता गौडभटेनाऽङ्ग नखकेशनिकर्षणैः ॥ २२ ॥
रणे नगनयासंख्यकवचचक्रनिकृन्तनैः।
तङ्गणाः कणशः कीर्णाः कङ्कगृध्रेषु भासकैः ॥ २३ ॥

पाशदेशवासियों द्वारा छोड़े गये शृङ्खलाजाल से भयभीत दाशार्ण लोग वैसे ही रक्तरूपी कीचड़ में वैसे ही छिप गये जैसे बेंत की झाड़ियों की जड़ों में रहनेवाली मछलियाँ कीचड़ में छिप जाती है ॥ १८ ॥

तंगण लोगो के ऊपर उछले हुए खड्गों और शङ्कुशतनामक शस्त्रों ने रणभूमि में गुर्जरसेना के विनाश से गुर्जरस्त्रियों के केशों को काट दिया ॥ १९ ॥

वैसे ही जिन्होंने कानों की भाँति अस्त्र-शस्त्रों को उन लोगों ने वैसे ही खड़ा किया था जैसे वीरों के आयुधों के सदृश कान्तिवाले मेघ अपनी बूँदों से जङ्गलों को सींचते हैं ऐसे सैनिकों के संघ से निकली हुई वीरायुध-प्रभारूपी बिजुली से मेघ के समान प्रतीत हो रहे निगड़-देशियों ने गुहदेशीय भटों के प्रति बाणों की धाराएँ बरसाईं ॥ २० ॥

भुशुण्डीनामक हथियार के मण्डल की कान्ति से कालिमा को प्राप्त सूर्य ही एक उत्पात है उससे भयभीत आभीरदेशवासियोंपर शत्रु ऐसे टूटे, जैसे हरी घासपर गौओं का झुण्ड टूटता है ॥ २१ ॥

ताम्रों=एक प्रकार के यवनों की संग्राम के लिए तत्पर कान्तकाञ्चनप्रिय सेनारूपी नायिका गौड़देश के भटों द्वारा नखक्षत और केशकर्षण द्वारा उपभुक्त हुई ॥ २२ ॥

भासकदेशवासियों ने रणभूमि में वृक्षों और पहाड़ों को तहस-नहस कर देनेवाले शब्दयमान असंख्य चक्रों के वारों से या चक्रों द्वारा छेदन से तंगणदेशवासियों को किनका-किनका बनाकर कङ्क और गीधों में बिखेर दिया ॥ २३ ॥

लगुडालोडनोड्डीनं गौडं गुडुगुडारवम्।
श्रुत्वा गान्धारगावोऽग्रे दुद्रुवुर्द्रविडा इव ॥ २४ ॥
आकाशगार्णवप्रख्यो वहच्छककदम्बकः।
अकरोत्पारसीकानां घननैशतमोभ्रमम् ॥ २५ ॥
मन्दराहननोड्डीनस्वच्छक्षीरार्णवोदरे।
वनानीवाऽऽयुधान्यासञ्छत्त्रुप्रालेयसानुनि ॥ २६ ॥
यदम्बुदैरिवोड्डीनं शस्त्रवृन्दैर्नभोङ्गणे।
तद्दृष्टं वीचिवलनैर्लोलैः प्लुतमिवाऽर्णवे ॥ २७ ॥
शतचन्द्रं सितच्छत्रैः शरैः शलभनिर्भरम्।
शक्तिभिः किल नीरन्ध्रं दृष्टमाकाशकाननम् ॥ २८ ॥
वीरासवसमाक्रन्दकारिणः केकयैः कृताः।
कङ्कैः कङ्ककुलाक्रान्तव्योमोद्धूलितमस्तकाः ॥ २९ ॥

बड़ी-बड़ी लाठियों के भ्रमण से उपलक्षित गौड़ सैनिकों के गुड-गुडा शब्द को सुनकर गोतुल्य गान्धर-देशवासी द्रविड़ों के समान भाग गये ॥ २४ ॥

काली पोशाक पहनने के कारण आकाशस्थित सागर के तुल्य पर्वतों से नदी के समान उतरते हुए शकों के समुदाय ने निशा के पारसियों को निबिड़ अन्धकार का भ्रम कर दिया ॥ २५ ॥

सफेद पोशाक पहने हुए पारसियों के साथ युद्ध करने वाले शकों के अस्त्र मन्दिर पर्वत के आलोडन से ऊपर को आए हुए अत्यन्त स्वच्छ क्षीरसागर के मध्य में मन्द-राचल के वनों के समान दिखाई दिये और दर्शक लोगों को शत्रुरूपी हिमालय के शिखर में हिमालय के वनों के समान दिखाई दिये ॥ २६ ॥

भूमिस्थित लोगों ने शस्त्रसमुदाय को मेघों के समान आकाशमंडल में उड़ते हुए देखा, आकाश में स्थित लोगों ने उस सागर में अन्य तरङ्गों से सम्मिलित चञ्चल तरङ्गों के तैरने के समान देखा ॥ २७ ॥

आकाशरूपी वन को सैकड़ों चन्द्रों से युक्त सफेद छत्र के समान देखा, बाणों के द्वारा टिड्डियों से अत्यन्त व्याप्त के समान देखा और शक्तियों से अवकाश शून्य देखा ॥ २८ ॥

केकयदेशवासियों ने अपने शत्रुओं को आसव पान में रोदन करनेवाले बना दिया, क्योंकि अपने बन्धु-बान्धवों का विनाश होने से आसवपान के समय उनका रोना स्वाभाविक हुआ और कङ्क देशवासियों ने अपने शत्रुओं को चीलों के झुण्ड से आक्रान्त आकाश में उद्धूलितमस्तक वाले बना दिया ॥ २९ ॥

किरातसैन्यकन्यानां कामं कलकलारवैः।
अङ्गैरनङ्गतां नीत्वा भैरवैरिव गर्जितम्[1] ॥ ३० ॥
काशैस्तद्देहकाः क्रान्ता अदृश्यैर्मायया खगैः।
निर्धूतपक्षैः क्षुभितैः पवनैरिव पांसवः ॥ ३१ ॥
उन्मत्ताः सुविनिर्धूतास्त्यक्तहेतिरणाम्बराः।
नार्मदा नर्मनिर्मातृ ननृतुर्जहसुर्जगुः ॥ ३२ ॥
प्रक्वणत्किङ्किणीजालं शक्तिवर्षमुपागतम्।
साल्वबाणानिलोद्धूतमगमत्पृषदाकृति ॥ ३३ ॥
शैव्यास्तु खण्डिताः कौन्तैर्भ्रंकुन्तैर्विघट्टिताः।
शवीभूता दिवं नीता द्रष्टा विद्याधरा इव ॥ ३४ ॥
धराधरणधर्मिण्या धीरया हीनसेनया।
लुण्ठिताः पाण्डुनगराश्चलनोल्लाससमात्रतः ॥ ३५ ॥
तद्देहकाः पञ्चनैर्ददलिता मत्तकाशिभिः।

विजय की प्राप्तिपर कोलाहल करनेवाले अङ्गदेशवासियों ने किरातसैनिकरूपी कन्याओं की अङ्गरहितत्व और काम प्राबल्य को प्राप्तकर भैरवों के समान अत्यन्त गर्जना की ॥ ३० ॥

माया से पक्षी बने हुए अदृश्य सागर के मनुष्यों ने फैलाये हुए अपने परों से क्षुभित झञ्झावात धूलिकणों के समान उद्देहकवासी लोगोंपर आक्रमण किया ॥ ३१ ॥

शस्त्रास्त्र तथा रण की पोशाक का त्याग कर नर्मदातीरवासियों ने युद्ध से उन्मत्त, खूब कँपाये गये शरीर से मनोविनोदकारी नृत्य, हास और गान किया ॥ ३२ ॥

समीप में आई हुई बजती हुई छोटी-छोटी घण्टियों से समन्वित शक्तियों की वर्षा साल्वदेशवासियों के बाणरूपी वायु से कम्पित होकर बिन्दुओं के आकार में परिणत हो गई ॥ ३३ ॥

कुन्तिदेशवासी वीरगण घुमाये जा रहे भालों से विघटित, विखंडित और विनष्ट कर शैव्यदेशवासी गणों को विद्याधरों के समान स्वर्ग में ले गये ॥ ३४ ॥

युद्ध-भूमि पर आक्रमण करने वाली प्रकृति अहीन देश की सेना ने अपने सोत्साह गमन से ही पाण्डु नगर के वीरों को लुंठित कर दिया ॥ ३५ ॥

मदोन्मत्त के समान चलने वाले पञ्चनद देश के वीरों ने तद्देहकवासी भालों, हाथी के दाँतों और वृक्षरूपी हथियारों से युद्ध करने में कुशल योद्धाओं को वैसे ही कतल कर दिया जैसे हाथी पर्वतों को खोद डालते

कुन्तदन्तद्रुमोद्दामा नगा इव मतङ्गजैः ॥ ३६ ॥
ब्रह्मावत्सनका नीपैश्चक्रैः कृत्ता गता महीम्।
सहयाः क्रकचोत्कृत्ता वृक्षाः कुसुमिता इव ॥ ३७ ॥
श्वेतकाकाननं लूनं कुठारैर्जठरेरितैः।
एतद्ददाह पार्श्वस्थो भद्रेशः शरवह्निना ॥ ३८ ॥
काष्ठयोधे निरालानं मग्ना जीर्णा मतङ्गजाः।
लयमाजग्मुरायुद्धमिद्धेग्नाविन्धनं यथा ॥ ३९ ॥
मित्रगर्तास्त्रिगर्तात्ता भ्रमित्वोर्ध्वं तृणोपमम्।
विविशुर्व्यस्तमूर्धानः पातालान्तं पलायितुम् ॥ ४० ॥
मन्दानिचलाम्भोधिभासुरे मागधे बले।
निर्मग्ना वनिला मन्दाः पङ्के जीर्णगजा इव ॥ ४१ ॥
चेदयश्चेतनां जह्रुस्तङ्गणानां रणाङ्गणे।
पुष्पाणां पथि शीर्णानां सौकुमार्यमिवाऽऽतपाः ॥ ४२ ॥

हैं ॥ ३६ ॥

नीप देशवासियों द्वारा चक्रों से काटे गये घोड़ों के साथ पृथिवी में गिरे हुए ब्रह्मावत्सन देश के आरों से काटे गये सैनिक फूले हुए वृक्षों के समान प्रतीत होते थे ॥ ३७ ॥

जठर देशीय भटों से फेंके गये कुल्हाड़ों ने श्वेतका देश के भटों के सिर काट डाले और जठर देशीयों की सेना को पास में स्थित मद्र देश के राजा ने बाणरूपी अग्नि से जला डाला ॥ ३८ ॥

काष्ठ देशीय योद्धारूपी कीचड़ में जर्जर हुए मतङ्गज देशीय सैनिकरूपी मतङ्गज हाथी बन्धन स्तम्भ के बिना ही फँसे हुए अग्नि में डाले हुए काष्ठ भस्म के समान रणभूमि के चारों ओर विनष्ट हो गये ॥ ३९ ॥

त्रिगर्त देश के भटों से पकड़े गये मित्रगर्त देशीय भट तिनके के समान ऊपर को घूमकर नीचे मस्तक हो भागने के लिए पाताल के अन्तस्तल में प्रविष्ट हुए ॥ ४० ॥

मन्द गति वनिल देशीय अस्थिर भट महा समुद्र के समान देदीप्यमान मागध सेना में पङ्क में वृद्ध हाथी के समान निःशेष रूप से फंस गये ॥ ४१ ॥

समर-भूमि में चेदिदेशीय भटों ने तङ्गण देश के भटों की चेतना को ही वैसे ही निष्प्राण बना दिया जैसे मार्ग में गिरे हुए फूलों की सुकुमारता को धूप हर लेती है ॥ ४२ ॥

१. गर्जितैः इति पाठान्तरम्।

कौसलाः पौरवारावमसहन्तोऽन्तका इव ।
तैरुन्मुक्तगदाप्रासशरशक्त्यतिवृष्टयः ॥ ४३ ॥
बभूवुर्भल्लकृत्ताङ्गा विस्मया विद्रुमद्रुमाः ।
इवाऽद्रौ विद्रवन्त्यार्द्रसान्द्रासृक्सूर्यमूर्तयः ॥ ४४ ॥
नाराचौघमहाहेतिमारुताधूतमूर्तयः ।
बभ्रमुर्भ्रमरानीकभासुरा जलदा इव ॥ ४५ ॥
शरधाराधरा मेघाः शरोर्णापूर्णमेषकाः ।
शरपत्रावृता वृक्षा भ्रेमुस्तद्गर्जना गजाः ॥ ४६ ॥
वनराज्यजराजीर्णाः कन्दा[1]कस्थलजन्तवः ।
अत्रुटन्परमाकृष्टाः पेलवा इव तन्तवः ॥ ४७ ॥
रथेषु ध्वस्तचक्रेषु निखतेऽमुत्र मूर्धसु ।
निपेतुर्जनसङ्घाता मेघा इव वनाद्रिषु ॥ ४८ ॥

पौरवदेश के भटों के शब्द के भी सहन में असमर्थ और यमराज के समना पीट रहे कोसलदेशवासियोंपर पौरवों ने गदाओं, भालों, बाणों, शक्तियों की अतिशय वृष्टि की ॥ ४३ ॥

उनमें से जो भालों से अङ्गों के कटनेपर भी शत्रुओं के शौर्य के विषय में किसी प्रकार के विस्मय से शून्य गीले और गाढ़े रुधिर से बालसूर्य के समान पर्वत में मूँगे के वृक्षों के समान दौड़ते थे ॥ ४४ ॥

उनमें से अर्द्धचक्राकार बाणों की राशि आदि प्रबल अस्त्ररूपी वायु से कम्पित शरीर भँवरों के दल से सुशोभित मेघों के समान घूमते थे ॥ ४५ ॥

बाणरूपी मूसलाधार वृष्टि की धाराओं को धारण करनेवाले मेघों के समान बाण, समूहरूपी उनमें परिपूर्ण भेड़ों के समान एवं बाणव्यूहरूपी पत्तों से ढके हुए वृक्षों के समान कोसलदेशवासियों के बाणवृष्टिधारी गर्जनकारी हाथी घूम रहे थे ॥ ४६ ॥

वनराज्यनामक देश के सैनिकों के द्वारा निर्बल कन्दाकस्थल में उत्पन्न मनुष्य, हाथी आदि जन्तु खूब जोर से खींचे गये कच्चे सूत के समान टूट कर छिन्न-भिन्न हो गये ॥ ४७ ॥

खाईंरूपी गड्ढे मे टकराने से रथों के चक्रों के टूटनेपर इन रथों के मस्तकोंपर प्रहार करनेवाले शत्रुओं के समूह वनपूर्ण पर्वतोंपर मेघ के गिरने के समान टूट गये ॥ ४८ ॥

शाल का वन और ताल का बन युद्ध में परस्पर दो जनसमूहों के सम्मेलन से महावनरूप में परिणत युद्धस्थान

शालतालवनं प्राप्य जनतावलनं वनम् ।
भुजावकर्तनं चासीदुत्तालं स्थाणुकाननम् ॥ ४९ ॥
ननर्दुर्नन्दनोद्यानसुन्दर्यो मत्तयौवनाः ।
वनोपवनदेशेषु मेरोर्वीरवराश्रिताः ॥ ५० ॥
तावत्ताररवं रेजे सैन्यकाननमुत्तमम् ।
यावन्न परपक्षेण प्राप्तं कल्पानलार्चिषा ॥ ५१ ॥
छिन्नाः पिशाचसंयुक्ता भूतापहृतहेतयः ।
पातयित्वा ययुः कर्णान्दिशार्णास्तर्णका इव ॥ ५२ ॥
जहुर्भग्नेश्वराः कान्तिं ताञ्जिगीषवनौजसा ।
कासयः[1] कमलानीव शुष्कस्रोतस्विनौजसा ॥ ५३ ॥
तुषाका मेखलैः कीर्णाः शरशक्त्यसिमुद्गरैः ।
विद्रुता नरकैः क्षिप्ता कटकच्छलना अपि ॥ ५४ ॥

होकर वहाँ बाहुच्छेदन और मस्तकच्छेदन के द्वारा क्रमशः ऊँचे तालवृक्षप्राय और स्थाणुओं का वन हो गया। (शालों के चारों ओर की शाखाओं के काटनेपर ताल के समान पेड़ हो जाते हैं और तालों की चोटी काट देने से स्थाणुता ही बच जाती है, इसलिए शाल का वन तालवन बना और तालवन स्थाणुओं का वन बना) ॥ ४९ ॥

उन्मत्त यौवनवाली नन्दनवन की सुन्दरियाँ सुमेरु पर्वत के वन और उपवनों में बीरवर पुरुषों की संगति प्राप्तकर अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥ ५० ॥

प्रचुर सिंहनाद से पूर्ण उत्तम सेनारूपी वन जबतक नहीं आया था तब तक ही सुशोभित हुआ । प्रलयकाल की अग्नि की ज्वाला के सदृश ज्वालावाला शत्रुदल नहीं आया ॥ ५१ ॥

कामरूप आदि देशों के पिशाच बहुत भटों के साथ, था, युद्ध के लिए सम्मिलित हुए दाशार्ण देश के भट पिशाचों द्वारा शस्त्रों के हर लेने और घायल होनेपर बछवों की भाँति भागते हुए राह में कर्णदेश के भटों को मार कर निकल गये ॥ ५२ ॥

तालाबों को भरनेवाले झरनों के ग्रीष्मऋतु के प्रभाव से सूखे ताञ्जिगीषवनदेशीय भटों के प्रताप से कासिदेश के भटों ने जिनके कि स्वामी मर चुके थे वैसे ही कान्ति खो दी जैसे कमल अपनी कान्ति को खो बैठते हैं ॥ ५३ ॥

मेखलदेशवासियों ने तुषाकदेशीय भटों के ऊपर बाण, शक्ति, तलवार और मुद्गरों की वृष्टि की । नरकदेशीय भटों के शस्त्रास्त्रों से आक्रान्त कटकच्छलनदेश के भट भी भाग गये ॥ ५४ ॥

---

१. कण्टकस्थल इति पाठान्तरम् ।

कौन्तक्षेत्राः प्रस्थवासैः स्थित्वायोधिभिरावृता ।
गुणा इव खलाक्रान्ता गता व्यक्तमशक्तताम् ॥ ५५ ॥
द्विपयो बाहुधानानां क्षणेनाऽऽदाय मस्तकम् ।
भल्लैः पलाय्याऽऽशु गता बिलूनकमला इव ॥ ५६ ॥
मिथः सारस्वता नीत्वा आदिनान्तं कृताजयः ।
पंडिता इव वादेषु नोद्विग्ना न पराजिता ॥ ५७ ॥
खर्वगाः खदिताः क्षुद्रा यातुधानैः परावृताः ।
तेजःपरममाजग्मुः शान्ताग्नय इवेन्धनैः ॥ ५८ ॥
कियदाख्यायत एतज्जिह्वानिचयैर्विलालमाकुलितः ।
वासुकिरपि वर्णयितुं न समर्थो रणवरं राम ! ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने जनपदवर्णनं नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

अपने स्थान में ही बैठकर युद्ध करनेवाले धीर वीर प्रस्थवासदेश के वीरों से घेरे गये कौन्तक्षेत्र के सैनिक दुष्ट पुरुषों से आक्रान्त सद्‌गुणों के समान अत्यन्त अशक्त हो गये ॥ ५५ ॥

द्विपिदेश के भट, कमल तोड़नेवाले पुरुषों के समान अपने भालों से बाहुधानदेश के भटों के मस्तक को क्षण में काट कर भागकर शीघ्र चले गये ॥ ५६ ॥

सरस्वती नदी के तीरवर्ती देशों के भट सायंकाल तक लगातार परस्पर युद्ध करते हुए शास्त्रार्थ में पंडित के समान न तो श्रान्त हुए और न पराधित ही हुए ॥ ५७ ॥

भाग कर चले गये खर्वदेशवासी क्षुद्र भट लङ्का में रहनेवाले सहायभूत राक्षसों द्वारा लौटाये जानेपर वे जैसे बुझी हुई अग्नि लकड़ियों से भड़क उठती है वैसे ही परम प्रताप को प्राप्त को किया ॥ ५८ ॥

हे राम ! मैं कितना कहूँ, यह श्रेष्ठ संग्राम इतना विस्तृत है कि शेषनाग भी शीघ्रता से अपनी दो हजार जिह्वाओं से इसका पूर्ण वर्णन करने लिए असमर्थ हुए ॥ ५९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में जनपदवर्णन नामक कुसुमलता का सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३७ ॥

३८

वसिष्ठ उवाच

एवमत्याकुले युद्धे सास्फोटभयसङ्कुले ।
आदित्ये तमसा वृद्धे चटत्कठिनकङ्कटे ॥ १ ॥
वहत्यम्बूत्पतन्तीषु पतन्तीष्वश्मवृष्टिषु ।
नदीषु क्षपणाच्छासु वरकेष्वब्जपङ्क्तिषु च ॥ २ ॥
मिथः फलाग्रकाटोत्थवह्निसीकरिणीषु च ।
आयान्तीषु प्रयान्तीषु दूरं शरनदीषु च ॥ ३ ॥
वहल्लूनशिरःपद्मचक्रावर्तैस्तरङ्गितैः ।
खार्णवे पूरिते हेतिवृन्दमन्दाकिनीगणैः ॥ ४ ॥

३८

श्रीवासिष्ठ जी ने कहा :— भुजास्फोट करनेवाले विजयी वीरों से पराजित भटों के भय से समन्वित अतिभीषण संग्राम में अन्धकार के आगमन से सूर्य भगवान् के वृद्ध होनेपर, शरीर के घावों से रुधिर प्रवाह को रोकनेवाले कठिन लौह-कवचों के द्वारा रुधिरक्लेद को बहानेपर, पत्थररूपी ओलों के स्वच्छ पाषाणवृष्टि के एक पक्ष में ऊपर जाने और दूसरे पक्ष में नीचे गिरनेपर, नदियों में कमलपङ्क्तियों के संकुचित हो जानेपर बाण की नोक में लगे हुए लोहे के टुकड़े के अग्रभाग में हुए आघात से उत्पन्न अग्निकणरूपी जलकणों को धारण करने वाली बाणनदियों के समीप में आने और दूर जानेपर, आयुधों के समूह स्वरूप मन्दाकिनियों से, जिनमें कटे हुए सिररूपी पद्म बह रहे थे, जो चक्ररूपी आवर्तों से पूर्ण थीं तरङ्गयुक्त, आकाशरूपी सागर के भर जानेपर, वायु के समान शब्द कर रहे शस्त्रों से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त निबिड़ बैठने की जगह की लालिमा को बढ़ाने के कारण वर्षा ऋतु के आरम्भ के सन्देह से वानरों को कामपीड़ा देनेवाले मेघों से सिद्धों को प्रलय के सन्देह से वानरों को काम-पीड़ा देनेवाले मेघों से सिद्धों को प्रलय का सन्देह होनेपर, आठवें भागरूप अवस्था में शेष

१. काशयः इति पाठान्तरम् । २. मेखलैः इति पाठान्तरम् ।

समीरणरणत्खङ्गशस्त्रपूर्णघनैर्घनैः ।
संदेहान्तेषु सिद्धेषु कपिकच्छव्यथाप्रदैः ॥ ५ ॥

अष्टभागगदशाशेषप्रतापमधुराकृति ।
शस्त्रघातौजसा वीर इवाऽहस्तनुतां ययौ ॥ ६ ॥

श्रान्ताश्वेभाः प्रभग्नाश्च हेतिसङ्घातदंमितः ।
दिवसेन समं सेना ययुर्मन्दप्रतापताम् ॥ ७ ॥

अथ सेनाधिनाथाभ्यां विचार्य सह मन्त्रिभिः ।
दूताः परस्परं वृत्ता युद्धं संह्रियतामिति ॥ ८ ॥

तत्र श्रमवशान्मन्दयन्त्रशस्त्रपराक्रमैः ।
रणसंहरणं काले सर्वैरेवोररीकृतम् ॥ ९ ॥

ततो महारथोत्तुङ्गकेतुप्रान्तकृतास्पदम् ।
बलयोरारुरोहैक एको योधो ध्रुवो यथा ॥ १० ॥

सोंऽशुकं भ्रामयामास सर्वदिङ्मण्डले सितम् ।
श्यामेव दीर्घशुद्धांशुं युद्धं संह्रियतामिति ॥ ११ ॥

ततो दुन्दुभयो नेदुः प्रतिध्वनितदिङ्मुखाः ।

रहे स्वल्पप्रताप से प्रचण्डतापरहित दिन शस्त्रों के प्रहारों से हुई लालकान्ति से वीर के समान हो गया ॥ १-६ ॥

थमें हुए हाथी, घोड़े एवं कान्तिहीन शस्त्रवाले सैनिक भी वैसे ही प्रतापहीन हो गये थे जिस प्रकार दिवस का प्रताप मन्द हो गया था ॥ ७ ॥

ऐसी स्थिति में सेनापतियों ने मन्त्रियों के साथ विचार कर एक दूसरे के पास रण बन्द करने के लिए दूत भेजे ॥ ८ ॥

युद्धभूमि में श्रम के कारण सभी के यन्त्र, शस्त्रास्त्र तथा पराक्रम क्षीण पड़ गये थे, सभी ने समय पर रणसमाप्ति का अनुमोदन किया ॥ ९ ॥

अनन्तर दोनों सेनाओं का एक-एक योद्धा महान् रथ के पताकादण्ड की चोटीपर रक्खे हुए लम्बे बांस के खम्भे पर ध्रुव के समान चढ़ा है ॥ १० ॥

उसने चारों ओर सफेद वस्त्र वैसे ही हिमालय जैसे राशि सम्पूर्ण दिशाओं में किरणों से विशाल शुभ्र चन्द्रमा को घुमती है, युद्ध बन्द करें ॥ ११ ॥

अनन्तर महाप्रलय की निवृत्ति होनेपर पुष्करावर्तनामक मेघों के समान दुन्दुभियाँ बजने लगीं, उनके निनाद से सम्पूर्ण दिङ्मण्डल मुखरित हो उठा ॥ १२ ॥

विशाल आकाशमण्डल में स्थित बाण आदि अस्त्र-शस्त्रों की नदियाँ मानससरोवर से सरयू आदि नदियों के

महाप्रलयसंशान्तौ पुष्करावर्तका इव ॥ १२ ॥

शरादिहेतिसरितो विस्तीर्णे गगने स्थिताः ।
प्रवृत्ताः सुखमागन्तुं सरसः सरितो यथा ॥ ॥ १३ ॥

योधदोर्द्रुमसंचारस्तनुतामाययौ शनैः ।
भूकम्पान्ते वनस्पन्द इवाऽऽभ्रान्त इवाऽर्णवः ॥ १४ ॥

विनिर्गन्तुं प्रववृते रणादथ बलद्वयम् ।
वारिपूरश्चतुर्दिक्षु प्रलयैकार्णवादिव ॥ १५ ॥

उत्क्षिप्तमन्दरक्षीरसमुद्रवदनाकुलम् ।
सैन्यं प्रशाम्यदावर्तं शनैः साम्यमुपाययौ ॥ १६ ॥

क्रमेणाऽऽसीन्मुहूर्तेन विकटोदरभीषणम् ।
अगस्त्यपीतार्णववच्छून्यमेव रणाङ्गणम् ॥ १७ ॥

शवसन्ततिसंपूर्णं वहद्रक्तनदाकुलम् ।
परिकूजनझङ्कारपूर्णझिल्लीवनोपमम् ॥ १८ ॥

वहद्रक्तसरित्स्रोतस्तरङ्गारवघर्घरम् ।
साक्रन्दार्धमृताहूतसप्राणव्यग्रमानवम् ॥ १९ ॥

समान बेरोकटोक गिरने लगीं ॥ १३ ॥

भटों की भुजाओं का सञ्चार वैसे ही शान्त हो गया जैसे भूकम्प के बाद वन का स्पन्दन और शरद् ऋतु बाद सागर का लहराना शान्त हो जाता है ॥ १४ ॥

दोनों सेनाएँ रणभूमि से वैसे ही निकलने लगीं इसके बाद जैसे प्रलय के अन्त में प्रलयकालीन एकमात्र समुद्र से जलप्रवाह चारों दिशाओं में बहता है ॥ १५ ॥

मन्दराचल से निकाले गये क्षीर समुद्र के समान प्रशान्त और जलभौंरियों से शून्य सेना धीरे-धीरे अव्याकुल स्थिति में आ गई ॥ १६ ॥

थोड़ी देर में क्रमशः सैनिकों के निकलनेपर रणभूमि पूतनेश्वरी के पेट के समान भीषण और अगस्तमुनि द्वारा पिये गये सागर के समान शून्य हो गई ॥ १७ ॥

सारी रणभूमि मुर्दों से पटी थी, जहाँ तहाँ रुधिर के नद बह रहे थे, घायल एवं मरणासन्न सैनिकों के रोदन और कराहने से वह पूर्ण थी अतएव वनमक्खियों की भनभनाहट से भरे हुए वन मक्खियों के वन के समान लगती थीं ॥ १८ ॥

वह रहीं रुधिर नदियों के प्रवाह और तरङ्गों के शब्द से उसमें घर-घर ध्वनि हो रही थी, रो रहे, चिल्ला रहे अधमरे लोगों द्वारा पुकारे गये जीवित पुरुष बड़े व्यग्र थे ॥ १९ ॥

मृतार्धमृतदेहौघसृतासृक्प्लुतनिर्झरम् ।
सजीवनरपृष्ठस्थशवस्पन्दनभ्रान्तिदम् ॥ २० ॥
करीन्द्रशवराश्यग्रविश्रान्ताम्बुदखण्डकम् ।
विशीर्णरथसङ्घातं वातच्छिन्नमहावनम् ॥ २१ ॥
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानहयद्विपम् ।
शरशक्त्यृष्टिमुसलगदाप्रासासिसङ्कुलम् ॥ २२ ॥
पर्याणावनसन्नाहकवचावृतभूतलम् ।
केतुचामरपट्टौघगुप्तं शवशरीरकम् ॥ २३ ॥
फणास्फुटकतूणीरकुञ्जकूजत्समीरणम् ।
शवराशिपलालौघतल्पसुप्तपिशाचकम् ॥ २४ ॥
मौलिहाराङ्गदद्योतशक्रचापवनावृतम् ।
श्वभृगालकराकृष्टसान्द्रान्त्रादीर्घरज्जुकम् ॥ २५ ॥
रक्तक्षेत्रक्वणत्किञ्चिच्छेषजीवनृदन्तुरम् ।

मरे हुए और अधमरे लोगों के शरीरों से चू रहे खून के झरने बह रहे थे, अधमरे पुरुषों की पीठ पर पड़े हुए मुर्दों में स्पन्दन का भ्रम होता था ॥ २० ॥

मत्त मातङ्गों के शवों के ढेर की चोटीपर मेघखण्ड विराजमान थे, वहाँ अनेक रथ बिखरे हुए थे, वह रणस्थल उस महावन के समान प्रतीत होता था ॥ २१ ॥

आँधी से वृक्ष ढह जहाँ गये हो, वहाँ बह रही रुधिरनदी के प्रवाह में हाथी, घोड़े बह रहे थे, बाण, शक्ति, ऋष्टि, मुसल, गदा, भाले और तलवारों से सारी रणभूमि पटी थी ॥ २२ ॥

काठी, शरीर के रक्षक चमड़े के टुकड़े और कवचों से सारा भूतल व्याप्त था, शवों के शरीर, पताका, चँवर और घाव बाँधने की पट्टियों से आच्छन्न था ॥ २३ ॥

साँप की फन के समान जिनका आगे का हिस्सा ऊँचा था और जिनमें चलनी के समान चारों ओर छिद्र हो गये थे ऐसे तरकसों में वायु इस प्रकार शब्द करता था जैसे झाड़ियों में करता है, वहाँपर पिशाच शवों की राशिरूप पुआल के बिछौने पर सोये थे ॥ २४ ॥

सिरपर धारण किये हुए शिरोरत्नों और अङ्गदों (बाजू-बन्दों) की जगमगाहट से सैकड़ों इन्द्रधनुष उसके चारों ओर उगे थे, कुत्ते और सियार अपने पञ्जों से खून से लथपथ अँतड़ीरूपी लम्बीं रस्सी को खींच रहे थे ॥ २५ ॥

जिनका जीवन कुछ कुछ शेष है, ऐसे दाँत चिआरे हुए पुरुष वहाँपर रुधिर से परिपूर्ण खेत में घर् घर् शब्द कर रहे थे, सजीव नररूपी मेंढक रुधिर के कीचड़ में

रक्तकर्दमनिर्मग्नसजीवनरदर्दुरम् ॥ २६ ॥
वराङ्गकवचप्रख्यनिर्गताक्षिशतोच्चयम् ।
वहद्भुजोरुकाष्ठौघघोररक्तसरिच्छतम् ॥ २७ ॥
साक्रन्दबन्धुवलितं मृतार्धमृतमानवम् ।
शरायुधरथाश्वेभपर्याणासंवरान्तरम् ॥ २८ ॥
नृत्यत्कबन्धदोर्दण्डमण्डलानमिताम्बरम् ।
मदमेदोवसागन्धपीडार्द्रघ्राणकोटरम् ॥ २९ ॥
उत्तालवर्धमृतेभाश्ववार्यमाणाल्पजीवितम् ।
वहद्रक्तनदीवीचिप्रहारहतदुन्दुभि ॥ ३० ॥
उह्यमानमृतेभाश्वमकरासृक्सरिच्छतम् ।
म्रियमाणनरानीकफूत्कृतासृक्प्रणालिकम् ॥ ३१ ॥
स्वल्पजीवशरापूर्णमुखदृक्कान्तितस्वनम् ।
पिण्डभार्यावसागन्धवातान्तोत्पीठलोहितम् ॥ ३२ ॥

सर्वथा निमग्न थे ॥ २६ ॥

चित्रकञ्चुक के समान सैकड़ों आँखों की राशि वहाँपर निकले हुए पड़े थे, वहाँपर सैकड़ों रक्तनदियाँ बह रही थीं जो भुजा और जङ्घा रूपी काष्ठसमूह से अतिशय भयङ्कर थीं ॥ २७ ॥

रो रहे बन्धुओं से सारी रणभूमि व्याप्त थीं, जहाँ देखो वहीं मरे और अधमरे मनुष्यों का ढेर लगा था, बाण, अस्त्र-शस्त्र, रथ, घोड़े, हाथी और काठियों से सारी रणभूमि आच्छन्न थी ॥ २८ ॥

नांच रहे कबन्धों के बाहुदण्डमण्डल से आकाशमण्डल नीचा कर दिया गया था, हाथियों के मद, मेदा और वसा के गन्ध से नाक मे पीड़ा होती थी और नाक बहने लगती थी ॥ २९ ॥

जिन्होंने अपने ऊपर को किये थे, ऐसे अधमरे हाथी और घोड़ों से अपने अल्पजीवित स्वरूप की रक्षा की जा रही थी, बह रही रुधिरनदी की लहरों के प्रहार से नगाड़े बज रहे थे ॥ ३० ॥

मरे हुए हाथी एवं घोड़े रूपी मगर खून की सैकड़ों नदियों में ऊपर तैर रहे थे, वहाँपर मर रहे नरों के फूत्कार से मुख में भरे हुए खून के फव्वारे बाहर निकाले जा रहे थे ॥ ३१ ॥

जिनका जीवन थोड़ा शेष है और मुँह और मेत्रों में बाण भरे हुए हैं, ऐसे लोग वहाँपर रो-चिल्ला रहे थे, वहाँपर खून पिण्डभार्या के पेट की बाईं ओर स्थित एक मांस की ग्रन्थि पण्डिभार्या कही जाती है बसा की दुर्गन्धि से युक्त और वायु लगने से घनीभूत हुआ था ॥ ३२ ॥

उन्नासार्द्धमृतेभेन्द्रकराक्रान्तकबन्धकम् ।
निरधिष्ठितहस्त्यश्वपातितोच्चकबन्धकम् ॥ ३३ ॥
रुदत्क्रन्दत्परिभ्रष्टाशवक्षुब्धासृगुद्धति ।
मृतभर्तृगलेशस्त्रत्यक्तप्राणकुलाङ्गनम् ॥ ३४ ॥
सेनोत्क्रान्तततक्षिप्रबहुपान्थपरीक्षणम् ।
शवहारकराकृष्टसप्राणानुचराकुलम् ॥ ३५ ॥
केशशैवालवक्त्राब्जचक्रावर्तनदीशतम् ।
तरत्तुङ्गतरङ्गाढ्यवहद्रक्तमहानदम् ॥ ३६ ॥
अङ्गलग्नायुधोद्धारव्यग्रार्द्धमृतमानवम् ।
विदेशमृतसाक्रन्दहुताङ्गगजवाजिनम् ॥ ३७ ॥
प्राणान्तस्मृतपुत्रेष्टमातृदेवपराभिधम् ।
हाहाहीहीतिकथितमर्मच्छेदनवेदनम् ॥ ३८ ॥
म्रियमाणमथौजिष्ठद्विष्टप्रारब्धसंचयम् ।

ऊपर की ओर सूँड़ किये हुए अधमरे गजराजों के सूँड़ों से कबन्ध आक्रान्त थे, सवारों के मर जाने के कारण नियन्त्रणरहित हाथी और घोड़ों ने ऊँचे-ऊँचे कबन्धों को गिरा दिया था ॥ ३३ ॥

रो रहे, चिल्ला रहे शवों से खून उछल रहा था, मरे हुए पति के गले में आलिङ्गन करके स्थित कुलाङ्गनाओं ने दैवात् प्राप्त शस्त्रघात से प्राणत्याग किया था ॥३४॥

इकट्ठे हुए बड़ी जल्दी से कार्य कर रहे बहुत से बटोहियों ने अपने-अपने आत्मीयों के शवों को वहाँपर पहचाना। शवों को ले जानेवाले लोगों की स्वाभीष्ट-शवान्वेषणत्वरा से सारी रणभूमि, सजीव लोगों को खींच रहे भृत्यों से व्याप्त थी ॥ ३५ ॥

वहाँपर सैकड़ों रुधिर-नदियाँ बह रही थी, उनमें केश ही सिवार थे, मुख ही कमल थे, चक्र ही आवर्त थे। रक्त के महानद बह रहे थे जो ऊपर तैर रहीं बड़ी-बड़ी तरङ्गों से पूर्ण थे ॥ ३६ ॥

अधमरे मनुष्य शरीर में लगे हुए हथियारों को निकालने में व्यग्र थे, विदेश में मरे हुए लोगों के अङ्ग-भूषण, हाथी और घोड़े शोक से रोदनपूर्वक दिये गये थे ॥ ३७ ॥

वहाँपर लोग मरते समय पुत्र, इष्ट मित्र, माता, देवता और परमेश्वर का स्मरण करते थे, 'हा हा ही ही' आदि कराहना मर्मपीड़ा को सूचित करता था ॥ ३८ ॥

पराक्रम दर्शाये बिना ही मर रहे दुर्भाग्य से आक्रान्त कितने ही शूरवीर अपने योग्य को कोस रहे थे, हाथियों के साथ युद्ध करने में असमर्थ हाथियों के आगे स्थित

दन्ति युद्धासमर्थाग्रमृतदेहेष्टदैवतम् ॥ ३९ ॥
म्रियमाणमहावज्ञाशूराश्रितपलायनम् ।
अशङ्किकासृगावर्तभीमास्पदगमोत्सुकम् ॥ ४० ॥
मर्मच्छेदशराघातव्यथाविदितदुष्कृति ।
कबन्धबन्धप्रारब्धवेतालवदनाक्रमम् ॥ ४१ ॥
उह्यमानध्वजच्छत्रचारुचामरपङ्कजम् ।
किरत्सन्ध्यारुणं दिक्षु तेजस्कं रक्तपङ्कजम् ॥ ४२ ॥
रथचक्रधरावर्तं रक्तार्णवमिवाऽष्टमम् ।
पताकाफेनपुञ्जाढ्यं चारुचामरबुद्बुदम् ॥ ४३ ॥
विपर्यस्तरथं भूमिपङ्कमग्नपुरोपमम् ।
उत्पातवातनिधूतद्रुमं वनमिवाऽऽततम् ॥ ४४ ॥
कल्पदग्धजगत्प्रख्यं मुनिपीतार्णवोपमम् ।
अतिवृष्टिहतं देशमिव प्रोज्झितमानवम् ॥ ४५ ॥

मृतप्राय शरीरवाले योद्धा कहीं कुचल न जावें, इस भय से देवताओं की प्रार्थना कर रहे थे ॥ ३९ ॥

मर रहे भटोंपर अशूर लोगों ने पादाघातादिरूप महती अवज्ञारूपी अपराध से वे भाग रहे थे, रुधिर के आवर्तों से युक्त होने के कारण भीषणतम स्थानों में भी बिना किसी हिचक के जाने को वे तैयार थे ॥ ४० ॥

मर्मच्छेदन करनेवाले बाणों के प्रहार से उत्पन्न पीड़ा से जन्मान्तरों की पापराशि का अनुमान होता था, भाग रहे कबन्धों को बाँधकर वेतालों ने रुधिरपान के लिए अपने मुखों को प्रवृत्त किया था ॥ ४१ ॥

रुधिर के बड़े-बड़े तालाबों में तैर रहे छत्र, ध्वज और सुन्दर चँवर ही वहाँपर कमल थे, रक्त के तालाबों में संध्याकाल की लालिमा के प्रतिबिम्बित होनेपर लाल तेजसमूहरूप रक्तकमल को समरभूमि चारों ओर बिखेर रही थी ॥ ४२ ॥

वह रणभूमि क्या थी, आठवाँ रुधिरपूर्ण सागर था, रथ और रथों के पहिये उसमें क्रमशः पर्वत और आवर्त थे, पताकारूपी फेन-समूह से युक्त था, सुन्दर चँवर ही उसमें बुद्बुदा (बुल्ले) थे ॥ ४३ ॥

रथ औंधे गिरे हुए थे, वे भूमि के पङ्क में धँसे हुए नगर के समान प्रतीत होते थे, जिसमें उत्पात भीषण अन्धड़ से वृक्ष तोड़े-मरोड़े गये हों, ऐसे घने वन के समान प्रलयकाल में जले हुए जगत् के सदृश और महामुनि श्री-अगस्त्य जी द्वारा पिये गये समुद्र के समान लगता था, अतिवृष्टि से उजड़े हुए देश के तुल्य उससे मनुष्य हट गये थे ॥ ४४—४५ ॥

कलापकुन्तवलितं भुशुण्डीमण्डलाकुलम् ।
मत्तनागशताकारशवतोमरमुद्गरम् ॥ ४६ ॥
शिलाशिखरसञ्जाततालजालमिवाऽऽततम् ।
तरद्रक्तनदीतीरजातकुन्तोन्नतद्रुमम् ॥ ४७ ॥
नागांसस्यूतहेत्योघवृक्षांशुकुसुमाकुलम् ।
कङ्ककृष्टान्त्ररसनावृन्दजालकिताम्बरम् ॥ ४८ ॥
असृक्सरित्तीरजातकुन्तोन्नतवनद्रुमम् ।
असृक्सरोवरोर्ध्वस्थपताकानलिनीगणम् ॥ ४९ ॥
रक्तकर्दमनिर्मग्नराहूतसुहृज्जनम् ।
करीन्द्रकुणपापातनिर्य[1]द्भग्नजनेक्षितम् ॥ ५० ॥
हेतिलूनलतैर्वृक्षैः सन्दिग्धार्धकबन्धकम् ।
असृङ्नदीवहद्धस्तिकटकर्पटनौगणम् ॥ ५१ ॥
रक्तस्रोतःस्फुरच्छुक्लवस्त्रडिण्डीरपिण्डकम् ।

आभूषणों, बाणों और भालों से सारी युद्धभूमि व्याप्त थी, भुशुण्डी के समूहों का चारों ओर ढेर लगा गया था, सैकड़ों मन्दोन्मत हाथियों के आकार के मुर्दे और सैकड़ों महान् अजगरों के आकर के तोमर और मुद्गर पड़े हुए थे ॥ ४६ ॥

बह रही रुधिर की नदी के अगल बगल लगे हुए मुर्दोंपर गड़े हुए कुन्त ही उन्नत वृक्ष थे। चट्टानों के ऊपर उगे हुए घने ताल के मुरझुट के समान वे प्रतीत हो रहे थे ॥ ४७ ॥

हाथियों के विभिन्न अङ्गों में चुभे हुए हथियारों की राशि वृक्षों के किरणरूपी फूल वहाँपर बिखरे हुए थे, सफेद चीलों द्वारा खींची गई अंतड़ीरूपी रस्सियों से युद्ध-भूमि का आकाशमण्डल जालों से छा-सा गया था ॥ ४८ ॥

रुधिर की नदी के तीरपर लगे हुए ऊँचे ऊँचे भाले ही उसमें ऊँचे ऊँचे वन के वृक्ष थे और रुधिर के कुण्डों के ऊपर स्थित पताकाएँ ही कमलसमूह थे ॥ ४९ ॥

रक्त के पङ्क में फँसे हुए व्यक्ति अपने मित्रों को पुकारते थे। मत्त-मातङ्गों के शवों से कुछ निकले हुए अंगभग्न लोगों द्वारा युद्धभूमि कातर दृष्टि से देखी जा रही थी ॥ ५० ॥

हथियारों में कटी हुई लताओं वाले वृक्षोंको देखने से वृक्षों से कबन्धों का सन्देह होता था, रुधिर की नदियों में बह रहे हाथियों के मस्तक और अम्बारी ही वहाँपर नौकाएँ थी ॥ ५१ ॥

रुधिर के प्रवाह में चमक रहे सफेद वस्त्र ही फेन

सञ्चारनियतक्षिप्रभृत्यविच्छिन्नमानवम् ॥ ५२ ॥
इतश्चेतश्च निपतत्कबन्[2]धनवदानवम् ।
ऊर्ध्वस्थूलाक्षचक्रौघच्छिन्नसैन्यद्रवज्जनम् ॥ ५३ ॥
रक्तनिःस्वनभाङ्कारफेत्कारार्धमृतारवम् ।
शिलामुखललद्रक्तधाराधूतरजःखगम् ॥ ५४ ॥
सुतालोत्तालवेतालतालताण्डवसङ्कटम् ।
पर्यस्तरथदार्वन्तरर्द्धान्तरितसद्भटम् ॥ ५५ ॥
अन्तस्थसज्जीवभटस्पन्दिस्पन्दनभीतिदम् ।
रक्तकर्दमपूर्णास्यकिञ्चिज्जीवकृपाच्छवम् ॥ ५६ ॥
किञ्चिज्जीवनरोद्ग्रीवदुःखदृष्टश्ववायसम् ।
एकामिषोत्कक्रव्यादयुद्धकोलाहलाकुलम् ॥
एकामिषार्थयुद्धेहामृतक्रव्यादसङ्कुलम् ॥ ५७ ॥

राशि थी, चलने के लिए आज्ञप्त और शीघ्रता करनेवाले भृत्यों द्वारा वहाँपर मनुष्य पहिचाने जा रहे थे ॥ ५२ ॥

कबन्ध और नये-नये दानव इधर-उधर गिर रहे थे। ऊपर को खड़े हुए बड़े बड़े छेदवाले चक्रों के समूह द्वारा सेना से भाग रहे पुरुष काटे गये थे ॥ ५३ ॥

रुधिर के शब्द से युक्त 'भन् भन्' और 'फूत्कार' रूप अधमरे प्राणियों के शब्द हो रहे थे, चील आदि पक्षी शिलाओंपर गिर रही रक्तधारा को पीने के लिए अपने परों की धूलि उड़ा रहे थे ॥ ५४ ॥

वहाँपर सुन्दर ताड़ के वृक्षों के समान और ताड़ से भी ऊँचे वेतालों ने तालशब्द के साथ ताण्डव नृत्य आरम्भ कर दिया था। वह स्थान संकट पूर्ण हो गया था, अस्त-व्यस्त रथों की लकड़ियों के अन्दर जीवित भट छिपे पूए थे ॥ ५५ ॥

शवों के ढेर के अन्दर विद्यमान जीवित भट से स्पन्द-युक्त शव वहाँपर स्पन्दन का भय देते थे, मालूम होता था कि शव में स्पन्दन क्रिया हो रही है। रक्त पङ्क कुल शेष जीवन रक्त के पङ्क से व्याप्त मुखवाले शवों को देखकर करुणा का भाव उदित होता था ॥ ५६ ॥

कुछ जीवन शेष भटों ने खाने के लिए गर्दन उठाये हुए कुत्ते और कौओं को बड़े क्लेश से देखा भक्षणोन्मुख देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ, एक ही मांसपिण्ड को खाने के लिए उत्सुक कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि का युद्ध एवं तज्जनित कोलाहल हो रहा था और एक ही मांस-पिण्ड के लिए युद्ध की इच्छा से मरे हुए मांसाहारी जीव कौए, कुत्ते, गीदड़ आदि परिव्याप्त पड़े थे ॥ ५७ ॥

१. निर्यग्मग्न इति पाठान्तरम् । २. 'नवदानवं' इति पाठान्तरम् ।

विवृत्तासंख्याश्वद्विरदपुरुषाधीश्वररथ-
प्रकृत्तोष्ट्रग्रीवाप्रसृतरुधिरोद्गारसुसरित् ।
रणोद्यानं मृत्योस्तदभवदशुष्कायुधलतम् ।
सशैलं कल्पान्ते जगदिव विपर्यस्तमखिलम् ॥ ५८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने आहववर्णनं नाम अष्टत्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

रणभूमि मृत्यु की वाटिका थी। मर कर इधर उधर हुए असंख्य घोड़े, हाथी, नर, नरपति, रथ और काटी गई ऊटों की गरदनों से निकली हुई रुधिर के प्रवाह से सुन्दर अनेक नदियाँ वहाँपर बह रही थी, रुधिर से गीले हथियार ही लताएँ थीं। रणोद्यान प्रलयकाल में शैलयुक्त जगत् के समान सम्पूर्ण विध्वस्त हो गया था ॥ ५८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में मोक्षोपाय में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में आहववर्णन नामक कुसुमलता का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३८ ॥

३९

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ वीर इवाऽऽरक्तः कालेनाऽस्तमितो रविः ।
अस्त्रतेजःपरिम्लानप्रतापोऽब्धौ समुज्झितः ॥ १ ॥
रणरक्तरुचिर्व्योमदर्पणप्रतिबिम्बिता ।
जहौ सूर्यशिरश्छेदे सन्ध्ययालेखोदभूत्क्षणम् ॥ २ ॥
भूपातालनभोदिग्भ्यः प्रलयाब्धिजलौघवत् ।
समाजग्मुस्तनत्ताला वेताला वलया इव ॥ ३ ॥
मृष्टध्वान्तासिवलिते दिननागेन्द्रमस्तके ।
सन्ध्यारागारुणं कीर्णं तारानिकरमौक्तिकम् ॥ ४ ॥
निःसत्त्वेषु तमोन्धेषु रसना रसशालिषु ।
संकोचमाययुः पद्मा मृतानां हृदयेष्विव ॥ ५ ॥
मीलत्पक्षाः क्षणात्सुप्ताः कृच्छ्रप्रोच्छ्रितकन्धराः ।
कुलायेषु खगा आसञ्छवाङ्गेष्विव हेतयः ॥ ६ ॥
आसन्नचन्द्रसुभगा लोकाः कुसुमपङ्क्तयः ।
उल्लसद्धृदया जाता वीरपक्षेष्विव श्रियः ॥ ७ ॥
रक्तवारिमयी सायमङ्गुप्तशिलीमुखा ।
संकुचद्वक्त्रपद्माऽभूद्रणभूमिरिवाऽब्जिनी ॥ ८ ॥

३९

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—अनन्तर अस्त्र शस्त्रों के तेज से मन्द पराक्रमी रक्त से लथपथ वीर के समान स्वच्छ आकाश में मन्द प्रताप वाले अस्ताचलोन्मुख लाल सूर्य को काल ने समुद्र में मग्न कर दिया ॥ १ ॥

आकाश रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित रणभूमि के रुधिर की कान्ति ने सूर्यरूप अश्वारोही का सिर कटने पर आकाश का त्याग कर दिया और क्षणभर के लिए सन्ध्या ने आगमन किया ॥ २ ॥

पृथिवी, पाताल, आकाश और दशों दिशाओं से प्रलय काल के सागर की जलराशि के समान वेताल आये, सम्पूर्ण दिशाओं का परिवेष्टन करने से वलयाकार प्रतीत हो रहे वे खूब करताल बजा रहे थे ॥ ३ ॥

सान चढाने के कारण खूब तेज की गई अन्धकार-रूपी तलवार से दिनरूपी गजराज का मस्तक काटने पर सन्ध्यारागरूपी रुधिर से लाल तारामण्डलरूपी गज-मौक्तिक बिखर गये ॥ ४ ॥

हंस आदि जीव जिनसे हट गये हैं, अन्धकार से अन्ध बने हुए जलपूर्ण तालाबों में पहले भँवर आदि के कारण शब्द कर रहे कमल वैसे ही सङ्कुचित हो गये जैसे प्राणरहित, मोह से अन्धकारमय और जीवनावस्था में जीवन से प्रेम करने वाले मृतकों के हृदयों में प्राणों द्वारा शब्दायमान कमल संकोच को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

देह से सटे हुए परवाले और क्लेश से ऊपर को उठाए हुए गर्दन वाले पक्षिगण मृत भटों के शरीरों में आयुधों के समान घोसलों में क्षणभर में निद्रा देवी की गोद में पहुँच गये थे ॥ ६ ॥

समीपवर्ती चन्द्रमा के सुन्दर चाँदनी से युक्त कुमुद आदि फूलों का हृदय वैसे ही खिल उठा जैसे वीरों के पक्ष में विजयलक्ष्मी का हृदय खिल जाता है ॥ ७ ॥

कमलों के तालाब सन्ध्या की लालिमा के प्रतिबिम्बित होने से लाल जल से भरे थे, और कमलों में भँवर बन्द थे और उनके मुख के तुल्य कमल वैसे ही

उपर्यभूद् व्योमसरस्ताराकुमुदमण्डितम् ।
अधस्त्वभूद्वारिसरः स्फुरत्कुमुदतारकम् ॥ ९ ॥
तमस्यपेतभीतानि भूतानि मिलितान्यलम् ।
पयांसीव विसेतूनि प्रसृतानि दिशं प्रति ॥ १० ॥
आसीद्रणाङ्गणं गायद्वेतालकुलसंकुलम् ।
क्वणत्कङ्कालकाङ्कस्थकङ्ककाकोलकेलिमत् ॥ ११ ॥
अथ काष्ठचिताज्वालसताराम्बरभास्वरम् ।
पचत्पचपचाशब्दिमेदोमांसमयानलम् ॥ १२ ॥
सर्वाङ्गास्थिस्फुटास्फोटस्फुटच्चितिचयोन्मुखम् ।
वेताललललनारब्धजललीलातिरोहितम् ॥ १३ ॥
श्वकाकयक्षवेतालतालकोलाहलोल्वणम् ।
गमागमेन भूतानां समुड्डीनवनोपमम् ॥ १४ ॥
रक्तमांसवसामेदोहरणव्यग्रडाकिनि ।
चर्वितासृग्वसामांसस्रवत्सृक्विकपिशाचकम् ॥ १५ ॥
मध्यमध्यचितालोकप्रकटासृक्शवव्रजम् ।
विरूपिकानीयमानस्वांसन्यस्तमहाशवम् ॥ १६ ॥
उत्ताण्डवोग्रकुम्भाण्डमण्डलोड्डामरोदरम् ।
छमिच्छमितप्रलापान्तं मेदोसृग्बाष्पसाम्बुदम् ॥ १७ ॥
वहद्रक्तनदीरंहोरूढभूचररूपिकम् ।
वेतालकुलकङ्कालकर्षणाकुलाकाकलम् ॥ १८ ॥
मृतेभोदरमञ्जूषासुप्तवेतालबालकम् ।
विविक्तैकरणोद्देशपानक्रीडास्थराक्षसम् ॥ १९ ॥
मत्तवेतालकलहचितालातरणोज्ज्वलम् ।
वहद्रक्तवसामिश्रगन्धबन्धुरमारुतम् ॥ २० ॥
रूपिकापेटिकावान्तारणद्रटरटारवम् ।
अर्धपक्वशवास्वादलुब्धयक्षोल्लसत्कलि ॥ २१ ॥

संकुचित हो गये थे जैसे रणभूमि रुधिररूपी जल से परिपूर्ण होती है, उसमें भटों के अङ्गों में बाण छिपे रहते हैं और मुखरूपी कमल म्लान रहते हैं ॥ ८ ॥

ऊपर आकाशरूपी कुमुदों से (कुंइयों से) अलङ्कृत और नीचे का जल तालाब कुमुदरूपी ताराओं से चमकने लगा ॥ ९ ॥

अन्धकार में पहले बिछुड़े हुए फिर मिलने पर भी पहिचान न सकने के कारण एक दूसरे से डरे हुए जीव चारों ओर वैसे ही भागते थे जैसे बांध से रहित जल चारों ओर फैल जाता है ॥ १० ॥

रणस्थली में व्याप्त वेतालों के झुण्ड गान कर रहे थे और नरकङ्कालों के अंक में बैठे हुए और बोल रहे सफेद चील और कौए अठखेलियां कर रहे थे ॥ ११ ॥

रणभूमि में काष्ठ को अनेक चिताएँ जल रही थीं, उनकी ज्वालाओं से युक्त वह तारागणों से परिवेष्टित आकाश-मण्डल के समान दमक रही थी, वहां पर पक रहे तथा पच-पच शब्द कर रहे मेदा और मांस से अग्नि पूर्ण थी ॥ १२ ॥

सभी अङ्गों हड्डियों के टूटने से शब्द करती हुई अनेक चिताएँ वीरों के समान प्रधान रूप से प्रकाशमान थीं, स्त्रियां जल-क्रीड़ाओं की तरह चिताओं में छिप रही थीं ॥ १३ ॥

कुत्ते, कौए, यक्ष और वेतालों के कर्णकटु कोलाहलों से वह भयङ्कर और प्राणियों के गमनागमन से उड़ते हुए वनों के समान थी ॥ १४ ॥

डाकिनियां वहां पर रुधिर, मांस, चर्बी और मेदा के हरण में व्यग्र थीं। पिशाचों ने जो मांस खाया था, वह उनके ओठों से गिर रहा था ॥ १५ ॥

बीच-बीच की चिताओं में पिशाचों द्वारा खून से भरे हुए शव देखे जा रहे थे, पूतनाएँ अपने गोद में बड़े-बड़े शवों को ले जा रही थीं ॥ १६ ॥

उद्धत नृत्य में उग्र ऊँचे पेट वाले पिशाचों के समूह के बड़े-बड़े उदर थे, शवों के मुख के पाश प्रलाप के 'छम-छम' ज्वाला के शब्द हो रहे थे, मेदा और रुधिर के गीले धूएँ से वह रणभूमि मेघयुक्त थी ॥ १७ ॥

वहां पर पूतना रूपिका बह रही रुधिर नदी के वेग में जमकर खड़ी हुई भूचरी-सी मालूम पड़ रही थी। अनेक प्रकार के वेताल शवपञ्जरों को खींचने में अपने कुल के अनुरूप किलकारियाँ भर रहे थे ॥ १८ ॥

मरे हुए हाथियों के उदररूप पालने में वेतालों के बालक सो रहे थे। एकान्त रण प्रदेश में राक्षस अपनी पानक्रीड़ा में व्यस्त थे ॥ १९ ॥

मदोन्मत्त वेतालों में परस्पर कलह चिताओं के आधे जले काष्ठों द्वारा हुए उनके संग्राम से सारी रणभूमि जगमगा उठी। बह रहे रुधिर और वसा के मिश्रित गन्ध से युक्त हवा बह रही थी ॥ २० ॥

रूपिका=पूतनाओं की पेटिकाओं से निकले हुए रट-रट शब्द हो रहे थे। आधे पके हुए शव के आस्वादन में लुब्ध यक्षों का कलह बढ़ रहा था ॥ २१ ॥

तुङ्गवङ्गकलिङ्गाङ्गतङ्गणाङ्गगलत्खगम् ।
तारापातोपमहसत्संमुखज्वालरूपिकम् ॥ २२ ॥
पतद्वेतालसोल्लासमध्यस्थासृग्विरूपिकम् ।
पिशाचार्कणिताभ्यर्णयोगिनीगणनायकम् ॥ २३ ॥
प्रसृतान्त्रमहातन्त्रीप्रायसंपन्नवादनम् ।
पिशाचवासनोत्क्रान्तपिशाचीभूतमानवम् ॥ २४ ॥
रूपिकालोकनापूर्वत्रासार्द्धमृतसङ्कटम् ।
क्वचिद्वेतालरक्षोभिरपरीपूर्णमद्रकम् ॥ २५ ॥
स्वरूपिकास्कन्धपतच्छवत्रस्तनिशाचरम् ।
नभःसङ्घट्टितापूर्वभूतपेटकसङ्कटम् ॥ २६ ॥
अतिप्रयत्नापहृतम्रियमाणनरामिषम् ।
स्वभक्ष्यापेक्षपक्षेषु विक्षिप्तशवराशिमत् ॥ २७ ॥
शिवामुखानलशिखाखण्डोत्थमितिरक्तगैः ।
समुड्डीननवाशोकपुष्पगुच्छमिवाऽभितः ॥ २८ ॥
कबन्धकन्धराबन्धव्यवेतालबालकम् ।
यक्षरक्षःपिशाचादिकचदाकाशगोल्मुकम् ॥ २९ ॥
आकाशभूधरनिकुञ्जगुहान्तराल-
पिण्डोपमण्डिततमोम्बुदपीठपूरम् ।
व्यालोलभूतरभसाकुलकल्पवात-
व्याधूतलोककरकाण्डकपेटकल्पम् ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने निशाचराकुलरात्रिरणाङ्गणवर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

बङ्ग, कलिङ्ग, अङ्ग, तङ्गण आदि देशों के पुरुषों के ऊँचे-ऊँचे शरीरों में राक्षस और चील आदि मांसभक्षणार्थ पक्षिगण चिपट रहे थे। तारापात के तुल्य दाँतों से हँस रहीं रूपिकाएँ संमुखस्थित मूर्तिमती ज्वालाओं से समन्वित सी प्रतीत हो रही थी ॥ २२ ॥

रुधिर के मारे पिच्छल भूमि में गिर रहे वेतालों के बीच में खून पीनेवाली पूतनाएँ परिहास कर रही थीं। वहाँ पर योनियों के नायक पिशाचों द्वारा आहूत होकर समीप आ रहे थे ॥ २३ ॥

चारों ओर बिखरी हुई आँतड़ीरूपी महावीणाओं द्वारा वादन किया जा रहा था। पिशाचों की वासना से पिशाच बने हुए मनुष्य उछल कूद रहे थे ॥ २४ ॥

पूतना के दर्शन से उत्पन्न अपूर्व भय से अच्छे-अच्छे भट मृतप्राय हो रहे थे, कहीं पर वेतालों और राक्षसों के आनन्दोत्सव मनाये जा रहे थे ॥ २५ ॥

पूतनाओं के कन्धों से गिर रहे शवों से निशाचर भी भयभीत हो रहे थे, आकाश से टकरानेवाले अपूर्व भूतों के पेटारों से सारी रणभूमि व्याप्त थी ॥ २६ ॥

मर रहे मनुष्य के मांस को बड़े प्रयत्न से छीन रहे थे, भक्ष्य की अपेक्षा रखनेवाले अपने पक्षों में वहाँपर शवों की राशि बिखेर दी गई थी ॥ २७ ॥

शृगालियों के मुख से निकली हुई अग्नि की ज्वालाओं से पूर्ण संज्ञा से प्राप्त खून से लथपथ पुरुषों से चारों ओर रणभूमि नये-नये अशोक-पुष्पों के गुच्छे उड़ रहे हों ऐसी मालूम देती थी, ॥ २८ ॥

वेतालों के बालक कबन्धों के कटे हुए कन्धों में क्रीड़ारत थे। यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि के आकाश में उड़ रहे उल्मुख अर्धदग्ध काष्ट चमक हो रहे थे ॥ २९ ॥

गगन, पर्वतों, पर्वतों के कुञ्ज और गुफाओं के मध्य में पिण्ड के समान घने अन्धकार मेघों का समूह था। चञ्चल प्राणियों के वेग से आकुल स्वरूप प्रलयकाल के वायु से लोक, लोकों में रहनेवाले प्राणी और उनके उपकरण जिसमें कँपाये गये हैं, ऐसे ब्रह्माण्डों के समान वह रणाङ्गण था ॥ ३० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में निशाचराकुलरात्रिरणाङ्गणवर्णन नामक कुसुमलता का उन्तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ३९ ॥

४०

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं निशाचराचारचिरघोरे रणाङ्गणे । अहनीव जनाचारे स्थिते यामावरेहिते ॥ १ ॥

४०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—निशाचरों के कार्यों से अत्यन्त घोर रणाङ्गण में यम-दूतों और निकृष्ट श्रेणी के जीवों की=भूत, पिशाच आदि की निशाचरों के आचार से अतिशय भयङ्कर रणभूमि में हाथ से पकड़ने के योग्य

हस्ताहार्यतमःपिण्डस्फुटकुड्ये निशागृहे ।
लाभोच्छदोच्चलते भूतसङ्घे प्रवल्गति ॥ २ ॥
निःशब्दे ध्वान्तसञ्चारे निद्रारुद्धककुब्गणे ।
लीलापतिरुदारात्मा किञ्चित्खिन्नमना इव ॥ ३ ॥
प्रातः कार्यं विचार्याऽऽशु मन्त्रित्रिभिर्मन्त्रकोविदैः ।
दीर्घचन्द्रसमाकारे शयने हिमशीतले ॥ ४ ॥
चन्द्रोदरनिभे चारुगृहे शिशिरकोटरे ।
निद्रां मुहूर्त्तमगमन्मुद्रितेक्षणपुष्करः ॥ ५ ॥
अथ ते ललने व्योम तत्परित्यज तद्गृहम् ।
रन्ध्रैर्विविशतुर्वातलेखेऽब्जमुकुलं यथा ॥ ६ ॥

श्रीराम उवाच

कियन्मात्रमिदं स्थूलं शरीरं वाग्विदांवर ।
रन्ध्रेण तन्तुतनुना कथमाश्वाविशत्प्रभो ॥ ७ ॥

निबिड अन्धकारराशि से साफ - साफ दीवारें बन गई थी ॥ १ ॥

ऐसे रात्रिरूपी घर में भक्ष्य पदार्थों की प्रचुरमात्रा में प्राप्ति होनेपर वस्त्र पसार कर मांगना जिनसे कोशों दूर भाग गया था ऐसे भूतगणों की क्रीड़ा चल रही थी ॥२॥

निद्रा से आक्रान्त दशों दिशाओं के लोगों के मौन हो जानेपर दिशाओं में अन्धकार का पूर्ण संचार होनेपर कुछ खिन्न मन उदाराशय लीलापति ने प्रातःकाल के कार्य में सलाह देने में कुशल मन्त्रियों के साथ शीघ्र विचार किया, इसके बाद चन्द्रमा के मध्यभाग के सदृश मनोहर तथा शीतल कमरेवाले सुन्दर घर में विशाल चन्द्रमा के सदृश आकारवाले बर्फ के सदृश शीतल शयन-पर नेत्रकमलों को बन्दकर एक क्षण में निद्रा की गोद में विश्राम लिया ॥ ३—५ ॥

इसके बाद उन दोनों ललनाओं ने मण्डपाकाश को छोड़कर उस घर में झरोखों के सूराखों से प्रवेश वैसे ही किया जैसे वायु सूराखों से कमल की कली के अन्दर प्रवेश करता है ॥ ६ ॥

श्रीराम ने कहा :— हे प्रभो ! हे मनीषि श्रेष्ठ ! इतना बड़ा चार हाथ का यह स्थूल शरीर कमल की तांत के समान सूक्ष्म सूराख से कैसे शीघ्र ही प्रवेश कर गया ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—हे निष्पाप ! यह शरीर आधिभौतिक है इस प्रकार के भ्रम सम्पन्न पुरुष का यह शरीर सूक्ष्म छिद्र से नहीं जा सकता ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आधिभौतिकदेहोऽहमिति यस्य मतिभ्रमः ।
तस्याऽसावणुरन्ध्रेण गन्तुं शक्नोति नाऽनघ ॥ ८ ॥
रोधितोऽहमनेनेति न माम्यत्रेति यस्य धीः ।
अनुभूतानुभवती भवतीत्यनुभूयते ॥ ९ ॥
येनाऽनुभूतं पूर्वार्द्धं गच्छामीति स तत्क्रियः ।
कथं भवति पश्चार्द्धं गमनोन्मुखचेतनः ॥ १० ॥
नहि वायूर्ध्वमायाति नाऽधो गच्छति पावकः ।
या यथैव प्रवृत्ता चित् सा तथैव प्रतिष्ठिता ॥ ११ ॥
छायायामुपविष्टस्य कुतस्तापानुभूतयः ।
यस्य संवेदनेऽन्योऽर्थः केनचिन्नाऽनुभूयते ॥ १२ ॥
यथा संवित्तथा चित्तं सा तथाऽवस्थितिं गता ।
परमेण प्रयत्नेन नीयतेऽन्यदशां पुनः ॥ १३ ॥

इस शरीर ने मुझे यहां प्रवेश करने से रोक दिया अतः इस छिद्र में मैं नहीं प्रविष्ट हो सकता हूँ, क्योंकि मनुष्य शरीर का ऐसा ही स्वभाव है। यह बुद्धि अपनी आत्मा को स्थूल देह स्वरूप समझती है, अतः वह अगमन का ही अनुभव करता है ॥ ९ ॥

स्थूल मनुष्य देह में तादात्म्यबुद्धि न होने और मेरा एकमात्र आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर है, यह निश्चय जिसको रहता है वह उसे पहले की दृढ़वासनाओं से अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र में भी जाने में समर्थ हूँ, ऐसा अनुभूत है, वह पुरुष स्थूल देह के अनुरूप निरोध आदि क्रियाओं से युक्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह अतिसूक्ष्म क्षिप्र में गमन करने वाले चेतन का अंश स्वरूप ही है ॥ १० ॥

जल कभी ऊपर को नहीं जाता और अग्नि कभी नीचे को नहीं जाती है, चित् का भी जैसा स्वभाव है, वह वैसा ही प्रतिष्ठित रहता है ॥ ११ ॥

छाया में बैठे हुए पुरुष को आताप का अनुभव कैसे हो सकता है ? परमात्मा का यथार्थ ज्ञान रहने पर उससे अतिरिक्त पदार्थ का किसी को अनुभव नहीं होता है ॥ १२ ॥

जैसी संवित् है, वैसा ही चित्त है, संवित् ही चित्त-रूपता को प्राप्त होती है रस्सी में सर्प का ज्ञान होने पर यह सर्प नहीं है, प्रयत्नपूर्वक यह रस्सी है इस प्रकार निश्चय होने पर बड़े भारी प्रयत्न से वह फिर अन्य अवस्था को प्राप्त की जाती है ॥ १३ ॥

सर्पैकप्रत्ययो रज्ज्वामसर्पप्रत्यये बलात् ।
निवर्ततेन्यथा त्वेष तिष्ठत्येव यथास्थितः ॥ १४ ॥
यथा संवित्तथा चित्तं यथा चित्तं तथेहितम् ।
बालं प्रत्यपि संसिद्धमेतत्को नाऽनुभूतवान् ॥ १५ ॥
यः पुनः स्वप्नसङ्कल्पपुरुषः प्रतिमाकृतिः ।
आकाशमात्रकाकारः स कथं केन रोध्यते ॥ १६ ॥
चित्तमात्रं शरीरं तु सर्वस्यैव हि सर्वतः ।
विद्यते वेदनाच्चैतत् क्वचिदेतीव हृद्‌गतात् ॥ १७ ॥
यथाभिमतमेवाऽस्य भवत्यस्तमयोदयम् ।
आदिसर्गे स्वभावोत्थं पश्चाद्‌द्वैतैक्यकारणम् ॥ १८ ॥
चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम् ।
विद्‌ध्येतत्तत्त्रयमेकं त्वमविनाभावनावशात् ॥ १९ ॥

रस्सी में सर्प ज्ञान निवृत्त हो जाता है, प्रयत्न न होने पर वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है ॥ १४ ॥

जैसी संवित् होती है, वैसा ही चित्त होता है और जैसा चित्त रहता है वैसी ही चेष्टाएँ भी होती हैं, यह बालक भी भली-भाँति जानता है, दूसरे को यह क्यों नहीं सुविदित होगा ? ॥ १५ ॥

स्वप्न के पुरुष के समान और मनोरथ निर्मित प्रतिमा के समान केवल शून्यात्मक शरीर है, यह ज्ञान रहता है उसे कौन कैसे रोक सकता है ? ॥ १६ ॥

सभी लोगों का सभी जगह चित्तमात्र ही शरीर है, हृदय में स्थित ज्ञान के बल से वह कहीं आता हुआ-सा प्रतीत होता है । वह प्रतिक्षण उत्पन्न होता है, यह ज्ञान भ्रम है ॥ १७ ॥

परमात्मा की इच्छा के अनुसार ही सब प्राणियों के उत्पत्ति, विनाश होते हैं, जो कि आदि सृष्टि में स्वाभाविक अज्ञान अथवा स्वाभाविक कर्म से उत्पन्न होते हैं, अनन्तर द्वैत भावनामात्र ही उसकी सृष्टि के कारण होते हैं । भाव यह है कि सभी पदार्थों की सत्यता की भावना ही द्वैत है अर्थात् शरीर आदि सभी पञ्जीकरण मूलक सर्ग की सत्यता ही भव में आवागमन के कारण होते हैं ॥ १८ ॥

यह चित्त शरीर ही सभी उत्पन्न पदार्थों के रूप में स्फुरित है यह आप समझें, संवेदन की इच्छा के अनुरूप ही संवेदनात्मक सृष्टि होती है । अर्थात् आप चित्ताकाश चिदाकाश और तीसरा भूताकाश—ये तीनों को एक ही है । अधिष्ठानसत्ता से अतिरिक्त इनकी सत्ता या स्फुरण

एतच्चित्तशरीरं त्वं विद्धि सर्वगतोदयम् ।
यथासंवेदनेच्छत्वाद्यथासंवेदनोदयम् ॥ २० ॥
वसति त्रसरेण्वन्तर्ध्रियते गगनोदरे ।
लीयतेऽङ्कुरकोशेषु रसो भवति पल्लवे ॥ २१ ॥
उल्लसत्यम्बुवीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे ।
प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयाऽवतिष्ठते ॥ २२ ॥
यथेच्छमम्बरे याति जठरेऽपि च भूभृताम् ।
अनन्तराकाशवपुर्धत्तेऽथ परमाणुताम् ॥ २३ ॥
भवत्यद्रिर्धराधारो बद्धपीठो नभःशिराः ।
देहस्याऽन्तर्बहिरपि दधद्वनतनूरुहम् ॥ २४ ॥
भवत्याकाशमाधत्ते कोटीः पद्मजसद्मनाम् ।
अनन्याः स्वात्मनोऽम्भोधिरावर्तरचना इव ॥ २५ ॥

ही नहीं होता । जिसका स्फुरण जिसकी सत्ता के अधीन होता है, वह उससे अतिरिक्त नहीं होता है ॥ १९ ॥

इस चित्तशरीर ही सम्पूर्ण पदार्थों में आविर्भावशक्ति प्राप्त की है । उसका उदय=आविर्भाव संवेदन पूर्व वासना और कर्म का अनुसरण करनेवाले पदार्थों की स्फूर्ति के अनुसार होता है, संवेदन के अनुसार ही उसकी इच्छा होती है ॥ २० ॥

त्रसरेणु के भीतर चित्तशरीर प्रविष्ट हो जाता है, आकाश के मध्य में वह स्थित होता है, अङ्कुर के कोष में वह लीन होता है और पल्लव में रस स्वरूप होता है ॥ २१ ॥

जल की तरङ्गों में उल्लास करता है और शिलास्वरूप होकर अवस्थित रहता है । मेघ बन कर जल बरसता है, शिला बन कर एक जगह स्थिर होता है ॥ २२ ॥

जब इच्छा होती है तब आकाश में जाता है, पर्वतों के अन्दर स्थित होता है, सर्वथा अवकाश शून्य परमाणु बन जाता है ॥ २३ ॥

पृथिवी को धारण करने वाला दृढ़ मूल और आकाशचुम्बी वनरूपी रोमबालियों का धारण करने वाला पर्वत बनता है, यह पर्वत बाहर ही नहीं होता है वरन् शरीर में भी होता है ॥ २४ ॥

कभी आकाश का स्वरूप धारण करता है, यह चित्तशरीर अपने स्वरूप से वैसे ही अभिन्न करोड़ों ब्राह्माण्डों को चारों ओर धारण करता है जैसे समुद्र अपने से अभिन्न आवर्त - (जलभौरी) रचनाओं को धारण करता है ॥ २५ ॥

अनुद्विग्नप्रबोधोऽसौ सर्गादौ चित्तदेहकः ।
आकाशात्मा महान् भूत्वा वेत्ति प्रकृततां ततः ॥ २६ ॥
असत्यमेव वारित्वं बुद्ध्योदेतीव तत्तथा ।
वन्ध्यापुत्रऽयमस्तीति यथा स्वप्ने भ्रमो नरः ॥ २७ ॥

श्रीराम उवाच

किं चित्तमेतद्भवति किं वा भवति नो कथम् ।
कथमेव न सद्रूपं नाऽन्यद् भवति वीक्षणात् ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्रत्येकमेव यच्चित्तं तदेवंरूपशक्तिकम् ।
पृथक् प्रत्येकमुदितः प्रतिचित्तं जगद्भ्रमः ॥ २९ ॥
क्षणकल्पजगत्सङ्घाः समुद्यन्ति गलन्ति च ।
निमेषात्कस्यचित्कल्पात्कस्यचिच्चित्क्रमं शृणु ॥ ३० ॥
मरणादिमयी मूर्च्छा प्रत्येकेनानुभूयते ।
यैषा तां विद्धि सुमते ! महाप्रलययामिनीम् ॥ ३१ ॥

कर्मानुसारी प्रबोध के उद्वेग से विपर्यस्त न होने वाला चित्तशरीर सर्ग के आदि में आकाशादि क्रम से ब्राह्माण्ड-स्वरूप होकर अनन्त प्रारब्ध-कर्मानुसारिणी प्रवृत्ति को जानता है ॥ २६ ॥

यह आकाशात्मा भी स्वनिष्ठ असत्य बुद्धि द्वारा महान् (ब्राह्माण्डात्मा) होकर प्रस्तुतता को वैसे ही प्राप्त हुआ जैसे मृगमरीचिका आदि में मिथ्या जल का उदय होता है एवं जैसे स्वप्न में यह पुरुष वन्ध्यापुत्र है ऐसे भ्रम का उदय होता है ॥ २७ ॥

श्रीराम ने कहा—शक्ति से युक्त हम लोगों का चित्त है या नहीं ? प्रत्येक चित्त में भिन्न जगत् सद्रूप क्यों नहीं होगा और वह चित्त से अतिरिक्त क्यों न होगा ? ऐसा ही सब लोग से देखा जाता है ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—प्रत्येक चित्त वह इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न है, प्रत्येक चित्त में जगत् का भ्रम पृथक् पृथक्-रूप से उदित हुआ है ॥ २९ ॥

क्षण के समान अनेक जगत् किसी की दृष्टि में निमेष भर में उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं और किसी की दृष्टि में कल्प से उत्पन्न और विनष्ट होते हैं क्रम को आप सुने ॥ ३० ॥

हे सुमते ! प्रत्येक व्यक्ति जो मरणादिमयी मूर्च्छा का अनुभव करता है, उसको महाप्रलय की निशा समझें ॥ ३१ ॥

महाप्रलय की निशा के समाप्त होने पर सभी लोग

तदन्ते तनुते सर्व एव पृथक् पृथक् ।
सहजस्वप्नसङ्कल्पान् संभ्रमाचलनृत्यवत् ॥ ३२ ॥
महाप्रलयरात्र्यन्ते चिरादात्ममनोवपुः ।
यथेदं तनुते तद्वत्प्रत्येकं मृत्यनन्तरम् ॥ ३३ ॥

श्रीराम उवाच

मृतेरनन्तरं सर्गो यथा स्मृत्याऽनुभूयते ।
चिरात्तथाऽनुभवति नाऽतो विश्वमकारणम् ॥ ३४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

महति प्रलये राम ! सर्वे हरिहरादयः ।
विदेहमुक्ततां यान्ति स्मृतेः क इव सम्भवः ॥ ३५ ॥
अस्मदादिः प्रबुद्धात्मा किलावश्यं विमुच्यते ।
कथं भवन्तु नो मुक्ता विदेहाः पद्मजादयः ॥ ३६ ॥
अन्ये त्वमिव[1] ये जीवास्तेषां मरणजन्मसु ।
स्मृतिः कारणतामेति मोक्षाभाववशादिह ॥ ३७ ॥

अलग-अलग सृष्टि का विस्तार करते हैं, जिसका जैसा सङ्कल्प ज्ञान और कर्म होता है, उसी के अनुरूप सर्ग का विस्तार करता है, जैसे सहज स्वप्न के सङ्कल्प से सहसा पर्वत का नृत्य भी देखता है ॥ ३२ ॥

महाप्रलय की निशा की समाप्ति होने पर समष्टि चित्तात्मक हिरण्यगम समष्टि योग्य विषयों का सङ्कल्प के अनुसार प्रतीति करते हैं, उसी प्रकार व्यष्टिचित्तशरीर स्वरूप प्रत्येक जीव मृत्यु के बाद अपने योग्य व्यष्टि विषयों का विस्तार करता है ॥ ३३ ॥

श्री राम ने कहा :—जैसे मृत्यु के बाद सृष्टि को स्मृति से अनुभव करता है, वैसे ही ब्रह्मा भी चिरकाल के महाप्रलय के बाद अपनी स्मृति से प्रपञ्च का अनुभव करता है, अतः विश्व अकारण नहीं है ॥ ३४ ॥

श्री वसिष्ठ ने कहा :—हे राम ! महाप्रलय में हरि, हर आदि सभी लोग विदेह मुक्त हो जाते हैं, इसलिए पूर्व स्मृति किसी भी तरह सम्भव नहीं है ॥ ३५ ॥

हमलोग भी तत्त्वज्ञान प्राप्तकर अवश्य ही मुक्त होते हैं तब विदेह ब्रह्मा आदि क्यों नहीं मुक्त होंगे ॥ ३६ ॥

मोक्ष न होने के कारण तुम्हारे समान जो और अन्य जीवगण है, उनकी जन्म और मृत्यु की उत्पत्ति में साधनभूत अज्ञान जनित पदार्थों की स्मृति अर्थात् वासना के कारण संसार में आवागमन होता रहता है ॥ ३७ ॥

---

१. 'त्वपि च' इति पाठान्तरम् ।

जीवो हि मृतिमूर्च्छान्तं यदन्तः प्रोन्मिषन्निव ।
अनुन्मिषित एवास्ते तत्प्रधानमुदाहृतम् ॥ ३८ ॥
तद्व्योमप्रकृतिः प्रोक्ता तदव्यक्तं जडाजडम् ।
संस्मृतेरस्मृतेश्चैव क्रम एष भवोदये ॥ ३९ ॥
बोधोन्मुखत्वे हि महत्तत्प्रबुद्धं यदा भवेत् ।
तदा तन्मात्रदिक्कालक्रिया भूताद्युदेति खात् ॥ ४० ॥
तदेवोच्छूनमाबुद्धं भवतीन्द्रियपञ्चकम् ।
तदेव बुध्यते देहः स एषोऽस्याऽऽतिवाहिकः ॥ ४१ ॥
चिरकालप्रत्ययतः कल्पनापरिपीवरः ।
आधिभौतिकताबोधमादत्ते चैष बालवत् ॥ ४२ ॥

अन्दर में स्पन्दन अर्थात् स्फुरण समन्वित होते हुए भी मृत्यु रूपी मूर्च्छा के अव्यवहित उत्तर समय में जीव बाह्यरूप से उन्मेष रहता अर्थात् स्पन्दन शून्य ही रहता है, कारण, यह अवस्था प्रधान, अव्यक्त या मूल प्रकृति की कही गई है । अर्थात् मूल प्रकृति गुणों की साम्यावस्था है अतः इस अवस्था में परिणाम होने पर भी समान परिणाम होने से विषमता न होने से बाह्य उन्मेष लक्षित नहीं होता है ॥ ३८ ॥

वह व्योमात्मिका अर्थात् विषय परिणाम शून्य जड प्रकृति अव्यक्त होने से जड़ या अजड़ के रूप में परिलक्षित नहीं होती है, भव=संसार की सृष्टि प्राविर्भाव और प्रलय अनतिर व्यक्त काल में सर्ग और प्रलय का कारण रहती है। आशय यह है कि चेतन का प्रतिबिम्ब ग्रहण न करने से उस समय विक्षोभ नहीं रहती है, किन्तु, परिणाम उसका स्वभाव है। मूल प्रकृति स्वरूप अव्यक्त जड ही संसार की सृष्टि और प्रलय का कारण है ॥ ३९ ॥

जब प्रकृति बोधोन्मुख अर्थात् विषम परिणाम के रूप में महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि तत्त्व आता है तब अहंकार की सृष्टि होती है। अहंतत्त्व शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के क्रम में दिशा, काल, क्रियाभूत आदि सूक्ष्म पदार्थ उत्पन्न होते हैं । पुरुष के प्रतिबिम्ब का ग्रहण करने के बाद ही विक्षुब्ध मूलप्रकृति बुद्धितत्त्व आदि के क्रम में भव सृष्टि का कारण होती है ॥ ४० ॥

वे ही शब्द गन्ध आदि पञ्चतन्मात्रा अपनी थोड़ी सूक्ष्मता का परित्यागकर अर्थात् किञ्चित्स्थूल होकर घ्राण, कर्ण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा पाँच इन्द्रियों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, अनन्तर पञ्चीकरण के रूप में स्थूल देह होते हैं यही जीवका आतिवाहिक स्वरूप अर्थात् शरीर है ॥ ४१ ॥

चिरकाल से वासनात्मक ज्ञान से अतिशय स्थूल स्वरूप धारण कर बालक के अर्थात् अज्ञानी के समान आधिभौतिक स्वरूप में अपने को जानने लगता है ॥ ४२ ॥

ततो दिक्कालकलनास्तदा धारतया स्थिताः ।
उद्यन्त्यनुदिता एव वायोः स्पन्दक्रिया इव ॥ ४३ ॥
वृद्धिमित्थमयं यातो मुधैव भुवनभ्रमः ।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमस्त्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ ४४ ॥
यत्रैव म्रियते जन्तुः पश्यत्याशु तदेव सः ।
तत्रैव भुवनाभोगमिममित्थमिव स्थितम् ॥ ४५ ॥
व्योमैवाऽनुभवत्यच्छमहं जगदिति भ्रमम् ।
व्योमरूपं व्योमरूपी जीवो जात इवाऽऽत्मवान् ॥ ४६ ॥
सुरपत्तनशैलार्कतारानिकरसुन्दरम् ।
जरामरणवैक्लव्यव्याधिसङ्कटकोटरम् ॥ ४७ ॥

इसके बाद देश और काल के विभाजन क्रम में इसमें अर्थात् देश और काल से विभाजित पदार्थ समूह बिना उत्पन्न हुए ही कल्पना के रूप में वैसे ही दृश्य होते हैं, जैसे वायु में स्पन्दन क्रिया पृथक् रूप में न होते हुए भी आविर्भूत के समान लक्षित होता है ॥ ४३ ॥

इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड भ्रान्ति व्यर्थ ही विस्तृत होती है, व्यवहार में अर्थ क्रियाकारिता अर्थात् व्यवहार इसका उसी प्रकार है जैसे स्वप्न में स्त्री के न रहने पर भी असद्रूप ललना के साथ सङ्गम का अनुभव होता है और तदनुरूप क्रिया का फल भी होता है । आशय यह कि संसार एवं व्यवहार सभी भ्रान्तिमूलक है, यह पारमार्थिक नहीं है, इसकी वासना के कारण सत्य मानकर भवजाल में आवागमन धारा चल रही है ॥ ४४ ॥

जहां पर प्राणी मरता है, उसी को शीघ्र वहां देखता है, वहीं पर इस भुवनाभोग को इसी प्रकार स्थित देखता है ॥ ४५ ॥

व्योमरूपी जीव आगन्तुक देह आदि को आत्मा समझकर निर्मल चिदाकाश में ही 'यह मैं हूँ', ,यह जगत् है' उस व्योमरूपी भ्रम का अनुभव करता है अर्थात् कर्म के अनुसार अज्ञानमूलक शरीर आदि को प्राप्त कर उसी आत्मारूप का अनुभव करता है ॥ ४६ ॥

जो इन्द्र आदि देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठ नगरों, मेरु आदि उनके पर्वतों, सूर्य, चन्द्र और सितारों से मनोहर, जरा (बुढ़ापा), मरण, दुश्चिन्ताएँ, शारीरिक

स्वभावाभावसंरम्भस्थूलसूक्ष्मचराचरम् ।
साब्ध्यद्द्रुर्वीनदीशाहोरात्रिकल्पक्षणक्षयम् ॥ ४८ ॥
अहं जातोऽमुना पित्रा किलाऽत्रेत्यात्मनिश्चयम् ।
इयं माता धनमिदं ममेत्युदितवासनम् ॥ ४९ ॥
सुकृतं दुष्कृतं चेदं ममेति कृतकल्पनम् ।
बालोऽभूवमहं त्वद्य युवेति विलसद्धृदि ॥ ५० ॥
प्रत्येकमेवमुदितः संसारवनखण्डकः ।
ताराकुसुमितो नीलमेघचञ्चलपल्लवः ॥ ५१ ॥
चरन्नरमृगानीकः सुरासुरविहङ्गमः ।
आलोककौसुमरजाः श्यामागहनकुञ्जकः ॥ ५२ ॥
अब्धिपुष्करिणीपूर्णो मेर्वाद्यचललोष्टकः ।
चित्तपुष्करबीजान्तर्निलीनानुभवाङ्कुरः ॥ ५३ ॥
यत्रैष म्रियते जीवस्तत्रैवं पश्यति क्षणात् ।

क्लेश आदि से परिपूर्ण मर्त्यलोकरूप खोखले से युक्त है, इस रूप में जगद्रूपी भ्रम का अनुभव करता है ॥ ४७ ॥

अपनी इष्ट वस्तु के सम्पादन में और अनिष्ट वस्तु के निवारण में स्थूल सूक्ष्म चर-अचर सभी प्राणी उद्योगशील हैं, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय समुद्र, नदियों और उनके अधिपतियों से युक्त हैं ॥ ४८ ॥

मैं इस स्थान में इस पिता से उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसा निश्चय रहता है, यह मेरी माता है, यह मेरी धन-सम्पत्ति है, ऐसी दृढ़ वासना जागरूक रहती है ॥ ४९ ॥

यह मेरा पुण्य है, यह पाप है, ऐसी कल्पना बद्धमूल रहती है, मैं पहले बच्चा था, किन्तु आज युवक हूँ, ऐसी प्रतीति रहती है ॥ ५० ॥

यह संसाररूपी वनराशि प्रत्येक जीव में उदित होती है। जगत् वनखण्ड में तारे ही फूल हैं, काली मेघघटा ही चञ्चल पल्लव है, इधर-उधर चल रहे मनुष्य ही मृगों के झुण्ड हैं, देवता और दैत्य ही पक्षिगण हैं, आलोकपूर्ण दिन ही फूलों का पराग है, रात्रि ही बड़े घने लतागृह हैं। वह समुद्ररूपी बावड़ी से पूर्ण है, सुमेरु आदि पर्वत उसके ढेले हैं, चित्तरूपी कमलबीज यानी कमलगट्टे के भीतर संस्काररूप से बैठी हुई चित्तवृत्तियाँ ही उसमें अङ्कुर हैं ॥ ५१-५३ ॥

जहाँ यह जीव मरता है, इस प्रकार से वर्णित वनखण्ड को एक क्षण में देखने लगता है। प्रत्येक जीव में उदित जगद्रूप वनखण्डों में पर्वतश्रेणियों, समुद्रसमुदायों, दीप और लोक ब्रह्माण्ड के अन्दर देखते हैं। अनेक करोड़ ब्रह्मा, रुद्र, देवता, विष्णु और सूर्य अन्य लोकों में चले गये हैं इस प्रकार का अनुभव करता है ॥ ५४-५५ ॥

प्रत्येकमुदितेऽत्रैवं जगत्खण्डेषु भूरिशः ॥ ५४ ॥
कोटयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रमरुद्विष्णुविवस्वताम् ।
गिर्यब्धिमण्डलद्वीपलोकान्तरदृशां गताः ॥ ५५ ॥
याता यास्यन्ति यान्त्येता दृष्ट्यो 'नष्टरूपिणीः ।
या ब्रह्मण्युपबृंहाढ्यास्ताः के गणयितुं क्षमाः ॥ ५६ ॥
एवं कुड्यमयं विश्वं नाऽस्त्येव मननादृते ।
मनने चलमेवाऽन्तस्तदिदानीं विचारय ॥ ५७ ॥
यदेव तच्चिदाकाशं तदेव मननं स्मृतम् ।
यदेव च चिदाकाशं तदेव परमं पदम् ॥ ५८ ॥
यदेवाऽम्बु स आवर्तो न त्वस्याऽऽवर्त्त वस्तुसन् ।
द्रष्टैवाऽऽस्ते दृश्यमिव दृश्यं न त्वस्ति वस्तुसत् ॥ ५९ ॥
चिद्व्योम्नोऽभूतनभसि कचनं यन्मणेरिव ।
तज्जगद्भाविनानासत्तत्त्वं श्वभ्रमिवाऽम्बरे ॥ ६० ॥

मिथ्या ब्रह्माण्ड की दृष्टियाँ अनेक बार बीत चुकी है, बीतेंगी और बीती हैं, जो ब्रह्म में आविर्भूत हुई हैं, उन्हें गिनने की किसमें सामर्थ्य है ? ॥ ५६ ॥

इस प्रकार भित्ति के समान स्थूल जगत् मन के सङ्कल्परूप मनन से अतिरिक्त नहीं है, मनन करने में मन से अपनी इच्छा के अनुसार अवगत भीतर अस्थिरस्वभाव ही प्रतीत होता है, उसका आप विचार करें। आशय यह है कि मन के भ्रान्त होनेपर भ्रमण करता हुआ-सा, मन के प्रसन्न होनेपर प्रसन्न हुआ-सा, मन के मलिन होनेपर मलिन-सा और मनोरथ आदि में उत्पन्न कर दूसरी जगह रक्खा जाता हुआ-सा सभी लोगों द्वारा अनुभूत होता है, उसीका इस समय आप अपने अनुभव से विचार करें ॥ ५७ ॥

अखण्ड आनन्दस्वरूप चिदाकाश ही है, जो वही मनन कहा गया है, चिदाकाश से अतिरिक्त मनन नहीं है और चिदाकाश जो है वही परम पद है ॥ ५८ ॥

जो ही जल है वही आवर्त है जल से अतिरिक्त आवर्त नहीं है, किन्तु आवर्त वस्तुसत्—यथार्थ नहीं है, द्रष्टा ही दृश्य की भाँति स्थित है दृश्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है ॥ ५९ ॥

चिदाकाश का असत्व या मायाकाश में या सूक्ष्म भूतों के कार्यभूत चित्ताकाश में विविध जीवरूप से स्फुरण होता है, वही नाम और रूप से स्वरूप को प्राप्त कर जगत् कहा जाता है। जैसे आकाश में बहुत प्रकार के गन्धर्वनगररूप छिद्रों से युक्त-सा प्रतीत होता है। चिदाकाश ही परमार्थ वस्तु है ॥ ६० ॥

मद्बुद्धार्थो जगच्छब्दो विद्यते परमामृतम् ।
त्वद्बुद्धार्थस्तु नाऽस्त्येव त्वमहंशब्दकादपि ॥ ६१ ॥
तस्माल्लीलासरस्वत्यावाकाशवपुषौ स्थिते ।
सर्वगे परमात्माच्छे सर्वत्राऽप्रतिघेऽनघे ॥ ६२ ॥
यत्र यत्र सदा व्योम्नि यथाकामं यथेप्सितम् ।
उदयं कुरुतस्तेन तद्गेहेऽस्ति गतिस्तयोः ॥ ६३ ॥
सर्वत्र संभवति चिद्गगनं तदत्र
सद्वेदनं कलनाममननं विसारि ।
तच्चाऽऽतिवाहिकमिहाहुरकुड्यमेव
देहं कथं क इव तं वद किं रुणद्धि ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने समरसमनन्तरसंस्मृत्यनुभववर्णनं नाम चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

अधिष्ठान सन्मात्र ज्ञात होनेपर जगत्-शब्द परम अमृत अर्थात् नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अमृत, अद्वय ब्रह्म है और स्वयं जिसको आरोपितसत्ता ज्ञात है इस प्रकार का जगत् शब्द परम अमृत स्वरूप नहीं है । वहाँ 'त्वम्' और 'अहम्' शब्द का अभिलाप है, जगत् प्रमाता भी मुझसे अवगत परम अमृत है और आप के द्वारा अवगत जगत् प्रमाता अमृत नहीं ही है ॥ ६१ ॥

इस प्रकार लीला और सरस्वती देवी का शरीर आकाश के समान सूक्ष्म था अतः सर्वत्र जा सकती थी । अत्यन्त सूक्ष्म छेद में भी प्रवेश करने में कोई उनको रोकटोक नहीं हो सकती थी, वे दोनों निष्पाप और परमात्मा के तुल्य विशुद्ध थीं ॥ ६२ ॥

अपनी स्पृहा और कामना के अनुसार सदा जहाँ-जहाँ आकाश में आविर्भूत होती थी, इसलिए राजा विदूरथ के घर में भी उनकी गति हुई ॥ ६३ ॥

चिदाकाश सर्वत्र सम्भव हो सकता है, कहींपर भी उसका प्रतिरोध नहीं होता है, मानसिक विषयों का अवधारण करनेतक बाहर प्रसरण करनेवाला वह यथार्थ ज्ञान होता है । उस आतिवाहिक देह को सूक्ष्म ही कहते हैं, उसे कौन पुरुष किस लिए और किस प्रकार रोक सकता है, अर्थात् उसका निरोध किसी प्रकार भी नहीं हो सकता ॥ ६४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में समरसमनन्तरसंस्मृत्यनुभववर्णन नामक कुसुमलता का चालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४० ॥

४१

श्रीवसिष्ठ उवाच

तयोः प्रविष्टयोर्देव्योः पद्मसद्म बभूवतत् ।
चन्द्रद्वयोदयोद्योतधवलोदरसुन्दरम् ॥ १ ॥
कोमलामलसौगन्ध्यमृदुमन्दारमारुतम् ।
तत्प्रभावेण निद्रालुनृपेतरनराङ्गनम् ॥ २ ॥
सौभाग्यनन्दनोद्यानं विद्रुतव्याधिवेदनम् ।
सवसन्तं वनमिव फुल्लं प्रातरिवाऽम्बुजम् ॥ ३ ॥
तयोर्देहप्रभापूरैः शशिनिस्यन्दशीतलैः ।
आह्लादितोऽसौ बुबुधे राजोक्षित इवाऽमृतैः ॥ ४ ॥
आसनद्वयविश्रान्तं स ददर्शाऽप्सरोद्वयम् ।
मेरुशृङ्गद्वये चन्द्रबिम्बद्वयमिवोदितम् ॥ ५ ॥

४१

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—उन देवियों के प्रविष्ट होने पर राजा पद्म के घर का भीतरी भाग दो चन्द्रमाओं के उदय होने के समान प्रकाश से धवल और सुन्दर हो गया है ॥ १ ॥

वहाँ आनेपर प्रिय सुकुमार और निर्मल सुगन्धित मृदु मन्दार पवन बहने लगे । उन देवियों के प्रभाव से राजा से अतिरिक्त नर-नारी गण निद्रायुक्त हो गये ॥ २ ॥

वह नन्दन वन के समान सुन्दर हो गया, व्याधि, पीड़ा उससे दूर हो गई, वसन्त के उल्लास से युक्त वन के समान और प्रातःकाल के खिले हुए कमल के समान रमणीक हो गया ॥ ३ ॥

चन्द्रमा के द्रव के समान शीतल दीप्ति सम्पन्न देह अमृत से सिक्त के समान आह्लादित वह राजा जाग उठा ॥ ४ ॥

दो आसनोंपर बैठी हुई, मेरु के दो शिखरोंपर उदित हुए दो चन्द्रबिम्ब के समान दो अप्सराओं को उस राजा ने देखा ॥ ५ ॥

निमेषमिव सञ्चिन्त्य स विस्मितमना नृपः ।
उत्तस्थौ शयनाच्छेषादिव चक्रगदाधरः ॥ ६ ॥
परिसंयमितालम्बिमाल्यहाराधराम्बरः ।
पुष्पाहार इवोत्फुल्लं जग्राह कुसुमाञ्जलिम् ॥ ७ ॥
उपधानप्रदेशस्थात् स्वयं पटलकोटरात् ।
बद्धपद्मासनो भूमौ भूत्वोवाचेदमानतः ॥ ८ ॥
जयतां जन्मदौस्थित्यदाहदोषशशिप्रभे ।
देव्यौ बाह्यान्तरतमोविद्रावणरविप्रभे ॥ ९ ॥
तयोरुक्त्वेति तत्याज पादयोः कुसुमाञ्जलिम् ।
तीरद्रुमो विकसितः पद्मिन्योः पद्मयोरिव ॥ १० ॥
लीलायै भूपजन्माऽथ वक्तुं मन्त्रिणमीश्वरी ।
बोधयामास पार्श्वस्थं सङ्कल्पेन सरस्वती ॥ ११ ॥
प्रबुद्धोऽप्सरसौ दृष्ट्वा प्रणम्य कुसुमाञ्जलिम् ।
तयोः पादेषु संत्यज्य विवेश पुरतो नतः ॥ १२ ॥

राजा को बड़ा विस्मय हुआ, एक क्षणभर अपने मन से विचारकर जैसे शेषशय्या से चक्रपाणि भगवान् गदाधर के समान हैं, विस्मयसमन्वित शयन से उड़ गया ॥ ६ ॥

उसने सोते समय इधर-उधर अस्त-व्यस्त हुए माला, हार और धोती को अपने-अपने स्थानपर ठीक किया, सिरहाने के पास में रक्खी हुई फूल की टोकरी से भृत्य की नाईं स्वयं ही खूब फूले हुए फूल अञ्जलि में लेकर और भूमिपर ही पद्मासन बाँधकर बड़े विनयभाव से देवियों से कहा ॥ ७, ८ ॥

हे देवियों, जय हो, जन्म, दुःखमय जीवन और त्रिविध तापरूपी दाह-दोष को दूर करने के लिए चाँदनी हैं, बाह्य और आभ्यन्तर अन्धकार का विनाश करने के लिए सूर्य की प्रभा है ॥ ९ ॥

उनके चरणकमलोंपर पुष्पाञ्जलि वैसे ही अर्पित की उन दोनों को यह कहकर, राजा ने जैसे कमल के तालाब के किनारे का फूला हुआ वृक्ष कमलसर के कमलोंपर फूलों की वृष्टि करता है ॥ १० ॥

देवी सरस्वती ने, लीला के लिए राजा का जन्म-वृत्तान्त कहने के लिए, सङ्कल्प से पास में स्थित मन्त्री को जगाया ॥ ११ ॥

जागे हुए मन्त्री ने दो अप्सराओं को देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणों में पुष्पाञ्जलि अर्पित कर बड़े विनयपूर्वक उनके आगे बैठ गया ॥ १२ ॥

देवी ने कहा :—हे राजन्, आप कौन हैं, किसके

उवाच देवी हे राजन् ! कस्त्वं कस्य सुतः कदा ।
इह जात इति श्रुत्वा स मन्त्री वाक्यमब्रवीत् ॥ १३ ॥
देव्यौ युष्मत्प्रसादोऽयं भवत्योरपि यत्पुरः ।
वक्तुं शक्नोमि तद्देव्यौ श्रूयेतां जन्म मत्प्रभोः ॥ १४ ॥
आसीदिक्ष्वाकुवंशोत्थो राजा राजीवलोचनः ।
श्रीमान् कुन्दरथो नाम दोश्छायाच्छादितावनिः ॥१५॥
तस्याऽभूदिन्दुवदनः पुत्रो भद्ररथाभिधः ।
तस्य विश्वरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो बृहद्रथः ॥ १६ ॥
तस्य सिन्धुरथः पुत्रस्तस्य शैलरथः सुतः ।
तस्य कामरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो महारथः ॥ १७ ॥
तस्य विष्णुरथः पुत्रस्तस्य पुत्रो नभोरथः ।
अयमस्मत्प्रभुस्तस्य पुत्रः पूर्णामलाकृतिः ॥ १८ ॥
अमृतापूरितजनः क्षीरोदस्येव चन्द्रमाः ।
महद्भिः पुण्यसंभारैर्विदूरथ इति श्रुतः ॥ १९ ॥

पुत्र हैं और कब यहाँ उत्पन्न हुए ? इस प्रश्न को सुनकर मन्त्री ने उत्तर दिया ॥ १३ ॥

हे देवियों ! यह आप लोगों की ही कृपा है कि मैं आपके सामने भी बोलने में समर्थ हूँ । अतः हे देवियों ! मेरे स्वामी का जन्म सुनें ॥ १४ ॥

पहले ईक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न राजा श्रीमान् कुन्दरथ थे, उनके कमल के सदृश विशाल नेत्र थे और उन्होंने अपने बाहुओं की छाया से आच्छादितकर पृथिवी का पालन किया ॥ १५ ॥

उनका चन्द्रमा के सदृश सुन्दरमुखवाला भद्ररथ नाम का लड़का हुआ । उसका विश्वरथ नामका लड़का हुआ । विश्वरथ के बृहद्रथ नाम का लड़का हुआ ॥ १६ ॥

बृहद्रथ को सिन्धुरथ नामक लड़का हुआ । सिन्धुरथ के शैलरथ नाम का लड़का हुआ । शैलरथ का कामरथ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । कामरथ को महारथ नाम का पुत्र पैदा हुआ ॥ १७ ॥

महारथ को विष्णुरथ लड़का हुआ । उसका नभोरथ लड़का हुआ । यह मेरे प्रभु पूर्ण विमल आकार वाले उनके पुत्र हुए ॥ १८ ॥

नभोरथ के महान् पुण्यपुञ्जों से चन्द्रमा के समान उत्पन्न हुए हैं, पूर्ण चन्द्रमा के समान इनकी निर्मल आकृति है, इन्होंने अमृततुल्य अपने स्नेह, मधुरता, उदारता, दया आदि गुणगणों से लोगों को वैसे ही तृप्त कर दिया है जैसे चन्द्रमा अपनी अमृतस्राविणी किरणों से

जातो मातुः सुमित्राया गौर्या गुह इवाऽपरः ।
पिताऽस्य दशवर्षस्य दत्वा राज्यं वनं गतः ॥ २० ॥
पालयत्येष भूपीठं ततः प्रभृति धर्मतः ।
भवत्यावद्य संप्राप्ते फलिले सुकृतद्रुमे ॥ २१ ॥
देव्यौ ! दीर्घतपःक्लेशशतैर्दुष्प्रापदर्शने ।
इत्ययं वसुधाधीशो विदूरथ इति श्रुतः ॥ २२ ॥
अद्य युष्मत्प्रसादेन परां पावनतां गतः ।
इत्युक्त्वा संस्थिते तूष्णीं मन्त्रिण्यवनिपे तथा ॥ २३ ॥
कृताञ्जलौ नतमुखे बद्धपद्मासनेऽवनौ ।
राजन् स्मर विवेकेन पूर्वजातिमिति स्वयम् ॥ २४ ॥
वदन्ती मूर्ध्नि पस्पर्श तं करेण सरस्वती ।
अथ हार्दं तमो माया पद्मस्य क्षयमाययौ ॥ २५ ॥
सुविकासं च हृदयं ज्ञप्तिस्पर्शोदयेऽभवत् ।
सस्मार पूर्ववृत्तान्तमन्तः स्फुरदिव स्थितम् ॥ २६ ॥
त्यक्तदेहैकराज्यत्वं लीलाविलसितान्वितम् ।

लोगों को आह्लादित करता है इनका नाम विदूरथ हुआ ॥ १९ ॥

ये माता सुमित्रा की कोंख से उनके महान् पुण्य-पुञ्जों से, श्रीपार्वतीजी से कार्तिकेय के समान उत्पन्न हुए हैं। इनके विरक्त और मोक्षेच्छु पिताश्री, जब ये दस ही वर्ष के थे ॥ २० ॥

हे देवियों, तभी से ये धर्मपूर्वक भूतल का पालन कर रहे हैं। आज आप हमारे पुण्यरूपी वृक्ष के फलने पर यहां प्राप्त हुई हैं ॥ २१ ॥

हे देवियो, बहुत बड़े तप आदि सैकड़ों क्लेशों से भी आपके दर्शन दुर्लभ हैं। इस दर्शनप्रदानरूप आपके कृपा से महाराज श्रीमान् विदूरथ आज अतिशय पवित्र हो गये हैं पृथिवीपति और राजा चुप हो गये ॥ २२-२३ ॥

यह कहकर मन्त्री, राजा नीचे मुखकर भूमि में पद्मासन बांधकर चुपचाप बैठे थे, हे राजन् ! आप विवेक से स्वयं अपने पूर्वजन्म का स्मरण करें यह कहती हुई सरस्वती ने उनके मस्तकपर हाथ से स्पर्श किया। देवी के स्पर्श करने के बाद पद्म का हृदयान्धकार अर्थात् माया विनष्ट हो गई ॥ २४-२५ ॥

देवी सरस्वती के स्पर्श करने पर राजा पद्म का हृदय बाहर-भीतर प्रकाशपूर्ण हो गया। राजा ने अपने अन्तःकरण में स्फुरित होने के समान अपने पूर्वजन्मों के वृत्तान्तों का स्मरण किया ॥ २६ ॥

राजा ने लीला के विलास से समन्वित शरीर और

ज्ञात्वा प्रज्ञप्तिवृत्तान्तं लीलायास्तु विजृम्भितम् ॥ २७ ॥
आत्मोदन्तं बभूवाऽसावुह्यमान इवाऽर्णवे ।
उवाचाऽऽत्मनि संसारे बत मायेयमातता ॥ २८ ॥
परिज्ञाता प्रसादेन देव्योरिह मयाऽधुना ।

राजोवाच

हे देव्यौ ! किमिदं नाम दिनमेकं मृतस्य मे ॥ २९ ॥
गतमद्येह जातानि वयो वर्षाणि सप्ततिः ।
स्मराम्यनेककार्याणि स्मरामि प्रपितामहम् ॥ ३० ॥
स्मरामि बाल्यं तारुण्यं मित्रं बन्धुपरिच्छदम् ।

ज्ञप्तिरुवाच

राजन् ! मृतिमहामोहमूर्छायाः समनन्तरम् ॥ ३१ ॥
तस्मिल्लोकान्तरेऽतीते तस्मिन्नेव मुहूर्त्तके ।
तस्मिन्नेव गृहे चाऽस्मिन्नेव व्योम्न्यपि सद्मनि ॥ ३२ ॥
अयं तस्य गृहस्याऽन्तर्व्योमन्येव किल स्थिते ।
गिरिग्रामकविप्रस्य गृहेऽन्तर्भूपमण्डपः ॥ ३३ ॥

एकच्छत्र राज्य के त्याग को, कभी पहले अनुभवपथ में आरुढ़ न हुए भी देवी सरस्वती के वृत्तान्त को, लीला की अत्युन्नति को और अपने वृत्तान्त को जाना ॥ २७ ॥

उसे जानकर राजा समुद्र में गोते लगाते हुए के समान विस्मय में पड़ गया। उसने अपने मन में कहाँ, बड़े खेद की बात है कि संसार में यह माया फैलायी गई है ॥ २८ ॥

इन देवियों की कृपा से मुझे इस समय इसका परिज्ञान हुआ है ॥ २८½ ॥

राजा ने कहा :—हे देवियों, यह क्या बात है कि मुझे मरे एक ही दिन हुआ है ॥ २९ ॥

पर मेरी आयु बीत चली है, मुझे पैदा हुए सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं। मुझे इस जन्म के अनेक कार्यों का जो स्मरण हो रहा है मुझे अपने प्रपितामह की याद आ रही है, मैं अपनी बाल्यावस्था का युवावस्था का हूँ, मित्रों की मुझे बन्धुबान्धव आदि परिवारों का स्मरण हो रहा है ॥ ३० ॥

श्रीसरस्वती देवी ने कहा :—मरणरूपी महामोहमयी मूर्छा के बाद तुरन्त उसी क्षण में तुम्हारे इसी घर के अधिष्ठानभूत चिदाकाश के मायारूप आवरण से तिरोहित होनेपर, गिरिग्रामवाले ब्राह्मण के घर के अन्दर रहनेपर पद्मलोकान्तर में उसी राजमहल में उसमें भी प्रधान राजसदन के अन्दर आकाश में ही यह ब्रह्माण्डमण्डप है ॥ ३१—३३ ॥

तस्याऽन्तरेयमाभाति प्रत्येकं च जगद्गृहम् ।
किल ब्राह्मणगेहान्तर्जीवस्ते मदुपास्थितः ॥ ३४ ॥
तत्रैव तस्य भूपीठं तस्मिंश्च किल मण्डपे ।
तस्यैव च गृहस्याऽन्तरिदं संसारमण्डलम् ॥ ३५ ॥
तत्रैवेदं तव गृहं स्थितमारम्भमन्थरम् ।
तत्रैव चेतसि तव निर्मलाकाशनिर्मलम् ॥ ३६ ॥
प्रतिभामागतमिदं व्यवहारभ्रमाततम् ।
यथेदं नाम मे जन्म तथेक्ष्वाकुकुलं मम ॥ ३७ ॥
एवंनामान एते मे पुराऽभूवन् पितामहाः ।
जातोऽहमभवं बालो दशवर्षस्य मे पिता ॥ ३८ ॥
परिव्राड्विपिनं यात इह राज्येऽभिषिच्य माम् ।
ततो दिग्विजयं कृत्वा कृत्वा राज्यमकण्टकम् ॥ ३९ ॥
अमीभिर्मन्त्रिभिः पौरैः पालयामि वसुन्धराम् ।
यज्ञक्रियाक्रमवतो धर्मे पालयतः प्रजाः ॥ ४० ॥

उस ब्रह्माण्डमण्डप के अन्दर यह प्रत्यक्ष तुम्हारा जन्म आदि आपाततः प्रतीत हो रहा है ।

भिन्न-भिन्न जगद्रूपी घर ब्राह्मणगृह के अन्दर है और मेरा भक्त तुम्हारा जीव भी ब्राह्मण के घर के अन्दर है ॥ ३४ ॥

उसी ब्राह्मणगृह में उसी मण्डप में तुम्हारे जीव का भूतल है उसी घर के अन्दर यह परिदृश्यमान पाञ्च संसारमण्डल है ॥ ३५ ॥

वहींपर तुम्हारा यह महासमृद्धिशाली घर है, वहींपर निर्मल आकाश के तुल्य निर्मल तुम्हारे चित्त में व्यवहार-भ्रम का विस्तार करनेवाला यह दृश्य प्रपञ्च प्रतीति हुआ है । व्यवहारभ्रमपरम्परा की विस्तारकता का, जो कि सब को अनुभूत है, उल्लेख करते हैं—'यथा' इत्यादि से । जैसे कि यह मेरा जन्म है, मेरा इक्ष्वाकु कुल है ॥ ३६-३७ ॥

इस नाम के मेरे पिता, पितामह आदि पहले हुए थे । मैं उत्पन्न हुआ, बालक रहा, जब मैं दस वर्ष का था मेरे पिता यहांपर राज्य में मेरा अभिषेक कर संन्यासी हो बन को चले गये । तदुपरान्त दिग्विजय करके राज्य को कण्टकशून्य=शत्रुविहीन किया ॥ ३८-३९ ॥

इन मन्त्रियों और नागरिकों के साथ मैं पृथिवी का पालन करता हूँ, यज्ञक्रिया करते हुए धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता था ॥ ४० ॥

प्रजा का पालन करते हुए मेरी अवस्था के सत्तर वर्ष व्यतीत हो गये हैं । इस समय शत्रुसेना ने मेरे ऊपर

वयसः समतीतानि मम वर्षाणि सप्ततिः ।
इदं परबलं प्राप्तं मम दारुणविग्रहः ॥ ४१ ॥
युद्धं कृत्वेदमायातो गृहमस्मिन्यथास्थितम् ।
इमे देव्यौ गृहे प्राप्ते ममैते पूजयाम्यहम् ॥ ४२ ॥
पूजिता हि प्रयच्छन्ति देवताः स्वसमीहितम् ।
ममेयमेतयोरेका ज्ञानं जातिस्मृतिप्रदम् ॥ ४३ ॥
इह दत्तवती देवी भाऽब्जस्येव विकासनम् ।
इदानीं कृतकृत्योऽस्मि जातोऽस्मि गतसंशयः ॥ ४४ ॥
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखमासे च केवलम् ।
इतीयमातता भ्रान्तिर्भवतो भूरिसंभ्रमा ॥ ४५ ॥
नानाचारविहाराढ्या सलोकान्तरसञ्चरा ।
यस्मिन्नेव मुहूर्त्ते त्वं मृतिमभ्यागतः पुरा ॥ ४६ ॥
तदैव प्रतिभैषा ते स्वयमेवोदिता हृदि ।
एकामावर्त्तचलनां त्यक्त्वा दत्ते यथाऽपराम् ॥ ४७ ॥

चढ़ाई की थी उसके साथ मेरा भयङ्कर युद्ध हो रहा था ॥ ४१ ॥

युद्ध करके मैं घर आया हूँ, इस घर में पूर्व के समान स्थित हुआ ये देवियां मेरे घर में आई हैं, मैं इनका पूजन करता हूँ ॥ ४२ ॥

पूजित देवता मनोकामना पूरी करते हैं । इन दोनों में से एक देवी ने जैसे सूर्य की प्रभा कमल को विकास देती है वैसे ही मुझे यहांपर ऐसा ज्ञान दिया जो पूर्व-जन्मस्मृतिप्रद है, इस समय मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, मेरे सन्देह नष्ट हो गये हैं ॥ ४३-४४ ॥

मैं सम्पूर्ण दुःखों के उपरत होने से शान्त हो जाऊँगा निरतिशय सुख की समृद्धि प्राप्त होने से मुक्त होऊँगा, केवल एकरस सुख ही होकर मैं स्थित होऊँगा, इस प्रकार की प्रचुर शाखा-प्रशाखाओं से युक्त भ्रान्ति जो कि नाना प्रकार के आचार विहारों और लोकान्तर में गमन से युक्त फैली है । पहले जिस मुहूर्त में तुम्हारी मृत्यु हुई उसी समय यह प्रतिभा अपने-आप तुम्हारे हृदय में उदित हुई । जैसे नदी का प्रवाह एक आवर्त का त्यागकर शीघ्र ही दूसरे आवर्त का ग्रहण करता है वैसे ही चित्तप्रवाह भी एक सृष्टि को त्यागकर दूसरी सृष्टि का ग्रहण करता है । यह सृष्टि भी जाग्रत में अन्य जीवों की सृष्टि से युक्त और स्वप्न में अमिश्र यानी अन्य जीवों की सृष्टि से वैसे ही रहित है । जैसे आवर्त कभी अन्य आवर्त से मिला हुआ और कभी बिना मिला हुआ प्रवृत्त होता है उस मरण-मुहूर्त में चिद्रूप सूर्य जो तुम हो तुम्हारी

क्षिप्रमेव नदीवाहो चित्प्रवाहस्तथैव च ।
आवर्त्तान्तरसंमिश्रो यथावर्त्तः प्रवर्त्तते ॥ ४८ ॥
कदाचिदेवं सर्गश्रीर्मिश्रामिश्रा च वर्द्धते ।
तस्मिन्मृतिमुहूर्त्ते ते प्रतिभानमुपागतम् ॥ ४९ ॥
एतज्जालमसद्रूपं चिद्भानोः समुपस्थितम् ।
यथा स्वप्नमुहूर्तेऽन्तः संवत्सरशतभ्रमः ॥ ५० ॥
यथा सङ्कल्पनिर्माणे जीवनं मरणं पुनः ।
यथा गन्धर्वनगरे कुड्यमण्डनवेदनम् ॥ ५१ ॥
यथा नौयानसंरम्भे वृक्षपर्वतवेपनम् ।
यथा स्वधातुसंक्षोभे पूर्वपर्वतनर्त्तनम् ॥ ५२ ॥
यथाऽसमञ्जसं स्वप्ने स्वशिरः प्रविकर्त्तनम् ।
मिथ्यैवैवमियं प्रौढा भ्रान्तिराततरूपिणी ॥ ५३ ॥
वस्तुतस्तु न जातोऽसि न मृतोऽसि कदाचन ।
शुद्धविज्ञानरूपस्त्वं शान्त आत्मनि तिष्ठसि ॥ ५४ ॥
पश्यसीवैतदखिलं न च पश्यसि किञ्चन ।
सर्वात्मकतया नित्यं प्रकचस्यात्मनाऽऽत्मनि ॥ ५५ ॥
महामणिरिवोदार आलोक इव भास्वरः ।

प्रतिभा को प्राप्त हुआ असद्रूप यह जगज्जाल उपस्थित हुआ है। जैसे स्वप्न के एक मुहूर्त के अन्दर सैकड़ों वर्षों की भ्रान्ति होती है ॥ ४५-५० ॥

विस्तृत रूपवाली अतएव दुरुच्छेद्य यह प्रपञ्चभ्रान्ति भी वैसे ही मिथ्या ही है जैसे मनोरथ में जीवन और मरण होते हैं, जैसे गन्धर्वनगर में भीत और भीत को शोभित करनेवाले चित्रों की प्रतीति होती है, जैसे नौका के वेग से चलनेपर वृक्ष और पर्वतों का कम्पन (चञ्चल) प्रतीत होता है, जैसे अपने वात, पित्त आदि धातुओं का सन्निपात होनेपर पर्वतों का चलना प्रतीत होता है और जैसे स्वप्न में अपने शिर को काटना दिखाई देता है, जो पूर्व में कभी अनुभूत नहीं है और जो अव्यवहार्य्य है॥ ५१-५३ ॥

वस्तुतः तुम न तो कभी उत्पन्न हुए हो और तुम कभी न मरे हो, किन्तु विशुद्धविज्ञानस्वरूप शान्त तुम अपने सच्चिदानन्दस्वरूप में स्थित हो ॥ ५४ ॥

तुम इस समस्त दृश्य को देखते-से हो, वास्तव में कुछ भी नहीं देखते, क्योंकि विषय ही जब नहीं है, तब देखोगे क्या ? अपने स्वरूप में अपने से नित्य सर्वात्मभाव से नित्य तुम ही प्रदीप्त होते हो ॥ ५५ ॥

तुम ही विमल मणि के समान व्याप्त भास्वर सूर्य के

वस्तुतस्तु न भूपीठमिदं न च भवानयम् ॥ ५६ ॥
न चेमे गिरयो ग्रामा न चैते न च वै वयम् ।
गिरिग्रामकविप्रस्य मण्डपाकाशके किल ॥ ५७ ॥
तल्लीलाभर्तृदाराढ्यं जगदाभाति भास्वरम् ।
तत्र लीलाराजधानी मण्डपामण्डिताकृतिः ॥ ५८ ॥
भाति तस्योदरे व्योम्नि तदेवं विदितं जगत् ।
तस्मिन् जगति गेहेऽन्तर्यस्मिन् वयमिह स्थिताः ॥५९॥
एवं तेषां मण्डपानां व्योमाऽव्योमैव निर्मलम् ।
तथैव मण्डपेष्वस्ति न मही न च पत्तनम् ॥ ६० ॥
न वनानि न शैलौघा न मेघसरिदर्णवाः ।
केवलं तत्र निःशून्ये विहरन्ति गृहे जनाः ॥ ६१ ॥
न पश्यन्ति जना नाऽपि पार्थिवा न च भूधराः ।

विदूरथ उवाच

एवं चेत्तत् कथं देवि ममेहाऽनुचरा इमे ॥ ६२ ॥
संपन्ना आत्मना सन्ति ते किमात्मनि नोऽथवा ।
जगत्स्वप्नार्थवद्भाति तस्य स्वप्ननरादयः ॥ ६३ ॥

समान देदीप्यमान हो रहे हो, न पृथिवी सत् है और तुम ही वस्तुतः सत् हो ॥ ५६ ॥

न ये पर्वत हैं, न ये ग्राम हैं और न ये तुम्हारे परिजन और शत्रु हीं सत् हैं, न हम लोग ही सत् हैं। गिरिग्राम के ब्राह्मण के मण्डपाकाश में सभार्य लीलापति से युक्त यह देदीप्यमान जगत् प्रतीत होता है। उसमें बहुत से भवनों से सुशोभित लीला की राजधानी है। ब्राह्मण के गृहाकाश में इस प्रकार से जाना गया यह जगत् है। जिस घर में इस समय हम लोग बैठे हैं, वह उस जगत् में प्रतीत होता है ॥ ५७-५९ ॥

इस प्रकार मण्डपों का आकाश शून्य निर्मल आकाश ब्रह्म ही है। उसी प्रकार मण्डपों में न पृथिवी है और न नगर ही है, न वन हैं, न पर्वतश्रेणियाँ हैं, न मेघ, नदियाँ और समुद्र ही हैं। केवल चिन्मात्रपूर्ण उस ब्रह्मरूप प्रतीयमान गृह शून्य में मिथ्या पुरुष बिहार करते हैं। न लोग देखते हैं न राजा हैं और न पर्वत हैं ॥ ६०-६१ ॥

विदूरथ ने कहा :—हे देवि ! यदि ऐसा है, तो मेरे ये अनुचर यहाँपर कैसे सत्य हैं ॥ ६२ ॥

वे मेरे समान सत्स्वभाव आत्मा में जीवभाव से समन्वित हैं या नहीं। जगत् स्वप्न के पदार्थ के समान प्रतीत होता है। मेरे स्वप्ननगर आदि सत्स्वभाव मुझ में कैसे

कथमात्मनि सत्याः स्युर्न सत्या वेति मे वद ।
श्रीसरस्वत्युवाच
राजन् ! विदितवेद्येषु शुद्धबोधैकरूपिषु ॥ ६४ ॥
न किञ्चिदेतत्सद्रूपं चिद्व्योमात्मसु जागतम् ।
शुद्धबोधात्मनो भाति कुतो नाम जगद्भ्रमः ॥ ६५ ॥
रज्ज्वां सर्पभ्रमे शान्ते पुनः सर्पभ्रमः कुतः ।
असद्भावे परिज्ञाते कुतः सत्ता जगद्भ्रमे ॥ ६६ ॥
परिज्ञाते मृगजले पुनर्जलमतिः कुतः ।
स्वप्नकाले परिज्ञाते स्वे स्वप्नमरणं कुतः ॥
स्वस्वप्ने स्वप्नमृतिभीरमृतस्यैव जायते ॥ ६७ ॥
बुद्धस्य शुद्धस्य शरन्नभःश्रीः
स्वच्छावदाताततताशयस्य ।
अहं जगच्चेति कुशब्दकार्थौ
न वस्तुतः सोऽङ्ग हि वाचिकं तत् ॥ ६८ ॥
इत्युक्तवत्यथ मुनौ दिवसो जगाम
सायन्तनाय विधयेऽस्तमिनो जगाम ।
स्नातुं सभाकृतनमस्करणा जगाम
श्यामाक्षये रविकरैश्च सहाऽऽजगाम ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे भ्रान्तिविचारवर्णनं नाम एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

सत्य होंगे और कैसे न होंगे ? यह आप मुझसे कहें ॥ ६३ ॥

श्रीसरस्वतीजी ने कहा :—जिन लोगों को ज्ञातव्य वस्तु ज्ञात हो चुकी है और जो शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे चिदाकाशरूपी पुरुषों में यह जगत् सम्बन्धी कुछ भी पदार्थ सत् नहीं है । जो शुद्ध बोधस्वरूप है, उसे जगद्भ्रम कहाँ से हो सकता है ? ॥ ६४-६५ ॥

रस्सी में सर्पभ्रम के दूर=शान्त हो जानेपर फिर सर्पभ्रम कहाँ से होगा ? जगद्भ्रम असत्य है, यह पूर्णरूप से जान लेने के बाद फिर उसकी सत्ता कैसी ? ॥ ६६ ॥

मरुभूमि में प्रतीत होनेवाले मृगजाल के स्वरूप का परिज्ञान होनेपर उसमें छलबुद्धि कैसे हो सकती है ? स्वप्नकाल में, जागरण से अपने स्वरूप के परिज्ञात होनेपर, अपना मरण कैसे सत्य हो सकता है ? अपनी स्वप्नावस्था में अमृत पुरुष को ही अपने मरण का भय होता है ॥ ६७ ॥

मेघरूप आवरण का विनाश होनेपर शरत्कालीन आकाश की शोभा स्वच्छ हो जाती है, इसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर अज्ञानरूप आवरण का विनाश होनेपर स्वच्छ हृदय और स्फुरित होती हुई आत्मप्रभा से धवल और आत्मैक्य हो जानेपर पूर्णतारूप विस्तार की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे शुद्ध और तत्त्ववेत्ता पुरुष की बुद्धि में अज्ञानियों की दृष्टि में होनेवाली 'मैं' और 'जगत्' ऐसी प्रतीति वस्तुतः नहीं है, वह केवल वाचिक व्यवहारमात्र है ॥ ६८ ॥

महर्षि वाल्मीकिजी के द्वारा इतनी कथा कहनेपर दिन बीत गया, भगवान् सूर्य अस्ताचल-शिखर की ओर अग्रसर हो गये और भरद्वाज आदि मुनियों की सभा बाल्मीकिजी को प्रणाम कर सायङ्काल के सन्ध्यावन्दन आदि कृत्य के सम्पादन लिए स्नानार्थ चली गई । रात्रि व्यतीत होनेपर सूर्य के उगते-उगते मुनिमण्डली सभास्थान में पुनः आ गई ॥ ६९ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में भ्रान्तिविचारवर्णन नामक कुसुमलता का इकतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४१ ॥

४२

यस्त्वबुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे ।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत् ॥ १ ॥
यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः ।
असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ २ ॥

४२

जिस मूढ़ की आत्मतत्त्व में दृढ़ नहीं है और बुद्धि में बोध का उदय नहीं हुआ है उसके लिए असत् भी यह जगत् परमार्थ सत् है ॥ १ ॥

मूढ़मति को सत् के समान प्रतीत होनेवाला यह असत् जगत् मृत्युपर्यन्त सब दुःखों का देनेवाला वैसे ही है जैस असत् ही वेताल बालक को मृत्युपर्यन्त सब दुःखों का देनेवाला है ॥ २ ॥

ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमकारणम् ।
असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत् ॥ ३ ॥
यथा स्वप्नमृतिर्जन्तोरसत्या सत्यरूपिणी ।
अर्थक्रियाकरी भाति तथा मूढधियां जगत् ॥ ४ ॥
अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा ।
कटकज्ञप्तिरेवाऽस्ति न मनागपि हेमधीः ॥ ५ ॥
तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रभासुरा ।
इयं दृश्यदृगेवाऽस्ति न त्वन्या परमार्थदृक् ॥ ६ ॥
यथा नभसि मुक्तालीपिच्छकेशोण्ड्रकादयः ।
असत्याः सत्यतां याता भात्येवं दुर्दृशां जगत् ॥ ७ ॥
दीर्घस्वप्नमिदं विश्वं विध्यहन्तादिसंयुतम् ।
अत्राऽन्ये स्वप्नपुरुषा यथा सत्यास्तथा शृणु ॥ ८ ॥
अस्ति सर्वगतं शान्तं परमार्थघनं शुचि ।
अचेत्यचिन्मात्रवपुः परमाकाशमाततम् ॥ ९ ॥

असत्य ही यह जगत् मूढ़मति की दृष्टि में सत्य-सा वैसे ही प्रतीत होता है जैसे मरुभूमिस्थित सूर्य का आतप ही अज्ञ मृगों की दृष्टि में सत्यजलरूप से प्रतीत हुआ मृगों के भ्रम का कारण होता है ॥ ३ ॥

मूढ़बुद्धियों को यह जगत् वैसे ही शोक, मोह आदि देनेवाला है जैसे प्राणियों की असत्य ही स्वप्नमृत्यु सत्यरूपिणी होकर अर्थक्रियाकारिणी होती हैं ॥ ४ ॥

कटक, कुण्डल आदि में अनुगत सुवर्ण का परिज्ञान शून्य व्यक्ति को कनक निर्मित कटक में कटक का ही ज्ञान होता है, सुवर्ण का जैसे ज्ञान नहीं होता, वैसे ही अज्ञ पुरुष की नगर, गृह, पर्वत गजराज आदि से व्याप्त यह दृश्यदृष्टि ही है, अन्य सर्वानुगत ब्रह्मदृष्टि नहीं है ॥ ५-६ ॥

आकाश में मुक्तावली, मोरपंख और कुण्डलाकार केशों का गोला आदि असत्य होते हुए भी सत्य के समान प्रतीत होते हैं, वैसे ही अज्ञानियों को यह जगत् असत्य होता हुआ भी सत्य के रूप में प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

अहन्ता आदि से युक्त इस विश्व को दीर्घ स्वप्न समझो, यहाँ पर अपने से अतिरिक्त सत्य पुरुष स्वप्नदृष्ट अन्य पुरुषों के समान हैं।

शङ्का—यदि ऐसा है, तो ये शास्त्र-प्रतिपादित याजन, प्रतिग्रह, उपदेश आदि अर्थ क्रिया योग्य सत्य हैं, शास्त्र में क्यों स्वीकार किया गया है? यह सत्य कैसे है, यह सुनो ॥ ८ ॥

सर्वाधिष्ठान शान्त और निरतिशय सत्य निर्मल अचेत्य-चिन्मात्रवपु सर्वत्र व्याप्त परमाकाश है ॥ ९ ॥

सत्सर्वगं सर्वशक्ति सर्वं सर्वात्मकं स्वयम् ।
यत्र यत्र यथोदेति तथाऽऽस्ते तत्र तत्र वै ॥ १० ॥
तेन स्वप्नपुरे द्रष्टा यान्वेत्ति पुरवासिनः ।
नरानिति नरा एव क्षणात्तस्य भवन्ति ते ॥ ११ ॥
यद्द्रष्टुश्चित्स्वरूपं तत्स्वप्नाकाशान्तरस्थितम् ।
स्वप्नाकाशचितत्ताभं हि नरा नामेति भावितम् ॥१२॥
वेदितृत्वैक्यवशतो नरतेवाऽवबुद्धयते ।
आत्मन्यतश्चिद्बलेन द्वयोरप्येति सत्यता ॥ १३ ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नेऽपि स्वप्नपुरुषा न सत्याः स्युर्मुने यदि ।
वद तत्को भवेद्दोषो मायामात्रशरीरिणि ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वप्ने न पुरवास्तव्या वस्तुतः सत्यरूपिणः ।
प्रमाणमत्र शृणु मे प्रत्यक्षं नाम नेतरत् ॥ १५ ॥

वह सर्वव्यापक सर्वशक्ति सर्वात्मक स्वयं जहाँ जैसी अर्थक्रियाकारिता के अनुरूप आविर्भूत होता है वह उसी प्रकार रहता है ॥ १० ॥

इसलिए द्रष्टा स्वप्नपुर में जिन पुरवासियों नररूप से जानता है, वे शीघ्र ही उसके नर ही हो जाते हैं ॥ ११ ॥

सुषुम्नानाडी के छिद्र भीतर स्थित स्वप्नाध्यस्त विपुलाकाश में परिवर्तमान चित्त की वासना के अनुसार उन पदार्थों के रूप में विवर्त होकर द्रष्टा का चित्स्वरूप ही भावित होकर 'नर' इस नाम को प्राप्त किया है ॥ १२ ॥

चैतन्य के तादात्म्य के द्वारा संसर्गाध्यास से नरता के समान ज्ञान होता है, चित् के बल से स्वप्न और जागरण में अध्यस्त धर्मों की आत्मा में सत्यता होती है ॥ १३ ॥

श्रीराम ने कहा :—हे मुने! केवल मायास्वरूप स्वप्न में कल्पित स्वप्न पुरुष उस प्रकार के सत्य न हों, तो क्या दोष है ॥ १४ ॥

श्रीवसिष्ठ जी ने कहा :—स्वप्न में स्वप्न नगरवासी लोग वस्तुतः सत्य नहीं हैं, इस प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुझसे सुनें, अन्य प्रमाण को जानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् स्वप्न पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, अतः वे अत्यन्त असत् नहीं हैं ॥ १५ ॥

सर्गादावात्मभूर्भाति स्वप्नाभानुभवात्मकः ।
तत्सङ्कल्पकलं विश्वमेवं स्वप्नाभमेव तत् ॥ १६ ॥

एवं विश्वमिदं स्वप्नस्तत्र सत्यं भवान्मम ।
यथैव त्वं तथैवाऽन्ये स्वप्ने स्वप्नवरा नृणाम् ॥ १७ ॥

स्वप्ने नगरवास्तव्याः सत्या न स्युरिमे यदि ।
तदिहाऽपि तदाकारे न सत्यं मे मनागपि ॥ १८ ॥

यथाऽहं तव सत्यात्मा सत्यं सर्वं भवेन्मम ।
स्वप्नोपलम्भे संसारे मिथः सिद्ध्यै प्रभेदृशी ॥ १९ ॥

संसारे विपुले स्वप्ने यथा सत्यमहं तव ।
यथा त्वमपि मे सत्यं सर्वं स्वप्नेष्विति क्रमः ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

स्वप्नेद्रष्टरि निर्निद्रे तद्द्रष्टुः स्वप्नपत्तनम् ।
सद्रूपत्वात्तथैवाऽऽस्ते ममेति भगवन्मतिः ॥ २१ ॥

सृष्टि के आरम्भ में स्वयं प्रजापति स्वप्न सदृश आभास से सम्पन्न अनुभवरूपी हिरण्यगर्भ थे उनके सङ्कल्प से उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्न के सदृश है ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह विश्व स्वप्न है, स्वप्न में मेरी दृष्टि में जैसे आप सत्य हैं, वैसे ही अन्य लोग भी आपकी दृष्टि और मेरी दृष्टि से सत्य हैं, स्वप्न में अन्य मनुष्यों की भी अपने अपने अनुभव के अनुसार स्वप्न सत्यता सिद्ध है ॥ १७ ॥

स्वप्न में यदि ये नगरवासी सत्य न हों, तो स्वप्नाकार इस जाग्रत् में भी वे नाय मात्र भी सत्य न होंगे ॥ १८ ॥

तुम्हारी दृष्टि में जैसे मैं सत्यात्मा हूँ, मेरी दृष्टि में वैसे ही सब सत्य हैं, स्वप्न सदृश संसार में पदार्थों की परस्पर सिद्धि के लिए ऐसी ही प्रभा है ॥ १९ ॥

सारे स्वप्नों में क्रम वैसे ही है जैसे इस विपुल स्वप्नरूपी संसार में तुम्हारी दृष्टि में मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टि में तुम भी सत्य हो ॥ २० ॥

श्रीराम ने कहा :—स्वप्नद्रष्टा की नींद खुलने पर स्वप्न द्रष्टा का वह स्वप्नपत्तन सद्रूप होने से वैसा ही रहता है। आपके कथन से मुझे यही अवगत हो रहा है ॥ २१ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—वत्स, जैसा आप कहते हैं, वह ठीक है, सत्यरूप होने से स्वप्न नगर स्वप्न द्रष्टा के जागने पर भी वैसा ही रहता है, क्योंकि वह स्वप्न

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतत्तथैवाऽऽस्ते सत्यत्वात् स्वप्नपत्तनम् ।
स्वप्नद्रष्टरि निर्निद्रेऽप्याकाशविशदाकृति ॥ २२ ॥
एतदास्तामिदं तावद्यज्जाग्रदिव मन्यसे ।
विद्धि तत्स्वप्नमेवाऽऽन्तर्देशकालद्यपूरकम् ॥ २३ ॥
एवं सर्वमिदं भाति न सत्यं सत्यवस्थितम् ।
रञ्जयत्यपि मिथ्यैव स्वप्नस्त्रीसुरतोपमम् ॥ २४ ॥
सर्वत्र विद्यते सर्वं देहस्याऽन्तर्बहिस्तथा ।
यत्तु वेत्ति यथा संवित्तत्तथा स्वैव पश्यति ॥ २५ ॥
यत्कोशे विद्यते द्रव्यं तद्द्रष्ट्रा लभ्यते यथा ।
तथाऽस्ति सर्वं चिद्व्योम्नि चेत्यते तत्त्वनेन वै ॥ २६ ॥
अनन्तरमुवाचेदं देवी ज्ञर्मिविदूरथम् ।
कृत्वा बोधामृतासेकैर्विवेकाङ्कुरसुन्दरम् ॥ २७ ॥
एतदेव मया राजन् ! लीलार्थमुपवर्णितम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यावो दृष्टा दृष्टान्तदृष्टयः ॥ २८ ॥

आकाश विशदाकृति अर्थात् अधिष्ठान सन्मात्र स्वभाव अर्थात् सत्य ही है ॥ २२ ॥

स्वप्न के पदार्थों की जाग्रत्काल के बाहरी देश और काल में अनुवृत्ति नहीं होने से उन्हें असत्य समझते हैं, तो जाग्रत की भी तो आभ्यान्तर स्वप्न देश और काल में अनुवृत्ति नहीं होती है अर्थात् वह भी स्वाप्निक देशकाल का पूरक नहीं होता है अतः, दोनों की स्वप्नतुल्यता समान ही है ॥ २३ ॥

इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपञ्च सत्य नहीं है, अधिष्ठान की सत्ता से सत्य के समान प्रतीत होता है। स्वप्नस्त्रीसङ्गम के समान मिथ्या ही अपने में आसक्ति कराकर जीव को मोहित करता है ॥ २४ ॥

सभी पदार्थ देह के अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है, संवित् जैसा जानती है, वह वैसे अपने को ही देखती है ॥ २५ ॥

जैसे कोश में जो धन रहता है, उसको उसका द्रष्टा अवश्य जानता है, वैसे ही चिदाकाश में सब कुछ है, उसका चिदाकाश ही अनुभव करता है ॥ २६ ॥

इसके बाद देवी सरस्वती ने राजा विदूरथ को ज्ञानरूपी अमृत के सेक से विवेकरूपी अङ्कुर से समन्वित बनाकर उनसे यह कहा ॥ २७ ॥

हे राजन् ! यह सब पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान लीला की प्रीति के लिए ही मैंने तुमसे कहा। तुम्हारा कल्याण हो, लीला ने जगन्मिथ्यात्व की दृष्टान्त दृष्टियाँ ब्रह्माण्डकल्याणरूपी देख ली है ॥ २८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति प्रोक्ते सरस्वत्या गिरा मधुरवर्णया ।
उवाच वचनं धीमान् भूमिपालो विदूरथः ॥ २९ ॥

विदूरथ उवाच

ममाऽपि दर्शनं देवि मोघं भवति नार्थिनि ।
महाफलप्रदायाऽस्तु कथं तव भविष्यति ॥ ३० ॥

अहं देहं समुत्सृज्य लोकान्तरमितोऽपरम् ।
निजमायामि हे देवि ! स्वप्नात् स्वप्नान्तरं यथा ॥३१॥

पश्याऽऽदिशाऽऽशु मां मातः प्रपन्नं शरणागतम् ।
भक्तेऽवहेला वरदे महतां न विराजते ॥ ३२ ॥

यं प्रदेशमहं यामि तमेवाऽऽयात्वयं मम ।
मन्त्री कुमारी चैवेयं बालेतिकुरु मे दयाम् ॥ ३३ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

आगच्छ राज्यमुचितार्थविलासचारु
प्राग्जन्ममण्डलपते कुरु निर्विशङ्कम् ।
अस्माभिरर्थिजनकामनिराकृतिर्हि
दृष्टा न काचन कदाचिदपीति विद्धि ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामाणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
स्वप्नपुरुषसत्यत्वनिरूपणं नाम द्विचत्वारिंशत्तमः सर्गः ॥ ४२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—श्रीमन् ! मधुर अक्षरों से युक्त वाणी से देवी सरस्वती के यह कहनेपर तुम्हारा कल्याण हो कथन के तात्पर्य को जाननेवाले बुद्धिमान् राजा विदूरथ ने श्रीदेवीजी से कहा ॥ २९ ॥

विदूरथ ने कहा :—हे देवि ! किसी याचक को मेरा दर्शन हो जाय, तो वह निष्फल नहीं होता है आप तो महाफल देनेवाली हैं, फिर आपका दर्शन कैसे निष्फल हो सकता है ॥ ३० ॥

हे देवि ! अपनी पूर्वतन देह का त्याग कर दूसरे लोक में वैसे ही मैं शीघ्र आऊँगा जैसे मनुष्य एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न में जाता है ॥ ३१ ॥

हे जननि ! आपकी शरण में आया हूँ, मैं प्रसन्न हूँ मुझे आप दयापूर्ण दृष्टि से देखें । हे वरदे ! महान् लोगों की भक्त पर अवहेलना शोभा नहीं देती है ॥ ३२ ॥

जिस लोक में मैं जाऊँगा, उसी लोक में मेरा यह मन्त्री और यह अविवाहिता कन्या आए, ऐसी मेरे ऊपर दयादृष्टि कीजिये ॥ ३३ ॥

श्री सरस्वतीजी ने कहा—हे पूर्वजन्म के मण्डलपति ! आइये और लीला की भक्ति और भाग्य के अनुरूप पदार्थों की समृद्धि से अत्यन्त मनोहर राज्य का आप निशङ्क होकर भाग करे। हम लोगों ने कभी भी याचकों की अभिलाषा का प्रत्याख्यान किया है और न किसी ने उसे देखा ही है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में
स्वप्नपुरुषसत्यत्वनिरूपण नामक कुसुमलता का बयालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४२ ॥

४३

श्रीसरस्वत्युवाच

अस्मिन् रणवरे राजन् ! मर्तव्यं भवताऽधुना ।
प्राप्तव्यं प्राक्तनं राज्यं सर्वं प्रत्यक्षमेव ते ॥ १ ॥

कुमार्या मन्त्रिणा चैव त्वया च प्राक्तनं पुरम् ।
आगन्तव्यं शवीभूतं प्राप्तव्यं तच्छरीरकम् ॥ २ ॥

आवां यावो यथायातं वातरूपेण च त्वया ।
आगन्तव्यः स देशस्तु कुमार्या मन्त्रिणाऽपि च ॥ ३ ॥

४३

श्रीसरस्वती जी ने कहा :—हे राजन् ! इस भीषण युद्ध में इस समय आपको अवश्य मरना होगा और पूर्वजन्म का राज्य आपको मिलेगा, तुम्हें प्रत्यक्ष ही होगा ? ॥ १ ॥

अविवाहित राजकुमारी को और मन्त्री को पूर्वजन्म का नगर प्राप्त होगा और आपको शवरूप वह शरीर प्राप्त होगा ॥ २ ॥

हम लोग जैसे आये थे, वैसे ही जा रहे हैं, लेकिन आप, राजकुमारी और मन्त्री मर कर वायुरूप होकर अर्थात् आतिवाहिक देहरूप से पूर्वजन्म के प्रदेश में आवेंगे ॥ ३ ॥

अन्यैव गतिरश्वस्य गतिरन्या खरोष्ट्रयोः ।
मदस्विन्नकपोलस्य गतिरन्यैव दन्तिनः ॥ ४ ॥
प्रस्तुतेति कथा यावन्मिथो मधुरभाषिणोः ।
तावत्प्रविश्य संभ्रान्त उवाचोर्ध्वस्थितो नरः ॥ ५ ॥
देवसायकचक्रासिगदापरिघवृष्टिमत् ।
महत्परबलं प्राप्तमेकार्णव इवोद्धतः ॥ ६ ॥
कल्पकालनिलोद्धूतकुलाचलशिलोपमम् ।
गदाशक्तिभुशुण्डीनां वृष्टिं मुञ्चति तुष्टिमत् ॥ ७ ॥
नगरे नगसंकाशे लग्नोऽग्निर्व्याप्तदिक्तटः ।
दहंश्चटचटास्फोटैः पातयत्युत्तमां पुरीम् ॥ ८ ॥
कल्पाम्बुदघटातुल्या व्योम्नि धूममहाद्रयः ।
बलात्प्रोड्डयनं कर्तुं प्रवृत्ता गरुडा इव ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

ससम्भ्रमं वदत्येवं पुरुषे परुषारवः ।
उदभूत्पूरयन्नाशा बहिः कोलाहलो महान् ॥ १० ॥

घोड़े की अन्य प्रकार की गति होती है, गधे और ऊँट की दूसरे प्रकार की गति होती है, जिसके गण्डस्थल से मदधारा बह रही हो ऐसे मदोन्मत्त हाथी की गति दूसरे ही प्रकार की है। अर्थात् आतिवाहिक देह की गति सङ्कल्प की गति के समान दूर देश में भी और अदूर देश में भी अन्य से अदृश्य है ॥ ४ ॥

मधुर भाषण करनेवाले श्रीसरस्वती देवीजी और राजा में परस्पर यह वार्तालाप हो ही रहा था कि एक सम्यक् भ्रान्त पुरुष ने राजा के पास प्रविष्ट होकर और ऊँचे स्थानपर खड़े होकर कहा ॥ ५ ॥

तरङ्गाकुल सागर के समान बाण, चक्र, तलवार, गदा और मुद्गरों की वृष्टि करनेवाली बड़ी विशाल शत्रु-सेना हमारी राजधानी पर चढ़ आई है ॥ ६ ॥

प्रलय के वायु से उड़ाये गये कुल पर्वतों की शिलाओं के सदृश गदा, शक्ति और भुशुण्डियों की उत्साह सम्पन्न होकर वृष्टि कर रही है ॥ ७ ॥

पर्वताकार नगर में आग लगी है, उसने अपनी ज्वालाओं से चारों दिशाओं को व्याप्त कर रक्खा है। वह चट चट शब्दों के साथ उत्तम नगरी को जलाती हुई ध्वस्त कर रही है ॥ ८ ॥

आकाश में प्रलय काल की मेघघटा के समान धूम के महान् पर्वत छाये हुए हैं, मालूम होता है कि वे अपनी पूरी ताकत से उड़ने के लिए तैयार हुए गरुड़ के समान हैं ॥ ९ ॥

बलादाकर्णकृष्टानां धनुषां शरवर्षिणाम् ।
बृंहतामतिमत्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ॥ ११ ॥
पुरे चटचटास्फोटैर्दहतां जातवेदसाम् ।
पौराणां दग्धदाराणां महाहलहलारवैः ॥ १२ ॥
तरतामग्निखण्डानां टङ्कारः 'कथितो रवैः ।
ज्वलितानां परिस्पन्दाद्धगद्धगिति चार्चिषाम् ॥ १३ ॥
अथ वातायनाद्देव्यौ मन्त्री राजा विदूरथः ।
ददृशुः प्रोल्लासन्नादं महानिशि महापुरम् ॥ १४ ॥
प्रलयानलसंक्षुब्धपूर्णैकार्णवरंहसा ।
पूर्णं परबलेनोग्रहेतिमेघतरङ्गिणा ॥ १५ ॥
कल्पान्तवह्निविगलन्मेरुभूधरभासुरैः ।
दह्यमानं महाज्वालाज्वालैरम्बरपूरकैः ॥ १६ ॥
मुष्टिग्राह्यमहामेघगर्जासन्तर्जितोर्जितैः ।
घोरं कलकलारावैर्मांसलैर्दस्युजल्पितैः ॥ १७ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—वह पुरुष राजा से यह सब कह ही रहा था कि बाहर दारुण चीत्कारों से परिपूर्ण बड़ा भारी कोलाहल हुआ, जो कि अपने तुमुल शब्द से दिशाओं को भर रहा था ॥ १० ॥

पूरी ताकत के साथ कानोंतक खींचे गये बाणों की वृष्टि करनेवाले धनुषों का वह कोलाहल था, चिंघाड़ रहे अत्यन्त मदोन्मत्त और बलवान् हाथियों का था, नगर में चट चट शब्दों के साथ खूब जल रहीं आग की ज्वालाओं का था, जिनकी स्त्रियां और बाल बच्चे जल गये थे ऐसे पुरवासियों के महान् हाहाकार वह कोलाहल था ॥ ११-१२ ॥

स्पन्दमान अग्निज्वालाओं के प्रज्वलित शिखाओं के धग धग शब्द, इधर उधर तैर रहे अंगारों के शब्दों के साथ लोगों द्वारा उच्चारित टङ्कार उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

इसके बाद दोनों देवियों ने मन्त्री और राजा विदूरथ ने अपने महल के झरोंखे से घोर रात्रि में अपने नगर को, जिसमें बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था, देखा ॥ १४ ॥

वह नगर प्रलयकाल में अत्यन्त विक्षुब्ध पूर्ण एकार्णव के सदृश वेगवाले भीषण हथियाररूपी मेघतरङ्गों से पूर्ण शत्रु के दलबदल से भरा था ॥ १५ ॥

प्रलयकालीन अग्नि से जल रहे मेरुपर्वत के सदृश खूब चमकदार और आकाश को छूनेवाली बड़ी बड़ी ज्वालाओं की शिखाओं से जल रहा था ॥ १६ ॥

नगर लूटने के समय दूसरों को डराने के लिए महा-

पुष्करावर्तसंकाशधूम्राभ्रपिहिताम्बरम् ।
प्रोड्डीनहेमाग्रनिभैर्ज्वालापुञ्जैर्निरन्तरम् ॥ १८ ॥
तरङ्गुल्मुकखण्डोग्रताराततरलिताम्बरम् ।
अन्योन्यदेशसद्मौघप्रज्वलज्ज्वलनाचलम् ॥ १९ ॥
हतसैन्यपुरापातं द्रुताङ्गाराभ्रकोटरैः ।
कर्कशाक्रन्दनिर्दग्धलोकपूरोग्रगर्जितम् ॥ २० ॥
कृशानुकणनाराचनिरन्तरतराम्बरम् ।
बहुहेतिशिलाजाललुठद्दग्धपुरोत्करम् ॥ २१ ॥
रणद्विरदसङ्घट्टकुट्टितोद्भटसङ्कटम् ।
विद्रवत्तस्करच्छेदमार्गकीर्णमहाधनम् ॥ २२ ॥
अङ्गारराशिनिपतन्नरनार्युग्ररोदनम् ।
स्फुटच्चटचटाशब्दप्रलुठत्स्फुटकाष्ठकम् ॥ २३ ॥

मेघों की गर्जना से अधिक तीव्र कोलाहल से पूर्ण डाकुओं के शोरगुल से भी भयानक था ॥ १७ ॥

पुष्करावर्त मेघों के सदृश विशाल और भयावह धूम के बादलों से उसका ज्वालापुञ्जों से वह परिव्याप्त था ॥ १८ ॥

इधर से उधर उछल रहे आधे जले हुए काष्ठरूपी उग्र उत्पातसूचक तारों से उसका आकाश चञ्चल था, वहाँपर ज्वालाओं के परिवर्तन से हुए अन्योन्यदेश के विनिमय से गृहों के समूहरूपी बड़े-बड़े अग्नि के पर्वत जल रहे थे ॥ १९ ॥

उस नगर में मरे हुए सैनिकों में से बचे हुए कुछ सैनिकों का नगरप्रवेश हो रहा था, जिनमें अङ्गार फैले हुए थे ऐसे मेघच्छिद्रों से वह नगर उपलक्षित था, जिन्होंने बड़े हृदयविदारक रोदन के साथ जनसमूहों को जला डाला था, ऐसे शत्रुओं द्वारा उसे नगर में जोर जोर से गर्जना की जा रही थी ॥ २० ॥

वह आग की चिनगारियों और अर्धचन्द्राकार बाणों से वह अतिशय अवकाशरहित था, वहां बहुत से शस्त्रों और शिलाओं से अधजले पुरवासियों के झुण्ड गिर रहे थे ॥ २१ ॥

रणभूमि में हाथियों की टंकर से शूरवीर सङ्कट चूरचूर हो गये थे, नगर के मार्ग, भाग रहे चोरों का सिर काटने से उनके द्वारा हरे गये धन से अकीर्ण थे ॥ २२ ॥

वह अंगारों के समूहों से गिर रहे नर-नारियों का हृदयविदारक रोदन हो रहा था, जले हुए काठ के टुकड़े चट चट शब्द के साथ इधर-उधर गिर रहे थे ॥ २३ ॥

विपुलालातचक्रौघशतसूर्यनभस्तलम् ।
अङ्गारशिखिराकीर्णसमस्तवसुधातलम् ॥ २४ ॥
दग्धाग्निकाष्ठक्रेङ्कारररणज्ज्वलनवैणवम् ।
दग्धजन्तुघनाक्रन्दरुदत्सकलसैनिकम् ॥ २५ ॥
पांशुशेषात्तराजश्रीवृद्धतृप्तहुताशनम् ।
सकलग्रसनारम्भसोद्योगाग्निमहाशनम् ॥ २६ ॥
यदृच्छात्कारडात्कारकठिनाग्निरटद्गृहम् ।
अनन्तजन्तुभोज्यान्नवह्निभुक्तेन्धनस्पृहम् ॥ २७ ॥
अथ शुश्राव तत्राऽसौ गिरो राजा विदूरथः ।
योधानां दग्धदाराणां पश्यतामभिधावताम् ॥ २८ ॥
हा मत्तमरुदूर्ध्वस्थानङ्गाऽऽर गृहपादपान् ।
रणात्खरखरं नीरजालामातपपन्थिनः ॥ २९ ॥

बड़े-बड़े अलात अर्थात् जले हुए काष्ठों के चक्राकार समूहों से आकाशतल ऐसा मालूम पड़ता था, मानों उसमें सौ सूर्य उगे हों, अँगारों की आग से सम्पूर्ण पृथिवी तल व्याप्त था ॥ २४ ॥

जले हुए अग्निकाष्ठों के साथ बाँस के बड़े-बड़े डंडे केङ्कार शब्द कर रहे थे, जले हुए जीवों के करुणक्रन्दन से सब सैनिकों का हृदय दहल रहा था ॥ २५ ॥

वहाँपर राज्यश्री का ऐसा दाह होनेपर केवल धूलि ही शेष रह गई थी, अग्नि प्रबल और तृप्त हुई, सर्वभक्षी अग्नि पूर्वोक्त प्रकार से सम्पूर्ण नगर का ग्रसन करने में बड़ी उद्योगशील थी ॥ २६ ॥

वहाँपर अकस्मात् ही दैवयोग से प्राप्त सर्वस्वहरण और दस्युओं द्वारा लुण्ठन से और क्रूरतम अग्नि से घर रोदन कर रहे थे, असंख्य लोगों के भोजन के लिए पर्याप्त अन्न के वह्नि द्वारा भस्म हो जानेपर वहाँपर किसी की अवशिष्ट लकड़ी मात्र से स्पृहा हो रही थी ॥ २७ ॥

इसके बाद राजा विदूरथ ने वहाँपर योद्धाओं की तथा उन लोगों की वाणियाँ सुनी देखते-देखते स्त्री, पुत्र, घर, द्वार आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था और इधर-उधर भाग रहे थे ॥ २८ ॥

खेद है, अधिक रस होने से (जलाधिक्य से) हरे-भरे सन्ताप को दूर करनेवाले ऊँची जगह हमारे घररूप वृक्षों को या हमारे घर के समीप के वृक्षों को उखाड़ फेंकने के लिए विपत्तिरूप प्रचण्डवायु रण से खड़खड़ शब्द के साथ आई है ॥ २९ ॥

हा दग्धदाराः प्रालेयशीता देहेषु दन्तिनाम् ।
मग्ना मनस्तु महतामिव विज्ञानसूक्तयः ॥ ३० ॥
हा तात ! हेतयो लग्नास्तरुणीकबरीतृणे ।
ज्वलन्ति शुष्कपर्णौघा इव वीरानिलेरिताः ॥ ३१ ॥
आवर्तननदीदीर्घा वहत्यूर्ध्वतरङ्गिणी ।
पश्येयं धूमयमुना व्योमगङ्गां प्रधावति ॥ ३२ ॥
वहदुल्मुककाष्ठोर्ध्वगामिनी धूमनिम्नगा ।
वैमानिकानन्धयति पश्याऽग्निकणबुद्बुदा ॥ ३३ ॥
अस्या माता पिता भ्राता जामाता स्तनपाः सुते ।
अस्मिन्सद्मनि निर्दग्धा दग्धैवाऽसत्सर्मिन्धने ॥ ३४ ॥
हा हा हाऽऽगच्छ ते शीघ्रमेतदङ्गारमन्दिरम् ।
इतः प्रवृत्तं पतितुं सुमेरुः प्रलये यथा ॥ ३५ ॥
अहो शरशिलाशक्तिकुन्तप्रासासिहेतयः ।
जालसन्ध्याभ्रपटलं विशन्ति शलभा इव ॥ ३६ ॥

हाय पहले तुषार की ठण्डक से ठिठुरी हुई बाद में आग की लपटों से झुलसी हुई स्त्रियाँ हाथियों के शरीर में लीन हो गईं, जिन्होंने ज्ञानाग्नि से स्थूल आदि देह जला डालनेवाले और त्रिविधसंताप दूर करने के कारण हिम से भी शीतल विज्ञानसूक्तियाँ जैसे महान् पुरुषों के मन में लीन होती हैं ॥ ३० ॥

हाय रे ! वीररूपी वायु द्वारा फेंकी गई शस्त्राग्नि युवतियों के केशबन्धनरूपी तिनकों में लगी हुई सूखे हुए पत्ते के ढेर के समान जलती है ॥ ३१ ॥

देखो, आवर्तों और नदी के प्रवाह खण्डों से विशाल, ऊपर को बहनेवाली धूमरूपी यमुना आकाशगङ्गा से मिलने के लिए दौड़ी जा रही है ॥ ३२ ॥

अध जले काठ को बहाती हुई चिनगारी स्वरूप बुद-बुदों से परिव्याप्त ऊपर की ओर गमनशील धूम नदी विमानयात्रियों को अन्धा बना रही है ॥ ३३ ॥

इस माता, पिता, भाई, जँवाई और दूध पीनेवाले बच्चे इस घर में जल गये हैं। इसे अग्नि के बिना भी उनके विरहरूपी अग्नि में जली हुई ही समझो ॥ ३४ ॥

अहो ! जल्दी भागो, तुम्हारा अँगार के समान जला हुआ यह घर, प्रलयकाल में सुमेरु के समान अपने स्थान से गिरने के लिए उद्यत है ॥ ३५ ॥

अहो ! बाण, पत्थर, शक्ति, भाले, प्रास, तलवार आदि अस्त्रास्त्र झरोखों के जालरूपी सन्ध्याकालीन मेघ-वृन्द में टिड्डियों के समान घुस रहे हैं ॥ ३६ ॥

हेतिप्रवाहा ज्वलनं नभस्यन्त्यां विशन्त्यहो ।
वडवानलमुज्ज्वालमर्णःपूरा इवार्णवात् ॥ ३७ ॥
धूमायन्ति महाभ्राणि ज्वालाः शिखरिकोटिषु ।
सरसान्यपि शुष्यन्ति हृदयानीव रागिणाम् ॥ ३८ ॥
आलानत्वरुषेवैता दन्तिभिर्वृक्षपङ्क्तयः ।
स्फुरत्कटकटारावं पात्यन्ते कृतचीत्कृतैः ॥ ३९ ॥
प्लुष्टपुष्पफलस्कन्धा गतश्रीका गृहद्रुमाः ।
गता निर्दग्धसर्वस्वा गृहस्था इव दीनताम् ॥ ४० ॥
मातापितृविनिर्मुक्ता बालकास्तिमिरावलीम् ।
मग्नन्तोऽङ्गेषु रथ्यासु कुड्यपातेन हा हताः ॥ ४१ ॥
वातविद्रावितात्त्रस्यन् करिण्यो रणमूर्धनि ।
पतदङ्गारकागारभारिणः कटुकूजितम् ॥ ४२ ॥
हा कष्टमसिनिर्भिन्ने स्कन्धे सन्नदृढोल्मुके ।
पतितो यन्त्रपाषाणः पुरुषस्याऽशनिर्यथा ॥ ४३ ॥

मारे भय के आकाश में उड़ने की इच्छा करनेवाली नगरी में शस्त्रास्त्रों की वृष्टियाँ वैसे ही प्रवेश कर रही हैं जैसे समुद्र से जलप्रवाह खूब धधकती हुई ज्वालाओं से युक्त बड़वानल में प्रवेश करते हैं ॥ ३७ ॥

अग्नि की ज्वालाएँ ऊँचे-ऊँचे प्रासादों के शिखरों में स्थित बड़े-बड़े मेघों को धुआँ-सा बना रही हैं, नगरी में सजल तालाब, बावड़ी और उद्यान आदि रोगियों के हृदय के समान सूख रहे हैं ॥ ३८ ॥

हस्तिगण चिंघाड़ते हुए इन वृक्षपंक्तियों को हमारे बन्धनस्तम्भ के सजातीय हैं, इस क्रोध से मानों कटकट शब्द के साथ गिरा रहे हैं ॥ ३९ ॥

घरों के बाग के वृक्षों के फूल, फल और लता आदि जल गये हैं, उनमें नाममात्र को भी शोभा नहीं रह गई है। वे उन गृहस्थों के समान है जिनका कि सर्वस्व जल गया है और दीन हो गया ॥ ४० ॥

माता-पिता से बिछुड़े हुए घने अन्धकार में अपने घरों को खोज रहे बालक बाणों से परिपूर्ण सड़कोंपर भीत के गिरने से हाय मर गये ॥ ४१ ॥

रणभूमि में वायु से उड़ाये गये और अँगारों को बर-सानेवाले घर के छप्पर से हथिनियाँ भीषण चिंघाड़ के साथ डरती थीं ॥ ४२ ॥

हाय हाय, बड़ा कष्ट है किसी पुरुष के तलवार से कटे हुए, अधजले काठ से युक्त कन्धे में वज्र के समान यह यन्त्रपाषाण गिर गया है ॥ ४३ ॥

गवाश्वमहिषेभोष्ट्रश्वशृगालैडकैरहो ।
घोरैं रणमिवाऽऽरब्धं मार्गरोधकमाकुलैः ॥ ४४ ॥
पटैः पटपटाशब्दजलजालालिमालितैः ।
आक्रन्दन्त्यः स्त्रियो यान्ति स्थलपद्माचिता इव ॥ ४५ ॥
स्त्रीणां ज्वालालवाः पश्य लिहन्त्यलकवल्लरीः ।
कुर्वन्तोऽशोकपुष्पाभां करभा इव पन्नगीः ॥ ४६ ॥
हा हा हरिणशावाक्ष्याः पक्ष्मलक्षणपक्ष्मसु ।
कुमार्गेष्विव विश्रान्तिमेति कार्शानवी शिखा ॥ ४७ ॥
दह्यमानो विनिर्याति न कलत्रं विना नरः ।
अहो बत दुरुच्छेदाः प्राणिनां स्नेहवागुराः ॥ ४८ ॥
करी रभसनिर्लुनज्वलदङ्गारपादपः ।
प्लुष्टपुष्करकः कोपान्मग्नः पुष्करदं सरः ॥ ४९ ॥
धूमोऽम्बुदपदं प्राप्य विलोलान्तस्तडिल्लतः ।
ज्वलदङ्गारनाराचनिकरं परिवर्षति ॥ ५० ॥

अहो ! व्याकुल हुए भीषण गौ, घोड़े, भैंसे, हाथी, ऊँट, कुत्ते, सियार और भेड़ों ने मार्ग को रोकनेवाला युद्ध-सा आरम्भ कर दिया है ॥ ४४ ॥

जलकण समूहरूपी भ्रमरों से परिवेष्टित पटपट शब्द करनेवाले वस्त्रों से समन्वित और हाथ, पैर और मुँहरूपी स्थलकमलों से बनीं हुई-सी स्त्रियाँ रोती हुई जा रही हैं ॥ ४५ ॥

जैसे ऊँट लटकी हुई पेड़ों की शाखाओं को या दैवात् उसमें लटकी हुई सर्पिणियों को चाटता है वैसे ही अशोक के फूलों की कान्ति को धारण कर रहीं ज्वालाओं की लपटें स्त्रियों के अलकों को ऐसे चाट रही हैं ॥ ४६ ॥

हा हा ! अग्नि की शिखा मृगछोने के नेत्रों के समान नेत्र वाली नायिका की भ्रमरों के परों के सदृश काली नेत्र वाली पलकों पर जैसे कोई कुमार्गों में विश्राम ले वैसे विश्राम लेती है ॥ ४७ ॥

स्वयं जल रहा भी पुरुष अपने स्त्री-पुत्र आदि के बिना घर से नहीं निकल रहा है । अहो ! प्राणियों के स्नेह बन्धन का कटना कठिन है ॥ ४८ ॥

जिसने बल के वेग से जल रहे अंगारों से सना हुआ अपना बन्धनस्तम्भ तोड़ डाला, उसको खींचने के समय जिसकी सूँड़ जल गई थी; ऐसा हाथी क्रोध से भाग कर लोगों को कमल देने वाले तालाब में जाकर वहाँ डूब गया (पुष्कर हाँथी सूँड़ और कमल को कहा जाता है, अतः पुनः सूँड़ की प्राप्ति के लिए ही कमल वाले तालाब में डूबने की उत्प्रेक्षा की गई है) ॥ ४९ ॥

देव धूमः स्फुरद्वह्निकण आवर्तवृत्तिमान् ।
स्थित आपीडवान् व्योम्नि रत्नपूर्ण इवार्णवः ॥ ५१ ॥
गौरम्बरमाभाति ज्वालाशिखरतेजसा ।
मृत्युनेवोत्सवे दत्तः कुंकुमाक्तकरण्डकः ॥ ५२ ॥
अहो नु विषमं चेदं वर्तते वृत्तवर्जितम् ।
ध्रियन्ते राजनार्योऽपि वैरिवीरैरुदायुधैः ॥ ५३ ॥
लोलस्रग्दामकुसुमैर्मार्गप्राकारकारकैः ।
अर्धनिर्दग्धकबरीकीर्णवक्षस्थलस्तनाः ॥ ५४ ॥
आलोलाम्बरसंलक्ष्यनितम्बजघनस्थलाः ।
पतन्माणिक्यवलयवलितावनिमण्डलाः ॥ ५५ ॥
छिन्नहारलताजालविकीर्णमलमौक्तिकाः ।
दृष्टादृष्टस्तनश्रेणीपार्श्वोद्यत्कनकप्रभाः ॥ ५६ ॥
कुररीकर्कशाक्रन्दमन्दीकृतरणारवाः ।
धारावाहास्तु तारावभिन्नपार्श्वविचेतनाः ॥ ५७ ॥

धुआ मेघों के मार्ग में पहुँचकर और मध्य में चञ्चल वह्निज्वालारूपी तड़ित-लता से समन्वित होकर जल रहे अंगारेरूपी बाणों की वृष्टि करता है ॥ ५० ॥

हे देव ! आकाश में जिसमें चिनगारियाँ चमक रही हैं, आवर्त के समान बृत्तियाँ हो रही हैं, शिखर रूपी तरङ्ग उछल रही हैं, ऐसा धुआँ आकाश में रत्नों से भरा हुआ, आवर्तों से व्याप्त और तरङ्गमालाओं से घिरे हुए समुद्र के तुल्य प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

ज्वालाओं की शिखाओं के प्रकाश से उज्ज्वल आकाश ऐसा लगता है कि मृत्यु ने उत्सव के लिए कुंकुम केसर से रञ्जित सन्दूक दिशारूपी वधुओं को दिया है ॥ ५२ ॥

सदाचार विरुद्ध यह बड़ा विषम हो रहा है कि हाथों में आयुध लिये हुए शत्रुवीरों द्वारा राजमहिषियाँ भी पकड़ी जा रही है ॥ ५३ ॥

इन मार्ग में चञ्चल मालाओं से फूलों को वृष्टि करती हुई वक्षःस्थल के स्तनों पर आधे जले हुए केशों परिव्याप्त है ॥ ५४ ॥

चञ्चल वस्त्र से इनकी कमर और जङ्घाएँ खुली दीख रही हैं, गिर रहे मणिक्य जटित कड़ों से इन्होंने पृथिवी मण्डल को आच्छन्न कर दिया है ॥ ५५ ॥

इनके टूटे हुए हारों से निर्मल मोती बिखर रहे हैं, इनके पहले कभी न देखे गये स्तनमण्डल के समीप में उदित हो रही सुवर्ण कान्ति दृष्टिगोचर होती है ॥ ५६ ॥

कुररी के शब्द के समान कर्कश रोदन ध्वनि से

रक्तकर्दमबाष्पाम्बुक्लिन्नग्रन्थितवाससः ।
भुजमूलार्पितभुजैर्नीयमाना बलान्नृभिः ॥ ५८ ॥
क इवाऽस्मिन् परित्राता स्यादित्यादीनवीक्षितैः ।
उत्पलानीव वर्षद्भिः परिरोदितसैनिकाः ॥ ५९ ॥
मृणालकोमलाच्छोरुमूलजालैः सुनिर्मलैः ।
स्वच्छाम्बरतलालक्ष्यैराकाशनलिनीनिभाः ॥ ६० ॥
आलोलमाल्यवसनाभरणाङ्गरागा-
बाष्पाकुलाततचलालकवल्लरीकाः ।
आनन्दमन्दरनिरन्तरमथ्यमानात्
कामार्णवात्समुदिता इव राजलक्ष्म्यः ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे अग्निदग्धगृहादिवर्णनं नाम त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

रण का शब्द फीका पड़ गया है। धारावाहिक रूप से निरवच्छिन्न निकली गईं अर्थात् बिखरे हुए अश्रुधारा से इनकी पेट की पसलियाँ टूट सी गई हैं, अतः कर्तव्य विवेक से शून्य हो गई है ॥ ५७ ॥

एक दूसरे से बँधे हुए कपड़े रक्त, कीचड़ और आँसुओं से सने हुए हैं। काँख में हाथ डाले हुए पुरुष इन्हें जबरदस्ती ले जा रहे हैं ॥ ५८ ॥

इस संकट के समय कौन हमारा त्राणकर्ता होगा, कातर दृष्टियों से ये नील कमलों की वृष्टि ही कर रही हैं, इन्होंने दया से अपने पक्ष के सैनिकों को रुला दिया ॥ ५९ ॥

मृणाल के समान स्वच्छ और निर्मल जँघा मूल से, जो कि स्वच्छ वस्त्रों के अन्दर कुछ-कुछ दिखाई दे रहे हैं अतः आकाश-नलिनी-सी प्रतीत हो रही है ॥ ६० ॥

इनकी मालाएँ, वस्त्र, आभूषण और अङ्गराग सभी लम्बी-लम्बी और चञ्चल अलकलताएँ सर्वथा चञ्चल है आँसुओं से सनी हुई है, ये आनन्द मन्दराचल से मथे जा रहे कामरूपी सागर से उत्पन्न हुई राजाओं की मूर्तिमती सम्पत्तियाँ हैं, या चन्द्रमा से युक्त लक्ष्मियाँ हैं ॥ ६१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में अग्निदग्धगृहादिवर्णन नामक कुसुमलता का तैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४३ ॥

४४

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजमहिषी मत्तयौवना ।
तद्विवेश गृहं लक्ष्मीरिव पङ्कजकोटरम् ॥ १ ॥
आलोलमाल्यवसना भिन्नहारलताकुला ।
अनुयाता वयस्याभिर्दासीभिर्भयविह्वला ॥ २ ॥
चन्द्राननाऽवदाताङ्गी श्वासोत्कम्पिपयोधरा ।
तारकाकारदशना स्थिता द्यौरिव रूपिणी ॥ ३ ॥
अथ तस्या वयस्यैका राजानं तं व्यजिज्ञपत् ।
भूतसंग्रामसंरब्धममरेन्द्रमिवाप्सराः ॥ ४ ॥
देव देवीसहाऽस्माभिः पलाय्याऽन्तःपुरान्तरात् ।
शरणं देवमायाता वातार्तेव लता द्रुमम् ॥ ५ ॥

४४

श्रीवसिष्ठ ने कहा :—इसी मध्य में राजमहिषी, जिसके शरीर के रोम-रोम से मत्त यौवन व्याप्त था वैसे ही राजा के घर में, प्रविष्ट हुई जैसे लक्ष्मी कमल के कोटर में प्रवेश करती है ॥ १ ॥

चञ्चल मालाएँ और वस्त्र एवं छिन्न-भिन्न हारलता से वह व्याकुल थी, सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे चल रही थीं और वह भयविह्वल थी ॥ २ ॥

चन्द्र के समान सुन्दर और मृणाल के समान गौर अङ्ग वाली राजा महिषी का समान मुख वाली स्तन-मण्डल श्वासोछ्वास से हिल रहा था, दाँत सितारों के समान थे, वह मूर्तिमती अमरावती तुल्य थी ॥ ३ ॥

राजमहल में प्रविष्ट होने के अनन्तर उसकी एक सखी ने राजा से वैसे ही निवेदन किया जैसे अप्सरा भूत संग्राम में संलग्न देवराज से निवेदन करे ॥ ४ ॥

महाराज ! देवी, (पटरानी) अन्तःपुर से हमलोगों के साथ भागकर आपकी शरण में वैसे ही आई है जैसे वायु के झोंके से विताड़ित लता वृक्ष की शरण लेती है ॥ ५ ॥

राजन् ! दारा हृतास्तास्ते बलवद्भिरुदायुधैः ।
ऊर्मिजालैर्महाब्धीनां तीरद्रुमलता इव ॥ ६ ॥
अन्तःपुराधिपाः सर्वेपिष्टाः शत्रुभिरुद्धतैः ।
अशङ्किताभिपतितैर्वातैरिव वरद्रुमाः ॥ ७ ॥
दूरेणाऽशङ्कमायातैः परैर्नः पुरमाहृतम् ।
रात्रौ वर्षास्विवोद्घोषैः कमलानीव वारिभिः ॥ ८ ॥
धूमं वर्षद्भिरुन्नादैर्लेलिहानोग्रहेतिभिः ।
वह्निभिर्नः पुरं प्राप्तं परयोधैश्च भूरिभिः ॥ ९ ॥
परिवारैर्विलासिन्यो देव्य आहृत्य मूर्द्धजैः ।
आक्रन्दन्त्यो बलान्नीताः कुरर्य इव धीवरैः ॥ १० ॥
इति नो येयमायाता शाखाप्रसरशालिनी ।
आपत्तामलमुद्धर्तुं देवस्यैवाऽस्ति शक्तता ॥ ११ ॥
इत्याकर्ण्याऽवलोक्याऽसौ देव्यौ युद्धाय याम्यतः ।
क्षम्यतां मम भार्येयं युष्मत्पादाब्जषट्पदी ॥ १२ ॥

हे राजन् ! आपकी अन्यान्य रानियों को, जैसे महासागर की बड़ी-बड़ी लहर तटवर्ती वृक्षों में आश्रित लताओं को हर ले जाती हैं, वैसे ही शस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित बलवान् शत्रु हर ले गये हैं ॥ ६ ॥

अचानक आये हुए उद्धत शत्रुओं ने अन्तःपुर के संरक्षार्थ नियुक्त अधिकारियों को चकनाचूर कर डाला जैसे सहसा झोंके के साथ आई हुई भीषण आँधी सुन्दर वृक्षों को चकनचूर कर डालती है ॥ ७ ॥

रात में भय रहित होकर आए हुए शत्रुओं ने मेरे नगर को वैसे ही लूट लिया है, जैसे वर्षा के कलकल शब्दों के साथ आया विपुल जल-प्रवाह से कमलों को ध्वस्त कर देता है ॥ ८ ॥

धुँए की वृष्टि कर रही, तीव्र धक् धक् शब्द करने वाली तथा साँप के समान लपलपा रही ज्वालाओं से युक्त अग्नि ने तथा साँप के समान लपलपा रही तलवारों को लिये हुए असंख्य शत्रु सैनिकों ने हमारे नगर में प्रवेश किया ॥ ९ ॥

जैसे धीवर रो रही चिल्ला रही कुररी को जबर्दस्ती पकड़ कर ले जाता है, वैसे ही वे क्रूर शत्रु-सैनिक विविध हावभावों से सम्पन्न रानियों को, जो रो रहीं और चिल्ला रहीं थीं, जबरदस्ती घसीट कर ले गये हैं ॥ १० ॥

यह जो शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार से समन्वित आपत्तियाँ हम लोगों के ऊपर आई हैं, उसके समूल निवारण में केवल महाराज ही समर्थ हैं ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा निर्ययौ राजा कोपारुणितलोचनः ।
मत्तेभनिर्भिन्नवनः कन्दरादिव केसरी ॥ १३ ॥
लीला लीलां ददर्शाऽथ स्वकारसदृशाकृतिम् ।
प्रतिबिम्बमिवाऽऽयातामादर्शे चारुदर्शनाम् ॥ १४ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

किमिदं देवि हे ! ब्रूहि कस्मादियमहं स्थिता ।
या साऽभवमहं पूर्वं कथं सेयमहं स्थिता ॥ १५ ॥
मन्त्रिप्रभृतयः पौरा योधाः सबलवाहनाः ।
सर्व एस त एवेमे स्थितास्तत्र तथैव ते ॥ १६ ॥
तत्राऽपीह च हे देवि ! सर्वे कथमवस्थिताः ।
बहिरन्तश्च मुकुरे इवैते किं प्रचेतनाः ॥ १७ ॥

श्रीदेव्युवाच

यथा ज्ञप्तिरुदेत्यन्तस्तथाऽनुभवति क्षणात् ।
चितिश्चेत्यार्थतामेति चित्तं चित्तार्थतामिव ॥ १८ ॥

यह सुनकर राजा ने देवियों की ओर देखकर कहा–देवियों ! मैं युद्ध करने के लिए समर भूमि में जा रहा हूँ। आप क्षमा करें। मेरी अनुपस्थिति में मेरी पत्नियाँ आप लोगों के चरणकमलों की सेवा करेगी ॥ १२ ॥

ऐसा कह कर कोप से लाल आँखों वाला मत्त हाँथियों ने जिसका वन छिन्न-भिन्न कर दिया हो ऐसे सिंह के समान वह राजा निकला ॥ १३ ॥

प्रबुद्ध लीला ने अपनी आकृति के समान आकृतिवाली सुन्दरी लीला को दर्पण में प्रतिबिम्बवत हुई-सी देखा ॥ १४ ॥

प्रबुद्ध लीला ने कहा :—हे देवि ! यह क्या है ? जो मैं हूँ, जो मैं पूर्व में युवावस्था में थी वही मैं इस रूप में कैसे स्थित हूँ ? यह कृपाकर मुझसे कहिये ॥ १५ ॥

ये मन्त्री आदि नागरिक तथा बल और वाहन से युक्त योद्धा सभी वे ही हैं, वे लोग जैसे यहाँ पर स्थित हैं, वैसे ही वहाँ पर भी स्थित हैं ॥ १६ ॥

हे देवि ! ये सभी वहाँ पर और यहाँ पर वैसे ही कैसे स्थित हैं ? जैसे आदर्श में बिम्बप्रतिबिम्बरूप से वस्तु बाहर और भीतर भी रहती है, क्या वे चेतन हैं ॥ १७ ॥

श्रीदेवी ने कहा :—जैसा भीतर ज्ञान का उदय होता है, वैसा ही क्षणभर में बाहर पदार्थों का अनुभव होने लगता है। जैसे मन स्वप्न आदि में चित्त द्वारा अनुभूत जाग्रत् पदार्थों के आकार को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही चिति अध्यास द्वारा विषयाकारता को प्राप्त होती है ॥ १८ ॥

यादृगर्थं जगद्रूपं तत्रैवोदेति तत्क्षणात् ।
न देशकालदीर्घत्वं न वैचित्र्यं पदार्थजम् ॥ १९ ॥
बाह्यमाभ्यन्तरं भाति स्वाप्नार्थोऽत्र निदर्शनम् ।
यदन्तः स्वप्नसङ्कल्पपुरं च कचनं चितेः ॥ २० ॥
तदेतद् बाह्यनाम्नैव स्वभ्यासात् सत् स्फुटं स्थितम् ।
यादृग्भावोऽमृतो भर्ता तव तस्मिंस्तदा पुरे ॥ २१ ॥
तादृग्भावस्तमेवार्थं तत्रैव समुपागतः ।
अन्य एव ह्यमी भूतास्तेभ्यस्तास्तादृशा अपि ॥ २२ ॥
सद्रूपा एव चैतस्य स्वप्नसङ्कल्पसैन्यवत् ।
अविसंवादिसर्वार्थरूपं यदनुभूयते ॥ २३ ॥
तस्य तावद्वद कथं कीदृशो वाऽपि सत्यता ।

जैसा संस्कारात्मक जगत् का स्वरूप चित्त में अर्थात् अभ्यन्तर है वैसा ही उसी क्षण बाहर प्रतिभात होता है देश और काल की अल्पता या विपुलता तथा विचित्रता पदार्थ-जन्य नहीं है। यदि वह पदार्थजन्य होती, तो पदार्थ के स्वभाव के विरुद्ध नहीं होती ॥ १९ ॥

बाह्य पदार्थ आभ्यन्तर-से प्रतीत होते हैं, इस विषय में स्वाप्निक पदार्थ दृष्टान्त है, चैतन्य में अध्यस्त होने के कारण चैतन्य का आभ्यन्तर जगत् बाह्य सा प्रतीत होता है, इस विषय में स्वप्न पदार्थ दृष्टान्त है क्योंकि स्वप्न में चेतन आत्मा ही पदार्थाकार हो जाता है, जो स्वप्न और मनोरथ के नगर का भीतर स्फुरण होता है, वह चेतन का ही कचन है ॥ २० ॥

चिर काल से अभ्यास होने के कारण यह जगत् बाह्य नाम से ही व्यक्त होकर सत्य-सा स्थित है, उस समय जैसी वासना वाला तुम्हारा पति उस नगर में मरा था, उसी भावना से युक्त होकर उसी पदार्थ को वहीं पर प्राप्त हुआ है। ये प्राणी बारबार अनुभूत होते हुए भी उसी आकार के अन्य ही हैं, इस राजा की चित्सत्ता से ये स्वप्न और सङ्कल्प की सेना के समान सद्रूप ही है। स्वप्न वस्तु से जाग्रद्वस्तु का इतना ही वैलक्षण्य है कि वह अविसम्वादिरूप से सब पुरुषों के लिए समानरूप से अर्थ क्रियाकारिता में समर्थ है यह अनुभूत होती है ॥ २१-२३ ॥

बताओ जाग्रत् पदार्थों की सत्यता कैसी है? उत्तर-काल में (जाग्रत में) बाधित होने से स्वप्न को यदि असत्य कहो, तो जाग्रत् में उक्त असत्यता समानरूप से विद्यमान है, क्योंकि नाश और बाध होने पर वस्तु में

अथवोत्तरकाले तु भङ्गुरत्वादवस्तु तत् ॥ २४ ॥
ईदृक् च सर्वमेवेदं तत्र काऽनास्तिताऽधिका ।
स्वप्ने जाग्रदसद्रूपा स्वप्नो जाग्रत्यसन्मयः ॥ २५ ॥
मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृत्यां जन्माऽप्यसन्मयम् ।
विशरेद्विशरारुत्वादनुभूतेश्च राघव ! ॥ २६ ॥
एवं न सन्नाऽसदिदं भ्रान्तिमात्रं विभासते ।
महाकल्पान्तसम्पत्तावप्यद्याऽथ युगेऽनघ ॥ २७ ॥
न कदाचन यन्नाऽस्ति तद्ब्रह्मैवाऽस्ति तज्जगत् ।
तस्मिन्मध्ये कचन्तीमा भ्रान्तयः सृष्टिनामिकाः ॥ २८ ॥
व्योम्नि केशोण्ड्रकानीव न कचन्तीव वस्तुतः ।
यथा तरङ्गा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे ॥ २९ ॥

कोई अन्तर नहीं आता। तात्पर्य यह कि स्वप्न-पदार्थों जाग्रत् काल में बाध होता है, तो जाग्रत्-पदार्थों का उत्तर काल में नाश होता है, एक का नाश होता है और दूसरे बाध, पर असत्यता में कोई अन्तर नहीं है, इस आशय से कहते हैं—'अथवा' इत्यादि से। यदि यह कहो कि उत्तर काल में बाधित होने से स्वप्न पदार्थ असत् है, ऐसा तो यह सारा ही जाग्रत् जगत् है, इसलिए इस जाग्रत् जगत् में अनास्तिता (सत्यता) क्या अधिक है? स्वप्न में जैसे जाग्रत् असत्रूप है, वैसे ही जाग्रत् में स्वप्न भी असद्रूप है आशय यह है कि दोनों का बाध जाग्रत् में अतः, असत्यता उभय समान है ॥ २४, २५ ॥

हे राघव ! जन्म समय में मृत्यु असद्रूप है और मृत्यु समय में जन्म भी असन्मय है, नाश में अवयवों के विशरण शील होने के कारण द्रव्य का विनाश होता है ॥ २६ ॥

हे निष्पाप ! इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत् जगत् न सत् है और न असत् है, केवल भ्रान्ति मात्र ही प्रतीत होता है। महाकल्प का अन्त होने पर और आज भी और आगे भी यानी अतीत, वर्तमान और अनागत युगों में भी जो कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा ॥ २७ ॥

जो कभी भी नहीं है, न था, न होगा, अत सदा अवशिष्ट सद्रूप ब्रह्म ही है अर्थात् उस कल्पना का अधिष्ठान ब्रह्म ही है; अतः वही जगत् है, (भासमान अब्रह्मरूप जगत् नहीं है) उसी ब्रह्म में ये सृष्टि नामक भ्रान्तियाँ विकास को प्राप्त होती हैं ॥ २८ ॥

जैसे आकाश में केशोण्ड्रक (केशों का वर्तुलाकार

उत्पत्त्योत्पत्त्य लीयन्ते रजांसीव महानिले ।
तस्माद्भ्रान्तिमयाभासे मिथ्यात्वमहमात्मनि ॥ ३० ॥
मृगतृष्णाजलचये कैवाऽऽस्था सर्गभस्मनि ।
भ्रान्तयश्च न तत्राऽन्यास्तास्तदेव परं पदम् ॥ ३१ ॥
घने तमसि यक्षाभास्तम एव न यक्षकः ।
तस्माज्जन्म मृतिर्मोहो व्यामोहत्वमिदं ततम् ॥ ३२ ॥
सर्वं तत्समहाकल्पं शान्तौ यदवशिष्यते ।
नाऽतः सत्यमिदं दृश्यं न चाऽसत्यं कदाचन ॥ ३३ ॥
द्वयमेवैतदथवा ब्रह्म तत्रैव संभवात् ।
आकाशे परमाण्वन्तर्द्रव्यादेरणुकेऽपि च ॥ ३४ ॥
जीवाणुर्यत्र तत्रेदं जगद्वेत्ति निजं वपुः ।
अग्निरौष्ण्यं यथा वेत्ति निजभावक्रमोदितम् ॥ ३५ ॥

गोला) प्रतीत होता है, पर वास्तव में वह आकाश से अतिरिक्त नहीं है, आकाशरूप ही है। ये सृष्टियाँ परब्रह्म में वास्तव में विकास को नहीं ही प्राप्त होती हैं, जैसे समुद्र में लहर उत्पन्न होती हैं, वैसे ही परब्रह्म में ये सृष्टियां हैं ॥ २९ ॥

ये सृष्टियाँ उत्पन्न हो होकर आँधी में धूलिकणों के समान लीन हो जाती है। इसलिए त्वम्, अहम्, जगत् इस प्रकार विभाग स्वरूप भ्रान्तिमय आभास है ॥ ३० ॥

प्रतीत होने वाले, मृगतृष्णा जलरूप तथा जलाये गये वस्त्र के भस्म के तुल्य प्रपञ्च में कैसी आस्था है अर्थात् यह कुछ नहीं है। विषय बाध होने पर भ्रम ज्ञान ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं रहती, वे भ्रान्तियाँ परमपदरूप ब्रह्म ही हैं ॥ ३१ ॥

जन्म, मरण और मोहरूप यह जगत् अज्ञान (आवरण और विक्षेप) ही हैं और उसी से विस्तार को वैसे ही प्राप्त हुआ है जैसे घने अँधेरे में बालक को जो भूत की भ्रान्ति होती है, वह अन्धकार ही है, भूत नहीं है ॥ ३२ ॥

यह सब ब्रह्मज्ञान से बाधरूप महाकल्प अर्थात् वैज्ञानिकरूप प्रलय बाध्य होता है। सबके शान्त होने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। जगत् ब्रह्म से पृथक् अतिरिक्त सत्य नहीं है एवं ब्रह्मरूप होने के कारण अत्यन्त असत्य भी नहीं है ॥ ३३ ॥

अथवा यह जगत् सत्य और असत्य दो रूपवाला भी हो सकता है क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र अधिष्ठान सत्यरूप से अनुस्यूत है, अर्थात् जगत् रूप से असत् और ब्रह्मरूप से

पश्यतीदं तथैवाऽऽत्मा स्वात्मभूतं विशुद्धचित् ।
यथा सूर्योदये गेहे भ्रमन्ति त्रसरेणवः ॥ ३६ ॥
तथेमे परमाकाशे ब्रह्माण्डत्रसरेणवः ।
यथा वायौ स्थितः स्पन्द आमोदः शून्यम्बरे ॥ ३७
पिण्डग्रहविनिर्मुक्तं तथा विश्वं स्थितं परे ।
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मचराचराः ॥ ३८
विवर्जितस्याऽवयवैर्भागा ब्रह्मण ईदृशाः ।
साकारस्याऽवबोधाय विज्ञेया भवताऽधुना ॥ ३९ ।
अनन्याः स्वात्मनस्तस्य तेनाऽनवयङ्गा वव ।
यथास्थितमिदं विश्वं निजभावक्रमोदितम् ॥ ४० ॥
रिक्तं न विश्वशब्दार्थैरनन्यद्ब्रह्मणि स्थितम् ।
न तत्सत्यं न चाऽसत्यं रज्जुसर्पभ्रमो यथा ॥ ४१ ॥

सत् है। आकाश में, परमाणु के मध्य में और द्रव्य आदि के अणु के अतिसूक्ष्म अन्तर्भाग में जहाँ-जहाँ जीवाणु स्थित होता है, वहाँ-वहाँ इस जगत् को अपना शरीर जानता है, अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र है ॥ ३४ ॥

अग्नि से भिन्न होता हुआ भी उपासक 'मैं अग्नि हूँ' इस प्रकार उपासना की भावना के क्रमशः उदित अर्थात् उपासना के फलरूप से आविर्भूत उष्णता का जैसे अनुभव करता है, वैसे ही विशुद्ध चैतन्य आत्मा इस जगत् को आत्मभूत देखता है ॥ ३५ ॥

परमाकाश में ये ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु वैसे ही घूमते हैं जैसे सूर्योदय होने पर घर में त्रसरेणु घूमते हैं वैसे ही शुद्ध चैतन्य ब्रह्म इस जगत् में आत्मभूत देखता है ॥ ३६ ॥

वायु में स्पन्द और सुगन्ध सौरभ और आकाश में शून्यता जिस प्रकार स्थित है, वैसे ही स्थूलता से शून्य चराचर ब्रह्माण्ड परब्रह्म में स्थित है। अवयवों से शून्य ब्रह्म के आविर्भाव, तिरोभाव, उपादान, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर और अचर ऐसे भाग हैं। इस समय आपको साकार विश्व के निराकारत्वज्ञान के लिए उन्हें आपको वैसी अपनी आत्मा से अभिन्न से यानी आत्मा के अनवयव से आपको जानना चाहिए। इस प्रकार अपनी भावना के क्रम से उत्पन्न हुआ यह विश्व यथास्थित है ॥ ३७-४० ॥

अभिन्न रूप से ब्रह्म में स्थित यह विश्व शब्द के अर्थों से रिक्त नहीं है। भाव यह है कि विश्वशब्द का पर्यवसान पूर्णार्थता में है और पूर्ण रिक्त नहीं हो सकता

मिथ्यानुभूतितः सत्यमसत्यं सत्परीक्षितम् ।
परमं कारणं चित्त्वाज्जीवत्वमिति चैत्यलम् ॥ ४२ ॥

ततस्तथैवाऽनुभवाज्जीवत्वं विन्दति स्फुटम् ।
सत्यं भवत्वसत्यं वा खे विभातमिदं जगत् ॥ ४३ ॥

रञ्जयत्येव जीवाणुः स्वेच्छाभिरनुभूतिभिः ।
अनुभूयन्त एवाऽऽशु काश्चित्पूर्वानुभूतितः ॥ ४४ ॥

अपूर्वानुभवाः काश्चित् समाश्चैवाऽसमास्तथा ।
क्वचित्कदाचित्ता एव क्वचिदर्धसमा अपि ॥ ४५ ॥

कचन्त्यसत्याः सत्याभा जीवाकाशेऽनुभूतयः ।
तत्कुलास्तत्समाचारास्तज्जन्मानस्तदीहिताः ॥ ४६ ॥

है । रज्जु में सर्पभ्रान्ति के समान न यह सत्य है और न असत्य है, (किन्तु अनिर्वचनीय है) ॥ ४१ ॥

मिथ्याज्ञान से यह सत्य प्रतीत होता है और विवेकपूर्वक देखने से असत्य ही है, (भ्रान्तिज्ञान से अनुभूत पदार्थ सत्य नहीं होता क्योंकि वस्तुतत्त्व का निर्धारणात्मक ज्ञान भ्रमज्ञान से अनुभूत पदार्थ का बाधक होता है, सत्य का निषेध नहीं करता, जिससे कि असत्य हो ।) परम कारण ही स्वरूपभूत चैतन्य के माया से आवृत होने के कारण जीवत्व को प्राप्त करता है, अतः जीवत्व भी अनिर्वाच्य है ॥ ४२ ॥

चिरकाल के विचाराभ्यास के कारण दृढ़ अनुभव से जीवत्व को वैसा ही स्पष्टरूप से जानता है । यह संसार सत्य हो अथवा असत्य हो, चिदाकाश में ही यह स्फुरित हो रहा है, चिदाकाश से अतिरिक्त कोई भी वस्तु कहीं भी सत् नहीं है ॥ ४३ ॥

जीव की जो भोगेच्छा है, वही संसार की मिथ्यात्व की उपयोगिता नहीं है, विषय चाहे सत्य हों, चाहे असत्य हों उनकी अनुरञ्जना ही संसार की उत्पत्ति और स्थिति की मूल कारण है, जीव पहले स्वेच्छा से उत्पन्न विषयों की अनुभूति से अनुरञ्जित होता है, तदनन्तर पूर्वानुभूत सब विषयों का पुनः अनुभव करता है, ऐसा कहते हैं—'रञ्जयत्येव' इत्यादि से ।

जीवाणु अपनी कामनात्मक अनुभूतियों से इस जगत् को रञ्जित करता है । कुछ अनुभूतियाँ पूर्व अनुभूतियों से ही शीघ्र अनुभव में आती हैं ॥ ४४ ॥

कुछ अनुभूतियाँ पूर्व में अनुभव न होने पर भी समान प्रतीत होती हैं और कुछ कहीं पर असम प्रतीत होतीं हैं । वे ही ये हैं, यों कहीं पर अर्धसम भी वे प्रतीत

त एव मन्त्रिणः पौराः प्रतिभाने भवन्ति च ।
ते चैवाऽऽत्मन्यलं सत्या देशकालेहितैः समाः ॥ ४७ ॥

सर्वगात्मस्वरूपायाः प्रतिभाया इति स्थितिः ।
यथा राजात्मनि व्योम्नि प्रतिभोदेति सन्मयी ॥ ४८ ॥

यथा तदग्रगोदेति सत्येव प्रतिभाऽम्बरे ।
त्वच्छीला त्वत्समाचारा त्वत्कुला त्वद्वपुर्मयी ॥ ४९ ॥

इति लीलेयमाभाति प्रतिभाप्रतिबिम्बजा ।
सर्वगे संविदादर्शे प्रतिभा प्रतिबिम्बति ॥ ५० ॥

यादृशी यत्र सा तत्र तथोदेति निरन्तरम् ।
जीवाकाशस्य याऽन्तस्था प्रतिभा कुरुते स्वयम् ।
सा बहिश्च चिदादर्शे प्रतिबिम्बादियं स्थिता ॥ ५१ ॥

होतीं हैं ॥ ४५ ॥

असत्य अनुभूतियाँ जीवाकाश में सत्य के समान प्रतीत होती हैं । वैसे ही कुलवाले, वैसे ही सदाचारवाले, वैसे ही उच्च जन्मवाले, वैसे ही चेष्टावाले प्रतीत होते हैं ॥ ४६ ॥

वे ही मन्त्री और पुरवासी तुम्हारी प्रतीति में आते हैं । वे परमार्थस्वरूप आत्मा में वे ही हैं, यों अत्यन्त सत्य हैं और अपने अपने देश, काल और अभीप्सित दृष्टि से तुल्य हैं ॥ ४७ ॥

जिसका आत्मस्वरूप सर्वगामी है, ऐसी प्रतिभा की यही स्थिति है । राजारूप आत्मा में जैसी सन्मयी यानी सर्वसाधारण के लिए सत्यपदार्थवाली प्रतिभा उदित होती है ॥ ४८ ॥

जैसे उससे पहले सर्वसाधारण भोक्ताओं के अदृष्ट से अव्याकृत आकाशरूप ईश्वर में सत्यसंकल्परूप प्रतिभा उत्पन्न होती ही है, प्रतिभा के प्रतिबिम्ब से उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे सरीखे शील, सदाचार, कुल और शरीर से युक्त प्रतीत होती है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार प्रतिभा प्रतिबिम्ब से उत्पन्न यह लीला सर्वव्यापक संविद् स्वरूप ऐनक में प्रतिबिम्बित होती है ॥ ५० ॥

सर्वव्यापक संविद्रूपी आदर्श में प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है । वह जहांपर जैसी होती है, वहांपर वैसी ही सदा उदित होती है, उसका अन्यथाभाव कदापि नहीं होता सर्वान्तिर्यामी ईश्वर की प्रतिभा जो भीतर है, वही स्वयं बाहर भी कार्य करती है । चिदादर्श में प्रतिबिम्ब होने से यह तुम्हारे समान स्थित है ॥ ५१ ॥

एषा त्वमम्बरमहं भुवनं धरा च
राजेति सर्वमहमेव विभातमात्रम् ।
चिद्व्योमबिल्वजठरं विद्धुरङ्ग विद्धि
त्वं तेन शान्तमलमास्स्व यथास्थितेह ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने अग्निदाहरात्रियुद्धे जगद्ब्रह्मवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

आकाश, उसके अन्तर्गत भुवन, भुवन के अन्तर्गत पृथिवी, उसके अन्तर्गत यह तुम, मैं और राजा ये सब चिन्मात्रस्वभाव में प्रत्यग्रूप ही हैं । इसी प्रकार और भी तत्त्ववेत्ता व्यक्ति सब पदार्थों को चिदाकाशरूपी बिल्वफल की सत्ता मात्र जानते हैं, वे सब चिदाकाश से अतिरिक्त नहीं हैं । तुम भी वैसा ही जानो इस ज्ञान से स्वरूप में स्थित होकर तुम यहां अत्यन्त शान्त होकर रहो ॥ ५२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में अग्निदाहरात्रियुद्ध में जगद्ब्रह्मवर्णन नामक कुसुमलता का चौवालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४४ ॥

४५

श्रीसरस्वत्युवाच

विदूरथस्ते भर्तैष तनुं त्यक्त्वा रणाङ्गणे ।
तदेवाऽन्तःपुरं प्राप्य तादृगात्मा भविष्यति ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्याकर्ण्य वचो देव्या लीला सा तत्पुरास्पदा ।
पुरः प्रह्वा स्थितोवाच वचनं विहिताञ्जलिः ॥ २ ॥

द्वितीयलीलोवाच

देवी भगवती ज्ञप्तिर्नित्यमेवाऽर्चिता मया ।
स्वप्ने संदर्शनं देवी सा ददाति निशासु मे ॥ ३ ॥
सा यादृश्येव देवेशि ! तादृश्येव त्वमम्बिके ।
तन्मे कृपणकारुण्याद्वरं देहि वरानने ! ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इत्युक्ता सा तदा ज्ञप्तिः स्मृत्वा तद्भक्तिभावनम् ।
इदं प्रसन्ना प्रोवाच तां लीलां तत्पुरास्पदाम् ॥ ५ ॥

श्रीदेव्युवाच

अनन्यया भावनया यावज्जीवमजीर्णया ।
परितुष्टाऽस्मि ते वत्से ! गृहाणाऽभिमतं वरम् ॥ ६ ॥

तद्देशलीलोवाच

रणाद् देहं परित्यज्य यत्र तिष्ठति मे पतिः ।
अनेनैव शरीरेण तत्र स्यामेतदङ्गना ॥ ७ ॥

४५

श्रीसरस्वती ने कहा:— तुम्हारा पति यह विदूरथ रणभूमि में देह का त्याग कर उसी अन्तःपुरमें पहुँच कर राजा पद्मरूप होगा ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—श्रीदेवी का यह वचन सुन कर देवी के सामने बैठी हुई उस नगर में रहनेवाली लीला ने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर देवी से कहा ॥ २ ॥

दूसरी लीला ने कहा:—भगवती सरस्वती देवी की मैंने नित्य ही पूजा परिचर्या की है । सरस्वती देवी रात में मुझे स्वप्न में दर्शन देती हैं ॥ ३ ॥

हे अम्बिके ! हे देवेशि ! जैसी वह हैं, वैसी ही ठीक आप हैं, इसलिए हे वरानने ! दीन के ऊपर दया कर मुझे आप वरप्रदान करें ॥ ४ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—वत्स ! द्वितीय लीला के इस प्रकार कहनेपर देवी सरस्वती ने उसके भक्तिभाव से किये गये ध्यान और पूजा स्मरण पर प्रसन्न हो उस नगर में रहनेवाली लीला से यह कहा ॥ ५ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा:—हे वत्स ! सदा एक रूप में वर्तमान जीवन भर की अनन्य भक्ति के द्वारा मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ, तुम अपनी इच्छा के अनुरूप यह वरदान मुझसे मांगो ॥ ६ ॥

उस प्रदेश में रहनेवाली लीला ने कहा—रणभूमि से देह का परित्याग कर जहांपर मेरे पति रहेंगे, मैं इसी देह से वहांपर उनकी पत्नी रहूँ ॥ ७ ॥

श्रीदेव्युवाच

एवमस्तु त्वयाऽविघ्नं पूजिताऽस्मि सुते ! चिरम् ।
अनन्यभावया भूरिपुष्पधूपसपर्यया ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ तद्देशलीलायां फुल्लायां तद्वरोदयात् ।
पूर्वलीलाऽब्रवीद् देवीं सन्देहलुलिताशया ॥ ९ ॥

पूर्वलीलोवाच

ये सत्यकामाः सन्त्येवंसङ्कल्पा ब्रह्मरूपिणः ।
त्वादृशाः सर्वमेवाऽऽशु तेषां सिद्धयत्यभीप्सितम् ॥१०॥
तत्तेनैव शरीरेण किमर्थं नाऽहमीश्वरि ! ।
लोकान्तरमिदं नीता तं गिरिग्रामकं वद ॥ ११ ॥

श्रीदेव्युवाच

न किञ्चित्कस्यचिदहं करोमि वरवर्णिनि ।
सर्वं सम्पादयत्याशु स्वयं जीवः स्वमीहितम् ॥ १२ ॥
अहं हितं रटे ज्ञप्तिः संविन्मात्राधिदेवता ।
प्रत्येकमस्ति चिच्छक्तिर्जीवशक्तिस्वरूपिणी ॥ १३ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा—हे सुते ! तुमने चिरकाल तक अनन्यभक्ति से प्रचुर पुष्प-धूप-दीप-युक्त पूजन-सामग्री से मेरा साङ्गोपाङ्ग पूजन किया है, जैसा तुम चाहती हो, वैसा ही होगा ॥ ८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इसके बाद उस वर की प्राप्ति से उस देश में रहनेवाली लीला सन्तोष से प्रफुल्लित हो स्थूल शरीर से पतिलोक प्राप्त किया और स्थूलदेह का त्याग कर पतिलोक प्राप्त किया, इस सन्देह से चञ्चल चित्तवृत्ति से पूर्वलीला ने देवी से कहा ॥ ९ ॥

पूर्वलीला ने कहा—जो सत्यकामनावाले और सत्य-सङ्कल्पवाले तुम्हारे समान ब्रह्मरूपी हैं, उनके शीघ्र ही सब अभीष्ट सिद्ध होते हैं ॥ १० ॥

अतः आपने सत्यकामता के बल से उसी स्थूल शरीर से मुझे गिरिग्रामकरूप इस लोकान्तर में क्यों नहीं पहुँचाया ? यह कहें ॥ ११ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा—मैं किसी का कुछ भी नहीं करती, जीव स्वयं अपने सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थों को शीघ्र सम्पन्न करता है ॥ १२ ॥

संविन्मात्र की अधिष्ठात्री देवी मैं सरस्वती प्राणियों के भावी शुभ फल को वरदान द्वारा प्रकाशित करती हूँ। प्रत्येक जीव में पूर्वजन्म के काम, कर्म और वासना से अवच्छिन्न चिदात्मरूप जीवशक्तिस्वरूपिणी उन कार्यों की बीजभूत माया से संवलित चित्-शक्ति ही फल का उत्पादन करती है ॥ १३ ॥

जीवस्योदेति या शक्तिर्यस्य यस्य यथा यथा ।
भाति तत्फलदा नित्यं तस्य तस्य यथा यथा ॥ १४ ॥
मां समाराधयन्त्यास्तु जीवशक्तिस्तवोदिता ।
तदाऽभवद्यदीह स्यां मुक्ताऽस्मीति चिरं तदा ॥ १५ ॥
तेन तेन प्रकारेण त्वं मया संप्रबोधिता ।
तया युक्त्याऽमलं भावं नीताऽसि वरवर्णिनी ॥ १६ ॥
अनयैवंभावनया बोधिताऽसि चिरं तदा ।
तमेवाऽर्थं प्राप्तवती सदा स्वचितिशक्तितः ॥ १७ ॥
यस्य यस्य यथोदेति स्वचित्प्रयतनं चिरम् ।
फलं ददाति कालेन तस्य तस्य तथा तथा ॥ १८ ॥
तपो वा देवता वाऽपि भूत्वा स्वैव चिदन्यथा ।
फलं ददात्यथ स्वैरं नभःफलनिपातवत् ॥ १९ ॥
स्वसंविद्यतनादन्यन्न किञ्चिच्च कदाचन ।
फलं ददाति तेनाऽऽशु यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २० ॥

जो शक्ति जिस जीव की जैसे-जैसे उदित होती है, उस उसको वैसा-वैसा फल देनेवाली वह कर्मानुष्ठान की हेतुभूत कामना के विषयरूप से स्फुरित होती है ॥ १४ ॥

मेरी आराधना में सदा तत्पर तुम्हारी 'यदि इस संसार में मेरी मुक्ति होती, तो क्या ही अच्छा होती' ऐसी चिरकाल तक जीवशक्ति उदित हुई ॥ १५ ॥

भिन्न-भिन्न प्रकार से मेरे द्वारा प्रबोधित हुई तुम उस युक्ति से बोध द्वारा अज्ञानरूपी आवरण समाप्त कर निर्मल आत्मावस्थितिरूप भाव को प्राप्त किया है ॥ १६ ॥

इस प्रकार की भावना से चिरकाल तक तुम इस पूर्वप्रदर्शित युक्ति से मेरे द्वारा प्रबोधित हुई, अपनी चितिशक्ति के प्रभाव से उस सदा भावित अर्थात् मुक्त होने की भावना को अर्थ को ही प्राप्त किया ॥ १७ ॥

जिसका जैसा पुरुषप्रयत्न चिरकाल उदित होता है, वह समय पाकर उस उसको वैसा फल देता है ॥ १८ ॥

अपनी चित्-शक्ति ही तपस्या बनकर या देवता का रूप धारण कर स्वेच्छा से आकाश से फल गिरने के समान अर्थात् मिथ्यारूप फल देती है ॥ १९ ॥

स्वसंवित् प्रयत्न के बिना कभी कुछ भी फल नहीं दे सकती है अतः तुम वैसा कर्म करो जैसा फल चाहती हो कर्मानुसार ही फल मिल सकता है ॥ २० ॥

चिद्भाव एव ननु सर्गगतोऽन्तरात्मा
यच्चेतति प्रयतते च तदैति तच्छ्रीः ।
रम्यं ह्यरम्यमथवेति विचारयस्व
यत्पावनं तदवबुद्धय तदन्तरास्स्व ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने सत्यकामसत्यसङ्कल्पास्तिता नाम पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

सर्वान्तर्यामी चिद्भाव ही पहले रम्य या अरम्य जिस कर्म का विचार करता है और प्रयत्न करता है, बाद में उसी की फलरूप श्री उदित होती है, इस प्रकार तुम विचार करो और विचार में जो पवित्रतम पद है, उसको जानो और उसमें स्थित हो ॥ २१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में सत्यकामसंकल्पास्तिता नामक कुसुमलता का पैंतालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४५ ॥

४६

श्रीराम उवाच

एवं संकथयन्तीषु तासु तस्मिन्गृहोदरे ।
विदूरथः किमकरोन्निर्गत्य कुपितो गृहात् ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

विदूरथः स्वसदनान्निर्गतः परिवारितः ।
परिवारेण महता ऋक्षौघेणेव चन्द्रमाः ॥ २ ॥
सन्नद्धसर्वावयवो लग्नहारविभूषणः ।
महाजयजयारावैः सुरेन्द्र इव निर्गतः ॥ ३ ॥
समादिशन् योधगणं शृण्वन्मण्डलसंस्थितिम् ।
आलोकयन् वीरगणानारुरोह नृपो रथम् ॥ ४ ॥
कूटाकारसमाकारं मुक्तामाणिक्यमण्डितम् ।
पताकापञ्चभिर्व्याप्तं द्युविमानमिवोत्तमम् ॥ ५ ॥
चक्रभित्तिपरिप्रोतप्रकचत्काञ्चनाङ्कुरम् ।
मुक्ताजालरणत्कारचारुविक्रमकूबरम् ॥ ६ ॥
सुग्रीवैर्लक्षणोपेतैः प्रशस्तैः प्रचलैः कृशैः ।
जवोड्डयनवेगेन प्रवहद्भिः सुरानिव ॥ ७ ॥
वायुं जवेन सहसा असहद्भिर्गतिक्रमैः ।
प्रोह्यद्भिरिव पश्चार्द्धमापिबद्भिरिवाऽम्बरम् ॥ ८ ॥
योजितैरिव सम्पूर्णैश्चन्द्रैश्चामरदीप्तिभिः ।
अश्वैरष्टभिराबद्धमाशापूरकहेषितैः ॥ ९ ॥

४६

श्री राम ने कहा—उस राजमहल के भीतर वे तीन ललनाएँ इस प्रकार की बातचीत कर रही थीं, उसी समय क्रोध के साथ घर से जा कर राजा विदूरथ ने क्या किया ? ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—उस समय राजा विदूरथ अपने महल से निकला और जैसे चन्द्रमा महान् राशि तारामण्डल से परिवेष्टित होता है, वैसे ही वह सेनारूप परिवार से परिवेष्टित हुआ ॥ २ ॥

उसके सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग कवच और अस्त्रशस्त्रों से सुसन्नद्ध थे, हार आदि आभूषण अपने-अपने स्थानों में शोभा पा रहे थे, वह जयकार की तुमुल ध्वनि के साथ महेन्द्र के समान घर से निकला ॥ ३ ॥

योद्धाओं को कार्य करने के लिए आदेश देता हुआ, मन्त्रियों के मुँह से व्यूहरचना की स्थिति या देश की रक्षा-व्यवस्था को सुनता हुआ और वीरगणों का निरीक्षण करता हुआ रथ-पर चढ़ा ॥ ४ ॥

सुमेरुपर्वत के शिखर के आकार के समान उस रथ का आकार था, मोती और मणियों से वह विभूषित पांच पताकाओं से समन्वित सुमेरु के शिखर की आकृति का वह रथ था ॥ ५ ॥

वह उत्तम रथ स्वर्गलोक के विमान के समान था, उसमें पहियों और अगल-बगल की भीत में जड़ी हुई सोने की कीलें चमक रही थी, मोतियों की झनकार से उसका विशाल अग्रभाग बड़ा सुन्दर प्रतीत हो रहा था ॥ ६ ॥

उत्तम जाति, सभी शुभ लक्षणों से समन्वित, तीव्र दुबले पतले सुन्दर गर्दन वाले घोड़ों से युक्त वह रथ वेग से आकाश में देवगण के समान राजा का प्रवहन कर रहे थे ॥ ७ ॥

वेग में वायु को न सहनेवाली अपनी विविध तीव्र गतियों से अपने पिछले देह-भाग को आगे के देह-भाग से ले जा रहे थे ॥ ८ ॥

ऐसा प्रतीत होता था कि आकाश को पी रहे थे,

अथोदपतदुद्दामनागाभ्ररवनिर्भरः ।
शैलभित्तिप्रतिध्वानदारुणो दुन्दुभिध्वनिः ॥ १० ॥

मत्तसैनिकनिर्मुक्तैर्व्योमं कलकलारवैः ।
किङ्किणीजालनिर्ध्वानैर्हेतिसङ्घट्टघट्टितैः ॥ ११ ॥

धनुश्चटचटाशब्दैः शरसीत्कारगायनैः ।
परस्पराङ्गनिष्पिष्टकवचौघझणज्झणैः ॥ १२ ॥

ज्वलदग्निटणत्कारैरार्तिमत्क्रन्दनारवैः ।
परस्परभटाह्वानैर्बन्दिविक्षुब्धरोदनैः ॥ १३ ॥

शिलाघनीकृताशेषब्रह्माण्डकुहरो ध्वनिः ।
हस्तग्राह्योऽभवद्भीमो दशाशाकुञ्जपूरकः ॥ १४ ॥

अथोदपतदादित्यपथपीवररोधकम् ।
रजोनिभेन भूपीठमम्बररोड्डयनोन्मुखम् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण राका-चन्द्र के समान चँवरों की कान्ति से युक्त और अपनी हिन-हिनाहट से दिशाओं के अन्तराल को पूर्ण कर रहे थे ॥ ९ ॥

अनन्तर मदोन्मत्त हाथीरूपी मेघों के चिंघाड़ से बढ़ा चढ़ा हुआ और पर्वतों के शिखरों में गूँजने से कठोर नगाड़ों का शब्द होने लगा ॥ १० ॥

ध्वनि मदोन्मत्त सैनिकों द्वारा किये गये कोलाहल से, हथियारों को टकराने से प्रचुरमात्रा में हो रही रथ आदि में लगी हुई छोटी-छोटी घंटियों की ध्वनियों से, धनुषों की टंकार से, बाणों की सरसराहट से, परस्पर के शरीर से टकराये हुए कवचों की झनझनाहट से, जल रही अग्नि की कड़कड़ाहट से, दुःख भरी रोदनध्वनि से, भटों में से एक के दूसरे को पुकारने से और बन्दियों द्वारा वीरों का उत्साह बढ़ाने के लिए निन्दा करने से युद्ध के बिना ही हुए मानसिक घाव से कातर हुए लोगों के रोदन से व्याप्त थी ॥ ११-१३ ॥

उसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डरूपी बिल को पत्थर के समान ठोस बना दिया था उसने दसों दिशारूपी निकुञ्ज को पूर्ण कर दिया था, अतः वह भीषण ध्वनि हाथ से पकड़ने के योग्य थी ॥ १४ ॥

तदनन्तर अतिस्थूल बनकर आदित्य के मार्ग को ढांकने की इच्छा करनेवाला भूमण्डल ही धूली के वेष से आकाश में उड़ने को तत्पर होकर उठा आकाश धूल से परिव्याप्त हो गया ॥ १५ ॥

धूलीपटल से वह महान् नगर गर्भवास को प्राप्त किया। रजोगुण की अधिक मात्रावाले यौवन से स्वाभाविक मूढ़ता के समान रज से अन्धकार निबिड़ हो गया ॥ १६ ॥

गर्भवासमिवाऽऽपन्नं तेनाऽऽसीत् तन्महापुरम् ।
मूढत्वं यौवनेनेव घनतामाययौ तमः ॥ १६ ॥

प्रययुः क्वाऽपि दीपौघा दिवसेनेव तारकाः ।
आययुर्बलमालोला नैशभूतपरम्पराः ॥ १७ ॥

ददृशुस्तन्महायुद्धं द्वे लीले सा कुमारिका ।
प्रस्फुटद्धृदयेनेव देवीदत्तमहादृशौ ॥ १८ ॥

प्रशेमुरथ हेतीषु प्रोद्यत्कटकटारवाः ।
एकार्णवपयःपूरैर्वालवा इव वह्नयः ॥ १९ ॥

शनैः सेनां समाकर्षन्नाऽऽज्ञायत बलान्तरम् ।
विवेश पक्षप्रोड्डीनो मेरुरेकमिवाऽर्णवम् ॥ २० ॥

अथोदभूद् गुणध्वानं चटच्चटदिति स्फुटम् ।
रचितांशुमयाम्भोदाश्चेरुः परपरम्पराः ॥ २१ ॥

तारागण कहीं विलीन वैसे ही हो गये, जैसे दिवस के आविर्भाव से दीपों की कान्ति नष्ट हो जाती है, रात्रि में होनेवाले चञ्चल भूत-पिशाचों की कतार की परम्परा चलने लगा ॥ १७ ॥

उस महायुद्ध को दो लीलाओं ने तथा राजा विदूरथ की देवी-प्रदत्त दिव्य दृष्टिसम्पन्न कन्या ने, विदीर्ण हो रहे हृदय से देखा ॥ १८ ॥

राजा विदूरथ के प्रयाण के अनन्तर नगर को लूट-खसोट रहे राजा सिन्धु के सैनिकों के हथियारों और बाणों से उद्भूत हो रहे कटकट शब्द वैसे ही शान्त हो गये जैसे एकमात्र समुद्र के जलप्रवाहों से वड़वानल शान्त हो जाता है ॥ १९ ॥

अपनी सेना को शत्रुवाहिनी के साथ भिड़ाने के लिए ले जा रहे राजा विदूरथ को अपनी सेना और शत्रु-सेना का बलाबल ज्ञात नहीं हुआ। उसने भी शत्रु के और अपने बल का अन्तर जाने बिना ही शत्रु के दल-बल में वैसे ही प्रवेश किया जैसे अपने परों से उड़ा हुआ सुमेरु पर्वत प्रलयकालीन एकार्णव में प्रवेश करे ॥ २० ॥

राजा विदूरथ के परबल में प्रविष्ट होने के उपरान्त 'चट' 'चट' शब्द के साथ साफ सुनाई दे रही प्रत्यञ्चा ध्वनि होने लगी, जिन्होंने अपने हथियारों की कान्ति के मेघ बनाने वाले शत्रु के सैन्य-गण घूमने लगे ॥ २१ ॥

ययुरम्बरमाश्रित्य नानाहेतिविहङ्गमाः ।
प्रसस्त्रुरलामात्तासु मलिनाः शस्त्रदीप्तयः ॥ २२ ॥
जज्वलुः शस्त्रसंघट्टज्वलना उल्मुकाग्निवत् ।
जगर्जुः शरधारौघान् वर्षन्तो वीरवारिदाः ॥ २३ ॥
विविशुः क्रकचक्रूरा वीराङ्गेषु च हेतयः ।
पेतुः पटपटारावं हेतिनिष्पिष्टयोऽम्बरे ॥ २४ ॥
जग्मुः शमं तमांस्याशु शस्त्रकानलदीपकैः ।
बभूवुरखिलाः सेना नवनाराचरोमशाः ॥ २५ ॥
उत्तस्थुर्यमयात्रायां कबन्धनटपङ्क्तयः ।
जगुरुच्चै रणोद्रेकं पिशाच्यो रणदारिकाः ॥ २६ ॥
उदगुर्दन्तसङ्घट्टटङ्कारादन्तिनां बलात् ।
ऊहुः क्षेपणपाषाणमहानद्यो नभस्तले ॥ २७ ॥
पेतुः शवा निवातास्तसंशुष्कवनपर्णवत् ।
निर्ययुर्लोहिता नद्यो रणाद्रेर्मृतिवर्षिणः ॥ २८ ॥
प्रशेमुः पांसवो रक्तैस्तमांस्यायुधवह्निभिः ।
युद्धैकध्यानतः शब्दा भयानि मृतिनिश्चयैः ॥ २९ ॥
अभवत्केवलं युद्धमपशब्दमसम्भ्रमम् ।
अनाकुलाम्बुवाहाभं खड्गवीचिसटाङ्कृतम् ॥ ३० ॥
खदखदरवसंवहच्छरौघं
टकटकितारवसम्पतद्भुशुण्डि ।
झणझणरवसंमिलन्महास्त्रं
तिमितिमिवद्रणमास दुस्तरं तत् ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
विदूरथनिर्याणं नाम षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

अनेक शस्त्रास्त्ररूपी पक्षिगण आकाश में उड़कर इधर-उधर घूमने लगे। जिन्होंने शत्रुओं के प्राण लेने के पाप से मलिन हो गई शस्त्रों की चम-चमाहट इधर-उधर फैलने लगीं ॥ २२ ॥

शस्त्रों के परस्पर आघात से उत्पन्न हुई आग अधजले काठ की तरह जलने लगी। बाणरूपी धारा-प्रवाहों की वृष्टि कर रहे वीररूपी जलधर गर्जने लगे ॥ २३ ॥

आरों के समान निठुर हथियार वीरों के अङ्ग प्रत्यङ्गों में प्रविष्ट होने लगे। तलवारों के प्रहार पट-पट शब्द के रूप से आकाश में उड़े ॥ २४ ॥

शस्त्रास्त्रों की अग्नि-स्वरूप दीपमालाओं से अन्धकार शीघ्र ही विनष्ट हो गया। सारी सेनाएँ नूतन बाणरूपी रोंगटों से व्याप्त हो गई ॥ २५ ॥

यम की आराधनारूप यात्रोत्सव के लिए कबन्धरूपी नटों की पंक्तियाँ उठने लगी। रणोत्सव की आभूषणरूप युवती पिशाचियाँ रथ की भीषणता को खूब ऊँचे स्वर से गाने लगीं ॥ २६ ॥

हाथियों के दाँतों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुए टँकार बड़ी तेजी से ऊपर को गये, आकाश में क्षेपणी से निकले हुए पत्थरों की महानदियाँ बहने लगीं ॥ २७ ॥

आँधी द्वारा फेंके गये सूखे वनपत्तों के समान शव गिरने लगे, मृत्यु की वृष्टि करने वाले रणरूपी पर्वत से लाल नदियाँ निकलने लगीं ॥ २८ ॥

खून की धारा से धूलीकण शान्त हो गये और हाथियों के टकराने से उत्पन्न आग से अन्धकार शान्त हो गया, एकमात्र युद्ध का ही ध्यान रहने से वाणियाँ शान्त हो गईं और मरने के दृढ़ निश्चय से भय भी शान्त हो गया ॥ २९ ॥

शब्दशून्य, संभ्रमरहित आकुलतारहित मेघ के समान केवल युद्ध हुआ, तलवाररूपी लहरों की टंकार ही उसमें सुनाई पड़ती थी ॥ ३० ॥

उसमें खट्-खट् शब्द के साथ बाणवृष्टि हो रही थी, टक टक शब्द के साथ भुशुण्डियाँ गिर रही थीं, झण झण शब्द के साथ महान् शस्त्र टकरा रहे थे, उक्त शस्त्रों से अतिरिक्त तिमि तिमि शब्द से युक्त वह दुस्तर युद्ध था ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में विदूरथनिर्याण नामक कुसुमलता का छियालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४६ ॥

४७

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन् वर्तमाने तु घोरे समरसङ्क्रमे ।
लीलाद्वयमुवाचेदं ज्ञप्तिं भगवतीं पुनः ॥ १ ॥

लीलाद्वयमुवाच

देवि ! कस्मादकस्मान्नौ भर्ता जयति नो रणे ।
वद त्वय्यपि तुष्टायामस्मिन्विद्रुतवारणे ॥ २ ॥

श्रीसरस्वत्युवाच

चिरमाराधिताऽनेन विदूरथनृपारिणा ।
अहं पुत्रि ! जयार्थेन न विदूरथभूभृता ॥ ३ ॥
तेनाऽसावेव जयति जीयते च विदूरथः ।
ज्ञप्तिरन्तर्गता संविदेतां मां यो यदा यथा ॥
प्रेरयत्याशु तत्तस्य तदा सम्पादयाम्यहम् ॥ ४ ॥
यो यथा प्रेरयति मां तस्य तिष्ठामि तत्फला ।
न स्वभावोऽन्यतां धत्ते वह्नेरौष्ण्यमिवैष मे ॥ ५ ॥
अनेन मुक्त एव स्यामहमित्यस्मि भाविता ।
प्रतिभारूपिणी तेन बाले ! मुक्तो भविष्यति ॥ ६ ॥
एतदीयः स्वयं शत्रुः सिन्धुर्नाम महीपतिः ।
जयाम्यहं स्यां संग्राम इत्यनेनाऽस्मि पूजिता ॥ ७ ॥
तस्माद् विदूरथो देहं तत् प्राप्य सह भार्यया ।
त्वयाऽनया च कालेन बाले ! मुक्तो भविष्यति ॥ ८ ॥
एतदीयः स्वयं शत्रुः सिन्धुर्नाम महीपतिः ।
हत्वैनं वसुधापीठे जयी राज्यं करिष्यति ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं देव्यां वदन्त्यां तु बलयोर्युध्यमानयोः ।
रविर्द्रष्टुमिवाऽऽश्चर्यमाजगामोदयाचलम् ॥ १० ॥
चेलुस्तिमिरसङ्घाता बलानीवाऽरिरूपिणः ।
असृजञ्जीवसंघान् ये सन्ध्यायां तारका इव ॥ ११ ॥
शनैः प्रकटतां जग्मुर्नीलाकाशाद्रिभूमयः ।
भुवनं कज्जलाम्भोधेरिवोत्क्षिप्तमराजत ॥ १२ ॥

४७

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—उक्त भीषण समर-सङ्क्रम के दोनों लीलाओं ने भगवती सरस्वती देवी से यह कहा ॥ १ ॥

दोनों लीलाओं ने कहा—हे देवि ! आपके अन्तुष्ट रहने पर भी हमारे पति जिससे हाथी भाग रहे हैं, इस रणभूमि में अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त करते, कृपा कर यह हमसे कहिये ॥ २ ॥

श्रीसरस्वतीजी ने कहा—हे पुत्रि ! विदूरथ के इस सिन्धु राजा ने चिरकाल तक विजय के लिए मेरी आराधना की थी, राजा विदूरथ ने जयकामना से मेरी आराधना नहीं की थी ॥ ३ ॥

इसलिए राजा सिन्धु ही विजय प्राप्त करेगा और राजा विदूरथ पराजित होगा। सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयान्तर्गत संवित स्वरूप मैं ही हूँ। उस ज्ञप्तिरूप मुझे जो पुरुष जब जैसा प्रेरित करता है, तब उसका वैसा फल सम्पादन करती हूँ ॥ ४ ॥

जिस प्रकार जो मुझे प्रेरित करता है, उसके लिए मैं वैसा फलस्वरूप होकर स्थित होती हूँ। मेरा यह स्वभाव अग्नि की उष्णता के समान अन्यथा नहीं होता है ॥ ५ ॥

हे बाले ! राजा विदूरथ ने 'मैं मुक्त ही होऊँ' इस बुद्धि से मेरी, जो कि प्रतिभारूपिणी हूँ, आराधना की है, इसलिए वह मुक्त होगा ॥ ६ ॥

राजा विदूरथ का शत्रु सिन्धु नामक राजा स्वयम् 'मैं जय से शत्रु को पिड़ित करूँ' इस सङ्कल्प से मेरी पूजा की थी ॥ ७ ॥

हे बाले ! इसलिए राजा विदूरथ उस देह को पाकर तुम्हारे और इस भार्या के साथ समय आने पर मुक्त होगा ॥ ८ ॥

इसका शत्रु सिन्धु राजा इसको मारकर विजयी हो पृथिवीतल में स्वयं राज्य करेगा ॥ ९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—दो देवियों के द्वारा इस प्रकार कहते हुए जूझ रही दो सेनाओं का आश्चर्यमय युद्ध देखने के लिए भगवान् भास्कर उदयाचल में आरूढ़ हुए ॥ १० ॥

जिन अन्धकारसमुदायों ने रात्रि में तारों की भाँति राक्षस, पिशाच आदि जीवसंघों को वैरिरूपी विदूरथ की सेना के समान प्रकट किया था, वे न मालूम कहाँ चले गये ॥ ११ ॥

नीला आकाश और पर्वतश्रेणियाँ धीरे-धीरे प्रकट होने लगीं। सम्पूर्ण भुवन काजल के सागर मे से निकाला हुआ-सा अलङ्कृत हुआ ॥ १२ ॥

पेतुः कनकनिःस्यन्दसुन्दरा रविरश्मयः ।
शैलेषु वरवीरेषु रणे रक्तच्छटा इव ॥ १३ ॥
अदृश्यत ततो व्योम तथा रणमहीतलम् ।
बाहुभिर्भ्रान्तभुजगं प्रभाभिः कीर्णकाञ्चनम् ॥ १४ ॥
कुण्डलैः कीर्णरत्नौघं शिरोभिर्दृष्टपङ्कजम् ।
आयुधैः खड्गनीरन्ध्रं शरैः शलभनिर्भरम् ॥ १५ ॥
रक्ताभास्थिरसन्ध्याढ्यं ससिद्धपुरुषं शवैः ।
हारैः ससर्पनिर्मोकं कटैरिद्धं सुसंकुलम् ॥ १६ ॥
लसल्लतं पताकाभिरूरुभिः कृततोरणम् ।
हस्तैः पादैः पल्लवितं शरैः शरवणोपमम् ॥ १७ ॥
शस्त्रांशुशाद्वलश्यामं शस्त्रपूरैः सकैतकम् ।
कीर्णमायुधमालाभिरुन्मत्तमिव भैरवम् ॥ १८ ॥
फुल्लाशोकवनाकारं शस्त्रसंघट्टवह्निभिः ।

रणभूमि में श्रेष्ठ वीरों पर रक्त छटा के समान शैलों पर सुवर्ण के द्रव के समान सूर्य-किरणें गिरीं ॥ १३ ॥

अनन्तर आकाश और रणभूमि दोनों आकाश में उड़ी हुई और भूमि पर गिरी हुई वीरों की भुजाओं से ऐसे प्रतीत होते थे, मानो उनमें सर्प घूम रहे हैं, परस्पर की प्रभा से दोनों ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो उनमें सोना बिखेरा हो ॥ १४ ॥

आकाश में उड़ रहे और भूमिपर गिरे हुए कुण्डलों से आकाश और महीतल ऐसा मालूम पड़ता था जैसे उनमें रत्नराशियां बखेरी हों, सिरों से कमलपूर्ण तालाब-से प्रतीत होते थे, हथियारों से मानो गैंड़ों से निबिड़रूप से मालूम होते थे, बाणों से ऐसे लगते थे कि मानो वे टिड्डियों के दल से व्याप्त हैं ॥ १५ ॥

रक्तकान्ति से वे स्थिरसन्ध्या से युक्त शवों से सिद्ध-पुरुषों से पूर्ण, हारों से सांप की केंचुल से भरे, कवचों से प्रदीप्त और सङ्कटापन्न से प्रतीत होते थे ॥ १६ ॥

आकाश में उड़ रहीं और भूमि में गिरी हुई पताका मानो उनमें लताएँ लहलहा रही हों, जङ्घाओं से मानो उनमें वन्दनवार बनाये गये हों, हाथ और पैरों से वे पल्लवयुक्त-से प्रतीत होते थे, बाणों से सरके वन के सदृश लगते थे ॥ १७ ॥

शस्त्रों की किरणों से हरी दूब से हरे भरे मैदान से प्रतीत होते थे, शस्त्रों के समूहों से केतकी के फूलों से युक्त-से प्रतीत होते थे, हथियारों के समूहों से व्याप्त वे उन्मत्त भैरव-से प्रतीत होते थे ॥ १८ ॥

उदघुंघुमहाशब्दैर्विद्रवत्सिद्धनायकैः ॥ १९ ॥
सौवर्णनगराकारं बालार्ककचितायुधैः ।
प्रासासिशक्तिचक्रर्ष्टिमुद्गरारणिताम्बरम् ॥ २० ॥
वहद्रक्तनदीरंहःप्रोह्यमानशवोत्करम् ।
भुशुण्डीशक्तिकुन्तासिशूलपाषाणसंकुलम् ॥ २१ ॥
शूलशस्त्राहतिच्छन्नकबन्धपतनान्वितम् ।
कालताण्डववेतालकलारब्धहलारवम् ॥ २२ ॥
शून्ये रणाङ्गणे दीप्तौ पद्मसिन्ध्वो रथौ चलौ ।
अदृश्येतां नभश्चिह्नौ चन्द्रसूर्यौ दिवीव तौ ॥ २३ ॥
चक्रशूलभुशुण्ड्यृष्टिप्रासायुधसमाकुलौ ।
सहस्रेण सहस्रेण वीराणां परिवारितौ ॥ २४ ॥
विचरन्तौ यथाकामं मण्डलैर्विततारवैः ।
सचीत्कारमहाचक्रपिष्टानेकमृतामृतौ ॥ २५ ॥

शस्त्रास्त्रों के आघातों से उत्पन्न हुई वह्नि से प्रफुल्ल अशोक के वन के समान प्रतीत होते थे, समुद्र के समान 'घुं घुं' महाशब्दवाले, प्रातःकाल के सूर्य से प्रदीप्त आयुधवाले भाग रहे सिद्ध-नायकों से सौवर्ण नगराकार प्रतीत होते थे, प्रास, तलवार, शक्ति, चक्र, ऋष्टि और मुद्गरों के उत्पतन और निपतन से आकाश प्रतिध्वनित हो रहा था ॥ १९-२० ॥

बह रही रुधिरनदी की धारा से शवों के झुण्ड के झुण्ड बहाये जा रहे थे, भुशुण्डी, शक्ति, कुन्त, तलवार, शूल तथा पत्थरों के उत्पतन और निपतन से आकाश और रणभूमि पट गई थी, शूल और अन्या शस्त्रास्त्रों के आघात से आच्छन्न कबन्ध वहांपर गिर रहे थे और काल सदृश कराल ताण्डव करनेवाले वेताल हल-हल शब्द कर रहे थे ॥ २१-२२ ॥

परस्पर के युद्ध से अपने-अपने योद्धाओं का विनाश हो जाने से शून्य रणभूमि में जैसे स्वर्ग में आकाश के चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखाई दें, वैसे ही राजा पद्म और राजा सिन्धु के प्रदीप्त और चञ्चल दो रथ दिखाई दिये ॥ २३ ॥

वे दोनों रथ चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि, प्रास और अन्यान्य हथियारों से खचाखच भरे थे और उनमें प्रत्येक में एक-एक हजार वीर सवार थे ॥ २४ ॥

विस्तृत शब्दवाले अपने-अपने पैंतरों से अपनी इच्छानुसार घूमते थे, उनके चीत्कार युक्त महान् पहिये से अनेक मृत और घायल सैनिक चूर-चूर किये गये थे ॥ २५ ॥

तरन्तौ रक्तसरितौ मत्तवारणलीलया ।
केशशैवालसम्पन्ने चक्रचक्रजलेन्दुके ॥ २६ ॥
वहच्चक्राहतिक्षोभपातिताकुलवारणौ ।
मणिमुक्ताझणत्काररणत्कूबरकारवौ ॥ २७ ॥
वाताहतपताकाग्रपटत्पटपटारवौ ।
अनुयातौ महावीरैर्भूरिभिर्भीरुसैनिकैः ॥ २८ ॥
धारा वमद्भिः कुन्तानां शराणां धनुषामपि ।
शक्तीनां प्रासशङ्कूनां चक्राणां कचतां रणे ॥ २९ ॥
तत्र तौ क्षणमावृत्य मण्डले भूमिकुण्डले ।
उभौ व्यतिबभूवाते सम्मुखावायुधावुभौ ॥ ३० ॥
नाराचधारानिकरविक्षेपकरकध्वनौ ।
अन्योन्यमपि गर्जन्तौ मत्ताब्धिजलदाविव ॥ ३१ ॥
तयोः प्रहरतोर्बाणा वसुधानरसिंहयोः ।
पाषाणमुसलाकारा व्योमविस्तारिणोऽभवन् ॥ ३२ ॥
करवालमुखाः केचिन्मुद्गराननकाः परे ।
शितचक्रमुखाः केचित् केचित् परशुवक्त्रकाः ॥ ३३ ॥
केचिच्छक्तिमुखाः केचित्केचिच्छूलशिलामुखाः ।
त्रिशूलवदनाः केचित्स्थूला इव महाशिलाः ॥ ३४ ॥
प्रलयपवनपातिताः शिलौघा
इव निपतन्ति शिलीमुखास्तदा स्म ।
प्रमिलितमभवत् तयोस्तदानीं
प्रलयविजृम्भितसिन्धुसम्भ्रमेण ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने विदूरथसिन्धुसमागमो नाम सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

मदोन्मत्त हाथी की चाल से वे रुधिरनदियाँ केशरूपी सेवार से पूर्ण थीं, रथों के चक्र ही जिनमें चक्रवाक और जल में प्रतिविम्बित चन्द्र थे ॥ २६ ॥

चल रहे पहियों के आघात से हुई व्यथावश घायल हाथियों को गिरा दिया था, उनमें मणि और मोतियों के झनकार ही रण में प्रवृत्त रथ के अग्रभाग के शब्द हो रहे थे ॥ २७ ॥

वायु के आघात से फरफरा रही पताका के अग्रभाग में पट-पटशब्द हो रहे थे, जिन वीरों के सैनिक कतार थे ऐसे अनेक महावीर उनके पीछे चल रहे थे ॥ २८ ॥

रणभूमि में चल रहे भाले, बाणों, धनुषों, शक्तियों, प्रासों, कीलों और चक्रों की धाराओं को उगल रहे थे ॥ २९ ॥

रणभूमि के कुण्डल के समान अलङ्काररूप रथों के परिवर्तनरूप मण्डल में एक क्षणभर आवृत्तिकर युद्ध में वे दोनों संमुख परस्पर की क्रिया के व्यत्यास से शोभित हो रहे थे ॥ ३० ॥

बाणरूपी धारासमूह और प्रासरूपी आलों के गिराने और उनको सहन के लिए की गई ध्वनि होनेपर दोनों ही परस्पर तरङ्गित सागर और मेघों के समान गर्जन कर रहे थे ॥ ३१ ॥

परस्पर आघात कर रहे उन दोनों भूमि के नरश्रेष्ठों के पत्थर के मूसल के सदृश बाण आकाश में फैलते थे ॥ ३२ ॥

उन बाणों में से कुछ के मुँह तलवार के समान थे, कुछ के मुँह मुद्गर के समान थे, कुछ के मुँह चोखे चक्रों के समान थे, कुछ के मुँह कुल्हाड़े के समान थे ॥ ३३ ॥

कुछ के मुँह शूल और शिलाओं के समान थे, कुछ के मुख त्रिशूलाकार और कोई महाशिला के समान स्थूलाकार थे, वे सब बाण आकाश में फैलते थे ॥ ३४ ॥

उस समय प्रलयकालीन वायु से गिराये गये पत्थरों के समूहों के समान बाण उनपर गिरते थे । सिन्धुराज और विदूरथ का परस्पर संमिलन प्रलयकाल में बढ़े हुए दो समुद्रों के परस्पर संमिलन बिलास के समान हुआ ॥ ३५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में विदूरथसिन्धुसमागम नामक कुसुमलता का सैंतालिसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४७ ॥

४८

श्रीवसिष्ठ उवाच

प्राप्य राजा पुरः प्राप्तं सिन्धुमुद्धुरकन्धरम् ।
मध्याह्नतपनान्तेन कोपेन विततोऽभवत् ॥ १ ॥

४८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—राजा विदूरथ सामने खड़े हुए उन्नतमस्तक राजा सिन्धु को पाकर मध्याह्नकालीन सूर्य के समान कोप से उद्दीप्त हुआ ॥ १ ॥

धनुरास्फालयामास चिराराविततदिङ्मुखम् ।
कल्पान्तपवनास्फोट इव मेरुगिरेस्तटम् ॥ २ ॥
विससर्जोर्जितो राजा प्रलयार्कः करानिव ।
तूणीररजनीबद्धाः शिलीमुखपरम्पराः ॥ ३ ॥
एक एव विनिर्याति गुणात्तस्य शिलीमुखः ।
सहस्रं भवति व्योम्नि गच्छन्पतति लक्षशः ॥ ४ ॥
सिन्धोरपि तथैवाऽऽसीच्छक्तिर्लाघवमेव च ।
वरेण वरदस्यैवं विष्णोर्धानुष्कता तयोः ॥ ५ ॥
मुसला नाम ते बाणा मुसलाकृतयोऽम्बरम् ।
छादयामासुरुन्नादाः कल्पान्ताशनयो यथा ॥ ६ ॥
रेजुः कनकनाराचराजयो व्योम्नि सस्वनाः ।
रसन्त्यः कल्पवातार्ताः पतन्त्य इव तारकाः ॥ ७ ॥
विदूरथाच्छरासारा अजस्रमभिनिर्ययुः ।
अब्धेरिव पयःपूराः सूर्यादिव मरीचयः ॥ ८ ॥

राजा ने अपने धनुष को, जिसने चिरकाल से दिङ्-मण्डल को वैसे ही टङ्कार से युक्त था जैसे प्रलयकालीन वायु का आघात सुमेरु के तट को टंकार से युक्त करता है ॥ २ ॥

रोष के आवेग से प्रवृद्ध राजा ने तरकसरूपी रात्रि में बँधे हुए बाणों की परम्परा को वैसे ही छोड़ा जैसे प्रलयकालीन प्रखर सूर्य अपनी किरणों को छोड़ता है ॥३॥

उसकी प्रत्यञ्चा से एक ही बाण जाता था, पर वह आकाश में जाते जाते हजार हो जाता था और लाख होकर गिरता था, (राजा के हस्तलाघव से एक बाण के बाद ही क्षण भर में हजार बाण आकाश में दिखाई देते थे और गिरने तक उनकी संख्या लाखोंतक पहुँच जाती थी ॥ ४ ॥

राजा सिन्धु की भी शक्ति और हस्तलाघव राजा विदूरथ के समान ही थे । वर देनेवाले भगवान् श्रीविष्णु के वरदान से शक्ति की प्राप्ति होने से ही, सिन्धु के राजा की भी आश्चर्यमय धनुष के साथ युद्ध की क्षमता थी ॥५॥

प्रलयकालीन वज्रों के समान प्रचण्डशब्द करनेवाले मूसलाकार मुसलनाम के बाणों ने आकाशतल को आच्छन्न कर दिया ॥ ६ ॥

आकाश में शब्दायमान सोने के बाणों की कतार प्रलयकालीन पवन से पीड़ित शब्द कर रही और गिर रही तारावली के समान अलङ्कृत हुई ॥ ७ ॥

राजा विदूरथ से बाणों की मूसलाधार वृष्टि निरन्तर वैसे ही निकलती गई जैसे समुद्र से जलप्रवाह सदा निकलते रहते हैं और जैसे सूर्य से किरणें निरन्तर निकलती रहती हैं ॥ ८ ॥

प्रचण्डपवनोद्भूतात् पुष्पाणीव महातरोः ।
अयःपिण्डादिवोत्तप्तात्ताडितात् कणपङ्क्तयः ॥ ९ ॥
धारा वर्षमुच इव सीकरा इव निर्झरात् ।
तत्पुराग्निमहादाहात् स्फुलिङ्गा इव भासुराः ॥ १०
तयोश्चटचटास्फोटं शृण्वत्कोदण्डयोर्द्वयोः ।
बलद्वयमभूत् प्रेक्षामूकं शान्त इवाऽम्बुधिः ॥ ११
वहन्ति स्म शरापूरा गङ्गापूरा इवाऽम्बरे ।
सिन्धोरभिमुखं युद्धे घर्घरारावरंहसः ॥ १२
कचत्कनकनाराचशरवर्षा अनारतम् ।
वहच्छवशवाशब्दं निर्ययुर्धनुरम्बुदात् ॥ १३
बाणमन्दाकिनीपूरं व्रजन्तं सिन्धुपूरणे ।
वातायनात् तमालोक्य लीला तत्पुरवासिनी ॥ १४
तेन बाणसमूहेन जयमाशङ्क्य भर्तरि ।
उवाच वाक्यमानन्दविकसन्मुखपङ्कजा ॥ १५

विदूरथ से वे ऐसे निकलते थे, जैसे आँधी से खूब हिलाये गये महावृक्ष से फूल गिरते हैं, जैसे खूब तपाये गये और पीटे गये लोहपिण्ड से चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही विदूरथ के बाण से निकलते थे ॥ ९ ॥

ऐसा मालूम होता था कि वृष्टि करनेवाले मेघ से धाराएँ निकल रही हैं, झरने से जलकण निकल रहे हैं और जैसे उसके नगर में पूर्वोक्त अग्नि महादाह से चमकदार विस्फुलिङ्ग निकल रहे हैं ॥ १० ॥

उन दोनों योद्धाओं के धनुषों के चट-चटशब्द को सुनती हुई दोनों सेनाएँ शान्त सागर के समान स्तब्ध हो गईं ॥ ११ ॥

युद्ध में राजा सिन्धु की ओर घरघरशब्द से युक्त वेगवाले बाणों के प्रवाह वैसे ही बहते थे जैसे सागर की ओर गङ्गाप्रवाह बहते हैं ॥ १२ ॥

'शव' 'शव' शब्द करती हुई धनुषरूपी मेघ से चमक रहे सोने के अग्रभाग वाले बाणों की वृष्टि निरन्तर निकल रही थी ॥ १३ ॥

उस नगर की निवासिनी अर्थात् लीला ने राजा सिन्धु को सागर को भरने के लिए जा रहे बाणों की गङ्गा के उस प्रवाह को खिड़की से भेजकर उस बाण-राशि से अपने पति में विजय की आशा कर मारे

जय देवि ! जयत्येष नाथोऽस्माकं विलोकय ।
किञ्चाऽनेन शरौघेण मेरुरत्येति चूर्णताम् ॥ १६ ॥
तस्यामेवं वदन्त्यां तु घनस्नेहरवाकुलम् ।
प्रेक्षणव्यग्रयोर्देव्योर्हसन्त्योर्मानुषीं हृदा ॥ १७ ॥
तच्छरार्णवमामत्तमपिबत् सिन्धुवाडवः ।
शरोष्मणा ह्यगस्त्येन जह्नुर्मंदाकिनीमिव ॥ १८ ॥
बाणवर्षेण कणशस्तं सायकमहाघनम् ।
छित्त्वा तनुरजः कृत्वा चिक्षेप गगनार्णवे ॥ १९ ॥
यथा दीपस्य शान्तस्य न परिज्ञायते गतिः ।
तस्य सायकसंघस्य न विज्ञाता तथा गतिः ॥ २० ॥
तं छित्त्वा सायकासारं शरीराम्बुधरं घनम् ।
व्योम्नि प्रसारयामास रसाच्छवशतान्वितम् ॥ २१ ॥
विदूरथस्तमप्याशु व्यधमत्सायकोत्तमैः ।
सामान्यजलदं मत्तं कल्पान्तपवनो यथा ॥ २२ ॥

कृतप्रतिकृतैरेवं बाणवर्षैर्महीपती ।
व्यर्थीकृतैरनयतां प्रहारमविचारणैः ॥ २३ ॥
अथाऽऽदधे मोहनास्त्रं सिन्धुर्गन्धर्वसौहृदात् ।
प्राप्तं तेन ययुर्लोका विना मोहं विदूरथात् ॥ २४ ॥
व्यस्तशस्त्राम्बरा मूका विषण्णवदनेक्षणाः ।
मृता इवाऽभवन् योधाश्चित्रन्यस्ता इवाऽथवा ॥ २५ ॥
यावद्विदूरथादन्यं मोहो नयति मन्दताम् ।
तावद्विदूरथो राजा प्रबोधास्त्रमथाऽऽददे ॥ २६ ॥
ततः प्रबोधमापन्नाः प्रजाः प्रातरिवाऽब्जिनी ।
विदूरथेऽभवत् सिन्धुः क्रुद्धोऽर्क इव राक्षसे ॥ २७ ॥
नागास्त्रमाददे भीमं पाशबन्धनखेददम् ।
तेनाऽभवन्नभो व्याप्तं भोगिभिः पर्वतोपमैः ॥ २८ ॥
सर्पैर्विलसिता भूमिर्मृणालैः सरसी यथा ।
सम्पन्ना गिरयः सर्वे कृष्णपन्नगकम्बलाः ॥ २९ ॥

आनन्द से विकसितमुखारविन्दवाली होकर देवी से यह कहा ॥ १४, १५ ॥

हे देवि ! आपकी जय हो, ये हमारे स्वामी विजय प्राप्त कर रहे हैं, आप देखे, इस बाणवृष्टि से, मेरु भी चूर चूर हो सकता है ॥ १६ ॥

पति में गाढ़ प्रेम होने के कारण आकुलतापूर्वक उसके ऐसा कहनेपर तथा युद्धदर्शन में व्यग्र दो देवियों के मनुष्य देह में आत्मबुद्धि करनेवाली उस नगर में निवास करनेवाली लीला के ऊपर हँसने लगी ॥ १७ ॥

सिन्धुरूपी बड़वानल ने अगस्त्य स्थानापन्न हुए बाणरूपी दाह से राजा विदूरथ के बाणसागर को वैसे ही पी डाला जैसे जह्नु ऋषि ने गङ्गाजी को पी डाला था ॥ १८ ॥

राजा सिन्धु ने अपनी बाणवृष्टि से उस बाणसमूहरूपी महामेघ को कणशः काटकर फिर उसे महीन धूली नाकर आकाशरूपी सागर में फेंक दिया ॥ १९ ॥

उस बाणसमुदाय की गति किसी को वैसे ही ज्ञात ों हुई जैसे बुझे हुए दीप की गति नहीं जानी जाती ी दीपक कहाँ गया, यह ज्ञात नहीं होता ॥ २० ॥

राजा सिन्धु ने बाणों की उस तीव्र वृष्टि को समाप्त रण में अतिशय अनुराग होने से शवशरीर रूपी जल धारण करनेवाले सैकड़ों शवों से युक्त मेघ को ाश में फैला दिया ॥ २१ ॥

राजा विदूरथ ने भी उसे अपने उत्तम बाणों से तुरन्त वैसे ही उड़ा दिया जैसे प्रलयकालीन पवन मत्त साधारण मेघ को उड़ा देता है ॥ २२ ॥

दोनों राजाओं के द्वारा इस प्रकार बाणवृष्टि प्रहार और प्रतीकार से, एक दूसरे के अस्त्र को व्यर्थ करने से एक दूसरे को लक्ष्य बनाने से एक प्रहर बिता दिया ॥ २३ ॥

अनन्तर राजा सिन्धु ने गन्धर्वों की मित्रता से प्राप्त विमोहनास्त्र का धनुष में सन्धान किया, उससे विदूरथ से अतिरिक्त सब लोग मोह समन्वित हो गये ॥ २४ ॥

विमोहनास्त्र से राजा विदूरथ के सैनिकों के अस्त्र-शस्त्र और वस्त्र अस्त-व्यस्त मौन हो गये थे, मुँह और नेत्रों में विषाद छा गया था तथा वे मृत के समान हो गये या चित्रलिखित-से हो गये थे ॥ २५ ॥

विदूरथ से अतिरिक्त सम्मोहनास्त्र से उत्पन्न मोह से लोगों को मन्द बनाते बनाते ही राजा विदूरथ ने प्रबोधास्त्र उठाया ॥ २६ ॥

प्रबोधास्त्र के सन्धान से प्रातःकाल में कमलिनी के समान सब लोग जाग उठे, राजा सिन्धु विदूरथपर वैसे ही क्रुद्ध हुआ जैसे सूर्य मन्देह नाम के राक्षसपर क्रुद्ध होता है ॥ २७ ॥

सिन्धु ने भीषण नागास्त्र उठाया, वह पाशबन्धन के द्वारा दुःखदायी था, नागास्त्र से आकाश पर्वताकार सांपों से व्याप्त हो गया ॥ २८ ॥

वैसे ही सफेद सांपों से भूमि वैसे ही बिलसित हुई जैसे मृणालों से तालाब विलास को प्राप्त होता है, सबके सब पर्वत काले सर्परूपी कम्बलों से आच्छन्न हो गये ॥ २९ ॥

पदार्थाः सर्व एवेमे विषोष्मखिन्नतां ययुः ।
सपर्वतवनाभोगा ययौ विवशतां मही ॥ ३० ॥
पूताङ्गारसमाकीर्णं विषवैषम्यशंसिनः ।
ववू रूक्षोष्णनीहारवाता ज्वलनरेणवः ॥ ३१ ॥
विदूरथोऽथ सौपर्णमाददेऽस्त्रं महास्त्रवित् ।
उदगुर्गरुडास्त्रेण सौपर्णाः पर्वता इव ॥ ३२ ॥
काञ्चनीकृतसर्वाशाः सर्वाशा परिपूरकाः ।
पक्षपर्वतसंरम्भजनितप्रलयानिलाः ॥ ३३ ॥
घोणानिलजवाकृष्टश्वसद्भुजगमण्डलाः ।
महाघुरघुरारावपूरिताम्भोधिखण्डकाः ॥ ३४ ॥
स सुपर्णघनोऽपात्तं सर्पौघं भूप्रपूरकम् ।
कृष्टं शलशलायन्तमगस्त्य इव वारिधिम् ॥ ३५ ॥
सर्पकम्बलनिर्मुक्तं भूमण्डलमराजत ।
चिरात्तमवनीरन्ध्रमिव निर्वारिराशि च ॥ ३६ ॥

सभी पदार्थ विष की गर्मी से खिन्न हो गये और पर्वतों तथा वनों की विशालता से युक्त भूमि व्याकुल हो गई ॥ ३० ॥

विष की विषमता के सूचक, आग की चिनगारियों से पूर्ण और हिमशीतल तथा स्निग्ध पदार्थों को भी रूखे और गर्म कर देनेवाली वायु भस्म से शून्य अङ्गारों से व्याप्त होकर बहती थी ॥ ३१ ॥

महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथ ने गारुड अस्त्र को उठाया। गरुडास्त्र से पर्वतों के समान विशालकाय गरुड उदित हुए ॥ ३२ ॥

सम्पूर्ण दिशाओं को सुपर्णमय बना दिया, सब दिशाएँ उनसे छा गईं और परों द्वारा परवाले पर्वतों के तुल्य अपने उड़ने के वेग से उन्होंने प्रलयकाल का वायु उत्पन्न कर दिया ॥ ३३ ॥

अपने श्वास के वेग से फुफकार मार रहे सांपों को खींच लिया तथा महान् घुर, घुर शब्द से समुद्र के कुछ हिस्सों को भर दिया था ॥ ३४ ॥

उस गरुडास्त्र ने भूमि को आच्छन्न करने वाले इधर उधर कष्ट के साथ सरक रहे सर्परूपी प्रवाह को वैसे ही पी डाला जैसे महामुनि श्रीअगस्त्यजी ने भूमि को भरने वाले कष्ट के साथ इधर-उधर सरक रहे चञ्चल प्रवाह वाले समुद्र को पी डाला था ॥ ३५ ॥

जैसा कि वराह भगवान् द्वारा चिरकाल से उद्धृत वारिराशि से निकाला हुआ भूमिमण्डल जैसे शोभित होता है वैसे ही कृष्ण सर्परूपी कम्बलों से शून्य भूमण्डल अलङ्कृत हुआ ॥ ३६ ॥

ततस्तद् गरुडानीकं क्वाऽप्यगच्छददृश्यताम् ।
दीपौघ इव वातेन शरदेवाऽब्दमण्डलम् ॥ ३७ ॥
वज्रभीत्येव पक्षौघपर्वतप्रकरः पुरः ।
स्वप्नदृष्टं जगदिव संकल्पपुरपूरवत् ॥ ३८ ॥
ततस्तमोऽस्त्रमसृजत् सिन्धुरन्धान्धकारदम् ।
तेनाऽन्धकारो ववृधे कृष्णो भूजठरोपमः ॥ ३९ ॥
रोदोरन्ध्रे प्रविसृत एकार्णव इवाऽभवत् ।
मत्स्या इवाऽभवन् सेनास्ताराश्च मणयोऽभवन् ॥ ४० ॥
अन्धकारप्रवृत्तेन मषीपङ्कार्णवोपमम् ।
कज्जलाचलसम्भारोद्भूतकल्पानिलैरिव ॥ ४१ ॥
अन्धकूपे निपतिता इवाऽऽसन् सकलाः प्रजाः ।
कल्पान्त इव संशेमुर्व्यवहारा दिशं प्रति ॥ ४२ ॥
विदूरथोऽथ मार्तण्डं दीपं ब्रह्माण्डमण्डपे ।
अस्त्रं मन्त्रविदां श्रेष्ठः सृष्ट्वाऽमन्त्रो व्यचेष्टयत् ॥ ४३ ॥

जैसे वायु के झोंके से दीपसमुदाय, शरद् ऋतु से मेघमण्डल, वज्र के भय से पक्षयुक्त मैनाक आदि पर्वत-संघात सामने से, स्वप्नदृष्ट नगर लुप्त हो जाता है और मनोरथ से कल्पित नगर तथा जलप्रवाह या नगरों की परम्परा विलुप्त हो जाती है, वैसे ही, वह गरुडों की महती वाहिनी न मालूम कहां चली गई ॥ ३७, ३८ ॥

राजा सिन्धु ने अन्धा बनानेवाले अन्धकार को पैदा करनेवाले तमोस्त्र की सृष्टि की। उसके द्वारा काला और शिला के मध्य के समान सघन अन्धकार बढ़ा। अन्तरिक्ष और भूमिमण्डल के मध्य में फैला हुआ वह सघन अन्धकार एकमात्र सागर के समान हो गया, उसमें दोनों राजाओं की सेनाएं मछलियों के समान और उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में लगे हुए मणिगण तारे के समान हो गये ॥ ३९, ४० ॥

अन्धकार के फैलने से जगत् स्याही के पङ्क के सागर के समान हो गया और अञ्जनपर्वत के उपादानरूप धूलिकणों के साथ उत्पन्न हुए प्रलयवायुओं से परिव्याप्त सा हो गया ॥ ४१ ॥

सब लोग मानो अन्धे कुएँ में गिर गये थे, चारों दिशाओं के, कल्पान्तकाल के समान सब व्यवहार ध्वस्त हो गये थे ॥ ४२ ॥

इसके बाद मन्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ राजा विदूरथ ने ब्रह्माण्डमण्डल में दीपक के समान प्रकाश करनेवाले सूर्यास्त्र की सृष्टि कर गुप्तमन्त्रणा की कोई अपेक्षा किये बिना ही जगत् को सचेष्ट कर दिया ॥ ४३ ॥

अथोदिततमोम्भोधिमर्कागस्त्यो गभस्तिभिः ।
अपिबत्कृष्णमम्भोदं शरत्काल इवाऽमलः ॥ ४४ ॥
अन्धकाराम्बरोन्मुक्ता विरेजुरमला दिशः ।
भूपतेः पुरतः कान्ता इव रम्यपयोधराः ॥ ४५ ॥
ययुः प्रकटतामन्तरखिला वनराजयः ।
लोभकज्जलजालेन मुक्ता इव सतां धियः ॥ ४६ ॥
अथ कोपाकुलः सिन्धू राक्षसास्त्रं महाभयम् ।
क्षणादुदीरयामास मन्त्रोदीर्णशरात्मकम् ॥ ४७ ॥
उदगुर्भीषणा दिग्भ्यः परुषा वनराक्षसाः ।
पातालगजफूत्कारक्षुब्धा इव महार्णवाः ॥ ४८ ॥
कपिलोर्ध्वजटा धूम्राः स्फुटच्चटचटारवाः ।
अग्नयो लेलिहानोग्रजिह्वा आर्द्रेन्धना इव ॥ ४९ ॥
सावर्तवृत्तयो व्योम्नि भीमचीत्कारटाङ्कृताः ।
अग्निदाहा महाधूमविलोला इव सोल्मुकाः ॥ ५० ॥

इसके बाद जैसे निर्मल शरद् ऋतु काले मेघों को पी डालती है वैसे ही सूर्यस्वरूप अगस्त्य ने अपनी किरणों के द्वारा अन्धकार सागर को पी लिया ॥ ४४ ॥

अन्धकाररूपी वस्त्र से उन्मुक्त सुन्दर मेघों से युक्त निर्मल दिशाएँ, वस्त्ररहित रमणीय स्तनमण्डल से संपन्न रमणियों के समान राजा के आगे सुशोभित हुईं ॥ ४५ ॥

सज्जनों के अन्तःकरण में लोभरूपी काजल-समूह से मुक्त बुद्धि के समान सम्पूर्ण वनपङ्क्तियां हो गईं ॥ ४६ ॥

इसके बाद क्रोध से व्याकुल राजा सिन्धु ने एक क्षण में मन्त्र से बाण निकलनेवाले महाभयङ्कर राक्षसास्त्र का, प्रयोग किया ॥ ४७ ॥

राक्षसास्त्र के प्रयोग से दसों दिशाओं से बड़े भयानक और कठोर वनराक्षस निकल आये। वे पाताल में रहनेवाले दिग्गजों की फुफकार से तरङ्गित सागरों के समान थे ॥ ४८ ॥

उनकी जटाएँ कपिल रंग की और ऊपर को खड़ी थी, चट चट शब्द कर रहे थे, उनकी भीषण जीभ लपलपाती हुई, वे ऊपर उठनेवाली लाल ज्वालाओं से युक्त चट चट शब्द कर रही थीं जिसमें गीले, काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता आदि सात उग्र ज्वालाएँ लपलपा रही थीं ऐसी कण्ठवाली अग्नि के समान धूम्रवर्ण के गीले थे ॥ ४९ ॥

भीषण चीत्कारशब्द का टंकार करते हुए वे आकाश में जलभौंरी के समान घूमते थे वे अग्नि के सन्ताप से जल रहे महान् धुंए से चञ्चल उल्मुकधारियों के समान

दंष्ट्राबिसाङ्कुराक्रान्तमुखपङ्काक्षदेहकाः ।
उदिता लोमजम्बाला दुष्पल्वलतटा इव ॥ ५१ ॥
निगिरन्तः प्रधावन्तो गर्जन्तः सर्जिता इव ।
जटाजालतडित्पुञ्जा जलदाः सजला इव ॥ ५२ ॥
एतस्मिन्नन्तरे तस्मिल्लीलानाथो विदूरथः ।
नारायणास्त्रं प्रददे दुष्टभूतनिवारणम् ॥ ५३ ॥
उदीर्यमाण एवाऽस्मिन्नस्त्रराजेऽस्त्रराजयः ।
राक्षसानां प्रशेमुस्ता अन्धकार इवोदये ॥ ५४ ॥
प्रमुष्टराक्षसानीकमभवद् भुवनत्रयम् ।
शरदीव गताम्भोदं व्योम निर्मलमाबभौ ॥ ५५ ॥
अथ सिन्धुर्मुमोचाऽस्त्रमाग्नेयं ज्वलिताम्बरम् ।
जज्वलुः ककुभस्तेन कल्पाग्निज्वलिता इव ॥ ५६ ॥
धूमाम्बुदभराच्छन्ना बभूवुः सकला दिशः ।
गगने प्रोतपातालतिमिराकुलिता इव ॥ ५७ ॥

थे ॥ ५० ॥

दाढरूपी मृणालों से आक्रान्त मुखों से और कीचड़ से मलिन चक्षु इन्द्रियों से युक्त रोमरूपी सेवार से युक्त शरीरवाले वे खराब छोटे तालाबों के तटों के समान उदित थे ॥ ५१ ॥

गरज रहे और लोगों को निगल रहे मानो जगत् को निगलने के लिए ब्रह्मा द्वारा रचे गये वैसे ही बिजली से युक्त थे, जैसे सजल मेघ गरजता है, सूर्य, चन्द्र, तारे आदि ज्योतियों को निगल जाता है और बिजली से युक्त होता है ॥ ५२ ॥

इसी मध्य में युद्धभूमि में लीलापति राजा विदूरथ ने भूतों का विनाश करनेवाला नारायणास्त्र को प्रयोग करने के लिए उठाया ॥ ५३ ॥

इस श्रेष्ठ अस्त्र के उदय लेने पर राक्षसों की वे विविध शस्त्रास्त्रपरम्परा वैसे ही विलीन हो गईं सूर्य के उदय होनेपर जैसे अन्धकार विनष्ट हो जाता है ॥ ५४ ॥

नारायणास्त्र के प्रयोग से तीनों भुवन राक्षसों की महती सेना से शून्य हो गये। राक्षस सेना शून्य त्रिभुवन वैसे ही शोभित हुआ जैसे शरद् ऋतु में मेघों से निर्मुक्त निर्मल आकाश शोभित होता है ॥ ५५ ॥

ऐसी स्थिति में राजा सिन्धु ने आग्नेयास्त्र, जिसने आकाश को प्रज्वलित कर दिया था, छोड़ा उससे दिशाएँ प्रलयकालीन अग्नि से जलाई हुई के समान जलने लगीं ॥ ५६ ॥

धूमरूपी मेघों के संघात से आच्छन्न सम्पूर्ण दिशाएँ

बभूवुर्ज्वलिताकारा गिरयः काञ्चना इव ।
प्रफुल्लघननीरन्ध्रचम्पकौघवना इव ॥ ५८ ॥

ययुर्व्योमाद्रिदिक्कुञ्जा ज्वालाजालजटालताम् ।
कुङ्कुमेनोत्सवे मृत्योः समालब्धा इव स्रजः ॥ ५९ ॥

ज्वलिता जनता चैकशङ्किनी सा नभःस्पृशा ।
सहस्राकृतिनौवेगचलितेनेव सागरात् ॥ ६० ॥

जित्वा रिपुं पुनरसौ यथा प्रहरते तथा ।
वारुणं विससर्जाऽस्त्रं पूजयित्वा विदूरथः ॥ ६१ ॥

आययुः सलिलापूरास्तमःपूरा इवाऽभितः ।
अधस्तादूर्ध्वतो दिग्भ्यो द्रवरूपा इवाऽद्रयः ॥ ६२ ॥

भागा इव शरव्योम्नि धृतयाना इवाऽम्बुदाः ।
महार्णवा इवोच्चस्थाः कुलशैलशिला इव ॥ ६३ ॥

तमालौघा इवोड्डीनाः सन्धिता इव रात्रयः ।
कज्जलौघा इवोद्भूता लोकालोकतटादिव ॥ ६४ ॥

आकाश में गूंथे हुए पाताल के अन्धकार से आकुल के समान हो गईं ॥ ५७ ॥

जले हुए पर्वत सोने के से लगते थे और फूले हुए और अत्यन्त घने चम्पा वृक्षों के वनों से अलङ्कृत के समान लगते थे ।। ५८ ।।

आकाश, पर्वत और दिशामण्डल मृत्यु के उत्सव में कुङ्कुम से सींची गई मालाओं के समान अग्नि की ज्वालाओं के जाल से जटिलता को प्राप्त हो गये ॥ ५९॥

हजारों आकृत वाले नौका के वेगों से सागर से आगत आकाशचुम्बी बड़वानल से जगत् को ही अग्नि रूप की संभावना करती हुई जनता जलाई जा रही थी ।। ६० ।।

राजा विदूरथ ने आग्नेय अस्त्र को जीतकर शत्रुभूत सिन्धुपर जिसप्रकार यह अस्त्र प्रहार करने में समर्थ हो वैसे पूजा करके वारुणास्त्र का प्रयोग किया ।। ६१ ।।

उस अस्त्र के प्रयोग से शरों के मार्ग के अवकाश में दसों दिशाओं के चारों ओर से अन्धकार के प्रवाह के समान द्रवरूप पर्वतों के समान स्थिर गति (निश्चल) बादलों के समान महासागर के समान और ऊपर से नीचे को लुढ़काई गई कुलपर्वतों की चट्टानों के समान जल-प्रवाह आने लगे ।। ६२, ६३ ॥

बाणों के मार्गभूत आकाश में उड़े हुए तमालवृक्षों के झुण्ड आपस में एक दूसरे से पिराई हुई रात्रियां लोकालोक पर्वत की तलहटी से निकले हुए असंख्य

रसातलगुहाभोगा इव व्योमदिदृक्षवः ।
महाघुरघुरारावरंहोबृंहितमूर्तयः ॥ ६५ ॥

तामग्निसन्ततिं मत्तामाचचामाऽम्बुसन्ततिः ।
भुवनव्यापिनी सन्ध्यामाशु कृष्णे च यामिनी ॥ ६६ ॥

तामग्निसन्ततिं पीत्वा पूरयामास भूतलम् ।
जलश्रीर्जर्टितं देहं निद्रेव व्यक्तिमेयुषी ॥ ६७ ॥

एवंविधानस्त्रमोहान् विदधुर्धावनेतरे ।
मिथो मायामयानग्रे पश्यन्त्यनुभवन्ति च ॥ ६८ ॥

हेतिभास्वराः सिन्धोश्चक्ररक्षास्ततोऽम्भसा ।
तृणानीव गताः प्रोह्य रथश्चाऽस्याऽभवत्प्लुतः ॥ ६९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे सिन्धुरस्त्रं सस्मार शोषणम् ।
आपत्त्राणकरं दैवं ददौ च शररूपिणम् ॥ ७० ॥

शशामाऽम्बुमयी माया तेन यामेव भास्वता ।
ये मृतास्ते मृता एव बभूवुः शोषिता भुवः ॥ ७१ ॥

काजल के अन्धकाररूपी ढेर आकाश के दर्शनों की तीव्र इच्छावाली विशालकाय पाताल की गुफाएँ ही मानो वे जल-प्रवाह थे, जिनकी स्वभावतः विशाल देह महान् घुरघुर शब्द के वेग से और भी अधिक बढ़ गई थी ॥ ६४, ६५ ॥

जलसंघात ने उन्मत्त उस अग्निसंघात को वैसे ही पी डाला जैसे भुवनव्यापिनी काली रात सन्ध्या को शीघ्र ही पी डालती है ॥ ६६ ॥

जलराशि ने महान् विस्तार को प्राप्त उस अग्नि को पाकर पहले ज्वालाओं से व्याप्त भुवनतल को वैसे ही भर दिया जैसे प्रकट होती हुई निद्रा श्रम से श्रान्त शरीर को भर देती है ।। ६७ ।।

पूर्व अस्त्र द्वारा की गई अपनी मलिनता को हटाने वाले तथा उनसे विरुद्ध अस्त्रवेत्ताओं ने परस्पर ऐसे मायिक अस्त्रमोह किये, वे अपने सामने स्वयं देखते थे और शत्रु के विनाशरूप फल द्वारा उनका अनुभव भी करते थे ।। ६८ ।।

इसी अवसर पर सिन्धु को शोषणास्त्र स्मरण हुआ । उसने आपत्ति से बचानेवाले तथा देव से प्राप्त शररूपी शोषणास्त्र का धनुष में सन्धान किया ।। ७० ।।

सूर्य के उदय से निशा के समान शोषणास्त्र से जल-मयी माया शान्त हो गई जो मर चुके थे, वे मरे ही रह गये, किन्तु भूमितल सूख गया ।। ७१ ।।

अथ मूर्खरुषा तुल्यस्तापः सन्तापयन् प्रजाः ।
जजृम्भे झर्झराकीर्णवनविस्तारकर्कशः ॥ ७२ ॥
कचत्कनकनिःस्यन्दसुन्दराङ्गच्छविर्दिशाम् ।
आसीद्राजवरस्त्रीणामिवाऽऽलेपोऽङ्गसङ्गतः ॥ ७३ ॥
तेन धर्ममयीं मूर्च्छामाजग्मुस्तद्विरोधिनः ।
ग्रीष्मदावानलोत्तप्ता मृदवः पल्लवा इव ॥ ७४ ॥
विदूरथो रणोद्रेके तावत् क्रेङ्कारमाततम् ।
कोदण्डं कुण्डलीकृत्य पर्जन्यास्त्रमथाऽऽददे ॥ ७५ ॥
उदगुः पङ्क्तियोऽब्दानां यामिन्य इव सञ्चिताः ।
तमालविपिनोड्डीनसंरम्भादम्बुमन्थराः ॥ ७६ ॥
वामना वारिपूरेण गर्जनोद्दामसंचराः ।
महिम्ना मन्थराशेषककुम्मण्डलकुण्डलाः ॥ ७७ ॥
ववुरावलितासारा मेघडम्बरभेदिनः ।

इसके बाद मूर्ख के क्रोध के समान लोगों को क्लेश पहुँचा रहा सूर्यताप, सूखे हुए पत्तों से इधर-उधर चारों ओर व्याप्त विशाल वनों से अधिक कर्कश था, वह अतिशय बढ़ने लगा ॥ ७२ ॥

राजाओं की उत्तम स्त्रियों के शरीर में लगे हुए केसर आदि के अङ्गलेप के समान दिशाओं की चमचमा रहे सुवर्ण के द्रव के समान सुन्दर शरीरशोभा अवगत होती थी ॥ ७३ ॥

शोषणास्त्र से राजा सिन्धु के विरोधी ग्रीष्म ऋतु की वनाग्नि से अतिशय सन्तप्त कोमल-कोमल पल्लवों के समान ताप से होनेवाली मूर्च्छा को प्राप्त होने लगे थे ॥ ७४ ॥

इसके बाद रणभूमि की भयङ्करता के बढ़ने पर राजा विदूरथ ने प्रत्यञ्चाशब्द की शोभा से व्याप्त धनुष को तानकर पर्जन्य अस्त्र का अनुसन्धान किया ॥ ७५ ॥

एक स्थान में ढेर लगा रक्खी हुई रात्रितों के समान [ज]लपूर्ण होने के कारण मन्दगामिनी मेघपङ्क्तियां तमाल [व]नों के आकाश में उड़ने की लीला से उदय हो [ग]यी ॥ ७६ ॥

उक्त मेघपङ्क्तियां जलराशि से नमने के कारण उन्नत नहीं थीं, गर्जन और तर्जन से उनका गमन बड़ा उद्दाम था, तिरछे विस्तार से अमन्थर और स्वाभाविक विस्तार से कुण्ठितगति के समान संकुचित सम्पूर्ण दिशामण्डल उनके कुण्डल ही गये थे ॥ ७७ ॥

कीर्णसीकरनीहारभारोदाराः समीरणाः ॥ ७८ ॥
प्रपुस्फुरुः सुसौवर्णसर्पापत्सरणोपमाः ।
विद्युतो दिवि दैव्यस्त्रीकटाक्षवलना इव ॥ ७९ ॥
जुघूर्णुर्गर्जनोच्छूनप्रतिश्रुद्घनकन्दराः ।
दिशश्चलितमातङ्गसिंहर्क्षरवघर्घराः ॥ ८० ॥
महामुसलधाराभिः पेतुरासारवृष्टयः ।
कष्टटङ्कारकठिनाः कृतान्तस्येव दृष्टयः ॥ ८१ ॥
उदभूत् प्रथमं बाष्प उष्णोऽनलनिभो भुवः ।
पातालादभ्रवृन्दानां युद्धायेवाऽऽत्तविभ्रमः ॥ ८२ ॥
ततो निमेषमात्रेण प्रशेमुर्मृगतृष्णिकाः ।
परबोधरसापूरैर्यथा संसारवासनाः ॥ ८३ ॥
आसीत् पङ्काङ्कमखिलं भूमण्डलमसञ्चरम् ।
पूरितः पूर्णधाराभिः सिन्धुः सिन्धुरिवाऽम्बुना ॥ ८४ ॥

इधर उधर बिखरे हुए जलबिन्दुओं और शैत्यराशि से सुखदायक, मेघाडम्बर को भिन्न करनेवाले और मुसलाधार वृष्टि से व्याप्त वायु बहने लगी ॥ ७८ ॥

सोने के साँप किसी बहुत बड़ी आपत्ति से अतिशय उतावली के साथ निकल रहे हों इस प्रकार अप्सरागण के कटाक्ष-विक्षेप के समान गगन में बिजली चमक रही थी ॥ ७९ ॥

कन्दराएँ मेघों के गर्जन की बढ़ी-चढ़ी प्रतिध्वनियों से व्याप्त थीं और मेघगर्जन सुनने के पश्चात् 'हमारे सामने यह कौन गरज रहा है' इस प्रकार क्रोधपूर्वक सामने दौड़े हुए हाथियों, सिंहों और रीछों के प्रतिगर्जन से विपुल कोलाहल हो रहा था, ऐसी दिशाएँ घूमने लगीं ॥ ८० ॥

ओले के गिरने पर कष्टदायक टं टं ध्वनियों से कठोर धारा सम्पात वर्षा बड़ी-बड़ी मूसलाधारों से होने लगी। वह वृष्टि क्या थी मर्मस्थान और नसों को तोड़ने की ध्वनियों से क्रूर यम की ही दृष्टि थी ॥ ८१ ॥

ऐसा प्रतीत होता था प्रथम मेघों के युद्ध के लिए शूरवीरता को धारण किये के समान अग्नि के सदृश गर्म पृथिवी का भाप पाताल से निकला ॥ ८२ ॥

अनन्त परमात्मा के बोधरूप निरतिशय आनन्द-प्रवाह से सांसारिक वासनाओं के समान मृगतृष्णा को पैदा करनेवाली प्रचण्ड धूप पर्जन्यास्त्र से एकपलक में ही शान्त हो गयी ॥ ८३ ॥

सारा भूमण्डल कीचड़ से पङ्कमय था, उसमें चलना भी कठिन हो गया था सिन्धुराजा जलधाराओं से ऐसा

वायव्यमस्त्रमसृजत् पूरिताकाशकोटरम् ।
कल्पान्तनृत्तसम्मत्तरटद्भैरवभीषणम् ॥ ८५ ॥
ववुरशनिनिपातपीडिताङ्गा
दलितशिलासकलाः ककुम्मुखेषु ।
प्रलयसमयसूचका भटानां
कृतपटुताङ्कृतटङ्किनः समीराः ॥ ८६ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
आयुधवर्णनं नाम अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

पूर्ण हो गया जिसतरह जलराशि से समुद्र भर जाता है ॥ ८४ ॥

जलधाराओं से व्याप्त सिन्धु राजा ने वायव्य अस्त्र का प्रयोग किया। वायव्यास्त्र ने आकाशरूपी कोटर को प्रलयकाल के नृत्य में मत्त और गा रहे भैरव के सदृश भीषण वायु से पूर्ण कर दिया ॥ ८५ ॥

दसों दिशाओं में प्रबल आँधी बहने लगी। उक्त आँधी ने प्राणियों के अङ्गों को वैसे ही व्यथित कर डाला जैसे वज्र गिरने से लोगों के शरीर में दर्द होता है, बड़ी-बड़ी शिलाओं के टुकड़ों को तोड़ डाला, योधाओं के प्रलयकाल की सूचना करनेवाले एवं भटों के प्रतिभटों द्वारा किये गये बड़े-बड़े टङ्कारों अर्थात् शिलाओं को तोड़ने की ध्वनियों से पत्थरों को तोड़ने के घनों से युक्त के समान थी ॥ ८६ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में
आयुधवर्णन नामक कुसुमलता का अड़तालीसवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४८ ॥

४९

श्रीवसिष्ठ उवाच

ववुर्वलितनिहारा विकीर्णवनपल्लवाः ।
वायवो धूतवृक्षौघाः सल्लीलापीडपांसवः ॥ १ ॥
पक्षिवद्भ्रान्तवृक्षौघाः पतनोत्पातनोद्भटाः ।
विकुट्टिताट्टालखण्डाश्चाऽभ्रभित्तिविभेदिनः ॥ २ ॥
तेनाऽतिभीमवातेन विदूरथरथोऽप्यथ ।
उह्यमानोऽभवन्नद्या यथा जर्जरपल्लवः ॥ ३ ॥
विदूरथोऽथ तत्याज पार्वतास्त्रं महास्त्रवित् ।
व्योमाऽपि घनतोयेन समादातुमिवोद्यतम् ॥ ४ ॥
तेन शैलास्त्रघातेन विराट् प्राणसमीरणः ।
शमं चैतन्यशान्त्येव प्रययौ वायुराततः ॥ ५ ॥
अन्तरिक्षगता वृक्षपङ्क्तयः पतिता भुवि ।
नानाजनशवव्यूहे काकानामिव कोटयः ॥ ६ ॥
शेमुः सूत्कारडात्कारभाङ्कारोत्कारका दिशाम् ।
प्रलापा इव विध्वस्ताः पुर्ग्रामवनवीरुधाम् ॥ ७ ॥

४९

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—तुषार से मिली हुई वायु बहने लगी, वन के पल्लवों को अस्तव्यस्त कर दिया, वन के वृक्षों को कँपा दिया और जितने मूर्तिमान् पदार्थ थे, उनके मस्तकों में धूलि को लीला से शिरोभूषण बना दिया ॥ १ ॥

वायु ने वृक्षों के झुण्ड के झुण्ड को पक्षियों के समान आकाश में उड़ा दिया, बड़े-बड़े भटों को पृथिवी में पछाड़ दिया और आकाश में उड़ा दिया, बड़े-बड़े महलों की अटारियों के हिस्सों को चूर-चूर कर दिया और बादल-रूपी भीत को छिन्न-भिन्न कर दिया ॥ २ ॥

उस भीषण वायु से राजा विदूरथ का रथ भी जैसे जीर्ण पत्ता नदी के वेग से बहाया जाता है, वैसे ही बहा दिया गया ॥ ३ ॥

अनन्तर महास्त्रवेत्ता राजा विदूरथ ने मेघ-जल के साथ आकाश को भी ग्रसने के लिए उद्यत पर्वतास्त्र को छोड़ दिया ॥ ४ ॥

उस पर्वतास्त्र के प्रहार से सर्वत्र व्याप्त भयङ्कर वायु ऐसे शान्ति को प्राप्त हुआ जैसे कि तत्त्वज्ञान होने से, मायारूप कारण का नाश हो जाने पर जैसे कार्य विराट् सूत्रात्मा शान्त हो जाता है वैसे ही पर्वतास्त्र के प्रयोग से भयङ्कर विराट् वायु शान्त हो गई ॥ ५ ॥

पहले वायु के कारण आकाश में गई हुई वृक्ष-पङ्क्तियाँ वैसे ही पृथिवी में गिरीं जैसे अनेक लोगों के शवों के ढेर में करोड़ों कौए गिरते हैं ॥ ६ ॥

जैसे नगर, गांव, वन और लताओं के निरर्थक

गिरीनपश्यन्नभसः पततः पत्रवर्णवत् ।
सिन्धुः सिन्धुरिवोत्पक्षान्मैनाकादीनितस्ततः ॥ ८ ॥
वज्रास्त्रमसृजद्दीप्तं चेरुर्वज्रगणास्ततः ।
पिबन्तोऽद्रीन्द्रतिमिरमग्निदाहमिवाऽग्नयः ॥ ९ ॥
ते गिरीणां तथा क्षिप्ताः कोटितुण्डावखण्डनैः ।
शिरांसि पातयामासुः फलानीवोल्बणानिलाः ॥ १० ॥
विदूरथोऽथ वज्रास्त्रशान्त्यै ब्रह्मास्त्रमत्यगात् ।
ततो ब्रह्मास्त्रवज्रास्त्रे समं प्रथममागते ॥ ११ ॥
श्यामाश्मामं पिशाचास्त्रमथ सिन्धुरचोदयत् ।
तेनोदगुः पिशाचानां पङ्क्तयोऽत्यन्तभीतिदाः ॥ १२ ॥
सन्ध्यायामथ भीत्येव दिवसः श्यामतां ययौ ।
पिशाचा भुवनं जग्मुरन्धकारभरा इव ॥ १३ ॥

वर्णनवचन विध्वस्त होते हैं वैसे ही दिशाओं के सूत्कार, डात्कार, भांकार और उत्कार शान्त हुए ॥ ७ ॥

जैसे सागर ने प्राचीन काल में अपने ऊपर इधर-उधर उड़ते हुए परयुक्त मैनाक आदि पर्वतों को देखा था, से ही राजा सिन्धु ने आकाश से पत्ते के तुल्य गिर रहे र्वतों को देखा ॥ ८ ॥

इसके बाद राजा सिन्धु ने दीप्त वज्रास्त्र की सृष्टि की। उससे जैसे अग्नि से दाह निकलती है बड़े-बड़े पर्वतरूपी अन्धकार को गिरा रहे वज्रों के वैसे झुण्ड के झुण्ड निकले ॥ ९ ॥

जैसे आंधी फलों को गिरा देती है वैसे ही वज्रों ने अपने करोड़ों मुखों द्वारा काटने से पर्वतों के शिखरों को ऐसे गिरा दिया ॥ १० ॥

इसके बाद राजा विदूरथ ने वज्रास्त्र की शान्ति के लिए अन्यान्य अस्त्रों का अतिक्रमण कर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। इस ब्रह्मास्त्र के छोड़ने पर ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ शान्त हो गये ॥ ११ ॥

सिन्धु राजा ने अँधियारी रात्रि के समान काले शाचास्त्र का प्रयोग किया। उसके द्वारा अत्यन्त षण अतिशय भयप्रद पिशाचों की पङ्क्तियों की ङ्क्तियां निकलीं ॥ १२ ॥

उन पिशाचों की पङ्क्तियों से जैसे सन्ध्या के समय कोई आदमी भयभीत हो काला हो जाता है, वैसे ही दिन भी भय से मानो काला हो गया। अन्धकार के समूह की तरह पिशाच भुवन में व्याप्त हुए ॥ १३ ॥

उनमें से कोई जले हुए स्तम्भों की तरह काले थे,

भस्मनः स्तम्भसदृशास्तालोत्तालविलासिनः ।
दृश्यमानमहाकारा मुष्टिग्राह्या न किञ्चन ॥ १४ ॥
ऊर्ध्वकेशाः कृशाङ्गाश्च केचिच्च श्मश्रुला अपि ।
कृष्णाङ्गा मलिनाङ्गश्च ग्राम्या इव नभश्चराः ॥ १५ ॥
सभया मूढदृष्टाश्च यत्किञ्चनकराश्चलाः ।
दीना वज्रासिनः क्रूरा दीना ग्राम्यजना इव ॥ १६ ॥
तरुकर्दमरथ्यान्तःशून्यगेहगृहाश्चलाः ।
लेलिहानाः प्रेतरूपाः कृष्णाङ्गाश्चपला इव ॥ १७ ॥
जगृहुस्ते तदा मत्ता हतशिष्टमरेर्बलम् ।
आसंस्तत्सैनिकास्तत्र भिन्नास्त्रक्षुब्धचेतनाः ॥ १८ ॥
त्यक्तायुधतनुत्राणास्त्रस्तप्राणाः स्खलद्गमाः ।
नेत्रैरङ्गैर्मुखैः पादैर्विकारभरकारिणः ॥ १९ ॥

कोई ताड़ के पेड़ के समान ऊँचे थे, किन्हीं का महान् आकार दिखाई दे रहा था, कोई हाथ से छूने योग्य यानी कम ऊँचे थे और कोई अदृश्य थे ॥ १४ ॥

किसी के ऊपर को खड़े केश थे, कोई बड़े दुबले पतले थे, कोई मोछ-दाढ़ीवाले थे, कोई काले थे, किन्हीं का शरीर ग्रामीण पुरुषों के समान बड़ा गन्दा था और कोई आकाशचारी थे ॥ १५ ॥

कोई केवल अपवित्र लोगों के दृष्टिगोचर होते थे, किसी के हाथ में हड्डी, नरमुण्ड आदि वस्तुएं थीं, कोई चञ्चल थे, कोई दीन-हीन थे, कोई वज्र और तलवार से भी बढ़कर क्रूर थे, कोई ग्रामीण दरिद्रों की तरह दीन-हीन थे ॥ १६ ॥

वृक्ष, कीचड़, रथ्या के भीतर और शून्य घर में उनका निवास था और वे बड़े चञ्चल थे। उनमें से कोई अपनी जिह्वाओं को लपलपा रहे थे, किन्हीं का स्वरूप प्रेतों के तुल्य था, किन्हीं का अङ्ग काला था, कोई बिजली के समान स्वरूपवाले थे, कभी दृश्य और कभी अदृश्य हो जाते थे ॥ १७ ॥

मदोन्मत्त उन लोगों ने मरने से बचे हुए शत्रु के सैनिकों को पकड़ना आरम्भ किया। वहां पर सैनिकों की बुरी हालत हुई। किन्हीं के अस्त्र-शस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये थे और चेतनाशक्ति नष्ट हो गयी थी ॥ १८ ॥

किसी के हथियार, कवच अलग हो गये थे, कोई मारे भय के दुबके हुए थे और कोई बारबार ठोकर खाकर चल रहे थे। वे सब नयन, मुख, पैर और अन्यान्य अङ्गों से विभिन्न भूताविष्ट-चेष्टाएँ कर रहे थे ॥ १९ ॥

त्यक्तकौपीनवसना निमग्ना वसनोत्तराः ।
विष्ठां मूत्रं च कुर्वन्तः स्थिरमारब्धनर्तनाः ॥ २० ॥
पिशाचराजो राजानं तस्य यावद्विदूरथम् ।
समाक्रामति तावत्तां मायां स बुबुधे बुधः ॥ २१ ॥
पिशाचसङ्ग्रामकरीं मायां वेत्ति स भूमिपः ।
तथा पिशाचसैन्यं तत् परसैन्ये न्ययोजयत् ॥ २२ ॥
ततः स्वसैनिकाः स्वस्थाः परयोधाः पिशाचिनः ।
तस्याऽऽशु रूपिकास्त्रं च ददावन्यदसौ रुषा ॥ २३ ॥
उदगुर्भूतलाद्व्योम्नो रूपिका ऊर्ध्वमूर्धजाः ।
निर्मग्नविकरालाक्ष्यश्चलच्छ्रोणिपयोधराः ॥ २४ ॥
उद्भिन्नयौवना वृद्धाः पीवराङ्ग्योऽथ जर्जराः ।
स्वरूपारूपजघना दुर्नाभ्यो विकसद्भगाः ॥ २५ ॥
नररक्तशिरोहस्ताः सन्ध्याभ्रारुणगात्रिकाः ।

उनमें से कुछ ने कौपीन और वस्त्रों का त्याग कर दिया था, कुछ के ऊपर के और नीचे के वस्त्रहीन संकुचित अंग थे, कुछ खड़े होकर मल-मूत्र का त्याग कर रहे थे और कुछ ने नाचना आरम्भ कर दिया था ॥ २० ॥

सिन्धु राजा की पिशाच सेना जब विदूरथ के ऊपर आक्रमण करना चाहती थी, तभी अतिशय बुद्धिमान् राजा विदूरथ ने, माया को जान लिया ॥ २१ ॥

राजा विदूरथ पिशाचों से संग्राम करने वाली माया को जानता था, उसने उस माया के द्वारा पिशाचों की उस सेना को शत्रु-सेना से भिड़ा दिया ॥ २२ ॥

अनन्तर राजा विदूरथ के अपने सैनिक तो स्वस्थ हो गये और शत्रु के सैनिक पिशाचों से आविष्ट होकर उनके समान गतिविधि वाले हो गये। राजा विदूरथ ने कोप से उसके सहायक दूसरे रूपिकास्त्र का भी प्रयोग कर दिया ॥ २३ ॥

खड़े हुए केशवाली गड्ढे से घुसी हुई विकराल नेत्र वाली तथा चञ्चल कटिभाग और स्तन-मण्डल से युक्त अनेक पूतनाएँ भूतल और आकाश से उत्पन्न हो गईं ॥ २४ ॥

उनमें से किन्हीं की जवानी उभरी हुई थीं, कुछ बुढ़िया थीं, कुछ बड़ी मोटी थीं और कुछ का शरीर जीर्ण-शीर्ण कृश था, किन्हीं के जघन अपने स्वरूप के अनुरूप थे और किन्हीं के स्वरूप के अनुरूप नहीं थे, किन्हीं की नाभियां बड़ी घृणित थीं और कुछ अनावृत गुप्त अंग वाली थी ॥ २५ ॥

अर्धचर्वितमांसासृक्स्रवत्सृक्क्याकुलाननाः ॥ २६ ॥
नानाङ्गवलना नानानमन्नमनसत्तमाः ।
शिलाभुजगवक्त्रोरुकटिपार्श्वकराङ्घ्रिकाः ॥ २७ ॥
नारीकृतार्भकशवा हस्ताकृष्टान्त्ररज्जवः ।
श्वकाकोलूकवदना निम्नवक्त्रहनूदराः ॥ २८ ॥
जगृहुस्तान् पिशाचांस्ता दुर्बलान् दुःशिशूनिव ।
पिशाचारूपिकासैन्यं तदासीदेकतां गतम् ॥ २९ ॥
निर्मग्ननर्तनोत्तानवदनाङ्गविलोचनम् ।
परस्पराक्रान्तिकरं प्रधावच्च परस्परम् ॥ ३० ॥
निष्कासितमहाजिह्वं नानामुखविकारदम् ।
शरभाराढ्यमन्योन्यं ह्रियमाणशवाङ्कम् ॥ ३१ ॥
रुधिराम्भसि मज्जन्तदुन्मज्जद्वल्लसत्तनु ।
लम्बोदरं लम्बभुजं लम्बकर्णोष्ठनासिकम् ॥ ३२ ॥

सन्ध्याकाल के मेघ के समान लाल शरीर आधा चबाये हुए माँस और खून को बहा रहे ओठों के प्रान्तों से व्याप्त मुँह कतिपय पूतनाओं ने नर-रुधिरपूर्ण खप्पर हाँथ में ले लिया था ॥ २६ ॥

भाँति-भाँति के अनम्र लोगों को नवाँने मैं समर्थ वे पिशाचियां विविध प्रकार की अङ्गचेष्टाएँ कर रही थीं, उनके मुँह, जंघा, कमर, पसली, भुजाएँ और अन्यान्य अङ्ग शिलाओं की नाईं कठोर और सांपों की तरह टेढ़े मेड़े थे ॥ २७ ॥

बच्चों के शवों की नरमाला पहने हुई हाथ से मनुष्यों की आतड़ी रूपी रस्सी को खींचती हुई, कोई कुत्ते को, कोई कौए के, कोई कुत्ते के, कोई उल्लू के समान मुखवाली थी। उनके मुँह, ठेहुन और पेट गहरे थे ॥ २८ ॥

उन्होंने उन दुर्बल पिशाचों को दुष्ट बच्चों की तरह पतिरूप से पकड़ लिया, इसके बाद रूपिकाओं और पिशाचों की वह सेना एक में मिल गई ॥ २९ ॥

नाचने के कारण उतान मुख अङ्ग और नयन वाले क्रीड़ारस में अत्यन्त मग्न, वे परस्पर एक दूसरे के ऊपर आक्रमण कर रहे थे तथा परस्पर दौड़ रहे थे ॥ ३० ॥

उन्होंने विशाल जिह्वा बाहर निकाल रक्खी थी, नाना प्रकार के मुँह विकार से युक्त थे, रुधिरमण्ड के भार से वे आक्रान्त थे, परस्पर एक दूसरे की प्रसन्नता के लिए शवों को ले जा रहे थे ॥ ३१ ॥

वे रुधिररूपी जल में बार-बार डूबकर ऊपर को

रक्तमांसमहापङ्केष्वन्योन्यं वेल्लनाभ्यसत् ।
मन्दरोद्धूतदुग्धाब्धिलसत्कलकलाकुलम् ॥ ३३ ॥
यथैव मायासञ्चारस्तेन तस्य कृतः पुरा ।
तेनाऽपि तस्याऽऽशु तथा कृतो बुद्ध्वा स लाघवात् ॥३४॥
वेतालास्त्रं ततो दत्ते तेनोत्तस्थुः शवव्रजाः ।
अमूर्धानः समूर्धानो वेतालावेशवल्लिताः ॥ ३५ ॥
ततः पिशाचवेतालरूपिकोग्रकबन्धवत् ।
तद्बभूव बलं भीममुर्वीनिगरणक्षमम् ॥ ३६ ॥
अथेतरोऽपि भूपालो मायां संचार्य तां गुरौ ।
राक्षसास्त्रं ससर्जाऽथ त्रैलोक्यग्रहणोन्मुखम् ॥ ३७ ॥
उदगुः पर्वताकाराः सर्वतः स्थूलराक्षसाः ।
देहमाश्रित्य निष्क्रान्ताः पातालान्नरका इव ॥ ३८ ॥
अथोदभूद् बलं भीमं ससुरासुरभीतिदम् ।
गर्जद्रक्षोमहानादवाद्यनृत्यत्कबन्धकम् ॥ ३९ ॥
मेदोमांसोपदंशाढ्यं रुधिरासवसुन्दरम् ।
क्षीबकूष्माण्डवेतालयक्षताण्डवसुन्दरम् ॥ ४० ॥
कूष्माण्डकोत्ताण्डवदण्डपाद
क्षुब्धासृगुक्षिप्ततरङ्गसिक्तैः ।
सन्ध्याभ्ररागोत्करकोटिकान्ति-
भूतैरसृक्स्रोतसि दत्तसेतु ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
तृतीयस्त्रयुद्धं नाम एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

आते थे, उनके शरीर बह रहे खून से लथपथ देदीप्यमान थे, पेट, भुजाएँ, कान, ओठ और नासिका ये बड़े लम्बे थे ॥ ३२ ॥

रुधिर और मांस के कीचड़ में वे परस्पर लोट-पोट कर रहे थे और मन्दराचल से मथे जा रहे क्षीरसागर के समान विपुल कोलाहल से वे व्याप्त थे ॥ ३३ ॥

जैसे ही पहले राजा विदूरथ ने राजा सिन्धु की माया का संचार (उसकी माया को लौटाकर उसी के ऊपर डालना) किया था, वैसे ही राजा सिन्धु ने भी जानकर बड़ी शीघ्रता और फुर्ती के साथ उसकी माया का संचार उसी के ऊपर वैसे ही कर दिया जैसे राजा विदूरथ ने सिन्धु राजा की माया का प्रयोग लौटाकर उस पर कर दिया था ॥ ३४ ॥

इसके बाद पिशाचास्त्र से उत्पन्न पिशाच और रूपिकाओं की सेना की सहायता के लिए राजा सिन्धु ने वेतालास्त्र का प्रयोग किया, वेतालों के आवेश से चलाये गये सिर रहित और सिर सहित ऐसे मुर्दों के झुण्ड के झुण्ड उत्पन्न हुए ॥ ३५ ॥

इसके बाद पिशाच, वेताल, पूतना और भीषण कबन्धों से परिपूर्ण वह भीषण सेना पृथिवी को निगलने में समर्थ हो गई ॥ ३६ ॥

अनन्तर राजा विदूरथ ने भी पहले प्रयोग करने के कारण शिक्षक तुल्य राजा सिन्धु पर उस माया को लौटाकर तीनों लोकों को ग्रसने में तत्पर राक्षसास्त्र की सृष्टि की ॥ ३७ ॥

नरक ही मानो देह-धारण कर पाताल से निकला हो ऐसा चारों ओर से पर्वताकार स्थूलकाय राक्षसों का आविर्भाव हुआ, मालूम होता था ॥ ३८ ॥

इसके बाद देवता और असुरों को भयभीत करने वाली बड़ी भीषण राक्षस सेना जिसमें गरज रहे राक्षसों के महान् सिंहनाद रूपी बाजे से कबन्ध नाच रहे थे, उत्पन्न हुई ॥ ३९ ॥

वह सेना मेदा और मासरूप उपदंश से मद्य के ऊपर रुचने वाली वस्तु भरी थी, रुधिररूपी मद्य से रंगी थी और मत्त कूष्माण्ड, वेताल और यक्षों के ताण्डव नृत्य से बड़ी प्रिय लगती थी ॥ ४० ॥

कूष्माण्डकों के ताण्डव नृत्य में दण्डपाद से विक्षुब्ध रुधिर की उठी हुई तरङ्गों से सींचे गये प्राणियों के द्वारा उस सेना ने रुधिर के प्रवाह पर संध्याकाल के मेघ की प्रचुर लालिमा से भी करोड़ गुना अधिक कान्ति सम्पन्न पुल बांध रक्खा था ॥ ४१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में तृतीयास्त्रयुद्ध नामक ऊनचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ४९ ॥

५०

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्मिंस्तदा वर्तमाने घोरे समरविभ्रमे ।
सर्वारिसैन्यनाशार्थमेकं स्वबलशान्तये ॥ १ ॥
सस्मार स्मृतिमानन्तो महोदाराधिधैर्यभृत् ।
अस्त्रमस्त्रेश्वरं श्रीमद्वैष्णवं शङ्करोपमम् ॥ २ ॥
अथ योऽसौ शरस्तेन वैष्णवास्त्राभिमन्त्रितः ।
मुक्तस्तस्य फलप्रान्तादुल्मुकादि विनिर्ययौ ॥ ३ ॥
पङ्क्तयः स्फारचक्राणां शतार्कीकृतदिक्तटाः ।
गदानामभियान्तीनां शतवंशीकृताम्बराः ॥ ४ ॥
वज्राणां शतधाराणां तृणराजीकृताम्बराः ।
पट्टिशानां सपद्मानां दीनवृक्षीकृताम्बराः ॥ ५ ॥
शराणां शितधाराणां पुष्पजालीकृताम्बराः ।
खड्गानां श्यामलाङ्गानां पत्त्रराशीकृताम्बराः ॥ ६ ॥
अथ राजा द्वितीयोऽपि वैष्णवास्त्रस्य शान्तये ।
ददौ वैष्णवमेवाऽस्त्रं शत्रुनिष्ठावपूरकम् ॥ ७ ॥
ततोऽपि निर्ययुर्नद्यो हेतीनां हतहेतयः ।
शरशक्तिगदाप्रासपट्टिशादिपयोमयाः ॥ ८ ॥
शस्त्रास्त्रसरितां तासां व्योम्नि युद्धमवर्तत ।
रोदोरन्ध्रक्षयकरं कुलशैलेन्द्रदारणम् ॥ ९ ॥
शरापतितशूलासिखड्गकुट्टितपट्टिशम् ।
मुसलप्रतनाप्रासशूलशातितशक्तिकम् ॥ १० ॥
शराम्बुराशिमथनमत्तमुद्गरमन्दरम् ।
गदावदनतो युक्तं दुर्वारास्त्रिनिभासिनि ॥ ११ ॥
रिष्टारिष्टप्रशमनभ्रमत्कुन्तेन्दुमण्डलम् ।
प्रासप्रसरसंरब्धप्रोद्यतान्तकृतान्तकम् ॥ १२ ॥

५०

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—स्मृतिसम्पन्नों में श्रेष्ठ अतिशय उदार एवं विपत्ति काल में धैर्यशाली राजा सिन्धु ने, जब भीषण संग्राम चल रहा था उस समय शत्रु की सम्पूर्ण सेना के विनाश के लिए तथा अपनी सेना की पिशाचों से हुई पीड़ा की शान्ति के लिए सब अस्त्रों के राजा असाधारण श्रीवैष्णवास्त्र का, जो काल-रुद्र के समान संहारकारी था, स्मरण किया ॥ १, २ ॥

राजा सिन्धु ने वैष्णव अस्त्र से अभिमन्त्रित कर जो शर अपनी प्रत्यञ्चा से छोड़ा उस बाण के अग्रभाग से उल्का आदि निकलने लगे ॥ ३ ॥

निकली हुई बड़े-बड़े चक्रों की पङ्क्तियों ने दिशाओं को सैकड़ों सूर्यों से युक्त बना दिया, अभिमुख आ रही गदाओं को पङ्क्तियों ने आकाश को सैकड़ों गदाकार बाँस के नये कल्लों से युक्त कर दिया ॥ ४ ॥

सौ धार वाले वज्रों की पङ्क्तियों ने आकाश को तिनकों के समूह से व्याप्त बना दिया, कमलदलों के कुड्मलों के (कलियों के) आकार की अनेक शाखाओं से युक्त पट्टिशों की पङ्क्तियों ने आकाश को कटे हुए वृक्षों से व्याप्त कर दिया ॥ ५ ॥

तेज धार वाले बाणों की पङ्क्तियों ने आकाश को फूलों की जाली से समन्वित कर दिया और काली आकृतिवाले खड्गों की कतारों ने आकाश को पत्तों की राशि से व्याप्त कर दिया ॥ ६ ॥

अनन्तर दूसरे राजा विदूरथ ने भी वैष्णव अस्त्र की शान्ति के लिए शत्रु की पराक्रम स्थिति के अनुरूप वैष्णव अस्त्र का ही, प्रयोग किया ॥ ७ ॥

उससे भी पहले के वैष्णवास्त्रप्रयुक्त अस्त्र-शस्त्रों को छिन्न-भिन्न करने वाली बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदि जलवाली अस्त्रों की नदियाँ निकलीं ॥ ८ ॥

आकाश में शस्त्रास्त्रों की नदियों का द्युलोक और पृथिवी के मध्यवर्ती अवकाश को भी विनाश करनेवाला तथा श्रेष्ठ कुलपर्वतों को भी चूर-चूरकर देनेवाला युद्ध हुआ ॥ ९ ॥

वैष्णवास्त्र से अभिमन्त्रित बाण से निकले हुए शूल, तलवार और कटार से पट्टिश चूर-चूर हो गये थे, मूसलों के विस्तार तथा प्रास और शूल से शक्तिनाम का शस्त्र काटकर टुकड़े-टुकड़े हो गए थे ॥ १० ॥

बाणसमूहरूप जलनिधि के मथन में समर्थ मुद्गर ही मन्दर का काम कर रहे थे। वहां गदाओं के मुखसदृश अग्रभागों से टक्कर लग रही थी तथा जिनके अस्त्रों का निवारण करना महाकठिन था उन प्रतिभाटों के अनुरूप प्रमाण और प्रभाववाली तलवरे थीं ॥ ११ ॥

उस युद्ध में अपनी-अपनी सेनाओं के विध्वंसरूप अशुभ की शान्ति के लिए भालेरूपी चन्द्रमण्डल घूम रहे थे, यम वहांपर प्रासों के प्रसार से कुपित थे, अतएव

चक्रावकुण्ठितोर्ध्वास्त्रं सर्वायुधक्षयंकरम् ।
शब्दस्फुटद्विरिञ्चाण्डं घातभग्नकुलाचलम् ॥ १३ ॥
धारानिकृत्तशस्त्रौघमस्त्रयोर्युद्धयमानयोः ।
मदस्त्रवारणेनेव वज्राविजरपर्वतम् ॥ १४ ॥
शङ्कुशङ्कितसूत्कारकाशिशूलशिलाशतम् ।
भुशुण्डीनिर्जितोद्दण्डभिन्दिपालोग्रमण्डलम् ॥ १५ ॥
परशूलकराभैकपरशूलैककम्पितम् ।
वहदुच्छिन्नचञ्चूरचारणं शस्त्रवारणम् ॥ १६ ॥
स्फुटच्चटचटास्फोटरुद्धत्रिपथगारयम् ।
हेत्यस्त्रीचूर्णसंभारमहाधूमवितानकम् ॥ १७ ॥
अन्योन्यशस्त्रसङ्घट्टाद्भ्रमज्जालोल्लसत्तडित् ।
शब्दस्फुटद्विरिञ्चाण्डं घातभग्नकुलाचलम् ॥ १८ ॥
धारानिकृत्तशस्त्रौघमस्त्रयोर्युद्धयमानयोः ।

उन्होंने लोगों का क्षय करना आरम्भ कर दिया था ॥१२॥

उस युद्ध में चक्रों से ऊपर को खड़े किये अस्त्र-शस्त्र कुण्ठित किये गये थे, सम्पूर्ण आयुधों का क्षय हो रहा था, उसके शब्द से ब्रह्माण्ड मानो फूटता था, प्रहारों से कुलाचल भी छिन्न-भिन्न हो रहे थे ॥ १३ ॥

परस्पर एक दूसरे के घात-प्रतिघात का निवारण करनेवाले लड़ रहे उन दो वैष्णवास्त्रों की बाणवृष्टि ने सब प्रकार के शस्त्रों के समूह को काट डाला, वज्रों ने अकाट्य पर्वतों को काटकर जीर्ण-शीर्ण कर दिया ॥१४॥

वहांपर शूल और पत्थर कीलों के समान तेज थे, शत्रुभेदनरूप कार्य से उनकी खूब प्रशंसा होती थी और वे तेज दौड़ने से हुई फुफकार से सुशोभित थे। वहां भुशुण्डियों ने भीषण भिन्दिपालों के घने ढेर पर विजय पाई थी ॥ १५ ॥

सबका संहार करने में समर्थ भगवान् शङ्कर के तुल्य पराक्रमशाली शिवशूल को उसके तुल्य ही दूसरे शूल ने कुण्ठित कर डाला था, निकलते ही तुरन्त काटे गये हथियारों की टेढ़ी-मेढ़ी गतियाँ हो रही थीं ॥ १६ ॥

फूट रहे चट-चट शब्द ने गङ्गाजी के प्रवाह को रोक दिया था और अस्त्र-शस्त्रों के चूर के ढेररूपी महान् धुँए से चँदवा तन गया था ॥ १७ ॥

वहांपर परस्पर के शस्त्रास्त्रों के टकराने से घूम रहे जाल के समान बिजलियाँ प्रदीप्त होती थीं, कलकल शब्द से ब्रह्माण्ड मानो फूट जा रहा था, प्रहार से बड़े-बड़े कुलपर्वत छिन्न-भिन्न हो गये थे ॥ १८ ॥

मदस्त्रवारणेनेव कालोपायोऽचलात्मनः ॥ १९ ॥
अयं कियद्बल इति सिन्धौ तिष्ठति हेलया ।
विदूरथोऽस्त्रमाग्नेयं तत्याजाऽशनिशब्दवत् ॥ २० ॥
ज्वालयामास सरथं सिन्धोः कक्षमिवाऽरसम् ।
एतस्मिन्नन्तरे व्योम्नि हेतिनिर्विवरोदरे ॥ २१ ॥
ससन्नाह इव प्रावृट् पयोदतटिनीव यः ।
अस्त्रे राज्ञोः क्षणं कृत्वा युद्धं परमदारुणम् ॥ २२ ॥
अन्योन्यं शममायाते सवीर्ये सुभटाविव ।
एतस्मिन्नन्तरे सोऽग्नो रथं कृत्वा तु भस्मसात् ॥ २३ ॥
प्राप दग्ध्वा वनं सिन्धुं मृगेन्द्रमिव कन्दरात् ।
सिन्धुरभ्यासतोऽन्यस्त्रं वारुणास्त्रेण शामयन् ॥ २४ ॥
रथं त्यक्त्वाऽवनिं प्राप्य खड्गास्फोटकवानभूत् ।
अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण रथाश्वानां रिपोः खुरान् ॥ २५ ॥

परस्पर जूझ रहे अस्त्रों की शरवृष्टि ने शस्त्रास्त्रों के ढेर को काटकर गिरा दिया था, पर्वत के समान निश्चल राजा विदूरथ मेरे द्वारा विश्वामित्र के अस्त्रों के निवारण के समान अस्त्रनिवारणमात्र से स्थित थे, उनकी ऐसी स्थिति केवल कालक्षेप का उपाय था ॥ १९ ॥

मेरे समाने इसकी क्या शक्ति है, इस प्रकार राजा विदूरथ की अवहेलना के साथ राजा सिन्धु पर राजा विदूरथ ने वज्र-निर्घोष समन्वित आग्नेय अस्त्र छोड़ा ॥ २० ॥

उक्त आग्नेय अस्त्र ने सूखी हुई घास की राशि के समान राजा सिन्धु के रथ को जला दिया। इसी मध्य अस्त्र-शस्त्रों से आकाश ऐसा व्याप्त था कि कहींपर भी विवर दृष्टिगोचर नहीं होता था ॥ २१ ॥

जो राजा सन्नद्ध था वह वर्षा ऋतु के समान बाणों की वर्षा करता था और दूसरा राजा मेघ से बढ़ाई गई नदी के समान बहता था। दोनों राजाओं के पहले प्रयोग किये गये बलवान् वैष्णवास्त्र क्षणभर के लिए परस्पर भीषणतम युद्ध कर बलवान् सुभटों के समान शान्त हो गये। इसी बीच में वैसे ही आग्नेयास्त्र की अग्नि राजा सिन्धु के रथ को जलाकर सिन्धु को वैसे ही प्राप्त हुई जैसे वनाग्नि वन को जलाकर गुहा से निकले हुए सिंह को प्राप्त होती है। राजा सिन्धु ने हस्तलाघव से आग्नेयास्त्र को वारुणास्त्र से शान्त कर दिया ॥ २२-२४ ॥

अपने जले हुए रथ को छोड़कर पृथिवीपर आकर ढाल और तलवार सन्नद्ध हो गया। राजा सिन्धु ने नेत्रों के पलक गिरने भर में शत्रु के रथ के घोड़े के खुरों को

लुलाव करवालेन मृणालानीव लाघवात् ।
विदूरथोऽपि विरथो बभूवाऽऽस्फोटकासिमान् ॥ २६ ॥
समायुधौ समोत्साहौ चेरतुर्मण्डलानि तौ ।
खड्गौ क्रकचतां यातौ मिथः प्रहरतोस्तयोः ॥ २७ ॥
दन्तिमाले यमस्येव बले चर्वयतः प्रजाः ।
शक्तिमादाय चिक्षेप खड्गं त्यक्त्वा विदूरथः ॥ २८ ॥
सिन्ध्वम्बुघर्घरारावो महोत्पात इवाऽशनिः ।
अविच्छिन्ना समायाता पतिता साऽस्य वक्षसि ॥ २९ ॥
अप्रियस्य यथा भर्तुरनिच्छन्ती स्वकामिनी ।
तेन शक्तिप्रहारेण नाऽसौ मरणमाप्तवान् ॥ ३० ॥
केवलं रुधिरव्रातं नागो जलमिवाऽत्यजत् ।
तद्देशलीला तं दृष्ट्वा भग्नं तम इवेन्दुना ॥ ३१ ॥
सविकासघनानन्दा पूर्वलीलामुवाच ह ।
देवि ! पश्य नृसिंहेन हतो भर्त्राऽयमावयोः ॥ ३२ ॥

कमलनाल के समान बड़ी फुर्ती से काट दिया। अब तो राजा विदूरथ भी रथरहित हो हाथ में ढाल-तलवार धारण किया ॥ २५-२६ ॥

अब तो दोनों के हाथों में एक से हथियार हो गये और उत्साह भी दोनों का समान था वे दोनों अपने-अपने वार के लिए समय ढूढ़ने के लिए पैंतरे बदलने लगे परस्पर प्रहार कर रहे उन दोनों की तलवारें वार करते-करते आरों के तुल्य हो गई थीं ॥ २७ ॥

दोनों सेनाओं में तलवारें यम की दन्तपङ्क्तियों के समान सैनिकों को चबा रही थीं। राजा विदूरथ ने तलवार का त्याग कर शक्ति धारण कर शत्रु के ऊपर छोड़ा ॥ २८ ॥

वह शक्ति मथे जा रहे समुद्र के जल के समान घर-घर शब्द से युक्त प्रलय आदि बड़े-बड़े उत्पातों को सूचित करनेवाले व्रजपात के समान समूची आई और राजा सिन्धु की छातीपर गिरी ॥ २९ ॥

इस प्रकार वह गिरी जैसे अप्रिय पति के वक्षस्थलपर उसे न चाहनेवाली भार्या गिरती है। उस शक्ति के प्रहार से राजा सिन्धु के प्राण नहीं गये ॥ ३० ॥

केवल उसको छाती से हाथी की सूंड़ से जलधारा के समान खून की धारा बहने लगी। चन्द्रमा से नष्ट किये गये अन्धकार के समान सिन्धु को राजा विदूरथ से भग्न किया हुआ देखकर उस देश की लीला बड़ी प्रसन्न हुई उसके आनन्द का आरपार न रहा। उसने पूर्वलीला से कहा—'हे देवि, देखो, नृसिंहरूप हमारे पति ने हिरण-

शक्तिकोटिनखैर्दैत्यः सिन्धुरुद्घुरकन्धरः ।
सरःस्थलस्थनागेन्द्रकरफूत्कृतवारिवत् ॥ ३३ ॥
पिष्टोरसोऽस्य निर्याति रक्तं चुलचुलारवैः ।
हा कष्टं रथमानीतं सिन्धुरारोढुमुद्यतः ॥ ३४ ॥
सौवर्णं मैरवं शृङ्गं पुष्करावर्तको यथा ।
पश्य ! देवि रथोऽस्याऽसौ मुद्गरेण विचूर्णितः ॥ ३५ ॥
भ्रमत् पार्थनिपातेन सौवर्णं नगरं यथा ।
प्रवृत्तो रथमारोढुमानीतं पतिरेष मे ॥ ३६ ॥
कष्टं वज्रमिवेन्द्रेण मुसलं सिन्धुनेक्षितम् ।
जवात् पतिः प्रयातो मे सैन्धवं मुसलायुधम् ॥ ३७ ॥
वञ्चयित्वा विलासेन रथमारुह्य लाघवात् ।
हा धिक्कष्टमसौ सिन्धुरार्यपुत्ररथं रयात् ॥ ३८ ॥
हरिद्भ्रमिवाऽऽरूढं पल्वेनोर्ध्वमिव द्रुमम् ।
पीडित्वा पीडयामास शरवर्षैर्विदूरथम् ॥ ३९ ॥

कशिपुरूपी महाबलवान् इस सिन्धु को शक्ति के शिखररूपी नखों से मार दिया है। वैसे ही इसके चूर्ण-विचूर्ण वक्षःस्थल से 'चुल-चुल' शब्द के साथ खून वैसे ही निकल रहा है जैसे तालाब के बीच में खड़े हुए हाथी की सूंड से फुफकारपूर्वक जलधारा गिरती है। हा, बड़े दुःख की बात है कि लाये गये रथपर चढ़ने के लिए वह ऐसा तैयार हो गया है, जैसे कि सोने के मेरुशिखर पर पुष्करावर्त मेघ चढ़ता है। हे देवि देखो, इसका यह रथ मुद्गर से चूर चूर कर दिया गया है ॥ ३१-३५ ॥

हमारे स्वामी लाये गये रथमें बैठने के लिए उद्यत हैं। अर्जुन की बाणवर्षा से निवातकवचनामक दानवों की सुवर्णनिर्मित नगर के समान घूम रहे उस रथ को आप देखें ॥ ३६ ॥

हा दुःख की बात है कि वैसे ही सिन्धु ने हमारे स्वामी पर प्रहार करने के लिए वैसे ही मूसल को ग्रहण किया जैसे इन्द्र अपने शत्रुपर प्रहार करने के लिए ग्रहण करता है ॥ ३७ ॥

हमारे स्वामी मूसलरूप हथियारवाले राजा सिन्धु को चकमा देकर बड़ी फुर्ती से रथपर सवार होकर वेग से हट गए हैं ॥ ३८ ॥

हाय, बहुत कष्ट आ गया है। राजा सिन्धु ने बड़े वेग से हमारे स्वामी के सेवार आदि से हरे रंग के तालाब के समान हरे और वृक्ष के सदृश उन्नत पताका से चिह्नित होने के कारण पल्लव से एक प्रकार के पक्षी से युक्त रथ को, बाणवृष्टि से छिन्न-भिन्न कर बाणों की

छिन्नध्वजं छिन्नरथं छिन्नाश्वं छिन्नसारथिम् ।
छिन्नकार्मुकवर्माणं भिन्नसर्वाङ्गमाकुलम् ॥ ४० ॥
हृदि स्फोटशिलापट्टदृढे पीवरमूर्द्धनि ।
भित्त्वा वज्रसमैर्बाणैः पातयत्येष भूतले ॥ ४१ ॥
अथाऽन्यं रथमानीतं कृच्छ्रेण प्राप्य चेतनाम् ।
खड्गेनाऽऽरोहतोऽस्यांसं छिन्नं भर्तुर्विलोकय ॥ ४२ ॥
पद्मरागगिरिद्योतमिवार्द्रासृग् विमुञ्चति ।
हा हा धिक्कष्टमेतेन सिन्धुना खड्गधारया ॥ ४३ ॥
जङ्घयोर्मे पतिश्छिन्नः क्रकचेनेव पादपः ।
हा हा हताऽस्मि दग्धाऽस्मि मृताऽस्म्युपहताऽस्मि च ॥४४॥
मृणाले इव पत्युर्मे लूने द्वे अपि जानुनी ।
इत्युक्त्वा सा तदालोक्य भर्तुर्भावभयातुरा ॥ ४५ ॥
लतापरशुकृत्तेव मूर्छिता भुवि साऽपतत् ।
विदूरथोऽपि निर्जानुः प्रहरन्नेव विद्विषि ॥ ४६ ॥
पपात स्यन्दनस्याऽधश्छिन्नमूल इव द्रुमः ।
पतन्नेवैष सूतेन रथेनैवाऽपवाहितः ॥ ४७ ॥
यदा तदा हृति तस्य कण्ठेऽदात् सिन्धुरुद्धतः ।
अर्द्धविच्छिन्नकण्ठोऽसावनुयातोऽथ सिन्धुना ॥ ४८ ॥
स्यन्दनेनाऽविशत्सद्म पद्मं रविकरो यथा ।
सरस्वत्याः प्रभावाढ्यं तत्प्रवेष्टुमसौ गृहम् ॥
नाऽशकन्मशको मत्तो महाज्वालोदरं यथा ॥ ४९ ॥
खड्गावकृत्तगलगर्तगलत्सवात-
रक्तच्छटाछुरितवस्त्रतनुत्रगात्रम् ।
तत्याज तं भगवतीमभितो गृहान्तः
सूतः प्रवेश्य मृतितल्पतले गतोऽरिः ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
विदूरथमरणवर्णनं नाम पञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५० ॥

वृष्टियों से हमारे पति विदूरथ को व्यथित कर दिया है ॥ ३९ ॥

कटी हुई पताकावाले ध्वस्त रथ वाले मरे हुए अश्ववाले कटे सारथिवाले नष्ट धनुष-कवचवाले छिन्न-भिन्न अङ्गवाले घबराये हुए पति को शिलाकलक के समान दृढ़ हृदय और स्थूलतम मस्तक को वज्र के समान कठोर वाणों से विद्ध कर भूतल पर गिरा रहा है ॥ ४०-४१ ॥

अहो कष्ट से होश में आए हुए सारथि द्वारा लाये गये दूसरे रथ में चढ़ रहे हमारे पति के सिन्धु द्वारा तलवार से काटे गये, घन से तोड़े गये पद्मरागमणि के पर्वत से लाल कान्ति निकलती है वैसे ही, खूब रुधिर बह रहे जैसे ओ हो, अब तो बड़ा भारी कष्ट आया है ॥ ४२, ४३ ॥

जैसे आरे से वृक्ष काटा जाता है वैसे ही इस सिन्धु ने तीखी तलवार की धार से हमारे पति को पिण्डलियाँ काट डालीं। हा मैं मारी गई हूँ, जलाई गई हूँ, मर गई हूँ और लथेड़ी गई हूँ ॥ ४४ ॥

मेरे पति की कमलनाल के समान दोनों जंघाएँ काट दी गई हैं। ऐसा कहकर पति की वह अवस्था देखकर दुःखी हुई और पति के प्रति उसका जो अत्यन्त प्रेम था, उससे और भय से कातर हो गई ॥ ४५ ॥

वह कुल्हाड़े से काटी गई लता के समान मूर्छित होकर पृथिवीपर गिर पड़ी। यद्यपि विदूरथ की दोनों जंघाएँ कट गई थीं, तथापि शत्रु पर प्रहार करता हुआ ही वह छिन्नमूल (जिसकी जड़ कट गई हो) वृक्ष की भाँति रथ के नीचे गिरने को तैयार हुआ। वह गिरना ही चाहता था कि सारथि उसे सँभालकर रथ से ही घर की ओर भागा ले गया ॥ ४६-४७ ॥

जब सारथि राजा विदूरथ को भगा ले गया तब उद्दण्ड राजा सिन्धु ने विदूरथ के कण्ठ में तलवार से वार किया। तलवार के वार से उनका आधा कण्ठ कट गया इसके बाद आधे कटे कण्ठवाले विदूरथ का सिन्धु ने पीछा किया ॥ ४८ ॥

राजा विदूरथ अपने घर में वैसे ही प्रविष्ट हुआ जैसे सूर्य की किरणें कमल में प्रवेश करती हैं लेकिन राजा सिन्धु सरस्वती के प्रभाव से परिपूर्ण उस घर में जैसे ही मदोन्मत्त मच्छर महाज्वाला के भीतर नहीं घुस सकता है वैसे ही प्रवेश नहीं कर सका ॥ ४९ ॥

जिसके वस्त्र, कवच और शरीर तलवार से काटे गये गले के छेद से बुदबुद ध्वनि के साथ निकल रही रक्तधाराओं से सने थे, घर में ले जाकर सरस्वती के सामने सुखपूर्वक मरण के योग्य कोमल बिस्तर पर सारथि ने राजा विदूरथ को छोड़ दिया शत्रु भी घर में प्रवेश न कर सकने के कारण लौट गया ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में
विदूरथमरणवर्णन नामक कुसुमलता का पचासवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५० ॥

५१

श्रीवसिष्ठ उवाच

हतो राजा हतो राजा प्रतिराजेन संयुगे ।
इति शब्दे समुद्भूते राष्ट्रमासीद्भयाकुलम् ॥ १ ॥
भाण्डोपस्करभाराढ्यविद्रवच्छकटव्रजम् ।
साक्रान्दार्तकलत्राढ्यद्रवन्नागरदुर्गमम् ॥ २ ॥
पलायमानसाक्रन्दमार्गाहृतवधूगणम् ।
अन्योन्यलुण्ठतव्यग्रलोकलग्नमहाभयम् ॥ ३ ॥
परराष्ट्रजनानीकताण्डवोल्लाससारवम् ।
निरधिष्ठितमातङ्गहयवीरपतज्जनम् ॥ ४ ॥
कपाटपाटनोड्डीनकोशान्तरवघर्घरम् ।
लुण्ठितासंख्यकौशेयप्रावृताभिभटोद्भटम् ॥ ५ ॥
क्षुरिकोत्पाटितार्द्रान्त्रमृतराजगृहाङ्गनम् ।
राजान्तःपुरविश्रान्तचण्डालश्वपचोत्करम् ॥ ६ ॥
गृहापहृतभोज्यान्नभोजनोन्मुखपामरम् ।
सहेमहारवीरौघपादाहतरुदच्छिशु ॥ ७ ॥
अपूर्वतरुणाक्रान्तकेशान्तःपुरिकाङ्गनम् ।
चोरहस्तच्युतानर्घ्यरत्नदन्तुरमार्गगम् ॥ ८ ॥
हयेभरथसंघट्टव्यग्रसामन्तमण्डलम् ।
अभिषेकोद्यमादेशं परमन्त्रिपुरःसरम् ॥ ९ ॥
राजधानीविनिर्माणसारम्भस्थपतीश्वरम् ।
कृतवातायनश्वभ्रनिपतद्राजवल्लभम् ॥ १० ॥
जयशब्दशतोद्घोषसिन्धुराजन्यनिर्भरम् ।
असंख्यनिजराजौघधृतसिन्धुकृतास्थिति ॥ ११ ॥

५१

[राजा विदूरथ के बध से राष्ट्रविप्लव तथा सिन्धु के राज्य में प्रतिष्ठित होनेपर फिर राज्य की सुव्यवस्था का विस्तार से वर्णन]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—वत्स श्रीरामचन्द्रजी ! युद्ध में प्रतिद्वन्द्वी राजा सिन्धु के हाथ से राजा विदूरथ मारे गये—राजा विदूरथ मारे गये, इस प्रकार का शोरगुल मचनेपर सारा राष्ट्र भयभीत हो गया ॥ १ ॥

वहां भांडे-बर्तन आदि सामग्री से लदी हुई गाड़ियों-पर गाड़ियाँ इधर-उधर भाग रही थीं, रो रहे भूखे प्यासे स्त्री और बालबच्चों को लेकर भाग रहे नागरिकों की अपार भीड़ लगी थी ॥ २ ॥

राष्ट्र में उत्पात मचने के कारण भाग रहीं और रो रहीं अनेक युवतियाँ मार्ग में डाकुओं द्वारा हर ली गईं थीं, आपस में एक दूसरे को लूटने खसोटने में व्यग्र हुए लोगों को आपस का भी बड़ाभारी भय लगा रहता था ॥ ३ ॥

शत्रु के राष्ट्र की असैनिक जनता और सैनिकों के विजयप्रयुक्त ताण्डव की वृद्धि से सारा विदूरथ राष्ट्र कोलाहलयुक्त था, स्वामियों के मर जाने के कारण निरंकुश हुए हाथी, घोड़े और वीरों की टक्कर से असैनिक जनता गिर रही थी ॥ ४ ॥

खजाने का विनाश करते समय किवाड़ों को तोड़ने से उत्पन्न हुआ 'घर-घर' शब्द आकाश में फैला हुआ था, वहांपर प्रबल परपक्षी भटों ने लूटे गये असंख्य रेशमी वस्त्रों को लपेटकर कोषगृह के रक्षक भटों को तिरस्कृत कर दिया ॥ ५ ॥

मरी हुई राजमहिलाएँ चोरों द्वारा छूरों से काटी गई खून से लथपथ अपनी अँतिड़यों से उलझी हुई थीं, राजा के अन्तःपुर में डोम चाण्डालों के झुण्ड के झुण्ड विश्राम ले रहे थे ॥ ६ ॥

राजगृह से लूटपाट द्वारा हस्तगत किये गये राजा के भोजनयोग्य स्वादु अन्नों के भोजन में गंवार लोग जुटे थे, सोने की सिकड़ियों को पहने हुए बालक भटों की लातें और ठोकरें खा कर रो रहे थे ॥ ७ ॥

अपरिचित युवक अन्तःपुर की महिलाओं के केशपाश को खींच रहे थे, चारों के हाथों से मार्ग में गिरे हुए बहुमूल्य रत्नों से बटोही लोग दन्तुर-से (ऊँचे दाँतवाले की नाईं से) उज्ज्वल हो रहे थे ॥ ८ ॥

हाथी, घोड़े और रथों को छीनकर लाने में सामन्त लोग व्याकुल हो रहे थे, राजा सिन्धु के पुत्र के राज्याभिषेक कार्य का आदेश देने में मन्त्री आदि ऊँचे राजकर्मचारी बड़े तत्पर थे ॥ ९ ॥

राजधानी के निर्माण के लिए अच्छे-अच्छे कारीगर सन्नद्ध थे । बनाये गये झरोखों के छेदों में सिन्धुराज की रानियाँ अपूर्व नगर की सुन्दरता देखने के लिए प्रवेश कर रहीं थीं ॥ १० ॥

सैकड़ों 'जय जय' उद्घोषों के साथ नगर में प्रवेशित सिन्धुराज के पुत्र का, जिसका तुरन्त अभिषेक हुआ था,

ग्रामान्तरसमाक्रान्तविद्रवद्राजलवल्लभम् ।
मण्डलान्तरसंजातनगरग्रामलुण्ठनम् ॥ १२ ॥
अतन्तचोरमोषार्थरुद्धमार्गगमागमम् ।
महानुभाववैधुर्यसनीहारदिनातपम् ॥ १३ ॥
मृतबन्धुजनाक्रन्दैर्मृततूर्यरवैरपि ।
हयेभरथशब्दैश्च पिण्डग्राह्यघनध्वनि ॥ १४ ॥
सिन्धुदेवो जयत्येकच्छत्रभूमण्डलाधिपः ।
इत्यनन्तरमारेभे भेर्यः प्रतिपुरं तदा ॥ १५ ॥
राजधानीं विवेशाऽथ सिन्धुरुद्धुरकन्धरः ।
प्रजाः स्त्रष्टुं युगस्याऽन्ते मनुर्जगदिवाऽपरः ॥ १६ ॥
प्रवृत्ता दशदिग्भ्योऽथ प्रवेष्टुं सैन्धवं पुरम् ।
कराः करिहयाकारै रत्नपूरा इवाऽम्बुधिम् ॥ १७ ॥
निबन्धनानि चिह्नानि शासनानि दिशं प्रति ।
क्षणान्निवेशयामासुर्मण्डलं प्रति मन्त्रिणः ॥ १८ ॥
उदभूदचिरेणैव देशे देशे पुरे पुरे ।
जीविते मरणे माने नियमो यमतो यथा ॥ १९ ॥
अथ शेमुर्निमेषेण देशोपप्लवविभ्रमाः ।
प्रशान्तोत्पातपवनाः पदार्थावृत्तयो यथा ॥ २० ॥
सौम्यतामाजगामाऽऽशु देशो दशदिगन्वितः ।
क्षीरोदः क्षुभितावर्तो द्रागिवोद्धृतमन्दरः ॥ २१ ॥
ववुरलकचयान् विलोलयन्तो
मुखकमलालिकुलानि सैन्धवीनाम् ।
जललववलनाकुलाः समीरा
अशिवगुणानिव सर्वतः क्षणेन ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
सिन्धुराष्ट्रवर्णनं नाम एकपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५१ ॥

उस राष्ट्र में बड़ा प्रभाव था, राजा सिन्धु ने वहाँपर जो नई राज्यव्यवस्था चलाई थी, उसे सिन्धुपक्ष के राजाओं ने शिरोधार्य कर लिया था ॥ ११ ॥

अन्य गाँवों में छिपकर रहनेवाले पूर्व राजा के प्रीति-पात्र लोग शत्रु को पता लगनेपर वहाँ से भाग रहे थे। चोरों के बड़े भारी गिरोह ने लूटपाट करने के लिए मार्गों में लोगों का आना जाना रोक रक्खा था, महाप्रतापी राजा विदूरथ के विरह से दिन में धूप तुषार से सनी हुई-सी ठण्डी मालूम होती थी ॥ १२-१३ ॥

मरे हुए बन्धु-बान्धवों के लिए रोने-धोने से और मरे हुए जनों के लिए किये गये तूरी के शब्द से पिण्ड के सदृश हाथ से पकड़ने योग्य शब्द वहां हो रहा था ॥१४॥

इसके बाद वहाँपर पृथ्वी के एकच्छत्र स्वामी राजा सिन्धु की जय हो, ऐसी घोषणा करते हुए प्रत्येक नगर में लोग भेरियाँ बजाना आरम्भ कर दिया ॥ १५ ॥

पुत्र के राज्याभिषेक के बाद विजयजनित गर्व से उन्नतमस्तक राजा सिन्धु वैसा ही था जैसे प्रलय के अन्त में जगत् की सृष्टि करने के लिए मनु भगवान् जगत् में प्रवेश करते हैं दूसरे मनु के समान वैसे ही राजधानी में प्रवेश किया ॥ १६ ॥

राजा सिन्धु के नगर में प्रवेश करते ही सिन्धु के नगर में दसों दिशाओं से कर हाथी घोड़े के रूप से इस प्रकार आने लगे जैसे समुद्र में रत्नों की राशियां प्रवेश करती हैं ॥ १७ ॥

मन्त्रियों ने प्रत्येक दिशा में और प्रत्येक अधीन राजा के पास राजकीय नियम, चिह्न और आदेश को शीघ्र ही भेज दिये ॥ १८ ॥

थोड़े ही समय में देश-देश में नगर-नगर में जीवन, मरण और सम्मान के विषय में यम के समान कठोर नियम बन गये ॥ १९ ॥

नियम बनने के बाद पलक मारने मात्र में, देश में उपद्रव के बादलों की जो घटा छाई थी, वह उत्पात वायु के समाप्त होनेपर वैसे ही सब शान्त हो गई जैसे वायु के जोर से होनेवाले तृण, पत्ते और धूल का घूमना शान्त हो जाता है ॥ २० ॥

महाप्रलय से मथने के समय भीषण जलभौंरियों से भरा हुआ तरङ्ग समन्वित क्षीरसागर मन्दराचल को निकाल देने से जैसे शान्त हो गया था वैसे ही अराजकता के समय उत्पातपूर्ण सारा देश दसों दिशाओं के साथ विनयपूर्ण हो गया ॥ २१ ॥

सिन्धु के देश की सुन्दरियों के मुखरूपी कमल की भ्रमरपंक्तियों के तुल्य अलकों को धीरे-धीरे हिला रहे वायु मुखकमल के मधुबिन्दुरूप स्वेदजल के कणों को लेने से मत्त और मन्दगति होने के कारण आकुल होकर उक्त सुन्दरियों के मुखकमलों की शीतलता और सुगन्धि आदि मङ्गलमय गुणों से सम्पूर्ण देश से सन्ताप, दुर्गन्धि आदि अशुभ गुणों को नष्ट करते हुए बहने लगे ॥ २२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में सिन्धुराष्ट्रवर्णन नामक कुसुमलता का ऐक्यावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५१ ॥

५२

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राम ! लीलोवाच सरस्वतीम् ।
श्वासावशेषमालोक्य मूढं भर्तारमग्रगम् ॥ १ ॥
प्रवृत्तो देहमुत्स्रष्टुं मद्भर्त्तायमिहाऽम्बिके ! ।

ज्ञप्तिरुवाच

एवंरूपमहारम्भे संग्रामे राष्ट्रसम्भ्रमे ॥ २ ॥
सम्पन्नेऽपि स्थितेऽप्युच्चैर्विचित्रारम्भमन्थरे ।
न किञ्चिदपि सम्पन्नं राष्ट्रं न च महीतलम् ॥ ३ ॥
न स्थितं क्वचनाऽप्येवं स्वप्नात्मकमिदं जगत् ।
तस्य तन्मण्डपस्याऽन्तः शवस्य निकटाम्बरे ॥ ४ ॥
इदं भूराष्ट्रमाभाति भर्तृजीवस्य तेऽनघे ।
अन्तःपुरगृहान्ते तदिदं राष्ट्रान्वितोदरम् ॥ ५ ॥
वसिष्ठविप्रगेहान्तर्विन्ध्याद्रिग्रामके स्थितम् ।
वसिष्ठविप्रगेहेऽन्तः शवगेहजगत् स्थितम् ॥ ६ ॥
शवगेहजगत्कुक्षाविदं गेहजगत् स्थितम् ।
एवमेष महारम्भो जगत्त्रयमयो भ्रमः ॥ ७ ॥
त्वया मयाऽनयाऽनेन संयुक्तः सार्णवावनिः ।
गिरिग्रामकदहान्तमध्य गगनकोशके ॥ ८ ॥
स्वात्मैव कचति व्यर्थो न कचत्येव वा क्वचित् ।
तत्पदं परमं विद्धि नाशोत्पादविवर्जितम् ॥ ९ ॥
स्वयं कचितमाभातं शान्तं परमनामयम् ।
किल मण्डपगेहेऽन्तः स्वस्वभावोदितात्मनि ॥ १० ॥
एवमारम्भघनयोरपि मण्डपयोस्तयोः ।
उदरे शून्यमाकाशमेवास्ति न जगद्भ्रमः ॥ ११ ॥
भ्रमद्रष्टुरभावे हि कीदृशी भ्रमता भ्रमे ।
नाऽस्त्येव भ्रमसत्ताऽतो यदस्ति तदजं पदम् ॥ १२ ॥
भ्रमो दृश्यमसत्तस्य द्रष्टृदृश्यदशा कुतः ।
द्रष्टृदृश्यक्रमाभावादद्वयं सहजं हि तत् ॥ १३ ॥

५३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—श्रीरामचन्द्र ! इसी मध्यम अपने सामने मृत्युशय्यापर लेटे हुए मूर्च्छित अपने पति को श्वासमात्रशेष (जिसमें जीवित के) देखकर देवी सरस्वती से कहा—हे अम्बिके ! यह मेरा पति यहांपर देह का त्याग करने के लिए उद्यत है ॥ १ ॥

श्रीसरस्वती जी ने कहा—इस प्रकार के महान् उद्योग से परिव्याप्त, राष्ट्र में उथल-पुथल मचा देनेवाले अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यापारों से भरे हुए इस संग्राम के शुरू होने, चलने और समाप्त होनेपर कहींपर न तो राष्ट्र या महीतल कुछ भी रहा और न नष्ट हुआ। इस प्रकार का यह स्वप्नरूप जगत् है। गिरिग्राम के ब्राह्मण-गृह के मण्डप के अन्दर रक्खे हुए राजा पद्म के शव के निकटवर्ती मण्डपाकाश में तुम्हारे पति का यह पृथ्वीरूपी राष्ट्र प्रतीत होता है, अन्तःपुर के घर के अन्दर अनेक राष्ट्रों से युक्त यह ब्रह्माण्ड है ॥ २—५ ॥

विन्ध्याद्रि के ग्राम में वसिष्ठनामक ब्राह्मण के घर का मध्यभाग स्थित है, वसिष्ठनामक ब्राह्मण के घर में शवयुक्त गृहरूप जगत् स्थित है ॥ ६ ॥

शवगृहरूप जगत् के पेट में यह घररूपी ब्रह्माण्ड स्थित है। इस प्रकार यह त्रिजगत्, जिसमें अनेकानेक व्यापार होते रहते हैं, भ्रम ही है तथा विन्ध्याद्रि के छोटे से ग्राम में घर के अन्दर आकाशकोश में सागर और पृथ्वी दृष्टिगोचर होते हैं, तथा यह भ्रम तुमसे, मुझसे, दूसरी लीला से तथा तुम्हारे पति से युक्त है, एक के भीतर दूसरा उत्पन्न हुआ, यह भी कल्पना ही है, वस्तुतः चैतन्य में ही यह विकसित होता है ॥ ७—८ ॥

अपनी आत्मा ही इस जगत्रूप से व्यर्थ विकसित होता है अथवा कहीं भी इस जगत्रूप से व्यर्थ नहीं होता है। इसलिए तुम नाश और उत्पत्ति से शून्य उस परम पद को जानो ॥ ९ ॥

शान्त, निर्विकार स्वयंप्रकाश, चैतन्य ही अपने चिन्मात्र स्वभाव से उदित अपनी आत्मा में मण्डपघर के अन्दर प्रतीत हुआ है ॥ १० ॥

इस प्रकार अनेक चेष्टाओं से परिपूर्ण प्रतीत होने-वाले मण्डपों के भी मध्य में शून्य आकाश ही है, जगद् भ्रम नहीं है ॥ ११ ॥

भ्रम के द्रष्टा के अभाव में भ्रम में भ्रमता कैसे हो सकती है, अतः भ्रम की सत्ता नहीं ही है और जो है, वह निर्विकार परम चैतन्य ही है ॥ १२ ॥

भ्रम असत् दृश्य है। दृश्य द्रष्टा पुरुष के व्यापार के फल का आधार होता है यानी द्रष्टा जो कुछ व्यापार करता है उस व्यापार का फल जिसमें रहता है, वह दृश्य

तत्पदं परमं विद्धि नाशोत्पादविवर्जितम् ।
स्वयं कचितमाभातं शान्तमाद्यमनामयम् ॥ १४ ॥
किल मण्डपगेहान्तः स्वस्वभावोदितात्मनि ।
विहरन्ति जनास्तत्र स्वगेहे स्वव्यवस्थया ॥ १५ ॥
न जगत्तत्र नो सर्गः कश्चिदप्यनुभूयते ।
तेनाऽहमजमाकाशं जगदित्येव वर्तते ॥ १६ ॥
सर्वं शून्यात्मविज्ञानं मेर्वादिगिरिजालकम् ।
नेदं कुडचमयं किञ्चिद्यथा स्वप्ने महापुरम् ॥ १७ ॥
देशे प्रादेशमात्रेऽपि गिरिजालमयान्यपि ।
वज्रसाराणि खान्येव लक्षाणि जगतो विदुः ॥ १८ ॥
जगन्ति सुबहून्येव संभवन्त्यणुकेऽपि च ।
कदलीपल्लवानीव सन्निवेशेन भूरिशः ॥ १९ ॥
त्रिजगच्चिदणावन्तरस्ति स्वप्नपुरं यथा ।

है। अपने में अपने आप कोई भी व्यापार नहीं कर सकता, क्योंकि एक में कर्तृत्व भी रहे और कर्मत्व भी रहे, यह विरुद्ध है, इसलिए दृश्य भ्रम की द्रष्टा और दृश्य दो दशाएँ नहीं हो सकती हैं। द्रष्टा के अभाव में दृश्य की सत्ता और स्फूर्ती भी सिद्ध नहीं हो सकती। यह द्रष्टा और दृश्य के क्रम का अभाव द्वैतदशा में दूषण है और अद्वैतदशा में तो वह भूषण है, ऐसा कहते हैं— 'द्रष्टृ' इत्यादि से। अद्वैत में द्रष्टा और दृश्य के क्रम का अभाव होने से वह वहां पर स्वभावतः है ॥ १३ ॥

आप उस परम पद को, जो नाश और उत्पत्तिरहित, स्वयं प्रकाश, शान्त, आदि और निर्विकार है, जगत्-रूप से प्रतीत जानो ॥ १४ ॥

[अति अल्प स्थान में बृहत्तर वस्तु का समावेश न हो सकना भी दृश्य का ही दूषण है। सर्वाधिष्ठान चैतन्य का दूषण नहीं है, इस आशय से कहते हैं—'किल' इत्यादि से।]

मण्डप गृह के भीतर अपने स्वभाव से उदित आत्मा-रूप अपने घर में लोग अपने-अपने व्यवहार के अनुकूल प्रशस्त प्रदेश की व्यवस्था कर विहार करते हैं, संचार करते हैं, यह कम आश्चर्य नहीं ॥ १५ ॥

तत्त्वज्ञ पुरुषों को न तो वहां जगत् का और न किसी सृष्टि का ही अनुभव होता है, अहङ्कार का साक्षीरूप अविनाशी चिदाकाश ही अज्ञानी की दृष्टि से जगत्-रूप से अवस्थित है ॥ १६ ॥

मेरु आदि पर्वतों की राशि सम्पूर्ण दृश्य निराकार ज्ञानरूप ही है, यह भित्ति आदि कुछ स्थूलरूप नहीं है,

तस्याऽप्यन्तश्चिदणवस्तेष्वप्येकैकशो जगत् ॥ २० ॥
तेषां यस्मिन् जगत्येष पद्मो राजा शवः स्थितः ।
लीला तव सपत्नीयं प्राप्ता पूर्वतरा शुभे ॥ २१ ॥
यदैव मूर्छामायाता लीलेयं पुरतस्तव ।
तदैव भर्तुः पद्मस्य शवस्य निकटे स्थिता ॥ २२ ॥

लीलोवाच

कथमेषा पुरा देवि ! सम्पन्ना तत्र देहिनी ।
कथं च तत्सपत्नीकभावमाप्तवती स्थिता ॥ २३ ॥
ते चाऽस्या वद किं रूपं पश्यन्त्यथ वदन्ति किम् ।
तद्गेहवरवास्तव्याः समासेनेति मे वद ॥ २४ ॥

श्रीदेव्युवाच

शृणु सर्वं समासेन यथापृष्टं वदामि ते ।
लीले ! लीलास्ववृत्तान्तमन्तदं दृश्यदुर्दशम् ॥ २५ ॥

जैसे देह के अन्दर स्वप्नमें देखा गया महा नगर ही है ॥ १७ ॥

अणुरूप स्थान में आत्म चैतन्य को ही पर्वत समुदायों से पूर्ण वज्र के समान कठिन लाखों जगत् के रूप में दीखते हैं ॥ १८ ॥

अत्यन्त सूक्ष्म चैयन्य में अनन्त जगत् वैसे ही रह सकते हैं जैसे बहुत से केले के कोमल पत्ते तह के साथ अल्प स्थान में संनिविष्ट रहते हैं। जैसे चिदणु में तीनों जगत् हैं, उसके अन्दर भी चिदणु हैं, उनमें भी चिदणु हैं, उनमें भी प्रत्येक में वैसे ही जगत् है जैसे देह के अन्दर स्वप्न महानगर दिखलाई देता है ॥ २० ॥

हे शुभे ! उनमें जिस जगत् में यह पद्म राजा शवरूप में स्थित है, वहाँ तुम्हारी सौत यह लीला उसके पहले ही चली गई है ॥ २१ ॥

यह लीला जैसे ही तुम्हारे सामने मूर्छित हुई, वैसे ही तुम्हारे पति राजा पद्म के शव के निकट जा पहुँची है ॥ २२ ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! यह लीला वहाँ पर पहले देहधारिणी कैसे हो गई ? यह मेरी सौत होकर यह कैसे स्थित है ॥ २३ ॥

राजा पद्म के राजमहल में रहनेवाले लोग इसका कैसा रूप देखते हैं और इसको क्या कहते हैं, यह सब संक्षेप से आप मुझे कहें ॥ २४ ॥

श्री देवीजी ने कहा :—हे लीले ! सुनो, तुमने मुझसे जैसा पूछा है, वह सब मैं संक्षेप से तुमसे कहती हूँ, यह तुम्हारा ही, वृत्तान्त है, और इससे मरण, परलोकगमन

पद्मस्तव स भर्तैष भ्रान्ति तावत्ततामिमाम् ।
इयं जगन्मयी तस्मिन्नेव सद्मनि पश्यति ॥ २६ ॥
भ्रान्तियुद्धमिमं युद्धमेषा भ्रान्तिर्जनोऽजनः ।
भ्रान्त्येवाऽस्तीह मरणमेष चैवं भ्रमात्मकः ॥ २७ ॥
भ्रमक्रमेणाऽनेनैव लीलाऽस्य दयिता स्थिता ।
त्वं चैषा च वरारोहे स्वप्नमात्रं वराङ्गने ॥ २८ ॥
यथा भवत्यावेतस्य स्वप्नमात्रं वराङ्गने ।
तथा भवत्योर्भर्तैष तथैवाऽहमपि स्वयम् ॥ २९ ॥
जगच्छोभैवेदृशीयं दृश्यमेतदिहोच्यते ।
एतदेव परिज्ञातं दृश्यशब्दार्थमुज्झति ॥ ३० ॥
एवमेषा त्वमेषा च संपन्नेवमसौ नृपः ।
अहञ्चाऽऽत्मनि सत्यत्वं गता सर्वतयाऽऽत्मनः ॥ ३१ ॥
इमे वयमिहाऽन्योन्यं संपन्नाश्चोदिता इति ।
इत्थं सर्वात्मकतया महाचिद्घनसंस्थितेः ॥ ३२ ॥
एवमेषा स्थिता राज्ञी हारिहासविलासिनी ।
लीला विलोलवदना नव यौवनशालिनी ॥ ३३ ॥
पेशलाचारमधुरा मधुरोदारभाषिणी ।
कोकिलास्वरसंकाशा मदमन्मथमन्थरा ॥ ३४ ॥
असितोत्पलपत्राक्षी वृत्तपीनपयोधरा ।
कान्ता काञ्चनगौराङ्गी पक्वबिम्बफलाधरा ॥ ३५ ॥
त्वत्संकल्पात्मकस्यैषा यदा भर्तुर्मनःकला ।
तदा त्वत्सदृशाकारा स्थितैषा चिच्चमत्कृतौ ॥ ३६ ॥
त्वद्भर्तुर्मरणे क्षिप्रं समनन्तरमेव हि ।
त्वद्भर्त्रैषा पुरो दृष्टा त्वत्सङ्कल्पात्मनाऽमुना ॥ ३७ ॥
यदाऽऽधिभौतिकं भावं चेतोऽनुभवति स्वयम् ।
चेत्यं सन्मयमेवाऽस्त आतिवाहिककल्पनम् ॥ ३८ ॥
यदाऽऽधिभौतिकं भावं चेतो वेत्ति न सन्मयम् ।
आतिवाहिकसङ्कल्पस्तदा सत्योपजायते ॥ ३९ ॥
अथो मरणसंवित्त्या पुनर्जन्ममये भ्रमे ।
त्वं हि संविदितानेन त्वया च गत एव सः ॥ ४० ॥

आदि जिनको देखना कठिन है, उनको भी तुम देख सकोगी ॥ २५ ॥

तुम्हारा स्वामी महाराजा पद्म नगर आदि के रूप से दिखाई दे रही इस अतिशय विस्तृत जगन्मय भ्रान्ति को उसी शवगृह में देखता है ॥ २६ ॥

यह जो युद्ध तुमने देखा है, यह स्वप्नयुद्ध के समान भ्रान्तियुद्ध ही था, यह लीला भी, जिसके बारे में तुमने पूछा है, भ्रान्ति ही है, यहां जो मरण होता है, वह भ्रम ही है और यह संसार भी इस प्रकार भ्रमात्मक ही है ॥ २७ ॥

हे वराङ्गने ! इसी भ्रम से राजा पद्म की लीला भार्यारूप से स्थित थी। तुम और वह दोनों सर्वाङ्ग सुन्दरी ललनाएँ स्वप्नमात्र ही हो ॥ २८ ॥

हे वराङ्गने ! आपका पति यह राजा पद्म और स्वयं मैं भी वैसे ही स्वप्न मात्र ही हूँ जैसे राजा की आप दोनों सुन्दरियाँ स्वप्नमात्र हैं ॥ २९ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् की शोभा ऐसी अर्थात् भ्रममात्र ही है। यहां यह सब दृश्य भी भ्रान्तिमात्र ही है। यदि यह ज्ञान हो जाय, तो पुरुष दृश्य शब्द के अर्थ का (दृश्य मे द्रष्टा के कमत्व का) त्याग कर देता है अर्थात् द्रष्टा के स्वरूप से मुक्त हो जाता है ॥ ३० ॥

इस प्रकार यह तुम, यह संसारस्थिति और यह राजा—ये सभी भ्रान्तिरूप हैं, आत्मा की पूर्णता होने से केवल मैं आत्म में सत्यस्वरूप हूँ ॥ ३१ ॥

ये राजा लोग और हम परस्पर परिचालित होकर इस प्रकार महाचिद्घन की मिथ्या कल्पना से बन गये हैं ॥३२॥

वैसे ही मनोहर हासरूपी विलास से अलङ्कृत हाव-भावरूप लीला से चञ्चल मुख से युक्त नवयोवन से सुशोभित बड़ी दक्ष, सुन्दर आचरणों से मन को लुभाने-वाली, मीठे और उदार वचन बोलनेवाली, कोकिला के सुर के सदृश सुन्दर ध्वनिवाली, यौवन-मद से मन्दगति, नीले कमल की पंखुरियों के तुल्य विशाल नेत्रवाली, गोल और विशाल छाती से युक्त, सोने के सदृश गोरे अंगोंवाली, पके हुए बिम्वफल के सदृश लाल ओठवाली और बड़ी रमणीय रानी लीला तुम्हारे संकल्परूप पद्म की मनोवृत्ति और उसकी वासना स्वरूप होने से तुम्हारे समान आकारवाली यह चैतन्यरूप चमत्कार में स्थित हो गई है ॥ ३३—३६ ॥

तुम्हारे पति के मरने के बाद शीघ्र ही तुम्हारे संकल्परूप तुम्हारे पति ने इसे अपने सामने देखा ॥ ३७ ॥

जब चित्त अभ्यासवश दृढ़वासना से आधिभौतिक व्यावहारिक पदार्थ का स्वयं अनुभव करता है, उस अनुभव से परमार्थ सत्य हो जाता है, परन्तु वह अति-वाहिक काल्पनिक ही है ॥ ३८ ॥

विवेकज्ञानाभ्यास से चित्त व्यावहारिक पदार्थों को यदि परमार्थ सत्य नहीं जानता है तब सत्य ही उसकी वासना से प्रपञ्चरूप में प्रतिभासमान है यह निश्चय होता है ॥ ३९ ॥

मरणज्ञान से पुनर्जन्मरूप भ्रम होनेपर तुमको इस

इत्थं त्वां दृष्टवानेष दृष्टश्चैष त्वयेति च ।
त्वमप्यात्मनि संपन्ना सर्वगत्वाच्चिदात्मनः ॥ ४१ ॥
ब्रह्म सर्वगतं यस्माद्यथा यत्र यदोदितम् ।
भवत्याशु तथा तत्र स्वप्नशक्त्यैव पश्यति ॥ ४२ ॥
सर्वत्र सर्वशक्तित्वाद्यत्र याः शक्तिरुन्नयेत् ।
आस्ते तत्र तथा भाति तीव्रसंवेगहेतुतः ॥ ४३ ॥
मृतिमोहक्षणेनैव यदैतौ दम्पति स्थितौ ।
तदैवाऽऽभ्यामिदं बुद्धं प्रतिभासवशाद्धृदि ॥ ४४ ॥
आवयोः पितरावेताविमे वै चाऽपि मातरौ ।
देश एष धनं चेदं कर्मेदं पूर्वमीदृशम् ॥ ४५ ॥
आवां विवाहितावेवमेवं नामैकतां गतौ ।
एतयोः साऽपि जनता याता तत्रैव सत्यताम् ॥ ४६ ॥

राजा ने पत्नीरूप से जाना और वासनामय अन्य लीला-रूप को प्राप्त कर तुमसे संगत हुआ ॥ ४० ॥

इसलिए इस राजा ने तुमको अपनी वासनारूप ही देखा है और तुमने राजा को अपना वासनामय ही देखा है। तुम भी आत्मा में पहले जैसे तीन ब्रह्माण्डों की ब्रह्म मे स्थित थी, वैसे ही स्थित हो, क्योंकि आत्मा सब वासनाओं में व्याप्त है, इसलिए ब्रह्म की सर्वाकार विवर्त रूप में उत्पत्ति है ॥ ४१ ॥

ब्रह्म सर्वव्यापक है, इसलिए जब जहाँ जैसी वासना होती है, वहाँ वह तुरन्त वैसा ही हो जाता है और विक्षेप शक्ति से वैसा ही उसका अनुभव होता है ॥ ४२ ॥

ब्रह्म सर्वत्र सम्पूर्ण शक्तियों से समन्वित है इसलिए जहां जिस जिस रूप से भोक्ता के अदृष्टवश जिस शक्ति का आविर्भाव कराता है, वहाँ वह वैसा ही हो जाता है और दृढ़ आग्रहरूप वासना के कारण वैसी ही उसकी प्रतीति होने लगती है ॥ ४३ ॥

जब इन दो दम्पतियों का मरणानुकूल मूर्च्छा के क्षण आया, जब ये दो दम्पत्ति स्थित हुए तब वासना के जाग्रत् होने के कारण अपनी कल्पना से हृदय में यह अनुभव किया ॥ ४४ ॥

ये हमारे पिता हैं और ये हमारी माताएँ हैं, यह हमारा देश है, यह हमारा धन है, यह हमारा कर्म है और ऐसा कर्म हमने पूर्व-जन्म में किया था ॥ ४५ ॥

इस प्रकार हम लोगों का विवाह हुआ और इस प्रकार हम दोनों ने एकत्व को प्राप्त किया कल्पनात्मक इनकी वह जनता भोगकर्ता के अदृष्ट से सत्य हुई

तथैवाऽत्राऽस्ति दृष्टान्तः प्रत्यक्षं स्वप्नवेदनम् ।
इत्येवं भावया लीले लीलयाऽहमथार्ऽचिता ॥ ४७ ॥
नाऽहं स्यां विधवेत्येवं वरो दत्तो मयाऽप्यसौ ।
इत्यर्थेन मृता पूर्वमेवेह खलु बालिका ॥ ४८ ॥
भवतां चेतनांशानामहं चेतनधर्मिणी ।
कुलदेवी सदा पूज्या स्वत एव करोम्यहम् ॥ ४९ ॥
अथाऽस्या जीवको देहात् प्राणमारुतरूपधृक् ।
मनसा चलतां प्राप्तो मुखाग्रत्यक्तदेहकः ॥ ५० ॥
ततो मरणमूर्छान्ते गृहेऽस्मिन्नेव चैतया ।
बुद्धौ भावित आकाशे दृष्टो जीवात्मना ततः ॥ ५१ ॥
सम्पन्नैषा हरिणनयना चन्द्रबिम्बाननश्री-
मानोन्नद्धा दयितललिता कान्तमाभोक्तुकामा ।

है ॥ ४६ ॥

हे लीले ! स्वप्नप्रतीति यहाँ प्रत्यक्ष दृष्टान्त है, स्वाप्निक पुरुष भी स्वप्नकाल में सत्यता को प्राप्त करते ही हैं। इस प्रकार के अभिप्राय से युक्त लीला ने मेरी आराधना की थी कि मैं कभी विधवा न होउँ और मैंने भी उसे वरदान दिया था। इस कारण वह बालिका यहाँ पहले ही मर गई है ॥ ४७-४८ ॥

आपलोग स्वरूप चेतन के अंश हैं व्यष्टिचेतन आपकी समष्टिचेतना हिरण्यगर्भचेतना मैं हूँ और आप लोगों की कुलदेवी होने से सदा पूजनीय हूँ, इसलिए स्वतः ही सब कुछ करती हूँ ॥ ४९ ॥

वासनामय इस लीला के देह से निकलने की इच्छा-वाले अङ्गुष्ठपरिमाणवाले जीव ने प्राणवायु का रूप धारण कर मन से उन-उन पदार्थों की प्राप्ति के लिए उत्सुक होकर नाडीमार्ग से देह का परित्याग किया है उसके हृदय का अग्रभाग प्रद्योतित (प्रकाशित) होता है, उस आत्मज्योतिरूप प्रद्योतन से यह आत्मा नेत्रों से, सिर से अथवा अन्य शरीरभागों से निकलता है इस श्रुति में कहे गये क्रम से नाडीमार्ग से देह का परित्याग किया जाता है ॥ ५० ॥

इसके बाद वासना के कारण पूर्वजन्म के स्मरण से मरणमूर्च्छा के बाद जीवरूप से स्थित इस लीला ने ब्रह्माकाश या भूताकाशस्वरूप घर में बुद्धि में सङ्कल्पित पदार्थों को देखा ॥ ५१ ॥

मृग के समान नेत्रोंवाली चन्द्र-मण्डल के समान मुखश्री समन्वित रवि की किरणों से विकसित वासना-

पूर्वस्मृत्या सरभसमुखी संयुता मण्डलान्तः स्वप्नान्ते वाऽप्रकृतिविभवा पद्मिनी चोदितेव ॥ ५२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने मरणसमन्तरदेहप्रतिभावर्णनं नाम द्विपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५२ ॥

त्मक कलियों के समान विकसित, लावण्य कान्तिवेग सम्पन्न होने से पति के लिए प्रिय, स्वयं पति के साथ उपभोग के लिए उद्यत पूर्वशरीर की स्मृति से भावना के कारण पूर्वशरीर का स्मरण हो जाने से स्वप्न के अवसान के समान पद्मब्रह्माण्डमण्डल के अन्दर जाकर पद्मिनी की प्रेरणा के समान पति से संयुक्त हो गई ॥ ५२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में मरणसमनन्तरदेहप्रतिभावर्णन नामक कुसुमलता का बावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५२ ॥

५३

श्रीवसिष्ठ उवाच

अथ लब्धवरा देहेनाऽनेनैव महीपतिम् ।
पतिमामुं प्रयात्येषा नभोमार्गेण विष्टपम् ॥ १ ॥
इति संचिन्त्येषा सानन्दमुद्दाममकरध्वजा ।
पुप्लुवे पेलवाकारा पक्षिणीव नभस्तले ॥ २ ॥
कुमारीं तत्र सा प्राप ज्ञप्त्यैव प्रहितां हिताम् ।
स्वसङ्कल्पमहादर्शात् पुरतो निर्गतामिव ॥ ३ ॥

कुमार्युवाच

दुहिताऽस्मि सखि ! ज्ञप्तेः स्वागतं तेऽस्तु सुन्दरि ! ।
प्रतीक्षमाणा त्वामेव स्थिताऽस्मीह नभःपथि ॥ ४ ॥

लीलोवाच

देवि ! भर्तुः समीपं मां नय नीरजलोचने ! ।
महतां दर्शनं यस्मान्न कदाचन निष्फलम् ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एहि तत्रैव गच्छाव इत्युक्त्वा सा कुमारिका ।
पुरस्तस्याः स्थिता व्योम्नि मार्गदर्शनतत्परा ॥ ६ ॥
ततस्तदनुयाता सा प्राप कोटरमम्बरम् ।
निर्मलं करमालाग्रं यथा लक्षणलेखिका ॥ ७ ॥
मेघमार्गमथोल्लङ्घ्य वातस्कन्धान्तरे गता ।
सूर्यमार्गादभिगता तारामार्गमतीत्य च ॥ ८ ॥

५३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इसके बाद यह लीला जिसे सरस्वती देवी से वरदान मिला था, पूर्व वर्णित वासनामय शरीर से ही अपने स्वामी राजा पद्म को पाने के लिए आकाशमार्ग से भुवनों में जाती है ॥ १ ॥

स्मरण से देहादिभाव को प्राप्त कर पतिमिलन की सम्भावना से प्रबल कामवेदनावाली तथा छोटे से आकारवाली वह आनन्दपूर्वक आकाश में चिड़िया के समान उड़ी ॥ २ ॥

वहाँ पर उसके सङ्कल्परूपी महान् दर्पण से उसके सामने निकल हुई के समान आई उसको सरस्वती देवी के द्वारा भेजी गई उसकी कन्या मिली ॥ ३ ॥

कुमारी ने कहा :—हे सरस्वती देवी की सखि ! मैं तुम्हारी कन्या हूँ, हे सुन्दरि ! आपका स्वागत हो । मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में ही यहां आकाशमार्ग में स्थित हूँ ॥ ४ ॥

लीला ने कहा :—हे देवता के शरीर को प्राप्त हुई वत्से, हे कमललोचने ! मुझे मेरे पति के समीप में ले चलो । महान् लोगों का दर्शन कभी-भी निष्फल नहीं जाता ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—आइए, वहीं पर हम दोनों जाते हैं, यह कहकर वह कुमारी लीला के आगे हो गई और आकाश में मार्ग दिखलाने लगी ॥ ६ ॥

उस कुमारी के पीछे-पीछे चलती हुई लीला, ब्रह्माण्ड के छिद्ररूप निर्मल आशा को वैसे ही जैसे होनेवाले शुभ और अशुभ को सूचित करनेवाली ब्रह्मा की रची हुई हस्तरेखा प्राणियों के हाथ के तलवे को प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

इसके बाद लीला पहले मेघमार्ग को लांघकर प्रवह, आवह आदि वायुसमूह के मार्ग में पहुँची, अनन्तर सूर्यमार्ग से होकर, नक्षत्र मार्ग को लांघकर और शीघ्रता से

वाय्विन्द्रसुरसिद्धानां लोकानुल्लङ्घ्य लाघवात् ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्राप ब्रह्माण्डखर्परम् ॥ ९ ॥
हिमशैत्यं यथान्तःस्थं कुम्भे भिन्ने बहिर्भवेत् ।
तथा सङ्कल्पसिद्धा सा ब्रह्माण्डान्निर्गता बहिः ॥ १० ॥
स्वचित्तमात्रदेहैषा स्वसङ्कल्पस्वभावजम् ।
अन्तरेवाऽनुभवति किलैवं नाम विभ्रमम् ॥ ११ ॥
ब्रह्मादिस्थानमाक्रम्य प्राप्य ब्रह्माण्डखर्परम् ।
ततो ब्रह्माण्डपारस्था जलाद्यावरणानि च ॥ १२ ॥
समुल्लङ्घ्य पुरः प्राप महाचिद्गगनान्तरम् ।
अदृष्टपारपर्यन्तमतिवेगेन धावता ।
सर्वतो गरुडेनाऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥ १३ ॥
तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि सन्त्यसंख्यानि भूरिशः ।
तान्यन्योन्यमदृष्टानि फलानीव महावने ॥ १४ ॥
तत्रैकस्मिन् पुरःसंस्थे वितताविरणान्विते ।
वेधयित्वा विवेशाऽन्तर्बदरं कृमिको यथा ॥ १५ ॥

वायु, इन्द्रदेव और सिद्धों के लोकों का तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी के लोकों का भी अतिक्रमण कर वह ब्रह्माण्डकपाल में पहुँची ॥ ८, ९ ॥

वासनामयी वह लीला भी ब्रह्माण्ड से वैसे ही बाहर निकल गई जैसे घड़े के भीतर रक्खे हुए हिमजल की शीतलता घड़े के फूटे बिना भी बाहर निकल आती है ॥ १० ॥

सङ्कल्पमात्र शरीरवाली लीला अपने सङ्कल्प के स्वभाव से उत्पन्न इस प्रकार के गमनरूप भ्रम का अपने अन्दर ही अनुभव करती है ॥ ११ ॥

ब्रह्मा आदि के लोकों को लांघकर ब्रह्माण्ड के कपाल में पहुँची, अनन्तर ब्रह्माण्ड के पार पहुँची हुई लीला जल आदि आवरणों को पारकर बह गयी ॥ १२ ॥

अपार मायासंवलित चिदाकाश के मध्य में हैं, वह इतना विशाल है। यदि गरुड अत्यन्त वेग से सदा उड़ते रहें तब वे सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें उसके ओर छोर का पता नहीं लगा सकते ॥ १३ ॥

उसमें लाखों ब्रह्माण्ड, लाखों क्या असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे महान् वन में असंख्य फल होते हैं, उन ब्रह्माण्डों ने भी आपस में एक दूसरे को वैसे ही कभी नहीं देखा है जैसे विशाल वन में असंख्य फल होते हैं ॥ १४ ॥

उनमें से एक में, जो कि उसके सामने था और विस्तृत आवरण से समन्वित था, वैसे ही उसे छेदकर

पुनर्ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वादिलोकानुल्लाङ्घ्य भास्वरान् ।
तन्महीमण्डलं श्रीमत् प्राप तारापथादधः ॥ १६ ॥
तत्र तन्मण्डलं प्राप्य तत्पुरं तच्च मण्डपम् ।
प्रविश्य पुष्पगुप्तस्य शवस्य निकटे स्थिता ॥ १७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे सा च न ददर्श कुमारिकाम् ।
मायामिव परिज्ञातां क्वाऽपि यातां वरानना ॥ १८ ॥
मुखमालोक्य सा तस्य स्वभर्तुः शवरूपिणः ।
इदं बुद्धवती सत्यं प्रतिभावशतः स्वतः ॥ १९ ॥
अयं स भर्ता संग्रामे निहतो मम सिन्धुना ।
वीरलोकानिमान् प्राप्य क्षणं शेते यथासुखम् ॥ २० ॥
अहं देव्याः प्रसादेन सशरीरैवमीदृशम् ।
इह प्राप्तवती धन्या मत्समा नाऽस्ति काचन ॥ २१ ॥
इति सञ्चिन्त्य सा हस्ते गृहीत्वा चारु चामरम् ।
बीजयामास चन्द्रेण द्यौरिवाऽवनिमण्डलम् ॥ २२ ॥

वह उसमें वैसे ही प्रविष्ट हुई जैसे छोटा कीड़ा वेर को छेदकर भीतर घुसता है ॥ १५ ॥

पुनः ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि के देदीप्यमान लोकों को लाँघकर आकाश के नीचे राजा पद्म के समृद्ध भूमण्डल में पहुँची ॥ १६ ॥

वहाँ उस भूमण्डल में राजा पद्म के राज्य में और उसके नगर में पहुँचकर उस मण्डप में प्रविष्ट होकर फूलों से ढके हुए शव के समीप में बैठ गई ॥ १७ ॥

इतने में ही सुन्दरी लीला ने कुमारी को नहीं देखा, वह कहीं वैसे ही चली गई जैसे ज्ञान होनेपर माया कहीं चली जाती है ॥ १८ ॥

शवरूपी अपने पति का मुख देखकर लीला ने अपने तर्क से उसे सत्य समझा ॥ १९ ॥

यह मेरा स्वामी संग्राम में सिन्धु के हाथ मारा गया वीरों को प्राप्त होनेवाले इन लोकों में पहुँचकर क्षण भर के लिए आराम से सोता है ॥ २० ॥

मैं श्रीदेवीजी के प्रसाद से सशरीर ही इस प्रकार आ गई हूँ। मैं बड़ी धन्य हूँ, मेरे समान दूसरी कोई भी भाग्यशालिनी नहीं है ॥ २१ ॥

ऐसा विचारकर अपने हाथ में सुन्दर चँवर लेकर लीला वैसे ही झलने लगी अर्थात् पति के ऊपर चँवर डुलाने लगी जैसे द्युलोक चन्द्रमा से भूमिमण्डल को पंखा झलता है ॥ २२ ॥

वाय्विन्द्रसुरसिद्धानां लोकानुल्लङ्घ्य लाघवात् ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्राप ब्रह्माण्डखर्परम् ॥ ९ ॥
हिमशैत्यं यथान्तःस्थं कुम्भे भिन्ने बहिर्भवेत् ।
तथा सङ्कल्पसिद्धा सा ब्रह्माण्डान्निर्गता बहिः ॥ १० ॥
स्वचित्तमात्रदेहैषा स्वसङ्कल्पस्वभावजम् ।
अन्तरेवाऽनुभवति किलैवं नाम विभ्रमम् ॥ ११ ॥
ब्रह्मादिस्थानमाक्रम्य प्राप्य ब्रह्माण्डखर्परम् ।
ततो ब्रह्माण्डपारस्था जलाद्यावरणानि च ॥ १२ ॥
समुल्लङ्घ्य पुरः प्राप महाचिद्गगनान्तरम् ।
अदृष्टपारपर्यन्तमतिवेगेन धावता ।
सर्वतो गरुडेनाऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥ १३ ॥
तत्र ब्रह्माण्डलक्षाणि सन्त्यसंख्यानि भूरिशः ।
तान्यन्योन्यमदृष्टानि फलानीव महावने ॥ १४ ॥
तत्रैकस्मिन् पुरःसंस्थे वितताावरणान्विते ।
वेधयित्वा विवेशाऽन्तर्बदरं कृमिको यथा ॥ १५ ॥

वायु, इन्द्रदेव और सिद्धों के लोकों का तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी के लोकों का भी अतिक्रमण कर वह ब्रह्माण्डकपाल में पहुँची ॥ ८, ९ ॥

वासनामयी वह लीला भी ब्रह्माण्ड से वैसे ही बाहर निकल गई जैसे घड़े के भीतर रक्खे हुए हिमजल की शीतलता घड़े के फूटे बिना भी बाहर निकल आती है ॥ १० ॥

सङ्कल्पमात्र शरीरवाली लीला अपने सङ्कल्प के स्वभाव से उत्पन्न इस प्रकार के गमनरूप भ्रम का अपने अन्दर ही अनुभव करती है ॥ ११ ॥

ब्रह्मा आदि के लोकों को लांघकर ब्रह्माण्ड के कपाल में पहुँची, अनन्तर ब्रह्माण्ड के पार पहुँची हुई लीला जल आदि आवरणों को पारकर बह गयी ॥ १२ ॥

अपार मायासंवलित चिदाकाश के मध्य में हैं, वह इतना विशाल है। यदि गरुड अत्यन्त वेग से सदा उड़ते रहें तब वे सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें उसके ओर छोर का पता नहीं लगा सकते ॥ १३ ॥

उसमें लाखों ब्रह्माण्ड, लाखों क्या असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, वे ऐसे ही हैं जैसे महान् वन में असंख्य फल होते हैं, उन ब्रह्माण्डों ने भी आपस में एक दूसरे को वैसे ही कभी नहीं देखा है जैसे विशाल वन में असंख्य फल होते हैं ॥ १४ ॥

उनमें से एक में, जो कि उसके सामने था और विस्तृत आवरण से समन्वित था, वैसे ही उसे छेदकर वह उसमें वैसे ही प्रविष्ट हुई जैसे छोटा कीड़ा बेर को छेदकर भीतर घुसता है ॥ १५ ॥

पुनर्ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वादिलोकानुल्लाङ्घ्य भास्वरान् ।
तन्महीमण्डलं श्रीमत् प्राप तारापथादधः ॥ १६ ॥
तत्र तन्मण्डलं प्राप्य तत्पुरं तच्च मण्डपम् ।
प्रविश्य पुष्पगुप्तस्य शवस्य निकटे स्थिता ॥ १७ ॥
एतस्मिन्नन्तरे सा च न ददर्श कुमारिकाम् ।
मायामिव परिज्ञातां क्वाऽपि यातां वरानना ॥ १८ ॥
मुखमालोक्य सा तस्य स्वभर्तुः शवरूपिणः ।
इदं बुद्धवती सत्यं प्रतिभावशतः स्वतः ॥ १९ ॥
अयं स भर्ता संग्रामे निहतो मम सिन्धुना ।
वीरलोकानिमान् प्राप्य क्षणं शेते यथासुखम् ॥ २० ॥
अहं देव्याः प्रसादेन सशरीरैवमीदृशम् ।
इह प्राप्तवती धन्या मत्समा नाऽस्ति काचन ॥ २१ ॥
इति सञ्चिन्त्य सा हस्ते गृहीत्वा चारु चामरम् ।
बीजयामास चन्द्रेण द्यौरिवाऽवनिमण्डलम् ॥ २२ ॥

पुनः ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु आदि के देदीप्यमान लोकों को लाँघकर आकाश के नीचे राजा पद्म के समृद्ध भूमण्डल में पहुँची ॥ १६ ॥

वहाँ उस भूमण्डल में राजा पद्म के राज्य में और उसके नगर में पहुँचकर उस मण्डप में प्रविष्ट होकर फूलों से ढके हुए शव के समीप में बैठ गई ॥ १७ ॥

इतने में ही सुन्दरी लीला ने कुमारी को नहीं देखा, वह कहीं वैसे ही चली गई जैसे ज्ञान होनेपर माया कहीं चली जाती है ॥ १८ ॥

शवरूपी अपने पति का मुख देखकर लीला ने अपने तर्क से उसे सत्य समझा ॥ १९ ॥

यह मेरा स्वामी संग्राम में सिन्धु के हाथ मारा गया वीरों को प्राप्त होनेवाले इन लोकों में पहुँचकर क्षण भर के लिए आराम से सोता है ॥ २० ॥

मैं श्रीदेवीजी के प्रसाद से सशरीर ही इस प्रकार आ गई हूँ। मैं बड़ी धन्य हूँ, मेरे समान दूसरी कोई भी भाग्यशालिनी नहीं है ॥ २१ ॥

ऐसा विचारकर अपने हाथ में सुन्दर चँवर लेकर लीला वैसे ही झलने लगी अर्थात् पति के ऊपर चँवर डुलाने लगी जैसे द्युलोक चन्द्रमा से भूमिमण्डल को पंखा झलता है ॥ २२ ॥

अहं पृथ्व्यादिदेहः खे गतिर्नाऽस्ति ममोत्तमा ।
इति निश्चयवान्योऽन्तः कथं स्यात् सोऽन्यनिश्चयः ॥३३॥
अतो ज्ञानविवेकेन पुण्येनाऽथ वरेण च ।
पुण्यदेहेन गच्छन्ति परं लोकमनेन तु ॥ ३४ ॥
शुष्कपर्णं किलाऽङ्गारे पतदेवाऽऽशु दह्यते ।
अयं देहमहं देहः प्राप्त एव विशीर्यते ॥ ३५ ॥
एतावदेव भवति वरशापविजृम्भितैः ।
यथा संचिन्त्य एवाऽहं तथा स्मृत इति स्मृतिः ॥ ३६ ॥
यः सर्पप्रत्ययो रज्ज्वां स कथं सर्पकार्यकृत् ।
आत्मन्येव हि यो नाऽस्ति तस्य का कार्यकारिता ॥३७॥
यस्त्वेतन्मृत इत्येवं मिथ्या समनुभूयते ।
प्रागभ्यासस्य पुष्टस्य नामैतत् प्रविजृम्भते ॥ ३८ ॥
स्वानुभूते जगज्जाले सुगमाः संस्मृतिभ्रमाः ।
नाऽन्यसङ्कल्पितो नाम सर्गाद्यभ्यास ईदृशः ॥ ३९ ॥
अन्तरनुभूयमानाः संसृतयो बाह्यभूतजालानाम् ।
अविदितवेद्यदृशामपि दूरे पुंसाभिवैन्दवं बिम्बम् ॥४०॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
संसृतिविदितवेद्यं नाम त्रिपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५३ ॥

मेरा शरीर पृथिवी आदि से निर्मित है, मेरी आकाश में उत्तम गति नहीं है। जिसके अन्तःकरण में ऐसा निश्चय स्थिर है, उसमें इससे भिन्न निश्चय कैसे हो सकता है? ॥ ३३ ॥

इसलिए विवेकज्ञान से, प्रचुर पुण्य से और वरदान से इस पुण्य शरीर से लोग परलोक में जाते हैं ॥ ३४ ॥

यह स्थूल कर देह अहङ्कारवासनामय आतिवाहिक देह को प्राप्त कर वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे सूखा हुआ पत्ता जल रही अग्नि में गिरते-गिरते तुरन्त ही जल जाता है ॥ ३५ ॥

जैसा स्मरण होता है वैसा ही वर और शाप के अभ्युदय से वासना और कर्म की स्मृति होती है। चिन्तन-कर मैंने वैसा ही स्मरण किया जैसा स्मरण कराया गया ॥ ३६ ॥

रस्सी में जो सर्प की भ्रमात्मक प्रतीति होती है, वह सर्प का कार्य कैसे कर सकती है? जो पदार्थ स्वस्वरूप से नहीं है उसकी कार्यकारिता उसमें कैसे हो सकती है ॥ ३७ ॥

'यह मर गया' इस प्रकार का जो मिथ्या पदार्थ का सबको अनुभव होता है वह अनुभव खूब बढ़े हुए पूर्व-जन्म के अभ्यास के संस्कार से ही होता है ॥ ३८ ॥

अपने द्वारा जगत्-जाल खूब अनुभूत हो जाता है, यह भ्रमात्मक स्मरण बराबर अभ्यास से सुगम हो जाते हैं। इस प्रकार अन्य के सङ्कल्प से (सृष्टि का अभ्यास वर या शाप) हमारे वासना, कर्म आदि से निरपेक्ष होकर नहीं बनाया गया है ॥ ३९ ॥

जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है और जो बाहर भूत-समूह को देखते हैं, उनको संसार का भीतर ही अनुभव होता है, जैसे दूर में प्रतीत हो रहा भी मध्यस्त दूसरा चन्द्रबिम्ब के समान ही आन्तर अनुभूत होता है इसी युक्ति से कल्पित ये संसृतियां भी आन्तर ही हैं, बाह्य नहीं हैं ॥ ४० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में
संसृतिविदितवेद्य नामक कुसुमलता का तिरेपनवां सर्ग समाप्त ॥ ५३ ॥

५४

श्रीदेव्युवाच
तस्माद्ये वेद्यवेत्तारो ये वा धर्मं परं श्रिताः ।
आतिवाहिकलोकांस्ते प्राप्नुवन्तीह नेतरे ॥ १ ॥
आधिभौतिकदेहत्वं मिथ्याभ्रममयात्मकम् ।
कथं सत्ये स्थितिं याति छायाऽऽस्ते कथमातपे ॥ २ ॥

५४

श्रीदेवीजी ने कहा :—

इसलिए जो लोग तत्त्व के ज्ञाता हैं जिन लोगों ने योग के अभ्यास से जन्य परम धर्म का आश्रय लिया है, वे ही आतिवाहिक लोकों को प्राप्त करते हैं, अन्य लोग नहीं ॥ १ ॥

आधिभौतिकशरीरत्व भ्रमरूप है, वह स्थूल की

लीला विदितवेद्या नो परमं धर्ममाश्रिता ।
केवलं तेन सा भर्तुः कल्पितं नगरं गता ॥ ३ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

एवमेषा प्रयाताऽस्तु भर्ता पश्य ममाऽम्बिके ।
प्रवृत्तः प्राणसंत्यागे कर्तव्यं किमिहाऽधुना ॥ ४ ॥
भावाभावेषु भवानां कथं नियतिरागता ।
कथं भूयोऽप्यनियतिर्मृतिजन्मादिसूचिता ॥ ५ ॥
कथं स्वभावसंसिद्धिः कथं सत्ता पदार्थगा ।
कथमग्न्यादिषूष्णत्वं पृथ्व्यादौ स्थिरता कथम् ॥ ६ ॥
हिमादिषु कथं शैत्यं का सत्ता कालखादिषु ।
भावाभावग्रहोत्सर्गस्थूलसूक्ष्मदृशः कथम् ॥ ७ ॥

अपेक्षा सत्य* यानी पुण्य के उत्कर्ष से प्राप्त आतिवाहिक-रूप सत्य में कैसे स्थित हो सकता है ? आतप में छाया कैसे रह सकती है ? अर्थात् आतिवाहिकरूप सत्य में आधिभौतिक-शरीरत्व नहीं रह सकती है ॥ २ ॥

लीला को न तो तत्त्वज्ञानी था और न उसने योगाभ्यास से उत्पन्न परम धर्म का ही आश्रयण किया था, इसलिए वह केवल पति के कल्पित नगर में ही गई ॥ ३ ॥

प्रबुद्धलीला ने कहा :—हे अम्बिके ! यह लीला राजा पद्म के पास चली गई, अपनी आंखों से देखिये, यह मेरे पति प्राणों को त्याग करने लगे हैं, इस विषय में इस समय मुझे क्या करना चाहिए अर्थात् ये बातें कैसे उत्पन्न हो सकती है ? यह प्रकृति में जिज्ञास्य है ॥ ४ ॥

देह आदि भाव पदार्थों के (जीवन, सौख्य आदि) भावों में (तथा दुःख, दौर्भाग्य आदि) अभावों में पहले नियम कैसे आया और फिर मरण, जन्म आदि से सूचित अनियम भी कैसे आ गया है ॥ ५ ॥

स्वभाव की सिद्धि कैसे होगी अर्थात् यदि अनिमय मानोगे, तो जल का शैत्य ही स्वभाव, अग्नि का उष्णत्व की सिद्धि से होगी ? घटादि पदार्थों में रहने वाली सत्ता कैसे होगी उसकी भाव स्वरूपता कैसे होगी ? अग्नि आदि में उष्णता और पृथिवी आदि में स्थिरता कैसे होगी ॥ ६ ॥

हिम आदि में शीतलता कैसे होगी, काल, आकाश आदि की नित्यता कैसे होगी भाव का (सत्य रजत आदि का) ग्रहण, अभाव का (शुक्ति-रजत आदि का) त्याग कैसे होगा ? पृथिवी आदि की स्थूलता और मन, इन्द्रिय आदि की सूक्ष्मता ही है, इन नियमों का दर्शन कैसे होगा ॥ ७ ॥

कथमत्यन्तमुच्छ्रायं तृणगुल्मनरादिकम् ।
वस्तु नाऽऽयात्यनिष्टेऽपि स्थिते स्वोच्छ्रायकारणे ॥ ८ ॥

श्रीदेव्युवाच

महाप्रलयसम्पत्तौ सर्वार्थास्तमये सति ।
अनन्ताकाशमाशान्तं सद्ब्रह्मैवाऽवतिष्ठते ॥ ९ ॥
तच्चिद्रूपतया तेजकणोऽहमिति चेतति ।
स्वप्ने संविद्यथाहित्वमाकाशगमनादि च ॥ १० ॥
तेजःकणोऽसौ स्थूलत्वमात्मनाऽऽत्मनि विन्दति ।
असत्यमेव सत्याभं ब्रह्माण्डं तदिदं स्मृतम् ॥ ११ ॥
तत्राऽन्तर्ब्रह्म तद्वेत्ति ब्रह्माऽयमहमित्यथ ।
मनोराज्यं स कुरुते स्वात्मैवं तदिदं जगत् ॥ १२ ॥

अपनी ऊँचाई के कारण के रहते भी तिनका, झाड़ी, मनुष्य आदि वस्तुएँ शाल, तमाल आदि वृक्षों के तुल्य अत्यन्त ऊँचाई को क्यों नहीं प्राप्त करती हैं। इष्ट, अनिष्ट सभी जगह नियम न होने से सर्वत्र अविश्वास ही क्यों नहीं होगा ? ॥ ८ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा —महाप्रलय होनेपर जब सब पदार्थों का विनाश हो जाता है, अनन्त चिदाकाशरूपी शान्त सत् बुद्धरूप ब्रह्म ही केवल रहता है ॥ ९ ॥

जैसे स्वप्न में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य सर्पता तथा आकाशगमन आदि का अनुभव करता है, वैसे ही चिद्रूप होने के कारण मैं तेज का कण (शुद्ध चित् से व्याप्त होने के कारण चमकदार सूक्ष्म भूत) हूँ, ऐसा समझता है ॥ १० ॥

वह दीप्ति का कणरूप ब्रह्म स्वयं अपने में स्थूलता को प्राप्त करता है अर्थात् अपनी कल्पना की स्थूलता की प्राप्ति करता है, वही स्थूल यह दृश्य ब्रह्माण्ड ब्रह्म कहा गया है, जो असत्य होता हुआ भी सत्य-सा प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

उस ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्म यह मैं ब्रह्म हूँ, यह जानता है और बाह्य वासनारूप दूषित अंश से प्राणियों के कर्म के अनुरूप सृष्टि के संकल्प

[* 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्नि से अग्नित्व गया, शुक्ल, कृष्ण और लोहित ये तीन रूप ही सत्य हैं।) 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यः' (प्राण सत्य हैं, प्राणों का यह सत्य है) इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है कि सूक्ष्म में त्रिवृत्करण आदि से स्थूल अध्यस्त है, अतः स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म सत्य है।]

तस्मिन् प्रथमतः सर्गे या यथा यत्र संविदः ।
कचितातास्तथा तत्र स्थिता अद्याऽपि निश्चलाः ॥ १३ ॥
यद्यथा स्फुरितं चित्तं तत्तथा ह्यात्मचिद्भवेत् ।
स्वयमेवाऽनियमतस्तत्तत्स्यान्नेह किञ्चन ॥ १४ ॥
न च नाम न किश्चत्त्वं युज्यते विश्वरूपिणः ।
त्यक्त्वा समस्तसंस्थानं हेम तिष्ठति वै कथम् ॥ १५ ॥
सर्गादौ स्वयमेवान्तश्चिद्यथा कचिताऽऽत्मनि ।
हिमाग्न्यादितयाऽद्याऽपि सा तथाऽऽस्ते स्वसत्तया ॥१६॥
तस्मात् स्वसत्तासंत्यागः सतः कर्तुं न युज्यते ।
यदा चिदास्ते तेनेयं नियतिर्न विनश्यति ॥ १७ ॥
यद्यथा कचितं यत्र व्योमरूप्यपि पार्थिवम् ।
सर्गादौ तस्य चलितुमद्य यावन्न युज्यते ॥ १८ ॥
या यथा चित्प्रकचिता प्रतिपक्षविदं विना ।
न सा ततः प्रचलति वेदनाभ्यासतः स्वयम् ॥ १९ ॥
जगदादावनुत्पन्नं यच्चेदमनुभूयते ।
तत्संविद्व्योमकचनं स्वप्नस्त्रीसुरतं यथा ॥ २० ॥
असत्यमेव सत्याभं प्रतिभानमिदं स्थितम् ।
इति स्वभावसंपत्तिरिति भूतानुभूतयः ॥ २१ ॥
सर्गादौ या यथाऽऽरूढा संवित्कचनसन्ततिः ।
साऽद्याऽप्यचलिताऽन्येन स्थिता नियतिरुच्यते ॥ २२ ॥
गृहीतव्योमसंवित्ति चिद्व्योम व्योमतां गतम् ।
गृहीतकालसंवित्ति चिन्नभः कालतां गतम् ॥ २३ ॥
गृहीतजलसंवित्ति चिद्व्योम वारिवत् स्थितम् ।
स्वप्ने यथा हि पुरुषः पश्यत्यात्मनि वारिताम् ॥ २४ ॥
स्वप्नचित्संविदाभाति भवत्येषा यथा स्थिता ।
चिच्चमत्कारचातुर्यादसदेतत् समूहते ॥ २५ ॥

रूप से मनोराज्य करता है, वही सत्यसङ्कल्परूप मनोराज्य आत्मा यह स्वरूप जगत् है ॥ १२ ॥

उस पहली सृष्टि में संकल्प वृत्तियां जहां पर जिसे विकसित हुई है वे वहां पर वैसी ही आज भी ज्यों-की-त्यों निश्चल स्थित हैं ॥ १३ ॥

जिस प्रकार से चित्त को स्फुरण होता है, चैतन्य स्वयं ही उसी प्रकार स्फुरित होता है, क्योंकि आत्म-चैतन्य का यह स्वभाव है कि वह स्वच्छ उपाधि में प्रतिबिम्बित होता है। इसलिए कोई पदार्थ अनियत स्वभावरूप से उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १४ ॥

सोना जिस प्रकार कवच और कुण्डल के रूप में अवस्थित होता है, वैसे जो सभी वस्तु परमात्मा में अवस्थित करती है, उससे शून्य नहीं होती है ॥ १५ ॥

जगत् की कोई भी वस्तु उस विश्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है, सृष्टि के आरम्भ में जो जिस स्वभाव में आविर्भूत होता है आज भी वह उसी स्वभाव में विद्यमान है ॥ १६ ॥

वस्तु अपनी स्वाभाविक सत्तावान भी परित्याग करने में समर्थ नहीं होती है, अतः नियति का विनाश नहीं होता है ॥ १७ ॥

व्योमरूपी पृथिवी आदि सर्ग में जिस प्रकार सृष्ट हुआ था, उक्त नियति के द्वारा आज भी उसी रूप में अवस्थित है, किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होता है ॥ १८ ॥

चिति के द्वारा जिस प्रकार का विकास हुआ है उसी रूप में रहता है, प्राणी स्वभाव से जीवन और मरण एवं स्थिति आदि का अनुभव करता है, उसमें अन्यथा नहीं होता है ॥ १९ ॥

परमार्थिक दृष्टि से देखने पर यह जगत् उत्पन्न नहीं होता है। यह अनुभूत जगत् चित्स्वरूप व्योम का वैसा ही विस्तार है जैसे स्वप्न की अङ्गना के साथ सङ्गम होता है ॥ २० ॥

असत्य ही विश्व सत्यरूप में अवगत हो रहा है, यह प्राणियों की अनुभूति स्वभाव की ही सम्पत्ति है यही नियति का स्वभाव और जन्म-मरण है ॥ २१ ॥

प्रस्फुरण स्वभाव संवित् सृष्टि के आरम्भ में जिस रूप में आविर्भूत हुई है आज तक भी कोई उसे परिवर्तन नहीं कर सका है, अतः वह नियति कही है ॥ २२ ॥

सृष्टि के आरम्भ में चिदाकाश संवित् आकाशरूप से स्फुरित हुई है, और आकाशरूपता को प्राप्त हुई कालरूप से कचन स्वीकार कर चिदाकाश ही कालरूपता को प्राप्त हुआ ॥ २३ ॥

जलरूप से कचन का स्वीकार कर चिदाकाश ही जल के रूप में अवस्थित हुआ जैसे कि स्वप्न में पुरुष अपने में ही जलरूप को देखता है ॥ २४ ॥

स्वप्न के समान चिति ही सभी रूपों को प्राप्त करती है। तत्-तत् रूप को प्राप्त होनेपर भी वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है क्योंक चित् के चमत्कार अर्थात् माया के चातुर्य से प्रपञ्च असत्य होता हुआ ही अपने में सत्यता की बुद्धि उत्पन्न कराता है ॥ २५ ॥

खत्वं जलत्वमुर्वीत्वमग्निवायुत्वमप्यसत् ।
वेत्त्यन्तः स्वप्नसङ्कल्पध्यानेष्विव चितिः स्वयम् ॥२६॥
मरणानन्तरं कर्मफलानुभवनक्रमम् ।
सर्वसंदेहशान्त्यर्थं मृतिश्रेयस्करं शृणु ॥ २७ ॥
रूढाऽऽदिसर्गे नियतिर्यैकद्वित्रिचतुःशता ।
पूर्वादिष्वायुषः पुंसां तस्या मे नियतिं शृणु ॥ २८ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यशुद्ध्यशुद्धी स्वकर्मणाम् ।
न्यूनत्वे चाऽधिकत्वे च नृणां कारणमायुषः ॥ २९ ॥
स्वकर्मधर्मे ह्रसति ह्रसत्यायुर्नृणामिह ।
वृद्धे वृद्धिमुपायाति सममेव भवेत् समे ॥ ३० ॥
बालमृत्युप्रदैर्बालो युवा यौवनमृत्युदैः ।

जैसे स्वप्न, सङ्कल्प और ध्यान में असत् वस्तु को ही अन्तःकरण अपनी कल्पना से जानता है, वैसे ही आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व भी वैसे ही असत् हैं किन्तु इसके असत् होनेपर भी सङ्कल्प स्वप्न के देखने के समान और ध्यान आदि के समान अपने अन्दर में इनके अवस्थान का मायावश अनुभव करता है ॥ २६ ॥

तुम्हारे सब सन्देह मिट जायंगे तुम्हारे सभी प्रकार के सन्देहों की निवृत्ति के लिए तुम्हारे सम्मुख मरने के बाद अपने आपके कर्मफलों के अनुभव का क्रम कहता हूँ सुनो, तुम्हारे मुंह में लोक में प्रसिद्ध होकर यह और लोगों में आस्तिकबुद्धि उत्पन्न करके मरनेपर उनके लिए भी कल्याणकारी सिद्ध होगा ॥ २७ ॥

सृष्टि के आरम्भ में यह नियति अर्थात् नियम भी उत्पन्न हुआ था । मनुष्य की परम आयु सतयुग में चार सौ, त्रेता में तीन सौ, द्वापर में दो सौ, कलियुग में एक सौ है—यही मनु का अभिमत निर्देश है। (विभिन्न वत्सर होने से ज्योतिष के अनुसार गणना करने से अधिक ही होता है) ।

इस नियति की अवान्तर नियति है। उक्त आयु न्यून और अधिक होने से अन्य नियति है। न्यून और अधिक का कारण कहता हूँ सुनो ॥ २८ ॥

कर्म, देश, काल, अनुष्ठान और द्रव्य की अशुद्धता और शुद्धता तथा न्यूनता और अधिकता मनुष्यों की आयु में कारण है ॥ २९ ॥

अपने आचार के अनुरूप कर्म और धर्म का ह्रास होनेपर मनुष्यों की आयु का ह्रास होता है, स्वकर्मधर्म की वृद्धि होनेपर वृद्धि होती है, स्वकर्मधर्म का शास्त्रा-

वृद्धमृत्युप्रदैर्वृद्धः कर्मभिर्मृतिमृच्छति ॥ ३१ ॥
यो यथाशास्त्रमारब्धं स्वधर्ममनुतिष्ठति ।
भाजनं भवति श्रीमान् स यथाशास्त्रमायुषः ॥ ३२ ॥
एवं कर्मानुसारेण जन्तुरन्त्यां दशामितः ।
भवन्त्यन्तं गतवतो दुङ्मर्मच्छेदवेदनाः ॥ ३३ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

मरणं मे समासेन कथयेन्दुसमानने ।
किं सुखं मरणं किं वा दुःखं मृत्वा च किं भवेत् ॥ ३४ ॥

श्रीदेव्युवाच

त्रिविधाः पुरुषाः सन्ति देहस्याऽन्ते मुमूर्षवः ।
मूर्खोऽथ धारणाभ्यासी युक्तिमान् पुरुषस्तथा ॥ ३५ ॥

नुसार अनुष्ठान होनेपर उसमें कमी-बेशी न करने पर सम ही अर्थात् उस युग में जितनी नियत है उतनी ही रहती है ॥ ३० ॥

बाल्यावस्था में मृत्युप्रद कर्मों से बाल्यावस्था में ही मृत्यु हो जाती है अर्थात् जिसकर्म के करने से बाल्यावस्था में मृत्यु होती वैसे आचरणों का अनुष्ठान करने से युवावस्था में मृत्यु देनेवाले कर्मों से वृद्ध होकर मरता है ॥ ३१ ॥

शास्त्र में कथित धर्म का अतिक्रमण किये बिना आरम्भ किये गये अपने धर्म का अनुष्ठान करता है, वह पुण्यात्मा पुरुष शास्त्र में वर्णित पूर्ण आयु का भाजन होता है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अपने कर्मों के अनुसार जीव अन्त्य दशा को प्राप्त करता है, आयु की समाप्ति प्राप्त कर पुरुष को मर्म को आहत करनेवाली वेदनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव करता है अर्थात् पुराण में कहा गया है कि प्राण के निकलने के समय जीव हजारों बिच्छू के डसने की पीड़ा का अनुभव करता है ॥ ३३ ॥

प्रबुद्ध लीला ने कहा—हे चन्द्र के समान वदने, मुझसे आप संक्षेप से मरण का वृत्तान्त कहें, क्या मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप है और मरने के बाद क्या होता है ! आशय यह है कि मरणदुःख सबको समान होता है या किसी को सुख भी होता है और मरने के बाद क्या सबकी एक-सी गति होती है ॥ ३४ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा—मुमूर्षु अर्थात् मरने के इच्छुक पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—मूर्ख, धारणा का अभ्यासवाला तथा युक्तिमान् ॥ ३५ ॥

अभ्यस्य धारणानिष्ठो देहं त्यक्त्वा यथासुखम् ।
प्रयाति धारणाभ्यासी युक्तियुक्तस्तथैव च ॥ ३६ ॥
धारणा यस्य नाऽभ्यासं प्राप्ता नैव च युक्तिमान् ।
मूर्खः स्वमृतिकालेऽसौ दुःखमेत्यवशाशयः ॥ ३७ ॥
वासनावेशवैवश्यं भावयन्विषयाशयः ।
दीनतां परमामेति परिलूनमिवाऽम्बुजम् ॥ ३८ ॥
अशास्त्रसंस्कृतमतिरसज्जनपरायणः ।
मृतावनुभवत्यन्तर्दाहमग्नाविव च्युतः ॥ ३९ ॥
यदा घर्घरकण्ठत्वं वैरूप्यं दृष्टिवर्णजम् ।
गच्छत्येषोऽविवेकात्मा तदा भवति दीनधीः ॥ ४० ॥
परमान्ध्यमनालोको दिवाऽप्युदिततारकः ।
साभ्रदिङ्मण्डलाभोगो घनमेचकिताम्बरः ॥ ४१ ॥
मर्मव्यथाविच्छुरितः प्रभ्रमद्दृष्टिमण्डलः ।
आकाशीभूतवसुधो वसुधाभूतखान्तरः ॥ ४२ ॥
परिवृत्तककुप्चक्र उह्यमान इवाऽर्णवे ।
नीयमान इवाऽऽकाशे घननिद्रोन्मुखाशयः ॥ ४३ ॥
अन्धकूप इवाऽऽपन्नः शिलान्तरिव योजितः ।
स्वयं जडीभवद्वर्णो विनिकृत्त इवाऽऽशये ॥ ४४ ॥
पततीव नभोमार्गात्तृणावर्त इवार्पितः ।
रथे द्रुत इवाऽऽरूढो हिमवद् गलनोन्मुखः ॥ ४५ ॥
व्याकुर्वन्निव संसारं बान्धवानस्पृशन्निव ।
भ्रमितक्षेपणेनेव वातयन्त्र इवाऽऽस्थितः ॥ ४६ ॥
भ्रमितो वा भ्रम इव कृष्टो रसनयेव वा ।
भ्रमन्निव जलावर्ते शस्त्रयन्त्र इवार्पितः ॥ ४७ ॥
प्रोह्यमानस्तृणमिव वहत्पर्जन्यमारुते ।
आरुह्य वारिपूरेण निपतन्निव चार्णवे ॥ ४८ ॥

अपनी इच्छा के अनुसार उत्क्रमण में, निर्गमन में, परकायप्रवेश में, अपने अभीष्ट लोक की प्राप्ति के मार्गभूत नाड़ी द्वारा विशेष प्रकार से निकलने और प्रवेश करने में निपुणता का अभ्यास हो गया हो। उनमें धारणानिष्ठ पुरुष क्रम से युक्ति का अभ्यास कर देह का त्याग कर देह के अन्त में सुखपूर्वक जाता है, युक्तिमान् पुरुष वैसा ही रहकर सुख को प्राप्त करता है जिस पुरुष वैसा ही रहकर सुख को प्राप्त करता है। प्राण और मन इन दोनों को नाभि, हृदय, कण्ठ और ब्रह्मरन्ध्र इन स्थानों में धारण करने का जिसको अभ्यास हो जाता है, वह धारणाभ्यासी है। जो इच्छा के अनुसार और अन्य शरीर में प्रवेश की कुशलता को जानता है, उसे अभीष्ट लोक में गमन की नाड़ी मार्ग अवगत रहता है, वह युक्तिमान् कहा जाता है ॥ ३६ ॥

जिस पुरुष को न तो धारण का अभ्यास है और न युक्ति ही उसके पास है, ऐसा मूर्ख पुरुष विवश होकर दुःख को ही प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

वासना के आवेश के कारण पराधीनचित्त विषयों का ही चिन्तन करनेवाला पुरुष कटे हुए कमल के समान अत्यन्त दीनता को प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

जिसकी बुद्धि शास्त्रों से संस्कृत नहीं है और जो असज्जनों की संगति में परायण है, वह मरने पर अग्नि में गिरे हुए पुरुष के समान अन्तर्दाह का अनुभव करता है ॥ ३९ ॥

उस अविवेकी का कण्ठ जब कफ से 'घर, घर' शब्द करता है और दृष्टि तथा वर्ण विरूप हो जाते हैं, तब वह बड़ा दयनीय हो जाता है अर्थात् अतिशय दीनता के साथ प्राण का त्याग करता है ॥ ४० ॥

वह परम अन्धकार को प्राप्त कर प्रकाश से वञ्चित रहता है, दिन में ही उसके लिए तारे उगे रहते हैं, उसका आकाश अत्यन्त तिमिराच्छन्न उसके चारों ओर दसों दिशाओं में मेघ व्याप्त रहते हैं ॥ ४१ ॥

मर्मपीड़ा से वह पीड़ित रहता है, उसकी दृष्टि चक्कर खाती रहती है, पृथिवी उसके लिए आकाश बन जाती है, आकाश पृथिवी बन जाता है ॥ ४२ ॥

दिशाएँ उसे घूमती हुई प्रतीत होती हैं, समुद्र में बहाये जाने के समान, आकाश में ले जाये के समान, अंधे कुएँ में गिरे हुए के समान शिला के अन्दर घुसाये हुए के समान, प्रबल निद्रा को प्राप्त करते हुए के समान पराधीन रहता है। अपने दुःखों को कहने की इच्छा होनेपर भी वाणी का स्तम्भ हो जाने से उसके मुँह से अक्षर नहीं निकलते हैं, वह हृदय में काटा हुए के समान आकाशमार्ग से गिरते हुए के समान सा, प्रबल आँधी में डाले हुए के समान, तेज दौड़नेवाले रथ में बैठे हुए के समान, हिमशिला के समान, गलता हुए के समान अपने को उदाहरण बनाकर लोगों में संसार-दुःख का व्याख्यान करते हुए के समान, पत्थर को फेंकने के यन्त्र से घुमाये हुए के समान, वायुयन्त्र में रक्खे हुए के समान, भ्रमियन्त्र घुमाये गये के समान सा, रस्सी से खींचे हुए के समान सा, जल की भौंरी में घूमते हुए के समान शस्त्रयन्त्र (आरे आदि में या अन्य प्रकार की काटने की मशीन में) रखे हुए के

अनन्तगगने श्वभ्रे चक्रावर्ते पतन्निव ।
अब्धिरुर्वीविपर्यासदशामनुभवन् स्थितः ॥ ४९ ॥
पतन्निवाऽनवरतं प्रोत्पतन्निव चाऽभितः ।
सूत्काराकर्णनोद्भ्रान्तपूर्णसर्वेन्द्रियव्रणः ॥ ५० ॥
क्रमात् श्यामलतां यान्ति तस्य सर्वाक्षसंविदः ।
यथाऽस्तं गच्छति रवौ मन्दालोकतया दिशः ॥ ५१ ॥
पूर्वापरं न जानाति स्मृतिस्तानवमागता ।
यथा पाश्चात्यसन्ध्यान्ते नष्टा दृष्टिर्दिगष्टके ॥ ५२ ॥
मनः कल्पनसामर्थ्यं त्यजत्यस्य विमोहतः ।
अविवेकेन तेनाऽसौ महामोहे निमज्जति ॥ ५३ ॥
यदैवाऽऽमोहमादत्ते नाऽऽदत्ते पवनस्तदा ।
न त्वादत्ते यदा प्राणान्मोहमायात्यलं तदा ॥ ५४ ॥

समान तृण के समान, बहाया जाते हुए के समान, बह रहे पर्जन्यवायु में बैठकर जलप्रवाह के साथ समुद्र में गिरते हुए के समान, चक्रावर्तरूप असीम आकाशरूप छिद्र में गिरते हुए के समान, पृथिवी की विपर्यास दशा का अनुभव करते हुए के समान स्थित रहता है। निरन्तर चारों ओर से नीचे गिरते हुए और ऊपर उछलते हुए समुद्र के समान अस्थिर रहता है, निःश्वास के शब्द के श्रवण से उसके सब इन्द्रियरूपी व्रण उदभ्रान्त हो जाते हैं ॥ ४३-५० ॥

उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्तियाँ वैसे ही धुंधली पड़ जाती हैं जैसे सूर्य के अस्त होनेपर मन्द-मन्द प्रकाशवाली दिशाएँ काली होती जाती हैं, अर्थात् विषयों को ग्रहण करने की शक्ति क्षीण पड़ जाती है ॥ ५१ ॥

क्षीणता को प्राप्त हुई उसकी स्मृति पूर्वापर को वैसे ही नहीं जानती है जैसे पश्चिम सन्ध्या के बाद नष्ट हुई नेत्रशक्ति आठों दिशाओं में पूर्वापर को नहीं जानती ॥५२॥

मन में मोह हो जाने के कारण कल्पना शक्ति त्याग कर देती है, इसलिए अविवेकवश महामोह में गिर पड़ता है ॥ ५३ ॥

जब देही अल्प मूर्च्छा को प्राप्त करता है, तब उसके प्राण अङ्ग-प्रत्यङ्गों को धारण नहीं कर सकते हैं और जब वह प्राणों को भी नहीं चला सकता है तब वह गाढ़ मूर्छा को प्राप्त करता है ॥ ५४ ॥

मोह स्वरूप परिचय शून्यता, संवेदन संस्काररूप में स्थित विषयवासनाएँ और भ्रम=अन्यथा ज्ञान ये जब एक दूसरे से पुष्ट होते हैं, तब जीव पाषाण के समान

अन्योन्यपुष्टतां यातैर्मोहसंवेदनभ्रमैः ।
जन्तुः पाषाणतामेति स्थितमित्यादिसर्गतः ॥ ५५ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

व्यथां विमोहं मूर्छान्तं भ्रमं व्याधिमचेतनाम् ।
किमर्थमयमायाति देहो ह्यष्टाङ्गवानपि ॥ ५६ ॥

श्रीदेव्युवाच

एवं संविहितं कर्म सर्गादौ स्पन्दसंविदा ।
यद्यस्मिन् समये दुःखं कालेनैतावतेदृशम् ॥ ५७ ॥
स्यान्मे इत्येव संविश्य गुल्मवत्तत्स्वभावजम् ।
वेत्ति चित्तविजृम्भोत्थं नाऽन्यदत्राऽस्ति कारणम् ॥५८॥
यदा व्यथावशान्नाड्यः स्वसङ्कोचविकासनैः ।
गृह्णन्ति मारुतो देहे तदोज्झति निजां स्थितिम् ॥ ५९॥

जड़ हो जाता है, यही नियम आदि सृष्टि से चला आ रहा है ॥ ५५ ॥

प्रबुद्ध लीला ने कहा—सिर, हाथ, चरण, मलमूत्र के द्वार, नाभि और हृदय इन आठ अङ्गों से युक्त होते हुए भी यह देह व्रीड़ा, मूर्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतनता को क्यों प्राप्त करता है ? ॥ ५६ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा—ईश्वर सृष्टि के स्पन्दसंवितर=क्रियाशक्ति प्रधानता परमेश्वर ने इस प्रकार सङ्कल्परूप कर्म का विधान किया है, अर्थात् कि इस समय में समय ही बाल्यावस्था में, युवावस्था में, और वृद्धावस्था में एवं मृत्यु के समय इतने काल तक भोगने योग्य इस प्रकार का दुःख मुझसे अभिन्न जीव को प्राप्त हो ॥ ५७ ॥

मुझे प्राप्त हो इस अपने सङ्कल्प के स्वभाव से उत्पन्न दुःख को स्वयं ही जीवरूप से देहादि उपाधि में अपने चित्त के स्वभाव से कल्पित वृक्षों के झुरमुट के समान प्रवेशकर उसका भोग करता है। उसके दुःखभोग में दूसरा कारण नहीं है आशय यह है कि स्वकल्पित वृक्ष गुल्म आदि अपने दुःखों के अनुभव का कारण होता है वैसे ही इस हिरण्यगर्भ के सङ्कल्प से उत्पन्न उपाधि=देह में अनुप्रविष्ट हिरण्यगर्भ जीवभाव में विराजमान रहता है, उपाधि में होनेवाला दुःख आदि उसके दुःख के समान प्रसिद्ध होता है। इसलिए इस विषय में चैतन्य का विजृम्भण से अतिरिक्त अन्य कोई भी कारण नहीं है। सत्य सङ्कल्प भगवान् का यह सङ्कल्प स्वभाव और नियति के नाम से कहा जाता है ॥ ५८ ॥

पीड़ावश जब नाडियाँ सङ्कोच-विकास से खाये और पीये गये पदार्थों के रस को विषमता के साथ=आसमान

प्रविष्टा न विनिर्यान्ति गताः सम्प्रविशन्ति नो ।
यदा वाता विनाडीत्वात्तदाऽस्पन्दात्मृतिर्भवेत् ॥ ६० ॥
न विशत्येव वातो न निर्याति पवनो यदा ।
शरीरनाडीवैधुर्यान्मृत इत्युच्यते तदा ॥ ६१ ॥
आगन्तव्यो मया नाशः कालेनैतावतेऽति या ।
पूर्वसंविदिता संविद्याति तच्चोदिता मृतिम् ॥ ६२ ॥
ईदृशेन मयेहेत्थं भाव्यमित्यादिसर्गजा ।
संविद्बीजकलानाशं न कदाचन गच्छति ॥ ६३ ॥
संविदो वेदनं नाम स्वभावोऽव्यतिरेकवान् ।
तस्मात् स्वभावसंवित्तेर्नाऽन्ये मरणजन्मनी ॥ ६४ ॥

रूप में ग्रहण करती हैं, तब समान नाम का वायु खाये-पीये गये पदार्थों के रस के समीकरणरूप अपने काम को छोड़ देता है ॥ ५९ ॥

जब नाड़ियों के मार्ग से प्रविष्ट वायु बाहर नहीं आती और बाहर निकली हुई वायु उनमें प्रवेश नहीं करती तब नाड़ियों के व्यापार के रुक जानेपर पुरुष शून्य हो जाता है अर्थात् निःश्वास-प्रश्वास से शून्य हो जाता है। अतएव चक्षु आदि का स्पन्दन न होने से स्मरण ही भीतर रहता है, इन्द्रियज्ञान नहीं रहता है। निःश्वास-प्रश्वास स्थगित हो जाने से नाड़ी का कार्य रुककर नाड़ी और चक्षु आदि निश्चल निस्पन्द हो जाती है, फलतः, इस समय इन्द्रिय सम्बन्धि ज्ञान नहीं रहता है, केवल पूर्व अर्जित ज्ञान का अस्पष्ट संस्कार मात्र अन्दर में विराजमान रहता है ॥ ६० ॥

जब अपान वायु न तो प्रवेश हीं करती है मुख और नासिका से प्राण वायु भी बाहर नहीं निकलती है, तब शरीर की नाड़ियाँ स्पन्दन शून्य हो जाने के कारण पुरुष मृतक कहा जाता है ॥ ६१ ॥

मुझे इतने काल में नाश को प्राप्त होना चाहिये इस प्रकार की पूर्वजन्म के चित् सङ्कल्प से युक्त नियति द्वारा प्रेरित संवित् नष्ट भी जाती है ॥ ६२ ॥

इस प्रकार मैं हूँ, मुझे इस स्थान में इस प्रकार जन्म लेना होगा, इस तरह की आदि सृष्टि में उत्पन्न हुई सत्यसंकल्प के संस्कार से युक्त माया कभी भी नष्ट नहीं होती है अर्थात् जन्म और मरण से उसका नाश नहीं होता है ॥ ६३ ॥

संवित् का वेदन अर्थात् स्वभाव व्यतिरेक हैं, इसलिए जन्म और मरण स्वभाव संवित् से भिन्न नहीं हैं अर्थात् जब तक आविद्यिक जीव-चैतन्य रहेगा, तब तक जन्म और मरण से उसका छुटकारा नहीं होता है ॥ ६४ ॥

क्वचिदावृतिमत्सौम्यं क्वचिन्नद्यां जलं यथा ।
क्वचित्सौम्यं क्वचिज्जीवधर्मेदं चेतनं तथा ॥ ६५ ॥
यथा लतायाः पर्वाणि दीर्घाया मध्यमध्यतः ।
तथा चेतनसत्ताया जन्मानि मरणानि च ॥ ६६ ॥
न जायते न म्रियते चेतनः पुरुषः क्वचित् ।
स्वप्नसंभ्रमवद्भ्रान्तमेतत् पश्यति केवलम् ॥ ६७ ॥
पुरुषश्चेतनामात्रं स कदा क्वेव नश्यति ।
चेतनव्यतिरिक्तत्वे वदाऽन्यत्किं पुमान् भवेत् ॥ ६८ ॥
कोऽद्य यावन्मृतं ब्रूहि चेतनं कस्य किं कथम् ।
म्रियन्ते देहलक्षाणि चेतनं स्थितमक्षयम् ॥ ६९ ॥

यह चेतन सांसारिक जीव भी कभी सौम्य निर्मल और कभी राग, द्वेष आदि से कलुषित वैसे ही हो जाता है जैसे नदी में जल कभी आवर्तयुक्त अर्थात् अस्थिर मैला होता है और कभी स्थिर निर्मल हो जाता है आशय यह है कि प्रवाहशाली नदी का जल जैसे कभी मलिन, कभी निर्मल, कभी अस्थिर और सुस्थिर होता है, वैसे ही जीव चैतन्य भी कभी साधना आदि के द्वारा निर्मल और कभी राग-द्वेष के द्वारा कलुषित होता है ॥ ६५ ॥

चेतन सत्ता के मध्य-मध्य में जन्म और मरण वैसे ही होते हैं जैसे लम्बी दूब आदि की लताओं के बीच-बीच में गाँठे होती हैं। आशय यह है कि लता आदि के मध्य-मध्य में गाँठ रहती है वैसे ही जीव चैतन्य भी जन्म और मृत्यु रूप गाँठ से उत्पन्न है। किन्तु अज्ञानी की नियति है मुक्त पुरुष के लिए ये सभी मिथ्या अविद्या कल्पित हो प्रतिभान होता है ॥ ६६ ॥

चेतन पुरुष न तो कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है, ('न जायते म्रियते वा विपश्चित्' यह श्रुति है) भ्रान्त पुरुष ही स्वप्न काल के भ्रम के समान जन्म, मरण आदि को देखता है ॥ ६७ ॥

चेतनमात्र ही तो पुरुष=पुरुष कौन होगा? यदि पुरुष को चेतन से अतिरिक्त मानोगे तो बताओ चेतन पदार्थ ही पुरुष है, उसका कभी नाश नहीं होता है। किसी समय भी उसका विनाश नहीं होता है चेतन पुरुष को छोड़कर अन्य किसको तुम आत्मा से ज्ञान दे सकते हो। शरीर, इन्द्रिय, मन ये पुरुष आत्मा नहीं है, क्योंकि, ये जड़ हैं, जड़ दृश्य के प्रकाश में या दृश्य के अनुभव में असमर्थ हैं। साक्षी के अर्थात् ज्ञाता के अभाव में चेतन का मरण सम्भव नहीं है, अद्यावधि जितने की मृत्यु देखी गई है, उनमें किसी ने चैतन्य की मृत्यु देखी है, लाखों शरीर ही मरता है, चैतन्य अक्षय रूप में अवस्थित करता

अमरिष्यन्न वै चित्तमेकस्मिन्नेव तन्मृते ।
अभविष्यत् सर्वभावमृतिरेकमृताविह ॥ ७० ॥
वासनामात्रवैचित्र्यं यज्जीवोऽनुभवेत् स्वयम् ।
तस्यैव जीवमरणे नामनी परिकल्पिते ॥ ७१ ॥
एवं न कश्चिन्म्रियते जायते न च कश्चन ।
वासनावर्तगर्तेषु जीवो लुठति केवलम् ॥ ७२ ॥
अत्यन्तासम्भवादेव दृश्यस्याऽसौ च वासना ।
नाऽस्त्येवेति विचारेण दृढज्ञातैव नश्यति ॥ ७३ ॥
अनुदितमुदितं जगत्प्रबन्धं
भवभयतोऽभ्यसनैर्विलोक्य सम्यक् ।
अलमनुदितवासनो हि जीवो
भवति विमुक्त इतीह सत्यवस्तु ॥ ७४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये उत्पत्तिप्रकरणे
लीलोपाख्याने मरणविचारो नाम चतुःपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५४ ॥

है। आशय यह है कि चेतन की दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है, उसका विनाश नहीं है, जड़ शरीर मरता है, चेतन सदा अविनाशी के रूप में रहता है ॥ ६८, ६९ ॥

प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न चेतन नहीं है (प्रत्युत 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिरूप प्रमाण से सब देहों में एक ही चेतन है,) वह एक चेतन यदि मर जाय, तो समष्टि और व्यष्टि का चित्त, जिसकी सत्ता और स्फूर्ति उसी के अधीन है, कैसे नहीं मरेगा ? अर्थात् अवश्य ही मर जायगा। समष्टि और व्यष्टि के चित्त के मर जाने पर चित्त मात्र रूप जगत् की उपादान से शून्य होकर सत्ता ही नहीं रह सकती है। इसलिए एक के मरने पर भूतों की मृत्युरूप दोष होगा आशय यह है कि सम्पूर्ण विश्व वासना का वैचित्र्य है, उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतः, किसी जीव की वास्तविक मृत्यु नहीं होती है और न जन्म होता है वह केवल अपनी वासना के अनुरूप अपने द्वारा कल्पित गर्त में पुनः पुनः लुण्ठित होता है ॥ ७० ॥

जीव जिस जन्म-मरण का अनुभव करता है, वह केवल वासना का चमत्कार है। वासना चमत्कार के ही जीवन और मरण दो नाम हैं ॥ ७१ ॥

इस प्रकार न तो कोई मरता है और न कोई जन्म लेता है। केवल जीव अपनी वासनारूपी जल-भौंरी के गड्ढे में गिरता है ॥ ७२ ॥

दृश्य का सर्वथा असंभव होने से यह वासना नहीं है, इस प्रकार के विचार से दृढ़ ज्ञाता अन्तःकरण अवश्य नष्ट हो जाता है ॥ ७३ ॥

वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न अधिकारी जीव गुरुमुख से श्रवण आदि के अभ्यास से भ्रमवश प्रतीत हो रहे जगत्-प्रपञ्च को यह परमार्थरूप से उदित नहीं हुआ है, यह तत्त्वज्ञान से देख कर अज्ञान के हटने से सर्वथा द्वैत-वासना से शून्य हो विमुक्त हो जाता है, विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ परमार्थ वस्तु है, उससे अतिरिक्त कल्पित है। आशय यह है कि दृढ़ विचार के द्वारा दृश्य वस्तु का अत्यन असम्भव बोध होने पर वासना का विनाश हो जाता है, वासना का विनाश होने पर दृश्य की सत्यता दृश्य दर्शन नहीं रहता है, जीव गुरु के उपदेश श्रवण, मनन आदि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा तत्त्व-ज्ञान होता है, तत्त्व ज्ञान होने पर मिथ्या प्रतिभात जगत् का अनुदय मन में स्थिर होकर द्वैत वासना से विहीन हो भवबाधा से मुक्त हो जाता है।

शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त इनमें कोई भी पुरुष नहीं है, ये सभी जड़ हैं, ये पदार्थ का प्रकाश नहीं करते हैं और न स्वयं भोग का अनुभव ही करते हैं, शरीर में चेतना ही पुरुष है, चैतन्य ही सर्व-साक्षी है, चेतन मरता है—इस सिद्धान्त का कोई साक्षी नहीं है। चेतना सम्बद्ध शरीर का मरण ही साक्षी सिद्ध है। चेतना की मृत्यु का कोई साक्षी नहीं है। क्या किसी ने कभी चेतना को मरते देखा है, विनाश ही तो मरण है, देहान्तर की प्राप्ति मरण नहीं है। चेतना का स्वतः विनाश और दूसरे से विनाश ये दोनों ही असङ्गत हैं। देहान्तर की प्राप्ति चेतना के अमरत्व के विना असम्भव है। प्रत्येक शरीर में चेतना विभिन्न है, इसमें प्रमाण न होने से श्रौत प्रमाण से एक चैतन्य पक्ष ही प्रामाणिक है। चैतन्य का मरण मानने पर एक के मरने पर सभी के मरण की आपत्ति होगी, क्योंकि, एक के मरने पर सर्व मरण निष्पन्न नहीं होता है। अतः आत्मा का मरण नहीं हो सकता है, देह आदि का ही मरण होता है, पुरुष का मरण कल्पना मात्र है ॥ ७४ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में
मरणविचार नामक कुसुमलता का चौवनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५४ ॥

५५

प्रबुद्धलीलोवाच

यथैव जन्तुर्म्रियते जायते च यथा पुनः ।
तन्मे कथय देवेशि ! पुनर्बोधविवृद्धये ॥ १ ॥

श्रीदेव्युवाच

नाडीप्रवाहे विधुरे यदा वातविसंस्थितिम् ।
जन्तुः प्राप्नोति हि तदा शाम्यतीवाऽस्य चेतना ॥ २ ॥
शुद्धं हि चेतनं नित्यं नोदेति न च शाम्यति ।
स्थावरे जङ्गमे व्योम्नि शैलेऽग्नौ पवने स्थितम् ॥ ३ ॥
केवलं वातसंरोधाद्यदा स्पन्दः प्रशाम्यति ।
मृत इत्युच्यते देहस्तदाऽसौ जडनामकः ॥ ४ ॥
तस्मिन् देहे शवीभूते वाते चाऽनिलतां गते ।
चेतनं वासनामुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति ॥ ५ ॥
जीव इत्युच्यते तस्य नामाऽणोर्वासनावतः ।
तत्रैवाऽऽस्ते स च शवागारे गगनके तथा ॥ ६ ॥
ततोऽसौ प्रेतशब्देन प्रोच्यते व्यवहारिभिः ।
चेतनं वासनामिश्रमामोदानिलवत्स्थितम् ॥ ७ ॥
इदं दृश्यं परित्यज्य यदाऽऽस्ते दर्शनान्तरे ।
स स्वप्न इव सङ्कल्प इव नानाकृतिस्तदा ॥ ८ ॥

५५

प्रबुद्धलीला ने कहा :—हे देवेशि ! प्राणी मरता है और जैसे पुनः पैदा होता है, इन दो विषयों को फिर आप विस्तार से मुझसे कहिये । बार-बार सुनने से वैराग्य बढ़ेगा और उससे ज्ञान की वृद्धि होगी ॥ १ ॥

श्रीदेवीजी ने कहा—नाडी का प्रवाह==नाडियों की गति रुक जाने पर प्राणियों के प्राण-वायुओं की विसंस्थिति चलन स्वभाव नहीं रहता है अर्थात् गति का अवरोध होता है, उस समय उसकी चेतना शक्ति, अन्तः-करण रूप उपाधि की उपशान्ति हो जाने से, शान्त के समान परिदृष्टि होती है ॥ २ ॥

चेतन मल के सम्पर्क से रहित तथा नित्य है, न तो उसका उदय और न विनाश होता है । वह चर-अचर सब जीवों में, आकाश में, पर्वत में, अग्नि में और वायु में स्थित है । आशय यह है कि अभिव्यञ्जक अन्तःकरण आदि के विनष्ट होने से यह प्रतीत होता है कि चेतना का भी विनाश हो गया है, चेतना शुद्ध स्वभाव और नित्य है, इसकी उत्पत्ति, विनाश उदित और दृश्यरूपता नहीं है, स्थावर, जङ्गम, आकाश, पर्वत और अग्नि आदि सभी पदार्थों में अवस्थित रहता है, वह विभु शुद्ध-बुद्ध चैतन्य एकरस है ॥ ३ ॥

[इससे यह सिद्ध हुआ कि मरण देह का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं—'केवलम्' इत्यादि से ।]

शरीर में प्राणवायु की गति रुकने से स्पन्दन चेष्टा शान्त हो जाती है, उस समय जड़ नामक यह देह, 'मृत' कही जाती है ॥ ४ ॥

इस देह के मुर्दा बनने पर, प्राणवायु अपने कारणरूप महावायु में लीन हो जाता है, वासनारहित चेतन आत्म-तत्त्व में लीन हो जाता है अर्थात् प्राण तेज के साथ प्राज्ञ आत्मा में लीन हो जाते हैं, उपाधि का विनाश होनेपर जीव भी वासनाओं के साथ परमात्मरूप से अवस्थित हो जाता है ॥ ५ ॥

जीव चेतना पृथक् पदार्थ न होने पर भी जन्म बीज की वासना से युक्त होने से भिन्न के समान व्यवहार का विषय होता है, इसलिए वासना विशिष्ट चेतना को जीव कहा जाता है, जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है । यह जीव अपने स्थान में रहकर ही वासना के द्वारा परलोक के गमनागमन का अनुभव करता है वस्तुतः गमन और आगमन नहीं करता है, जैसे उस शवगृह के आकाश में तुम्हारे पति का जीव उस वासगृह में अवस्थित रहते हुए भी वासना के अनुसार परलोक में गमन का अनुभव करता है ॥ ६ ॥

इसके बाद उस शरीर के अभिमानत्यागी जीव को देह के मरण से ही लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उसे प्रेत और मृत शब्द से जैसे वायु में सुगन्ध रहती है, वैसे ही चेतन में जीव वासना रहती है । अर्थात् पुष्प आदि के साथ वायु का संयोग होनेपर पुष्प की गन्ध वायु में मिलती है उसी प्रकार चेतना भी अन्तःकरण रूप उपाधि में मिलित होकर अन्तःकरणस्थ वासना विशिष्ट के समान होता है ॥ ७ ॥

पूर्वजन्म के देह आदि दृश्य का त्याग कर अन्य देह आदि के दर्शन में वह जीव स्वप्न के समान तथा मनोरथ के समान प्रवृत्त होने उस समय स्वयं अपने में अपनी वासना के अनुरूप कल्पित परलोकगमन, परलोक, वहाँ

तस्मिन्नेव प्रदेशेऽन्तः पूर्ववत्स्मृतिमान् भवेत् ।
तदैव मृतिमूर्च्छान्ते पश्यत्यन्यशरीरकम् ॥ ९ ॥
आत्मन्यस्ति घटा पुष्टमन्यस्य व्योम केवलम् ।
आकाशभूतले साकं साकाशशशिवासरम् ॥ १० ॥
भवन्ति षड्विधाः प्रेतास्तेषां भेदमिमं शृणु ।
सामान्यपापिनो मध्यपापिनः स्थूलपापिनः ॥ ११ ॥
सामान्यधर्मा मध्यमधर्मा चोत्तमधर्मवान् ।
एतेषां कस्यचिद्भेदो द्वौ त्रयोऽप्यथ कस्यचित् ॥ १२ ॥
कश्चिन्महापातकवान् वत्सरं स्मृतिमूर्छनम् ।

के भोग-योग्य आदि वासनामय नाना आकारों को धारण करता है ॥ ८ ॥

वह जीव पुन: उस अन्य लोक में उस जन्म में संस्कार से संस्कृत होकर फिर मृत्युरूपी मूर्च्छा का अनुभव कर अन्य शरीर का अनुभव करता है ॥ ९ ॥

यह असीम आकाश या आकाश और पृथिवी या चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि करोड़ों-करोड़ों ब्राह्माण्ड सभी माया के प्रभाव से आत्मा में संघटित होते हैं। परन्तु आकाश में और पृथिवी अथवा सम्पूर्ण विश्व मृत पुरुष की आत्मा स्वरूप आकाश में मेघ की घटा के समान दृष्ट होता है, अन्य लोग उन्हें देखने में समर्थ नहीं होते हैं, अन्य लोग केवल ग्रहाकाश को ही देखते हैं ॥ १० ॥

[अच्युत ग्रन्थ माला के अनुवाद में इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—

आत्मा में विपुल एक आकाश अथवा आकाश और पृथ्वी दोनों ही या करोड़ों लाख ब्रह्माण्ड एक साथ एक ही समय समा सकते हैं, फिर आत्मा में इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का सम्भव क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य है ही, क्योकि आत्मा असीम है और माया अघटितघटना में पटु है। ऐसी स्थिति में आत्मस्वरूप का विचार कर अत्यल्प प्रदेश में भी अन्य लोक का (परलोक आदि का) समावेश कहा गया है, केवल उसी प्रदेश के अभिप्राय से नहीं कहा है।

यदि उस प्रदेश में मार्ग, परलोक आदि हैं, तो उन्हें दूसरे लोग क्यों नहीं देखते, मृतक ही क्यों देखता है ? तो इसपर कहते हैं—'आत्मनि' इत्यादि से]

आकाश और पृथ्वी दो, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि से युक्त सारा जगत् मृत पुरुष की आत्मा में मेघघटा के समान खूब पुष्ट हुआ है, अन्य की दृष्टि से तो केवल

विमूढोऽनुभवत्यन्तः पाषाणहृदयोपमः ॥ १३ ॥
ततः कालेन संबुद्धो वासनाजठरोदितम् ।
अनुभूय चिरं कालं नारकं दुःखमक्षयम् ॥ १४ ॥
भुक्त्वा योनिशतान्युच्चैर्दुःखाद्दुःखान्तरं गतः ।
कदाचिच्छममायाति संसारस्वप्नसंभ्रमे ॥ १५ ॥
अथवा मृतिमोहान्ते जडदुःखशताकुलाम् ।
क्षणाद्वृक्षादितामेव हृत्स्थामनुभवन्ति ते ॥ १६ ॥
स्ववासनानुरूपाणि दुःखानि नरके पुनः ।
अनुभूयऽथ योनीषु जायन्ते भूतल चिरात् ॥ १७ ॥

आकाश ही है, अतः अन्य को नहीं दिखाई देते हैं। प्रेत छः प्रकार के हैं, मैं प्रेत में भेद का वर्णन करती हूँ सुनो—साधारण पापी, मध्यम पापी और बड़े भारी पापी, स्थल पापी, साधारण धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले, उत्तम धर्मवाले इन छः प्रकार के प्रेत में किसी-किसी के दो भेद होते हैं और किसी के तीन भेद होते हैं ॥ ११, १२ ॥

पापात्माओं में कोई महापाप की एक वर्ष तक मरणमूर्छा का पत्थर के मध्य के समान ठोस और मूढ़ जड़ रहता है ॥ १३ ॥

अनन्तर यथा समय अगतिक होकर चेतना को प्राप्त चिरकाल तक वासनारूपी नायिका के उदर से उत्पन्न अविनाशी नारकीय दुःख को भोगता है और एक दुःख के बाद दूसरे दुःख को प्राप्त करता हुआ वह महापापी सैकड़ों योनियो का अतिशय दु.ख भोगकर कभी संसार-रूपी स्वप्न में शान्ति को महापापों की फल को समाप्त करता है, अर्थात् उसके पापफलों का अन्त होता है अर्थात् बाद में भोग का अवसान होनेपर कभी किसी का संसाररूप स्वप्न या विभ्रम शान्त होता है ॥ १४, १५ ॥

कोई पातकी मरणमूर्च्छा में दूसरे ही क्षण हृदय में जड़ दुःख समाविष्ट वृक्षादि भाव का अनुभव करता है, अनन्तर वासनानुरूप दुःख परम्परा का अनुभव कर नरक में भोग के बाद चिरकाल के अनन्तर पुनः पृथिवी पर जन्म-ग्रहण करता है। अच्युत माला का अनुवाद निम्न-लिखित है—अथवा वे मृत्यु-मोह के अन्त में सैकड़ों जड़-दुःखों से व्याकुल वृक्ष आदि योनियों का, जो कि उसके हृदय में स्थित है, भोग करते हैं और फिर नरक में अपनी-अपनी वासनाओं के अनुरूप विविध दुःखों का अनुभव कर चिरकाल तक भूतल में नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं ॥ १६, १७ ॥

अथ मध्यमपापो यो मृतिमोहादनन्तरम् ।
सशिलाजठरं जाड्यं कश्चित्कालं प्रपश्यति ॥ १८ ॥
ततः प्रबुद्धः कालेन केनचिद्वा तदैव वा ।
तिर्यगादिक्रमैर्भुक्त्वा योनीः संसारमेष्यति ॥ १९ ॥
मृत एवाऽनुभवति कश्चित्सामान्यपातकी ।
स्ववासनानुसारेण देहं संपन्नमक्षतम् ॥ २० ॥
स स्वप्न इव सङ्कल्प इव चेतति तादृशम् ।
तस्मिन्नेव क्षणे तस्य स्मृतिरित्थमुदेति च ॥ २१ ॥
ये तूत्तममहापुण्या मृतिमोहादनन्तरम् ।
स्वर्गविद्याधरपुरं स्मृत्या स्वनुभवन्ति ते ॥ २२ ॥
ततोऽन्यकर्मसदृशं भुक्त्वाऽन्यत्र फलं निजम् ।
जायन्ते मानुषे लोके सश्रीके सज्जनास्पदे ॥ २३ ॥
ये च मध्यमधर्माणो मृतिमोहादनन्तरम् ।

छः प्रकार के प्रेतों में जो मध्यम पापी है, वह मरण-मोह के बाद पत्थर के मध्य भाग के समान घनी मूर्छा का जाड्य का कुछ काल तक अनुभव करता है। अनन्तर पुनः चेतना प्राप्त करती है, चैतन्य लाभ कर उसी समय या कुछ समय के बाद तिर्यग् आदि योनियों में जन्म-ग्रहण कर ससार दुःख का अनुभव करता है ॥ १८, १९ ॥

सामान्य या साधारण पापी मरते ही अपनी वासनाओं अर्थात् स्वप्न और सङ्कल्प के अनुसार प्राप्त हुए अविकल मनुष्य शरीर का अनुभव करता है ॥ २० ॥

वह स्वप्न के समान, मनोरथ के समान, वैसा अनुभव करता है और उसी क्षण में उसकी स्मृतियाँ उदित होती हैं ॥ २१ ॥

जो सर्वश्रेष्ठ महापुण्यात्मा हैं, वे मरणजनित मूर्छा के बाद पुण्य वासना के उदय से स्वर्गलोक, विद्याधरलोक का सुख भोगते हैं ॥ २२ ॥

महापुण्य के फल के उपभोग के बाद कर्म के अनुरूप अन्य फल को अपने भोगकर अर्थात् कर्म के अनुरूप फल को ईलावृत्त, किंपुरुष आदि खण्डों में भोगकर मनुष्य लोक में श्रीसम्पन्न सज्जन के घर में जन्म-ग्रहण करते हैं ॥ २३ ॥

जो मध्यम धर्मात्मा हैं, वे मरने के बाद औषधि प्रस्थान स्थान में आकाश-वायु से वेष्टित होकर विविध के वृक्ष, लता और पल्लवों से व्याप्त नन्दनवन, चैत्ररथ आदि दिव्य उद्यानों में किन्नर, किंपुरुष, यक्ष आदि के शरीर से जाते हैं, वहां अपने पुण्य कर्मों का फल भोगकर

ते व्योमवायुवलिताः प्रयान्त्योषधिपल्लवम् ॥ २४ ॥
तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् ।
रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भे जातिक्रमोचिते ॥ २५ ॥
स्ववासनानुसारेण प्रेता एतां व्यवस्थितिम् ।
मूर्छान्तेऽनुभवन्त्यन्तः क्रमेणैवाऽक्रमेण च ॥ २६ ॥
आदौ मृता वयमिति बुध्यन्ते तदनुक्रमात् ।
बन्धुपिण्डादिदानेन प्रोत्पन्ना इति वेदिनः ॥ २७ ॥
ततो यमभटा एते कालपाशान्विता इति ।
नीयमानः प्रयाम्येभिः क्रमाद् यमपुरं त्विति ॥ २८ ॥
उद्यानानि विमानानि शोभनानि पुनः पुनः ।
स्वकर्मभिरुपात्तानि दिव्यानीत्येव पुण्यवान् ॥ २९ ॥
हिमानीकण्टकश्वभ्रशस्त्रपत्रवनानि च ।
स्वकर्मदुष्कृतोत्थानि संप्राप्तानीति पापवान् ॥ ३० ॥

वायु, वृष्टि आदि से पृथिवी में धान, गेहूँ, जौ आदि में प्रवेशपूर्वक अन्न बनकर ब्राह्मण आदि के हृदय मे प्रवेश कर वीर्यरूप से स्त्रियों के गर्भ में प्रवेश करते हैं ॥ २४, २५ ॥

मरण मूर्छा के बाद प्रेत अपने ज्ञान कर्म और वासना के संस्कार के अनुसार अपने हृदय में इस व्यवस्था का क्रम से और क्रम के बिना भी अनुभव करता है आशय यह है कि सभी मरने के अव्यवहित चेतना का लाभ करता है और अन्तःकरण के मध्य में क्रम और अक्रम से भावी देह और भोग आदि स्वप्न और सङ्कल्प के समान अनुभव करता है, अनन्तर स्थान और देह की प्राप्ति कर पर्याप्त भोग प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

सुनो :—प्रेत मरने के बाद जिस प्रकार का अनुभव करता है वह कहता हूँ प्रेत पहले हम लोग मरे, तदनन्तर दाह, पुत्र आदि के द्वारा दशाह पिण्डदान आदि के क्रम से हम लोगों का शरीर बना, यह जानते हैं ॥ २७ ॥

अनन्तर वे जानते हैं कि हाथों में कालपाश लिए हुए ये यमदूत हैं, इन यमभटों द्वारा ले जाया जा रहा मैं, जो कि पाथेय श्राद्ध आदि से तृप्त किया गया हूँ, एक वर्ष में यमपुरी को जाता हूँ ॥ २८ ॥

उत्तम पुण्यवान् प्रेत गण अपने उत्तम कर्मों के प्रभाव से मार्ग में मनोहर देवलोक के विमान और उद्यानों को ये हमारे कर्मों से प्राप्त हैं, ऐसा जानते है ॥ २९ ॥

महापापी पुरुष बर्फ की चट्टानें, कांटे, गड्ढे और तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तों से विशाल वन, तप्त बालू

इयं मे सौम्यसंपाता सरणिः शीतशाद्वला ।
स्निग्धच्छाया सवापीका पुरःसंस्थेति मध्यमः ॥ ३१ ॥
अयं प्राप्तो यमपुरमहमेष स भूतपः ।
अयं कर्मविचारोऽत्र कृत इत्यनुभूतिमान् ॥ ३२ ॥
इति प्रत्येकमभ्येति पृथुः संसारखण्डकः ।
यथासंस्थितनिःशेषपदार्थाचारभासुरः ॥ ३३ ॥
आकाश इव निःशून्ये शून्यात्मैव विबोधवान् ।
देशकालक्रियादैर्घ्यभासुरोऽपि न किञ्चन ॥ ३४ ॥
इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने ।
गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ ३५ ॥
यः स्वर्गोऽयं मया भुक्तो भुक्तोऽयं नरकोऽथवा ।

का हमारे दुष्कर्मों से उत्पन्न हमें प्राप्त हो रहे हैं, ऐसा जानते हैं ॥ ३० ॥

ये सुशीतल नूतन तृण से समाच्छादित पदगमन योग्य और सुखप्रद मार्ग और स्निग्ध छाया सम्पन्न सरोवर (वावडियाँ) सम्मुख अवस्थित है ॥ ३१ ॥

मध्यम पापी को यह अनुभव होता है कि मेरे सामने लोक प्रसिद्ध यम है। इस सभा में चित्रगुप्त आदि के द्वारा मेरे किये गये कर्मो के विचार होता है ॥ ३२ ॥

मरने के बाद सभी को पारलौकिक अनुभव समान नहीं होता है, प्रत्येक पुरुष को भिन्न-भिन्न होता है। कर्म के अनुसार जिसको जिस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न होती है वह उसके अनुरूप संसार की गति का अनुभव करता है और बाद में जन्मादि ग्रहण करता है, परन्तु सभी इस सकल पदार्थ के आचार से समन्वित विशाल संसार खण्ड को सत्य के रूप में समझता है, उनको यदि आत्म ज्ञान—रूप दृष्टि रहती तो वह अनुभव करता कि केवल आकाश के समान अमूर्त अद्वय आत्मा ही प्रबुद्ध रहता है, देश, काल, क्रिया और ह्रस्व दीर्घ आदि आकार से युक्त दृश्य समूह अर्थात् जगत् - प्रपञ्च सत्य नहीं है ॥ ३३, ३४ ॥

यमराज ने जिस स्वर्ग का भोग करने के लिए मुझे आज्ञा दी थी उस सुखजनक स्वर्ग का मैंने भोग कर लिया है अथवा यमराज ने जिस नरक का भोग करने के लिए मुझे आदेश दिया था उस दुःखजनक नरक का मैंने भोग कर लिया है। यथा निर्दिष्ट ये पशु आदि योनियां मैंने भोग ली हैं। इस समय मैं मनुष्य संसार में प्रादुर्भूत हुआ हूँ ॥ ३५ ॥

इमास्ता योनयो भुक्ता जायेऽहं संसृतौ पुनः ॥ ३६ ॥
अयं शालिरहं जातः क्रमात् फलमहं स्थितः ।
इत्युदर्कप्रबोधेन बुध्यमानो भविष्यति ॥ ३७ ॥
संसुप्तकरणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ नरे ।
तद्बीजं योनिगलितं गर्भो भवति मातरि ॥ ३८ ॥
स गर्भो जायते लोके पूर्वकर्मानुसारतः ।
भव्यो भवत्यभव्यो वा बालको ललिताकृतिः ॥ ३९ ॥
ततोऽनुभवतीन्द्वाभं यौवनं मदनोन्मुखम् ।
ततो जरां पद्ममुखे हिमाशनिमिव च्युताम् ॥ ४० ॥
ततोऽपि व्याधिमरणं पुनर्मरणमूर्छनाम् ।
पुनः स्वप्नवदायातं पिण्डैर्देहपरिग्रहम् ॥ ४१ ॥

इस अनुभव के बाद मेघ निर्मुक्त जल आदि के साथ पृथिवी में आकर ध्यान में प्रवेश किया है, मैं व्रीहि के अन्तर्गत हुआ, अङ्कुर हुआ और क्रमशः फल हुआ—इस घटना का स्मरण नहीं करता है, क्योंकि, उस समय इन घटनाओं का विशिष्ट ज्ञान न रहने पर भी बाद में मनुष्य शरीर की प्राप्ति के बाद वेद पुराण आदि के श्रवण से ज्ञात होने पर सभी कर्मों का स्मरण करता है जब व्रीहि ध्यान आदि में स्थित होता है, तब ये सभी ज्ञान प्राप्त रहते हैं, इन इन्द्रियों या लुप्त या मूर्च्छित रहने से वह जीव अपने ध्यान आदि स्वरूप की प्राप्ति को नहीं समझता है, अनन्तर अन्न, पान आदि के द्वारा पिता के शरीर में प्रवेश कर रेतः स्वरूप होकर वह रेतः योनिमार्ग से माता के गर्भ में स्वरूप को धारण करता है ॥ ३७, ३८ ॥

अनन्तर वह माता के उदर का गर्भ अपने पूर्वकर्मो के अनुसार सुख, सौभाग्य, आरोग्य और सुन्दर स्वभाव से युक्त अथवा दुःख, दौर्भाग्य, रोग तथा विषय स्वभाव से युक्त मनोहर आकृतिवाला बालक होता है ॥ ३९ ॥

अनन्तर वह चन्द्रमा के प्रभाव के समान घटने बढ़ने वाले चञ्चल और मनोहर तथा कालोन्मुख (नारी-परायण) यौवन का अनुभव करता है, फिर कमल के मुँह में गिरे हुए तुषाररूपी वज्र के समान बुढ़ापे का अनुभव करता है ॥ ४० ॥

उसके बाद भी व्याधिरूप मरण का अनुभव करता है फिर वह मरण जनित मूर्छा प्राप्त करता है। अनन्तर बन्धुओं के द्वारा दिये गये पिण्डों से स्वप्न के समान देह प्राप्ति का अनुभव करता है ॥ ४१ ॥

याम्यं याति पुनर्लोकं पुनरेव भ्रमक्रमम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति नानायोन्यन्तरोदये ॥ ४२ ॥
इत्याजवं जवीभावमामोक्षमतिभासुरम् ।
भूयो भूयोऽनुभवति व्योम्न्येव व्योमरूपवान् ॥ ४३ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

आदिसर्गे यथा देवि ! भ्रम एष प्रवर्तते ।
तथा कथय मे भूयः प्रसादाद्बोधवृद्धये ॥ ४४ ॥

श्रीदेव्युवाच

परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः ।
परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः ॥ ४५ ॥
सर्वात्मकत्वात् स यतो यथोदेति चिदीश्वरः ।

फिर वह पूर्वोक्त रीति के अनुसार यमलोक में जाता है, फिर वैसे ही नाना योनियों की प्राप्ति में भ्रम-क्रम का पुनः अनुभव करता है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार जीव अनेक योनियों में पुनः पुनः उत्पन्न होकर बार-बार इस असंख्य परम्परा का अनुभव करता है, व्योमरूपी जीव जब तक मुक्त नहीं होता है, तब तक चिद्व्योम में पुनः पुनः इस प्रकार परिवर्तन अनुभव करता है ॥ ४३ ॥

प्रबुद्ध लीला ने कहा—हे देवि ! सृष्टि के आरम्भ में प्रथम भ्रम जिस प्रकार अनुभव होता है वह मुझसे कृपापूर्वक पुनः कहें, जिससे मेरे बोध की वृद्धि हो ॥ ४४ ॥

ईश्वर की भ्रान्ति से जगत् का अध्यारोप नहीं होता, किन्तु परमार्थघन ईश्वर का ही मायाध्यारोपित रूप से विवर्त होता है, अनावृत चैतन्य को जो अध्यस्त का भान होता है, वह भ्रम नहीं है, किन्तु असत्य की सत्यरूप से प्रतीति भ्रम है। सर्वज्ञ होने के कारण ईश्वर को सदा सब पदार्थों की प्रतीति होनेपर भी उनमें सत्यता की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि वे ईश्वर के प्रति स्वस्वरूप के परिज्ञानरूप बोध से बाधित रहते हैं। इस प्रकार तत्पदार्थ में अध्यारोप होने से दोष नहीं है, इस आशय से देवी तत्पदार्थ में अध्यारोप का उपपादन करती हैं—'परमार्थघनम्' इत्यादि से।

पर्वत, वृक्ष, पृथिवी और आकाश परमार्थघन अर्थात् विशुद्ध चैतन्य है ॥ ४५ ॥

सर्वस्वरूप होने के कारण उस चिदात्मा परमेश्वर का जहां पर जैसा विवर्त होता है, परमाकाश शुद्धस्वरूप वह ईश्वर हो वहांपर हम लोगों की दृष्टि से स्वप्न की की कल्पना करनेवाले पुरुष के समान जीवसमष्टिरूप

परमाकाशशुद्धात्मा तत्र तत्र भवेत्तथा ॥ ४६ ॥
सर्गादौ स्वप्नपुरुषन्यायेनाऽऽदिप्रजापतिः ।
यथा स्फुटं प्रकचितस्तथाऽद्याऽपि स्थिता स्थितिः ॥४७॥
प्रथमोऽसौ प्रतिस्पन्दः पदार्थानां हि बिम्बकम् ।
प्रतिबिम्बितमेस्माद्यत्तदद्याऽपि संस्थितम् ॥ ४८ ॥
यन्नाम सुषिरं स्थानं देहानां तद्गतोऽनिलः ।
करोत्यङ्गपरिस्पन्दं जीवतीत्युच्यते ततः ॥ ४९ ॥
सर्गादावेवमेवैषा जङ्गमेषु स्थिता स्थितिः ।
चेतना अपि निःस्पन्दास्तेनैते पादपादयः ॥ ५० ॥
चिदाकाशोऽप्यशेषांशं कुरुते चेतनोदितम् ।
स एव संविद्भवति शेषं भवति नैव तत् ॥ ५१ ॥

आदि प्रजापति बनकर सृष्टि करने योग्य पदार्थों के संकल्परूप से जैसे भू आदि लोकरूप विवर्त से स्फुरित होता है, आज भी व्यवस्था ज्यों-की-त्यों स्थित है ॥ ४६, ४७ ॥

आशय यह है कि :—विशुद्ध चैतन्य ही माया के प्रभाव से मायिक के रूप में उदित होता है, चेतना प्रचुर सर्वव्यापी है, वह जब जिस स्थान में जिस आकार में उदित होता है, तब वह आकार वहाँ व्यवहार रूप में दृष्टिगोचर होता है। वह स्वप्न अथवा सङ्कल्पवान् पुरुष के समान जीव समष्टिस्वरूप प्रजापति होकर सृजनयोग्य सङ्कल्पवान् होता है और सातलोकों के आकार में विवर्तरूप में दृष्टिगोचर होता है। उसकी सृष्टि के समय का सङ्कल्प आज भी उसी रूप में वर्तमान है। मायासमन्वित ब्रह्म का प्रथम साङ्कल्पिक रूप प्रजापति है, यह ईश्वर का प्रतिबिम्ब स्वरूप है, उस प्रजापति से जो कुछ विवर्तित होता है, वह आज भी उसी रूप में विद्यमान है। विवर्तन का अर्थ भ्रान्तिज्ञान जो देखा जाता है। रस्सी में जो साँप देखा जाता है वही विवर्तन है, वैसे रस्सी का सर्प के आकार में विवर्त है, वैसे ही प्रजापति और सृष्टि के आकार में विवर्त होता है ॥ ४८ ॥

देह के छिद्र स्थान में प्रविष्ट वायु शरीर में चेष्टा उत्पन्न करता है, उससे यह जीवित है, ऐसा कहा जाता है। सृष्टि के आदि में ही जंगम प्राणियों में इस प्रकार की यह स्थिति उत्पन्न हुई, इसी कारण चेतन होते हुए भी वृक्ष आदि चेष्टाशून्य हैं ॥ ४९, ५० ॥

यह चिदाकाश ही प्रतिबिम्बत होकर औपाधिक जीव विभाग करता है, वही अंश चेतन होता है, शेष

नरोपाधिपुरं प्राप्तं चेतत्यक्षिपुटं नयत् ।
तत्तस्या नाऽक्षि चिज्जीवं नो जीवत्येव सर्गतः ॥ ५२ ॥
तथा खं खं तथा भूमिर्भूमित्वेनाऽऽप्त्ववज्जलम् ।
यद्यथा चेतति स्वैरं तद्वेत्त्येव तथा वपुः ॥ ५३ ॥
इति सर्वशरीरेण जङ्गमत्वेन जङ्गमम् ।
स्थावरं स्थावरत्वेन सर्वात्मा भावयन् स्थितः ॥ ५४ ॥
तस्माद्यज्जङ्गमं नाम तत्स्वबोधनरूपवत् ।
तेन बुद्धं ततस्तद्वत्तदेवाऽद्याऽपि संस्थितम् ॥ ५५ ॥
यद्वृक्षामिधमाबुद्धं स्थावरत्वेन वै पुनः ।
जडमद्यापि संसिद्धं शिलातरुतृणादि च ॥ ॥ ५६ ॥

अध्यारोपित है, वह चेतन नहीं है, अचेतन ही है ॥ ५१ ॥

बुद्धि में प्रविष्ट हुआ चिदाकाश बुद्धि के लिए मनुष्य शरीर रूप दूसरे उपाधिभूत नगर में प्रविष्ट होकर अपने में अधिरूढ़ बुद्धि को चक्षु आदि के गोलक में पहुँचाता हुआ चाक्षुष आदि बुद्धि वृत्तियों द्वारा पदार्थों का अनुभव करता है ॥ ५२ ॥

[शङ्का—चक्षु आदि ही साक्षात् चित् में अध्यस्त है, अतः वे जीवभूत शरीर में रहकर व्यवहार करें, बुद्धिरूप उपाधि से युक्त जीव मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता सम्पूर्ण इन्द्रियाँ स्वयं ही चेतन जीवभूत नहीं है, क्योंकि चैतन्य में अध्यारोप मात्र से ही कोई चेतन नहीं होता । यदि ऐसा माना जाय, तो घट आदि पदार्थ को भी चेतन मानना होगा ।

बुद्धि ही जीव की उपाधि है, अन्य नहीं है, इस नियम में तो सम्पूर्ण पदार्थों की शक्ति की व्यवस्थापक चित् का सङ्कल्प ही कारण है, इस आशय से देवी जी कहती हैं—'तथा' इत्यादि से ।]

आकाश शून्यता शक्ति से अन्वित होकर स्थित है, पृथिवी सब पदार्थों को धारण करने की शक्ति से स्थित है, जल सब पदार्थों को आर्द्र करने की शक्ति से युक्त है । चितिशक्ति स्वेच्छा से जिसका जैसा सङ्कल्प करती है, वह अपने शरीर को वैसा ही जानता है ॥ ५३ ॥

यह सर्वात्मक चेतन ही जङ्गमरूप से जङ्गम का और स्थवररूप से स्थावर का सङ्कल्प करता हुआ सबके स्वरूप से अवस्थित है आशय यह है कि सङ्कल्प के अनुसार ही स्थावर-जङ्गम दोनों संसार में अवस्थित है ॥ ५४॥

न तु जाड्यं पृथक्किञ्चिदस्ति नाऽपि च चेतनम् ।
नाऽत्र भेदोऽस्ति सर्गादौ सत्तासामान्यके न च ॥ ५७ ॥
वृक्षाणामुपलानां या नामाऽन्तःस्थाः स्वसंविदः ।
बुद्ध्यादिविहितान्येव तानि तेषामिति स्थितिः ॥ ५८ ॥
विदोऽन्तःस्थावरादेर्यास्तस्या बुद्ध्यास्तथास्थितेः ।
अन्याभिधानास्थानार्थाः सङ्केतैरपरैः स्थिताः ॥ ५९ ॥
कृमिकीटपतङ्गानां या नामाऽन्तःस्वसंविदः ।
तान्येव तेषां बुद्ध्यादीन्यभिधार्थानि कानिचित् ॥ ६० ॥
यथोत्तराब्धिजनता दक्षिणाब्धिजनं स्थितम् ।
न किञ्चिदपि जानाति निजसंवेदनादृते ॥ ६१ ॥

इसलिए जो जंगम संसार है, उसको उसने अपने संकल्प के अनुसार जैसा जाना वैसा ही वह आज तक स्थित है ॥ ५५ ॥

जो वृक्ष, पर्वत, स्थावर रूप से सङ्कल्प के अनुसार अवगत हैं, वे शिला, वृक्ष, तृण आदि आज भी जड़ ही है ॥ ५६ ॥

जाड्य कोई पृथक् नहीं है और चेतन भी कोई पृथक् नहीं है, दोनों में एक रूप से अनुगत सत्तासामान्य में कोई भी भेद नहीं है ॥ ५७ ॥

अन्तःकरण में स्थित संवित् न ही वृक्षों पर्वतों जाड्य, नाम और रूप आदि भेदों की रचना की है, तत्-तत् पदार्थों के भीतर स्थित प्रत्यक् चैतन्य में अविद्याध्यस्त बुद्धि की कल्पना से ही यह स्थावर, जङ्गम आदि या जाड्य, नाम, रूप आदि भेद होते हैं ॥ ५८ ॥

प्रत्यक् चैतन्य ही उक्त स्थावर आदि बुद्धि के रूप में 'मैं स्थावर हूँ' इस प्रकार व्यवस्थितरूप से अन्तः अवस्थित रहने के कारण जंगम पदार्थों से भिन्न स्थावर है' इस कथन और अभिमान के विषय होकर अन्य (वृक्ष, पर्वत आदि) संकेतों के रूप में अवस्थित हैं अर्थात् प्रत्यक्-चैतन्य ही 'मैं स्थावर हूँ' इस वासना से स्थावर नाम और अभिमान को प्राप्त करता है ॥ ५९ ॥

अपनी अपनी अन्तःस्थित संविद् ज्ञान ही, बुद्धि ही विकार के भेद से तत्-तत् कृमि, कीट, पतङ्ग आदि विविध अर्थ और उनके वाचक नामों की कल्पना के भेद रूप से स्थित है ॥ ६० ॥

प्रत्यक्-चैतन्य के बिना किसी पदार्थ में सत्ता और स्फूर्ति वैसे ही नहीं आ सकती है जैसे उत्तर सागर के तीर में निवास करने वाले लोग दक्षिण सागर के किनारे पर रहने वाले लोगों के विषय में कुछ नहीं जान सकते,

स्वसंज्ञानुभवे लीनास्तथा स्थावरजङ्गमाः ।
परस्परं यदा सर्वे स्वसंकेतपरायणाः ॥ ६२ ॥

यथा शिलान्तःसंस्थानां बहिष्ठानां च वेदनम् ।
असज्जडं च भेकानां मिथोऽन्तस्तस्थुषां तथा ॥ ६३ ॥

सर्वं सर्वगतं चित्तं चिद्व्योम्ना यत्प्रचेतितम् ।
सर्गादौ चोपनं वायुः स इहाऽद्यापि संस्थितः ॥ ६४ ॥

चेतितं यत्तु सौषिर्यं तन्नभस्तत्र मारुतः ।
स्पन्दात्मेत्यादिसर्गेहा पदार्थेष्विव चोपनम् ॥ ६५ ॥

पदार्थ का अस्तित्व संविद्रूप ही है उससे भिन्न नहीं हैं ॥ ६१ ॥

सभी स्थावर और जङ्गम पदार्थ सभी अपने प्रत्यक्-साक्षिक ज्ञान को लेकर ही अवस्थित हैं, इसलिए अन्य बुद्धि की कल्पना अवगत नहीं है अर्थात् वे अन्य की बुद्धि से कल्पित पदार्थों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। जब वे परस्पर एक दूसरे से व्यवहार के लिए बुद्धि के संकेत की आवश्यकता पड़ती है आशय यह है कि प्रस्तर के मध्य में और वृक्ष के मध्य में मेढक रहते हैं, सभी मेढक कूप में स्थित मेढक को नहीं जानते हैं एवं कूप का मेढक भी प्रस्तर के मध्यवर्ती मेढक को नहीं जानता है, अतः, वे इस विषय में सम्वेदन शून्य अर्थात् जड़ हैं, बुद्धि जो कल्पना करती है, वह उसके समीप रहता है, एवं जिसकी कल्पना नहीं करता है, वह उसके बोध में न रहते हुए भी स्थिर रहता है, इस प्रकार सभी दृश्य ही बौद्ध अर्थात् बुद्धि की कल्पना होने से असत् है ॥ ६२ ॥

परस्पर स्थावर और जङ्गम पदार्थों में भी वैसे ही ाझना चाहिए जैसे पत्थर के मध्य में उत्पन्न हुए क और पत्थर से बाहर स्थित मेढक एक दूसरे की पना में असत् और जड़ हैं ॥ ६३ ॥

महाप्रलय में माया के अन्दर में विलीन सर्वात्मक र्वगत समष्टि चित्त, जो इस जगत् की सूक्ष्म अवस्था ', वह पुनः सृष्टि के आरम्भ में प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप ादाकाश के द्वारा जिस रूप और जिस भाव में कसित होता है, वहा आज भी उस रूप में और उस ाव में चेतित=अनुभूत होता है हुआ था, सृष्टि के ारम्भ में स्पन्दन स्वरूप आयु के रूप में चेतित या वस्तृत हुआ था, आज भी उसी रूप में वह विद्यमान ॥ ६४ ॥

चित्तं तु परमार्थेन स्थावरे जङ्गमे स्थितम् ।
चोपनान्यनिलैरेव भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६६ ॥

एवं भ्रान्तिमये विश्वे पदार्थाः संविदंशवः ।
सर्गादिषु यथैवाऽऽसंस्तथैवाऽद्याऽपि संस्थिताः ॥ ६७ ॥

यथा विश्वपदार्थानां स्वभावस्य विजृम्भितम् ।
असत्यमेव सत्याभं तदेतत्कथितं तव ॥ ६८ ॥

अयमस्तं गतः प्रायः पश्य राजा विदूरथः ।
मालाशवस्य पद्मस्य पत्युस्ते याति हृद्गतम् ॥ ६९ ॥

जो सुषिर अर्थात् छिद्र के रूप में विस्तृत हुआ है वह आज भी आकाश के नाम में व्यवहृत होता है, इस आकश में स्पन्द स्वरूप वायु आज भी अवस्थित है, जैसे सर्वव्यापी चलनशील वायु सर्वत्र रहने पर भी उससे शुष्क तृण आदि लघु पदार्थ से भारी पदार्थ कम्पित नहीं होता है अर्थात् पत्थर आदि स्पन्दित नहीं होता है ॥ ६५ ॥

[चित्त सर्वगामी और सर्वत्र स्थित है रहने पर भी शारीर=शरीरस्थ प्राण वायु के प्रचलन और अप्रचलन=स्पन्दन और अस्पन्दन के साधन स्थावर और जङ्गम इन दो विशेष भावों को धारण करता है वायु का स्पन्दन स्थापर में नहीं है ।]

आशय यह है कि वृक्ष आदि स्थावर जीव में जीवत्व है अर्थात् चैतन्य है, केवल प्राण नहीं है। स्थावर शरीर में प्राण और अन्तःकरण आदि कार्य करने का यन्त्र नहीं है। इसलिए, प्रस्तर में भी चैतन्य है ऐसा विद्वानों ने या वेद में कहा है, किन्तु वह चैतन्य उपयुक्त आधार वे अभाव में अव्यक्त है वायु का अर्थ अध्यात्म वायु शरीरस्थ प्राणवायु होता है, स्थावर में प्राणवायु का अभाव है, इसलिए स्पन्दन नहीं होता है ॥ ६६ ॥

भ्रान्तिमय विश्व में इस प्रकार के चेष्टायुक्त या चेष्टाशून्य सब पदार्थ सृष्टि के आदि से संवित् में किरणों के समान स्फुरित हुए थे, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं ॥ ६७ ॥

दृश्य पदार्थ स्वभाव का विलास और मिथ्या होनेपर भी जैसे सत्य के समान वैसे प्रतीत होते हैं, वह मैंने तुमसे कह दिया है ॥ ६८ ॥

अब देखो मैं यह राजा विदूरथ मरकर फूलों की माला से आच्छादित शवभूत तुम्हारे उस स्वामी राजा पद्म के हृदय में पद्मकोश में प्रवेश करने का उपक्रम कर रहा है ॥ ६९ ॥

प्रबुद्धलीलोवाच

केन मार्गेण देवेशि ! यात्येष शवमण्डपम् ।
एनमेवाऽऽशु पश्यन्त्यावावां गच्छाव उत्तमे ॥ ७० ॥

श्रीदेव्युवाच

मनुष्यवासनान्तस्थं मार्गमाश्रित्य गच्छति ।
एषोऽहमपरं लोकं दूरं यामीति चिन्मयः ॥ ७१ ॥
मार्गेणैवमनेनैव यावस्ते येन सम्मतम् ।
परस्परेच्छाविच्छित्तिर्नहि सौहार्दबन्धनो ॥ ७२ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

इति विहतकथागतक्लमायां
परमदृशि प्रसृते विबोधभानौ ।
नृपतिवरसुतामनस्युदारे
विगलितचित्तजडो विदूरथोऽभूत् ॥ ७३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने संसारमरणावस्थावर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५५ ॥

प्रबुद्ध लीला ने कहा—हे देवेशि ! किस मार्ग से यह शवमण्डप में जाता है, इसको हम दोनों शीघ्र जाकर देखें ॥ ७० ॥

यह चिन्मय जीव अन्तःस्थ वासनामय शरीर और मार्ग का अवलम्बन कर जाता है और यह भावना करता है कि "मैं दूरस्थ दूसरे लोक में जा रहा हूँ" ॥ ७१ ॥

आओ, हम लोग भी इस मार्ग से चलें, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी, इच्छा पूर्ण न होनेपर परस्पर की मित्रता का बन्धन छिन्न हो सकता है ॥ ७२ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—सुनो, सरस्वती के द्वारा इस प्रकार कहने पर लीला का निर्मल हृदय सभी सन्तापों से रहित हो गया और आशङ्कायें समाप्त हो गई, विदूरथ इस समय विगलित चित्त, मूर्च्छित और चेतन शून्य हो गया ॥ ७३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में संसारमरणावस्थावर्णन नामक कुसुमलता का पचपनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५५ ॥

५६

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे राजा परिवृत्ताक्षितारकः ।
बभूवैकतनुप्राणशेषः शुष्कसिताधरः ॥ १ ॥
जीर्णपर्णसवर्णाभः क्षीणपाण्डुमुखच्छविः ।
भृङ्गध्वनितसच्छायश्वासकूजाविकूणितः ॥ २ ॥
महामरणमूर्छान्धकूपे निपतिताशयः ।
अन्तर्निलीननिःशेषनेत्रादीन्द्रियवृत्तिमान् ॥ ३ ॥
चित्रन्यस्त इवाऽऽकारमात्रदृश्यो विचेतनः ।
निःस्पन्दसर्वावयवः समुत्कीर्ण इवोपले ॥ ४ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन तनुदेशेन तं जहौ ।
प्राणः पिपतिषुं वृक्षं स्वं पक्षीवाऽन्तरिक्षगः ॥ ५ ॥
ते तं ददृशतुर्बाले दिव्यदृष्टी नभोगतम् ।
जीवं प्राणमयां संविद् गन्धलेशमिवाऽनिले ॥ ६ ॥

५६

श्रीवष्सिठजी ने कहा :—अनन्तर राजा विदूरथ के नेत्र स्पन्दशून्य हो गये, ओठ सूख गये और सफेद हो गये सभी इन्द्रियों के मूर्छित होनेपर केवल एकमात्र प्राण ही उसके शरीर में अवशिष्ट रह गया था ॥ १ ॥

उसकी कान्ति पुराने पत्ते के समान पीली पड़ गई थी और मुख की कान्ति नष्ट हो गई थी तथा भँवरे की ध्वनि के समान प्राण श्वासध्वनि से वह मुखरित था ॥ २ ॥

कुछ समय के बाद वह मरणमूर्छा से आक्रान्त हो महान् अन्धकारपूर्ण कुँए में निमग्न के समान समझने लगा, उसके नेत्र आदि सम्पूर्ण इन्द्रियों की वृत्तियाँ अन्दर विलीन हो गई ॥ ३ ॥

वह चेतनाशून्य चित्रलिखित पुरुष के समान केवल आकार मात्र ही शेष रह गया था। पत्थर में खुदी हुई मूर्ति के समान उसके सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट थे ॥ ४ ॥

अधिक क्या कहें प्राण ने उत्क्रमण करने के लिए अवलम्बित थोड़े से ही प्रदेश से उस राजा के शरीर को वैसे ही छोड़ दिया जैसे आकाश में उड़नेवाला पक्षी गिरनेवाले अपने निवासभूत वृक्ष को छोड़कर आकाश में उड़ता है ॥ ५ ॥

दिव्यदृष्टिवाली उन दोनों देवियों ने आकाश में गये हुए उस जीव को वैसे ही देखा जैसे घ्राणवृत्ति से उपहित संवित् वायु में स्थित सूक्ष्म गन्ध का अनुभव करती है ॥ ६ ॥

सा जीवसंविद् गगने वातेन मिलिता सती ।
खे दूरं गन्तुमारेभे वासनानुविधायिनी ॥ ७ ॥
तामेवाऽनुससाराऽथ स्त्रीद्वयं जीवसंविदम् ।
भ्रमरीयुगलं वातलग्नां गन्धकलामिव ॥ ८ ॥
ततो मुहूर्तमात्रेण शान्ते मरणमूर्छने ।
अम्बरे बुबुधे संविद् गन्धलेखेन वायुना ॥ ९ ॥
अपश्यत् पुरुषान् याम्यान्नीयमानं च तैर्वपुः ।
बन्धुपिण्डप्रदानेन शरीरं जातमात्मनः ॥ १० ॥
मार्गे कर्मफलोल्लासमतिदूरतरे स्थितम् ।
वैवस्वतपुरं प्राप जन्तुभिः परिवेष्टितम् ॥ ११ ॥
प्राप्तं वैवस्वतपुरमादिदेश ततो यमः ।
अस्य कर्माण्यशुभ्राणि नैव सन्ति कदाचन ॥ १२ ॥
नित्यमेवाऽवदातानां कर्ताऽयं शुभकर्मणाम् ।
भगवत्याः सरस्वत्या वेरणाऽयं विवर्धितः ॥ १३ ॥

अनन्तर वह जीवसंवित् गगनमण्डल में आतिवाहिक प्राणवायु से मिलकर वासना के वश में होकर आकाश में दूर जाने लगी ॥ ७ ॥

अनन्तर उन दोनों स्त्रियों ने वैसे ही उसी जीवसंवित् का अनुगमन किया जैसे भँवरियाँ वायु में मिले हुए सुगन्धलेश का अनुगमन करती हैं ॥ ८ ॥

अनन्तर मुहूर्तभर में मरणमूर्छा के शान्त होनेपर आकाश में वासनामय देह से जीवचेतन वैसे ही प्रबुद्ध हुआ जैसे वासनामय शरीर से स्वप्न का आविर्भाव होता है ॥ ९ ॥

कतिपय यम के दूतों के द्वारा ले जा रहे अपने वासनामय शरीर को देखा तथा बन्धुओं के और्ध्वदेहिक पिण्डप्रदान से उत्पन्न होते हुए के समान अपने स्थूल शरीर को देखा ॥ १० ॥

अनन्तर दक्षिणामार्ग में अतिशय दूर में अवस्थित प्राणियों के किये गये कर्मफलों की विचार भूमि और विचारने योग्य प्राणियों से परिपूर्ण यमपुरी पहुँचा ॥ ११ ॥

उसके यमपुरी में पहुँचने के बाद यम ने उसके कर्मोंपर विचार कर दूत को आज्ञा दी कि इसने पापकर्म कभी नहीं किये है ॥ १२ ॥

सदा लोभ आदि दोषों के सम्पर्क से शून्य तथा शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान किया है और श्रीसरस्वती देवीजी के वरदान से बढ़ाया गया है ॥ १३ ॥

प्राक्तनोऽस्य शवीभूतो देहोऽस्ति कुसुमाम्बरे ।
प्रविशत्वेष तं गत्वा त्यज्यतामिति चेतसा ॥ १४ ॥
ततस्त्यक्तो नभोमार्गे यन्त्रोपल इव च्युतः ।
अथ जीवकला लीला ज्ञप्तिश्चेति त्रयं नभः ॥ १५ ॥
पुप्लुवे जीवलेखा तु रूपिण्यौ ते न पश्यति ।
तामेवाऽनुसरन्त्यौ ते समुल्लङ्घ्य नभस्तलम् ॥ १६ ॥
लोकान्तराण्यतीत्याऽऽशु विनिर्गत्य जगद् गृहात् ।
द्वितीयं जगदासाद्य भूमण्डलमुपेत्य च ॥ १७ ॥
ते द्वे सङ्कल्परूपिण्यौ संगते जीवलेखया ।
पद्मराजपुरं प्राप्य लीलान्तःपुरमण्डपम् ॥ १८ ॥
क्षणाद्विविशतुः स्वैरं वातलेखा यथाऽम्बुजम् ।
सूर्यभासो यथाऽम्भोजं सुरभिः पवनं यथा ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ! प्राप्तः कथमसौ शवस्य निकटं गृहम् ।
कथं तेन परिज्ञातो मार्गो मृतशरीरिणा ॥ २० ॥

इसका पूर्वजन्म का शवशरीर फूलों से आच्छादित मण्डपाकाश में है, यह वहाँ जाकर उस शरीर में प्रवेश करे, दूत लोग इसके परित्याग कर दें ॥ १४ ॥

अनन्तर क्षेपणीयन्त्र=एक प्रकार के गुलेल से जैसे पत्थर गिरता है वैसे ही आकाशभाग में उसे छोड़ दिया। जीवकला=विदूरथ का नितान्त सूक्ष्म जीव लीला और श्रीसरस्वतीदेवी ये तीनों मूर्तिमती थीं, तथापि राजा विदूरथ की जीवकला उन्हें नहीं देख सका, वे दोनों राजा की जीवकला को देखती थीं। उस जीवकला का ही अनुगमन करती हुई आकाशमार्ग में गमन करने लगा वे दोनों आकाश को लांघकर अन्य लोकों का अतिक्रमण कर जगद्रूपी घर से (ब्रह्माण्ड से) निकलकर दूसरे जगत् के (ब्रह्माण्ड में) पहुँचीं। दूसरे ब्रह्माण्ड के भूलोक से आकर अपने सत्यसङ्कल्प से रूप धारण करनेवाली वे दोनों देवियां राजा विदूरथ की जीवकला के साथ राजा पद्म के नगर में पहुँचकर एक क्षण में स्वच्छन्दता के साथ लीला के अन्तःपुर के मण्डप में वैसे ही प्रविष्ट हुई जैसे कमल में वायु और सूर्य की प्रभा प्रवेश करती है और सुगन्धि वायु में प्रवेश करती है ॥ १५–१९ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा :—ब्रह्मन् ! राजा विदूरथ का जीव शव के निकट घर में कैसे पहुँचा ? उस मृत शरीरवाले को मार्ग का परिज्ञान कैसे हुआ ? आशय यह है कि विदूरथ की पत्नी को उनकी कुमारी कन्या ने मार्ग प्रदर्शन किया था, किन्तु, विदूरथ के जीव को पथ के

श्रीवसिष्ठ उवाच

तस्य स्ववासनान्तस्थशवस्य किल राघव ! ।
तत्सर्वं हृद्गतं कस्मान्नाऽसौ प्राप्नोति तद्गृहम् ॥ २१ ॥

भ्रान्तिमात्रमसंख्येयं जगज्जीवकणोदरे ।
वटधानातरुमिव स्थितं को वा न पश्यति ॥ २२ ॥

यथा जीवद्वपुर्बीजमङ्कुरं हृदि पश्यति ।
स्वभावभूतं चिदणुस्त्रैलोक्यनिचयं तथा ॥ २३ ॥

नरो यथैकदेशस्थो दूरदेशान्तरस्थितम् ।
संपश्यति निधानं स्वं मनसाऽनारतं सदा ॥ २४ ॥

तथा स्ववासनान्तस्थमभीष्टं परिपश्यति ।
जीवो जातिशताढ्योऽपि भ्रमे परिगतोऽपि सन् ॥ २५ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् ! पिण्डदानादिवासनारहिताकृतिः ।
कीदृक्संपद्यते जीवः पिण्डो यस्मै न दीयते ॥ २६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

पिण्डोऽथ दीयते मा वा पिण्डो दत्तो मयेति चेत् ।
वासना हृदि संरूढा तत्पिण्डफलभाङ्नरः ॥ २७ ॥
यच्चित्तं तन्मयो जन्तुर्भवतीत्यनुभूतयः ।
सदेहेषु विदेहेषु न भवत्यन्यथा क्वचित् ॥ २८ ॥

परिज्ञान करानेवाले की चर्चा नहीं की गई है, इसलिए रामचन्द्र ने इच्छा की है कि विदूरथ का जीव किस प्रकार पद्म राजा के शव के पास आया और कैसे पथ का परिज्ञान किया और कैसे मृत शरीर सजीव हुआ ॥ २० ॥

[पूर्व शरीर की वासना के पूर्ण होने के पहले ही बीच में बलवान् प्रारब्ध से अन्य जन्म की सृष्टि हो गई, भोग से उस प्रारब्ध का क्षय होनेपर पूर्व वासना के उद्भव से जैसे आया था। वैसे मार्ग की प्रतीति होती है, अतः मार्गदर्शक की अपेक्षा नहीं है, ऐसा उत्तर देते हैं—'तस्य' इत्यादि से।]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—हे राघव ! उस जीव की वासना में शवरूप पद्मशरीर का अहंभाव विद्यमान था, अतएव उसके हृदय में वे मार्ग आदि स्फुरित हो जाते हैं, इसलिए वह उस घर को कैसे नहीं प्राप्त करेगा ? ॥ २१ ॥

सूक्ष्म जीवोपाधिभूत अन्तःकरण के अन्दर आविर्भूत वासनाओं के रूप से स्थित भ्रान्तिरूप असंख्य जगत् को उसी प्रकार कौन नहीं देखेगा ? जैसे वट का बीज मिट्टी जल आदि अङ्कुरोत्पत्ति की सामग्री मिलनेपर स्वयं अङ्कुररूप से उत्पन्न हो रहे वटवृक्ष का अपने भीतर ही अनुभव करता है। आशय यह है कि सजीव वट-बीज अङ्कुर की उत्पत्ति के कारण मृत्ति का आदि को प्राप्त कर अपने को अङ्कुरित वट वृक्ष के रूप में अनुभव करता है, वट-बीज अन्दर सूक्ष्म आकार में अवस्थित वट-वृक्ष को यथा समय और कारणों के संयोग से परिपुष्टरूप में देखता है, वैसे ही जीव भी उपाधिभूत सूक्ष्मतम अन्तःकरण में वासनामय असंख्य भ्रान्ति निर्मित सूक्ष्म जगत् अवस्थित है, उनमें उद्बोधक के द्वारा जो जब परिपुष्ट होता है, तब वह उसको जानता या अनुभव करता है ॥ २२ ॥

चित्कला जीव भी अपने हृदय में (बुद्धि में) स्वभावभूत—संस्कार के रूप में स्थित वैसे ही अनुभव करता है जैसे सजीव वटबीज अपने सुन्दर अङ्कुर का अनुभव करता है ॥ २३ ॥

सैकड़ों जन्मों से परिवर्तन होने पर भी और भ्रम में पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासना के अन्दर अन्तर्हित अपने अभीष्ट को वैसे ही देखता है जैसे अन्य स्थान में स्थित पुरुष दूर देशान्तर में स्थित अपने निधान की (भूमि में गाड़े हुए धन की) निरन्तर सदा मन से भावना करता हुआ भली-भाँति देखता रहता है ॥ २४, २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—भगवन् ! जिसे पिण्ड नहीं दिया जाता है वह पिण्डदानादिवासना से शून्य है, अतएव पिण्डदानादिवासना से रहित आकृतिवाला वह जीव सशरीर कैसे होता है ? २६ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—बन्धु-बान्धव के द्वारा पिण्ड दिया जाय या न दिया जाय, किन्तु यदि प्रेत में 'मुझे पिण्ड दिया गया' ऐसी वासना उदित हो जाता, तो उक्त वासना से ही पुरुष को पिण्डप्रदान का फल शरीरलाभ हो जाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार शास्त्र में पिण्डप्रदान का विधान पिण्डप्रदान करना बन्धुओं का कर्तव्य है अर्थात् मृतक के बन्धुओं को पिण्डप्रदान अवश्य करना चाहिए, यह कहा गया है। यह विधि बन्धुओं को फल देती है, पर मृतक को भी वासनारूप फल मिलता है, इस शास्त्रसंवाद से दोनों को ही उसका फल प्राप्त होता है, यह शास्त्रीय दृष्टि है ॥ २७ ॥

चित्त जैसा होता है, जन्तु वैसा ही होता है, त्रिकालज ऋषियों का अनुभव है कि चित्त जैसा होता है पुरुष भी तन्मय होता है। अतः चित्त की प्रधानता होने से चित्त की शुद्धि आवश्यक है। विदेह और सदेह या

सपिण्डोऽस्मीति संवित्याऽनिष्पिण्डोऽपि सपिण्डवान् ।
निष्पिण्डोऽस्मीति संवित्त्या सपिण्डोऽपि न पिण्डवान् ।२९

यथाभावनमेतेषां पदार्थानां हि सत्यता ।
भावना च पदार्थेभ्यः कारणेभ्य उदेति हि ॥ ३० ॥

यथा वासनया जन्तोर्विषमप्यमृतायते ।
असत्यः सत्यतामेति पदार्थो भावनात्तथा ॥ ३१ ॥

कारणेन विनोदेति न कदाचन कस्यचित् ।
भावना काचिदपि नो इति निश्चयवान् भव ॥ ३२ ॥

जीवित और मृत जीवों में कहींपर भी इस नियम में उलट फेर नहीं होता, इसलिए चित्त ही संसार है, उसकी प्रयत्नपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए ॥ २८ ॥

पिण्ड विहीन व्यक्ति भी मुझे मेरे बन्धुबान्धवों ने पिण्ड दिया है इस बुद्धि से पिण्डप्रदान के फल का भागी होता है अर्थात भोगदेह से सम्पन्न होता है। मुझे बन्धु-बान्धवों ने पिण्ड नहीं दिया, इस बुद्धि से पिण्ड-प्रदान के करनेपर भी पिण्डप्रदान का फल नहीं मिलता है ॥ २९ ॥

पदार्थों की सत्यता भावना के अनुसार होती है और भावना भी अपने कारणभूत पदार्थों के कारण से उत्पन्न होती है। यह सत्य है कि बन्धुओं द्वारा पिण्ड-प्रदान करनेपर ही मृत पुरुष में पिण्डदान हुआ है, ऐसी भावना अवश्य उदित होती है, यह बात शास्त्र सङ्गत हैं ॥ ३० ॥

असत्य पदार्थ भी, सत्यरूप से भावना करने से वैसे ही सत्य हो जाता है, जैसे प्राणी की वासना से (गरुड़ की उपासना करनेवाले पुरुष की अपने में गरुड़भावना करने से) सर्प का विष भी अमृत बन जाती है ॥ ३१ ॥

यह निश्चय समझें कारणभूत भावना के बिना कभी भी किसी पदार्थ की प्रतीति नहीं होती, जिस पदार्थ की प्रतीति होती है, वह किसी न किसी भावना से होती है ॥ ३२ ॥

कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति महाप्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखी गई और न सुनी गई है। सर्वथा कार्य की सत्ता कारण सत्ता के अधीन है। आशय यह है कि अद्वय नित्य ब्रह्म ही एक ऐसा पदार्थ है जो अनादि अनन्त है अतिरिक्त विश्व के सभी पदार्थ कारण से ही उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥

चिन्मात्र ही वासना का स्वरूप धारण करता है,

कारणेन विना कार्यमामहाप्रलयं क्वचित् ।
न दृष्टं न श्रुतं किञ्चित् स्वयं त्वेकोदयादृते ॥ ३३ ॥
त्रिदेव वासना सैव धत्ते स्वप्न इवाऽर्थताम् ।
कार्यकारणतां याति सैवाऽगत्येव तिष्ठति ॥ ३४ ॥

श्रीराम उवाच

धर्मो नाऽस्ति ममेत्येव यः प्रेतो वासनान्वितः ।
तस्य चेत्सुहृदा भूरिधर्मः कृत्वा समर्पितः ॥ ३५ ॥
तत्तदाऽत्र स किं धर्मो नष्टः स्यादुत वा न वा ।
सत्यार्था वाऽप्यसत्यार्था भावना किं बलाधिका ॥ ३६ ॥

चेतन वह चित् ही पदार्थों के रूप को वैसे ही धारण करती है जैसे स्वप्न में पदार्थों का रूप धारण कर लेता है। वही कार्यकारणता को प्राप्त होती है, वही गमन-रहित होकर स्थित रहती है ॥ ३४ ॥

श्री रामचन्द्रजी ने कहा—बन्धु-बान्धव विपुल धर्मों का अर्जन कर धर्मविहीन प्रेत को अर्पण करेगा तो वह धर्म निष्फल होगा या सफल होगा? जो प्रेत यह जानता है 'मैं धर्महीन हूँ' इस वासना से समन्वित प्रेत के उद्देश्य से उसके बन्धु के द्वारा "मैंने धर्म को समर्पण किया है" यह दृढ़ सत्य वासना हो तो वह धर्म प्रदान करने वाला प्रेत बन्धु की वह वासना फलवती होगी; या निष्फल होगी, बलवती होगी या दुर्बल होगी। इस विषय को अच्युतमाला से प्रकाशित हिन्दी अनुवाद में इस प्रकार कहा गया है :—जो मैंने पुण्य कर्म नहीं किये, अत: मेरे पास धर्म नहीं है, इस भावना से युक्त होकर मरा, उसके बन्धु-बान्धव यदि प्रचुर कर्म करके उसके अर्पण कर दें, तो वह धर्म, प्रेतवासना से विरोध होने के कारण, निष्फल हो जायगा अथवा बन्धुबान्धवों की वासना के प्रबल होने से निष्फल नहीं होगा। उन दोनों वासनाओं में सुहृद्-वासना, धर्म होने से, सत्य है और प्रेत की वासना असत्य है वासना की प्रबलता में प्रयोजक क्या है? भोक्तनिष्ठा या सत्यार्थता यानी भोक्ता में स्थित वासना बलवती है या सत्य वासना बलवती है। प्रथम पक्ष में यानी प्रेत की वासना को प्रबल मानो, तो कृतहानि दोष होगा यानी बान्धवों द्वारा किया गया धर्म निष्फल हो जायगा। यदि बन्धु-बान्धवों की वासना प्रबल है, तो अर्थ को सत्यता हुई और वासना कोई वस्तु नहीं रही। वासना से ही सब कुछ होता है, यह जो पूर्व में कहा था, उसका व्याघात होगा, इस प्रकार उभयत:–पाशा रज्जु है, यह आशय है ॥ ३६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

देशकालक्रियाद्रव्यसंपत्त्योदेति भावना ।
यत्रैवाऽभ्युदिता सा स्यात् स द्वयोरधिको जयी ॥ ३७ ॥
धर्मदातुः प्रवृत्ता चेद् वासना तत्तया क्रमात् ।
आपूर्यते प्रेतमतिर्न चेत्प्रेतधियाऽशुभा ॥ ३८ ॥
एवं परस्परजयात् जयत्यत्राऽतिवीर्यवान् ।
तस्माच्छुभेन यत्नेन शुभाभ्यासमुदाहरेत् ॥ ३९ ॥

श्रीराम उवाच

देशकालादिना ब्रह्मन् ! वासना समुदेति चेत् ।
तन्महाकल्पसर्गादौ देशकालादयः कुतः ॥ ४० ॥
कारणे समुदेतीदं तैस्तदा सहकारिभिः ।
सहकारिकारणानामभावे वासना कुतः ॥ ४१ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवमेतन्महाबाहो ! सत्यात्मन्न कदाचन ।
महाप्रलयसर्गादौ देशकालौ न कौचन ॥ ४२ ॥
सहकारिकारणानामभावे सति दृश्यधीः ।
नेयमस्ति न चोत्पन्ना न च स्फुरति काचन ॥ ४३ ॥
दृश्यस्याऽसंभवादेव किञ्चिद्यद् दृश्यते त्विदम् ।
तद्ब्रह्मैव स्वचिद्रूपं स्थितमित्थमनामयम् ॥ ४४ ॥

[शास्त्रोक्त देश और काल में शास्त्रोक्त अनुष्ठान से शास्त्रानुसारिणी सुहृत्वासना शास्त्र प्रमाण से प्रबल है । प्रेतवासना केवल लौकिक होने से दुर्बल है, इसलिए शास्त्र ही वासना की प्रबलता में कारण है, अर्थ सत्यता प्रबलता में हेतु नहीं है, यों गूढ़ अभिप्राय वाले श्रीवसिष्ठ जी समाधान करते हैं—'देश०' इत्यादि से ।]

श्री वसिष्ठजी ने कहा :—शास्त्रोक्त देश, काल, क्रिया और द्रव्य आदि अर्थात् तदुपलक्षित अनुष्ठान आदि के द्वारा उनके बन्धु-बान्धव की वासना उत्पन्न होती है वह वासना प्रेत की वासना की अपेक्षा प्रबल है, क्योंकि, शास्त्र के अनुसार फल का जनक कार्य और लौकिक कार्य इन दोनों में शास्त्र के अनुसार फल का जनक कार्य ही बलवान होता है, अत: जिस विषय के उद्देश्य से जो वासना उत्पन्न होती है, उस विषय में वही वासना विजयी होता है ॥ ३७ ॥

धर्मदाता के धर्म दान की वासना से प्रेत की "मैं धार्मिक हूँ" यह वासना उत्पन्न होती है, वह शास्त्र-वाक्य के प्रामाण्य का अनुमान करती है । इस स्थल में बन्धु-बान्धव की वासना के द्वारा भी प्रेत की वासना का समुद्रेक होता है, पुत्रादि बन्धुगण पिण्डदान आदि से प्रेत का उपकार होता है यदि प्रेत वेद-विद्वेषी पाखण्डी नहीं हो, ऐसे पाखण्डी प्रेत के अर्थात् मृत व्यक्ति के पास बन्धु की वासना अतिशय दुर्बल है ॥ ३८ ॥

प्रबल और दुर्बल में प्रबल ही विजयी होता है, इसलिए, मैं कहता हूँ कि यत्नपूर्वक शुभ अभ्यास ही करना चाहिए; अशुभ चिन्ता न करें ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ब्रह्मन् ! देश, काल आदि के उत्कर्ष से ही यदि वासना उत्पन्न होती है, तो महाकल्प के अनन्तर की आदि सृष्टि में देश, काल आदि सम्भव नहीं है, किस प्रकार और किससे प्रथम सृष्टि के कारणीभूत वासना का उद्रेक होता है ? यदि प्रेत भी दृश्य वासना का कार्य ही है एवं देश, काल आदि सह-कारी कारणों से ही ये उत्पन्न होते हैं, तब उस समय सभी सहकारी कारणों के न रहने से वासना का कहाँ और कैसे अवस्थान हो सकता है ॥ ४०-४१ ॥

आपने जो मेरे प्रति कहा वह अभीष्ट ही है, विरुद्ध नहीं है । 'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (न प्रलय है, न सृष्टि है, न कोई बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त है, यही परमार्थता है) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपर०' (कारणरहित, कार्यरहित, अस्थूल, अनणु और अह्रस्व ब्रह्म है) इत्यादि अनेक श्रुतियों का जगत् की अनुत्पत्ति में तात्पर्य दिखाई देता है, बड़े भारी प्रयत्न से भी इसी अर्थ का बोध कराना अभीष्ट भी है । 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियों का भी प्रतीत हो रहे द्वैत की असत्यता का उपपादनपूर्वक पहले उपक्रान्त मुक्तिरूप फल देनेवाले निष्प्रपञ्च आत्मा का ज्ञान कराने में ही तात्पर्य है । सृष्टि आदि में तात्पर्य नहीं है, इस आशय से श्रीरामचन्द्रजी के कथन का अनुमोदन करते हुए श्रीवसिष्ठजी ने कहा—'एवम्' इत्यादि स ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे महाबलि ! तुम जो कहते हो, वह सत्य ही है, महाप्रलय के बाद सृष्टि के आदिकाल में परमार्थ सत्य आत्मा में कोई भी देश, काल कभी नहीं थे । सहकारी कारणों का अभाव होनेपर यह दृश्य की विद्यमानता प्रतीति नहीं है, न तो यह कभी उत्पन्न हुई, न कभी इसका स्फुरण होता है; इस प्रकार दृश्य का सम्भव न होने से ही यह जो दिखाई देता है, वह स्वचिद्रूप निर्विकार ब्रह्म ही इस रूप में है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है ॥ ४२-४४ ॥

एतच्चाऽग्रे युक्तिशतैः कथयिष्याम एव ते ।
एतदर्थं प्रयत्नोऽयं वर्तमानकथां शृणु ॥ ४५ ॥
एवं ददृशतुः प्राप्ते मन्दिरं सुन्दरोदरम् ।
कोण पुष्पोपहारेण वसन्तमिव शीतलम् ॥ ४६ ॥
प्रशान्ताचारसंरम्भराजधान्या समन्वितम् ।
मन्दारकुन्दमाल्यादिशवं तत्र समं स्थितम् ॥ ४७ ॥
मन्दारकुन्दस्रग्दामवृताम्बरबृहच्छवम् ।
शवशय्याशिरःस्थाग्र्यपूर्णकुम्भादिमङ्गलम् ॥ ४८ ॥
अनिवृत्तगृहद्वारगवाक्षकठिनार्गलम् ।
प्रशाम्यद्दीपकालोकश्यामलामलभित्तिकम् ॥
गृहैकदेशसंसुप्तमुखश्वाससमीकृतम् ॥ ४९ ॥
संपूर्णचन्द्रसकलोदयकान्तिकान्तं
सौन्दर्यनिर्जितपुरन्दरमन्दिरर्द्धि ।
वैरिञ्चपद्ममुकुलान्तरचारुशोभं
निःशब्दमन्दमिव निर्मलमिन्दुकान्तम् ॥ ५० ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
मरणशयनानन्तरप्रेतव्यवस्थानाम षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस विषय को हम आगे आपसे सैकड़ों युक्तियों के साथ कहेंगे इसलिए यह हमारा प्रयास है। अभी आप वर्तमान कथा को सुन लें ॥ ४५ ॥

लीला और सरस्वती पूर्ववर्णित रीति से पद्म के नगर में पहुँची, राजा पद्म का मनोरम महल देखने लगी, वह शीतल गुण समन्वित महल पुष्पों से व्याप्त होकर वसन्त की शोभा को धारण कर रहा था ॥ ४६ ॥

राजकार्यों के सम्पादन में शिथिल राज्य के कर्मचारियों से समन्वित राजधानी के मध्य में मन्दार कुन्द की माला आदि से आच्छादित राजा पद्म का शव रखा हुआ था ॥ ४७ ॥

मन्दार और कुन्द के फूलों की मालाओं से ढका हुआ वस्त्रों से लपेटा हुआ शव रक्खा था, शव की शय्या के सिरहाने पर सुन्दर पूर्ण कुम्भ आदि माङ्गलिक पदार्थ रक्खे थे ॥ ४८ ॥

घर के दरवाजे और खिड़कियों की अर्गलाएँ खुली हुई थीं, दीपकों का प्रकाश मन्द पड़ रहा था, स्फटिक के समान साफ सुथरी गृहभित्तियाँ श्यामल हो गई थीं, घर के एक भाग में सोये हुए लोगों के मुख के निःश्वास से वह महल परिव्याप्त था ॥ ४९ ॥

वह महल सम्पूर्ण कलाओं के साथ चन्द्र के उदय से प्रकाशित होने से बाहर बड़ा सुन्दर था, मानो उसने अपनी सुन्दरता से इन्द्रभवन की सौन्दर्यसमृद्धि को जीत लिया था और भीतर ब्रह्मा के उत्पत्तिकमल के मध्य के समान सुन्दर शब्दशून्य होने के कारण मूक के समान और चन्द्रमा के समान रमणीय था ॥ ५० ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में
लीलोपाख्यान में मरणशयनानन्तरप्रेत-व्यवस्था नामक छप्पनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५६ ॥

५७

श्रीवसिष्ठ उवाच

ततो ददृशतुस्तत्र शवशय्यैकपार्श्वगाम् ।
लीलां विदूरथस्याऽग्रे मृतां ते प्रथमागताम् ॥ १ ॥
प्राग्वेषां प्राक्समाचारां प्राग्देहां प्राक्स्ववासनाम् ।
प्राक्तनाकारसदृशीं सर्वरूपाङ्गसुन्दरीम् ॥ २ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—अनन्तर वहाँपर उन्होंने विदूरथ की शवशय्या के एक किनारे पर स्थित लीला को, जो पहले मरी थी और उनसे पहले आ गई थी ॥ १ ॥

उस लीला को देखा उसका वैसा ही पहले का वेष, पहले का आचरण और पहले का ही शरीर था, क्योंकि पहले उसमें वैसी ही वासनाएँ थीं। उसकी आकृति भी पूर्वजन्म की आकृति से सर्वथा समान थी, लावण्य पूर्ण सम्पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों से वह युक्त थी ॥ २ ॥

प्राग्रूपावयवस्पन्दां प्रागम्बरपरीवृत्ताम् ।
प्राग्भूषणभरच्छन्नां केवलं तत्र संस्थिताम् ॥ ३ ॥
गृहीतचामरां चारु वीजयन्तीं महीपतिम् ।
उद्यच्चन्द्रामिव दिवं भूषयन्तीं महीतलम् ॥ ४ ॥
मौनस्थां वामहस्तस्थवदनेन्दुतया नताम् ।
भूषणांशुलतापुष्पैः फुल्लामिव वनस्थलीम् ॥ ५ ॥
कुर्वाणां वीक्षितैर्दिक्षु मालत्युत्पलवर्षणम् ।
सृजन्तीमात्मलावण्यादिन्दुमिन्दुं नभोदितम् ॥ ६ ॥
नरपालात्मनो विष्णोर्लक्ष्मीमिव समागताम् ।
उदितां पुष्पसंभारादिव पुष्पाकरश्रियम् ॥ ७ ॥
भर्तुर्वदनके न्यस्तदृष्टिमिष्टविचेष्टिताम् ।
किञ्चित्प्रम्लानवदनां म्लानचन्द्रां निशामिव ॥ ८ ॥
ताभ्यां सा ललना दृष्टा तया ते तु न लक्षिते ।

उसके अवयव और चेष्टाएँ पहले जैसी थीं, जैसे पूर्वजन्म में उसने वस्त्र पहन रक्खे थे, वैसे ही वस्त्रों से उसका तन ढका था, पूर्वजन्म के ही समान आभरणों से वह विभूषित थी, केवल अन्तर इतना ही था कि पहले वह राजा विदूरथ के घर में थी, अब राजा पद्म के घर में स्थित थी ॥ ३ ॥

वह चँवर लिए हुए थी और बड़ी सुरुचि से राजा के ऊपर चँवर डुला रहीं थी, जिसमें चन्द्रमा उदित हो रहे हों, ऐसे स्वर्ग के समान वह पृथिवी को जगमगा रही थी ॥ ४ ॥

वह मौन थी, उसने अपने चन्द्रमुख को बाँये हाथ की हथेली के सहारे लटका रक्खा था, अतएव वह एक ओर को कुछ नमी हुई थी, आभूषणों के किरणरूपी पत्र, लता और पुष्पों से वनस्थली के समान थी ॥ ५ ॥

अपने दृष्टिपातों से मालती के फूल और नीलकमलों की वृष्टि कर रही थी, अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों के लावण्य से आकाश में उदित चन्द्रमाओं की सृष्टि कर रही थी ॥६॥

राजा पद्मरूपी विष्णु की लक्ष्मी के सदृश पुष्पों की राशि से उदित हुई वसन्तशोभा के समान थी ॥ ७ ॥

अपने पति के मुखकमल को निश्चेष्ट अर्थात् एक टक लगाकर देख रही थी, उसकी सभी चेष्टाएँ रमणीय थीं, मुख मलिन था, अतः वह उस रात के समान लगती थी जिस रात में चन्द्रमा म्लान रहता है ॥ ८ ॥

सत्य सङ्कल्प उन दोनों ने उस सुन्दरी द्वितीय लीला को देखा, किन्तु सत्यसङ्कल्परूप से आविर्भूत न होने से उसने उनको नहीं देखा ॥ ९ ॥

यस्मात्ते सत्यसङ्कल्पे सा न तावत्तथोदिता ॥ ९ ॥

श्रीराम उवाच

तस्मिन् प्रदेशे सा पूर्वलीला संस्थाप्य देहकम् ।
ध्यानेन ज्ञप्तिसहिता गताऽभूदिति वर्णितम् ॥ १० ॥
किमिदानीं स लीलाया देहस्तत्र न वर्णितम् ।
किं संपन्नः क्व वा यात इति मे कथय प्रभो ॥ ११ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

क्वाऽऽसील्लीलाशरीरं तत्कुतस्तस्याऽस्ति सत्यता ।
केवला भ्रान्तिरेवाऽभूज्जलबुद्धिर्मराविव ॥ १२ ॥
आत्मैवेदं जगत्सर्वं कुतो देहादिकल्पना ।
ब्रह्मैवाऽऽनन्दरूपं सद्यत् पश्यसि तदेव चित् ॥ १३ ॥
यथैव बोधे लीलाऽसौ परिणाममिता क्रमात् ।
परे तथैव तस्मात्तद्धिमवद् गलितं वपुः ॥ १४ ॥

श्री रामचन्द्र ने कहा—हे प्रभो ! पूर्वलीला उस राजमहल के एक भाग में अपनी स्थूलदेह को रखकर ज्ञप्ति के साथ ध्यान से गई, ऐसा पहले वर्णन हो चुका है। इस समय वहाँपर लीला की उस देह का वर्णन नहीं किया है उस देह का क्या हुआ अर्थात् वह कहाँ गई ? यह मुझसे कहने की कृपा करें। आशय यह है कि पूर्व लीला पद्म भवन के अन्तःपुर के मण्डल में देह रखकर ध्यानयोग में ज्ञप्ति देवी=सरस्वती के साथ विदूरथ के भवन में गई थी, किन्तु, इस समय कह रही हैं कि वह सरस्वती के साथ विदूरथ के भवन से पद्म के भवन में आकर अप्रबुद्ध लीला से पहले आ गई, देखा, उसके शरीर प्राप्ति की कथा आपने नहीं कही, अतः, उसका वह शरीर क्या हुआ ? कहाँ चला गया ? वह इस समय है या नहीं ? लीला का अपना शरीर है या नहीं यह नहीं देखा, बिना देखे हुए ही आई हुई लीला को देखने लगी, इसका क्या कारण है—इसे आप व्यक्त करें—यही रामचन्द्र की जिज्ञासा है ॥ १०, ११ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—लीला का वह शरीर था ही कहाँ ? फिर उसकी सत्यता की बात ही कैसी ? मरुभूमि में जल की भ्रान्ति के समान केवल वह भ्रान्तिमूलक ही थी। यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही है, ऐसी स्थिति में देह आदि की कल्पना कैसी ? जो कुछ आप देखते हैं, वह आनन्दरूप सद् ब्रह्म ही है, वही चित् है ॥ १२, १३ ॥

यह पूर्व लीला क्रमशः बोध में परिपक्वतारूप

(आतिवाहिकदेहस्य कालेनाऽभ्युदितो भ्रमः ।
आधिभौतिकदेहोऽहमिति रज्जुभुजङ्गवत्[1] ॥ १ ॥)

आतिवाहिकदेहेन दृश्यं यदवलोकितम् ।
भूम्यादि नाम तस्यैव कृतं तच्चाऽऽधिभौतिकम् ॥ १५ ॥

वास्तवेन तु रूपेण भूम्याद्यात्माऽऽधिभौतिकः ।
न शब्देन न चार्थेन सत्यात्मा शशशृङ्गवत् ॥ १६ ॥

पुंसो हरिणकोऽस्मीति स्वप्ने यस्योदिता मतिः ।
स किमन्विष्यति मृगं स्वमृगत्वपरिक्षये ॥ १७ ॥

परिणाम को प्राप्त किया, बोध से परब्रह्म में उसका शरीर वैसे वैसे हिम के समान गल गया और उसका चिन्मय शरीर हो गया ॥ १४ ॥

(आतिवाहिक देह वाले को समय पाकर रस्सी में सर्प के समान मैं आधिभौतिक देहवाला हूँ, ऐपा भ्रम उदय होता है ॥ १ ॥)

केवल उसी देह की आधिभौतिकता बाधित नहीं हुई, किन्तु भूमि आदि सम्पूर्ण वस्तुओं की भी आधिभौतिकता नष्ट हो गई । 'अपागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' (अग्नि की अग्निता गई, शुक्ल, कृष्ण और रक्त—ये तीन रूप ही सत्य हैं, यानी इन तीन रूपों से अतिरिक्त अग्नि में जो अग्नित्व की प्रतीति तुम्हें हुई थी वह नहीं रही) इस श्रुति से उनकी स्थूलता का बाध होने से केवल आतिवाहिकता अवशिष्ट रहती है, इस आशय से कहते हैं—'आतिवाहिक०' इत्यादि से ।

आतिवाहिकताबुद्धि से यानि सूक्ष्मतमसमष्टि-मनोमात्रत्वबुद्धि से तत्त्वदृष्टि द्वारा लीला ने दृश्य देखा, उसी का पहले भ्रान्ति से पृथिवी आदि नाम रक्खा, वही आधिभौतिक है । आशय यह है कि :—इस समय लीला ने जो आतिवाहिक देह में अपने को परिकल्पित दृश्य को देखा अर्थात् सभी मन से कल्पित है इस रूप में देखती है, उसको कौन जानता है ? ज्ञान होने से पूर्व इसकी भ्रान्ति दशा में ये सभी भूमि आदि के नाम से अवस्थित थे, अर्थात् इस समय आध्यात्मिक भाव ही आधिभौतिक भ्रान्ति में विद्यमान था ॥ १५ ॥

भूमि आदि रूप आधिभौतिक प्रपञ्च खरहे के शृङ्ग के समान है वास्तविक दृष्टि से शब्द बल और अर्थबल कुछ भी सत्यस्वरूप नहीं है ॥ १६ ॥

जिस मनुष्य को स्वप्न में मैं हरिण हूँ, ऐसी बुद्धि

उदेत्यसत्यमेवाऽऽशु तथा सत्यं विलीयते ।
भ्रान्तिर्भ्रमवतो रज्ज्वामपि सर्पभ्रमे गते ॥ १८ ॥

समस्तस्याऽप्रबुद्धस्य मनोजातस्य कस्यचित् ।
बीजं विना मृषैवेयं मिथ्यारूढिमुपागता ॥ १९ ॥

स्वप्नोपलम्भं सर्गाख्यं स सर्वोऽनुभवन् स्थितः ।
चिरमावृत्तदेहात्मा भूचक्रभ्रमणं यथा ॥ २० ॥

श्रीराम उवाच

ब्रह्मन् ! लोकैः पुरस्थस्य गच्छतो योगिनो निजम् ।
आतिवाहिकतां देहः कीदृशोऽयं विलोक्यते ॥ २१ ॥

होती है, वह पुरुष क्या अपने मृगत्व का विनाश होने पर मृग को खोजता है ? (बाधित वस्तु के अन्वेषण में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होती है) आशय यह है कि :—आतिवाहिक के बाद मैं आधिभौतिक हूँ, यह भ्रम दृढ़ होने पर इसके बाद मैं आधिभौतिक या आतिवाहिक हूँ यह विचार नहीं रहता है । स्वप्न के समय जिस पुरुष को "मैं मृग हूँ" इस प्रकार का ज्ञान होता है, जब तक स्वप्न रहता है तब तक क्या वह अपने मृगत्व की परीक्षा के लिए मृग का अन्वेषण करता है ? ऐसा नहीं करता है ॥ १७ ॥

भ्रान्त पुरुष की दृष्टि में भ्रमवश असत्य वस्तु शीघ्र ही आविर्भूत हो जाती है और सत्य वस्तु तिरोहित हो जाती है, परन्तु सर्प की भ्रान्ति के मिट जाने पर भी क्या फिर रस्सी में सर्प का भ्रम होता है ? उसे सत्य वस्तु का ही स्मरण होता है ॥ १८ ॥

वह समस्त आधिभौतिक प्रपञ्च अप्रबुद्ध भ्रान्त जीव के मन के द्वारा विना कारण के ही मिथ्या कल्पित है ॥ १९ ॥

सभी अज्ञ जीव स्वप्न देखने के समान जगत् प्रपञ्च की स्थूलता को देखता है, प्रत्येक पुरुष अन्य देह की प्राप्ति को वैसे ही देखता है जैसे बालक नौका में घूमने पर अपने घूमने का अनुभव करता है । मैं मरा पुनः जन्म लिया ये सभी ज्ञान परकीय मिथ्या ज्ञान का विवर्तन है, जन्म स्मरण भी दृष्टि अनादि भ्रम की महिमा है ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—ब्रह्मन् ! जीवितावस्था में वर्तमान, अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त था मरे हुए योगी के आतिवाहिक शरीर को सब लोग देखते हैं यह कैसा व्यवहार है । प्रश्न आशय यह है कि यदि योगी का

---

१ कुछ पुस्तकों में ( ) में घिरा हुआ यह अधिक पाठ है ।

श्रीवसिष्ठ उवाच

देहाद् देहान्तरप्राप्तिः पूर्वदेहं विना सदा ।
आतिवाहिकदेहेऽस्मिन् स्वप्नेष्विव विनश्वरी ॥ २२ ॥
यथाऽऽतपे हिमकणः शरद्व्योम्नि सितोऽम्बुदः ।
दृश्यमानोऽप्यदृश्यत्वमित्येवं योगिदेहकः ॥ २३ ॥
द्रागित्येवाऽथवा कश्चिद् योगिदेहो न लक्ष्यते ।
योगिभिश्च पुरोवेगात् प्रोड्डीन इव खे खगः ॥ २४ ॥
स्ववासनाभ्रमेणैव क्वचित् केचित् कदाचन ।
मृतोऽयमिति पश्यन्ति केचिद् योगिनमग्रगाः ॥ २५ ॥
भ्रान्तिमात्रं तु देहात्मा तेषां तदुपशाम्यति ।
सत्यबोधेन रज्जूनां सर्पबुद्धिरिवाऽऽत्मनि ॥ २६ ॥

शरीर आधिभौतिक नहीं है तो जब वह जीवित रहता है या आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है मर जाता है, तो आतिवाहिक उसके शरीर को लोग कैसे देखते हैं ? न तो आतिवाहिक शरीर लोगों का दृष्टिगोचर होता है और न मुक्तिकाल में अवशिष्ट ही रहता है। अपने कहा है कि आतिवाहिक शरीर अदृश्य और अविनश्वर है, ऐसी स्थिति में वह कैसे मनुष्य की दृष्टि का विषय होता है ? कैसे उनका मरण देखा जाता है। एवं कैसे मृत्यु के बाद आतिवाहिक देह मोक्ष के समय में भी विद्यमान रहता है ॥ २१ ॥

[योगियों का मरना दो प्रकार का होता है एक तो प्रारब्ध भोग के लिए अपने इच्छानुसार विविध शरीरों की कल्पना और दूसरा सम्पूर्ण प्रारब्ध का विनाश होने पर विदेहकैवल्य की प्राप्ति। प्रथम मरण में पूर्व शेष नहीं रहता, ऐसा कहते हैं—'देहाद्' इत्यादि से।]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जिस प्रकार स्वप्नावस्था में देह का विनाश न होने पर भी "विनष्ट हो गया है" यह ज्ञान होता है, उसी प्रकार योगियों का भी पूर्व देह के विनाश के बिना ही उस आतिवाहिक देह में ही देहान्तर धारण की कल्पना उत्पन्न होती है। आशय यह है कि जैसे स्वप्नों में आतिवाहिक देह मे एक देह का (मृगभाव का) त्यागकर अन्य देह की (मनुष्यादि-भाव की) कल्पना, जो कि अनित्य है, पूर्व देह के परि-शेष के बिना ही होती है वैसे योगियों को भी प्रारब्ध भोग के लिए एक देह से दूसरी देह की प्राप्ति सदा पूर्व देह के परिशेष के बिना ही होती है। योगियों का मरण दो प्रकार का है, एक प्रारब्ध भोग के लिए ऐच्छिक और दूसरा प्रारब्ध विनाश होने पर देह का विनाश। इनमें प्रथम मरण में देह के बाध के बिना ही देहान्तर की प्राप्ति है, एवं शेष मरण में देह का आत्यन्तिक अभाव होता है। प्रथम मरण के लिए स्वप्न दृष्टान्त है एवं द्वितीय के लिए शरत्काल का मेघ है ॥ २२ ॥

योगी का शरीर भी दिखाई देता हुआ भी अदृश्यता को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे घाम में हिमकण, शर-त्काल के आकाश में सफेद मेघ यद्यपि दिखाई देता है तथापि धीरे-धीरे उसका क्षय होनेपर उसके परिशेष का भ्रम थोड़े समय तक रहता है ॥ २३ ॥

शरीर इसी समय अदृश्य हो जाय ऐसे संकल्पों से किसी-किसी योगी का शरीर, इतनी जल्दी अदृश्य हो जाता है साधारण लोगों की क्या बात है योगिगण भी उसे नहीं देख पाते हैं, जैसे आकाश में अपने सामने से वेग के साथ उड़े हुए पक्षी दिखाई नहीं देता है आशय यह है कि जीवनावस्था में भी 'ये मुझे ऐसा देखें' ऐसे योगी के सत्यसंकल्पवश ही लोग योगी की देह को देखते हैं न कि उसकी देह के आधिभौतिक होने के कारण देखते हैं, योगी जनों को अपनी दृष्टि से अपने शरीर की आतिवा-हिकता का ही अनुभव होता है किन्तु उस शरीर के दर्शन सुख का उपभोग करानेवाले अदृष्ट से युक्त अज्ञानी लोगों की वासना से उसकी भौतिकता, मृत्यु आदि की कल्पना हो सकती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है ॥ २४ ॥

कोई पुरोवर्ती पुरुष कभी कहींपर अपनी वासना से उत्पन्न भ्रम से 'यह मर गया' इस प्रकार देखते हैं, कोई जीवित देखते हैं। (विदेहमुक्त श्रीशुकदेवजी का परीक्षित् की सभा में दर्शन होना और भागवतकथा का उपदेश देना संगत होता है आशय यह है कि योगिगण जीवित अवस्था में लोगों से जो दिखाई देते हैं; यह उनके सत्य-सङ्कल्प का ही प्रभाव है, अर्थात् "इसको इस रूप में देखें" इस प्रकार इच्छा करनेपर लोग उस रूप में देख पाते हैं, कोई व्यक्ति जो अपने सम्मुख "यह योगी मर गया है", "यह योगी जीवित है" यह दर्शन केवल दर्शक की भावना के अनुसार ही होता है दूसरी बात यह है कि योगियों को जब ज्ञानप्राप्ति होती है, उसी समय उनकी देह आदि का बाध हो जाता है, इसलिए उनकी दृष्टि से उनकी जीवितदशा में भी उनका शरीर नहीं रहता है ॥ २५ ॥

योगी का देह आधिभौतिक नहीं है देह में आत्मबुद्धि केवल भ्रान्ति ही है, आत्मतत्त्व का ज्ञान होने से उनकी

को देहः कस्य वा सत्ता कस्य नाशः कथं कुतः ।
स्थितं तदेव यदभूदबोधः केवलं गतः ॥ २७ ॥
श्रीराम उवाच
आतिवाहिकतामेति आधिभौतिक एव किम् ।
उतान्य इति मे ब्रूहि येनोह्य इव भोः प्रभो ॥ २८ ॥
श्रीवसिष्ठ उवाच
बहुशो ह्युक्तमेतत्ते न गृह्णासि किमुत्तम ।
आतिवाहिक एवाऽस्ति नाऽस्त्येवेहाऽऽधिभौतिकः ॥२९॥
तस्यैवाऽभ्यासतोऽप्येति साऽऽधिभौतिकतामतिः ।

अपने में वह भ्रान्ति रस्सी का ज्ञान होने से रज्जु में सर्प बुद्धि के समान नष्ट हो जाती है ॥ २६ ॥

उस समय निश्चय होता है कि देह क्या है ? उसका अस्तित्व = वर्तमानता क्या है ? और कहाँ है ? एवं उसका विनाश ही क्या है ? कैसे और कहाँ है ? सभी अलीक है, सभी भ्रम है, जो था, वह रहता है, केवल अबोधता का ही विनाश होता है, केवल अज्ञान ही समाप्त होता है, क्योंकि, वस्तुओं ही नहीं, अतः, विनाश कैसे हो सकता है अज्ञान कल्पित ही वस्तु है ॥ २७ ॥

[श्रीवसिष्ठजी के उक्त कथन से श्री रामचन्द्रजी को यह शङ्का हुई कि यदि योगियों की देह बाधित होती है तो बाधित का अन्य रूप में परिणाम हो नहीं सकता, अतः कहना होगा कि प्रारब्ध भोग के लिए दूसरा ही आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में उसका दूसरा जन्म हो गया फिर वह जीवन्मुक्त कहाँ रहा ? इतना ही नहीं 'न स भूयोऽभिजायते' (वह फिर जन्म नहीं लेता) इत्यादि शास्त्र से विरोध भी हुआ। उक्त शङ्का के समाधन के लिए वे गुरुजी से पूछते हैं--'आतिवाहिकताम्' इत्यादि से ।]

श्रीरामजी ने कहा—हे प्रभो ! योगी का आधिभौतिक शरीर ही आतिवाहिक बन जाता है, या ही आतिवाहिक शरीर पृथक् उत्पन्न होता है। यदि प्रथम पक्ष मानिये, तो बाधित शरीर का दूसरे शरीर में परिणात होना विरुद्ध है। यदि दूसरा पक्ष मानिये तो ज्ञान का फल मुक्ति है, यह शास्त्रसिद्धान्त बाधित होता है। दोनों ही रूप में अनुपपत्ति होने के कारण में सन्देहरूपी तेज धारा में बह-सा रहा हूं, कृपया मेरे संशय को दूर कीजिये ॥ २८ ॥

[वत्स श्रीरामचन्द्रजी, सुनिये, जिसे आप आधिभौतिक शरीर का आतिवाहिकरूप से परिणाम कहते हैं, वह परिणाम नहीं है, किन्तु ज्ञानोत्पत्ति से स्थूल देह के बाधित होनेपर पहले से सिद्ध स्थूल शरीर के आधिष्ठानभूत सूक्ष्म शरीर के अध्यास का बोध कराती है 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्' इस श्रुति से स्थूल का बोध होनेपर सूक्ष्म का परिशेष कहा गया है, इसलिए जो दोष आपने दर्शाया उसके लिए यहाँ अवकाश ही नहीं है। हमने बहुत बार पहले भी आपको यह विषय समझा दिया है, उसका भी जरा स्मरण कीजिये, यों उक्त शङ्का का समाधान करते हुए श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—'बहुशः, इत्यादि से ।]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रेष्ठतम, यह बात मैं आपसे बहुत बार कह चुका हूँ, इसे आप क्यों हृदयंगम नहीं कर रहे हैं। केवल अतिवाहिक ही देह है, यहाँ आधिभौतिक देह नहीं है ॥ २९ ॥

आतिवाहिक देह के अभ्यास से वह आधिभौतिकता बुद्धि प्राप्त होती है। जब आधिभौतिकता बुद्धि शान्त हो जाती है तब पहले विद्यमान अतिवाहिकता ही रह जाती है ॥ ३० ॥

यदा शाम्यति सैवाऽस्य तदा पूर्वा प्रवर्तते ॥ ३० ॥
तदा गुरुत्वं काठिन्यमिति यश्च मुधा ग्रहः ।
शाम्येत् स्वप्ननरस्येव बोद्धुर्बोधान्निरामयात् ॥ ३१ ॥
लघुतूलसमापत्तिस्ततः समुपजायते ।
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानादिव देहस्य योगिनः ॥ ३२ ॥
स्वप्ने स्वप्नपरिज्ञानाद् यथा देहो लघुर्भवेत् ।
तथा बोधादयं देहः स्थूलवत् प्लुतिमान् भवेत् ॥ ३३ ॥
अनेकदिनसङ्कल्पदेहे परिणतात्मनाम् ।
अस्मिन् देहे शवे दग्धे तत्रैवाऽऽस्थितिमीयुषाम् ॥ ३४ ॥

तब प्रबुद्ध पुरुष के निर्मल बोध से गुरुता, कठिनता इत्यादि का जो असत् आग्रह है वह भी, स्वप्न देखनेवाले मनुष्य के निर्मल बोध से स्वप्न के नगर के गुरुत्व, कठिनत्व आदि के समान चला जाता है ॥ ३१ ॥

तब योगी का शरीर हल्का रुई के फाहे के समान वैसे ही हो जाता है जैसे स्वप्न में यह स्वप्न है, इस ज्ञान से क्लेश आदि का भार हल्का हो जाता है ॥ ३२ ॥

बोध होने से स्थूल के सदृश प्रतीत हो रहा यह शरीर आकाश में गमन में वैसे ही समर्थ हो जाता है जैसे स्वप्न में यह स्वप्न है, इस परिज्ञान से शरीर हल्का हो जाता है ॥ ३३ ॥

[जब दृढ़तर स्थूल वासनावाले अज्ञानी पुरुषों को भी

लघुदेहानुभवनमवश्यं भावि वै तथा ।
प्रबोधातिशयादेति जीवतामपि योगिनाम् ॥ ३५ ॥
उदितायां स्मृतौ तत्र सङ्कल्पात्माऽहमित्यलम् ।
यादृशः स भवेद् देहस्तादृशोऽयं प्रबोधतः ॥ ३६ ॥
भ्रान्तिरेवमियं भाति रज्ज्वामिव भुजङ्गता ।
किं नष्टमस्यां नष्टायां जातायां किं प्रजायते ॥ ३७ ॥

श्रीराम उवाच

अनन्तरं ये वास्तव्या लीला पश्यन्ति ते यदि ।
तत्सत्यसङ्कल्पतया बुध्यन्ते किमतः प्रभो ! ॥ ३८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

एवं ज्ञास्यन्ति राज्ञी स्थितेयमिह दुःखिताः ।
वयस्या काचिदन्येयं कुतोऽप्यस्था उपागता ॥ ३९ ॥
सन्देहः क इवाऽत्रैषां पशवो ह्यविवेकिनः ।
यथादृष्टं विचेष्टन्ते कुत एषां विचारणा ॥ ४० ॥

स्थूलशरीर के शव होकर दाह आदि द्वारा नष्ट होनेपर पूर्ववर्ती सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है तब वासनाशून्य ज्ञानी जनों को स्थूल शरीर का बाध होनेपर स्वाभाविक सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—'अनेक०' इत्यादि से ।]

जो दीर्घकाल तक वैसे सङ्कल्पमय देह में अवस्थित करते हैं, उनका स्थूल देह शव हो या भस्मीभूत हो, सभी अवस्थित होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ३४ ॥

योगी के ज्ञान के प्रकर्ष से जीवित अवस्था में ही इस प्रकार के सूक्ष्म शरीर की प्रतीत में समर्थ होते हैं ॥ ३५ ॥

[आशय यह है कि योगियों को जीवितावस्था में ही अतिशय ज्ञान होने से सूक्ष्म शरीर वैसे ही प्राप्त होता है जैसे अनेक दिनों के संकल्प से प्राप्त देह को आत्मा समझनेवाले और उसी देह में दृढ़ आत्माभिमान करनेवाले लोगों को इस देह के शव होकर जलाये जानेपर अवश्य सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है ।]

स्वप्न में मैं संकल्पात्मा ही हूँ स्थूलस्वरूप नहीं हूँ, स्मृति के उत्पन्न होनेपर अपनी इच्छा के अनुसार आकाश में विहार करने में समर्थ जैसे शरीर प्राप्त होता है वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी योगी को बोध से प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

[यदि किसी को यह शङ्का हो कि अपनी देह तो सबको परम प्रिय है, उसका नाश करनेवाला ज्ञान अनर्थ नहीं है, तो और क्या है ? उसपर करते हैं—'भ्रान्तिरेव०' इत्यादि से ।]

यह स्थूलदेहप्रतीति वैसे ही भ्रम है, जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति भ्रान्ति है । उस भ्रम के नष्ट होनेपर अपना क्या उत्पन्न हुआ ? आशय यह है कि—रस्सी में सर्प के भ्रम के समान स्थूल भ्रान्ति निरन्तर अवगत होती है, किन्तु यह उचित है कि रज्जु में सर्पभ्रम उत्पन्न भले ही होता है, किन्तु क्या रस्सी उसमें सत्य ही सर्पत्व के रूप में प्राप्त होता है ? ऐसा नहीं है, भ्रम का विनाश होने पर सर्प नहीं रहता है, वह विलीन हो जाता है, अर्थात् सर्प उत्पन्न ही नहीं हुआ अज्ञान से कल्पितमात्र ही है, अतः जो वस्तु जो रूप है उसमें भ्रम हो या न हो, वह उसी रूप में अवस्थित रहता है, सद्वस्तु वास्तविक रूप में अन्यथा नहीं होता है ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे प्रभो ! पूर्व लीला और नूतन लीला का पद्म के घर में आने के बाद जो लीला अतिवाहिक देह होने के कारण पद्म के घर में रहनेवाले लोग दिखाई नहीं दे सकती थी, "ये लोग मुझे देखें", इस सत्यसंकल्प के कारण यदि देखते हैं, तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ? आशय यह है कि पद्मनृपति के घर के लोग वे ये ही है, वही यहाँ की लीला है यह अवगत करे, अथवा अपूर्व देवी है, इस प्रकार ज्ञान होने से ज्येष्ठ शर्मा के समान विस्मित होते हैं—यह जानने की इच्छा करते हैं । ज्येष्ठ शर्मा प्रबुद्ध लीला का पुत्र है ॥ ३८ ॥

श्री वसिष्ठजी ने कहा :—वे लोग यह रानी यहाँ दुःखपूर्वक स्थित है, इसकी यह दूसरी सखी कहीं से आ गई है, ऐसा जानते हैं ॥ ३९ ॥

इस विषय में सन्देह होने का कारण ही कहाँ है ? पशुगण जैसा देखता है, उसी के अनुसार कार्य का निर्वाह करता है, अविवेकी मनुष्य भी दिखाई देनेवाले पदार्थ के अनुसार ही कार्य का निर्वाह करता है । आशय यह है कि यदि यह शङ्का हो कि दूसरी लीला पहले-पहल आई थी, अतः उसके विषय में यह कौन है, कहां से आई है, यह सुचरित्र है या व्यभिचारिणी है, सत्य है या असत्य है, ऐसा सन्देह उन लोगों को क्यों नहीं हुआ ?

यहाँ पर इनको सन्देह कौन सा होगा ? क्योंकि पशु तो अविवेकी होते ही हैं, जैसा देखा उसी के अनुसार व्यवहार करने लगते हैं । इनको विचार ही कहाँ ? ॥ ४० ॥

यथा लोष्टो लुठद्वृक्षं वञ्चयित्वाऽऽशु गच्छति ।
अज्ञानत्वेऽजपशवस्तथा ह्यस्ति पुरादिकम् ॥ ४१ ॥
यथा स्वप्नवपुर्बोधान्न जाने क्वेव गच्छति ।
असत्यमेव तद्यस्मात् तथैवेहाऽऽधिभौतिकम् ॥ ४२ ॥

श्रीराम उवाच

भगवन् ! स्वप्नशिखरी प्रबोधे क्वेव गच्छति ।
इति मे संशयं छिन्धि शरदभ्रमिवाऽनिलः ॥ ४३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्वप्नभ्रमेऽथ सङ्कल्पे पदार्थाः पर्वतादयः ।
संविदोऽन्तर्मिलन्त्येते स्पन्दनान्यनिले यथा ॥ ४४ ॥
अस्पन्दस्य यथा वायोः स स्पन्दोऽन्तर्विशत्यलम् ।
अनन्यात्मा तथैवाऽयं स्वप्नार्थः संविदो मलम् ॥ ४५ ॥
स्वप्नाद्यर्थावभासेन संविदेव स्फुरत्यलम् ।
अस्फुरन्ती तु तेनैव यात्येकत्वं तदात्मिका ॥ ४६ ॥
संवित्स्वप्नार्थयोर्द्वित्वं न कदाचन लभ्यते ।
यथा द्रवत्वपयसोर्यथा वा स्पन्दवातयोः ॥ ४७ ॥

ढेला को वृक्षपर फेंकने पर वह वृक्ष के बीच में प्रवेश नहीं करता है वह वृक्ष में ही समाप्त हो जाता है अर्थात् धूलि में पतित हो जाता है, इसी प्रकार अविवेकी भी अजा=बकरी स्वरूप पशु के समान है, अज्ञानी व्यक्ति के अन्दर में विवेक प्रविष्ट नहीं होता है, इसीलिए उनके शरीर और उनके कामना कर्म वासनादि पूर्व के समान अवस्थित रहते हैं ।

आशय यह है कि उनके विचार के अनुदय में हेतु क्या है, ऐसा यदि कोई कहे, तो स्थूल में अभिनिवेश तथा सार, दार्ढ्य, सूक्ष्मता आदि से शून्यता हेतु है, जैसे वृक्ष को नष्ट करने के लिए जोर से फेंका गया ढेला वृक्ष मे पहुँचकर स्वयं अपना ही नाश करता है, बाण की नाईं भीतर नहीं घुसता और न कीचड़ के पिण्ड की नाईं वृक्ष से चिपट जाता है और न पत्थर के समान तनिक भी आघात पहुँचाकर स्वयं फिर उपघात के योग्य ही बना रहता है, किन्तु शीघ्र नष्ट हो जाता है, वैसे ही वे लोग भी, ज्ञान न होने के कारण, वस्तुतः पशु (अजारूप पशु) यानी विचार करने में असमर्थ हैं, क्योंकि 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते' (जो अन्य देवता की उपासना करता है, यह अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार वह पशु की भाँति अज्ञानी है) ऐसी श्रुति है । उनके विचार के अनुदय में केवल अज्ञान ही कारण नहीं है किन्तु शरीर, काम, कर्म, वासना आदि भी उनके पशु के तुल्य ही होते हैं, इसलिए उनमें विचार का उदय न होना ठीक ही है ॥ ४१ ॥

जो विचार करते हैं, उनमें क्रमशः आधिभौतिकता की प्रतीति बोध से बाधित हो जाती है, अतः उनमें आधिभौतिकता की प्रतीति रहती नहीं फिर सन्देह आदि की प्रसक्ति तो दूर रही, इस आशय से उपसंहार करते हैं—'यथा' इत्यादि से ।

आधिभौतिक भी बोध होनेपर वैसे ही कहीं चला जाता है जैसे स्वप्नशरीर बोध में (जागरण से) न जाने कहाँ चला जाता है, अतः वह असत्य ही है ॥ ४२ ॥

दृष्टान्त के प्रसङ्ग से श्रीरामचन्द्रजी स्वाप्नविषय का मूलाज्ञान के बाध के बिना आत्यन्तिक बाध नहीं है, वह कहाँ छिपकर रहता है, वह स्थान कौन है, ऐसा पूछते है—'भगवन्' इत्यादि से ।

श्रीरामचन्द्र ने कहा—वह स्वप्नरूपी पर्वत जागरण होनेपर कहाँ चला जाता है अर्थात् कहाँ रहता है, मेरे इस सन्देह को आप वैसे ही नष्ट करे जैसे वायु शरत्काल के मेघ को नष्ट कर देता है ॥ ४३ ॥

आशय यह है कि जैसे स्पन्दन वायु में ही लीन हो जाता है, वैसे ही स्वप्न और सङ्कल्प में दृष्ट पर्वत आदि सम्बित् अर्थात् आत्मचैतन्य में मिलित हो जाते हैं स्वप्न जगत् और मनोरथजन्य प्रचश्च जाग्रत् वासना से संचित अविद्या से उपहित जीव की संवित् से उत्पन्न है, इसलिए जिससे उसकी उत्पत्ति है, उसी में उसका तिरोभाव होता है ।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—स्वप्नभ्रान्ति में और मनोरथ में आदि पदार्थ जैसे स्पन्द (गति) वायु में अन्तर्भूत होते हैं वैसे ही संवित् के अन्दर विलीन हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

अन्य तात्त्विक स्वरूपहीन ये स्वाप्निक पदार्थ संवित् के मल के समान आवरक अपने उपादानभूत अज्ञान में वैसे ही प्रवेश करते हैं जैसे स्पन्दरहित वायु में वह स्पन्द विलीन हो जाता है ॥ ४५ ॥

एकमात्र सम्बिद् ही विभिन्न पदार्थों के आकार में अवभासित और प्रस्फुरित होता है, जिस दिन सम्वित् पदार्थों के रूप में अवभासित नहीं होगा, उस दिन सम्बित् का स्वभाव अद्वयता=एकत्व प्रतिष्ठित होगा ॥ ४६ ॥

द्रवत्व जैसे जल से अभिन्न है और स्पन्द जैसे (चलन) और वायु से अभिन्न है वैसे ही संवित् और स्वप्न पदार्थों

यस्तत्र स्यादिवाऽबोधस्तदज्ञानमनुत्तमम् ।
सैषा संसृतिरित्युक्ता मिथ्याज्ञानात्मिकोदिता ॥ ४८ ॥
सहकारिकारणानामभावे किल कीदृशी ।
संवित्स्वप्नपदार्थानां द्विता स्वप्ने निरर्थिका ॥ ४९ ॥
यथा स्वप्नस्तथा जाग्रदिदं नाऽस्त्यत्र संशयः ।
स्वप्ने पुरमसद् भाति सर्गादौ भात्यसज्जगत् ॥ ५० ॥
न चाऽर्थो भवितुं शक्यः सत्यत्वे स्वप्नतोदितः ।
संविदो नित्यसत्यत्वं स्वप्नार्थानामसत्यता ॥ ५१ ॥
झटित्येव यथाऽऽकाशं भवति स्वप्नपर्वतः ।
क्रमेण वा तथा बोधे खं भवत्याधिभौतिकम् ॥ ५२ ॥
उड्डीनोऽयं मृतो वेति पश्यन्ति निकटस्थिताः ।
ज्ञमातिवाहिकीभूतं स्वस्वभावहता यतः ॥ ५३ ॥
मिथ्यादृष्टय एवेमाः सृष्टयो मोहदृष्टयः ।
मायामात्रदृशो भ्रान्तिः शून्याः स्वप्नानुभूतयः ॥ ५४ ॥
स्वप्नानुभूतय इमा मरणान्तबोधे
भ्रान्त्येतरभ्रमदृशः स्फुटसर्गभावः ।
भान्त्यातिवाहिकशरीरगताः समस्ता
मिथ्योदिता मृगनदीसरणक्रमेण ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने
स्वप्नार्थस्य विचारो नाम सप्तपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५७ ॥

में कदापि भेद नहीं है। आशय यह है कि संवित् ही अविवेक के कारण कर्मवश स्वाप्निक पदार्थों के समान, दृश्य पदार्थ के रूप में स्फुरित होती है, विवेक होनेपर स्वप्न पदार्थ और संवित् में कोई अन्तर नहीं रहता है। विभिन्न सम्वेदन योग्य पदार्थ स्वप्न दृष्ट और संवित् इन दोनों में वास्तविक कोई भेद किसी समय किसी व्यक्ति के द्वारा उपलब्ध नहीं होता है और हो भी नहीं सकता है ॥ ४७ ॥

[जो उसमें अन्य-सा प्रतीत होता है, वह अविद्या ही है, वही संसार है, ऐसा कहते हैं—'यः' इत्यादि से।]

ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों एक नहीं है इसीलिए एक पदार्थ अन्य से भिन्न है, अज्ञान हीं नाम का नामी=प्रधान है और अज्ञान ही संसार है, सम्विद् ही अज्ञान के रूप में विवर्त होकर संसार संज्ञा प्राप्त करता है। अर्थात् जो उसमें अन्य-सा प्रतीत होता है, वह सबसे बढ़कर अज्ञान है, वही 'संसार' कहा गया है, वह मिथ्याज्ञानरूप ही है ॥४८॥

सहकारी कारणों का अभाव होने से स्वप्न में संवित् और स्वप्न के पदार्थों का भेद निरर्थक ही है। आशय यह है कि स्वाप्निक पदार्थ लोकप्रसिद्ध दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारणों से उत्पन्न न होने के कारण असत् है ॥ ४९ ॥

जैसे संवित्रूप स्वप्न है वैसा ही यह जाग्रत् भी संवित्रूप ही है, इसमें सन्देह नहीं है। स्वप्न में असत्य नगर की प्रतीति होती है और सृष्टि के आदि में असत् जगत् का भान होता है। आदि सृष्टि में अज्ञानोपहित हिरण्यगर्भ की संवित् से अतिरिक्त कुछ नहीं था, अतः जगत् स्वप्नतुल्य है ॥ ५० ॥

स्वप्न अर्थात् स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न हुए प्रपञ्च को यदि सत्य माना जाय संविद्-भास्य नहीं होगा। संवित् की नित्यसत्यता और स्वप्न पदार्थों की असत्यता है, प्रपञ्च सत्य नहीं हो सकता है ॥ ५१ ॥

तत्त्वज्ञान होनेपर आधिभौतिक प्रपञ्च बोधाभ्यास क्रम से या सहसा ईश्वर के अनुग्रह से वैसे ही शून्य हो जाता है, जैसे जागरण होनेपर स्वप्न का पर्वत शून्य हो जाता है, अवशिष्ट नहीं रहता है ॥ ५२ ॥

ऐसी अवस्था में श्रीशुक्रदेवजी का सूर्यमण्डलगमन और दधीचि आदि ऋषियों के मृतक शरीर का दर्शन लोगों को कैसे हुआ? इस शङ्का पर कहते हैं—'उड्डीनोऽयम्' इत्यादि से।

निकटस्थित लोग जिसके आधिभौतिक शरीर का बाध हो चुका है, ऐसे आतिवाहिकता को तत्त्वज्ञानी को 'यह उड़ गया अथवा यह मर गया' ऐसा समझते हैं ॥५३॥

क्योंकि मोहदृष्टियाँ ये द्वैतदर्शनवाली सृष्टियाँ मिथ्या दृष्टियाँ हैं, अज्ञान से उनका दर्शन होता है। स्वप्न में जिनका अनुभूत पदार्थ अर्थशून्य हैं ॥ ५४ ॥

अनादिभ्रम प्रवाह में पड़ा हुआ पुरुष में दृढ़तर भेद-संस्कार का उदय होने से मरणमूर्च्छा अर्थात् प्राणों के उत्क्रमण के पूर्व क्षण में उत्पन्न भावी भोगों के अनुकूल पदार्थों की प्रतीति होनेपर बिलकुल स्पष्ट सृष्टि की अनुभूति हुई हैं, यद्यपि ये केवल मनोमात्रनिष्ठ हैं, तथापि मृगतृष्णा की नदी के प्रवाह के समान मिथ्या उत्पन्न भ्रम से बाह्य-सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में मन के बाहर नहीं हैं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में
स्वप्नार्थविचार नामक कुसुमलता का सत्तावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५७ ॥

५८

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतस्मिन्नन्तरे ज्ञप्तिर्जीवं वैदूरथं पुनः ।
सङ्कल्पेन रुरोधाऽऽशु मनसः स्पन्दनं यथा ॥ १ ॥

लीलोवाच

वद देवि ! कियान् कालो गतोऽस्यामिह मन्दिरे ।
समाधौ मयि लीनायां महीपाले शवे स्थिते ॥ २ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

इह मासस्त्वतिक्रान्त इह दास्याविमे तव ।
रक्षार्थं वासगृहके स्वपतोऽव्हिते स्थिते ॥ ३ ॥
शृणु देहस्य किं वृत्तं तवेह वरवर्णिनि ! ।
शरीरं तव पक्षेण तत् क्लिन्नं बाष्पतां गतम् ॥ ४ ॥

निर्जीवं पतितं भूमौ संशुष्कमिव पल्लवम् ।
काष्ठकुड्योपमो जातः शवस्तु हिमशीतलः ॥ ५ ॥
ततो मन्त्रिभिरागत्य मृतैवेयमिति स्वयम् ।
क्लेदालोकाद् विनिर्णीय भूयो निष्कासितं गृहात् ॥ ६ ॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन नीत्वा चन्दनदारुभिः ।
चितौ संक्षिप्य सघृतं सहसा भस्मसात् कृतम् ॥ ७ ॥
ततो राज्ञी मृतेत्युच्चैः कृत्वा रोदनमाकुलम् ।
परिवारस्तवाऽशेषं कृतवानौर्ध्वदेहिकम् ॥ ८ ॥
इदानीं त्वामिहाऽऽलोक्य सशरीरामुपागताम् ।
परलोकादागतेति महच्चित्रं भविष्यति ॥ ९ ॥

५८

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—

राजा पद्म के शव के पास में बैठी हुई द्वितीया लीला को प्रबुद्ध लीला ने इस प्रकार देखा इसी समय योगि-गण जैसे इच्छा के द्वारा मन के स्पन्दन को निरुद्ध करते हैं वैसे ही सत्यसङ्कल्पा सरस्वती देवी के सङ्कल्प के द्वारा राजा विदूरथ के जीव को निरुद्ध किया, अर्थात् शव शरीर से प्रविष्ट नहीं होने दिया ॥ १ ॥

लीला ने कहा :—हे देवि ! इस पाद्म सृष्टि में इस मन्दिर में मेरी समाधि में और राजा पद्म की शवावस्था में कितना समय व्यतीत हुआ है ॥ २ ॥

श्रीसरस्वती देवीजी ने कहा :—इस राजमहल में इस सृष्टि में एक मास व्यतीत हो गया है। ये तुम्हारी दो दासियाँ, जो तुम्हारी देह की रक्षा के लिए सावधान थीं, अब सो रही हैं ॥ ३ ॥

हे सुन्दरि ! यहाँ पर तुम्हारे शरीर का क्या हुआ ? इसे तुम सुनो । समाधि में लीन होने पर तुम्हारा शरीर पन्द्रह दिनों में पसीने से तर होकर प्राणायाम से प्रदीप्त हुई जठराग्नि से तपकर भाप बन गया ॥ ४ ॥

तदनन्तर सूखे हुए पल्लव के समान निर्जीव होकर भूमि में गिर पड़ा, फिर काष्ठ और दीवाल के समान निर्जीव और वर्फ के समान शीतल शव (मुर्दा) बन गया* । आशय यह है कि :—लीला को तत्त्व ज्ञान हो गया है, उसका स्थूल शरीर विषयक ज्ञान रस्सी के ज्ञान के होने पर सर्प के ज्ञान के दूर होने से वह स्थूल शरीर का अनुसन्धान नहीं कर रही है, सरस्वती ने भी इस विषय में नहीं कहा है, परन्तु अन्य अज्ञानी की दृष्टि में लीला के शरीर की जो घटना थी उसका उचित विवेचन के लिए लीला का वर्णन किया ॥ ५ ॥

तब मन्त्रियों ने आकर शिथिल अङ्ग-प्रत्यङ्ग और खुला मुँह देखने से 'यह स्वयं ही मर गई' ऐसा निश्चय-कर उस शव को घर से बाहर किया ॥ ६ ॥

अधिक क्या कहें, उसे श्मशान में ले जाकर चन्दन के काष्ठों से बनी चिता में रखकर घृत के साथ उसे सहसा जला डाला ॥ ७ ॥

अनन्तर तुम्हारे परिवार ने महारानी मर गई है, जोर से रो-पीटकर सम्पूर्ण और्ध्वदेहिक क्रिया की । लीला का देह समाप्त हो गया था । राजा का शरीर रह गया था, क्योंकि, सत्य सङ्कल्पा सरस्वती के प्रभाव से राजा का शरीर जीवित के समान था नष्ट नहीं हुआ था ॥ ८ ॥

इस समय यहाँ पर तुमको सशरीर आई हुई देखकर उन्हें यह परलोक से लौट आई है यह समझ कर महान् आश्चर्य होगा ॥ ९ ॥

---

* राजा के शरीर में विकार न आने का कारण सत्य संकल्प और राजा का उस शरीर से भोग्य अदृष्ट देवी सरस्वती का 'यह ऐसा निर्विकार बना रहे' ऐसा है, यह समझना चाहिए ।

त्वं तु तेन शरीरेण सत्यसङ्कल्पतः सुते ! ।
दृश्यसे स्ववदातेन चित्रं तत्र तवोपरि ॥ १० ॥

यद्वासना त्वमभवो देहं प्रति तदेव ते ।
रूपमभ्युदितं बाले ! तेन प्राक्सदृशं तव ॥ ११ ॥

स्ववासनानुसारेण सर्वः सर्वं हि पश्यति ।
दृष्टान्तोऽत्राऽविसंवादी बालवेतालदर्शनम् ॥ १२ ॥

आतिवाहिकदेहाऽसि संपन्ना सिद्धसुन्दरि ।
विस्मृतस्त्वेव देहोऽसौ प्राक्तनोऽनपवासनः ॥ १३ ॥

रूढातिवाहिकदृशः प्रशाम्यत्याधिभौतिकः ।
बुधस्य दृश्यमानोऽपि शरन्मेघ इवाऽम्बरे ॥ १४ ॥

रूढातिवाहिकीभावः सर्वो भवति देहकः ।
निर्जलाम्भोदसदृशो निर्गन्धकुसुमोपमः ॥ १५ ॥

हे पुत्रि ! तुम अपने सत्यसंकल्प होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ आतिवाहिक शरीर हो गई है, जिस शरीर को मनुष्य नहीं देख सकते, दिखाई देती हो, इसलिए तुम्हारे दर्शन से लोगों को और आश्चर्य होगा ॥ १० ॥

यदि किसी को यह शङ्का हो कि दिव्य शरीर पूर्व-देह के आकारवाला नहीं होगा, तो लोगों को उससे 'यही वह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकेगी, इसलिए उसका पूर्व शरीर के सदृश आकार होना आवश्यक है, उसके पूर्व शरीर के आकारवाला होने में क्या बीज है ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए उसके पूर्व शरीराकार होने में हेतु कहती हैं—'यत्' इत्यादि से ।

हे बाले ! शरीर के प्रति तुम्हारी जैसी वासना हुई थी, वही रूप तुम्हें प्राप्त हुआ, इसलिए तुम्हारा शरीर रूपलावण्य सम्पन्न पूर्व शरीर के समान प्राप्त हुआ ॥११॥

अपनी वासना के अनुसार ही सब लोग सभी पदार्थों को देखते हैं, इस विषय में बालक का वेतालदर्शन अनुरूप दृष्टान्त है ॥ १२ ॥

तुम्हें अपनी वासना के अनुसार यह शरीर प्राप्त हुआ है और राजा को अपनी वासना के अनुसार वही शरीर वैसे ही मिला है । जैसे अपनी बासना के अनुसार स्तम्भ आदि में बालक को वेताल की भ्रान्ति होती है, हे सिद्ध-सुन्दरी तुम आतिवाहिक देह सम्पन्न ब्रह्म हो गई है। पूर्वजन्म के अशुभ वासना सम्पन्न आधिभौतिक देह को तो तुम भूल चुकी हो, अतएव उसपर तुम्हारी वासना नहीं रही है ॥ १३ ॥

जिस ज्ञानी पुरुष की आतिवाहिक भाव बद्धमूल होने से तुम्हारा आधिभौतिक ज्ञान उपशान्त हो गया है दूसरों को आधिभौतिकरूप से अन्य लोगों की दिखाई देता हुआ भी उसका शरीर आकाश में शरत्काल के मेघ के समान शान्त हो जाता है ॥ १४ ॥

आतिवाहिक भाव बद्धमूल हो जाने से ऐसे सभी शरीर जलरहित शरत्कालीन मेघ के तुल्य और गन्धहीन पुष्प की तरह हो जाते हैं ॥ १५ ॥

सद्वासनस्य रूढायामातिवाहिकसंविदि ।
देहो विस्मृतिमायाति गर्भसंस्थेव यौवने ॥ १६ ॥

एकत्रिंशेऽद्य दिवसे प्राप्ता वयमिहाऽम्बरे ।
प्रभाते मोहिते दास्यौ मयैते निद्रयाऽधुना ॥ १७ ॥

तदेहि यावल्लीलायै लीले ! सङ्कल्पलीलया ।
आत्मानं दर्शयावोऽस्यै व्यवहारः प्रवर्तताम् ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

आवां तावदिमे लीला पश्यत्वित्येव चिन्तिते ।
ज्ञप्त्या देव्या ततस्तत्र दृश्ये दीप्ते बभूवतुः ॥ १९ ॥

सा विदूरथलीलाऽथ समाकुलविलोचना ।
गृहमालोकयामास तत्तेजःपुञ्जभास्वरम् ॥ २० ॥

चन्द्रबिम्बादिवोत्कीर्णं धौतं हेमद्रवैरिव ।
ज्वालाया द्रवशीतायास्तत्प्रभाद्रवभित्तिमत् ॥ २१ ॥

वासनायुक्त पुरुष में अतिवाहिकभाव के बद्धमूल होने-पर आधिभौतिक देह का विस्मरण वैसे ही हो जाता है जैसे यौवनावस्था में गर्भ में निवास विस्मृत हो जाता है ॥ १६ ॥

आज इकतीसवें दिन हम इस मण्डपाकाश में आए हैं। इस समय प्रभातकाल होनेपर मैंने ही इन दासियों को निद्रा से मोहित कर दिया है ॥ १७ ॥

हे लीले ! आओ, तबतक अपने सत्य-संकल्प के विलास से इस लीला को अपना स्वरूप दिखाएँ और हमारा मानवोचित व्यवहार में प्रवृत्त हो जाय ॥ १८ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा :—वत्स श्रीरामचन्द्रजी, लीला और सरस्वती देवी को विदूरथ की पत्नी लीला देखे, इस प्रकार सरस्वती देवी के चिन्तन करते ही वहाँपर सरस्वती और लीला प्रदीप्त रूप से देदीप्यमान दृश्य हो गई ॥ १९ ॥

उनके दृश्य होने के बाद अप्रबुद्ध विदूरथ-लीला की आखें चञ्चल हो गई। उसने अपने घर को उनके तेजः-पुञ्ज से देदीप्यमान देखा ॥ २० ॥

द्रव से शीतल दीप्ति के कारण चन्द्रमा के बिम्ब से

गृहमालोक्य पुरतो लीलाज्ञप्ती विलोक्य ते ।
उत्थाय संभ्रमवती तयोः पादेषु साऽपतत् ॥ २२ ॥
मज्जयायाऽऽगते देव्यौ ! जयतां जीवनप्रदे ।
इह पूर्वमहं प्राप्ता भवत्योर्मार्गशोधिनी ॥ २३ ॥
इत्युक्तवत्यां तस्यां ता मानिन्यो मत्तयौवनाः ।
उपाविशन् विष्टरेषु लतामेरुशिरःस्विव ॥ २४ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

सुते ! वद कथं प्राप्ता त्वमिमं देशमादितः ।
किं वृत्तं ते त्वया दृष्टं किमिवाऽध्वनि कुत्र वा ॥ २५ ॥

विदूरथलीलोवाच

देवि ! तस्मिन् प्रदेशे सा जातमूर्छा तदाऽभवम् ।
द्वितीयेन्दोः कलेवाऽहं कल्पान्तज्वालया हता ॥ २६ ॥
न चेतितं मया किञ्चित् समं विषममेव च ।
ततस्तरलपक्ष्मान्ते विनिमील्य विलोचने ॥ २७ ॥
ततो मरणमूर्छान्ते पश्यामि परमेश्वरि ! ।
यावदभ्युदिताऽस्म्याशु प्लुता च गगनोदरे ॥ २८ ॥
भूताकाशोऽनिलरथं समारूढाऽस्म्यहं ततः ।
आनीता गन्धलेखेव तेनाऽहमिममालयम् ॥ २९ ॥
देवि ! पश्यामि सदनं नायकेनाऽभ्यलङ्कृतम् ।
दीप्तदीपं विविक्तं च महार्हशयनान्वितम् ॥ ३० ॥
पतिमालोकयामीमं यावदेष विदूरथः ।
शेते कुसुमगुप्ताङ्गो मधुः पुष्पवने यथा ॥ ३१ ॥
अथ संग्रामसंरम्भश्रमार्त्तोऽयं स्वपित्यलम् ।
इति निद्रा मया सेयं देवेश्वरि न वारिता ॥ ३२ ॥
अनन्तरमिमं देशं प्राप्ते देव्याविमे त्विति ।
यथाऽनुभूतं कथितं मदनुग्रहकारिणि ॥ ३३ ॥

ज्ञप्तिरुवाच

हे हंसहारिगामिन्यौ ! लीले ललितलोचने ! ।
उत्थापयामो नृपतिं शवतल्पतलादिमम् ॥ ३४ ॥
इत्युक्त्वा मुमुचे जीवमामोदमिव पद्मिनी ।
स समीरलताकारस्तन्नासानिकटं ययौ ॥ ३५ ॥

निकाले गये के समान और उनकी कान्तिरूपी द्रव से युक्त भित्तिवाला होने के कारण सोने के पानी से धोये गये के समान घर को देखकर और आगे लीला और सरस्वती देवीजी को देखकर बड़े वेग से उठकर वह उनके चरणोंपर गिर पड़ी ॥ २१, २२ ॥

हे देवियो ! आप मेरे कल्याण के लिए आई हैं और आप जीवन देनेवाली हैं, आपकी जय हो । आपकी सेविका मैं यहाँपर पहले प्राप्त हुई हूँ ॥ २३ ॥

उसके द्वारा ऐसा कहनेपर पूर्ण यौवनवाली वे तीनों मानिनियाँ सोने के आसनोंपर वैसे ही बैठ गईं जैसे मेरु के शिखरों में लताएँ बैठती हैं ॥ २४ ॥

श्रीसरस्वती देवीने कहा—हे पुत्रि ! तुम यह बताओ कि तुम यहाँ कैसे आई, रास्ते में कहांपर क्या आश्चर्य-कारी घटना घटी और तुमने क्या देखा ? ॥ २५ ॥

विदूरथ की लीला ने कहा—हे देवि ! उस समय विदूरथ के गृहप्रदेश में कल्पान्त की ज्वाला से मूर्च्छित द्वितीया तिथि की चन्द्रकला के समान मैं मूर्च्छित हो गई ॥ २६ ॥

अनन्तर चञ्चल नेत्रपक्ष्म-राजि वाले नेत्रों को बन्द-कर मूर्च्छा में पड़ी हुई मुझको सम और विषम कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ ॥ २७ ॥

हे परमेश्वरि ! अनन्तर मरणमूर्छा के बाद मैं देखती हूँ कि वासना से परिकल्पित देह के तुल्य देह से मैं अध्यास से आविर्भूत हुई और भूताकाश में उड़ी हूँ ॥२८॥

अनन्तर भूताकाश में वायुरूपी रथ में बैठी हूँ। अनन्तर सुगन्धि के लेश के समान वायुरूपी रथ मुझे यहां इस घर में लाया ॥ २९ ॥

हे देवि ! इसके बाद शवरूप राजा पद्म से अलङ्कृत मैंने इस महल को देखा । इसमें दीपक जलते थे, बड़ा स्वच्छ और बहुमूल्य शयन से युक्त था ॥ ३० ॥

जब मैं पति को देखने लगी तो देखती हूँ कि यह विदूरथ फूलों से सभी अङ्ग आच्छादित होकर फूलों के वन में वसन्त के समान सोया है ॥ ३१ ॥

हे देवेश्वरि ! संग्राम करने से उत्पन्न परिश्रम से यह खिन्न है, अतः यह गाढ़ नींद में सोया है, इसलिए उसको इस निद्रा से नहीं जगाया ॥ ३२ ॥

हे अनुग्रहकारिणि ! इसके बाद ही इस भूमि में आप दोनों देवियों का शुभागमन हुआ इत्यादि जैसा मैंने अनुभव किया था, वैसा आप से कह दिया है ॥ ३३ ॥

श्रीसरस्वती देवी ने कहा—हे हंस के समान मनोहर गमनशालिनियाँ और सुन्दर नये नये दोनों लीलाओ, हम शवशय्या से इस राजा को उठाये ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर सरस्वती देवी ने पूर्व-संकल्प से रोके हुए राजा के जीव को वैसे ही छोड़ा जैसे कमलिनी सुगन्धि छोड़ती है । वायु के समान आकृति वाला जीव उसकी नासिका के निकट गया ॥ ३५ ॥

प्राणकोशं विवेशाऽन्तर्वंशे रन्ध्रमिवाऽनिलः ।
स्ववासनाक्षतान्यन्तर्दधदब्धिर्मणीनिव ॥ ३६ ॥
अन्तस्थजीवं वदनं तस्य तत्कान्तिमाययौ ।
पद्मस्याऽवग्रहे पद्मं सुवृष्ट इव वारिणि ॥ ३७ ॥
क्रमादङ्गानि सर्वाणि सरसानि चकाशिरे ।
तस्य पुष्पाकर इव लताजालानि भूभृतः ॥ ३८ ॥
अथाऽऽबभौ कलापूर्णः स राकायामिवोडुराट् ।
भासयन् भुवनं भूरि वदनेन्दुमरीचिभिः ॥ ३९ ॥
स्फुरयामास सोऽङ्गानि रसवन्ति मृदूनि च ।
कनकोज्ज्वलकान्तीनि पल्लवानीव माधवः ॥ ४० ॥
उन्मीलयामास दृशौ विमलालोलतारके ।
हारिण्यौ सुभगाभोगे चन्द्रार्कौ भवनं यथा ॥ ४१ ॥
उत्तस्थौ प्रोल्लसत्कायो विन्ध्याद्रिर्वृद्धिमानिव ।
उवाच कः स्थित इति घनगम्भीरनिःस्वनम् ॥ ४२ ॥
लीलाद्वयमथाऽस्याऽग्रे प्रोवाचाऽऽदिश्यतामिति ।

उसने नासिका रन्ध्र में वैसे ही प्रवेश किया जैसे वायु बांस के छेद में प्रवेश करता है, अनन्त वासनाओं को वह वैसे ही धारण करता था जैसे सागर अपने अन्दर अनन्त मणियों को धारण करता है ॥ ३६ ॥

जीव के अन्दर जानेपर पद्म का पहले मुरझाया हुआ मुख वैसे ही कान्तियुक्त हो गया जैसे अनावृष्टि होनेपर मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होने पर मनोहर कान्ति से युक्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

उसके सब अङ्ग सरस होकर वैसे ही शोभित होने लगे, जैसे कि पर्वत की लताएँ वसन्त आने पर शोभित होती हैं ॥ ३८ ॥

वह पूर्णचन्द्रमावाली पौर्णमासी की रात्रि में सोलह कलाओं से पूर्ण चन्द्रमा के समान शोभित हुआ और मुख-रूपी चन्द्रकिरणों से पृथिवी को देदीप्यमान किया ॥ ३९॥

राजा पद्म ने अपने सजीव कोमल अङ्गों को वैसे ही संचालित किया जैसे वसन्त सुवर्ण के तुल्य उज्ज्वल कान्तिवाले अपने पल्लवों को संचालित करता है ॥ ४० ॥

जैसे भुवन (भुवनात्मा हिरण्यगर्भ विराट्) अपने नेत्ररूपी चन्द्रमा और सूर्य को उन्मीलित करता है वैसे ही निर्मल चञ्चल तारिकावाले अपने सुन्दर नेत्रों को उसने खोला ॥ ४१ ॥

विन्ध्याचल के समान बुद्धिशील राजा का शरीर शोभित हो रहा था, वह उठा और मेघ के घोष के समान गम्भीर ध्वनि से उसने कौन है ? ॥ ४२ ॥

स ददर्श पुरो नम्रं लीलाद्वयमवस्थितम् ॥ ४३ ॥
समाचारं समाकारं समरूपं समस्थिति ।
समवाक्यं समोद्योगं समानन्दं समोदयम् ॥ ४४ ॥
का त्वं केयं कुतश्चेयमित्याह स विलोकयन् ।
तस्मै लीलाऽऽह हे देव ! श्रूयतां यद्वदाम्यहम् ॥ ४५ ॥
महिला तव लीलाऽहं प्राक्तनी सहधर्मिणी ।
वागर्थस्येव संपृक्ता स्थिता संश्लेषशालिनी ॥ ४६ ॥
इयं लीला द्वितीया ते महिला हेलया मया ।
उपार्जिता त्वदर्थेन प्रतिबिम्बमयी शुभा ॥ ४७ ॥
शिरोभागोपविष्टेयं पाहि हैममहासने ।
एषा सरस्वती देव ! त्रैलोक्यजननी शिवा ॥ ४८ ॥
अस्माकं पुण्यसंभारैरिह साक्षादुपागता ।
अनयेमे परात्लोकादिहाऽऽनीते महीपते ! ॥ ४९ ॥
इत्याकर्ण्य समुत्थाय राजा राजीवलोचनः ।
लम्बमाल्याम्बरधरः पपात ज्ञप्तिपादयोः ॥ ५० ॥

दोनों लीलाओं ने उसके आगे जाकर कहा, महाराज आज्ञा कीजिये ॥ ४३ ॥

उसने नम्र दो लीलाओं को अपने सामने उपस्थित देखा । उन दोनों का एक-सा व्यवहार एक–सी आकृति एक-सी रूपरेखा, एक-सी मर्यादा, एक-से वचन, एक-सा उद्योग, एक-सा आनन्द और एक-सा अभ्युदय था ॥४४॥

उसने देखते हुए तुम कौन हो और यह कौन है यह कहां से आई है, ऐसा पूछा, उससे पूर्व लीला ने कहा—हे देव ! जो मैं कहती हूँ, उसे आप सुनें ॥ ४५ ॥

मैं आपकी पूर्वजन्म की सहधर्मिणी लीला हूँ मैं आप से संबद्ध होकर वैसे ही स्थित हूँ जैसे शब्द अर्थ का वाचक होने से अर्थ से मिलित है ॥ ४६ ॥

यह लीला तुम्हारी दूसरी पत्नी है, मैंने तुम्हारे उप-भोग के लिए इसका उपार्जन किया है, यह सुन्दरी प्रति-बिम्बमयी है ॥ ४७ ॥

हे पृथिवीपते ! यह स्वर्णसिंहासन के सिरहनेपर बैठी हुई है, इसकी आप रक्षा करें । यह सरस्वती देवीजी हैं, जो तीनों लोकों की जननी और कल्याणकारिणी हैं ॥४८॥

हे महीपते ! हम लोगों के पुण्यों की प्रचुरता से यह यहांपर साक्षात् उपस्थित हैं ये ही हम दोनों को परलोक से यहाँ लाई हैं ॥ ४९ ॥

जिसकी वस्त्र और मालाएँ लटक रही थीं कमल के समान विशाल नेत्रवाला राजा यह सुनकर उठकर देवी के चरणों में गिर पड़ा ॥ ५० ॥

सरस्वति ! नमस्तुभ्यं देवि ! सर्वहितप्रदे ।
प्रयच्छ वरदे मेधां दीर्घमायुर्धनानि च ॥ ५१ ॥
इत्युक्तवन्तं हस्तेन पस्पर्श ज्ञप्तिदेवता ।

सरस्वत्युवाच

त्वं पुत्राभिमतार्थाढ्यो भवेति भवनान्वितः ॥ ५२ ॥

सर्वापदः सकलदुष्कृतदृष्टयश्च
गच्छन्तु वः शममनन्तसुखानि सम्यक् ।
आयान्तु नित्यमुदिता जनता भवन्तु
राष्ट्रे स्थिराश्च विलसन्तु सदैव लक्ष्म्यः ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे पद्मजीवनं नाम अष्टपञ्चाशत्तमः सर्गः ॥ ५८ ॥

हे देवि ! हे सबका कल्याण करनेवाली ! हे सरस्वती जी ! आपको नमस्कार है, हे वरदायिनि ! बुद्धि दे, दीर्घ आयु दे । राजा के यह कह चुकनेपर देवी सरस्वती ने अपने हाथ से उसका स्पर्श किया ॥ ५१½ ॥

श्री सरस्वतीजी ने कहा— हे पुत्र ! दीर्घायु, धन आदि अभिलषित पदार्थों से सम्पन्न हो तत्त्वज्ञान से प्राप्त अपने परमार्थिक स्वरूप को प्राप्त करे ॥ ५२ ॥

अशेष आपत्तियाँ और सभी पापबुद्धियाँ विनाष्ट हों अनन्त सुख तुम्हें प्राप्त हों, तुम्हारे राज्य में सभी प्रजायें सदा आनन्दित रहे और सकल सम्पत्तियां स्थिर होकर सदा विलास करें ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में पद्मजीवन नामक कुसुमलता का अट्ठावनवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५८ ॥

५९

श्रीवासिष्ठ उवाच

सरस्वती तथेत्युक्त्वा तत्रैवाऽन्तर्धिमाययौ ।
प्रभाते पङ्कजैः सार्द्धं बुबुधे सकलो जनः ॥ १ ॥
आलिलिङ्ग च तां लीलां लीला च दयितं क्रमात् ।
पुनः पुनर्महानन्दान्मृतं प्रोज्जीवितं पुनः ॥ २ ॥
तदासीद्राजसदनं मदमन्मथमन्थरम् ।
आनन्दमत्तजनतं वाद्यगेयरवाकुलम् ॥ ३ ॥
जयमङ्गलपुण्याहघोषघुंघुमघर्घरम् ।
तुष्टपुष्टजनापूर्णं राजलोकवृताङ्गणम् ॥ ४ ॥
सिद्धविद्याधरोन्मुक्तपुष्पवर्षसहस्रभृत् ।
ध्वनन् मृदङ्गमुरजकाहलाशङ्खदुन्दुभि ॥ ५ ॥
ऊर्ध्वीकृतबृहद्धस्तहास्तिकस्तनितोत्कटम् ।
उत्तालताण्डवस्त्रैणपूर्णाङ्गणलसद्ध्वनि ॥ ६ ॥
मिथःसंघट्टनिपतज्जनोपायनदन्तुरम् ।
पुष्पशेखरसंभारमयसंसारसुन्दरम् ॥ ७ ॥

५९

[राजा के जी उठने के हर्ष से नगर और अन्तःपुर में उत्सव, जीवन्मुक्त राजा पद्म और दो लीलाओंका चिर काल तक राज्यभोग और तदुपरान्तमुक्ति का प्रतिपादन]

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—सरस्वती ने ऐसा ही हो यह कहकर राजमहल में ही अन्तर्धान हो गईं । प्रातःकाल में कमलों के विकास के साथ सब लोग जागे ॥ १ ॥

राजा ने उस लीला का पुनः पुनः आलिङ्गन किया और लीला ने भी मरकर फिर जीवित हुए राजा का पुनः पुनः बड़े आनन्द से आलिङ्गन किया ॥ २ ॥

उस समय उस राजमहल का क्या कहना था । उसमें सभी लोग आनन्द में मस्त थे, गाने और बाजों की ध्वनि से वह गूँज रहा था, उसमें मद और काम का प्रभुत्व था ॥ ३ ॥

जय-जयकार की ध्वनि और माङ्गलिक पुण्याहवाचन के घोष से वह मुखरित था, सन्तुष्ट और हृष्टपुष्ट लोगों से भरा था, राजपुरुषों से उसका आँगन परिव्याप्त था ॥४॥

सिद्ध और विद्याधरों से छोड़ी गई हजारों पुष्पवृष्टियाँ बरस रहीं थीं, वहाँ ढोल, पखाउज, काहल=कार्णाल नाम का एक प्रकार का बाजा=बड़ा ढोल शङ्ख और नगारे बजते रहते थे ॥ ५ ॥

अपनी बड़ी-बड़ी सूँड़ों को उठाये हुए हाथियोंके झुण्ड की चिघाड़ से वह भीषण था । उसका आंगन उद्धत नृत्य करनेवाली नर्तकियों से पूर्ण विचित्र ध्वनियों से गुञ्जायमान था ॥ ६ ॥

परस्पर एक को दूसरे की टक्कर लगने से राजा के लिए उपहार ला रहे लोगों के उपहार वहांपर गिर रहे थे, गिर रहे उपहारों से वह नीचा ऊँचा हो गया था, फूलों की सिर की मालाओं और उत्सव के साज बाजों से भरपूर विविध लोगों के इधर-उधर आने जाने से वह बड़ा सुन्दर लगता था ॥ ७ ॥

विकीर्णापादितक्षौमं मन्त्रिसामन्तनागरैः ।
स्थूलपद्ममयं व्योमरक्तैस्ताण्डविनीकरैः ॥ ८ ॥

मत्तस्त्रीकन्धरावृत्तलीलान्दोलितकुण्डलम् ।
प्रवृत्तपादसंपातप्रोल्लसत्पुष्पकर्दमम् ॥ ९ ॥

पट्टवासःशरन्मेघवितानकवितानकम् ।
वराङ्गनामुखैर्नृत्यच्चन्द्रलक्षगृहाजिरम् ॥ १० ॥

परलोकादुपानीता राज्ञी सा पतिरेव च ।
इति निर्वृत्तगाथाभिर्जगुर्देशान्तरे जनाः ॥ ११ ॥

पद्मो भूमिपतिः श्रुत्वा वृत्तान्तं कथितं मनाक् ।
चक्रे स्नानं समानीतैश्चतुःसागरवारिभिः ॥ १२ ॥

ततोऽभिषिषिचुर्विप्रा मन्त्रिणो भूभुजश्च तम् ।
लब्धोदयमनन्तेहममरेन्द्रमिवाऽमराः ॥ १३ ॥

लीला लीला च राजा च जीवन्मुक्तमहाधियः ।
रेमिरे पूर्ववृत्तान्तकथनैः सुरतैरिव ॥ १४ ॥

सरस्वत्याः प्रसादेन स्वपौरुषकृतेन तत् ।
प्राप्तं लोकत्रयश्रेयः पद्मेनेति महीभुजा ॥ १५ ॥

स ज्ञप्तिज्ञानसंबुद्धो राजा लीलाद्वयान्वितः ।
चक्रे वर्षायुतान्यष्टौ तत्र राज्यमनिन्दितः ॥ १६ ॥

जीवन्मुक्तास्त इत्येवं राज्यं वर्षायुताष्टकम् ।
कृत्वा विदेहमुक्तत्वमासेदुः सिद्धसंविदः ॥ १७ ॥

यदुदयविशदं विदग्धमुग्धं
समुचितमात्महितं च पेशलं च ।
तदखिलजनतोषदं स्वराज्यं
चिरमनुपाल्य सुदम्पती विमुक्तौ ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलोपाख्याने पद्मनिर्वाणं नामैकोनषष्ठितमः सर्गः ॥५९

मन्त्रियों सामन्त अधीन राजाओं और नगरवासियों से बिखेरे गये फूलों, मालाओं और मोतियों के चारों ओर बिखेरने से आच्छन्न होने के कारण ऐसा प्रतीत होता था, मानों उसे रेशमी वस्त्र बिछा दिया है। नर्तकियों के लाल-लाल हाथों से, जो आकाश में नाच रहे थे, बड़े-बड़े कमलों वाले तालाब की शोभा को धारण कर रहा था ॥ ८ ॥

आनन्दोन्मत्त स्त्रियों के विलासपूर्वक गर्दन घुमाने से कानों के कुण्डल झूल रहे थे। इधर-उधर चलने-फिरने वाले लोगों के पैर पड़ने से फूलों के रस से कर्दम और पिच्छिल राजपथ बड़ा भला प्रतीत होता था ॥ ९ ॥

वहांपर शरत्कालके मेघ के तुल्य सफेद रेशमी वस्त्रों के चँदवे सुशोभित महल के विस्तृत अङ्गन में रूपवती ललनाओं के मुखों से लाखों चन्द्रमा उसके आंगन में नाच रहे थे ॥ १० ॥

मेरी रानी द्वितीया लीला और महाराज पद्म दोनों परलोक से आए हैं, ऐसी गाथाओं के समान सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से देश-देशान्तर में फैलने लगे अर्थात् इसका गान करने लगे ॥ ११ ॥

राजा पद्म ने संक्षेप में वर्णित अपने मरण और परलोकगमन कथा को कहा और चार सागरों से लाये गये के जल से स्नान किया ॥ १२ ॥

नहुष को गिराकर फिर से राज्य प्राप्त करने वाले देवराज का देवताओं ने जैसे अभिषेक किया था, वैसे ही राजा पद्म का ब्राह्मणों ने, मन्त्रियों ने और राजाव ने अभिषेक किया ॥ १३ ॥

जीवन्मुक्त और महाज्ञानी प्रथम लीला, द्वितीय लील और राजा अमृत के समान अपने पूर्ववृतान्तों की कथाअ को सुनकर आनन्द का अनुभव करते थे ॥ १४ ॥

राजा पद्म सरस्वती के प्रसाद से और अपने पं से वह लोकों का कल्याण प्राप्त किया। सरस्वती आराधना आदि अपने पौरुष से सरस्वतीका प्रसाद प्रा हुआ था ॥ १५ ॥

सरस्वती देवी के ज्ञान से प्रबुद्ध दोनों लीलाओं से युक्त श्लाघनीय राजा पद्म ने, वहां अस्सी हजार वर्षों तक राज्य किया ॥ १६ ॥

वे जीवन्मुक्त, बद्धमूल आत्मतत्त्व ज्ञानी इस प्रकार अस्सी हजार वर्ष तक राज्य करके विदेहमुक्ति को प्राप्त किया ॥ १७ ॥

अपने राज्य के जो प्रजाओं के नित्य अभ्युदय की कामना से दोषरहित शास्त्रानुसारी होनेके कारण विद्वानों के भी मन को हरनेवाला अपनी कुल परम्परा की मर्यादा के योग्य भोग, यश और धर्म देने वाला होने के कारण अपने लिए भी हितकर और लोगों के चित्त के अनुरञ्जन में दक्ष था, इसलिए सम्पूर्ण लोगों को सन्तोष देनेवाले उसके चिरकाल तक प्रजाओं का पालन कर वे सुन्दर दम्पती विदेह मुक्त हो गये ॥ १८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में लीलोपाख्यान में पद्मनिर्वाण नामक कुसुमलता का ऊनसठवां सर्ग समाप्त ॥ ५९ ॥

६०

श्रीवसिष्ठ उवाच

एतत्ते कथितं राम ! दृश्यदोषनिवृत्तये ।
लीलोपाख्यानमनघं घनतां जगतस्त्यज ॥ १ ॥

शान्तैव दृश्यसत्ताऽस्याः शमनं नोपयुज्यते ।
सतो हि मार्जनक्लेशो नाऽसतस्तु कदाचन ॥ २ ॥

ज्ञानेनाऽऽकाशरूपेण दृश्यं ज्ञेयस्वरूपकम् ।
इत्येकीभूतमालोक्य ज्ञस्तिष्ठत्यम्बरोपमः ॥ ३ ॥

पृथ्व्यादिरहितेनेदं चिद्भासैव स्वयंभुवा ।
साधितं यदि सिद्धेन ततः स्वात्मनि साधितम् ॥ ४ ॥

संविद्यथा या यतते तथा सैव व्यवस्थिता ।
विसृष्टा सृष्टिविन्नद्यां यावद्यत्नान्न रोधिता ॥ ५ ॥

चिदाकाशावभासोऽयं जगदित्यवबुध्यते ।
चिद्व्योम्न्येवाऽऽत्मनि स्वच्छे परमाणुकणं प्रति ॥ ६ ॥

एवमस्या मुधाभ्रान्तेः का सत्ता केव वासना ।
का वाऽऽस्था का च नियतिः काऽवश्यंभावितोच्यताम् ॥७॥

सर्वं चैतद्यथादृष्टं स्थितमित्थमखण्डितम् ।
मायैवेयमनन्तेयं न च मायाऽस्ति काचन ॥ ८ ॥

६०

[लीलोपाख्यान के प्रयोजन का विस्तार से वर्णन और काल आदि की समता और विषमता के कारण का निर्देश]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे राम ! दृश्य दोषकी निवृत्ति के लिए इस पवित्र दोषरहित लीलोपाख्यान को मैंने आपसे कहा । यानी दृश्य नहीं है, अतः आप बद्धमूल इस जगत् को छोड़ दे ॥ १ ॥

दृश्य की सत्ता शान्त हो गई है तब उसके शमन का क्या उपयोग है ? विद्यमान के मार्जन के लिए प्रयास किया जाता है, जो है ही नहीं उसके परिमार्जन के लिए कैसा प्रयास । आशय यह है कि दृश्य सत्ता की सत्यता को छोड़ने का अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है । जो सत्य अर्थात् जिसकी वास्तविक सत्ता रहती है, उन्हीं का हटाना क्लेशकर होता है, किन्तु, जो नहीं है, उसको हटाने में कौन सा क्लेश है, जगत् का मिथ्यात्वबुद्धि के द्वारा अवगत हो जाने पर उसको दूर करने के लिए थोड़ा भी क्लेश नहीं करना पड़ता है ॥ २ ॥

तत्त्वज्ञानी आकाश के समान निराकार और सर्वव्यापी ज्ञान में दृश्यप्रपञ्च को मायिक भासमान स्वरूप मानकर भिन्न दृश्योंमें एक अखण्ड ज्ञान प्राप्तकर आकाश के समान सदा अद्वय भाव में उपस्थित रहते हैं ॥ ३ ॥

पृथिवी आदि से रहित चिन्मात्र शरीर सिद्ध ब्रह्मा ने जो अपने में विपती सृष्टि की है, वे चिन्मात्र-स्वरूप परमात्मा का ही आभास है ॥ ४ ॥

वह चैतन्यरूपी स्वयम्भू जब जैसा यत्न करता है उस समय वैसा ही हो जाता है, सृष्टि का वेत्ता स्वयम्भू के सृष्टि यत्न में सृष्टि, स्थिति यत्न में स्थिति और लय यत्न ने प्रलय होता है—उसमें सृष्टिरूपी नदी के प्रवाह में अन्यथा नहीं होता है । निवृत्ति के यत्न के बिना उसे रोका नहीं जा सकता है ॥ ५ ॥

यद्यपि ब्रह्मात्मरूप निर्मल चिदाकाश में यह जगत् अवभासित एवं उसके अनुसार जगत् ब्रह्म से सृष्ट रूप में अवगत होता है, तथापि यह बोध परमार्थ दृष्टि से अपरिच्छिन्न रूप में ब्रह्मवस्तु में स्थान प्राप्त नहीं होता है, यह बौद्ध ज्ञान होने से अर्थात् बुद्धि का विकार होने से बुद्धि परिच्छिन्न बुद्ध्युपाधिक जीव में अवस्थान करता है, अतः इससे यह फलित होता है कि बुद्धि परिच्छिन्न जीव प्रयत्न विशेष से उन्हीं के उपयोग के लिए ब्रह्म में इस प्रकार सृष्टि का आरोप होता है ॥ ५ ॥

अच्युत ग्रन्थमालामें इसका अनुवाद इस प्रकार दिया गया है :—यद्यपि चिदाकाशरूप स्वच्छ ब्रह्ममें चिदाकाश का जो मायिक अवभास है, वही जगत्‌रूप से प्रतीत होता है, इसलित जगत् ब्रह्म से रचा गया है, तथापि वह जगत् जिसका ब्रह्म भाव अपरिच्छिन्न है, उस पुरुष के प्रति वैसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु बुद्धि आदि परिच्छिन्न उपाधियों के कारण अत्यन्त परिच्छिन्न जीव के प्रति ही वह वैसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके प्रयत्नों से उत्पन्न कर्मफलों के भोग के लिए ही वह ब्रह्म में कल्पित है और जब उसके प्रयत्न से बोध होता है, तब दृश्य परिमार्जन अवश्य होता ही है ॥ ६ ॥

इसीलिए कहा जाता है, दृश्य नहीं है इस प्रकार का ज्ञान दृढ़ होने पर पुनः दृश्य का दर्शन नहीं होता है, जो केवल भ्रम है उस दृश्य की क्या सत्ता है, कौन-सी वासना है, कौन आस्था है, क्या नियति है और क्या अवश्यम्भाविता ही है ॥ ७ ॥

मायिक सृष्टि की यह व्यवस्था है कि दृष्टिके सम्मुख

श्रीराम उवाच

अहो नु परमा दृष्टिर्दर्शिता भगवंस्त्वया ।
दावाग्निदग्धकक्षाणां दाहशान्तौ कलैन्दवी ॥ ९ ॥
अहो नु सुचिरेणाद्य ज्ञातं ज्ञातव्यमक्षतम् ।
मया यथेदं यच्चेदं यादृग् ज्ञेयं यतो यदा ॥ १० ॥
शाम्यामीव द्विजश्रेष्ठ ! निर्वामीव विकल्पयन् ।
एतदाख्यानमाश्चर्यं व्याख्यानं शास्त्रदृष्टिषु ॥ ११ ॥
इमं मे भगवन् ! ब्रूहि संशयं सर्वकोविद ।
तव पातुं न तृप्तोऽस्मि श्रोत्रपात्रैर्वचोमृतम् ॥ १२ ॥
स सर्गत्रितये कालो लीलाभर्तुर्हि यो गतः ।

रहने पर भी अर्थात् विषय दृष्ट होने पर भी वह पारमार्थिक दृष्टि में नहीं है, जो माया का कार्य है, वह केवल मायिक है, और कुछ नहीं है ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा:—हे भगवन् ! मैंने आपके द्वारा उस उत्तम ज्ञान को प्राप्त किया है, जिससे श्रेष्ठ कोई ज्ञान नहीं होता है, यह ज्ञान दावाग्नि के दाह जन्म दोष अर्थात् उद्भिज्ज=पेड़-पौधों की शुष्कता के निवारक इन्द्र की कला=चन्द्रामृत के समान संसार तापसे सन्तप्त व्यक्तियों के लिए शान्ति का विधायक है, अर्थात् भवाग्नि से सन्तप्त व्यक्तियों के लिए शान्ति का विधायक है ॥९॥

आश्चर्य है कि आज मैंने बहुत दिनों के बाद अक्षत अर्थात् जिसकी कभी-भी नाश नहीं हो सकता है उस ज्ञातव्य विषयों का परिज्ञान प्राप्त किया है अखण्ड पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है, जैसा उसका स्वरूप है, जिस तरह का वह है, जिन प्रमाणों से ज्ञेय होता है, यह सब मुझे ज्ञात हुआ ।। १० ।।

हे द्विजश्रेष्ठ ! श्रुतदृष्टान्तादि की सहायता से जगत्तत्त्व का विचार कर मैं उपाधि के शान्त होने से शान्त-सा हो रहा हूँ, नित्य निर्वाणस्वरूप की प्राप्ति से आनन्द-सागर में मग्न सा हो रहा हूँ, यह आश्चर्यमय लीलोपाख्यान श्रुति द्वारा प्रदर्शित ज्ञानों का उपबृंहणरूप है अर्थात् श्रुति के द्वारा ज्ञान को बढ़ानेवाला है ।। ११ ।।

हे भगवन् ! कृपा कर आप मेरे इस सन्देहको निवृत्त कीजिये, आप सर्वज्ञ हैं । आपके वचनरूपी अमृत कर्णरूपी पात्रों से पीने के लिए मैं तृप्त नहीं होता अर्थात् मेरी उसे पान करने की इच्छा बनी रहती है ।। १२ ।।

लीला के पति के तीन जन्मों में वह कहीं तो अर्थात् वसिष्ठ पाद्म और विदूरथ इन तीन सृष्टियों में कितने समय व्यतीत हुए हैं—यह मैं जानना चाहता हूँ, यह क्या

स क्वचित्किमहोरात्रः क्वचित् किं मासमात्रकः ॥ १३॥
क्वचित्किं बहुवर्षाणि कस्यचित्किमु पेलवः ।
कस्यचित्किं महादीर्घः कस्यचित्किं क्षणः स्थितः ॥१४॥
इति मे भगवन् ! ब्रूहि त्वं यथावदनुग्रहात् ।
सकृच्छ्रुतं न विश्रान्तिमेति लोष्टे यथा जलम् ॥ १५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

येन येन यथा यद्यद्यदा संवेद्यतेऽनघ ! ।
तेन तेन तथा तत्तत्तदा समनुभूयते ॥ १६ ॥
अमृतत्वं विषं याति सदैवाऽमृतवेदनात् ।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्तिवेदनात् ॥ १७ ॥

कहीं एक दिन रात है या कहीं एक मास मात्र है ।।१३।।

यह क्या कहीं बहुत वर्षों वाला है, कहीं किसी के लिए अतिशय अल्पकाल, किसी के लिए वही बहुत दीर्घ समय, किसी की दृष्टि क्षणमात्र है । (एवं किसी के लिए अपूर्ण वर्ष या पूर्ण वर्ष है या नहीं ?) १४ ।।

हे भगवन् ! अनुग्रह कर इस विषय को पुनः आनुपूर्वी के क्रम में मेरे सम्मुख वर्णन करें, क्योंकि, सूखे हुए मृत्पिण्ड में=या लोहे में एक बूँद जल गिरने पर उससे उपकार नहीं होता है, एक बार सुनने पर वह स्थायी नहीं होता है ॥ १५ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा:—हे अनघ ! जिस समय जिस प्रकार से जिस-जिस पदार्थ की जिस-जिस पुरुष को प्रतीति होती है, वह उस समय उस प्रकार से उस-उस पदार्थ का अनुभव करता है । सदा अमृत की भावना से सम्पन्न होने पर विष भी अमृत हो जाता है । गरुड की उपासना करने वाले विष के खाने पर भी नहीं मरते हैं, उनकी भावना का अर्थात् आन्तरिक भाव का अत्यधिक सामर्थ्य है ।। १६ ।।

अमृत ज्ञान का विषय का अमृत शक्ति से सम्पन्न करते हैं, इसीलिए, वे विष के खाने से भी नहीं मरते हैं, विष की मरण शक्ति अवरुद्ध हो जाती है इसी प्रकार मित्रत्व के सम्वेदन से परिव्याप्त होने पर शत्रु से भी मित्रता प्राप्त होती हैं ।

अच्युत ग्रन्थमाला में इसका अनुवाद इस प्रकार है—

सदा ही यह जीवन का साधन है, यह ज्ञात होने से विष भी अमृतता को प्राप्त होता है, देखिये न यह हमारे जीवन का साधन है, इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति होने से विष के कीड़े विष से ही जीते हैं, यदि कहिये कि प्रमाद से यह हमारा खाद्य है, यह सोचकर जो आदमी

यथाभावितमेतेषां पदार्थानां निजं वपुः ।
तदेव हि चिराभ्यासान्नियतेर्वशमागतम् ॥ १८ ॥
कचनैकात्मिकैषा चिद्यथा कचति यादृशम् ।
तथा तथाऽऽशु भवति तत्स्वभावैककारणात् ॥ १९ ॥
निमेषे यदि कल्पौघसंविदं परिविन्दति ।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशयः ॥ २० ॥
कल्पे यदि निमेषत्वं वेत्ति कल्पोऽप्यसौ ततः ।
निमेषीभवति क्षिप्रं तादृग्रूपात्मिका हि चित् ॥ २१ ॥
दुःखितस्य निशाकल्पः सुखितस्यैव च क्षणः ।
क्षणः स्वप्ने भवेत्कल्पः कल्पश्च भवति क्षणः ॥ २२ ॥
यथा च मृत्वा जातोऽहं तरुणो यौवनस्थितः ।
यातोऽस्मि योजनशतं स्वप्ने इत्यनुभूतवान् ॥ २३ ॥
रात्रिं द्वादशवर्षाणि हरिश्चन्द्रोऽनुभूतवान् ।
लवणो भुक्तवानायुरेकरात्र्या समाः शतम् ॥ २४ ॥
यन्मुहूर्तः प्रजेशस्य स मनोर्जीवितं मुनेः ।
जीवितं यद्विरिञ्चस्य तद्दिनं किल चक्रिणः ॥ २५ ॥
विष्णोर्यज्जीवितं राम ! तद् वृषाङ्कस्य वासरः ।
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रयः ॥ २६ ॥
न पदार्था न च जगत्सत्यमात्मनि योगिनः ।
मधुरं कटुतामेति कटुभावेन चिन्तितम् ॥ २७ ॥

विष खा लेता है, वह क्यों मरता है । सुनिये, विष के कीड़ों की नाईं उसका विष में यह हमारे जीवन का साधन है, ऐसा चिरकाल से दृढ़ विश्वास नहीं है, दूसरी बात यह भी है कि उसको ऐसा पक्का संस्कार रहता है कि विष खाने से मृत्यु होती है । विष में जीवसाधनता के दृढ़ निश्चय का अभाव और मरणहेतुता का निश्चय होने से उसकी मृत्यु होती है । यह मित्र है ऐसी दृढ़-भावना करने से शत्रु भी मित्रता को प्राप्त हो जाता है ॥ १७ ॥

इन पदार्थों के स्वरूप की जैसी भावना की जाती है वही भावित स्वरूप अर्थात् आकर ही चिरकालके अभ्यास से नियति के वश में आ जाता है । चिरकाल की अभ्यस्त भावना के प्रभाव से सभी पदार्थों की अर्थक्रियाकारिता नियति के अधीन है ॥ १८ ॥

अच्युतग्रन्थमाला के अनुवाद में १९ से २१ तक का अनुवाद निम्नलिखित है:—

चितिका स्फुरण स्वभाव है, जैसे और जिस रूप में उसका स्फुरण होता है, वह शीघ्र उसी रूप में हो जाती है, क्योंकि वैसा होने में उसका स्फुरणस्वभाव होना ही एकमात्र कारण है । भाव यह कि चित् स्फुरणस्वभाव ही है, उसके पदार्थविशेषाकार होने में द्रष्टा का संस्कार कारण है । यों एक ही संवित् में किसी का संस्कार के अनुसार क्षण का आरोप होता है और किसी का कल्प आदि का आरोप होता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं नहीं है । यदि किसी पुरुष को एक क्षण में सैकड़ों कल्पों की प्रतीति होती है, तो क्षण ही उसके लिए कल्प होता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । यदि किसी को कल्प में निमेषता का ज्ञान हो जाता है, तो कल्प ही स्फुरण-स्वभाव सम्बित् चित्त के सङ्कल्प के द्वारा जिस प्रकार और जैसे भाव में प्रस्फुरित होती है उसी भाव और उसी आकार के अनुसार अर्थ क्रियाकारिता होती है । (यह दृष्टान्त स्वरूप कहा गया है) ॥ १९ ॥

यदि निमेष अर्थात् क्षणमात्र काल को अनेक कल्प समझ कर ज्ञान किया जाता है तो वह क्षण ही अनेक कल्प का कार्य करता है और वे ही कल्प के भावना के अनुसार निमेष के रूप में ज्ञात होते हैं, क्योंकि, उसी स्वभाव की चित् शक्ति है, अर्थात् संकल्पानुसारी स्फुरण होना ही चित् का स्वभाव है ॥ २०-२१ ॥

दुःखी (वियोगी) पुरुष जो रात्रि कल्प-सी लम्बी प्रतीत होती है, और वही रात्रि सुखी पुरुष को क्षण के समान प्रतीत होती है । स्वप्न में एक क्षण कल्प बन जाता है और कल्प क्षण बन जाता है ॥ २२ ॥

एक क्षण के स्वप्न में पुरुष देखता है—मैं मर कर पैदा हुआ, जवान हुआ, यौवनावस्था में स्थित हुआ, मैं सौ कोश गया, ऐसा स्वप्न में सबको अनुभव होता है ॥ २३ ॥

राजा हरिश्चन्द्र को एक रात्रि बारह वर्ष की प्रतीत हुई थी, लवणासुर ने एक रात्रि में सौ वर्ष की आयु का भोग किया था ॥ २४ ॥

जो मनुकी आयु है, वह आत्मा का मनन करने वाले प्रजापति का एक मुहूर्त है आत्ममननशील विष्णु का जो एक दिन है ॥ २५ ॥

वह ब्रह्मा की आयु है, विष्णु की जो आयु है वह शिवजी का एक दिन है, जिस पुरुष ने ध्यान से अपने चित्तपर विजय पा ली है अर्थात् जो निर्विकल्पक समाधि में स्थित है, उसके लिए न दिन हैं और न रात्रियाँ ॥ २६ ॥

आत्मा के चिन्तन में मग्न योगी की दृष्टि में न

कटु चाऽऽयाति माधुर्यं मधुरत्वेन चिन्तितम् ।
मित्रबुद्ध्या द्विषन्मित्रं रिपुबुद्ध्या रिपुः सुहृत् ॥ २८ ॥
भवतीति महाबाहो यथासंवेदनं जगत् ।
अनभ्यस्ताः पदार्था ये शास्त्रपाठजपादयः ॥ २९ ॥
तेषां संवेदनाभ्यासान्नूनमभ्येति साम्यता ।
नौयायिनां भ्रमार्तानां वेदनाद्भूर्विवर्तते ॥ ३० ॥
अवेदनाद्भ्रमार्तानामपि नैषां विवर्तते ।
शून्यमाकीर्णतामेति वेदनात् स्वप्नदृक्ष्विव ॥ ३१ ॥
वेदनात् पीतमानीलं शुक्लं वाऽप्यनुभूयते ।
आपद्वदुत्सवः खेदं करोति परिमोहतः ॥ ३२ ॥

पदार्थ सत्य हैं और न जगत् ही सत्य है। मधुर पदार्थ की भी यदि यह तीता है, यह तीता है, ऐसी भावना की जाय, तो वह भी तीता हो जाता है ॥ २७ ॥

यदि तीते की यह मधुर है, यह मधुर है, इस प्रकार की भावना की जाय, तो वह मधुर हो जाता है। हे महाबाहो, शत्रु ही क्यों न हो यदि यह मित्र है, मित्र है, इस प्रकार मित्रबुद्धि से उनकी भावना की जाय, तो वह मित्र बन जाता है, मित्र ही क्यों न हो, यह रिपु है, ऐसी बुद्धि से उसकी भावना की जाय तो रिपु बन जाता है ॥ २८ ॥

हे महाबाहो ! जैसी भावना होती है, वैसा ही दिखाई देता है। शास्त्राध्ययन, जप आदि जिन पदार्थों का पहले अभ्यास नहीं रहता, उनमें भावना के अभ्यास से स्वाधीनता प्राप्त होती है। नौका से यात्रा करनेवाले चक्कर आने से पीड़ित लोगों की भावना से पृथिवी घूमती है भाव यह है कि यह सामान्य चिन्ता नहीं हैं, बहुत दिनों तक दृढ़ चिन्ता के प्रवाह के समान अनवच्छिन्न चिन्तन करने पर उसके परिमाण स्वरूप उन विषयों में सम्प्रज्ञात समाधि होने पर चिन्तनीय पदार्थ उन आकारों में परिवर्तित होता है। जप, उपासना और शास्त्र-श्रवण आदि विषयों में भी यही नियम है, जप और उपासनादि का अतिशय अभ्यास होने पर जिसका जप किया जाता है उसकी ओर उपासितव्य चिन्ता के ही अनुरूप होता है, अतएव जैसा सम्वेदन होता है पदार्थ वैसा हो जाता है। भ्रान्ति सम्वेदन के द्वारा नौका-यात्री भ्रम के कारण एवं रोग-ग्रस्त व्यक्ति पृथिवी आदि का गमन अनुभव करता है ॥ २९–३० ॥

भावनाभ्रमजनित पीड़ा से रहित तट में स्थित लोगों की दृष्टि से तो वह नहीं घूमती, जैसे स्वप्न देखनेवालों

कुड्येऽपि ख इवाऽऽचारो दृष्टो नन्वविचारिणः ।
असद्यक्षो विमूढानां प्राणानप्यपकर्षति ॥ ३३ ॥
वेदनात् स्वप्नवनिता जाग्रतीव रतिप्रदा ।
यद्यथाऽऽभासमायातं तत्तथा स्थिरतां गतम् ॥ ३४ ॥
असदेव नभश्चैव नभ एव चिदात्मनि ।
शतहस्ताम्बुदच्छायानटनृत्तमिवाऽऽततम् ॥ ३५ ॥
गगने मानसं स्पन्दं जगद्विद्धि न वस्तु तत् ।
मिथ्याज्ञानपिशाचस्य स्पन्ददर्शनमाकृति ॥ ३६ ॥
मायामात्रकमेवेदमरोधकमभित्तिमत् ।
इदं भास्वरमाभातं स्वप्नसंदर्शनं स्थितम् ॥ ३७ ॥

की दृष्टि में शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होता है, वैसे ही भावना करने से भी शून्य स्थान लोगों से भरा हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ ३१ ॥

भावना से आकाश पीला, नीला या सफेद प्रतीत होता है, मोहवश उत्सव भी आपत्ति के सदृश दुःखदायी होता है। छोटे-छोटे बालक अपने खेल-कूद के उत्सवों में कभी-कभी रोते दिखाई देते हैं ॥ ३२ ॥

अविचारी पुरुष का जहाँपर दीवार खड़ी है वहाँपर भी शून्य के समान (दीवार रहित का) व्यवहार देखा गया है, अविद्यमान भी यक्ष मूढ़ लोगों के प्राणों को हर लेता है। आशय यह कि असत्य पदार्थ भी कार्य करने की क्षमता लोक में प्रसिद्ध है, वेताल वस्तुतः नहीं है, पर वह मूढ़ लोगों के प्राणहरण रूप कार्य को कर ही लेता है ॥ ३३ ॥

स्वप्न में देखी गई स्त्री भावनावश जागरणकाल की तरह आनन्ददायिका होती है, जो पदार्थ जिस रूप में आभासित होता है वह उसी रूप में स्थिर हो जाता है। जगत् असत् ही है ॥ ३४ ॥

सम्वेदन असत् होते हुए भी आकाश के समान है, वैसा सम्वेदन ही चिदाकाश में मेघ की सौ हाथ की छाया के समान और मिथ्या नट के नर्तन के समान जगत् के रूप में विस्तृत है ॥ ३५ ॥

यह जगत् केवल मन का स्पन्दन अर्थात् कल्पना एवं चिद्गगन में विस्फुरित है, अतः यह पृथक वस्तु नहीं है। यह मिथ्याज्ञानरूप पिशाच के प्रस्पन्द में आकृति के भाव के समान दिखाई पड़ता है ॥ ३६ ॥

यह संसार केवल माया है, क्योंकि माया भित्तिशून्य और अरोधक है यह सोये हुए व्यक्ति के समान अपूर्व स्वप्न दर्शन के समान केवल दिखाई देता है। आशय

अपूर्वमेवाऽसुप्तस्य नरस्येवोदितं विदुः ।
अचेता चेतति स्तम्भो यादृशं शालभञ्जिकाम् ।
परमार्थमहास्तम्भः सृष्टिं चेतति तादृशम् ॥ ३८ ॥
यादृशो मे नरः पार्श्वे स्वप्ने क्षुब्धो महाभटैः ।
तादृशो ब्राह्मणः सर्गो बुद्ध एव सुषुप्तवत् ॥ ३९ ॥
तृणगुल्मलतायुक्तः शिशिरान्ते यथा रसः ।
वासन्तः संस्थितो भूमौ तथा सर्गः परे पदे ॥ ४० ॥
यथा द्रवत्वं कनके स्थितमन्तरनुन्मिषत् ।
तथा स्थितः परे सर्ग आत्मवर्गादणावणौ ॥ ४१ ॥
सन्निवेशो यथाऽङ्गानामङ्गिनोऽनन्य आत्मनः ।
जगदेवमनङ्गस्य स्वात्मनो ब्राह्मणस्तथा ॥ ४२ ॥

यह है कि यह जगत् वस्तुतः मूर्तिमान् नहीं है, अतः किसी दूसरे का अवरोध नहीं करता, जो इसका अवरोध करे, ऐसी दूसरी वस्तु भी इसमें नहीं है और मायामात्र ही है, ऐसा होने पर भी स्पष्टरूप से प्रतीत हो रहा है, इसलिए तत्त्वज्ञानी लोग इसे न सोये हुए पुरुष को हुआ अपूर्व स्वप्न दर्शन मानते हैं ॥ ३७ ॥

वैसे ही परमार्थ महास्तम्भ=स्वाधिष्ठान चैतन्य स्वयं व्यापार रहित होकर अपने में सृष्टि को वैसे ही धारण करता है जैसे अपने स्फुरण के अनुकूल व्यापार से रहित स्तम्भ अपने स्वरूप में प्रतिमारूप को प्रकट करता है ॥ ३८ ॥

ब्रह्मा की सृष्टि भी जाग्रत् होनेपर भी वैसे ही सुषुप्त के सदृश ही है जैसे स्वप्न में मेरे समीप में महाभटों से छेड़ा गया पुरुष जागनेपर भी सुषुप्त के सदृश अज्ञानमात्रस्वभाव ही है, वास्तविक नहीं है ॥ ३९ ॥

परम पद में यानी सच्चिदानन्दघन परब्रह्म में वैसे ही यह सृष्टि स्थित है जैसे शिशिर ऋतु के अन्त में (वृक्ष आदि के पत्र गिरने के समय) आगे वसन्त में पत्र, पुष्प आदि के रूप में होनेवाले तिनके, पत्ते, झाड़ी, लता आदि से युक्त रस अपनी उपादानभूत भूमि में स्थित होता है ॥ ४० ॥

वैसे ही अत्यन्त सूक्ष्म परम पद में यह सृष्टि वैसे ही स्थित है जैसे सोने के अन्दर अव्यक्त द्रवत्व विद्यमान है, लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होता है, अग्नि का संयोग होनेपर प्रकट हो जाता है, प्राणियों को उनके कर्मों का फलभोग करना ही उसका प्रयोजन है, जब प्राणियों का भोगजनक अदृष्ट उदित होता है, तब यह सृष्टि प्रादुर्भूत हो जाती है ॥ ४१ ॥

आत्मरूप अखण्ड ब्रह्म से यह जगत् भी वैसे ही

यादृगेकनरः स्वप्ने युद्धमन्यं नरं प्रति ।
तादृशं सदसद्रूपं स्वात्मेदं व्योमगं जगत् ॥ ४३ ॥
महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं जगत् ।
कारणत्वं मिथः पश्च्यादसदेति न वास्तवम् ॥ ४४ ॥
मुक्तेऽस्मिन् ब्रह्मणि यदि ब्रह्माऽन्यः स्मृतिजो भवेत् ।
तत्स्मृतिज्ञप्तिजे सर्गे स्थितैव ज्ञप्तिमात्रता ॥ ४५ ॥

श्रीराम उवाच

पौराणां मन्त्रिमुख्यानां विदूरथकुलक्रमः ।
सममेव कथं तत्र सर्वेषां प्रतिभासितः ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

चितः समनुवर्तन्ते मुख्यायाः सर्वसंविदः ।
यथा विपुलवात्यायाः सामान्या वातलेखिकाः ॥ ४७ ॥

अनन्य (अभिन्न) है जैसे अवयवों का गठन आत्मरूप अङ्गों से अभिन्न है, अङ्गों से पृथक् अङ्गों की सत्ता नहीं है ॥ ४२ ॥

मायाकाश में स्थित आत्मरूप यह जगत् भी मायिक दृष्टि से सत् होता हुआ भी वैसे ही तात्त्विक दृष्टि से असत् है जैसे स्वप्न में किसी आदमी का किसी दूसरे आदमी के साथ युद्ध हुआ । स्वप्न-काल में स्वप्न देखनेवाले के प्रति सद्रूप और अन्य के प्रति असद्रूप भी वह युद्ध स्वप्नद्रष्टा का आत्मा ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है ॥ ४३ ॥

महाकल्प और सृष्टि के आदि में यह जगत् चित्-स्वभाव ही है, असत् पदार्थ ही पीछे कारण में लीन होता है, वास्तविक नहीं, अतः, जगत् असत् है, उसका कारण चित् ही महाप्रलय और सृष्टि में रहता है, उससे अतिरिक्त कुछ सत् नहीं है ॥ ४४ ॥

जैसे इस कल्प के हिरण्यगर्भ की पूर्व कल्पीय भावना में यह जगत् प्रतिभासित होता है, वैसे ही उससे पूर्व कल्पीय हिरण्यगर्भ की भी पूर्व कल्पीय वासना सञ्चित थी, सृष्टि प्रवाह इस प्रकार अनादि एवं सभी सृष्टि ही चित् की सत्ता में अधिष्ठत है ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—नगरवासी, मन्त्री आदि सभी को विदूरथ के कुल का क्रम एक ही समान प्रतीत होने में क्या कारण है ? ॥ ४६ ॥

श्रीवसिष्ठ ने कहा :—सब प्रतीतियाँ मुख्य चित् का ही अनुवर्तन करती हैं जैसे छोटे-मोटे वायु के झोंके बड़े बवंडर का अनुसरण करते हैं । आशय यह है कि जिस प्रकार सामान्य वायु वेग से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सभी सम्विद् एक प्रधानतम मुख्य चित्त से उत्पन्न होता

परस्परानुसारेण तथारूपेण संविदः ।
कचितास्ताः प्रजापालप्रजावास्तव्यमन्त्रिणः ॥ ४८ ॥
एवंरूपात् कुलाज्जातो राजाऽस्माकमयं त्वसौ ।
कचिता इव वास्तव्यविदो वैदूरथे पुरे ॥ ४९ ॥
कचने चित्स्वभावस्य न च कारणमार्गणम् ।
युक्तं महामणेर्भासामिवाऽन्यत्र स्वभावतः ॥ ५० ॥
अहमेवं कुलाचारे राजा स्यामेवमित्यपि ।
विदूरथविदो रत्नदुहिता प्रतिभा यथा ॥ ५१ ॥

है, इस चित्त का ही नाम नियति है। वह संस्कार का पक्षपाती जीव चैतन्य है ॥ ४७ ॥

उनके अनुरूप फल देनेवाला भोक्ता के अदृष्ट का संयोग भी उसमें हेतु है, ऐसा कहते हैं—'परस्परा०' इत्यादि से।

सबका एक रूप से सम्पादन करने वाली जीव चैतन्य की नियति इन सब संविदों का राजा-प्रजा, नगरवासी और मन्त्रियों का परस्पर के अनुसार स्फुरण किया है ॥ ४८ ॥

इस प्रकार उच्च कुल से उत्पन्न यह हमारा स्वामी और राजा विदूरथ के नगर के पदार्थ और उनका भोग करने वाले लोग इस प्रकार विदूरथ के नगर में प्रजा स्फुरित हुए थे ॥ ४९ ॥

यदि कोई शङ्का करे चित् उदासीन है। उसके अध्यस्तपदार्थप्रतीतिरूप स्फुरण में क्यों होता है, तो यह कहा जा सकता है कि उसमें स्फुरण स्वाभाविक है, जिनका स्फुरण स्वाभाविक नहीं है, उन्हीं विषयों के स्फुरण में हेतु का अन्वेषण ठीक है। जैसे उदासीन चिन्तामणि के प्रकाशों के प्रसार में हेतु की अपेक्षा नहीं है, किन्तु उससे विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने में ध्यान करनेवाले लोगों के मनोरथ की विचित्रता की अपेक्षा है, वैसे ही यहाँ भी है जैसे चिन्तामणि रत्न चिन्ता करने वाले व्यक्ति को मनोरथ के अनुसार स्वभावसे प्रकट होता है वैसे ही चित्त सम्पन्न जीव चैतन्य भी चित्त संकल्प के अनुरूप स्वभाव से आविर्भूत होता है। आशय यह है कि चित् के स्फुरण के लिए हेतु खोजने की जरूरत नहीं है, क्योंकि वह स्वभावतः होता है, जैसे महामणिसे (चिन्तामणिसे) कान्तियों का प्रसार अपने आप होता है, वैसे ही चित् का स्फुरण भी स्वतः होता है। जिन वस्तुओं का स्फुरण स्वतः नहीं होता जैसे कि चिन्तामणि से विविध विचित्र पदार्थों की प्राप्ति। उसमें प्रार्थी लोगों के विचित्र

यावन्तो जन्तवो यस्मिन् ये ये सर्गे यदा यदा ।
ते सर्वगत्वात् चिद्धातोरन्योन्यादर्शतां गताः ॥ ५२ ॥
तीव्रवेगवती या स्यात् तत्र संविदकम्पिता ।
सैवाऽऽयाति परं स्थैर्यमामोक्षं त्वेकरूपिणी ॥ ५३ ॥
बलवच्चिद्विलासानामनुवृत्त्या परस्परम् ।
स्वभावाः प्रतिबिम्बन्ति चिदादर्शे स्वभावतः ॥ ५४ ॥
तत्राऽतियत्नाज्जयति सत्याः संविद आत्मसात् ।
कुर्वन्ति सरिदम्भोधिगामिनी सरितो यथा ॥ ५५ ॥

मनोरथों की अपेक्षा होती है यानी चित् के स्फुरण में कोई कारण नहीं है, किन्तु विचित्र पदार्थों के रूप से स्फुरण में जीवों का अदृष्ट कारण है ॥ ५० ॥

मैं इस प्रकार के कुलाचार में इस प्रकार का राजा होऊँ, विदूरथरूपी जीवचैतन्य से यह मनोरथ वैसे ही उत्पन्न हुआ जैसे चिन्तामणि से कान्ति स्वतः निकलती है ॥ ५१ ॥

जिस-जिस सृष्टि में जब-जब जो-जो और जितने जीव हुए होंगे और हैं, वे सब चेतन के सर्वव्यापक होने के कारण एक दूसरे के लिए दर्पणरूप हो गये। भाव यह है कि अनेक जीवचैतन्यों में समान विषय के आरोपक्रम से परस्पर के अन्तर्गत प्रतिबिम्बग्राहकता वैसे ही आ जाती है जैसे दर्पण एक दूसरे के अन्दर पड़े हुए प्रतिबिम्बों को ग्रहण कर लेते हैं ॥ ५२ ॥

जीवसंविदों में जो जीवसंवित् अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति तीव्र वेगवाली और विषयदोष से अविचलित होकर मोक्षपर्यन्त एक रूपवाली होती है, वही सर्वोत्कृष्ट परमस्थिरतारूप ब्रह्मरूप से स्थिरत्वरूप मोक्ष को प्राप्त करती है अन्य नहीं ॥ ५३ ॥

आशय यह है कि बलवान् चिद्-विलासों की परस्पर अनुवृत्ति से स्वभाव चित्तरूपी आदर्श में अपने आप प्रतिबिम्बित होते हैं। जगदाकार अथवा ब्रह्माकार के जीवचैतन्यप्रतिबिम्बित होने में तीव्रवेगवत्तारूप बलवान् तत्-तत् आकार के चिद्विलास ही नियामक हैं, यह भाव है ॥ ५४ ॥

ब्रह्माकार संवित् और जगदाकार संवित् में जो अधिक बलवती होती है, उसी की विजय होती है।

बिना यत्न के उत्पन्न वेग की अपेक्षा यत्न के द्वारा उत्पन्न वेग अतिशय बलशाली होता है, सत्य ज्ञान की अपेक्षा मिथ्या विज्ञान दुर्बल होता है, इसलिए अतिशय यत्न के साथ उत्थापित ब्रह्मसंवित् ज्ञान की अपेक्षा

ये समास्तत्र ते तावद्यतन्ते चित्स्वभावतः ।
यावदेको जयत्यत्र द्वितीयः स निमज्जति ॥ ५६ ॥
जायमानेषु नश्यत्सु वर्तमानेषु भूरिशः ।
एवं सर्गसहस्रेषु परमाणुकणं प्रति ॥ ५७ ॥
न किञ्चित् केनचिद् व्याप्तं न किञ्चित् केनचित्स्थितम् ।
चिदाकाशमिदं शान्तमतः सर्वमभित्तिमत् ॥ ५८ ॥

अयत्न साध्य जगत् संवित् वे दुर्बल होगा । ब्रह्मसंवित् या ब्रह्मज्ञान सत्य है और जगत्संवित् मिथ्या है । समुद्र की ओर जाने वाली विशाल नदी सामान्य नदी को समाप्त कर देती है, उसी प्रकार ब्रह्मसंवित् जगत्संवित् को समाप्त कर देगी—इसमें सन्देह नहीं है । आशय यह कि जगत् ज्ञान चिर अभ्यस्त है अतः ब्रह्म ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता है, मोक्ष की आशा ही व्यर्थ है यह व्यवहार में सभी को अनुभूत है कि जो वेग किसी प्रकार के प्रयत्न के बिना उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाला वेग प्रबल होता है, इसलिए प्रयत्न से संपादित ब्रह्माकार वेग ही जगदाकार चिद्विलासपर विजय पाता है । सत्यसंविद् और असत्यसंविद्—इन दोनों में सत्यसंविदतों में ही प्रबलता दिखाई देती है, अतः ब्रह्माकार संवित् ही जगदाकार वेग को ग्रहण कर लेती है, जैसे सागरगामिनी महानदी अपनी सहायक छोटी नदियों को अपने अधीन कर लेती है, वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

जो अधिकारी उक्त दोनों आकारों में समान वेगवाले होनेपर भी किन्तु इन दोनों आकारों में ब्रह्माकार स्थिर होकर उत्कृष्ट होता है और दूसरा बाह्याकार विलीन हो जाता है, तब वे लोग श्रवण आदि की आवृत्तिरूप प्रयत्न करते हैं । तब उन्हें भी क्रमशः अभ्यास के बढ़ने से ब्रह्माकार में तीव्र वेग का उदय होने एवं विषयाकार के विलीन होने से ब्रह्माकार से बाह्याकार पर विजय सिद्ध हो जाता है ॥ ५६ ॥

नियति या चिद्विलास का यही स्वभाव है, उपाधिवश परिच्छिन्न भ्रम में भ्रान्तिमान जीवों में सभी इसीप्रकार सम और विषम सृष्टि अपने-अपने सङ्कल्प के प्रभाव से अनुभव करता है और करेगा, यह सृष्टि सैकड़ों हजारों बार व्यतीत हो चुकी है और होगी, भ्रन्तिवश, उत्पन्न, विनष्ट और विनाश होनेपर भी वस्तुतः किसी जीवकण को कुछ नहीं हुआ है ॥ ५७ ॥

उपाधिवश प्राप्त हुई परिच्छिन्नता का अपने में आरोप करने से परमाणुकणरूप जीवसमूह के प्रति पूर्वोक्त प्रकार की सम, विषम हजारों सृष्टियों के भ्रान्तिवश उत्पन्न होनेपर, स्थित होनेपर और विनष्ट होनेपर वास्तव में किसी जीवरूपी कण को न तो दौड़-धूप करने से कुछ वस्तु प्राप्त हुई और न उदासीन होकर बैठे रहने से ही कुछ वस्तु अप्राप्त हुई ।

वस्तुतः आज भी कोई जीव न कहीं जाता है, कुछ नवीन नहीं पाता है और पायेगा भी नहीं, जो था वही है, वास्तव में कुछ है ही नहीं, जो कुछ है वह भ्रान्त चिदाकाश है । भाव यह कि जो वस्तु है ही नहीं, वह न तो प्राप्ति के योग्य है और अप्राप्ति के योग्य । अतः (जब कुछ वस्तु है ही नहीं तब) यह सब व्यवधानरहित (निवारण) शान्त चिदाकाश ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ५८ ॥

अयमाभासते स्वप्नो निर्निद्रो दृष्टिवर्जितः ।
अवश्यंभाविबोधस्तु स्वनुभूतोऽप्यसन्मयः ॥ ५९ ॥
पत्रपुष्पफलांशात्मा यथैकः स्वास्थितो द्रुमः ।
अनन्तसर्वशक्त्यात्मा ह्येक एव तथा विभुः ॥ ६० ॥
मातृमेयप्रमाणादिमायात्मकमजं पदम् ।
बुद्धं विस्मृतिमायाति न कदाचन कस्यचित् ॥ ६१ ॥

ये सभी स्वप्न देखने के समान ही शोभन है, स्वप्न भङ्ग होनेपर अवगत होगा कि जो देखा था वह मिथ्या है, यत्न करने से भ्रम का आश्रय अधिष्ठान स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार होगा कि जगत् का अधिष्ठान कैसा सूक्ष्म चिन्मय है । आशय यह कि यह स्वप्न प्रतीत होता है ऐसा स्वप्न कि जिसमें विवेकदृष्टि का अभाव है और निद्रा भी नहीं है, इसके अधिष्ठानरूप आत्मा का साक्षात्कार होनेपर यह भली-भाँति अनुभूत होता है कि यह असन्मय ही हो जाता है ॥ ५९ ॥

अनन्त सर्वशक्तिरूप परमात्मा वैसे ही एकरूप से ही स्थित है जैसे पत्ते, फूल, फल, शाखा आदि अंशों से युक्त वृक्ष एकरूप से ही स्थित है ॥ ६० ॥

बोध होनेतक ही प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण आदि मायिक रूप को धारण करनेवाला अविनाशी अज परब्रह्म को जब जान लिया जाता है, तब बिस्मृति का साधन अज्ञान हट जाता है फिर कभी किसी को भी विस्मृत नहीं होता और एक अद्वितीयरूप से प्रतीत होता है ॥ ६१ ॥

शून्योदयास्तमयतस्तु तमःप्रकाशं
दिक्कालरूप्यपि सदैकमनादिशुद्धम् ।
आद्यन्तमध्यरहितं स्थितमच्छमम्बु
सौम्यत्ववीचिवलनाढ्यमिवैकमेव ॥ ६२ ॥

अहन्त्वमित्यादिजगत्स्वरूपा
विशुद्धबोधैकविभा विभाति ।
आकाशकोशे निजशून्यतेव
द्वैतैक्यसङ्कल्पविकल्पनाच्च ॥ ६३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे प्रयोजनवर्णनं नाम षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

साक्षीरूप से अज्ञान को प्रकाशित करनेवाला, दिशा और कालरूपी होता हुआ भी परमार्थरूप से सदा शुद्ध, जिसमें सम्पूर्ण विकारों के उदय और नाश नहीं रह गये हैं ऐसा आत्मरूप पदार्थ आदि, अन्त और मध्य से रहित होकर एकरूप से वैसे ही स्थित है जैसे निर्मल जल चाहे तरङ्गित हो चाहे निश्चल, दोनों अवस्थाओं में जल के स्वरूप में कोई भेद न आने से एकरूप ही है ॥ ६२ ॥

केवल विशुद्ध बोधमात्रस्वरूप ब्रह्म की स्वरूपभूत ही द्वैत और ऐक्यविषयक सङ्कल्प-विकल्प करनेवाले मन से और उसके मूलभूत अविद्या, काम, कर्म, वासना आदि वश 'अहं मम त्वं तव' इत्यादि जगत् के रूप से वैसे ही प्रतीत होती है जैसे आकाश में उसकी अपनी शून्यता (आकाश की शून्यता) ही तल-मलिनता, मोतियों के समूहरूप, बालों के वर्तुलाकार गोले की आकारता और बड़े-बड़े कड़ाहों की आकारता से प्रतीत होती है ।

आशय यह है कि :— मायिक नानात्व से वस्तु का वास्तव नानात्व संघटन नहीं होता है, अतः इस अवस्था में दिक्काल आदि रूप की अवस्थिति देखने पर भी ब्रह्मवस्तु सदा शुद्ध अर्थात् सदा अविकृत है । वह तम अर्थात् अज्ञान का साक्षी=प्रकाशक का उदय या अस्त नहीं है । वह सदा एक और अनादि है, उसका न आदि है न मध्य है और न अन्त है । जैसे जो जल है, वह स्वच्छ है । तरङ्ग शून्य अवस्था में भी जल और अस्वच्छ है और तरङ्ग आदि की अवस्था में भी जल है, जल छोड़कर वह अन्य कुछ भी नहीं है, इसीप्रकार आत्मा ब्रह्म है, ब्रह्म अवस्था में भी आत्मा है और जगत् की अवस्था में भी आत्मा है, आत्मा छोड़कर वह अन्य कुछ भी नहीं है, जैसे शून्य स्वरूप आकाश की शून्यता ही तल, मालिन्य, मुक्तापङ्क्ति, केशगुच्छ कटाह आदि के आकार में भासित होता है, वैसे ही शुद्ध-ज्ञान अद्वय एक स्वरूप चिदात्मा की स्वरूप अविद्या ही तुम, हम, यह, वह आदि विचित्र विश्व के आकार में अवगत हो रहा है ॥ ६३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में प्रयोजनवर्णन नामक कुसुमलता का साठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६० ॥

६१

श्रीराम उवाच

अहं जगदिति भ्रान्तिः परस्मात् कारणं विना ।
यथोदेति तथा ब्रह्मन् ! भूयः कथय साधु मे ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

समस्ताः समतैवाऽन्ताः संविदो बुद्धयते यतः ।
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वात्मकमजस्ततः ॥ २ ॥

६१

श्रीराम ने कहा :— हे ब्रह्मन् ! मैं एवं जगत् यह भ्रम बिना किसी कारण के सहसा किस प्रकार उदित होता है—यह पुनः विस्तार के साथ कहें । आशय यह है कि—परब्रह्म को मैं देह हूँ, इत्याकारक अहंभाव से रहित देह में अहंभाव के बिना भी 'अहम्' ऐसी भ्रान्ति और परमाणु तथा क्षण के मध्य में इस जगत् की, जो कि बड़ा विस्तृत और चिरकालव्यापी प्रतीत होता है, स्थिति का कोई कारण नहीं है, फिर भी उसमें 'जगत्' ऐसी भ्रान्ति जैसी कल्पना और युक्ति से उदित होती है, उसे आप मुझसे फिर ऐसे ढंग से कहिये कि मेरी समझ में आ जाय । यद्यपि 'महाकल्पान्तसर्गादौ चित्स्वभावमिदं वपुः' इत्यादि से इसे आप कह चुके हैं, तथापि जिन युक्तियों के द्वारा ठीक-ठीक समझ में आ जाय, उन युक्तियों से फिर मुझसे कहिये ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जितनी भ्रान्तियाँ हैं वे सभी सम्विद् अर्थात् स्वरूप चैतन्य के अन्दर निविष्ट है सभी अन्दर में बाहर नहीं है, क्योंकि, संवित् सर्वत्र एक है, इसलिए वह सर्वात्मक और जन्म आदि से रहित है, कारण, वह एक है इसलिए जगत् की भ्रान्ति का अलग कोई कारण नहीं है । इसका आशय व्यक्त करते हुए

**सर्वा हि शब्दार्थदृशो ब्रह्मैवैताः पृथङ्न तत् ।
सर्वार्थशब्दार्थकलारूपमासां न विद्यते ॥ ३ ॥
कटकत्वं पृथग्घेम्नस्तरङ्गत्वं पृथग्जलात् ।
यथा न सम्भवत्येवं न जगत् पृथगीश्वरात् ॥ ४ ॥**

अच्युत ग्रन्थमाला के अनुवाद में कहा है कि चूँकि बोद्धा सब प्रकार की सकल भ्रान्तियों को स्वरूपचैतन्य के ही अन्दर स्थित सदा जानता है, कभी भी उससे अतिरिक्त कोई भी भ्रान्तियाँ नहीं हैं, अतः सब सर्वात्मक ही है। वह समता ही है। सबके सर्वात्मक होनेपर तनिक भी विषमता शेष नहीं रहती। जब विषमता नहीं हैं, तब जन्म आदि विकारों की उपपत्ति कहाँ ? इसलिए अज (परमात्मा) ही वस्तुतः है, इस कारण जगत् की भ्रान्ति बिना कारण हुई है, ऐसा जो कहा, वह ठीक ही कहा, यह भाव है ॥ २ ॥

यदि किसी को यह शङ्का हो कि चैतन्य के अन्दर प्रतीत हानेमात्र से सब पदार्थों की सर्वात्मता कैसे सिद्ध हो सकती है ? उसका उत्तर यह दिया जाय कि एकमात्र चित् के (चैतन्य के) तादात्म्य से पदार्थों का स्फुरण होता है, अतः सब पदार्थ सर्वात्मक (चैतन्यात्मक) हैं, तो यह उत्तर भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि घटज्ञान, पटज्ञान इस प्रकार विभिन्न विषयों के तादात्म्य से चैतन्य में भी भेदज्ञान होता है, अतः वह भी भिन्न हो जायगा, इस आशङ्का के समाधान के लिए कहते हैं—'सर्वा हि इत्यादि से।

चित् का भेद नहीं है। सब बोध, चाहे वे अर्थों के हों चाहे शब्दों के ब्रह्म ही हैं। चित् भी ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है। विषयनिष्ठ भेद के सम्बन्ध से चित्में भेद प्रतीत होता है, विषय का निस्सारण होनेपर चित्में भेद नहीं रहता।

शङ्का—उक्त अनुभव में विषयकारता की प्रतीति होती है, अतः उसमें विषय के तुल्य भेद क्यों नहीं होता ?

समाधान—सम्पूर्ण विषयरूप शब्दार्थ और उनके अवयवरूप जो तत्-तत् आकार हैं, वे बोधों के नहीं हैं, क्योंकि चित् में जड़ आकार के रहने में कोई युक्ति नहीं है। जो आकार अनुभव में आता है, वह वृत्ति का ही है; बोधों का नहीं, यह तात्पर्य है घर पर और मठ आदि विषयवाची शब्द और उनके अर्थ अर्थात् उनका विषय, एक ही चैतन्य में अवभासित होता है, घट ज्ञान, पटज्ञान इत्यादि व्यवहार देखने से यह मन मे होता है कि ज्ञान भिन्न-भिन्न है, परन्तु घट आदि विषयों को छोड़कर

**एष एव जगद्रूपं जगद्रूपं तु नेश्वरे ।
हेमैव कटकादित्वं कटकत्वं न हेमनि ॥ ५ ॥
यथाऽवयविनो रूपमनेकावयवात्मकम् ।
तथाऽनवयवायास्तु चितः सर्वात्मकं च यत् ॥ ६ ॥**

अवगत करने पर ज्ञान अर्थात् चैतन्य का एकत्व सिद्ध होता है, एक ही चैतन्य स्वरूप आधार में यह घट, यह पट, इत्यादि अनेक विभिन्न भाव उदित होते हैं, ये सभी मनोवृत्ति का भेद है, चैतन्य का भेद नहीं है। इसके अच्युत ग्रन्थमाला के अनुवाद में यह कहा गया है ॥ ३ ॥

जैसे कटकता सुवर्णसे पृथक् नहीं है और जैसे तरङ्गता जल से पृथक् नहीं है, वैसे ही जगत् भी ईश्वर से पृथक् नहीं है ॥ ४ ॥

जगत् के चित्से अभिन्न होनेपर भी यदि कोई प्रश्न करे कि कारण के बिना जगत् कैसे उत्पन्न हुआ उसके उत्तर में यही कहना होगा कि जैसे कटक आदिका कनक कारण है, वैसे ही जगत् का कारण चित् है, इस शङ्का-पर कहते हैं—'एष एव' इत्यादि से।

ईश्वर (चित्) ही जगद्-रूप हुआ है, यह जगत् ईश्वर का विवर्त है। यदि जगत् का ईश्वर से भेद होता, तो जगत् के प्रति ईश्वर कारण होता। अत्यन्त अभेद होनेपर तो ईश्वर उसके प्रति कारण नहीं हो सकता, यह भाव है।

शङ्का—तो क्या जगद्रूप ही ब्रह्म (चित्) है ?

समाधान—नहीं, ईश्वरमें जगद्रूप ही नहीं है। भाव यह कि विवर्त की पृथक् सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार कटक, कुण्डल आदि भी सुवर्णात्मक ब्रह्म के विवर्त ही हैं, सुवर्ण में कटक आदि पृथक् नहीं हैं, क्योंकि विवर्त की पृथक् सत्ता नहीं होती, यह ऊपर कहा गया है जैसे सुवर्णात्मक कटकत्व है, सुवर्ण में कटकत्व नहीं है, वैसे ही जगत् ब्रह्मात्मक है, ईश्वर में जगत्त्व नहीं है। भाषानुवाद में संस्कृत टीका के अनुसार इस प्रकार व्याख्या की गई है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि एक की अनेकात्मता में विरोध होगा, तो उसपर समानसत्तावाले अनेक अवयवों के साथ एक अवयवी का समानसत्तावाला तादात्म्य लोक में जब विरुद्ध नहीं है, तब कल्पित (न कि वास्तविक) अनेकों से वास्तविक ब्रह्मैक्य अविरुद्ध है, इसमें तो कहना ही क्या ? इस आशय से कहते हैं—'यथा' इत्यादि से।

अनवयवभूत नित्य चित् की एकात्मता कल्पित अनेक रूपों से वैसे ही अवरुद्ध है जैसे अनेक अवयवों का समुदाय-

यत्तुल्यकालमखिलं तन्मात्रावेदनं परे ।
अन्तस्थं तदिदं भाति जगदित्यहमित्यपि ॥ ७ ॥
लेखौघानां यथा भेदसन्निवेशः शिलोदरे ।
तथाऽनन्यज्जगदहं चेत्यन्तश्चिद्घने घनम् ॥ ८ ॥
स्थितास्तरङ्गाः सलिले यथान्तरतरङ्गिते ।
सृष्टिशब्दार्थरहितास्तथाऽन्तः सृष्टयः परे ॥ ९ ॥
न सर्गे तिष्ठति परं सर्गस्तिष्ठति नो परे ।
अवयवावयविवत् सत्ताऽनवयवैस्तयोः ॥ १० ॥
चिद्रूपेण स्वसंवित्या स्वचिन्मात्रं विभाव्यते ।
स्वमेव रूपहृदयं वातेन स्पन्दनं यथा ॥ ११ ॥

भूत अवयवी का रूप लोक में अविरूद्ध है । एकात्मता होने पर सबकी सर्वात्मा की प्राप्ति होने से अनेकता हट जाती है, अर्थात् जैसे अवयवी एक है और अवयव अनेक हैं वैसे ही एक ही निराकार चैतन्य का अनेक आकार है, किन्तु ये आकार मायिक है, वास्तविक नहीं है, क्योंकि चैतन्य सर्वात्मक है ॥ ६ ॥

प्राणियों में अन्दर स्थित समानकालिक ब्रह्मस्वरूपमात्र का अज्ञान ही परम ब्रह्म में 'जगत् और अहम्' इस प्रकार के भेद से प्रतीत होता है अर्थात् यह भेदप्रतीति अज्ञानकल्पित है, वास्तविक नहीं है ॥ ७ ॥

चिद्घन परब्रह्म में उससे अभिन्न 'जगत्' और 'अहम्' भेदप्रतीति वैसे ही विरुद्ध नहीं है जैसे स्फटिकशिला के भीतर, भेद न होनेपर भी प्रतिबिम्बित वनपङ्क्तियों की स्थिति विरुद्ध नहीं है । आशय यह है कि स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बिरूप वनपंक्तियाँ स्फटिकशिला से अतिरिक्त नहीं हैं, किन्तु भेदपूर्वक उनका सन्निवेश उनमें प्रतीत होता है, उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है, वैसे ही ब्रह्माभिन्न ही यह जगत् ब्रह्म में भेदरूप से प्रतीत होता है ॥ ८ ॥

सृष्टिशब्दार्थ से शून्य परब्रह्म के अन्दर वैसे ही सृष्टियां स्थित हैं जैसे तरङ्गशून्य जल के अन्दर तरङ्ग स्थित हैं, आशय यह है कि प्राणियों का अन्तःस्थ अज्ञान ही यह जगत् है और यह मैं हूँ इत्यादि विभिन्न आकार में परब्रह्म स्वरूप एक आधार में प्रतिभात होता है, जैसे स्फटिकशिला में प्रतिबिम्बित वन, पर्वत आदि स्फटिकशिला से भिन्न नहीं है वैसे ही अन्तःस्थ चैतन्य में आरोपित 'यह जगत्' 'यह मैं' इत्यादि प्रतिभास उस शुद्ध चैतन्य से भिन्न नहीं है ।

जैसे जलराशि और तरङ्गमाला जल से अभिन्न होकर अवस्थित है वैसे ही अन्दर में अनुभूतमान मिथ्यासृष्टि=दृश्यप्रपञ्च ब्रह्म में अभिन्नरूप से अवस्थान करता है ॥ ९ ॥

यदि किसी को यह जिज्ञासा हो कि जैसे विलीन तरङ्ग महाजाल में अवयवरूप से रहती हैं अथवा अवयवी समवायसम्बन्ध से अवयवों में रहता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की स्थिति तो नहीं है ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि :—

न तो सृष्टि में समवायसम्बन्ध से परब्रह्म रहता है और न सृष्टि ही अवसयवरूप से परब्रह्म में रहती है । वास्तव में अवयव और अवयवी में भी परस्पर की आधारता उत्पन्न नहीं होती है । विचार कीजिए, अवयवों में समवायसम्बन्ध से रहता हुआ अवयवी प्रत्येक अवयव में सर्वांश से रहता है अथवा कतिपय अवयवों को लेकर ? प्रथम पक्ष में प्रत्येक अवयव में अलग-अलग अनेक अवयवी हो जायँगे । ऐसी स्थिति में गाय के कान में भी सम्पूर्ण गौ रहेगी, अतः उसके दोहन आदि कार्य होने लगेंगे और अवयवों का विश्लेषण होनेपर भी अवयवी का जाति के समान नाश नहीं होगा । दूसरे पक्ष में अनवस्था से अनन्त अवयव होने के कारण मेरु और सरसों में साम्य हो जायगा । तात्पर्य यह है कि जब प्रत्येक अवयवों को लेकर अवयवी रहता है, ऐसा यदि माना जाय, तो जिन अवयवों को लेकर वह रहेगा, उन अवयवों में भी कतिपय अवयवों के साथ अवयवी का सद्भाव मानना पड़ेगा, फिर उन उन अवयवों में भी मानना होगा, ऐसी स्थिति में अनवस्थित अनन्त अवयव मानने होंगे, फलतः मेरु और सर्षप में समान परिमाण की प्रसक्ति होगी, क्योंकि दोनों के अवयव अनन्त हैं । इसी प्रकार अवयव भी अवयवी में क्या एक भाग में रहते हैं या सर्वांश में ? पहले पक्ष में अनवस्था दोष होगा । द्वितीय पक्ष में अन्य अवयवों का समावेश न होने से तथा अद्वितीय ब्रह्म में अवयवों का सम्बन्ध नहीं होने से सम्पूर्ण द्रव्यों की निरवयवत्वापत्ति हो जायगी, इसलिए अवयव और अवयवी की अनवयवों से ही यह सत्ता है, यह सिद्धान्त है ॥ १० ॥

सावयव महान् जलराशि में ये सावयव तरङ्गमालाएँ उसके अवयव के रूप में रहती है, परन्तु निरवयव परब्रह्म में यह सृष्टि उसके अवयव के रूप में अवस्थित नहीं है, क्योंकि, सावयव जगत् उस निरवयव ब्रह्म का अवयव

तत्कालमेष शब्दाणुश्चिच्चमत्काररूपधृक् ।
चेतते खमिवैवान्तः सङ्कल्प इव चेतसा ॥ १२ ॥

तदेवाऽनिलतां वेत्ति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
अन्तर्गतस्पर्शरसां पवनः स्पन्दतामिव ॥ १३ ॥

तदेवाऽऽभासतामेति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
कोशस्थितालोकलवां तेजः प्रकटतामिव ॥ १४ ॥

तदेव जलतां याति निजसत्तात्मिकां स्वयम् ।
अन्तःस्थितास्वादलवां सलिलं द्रवतामिव ॥ १५ ॥

तदेवाऽवनितां वेत्ति स्वचित्तैकात्मतामयीम् ।
जन्तःस्थगन्धतन्मात्रामुर्वी स्थैर्यकलामिव ॥ १६ ॥

तुल्यकालनिमेषांशलक्षभागप्रतीति यद् ।
निजं विदः प्रकचनं तत्सर्गौघपरम्परा ॥ १७ ॥

शुद्धं सकृत्प्रभातान्तर्दृश्यमध्यमनामयम् ।
उदयास्तमयोन्मुक्तं ब्रह्म तिष्ठत्यनिष्ठितम् ॥ १८ ॥

कैसे हो सकता है ? अतः, अवयवरूप में अवस्थित नहीं है, अपितु मायिक प्रतिभासरूप में अवस्थित है, ज्ञानी की दृष्टि में एक ही सत्ता विद्यमान है, अतः सृष्टि उस सत्ता से भिन्न नहीं है। इसका आशय अच्युतग्रन्थ माला के अनुवाद में संस्कृत व्याख्या के आधार पर इस प्रकार है—

दृष्टि-सृष्टिवाद के उपपादनक्रम से भी जगत् की चित् से अभिन्नता का अनुभव करा रहे श्रीवसिष्ठजी यद्यपि चैतन्य निष्क्रिय (व्यापारशून्य) है, तथापि अविद्या में उसके प्रतिबिम्बित होने से वह अन्यथा अपनी कल्पना करता है, परमार्थ चिद्रूप ब्रह्म, दर्पण में आँखों का प्रतिघात होने से अपने मुंह के समान अविद्या में प्रतिबिम्बित अपनी संवित् से अपने चिन्मात्रस्वरूप प्रपञ्च के रहस्यभूत अज्ञानावृत अपने स्वरूप की ही ऐसी कल्पना करता है, जैसे की वायु अपने में स्पन्द की कल्पना करता है ॥११॥

वायु जैसे स्वयं अपने स्पन्दन का कारण होता है, मुख में स्थित नेत्र जैसे दर्पण से प्रतिहत और लौटकर मुख का अवलोकन करती है, वैसे ही परमार्थ चिद्रूप परब्रह्म भी अपना पारमार्थिक स्वरूप अपने अज्ञान में आवृतकर अपनी संवित्ति के द्वारा अपनी प्रपञ्चरूप में कल्पना करता है।

ग्रन्थमाला का अनुवाद इस प्रकार है—

प्रथम कल्पना के समय माया सम्बन्धित अपने छिद्र के समान प्रेरित करने से जो भाव व्यक्त होता है, उस भाव को शब्द तन्मात्र अर्थात् आकाश की उत्पत्ति मानते हैं। आशय यह है कि शब्द तन्मात्र जो अहंकार में लीन था उसमें आकाश की उत्पत्ति होती है। सर्वशक्तिमती माया से संकलित ब्रह्मरूप को धारण कर चित्त से अन्तःकरण और अन्तःकरण में संकल्प के समान चिद्रूप से आकाश स्फुरित होता है ॥ १२ ॥

आकाशता को प्राप्त ब्रह्म ही स्वयं अपने में स्वसत्तात्मक वायुता का, जिसके अन्दर स्पर्शतन्मात्रा का संस्कार उद्‌बुद्ध हो गया, ऐसे अनुभव करता है, जैसे कि पवन अपने में स्वयं स्पन्दनक्रिया का अनुभव करता है आशय यह है कि दैत्य का क्रूर स्वभाव और देवता की सौम्यमूर्ति, नाग, तृणादिका भिन्न स्वभाव इत्यादि व्यवस्था सृष्टि के आरम्भ काल से महाप्रलय तक समान रूप में रहती है—यहीं नियति है ॥ १३ ॥

पवनात्म स्वरूप को प्राप्त ब्रह्म ही स्वयं अपनी सत्तात्मक मध्य में तेजस्तन्मात्र का उन्मेष हो चुका, जिसके तेजस्वत्व को, प्राप्त करता है, जैसे कि तेज स्वयं इस प्रकार अभिव्यक्ति को प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

तेजस्ता को प्राप्त ब्रह्म ही स्वयं निजसत्तात्मक जिसके अन्दर रसतन्मात्र स्थित है, ऐसे जलत्व को, प्राप्त करता है जैसे जल स्वयं द्रवता को प्राप्त किया है ॥१५॥

यह चित् का चमत्कार ऐसा है कि इसकी प्रतीति कांटे में जोखे हुए के समान कठिनाई से लक्ष्य करनेयोग्य निमेष के लाखवें हिस्से के समान है, इस तरह की संवित् का जो जगदाकार स्फुरण है, वह करोड़ों कल्पों तक रहनेवाली सृष्टियों की परम्परा बन जाता है। भाव यह है कि चित् के स्फुरण में काल से अपरिच्छिन्न निमेष के लाखवें हिस्से का आरोप अथवा करोड़ों कल्पोंका आरोप मायिक है, इसलिए वास्तविक में उसमें कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार आरोपक्रम की कल्पना हो सकती है ॥ १७ ॥

एक बार ही प्रकाशित बीच में रुक-रुककर प्रकाशित नहीं होने वाला नित्य स्वप्रकाश, सृष्टि और प्रलय जिसके अन्तर्गत हैं, जन्म और विनाश से रहित तथा विक्रिया आदि दोषशून्य ब्रह्म निराधार स्थित है आशय यह है कि जो अशुद्ध, जड़, देश और काल से परिच्छिन्न, दोषयुक्त, उत्पत्तिविनाशशील और काल में स्थित है, वह काल से परिच्छिन्न होता है, ब्रह्म तो ऐसा है नहीं इस शङ्का की निवृत्ति इससे कही गई है ॥ १८ ॥

बुद्धं सदपवर्गं तत् ससर्गमपि सत्समम् ।
अबुद्धं सर्गरूपात्मविसर्गमपि तत् सदा ॥ १९ ॥
चिद्ब्रह्म यद्यथा येन बुद्धयते स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
तत्तथा नु भवति सर्वं सर्गाङ्गशक्तिमत् ॥ २० ॥
तत् सत्यं चिद्विलासत्वात् नित्यानुभवरूपतः ।
तदसत्यं मनःषष्ठात् सर्वाख्या निगतं यतः ॥ २१ ॥
यथैतत् सरणं वायौ तथा सर्गः स्थितः परे ।
असत्कल्पेऽपि सत्कल्पः सत्येऽसत्य इवाऽपि च ॥ २२ ॥
अन्यरूपा यथाऽनन्या तेजस्यालोकतोदरे ।
तथा ब्रह्मणि विश्वश्रीः सत्यासत्यात्मिका चिति ॥ २३॥
अनुत्कीर्णा यथा पङ्के पुत्रिका चाऽथ दारुणि ।

परमार्थ सत्य वस्तु के ज्ञात होनेपर अपवर्ग होता है। परमार्थ वस्तु सृष्टियुक्त होनेपर भी विषमता से रहित ही है। यदि उसका परिज्ञान न हो, तो परमार्थतः सृष्टि-शून्य भी वह सृष्टिरूप होती है आशय यह है कि यदि कोई कहे कि उसके मध्य में यदि सृष्टि और प्रलय निहित हैं, तो अपवर्ग भी सृष्टियुक्त या प्रलययुक्त, यों विविध प्रकार का होना चाहिए, एक प्रकार का नहीं, इस प्रसङ्ग में कहते हैं ॥ १९ ॥

चैतन्यरूप जो ब्रह्म है, उसको बोद्धा लोग अपने आत्मरूप से अपने में जैसा जानते हैं, उस प्रकार का वह ब्रह्म आत्मा में होता है अर्थात् माया से उन सब आकारोंको धारण करता है, क्योंकि वह सर्वानुगुण माया रूप शक्ति से युक्त है ॥ २० ॥

यदि जगत् परमार्थदृष्टि से देखा जाय, तो चिद्रूप का विलास होने से तथा नित्यानुभवरूप होने से वह सत्य ही है। यदि ब्रह्म भी मन से संयुक्त ज्ञानेन्द्रियों से देखा जाय, तो वह भी असत्य ही है, क्योंकि वह सम्पूर्ण नाम और रूप को प्राप्त किया है। आशय यह है कि जगत् भी यदि शास्त्रीय चिद्विलासरूप दृष्टि से देखा जाय, तो परमार्थ सत्य ब्रह्म ही है। ब्रह्म भी यदि बहिर्मुख चक्षु आदि और मन से उत्पन्न वृत्ति से देखा जाय, तो असत्य जगत् ही है, वाणी के अगोचर ब्रह्म का वाणी का गोचर वह रूप सत्य नहीं हो सकता है ॥ २१ ॥

जैसे वायु में चलन क्रिया से पहले असत् के समान वायु स्पन्दन का आविर्भाव होने से सत् के समान स्थित है, चलन के समय वायु की सत्ता का परिज्ञान होने से सत्य वायु में केवल स्थिरता से रहने के कारण असत्य-सा स्थित रहता है, वैसे ही यह सृष्टि भी असत्रूप मूला-ज्ञान में अधिष्ठानसत्ता से सत्कल्प तथा सत्य भी अधि-

यथा वर्णा मषीकल्के तथा सर्गाः स्थिताः परे ॥ २४ ॥
अनन्याऽन्येव कचति ब्रह्मतत्त्वमरुस्थले ।
असत्यात्मनि सत्येव त्रिजगन्मृगतृष्णिका ॥ २५ ॥
ब्रह्मणा चिन्मयेनाऽऽत्मा सर्गात्मैव विभाव्यते ।
न भाव्यते चाऽनन्यत्वाद् बीजेनाऽन्तरिव द्रुमः ॥ २६ ॥
यथा क्षीरस्य माधुर्यं तीक्ष्णत्वं मरिचस्य च ।
द्रवत्वं पयसश्चैव स्पन्दनं पवनस्य च ॥ २७ ॥
स्थितोऽनन्यो यथाऽन्यः सन्नाऽस्ति तत्र तथाऽऽत्मनि ।
सर्गो निर्गलचिद्रूपः परमात्मात्मरूपभृत् ॥ २८ ॥
कचनं ब्रह्मरत्नस्य जगदित्येव यत्स्थितम् ।
तदकारणकं यस्मात्तेन न व्यतिरिच्यते ॥ २९ ॥

ष्ठान में असत्य मायारूप होने से असत्य के समान स्थित है ॥ २२ ॥

जैसे तेज के अन्दर आलोकत्व अभिन्न होता हुआ भी भिन्न प्रतीत होता है, वैसे ही चिद्घन ब्रह्म में असत्यरूप विश्व की शोभा सत्य प्रतीत होती है ॥ २३ ॥

परब्रह्म में सृष्टियाँ स्थित हैं जैसे खिलौने बनाने के लिए तैयार की गई गीली मिट्टी में न बनाये गये खिलौने रहते हैं, जैसे खिलौने बनाने के लिए प्रस्तुत काठ में खिलौने स्थित हैं और जैसे स्याही के चूर्ण में अक्षर स्थित रहते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मतत्त्व में असत्य भी यह त्रिजगत् वैसे ही सत्य प्रतीत होता है ब्रह्मतत्त्वरूपी मरुभूमि में त्रिजगत्रूपी मृगतृष्णा असत्य होते हुए भी मायावश सत्य-सी प्रतीत होती है अर्थात् जैसे मरुभूमि में मृगतृष्णा अनन्य अभिन्न होती हुई भी अन्य के समान स्फुरित होती है ॥ २५ ॥

भ्रमवश चिदाभासरूप जीव बना हुआ ब्रह्म सर्ग को ही अपनी आत्मा जानता है और तत्त्वदृष्टि से परब्रह्म से अभिन्न होने के कारण नहीं जानता है, जैसे कि बीज अपने अन्दर स्थित वृक्ष को नहीं जानता ॥ २६ ॥

परमात्मा में यह असत् विनाशिस्वरूप सर्ग चिद्रूप होकर वैसे ही स्थित है जैसे दूध में मिठास, मिर्चे में कड़ुवापन, पानी तरलता और वायु में चलन अभिन्नरूप से रहता है, यद्यपि यह परमात्मा से भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भिन्न के समान प्रतीत होता है यह सृष्टि चित स्वरूप परमात्मा का विवर्त है ॥ २७, २८ ॥

परब्रह्मरूपी सर्ग का जगत् के रूप से जो स्फुरण हुआ है, वह अकारण है, इसलिए वह ब्रह्मरूपी मणि से भिन्न नहीं है ॥ २९ ॥

वासनाचित्तजीवादिवेदनं वेदनोदितम् ।
नोदेत्यवेदनादेव यतनादेव पौरुषात् ॥ ३० ॥
नाऽस्तमेति न चोदेति क्वचित्किञ्चित्कदाचन ।
सर्वं शान्तमजं ब्रह्म चिद्घनं सुशिलाघनम् ॥ ३१ ॥
पराणुं प्रति सर्गौघाश्चित्ताद् भ्रान्तिसहस्रशः ।
तेष्वप्यणावणावन्तः कैवाऽत्रावासना कथम् ॥ ३२ ॥
यथा जलान्त ऊर्म्याद्या गुप्तागुप्ताश्च शक्तयः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताद्यास्तथा जीवेऽन्तरा स्थिताः ॥ ३३ ॥
जाता चेदरतिर्जन्तोर्भोगान् प्रति मनागपि ।

वासनामय चित्त के द्वारा ही इसका आविर्भाव होता है, अतः पुरुषकार के द्वारा अर्थात् समाधि, भावना आदि के द्वारा वासनामय मन को विनष्ट=ब्रह्म में विलीन करने पर इसका पुनः आविर्भाव नहीं होता है ॥ ३० ॥

वस्तुतः यह जगत् न किसी भी समय न उदित या अस्त नहीं होता है, क्योंकि यह केवल शान्त अजब्रह्म ही है ॥ ३१ ॥

ग्रन्थमाला में तीस और एकतीस श्लोकों का इस प्रकार व्याख्यान है :—

यदि यह जगत् अकारण ही है, तब तो उत्पन्न ही नहीं हुआ, फिर उसका अनुभव कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—'वासना' इत्यादि से ।

वासना, चित्त, जीव आदि का अनुभव उत्पन्न हुआ है ।

शङ्का—उसके उदय न होने का क्या उपाय है ?

समाधान—मन का नाश होने से वह उदित नहीं होता यानी मनोनाश ही उसके अनुदय का हेतु है ॥

शङ्का—मनोनाश कैसे होता है ।

समाधान—मनोनाश ज्ञानयोग में दृढ़ अभ्यासरूप पुरुषप्रयत्न से होता है ।

कोई भी वस्तु कहीं भी और कभी भी न तो पैदा होती है और न नष्ट होती है । सब शान्त अविनाशी चिद्घन शिला के समान ठोस ब्रह्म ही है, श्लोक से अभिनयपूर्वक ज्ञानयोग का आकार दर्शाया ।

जब तक चित्त वर्तमान रहेगा तब तक चित्त से चित्कणात्मक जीव के ज्ञान में हजारों सृष्टियाँ प्रतिभास होगी, विना माया के ऐसी सृष्टि की सम्भावना नहीं है ?

ग्रन्थमाला का अनुवाद इस प्रकार है :—

परमाणु में चित्त भ्रान्तिमय हजारों सृष्टियों के समूह के समूह उत्पन्न होते हैं, उनमें भी प्रत्येक परमाणु में सृष्टियां होती हैं, पर परमाणु के अन्दर सृष्टियों के समूह की समावेशपूर्वक स्थिति कैसे हो सकती है ? यानी परमाणु के अन्दर सृष्टियों के समूह की स्थिति असंभव है । वह कभी किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, अतः मिथ्या ही है, यह अर्थ है ॥ ३२ ॥

जीव में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियाँ वैसे ही भीतर स्थित हैं जैसे जल के भीतर तरङ्ग आदि गुप्त और अगुप्त भी रहते हैं ॥ ३३ ॥

तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ॥ ३४ ॥
यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ।
अतोऽहमित्यसंविदन्क एति जन्मसंविदम् ॥ ३५ ॥
चितिं परापरामजामरूपिकामनामिकाम् ।
चराचराधरामयीं विदन्ति ये जयन्ति ते ॥ ३६ ॥
परे चितिः स्वप्रकटाद्वितीया
स्वावर्तलेखेव जले द्रवाऽन्तः ।
साहं तयेमानि जगन्ति धत्ते
न सन्ति नाऽसन्ति परात्मकानि ॥ ३७ ॥

यदि पुरुष की भोगों के प्रति कोई भी अरुचि हो गई, तो वह उतने से ही उँचे पद को प्राप्त कर लेगा, ऐसा श्रुति कहती है ॥ ३४ ॥

पुरुष जैसे-जैसे विरक्त होता है वैसे-वैसे मुक्त होता है, इसलिए ज्ञानवैराग्य की दृढ़ता से 'अहम्' इस प्रकार देह आदि का ज्ञान न करता हुआ अर्थात् उनको न देखता हुआ कौन जन्म-मरण भ्रान्ति को प्राप्त करेगा ॥ ३५ ॥

जो प्राणी पर ईश्वरचैतन्यरूप अपरा=जीवचैतन्यरूप क्रमशः ईश्वरचैतन्यरूप परा चिति को नामरूपात्मक जगत्कल्पनारूप उपाधि से रहित और जीवचैतन्यरूप अपरा चिति को चराचर देह आदिरूप निकृष्ट उपाधियों से रहित और जन्म आदि विकारों से रहित जानते हैं, वे संसार पर विजय पाते हैं अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

जैसे द्रवभूत जल के अन्दर आवर्त की रेखा रहती है वैसे ही परब्रह्म में व्यष्टि जीवरूप प्रकट अद्वितीय 'चिति' ऐसे रहती है, वही अहंकार से युक्त होकर जगतों को धारण करती है, परमात्मा में न तो जगत् सद्रूप है और न असद्रूप है अर्थात् व्यष्टि के समान समष्टि में भी अहङ्कार और संकल्प इन दोनों के कारण ही—अपने भीतर संसार की कल्पना होती है ॥ ३७ ॥

अहंमयी पद्मजभावना चित्
सङ्कल्पभेदाद्वितनोति विभ्रम् ।
अन्तर्मुखैवानुभवत्यनन्त-
निमेषकोटयंशविधौ युगान्तम् ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे जगत्स्वरूपवर्णनं नाम एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

विश्व पद्मयोनि ब्रह्मा का अहं स्वरूप भावना से विशिष्ट चित् के सङ्कल्प से विस्तार प्राप्त करता है, आश्चर्य यह है कि विष्णु का एक निमेष विधाता का करोड़वा हिस्सा रूपकाल में युगान्त स्वरूप अर्थात् बहत्तर-हजार बीस लाख दिव्य वर्ष रूप अपनी आयु का अनुभव करता है, अहो ! माया विचित प्रभाव से समन्वित है । अच्युतग्रन्थमाला के अनुवाद में संस्कृत टीका के अनुसार यह अर्थ दिया गया है:—

अहकारमयी पद्मयोनि की भावनारूपी चिति संकल्प के भेद से जगत् की रचना करती है ।

शङ्का—समष्टि चिति में व्यष्टि चिति की अपेक्षा क्या विशेष है ?

समाधान—समष्टिचिति हमलोगों के समान बहिर्मुखी नहीं है, किन्तु अन्तर्मुख ही है, अनन्त (विष्णु) भगवान् के निमेष के करोड़वें हिस्सेरूप काल में युगान्तरूप (बहत्तर हजार यानी सात करोड़ बीस लाख दिव्य वर्षरूप) अपनी आयु का अनुभव करती है, अहो, माया क्या नहीं कर सकती ॥ ३८ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में
जगत्स्वरूपवर्णन नामक कुसुमलता का एकसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६१ ॥

६२

श्रीवसिष्ठ उवाच

परमाणुनिमेषाणां लक्षांशकलनास्वपि ।
जगत्कल्पसहस्राणि सत्यानीव विभान्त्यलम् ॥ १ ॥
तेष्वप्यन्तस्तथैवाऽन्तः परमाणुकणं प्रति ।
भ्रान्तिरेवमनन्ताऽहो इयमित्थवभासते ॥ २ ॥
वहन्तीमाः पराः सत्ताः शान्ता सर्गपरम्पराः ।
सलिलद्रवतेवाऽन्तः स्फुटावर्त्तविवर्तिका ॥ ३ ॥
मिथ्यात्मिकैव सर्गश्रीर्भवतीह महामरौ ।
तीरद्रुमलतोन्मुक्तपुष्पालीव तरङ्गिणी ॥ ४ ॥
स्वप्नेन्द्रजालपुरवत् सङ्कथेहापुराद्रिवत् ।
सङ्कल्पवदसत्यैव भाति सर्गानुभूतिभूः ॥ ५ ॥

६२

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—परमाणु के और निमेष के लाखवें हिस्से की कल्पना में हजारों ब्रह्माण्ड हजारों कल्प दिखाई दे रहे इस ब्रह्माण्ड के समान ही वे सर्वथा सत्य के समान प्रतीत होते हैं ॥ १ ॥

उनमें भी हर एक के अन्दर प्रत्येक परमाणु में इसी प्रकार की ब्रह्माण्डकल्पना और कल्प-कल्पना होती है, फिर उनके अन्दर इस प्रकार इस कल्पना का कहीं अन्त नहीं है, यह अनन्त है, अतएव यह भ्रान्ति ही है, वह भ्रान्ति ही जगद्रूप से भासित हो रही है ॥ २ ॥

जैसे जलराशि अपने अन्दर आवर्तों की परम्पराओं को धारण करती है तथा बहती है वैसे ही वर्तमान, आने वाली और अतीत सृष्टि-परम्पराएँ प्रतिभासिक सत्ता को धारण करती हैं और बहती हैं ॥ ३ ॥

जैसे मरुभूमि में तटवर्ती वृक्षों और लताओं से गिरे हुए फूलों की कतार से भरी हुई मिथ्या नदी प्रतीत होती है, वैसे ही इस महामरुरूपी जगत् सृष्टि शोभा भी मिथ्या ही है । आशय यह है कि मरुभूमि में प्रतीत हो रही जलनदी ही मिथ्या है उसके तटवर्ती वृक्ष और लताएँ एवं उनके द्वारा बरसाये गये फूलों का समुदाय भी नहीं है सभी प्रतीत हो रही परम्परा मिथ्या है यह सृष्टिशोभा भी वैसे ही मिथ्या परम्पराओं ने पूर्ण है ॥ ४ ॥

स्वप्न और इन्द्रजाल के नगर के समान औपन्यासिक नगर और पर्वत के तुल्य, मनोरथ से कल्पित नगर और पर्वत के सदृश या संकल्प के समान असत्य ही यह सृष्टियों के अनुभव की भूमि प्रतीत होती है ॥ ५ ॥

श्रीराम उवाच

एकात्मैकतयैवं हि जाते सम्यग्विचारणात् ।
निर्विकल्पात्मविज्ञाने परे ज्ञानवतां वर ! ॥ ६ ॥
किमर्थमिह तिष्ठन्ति देहास्तत्त्वविदामपि ।
दैवेनैव समाक्रान्ता दैवमत्र च किं भवेत् ॥ ७ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अस्तीह नियतिर्ब्राह्मी चिच्छक्तिः स्पन्दरूपिणी ।
अवश्यभवितव्यैकसत्ता सकलकल्पगा ॥ ८ ॥
आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम् ।
अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम् ॥ ९ ॥

तत्त्वज्ञान होने से सम्पूर्ण भ्रान्तियों के निवृत्त होने-पर तत्त्वज्ञानियों की देहस्थिति का संभव नहीं है, ऐसी श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं'–एकात्मैकतया' इत्यादि से।

श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ ! भ्रम से रहित और भलीभाँति विचार करने से एक अद्वितीय ब्रह्म के अभेद से उत्कृष्ट निर्विकल्पक आत्मज्ञान सम्पन्न तत्त्वज्ञानी भ्रम मूलक शरीर धारण नहीं करते हैं, अतः वे यहांपर किसलिए रहते हैं। ये दैव से आक्रान्त राजा बलि आदि के समान वे यहां रहते हैं, तो वह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानियों के ऊपर अदृष्ट का प्रभाव नहीं हो सकता है। दैव से आक्रान्त हैं तो यहाँ दैव क्या है। अतः उनके शरीर धारण के कारण को बतायें ॥ ६, ७ ॥

प्राणियों की अदृष्ट शक्ति को साथ लेकर ईश्वर-संकल्परूप महानियति ही जैसे सम्पूर्ण व्यवहारोंकी व्यवस्था करती है, वैसे ही वही विद्वानों के शरीर की भी स्थिति में कारण होती है। स्पन्द स्वरूप अवश्यम्भा-विनी सभी कल्पों में गमनशील ब्राह्मणी चित् शक्ति ही यह सुव्यवस्थित एक सत्ता सभी कल्पों में रहने वाली नियति है ॥ ८ ॥

आशय यह है कि वह महानियति कब से है और उसका रूप कैसा है ? इसपर कहते हैं—'आदिसर्गे' इत्यादि से।

सृष्टि के आदि में अग्नि आदि को इस प्रकार ऊष्णता ऊर्ध्वज्वलन आदि स्वभाव से सदा रहना चाहिए इस प्रकार परमात्मा ही स्वयं संकल्पात्मवृत्तिरूप पदार्थवैचित्र्य को अप्रतिहतरूप से प्राप्त होता है, वही नियति है आशय यह है कि प्राणियों का अदृष्ट वस्तु की शक्ति है, इन दोनों से सहकृत ईश्वर के संकल्प का नाम महानियति

महासत्तेति कथिता महाचितिरिति स्मृता ।
महाशक्तिरिति ख्याता महादृष्टिरिति स्थिता ॥ १० ॥
महाक्रियेति गदिता महोद्भव इति स्मृता ।
महास्पन्द इति प्रौढा महात्मैकतयोदिता ॥ ११ ॥
तृणानीव जगन्त्यैवमिति दैत्याः सुरा इति ।
इति नागा इति नगा इत्याकल्पं कृतास्थितिः ॥ १२ ॥
कदाचिद् ब्रह्मसत्ताया व्यभिचारोऽनुमीयते ।
चित्रमाकाशकोशे च नाऽन्यथा नियतेः स्थितिः ॥ १३ ॥
विरञ्च्याद्यात्मभिर्बुद्धैर्बोधायाऽविदितात्मनाम् ।
ब्रह्मात्मैव सा नियतिः सर्गोऽयमिति कथ्यते ॥ १४ ॥

और महादेव है, उसी से संसार के सभी व्यवहारों की अकाट्य व्यवस्था चलती है, ज्ञानियों का शरीरधारण भी उसी महानियति के अधीन है, नियति के अन्तर्गत प्रारब्ध कर्म, भोग के विना नष्ट नहीं होता है, इस नियम के अनुसार ज्ञानी का शरीर रहता है। सम्पूर्ण जगत् की व्यवस्था करने वाली व्यवहार परम्परा स्पन्द है। अर्थात् नियमित सुश्रृङ्खला में जगत् के कार्य का निर्वाह इसीसे होता है ॥ ९ ॥

वहाँ प्रौढ़ नियति परमात्मा से अभिन्न अर्थात् एकत्व से उत्पन्न होने से सम्पूर्ण जगतों की स्थिति, प्रकाश-सामर्थ्य, विवेक, क्रिया, जन्म, अर्थक्रिया आदि की हेतु होने से क्रमशः महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द नामों से कही जाती है ॥ १०, ११ ॥

सर्वत्र गमनशील सर्वात्मक ब्रह्म इस नियति से सम्पूर्ण जगत् तृणों के समान परिवर्तित करते हैं, क्रूर-स्वभाववाले दैत्य, सौम्य आकारवाले देवता, विशालाकार पर्वत, सर्प आदि सभी की कल्पपर्यन्त व्यवस्था कर लेती है ॥ १२ ॥

परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मसत्ता के समान व्यवहार में वह भी अव्यभिचरित है, ऐसा कहते हैं'–कदाचिद्' इत्यादिसे।

ब्रह्मसत्ता का व्यभिचार और आकाश में चित्रलेखन अत्यन्त असंभावित होने पर भी उसका कभी=अज्ञाना-वस्था में अनुमान हो सकता है, परन्तु नियति की स्थिति विपरीत हो, इसका तो अनुमान करना भी संभव नहीं है अर्थात् परमार्थ दृष्टि से ब्रह्मसत्ता के समान व्यवहार में उसका कभी-भी अन्यथा नहीं हो सकता है ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञानी विरञ्चि आदि अज्ञानियों के बोध के लिए ब्रह्म ही वह नियति और यह सर्ग है, ऐसा कहते हैं

अचलं चलवद्दृष्टं ब्रह्माऽऽपूर्य व्यवस्थितः ।
अनादिमध्यपर्यन्तं सर्गो वृक्ष इवाऽम्बरे ॥ १५ ॥
पाषाणोदरलेखौघन्यायेनाऽत्मनि तिष्ठता ।
ब्रह्मणा नियतिः सर्गो बुद्धोऽबोधवतेव खम् ॥ १६ ॥
देहे यथाऽङ्गिनोऽङ्गादि दृश्यते चित्स्वभावतः ।
ब्रह्मणा पद्मजत्वेन नियत्याद्यङ्गकं तथा ॥ १७ ॥
एषा दैवमिति प्रोक्ता सर्वं सकलकालगम् ।
पदार्थमलमाक्रम्य शुद्धा चिदिति संस्थिता ॥ १८ ॥

आशय यह है कि यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई है, तात्त्विक दृष्टि से तो ब्रह्म, नियति और सर्गशब्द के अर्थ में कोई भेद नहीं है ॥ १४ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि ब्रह्म अचल है और सृष्टि चञ्चल है, इसलिए उन दोनों की एकता कैसे हो सकती है ? उसपर कहते है—'अचलम्' इत्यादि से ।

यह सृष्टि आदि, मध्य और अन्तरहित तथा अचल ब्रह्म को वैसे ही पूर्ण करके स्थित है जैसे आकाश में वृक्ष आकाश को पूर्ण करके स्थित है, और अज्ञ की दृष्टि से चल के सदृश दिखाई देती है (अतः अचल ब्रह्म और चञ्चल सृष्टि की एकता सम्भव है) ॥ १५ ॥

यदि कोई कहे कि हिरण्यगर्भ ने इस नियति को कैसे जाना, जिससे कि उन्होंने नियति के अनुसार ही सृष्टि की ? इसपर कहते हैं—'पाषाणो०' इत्यादि से ।

जैसे स्फटिकशिला के अन्दर प्रतिबिम्बित वन-पङ्क्तियाँ रहती हैं, वैसे ही मायाशबल ब्रह्म में स्थित हिरण्यगर्भ ने जैसे सोये हुए पुरुष के द्वारा अपनी स्वाप्न-कल्पना के आधार आकाश को देखने के समान ही नियतिरूपी भावी सृष्टि को देखा (अतः हिरण्यगर्भ ने नियति को कैसे जानकर उसके अनुसार सृष्टि कैसे की यह शङ्का नहीं है) ॥ १६ ॥

हिरण्यगर्भ चित्स्वभाव होने के कारण नियति, आदि-सृष्टि आदिरूप अङ्गों को वैसे ही देखता है जैसे अङ्गी देह में अङ्गों को देखता है ॥ १७ ॥

दैव नाम से प्रख्यात यह नियति मोह से अभिभूत न होने से शुद्ध ईश्वरसंकल्परूप है, जगत् की व्यवस्थारूप से भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को सर्वथा आक्रान्त कर यह स्थित रहती है। आशय यह है कि दैव सभी कालों में परिव्याप्त और सर्व वस्तुगामी है और यह शुद्ध स्वभाव ब्रह्म चेतन में अवस्थित है ॥१८॥

इस पदार्थ में इस प्रकार स्पन्द होना चाहिए, इसको

स्पन्दितव्यं पदार्थेन भाव्यं वा भोक्तृतापदम् ।
अनेनेत्थमनेनेत्थमवश्यमिति दैवधीः ॥ १९ ॥
एषैव पुरुषस्पन्दस्तृणगुल्मादि चाऽखिलम् ।
एषैव सर्वभूतादि जगत् कालक्रियादि वा ॥ २० ॥
अनया पौरुषी सत्ता सत्ताऽस्याः पौरुषेण च ।
लक्ष्यते भुवनं यावत् द्वे एकात्मतयैव हि ॥ २१ ॥
नरेण पौरुषेणैव कार्ये सत्तात्मके उभे ।
ईदृश्येतेन नियतिरेवं नियतिपौरुषे ॥ २२ ॥

भोक्तृता पद प्राप्त होना चाहिए, इसे इस प्रकार अवश्य होना चाहिए, इस प्रकार दैव ही नियति या अदृष्ट है ॥ १९ ॥

यह महानियति ही पुरुषचेष्टा, सम्पूर्ण तृण, पेड़, पौधे, झाड़ियां आदि है, यही सम्पूर्ण पृथिवी, जल, तेज वायु आकाश—पांच भूतस्वरूप जगत् है और यही काल, क्रिया आदि स्वरूप है आशय यह है कि पूर्वोक्त दैव और अनन्तर कथित दैव नियति और अदृष्ट एक दूसरे के सहायक हैं, अतः, यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न विशेष और वैसा दैव ही तृण, गुल्म और लतादि एवं जगत् और काल आदि सभी एक प्रकार से दैव या नियति है ॥ २० ॥

इससे पुरुष की अदृष्टसम्बन्धिनी सत्ता=अर्थात् अवश्य ही फल की उत्पत्ति की स्थिति लक्षित होती है। जब तक तीनों भुवन हैं, तबतक यही व्यवस्था है। प्रलय होने के पश्चात् ये दो सत्ताएँ एकात्म रूप से स्थित होती हैं जिस नियति की चर्चा की गई है उस नियति के द्वारा ही पुरुष प्रयत्न का और पुरुष के अदृष्ट का अस्तित्व एवं पुरुष प्रयत्न के और पुरुष के अदृष्ट से नियति की सत्ता अर्थात् अवस्थिति अनुभूत यह दृष्ट होती है, तीनों लोक में जब तक इसी प्रकार जगत् की व्यवस्था है एवं महाप्रलय अर्थात् तीनों भुवनों के अभाव के समय में उक्त दोनों दैवों अर्थात् नियति और अदृष्ट का ब्रह्म में एकात्मभाव से मिलने से ऐक्य सम्पन्न हो जाता है ॥ २१ ॥

इसलिए नियति=दैव और पौरुष=पुरुषकार दोनों का अस्तित्व जीव के अदृष्ट के मूलाधार पर है, जीवा-दृष्ट का और नियति का अस्तित्व पुरुषकार मूलक, नियति इसप्रकार नियम और क्रम में अस्तित्व लाभ करती है। आशय यह है— मनुष्य को अपने पौरुष से ही नियतिसत्ता और पुरुषादृष्टसम्बन्धिनी सत्ता दोनों

प्रष्टव्योऽहं त्वया राम ! दैवपौरुषनिर्णयः ।
मदुक्तं पौरुषं पाल्यं त्वयेति नियतिः स्थिता ॥ २३ ॥
भोजयिष्यति मां दैवमिति दैवपरायणः ।
यत्तिष्ठत्यक्रियो मौनं नियतेरेष निश्चयः ॥ २४ ॥
न स्याद् बुद्धिर्न कर्माणि न विकारादि नाऽऽकृतिः ।
केवलं त्वित्थमाकल्पं स्थित्या भाव्यमिति स्थिताः ॥२५।
अवश्यं भवितव्यैषा त्विदमित्थमिति स्थितिः ।

सत्तओं को बनाना चाहिए। नियति और पौरुष भी इसी प्रकार प्राणी के अदृष्ट से निर्वाह के योग्य हैं, इस क्रम से इस प्रकार की नियति स्थित है ।। २२ ।।

बहुत क्या कहें, आपके शिष्याभाव से पूछने में मेरे द्वारा उपदिष्ट अर्थ के अनुष्ठान में नियति ही कारण है, ऐसा कहते हैं--'प्रष्टव्यो' इत्यादि से ।

हे राम ! तुम शिष्य होकर मेरा उपदेश ग्रहण कर रहे हो-- यह भी नियति कृत ही है, दैव क्या है ? पुरुषकार क्या है ? इस प्रश्न क समाधान के लिए जो कुछ कहा है, तुम उसका परिपालन करो, इसको नियति समझ कर मान्य और परिपालन करने पर तुम्हारा पुरुषकार माना जायेगा। अर्थात् हे राम ! आपको मुझसे पूछना चाहिए, इस विषय मे भी दैवपौरुषनिर्णय ही हेतु है। आपको मेरे द्वारा उक्त पौरुष का पालन करना चाहिए, यह भी नियति कृत ही है ।। २३ ।।

जो मुझे दैव खिलायेगा, इस प्रकार कोई मनुष्य दैव मात्र का अवलम्बन कर पौरुष प्रयत्न को न करता हुआ चुपचाप बैठा रहता है, यह सत्य है कि वह भी उसके अनुरूप पूर्वजन्म के कर्मों से उद्बोधित नियति के कारण ही होता है ।। २४ ।।

यदि पहले भी कोई पुरुष निर्व्यापार ही रहेगा, तो बुद्धि नहीं होगी, बुद्धि से होने वाले कार्य भी नहीं होंगे, कार्य से होने वाले विकार नहीं होंगे और विकारों के आकार नहीं होंगे। इस प्रकार पुरुष कर्म मूलक ही कल्पपर्यन्त व्यवहारस्थिति होती है, इस प्रकार नियति के कारण ही सब कुछ होता है, आशय यह है कि—जीव यदि कल्प के आरम्भ से ही केवल और निष्क्रिय रहता तो बुद्धि, बुद्धिप्रयुक्त कर्म और उसके कारण भूत भौतिक विकार अर्थात् आकृति और संस्थान आदि कुछ भी नहीं होता न रहता, इसलिए कल्प के आरम्भ और कल्प के मध्य में जो व्यवहार या जगत् की व्यवस्था है, ये सभी पुरुष की क्रिया के कारण अर्थात् अनियति के अधीन ही

न शक्यते लङ्घयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः ॥ २६ ॥
पौरुषं न परित्याज्यमेतामाश्रित्य धीमता ।
पौरुषेणैव रूपेण नियतिर्हि नियामिका ॥ २७ ॥
अपौरुषं हि नियतिः पौरुषं सैव सर्गगा ।
निष्फलाऽपौरुषाकारा सफला पौरुषात्मिका ॥ २८ ॥
नियत्या मूकतामेत्य निष्पौरुषतयाऽक्रियम् ।
यस्तिष्ठति प्राणमरुत् स्पन्दस्तस्य क्व गच्छति ॥ २९ ॥

हुआ है, अतः पुरुषकार व्यर्थ नहीं है ।। २५ ।।

ऐसी स्थिति इसकी होनी चाहिए इस प्रकार की अवश्यंभवितव्यतारूप नियति का रुद्र आदि की बुद्धि द्वारा भी उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता ।। २६ ।।

बुद्धिमान् पुरुष ऐसा निश्चय कर पुरुष प्रयत्न का कभी त्याग न करे, क्योंकि नियति पौरुष रूप से ही नियामिका होती है, अर्थात् पूर्व जन्मों मे किया गया पौरुष ही वर्तमान जन्म में नियतिरूप होकर 'इसे ऐसा ही होना चाहिए' ऐसा नियम करता है ।। २७ ।।

पुरुष के प्रयत्नरूप से अविवक्षित केवल ईश्वर के सङ्कल्पमात्र से नियति कही जाती है, वही पुरुष प्रयत्न से सृष्टि फल से उपहित होकर पौरुष कही जाता है, क्योकि पुरुष के प्रयत्न के आकार मे परिणत न होन वाली नियति निष्फल है और पौरुषात्मिका सफल है। आशय यह है कि नियति पुरुषार्थरूप फल प्रदान मे असमर्थ है, अतः निष्फल है और पौरुष पुरुषार्थरूप फल प्रदान म समर्थ है अतः सफल है आशय यह है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भी नियति के उल्लङ्घन करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि, नियति आवश्यम्भाविनी है, नियति के अवश्यम्भाविनी होने पर भी उसका फलतः फल पुरुषकार मूलक है, नियति ही तो पुरुषकार मे परिणत होती है नियति का ही बाद में फल होता है, अतः बुद्धिमान व्यक्ति नियति जो करगी वही होगा, यह समझ कर पुरुषकार का परित्याग नहीं करता है। नियति और पौरुष शब्द का एक अर्थ होने पर भी उपाधि भेद से उनमें भेद व्यवहार होता है ।। २८ ।।

यदि कोई शङ्का करे कि जो पुरुष पौरुष शून्य होकर अजगर वृत्ति से रहे, उसको भी तो तृप्ति आदि फल लाभ होता है, ऐसा देखा गया है, इस पर कहते हैं— 'नियत्या' इत्यादि से ।

नियति पुरुषकार में परिणत न हो तो वह निष्फल है एवं पुरुषकार में परिणत होने पर ही वह सफल है,

अथ प्राणक्रियारोधमपि कृत्वा विरामदम् ।
यदि तिष्ठति तत्साधुर्मुक्त एव किमुच्यते ॥ ३० ॥
पौरुषैकात्मता श्रेयो मोक्षोऽत्यन्तमकर्तृता ।
आभ्यां तु सबलः पक्षो निर्दुःखैव महात्मनाम् ॥ ३१ ॥
नियतिर्ब्रह्मसत्ताभा तस्यां चेत्परिणम्यते ।
नूनं परमशुद्धाख्यं तत्प्राप्तैव परा गतिः ॥ ३२ ॥
एतैर्नियत्यादिमहाविलासै-
ब्रह्मैव विस्फूर्जति सर्वगात्म ।
तृणादिवल्लीतरुगुल्मजालैः
सत्तेव तोयस्य धरान्तरस्था ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे दैवशब्दार्थनिरूपणं नामद्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

यदि कहा जाय कि पुरुषकार रहित अजगर वृत्ति का अवलम्बन करने पर भी तृप्ति का फल होता है, इस विषय में यह कहना है कि ग्रास का ग्रहण रूप उसका भी होता है (अजगर चुप होकर बैठता है सामने भक्ष्य पाने पर उसका ग्रास कर लेता है, ग्रास करने का प्रयत्न या मुख खोलना आदि प्रयत्न के बिना यह सम्भव नहीं है, अतः अजगर में भी पुरुषकार रहता है। ग्रास के ग्रहण आदि व्यापार को छोड़कर कभी भी तृप्ति का फल नहीं प्राप्त कर सकता है। भूख-प्यास सहन कर कुछ समय तक जीवित रहने में प्राण सञ्चालन क्रिया रहती ही है, अतः पुरुष प्रयत्न छोड़कर अजगर वृत्ति भी तृप्ति का साधन नहीं है ॥ २९ ॥

निर्विकल्पकसमाधि में प्राण सञ्चालन नहीं, वह सभी व्यापार को विश्रान्ति देता है तथापि चित्त को शान्ति प्रदान करने वाला प्राण-निरोध करता रहता है और उस प्रयत्न से तत्त्वज्ञानी होकर मुक्ति प्राप्त करता है, किन्तु वह मुक्ति प्राप्ति भी प्राण-निरोध आदि पौरुष का ही फल है, इसलिए पौरुष के बिना किसी भी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती है। आशय यह है कि मोक्ष में पुरुषकार का विराम है, किन्तु उससे पूर्व प्राण निरोध आदि पुरुषकार का अवलम्बन करना ही पड़ता है, अतः मोक्ष भी अपौरुषेय नहीं है, वह भी योगानुष्ठान आदि प्राण निरोधस्वरूप पुरुषकार का ही फल है ॥ ३० ॥

इसलिए शास्त्रीय पौरुष में तत्पर होना कल्याण का साधन होने से साधनरूप से श्रेयस्कर है और अत्यन्त अकर्मण्यतारूप मोक्ष फलरूप से श्रेय है—इन फल और साधन रूप श्रेयों की अपेक्षा ज्ञानियों का पक्ष सबल है, अर्थात् कार्य सहित अविद्या के विनाश में समर्थ है, इस तरह दुःखरहित ही उनकी नियति है आशय यह है कि साधन के समय शास्त्रीय पुरुषकार का अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है एवं सिद्धि के समय उनके फल स्थानीय अत्यन्त निष्कर्मात्म मोक्ष परम श्रेय है, साध्य और साधन दोनों अवस्थाओं के मध्य में जो ज्ञानियों की अवस्था है, वह अतिशय प्रबल है, महात्माओं की वह सिद्धि रूप नियति में दुःख का लेश भी नहीं रहता है, दुःख शून्य ब्रह्म सत्ता का ही स्फुरण होता है, वह अविद्या विनाशिनी होने से प्रबल है ॥ ३१ ॥

जो यह दुःख रहित नियति है, वह यदि ब्रह्मसत्ता की स्फूर्ति विशेष में प्रयत्न से स्थिर की जाय, तो वही परम शुद्ध नामक परमगति परम पद सुसम्पन्न होता है ॥ ३२ ॥

सर्वव्यापक ब्रह्म ही पूर्वोक्त नियति के विलासों से जो कभी नष्ट नहीं होते वैसे ही स्फुरित होता है जैसे पृथिवी के अन्दर स्थित जल की सत्ता (द्रवता) तृण, लता, वृक्ष, झाड़ियों से स्फुरित होती हैं ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में दैवशब्दार्थनिरूपण नामक कुसुमलता का बासठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६२ ॥

६३

श्रीवसिष्ठ उवाच

यदेतद् ब्रह्मतत्त्वं सर्वथा सर्वदैव सर्वत एव सर्वशक्ति सर्वाकारं सर्वेश्वरं सर्वगं सर्वमेवेति ॥ १ ॥

६३

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—यह माया शबल ब्रह्म सभी प्रकार से अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओं के रूप से सभी समय सभी स्थानों में सब पदार्थों का रूप धारण करने में समर्थ है इसलिए सर्वाकार सर्वज्ञ होने के कारण सबका नियमन करने मे समर्थ है क्योंकि वह सर्वेश्वर, सर्वव्यापक और सर्वस्वरूप है ॥ १ ॥

एष त्वात्मा सर्वशक्तित्वाच्च क्वचिच्चिच्छक्ति प्रकटयति क्वचिच्छान्ति क्वचिज्जडशक्ति क्वचिदुल्लासं क्वचित्किञ्चिन्न किञ्चित् प्रकटयति ॥ २ ॥

यत्र यदा यदेवासौ यथा भावयति तत्र तदा तदेवाऽसौ प्रपश्यति ॥ ३ ॥

सर्वशक्तेर्हि या यैव यथोदेति तथैव सा ॥ ४ ॥

तदाऽस्ति शक्तिर्नाना रूपिणी सा स्वभावत इमाः शक्तयोऽयमात्मेति ॥ ५ ॥

यह आत्मा है और सर्वशक्तिशाली है आत्मा व्यापक होने से और सर्वशक्तिशाली होने से यह विप्रकर्ष और तटस्थता से शून्य है।

शङ्का—यदि वह सबका आत्मा और सर्वशक्तिशाली है तो सबको सर्वत्र प्रकट क्यों नहीं करेगा ?

समाधान—सबको सर्वत्र प्रकट नहीं करता, क्योंकि सर्वशक्तिशाली होने पर भी कहीं पर यानी अन्तःकरण रूप उपाधि में जीवरूप से प्रवेश होने पर चित्शक्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (सात्त्विक उपाधि में) प्रवेश करने से शान्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (तामस उपाधि में) प्रवेश करने से जड़शक्ति को प्रकट करता है, कहीं पर (राजसोपाधि में) राग, लोभ आदि वृत्तियों का उल्लास प्रकरता है, कहीं पर कुछ यानी मिश्रित गुणों का कार्य होने से विशेष रूप से कथन के जयोग्य प्रकट करता है और सुषुप्ति और प्रलय में कुछ भी प्रकट नहीं करता ॥ २ ॥

वह ब्रह्म ही आत्मा है, वह आत्मा सर्वशक्ति सम्पन्न होने के कारण कहीं चित् शक्ति और कहीं जड़ शक्ति एवं किसी आधार में उल्लास शक्ति स्वरूप में प्रकाशित होता है। कहीं पर किसी भी रूप में अपने को प्रकाशित नहीं करता है। इसका आशय व्यक्त करते हुए ग्रन्थमाला के अनुवाद में यह कहा गया है।

विभिन्न स्थानों में उसके विभिन्न रूप से प्रकट होने में उसकी सत्य सङ्कल्पता ही कारण है, ऐसा कहते हैं—'यत्र' इत्यादि से।

जिस स्थान में, जिस काल में जिसकी जिस प्रकार से यह भावना करता है, वहाँ पर उस समय उसको वैसा देखता है ॥ ३ ॥

शक्तियों के आविर्भाव के अनुरूप ही इसकी विचित्ररूप से स्थिति है, ऐसा कहते हैं—'सर्वशक्तेर्हि०' इत्यादि से।

एवं विकल्पजालं व्यवहारार्थं धीमद्भिः परिकल्पितं लोके न त्वात्मनि विद्यते भेदः ॥ ६ ॥

यथोर्मितरङ्गपयसां सागरे कटकाङ्गदकेयूरैर्वा हेम्नः। अवयवावयविनोः संवित्काल्पनिकी द्विता न वास्तवी ॥ ७ ॥

यथा यच्चेत्यते हि तथैव तन्न बाह्यतो नाऽन्तरतश्चैतत् समुदेति हि ॥ ८ ॥

सर्वात्मत्वात् समाभासं क्वचित्किञ्चित् प्रपश्यति ॥९॥

सर्वशक्तिमान् परमात्मा से जो शक्ति जिस रूप में उदित होतीहै वह वैसा ही होता है ॥ ४ ॥

तब वह शक्ति स्वभाव से ही नाना प्रकार के रूप वाली होती है।

शङ्का—यह शक्ति और शक्तिमान् के भेद की कल्पना व्यवहार दृष्टि से ही है या परमार्थरूप से भी है ?

समाधान—शक्ति और शक्तिमान् के भेद की कल्पना व्यवहार दृष्टि से ही है परमार्थ दृष्टि से नहीं। परमार्थ दृष्टि से तो ये शक्तियाँ आत्मरूप हैं ॥ ५ ॥

ब्रह्म ही विभिन्न रूप की शक्तियाँ उससे स्वभावतः अभिन्न होने पर भी भेद कल्पनापूर्वक व्यवहार में प्रवृत्त होती है, अर्थात् व्यवहार की दृष्टि से वह अनेक प्रकार की है, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से एक है। ग्रन्थमाला का अनुवाद यह है।

बुद्धिमानों ने लौकिक व्यवहार की सिद्धि के लिए इस प्रकार भेद की कल्पना की है, आत्मा में भेद नहीं है ॥ ६ ॥

यह आत्मभेद वैसे ही वास्तविक नहीं है, जैसे सागर में छोटी-बड़ी तरङ्ग और जल का, कंकण, बाजूबन्द आदि अलङ्कारों से सोने का अवयव तथा अवयवी का परस्पर भेद वास्तविक नहीं है, किन्तु व्युत्पादक पुरुष की बुद्धि से परिकल्पित है ॥ ७ ॥

जिस प्रकार की बुद्धि परिणत होती है, ब्रह्म का उसी रूप में बाह्य और अन्दर से प्रतिभात होता है। आशय यह है कि क्योंकि जो रज्जु आदि पदार्थ जिस प्रकार से अर्थात् सर्प के आकार से प्रतीत होता है, वह उसी प्रकार का विवर्तरूप से होता है, न कि परमार्थरूप से, क्योंकि यह सर्प आदि रज्जु आदि के न तो बाहर उदित होता है और न भीतर ॥ ८ ॥

सर्वात्मा होने से सर्वसाक्षी और सर्वद्रष्टा है अर्थात् सर्वसाधारण को प्रकाशित करनेवाला साक्षिचैतन्य भोक्ता

सर्वाकारमयं ब्रह्मैवेदं ततं मिथ्याज्ञानवद्भिः शक्तिशक्तिमत्त्वे अवयवावयविरूपे कल्पिते न पारमार्थिके ॥ १० ॥

सद्वा भवत्वसद्वा चिद्यत्सङ्कल्पयत्यभिनिविशति तत्तत्पश्यति सकला तत्सद्ब्रह्मैव चिद् भाति ॥ ११ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० चित्तविकारो नाम त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥

के अदृष्ट से उद्बुद्ध होकर कहींपर कुछ ही वस्तु को भ्रान्ति से देखता है, न तो सब ठौर उसी को देखता है और न स्वरूप को ही देखता है ॥ ९ ॥

मिथ्याज्ञानवाले व्यक्तियों ने शक्ति और शक्तिमान्, अवयव और अवयवी, इस प्रकार से भेद की कल्पना की है, यह भेद पारमार्थिक नहीं है परमार्थदृष्टि से विस्तृत यह प्रपञ्च ब्रह्म ही है ॥ १० ॥

अनादि अनन्त मिथ्या ज्ञान सत्=साधु या असत्=असाधु जो कुछ कर्त्तव्य के रूप में निश्चित करता है मिथ्याज्ञान से उपहृत चित्त वही करता है और भावी फल नहीं देखता है अतः ब्रह्म चैतन्य ही प्रकाशमान है, अन्य नहीं। आशय यह है कि मिथ्याज्ञान से उपहित चित्, शास्त्रानुकूल, शास्त्रविरुद्ध, जिसको कर्त्तव्य के रूप में संकल्प करती है, उस विषय में उद्यत होती है, अभिनिवेश से तत्-तत् विहित या निषिद्ध कर्म का सम्पादन कर उसके फलभोगकाल में उसको देखती है। प्रथम सृष्टिसंकल्प से लेकर भूत-भौतिक देहों से भोग्य आदि सृष्टि से पुरुषभोगपर्यन्त सकल प्रपञ्चरूप ब्रह्मचित् ही है ॥ ११ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में चित्तविकार नामक कुसुमलता का तिरेसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६३ ॥

६४

श्रीवसिष्ठ उवाच

योऽयं सर्वगतो देवः परमात्मा महेश्वरः ।
स्वच्छः स्वानुभवानन्दस्वरूपोऽन्तादिवर्जितः ॥ १ ॥

एतस्मात् परमानन्दाच्छुद्धचिन्मात्ररूपिणः ।
जीवः संजायते पूर्वं स चित्तं चित्ततो जगत् ॥ २ ॥

श्रीराम उवाच

स्वानुभूतिप्रमाणेऽस्मिन् ब्रह्मणि ब्रह्मबृंहिते ।
कथं सत्तामवाप्नोति जीवको द्वैतवर्जिते ॥ ३ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

असदाभासमच्छात्म ब्रह्मास्तीह प्रबृंहितम् ।
बृहच्चिद्भैरववपुरानन्दाभिधमव्ययम् ॥ ४ ॥

६४

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जो यह सर्वव्यापी सर्वगत अर्थात् घट-घटव्यापी स्वयंप्रकाश, कारणों का भी कारण, महामहिमशाली, विशुद्ध, जन्म और विनाश से रहित आत्मज्ञानानन्दरूप परमात्मा है, शुद्ध चैतन्यस्वरूपी इसी परमात्मानन्द से नामरूपविस्पष्टकरणरूप जगत् की सृष्टि से पहले उत्पत्ति से जीव उत्पन्न होता है, वही उपाधि की प्रधानता से चित्त कहलाता है, उससे यह जगत् उत्पन्न हुआ है ॥ १, २ ॥

अखण्ड अद्वितीय स्वप्रकाश ब्रह्म में सखण्ड सद्वितीय जीवसत्ता कैसे उत्पन्न हो सकती है, इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी शङ्का करते हैं—'स्वानुभूति०' इत्यादि से।

स्वप्रकाश अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म में जीव की पृथक् सत्ता कैसे उत्पन्न होती है ॥ ३ ॥

सत्यस्वरूप अविद्यासम्बन्धिशून्य ब्रह्म में परमार्थदृष्टि से जीवसत्ता का सम्भव नहीं है किन्तु अविद्यासंवलित ब्रह्म में जीवसत्ता होने में कोई विरोध नहीं है, इस प्रकार विभाग करके कहने की इच्छा करनेवाले श्रीवसिष्ठजी पहले ब्रह्म के साधारण स्वरूप को कहते हैं—'असत्' इत्यादि से।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—यहाँ विशुद्ध व्यापक आत्मा ब्रह्म ही सर्वत्र परिव्याप्त है। द्वैतप्रतीतियाँ असत् हैं, वह असीम चैतन्यस्वरूप, अविनाशी और आनन्दस्वरूप है। अज्ञानी के लिए उसका स्वरूप भैरव अर्थात् बड़ा भयङ्कर है ॥ ४ ॥

तस्य यत्सममापूर्णं शुद्धं सत्त्वमचिह्नितम् ।
तद्विदामप्यनिर्देश्यं तच्छान्तं परमं पदम् ॥ ५ ॥
तस्यैवोद्यदिवाऽऽशान्ति यत्सत्त्वं संविदात्मकम् ।
स्वभावात् स्पन्दनं तत्तु जीवशब्देन कथ्यते ॥ ६ ॥
तत्रेमाः परमादर्शे चिद्व्योम्न्यनुभवात्मिकाः ।
असंख्याः प्रतिबिम्बन्ति जगज्जालपरम्पराः ॥ ७ ॥
ब्रह्मणः स्फुरणं किञ्चिद्यदवाताम्बुधेरिव ।
दीपस्येवाऽप्यवातस्य तं जीवं विद्धि राघव ! ॥ ८ ॥
शान्तत्वापगमेच्छस्य मनाक्संवेदनात्मकम् ।
स्वाभाविकं यत्स्फुरणं चिद्व्योम्नः सोऽङ्ग जीवकः ॥९॥

उनमें से पहले को दर्शाते हैं—'तस्य' इत्यादि से ।

उसके सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिह्नरहित सत्स्वरूप जिसका ज्ञानी भी निर्देश नहीं कर सकते, वह शान्त परम पद है ॥ ५ ॥

मोक्ष होने से पूर्व उद्भव बीज की सत्ता होने से, उदित अर्थात् उत्पन्न होने के समान उपाधिस्वभाव से जो चलनशक्त्यात्मक अर्थात् प्राणधारणरूप संविदात्मक सत्त्वरूप है, वही जीवशब्द से कहा जाता है ॥ ६ ॥

परम आदर्शरूप चिदाकाश में अनुभवरूप इन अनन्त जगज्जालपरम्पराओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है अर्थात् उसी में नामरूप व्याकृत होता है आशय यह है कि चिन्मय आनन्दस्वरूप अव्यय एकमात्र ब्रह्म ही नित्य अवस्थित है वह शुद्ध, शान्त, परमपद ज्ञानियों के द्वारा भी अनिर्देश्य है, परब्रह्म का रूप सम्विदात्मक प्राण धारणात्मक और चयनशक्ति सम्पन्न अर्थात् जो रूप अविद्यांश सत्त्वगुण के उद्रेक से उत्पन्न के समान व्यक्त होता है, बुद्धि के आविर्भाव में परब्रह्म का परमत्व प्रच्छादित अर्थात् आवृत=परिच्छिन्नप्राय होकर घटित होता है, ब्रह्म का यह आविर्भूतरूप जीवनाम से कहा जाता है, अतः अविद्या के उद्रेक के बिना और कुछ भी नहीं है, मुक्ति होने से पूर्व तक जीव नाम से कहा जाता है, यह चिद्व्योमरूपी परमदर्पण से यह अनुभवात्मक असंख्य जगत् प्रतिविम्बित होता है ॥ ७ ॥

वायुरहित सागर के कुछ स्फुरण के समान तथा निर्वात स्थान में जले दीप के स्फुरण के समान ब्रह्म का जो स्फुरण है, उसे ही आप जीव समझें अर्थात् जगत् की वैचित्र्यकल्पना के अनुरूप क्रियाशक्ति प्रधान बनना ही चित् का जीव भाव है ॥ ८ ॥

निर्मल चिदाकाश का प्राणाधीन चलनाभ्यास होने से स्वाभाविक निष्क्रियता के आवृत होनेपर अल्पसंवेदन अर्थात् परिच्छेद भ्रान्ति अहम् के रूप में उदित होता है, वही जीव है, आशय यह है कि निर्मल निष्क्रिय ब्रह्म का निष्क्रियत्व प्रच्छादित होनेपर अल्पसंवेदन अर्थात् परिच्छिन्न भ्रम, अहं का उदय होता है, इसलिए जीव को तदात्मक स्वरूप ही समझें यह जीवब्रह्म का स्वाभाविक परिस्फुरण है ॥ ९ ॥

यथा वातस्य चलनं कृशानोरुष्णता यथा ।
शीतता वा तुषारस्य तथा जीवत्वमात्मनः ॥ १० ॥
चिद्रूपस्याऽऽत्मतत्त्वस्य स्वभाववशतः स्वयम् ।
मनाक्संवेदनमिव यत्तज्जीव इति स्मृतम् ॥ ११ ॥
तदेव घनसंवित्त्या यात्यहन्तामनुक्रमात् ।
वह्न्यणुः स्वेन्धनाधिक्यात् स्वां प्रकाशकतामिव ॥१२॥
यथा स्वतारकामार्गे व्योम्नः स्फुरति नीलिमा ।
शून्यस्याऽप्यस्य जीवस्य तथाऽहंभावभावना ॥ १३ ॥
जीवोऽहंकृतिमादत्ते सङ्कल्पकलयेद्धया ।
स्वयैतया घनतमा नीलिमानमिवाऽम्बरम् ॥ १४ ॥

जैसे वायु का चञ्चलता, अग्नि की उष्णता और हिम की शीतलता स्वाभाविक है, वैसे ही आत्मा का जीवत्व भी स्वाभाविक है अर्थात् जीवात्मा का जीवत्व जबतक मोक्ष नहीं होता, तबतक स्वाभाविक है ॥ १० ॥

चिद्घन आत्मतत्त्व का स्वयं अपने स्वरूप के अपरिज्ञान के कारण अल्पज्ञान के समान ज्ञानस्वरूप की परिच्छिन्नता के रूप में है, वही जीव नाम से कहा जाता है ॥ ११ ॥

वही जीव क्रमशः वासना की दृढ़ता से अहङ्कारता को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे अग्नि की चिनगारी अपने को उद्दीप्त करनेवाले ईंधन घी, तेल आदि की अधिकता से अपनी स्वाभाविक प्रकाशता को प्राप्त होती है ॥ १२ ॥

अहन्ता से रहित भी जीव की अपने अगोचर अपनी आत्मा में वैसे ही अहंभावना होती है जैसे दर्शक पुरुष द्वारा अपने नेत्रों के गोचर न होनेवाले आकाशभाग में गतिशील नेत्र जहाँतक पहुँच सकता है, वहाँतक नीलिमा नहीं देखता जहाँपर पहुँच कर आगे बढ़ने से असमर्थ होता है, वहाँ से आगे उसका मार्ग नीला दिखाई देता है ॥ १३ ॥

अपने पूर्व सङ्कल्प के संस्कार से जाग्रत् हुई अपने में अध्यस्त इस इन्द्रनील शिला के सदृश निबिड़ता से जीव

अहंभावो हि दिक्कालव्यवच्छेदी कृताकृतिः ।
स्वयंसङ्कल्पवशतो वातस्पन्द इव स्फुरन् ॥ १५ ॥
सङ्कल्पोन्मुखतां यातस्त्वहङ्काराभिधः स्थितः ।
चित्तं जीवो मनो माया प्रकृतिश्चेति नामभिः ॥ १६ ॥
तत्सङ्कल्पात्मकं चेतो भूततन्मात्रकल्पनम् ।
कुर्वंस्ततो व्रजत्येव सङ्कल्पाद्याति पञ्चताम् ॥ १७ ॥
तन्मात्रपञ्चकाकारं चित्तं तेजःकणो भवेत् ।
अजातजगति व्योम्नि तारका पेलवा यथा ॥ १८ ॥
तेजःकणत्वमादत्ते चित्तं तन्मात्रकल्पनात् ।

वैसे ही अहङ्कार को ग्रहण करता है जैसे आकाश अपनी निविड़ता से=घनत्व से नीलिमा को प्राप्त होता है ॥१४॥

वायु के स्पन्दन के समान स्फुरित हुआ अहंभाव आत्मा का दैशिक और कालिक परिच्छेद करता है तथा स्वयं सङ्कल्पवश देह आदि का आकार धारण करता है ॥ १५ ॥

वही अहम्भाव वायु के स्पन्दन के समान देश, काल आदि के रूप में प्रस्फुरित चित्त, जीव, मन, माया और प्रकृति के नाम से कहा जाता है। ग्रन्थमाला के अनुवाद में कहा गया है : वही अहङ्कार सङ्कल्पोन्मुख होकर अहङ्काररूप से रुद्र, चित्तरूप से विष्णु और जीवरूप से ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध है तथा क्रमशः उनके ही मन, माया, प्रकृति—ये क्रियानाम हैं ॥ १६ ॥

उनमें सङ्कल्पात्मक चित्त अर्थात् ब्रह्मा सङ्कल्प से भूततन्मात्राओं की कल्पना कर चेतनात्मक पूर्व अवस्था से अवश्य च्युत होकर जड़ प्रपञ्चरूप होता है ॥ १७ ॥

पञ्चभूततन्मात्रता को प्राप्त चित्त=ब्रह्म तेजःकण बनता है। ब्रह्मभाव से अत्यल्प होने के कारण उसे कण कहा गया है। जिस आकाश में जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई है वहाँ वह तेजःकण मन्द प्रकाशवाले तारे के समान प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

अपने स्पन्दन से धीरे-धीरे पञ्चतन्मात्राओं की कल्पना करने के बाद चित्त तेजःकणता को वैसे ही धारण करता है जैसे बीज अपने स्पन्दन से धीरे-धीरे अङ्कुरित होता है ॥ १९ ॥

पूर्वकल्प में विराड् में आत्मोपासना करने से संस्कृत हुए जीव को स्थूलसमष्टिरूप हिरण्यगर्भता प्राप्त होती है, उससे अन्य को, व्यष्टि देह में अहम्भाव का संस्कार होने से, व्यष्टि स्थूल देह में अहंभाव प्राप्त होता है, इस प्रकार अन्तर कहते हैं—'असौ' इत्यादि से।

शनैः स्वस्मात् परिस्पन्दाद्बीजमङ्कुरतामिव ॥ १९ ॥
असौ तेजःकणोऽण्डाख्यः कल्पनात् कश्चिदण्डताम् ।
प्रयात्यन्तःस्फुरद्ब्रह्मा जलमापिण्डतामिव ॥ २० ॥
कश्चिद् द्रागिति देहादिकलनाद्याति देहताम् ।
भ्रान्तित्वं तदतद्रूपं गन्धर्वैश्च वसत्पुरम् ॥ २१ ॥
कश्चित्स्थावरतामेति कश्चिज्जङ्गमतामपि ।
कश्चिद्याति खचार्यादिरूपं सङ्कल्पतः स्वतः ॥ २२ ॥
सर्गादावादिजो देहो जीवः सङ्कल्पसम्भवः ।
क्रमेण पदमासाद्य वैरिञ्चं कुरुते जगत् ॥ २३ ॥

अण्डनाम को प्राप्त हुआ वह तेजःकण, जिसके अन्दर श्रीब्रह्मा विराजमान रहते हैं, पूर्वजन्म में मैं अण्ड हूँ, इस प्रकार अण्डरूप से आत्मभावना करने से वैसे ही अण्डता को प्राप्त होता है जैसे जल जमने के कारण हिमरूप से तथा ओले के रूप से घनत्व=कठिनत्व को प्राप्त करता है ॥ २० ॥

कोइ वर्तमान में उपासक नहीं है, किन्तु पुण्यात्मा है, दिव्य देह आदि के सङ्कल्प से शीघ्र ही देव आदि के शरीर को प्राप्तकर लेता है। उस शरीर अहं स्वरूप नहीं है, उसमें अहं का ज्ञान होने से अहं की भ्रान्ति होती है, अर्थात् जो जिसरूप में नहीं है उसका उस रूप में ज्ञानरूप भ्रान्ति होती है और गन्धर्वों से या देवों की निवासभूमि अलका या अमरावती में जाते हैं ॥ २१ ॥

दिव्य शरीर की भावना करने से शीघ्र ही देव आदि शरीरत्व और कभी सङ्कल्प के अनुसार देवत्व और गन्धर्वत्व, कभी स्थावरत्व, कभी जङ्गमत्व, कभी आकाश बिहारी पक्षित्व, राक्षसत्व और कभी पिशाचादित्व को प्राप्त करता है। आशय यह है कि कोई पापी पुरुष अपने सङ्कल्प से स्वयं वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त करता है, कोई पशु पक्षी आदि जङ्गम योनियों में प्राप्त करता है, कोई राक्षस, पिशाच आदि खेचर योनियों का प्राप्त करता है, अपने सङ्कल्पानुसार सबको स्वतः ही वे योनियाँ प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

सृष्टि के आदि में सूक्ष्म देहसमष्टिरूप उपाधि और अपने सङ्कल्प से ही प्रथम उत्पन्न ब्रह्मारूपी जीव, क्रमशः विरञ्चिका पद प्राप्त कर अपने सङ्कल्प से अण्ड के भीतर जगत् की सृष्टि करता है ॥ २३ ॥

ब्रह्मा की सत्यसङ्कल्पता में पूर्व कल्प के सत्यसङ्कल्प ब्रह्मा की तादात्म्योपासना यानी 'सत्यसङ्कल्प ब्रह्मा ही मैं हूँ' यह उपासना हेतु है, ऐसा कहते हैं—'आत्मभू०' इत्यादि से।

आत्मभूकलनात्माऽसौ यत्सङ्कल्पयति क्षणात् ।
तत्स्वभाववशादेव जातमेव प्रपश्यति ॥ २४ ॥
चित्स्वभावात् समायातं ब्रह्मत्वं सर्वकारणम् ।
संसृतौ कारणं पश्चात् कर्म निर्माय संस्थितम् ॥ २५ ॥
चित्तं स्वभावात् स्फुरति चितः फेन इवाऽम्भसः ।
कर्मभिर्बध्यते पश्चाड्डिण्डीरमिव रज्जुभिः ॥ २६ ॥
सङ्कल्पः कलनाबीजं तदात्मैव हि जीवकः ।
कर्म पश्चात्तनोत्युच्चैरुत्थायाऽकर्मतः क्रमात् ॥ २७ ॥
क्रोडीकृताङ्कुरं पूर्वं जीवो धत्ते स्वजीवितम् ।
पश्चान्नानात्वमायाति पत्राङ्कुरफलक्रमैः ॥ २८ ॥
अन्ये स्व एव ये जीवा एवमेवाऽऽकृतिं गताः ।
पूर्वोत्पन्ने जगति ते यान्ति भूताश्रयां स्थितिम् ॥ २९ ॥
स्वकर्मभिस्ततो जन्ममृतिकारणतां गतैः ।
प्रयान्त्यूर्ध्वमधस्ताद्वा कर्म चित्स्पन्द उच्यते ॥ ३० ॥
चित्स्पन्दनं भवति कर्म तदेव दैवं
चित्तं तदेव भवतीह शुभाशुभादि ।
तस्माज्जगन्ति भुवनानि भवन्ति पूर्वं
भूत्वा निजाङ्कुसुमानि तरोरिवाऽऽद्यात् ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० बीजाङ्कुरयोगनिर्णयो नाम चतुःषष्टितमः सर्गः ।६४।

पूर्वकल्प के सत्यसङ्कल्प ब्रह्मा की तादात्म्योपासना से अर्थात् सत्यसङ्कल्प ब्रह्मा मैं ही हूँ इस रूप में सत्यसङ्कल्प ब्रह्म की तादात्म्य भावना रूपी उपासना से उत्पन्न यह ब्रह्मा जिस पदार्थ का सङ्कल्प करते हैं, उसे शीघ्र ही अपने सत्यसङ्कल्पतारूप स्वभाव के कारण उत्पन्न ही देखते हैं ॥ २४ ॥

पहले चिदात्मा नामरूपात्मक दो धर्मवाले जगत् की प्रख्याति में कारण होता है, चलन (क्रिया), विकार आदि में पश्चात्-भावी कर्म कारण होता है, ऐसा कहते हैं—'चित्स्वभावात्' इत्यादि से ।

ब्रह्म चैतन्यस्वभाव से अर्थात् चित्स्वरूपत्वरूप से सर्वकारणत्व और ब्रह्मत्व को प्राप्त कर अनन्तर संसार का कारण होकर कार्य के निर्माण में कारण होते हैं आशय यह है कि प्रथम चिदात्मा नामरूपात्मक जगत् की प्रख्यति में साधन होता है पुनः स्पन्दन क्रिया विकार आदि के बाद भावी कर्म के अनुरूप निर्माण का कारण होता है ॥ २५ ॥

जैसे जल अपने स्वभाव के अधीन फेन के रूप में व्यक्त होता है, वैसे ही स्वभाव के प्रभाव से चित्त से ही चित्त=जीव का प्रस्फुरण होता है, जल में कोई आबद्ध नहीं होता है, किन्तु जल से उत्पन्न फेन नौकादि रस्सी से बद्ध होता है, वैसे ही स्वतः बद्ध स्वभाव न होने पर भी वह कर्मरूपी रस्सी से आबद्ध होता है ॥ २६ ॥

आशय यह है कि लोक में देखा जाता है कि जो कोई कर्म करता है, वह पहले संकल्प करता है, तदुपरान्त व्यापार से घट आदि की रचना करता है, इससे क्रम की सिद्धि में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता ।

किसी कल्पना=रचना का संकल्प मूल कारण है, संकल्प के बिना रचना हो ही नहीं सकती है इसलिए आत्मा ही जीव बनकर निष्क्रिय=निर्व्यापार आत्मा से क्रमशः पृथक् होकर कर्म करता है ॥ २७ ॥

हिरण्यगर्भ जीव अनेकता को वैसे ही प्राप्त होता है जैसे बीज में स्थित जीव अपने जीवित को, जिसने सूक्ष्मरूप से पहले अपने अन्दर अङ्कुर को धारण कर रक्खा है, धारण करता है, पीछे अङ्कुर, पत्ते, तना, शाखा, टहनियाँ, पल्लव, पुष्प और फल के क्रम से नानात्व को प्राप्त होता है, आशय यह है कि पीछे होनेवाले कर्म पहले जीव में बीज में अङ्कुर के तुल्य वासनारूप से स्थित का ही आविष्कार करते हैं, किसी अपूर्व का आविष्कार नहीं करते हैं ॥ २८ ॥

अन्य व्यष्टि-जीव भी इसी प्रकार अपने में वासना रूप से स्थित देह आदि के आकार को प्राप्त करते हैं । अन्तर इतना ही है कि वे हिरण्यगर्भ जीव के संकल्प से पहले उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड में माता-पितादिरूप भूत आश्रय निमित्तक देह की स्थिति प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

अनन्तर जन्म और मृत्यु की कारणता को प्राप्त कर अपने कर्मों के अनुसार ऊँची योनियों को या नीची योनियों को प्राप्त करते हैं । चित् का जो स्पन्दन है, वह कर्म कहलाता है ॥ ३० ॥

सारांश यह कि इस लोक में चित् का जो स्पन्दन स्फुरण है, वही शुभाशुभ रूप कर्म है, वही दैव भी कहलाता है और वही चित्त है । पुनः पुनः कारण भूत ब्रह्म से चित्स्पन्दरूप शुभाशुभ कर्मवश भोक्ता रूप प्राणियों का समुदाय तथा उनके आधार और भोग्य भुवनों की फिर-फिर वैसे ही उत्पत्ति होती है जैसे वृक्ष से उसके अवयवरूप शाखा, पत्ते, फूल, फल आदि पहले उत्पन्न होकर पुनः पुनः होते हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में बीजांकुरयोगनिर्णय नामक कुसुमलता का चौसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६४ ॥

६५

श्रीवसिष्ठ उवाच

परस्मात् कारणादेव मनः प्रथममुत्थितम् ।
मननात्मकमाभोगि तस्थमेव स्थितिं गतम् ॥ १ ॥
भावाभावलसद्दोलं तेनाऽयमवलोक्यते ।
सर्गः सदसदाभासः पूर्वगन्ध इवेच्छया ॥ २ ॥
न कश्चिद्विद्यते भेदो द्वैतैक्यकलनात्मकः ।
ब्रह्मजीवमनोमायाकर्तृकर्मजगद्दृशाम् ॥ ३ ॥
अपारावारविस्तारसंवित्सलिलवल्गनैः ।
चिदेकार्णव एवाऽयं स्वयमात्मा विजृम्भते ॥ ४ ॥
असत्यमस्थैर्यवशात् सत्यं संप्रतिभासतः ।
यथा स्वप्नस्तथा चित्तं जगत्सदसदात्मकम् ॥ ५ ॥
न सन्नाऽसन्न संजातश्चेतसो जगतो भ्रमः ।
अथ धीसमवायानामिन्द्रजालमिवोत्थितः ॥ ६ ॥
दीर्घः स्वप्नः स्थितिं यातः संसाराख्यो मनोबलात् ।
असम्यग्दर्शनात् स्थाणाविव पुंस्प्रत्ययो मुधा ॥ ७ ॥
अनात्मालोकनाच्चित्तं चित्तत्वं नाऽनुशोचति ।
वेतालकल्पनाद् बाल इव सङ्कल्पिते भये ॥ ८ ॥

६५

सम्पूर्ण कल्पनाएँ चित् से अतिरिक्त नहीं हैं, यह कहने के लिए मूलभूत मन की उत्पत्ति और स्थिति कारण मात्र रूप ही है, ऐसा कहते हैं—'परस्मात्' इत्यादि से।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—परम कारण से ही मन पहले उत्पन्न हुआ है, वह मनन स्वभाव वाला है। सभी भोग्य पदार्थ मन में स्थित होकर ही स्थित है अर्थात् मनोमय हैं। आशय यह है कि जो दृश्य पदार्थ हैं, वे मन में ही स्थित हैं, वह मन भी परम कारण में स्थित है ॥ १ ॥

मन सङ्कल्प विकल्पात्मक है यह इस प्रकार होता है और यह इस प्रकार नहीं होता, इस प्रकार के भाव और अभाव के विषय में वह दोला के समान दायें और बायें घूमता है। जैसे पहले अनुभव में आई हुई सुगन्ध स्मरण करने पर वहाँ पर विद्यमान न होने पर भी मनोरथ से देखी जाती है, वैसे ही उस मन से सत् और असत् के तुल्य प्रतीत होने वाली यह सृष्टि देखी जाती है ॥२॥

मन के हट जाने पर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म, और जगत् की प्रतीतियों में कोई भेद नहीं रहता है सब द्वैतों के एक मात्र आश्रय के बल परमात्मा ही अवस्थित रहते हैं आशय यह है कि मन ही जब भेद दर्शन को कराता है तब मन के हट जाने पर केवल एक आत्मा के प्रतिष्ठित रहने से मन से कल्पित भेद भी हट जाता है ॥ ३ ॥

असीम विस्तारशील अर्थात् जिसके विस्तार का आर-पार नहीं है, इस प्रकार के संवित् रूपी जल के असीम प्रसारों से स्वरूप एक सागर यह आत्मा स्वयं विजृम्भित होता है अर्थात् भेद के नष्ट हो जाने पर अवशिष्ट आत्म स्वरूप ही शेष रहता है ॥ ४ ॥

चञ्चल अर्थात् अस्थिर होने से असत्य होते हुए भी अवभासित होने के कारण सत्य स्वरूप यह मनोमय जगत् स्वप्न के समान सत् और असत्रूप उभय स्वरूप है। जैसे स्वप्न के अस्थिर विषयों का बाध होने पर स्थिर जो स्वप्न द्रष्टा है, उसका परिशेष दिखाई देता है, वैसे ही यहां पर भी असत्य मनोमय पदार्थ को विज्ञान रूपी जागरण से बाध होने पर आश्रय स्वरूप ब्रह्म ही शेष रहता है आशय यह है कि चित्त और जगत् का बाध होने पर कैसे सत् का परिशेष होता है ? ऐसी शङ्का कर जगत् स्थिर और अस्थिर इन दो अंशों से संयुक्त होने के कारण सत् और असद्रूप है, अस्थिर अंश का बाध होने पर स्थिर अंश परिशिष्ट रहता है ॥ ५ ॥

जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न हुआ है, केवल चित्त का भ्रम है मिथ्या है। अर्थात् जगत् का चित्त के द्वारा दर्शन एक प्रकार से सत् है और अन्य प्रकार से असत् है, मन के द्वारा यह संसार रूपी दीर्घ काल स्थायी समझता है।

जैसे ऐन्द्रजालिक की माया से क्षुब्ध हुए अनेक लोगों को इन्द्रजाल से बनी वस्तु में एकाकारता प्रतीति होती है वैसे ही सामाजिकों को विविध बुद्धियों की एकाकारता भ्रम होता है ॥ ६ ॥

तब यह चिरकाल तक कैसे स्थिर रहता है ? इस पर कहते हैं—'दीर्घ' इत्यादि से।

मन द्वारा की गई आसक्ति के बल से संसार नाम का यह लम्बा स्वप्न अज्ञों को वैसे ही प्राप्त हुआ है जैसे भली भांति न देखने से अर्थात् असम्यग्दर्शी को स्थाणु में ठूंठ में व्यर्थ ही पुरुष की प्रतीति होती है ॥ ७ ॥

आत्मविषयक अज्ञान तथा अनात्माओं के दर्शन से चित्तभाव को प्राप्त आत्मा चित्तभाव से प्राप्त हुए अनर्थों

अनाख्यस्य स्वरूपस्य सर्वाशातिगतात्मनः ।
चेत्योन्मुखतया चित्तं चित्ताज्जीवत्वकल्पनम् ॥ ९ ॥
जीवत्वादप्यहंभावस्त्वहंभावाच्च चित्तता ।
चित्तत्वादिन्द्रियादित्वं ततो देहादिविभ्रमः ॥ १० ॥
देहादिमोहतः स्वर्गनरकौ मोक्षबन्धने ।
बीजाङ्कुरवदारम्भसंरूढे देहकर्मणोः ॥ ११ ॥
द्वैतं यथा नाऽस्ति चिदात्मजीवयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयोः ।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवचित्तयो-
स्तथैव भेदोऽस्ति न देहकर्मणोः ॥ १२ ॥
कर्मैव देहो ननु देह एव
चित्तं तदेवाऽहमितीह जीवः ।
स जीव एवेश्वरचित् स आत्मा
सर्वः शिवस्त्वेकपदोक्तमेतत् ॥ १३ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० जीवविचारो नाम पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

के लिए वैसे ही शोक नहीं करता है जैसे बालक स्वयं वेताल की कल्पना कर उससे होनेवाला भय मन में अच्छी तरह स्थिर हो जाने पर भय से परिपूर्णचित्त होने के कारण भय के हेतुभूत वेताल की कल्पनापर शोक नहीं करता है, अर्थात् मन परमात्म दर्शन के आभाव में मिथ्या जगत् को देखता है और तदनुरूप करता है ॥८॥

चिदात्मा का विषयोन्मुखतारूप स्वभाव ही विविध अनर्थों की जड़ है, ऐसा कहते हैं–'अनाख्यस्य' इत्यादिसे।

नामरहित, सम्पूर्ण दिशाओं को अतिक्रान्त करनेवाला यानी सर्वव्यापक आत्मा का विषयोन्मुखतारूप स्वभाव होने से उससे चित्त की उत्पत्ति होती है, चित्त से जीवत्व की उत्पत्ति होता है ॥ ९ ॥

जीवत्व से अहंभाव की कल्पना=उत्पत्ति होती है, अहंभाव से चित्तता होती है, चित्त की विषयतन्मात्रा से इन्द्रियाँ, उनसे देह आदि का भ्रम होता है ॥ १० ॥

देह आदि में आत्मत्वभ्रम से 'अहं मम' इस अभिमान से बीजाङ्कुर के समान नानाकार्यों ने पटु देह, कर्म; उनसे स्वर्ग और नरक तथा बन्ध और मोक्ष होता है, आशय यह है कि नामशून्य सर्वशक्ति स्वरूप आत्मा की विषय की ओर अर्थात् सृष्टि का उद्रेक प्रयुक्त चित्त से जीवत्व, जीवत्व से अहंभाव, अहम्भाव से चित्तता= चित्त की विषयतन्मात्रा, उससे इन्द्रियादि, इन्द्रियादि से देहादि, देहादि से मोह एवं तन्मात्र से बीज और अङ्कुर के समान आरम्भ संरूढ़ अर्थात् विविध कार्यों में पटु देह, कर्म और कर्मानुयायी बन्धन मोक्ष, स्वर्ग और नरकादि का विस्तार होता है, अतः, चिदात्मा की विषयोन्मुखता स्वभाव ही अनर्थों का कारण है ॥ ११ ॥

यह सारी-की-सारी अनर्थपरम्परा जीव और ब्रह्म में भेदभ्रम से उत्पन्न हुई है, उन दोनों की एकता के बाध से उक्त भ्रम के बाधित होनेपर बाधित हो जाती है, इस अभिप्राय से भेद का निषेध करते हैं—'द्वैतम्' इत्यादिसे।

जीव और चित्त में भी वैसे ही भेद नहीं है जैसे ही चिदात्मा (ब्रह्म) और जीव में भेद नहीं है, देह और कर्म में भी वैसे ही भेद नहीं है जैसे ही जीव और चित्त में भेद नहीं है आशय यह है कि सभी जीव और ब्रह्म में भेद भ्रम के कारण उत्पन्न है, अतः दोनों में अभेद= एकता होने पर यह अनर्थ ही समाप्त हो जाता है ॥ १२ ॥

वस्तुतः कर्म ही देह है, कर्म से भिन्नसत्ताविशिष्ट देह नहीं है, और देह ही चित्त है, वह चित्त ही यहाँ अहङ्कारविशिष्ट जीव है, वह ही ईश्वरचैतन्य है, वह आत्मा मङ्गल और सर्वात्मक है, यह सब एक पद से कहा गया है, आशय यह है कि चिदात्मा, ब्रह्म, और जीव ये तीनों वस्तुतः भिन्न नहीं है इसी प्रकार जीव और चित्त ये दोनों भी भिन्न नहीं हैं, जैसे जीव और चित्त अभिन्न हैं वैसे ही देह और कर्म परस्पर अभिन्न है, वस्तुतः कर्म ही देह है, कर्म से भिन्न सत्ता विशिष्ट देह नहीं है, क्योंकि कर्मरूपी अदृष्ट से देह की प्राप्ति होती है अतः कर्म ही चित्त है और वह चित्त ही अहन्ता भाव से विशिष्ट जीव है एवं जीव ही चित्त ही मङ्गल अर्थात् शिव=कल्याण स्वरूप है इस प्रकार एक पद से कहा गया है ॥ १३ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में जीवविचार नामक कुसुमलता का पैंसठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६५ ॥

६६

श्रीवसिष्ठ उवाच

एकमेकं परं वस्तु राम ! नानात्वमेत्यलम् ।
नानात्वमिव संजातं दीपाद्दीपशतं यथा ।। १ ।।
यथाभूतमसद्रूपमात्मानं यदि पश्यति ।
विचार्यतेऽन्तस्तदनुभावहीनं न शोचति ।। २ ।।
चित्तमात्रं नरस्तस्मिन् गते शान्तमिदं जगत् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः ।। ३ ।।
पत्रमात्रादृते नाऽन्यत् कदल्या विद्यते यथा ।
भ्रममात्रादृते नाऽन्यज्जयतो विद्यते तथा ।। ४ ।।
जायते बालतामेति यौवनं वार्द्धकं ततः ।
मृतिं स्वर्गं च नरकं भ्रमाच्चेतो हि नृत्यति ।। ५ ।।
विचित्रबुद्बुदोल्लासे स्वात्मनो व्यतिरेकिणि ।
यथा सुरायाः सामर्थ्यं तथा चित्तस्य संसृतौ ।। ६ ।।
यथा द्वित्वं शशाङ्कादौ पश्यत्यक्षि मलाविलम् ।
चिच्चेतनकलाक्रान्ता तथैव परमात्मनि ।। ७ ।।
यथा मदवशाद् भ्रान्तान् क्षीबः पश्यति पादपान् ।
तथा चेतनविक्षुब्धान् संसारांश्चित् प्रपश्यति ।। ८ ।।
यथा लीलाभ्रमाद्बालाः कुम्भकृच्चक्रवज्जगत् ।
भ्रान्तं पश्यन्ति चित्तात्तु विद्धि दृश्यं तथैव हि ।। ९ ।।
यदा चिच्चेतति द्वित्वं तदा द्वैतैक्यविभ्रमः ।
यदा न चेतति द्वैतं तदा द्वैतैक्ययोः क्षयः ।। १० ।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—हे श्रीरामचन्द्र ! जैसे एक दीपक से अनेक सौ दीपक होते हैं, वैसे ही अद्वितीय परम वस्तु चिदात्मा ही अनेक रूप को प्राप्त करता है । अर्थात् केवल चेत्य=विषय ही नाना नहीं है, किन्तु चित् में प्रत्येक उपाधि के भेद से नानात्व के समान हो गया है ।। १ ।।

इस गूढ़ आशय से कहते हैं—'यथाभूतम्' इत्यादि से ।

यदि पुरुष यथास्थित=अनारोपितरूप तथा नामरूप से शून्य आत्मा का मनन करता है अपने अन्त:करण में द्वैत के आग्रह से रहित होता है तो वह वैसा ही उसे देखता है, तब वह शोक नहीं करता है । अर्थात् चित्त-कर्तृत्व जीवत्व कल्पना और तत्त्वबोध अर्थात् जीवत्वज्ञान होनेपर मोक्ष होता है, कारण, आत्म नामरूप से रहित है, चित् का चित्त के अधीन जीवत्व की कल्पना से बन्ध होता है, चित्त के अधीन विचार और तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है ।। २ ।।

यदि कोई शङ्का करे कि विचार से चित्त की शान्ति होनेपर कैसे सब द्वैत की शान्ति होती है ? इसपर कहते हैं—'चित्तमात्रम्' इत्यादि से ।

जीव चित्तमात्र ही है, अर्थात् चित्त से अतिरिक्त नहीं है, चित्त के हट जानेपर यह जगत् शान्त हो जाता है, जिस पुरुष के चरण जूते से आवृत्त रहते हैं, वह समझता है कि सारी पृथिवी चमड़े से आच्छन्न है अर्थात् जिसका चित्त से छुटकारा हो जाता है उसकी दृष्टि में जगत् असत् है विचार से चित्त की शान्ति और ऐसी स्थिति में जगत् के मिथ्या होने से द्वैत शान्त हो जाता है, अद्वय ब्रह्म रह जाता है ।। ३ ।।

जगत् में भी केवल भ्रम को छोड़कर वैसे ही और कुछ नहीं रहता है जैसे केले के वृक्ष में पत्तों को छोड़कर और कुछ भी नहीं रहता ।। ४ ।।

पैदा होता है, बालक बनता है, जवान होता है, फिर बुढ़ापा आता है, अनन्तर मरण, स्वर्ग और नरक को प्राप्त करता है, यह सब भ्रमवश चित्त का नृत्य है ।। ५ ।।

ब्रह्माण्डरूपी अनन्त बुद्बुद्रूप तथा आत्मा से अभिन्न संसार को उत्पन्न करने में चित्त वैसे ही समर्थ है जैसे आकाश में अनेक हजार बुद्बुद् के आकार की भ्रान्ति उत्पन्न करने में मद्य समर्थ है ।। ६ ।।

चित्त की कला अर्थात् भ्रान्ति जनन शक्ति से आक्रान्त अर्थात् पराधीन जीवचित् परमात्मा में द्वित्व को वैसे ही देखता है जैसे मल कलुषित नेत्र एक चन्द्र में द्वित्व देखता है ।। ७ ।।

जीवचित् चित्त से विक्षुब्ध कल्पित संसारों को वैसे ही देखता है जैसे मद्य आदि के नशे में मस्त हुआ पुरुष नशे के कारण वृक्षों को घूमते हुए देखता है ।। ८ ।।

जीव चित्त से इस दृश्य को वैसे ही देखता है, जैसे बालक खेल-कूद में भ्रमण से जगत् को कुलाल के चाक के समान घूमता हुआ देखता है ।। ९ ।।

जब जीवचित् द्वित्व का अनुभव करती है, तब द्वैत और ऐक्य का भ्रम होता है । जब चित् द्वैत का अनुभव

यच्चेत्यते तदितरद्व्यतिरिक्तं चितोऽस्ति न ।
किञ्चिन्नाऽस्तीति संशान्त्या चितः शाम्यति चेतनम् ।११।

चिद्घनेनैकतामेत्य यदा तिष्ठति निश्चलः ।
शाम्यन् व्यवहरन् वाऽपि तदा संशान्त उच्यते ॥ १२ ॥

तन्वी चेतयते चेत्यं घना चिन्नाऽङ्ग चेतति ।
अल्पक्षीबः क्षोभमेति घनक्षीबो हि शाम्यति ॥ १३ ॥

चिद्घनैकप्रपातस्य रूढस्य परमे पदे ।
नैरात्म्यशून्यवेद्याद्यैः पर्यायैः कथनं भवेत् ॥ १४ ॥

नहीं करता है तब द्वैत और ऐक्य का विनाश हो जाता है अर्थात् द्वैत भ्रम नहीं होता है ॥ १० ॥

जिसका अनुभव होता है, वह चित् से अतिरिक्त जड़रूप नहीं है अर्थात् प्रतीति काल में भी द्वैत सत्ता नहीं है, तब चित् से अतिरिक्त जड़रूप कुछ नहीं है, इस ज्ञान से दृश्य की शान्ति होने पर विषय न रहने पर काष्ठ शून्य अग्नि के समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है ॥ ११ ॥

जब पुरुष चिद्घन परमात्मा से एकत्व को प्राप्त कर निश्चल हो जाता है, चाहे वह समाधि में लीन हो चाहे व्यवहार करता हो तब सम्पर्क शान्त कहा जाता है ॥ १२ ॥

अत्यल्प चित् विषय का अनुभव करता है, घन चित् विषय का अनुभव नहीं करता है, जैसे थोड़ा पागल पुरुष का चित्त चमक उठता है, लेकिन अतिशय पागल व्यापारशून्य होकर रहता है । आशय यह है कि चित् की सविषयता केवल चित्त्व से नहीं होती अपितु अविद्या-विक्षेपयुक्त चित्त्व के अधीन होती है । उक्त सविषयता ज्ञान तथा समाधि की दृढ़ता से उद्बुद्ध है अतः चिद्घन की एकता से अविद्याविक्षेप के हट जाने पर दूर हो जाती है । ईश्वर आदि की सर्वज्ञता भी मायिक ही है, वास्तविक नही है, अतः कोई दोष नहीं है अतः अल्पज्ञ जीव की चिद्घन से एकता होनेपर सर्वज्ञता होगी, निर्विषयता-रूप शान्ति नहीं होगी—यह कथन ठीक नहीं है ॥ १३ ॥

जिसका ध्यान निरन्तर चिद्घन से अन्य विषय में नहीं रहता है, वह चिद्घनरूप परमपद में आरूढ़ अर्थात् निर्विकल्पक समाधि तथा आत्मसाक्षात्कार से सम्पन्न चित्त का नैरात्म्य अर्थात् स्वरूपशून्यता शून्यवेद्य=निर्विषयता आदि पर्यायशब्दों से उसका प्रतिपादन होता है ॥ १४ ॥

चिच्चेतनेन चेत्यत्वमेत्येवं पश्यति भ्रमम् ।
जातो जीवामि पश्यामि संसरामीत्यसन्मयम् ॥ १५ ॥

स्वभावाद्व्यतिरिक्तं तु न चित्तस्याऽस्ति चेतनम् ।
स्पन्दादृते यथा वायोरन्तः कन्नाम चेत्यते ॥ १६ ॥

चेत्यत्वं सम्भवत्येवं किञ्चिद्यच्चेत्यते चिता ।
रज्जुसर्पभ्रमाभासं तमविद्याभ्रमं विदः ॥ १७ ॥

संविन्मात्रचिकित्स्येऽस्मिन्व्याधौ संसारनामनि ।
चित्तमात्रपरिस्पन्दे संरम्भो न च किञ्चन ॥ १८ ॥

चित् में चेत्यता, जड़ता, संसारिता आदि की कल्पना भी चित्त के कारण ही होती है, चित्त के शान्त होनेपर चित् में उक्त चेत्यता, जड़ता आदि दूर हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं—'चिद्' इत्यादि से ।

चित् चित्त के व्यापार द्वारा ही चेत्यता को प्राप्त करता है और मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूं, देखता हूँ, संसार को प्राप्त होता हूँ इस प्रकार के असत्य भ्रम को देखता है अर्थात् चित् में चेत्यता, जड़ता, संसारिता आदि की कल्पना चित्त के कारण ही होती है, चित्त के शान्त होने पर चित्त में चेतना, जड़ता आदि नष्ट हो जाता है ॥१५।

चेतन चित्त के व्यापारस्वभाव से अतिरिक्त नहीं है, जैसे कि स्पन्द को छोड़कर वायु का अन्य स्वभाव नहीं है । जैसे उष्णता के हट जानेपर वह्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही व्यापार के नष्ट हो जानेपर चित्त अवशिष्ट नहीं रहता है, क्योंकि चेतनव्यापार से अतिरिक्त चित्त के अन्दर किसी दूसरे स्वरूप का कोई अनुभव नहीं करता है अतः चेतन चित्त का स्वभाव है, वह समाधि और ज्ञान के अभ्यास से उपरत होनेपर भी चित्त उपरत नहीं होता है यह कथन ठीक नहीं है ॥ १६ ॥

इस प्रकार चित्त के हट जानेपर चित् में चैत्य का प्रकाश न होने से और जो वस्तु प्रकाशमान नहीं है, उसका साधक कोई दूसरा न होने के कारण उसकी असिद्धि होने से वह स्वयं अपगत होता है, आशय यह है कि चित्त के न रहनेपर चित् में चैत्य का प्रकाशन होने से चित् से जिस किसी का अनुभव होता है, वह चेत्य है, रज्जु में सर्पभ्रम के तुल्य प्रतीत होनेवाले उसे अविद्याभ्रम कहते हैं ॥ १७ ॥

केवल ज्ञान से ही इस संसारनामक व्याधि का प्रतीकार हो सकता है, यह चित्त का एक व्यापारमात्र है, इसमें किसी प्रकार का आयास नहीं है ॥ १८ ॥

यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः ।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः ॥ १९ ॥
यथा रज्ज्वां भुजङ्गाभा विनश्यत्येव वीक्षणात् ।
संविन्मात्रविवर्तेन नश्यत्येव हि संसृतिः ॥ २० ॥
यत्राऽभिलाषस्तन्नूनं सन्त्यज्य स्थीयते यदि ।
प्राप्त एवाऽङ्ग तन्मोक्षः किमेतावति दुष्करम् ॥ २१ ॥
अपि प्राणांस्तृणमिव त्यजन्तीह महाशयाः ।
यत्राऽभिलाषस्तन्मात्रायागे कृपणता कथम् ॥ २२ ॥
यत्राऽभिलाषस्तत्त्यक्त्वा चेतसा निरवग्रहम् ।
प्राप्तं कर्मेन्द्रियग्राह्यं त्यजन्नष्टं च तिष्ठ भोः ॥ २३ ॥
यथा करतले बिल्वं यथा वा पर्वतः पुरः ।
प्रत्यक्षमेव तस्याऽलमजत्वं परमात्मनः ॥ २४ ॥
आत्मैव भाति जगदित्युदितस्तरङ्गैः
कल्पान्त एक इव वारिधिरप्रमेयः ।
ज्ञातः स एव हि ददाति विमोक्षसिद्धिं
त्वज्ञात एव मनसे चिरबन्धनाय ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० संसृतिपरमयोगो नाम षट्षष्टितमः सर्गः ॥६६॥

यदि आप सबका परित्याग कर वासनामय चित्त से रहित होकर स्थित हों, तो एक ही पलक में मुक्त हो जायँगे, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥

प्रत्यङ्मुख होकर स्वतत्त्वदर्शन से यह संसार वैसे ही नष्ट हो ही जाता है जैसे सम्यग्-दर्शन से रज्जु में सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है ॥ २० ॥

अभिलाषित वस्तु का सर्वथा त्याग कर यदि पुरुष रह सके, तो मोक्ष उसे प्राप्त ही है, केवल इतने में कैसी कठिनाई है ॥ २१ ॥

जब इस संसार में महामहिमशाली पुरुष अपने प्राणों का भी तृण के समान परित्याग कर देते हैं, तब जिस वस्तु की केवल अभिलाषा है, उस वस्तु का परित्याग करने में कैसी कृपणता है ? ॥ २२ ॥

जिस वस्तुमें अभिलाषा हो उस वस्तु का अपने चित्त से परित्याग कर प्राप्त वस्तु का कर्मेन्द्रियों से आसक्त-रहित होकर ग्रहण करते हुए और नष्ट वस्तु का शोक न करते हुए स्थित रहें ॥ २३ ॥

तत्त्ववित् की जन्मादिविकारशून्यब्रह्मता वैसे ही अत्यन्त प्रत्यक्ष है, किसी से तिरोहित नहीं है जैसे हाथ में रक्खा हुआ बिल्वफल अथवा सामने स्थित पर्वत सबके प्रत्यक्ष ही रहते हैं, तिरोहित नहीं रहते ॥ २४ ॥

अप्रमेय आत्मा ही जगद्रूप से आविर्भूत होकर अज्ञ लोगों की दृष्टि से वैसे ही अनेक रूप से प्रतीत हो रहा है जैसे प्रलय कालीन एक असीम समुद्र तरङ्गों से अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, वही ज्ञान से अभिव्यक्त होकर मोक्षरूप पुरुषार्थ को देता है और अज्ञात होकर पहले तो सम्पूर्ण अनर्थों के कारणभूत मनोभाव का साधन होता है, अनन्तर चित्तनिबन्धन चिरबन्धन का साधन होता है ॥ २५ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में उत्पत्तिप्रकरण में लीलोपाख्यान में संसृतिपरमयोग नामक कुसुमलता का छाछठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६६ ॥

६७

श्रीराम उवाच

मनस्त्वयोग्यो जीवोऽयं को भवेत् परमात्मनः । कथं वाऽस्मिन् समुत्पन्नः को वाऽयं वद मे पुनः ॥ १ ॥

६७

समष्टि की प्रधानता से उक्त जीव को व्यष्टि की प्रधानता द्वारा स्पष्टरूप से जानने की इच्छा करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी फिर पूछते हैं—'मनस्त्व०' इत्यादि से ।

श्रीरामचन्द्र ने कहा—मन की सृष्टि करके 'मैं मन हूँ' यों मन के तादात्म्य का अपने में अध्यास कर मनस्ता के योग्य यह जीव परमात्मा का क्या है ? यह आप कहें आशय यह है कि क्या जीव परमात्मा का अंश है ? अथवा परमात्मा का कार्य है ? अर्थात् यत्न से उत्पन्न है किंवा परमात्मा ही जीव है ? यदि परमात्मा ही है, तो परमात्मा में वह कैसे उत्पन्न हुआ ? क्या परिणाम से उत्पन्न हुआ या विवर्त से ? यदि अपने में परिमाण से उत्पन्न हुआ है तो अनित्य हो जायगा । यदि विवर्त से उत्पन्न हुआ है, तो वह वाच्छित हो जायगा । यदि अपने में उत्पन्न नहीं हुआ है, तो भोक्ता की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि

श्रीवसिष्ठ उवाच

समस्तशक्तिखचितं ब्रह्म सर्वेश्वरं सदा ।
यथैव शक्त्या स्फुरति प्राप्तां तामेव पश्यति ॥ २ ॥
स्वयं यां वेत्ति सर्वात्मा चिरं चेतनरूपिणीम् ।
सा प्रोक्ता जीवशब्देन सैव सङ्कल्पकारिणी ॥ ३ ॥
स्वभावात् कारणं द्वित्वं पूर्वसङ्कल्पचित्स्वयम् ।
नानाकारणतां पश्चाद्याति जन्ममृतिस्थितेः ॥ ४ ॥

श्रीराम उवाच

एवं स्थिते मुनिश्रेष्ठ ! दैवं नाम किमुच्यते ।
किमुच्यते तथा कर्मकारणं च किमुच्यते ॥ ५ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

स्पन्दास्पन्दस्वभावं हि चिन्मात्रमिह विद्यते ।
खे वात इव तत्स्पन्दात् सोल्लासं शान्तमन्यथा ॥ ६ ॥
चित्त्वं चित्तं भावितं सत्स्पन्द इत्युच्यते ।
दृश्यत्वाभावितं च तदस्पन्दनमिति स्मृतम् ॥ ७ ॥
स्पन्दात् स्फुरति चित्सर्गो निःस्पन्दाद् ब्रह्म शाश्वतम् ।
जीवकारणकर्माद्यां चित्स्पन्दस्याऽभिधा स्मृता ॥ ८ ॥

परमात्मा से अद्वितीय कोई है नहीं और परमात्मा में अशना आदि का अभाव है, इसलिए परमात्मा को भोक्ता नहीं कह सकते हैं। यदि भोक्ता कोई अन्य है, तो वह कौन हैं ? क्या परमात्मा का सजातीय है या विजातीय है ? इनमें एक भी पक्ष सङ्गत नहीं होता, इसलिए मेरे सन्देह को हटाने के लिए आप पुनः कहें ।। १ ।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा-सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म जब जिस शक्ति से प्रस्फुरित होता है तब वह अपनी उस शक्ति से सम्पन्न देखता है आशय यह है कि सदा सभी शक्तियों से परिपूर्ण ब्रह्म सब कुछ करने में समर्थ है। वह जहाँपर जिस शक्ति से प्रस्फुरित होता है, वहाँपर वह अपने को उसी शक्ति से सम्पन्न देखता है जिसकी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, ऐसी मायाशक्तिसे युक्त ब्रह्म परमार्थ रूप से अविकृत और अद्वितीय है, मायावश द्वितीयता को प्राप्त होने के समान अपने में विविध औपाधिक विकारों का आरोप कर असंख्य जीवों के वेश से और सर्वज्ञ ईश्वररूप से क्रीड़ा करने में समर्थ है, इसलिए कोई भी दोष नहीं प्राप्त है ।। २ ।।

सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकाल से जिस चेतनरूप शक्ति=जीवशक्ति को अर्थात् चित्त के संसार से उपाधि-युक्त जीवशक्ति को स्वयं जानता है, वह इस समय 'जीव' नाम से पुकारा जाता है और वही सङ्कल्परूप है ।। ३ ।।

वह चित्त संस्कारमयी चित् शक्ति स्वभाव से संकल्प के उद्रेक साधन सद्वयत्व को प्राप्त करती है, बाद में जन्म-मरण अनेक भावों को प्राप्त करती है। आशय यह है कि मन जो करता है संकल्प उसमें संलग्न होता है, उस संस्कार में आत्म चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, उस प्रतिबिम्ब चैतन्य को चित्त सङ्कल्पमयी चित् शक्ति कहा जाता है। आत्मा में स्वाभाविक द्वितीयता ही संसार का मुख्य कारण है, पूर्व पूर्व सङ्कल्पों की वासनाओं से वासित जीवचित् बाद में जन्म, मरण आदि नाना भावों का कारण होता है आशय यह है कि अपने में स्वाभाविक द्वितीयता ही आगे होनेवाले संसार की प्रवृत्ति का मुख्य कारण है पहले के सङ्कल्पों की वासनाओं से युक्त जीव चैतन्य तो केवल पीछे होनेवाली विचित्रता का कारण है ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—हे मुनिश्रेष्ठ ! आपके इस कथन के अनुसार जीव के स्वरूप के हृदय में प्रतिष्ठित होनेपर मैं आप से पूछता हूँ कि दैव किसको कहते हैं, कर्म किसे कहते हैं तथा कारण क्या कहा जाता है ।।५।।

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—इस संसार में स्पन्दस्वभाव-वाला अर्थात् रजोगुणप्रधान मायासे उपहित तथा अस्पन्द स्वभाववाला शुद्ध चिन्मात्र वैसे ही है, उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है जैसे आकाश में स्पन्दस्वभाववाला और अस्पन्दस्वभाववाला वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है वह चेतन स्पन्द से उल्लासयुक्त होकर सृष्टि में तत्पर होता है और स्पन्द न होने से शान्त ही रहता है ।। ६ ।।

चित् द्वारा अपने स्वाभाविक चित्त्व की ही अविद्या वश यदि विषय के आकार में कल्पना की जाय तो चित्ताकार विषयाकार बना हुआ अपना स्वभाविक चित्त्व ही विद्वानों द्वारा स्पन्द कहलाता है, यदि चित् अपने स्वाभाविक चित्त्व की दृश्यत्वरूप से भावना नहीं करता है, तो उक्त स्वाभाविक चित्त्व अस्पन्द कहलाता है ।। ७ ।।

चित् स्पन्द से सृष्टिरूप में स्फुरित होता है और स्पन्दभाव से अविनाशी ब्रह्मरूप है। जीव, कारण, कर्म आदि चित् के स्पन्द के ही नाम हैं। आशय यह है कि वह चैतन्य ही प्राणस्पन्द की विवक्षा से जीव कहलाता है, अपने भीतर स्थित कार्यों के आविर्भावरूप स्पन्द की विवक्षा से कारण कहा जाता है, शरीर आदि के स्पन्द की विवक्षा से कर्म कहलाता है। कर्म ही, जो कि सूक्ष्म

य एवाऽनुभवात्मायं चित्स्पन्दोऽस्ति स एव हि ।
जीवकारणकर्माख्यो बीजमेतद्धि संसृतेः ॥ ९ ॥
कृतद्वित्वचिदाभासवशाद् देहमुपस्थितम् ।
सङ्कल्पाद्विविधार्थत्वं चित्स्पन्दो याति सृष्टिषु ॥ १० ॥
नानाकारणतां यातश्चित्स्पन्दो मुच्यते चिरात् ।
कश्चिज्जन्मसहस्रेण कश्चिदेकेन जन्मना ॥ ११ ॥

अवस्थावाला, चिरकाल से स्थित और फल के आरम्भ में तत्पर होता है, दैव कहा जाता है। स्पन्द से चित्त की प्रपञ्चरूपता और अस्पन्द से निष्प्रपञ्चता होती है, स्पन्द का ही जीव, कारण, कर्म एवं दैव आदि के नाम से निर्देश होता है ॥ ८ ॥

फलतः जो ही ज्ञानरूप है, वही चित् का स्पन्द=स्फुरण है और वही जीव, कारण और कर्म नामवाला है और वह संसार का बीज है ॥ ९ ॥

जो यह पूछा था कि यदि जीव परमात्मा ही है, तो वह परमात्मा में कैसे उत्पन्न हुआ ? उसका उत्तर कहते हैं—'कृतद्वित्व०' इत्यादि ।

चित् का आभास अर्थात् अविद्या में प्रतिबिम्ब स्फुरित होनेपर द्वैत होता है इस द्वैत से शास्त्रोक्त क्रम में देह आदि की उत्पत्ति होती है, अतः चित् का स्पन्द ही अपने संकल्प से सृष्टि के आरम्भ में विविध आकार की प्राप्ति करता है। आशय यह है कि जिसने भेद की कल्पना कर रक्खी है, ऐसे चिदाभास के कारण अर्थात् बुद्धि में आत्मा के प्रतिबिम्ब के कारण चित्स्पन्द सृष्टि-काल में विविध कर्मों के अनुसार पहले मरने के समय बुद्धि में प्राप्त हुए देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के शरीरों को और पूर्व के संकल्पों के अनुसार विविध भोग्य पदार्थरूपता को प्राप्त करता है। चित् का आभास अर्थात् स्वीय अविद्या में प्रतिबिम्ब स्फुरित होकर जो द्वैत होता है, उसी द्वैत से अर्थात् उक्त द्वित्वभाव से शास्त्र में उक्त क्रम से शरीर की उत्पत्ति होती है, इसलिए चित्स्पन्द ही अपने संकल्प के अनुसार सृष्टि के आदि में विविध भोग्य आकारों को प्राप्त करता है ॥ १० ॥

संकल्प के अनेक योनियों को प्राप्त कर वह संसार में स्थित रहता है, उन योनियों कोई जीव=चित्स्पन्द चिर काल में मुक्त होता है, कोई जीव हजार वर्षों में मुक्त होता है और कोई एक ही जन्म में मुक्ति प्राप्त करता है। आशय यह है कि विविध हजारों योनियों को देनेवाले कर्म, कारण और दैव को प्राप्त हुआ कोई चित्स्पन्द, जिसकी शास्त्रीय प्रवृत्ति मन्द है, चिरकाल में मुक्ति पा

स्वभावात् कारणाद् द्वित्वं चित्समेत्याऽधिगच्छति ।
स्वर्गापवर्गनरकबन्धकारणतां शनैः ॥ १२ ॥
हेम्नीव कटकादित्वं काष्ठलोष्टसमस्थितौ ।
देहे तिष्ठति नानात्वं जडे भावविकारजम् ॥ १३ ॥
अजातमप्यसद्रूपं पश्यतीदं मनोभ्रमः ।
जातः स्थितो मृतोऽस्मीति भ्रमार्तः पत्तनं यथा ॥ १४॥

जाता है, किसी को मुक्ति पाने में हजारों जन्म बीत जाते हैं और कोई, जिसे ज्ञानाधिकार प्राप्त हो गया है, एक ही जन्म में मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

जिस उपाधि के साथ वह संसृष्ट होता है, उस उपाधि के आकार में आकार सम्पन्न होना ही चित् का स्वभाव है, इसलिए, चित् अपने उत्पन्न देह कारण के अर्थात् भूत सूक्ष्म के साथ एकता प्राप्त कर पितृ शरीर से शुक्रादि के रूप में निकलता है, बाद में स्वर्ग, नरक और बन्धन का कारणस्वरूप देहविशेष प्राप्त करता है। आशय यह है कि—जिस प्रकार की उपाधि से मिल जाय उस रूप से स्फुरण चित् का स्वभाव है जैसे कि प्रकाश नीले कपड़ों में नीला, लाल में लाल और पीले में पीला होता है। उस स्वभाव के कारण ही चित् देह के जन्म के कारण अन्नरसों से, उनके द्वारा पिता-माता के शरीरों से ऐक्य को प्राप्त होकर धीरे-धीरे स्वर्ग मोक्ष, नरक, वध, बन्ध आदि के कारणभूत देहभाव को प्राप्त करता है ॥ १२ ॥

पिता और पुत्र यह भेद उपाधिकृत है, पिता की उपाधि शरीर उसको विभिन्न कहकर भिन्न के समान प्रतीत होता है, नहीं तो चैतन्य एक ही अर्थात् अभिन्न है, जैसे सुवर्ण अंश में भेद न रहने पर भी आकारगत भेद होने वलय, कुण्डल, केयूर आदि भेद प्रतीत होता है इसी प्रकार चैतन्यांश में अभेद रहने पर भी चैतन्याश्रित देह के भेद से चैतन्य भेद का भ्रम होता है, देह का उपा-दान महाभूत, उसका अनेक विकार, उसके अनुसार असंख्य प्रभेद हैं। आशय यह है कि—सुवर्ण कटत्व, केयूरत्व आदि के समान काठ और ढेले के समान जड़ देह में जन्म, वृद्धि आदि छः भावविकारों से उत्पन्न भेद रहता है। देह आदि उपाधियां पञ्चमहाभूतों की विकार हैं, पञ्चभूतों में भी पीछे-पीछे के पञ्चमहाभूत पूर्व पूर्व महाभूतों के विकार हैं, यों उनके अखण्डाकाशमात्र होने-पर सत्य भेद का अवकाश नहीं है ॥ १३ ॥

न तो यह नानात्व भेद कभी उत्पन्न हुआ है और न इसका स्वरूप ही सत् है तथापि मन का भ्रम इसे देखता

अहं ममेत्यसद्रूपमेव चेतः प्रपश्यति ।
अदृष्टपरमार्थत्वादाशाविवशसंस्थिति ॥ १५ ॥
मथुराधिपते राज्ञो यथा श्वपचसंभ्रमः ।
आसीदेवं हि चित्तस्य स्फुरतीयं जगत्स्थितिः ॥ १६ ॥
सर्वमेव मनोमात्रभ्रान्त्युल्लासविजृम्भणम् ।
इदं जगत्तया राम ! प्रस्फुरत्यम्बुभङ्गवत् ॥ १७ ॥
शिवात् प्राक्कारणात् पूर्वं चिच्चेत्यकलनोन्मुखी ।
उदेति सौम्याज्जलधेः पयःस्पन्दो मनागिव ॥ १८ ॥
स्फुरणाज्जीवचक्रत्वमेति चित्तोर्मितां दधत् ।

है मनोभ्रम में भी मैं उत्पन्न हुआ, स्थित रहा, मरा इस प्रकार वैसे ही अनुभव करता है जैसे भ्रम से पीड़ित पुरुष घूमते हुए नगर के पतन का अनुभव करता है ॥ १४ ॥

परमार्थ वस्तु का दर्शन न होने के कारण विवश चित्त 'अहम्' 'मम' इत्यादि असद्रूप संसार को, देखता है। आशय यह है कि जितने भेदज्ञान हैं, उनक मूल 'अहम्, मम' यह भेदकल्पना ही है, उसके भी परमात्मा के स्वरूप का अज्ञान और भोग की आशा का संस्कार क्रम से मूल हैं ॥ १५ ॥

उक्त विषय में आगे कहे जानेवाले लवणोपाख्यान का दृष्टान्तरूप से निर्देश करते हैं—'मथुरा'० इत्यादि से।

चित्त की भ्रान्तिरूप यह जगत्-स्थिति, वैसे ही स्थुरित होती है जैसे मथुराधिपति राजा लवण का अपने में 'मैं चाण्डाल हूँ' ऐसा भ्रम हुआ था। आशय यह है कि—मथुरा का राजपुत्र शैशव अवस्था में चोर के द्वारा अपहृत होकर चण्डाल से पालित होता है, इसीलिए, वह राजपुत्र युवावस्था में "मैं चाण्डाल हूँ" इस प्रकार समझता हैं, बाद में अनुसन्धान के द्वारा मन्त्रिवर्ग वृत्तान्त को अवगत जर उक्त राजपुत्र को घर पर लाकर "तुम चाण्डाल नहीं हो राजपुत्र हो" यह सूचित करते हैं ॥ १६ ॥

हे रामचन्द्र ! मन की भ्रान्ति का प्रचुर उल्लासरूप यह सब जगत्रूप वैसे से ही त्फुरित होता है जैसे जल तरङ्गरूप से स्फुरित होता है ॥ १७ ॥

मङ्गलमय कारणभूत परमात्मा से पहले चेत्यकल्पनोन्मुखी सृष्टि के उन्मुख चित् चेतनशक्ति वैसे ही उदित होती हैं जैसे निश्चल तरङ्गरहित समुद्र से पहले थोड़ा-थोड़ा जल का संचलन होता है तरङ्ग उठती हैं ॥ १८ ॥

चिद्वारि ब्रह्मजलधौ कुरुते सर्गबुद्बुदान् ॥ १९ ॥
स्वस्थः सौम्य समस्यैतद्यत् सिंहस्य विजृम्भणम् ।
ब्रह्मणः संविदाभासस्तत्संचेत्यमिव स्वयम् ॥ २० ॥
चित्संवित्योच्यते जीवः सङ्कल्पात् स मनो भवेत् ।
बुद्धिश्चित्तमहङ्कारो मायेत्याद्यभिधं ततः ॥ २१ ॥
तन्मात्रकल्पना पूर्वं तनोतीदं जगन्मनः ।
असत्यं सत्यसंकाशं गन्धर्वनगरं यथा ॥ २२ ॥
यथा शून्ये दृशः स्फारान्मुक्तावल्यादिदर्शनम् ।
यथा स्वप्ने भ्रमश्चैव तथा चितस्य संसृतिः ॥ २३ ॥

उस चित्स्वरूप जल ब्रह्मरूप सागर में जीवस्वरूप आवर्त्त चित्तरूप तरङ्ग और स्वर्गादिरूप बुद्बुद् की उत्पत्ति करता है। आशय यह है कि—चित्-रूपी जल ब्रह्मरूपी समुद्र में स्फुरण से संचलन या स्पन्दन से जीवरूपी आवर्तता को धारण करता हैं तथा चित्तरूपी तरङ्गों को धारण करता हुआ बुद्बुदरूपी सृष्टियों की रचना करता है ॥ १९ ॥

हे सौम्य ! उस मायाबन्धन की विनाशक अचिन्त्य शक्ति परब्रह्म का जो अप-अल्पतम मायिक-विजृम्भक है, वही जीवस्वरूव में अवस्थित है, वही प्रकारान्तर में विषयरूप में अर्थात् दृश्यरूप में प्रकट और व्यवहृत होता हैं। आशय यह है कि—अपने बोधमात्र से मायाबन्धन का विनाश करनेवाले या सिंह के सदृश अचिन्तनीय शक्तिवाले ब्रह्म का जो माया से देहधारण है, वही आत्मस्थित संविदाभास जीव के सदृश स्थित है, वही स्वयं विषयरूप-सा होकर स्थित है, उससे पृथक् नहीं है ॥ २० ॥

वह चित् ही चिदाभास से जीव, संकल्प करने से मन, निश्चय करने से बुद्धि, स्मरण करने से चित्त, अभिमान करने से अहङ्कार तथा विक्षेपशक्तियुक्त होने से माया कहलाता है अर्थात् उपाधि के कारण जीव, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्ककार आदि शब्दों का भेद है ॥ २१ ॥

मन पहले भूततन्मात्राओं की कल्पना करता है, पनन्तर गन्धर्वनगर के तुल्य असत्य होता हुआ भी सत्य के समान प्रतीत होनेवाला इस जगत् का विस्तार करता है, अर्थात् उनमें अङ्कल्पप्रधान मन पहले शब्द आदि सूक्ष्म भूतों की (तन्मात्राओं की) कल्पना कर जगत् की कल्पना करता है ॥ २२ ॥

यह चित्त से कल्पित संसार वैसे ही भ्रम है जैसे आकाश में दृष्टि के बिस्तार से मोतियों की मालाओं का

शुद्ध आत्मा नित्यतृप्त इव शान्तः समस्थितः ।
अपश्यन् पश्यतीवेमं चित्ताख्यं स्वप्नविभ्रमम् ॥ २४ ॥
संसृतिर्जाग्रदित्युक्तं स्वप्नं विदुरहंकृतिम् ।
चित्तं सुषुप्तभावः स्याच्चिन्मात्रं तुर्यमुच्यते ॥ २५ ॥
अत्यन्तशुद्धे सन्मात्रे परिणामनिरामयम् ।
तुर्यातीतं पदं तत् स्यात् तत्स्थो भूयो न शोचति ॥२६॥
तस्मिन् सर्वमुदेतीदं तस्मिन्नेव प्रलीयते ।
न चेदं न च तत्रेदं दृष्टौ मुक्तावली यथा ॥ २७ ॥
अरोधकत्वात् खं हेतुर्यथा वृक्षसमुन्नतेः ।
अकर्ताऽपि तथा कर्ता चेतनाब्धिर्जगत्स्थितेः ॥ २८ ॥
सन्निधानाद्यथा लोहः प्रतिबिम्बस्य हेतुताम् ।
यात्यादर्शस्तथैवाऽयं चिन्मयोऽप्यर्थवेदने ॥ २९ ॥
बीजमङ्कुरपत्रादियुक्त्या यद्वत् फलं भवेत् ।
चिन्मात्रं चित्तजीवादियुक्त्या तद्वन्मनो भवेत् ॥ ३० ॥
स्वतो बीजफला विप्रुड् यथा बीजं पुनर्भवेत् ।
तथा चिच्चेत्यचित्तादि त्यक्त्वा स्वस्था न तिष्ठति॥३१॥

दर्शन होता है और जैसे स्वप्न में नगर आदि का भ्रम होता है, अर्थात् मन से कल्पित वस्तु मन से बनी हुई वस्तु के समान मिथ्या ही है ॥ २३ ॥

विशुद्ध, भाव, पिपासा आदि के अभाव से नित्यतृप्त के समान शान्त तथा समस्थित आत्मा इस चित्त नामक स्वप्नभ्रम को न देखते हुए भी देखते हुए के समान है क्योंकि, जगत् का साक्षी तो नित्य शुद्ध ही है ॥ २४ ॥

उस शुद्ध आत्मा का इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलना जागरण कहा गया है, भीतर अहंभाव से युक्त उसी का हृदय से कण्ठ तक निकलना स्वप्न कहा गया है, स्मरण के बीज वासनामात्र से हृदय में स्थिति सुषुप्ति है, केवल चिन्मात्ररूप से स्थिति तुर्यावस्था है अर्थात् संसार को जाग्रत्, अहङ्कार को स्वप्न, चित्त को सुषुप्त और चिन्मात्र को तुरीय अर्थात् तीनों अवस्था से परे समझो ॥ २५ ॥

अत्यन्त शुद्ध तन्मात्र और स्वस्थ ही तीनों अवस्था से परे परम पद है, उस पद में अवस्थित होने पर शोक मूल उच्छिन्न हो जाने से कभी भी शोक नहीं करता है। आशय यह है कि इस प्रकार शोधित प्रत्यगात्मा की अत्यन्त शुद्ध सन्मात्र ब्रह्मात्मा में परिणति से निर्विकार स्थिति नहीं तुर्यातीत पद है, उस पद में स्थित पुरुष फिर शोक नहीं करता है ॥ २६ ॥

उसमें यह सब उदित होता है, उसी में रहता है और और उसी में लीन हो जाता है, न तो यह ब्रह्म जगत्-रूप है और न उसमें जगत् का सम्बन्ध है, जैसे दृष्टि के विस्तार से आकाश में मुक्तावली का भ्रम होता है, वैसे ही मायावश इस जगत् का भ्रम होता है ॥ २७ ॥

यदि उसमें जगत् का कोई संसर्ग नहीं है, तो श्रुति ने उसे जगत् का हेतु कैसे कहा? इसपर कहते हैं— 'अरोधकत्वात्' इत्यादि से।

चैतन्यसमुद्र परमात्मा जगत्-सृष्टि का कर्ता न होने पर भी उसका अवरोधक न होने से वैसे ही कर्ता कहा जाता है जैसे वृक्ष की उन्नति में वृद्धि में अवरोधक रुकावट डालनेवाला न होने से आकाश वृक्ष की उन्नति का कारण है। अर्थात् माया द्वारा रचित सृष्टि का केवल निवारण न करनेमात्र से उसमें कर्तृत्व का उपचार होता है ॥ २८ ॥

चेतनमय परमात्मा सन्निधिमात्र से पदार्थप्रतीति में वैसे ही कारण होता है जैसे लोहे का बना हुआ दर्पण सन्निधि-मात्र से प्रतिबिम्ब का हेतु होता है ॥ २९ ॥

चिन्मात्र चित्त, जीव आदि के क्रम से वैसे ही मन होता है जैसे बीज, अङ्कुर, पत्ते आदि के क्रम से फल होता है ॥ ३० ॥

जैसे जीव संयुक्त वृष्टि जलबिन्दु वृक्ष धान आदि में प्रविष्ट होकर पुनः बीजत्व को प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीव वासना से वासित अर्थात् जीव धर्म के संस्कार से प्रलिप्त चित् भी प्रलय के बाद पुनः चित्त, चेत्य आदि सृष्टि के आकार में विवर्तित हुए बिना नहीं रह सकता है। आशय यह है कि शास्त्र में कहा गया है—जीव जब पुण्य भोगकर पृथिवी में आता है तो आकाश, मेघ, वृष्टि इनका अवलम्बन कर पृथिवी पर आता है, वृष्टि जल के साथ मृत्तिका में आता है, उससे शस्य=धान में प्रवेश करता है इसके बाद खानेवाले जीव का शुक्र होकर जीव के बीज स्वरूप को प्राप्त करता है। स्वर्गप्राप्ति के लिए किये गये पुण्य कर्म का स्वर्ग में भोग कर चुकनेपर उसमें से जो अवशिष्ट अंश रह जाता है, वह अनुशय है। जैसे उक्त अनुशयवाले जीव से युक्त वृष्टि का जलबिन्दु वृक्ष, धान, गेहूँ के पेड़-पौधों में प्रविष्ट होकर फिर बीज होता ही है, उदासीन (बीज होने से विरत) नहीं होता, वैसे ही जीव की वासना से वासित चित् भी चेत्य, चित्त आदि की सृष्टि के रूप से फिर होती ही है, उसे छोड़कर स्वस्थ नहीं होती। किसी

यद्यप्यबोधे बोधे वा बीजान्तस्तरुबीजयोः ।
इयान् भेदोऽस्ति न जगद्ब्रह्मणोरपि चित्तयोः ॥ ३२ ॥

तथाऽपि व्यज्यते बोधे सत्यात्मकमखण्डितम् ।
रूपश्रीरिव दीपेन चिन्मात्रालोकरूपि यत् ॥ ३३ ॥

यद्यन्निखन्यते भूमेर्यथा तत्तन्नभो भवेत् ।
या या विचार्यते विद्या तथा सा सा परं भवेत् ॥ ३४ ॥

स्फटिकान्तःसन्निवेशः स्थाणुतावेदनाद्यथा ।
शुद्धेऽनानाऽपि नानेव तथा ब्रह्मोदरे जगत् ॥ ३५ ॥

ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेकमखण्डितम् ।
फलपत्रलतागुल्मपीठबीजमिव स्थितम् ॥ ३६ ॥

श्रीराम उवाच

अहो चित्रं जगदिदमसत्सदिव भासते ।
अहो बृहदहो स्वस्थमहो स्फुटमहो तनु ॥ ३७ ॥

ब्रह्मणि प्रतिभसात्मा तन्मात्रगुणगोलकः ।
अवश्यायकणाभासो यथा स्फुरति तच्छ्रुतम् ॥ ३८ ॥

यथाऽसौ याति वैपुल्यं यथा भवति चाऽऽत्मभूः ।
यथा स्वभावसिद्धार्थात् तथा कथय मे प्रभो ! ॥ ३९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच

अत्यन्तासम्भवद्रूपमनन्यत् स्वस्वभावतः ।
अत्यन्ताननुभूतं सत्स्वानुभूतमिवाऽग्रतः ॥ ४० ॥

को शङ्का हो कि प्रलयकाल में सबका लय होनेपर चित्त, सदा वैसी ही स्वस्थ क्यों नहीं रहता है इसका निराकरण होता है ॥ ३१ ॥

वृक्ष तथा बीज का बोध हो अथवा न हो, परन्तु सूक्ष्मरूप से बीज के मध्य में स्थित वृक्ष और बीज की वृक्षजननशक्ति नष्ट नहीं होती है, यह भेद प्रत्यक्ष दिखलाई देता है किन्तु चित्तभूत जगत् और ब्रह्म में यह बात नहीं ही है। चित्तभूत जगत् और ब्रह्म का वास्तविक बोध हो जानेपर वृक्ष और बीज के समान उनमें सृष्टिजननशक्ति नहीं रहती है ॥ ३२ ॥

बीज और वृक्ष के बोधमात्र से वास्तविक अखण्डित स्वरूप व्यक्त नहीं होता है, ब्रह्मबोध से तो दीपक से रूपशोभा के समान वह चिन्मात्र के आलोक से दिखाई देनेवाला तत्त्व व्यक्त हो जाता है, अर्थात् अन्य बातों में समानता होनेपर भी उन दोनों में इतनी विलक्षणता है। आशय यह है कि—यदि कोई शङ्का करे कि जैसे बीज में सूक्ष्मरूप से स्थित वृक्ष का और उसके बीज का बोध हो चाहे न हो, पर उसमें जो वृक्षजननशक्ति है, वह नष्ट नहीं होती वैसे ही चित्तात्मा को प्राप्त हुए जगत् और ब्रह्म का भी तत्त्वतः बोध हो चाहे न हो, यह कथन ठीक नहीं है ॥ ३३ ॥

जिस जिस आविद्यिक घट, पट आदि का विचार किया जाता है, वह वैसे ही अधिष्ठानभूत सन्मात्र हो जाता जैसे भूमि का जो जो स्थान खोदा जाता है, वह आकाश हो जाता है ॥ ३४ ॥

शुद्ध ब्रह्म के अन्दर अद्वितीय यह जगत् भिन्न के समान वैसे ही प्रतीत होता है जैसे स्फटिक के अन्दर प्रतिबिम्बित वन आदि यह प्रतिबिम्ब है, ऐसा जाने बिना सत्य प्रतीत होता है ॥ ३५ ॥

यह ब्रह्म जगद्रूपसे वैसे ही स्थित है जैसे एक अखण्ड स्फटिकशिला फल, पत्ते, लता, झाड़ी और उनके आधार तथा उनके अन्तर्गत बीजरूप से स्थित है ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—भगवन्, बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत् स्वयं असत् हो कर भी सत् के समान प्रतीत होता है, क्षुद्र होता हुआ भी यह कैसा विस्तृत, कैसा स्वस्थ और कैसा स्पष्ट प्रतीत होता है ? यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार वर्णित जीव, मन, बुद्धि और अहङ्कारस्वरूप जगत् की मायामात्रता को सुन कर आश्चर्यमग्न हुए, गुरुवचनों में विश्वास होने के कारण स्वयं अनुवाद द्वारा उसका अनुमोदन करते हुए पञ्चभूत और तन्मात्राओं के इन्द्रियों सहित समष्टि, व्यष्टि और स्थूल-शरीरभाव के उत्पत्तिक्रम को जानने की इच्छा से यह कहा है ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार ब्रह्म में प्रतिभासस्वरूप और ओस के बिन्दु के समान तन्मात्रारूप गुण से युक्त यह ब्रह्माण्ड स्फुरित होता है, वह मैंने आपसे सुना ॥ ३८ ॥

जैसे यह यथार्थस्वभावसिद्ध आत्मवस्तु से विपुलता को अर्थात् समष्टि, व्यष्टि, स्थूल देहता को प्राप्त करता है और जैसे व्यष्टि, समष्टि का उपभोग करनेवाला वैश्वानर, विश्व, विराट् और एक एक दो ही उत्पन्न होता है, वह आप मुझसे कहें ॥ ३९ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा—जीव अत्यन्त असंभावित, अत्यन्त अननुभूत और अनन्य होता हुआ भी पहले अनुभूत-सा प्रतीत होता है ॥ ४० ॥

उल्लासफुल्लो फुल्लाङ्ग इति बालहृदि स्फुटम् ।
यथोदेति तथोदेति परे ब्रह्मणि जीवता ॥ ४१ ॥
मानमेयात्मिका शुद्धा सत्यैवाऽसत्यवत् स्थिता ।
भिन्नेव च न भिन्ना स्याद् ब्रह्मणो बृंह्मणात्मिका ॥४२॥
यथा ब्रह्म भवत्याऽऽशु जीवः कलनजीवितः ।
तथा जीवो भवत्याशु मनो मननवेदनात् ॥ ४३ ॥
चित्तं तन्मात्रमननं पश्यत्याशु स्वरूपवत् ।
एष सद्योऽनिललवप्रख्यः स्फुरति खान्तरे ॥ ४४ ॥
अस्तनिमेषोऽनुभवत्यवश्यायकणोपमम् ।
संवेदनात्मकं कालकलितं कान्तमात्मनि ॥ ४५ ॥

जैसे वास्तव में विकसित अङ्ग से शून्य भी वेताल बालक के हृदय में विकसित अङ्गवाला होकर स्पष्टरूप से उदित होता है, वैसे ही स्वस्वभावरूप जीवता परब्रह्म में उदित होती है ॥ ४१ ॥

वह जीवता, जो मानमेय रूप, शुद्ध, सत्य होती हुई असत्य के समान स्थित है, ब्रह्म से भिन्न न होती हुई भी भिन्न-सी प्रतीत होती है, क्योंकि ब्रह्म का बृंहणात्मक स्वरूप है ॥ ४२ ॥

जीव मननवासना से उत्पन्न होने के कारण वैसे ही मन बन जाता है जैसे ब्रह्म शीघ्र जीव, जिसका कल्पना' ही स्वरूप है, हो जाता है ॥ ४३ ॥

वह मन पञ्चतन्मात्राओं का मनन करने से अपने को पञ्चतन्मात्रारूप में आविर्भूत देखता है, अर्थात् पञ्चतन्मात्राओं का मनन करने से पञ्चतन्मात्रात्मा बन जाता है, अविच्छिन्न चैतन्य रूप वायवीय परमाणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म तन्मात्रात्मक मन अर्थात् दृग्रूप वाला और अतिसूक्ष्म वह पञ्चतन्मात्रात्मा शीघ्र चिदाकाश में स्फुरित होता है ॥ ४४ ॥

जैसे आकाश में असंख्य ओसकण सूर्य के प्रकाश में भासमान होता है वैसे ही चित्त में समष्टि मनोरूप हिरण्यगर्भ में असंख्य ब्रह्मा और उसके अन्तर्गत सूक्ष्म शरीरादि अङ्कित के रूप में प्रकाशित होता है। आशय यह है कि उसके स्वतःप्रकाशमान होने पर अपनी स्फूर्ति से संवेदनात्मक सृष्टिकालवश पञ्चीकरण द्वारा उत्पादित, सुवर्णमय होने से सूर्य के समान प्रकाशमान अपरिच्छिन्न चित् दृष्टि द्वारा ओस के बिन्दु के समान ब्रह्माण्ड रूप और मनुष्य आदि के देह रूप को अपने में देखता है ॥ ४५ ॥

अहं किमिति शब्दार्थवेदनाभोगसंविदम् ।
संविदं तत्त्वशब्दार्थं जीवः पश्यति सार्थकम् ॥ ४६ ॥
तादृक्षवेदनात् सोऽथ रसशब्दार्थवेदनम् ।
भाविजिह्वार्थनाम्नैकदेशेऽनुभवति क्षणात् ॥ ४७ ॥
तादृक्षवेदनात्तेजः शब्दार्थोन्मुखतां गतः ।
भविष्यन्नेत्रनाम्नैकदेशे भवति भासनम् ॥ ४८ ॥
तादृक्षवेदनात् सोऽथ घ्राणं तद्दृष्टिवेदनात् ।
स्थितो यस्मिन् भवतीति तावद्दृश्यादिता स्थिता ॥४९॥
एवंप्रायः स जीवात्मा काकतालीयवच्छनैः ।
विशिष्टसंनिवेशत्वं भावितं पश्यति स्वतः ॥ ५० ॥

जीव तात्त्विक रूप से या मनुष्य आदि के आकार रूप से विशेषतया मैं क्या हूँ इस ज्ञान का प्राप्त नहीं है, मोहाक्रान्त संवित् को पहले देखता है, अनन्तर पुरुषार्थ विचार के साथ हजारों पूर्वजन्मों के स्मरण से गर्भ में जगत् और तत्त्व शब्द के अर्थ को एवं ज्ञान को देखता है आशय यह है कि पहले शब्द और अर्थ के विभाग के स्फुरण से मोहाक्रान्त अहन्ता का अध्यास अनन्तर संसार तत्त्व का स्मरण करता है, इस प्रकार की साकरता में अपना विशेष परिचय नहीं प्राप्त करता है और मै क्या हूँ, इस प्रकार मोहाक्रान्त ज्ञान होती है ॥ ४६ ॥

अनन्तर शरीर पिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से शरीर के मुखरूप एक देश में भावी रसनेन्द्रिय और उसके विषय रस के नाम से उपलक्षित रसनेन्द्रिय का क्षणभर में वह जीव अनुभव करता है अर्थात् प्राक्तन संस्कार के उद्‍बोध से उसमें जगत् तत्त्व शब्द और अर्थ और उन विषयों का अस्फुट ज्ञान उदित होता है ॥४७॥

अनन्तर शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से चक्षुरिन्द्रिय और उसके विषय रूप की ओर उन्मुख हुआ जीव शरीर के एक देश चक्षुगोलक में भावी नेत्रनाम से उपलक्षित चक्षुरिन्द्रिय हो विषय का दर्शन करता है ॥ ४८ ॥

अनन्तर शरीरपिण्ड में अस्फुट अहंभाव के ज्ञान से घ्राणेन्द्रिय के दर्शन के सङ्कल्प से घ्राण हो जाता है, इस प्रकार श्रोत आदि के भाव में भी जबतक वह स्थित रहता है, तबतक शब्द आदि दृश्य का उपभोग करने का उसका स्वभाव हो जाता है ॥ ४९ ॥

इस प्रकार का वह जीवात्मा धीरे-धीरे काकतालीय-न्याय के अनुसार पूर्ववासना से कल्पित स्वयं विशिष्ट

स तस्य सनिवेशस्य त्वसतोऽपि सतः सतः ।
शब्दभावैकदेशत्वं श्रवणार्थेन विन्दति ॥ ५१ ॥
स्पर्शभावैकदेशत्वं त्वक्शब्दार्थेन विन्दति ।
रसभावैकदेशत्वं रसनात्वेन विन्दति ॥ ५२ ॥
रूपभावैकदेशत्वं नेत्रार्थाकृति पश्यति ।
गन्धभावैकदेशत्वं नासिकात्वेन पश्यति ॥ ५३ ॥
एवं भावमयैः सत्ताप्रकटीकरणक्षमम् ।
भविष्यदिन्द्रियाख्यं स रन्ध्रं पश्यति देहके ॥ ५४ ॥
इत्येवमादिजीवस्य राघवाऽद्यतनस्य च ।
उदेति प्रतिभासात्मा देह एवाऽऽतिवाहिकः ॥ ५५ ॥
अनाख्येयं परा सत्ताऽस्याऽऽतिवाहिकतामिव ।
सा गच्छत्यप्यगच्छन्ती तादृक्सत्यात्मभावनात् ॥ ५६ ॥
मातृमेयप्रमाणादि यदा ब्रह्मैव वेदनात् ।
तदाऽऽतिवाहिकोक्तीतां कः प्रसङ्गस्तदेव तत् ॥ ५७ ॥
अन्यत्ववेदनादन्यः परस्मादातिवाहिकः ।
ब्रह्मत्ववेदनाद् ब्रह्म सा संवित्तिर्हि नाऽन्यजा ॥ ५८ ॥

श्रीराम उवाच

असंभवादसंवित्तेर्ब्रह्मात्मैकतयाऽथवा ।
को मोक्षः को विचारेऽत्यलं भेदविकल्पनैः ॥ ५९ ॥

देहादिसन्निवेश का अर्थात् देहित्व का अनुभव करता है ॥ ५० ॥

श्रोत आदि इन्द्रियों के द्वारा उसका शब्द आदिभोग होनेपर तत्-तत् इन्द्रियों में तादात्म्याध्यास को कहते हैं—'स तस्य' इत्यादि से ।

असत् होता हुआ भी सत् और सत्त्वसम्पन्न उस इन्द्रियादिसंघात के श्रोतरूप देहैकस्थान को श्रवणरूप क्रिया के लिए वह प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

स्पर्शभावरूप त्वगिन्द्रियरूप देहैकदेशता को स्पर्श-क्रिया के लिए प्राप्त होता है रसभावैकदेशता रसनात्व के लिए प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

रूपभाव यानी चक्षुरिन्द्रियरूप देहैकदेशता को दर्शन रूप क्रिया के लिए हो सकता है, घ्राणेन्द्रियरूप देहैक-देशता को गन्धग्रहणक्रिया के लिए प्राप्त होता है ॥५३॥

इस प्रकार उक्त और अनुक्त भावमय इन्द्रियों से भावमय देह में बाह्य पदार्थों की सत्ता को प्रकट करने में समर्थ भावी इन्द्रियनामक छिद्र को देखता है ॥ ५४ ॥

हे राघव ! इस प्रकार आदि जीव अर्थात् जीव घन ब्रह्म का समष्टिरूप और अद्यतन=व्यष्टि जीव का प्रति-भासस्वरूप भासमय आतिवाहिक शरीर उत्पन्न होता है ॥ ५५ ॥

ब्रह्म के ही अज्ञान से विविध आतिवाहिक देहों की प्राप्ति होती है और ज्ञान से आतिवाहिक देहों का अपगम हो जाता है, ऐसा कहते हैं—'अनाख्येयम्' इत्यादि से ।

आतिवाहिक देह की यह परा सत्ता अवर्णनीय ही है । नामरहित परासत्ता=ब्रह्म वस्तु ही उक्तरूप में अज्ञानावृत्त हो अतिवाहिकत्ता करती है अर्थात् वह सत्ता ब्रह्म के अपरिज्ञान से मानो आतिवाहिकता को प्राप्त होती है और ब्रह्मरूप सत्य आत्मा के परिज्ञान से उसका आतिवाहिकभाव नष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥

जब ब्रह्म के परिज्ञान से प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि ब्रह्मस्वरूप ही हैं, तब आतिवाहिक देहों की उक्ति का क्या प्रसङ्ग है ? वे तो ब्रह्मस्वरूप हैं ही । आशय यह है कि आतिवाहिक देहादि द्वारा अध्यारोप और अपवाद की कल्पना भी व्युत्पत्त्याधायक व्यवहारदृष्टि से ही है, पर-मार्थदृष्टि से नहीं है ॥ ५७ ॥

सत्य सत्य ही रहता है वह परासत्ता 'ब्रह्म' इस प्रकार के ज्ञान से ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्टित और पृथक्=भेद ज्ञान से जीवरूप में व्यवस्थित होता है । आशय यह है कि भेदज्ञान से आतिवाहिक ब्रह्म से अन्य प्रतीत होता है और ब्रह्मत्वज्ञान से तो वह आतिवाहिक ब्रह्म ही है । यदि ज्ञानानुसार ही वस्तु की सिद्धि होती है तो ब्रह्मत्व-वेदन और अन्यत्ववेदन में विशेष क्या हुआ ? ब्रह्मत्वज्ञान रूप संवित्ति भ्रान्तिजन्य नहीं है, अतः ब्रह्मत्ववेदन प्रमा-त्मक है और अन्यत्ववेदन भ्रमात्मक है ॥ ५८ ॥

श्रीरामचन्द्र ने कहा—चिन्मात्र परब्रह्म में अज्ञान के अवस्थान की सम्भावना कैसे है ? वह सर्वथा असम्भव है, अतः, ब्रह्म का अद्वितीयत्व असिद्ध नहीं है, वरन् सिद्ध ही है, ऐसी स्थिति मोक्ष, मोक्ष प्राप्ति के साधन का विचार और उसके उपयोगी जीव आदि की कल्पना सभी व्यर्थ प्रतीत होती है आशय यह है कि अज्ञान असम्भव होने से अथवा ब्रह्मात्मैकता की स्वतः सिद्धि होने से क्या मोक्ष है और क्या विचार है इस प्रकार भेदकल्पना से क्या लाभ है अर्थात् विफल है । यदि ऐसा है, तो चिदेकरस ब्रह्म में अज्ञान का सम्पर्क न होने से अज्ञान न होने के कारण जीवभेद की कल्पना ही नहीं होगी अथवा ब्रह्मै-कत्व ही स्वतःसिद्ध होगा, अपने से अतिरिक्त मोक्षरूप फल और उसके प्रापक विचार का संभव ही नहीं है, तो प्रवृत्ति कैसे होगी ? ॥ ५९ ॥

श्रीवसिष्ठ उवाच
सिद्धान्तकाल एवैष प्रश्नस्ते राम ! राजते ।
अकालपुष्पमाला हि शोभनाऽपि न शोभते ॥ ६० ॥
सार्थैवाऽनर्थिकाऽकालमाला विलसिता यथा ।
तथैवाऽकालमिज्जन्तौ सर्वं काले हि शोभते ॥ ६१ ॥
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानां कालो दातेति दृश्यते ।
ननु सर्वपदार्थानां कालेन फलयोगतः ॥ ६२ ॥
एवमेव स जीवात्मा स्वप्नात्मा समुपस्थितः ।
पितामहत्वमुच्छूनं पश्यन्नात्मनि कालतः ॥ ६३ ॥

श्रीवसिष्ठजी ने कहा— हे राम ! तुम्हारा यह प्रश्न सिद्धान्त के समय ठीक है, सिद्धान्तकाल में ही आपका यह प्रश्न सुशोभित हो सकता है । अकाल में उत्पन्न फूलों की माला कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, शोभा नहीं देती है अन्य समय में ठीक नहीं है, असमय में उत्पन्न पुष्प की माला शोभा समन्वित होनेपर अमङ्गल जन कहाने से शोभमान नहीं है, तुम्हारा यह असामयिक प्रश्न भी विफल है, सभी वस्तुएँ उपयुक्त समय में ही शोभाधान करती हैं, अनुचित समय में नहीं, अकाल पुष्पों की माला तात्कालिक उपभोग साधन समर्थ होनेपर भी भविष्य में अनर्थ की आशङ्का में हर्षजनक नहीं होने से निरर्थक होती है आशय यह यह है कि क्योंकि उससे उत्पातजनित अनर्थों की आशङ्का से भय होता है क्या यह प्रश्न तात्त्विक वस्तु को जानकर किया गया है अथवा बिना जाने । यदि जानकर किया गया है, तो विचार की अनर्थकता में हमें कोई आपत्ति नहीं है, यदि बिना जाने किया गया है तो इस प्रश्न का अवसर ही नहीं है ॥६०॥

परिपाकदशा को=सिद्धदशा को जो जीव प्राप्त न हो, उसके विषय में अकालोत्पन्न उक्ति अनर्थकारिणी वैसे ही होती है जैसे अत्यन्त शोभमान भी अकाल-पुष्पमाला तत्काल में उपभोग सुख देने के कारण सार्थक भी क्यों न हो, तथापि औत्पातिक अनर्थों की जननी होने के कारण लोगों को हर्षित नहीं कर सकती, अतः वह अनर्थकारिणी होती है । पूर्व श्लोक में अर्थान्तरन्यास से सिद्ध श्लोक में उपमा द्वारा सिद्ध की गई है ॥ ६१ ॥

हेमन्त आदि काल धान आदि के अङ्कुरों की उत्पत्ति की प्रतिकूलता और यव आदि के अङ्कुरों की उत्पत्ति की अनुकूलता को देखा जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का काल द्वारा ही फल से सम्बन्ध होता है ॥ ६२ ॥

समष्ट्यात्मा जीवात्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ समय के

ॐमुच्चारणसंवित्तिवेदनाच्च प्रपश्यति ।
यत्करोति मनोराज्यं भवत्याशु स तन्मयः ॥ ६४ ॥

इदमेवमसत्सर्वमिव व्योम्नि ततात्मनि ।
पर्वतोच्चाकृतिर्व्योम जगद्व्योम्नि विजृम्भते ॥ ६५ ॥

नेह प्रजायते किञ्चिन्नेह किञ्चिद्विनश्यति ।
जगद्गन्धर्वनगररूपेण ब्रह्म जृम्भते ॥ ६६ ॥

यथैव पद्मजादीनां जीवानां सदसन्मयी ।
सत्ता तथैव सर्वेषामासरीसृपमासुरम् ॥ ६७ ॥

अनुसार अपने में उन्नति को प्राप्त कर पितामहत्वका अनुभव कर उपासना के परिपाक से फलीभूत उपास्यरूप से स्थित होता है ॥ ६३ ॥

ॐकार के उच्चारण और तदर्थ के परिज्ञान से जो संकल्प करता है, वह शीघ्र ही तन्मय हो जाता है अर्थात् संकल्प के अनुसार पदार्थों को व्यक्त देखता है वह प्रणव के उच्चारण से और उसके अर्थ के परिज्ञान से सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि करता है ॥ ६४ ॥

व्यापक आकाश में यह सब तलमलिनत्व आदि के समान कल्पित है और जब मेरु आदि पर्वतों की उन्नत आकृति भी आकाश ही है, फिर छोटी मोटों की तो बात ही क्या है, क्योंकि वायु आदि के क्रम से सम्पूर्ण जगत् आकाश में ही आरोप द्वारा वृद्धि प्राप्त करता है, अतः उसमें और तलमलिनता आदि में क्या अन्तर है ? ॥६५॥

इस अभिप्राय से 'न निरोधो न चोत्पत्तिः' इत्यादि श्रुति के आशय को अभिव्यक्त करते हैं— 'नेह' इत्यादिसे।

यहाँ न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न कोई विनष्ट होती हैं, ब्रह्म ही जगद्रूपी गन्धर्वनगर के समान विविध आकार से स्फुरण को प्राप्त करता है आशय यह है कि इस प्रकार सृष्टि का प्रतिपादन प्रपञ्च के मिथ्यात्व का बोधन करने के लिए ही है, वास्तविक सृष्टि के प्रतिपादन के लिए नहीं है ॥ ६६ ॥

जीवत्व भी जगत्कोटि में ही है, ऐसा दर्शाने के लिए जगत् की सत्ता जीवसत्ता के तुल्य है, ऐसा कहते हैं— 'यथैव' इत्यादि से ।

नीचे कीट, पतङ्ग आदि तक और ऊपर देवयोनिपर्यन्त सब की सत्ता वैसे ही विचारासह ही है जैसे हिरण्यगर्भ आदि जीवों की सत्ता सदसन्मयी यानी यौक्तिक दृष्टि से विचारसहन नहीं कर सकती अर्थात् अनिवर्चनीय ही है ॥ ६७ ॥

संवित्सम्भ्रम एवाऽयमेवमभ्युत्थितोऽप्यसन् ।
आब्रह्मकीटसंवित्तेः सम्यक् संवेदनात् क्षयः ॥ ६८ ॥
यथा सम्पद्यते ब्रह्मा कीटः सम्पद्यते तथा ।
कीटस्तु रूढभूतौघवलनात् तुच्छकर्मकः ॥ ६९ ॥
यदेव जीवनं जीवे चेत्योन्मुखचिदात्मकम् ।
तदेव पौरुषं तस्मिन् सारं कर्म तदेव च ॥ ७० ॥
ब्रह्मणः सुकृतात् पापात् कीटकस्य समुत्थितेः ।
चित्तन्मात्रात्मिका भ्रान्तिः प्रेक्षामात्रं भवेत् क्षयः ॥७१॥

परमार्थदृष्टि से तो कहते हैं—'संवित्' इत्यादि से ।

ब्रह्मा से लेकर कीट, पतङ्ग तक प्रसिद्ध संवित्ति= वृत्त्यात्मक ज्ञान से अनुभावरूढ भी यह संवित्संभ्रम असत् है, क्योंकि इसका सम्यक् ज्ञान से बाध हो जाता है ॥६८॥

जैसे ब्रह्मा उत्पन्न होता है, वैसे ही कीड़ा भी उत्पन्न होता है ।

भौतिक मालिन्य के आधिक्य से कीड़ा क्षुद्र कर्म करता है ॥ ६९ ॥

जीव में जो ही विषयोन्मुख चैतन्यरूप जीवन है, वही उसमें पौरुष है, वही फलरूप में पर्यवसन्न होनेवाला कर्म है, वह कर्म ही पौरुष है । आशय यह है कि उपाधि का अनुसरण करनेवाली जीवता का अनुसरण करनेवाला पौरुष है, पौरुष ही फलपर्यवसायी कर्म है और उक्त कर्म ही पौरुष है ॥ ७० ॥

ब्रह्मा का पुण्य से आविर्भाव होता है, और कीड़े का पाप से । चिन्मात्र के अज्ञान से भ्रान्ति होती है और उसके ज्ञान से भ्रान्ति का क्षय हो जाता है । आशय यह है कि उन दो में सुकृतरूप सार के उत्कर्ष की चरम सीमा का फल ब्रह्मता है, और दुष्कृतरूप सार के उत्कर्ष की चरम सीमा का फल कीटता है, इस प्रकार वैचित्र्य के कारण भिन्न होनेपर भी दोनों में अज्ञातचिन्मात्रप्रयुक्त जो द्वैत-भ्रान्ति है और ज्ञानमात्र से उसका विनाश होता है, ये दोनों में समान ही हैं ॥ ७१ ॥

द्वैत माता और मान से प्रमेय नहीं है, क्योंकि माता, मान आदि स्वरूप द्वैत को भी अन्य माता, मान आदि की अपेक्षा होने के कारण अनवस्थापत्ति हो जायगी । ाता, मान आदि की चिन्मात्रता होनेपर द्वैत और ऐक्य ꣷ साधक अन्य का अभाव होने से द्वैत और ऐक्यवाद ाशशृङ्ग और आकाशकुसुम के तुल्य हैं । यदि कोई शङ्का करे कि जबतक प्रमाता प्रमाण से प्रमेयरूप द्वैत का अनुभव करता है, तब तक द्वैत है और उसके नष्ट होने पर ऐक्य ही है, इस प्रकार सबका क्रमशः द्वैत और ऐक्यस्वभावत्व ही वास्तविक क्यों न मान लिया जाय इस पूर्वोक्त विश्लेषण से यह ठीक नहीं है ॥ ७२ ॥

मातृमानप्रमेयाणि न चिन्मात्रेतरद्यतः ।
ततो द्वैतैक्यवादार्थः शशशृङ्गाब्जिनीसमः ॥ ७२ ॥
भावदार्ढ्यात्मकं मिथ्या ब्रह्मानन्दो विभाव्यते ।
आत्मैव कोशकारेण लालादार्ढ्यात्मकं यथा ॥ ७३ ॥
मनसा ब्रह्मणा यद्यद्यथा दृष्टं विभावितम् ।
तत्तथा दृश्यते तज्ज्ञैः स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ ७४ ॥
यथा यदुदितं वस्तु तत्तत्तन्न विना भवेत् ।
निमेषमपि कल्पं वा स्वभावस्यैष निश्चयः ॥ ७५ ॥

ब्रह्मानन्दरूप आत्मा ही बन्धन में डालनेवाला भुवन आदिभावदार्ढ्य रूप द्वैत है, ऐसा भ्रान्ति से प्रतीत होता है, आत्मा के द्वारा भी स्वबन्धक भुवनभावदार्ढ्य रूप द्वैत का वैसे ही अनुभव किया जाता है जैसे रेशम के कीड़े द्वारा अपनी लार की दृढ़तारूप बन्धन का अनुभव किया जाता है । मान से मेय यदि द्वैत नहीं है, तो करोड़ों कुद्दालों से दुर्भेद्य भुवन आदिभाव दृढ़तारूप द्वैत कैसे प्रतीत होता है, इस शङ्का के निवारण के लिए ही यह कहा गया है ॥ ७३ ॥

सब मनों के समष्टिरूप ब्रह्मा ने भोक्ता के कर्मों के अनुसार जिस जिस वस्तु को जिस प्रकार से देखा और जैसे कार्य के लिए उसकी कल्पना की, वह वस्तु अन्य जीवों द्वारा वैसी ही देखी जाती है ? क्योंकि नियति का ऐसा निश्चय है । यदि बन्धन स्वकल्पित ही है, तो प्रत्येक पुरुष में उसकी अभिलाषा के अनुसार ही कल्पना होगी, अनिष्टकल्पना नहीं होनी चाहिए, आशङ्का की निवृत्ति के लिए यह कहा गया है ॥ ७४ ॥

जो वस्तु जिससे उदित होती है, उसके बिना वह उदित नहीं हो सकती है निमेष भर कोई रहे या कल्प भर कोई रहे, या नियति का ही निश्चय है । आशय यह है कि वट के बीज से ही वट का अङ्कुर होता है, कुटज के बीज से वट का अङ्कुर नहीं होता और बुद्‌बुद कुछ ही निमेष तक रहते हैं, ब्राह्मण्ड महाकल्प तक रहता है, इस प्रकार हेतु, फल आदि की नियति के बल से भी अपनी इच्छा के अनुसार कल्पना नहीं की जा सकती है ॥ ७५ ॥

- DONATED BY -
Lt. PADMASHREE
Prof. V. VENKATACHALAM
VARANASI

अलीकमिदमुत्पन्नमलीकं च विवर्धते ।
अलीकमेव स्वदते तथाऽलीकं विलीयते ॥ ७६ ॥

शुद्धं सर्वगतं ब्रह्माऽनन्तमद्वितीयं दुरवबोधवशाद-शुद्धमिवाऽसदिवाऽनेकमिवाऽसर्वगमिवाऽवबुद्ध्यते॥७७॥

जलमन्यत्तरङ्गोऽन्य इति बालकुकल्पनया भेदः कल्प्यत एवमवास्तवस्तस्माद्यो योऽयमाभाति भेदः स केवलमतत्त्वविद्भिः परिकल्पितो रज्ज्वां सर्प इव एवं भेदाभेदशक्त्योररिमित्रयोरेव ब्रह्मण्येव संभवेत् ॥ ७८ ॥

तेनाऽऽत्मनाऽद्वितीयेनैव द्वित्वमिवाऽऽततं यथा सलिलेन तरङ्गकल्पनया सुवर्णेन कटककल्पनयैवमिति अतस्तेन स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्माऽन्य इव चेत्यते ॥ ७९॥

अतः कलना जाता सैव स्फारतां प्राप्य मनः संपन्नं तेनाऽहंभावः कल्पितो निर्विकल्पप्रत्यक्षरूप-मेतत्प्रथमं तन्मनस्तदहं भवति क्षिप्रमहंशब्दार्थ-भावनात् ॥ ८० ॥

ततो मनोऽहङ्काराभ्यां स्मृतिरनुसंहिता तैस्त्रि-भिस्तवनुभूततन्मात्राणि कल्पितानि तन्मात्रेषु जीवेन चित्तात्मना स्वयं काकतालीयवद् ब्रह्मोपादाना-दियान्सन्निवेशः कल्पितो दृश्यते ॥ ८१ ॥

एवं यदेव मनः कल्पयति तदेव पश्यति । सद्वा भवत्वसद्वा चित्तं यत्कल्पयत्यभिनिविष्टम् । तत्तत्पश्यति यास्यति सदिव प्रतिभासमुपगतं सद्यः ॥ ८२ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये उत्पत्तिप्रकरणे लीलो० सत्योपदेशो नाम सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है और मिथ्या ही वृद्धि प्राप्त करता है, भोगकाल में यह मिथ्या ही प्रियकर प्रतीत होता है और मिथ्या ही विलीन हो जाता है अर्थात् हम लोगों की अस्वतन्त्रता के प्रभाव से और नियति द्वारा निर्धारित शक्ति, काल आदि की व्यवस्था के देखने से यह जगत् सत्य ही है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए ॥ ७६ ॥

शुद्ध सर्वव्यापक ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है, भ्रान्तिवश अशुद्ध असत् अनेक असर्वव्यापक के समान ज्ञात होता है ॥ ७७ ॥

जैसे जल भिन्न है और तरङ्ग भिन्न है, यह अज्ञों की कुकल्पना से कल्पित है, अवास्तविक ही भेद प्रतीत होता है, वैसे ही जो यह जगत् का भेद प्रतीत होता है, वह भी अवास्तविक है केवल अज्ञानियों ने उसकी कल्पना कर रक्खी है । ब्रह्म में ही शत्रु और मित्र के समान विरुद्ध और अविरुद्ध कभी भी अपने स्वभाव का परित्याग न करनेवाली भेदाभेदशक्तियों की वैसे ही स्थिति है जैसे रज्जु में सर्प की स्थिति है ॥ ७८ ॥

उसी अद्वितीय प्रत्यक् आत्मा ने मानो द्वित्व का विस्तार वैसे ही कर रक्खा है जैसे जल तरङ्गों की कल्पना से सुवर्ण कटक की कल्पना से द्वित्व का विस्तार करता है । अतः उस आत्मा से स्वयं अन्य आत्मा का अनुभव होता है ॥ ७९ ॥

इस ब्रह्म से निर्विकल्पक जगत् का स्फुरण हुआ, वही सविकल्पकरूप को प्राप्त कर मन बन गया, उसने अहं-भाव की कल्पना की । यह पहले निर्विकल्प प्रत्यक्षरूप था, वह मन होता है, शीघ्र 'अहम्' शब्द के अर्थ की भावना करने से 'अहम्' होता है ॥ ८० ॥

अनन्तर मन और अहङ्कार से अनुभव के अनुसार स्मृति उत्पादित हुई, मन, अहङ्कार और स्मृति—इन तीनों से स्मृति द्वारा अनुभूत यानी अनुभवानुसार स्मरण किये गये तन्मात्रों की कल्पना की=सृष्टि की तन्मात्राओं में चित्तरूप जीव ने ब्रह्मरूप उपादानकारण से अनन्त-ब्रह्माण्डों से विस्तृत संसारसागर की काकतालीयन्याय से कल्पना की ॥ ८१ ॥

मन जिस वस्तु की कल्पना करता है, उसको देखता है ।

चिरकाल से उस पदार्थ की भावना से युक्त चित्त जिस वस्तु की कल्पना करता है, वह सत् हो चाहे असत् हो, उसको अवश्य देखता है । दर्शन से सत्य के समान प्रतिभासित होकर वह शीघ्र ही व्यवहारोपयोगी बन जाता है आशय यह है कि पूर्व जिसका वर्णन किया है, उस सृष्टिक्रम का लोक भी ठीक ऐसा ही स्वप्न में करते हैं ॥ ८२ ॥

इस प्रकार ऋषि-प्रणीत वाल्मीकीय श्रीवासिष्ठमहारामायण में लीलोपाख्यान में सत्योपदेश नामक कुसुमलता का सड़सठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ६७ ॥